कल्याणके प्रेमी पाठकों एवं ग्राहक महानुभावोंसे नम्र निवेदन

१. इस अङ्कमें भक्तिका स्वरूप एवं महिमा, भक्ति एवं फल, भक्तिका ज्ञान, कर्म एवं योग आदिसे सम्बन्ध, भक्तिकी सुलभता एवं दुर्लभता, भक्तिके लक्षण, प्रकार एवं विशेषताएँ, भक्तिकी अनादिता, भक्तिका वेद आदि विविध शास्त्रोंमें स्थान, भक्तिकी आस्वाद्यता, भक्तिके महान् आचार्य, भक्तिके साधन, भक्तिका मनोविज्ञान, भक्तिके सम्बन्धमें कुछ बेतुकी आलोचनाएँ और उनका उत्तर, भक्तिके विविध भाव, भक्तिके विभिन्न सम्प्रदायोंकी उपासना-पद्धति, शिवभक्ति, विष्णुभक्ति, शक्तिभक्ति, सूर्यभक्ति, विश्वभक्ति, देशभक्ति, समाज-सेवा, गुरुभक्ति, मातृभक्ति, ब्राह्मणभक्ति आदि भक्तिके विविध रूप, विभिन्न धर्मोंमें भक्तिका स्थान, भारतके विभिन्न प्रान्तोंकी भक्ति-धारा, प्रार्थनाका स्वरूप एवं महत्त्व, भगवन्नाम-महिमा, वैष्णवका स्वरूप आदि-आदि भक्ति-सम्बन्धी प्रायः सभी विषयोंपर आचार्यों, संत-महात्माओं तथा अधिकारी विद्वानोंद्वारा सरल, विशद एवं रोचक ढंगसे प्रकाश डाला गया है। कविताओंका संग्रह भी इस बार सुन्दर हुआ है। इसके अतिरिक्त एक सुनहरा, चौदह तिरंगे चित्र तथा छियालीस सादे चित्र एवं भक्तिविषयक मार्मिक सूक्तियोंसे इस अङ्ककी उपादेयता और भी बढ़ गयी है। इस प्रकार सभी दृष्टियोंसे यह अङ्क सबके लिये संग्रहणीय बन गया है। भक्ति ही जगत्को दुःख, कलह, अशान्ति एवं संकटोंसे बचाकर सुख-शान्तिका संचार कर सकती है। इस दृष्टिसे इस अङ्कका जितना ही अधिक प्रचार-प्रसार होगा, उतना ही विश्वका एवं देशका मङ्गल होगा। अतएव प्रत्येक कल्याण-प्रेमी महोदय विशेष प्रयत्न करके 'कल्याण'के दो-दो नये ग्राहक बना देनेकी कृपा करें।

२. जिन सज्जनोंके रुपये मनीआर्डरद्वारा आ चुके हैं, उनको अङ्क भेजे जानेके बाद शेष ग्राहकोंके नाम वी० पी० जा सकेगी। अतः जिनको ग्राहक न रहना हो, वे कृपा करके मनाहीका कार्ड तुरंत लिख दें, ताकि वी० पी० भेजकर 'कल्याण'को व्यर्थ नुकसान न उठाना पड़े।

३. मनीआर्डर-कूपनमें और वी० पी० भेजनेके लिये लिखे जानेवाले पत्रमें स्पष्टरूपसे अपना पूरा पता और ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें। ग्राहक-संख्या याद न हो तो 'पुराना ग्राहक' लिख दें। नये ग्राहक बनते हों तो 'नया ग्राहक' लिखनेकी कृपा करें।

४. ग्राहक-संख्या या 'पुराना ग्राहक' न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें दर्ज हो जायगा। इससे आपकी सेवामें 'भक्ति-अङ्क' नयी ग्राहक-संख्यासे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्यासे वी० पी० भी चली जायगी। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजें और उनके यहाँ पहुँचनेसे पहले ही आपके नाम वी० पी० चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें आपसे प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक वी० पी० लौटायें नहीं, प्रयत्न करके किन्हीं सज्जनको 'नया ग्राहक' बनाकर उनका नाम-पता साफ-साफ लिख भेजनेकी कृपा करें। आपके इस कृपापूर्ण प्रयत्नसे आपका 'कल्याण' नुकसानसे बचेगा और आप 'कल्याण'के प्रचारमें सहायक बनेंगे।

५. आपके विशेषाङ्कके लिफाफेपर आपका जो ग्राहक-नंबर और पता लिखा गया है, उसे आप खूब सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री या वी० पी० नंबर भी नोट कर लेना चाहिये।

६. 'भक्ति-अङ्क' सब ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड-पोस्टसे जायगा । हमलोग जल्दी-से-जल्दी भेजनेकी चेष्टा करेंगे, तो भी सब अङ्कोंके जानेमें लगभग एक-डेढ़ महीना तो लग ही सकता है; इसलिये ग्राहक महोदयोंकी सेवामें 'विशेषाङ्क' नंबरवार जायगा । यदि कुछ देर हो जाय तो परिस्थिति समझकर कृपालु ग्राहकोंको हमें क्षमा करना चाहिये और धैर्य रखना चाहिये ।

७. 'कल्याण'-व्यवस्था-विभाग, 'कल्याण'-सम्पादन-विभाग, गीताप्रेस, महाभारत-विभाग, साधक-सङ्घ और गीता-रामायण-प्रचार-सङ्घके नाम गीताप्रेसके पतेपर अलग-अलग पत्र, पारसल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, बीमा आदि भेजने चाहिये तथा उनपर 'गोरखपुर' न लिखकर पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)—इस प्रकार लिखना चाहिये ।

८. सजिल्द विशेषाङ्क वी० पी० द्वारा नहीं भेजे जायँगे । सजिल्द अङ्क चाहनेवाले ग्राहक १।) जिल्दखर्चसहित ८।।।) मनीआर्डरद्वारा भेजनेकी कृपा करें । सजिल्द अङ्क देरसे जायँगे ।

९. किसी अनिवार्य कारणवश 'कल्याण' बंद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हों, उतनेमें ही वर्षका चंदा समाप्त समझना चाहिये; क्योंकि केवल इस विशेषाङ्कका ही मूल्य अलग ७।।) है ।

'कल्याण'के पुराने प्राप्य विशेषाङ्क

१७ वें वर्षका संक्षिप्त महाभारताङ्क—पूरी फाइल दो जिल्दोंमें (सजिल्द)—पृष्ठ-संख्या १९१८, तिरंगे चित्र १२, इकरंगे लाइन चित्र ९७५ (फरमोंमें), मूल्य दोनों जिल्दोंका १०) ।

२२ वें वर्षका नारी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, चित्र २ सुनहरे, ९ रंगीन, ४४ इकरंगे तथा १९८ लाइन, मूल्य ६=), सजिल्द ७।=) मात्र ।

२४ वें वर्षका हिंदू-संस्कृति-अङ्क—पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६।।), साथमें अङ्क २-३ बिना मूल्य ।

२८ वें वर्षका संक्षिप्त नारद-विष्णुपुराणाङ्क—पूरी फाइल, पृष्ठ-संख्या १५२४, चित्र तिरंगे ३१, इकरंगे लाइन चित्र १९१ (फरमोंमें), मूल्य ७।।), सजिल्द ८।।।) ।

२९ वें वर्षका संतवाणी-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ८००, तिरंगे चित्र २२ तथा इकरंगे चित्र ४२, संतोंके सादे चित्र १४०, मूल्य ७।।), सजिल्द ८।।।) ।

३१ वें वर्षका तीर्थाङ्क—जनवरी १९५७ का विशेषाङ्क, मूल्य ७।।) ।

व्यवस्थापक—कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

हमारी निजी दूकानें

(१) कलकत्ता—श्रीगोविन्द-भवन-कार्यालय, नं० ३० बाँसतल्ला गली । (२) वाराणसी—नीचीबाग । (३) पटना—अशोक राजपथ । (४) ऋषिकेश—गीताभवन । (५) कानपुर—२४/५५ बिरहाना रोड । (६) दिल्ली—२६०९, नई सड़क और (७) हरिद्वार—सब्जीमण्डी मोतीबाजारमें है । यहाँपर गीताप्रेसकी पुस्तकें मिलती हैं तथा कल्याण, कल्याण-कल्पतरु और महाभारतके ग्राहक बनाये जाते हैं ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

भक्ति-अङ्ककी विषय-सूची

चित्र-सूची

श्रीगीता और रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीगीता और रामचरितमानस—ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा धार्मिक शिक्षा-प्रसार करनेके लिये परीक्षाओंकी व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार भी दिया जाता है। परीक्षाके लिये स्थान-स्थान पर केन्द्र स्थापित किये गये हैं। इस समय गीता-रामायण दोनोंके मिलाकर कुल ३०० केन्द्र हैं। विशेष जानकारीके लिये नीचेके पतेपर कार्ड लिखकर नियमावली मँगानेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीता-भवन, पो० ऋषिकेश (देहरादून)

The Kalyana-Kalpataru

(English Edition of the 'Kalyan')

After a suspended existence of five months the "Kalyana-Kalpataru" has resumed its publication, by the grace of God, from this month. The first number which is an ordinary issue, is appearing along with this and will soon reach the hands of its erstwhile subscribers by V. P. P. for Rs. 4/8/- (its annual subscription). It is hoped the lovers of the "Kalyana-Kalpataru", who have sorely missed it all these months and have been pressing us to renew its publication ever since it was stopped, will gladly welcome its reappearance and honour the V. P. P. Bhagavata Number—V, which will contain an English rendering of Book Ten (Part II) of Śrimad Bhāgavata, is expected to come out in December as it did in July last year.

The Manager,—"Kalyana-Kalpataru", (P. O.) Gita Press (Gorakhpur)

सचित्र महाभारत (मासिकरूपमें)

गत दो वर्षोंसे सचित्र महाभारत मूल, सरल हिंदी अनुवादसहित, मासिकरूपमें गीताप्रेससे छप रहा है। प्रत्येक अङ्कमें दो रंगीन एवं छः सादे चित्रोंके साथ कम-से-कम दो सौ पृष्ठकी ठोस सामग्री रहती है। वार्षिक मूल्य डाकखर्चसहित केवल २०) (बीस रुपये मात्र) है। दो वर्षोंके चौबीस अङ्क निकल चुके हैं। गत नवम्बरसे तीसरा वर्ष प्रारम्भ हुआ है, जिसके दो अङ्क प्रकाशित हो चुके हैं और तीसरा (जनवरीका अङ्क) शीघ्र ही निकलने जा रहा है। संस्कृत जाननेवालोंके लिये केवल मूलमात्र भी क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है, जिसकी दो जिल्दें निकल चुकी हैं। प्रत्येक जिल्दका (जिसमें लगभग आठ सौ पृष्ठ हैं) मूल्य केवल ६) (छः रुपये मात्र) रखा गया है। हिंदीमें मूलसहित अथवा केवल मूलका इतना सुन्दर एवं सस्ता संस्करण अबतक कहींसे नहीं निकला है। खरीदनेवालोंको शीघ्रता करनी चाहिये।

व्यवस्थापक—महाभारत (मासिक), पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस—दोनों आशीर्वादात्मक प्रासादिक ग्रन्थ हैं। इनके प्रेमपूर्ण स्वाध्यायसे लोक-परलोक दोनोंमें कल्याण होता है। इन दोनों मङ्गलमय ग्रन्थोंके पारायणका तथा इनमें वर्णित आदर्श, सिद्धान्त और विचारोंका अधिक-से-अधिक प्रचार हो—इसके लिये 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ' भी वर्षोंसे चलाया जा रहा है। अबतक गीता-रामायणके पाठ करनेवालोंकी संख्या करीब ५२,००० हो चुकी है। इन सदस्योंसे कोई शुल्क नहीं लिया जाता। सदस्योंको नियमितरूपसे गीता-रामचरितमानसका पठन, अध्ययन और विचार करना पड़ता है। इसके नियम और आवेदनपत्र मन्त्री—श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) को पत्र लिखकर मँगवा सकते हैं।

साधक-संघ

देशके नर-नारियोंका जीवनस्तर यथार्थरूपमें ऊँचा हो, इसके लिये साधक-संघकी स्थापना की गयी है। इसमें भी सदस्योंको कोई शुल्क नहीं देना पड़ता। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं। प्रत्येक सदस्यको एक डायरी दी जाती है, जिसमें वे अपने नियमपालनका ब्यौरा लिखते हैं। सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको स्वयं इसका सदस्य बनना चाहिये। और अपने बन्धु-बान्धवों, इष्ट-मित्रों एवं साथी-संगियोंको भी प्रयत्न करके सदस्य बनाना चाहिये। नियमावली इस पतेपर पत्र लिखकर मँगवाइये डायरीके लिये बीस नये पैसेके टिकट भेजें—संयोजक 'साधक-संघ', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)।

हनुमानप्रसाद पोद्दार—सम्पादक 'कल्याण'

श्रीहरिः

कल्याणके नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसम्बन्धी लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ७ रुपया ५० नया पैसा और भारत-वर्षसे बाहरके लिये १०) (१५ शिलिंग) नियत है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किंतु जनवरीके अङ्कके बाद निकले हुए तबतकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती-पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम-पता साफ-साफ लिखना चाहिये। महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता-बदलीकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जाने-की अवस्थामें दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला जनवरीका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया जायगा। विशेषाङ्क ही जनवरीका तथा वर्षका पहला अङ्क होगा। फिर दिसम्बरतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करेंगे।

(८) सात आना एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लें तो ।≈) बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण' में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण' की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनी चाहिये। पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

(११) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तिथि तथा विषय भी देने चाहिये।

(१२) ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये। वी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं।

(१३) प्रेस-विभाग, कल्याण-विभाग तथा महाभारत-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार, करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। 'कल्याण' के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते। प्रेससे १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

(१४) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१५) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका प्रयोजन, ग्राहक-नम्बर (नये ग्राहक हों तो 'नया' लिखें) पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१६) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि व्यवस्थापक 'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि सम्पादक 'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) के नामसे भेजने चाहिये।

(१७) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चंदा कम नहीं लिया जाता।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

भक्तोंके सर्वस्व—श्रीराधा-गोविन्द

नवजलधरविद्युद्द्योतवर्णौ प्रसन्नौ वदननयनपद्मौ चारुचन्द्रावतंसौ।
अलकतिलकभालौ केशवेशप्रफुल्लौ भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ये मुक्तावपि निःस्पृहाः प्रतिपदप्रोन्मीलदानन्ददां यामास्थाय समस्तमस्तकमणिं कुर्वन्ति यं स्वे वशे ।
तान् भक्तानपि तां च भक्तिमपि तं भक्तप्रियं श्रीहरिं वन्दे संततमर्थयेऽनुदिवसं नित्यं शरण्यं भजे ॥

वर्ष ३२ } गोरखपुर, सौर माघ २०१४, जनवरी १९५८ { संख्या १
पूर्ण संख्या ३७४

भक्तकी भावना

बसौ मेरे नैननिमें दोउ चंद ।
गौर बरनि वृषभानु नंदनी स्याम बरन नँद नंद ॥
गोलक रहे लुभाय रूपमें, निरखत आनँद कंद ।
जै 'श्रीभट्ट' प्रेम रस बंधन, क्यों छूटै दृढ़ फंद ॥

श्रीभगवत्स्मरणकी महिमा

इयमेव परा हानिरुपसर्गोऽयमेव हि।
अभाग्यं परमं चैतद् वासुदेवं न यत् स्मरेत्॥
(नारदीयपु०, ध्रुवचरित्र)

'मनुष्यका जीवन पाकर जो वासुदेवका स्मरण नहीं करता, वह बड़ी हानि उठा रहा है, बड़ा उपद्रव मोल ले रहा है और परम अभागा है।'

यद्यप्युपहतः पापैर्मानसाद्यैरनुत्तमैः।
तथापि संस्मरन् विष्णुं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥
(गरुडपुराण)

'यदि अत्यन्त दुस्तर मानसिक पापोंसे दूषित हृदयका मनुष्य हो, तथापि विष्णुभगवान्‌का स्मरण करनेसे वह भीतर और बाहरसे पवित्र हो जाता है। क्योंकि हरिस्मरणसे सारे पाप नष्ट हो जाते हैं।'

वरं वरेण्यं वरदं पुराणं
निजप्रभाभासितसर्वलोकम्।
संकल्पितार्थप्रदमादिदेवं
स्मृत्वा व्रजेन्मोक्षपदं मनुष्यः॥
(बृहन्ना० पु०)

'जो सबसे श्रेष्ठ हैं, वरणीय हैं, वरदाता हैं, अनादि हैं तथा जो अपनी प्रभाके द्वारा समस्त लोकोंको प्रकाशित कर रहे हैं तथा जो वाञ्छित वस्तुको प्रदान करनेवाले हैं, उन आदिदेव श्रीविष्णुभगवान्‌को स्मरण करके मनुष्य मोक्षपदको प्राप्त होता है।'

तुलापुरुषदानानां राजसूयाश्वमेधयोः।
फलं विष्णोः स्मृतिसमं न जातु द्विजसत्तम॥
(बृहन्ना० पुराण)

'हे द्विजोत्तम! तुलापुरुषदान अर्थात् पुरुषके तौलका स्वर्णदान और राजसूय-अश्वमेध आदि यज्ञोंका फल कभी विष्णु-स्मरणके फलके तुल्य नहीं हो सकता।'

न्यूनातिरिक्तता सिद्धा कलौ वेदोक्तकर्मणाम्।
हरिस्मरणमेवात्र सम्पूर्णफलदायकम्॥
(बृहन्ना० पुराण)

'कलियुगमें वेदविहित कर्मोंका अनुष्ठान ठीक-ठीक नहीं होता, उसमें कमी-बेशी हो जाती है, अतएव फलप्राप्तिमें संदेह होता है। केवल हरिस्मरण सम्पूर्ण फल प्रदान करता है, इसमें कोई संदेह नहीं।'

महापातकयुक्तो वा युक्तो वा सर्वपातकैः।
स वै विमुच्यते सद्यो यस्य विष्णुपरं मनः॥

'जो महापातकी है अथवा सर्वपापोंसे युक्त है, ऐसा पुरुष भी यदि मनसे विष्णुका स्मरण करता है तो वह तत्काल सब पापोंसे मुक्त हो जाता है। केवल मन विष्णुपर होनेकी आवश्यकता है।'

कर्मणा मनसा वाचा यः कृतः पापसंचयः।
सोऽप्यशेषः क्षयं याति स्मृत्वा कृष्णाङ्घ्रिपङ्कजम्॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

'भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलका स्मरण करनेपर मन, वाणी और कर्मोंके द्वारा किये गये सारे पाप नष्ट हो जाते हैं।'

हरिनामपरा ये च घोरे कलियुगे नराः।
त एव कृतकृत्याश्च न कलिर्बाधते हि तान्॥
(बृहन्ना० पुराण)

'इस घोर-कलियुगमें जो मनुष्य हरिनामपरायण हैं, वे ही कृतार्थ होते हैं, क्योंकि कलिका कुप्रभाव उनके ऊपर नहीं पड़ता।'

हरे केशव गोविन्द वासुदेव जगन्मय।
इतीरयन्ति ये नित्यं न हि तान् बाधते कलिः॥

'हे हरि, हे केशव, गोविन्द, वासुदेव, जगन्मय—इस प्रकार जो नित्य कहता रहता है, उसको कलि पीड़ित नहीं करता।'

गोविन्देति जपन् जन्तुः प्रत्यहं नियतेन्द्रियः।
सर्वपापविनिर्मुक्तः सुरवद् भासते नरः॥

'इन्द्रियोंका संयम करते हुए जो प्रतिदिन गोविन्द-नामका जप करता है, वह मनुष्य समस्त पापोंसे मुक्त होकर देवताके समान तेजस्वी हो जाता है।'

किं तात वेदागमशास्त्रविस्तरै-
स्तीर्थैरनेकैरपि किं प्रयोजनम्।
यद्यात्मनो वाञ्छसि मुक्तिकारणं
गोविन्द गोविन्द इति स्फुटं जप॥
(लघुभागवत)

'हे तात! वेद-शास्त्र आदि शास्त्रों अथवा अनेकों तीर्थोंके सेवनसे क्या प्रयोजन? यदि तुम अपनी मुक्ति चाहते हो तो स्पष्टरूपसे गोविन्द, गोविन्द जप करो।'

भक्ति और श्रीशंकराचार्य

(लेखक—श्रीज्योतिष्पीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य स्वामीजी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज)

जीवमात्रकी स्वाभाविक प्रवृत्ति सुखान्वेषण है। सुख अथवा आनन्द अपना स्वरूप है। उसके लिये प्रयत्नशील होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं। आनन्दका केन्द्र-बिन्दु क्या है, उसकी निरन्तर-निरतिशय अबाधित धारा बहानेका साधन कौन है, उसमें गुरु और शास्त्रका स्थान क्या है—बस, यही बात विचारणीय है। श्रुतिमें लिखा है—

यो वै भूमा तत्सुखम् यदल्पं तन्मर्त्यम्।

अर्थात् पूर्णमें ही सुख है; जो अल्प है वह दुःख और मृत्यु है। इसीलिये गुरुके सदुपदेश और शास्त्रके सदभ्याससे महापुरुष सांसारिक सुखोंकी, अल्प और क्षीण होनेके कारण, उपेक्षा करके भूमा तथा असीम सुखकी खोज करते हैं। उनका चित्त तीनों लोकोंके वैभवका तिरस्कार कर देता है। वे भगवत्पद-मणि-चन्द्रिकाके प्रकाशमें नित्य-निरतिशय आनन्दका अनुभव करते हैं। वह साधन 'भक्ति' है।

भक्तिका स्वरूप

'भज सेवायाम्' धातुसे 'स्त्रियां क्तिन्' इस पाणिनीय सूत्रसे 'क्तिन्' प्रत्यय होता है, जिसका अर्थ होता है—वह उपाय, जिसके द्वारा आनुकूल्य-सम्पादन किया जाता है। यह अनुकूलता अनेकविषयक होती है। विषय-भेदसे भक्तिका स्वरूप-भेद और नाम-भेद भी हो जाता है। पूज्येष्वनुरागो भक्तिः, पूज्यवर्गमें अनुरागका नाम भक्ति है—इस वचनके अनुसार वह अनुरक्ति भगवद्विषयिणी, शास्त्रविषयिणी, गो-ब्राह्मण तथा माता-पिता विषयिणी होनेपर भक्ति-पद-वाच्य होती है। वही पुत्र-विषयत्वेन वात्सल्य-रति, इष्टविषयत्वेन प्रेयोरति, मित्र-स्नेह-विषयिणी सख्य-रति तथा सेव्य-सेवक-भाव-सम्बन्धिनी दास्यरति कहलाती है। इसके आगे चलकर 'तत्त्वमसि' के उपासक वेदान्तीलोग—

स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते।

—अपने स्वरूपका अनुसंधान ही भक्ति है, यों कहते हैं। इस भक्तिके आधारपर ही चित्त टिकता है। वैसे तो सब प्रकारकी उपासनागत रति परब्रह्म परमात्माका ही अवगाहन करती है। क्योंकि—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
(श्रीमद्भागवत)

परब्रह्म परमात्माका अनुराग एवं श्रद्धापूर्वक यजन—मोक्ष-काम, सकाम और निष्काम—सभीके द्वारा अनुष्ठेय है। अतएव—

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः।

—बुद्धिमान्को, उसीके लिये प्रयत्न करना चाहिये, जिससे जन्म-मरणके बन्धनका पाश टूट जाय। जन्म-मरण-पाशका उच्छेद परब्रह्म परमात्माके अनुग्रह बिना सर्वथा असम्भव है। उन्हींके अनुग्रह-सम्पादनार्थ भक्तिमार्गका अवलम्बन आवश्यक है। आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति—इस श्रुतिके अनुसार आत्मा ही परम प्रेमास्पद होनेके कारण उसका अन्वेषण (स्वरूपावस्थिति) ही पराभक्ति है। अतएव परा और अपरा भेदसे भक्ति दो प्रकारकी बतायी जाती है पराभक्ति स्वस्वरूपानुसंधान और अपरा-भक्ति देवादिविषयिणी है।'

भक्तिका आविर्भाव

चित्तका स्वभाव है, वह किसी भी लौकिक या अलौकिक वस्तुके दर्शन, श्रवण और मननसे तदाकारता धारण करता है। अतएव भगवद्भक्तोंने 'चित्ते द्रुते प्रविष्टा या गोविन्दाकारता स्थिरा। सा भक्तिरित्यभिहिता' इत्यादि कहा है। अर्थात् चित्तका द्रवीभूत होकर गोविन्दाकार बन जाना ही भक्ति है। चित्त एक होता हुआ भी द्रव्य-भेद, भव्य-भेद और मन्तव्य-भेदसे त्रिविधाकारोंमें परिणत होता है। यही कारण है कि चित्तमें काम-क्रोधादिका भी उसी प्रकार प्रादुर्भाव होता है, जिस प्रकार भगवद्भक्ति, विवेक और वैराग्यका। इसीलिये भक्ति-रसायनकार कहते हैं—

कामक्रोधभयस्नेहहर्षशोकदयादयः ।
तापकाश्चित्तजतुनस्तच्छान्तौ कठिनं तु तत्॥

चित्तको जतु (लाख) के समान कठोर कहा गया है। वह कामादि कारणके उपस्थित होते ही पिघल जाता है। जिस प्रकार पिघली हुई लाक्षामें कोई रंग मिश्रित कर दिया जाय तो लाक्षा पुनः कठोर होनेपर भी प्रक्षिप्त रंगका परित्याग नहीं करती, ठीक उसी प्रकार कामादिद्वारा द्रवित चित्तमें जिन संस्कारोंका समावेश होगा, वे शान्त-वृत्तिमें भी चित्तके भीतर अपना स्थान बनाये रहेंगे। ऐसे विकृत भावावेशका ही नाम 'वासना' कहा गया है। सत्-असत्-भाव-

भावित चित्तका नाम उन्हीं उन्हीं शब्दोंद्वारा कहा जाता है। जैसे द्वेषकी सामग्री उपस्थित होनेसे चित्तकी तदाकारता-वृत्तिका नाम द्वेष होगा, उसी प्रकार भगवान्‌के दिव्य-मङ्गल-विग्रहके दर्शनसे, उनकी लोकातीत लीलाओंके श्रवणसे तथा परम-प्रेमास्पद भक्त-मनाह्लादिनी उनकी कथाओंके कथोपकथनसे द्रवीकृत चित्तवृत्तिका नाम 'भक्ति' है। पुनः-पुनः भगवद्दर्शन, श्रवण और मननसे द्रुत चित्तवृत्ति ही भक्तिका आविर्भाव है।

पुण्यसे भक्तिका आविर्भाव

यह ध्रुव सत्य है कि कोई भी प्राणी अपनी हानि और तिरस्कृति नहीं चाहता। सभी उत्कर्षकी ओर अनवरत प्रयत्न करते देखे गये हैं। इसपर भी कभी-कभी अपकर्षका सामना करना पड़ता है। इसका सीधा तात्पर्य यह है कि पुण्यवान् व्यक्तिके पुण्योंका प्रभाव उसे उत्कर्षकी ओर ले जाता है। भगवत्-प्रसादसे पहले पुण्यार्जनमें प्रवृत्ति होती है। पश्चात् भक्त-वत्सल भगवान् स्वयं दयार्द्रभावसे भक्तपर अनुग्रह करते हैं। अतएव—

एषु ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते। (कौषीतकि)

—भगवान् जिसको उन्नतिके मार्गपर ले जाना चाहते हैं, उसे उत्तम शास्त्रीय कर्मोंमें प्रेरित करते हैं तथा जिसकी अधोगति करना चाहते हैं, उसे निन्दित अशास्त्रीय कर्मोंकी ओर प्रेरित करते हैं। इसलिये सन्मार्गकी ओर जानेके लिये पहले भगवान्‌की कृपाकी आवश्यकता है और वह कृपा सत्कर्मानुष्ठान-जन्य पुण्यद्वारा ही प्राप्त हो सकती है।

श्रीशंकराचार्यजी

जब भारतवर्षमें धार्मिक अन्तर्द्वन्द्व हो रहा था, बौद्ध तथा अन्य अवैदिक मतावलम्बियोंने वैदिक कर्म और उपासनापर प्रहार किया। चारों ओर देहात्मवादका ही प्रचण्ड वातावरण फैल गया। 'अहिंसा परमो धर्मः' इत्यादि शास्त्रीय अबाध्य सिद्धान्तोंको भी जनताके सामने अनाचार और आडम्बरका पुट देकर रक्खा गया। वेदके सिद्धान्तोंको हेय और अनुपादेय समझा जाने लगा। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि सुस्पष्ट वेदान्तवाक्योंको शून्यवादकी ओर लगाया जाने लगा। जब सौत्रान्तिक, योगाचार एवं वैभाषिक मत अपने-अपने सिद्धान्तोंका चारों ओर बहुत तत्परतापूर्वक प्रचार कर रहे थे, वैदिक सिद्धान्त इनकी घनघोर घटाओंमें आच्छादित हो रहा था, ठीक उसी समय श्रीशंकराचार्यजीका प्रादुर्भाव हुआ। आप भगवान् शंकरके अवतार थे। एकमात्र वैदिक धर्मका प्रतिष्ठापन करना आपके अवतारका प्रयोजन था। वैसा ही हुआ भी। सात वर्षकी आयुमें आपने घरका परित्याग करके बौद्धोंके तर्कोंको लोकबाह्य उपहासी कर दिया और सनातन वैदिक धर्मके प्रतिष्ठापनके साथ-साथ भक्ति-ज्ञान-वैराग्यका विजयस्तम्भ पृथ्वीपर स्थापित कर दिया।

भक्ति और शंकराचार्य

भगवान् शंकराचार्यने अपनी अद्भुत प्रतिभाद्वारा भारतीय दर्शनशास्त्रके परम सिद्धान्त वेदान्तके अद्वैततत्त्वका विश्लेषण आरम्भ किया तथा 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'प्रज्ञानं ब्रह्मेति'—इन चार महावाक्योंका अर्थ प्रत्यक्ष कर दिखाया। अन्तःकरणके मलापकर्षणके लिये कर्मकाण्डको और उसकी स्थिरताके लिये उपासनाकाण्डको भी आपने उतना ही आवश्यक और उपादेय बताया जितना कि वेदान्तवाक्योंका श्रवण, मनन और निदिध्यासन।

पूज्यवर्गमें अनुराग करना भक्ति है, यहाँसे आरम्भ कर देवादिविषयिणी रतिरूपा भक्तिका प्रतिपादन करते हुए स्वरूपानुसंधान भक्ति है—यों कहकर अधिकारी-भेदसे भक्ति-निरूपणको परम सीमातक पहुँचा दिया गया। परब्रह्म परमात्मामें मन निश्चलरूपसे न लगे तो उसके लिये उपायान्तर बताते हैं—

अथ चेच्चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अपि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर॥
श्रद्धालुर्मे कथाः शृण्वन् सुभद्रा लोकपावनीः।
गायन्ननुस्मरन्कर्म जन्म चाभिनयन् मुहुः॥
मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन् मदपाश्रयः।
लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने॥

—परब्रह्म परमात्मामें निश्चलरूपसे चित्त न लगे तो साधकको चाहिये कि सम्पूर्ण कर्मोंको भगवदर्पणके भावसे करता हुआ भगवान्‌के दिव्य जन्म-कर्मोंका श्रवण करे। भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये धर्म, अर्थ और कामका उपार्जन करे। इससे भगवान्‌में निश्चल भक्ति होती है। इससे आगे—

इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः।
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च॥

—भगवदर्थ निष्काम कर्म करना चाहिये तथा अपने

भोग और सुख भी भागवतधर्म उन्हींके-समर्पण कर देने चाहिये। यों करनेपर परमात्माके चरणारविन्दोंमें अनुराग उत्पन्न होता है। श्रीभगवान्के चरणारविन्दोंमें रति होनेपर—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥

वेदरूप शब्दब्रह्म एवं परब्रह्ममें निष्णात गुरुके चरणारविन्दोंमें बैठकर आत्मश्रेयका श्रवण करे। भागवतधर्मोंका श्रवण अत्यन्त भक्तिसे करता हुआ, अमायासे गुरुकी सेवा करता हुआ मनको सांसारिक पुरुषोंके सङ्गसे बचाते हुए आत्मनिष्ठ साधु पुरुषोंके सत्सङ्गमें लगाना चाहिये। शनैः शनैः दया, मित्रता, शौच, तप, तितिक्षा, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, अहिंसा एवं सत्यका अभ्यास करता हुआ सर्वप्राणिमात्रमें आत्मदर्शनका अभ्यास करे। साथ ही एकान्त-सेवन तथा थोड़ेसे निर्वाह करनेका अभ्यास करता हुआ अद्वैत भाव निष्ठाकी ओर प्रगति करे। इस प्रकार भगवत्-प्रेमोत्पित्त भक्तिसे भागवतधर्मोंका श्रवण करता हुआ नारायण-परायण पुरुष अनायास ही मायासे पार हो जाता है।

माया-प्रवाहसे पार होकर अपने स्वरूपमें अवस्थित होना ही परम पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ-चतुष्टयकी क्रमिक प्राप्ति करते हुए पुनः-पुनः जननी-जठरानलसे दग्ध न होनेका उपाय भक्ति है। इस भक्ति-रसका पान करता हुआ—

साक्षी नित्यः प्रत्यगात्मा शिवोऽहम्

—यह एकतान प्रत्यय होने लगना ही भक्तिकी चरम सीमा है। अतएव—

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।

—अर्थात् मोक्षकी कारण-सामग्रीमें भक्तिको सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। यह भक्ति कौन-सी है? इसके उत्तरमें—

स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते।

—अपने स्वरूपका अनुसंधान (खोज) ही भक्ति है, यह श्रीशंकराचार्यजीका डिण्डिमघोष है। इसीको भक्तलोग 'पराभक्ति' कहते हैं। देवादिविषयक भक्ति अपरा भक्ति है। यद्यपि अपरा भक्ति भी अधिकारीकी अपेक्षासे अपना स्थान उच्च ही रखती है, फिर भी कुछ कालमें देवाराधनसे शुद्ध-स्वान्त होकर 'परा-भक्ति'—स्वरूपानुसंधानकी ओर अवश्य आना होगा। स्वरूपावगति ही अन्ततोगत्वा 'भक्ति' का परम फल है। इसीलिये वेदमें 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (अयनाय मोक्षाय अन्यः पन्थाः स्वरूपानुसंधानातिरिक्तः न विद्यते)—यह कहा गया है। मोक्षके लिये स्वरूपानुसंधान-रूप भक्ति ही एकमात्र मार्ग है।

इस प्रकार दृढ़निष्ठ तत्त्ववेत्ता सर्वत्र आत्मदर्शन करता है। उसे मैं-मेरा, तू और तेरा कहीं नहीं दीखता। वह सर्वत्र आत्मदर्शन करता है। अतएव भगवान् शंकराचार्यने देवी, विष्णु, गङ्गा आदिके सुन्दर स्तोत्रोंमें एकात्म-प्रत्यय-निष्ठा ही गान किया है। वे आत्मातिरिक्त किसी भी देवता अथवा चराचर पदार्थोंमें प्रत्यय नहीं करते थे। सर्वत्र आत्म-दर्शन ही उनकी एकतान निष्ठा थी। यही भक्तिका परम-प्रयोजन है और इसीसे जीवनकी सार्थकता है।

रामका भजन क्यों नहीं करते ?

मीकी मति लेह, रमनी की मति लेह मति
'सेनापति' चेत कछू, पाहन अचेत है।
करम करम करि करम न कर, पाप-
करम न कर मूढ़, सीस भयो सेत है॥
आये धनि अतन ज्यौं, रहै धनि जतनन,
पुत्र के धनिज्ञ तन मन किन देत है।
आयस विराम ! बैस बीती अभिराम, तातैं
करि विसराम मति रामै किन लेत है॥

—महाकवि 'सेनापति'

द्वारकापीठके श्रीशंकराचार्यजीकी शुभ-कामना

श्रीद्वारका-शारदापीठाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य श्रीमदभिनवसच्चिदानन्दतीर्थस्वामिचरणोंके शुभाशीर्वाद ।

'कल्याण'का नया विशेषाङ्क 'भक्ति-अङ्क' प्रकट हो रहा है, यह सुनकर बड़ा आनन्द होता है ।

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥

अर्थात् मनुष्यकी कल्याण प्राप्तिके लिये ये तीन साधन भगवान्ने बताये हैं—कर्म, भक्ति और ज्ञान । दूसरा कोई साधन नहीं है ।

इन तीनोंमें भक्तिमार्ग सरल है तथा सर्वोपयोगी है। अतः इस भक्तिको अपनाकर मनुष्य आत्मकल्याण प्राप्त करे ।

इस भक्तिका सर्वविध विवरण प्रस्तुत करनेवाले इस विशेषाङ्कका भगवान्‌की कृपासे सर्वत्र प्रचार हो, उससे देशमें भक्तिका विशिष्ट प्रचार हो एवं तद्द्वारा सात्त्विक भावनाकी वृद्धि हो—यही हमारी शुभ-कामना है ।

भक्ति-रसामृतास्वादन

(लेखक—अनन्त श्रीस्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

श्रीभगवद्धर्मसे द्रुत शुद्ध हृदयमें अभिव्यक्त निरुपम सुखसंविद्रूप, दुःखकी छायासे विनिर्मुक्त श्रीभक्तिका सर्वातिशायी माहात्म्य शास्त्रोंमें तथा स्तवनोंमें स्पष्ट ही है । सर्वाधिष्ठान, परमानन्दस्वरूप, भोगनिरत परम पुरुषकी रसस्वरूपता 'रसो वै सः' (तै० उप० २ । ७) इत्यादि श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है । लौकिक आनन्दोंमें भी उन्हीं रसस्वरूप भगवान्‌की आंशिक अभिव्यक्ति होती है । रसके विषय एवं आश्रयकी मलिनतासे शुद्ध रसमें भी मालिन्यकी प्रतीति होती है । 'भक्तिरसायन'कारने (१ । ११ में) कहा है—

विभिन्नपूर्ता च रसतां याति भावनाविभिन्नताम् ।

अर्थात् विषयावच्छिन्न चैतन्य ही द्रवावस्थापन्न अन्तःकरणकी वृत्तिपर उपारूढ होकर भावरूपताको प्राप्तकर पीछे रसस्वरूप हो जाता है । लौकिक रस परमानन्दस्वरूप नहीं हो सकता; किंतु भक्तिरसमें अनवच्छिन्न चिदानन्दघन भगवान्‌की स्फूर्ति होती है, अतः यह परमानन्दस्वरूप है । इसलिये जो लोग श्रीकृष्णविषयक रतिको रसरूप न मानकर भावरूप ही मानते हैं (क्योंकि देवताविषयक रति भावस्वरूपा ही होती है), उनका मत ठीक नहीं है। क्योंकि श्रीकृष्ण-भिन्न-देवताविषयक रति भावरूप होती है । भगवान् श्रीकृष्ण परमानन्दस्वरूप हैं; अतः कृष्णविषयक रति रसरूपा ही होगी, भावरूपा नहीं । यद्यपि कान्तादिविषयक रतिकी रसता वैसी पुष्ट नहीं होती, जैसी भगवद्विषयक रतिकी होती है । श्रीमधुसूदनसरस्वतीने कहा है कि भगवद्विषयिणी रति परिपूर्ण रसस्वरूप होनेके कारण क्षुद्र कान्तादिविषयक रतिसे उसी प्रकार बलवती है, जैसे खद्योतोंसे आदित्यप्रभा—

परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः ।
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा ॥ (२ । ७८)

विषय और आश्रय दोनों या दोनोंमेंसे एक यदि रसात्मक हो तो रति भी विशुद्ध-रसस्वरूपा होती है । विशेषतः समुद्रेलित एवं अप्लुत सम्प्रयोग विप्रयोगात्मक उभयविध शृङ्गार-रसके सार-सर्वस्व भगवान् ही मनोवृत्तिमें विविध रसभावको प्राप्त करते हैं । जैसे रसमें रसोद्रेककी कल्पना होती है, वैसे ही यहाँ भी कल्पना की गयी है । भगवद्-हृदयस्थ पूर्णानुराग-रस-सार-सागरसे समुद्भूत निर्मल निष्कलङ्क चन्द्रस्वरूपिणी श्रीवृषभानुनन्दिनी राधारानी एवं श्रीराधारानीके हृदयमें विराजमान श्रीकृष्णविषयक प्रेम-रस-सार-सागर-समुद्भूत चन्द्ररूप व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण हैं । अतः यहाँ प्रेम सदानन्दैक-रसस्वरूप है; क्योंकि विषय-आश्रय दोनों ही रसस्वरूप हैं, जब कि अन्यत्र विषयाश्रयादि विजातीय होते हैं, रसस्वरूप नहीं । इसी तरह भगवान्‌की लीला, लीलाका स्थान, लीला-परिकर और उद्दीपनादि-सामग्री भी रसस्वरूप ही होते हैं । सच्चिदानन्द-रस-सार-सरोवर-समुद्भूत सरोज, केसर, पराग एवं मकरन्दस्वरूप व्रज, व्रज-सीमन्तिनी-वृन्द, श्रीकृष्ण एवं उनकी प्रेयसी श्रीवृषभानुनन्दिनी राधारानी—सभी रसात्मक ही सिद्ध होते हैं ।

'यत्र प्रविष्टः सकलोऽपि जन्तुरानन्दसच्चिद्घनतामुपैति ।'
'सच्चिदानन्दसान्द्रमाधुर्यैकरसमूर्तयः'—इत्यादि वचन इसमें प्रमाण हैं ।

भक्तिरसके रसिकोंका कहना है कि शुक मुनि जिस फलको देखनेमें व्यग्र रहते हैं, उसीको देवकीरूप वृक्षने प्रकट किया, यशोदाने पकाया तथा गोपियोंने उसका यथेष्ट उपभोग किया । यशोदाकी मङ्गलमयी गोदमें चिदानन्द-क्षीरसे नीलकमलके समान श्याम तेज प्रकट हुआ । अन्य भक्त कहते हैं—वह ऐसा फल था, जिसका भक्तोंने आस्वादन नहीं किया,

वायुने जिसका सौरभ नहीं उड़ाया, जो जलमें उत्पन्न नहीं हुआ, लहरियोंके कणोंसे जो टकराया नहीं और कभी किसीने जिसे कहीं देखा नहीं । एक भक्त कहता है—निगमवनमें परम ढूँढ़ते ढूँढ़ते यदि नितान्त खेदयुक्त—श्रान्त हो गये हों तो इस उपदेशको सुनें—उपनिषदोंके परम सारसर्वस्व निगम मत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्म गोपियोंके घरमें उलूखलसे बँधा पड़ा है । दूसरा भक्त कहता है—सखि ! एक कौतुककी बात सुनो, वेदान्त-सिद्धान्तको मूर्तरूप धारण किये श्रीमन्नन्दरायके प्राङ्गणमें धूलि-धूसरित होकर थेई-थेई करके नृत्य करते हुए मैंने देखा है । एक अन्य भक्तकविने कहा है कि भगवान् श्रीकृष्ण श्यामरूपमें प्रकट साक्षात् ब्रह्म ही तो हैं, ऐसा लगता है मानो गोपाङ्गनाओंका प्रेम ही एकत्र पुञ्जीभूत हो गया हो या श्रुतियोंका गुप्तवित्त ही प्रकाशमें आ गया हो अथवा यदुवंशियोंका सौभाग्य ही मूर्ति धारणकर सामने आ गया हो—

'मुख्यमुनीनां मृग्यं किमपि फलं देवकी फलति ।
तत् पालयति यशोदा प्रकाममुपभुञ्जते गोप्यः ॥'
'अनाघ्रातं भृङ्गैरनपहृतसौगन्ध्यमनिलै-
रनुत्पन्नं नीरेष्वनुपहतमूर्मीकणभरैः ।
अदृष्टं केनापि क्वचन च चिदानन्दसरसो
यशोदायाः क्रोडे कुवलयमिवौजस्तदभवत् ॥'
'परमिममुपदेशमाद्रियध्वं
निगमवनेषु नितान्तचारखिन्नाः ।
विचिनुत भवनेषु वल्लवीना-
मुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम् ॥'
'शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टम् ।
गोधूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः ॥'
'पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानामेकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनाम् ।
मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनां श्यामीभूतं ब्रह्म मे संनिधत्ताम् ॥'

निखिलरसामृतमूर्ति भगवान्‌की अलंकारादि-सामग्री भी सब रसस्वरूप ही है । सौरभ्यसे उनका उद्वर्तन (उबटन), स्नेहसे अभ्यञ्जन (मालिश), माधुर्य अथवा स्वादुत्वसे स्नान, लावण्यसे मार्जन, सौन्दर्यसे अनुलेपन और त्रैलोक्यलक्ष्मी (शोभा) से शृङ्गार होता है । श्रीवृषभानुनन्दिनी भी महाभावस्वरूपा हैं । सखियोंके प्रणयरूप सुगन्धसे उनका उबटन, तथा कारुण्यामृतधारा-लावण्यामृतधारा-तारुण्यामृतधारासे स्नान होता है, लज्जारूप श्याम पट्टवस्त्र वे परिधान किये रहती हैं, और उज्ज्वल-कस्तूरीविरचित उनकी देह है एवं कम्प-अश्रु-पुलक-स्तम्भादि उनके अलंकारस्वरूप रत्न हैं । श्रीकृष्ण और राधारानीके वसन, भूषण, अलंकारादि भी परस्परात्मक ही हैं । श्रीकृष्णका परिधानरूप पीताम्बर श्रीराधारानी एवं श्रीराधारानीके कज्जल, मृगमद, कर्णोत्पल, नीलाम्बर आदि श्रीकृष्ण ही हैं—

अयसो कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम ।
वृन्दावनतरुणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति ॥

श्रीव्रज-सीमन्तिनियोंकी श्रीकृष्णविषयक स्पृहा भी अद्भुत है । इनमें मुख्या श्रीराधाके उद्गार हैं—

दुरापजनवर्तिनी रतिरपत्रपा भूयसी
गुरुस्थितिविपर्ययैर्गमितिरतीवनीरस्यं गता ।
वपुः परवशं जनुः परमिदं कुलीनान्वये
न जीवति तथापि किं परमदुर्मरोऽयं जनः ॥

श्रीकृष्णकी निष्ठुरतासे उनके विरहमें मरनेकी आशङ्का होनेपर वे श्रीकृष्णके ही धाम वृन्दावनमें श्रीकृष्णके तुल्य-वर्ण तमालसे ही अपने शरीरको लटका देनेकी सम्मति देती हैं—

अकारुण्यः कृष्णो यदि मयि तवागः कथमिदं
मुधा मा रोदीर्मे कुरु परमिमामुत्तरकृतिम् ।
तमालस्य स्कन्धे विनिहितभुजावल्लरिरियं
यथा वृन्दारण्ये चिरमविचला तिष्ठतु तनुः ॥

शृङ्गार-रसकी अभिव्यक्ति और उज्ज्वलता अनौपचारिकरूपसे राधा-कृष्णमें ही बनती है । कृष्णविषयक काम-क्रोध-भयादिका भी पर्यवसान कृष्णप्राप्तिमें ही होता है । जैसे कोई दीप-बुद्धिसे चिन्तामणि ग्रहण करनेमें प्रवृत्त होता है, तो उसे चिन्तामणिकी ही प्राप्ति होती है, वैसे ही जारादि-भावनासे भी जो भगवान् श्रीकृष्णमें प्रवृत्ति होती है, उससे भगवत्प्राप्ति ही होती है । लौकिक जार-धर्म परलोकादिको नष्ट करता है और भगवान् पञ्चक्लेश, अविद्या एवं काम-कर्मादिको नष्ट करते हैं—इस रूपमें वे 'जार' हैं । श्रीमद्भागवतके—

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः ।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वा ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥

—इत्यादि वचन इसमें प्रमाण हैं । वस्तुतः तो अनिमित्ता भक्ति ही कोशको जीर्ण करती है, परंतु सनिमित्ता भक्तिका पर्यवसान भी अनिमित्ता भक्तिमें ही होता है । यद्यपि अनिमित्ता पराभक्ति स्वतःसिद्ध है, तो भी जैसे कच्चा आम पके हुए आमका कारण होता है, वैसे ही अपराभक्ति पराभक्तिका कारण होती है । ऐसा माननेपर ही भागवतके—

'अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।'
'अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥'
'भक्त्या संजातया भक्त्या ....'
—इत्यादि वचनोंकी संगति लगती है । रसात्मक

रसस्वरूप ही है। कहा भी गया है कि प्रादुर्भावके समय जिसने जरा भी हेतुकी अपेक्षा नहीं की, जिसके स्वरूपमें अपराध-परम्परासे हानि एवं प्रणाम परम्परासे वृद्धि नहीं होती, अपने रसास्वादके सामने अमृतस्वादको भी तुच्छ करनेवाले, तीनों लोकोंके दुःखका विनाश करनेवाले उस महान् प्रेमको वाणीका विषय बनाकर ओछा क्यों किया जाय—

प्रादुर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि
क्षीयेतापि न चापराधविधिना नत्या न यो वर्धते।
पीयूषप्रतिवादिनस्त्रिजगतीदुःखद्रुहः साम्प्रतं
प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्निष्ठतालाघवम्॥

वाणीका विषय बनाते ही प्रेम या तो हल्का हो जाता है या नष्ट हो जाता है। दो रसिकोंका प्रेम एक दीपकके समान है, जो उनके हृदयरूप गृहोंको निश्चलरूपसे प्रकाशित करता रहता है। यदि इसे वाणीरूप द्वारसे बाहर कर दिया जाय, तो या तो यह बुझ जाता है या मन्द हो जाता है—

प्रेमा द्वयो रसिकयोरपि दीप एव
हृद्वेश्म भासयति निश्चलमेव भाति।
द्वारादयं वदनतस्तु बहिष्कृतश्चे-
न्निर्वाति शीघ्रमथवा लघुतामुपैति॥

मुक्ति चाहनेवाले परमविरक्त भी इस भक्तिकी कामना करते हैं—

'न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।'
'धर्मं भज। स्वगृहिणीनिरतेषु वा सम-
स्येतोऽप्यमिन् यदि तु ते पदयो रमेत।'

इसीलिये भक्ति स्वतन्त्ररूपसे पञ्चम पुरुषार्थ मानी गयी है। भक्ति-रसायनकारके सिद्धान्तमें सगुण ब्रह्मके समान निर्गुण ब्रह्मकी भी भक्ति मानी गयी है। इसमें—

'देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥'
'लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।'

—श्रीमद्भागवतके ये वचन प्रमाण हैं। यद्यपि वेद एवं तदनुकूल शास्त्रोंने भगवान्के राम, कृष्ण, शिव, विष्णु आदि भिन्न स्वरूपोंकी उपासना बतलायी है, उन सबकी भक्ति रसस्वरूप ही है, तथापि सभी रस सम्पूर्णतासे साक्षात् श्रीकृष्णमें ही संगत होते हैं। इसीलिये भक्ति-रसायनकारने (भक्ति-रसायन १।१ में) विशेषतया 'मुकुन्द' पद ग्रहण किया है—

परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति।

भक्ति-रसके आलम्बन विभाव सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर भगवान् ही हैं—यह आगे स्पष्ट किया जायगा। प्रेम-निरूपणके प्रसङ्गमें यहीं (२।१ में) बताया गया है कि भगवद्धर्मसे द्रुत चित्तमें प्रविष्ट स्थिर गोविन्दाकारता ही भक्ति है—

द्रुते चित्ते प्रविष्टा या गोविन्दाकारता स्थिरा।
सा भक्तिरित्यभिहिता..................।

कर्म, उपासना, ज्ञानका अवगम करानेवाले सभी शास्त्रोंका तात्पर्य मल-निवारणपूर्वक अन्तःकरणको शुद्ध करने और विक्षेप दूर करनेके लिये भगवदुपासना एवं भगवत्स्वरूप-ज्ञान द्वारा परम पुरुषार्थरूप भक्तिमें ही है। भक्ति-रसायनकारने कहा भी है कि यदि द्रवावस्थापन्न चित्त-निस्पन्दीभूतस्वरूप सिद्ध भगवान्को ग्रहण कर ले तो क्या अवशेष रह जायगा!—

भगवन्तं विभुं नित्यं पूर्णं बोधसुखात्मकम्।
यद् गृह्णाति द्रुतं चित्तं किमन्यदवशिष्यते॥

विषयके प्रति चित्तकी कठोरता एवं भगवान्के लिये द्रवता होनी चाहिये—

काठिन्यं विषये कुर्याद् द्रवत्वं भगवत्पदे।

आनन्दसे ही अखिल भुवननिचयका प्रादुर्भाव, आनन्दसे ही जीवन एवं आनन्दमें ही लय होता है—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। (तै० उ०)

अतः समस्त प्रपञ्च परमानन्द रसस्वरूप ही है। किंतु स्वप्नादि प्रपञ्चके समान बाध्य होनेके कारण भगवत्स्फूर्ति होनेपर जब प्रपञ्च निवृत्त होता है, तब भगवद्रूप ही अवशेष रहता है। अन्यतम पदार्थकी अभिमान अन्तसे निवृत्ति होती है।

भगवत्-प्रेम प्राप्त करनेके लिये सर्वप्रथम महापुरुषोंकी सेवा, उनके धर्ममें श्रद्धा, भगवद्गुण-श्रवणमें रति, स्वरूपप्राप्ति, प्रेमवृद्धि, भगवत्-स्फूर्ति, भगवद्धर्मनिष्ठा अपेक्षित होती है। आत्माराम, आप्तकाम, पूर्णकाम, परमनिष्काम महामुनीन्द्र भी भगवान्को भजते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

कहा जा सकता है कि 'सर्वोपाधिशून्य प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्मके साक्षात्कारद्वारा सभी प्रकारके भेदोंके मिट जानेपर जिनका चित्त आत्मानन्दसे ही परिपूर्ण है, उन्हें भजनेके लिये भगवान्की स्फूर्ति नहीं हो सकती। रागकी तो उनमें सम्भावना ही नहीं, फिर भक्ति तो अत्यन्त ही असम्भव है।' परंतु यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि उन्हें स्वाभाविक प्रेमसे भेदका आहार्य ज्ञान होता है। (बाधकालिक इच्छाजन्य ज्ञान आहार्य ज्ञान कहा जाता है।) आहार्य ज्ञानद्वारा राग एवं भक्ति हो सकती है। 'त्रिपुरसुन्दरी रहस्य' (ज्ञानखण्ड) में बतलाया गया है कि भक्तलोग प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्मको जानकर अतिशय प्रीतिसे अभिवर्धित होकर आहार्य ज्ञानद्वारा भेदभावकी कल्पना करके अनन्य उपासनासे स्वभावतः भगवान्में स्वाभाविकी भक्ति करते हैं—

यद्युभयोरतिसाम्यमीत्या कैतवगर्भनात् ।
समभावस्य स्वरसतो ज्ञानेऽपि स्यात्तुर्य पदम् ।
पिभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यमतावरैः ॥

आहार्य ज्ञानद्वारा व्यामोहप्रसक्तिकी कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि भगवान् सत्यके भी सत्य हैं। जैसे अराजाको राजा बनानेवाला राजराज कहा जाता है, वैसे ही भगवान् असत्यको सत्य बनाते हैं। अर्थात् पारमार्थिक सत्यकी अपेक्षा किंचिन्न्यून सत्ताका पद और सत्य माना जाता है, जो भजनोपयोगी है। अतः पारमार्थिक अद्वैत सिद्धान्त ज्यों-का-त्यों रहता है। कहा भी गया है कि पारमार्थिक अद्वैतज्ञान होनेपर यदि भजनोपयोगी द्वैत मानकर भगवान्में भक्ति की जाती है तो ऐसी भक्ति सैकड़ों मुक्तियोंसे भी कहीं बढ़कर है। प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्मका विज्ञान होनेके पहले द्वैत बन्धनका कारण होता है; किंतु विज्ञानके बाद भेद-मोहके निवृत्त हो जानेपर भक्तिके लिये भावित द्वैत अद्वैतसे भी उत्तम है—

पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे ।
तादृशी यदि भक्तिः स्यात्सा तु मुक्तिशताधिका ॥
द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक् जाते बोधे मनीषया ।
भक्त्यर्थं भावितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम् ॥

चित्तद्रुतिके कारण अनेक हैं। उन्हींके भेदसे भक्तिमें भेद होता है—

चित्तद्रुतेः कारणानां भेदाद्भक्तिस्तु भिद्यते ।

शरीरसम्बन्धविशेषकी स्पृहा होनेपर संनिधान-असंनिधान-भेदसे काम दो प्रकारका होता है। उससे द्रुतचित्तमें श्रीकृष्ण-निष्ठता ही सम्भोग-विप्रलम्भाख्य रति है। इसी तरह क्रोध-स्नेह-हर्षादिजन्य चित्तद्रुतिमें भी रति जाननी चाहिये—

कामये द्वे रती शोकहासप्रीतिविस्मयास्तथा ।
उत्साहो युधि दाने च भगवद्विषया रती ॥

शृङ्गार, करुण, हास्य, प्रीति, भयानक, अद्भुत, युद्धवीर, दानवीर—ये सब व्यामिश्रणमें होते हैं। राजसी, तामसी, भक्ति अदृष्ट फलमात्रवाली होती है। मिश्रित भक्ति दृष्टादृष्ट उभय फलवाली होती है। इसी तरह साधकोंकी विशेषतासे भक्ति शुद्धसत्त्वोद्भवा भी होती है।

राजसी तामसी भक्तिरदृष्टफलमात्रभाक् ।
दृष्टादृष्टोभयफला मिश्रिता भक्तिरिष्यते ॥
शुद्धसत्त्वोद्भवाप्येषं साधकेष्वसमाहितेषु ।
दृष्टमात्रफला सा तु सिद्धेषु समाहितेषु ॥
दृष्टादृष्टफला भक्तिः सुखव्यक्तेर्विधेरपि ।
निदाघदूनदेहस्य गङ्गास्नानक्रिया यथा ॥
रजस्तमोऽभिभूतस्य दृष्टोंऽशः प्रतिबध्यते ।
शीतवातातुरस्येव गात्रदाहस्तु हीयते ॥
तथैव जीवन्मुक्तानामदृष्टांशो न विद्यते ।
स्नात्वा मुक्तवतो भूयो गङ्गायां क्रीडतो यथा ॥

तीव्र वातसित प्रदीपज्वालाके समान रजस्तमोऽभिभूत शिशुपाल आदिकी स्वप्रकाशानन्दाकार भी मतिसंतति सुखव्यक्ति करानेवाली न हुई। प्रतिबन्धके नष्ट होनेपर सुखाभिव्यक्ति होती है। चित्तद्रुति होनेपर ही भक्ति होती है। उसके न होनेके कारण ही वेन न तो भक्त ही ठहरा, न उसे कुछ फल ही प्राप्त हुआ। शिशुपाल भगवान्की सत्ता मानता था, परंतु वेन भगवान्की सत्ता ही नहीं मानता था। वह नास्तिक था, इसलिये उसका भगवत्सम्बन्ध ही नहीं हुआ। फिर चित्तद्रवता और भक्ति तो बहुत दूरकी बात है। सुखाभिव्यञ्जक होनेसे रजस्तमोविहीन भगवद्विषयक मति ही रति है। भगवद्विषयक मतिकी रजस्तमोविहीनताके तारतम्यसे ही रति-तारतम्य होता है—

चित्ते यावत् गुणं तादृशी दृश्यते रतिः ।

मृदु, मध्य और अधिमात्रभेदसे इसके भी अनेक भेद होते हैं। उसमें भी वैकुण्ठ, मथुरा, द्वारका, वृन्दावन आदिके भेदसे तथा व्रज-वन-निकुञ्जादिके भेदसे प्रकाशभेद भी माना जाता है। पुनः शुद्ध, मिश्रित आदि भेदसे अनेक भेद होते हैं। भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि आदिमें ये विषय विस्तारसे कहे गये हैं।

आत्मासे भिन्न पदार्थकी सिद्धि प्रमाणके अधीन ही होती है। स्वतः भासमान स्वारसिक अनतिशय प्रेमस्वरूप ही भगवान् हैं। इसीलिये श्रीशुकाचार्यने भगवान् श्रीकृष्णको सबका अन्तरात्मा बतलाया है—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥

इसीलिये महाविरक्तोंके भी चित्तमें हठात् उनकी स्फूर्ति होती है—

यावन्निरञ्जनमजं पुरुषं जरन्तं
संचिन्तयामि सकलं जगति स्फुरन्तम् ।
तावद् बलात् स्फुरति हन्त हृदन्तरे मे
गोपस्य कोऽपि शिशुरञ्जनपुञ्जमञ्जुः ॥

श्रीमधुसूदनसरस्वतीके भी निम्नलिखित वचन हैं—

क्लेशे प्रमाण् पत्रमिये अर्पगते
　　यद् ब्रह्मसौख्यं स्वयमस्फुरत् परम्।
तद् व्यर्थयन् कः पुरतो नराकृतिः
　　श्यामोऽयमामोदभरः प्रकाशते॥

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
　　पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
　　कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
　　ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
　　कालिन्दीपुलिनेषु यत् किमपि तन्नीलं महो धावति॥

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥

इसी तरह श्रीशुक, सनकादि, शंकर, सुरेश्वर, पद्मपाद, चित्सुख, सर्वज्ञात्म, श्रीधरस्वामी आदि सहस्रों ब्रह्मविद्वरिष्ठोंका भी वैसा ही अहैतुक प्रेम था। भगवान्‌ने स्वयं ही श्रीमुखसे 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' इन शब्दोंसे उपर्युक्त अर्थोंका समर्थन किया है—

सर्वं तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद।

—इत्यादि श्रुतियोंने किसीको भी अनात्मा समझना अनर्थकारक माना है, फिर भगवान्‌को अनात्मा समझनेकी तो बात ही क्या है। प्रेममें व्यवधान-सहनकी क्षमता नहीं होती, इसीलिये दूरस्थितमें या व्यवहितमें स्वाभाविक स्वारसिक अहैतुक प्रेम नहीं होता। इसीलिये भगवान्‌को सर्वान्तर परमव्यवहित या प्रत्यगात्मा कहा गया है।

कैतवरहितं प्रेम न तिष्ठति मानुषे लोके।
यदि भवति कस्य विरहो विरहे भवति को जीवति॥

—यह प्रसिद्ध ही है।

इसी तरह कहा जाता है कि 'भगवान् निर्गुण हैं।' इस कथनका अभिप्राय यह है कि भगवान्‌में प्राकृत गुणगण नहीं हैं। जैसे 'अकाय' का अभिप्राय प्राकृत-काय राहित्यमात्र है, अप्राकृत काय तो उनके हैं ही, वैसे ही 'निर्गुण' शब्द अप्राकृत गुणगणका निषेधक नहीं है।' यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो निष्क्रिय, अकर्ता आदि शब्दोंका भी ऐसा ही अर्थ किया जायगा। फिर तो भगवान्‌में अप्राकृत क्रिया एवं अप्राकृत कर्म मानना पड़ेगा। इसलिये सिद्धान्त तो यह है कि वस्तुतः निर्गुण ही भगवान् अपनी अचिन्त्य दिव्य लीलाशक्तिसे अप्राकृत गुणगणोंको स्वीकार करते हैं, अतः वे सगुण कहे जाते हैं—

निर्गुणं मां गुणाः सर्वे भजन्ति निरपेक्षकम्।

सर्वशास्त्र-तात्पर्य-विषय कर्म-उपासना-तत्त्वज्ञानादि-लभ्य भगवान् ही मुक्तोपसृप्य हैं, यह सहस्रों स्थलोंमें कहा ही गया है। 'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' (श्वेताश्व०), 'अमृतस्यैष सेतुः' (मुण्डक०), 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' (गीता), 'आत्मक्रीड आत्मरतिः' (छान्दो०) इत्यादि श्रुति-स्मृति वाक्योंसे मुमुक्षु और मुक्तोंके लिये भगवच्छरणागति ही वतलायी गयी है। उपक्रमोपसंहारादि तात्पर्यनिर्णायक षड्विध लिङ्गोंद्वारा 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति', 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुतियोंका तात्पर्य रसात्मक, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परब्रह्ममें ही पर्यवसित होता है। अन्यविषयानुरागाधीनविषयता प्रेमकी गौणता तथा अन्यविषयकअनुरागानधीनविषयता ही प्रेमकी मुख्यता है। ऐसी मुख्यता आत्मामें ही हो सकती है। क्योंकि वहाँ प्रेम अन्यार्थ नहीं है। अतः आत्मा सुखरूप है। 'सुख आत्मासे भिन्न दूसरी वस्तु है, इसीलिये आत्मसम्बन्धसे ही सुखकी कामना होती है' यह कहना ठीक नहीं। भ्रान्तिवशात् वैषयिक सुख ऐसा प्रतीत भी हो, तो भी परमार्थतया सुख आत्मरूप ही है। वैषयिक सुखको ही लक्ष्य करके 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (यो० द० २। १५) यह श्रीमहर्षि पतञ्जलि और 'विषमिश्रित, मधुर, मनोहर पक्वान्नके समान दुःखमिश्रित सुख हेय है' यह नैयायिकोंका कहना है। 'एष ह्येवानन्दयाति', 'मात्रामुपजीवन्ति', 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इत्यादि श्रुतियाँ लौकिक वैषयिक सुखको उसी सुखस्वरूप आत्माका अंश बतला रही हैं। स्वानुकूल विषयकी प्राप्तिमें अन्तःकरणकी वृत्ति अन्तर्मुख, शान्त, अचञ्चल होती है। सत्त्वोद्रेक होनेसे प्रतिबिम्बतया वहाँ स्वात्मानन्द ही अभिव्यक्त होता है। विषय निबन्धन एवं वृत्तिरोधके क्षणिक होनेसे उस सुखको वैषयिक, क्षणिक आदि कहा जाता है। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' इत्यादि श्रुतियोंद्वारा तत्त्व-साक्षात्कार-मूलक परिणामके कारण दुःखसे असंभिन्न सुख होनेसे ब्रह्मस्थ सुखप्राप्ति कही गयी है। इसीलिये 'आत्मा ही रस है' ऐसा सिद्धान्त है। यहाँपर आत्मशब्दसे प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परब्रह्मका ही ग्रहण कराया जाना अभिप्रेत है, क्योंकि उसीमें उपक्रमोपसंहारादि द्वारा रसात्मबोधक वचनोंका तात्पर्य निश्चय होता है। अग्निके अंश विस्फुलिङ्गके समान या सिन्धुके अंश बिन्दुके समान सीमित, सोपाधिक, चिदाभास, सिद्धप्रतिबिम्ब, जीवरूप से समस्तविषय और निरतिशय रसरूप नहीं, क्योंकि वहाँ पूर्णानन्दता तिरोहित है। तटस्थ परब्रह्म परमात्मा भी निरतिशय सुखरूप नहीं, क्योंकि यदि वह प्रत्यक् चैतन्यस्वरूप न हुआ तो साक्षादपरोक्ष भी न रहेगा, फिर उसकी स्वप्रकाशानन्द रसरूपता तो अत्यन्त दूर है। इसलिये न चाहनेपर भी प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परब्रह्मकी ही रसरूपता माननी पड़ती है।

वेदान्तवेद्य, निर्विशेष भगवद्रूप ही रस है; यही रसशास्त्रमें स्थायिभावसे विशिष्ट रूपमें वर्णित होता है। भगवद्-गुण-गण-श्रवण-जन्य मानस वृत्तिकी द्रवतामें भगवदाकारता प्रविष्ट होनेपर विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारीके संयोगसे रसरूपता होती है। यहाँ भगवान् ही आलम्बन विभाव, तुलसी-चन्दनादि उद्दीपन-विभाव, नेत्र-विक्रियादि अनुभाव और निर्वेदादि व्यभिचारी भावसे व्यज्यमान भगवदाकारतारूप रस ही स्थायी है। भाव तथा परमानन्द-साक्षात्कारात्मक सुखासंस्पृष्ट-सुखरूप भक्तियोग ही परम पुरुषार्थ है। यदि स्वभावतः कठिन लाक्षा तापक अग्नि आदि द्रव्यके सम्बन्धसे जलके समान द्रुत हो जाय और सैकड़ों पर्तके चीनांशुकसे छान ली जाय, फिर उसमें हिंगुल आदि कोई रंग छोड़ दिया जाय, तो वह रंग उस लाक्षाके सर्वांशमें प्रविष्ट होकर स्थिर हो जाता है। फिर कठोर या द्रुत होनेपर कभी भी रंग लाक्षासे पृथक् नहीं होता, भले ही लाक्षा या रंग पृथक् होना चाहे। यदि पुनः अन्तःकरणकी द्रवावस्था हुई और दूसरी वस्तु उसमें प्रवेश पाने लगी, तो भी पहली वस्तु उसमेंसे नहीं निकलती। इसी प्रकार भगवद्भावनासे भावित द्रवावस्था अन्तःकरणमें भगवान्के प्रविष्ट होनेपर अन्यवस्तुग्रहणकालमें भी भगवान्का ही भान होता है।

प्रपञ्च-भानरहित भगवद्भानका उदाहरण है—

> खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
> ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
> सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
> यत् किं च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

प्रपञ्च मिथ्यात्व-भानसहित भगवद्भानके उदाहरण 'तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपम्' आदि हैं। प्रपञ्च-भान-रहित भगवद्भानका उदाहरण है—

> प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः।
> आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने॥

विशेषतः विप्रलम्भ शृङ्गारमें प्रधानस्थायिभाव आलम्बनमय ही समस्त वस्तुओंका भान होता है। इसका उदाहरण है—

> प्रासादे सा दिशि दिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा
> पर्यङ्के सा पथि पथि च सा तद्वियोगातुरस्य।
> हंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा
> सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः॥

इसी तरह भगवद्विषयक काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक, दया आदि तापक भावोंमेंसे किसीके भी सम्बन्धसे चित्तरूप लाक्षा गङ्गा-जल प्रवाहके समान द्रुत हो और सैकड़ों पर्तके चीनांशुकसे वह छाना हो (छान ली जाय), फिर उसमें सर्वांशप्रविष्ट परमानन्दस्वरूप भगवान् स्थायीभाव बनकर रसस्वरूप हो जाते हैं। द्रवावस्था प्रविष्ट विषयाकारता (भगवदाकारता) के कभी पृथक् न होनेके कारण यहाँ मुख्य स्थायी शब्दका प्रयोग होता है। ऐसा होनेपर ही कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं-समर्थ भगवान् भी यदि स्वयं वहाँसे हटना चाहें तो नहीं हट सकते, उनकी सर्वशक्तिमत्ता भी कुण्ठित हो जाती है। इसीलिये कहा गया है—

> विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
> द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
> प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
> स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

यहाँ 'प्रणय' शब्दसे द्रवावस्था ही विवक्षित है। ऐसे अन्तःकरणसे चाहनेपर भी भगवान् नहीं निकल सकते। इसीको लक्ष्य करके भक्त उनसे कहता है कि यदि हृदयसे निकल जायँ तो आपका पुरुषार्थ मानूँ—

> हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते।

व्रज-सीमन्तिनीजन अपने हृदयसे भगवान्को निकालना चाहती हैं, पर सफल नहीं होतीं। निश्चित करती हैं कि अब उनसे सख्य नहीं करेंगी, फिर भी उनकी चर्चाको पुरुषार्थ समझती हैं। किसी सखीने भगवान्की चर्चा छेड़ दी, तो दूसरी सखीने तत्काल रोककर कहा—

> संत्यज सखि तदुदन्तं
> यदि सुखलवमपि समीहसे सख्याः।
> स्मारय किमपि तदितरद्
> विस्मारय हन्त मोहनं मनसः॥

अर्थात् 'यदि हमारी प्यारी सखी (राधा)को क्षणभर भी सुखी देखना चाहती हो तो मोहनकी चर्चा न करके कोई और बात सुनाओ।' यह देखकर किसी मुनिको बड़ा आश्चर्य हुआ और वे सोचने लगे कि योगीन्द्र-मुनीन्द्र अपने मनको धारणा ध्यानादिके द्वारा विषयोंसे हटाकर भगवान्में लगाना चाहते हैं किंतु फिर भी उनका मन हट-हटकर विषयोंमें चला जाता है; किंतु यह मुग्धा मनको भगवान्से हटाकर विषयोंमें लगाना चाहती है। जिसकी क्षणिक स्फूर्तिके लिये योगी सदा उत्कण्ठित रहा करते हैं, यह मुग्धा उसको हृदयसे निकाल बाहर करना चाहती है—

> प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन् मनो धित्सति
> बालासौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः।
> यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
> मुग्धेयं बत पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति॥

यदि कहा जाय कि फिर तो आलम्बन और स्थायीभाव एक ही हो गया, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि व्यवहारसिद्ध ईश-जीवके भेदके समान ही बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भावका भेद

है। वैष्णवधर्मके अनुसार मुक्ति प्राप्त होनेपर विष्णुका परम पद प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रवर्तन, साधन एवं लक्ष्य—तीनों ही दृष्टियोंसे वैष्णवधर्मका जो विष्णुसम्बन्ध प्रकट होता है, वह वैष्णव-सदाचारमें ओतप्रोत है। ध्यान रहे कि आचार-धर्मकी वैष्णवता ही वैष्णव-सदाचारमें अभिप्रेत है। इसीका यहाँ अनुशीलन करना है।

वैष्णव-आचारशास्त्रके अनुसार वैष्णव कहलानेके लिये वैष्णव-संस्कार चाहिये। वृद्धहारीतस्मृतिका वचन है—

> तापादिपञ्चसंस्कारी मन्त्ररत्नार्थतत्त्ववित्।
> वैष्णवः स जगत्पूज्यो याति विष्णोः परं पदम्॥
>
> (८।११)

आशय यह है कि 'जो ताप आदि पाँच संस्कारोंसे संस्कृत है तथा मन्त्ररत्नके तत्त्वको जानता है, वह वैष्णव है। वह जगत्‌में पूजनीय है। वह विष्णुके परमपदको प्राप्त करता है।'

ताप आदि संस्कारोंको महर्षि भरद्वाजने इस प्रकार गिनाया है—

> तापः पुण्ड्रं तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः।
> अमी परमसंस्काराः पारमैकान्त्यहेतवः॥
>
> (भारद्वाजसंहिता, परिशिष्ट २।२)

अर्थात् ताप, पुण्ड्र, नाम, मन्त्र और याग—ये पाँच वे परम संस्कार हैं, जिनसे परम ऐकान्तिक भाव प्राप्त होता है।

ताप-संस्कारके द्वारा सुदर्शन-चक्र और पाञ्चजन्य-शङ्खको धारण किया जाता है। पुण्ड्र-संस्कारसे ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण किया जाता है। नाम-संस्कार होनेपर भगवद्दास्य-सूचक नाम प्राप्त होता है। मन्त्र-संस्कारमें मन्त्रका उपदेश मिलता है। याग-संस्कारके द्वारा यजनकी योग्यता प्राप्त होती है। इन संस्कारोंकी महनीयता बताते हुए महर्षि भरद्वाजने कहा है—

> तापस्तपांसि तीर्थानि पुण्ड्रं नाम नमस्क्रिया।
> आम्नायाः सकला मन्त्राः क्रतवः पूजनं हरेः॥
>
> (भारद्वाजसंहिता, परिशिष्ट २।५०)

इस कथनके अनुसार ताप-संस्कार सम्पूर्ण तपस्याओंका प्रतीक है। ऊर्ध्वपुण्ड्र-धारणमें समस्त तीर्थोंका सेवन आ जाता है। भगवान्‌का दास्य-सूचक नाम मिला कि नमस्कारकी प्रक्रिया सर्वाङ्गपूर्ण हो जाती है। अनन्त अपौरुषेय वेद-वाङ्मय मन्त्रोंमें विद्यमान है तथा समस्त यज्ञ यागमें लय जाते हैं।

इन संस्कारोंका विधान पाञ्चरात्र-आगमकी संहिताओं तथा वैष्णव-स्मृतियोंने किया है। वेद-वाङ्मयमें इनका निर्देश मिलता है तथा पुराण-वाङ्मयमें इनका वर्णन है। वैष्णवाचार्योंने अपने निबन्धोंमें इन प्रमाणोंका संकलन किया है।

वैष्णवका लक्ष्य त्रिवर्गपर नहीं होता। अर्थ और कामके साथ-साथ पुण्य-प्रदाता धर्मसे भी ऊपर उठकर उसकी दृष्टि परमपुरुषार्थ मोक्षपर होती है। मोक्षका भाव उसके लिये प्रकृतिके बन्धनसे छुटकारामात्र नहीं होता। मोक्षको वह परिपूर्ण ब्रह्मानन्दानुभवकी स्थिति मानता है। कर्म-काण्डके परमदेवता विष्णु ही परब्रह्म हैं, यह उसकी मान्यता होती है। आत्मदर्शनको सम्पन्न करनेवाले कर्म और ज्ञानके आगे वह उपासनामें प्रवृत्त होकर परमात्मदर्शनकी साधना करता है।

> नारायणः परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परम्।
> नारायणः परं ज्योतिरात्मा नारायणः परः॥

—के अनुसार वह 'विष्णु'शब्दवाच्य नारायणको परब्रह्म, परम तत्त्व, परम ज्योति एवं परमात्मा मानता है। उपनिषदोंमें वर्णित किसी एक ब्रह्मविद्याके सहारे उसकी साधना चलती है। वह आहार-शुद्धिका ध्यान रखता है। मानसिक दोषोंमें आसक्ति नहीं रखता। अभ्यास करता है। पञ्चमहायज्ञ आदि शास्त्रविहित कर्मोंका अनुष्ठान करता है। दया, नम्रता आदि गुणोंका व्यवहार करता है। दुःखोंसे विचलित नहीं होता। सुखमें आपेसे बाहर नहीं हो जाता। इस प्रकार साधन करते हुए वह अपनी भक्ति-भावनाको दृढ़ करता है।

किंतु यदि वह अपने-आपको उन ब्रह्मविद्याओंके योग्य नहीं पाता, जिनके लिये विशेष वैदिक नियमोंकी आवश्यकता होती है, तो वह न्यास-विद्याका आश्रय ग्रहण करता है। जिस प्रकार उपासनाका दूसरा नाम भक्ति है, उसी प्रकार *न्यास-विद्याका दूसरा नाम 'शरणागति'* है। इसकी साधनाके निमित्त वह शरण्य भगवान्‌के अनुकूल रहनेका संकल्प करता है, प्रतिकूल न चलनेकी प्रतिज्ञा करता है। विश्वास करता है कि भगवान् ही मेरे रक्षक हैं, उनको ही अपने सर्वस्वके रूपमें वरण करता है, कार्पण्य (दैन्य)-भावको ग्रहण कर वह शरण्यके चरणोंमें अपना आत्म-समर्पण कर देता है।

वैष्णव चाहे भक्तिकी साधना करनेवाला हो अथवा शरणागतिकी साधना करनेवाला श्रुति-स्मृतिके आदेशोंके पालन करनेका उसपर उत्तरदायित्व होता है। स्वयं भगवान्‌ने कहा भी है—

> श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते।
> आज्ञाच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥

अर्थात् 'श्रुति-स्मृति मेरी आज्ञाएँ हैं; जो उनका उल्लङ्घन करता है, वह मेरी आज्ञाको भङ्ग करनेवाला मेरा द्रोही है। मेरी भक्ति करनेपर भी वह वैष्णव नहीं हो सकता।'

वैष्णव जो कुछ धर्मानुष्ठान करता है, करता है भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, धर्मको भगवान्‌की आज्ञा मानकर।

भगवान्को प्रसन्न करना, भगवान्का आज्ञा-पालन करना, भगवान्का कैंकर्य करना उसकी भावना होती है। प्रत्येक धार्मिक कृत्यके आरम्भमें वह संकल्प करता है—

श्रीभगवदाज्ञया भगवत्प्रीत्यर्थं भगवत्कैंकर्यरूपम्।

अर्थात् भगवान्की आज्ञासे भगवान्की प्रसन्नताके लिये भगवत्कैंकर्यरूप (यह कृत्य करता हूँ)।

वैष्णवकी मान्यता होती है कि परब्रह्म चराचर विश्वके आधार, नियन्ता और शेषी हैं; अन्य समस्त पदार्थ उन परब्रह्मके आधेय, नियाम्य और शेषभूत हैं। फिर भला, भगवान्का सहारा लिये बिना वह कर्मानुष्ठान कैसे कर सकता है! इसलिये वह जो कुछ करता है, भगवान्के बलपर करता है। संकल्पके साथ-साथ वह इस वाक्य-मन्त्रका भी चिन्तन करता है—

भगवतो बलेन, भगवतो वीर्येण, भगवतस्तेजसा भगवतः कर्म करिष्यामि।

अर्थात् मैं भगवान्के ही बल, वीर्य एवं तेजकी सहायतासे भगवान्का कर्म करूँगा।

वैष्णव कर्मोंका त्याग नहीं करता, सात्त्विक त्यागका चिन्तन अवश्य करता है। कर्मानुष्ठानके पहले वह सोचता है—

भगवानेव 'स्वार्थे स्वप्रीतये स्वयमेव कारयति।

अर्थात् भगवान् ही अपने लिये, अपनी प्रसन्नताके लिये स्वयमेव इस कर्मको करा रहे हैं। और कर्मकी पूर्ति हो जानेपर वह सोचता है—

भगवानेव 'स्वार्थे स्वप्रीतये स्वयमेव कारितवान्।

अर्थात् भगवान्ने ही अपने लिये, अपनी प्रसन्नताके लिये स्वयं ही यह कर्म करा लिया।

वैष्णव पञ्चकालधर्मका अनुष्ठान करता है—इसलिये अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग—

अभिगच्छन् हरिं प्रातः पश्चाद् द्रव्याणि चार्जयन्।
अर्चयंश्च ततो देवं ततो मन्त्राञ्जपन्नपि॥
ध्यायन्नपि परं देवं कालेष्वेतेषु पञ्चसु।
वर्तमानः सदा चैवं पाञ्चकालिककर्मणा॥

आशय यह है कि प्रातःकालमें भगवान्का अभिगमन करे। दोपहरतक उपादान अर्थात् भगवदाराधनके लिये उपयोगी सामग्रीका संग्रह करे। इसके बाद इज्या अर्थात् भगवान्का आराधन करे। तीसरे पहर स्वाध्याय अर्थात् मन्त्रजप आदि करे। रात्रिको योग अर्थात् भगवान्का ध्यान करे। यह पाञ्चकालिक पूजाका क्रम है। प्रातःस्मरणसे लेकर प्रातःसन्ध्यापर्यन्त अनुष्ठान अभिगमनके अन्तर्गत आ जाता है। मध्याह्नस्नानसे लेकर वैश्वदेव-पञ्चमहायज्ञ-भोजनपर्यन्त इज्यामें आ जाता है। सायं-संध्यासे लेकर शयनपर्यन्त सारा विधान योगके अन्तर्गत आ जाता है। इस प्रकार धर्मशास्त्रीय विधानकी पाञ्चकालिक पद्धतिके साथ इसकी संगति बैठ जाती है।

भगवान्की पूजा वैष्णवकी अपनी विशेषता है। पूजाके प्रसङ्गमें वह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थाओंको पार करता हुआ तुरीय अवस्थातक पहुँच जाता है। मूर्तिपूजामें जाग्रत्-अवस्था, मन्त्रजपमें स्वप्नावस्था तथा मानसिक आराधनमें सुषुप्ति-अवस्थाका अनुभव करते हुए भगवान्के उपचारोंमें वह तुरीयावस्थाका अनुभव करता है। गुरु-परम्पराके सोपानके द्वारा वैष्णव अपने ध्यानको भगवान्तक ले जाता है, धर्म-शास्त्रद्वारा उनकी पुष्पाञ्जलि अर्पित करता है तथा अन्तमें विसर्जन एवं मङ्गलगान करता है।

भगवदागमन और पुण्यतीर्थोंके सम्बन्धमें वैष्णवकी मान्यता यह भी है—

यहाँपर यह बता देना अनुचित न होगा कि आत्म-दर्शनका साधक जिन नैतिक गुणोंसे अपनी साधना आरम्भ करता है, वे नैतिक गुण परमात्मदर्शनके साधकके लिये अपेक्षित अवश्य होते हैं। किंतु आत्मदर्शनके साधकके लिये कठिनाई यह है कि जबतक आत्मसाक्षात्कार नहीं हो जाता, नैतिक गुणोंकी पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हो पाती और जबतक नैतिक गुणोंकी परिपूर्ण प्रतिष्ठा नहीं होती, आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। परमात्म-दर्शनके पथिक वैष्णवके सामने यह कठिनाई नहीं होती। वह अपने कर्मोंका न्यास भगवान्‌में कर देता है तथा अपने मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ एवं शरीर भगवान्‌की सेवामें लगा देता है। साधनाकी दृष्टिसे वह भगवान्‌को कर्ता और कारयिता मान लेता है। इस मान्यताके साथ जहाँ उसके आत्मसमर्पणकी प्रक्रिया आरम्भ हुई, सच्चिदानन्द भगवान् अपने संकल्पका बल उसको प्रदान करने लगते हैं। फल-स्वरूप उसके नैतिक गुण विकसित हो जाते हैं, यहाँतक कि उसका जीवन नैतिकताका आदर्श बन जाता है। इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि गुणोंके लिये उसे कोई श्रम नहीं करना पड़ता।

वैष्णवका जीवन भगवदीय होता है। उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते और सोते-जागते वह भगवान्‌का स्मरण करता है। उसके प्रत्येक कार्यमें भगवदाराधना चलती रहती है। उसके हर श्वासमें भगवान्‌का विश्वास पलता है। वह भगवान्‌से कुछ याचना नहीं करता। प्रारब्धको वह भोगता है भगवान्‌का प्रसाद समझकर। विषयोंसे उसे राग नहीं होता। अनुराग होता है भगवान्‌से और भागवतोंसे। मृत्युको वह अपना प्रिय अतिथि मानता है। भगवान् उसका योग-क्षेम वहन करते हैं, उसका स्मरण रखते हैं और उसको परम पद प्रदान करते हैं।

भक्ति

(लेखक—त्रिदण्डिस्वामी श्रीभक्तिविलासतीर्थजी महाराज)

कविराज कृष्णदासजीके 'श्रीचैतन्यचरितामृत' में श्री-चैतन्यमहाप्रभुके जीवनके द्वितीय और तृतीय भागपर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है। वास्तवमें यह ग्रन्थ श्री-महाप्रभुके जीवनके आध्यात्मिक गुणका, दार्शनिक एवं शैक्षणिक दृष्टिकोणसे, श्रेष्ठ प्रतिपादन प्रस्तुत करता है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुके मतमें वेद आध्यात्मिक ज्ञानके एक-मात्र मूल स्रोत हैं। वैसे तो वेदोंमें यथार्थरूपसे सब प्रकारके कर्म, अकर्म और विकर्मकी परिभाषा दी गयी है; किंतु हैं वे भगवद्भक्तिपरक ही। उनमें भिन्न-भिन्न प्रकारके कर्मोंकी तत्तद्-विषयक परोक्ष फलश्रुतियाँ भी हैं, किंतु वे फलश्रुतियाँ केवल बाल-बुद्धिवाले व्यक्तियोंको ही लुभा सकती हैं। वेदोंका सच्चा उपदेश तो यह है कि मानव ईश्वरीय आराधनाके द्वारा कर्मोंके फलसे सर्वथा अनासक्त रहकर नैष्कर्म्यकी स्थितिको प्राप्त कर ले—यही भक्ति है।

देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने स्वतः अपने मुखारविन्द-से जिस गीताका गान किया है, वह भी यही कहती है कि शरणागतिमें ही उसका तात्पर्य है। इस शरणागति-का अर्थ है—सम्पूर्ण परिच्छिन्न व्यक्तित्वका, अपनी प्रत्येक प्रिय वस्तुका, अपने सामान्य-असामान्य गुण-दोषों एवं न्यूनताओं और निपुणताओंका, उस अपरिच्छिन्न प्रभुके प्रति सर्वात्मना सर्वाङ्गीण समर्पण। यह सर्वातिशायी मनोरम सिद्धान्त है; और इस प्रकारका आत्मसमर्पण आत्मोत्सर्गका अत्यन्त विशुद्ध रूप है।

अपनेको असहाय जानकर परिच्छिन्न जीव जब प्रेम और दयाके सिन्धु अपरिच्छिन्न ईश्वरके पाद-पद्मोंमें सर्वभावेन अपने व्यक्तित्वका समर्पण करके भगवत्संकल्पानुसारी बन जाता है, तब वह स्थिति भक्ति कहलाती है। शरणागति स्वतः भक्तिका पूर्वरूप है।

'भक्ति' पद संस्कृतके 'भज' धातु में 'क्ति' प्रत्ययके योगसे बना है। प्रत्ययका अर्थ प्रेम है और धातुका अर्थ है सेवा करना। सामान्य नियम यह है कि धातु और प्रत्यय-के योगसे एक सम्पूर्ण अर्थकी अभिव्यक्ति होती है और उस अर्थमें प्रत्ययका अर्थ ही प्रधान रहता है। अतः भक्तिका अर्थ हुआ सेवा करना। सेवा शारीरिक क्रिया है। सच्ची सेवामें प्रेमका भाव निहित रहता है और बिना प्रेम-भावके सेवा-कार्य क्लेशप्रद हो जाता है तथा स्पृहणीय भी नहीं रहता। प्रेमकी पूर्णता सेवा-भावमें ही है। नारदीय पञ्चरात्र-के अनुसार सम्पूर्ण इन्द्रियोंको मायाके बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त करके अनन्यमनस्क हृषीकेश भगवान्‌का आराधन करना ही भक्ति है। भक्तिके साम्राज्यमें भोक्ता और भोग्य—दोनों ही पारस्परिक साहचर्य-जन्य आनन्दका उपभोग करनेके लिये चिन्मयदेहेन्द्रियविशिष्ट होते हैं।

शाण्डिल्यसूत्रमें ईश्वरके प्रति परानुरक्तिको ही भक्ति कहा गया है। अनुरक्ति और अनुराग पर्याय हैं। अतः 'परानुरक्तिरीश्वरे' इस सूत्रका अर्थ हुआ कि आराध्यके प्रति अनन्य अनुराग ही भक्ति है। यह राग आनन्दसे परिपूर्ण है।

श्रीरूपगोस्वामीने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्तिकी व्याख्या इस प्रकार की है—अन्यान्य वस्तुकी प्राप्तिकी अभिलाषा न करते हुए, कर्म अथवा वैराग्यका भी मोह न रखते हुए और अपने भी किसी स्वार्थकी भावनाको स्थान न देते हुए, केवल श्रीकृष्णकी संतुष्टिके लिये उनका प्रेम-भावसे चिन्तन करना ही उत्तम भक्ति है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

भक्ति स्वतः ही पूर्ण है । यह कर्म, ज्ञान अथवा अन्य किसी प्रकारकी साधनकी अपेक्षा नहीं रखती । कर्मका उद्देश्य वैयक्तिक सुख है और ज्ञानका लक्ष्य है उस निर्विशेष ब्रह्मकी प्राप्ति, जो द्वैत-भावनासे रहित है, अर्थात् जहाँ उपास्य-उपासकका भेद ही नहीं है । अतः भक्ति मूलतः उन दोनोंसे भिन्न है । सम्पूर्ण गौडीय वैष्णव-साहित्यमें कर्म और ज्ञान-का आश्रय ही तीव्र विरोध किया गया है । श्रीरूपगोस्वामीने इस विषयपर अपने विचार बड़ी ही दृढ़तासे व्यक्त किये हैं । उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जबतक साधकके हृदयमें कर्मोंसे प्राप्य भोगोंके प्रति और ज्ञानसे प्राप्य मोक्षके प्रति अंशतः भी रुचि बनी रहेगी, तबतक उसमें भक्तिका प्रादुर्भाव नहीं हो सकेगा—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते ।
तावद् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्वलहरी १ । ११)

श्रीकविराज कृष्णदासने कर्म और ज्ञानकी तुलना शाल-वृक्षसे की है और अपने पाठकोंको स्पष्ट आदेश दिया है कि वे उन्हें अपने हृदयसे सर्वथा निर्मूल कर दें, जिससे कि भक्ति-वल्लरीके सम्वर्धनमें कोई बाधा न पड़े ।

श्रीरूपगोस्वामीने भक्तिके प्रभावकी चर्चा करते हुए उसके छः लक्षण बताये हैं—

१. भक्ति सब प्रकारके दुःखोंका नाश करती है ।
२. यह सम्पूर्ण कल्याणोंको देनेवाली है ।
३. यह मोक्षको भी हेय समझती है ।
४. यह अत्यन्त ही दुर्लभ है ।
५. यह घनीभूत आनन्द है ।
६. यह श्रीकृष्ण भगवान्‌को आकर्षित करनेवाली है ।

उनका वचन है—

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

शुद्ध भक्तिपर आवरणका कोई विरोधी प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये । ज्ञान और शुष्क वैराग्य भक्तिके विकासमें बाधा डालते हैं । ईश्वरका क्या स्वरूप है और जीवका ईश्वरके साथ कैसा निकट सम्बन्ध है, इस विषयकी जानकारी भक्ति-विरोधी नहीं है । भक्ति स्वतः साधन भी है और साध्य भी । भक्ति अपनी चरमावस्थामें मुक्तिका भी अतिक्रमण कर जाती है और प्रेम-नामसे अभिहित होती है । किंतु इस अवस्थामें भी भक्तिके क्रिया-कलापोंका विराम नहीं होता । ईश्वरके प्रति मनुष्यकी स्वतःस्फूर्त एवं स्वाभाविक अनुरक्तिका नाम ही भक्ति है ।

भक्तिको स्वसंवेद्यरूप कहा गया है । तथा आध्यात्म ज्ञान भी भक्तिका आनुषङ्गिक फल है । स्वरूप-शक्ति, तटस्था-शक्ति और माया-शक्तिसे उपलक्षित ईश्वरके तीनों रूपों—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्‌का साक्षात्कार हो जाना तत्त्वज्ञान है । ईश्वर इन शक्तियोंसे भिन्न और अभिन्न दोनों है । भक्तिद्वारा ही ईश्वरके इस स्वरूपकी अनुभूति और साक्षात्कार सम्भव है । केवल ज्ञानसे आत्मसाक्षात्कार नहीं होता जब कि भक्तिद्वारा केवल ज्ञान ही नहीं अपितु साक्षात्कार भी हो जाता है ।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुके मतसे भक्ति दो प्रकारकी है—वैधी और रागानुगा । पहले प्रकारको वैधी इसलिये कहा गया है कि इसमें प्रवृत्त होनेकी प्रेरणा शास्त्रसे प्राप्त होती है, जिसे विधि भी कहते हैं । जिसकी बुद्धि तर्कशील है, जिसे शास्त्रका ज्ञान है, जिसका विश्वास दृढ़ है और जिसकी वैष्णवधर्ममें परम निष्ठा है, केवल वही साधक वैधी भक्तिका अधिकारी है । रागानुगा भक्ति वैधी भक्तिसे भिन्न है । राधाजीका श्रीकृष्णके प्रति प्रेम इस दूसरे प्रकारकी भक्तिके सर्वोत्कृष्ट एवं गाढ़तम स्वरूपका निदर्शन है । भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थके रचयिता श्रीरूपगोस्वामीने तीन प्रकारकी भक्ति बतायी है—साधन भक्ति, भाव भक्ति और प्रेम भक्ति । भाव भक्ति अथवा साध्य भक्ति, जो नैसर्गिक और भावावेशकी अवस्था है, किसी प्रकारके साधन अथवा प्रयत्नके द्वारा साध्य नहीं है । इसे अभ्यास द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता । यह तो पहलेसे ही हृदयमें विद्यमान रहता है । आवश्यकता होती है उसे जाग्रत करनेकी ।

रागात्मिका भक्ति स्वाभाविक आसक्तिका नाम है । जिस आसक्तिसे भक्ति की जाती है, उसीका नाम राग है । रागका अर्थ ही है आसक्ति । भाव शब्दके अनेक

कहलाता है। भक्तिद्वारा भक्त किसी भी प्राप्य उद्देश्यको न रखकर ईश्वरोन्मुख हो सकता है। भक्ति वह शक्ति मानी गयी है, जो ईश्वरका हमारे साथ गठबन्धन कर देती है।

भक्ति कर्म और ज्ञानसे मूलतः भिन्न है। प्रेमके शाश्वत बन्धनद्वारा भक्त आदिसे अन्ततक अपने व्यक्तित्वको स्थायीरूपसे स्वतन्त्र बनाये रखता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह ईश्वरको आराध्यरूपमें अपनेसे सदा भिन्नरूपमें देखता है और फलस्वरूप अपने आराध्यके साथ एकात्मताकी कल्पनासे ही काँप उठता है। प्राकृत गुण धर्मोंसे छुटकारा पा लेनेपर तो उसकी भक्ति उसके विशुद्धरूपमें अनन्त कालतक प्रवाहित होती रहती है।

ईश्वरके प्रति हमारे मनकी अविच्छेद्य स्वाभाविक अनुरक्ति ही प्रेम भक्ति कहलाती है। यह पाँच प्रकारकी है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। वृन्दावनकी गोपियोंका श्रीकृष्णके प्रति प्रेम इस प्रेम-भक्तिका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। तभी भक्ति-भावनाका उदय होनेपर भक्त सब प्रकारकी इच्छाओं और कामनाओंको, सब प्रकारकी बाह्य पूजाओं तथा सारे ज्ञान और कर्मको त्यागकर, बस, एकमात्र श्रीकृष्णमें ही अनुरक्त हो जाता है। भक्तिकी पूर्णताके लिये यह आवश्यक नहीं कि किसी प्रकारके विधि विधानका अनुष्ठान किया जाय। भक्ति-मार्गमें तो भगवान्के नाम और गुणोंका श्रवण और संकीर्तन ही एकमात्र कर्तव्य बताया गया है। भक्ति तो स्पष्टतः अतीन्द्रिय व्यापार है। ईश्वरके शाश्वत साहचर्यमें रहना ही भक्ति है; क्योंकि ईश्वर स्वयं गुण धर्मोंसे परे है, अतः ईश्वरके साहचर्य अथवा ईश्वरमें स्थितिका अर्थ भी अनिवार्यतः गुणातीत स्थिति ही है।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुके धार्मिक जीवनमें भक्तिके वे असाधारण लक्षण प्रकट हुए, जिनका माहात्म्य, जहाँतक हमें ज्ञात है, अन्य किसी भी संतमें नहीं हुआ। अपने जीवनके अन्तिम बारह वर्षोंमें नीलाचलपर निवास करते हुए श्रीमहाप्रभुने जिस प्रेमोन्मादका परिचय दिया, उसका कोई दूसरा उदाहरण पौराणिक साहित्य, गीता अथवा भारतके किसी भी अन्य धर्मग्रन्थमें अप्राप्य है।

भक्ति-मार्गमें प्रवृत्ति और गुरु-तत्त्व

(लेखक—परम श्रद्धेय श्री १०८ श्रीहरिबाबाजी महाराज)

भक्ति-मार्गमें प्रवृत्ति कैसे हुई ?

> एवं सर्वेषु भूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी ।
> कर्तव्या पण्डितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिम् ॥

कुछ बड़ा होनेपर अपनी माके मुखसे सुना कि तुम्हारे जन्मपर आँगनमें आकाशसे कोई खड़खड़ाती हुई वस्तु गिरी। बाहर देखनेपर ज्ञात हुआ कि श्रीरामजीकी मूर्ति है।' विद्याध्ययन-समयतक इसकी स्मृति नहीं हुई। पर सोचनेपर इसके अर्थकी ओर ध्यान हुआ। उन दिनों वेदान्त-संस्कार विशेष होनेसे निर्गुण-स्वरूपकी ओर ही लक्ष्य प्रतीत हुआ। अतः इससे प्रसन्नता और शान्ति हुई।

श्रीगङ्गातटपर परमपूज्य श्रीअच्युतमुनिजीके दर्शन हुए। वे कृपया वेदान्त-शास्त्र पढ़ानेके लिये अपने साथ बाँध ले गये। वहाँ बस्तीके बाहर श्रीपरांजपेजी महाराजका हनुमानगढ़ीनामक आश्रम था। अवकाशके समय सायंकाल वहाँ जाने लगा। श्रीपरांजपेजी मौन थे। हरिकीर्तनके समय बोलते और नाचते थे। मैं चुपचाप आसनपर बैठा सुनता रहता। एकादशीकी रात आयी। उस रात आश्रममें सबका जागरण और कीर्तन होता था। मैं भी सम्मिलित हुआ। श्रीहरि-संकीर्तन आरम्भ हुआ। पहला पद श्रीगुरु-महिमा-सम्बन्धी था। सुनकर श्रीगुरुस्मृति जागरित हुई। श्रीगुरुदेवकी पूर्ण सामर्थ्य और कृपाके होते हुए भी अपनेमें अभावकी प्रतीति हुई। यह अभाव कैसे जाय? उस समय श्रीगुरुदेव परमपद प्राप्त कर चुके थे। किसी भी दूसरेमें यह गुरु-बुद्धि असम्भव मालूम हुई। इससे परम व्याकुलता हुई। अब क्या किया जाय? हृदयमें उत्तर मिला—'प्राणिमात्रमें गुरुबुद्धि करो।' व्याकुलता बढ़ती ही गयी। पद-संकीर्तन चल रहा था। दूसरा पद भगवान् श्रीरामजीके सम्बन्धका आरम्भ हुआ। जन्मकी घटना याद आयी। 'कहाँ समस्त विश्वमें परम श्रेष्ठ श्रीराम! और कहाँ सर्वनिकृष्ट हम!' व्याकुलता अत्यन्त बढ़ गयी। पैसे खड़ा रहा, पाँवोंसे धरती पीटते-पीटते गाढ़ मूर्च्छा हो गयी। मन, अहंभावका अभाव। सबका अत्यन्त अभाव। कबतक ऐसा रहा कुछ पता नहीं। जब होश हुआ, तब श्रीपरांजपेजी आँखोंके अश्रु पोंछ रहे थे। अपूर्व असीम आनन्द और मस्तीका प्रवाह बह निकला, जिसका ठिकाना शक्तिके बाहर था। उन्मत्त इधर-उधर भागता हुआ श्रीभगवद्विग्रहोंके सामने उपरको ही पाँव किये गिर पड़ा। बाहरकी कुछ भी खबर नहीं थी। उसी समय श्रीपरांजपेजी मण्डलीसहित—

राधाकृष्ण जय कुञ्जविहारी। मुरलीधर गोवर्धनधारी॥

—की ध्वनि करते हुए इस शरीरकी परिक्रमा देने लगे और प्रेममें मस्त हो नाचते रहे। उस समय प्रतीत हुआ कि 'सारा विश्व कृष्णमय है और कृष्ण आगमनमें तत्पर है।' इस शरीरने भी पड़े-पड़े ही हाथसे ताली देते हुए किसीके चरण पकड़ लिये। वे परमहंसजी ही थे। होश आनेपर वे मुझे अपनी एकान्त कुटियामें ले गये। कारण पूछनेपर जन्मके समयकी घटना कहते हुए यह बात कही। जन्मकी घटनाका अर्थ पूछनेपर उन्होंने कहा—'इसका यही अर्थ है—राम भक्तका जन्म हुआ है।' सुनकर दिलमें कुछ दुःखकी छाया प्रतीत हुई। कारण, उस समयतक अपनेमें ब्रह्म-भावना ही थी। मस्ती और परम आनन्दका विचित्र भाव बना ही रहता था, केवल वेदान्त शास्त्र पढ़नेके समय दब जाता था।

एक दिन अनध्यायको मुझे निषद पाठमें जाना नहीं था। इससे एकान्त जंगलमें नदीस्नानके लिये चला गया। नहाते-नहाते अत्यन्त आश्चर्य और आनन्दभरा अनुभव हुआ कि 'दास्यभाव तो ब्रह्मभावसे उच्च है।' विशेष आनन्द और मस्तीसे जल उछालने लगा। इसके बाद कितने महीनोंतक यही भाव बना रहा और भक्तिमार्गमें प्रवृत्ति आरम्भ हुई।

(२)

गुरुभक्तकी श्रद्धाका चमत्कार

परमहंससंहिता श्रीमद्भागवतमें जहाँ एक-एक दोष जीतनेका एक-एक साधन बताया है, उसी प्रसङ्गमें सर्वदोष-विजयका केवल एक साधन भी कहा है। वह है श्रीगुरुचरणोंमें दृढ़भक्ति—

एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्।
(श्रीमद्भा० ७।१५।२५)

परम पूज्य श्रीउड़ियास्वामीजीसे सुनी घटना

किसी नगरमें एक बड़े धनी साहूकार रहते थे। उनके यहाँ एक बार एक महात्मा पधारे। सेठजीकी महात्माजीमें श्रद्धा हुई और उन्होंने उनको गुरुरूपमें वरण किया। महात्माजी वहीं उनके मकानके ऊपर चौबारेमें रहने लगे। एक दिन सेठजीका एक बालक खेलता हुआ महात्माजीके पास पहुँच गया। उसके बहुमूल्य वस्त्राभूषण देखकर महात्माजीका मन ललचा गया। मन्दभाग्य कारण उस दिन प्रमादसे मन दूषित अवश्य हो था। अन्ततः उन्होंने अपने कठोर कमण्डलुसे उस सुकुमार अबुधका अन्त करके, उसके भूषण उतार, उसे संदूकमें बंद कर दिया। भगवत्-प्रेरणासे समय जब सेठजीका बालक नहीं आया, तब लोगोंने बड़े जोर पड़ोसमें खोजा, पर वह मिला नहीं। किसीके कहनेसे सेठजी साथ दो-चार पुरुष महात्माजीके पास भी गये। पूछनेपर महात्माने कहा—'यहीं तुम्हारा लड़का आया था, मैंने उसे मार डाला।' सेठ बोले—'महाराज! आप क्या कह रहे हैं! वह तो आपका ही था, भला, आप उसे क्यों मारने लगे!' महात्माने कहा—'भाई! तुम्हें विश्वास न हो तो वह संदूकमें पड़ा है, देख लो।' सेठने कहा—'महाराज! आप मेरी परीक्षा ले रहे हैं! आप कभी नहीं मार सकते। हाँ, होता है आपने उसे मेरी परीक्षाके लिये अपनी शक्तिसे मूर्छित कर दिया है।' संदूक खोलकर सेठने देखा और कहा—'यदि वह मर भी गया है, तो भी आपकी चरण-रजमें तो मृत-संजीवनी शक्ति है।' यों कहकर सेठजीने महात्माजीकी चरण-रज ज्यों ही बालकके सिरपर छोड़ी त्यों ही वह उठ बैठा। सेठजीके मनमें कोई विस्मय अथवा मान नहीं हुआ। परंतु महात्माजीको अपनी छिपी हुई सिद्धिका चमत्कार जानकर बड़ा अहंकार हुआ।

कुछ दिन बाद किसी अन्य सेठका लड़का भी खेलता हुआ वहीं पहुँचा। उसके भी बहुमूल्य आभूषण थे। उस दिन भी महात्माजीकी बुद्धि पलटी। वही करतूत उसके साथ की। दूषित अथवा विकृत चित्त कितना भयंकर होता है! दूसरे सेठ भी तलाश करते वहीं आये। वे बड़े अश्रद्धालु नास्तिक थे। पूछनेपर महात्माने वही उत्तर दिया। सेठ बोले—'महाराज! कहीं महात्मा भी ऐसा घोर कर्म करते हैं!' महात्माने कहा—'भाई! विश्वास न हो तो संदूक खोलकर देख लो।' सेठने देखा तो बालक सचमुच प्राणहीन पड़ा था। उसने क्रोधसे आँखें लालकर डाँटते हुए कहा—'अरे! तू महात्मा है या राक्षस! अभी तुझे इसका फल चखाता हूँ! पुलिसके हवाले कर फाँसी दिलवाऊँगा।' महात्मा बोले—'अरे! तुझे हमारी चरण-रजका प्रभाव नहीं ज्ञात है, जो मुर्देको जिला सकती है!' 'तुम महात्मा ही नहीं तो चरण-रजमें क्या पड़ा है।'—सेठने कहा। 'अरे, तू देख तो सही! पता चल जायगा, क्या पड़ा है।' सेठके मनमें तो किंचित् भी विश्वास न था। कई बार कहनेसे बालकके शरीरपर रज छोड़ी तो क्या होना था उससे। झल्लाकर बोला—'देख लिया, तेरी रजमें क्या है।' इतनेमें हल्ला सुनकर वे गुरुभक्त सेठ भी आ गये। देखते ही महात्माजी उछलकर फिर बोले—

क्यों भाई ! क्या हमारी चरण-रज मृतकको नहीं जिला सकती ?' हाथ जोड़कर सेठ बोले—'कौन कहता है ?' महात्मा बोले—'यही सेठ कह रहा है।' उन्होंने कहा—'महाराज ! आपकी चरण-रजमें तो विश्वको जिलानेकी शक्ति है, एक बालककी तो बात ही क्या !' यह कहकर उसने भक्तोंसे प्रणाम करके चरण-रज ली और बालकके भालपर डालते हुए कहा—'हे गुरु-चरण-रज ! तुझमें अनन्त शक्ति है, तू इस बालकको प्राण-दान कर।' यों कहते ही बालक जी उठा। सबने यह देख उसकी भक्तिकी प्रशंसा की और 'धन्य-धन्य' कहकर भक्तोंसे उसके सम्मुख अवनत हुए।

नामप्रेमी भक्तोंके भाव

(लेखक—श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥*
(श्रीमद्भा० ११ । २ । ३९)

छप्पय

कृष्ण कलित कर कहीं ललित लीला मनहारी ।
अति अनुपम सब सरस सरल सुंदर सुखकारी ॥
तिन कूँ गावैं, सुनैं, मुदित मन में अति होवैं ।
लै लै सुखप्रद नाम हँसें नाचैं नित रोवैं ॥
ते छिन छिन अनुभव करहिं, जाहिं लाज छन मान मिटु ।
निरखैं निरुप सिर धुनैं, गिरैं पर छत होहिं तनु ॥

'कल्याण' के सुयोग्य सम्पादकने मुझे आदेश दिया है कि 'नामप्रेमी भक्तोंके भाव' पर एक लेख लिखकर भेजो। उन्होंने यह भी लिखा है कि आप इस विषयपर साधिकार सुन्दर लेख लिख सकते हैं। लिख सकते हैं, यह बात तो उनकी सर्वथा सत्य है; क्योंकि लिखनेका मुझे व्यसन है। सुन्दर लिख सकते हैं, यह संदेहास्पद बात है; क्योंकि सुन्दरताका कोई नाप-तौल नहीं। एक लेख मुझे सुन्दर लगता है, दूसरेको वही असुन्दर प्रतीत होता है। किंतु साधिकार लिख सकता हूँ, यह सत्य नहीं।

नाम-प्रेमी भक्तोंके भावोंपर साधिकार वही लिख सकता है, जिसका नाममें पूर्ण अनुराग हो, जो नामामृत-सागरमें निमग्न न भी हो, किंतु जिसे उसका रस मिल गया हो—एक बार ही सही, उसके मधुरातिमधुर रसका जिसने आस्वादन किया हो। जीवनमें मुझे यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। कभी जीवनमें एक बार—प्रतिबिम्ब भी कहना उचित नहीं, झलक-सी दिखायी दी थी। धोखेमें मुगल बादशाहने एक बार चित्तौड़की महारानी पद्मावतीका प्रतिबिम्बमात्र देखा था। वह कामी नरपति उस ललना-ललामके प्रतिबिम्बको ही देख-कर इतना पागल हो गया कि उसे पानेके लिये उसने अपनी समस्त सेना, राजकोष तथा सर्वस्व उसके लिये निछावर कर दिया। जब संसारी अनित्य नाशवान् तुच्छ वस्तुके प्रतिबिम्बमें इतना आकर्षण है, तब कहीं मुझे चैतन्य अविनाशी नाम-नरेशका प्रतिबिम्ब दीख जाता तो ऐसे व्यापारमें थोड़े ही प्रवृत्त बना रहता। इस प्रकार सफेद कागजोंको काले थोड़े ही करता रहता। आज मेरी दशा उस चित्रकारकी-सी है, जो भगवान्‌के चित्र तो एक-से-एक सुन्दर बनाता है, किंतु स्वयं उसके हृदयमें अनुराग नहीं। अथवा उस स्टेशनमास्टरकी-सी है, जो निरन्तर टिकट तो बंबई, कलकत्तेके बाँटता रहता है; किंतु स्वयं जिसने बंबई, कलकत्तेको देखा नहीं। अथवा उस वैद्यकी-सी है, जो साधिकार नीरोगताकी ओषधियाँ तो बेचता रहता है, किंतु स्वयं सदा रोगी बना रहता है।

नामका रस जिसने एक बार भी चख लिया, वह भला फिर उसे कभी छोड़ सकता है ! एक दृष्टान्त देता हूँ। उसका पूर्ण स्वारस्य हृदयंगम वे ही कर सकेंगे, जिन्हें कभी संग्रहणीका रोग हुआ हो। संग्रहणी रोगमें जिह्वा अपने अधिकारमें नहीं रहती। यह भी रोगका ही एक लक्षण है। जिस रोगीने एक बार जलेबीका स्वाद ले लिया, उसकी जिह्वाने उसके स्वादको आत्मसात् कर लिया। अब वैद्यने मना कर दिया—'देखो, जलेबी मत खाना।' उसने भी निश्चय कर लिया—'इस संग्रहणी रोगने मेरा सारा सुख नष्ट कर दिया, अब संयमसे

* जो योगीश्वरोंमेंसे कवि नामक योगीश्वर भक्तके भावोंका वर्णन करते हुए कह रहे हैं—'चक्रपाणि भगवान् वासुदेवके जो कल्याण-कारी जन्म और कर्म लोकमें प्रसिद्ध हैं और उन लीलाओंके अनुसार रखे गये उनके गिरिधारी, वंशीविहारी आदि नाम प्रसिद्ध हैं, उन्हें सुनता हुआ तथा निर्लज्ज होकर गाता हुआ नामप्रेमी भक्त संसारमें असङ्ग होकर स्वच्छन्द विचरण करे।'

'क्यों भाई ! क्या हमारी चरण-रज मृतकको नहीं जिला सकती ?' हाथ जोड़कर सेठ बोले—'कौन कहता है ?' महात्मा बोले—'यही सेठ कह रहा है ।' उन्होंने कहा—'महाराज ! आपकी चरण-रजमें तो विश्वको जिलानेकी शक्ति है, एक बालककी तो बात ही क्या !' यह कहकर उसने श्रद्धासे प्रणाम करके चरण-रज ली और बालकके मस्तकपर डालते हुए कहा—'हे गुरु-चरण-रज ! तुममें अनन्त शक्ति है, तू इस बालकको प्राण-दान कर ।' यों कहते ही बालक जी उठा । सबने यह देख उसकी भक्तिकी प्रशंसा की और 'धन्य-धन्य' कहकर श्रद्धासे उसके सम्मुख अवनत हुए ।

नामप्रेमी भक्तोंके भाव

(लेखक—श्रद्धेय श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥*

(श्रीमद्भा० ११ । २ । ३९)

छप्पय

रूप कलित कल करी ललित लीला मनहारी ।
जिनि अनुपम सब सरस सदय सुंदर सुखकारी ॥
तिन के गावैं, सुनैं, मुदित मन में अति होवैं ।
है है सुखकर नाम हँसैं गावैं नित रोवैं ॥
ते नित नित अनुभव करहिं, जाहिं हाय धन नाम बिनु ।
जिनकें निरखि सिर धुनैं, गिरें पर छल छोड़ि तनु ॥

'कल्याण' के सुयोग्य सम्पादकने मुझे आदेश दिया है कि 'नामप्रेमी भक्तोंके भाव' पर एक लेख लिखकर भेजो । उन्होंने यह भी लिखा है कि आप इस विषयपर साधिकार सुन्दर लेख लिख सकते हैं । लिख सकते हैं, यह बात तो उनकी सर्वथा सत्य है; क्योंकि लिखनेका मुझे व्यसन है । सुन्दर लिख सकते हैं, यह संदेहास्पद बात है; क्योंकि सुन्दरताका कोई नाप-तौल नहीं । एक लेख मुझे सुन्दर लगता है, दूसरेको वही असुन्दर प्रतीत होता है । किंतु साधिकार लिख सकता हूँ, यह सत्य नहीं ।

नाम-प्रेमी भक्तोंके भावोंपर साधिकार वही लिख सकता है, जिसका नाममें पूर्ण अनुराग हो, जो नामामृत-सागरमें निमग्न न भी हो, किंतु जिसे उसका रस मिल गया हो—एक बार ही सही, उसके मधुरातिमधुर रसका जिसने आस्वादन किया हो । जीवनमें मुझे यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ । कभी जीवनमें एक बार—प्रतिबिम्ब भी कहना उचित नहीं, झलक-सी दिखायी दी थी । शीशेमें मुगल बादशाहने एक बार चित्तौड़की महारानी पद्मावतीका प्रतिबिम्बमात्र देखा था । वह कामी नरपति उस ललना-ललामके प्रतिबिम्बको ही देखकर इतना पागल हो गया कि उसे पानेके लिये उसने अपनी समस्त सेना, राजकोष तथा सर्वस्व उसके लिये निछावर कर दिया । जब संसारी अनित्य नाशवान् तुच्छ वस्तुके प्रतिबिम्बमें इतना आकर्षण है, तब कहीं मुझे चैतन्य अविनाशी नाम-नरेशका प्रतिबिम्ब दीख जाता तो ऐसे व्यापारमें थोड़े ही प्रवृत्त बना रहता । इस प्रकार सफेद कागजोंको काला थोड़े ही करता रहता । आज मेरी दशा उस चित्रकारकी-सी है, जो भगवान्‌के चित्र तो एक-से-एक सुन्दर बनाता है, किंतु स्वयं उसके हृदयमें अनुराग नहीं । अथवा उस स्टेशनमास्टरकी-सी है, जो निरन्तर टिकट तो बंबई, कलकत्तेके बाँटता रहता है, किंतु स्वयं जिसने बंबई, कलकत्तेको देखा नहीं । अथवा उस वैद्यकी-सी है, जो साधिकार नीरोगताकी ओषधियाँ तो बेचता रहता है, किंतु स्वयं सदा रोगी बना रहता है ।

नामका रस जिसने एक बार भी चख लिया, वह भला फिर उसे कभी छोड़ सकता है ? एक दृष्टान्त देता हूँ; उसका पूर्ण स्वारस्य हृदयंगम वे ही कर सकेंगे, जिन्हें कभी संग्रहणीका रोग हुआ हो । संग्रहणी रोगमें जिह्वा अपने अधिकारमें नहीं रहती । यह भी रोगका ही एक लक्षण है । किस रोगीने एक बार जलेबीका स्वाद ले लिया, उसकी जिह्वाने उसके स्वादको आत्मसात् कर लिया । अब वैद्यने मना कर दिया—'देखो, जलेबी मत खाना ।' उसने भी निश्चय कर लिया—'इस संग्रहणी रोगने मेरा सारा सुख नष्ट कर दिया, अब संयमसे

---

* श्री योगीश्वरोंमेंसे कवि नामक योगीश्वर भक्तके भावोंका वर्णन करते हुए कह रहे हैं—'चक्रपाणि भगवान् वासुदेवके जो कल्याणकारी जन्म और कर्म लोकमें प्रसिद्ध हैं और उन लीलाओंके अनुसार रखे गये उनके गिरिधारी, वंशीविहारी आदि नाम प्रसिद्ध हैं, उन्हें सुनता हुआ तथा निस्संकोच गाता हुआ नामप्रेमी भक्त संसारमें अनासक्त होकर स्वच्छन्द विचरण करे ।'

रहूँगा, जलेबी नहीं खाऊँगा।' किंतु जब किसी कामसे दुकानकी ओरसे निकले, उस समय विशुद्ध घीकी सुन्दर लाल-लाल कुरकुरी जलेबियोंको देखा। नाकमें उनकी गन्ध गयी तो पैर चिपक जाते हैं, आगे बढ़ते ही नहीं। मन मानता नहीं, जिह्वामें बार-बार पानी भर आता है। मनको समझाते हैं—'अच्छा छटाँक-भर क्या हानि करेगी, अधिक न खायेंगे।' जब छटाँकभरका दोना हाथमें आ गया, कुछ पता ही नहीं चला। स्त्री सिकी हुई गरमागरम लाल-लाल जलेबी जब दाँतोंके बीच दबकर कुर्र-से बोलती है और जिह्वा उसमें भरे गरम रससे संसिक्त हो जाती है, उस समय अन्तःकरणकी क्या दशा होती है, इसे तो अनुभवी ही अनुभव करता है। दोना रिक्त हो गया। 'आध पाव और ले लो।' वह भी समाप्त। बुद्धि बार-बार कहती है—'अपथ्य कर रहे हो;' किंतु मन कहता है—'आज भरपेट खा ही लो। होगा सो देखा जायगा। मरना तो एक दिन है ही।' ऐसा एक बार नहीं, बार-बार होता है। बार-बार पश्चात्ताप भी होता है, किंतु रहा नहीं जाता। जिह्वाको उसका स्वाद जो लग गया है।

इसका अपूरा है। वह वस्तु हानिकारक है। किंतु स्वादके पीछे उसे खाये बिना रहा नहीं जाता। उससे रोग बढ़ता है, रुचि बिगड़ती है। किंतु इस नामामृतसे तो सब रोग नाश होते हैं, किसी भी दशामें यह हानि नहीं करता और दिनोंदिन रुचि बढ़ती ही जाती है। एक बार जिसने उस रसको चख लिया, फिर वह लोकबाह्य हो ही जाता है। फिर वह लोक-चातुरीसे सर्वथा शून्य बन जाता है। ऐसी स्थितिमें लेखा कौन लिखे। नमककी पुतली समुद्रमें थाह लेने गयी। भीतर जाते-जाते गल गयी, घुल-मिलकर एकाकार हो गयी। फिर बाहर आकर कौन बताये कि समुद्र इतना गहरा है।

नामप्रेमी भक्तोंके अलौकिक भावोंकी विवेचना तो मैंने 'चैतन्यचरितावली' तथा 'भागवती कथा'के विविध खण्डोंमें विस्तारसे की ही है। इस छोटे-से लेखमें उनका वर्णन हो नहीं सकता, आवश्यक भी नहीं है। यहाँ तो मैं अत्यन्त ही संक्षेपमें यह बतानेका प्रयत्न करूँगा कि भक्तोंके ऐसे भाव हो क्यों जाते हैं, वे इस प्रकार लोकबाह्य बन कैसे जाते हैं।

भगवन्नाम एक प्रकारका अत्यन्त सुस्वादु सुमधुर रस है। यह रस भीतर न भी जाय, केवल ओठोंसे स्पर्श ही हो जाय तो फिर उसके प्रति इतना आकर्षण बढ़ जाता है कि प्राणी छोड़ना भी चाहे तो उसे नहीं छोड़ सकता। वृन्दावनमें मुझे एक भक्त मिले। उन्होंने अपना अनुभव इस प्रकार बताया कि 'महाराज! पहले हम सुना करते थे—

ऐसा राम नाम रस खान।
ब्रह्माने पीयो, विष्णुने पीयो, शिव ने पियो बखान॥

—उस समय हम सोचते थे राम-नाममें ऐसा क्या स्वाद है। एक बार कुछ दिन निरन्तर भगवान्‌का नाम लेते रहे। ऐसी जिह्वामें इतना अपूर्व स्वाद आया कि संसारमें उसकी किसी स्वादसे तुलना ही नहीं की जा सकती। कई दिनोंतक न भूख लगी न प्यास, वह स्वाद निरन्तर बना ही रहा। एक अपूर्व मादकता-सी छायी रहती। कई दिनोंके पश्चात् प्रकृतिस्थ हुए। अब भी उस स्थितिका स्मरण करके रोमाञ्च हो जाता है।'

बात यह है कि हमारा मन सदा प्राकृत वस्तुओंमें फँसा रहता है। माता-पिता, भाई-बन्धु, स्वजन-परिजन, स्त्री-बच्चे, शत्रु-मित्र, धन-धाम, वाहन, भोग-पदार्थ—ये ही सब हमारे अन्तःकरणमें बैठे रहते हैं। मन तो एक क्षणको भी विराम नहीं लेता, उसकी मशीन तो सदा चालू रहती है। घड़ी तो कभी-कभी बिगड़ भी जाती है, उसमें चाभी न दें, तो बंद भी हो जाती है। किंतु मैंने एक ऐसी भी हाथकी घड़ी देखी है, जिसमें चाभी दी ही नहीं जाती। वह हाथमें बँधी रहती है। हाथ इधर-उधर हिलता-डुलता है तो उसी हिलन-डुलनसे उसमें चाभी अपने-आप लग जाती है। फिर भी वह कभी तो रुकती ही होगी; किंतु यह मनकी मशीन तो गाढ़ निद्राकी स्थितिको छोड़कर निरन्तर चालू रहती है। ग्रामोफोनके रेकर्डमें जैसे गीत भरे हुए होंगे, मशीन चलनेपर उसमेंसे वे ही गीत निकलेंगे। रेकर्ड तो हों गजलों और दुमरी टप्पोंके, किंतु आप चाहें कि उसमेंसे भक्तिभावपूर्ण प्राचीन संगीतयुक्त पद बजें तो यह असम्भव है। इसी प्रकार हमारे अन्तःकरणमें तो भरे हों संसारी सम्बन्ध एवं विषय भोगोंकी वस्तुएँ और हम चाहें कि हम चिन्तन करें, महर्षिके पर परमात्माका भाव हमारे भक्ति-मय हों—यह असम्भव है। माला जपने बैठेंगे तो बाजार, रुपया-पैसा, सगे-सम्बन्धी, मामला मुकदमा, प्रेम प्रपञ्च—ये ही स्मरण होंगे। जैसे चाहे ये सब दरद कम याद आयें। किंतु माला लेकर जहाँ भजन करने बैठे कि यह मशीन जोरोंसे चालू हो जाती है। मेरे एक बड़े व्यापारी स्नेही बन्धु हैं। उनका नियम है कि वे अपने व्यवसायसे घंटे आध-घंटेका समय निकालकर माला लेकर जप करने अवश्य बैठते हैं। वे उस दिन कह रहे थे—'महाराज! क्या बतायें, भजनके ही समय दुनियाभरकी याद आती है। जो हिसाब हम दिनमें नहीं जोड़ पाते, जपके समय उसे ठीक जोड़ लेते हैं। इसलिये दिनमें यदि भूल चूक रही, हिसाब ठीक न बैठा, तो सोच लेते हैं, जपके समय वह

ठीक हो जायगा। और आश्चर्यकी बात है, यहाँ कोठरी बंद करके माला लेकर बैठे कि मन उसी हिसाबको मिलाने लगता है और वह ठीक बैठ जाता है।'

बात यह है कि दिनमें काम-काजके समय तो मन पचास कामोंमें फँसा रहता है, इसलिये कुछ पता नहीं चलता। माला लेकर जप करने बैठते हैं, उस समय उसका स्वरूप प्रकट होता है—जितना ही उसे रोकते हैं, उतना ही भागता है। जिसमें अधिक लगाव होता है, एकाग्रताके समय उसीमें तन्मय हो जाता है। इसीलिये दिनमें जिस हिसाबकी चिन्ता रहती है, उसीको याद करने लगता है। जिस स्त्री या पुरुषसे हमारा अधिक प्रेम होता है, जपके समय वही अधिक याद आता या आती है, उसीकी स्मृति हमें अधिक विह्वल बनाती है। दिनके भूले काम याद आने लगते हैं। जिस बातको बार-बार कहते हैं, बार-बार जिसका स्मरण चिन्तन-मनन करते हैं, उसमें मन एकाग्रताके समय फँस जाता है। जब मनमें संसारी जंजाल भरे हों, तब भगवान् कैसे याद आवें! इसीलिये महात्मा कबीरदासजीने गाया है—

माला तो करमें फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुआ तो चहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं॥

अब नाम-स्मरण-साधनपर विचार कीजिये। नाम स्मरण-साधन पठित-अपठित, स्त्री, बालक, वृद्ध—सबके लिये समान है। इसमें विद्या, बुद्धि, योग्यता, जाति, वर्ण, कुल, आश्रम तथा अन्य किसी प्रकारका प्रतिबन्ध नहीं। कहना चाहिये यह सर्व-साधारणके लिये समानरूपसे सरल-सुगम साधन है। एक ही चसका चाहिये। मनसे-बेमनसे, इच्छासे-अनिच्छासे, श्रद्धासे-अश्रद्धासे, भावसे-कुभावसे, सोते-जागते, उठते-बैठते, जिह्वासे नामका उच्चारण होता रहे। बस, इतना ही पर्याप्त है।

आप कहेंगे—'अश्रद्धासे, बेमनसे, अनिच्छासे नाम लेनेसे लाभ क्या? चीनी-चीनी कहते रहनेसे मुख मीठा थोड़े ही होता है।' इसपर मेरा कहना यह है कि चीनी तो जड़ है, भगवान् तो चैतन्य हैं। नाममें और नामीमें कोई भेद नहीं। देवदत्त और देवदत्तके नाममें क्या आप एकसे दूसरेको पृथक् कर सकते हैं। आप अनिच्छासे भी देवदत्त पुकार दें, तो पासमें बैठा देवदत्त मुड़कर आपकी ओर देखेगा ही, चाहे आपने उसे न भी बुलाया हो। फिर भगवान् तो घट-घटव्यापी हैं, उनके नामकी आप जड़ चीनीसे तुलना क्यों करते हैं? जड़का भी नाम पुकारनेसे आकर्षण होता है। आप नीबू-नीबू कहिये, देखिये, आपकी जिह्वामें पानी आता है या नहीं। जड़का नाम अनिच्छासे लेनेपर भी आकर्षण होता है, फिर भगवन्नाम तो चैतन्यघन है।

अब रही अनिच्छा और अश्रद्धाकी बात। सो, भैया, पहले-पहल तो सभी काम अनिच्छासे ही होते हैं। लड़का पढ़ने पहले अपनी इच्छासे थोड़े ही जाता है। वहाँ जाते-जाते पढ़ने लगता है। पहले-पहले माँ बच्चेको अन्न खिलाने लगती है, तो बच्चा इच्छासे नहीं खाता। माता बलपूर्वक उसके मुँहमें ठूँस देती है। वह मुँह बनाता है, उगल देता है। किंतु माँ देना बंद नहीं करती, देती ही जाती है। थोड़ा अपने स्तनोंका दूध—जो उसे बहुत ही प्रिय है—पिलाती है बीचमें एक-दो ग्रास दाल-भात देती है। अब वह निगलने लगता है। कुछ कालमें उसकी रुचि होने लगती है। रुचि होनेसे आसक्ति बढ़ती जाती है। अब माता नहीं देती तो 'अम्मा! हप्पा' कहकर माँगता भी है। आसक्ति होनेसे बलवती इच्छा होती है। माँ नहीं खिलाती तो स्वयं ही खाने लगता है, फिर तन्मयता हो जाती है। माताका दूध, जो पहले उसे अमृतके समान लगता था, जिसके छोड़नेकी वह कल्पना भी नहीं कर सकता था, अब उसे विषवत् लगता है। कोई पिला दे तो वमन हो जाय। जिस अन्नके दिये जानेपर पहले वह मुँह बनाता था, अनिच्छासे कण्ठके नीचे उतारता था, अब उसके बिना वह रह नहीं सकता। स्वयं थाली लेकर चौकेमें बैठ जाता है। तनिक भी भोजनमें देरी हुई तो घरको सिरपर उठा लेता है—सबपर क्रोध करने लगता है।

यही दशा नाम-स्मरणकी है। पहले अनिच्छासे नाम लिया जाता है, लेते-लेते उसमें रुचि होती है, फिर आसक्ति, तब श्रद्धा, तदनन्तर तन्मयता। 'श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति।' पहले जो संसारी विषय अमृतके समान लगते थे, सोते-जागते, धर्ममें, पूजामें भी जिनका चिन्तन होता था, अब वे विषवत् प्रतीत होने लगते हैं। पहले मन लोकमें रहता था, अब लोकसे बाहर हो गया। अर्थात् मनमें संसारी विषयोंकी शृङ्खला बाँधनेकी शक्ति ही नहीं, जैसी पागलोंकी—विक्षिप्तों-की दशा होती है।

मेरे यहाँ पागल बहुत आते हैं। मुझे कुछ पागलोंसे प्रेम भी है। मुझे कोई पागल मिल जाय तो मैं बड़ी देर-तक उससे बेसिर-पैरकी बातें करता रहूँगा। लोग कहते हैं, 'महाराज तो पागलोंको देखते ही स्वयं पागल हो जाते हैं।' मैंने पागलोंकी स्थितिका अध्ययन किया है। उनमें अनेक प्रकारके होते हैं। वे बातोंकी शृङ्खला नहीं बाँध

उसके शरीरमें प्रकट होते हैं। कभी वह रोता है, कभी नाचता है, कभी गाता है, कभी पूरी शक्ति लगाकर भगवन्नामोंका उच्चारण करने लगता है, कभी जोरसे हुंकार करने लगता है, कभी-कभी भगवान्‌की लीलाओंका अनुकरण करने लगता है। जबतक उसकी दृष्टि बाह्य रहती है, तबतक वह लोक-विरुद्ध कोई कार्य नहीं करता, सबके साथ शिष्टाचारपूर्ण व्यवहार करता है, सचेष्ट रहता है कि कोई ऐसा कार्य उसके द्वारा न हो जाय, जिसके कारण लोग उसे असभ्य, दुःशील, अशिष्ट अथवा पागल कहने लगें। किंतु जब उसकी दृष्टि अन्तर्मुखी हो जाती है, मन भगवान्‌के नाममें या रूपमें पैठ जाता है, तब फिर लोक-लाजकी उसे परवा नहीं होती। लोग कुछ कहते रहें, कुछ सोचते रहें, उस ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता, वह अपनी ही धुनमें मस्त रहता है।

स्तम्भ, कम्प, स्वेद, अश्रु, स्वरभङ्ग, वैवर्ण्य, पुलक और प्रलय—ये अष्ट सात्त्विक भाव तो केवल अपने प्रिय विषय नामके स्मरणमात्रसे ही होते हैं। स्मरण करते-करते विरह होता है। प्रेमरूप वृक्षका विरह मक्खन है, प्रेमका परिपाक विरह ही है। विरहकी चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु—ये दस दशाएँ हैं। इन दशाओंमें पहुँचनेपर ही भक्तके द्वारा नाना लोकबाह्य चेष्टाएँ होती हैं।

वह रोनेका, गानेका, नाचनेका अथवा चिल्लानेका प्रयत्न नहीं करता। आप-से-आप ये चेष्टाएँ उसमें होने लगती हैं। नाम-स्मरण उसका अखण्डितरूपमें सोते-जागते चलता ही रहता है। उस नामकी रेखाकृति शरीरमें पहले तो अप्रत्यक्ष और पीछे प्रत्यक्ष बनने लगती है। श्रीहनुमान्‌जीके सम्बन्धमें कहा है कि जब उन्हें माता जानकीजीकी ओरसे बहुमूल्य मणियोंका हार पारितोषिकरूपमें दिया गया, तब वे मणियोंको दाँतोंसे फोड़कर देखने लगे। किसीने पूछा—'क्या देखते हो?' तब वे बोले—'देख रहा हूँ इसमें राम-नाम लिखा है या नहीं।' उसने हँसकर कहा—'तुम इतने भारी शरीरको लिये फिरते हो, इसमें राम-नाम कहाँ है?' हनुमान्‌जीने कहा—'यदि मेरे इस शरीरमें राम-नाम न होता तो मैं इसे एक क्षण भी न रखता।' यह कहकर उन्होंने अपने नखोंसे हृदय चीरकर दिखा दिया। सभीने देखा हनुमान्‌जीके हड्डियोंमें सर्वत्र दिव्य तेजसे राम-नाम लिखा है।

हनुमान्‌जीकी बात तो बहुत पुरानी है, अभी-अभी हैदराबादमें हुए ही कालमें एक सिद्धिप्राप्त नामकी भक्त-महिला हो गयी है, जिनके सम्पूर्ण शरीरपर दिव्यतेजयुक्त 'ॐ' प्रत्यक्ष दिखायी देता और फिर विलीन हो जाता था। जो लोग निरन्तर नाम जपते रहते हैं, उनका सोते समय भी नाम-जप निरन्तर चलता ही रहता है। क्योंकि मन तो सोता नहीं, प्राण सोते नहीं, इन्द्रियाँ भी पूरी सोती नहीं। यदि इन्द्रियाँ पूर्णरूपसे सो जायँ तब तो आदमी कभी सुने ही नहीं, कभी जगे ही नहीं। सोते समय भी हम सुनते हैं, किंतु अंशमें सुनते हैं। यदि सर्वथा न सुनें तो आदमी बोलनेसे जगे ही नहीं। हमें कोई जोरसे पुकारता है, हम झट उठकर खड़े हो जाते हैं। इसी प्रकार सोते समय जब हम स्वप्न देखते हैं, तब स्वप्न-जगत्‌के सुख-दुःखका अनुभव हमारा मन करता है, कभी-कभी इन्द्रियाँ भी करती हैं। स्वप्नदोष होनेपर प्रत्यक्ष वीर्यपात हो जाता है, स्वप्नमें दुर्घटना होनेसे प्रत्यक्ष आँखोंसे अश्रु बहने लगते हैं। इसी प्रकार जिसे निरन्तर जपका अभ्यास हो गया है, उसका स्वप्नावस्थामें भी जप अपने-आप चलता रहता है।

रोना, हँसना, गाना, चिल्लाना, हुंकार देना—सब बातें सबमें नहीं होतीं। जो गम्भीर हैं, वे अपने भावोंका संवरण कर लेते हैं। संवरण करनेमें भी यत्किंचित् अभिमान तो रहता ही है। वह कारक पुरुषोंके लिये लोक संग्रहके निमित्त आवश्यक होता है।

एक बार श्रीचैतन्यमहाप्रभुसे कुलीन ग्रामके एक भक्तने वैष्णवके लक्षण पूछे। श्रीचैतन्यने कहा—'जिसके मुखसे एक बार भी भगवन्नाम निकल जाय, वही वैष्णव है।' द्वितीय वर्ष उन्होंने ही पुनः वैष्णवके लक्षण पूछे, तब महाप्रभुने कहा—'जो अहर्निश निरन्तर भगवन्नाम लेता रहे, वही वैष्णव है।' तीसरे वर्ष पूछनेपर उन्होंने कहा—'जिसे देखते ही लोगोंके मुखोंसे स्वतः ही भगवन्नामोंका उच्चारण होने लगे, वही वैष्णव है।' वास्तवमें नाम-प्रेमी वही है, जिसके संसर्गमें आनेवाले सभी नाम-प्रेमी बन जायँ। ऐसे नाम-निष्ठ संतोंके दर्शन बड़े दुर्लभ हैं। उनके चरणोंमें हमारा कोटि-कोटि प्रणाम है। ऐसे भक्तोंके सम्बन्धमें महात्मा कबीरदास लिखते हैं—

जो जन बिरही नामका, झीना पिंजर तासु।
नैन न आवै नींदड़ी, अंग न जामै मासु॥
नाम बिछोहे बिकल मन, ताहि न भावै कोय।
अँजुरीका जल मीन ज्यों, छिन-छिन दीन होय॥

नाम-विरहीकी तो बहुत उच्च दशा है, नाम-प्रेमी भी आजकल नहीं मिलते—समयकी बलिहारी है। इसके सरल, सुगम

साधनमें लोगोंकी अभिरुचि नहीं होती। उन नामी श्रीहरिके पादपद्मोंमें हमारी यही प्रार्थना है कि उनके कलि-कल्मष-हारी, सर्वसुखकारी, भवभारहारी नामोंमें हमारा अनुराग हो। लेख लिखना दूसरी बात है, नाममें प्रेम होना दूसरी बात है। वास्तविक बात तो यह है कि जिसका नाममें अनुराग हो गया हो, वह लेख लिखने छपाने-जैसा संसारी कार्य कर ही नहीं सकता। उसे इतना अवसर ही कहाँ, यह तो हम-जैसे व्यवहारी-व्यवसायी व्यक्तियोंका काम है। कबीरदासजीने मानो हम-जैसोंको ही लक्ष्य करके यह लिखा हो—

कागद लिखै सो कागदी, कै व्यौहारी जीव।
आतम अच्छर का लिखै जित देखूँ तित पीव॥

अहा! इधर-उधर—जहाँ दृष्टि जाय वहीं 'पीव' दिखायी देने लगे, उसीकी माधुरी मूर्ति संसारमें सर्वत्र दृष्टिगोचर हो, मन नाम-संकीर्तनमें निरत रहे, तन विह्वल होकर धरापर थिरकता रहे, लोक-लाज, संसारी व्यवहारकी तनिक भी परवा न हो—ऐसी लोकबाह्य वृत्ति हमारी कब होगी? हे नन्दनन्दन! ऐसा वरदान दे क्यों नहीं देते?

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥

मुखसे अहर्निश निरन्तर ये ही नाम स्वतः निकलते रहें, यही गान सोते-जागते होता रहे—

श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे
हे नाथ! नारायण! वासुदेव!

छप्पय

कबहुँ नाचै उमगि कबहुँ हँसि ध्यान लगावैं।
कृष्ण! मुरारे! स्याम! नाथ! नामनि नित गावैं॥
कबहुँ करि हुंकार प्रनतिन पकरन धावैं।
करि रोदन अनुकरन भाव अद्भुत दरसावैं॥
इत चित चितचोरहि लखहिं, कबहिं दंडवत सबनि कूँ।
नामप्रेम मधुप मत्त करत रसायन पानि कूँ॥

अभक्त कोई नहीं

(लेखक—स्वामीजी श्री १०८ श्रीमदखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज)

पहली बात—सभी जीव सहज स्वभावसे बिना किसी विकार-संस्कारके सुख चाहते हैं—वह भी ऐसा, जो हमेशा रहे, हर जगह मिले और यही-यही हो। अर्थात् सुखमें देश, काल और वस्तुका परिच्छेद किसीको सहन नहीं है। उसकी उपलब्धि किसी दूसरेके अधीन न हो—न व्यक्तिके न साधनके। उसका स्फुरण भी होता रहे, क्योंकि सुखकी अज्ञात सत्ता नहीं होती। यही सम्पूर्ण जीवोंका इष्ट है। चाहे कोई आस्तिक हो, नास्तिक हो, ज्ञानी हो, अज्ञानी हो, कीट-पतंग हो, देवता हो—उसकी इच्छाका विषय यही सुख है। इसी सुखको कोई सच्चिदानन्दघन ब्रह्म कहते हैं, कोई ईश्वर, राम, कृष्ण। नाम कोई भी क्यों न हो, उसके स्वरूपमें भेद नहीं होता। इस दृष्टिसे देखें तो संसारके सभी प्राणी ईश्वरकी प्राप्तिके इच्छुक हैं, इसलिये किसीको नवीनरूपसे इसका निश्चय करनेकी आवश्यकता नहीं है। यह तो स्वतः सिद्ध ही है। अतः सब भक्त-ही-भक्त हैं।

दूसरी बात—कोई भी परमाणु, वह आज भले ही जड़रूपसे भास रहा हो, अपनी सूक्ष्मदशामें चिदणु ही है और कभी-न-कभी उसको अपने चित्स्वरूपका अनुभव करना है। इसलिये यह सम्पूर्ण जगत् जीवमय ही है। क्या पर, क्या अपर, क्या ज्ञानी, क्या अज्ञानी—सब अपने प्रतीयमान परिच्छिन्नरूपमें जीव ही हैं। बिना उपाधिके व्यवहार सम्भव नहीं है। उपाधियाँ सब-की-सब व्यक्त हैं और ये एक अव्यक्त सत्तामें अव्यक्त ज्ञानके द्वारा प्रकाशित और संचालित हो रही हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि सब-के-सब उपाधिसे तादात्म्यापन्न जीव एक ही ईश्वरकी गोदमें स्थित हैं। उसीके ज्ञानसे आभासित हैं और उसीसे नियमित भी। उसीमें सबका सोना और जागना होता है। चलना एवं बैठना भी। उसीकी आँखसे सब देखते हैं, उसीके कानसे सुनते हैं और उसीकी बुद्धिसे विचार करते हैं। उसके बिना ये जी नहीं सकते। उसके बिना जान नहीं सकते। उस परम प्रेमास्पद रसके बिना रह नहीं सकते। इसमें भी आस्तिक-नास्तिक, ज्ञानी-अज्ञानीका कोई भेद नहीं है। स्थितिकी दृष्टिसे सब ईश्वरमें, ईश्वरसे, ईश्वरके लिये और ईश्वररूप ही हैं। जिसके द्वारा भक्त प्रेरित, पालित, चालित एवं निरुद्ध होते हैं, उसीके द्वारा अभक्त भी। जो स्मृति देता है, वही विस्मृति भी। जो सुख देता है, वही दुःख भी।

क्या किसी व्यक्तिकी स्थिति-गति इस वस्तुस्थितिका अतिक्रमण कर सकती है ?

पचीस वर्ष पूर्वकी बात है—मैं गङ्गातटवर्ती एक प्रसिद्ध सिद्ध महापुरुषके पास गया। उनसे प्रार्थना की—'गुरुदेव, आप मुझे भगवान्‌का शरणागत बना दीजिये।' महात्माजीने कहा—'प्राणनु, तुम कल आना और पूर्णरूपसे विचार कर आना। ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो भगवान्‌की शरणमें नहीं है ? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और सूर्य-चन्द्रमा क्या भगवान्‌की शरणमें नहीं हैं ? ब्रह्मा, विष्णु, महेश क्या उसीके किरणसे नहीं जी रहे हैं ? क्या ऐसी कोई कणिका है, जो उसीसे सत्ता-स्फूर्ति नहीं प्राप्त कर रही है ? तुम कल आकर बताना कि ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो भगवान्‌की शरणमें नहीं है। मैं उसीको शरणागत कर दूँगा।' ईश्वर और जीवकी चाल अलग-अलग नहीं हो सकती। ईश्वरका स्वरूप और जीवका स्वरूप, उसकी शक्ति और प्रकृति, महत्तत्त्व और बुद्धि—ये क्या भिन्न-भिन्न होने सम्भव हैं ? जिसके पञ्चभूत हैं, उसीके शरीर हैं। यह शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार—हम जो कुछ अपनेको मानते-जानते हैं, वह सब, तथा और जो कुछ पहले था, अब है और आगे होगा, ईश्वरका है और उसीकी शरणमें है। क्या कोई भी अनन्त सत्ता, ज्ञान और आनन्दसे पृथक् अपनेको स्थापित कर सकता है ? अशरणता एक भ्रमजन्य भाव है। स्थितिकी दृष्टिसे भी समाधि और व्यवहार, सुषुप्ति और जाग्रत्, ज्ञान और अज्ञान—सब-के-सब एक ही कक्षामें स्थित हैं। इस दृष्टिसे विचार करनेपर भी कोई अभक्त नहीं है।

तीसरी बात—वर्तमानमें ही हमारा इष्ट उपस्थित है और उसीमें हमारी स्थिति है। गम्भीरतासे विचार करके देखें तो हम जिस इष्टको चाहते हैं और जिस स्थितिमें पहुँचना चाहते हैं, उस इष्ट और स्थिति दोनोंको ही हम अप्राप्त मानकर चाहते हैं; परंतु अन्तर्मनमें ही अपनी गहरी अन्तर्वेदनामें उन्हें अविनाशी, पूर्ण और सर्वात्मक भी मानते हैं। यह एक विचित्र बात है। किसी भी वस्तुको सदाके लिये चाहना और उसे वर्तमान कालमें न मानना, सर्वत्र नित्य—यह चाहना और विद्यमान देशमें न मानना, सर्वरूपमें पानेकी इच्छा करना और प्रतीयमान विषयमें न मानना एक बौद्धिक असंगति है। वर्तमानसे पृथक् कर देनेपर तो हमारा इष्ट ही देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न न रहेगा। न वह पूर्ण होगा और न तो सम्पूर्ण जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण ही। फिर तो उसे एक अतीतकी वस्तु समझकर रोयें या भविष्यकी कोई अदृष्ट वस्तु मानकर बार-बार उसके बारेमें कल्पना करते रहें। केवल अतीतकी स्मृति और भविष्यकी कल्पना करना वस्तुस्थितिसे आँख मूँदना है। हमारा प्यारा-प्यारा इष्ट अभी है, यहीं है और यही है। पहले भी यही और भविष्यमें भी यही। जन्म और मृत्युकी परम्पराने, स्थिति और भावके परिवर्तनोंने उसमें कोई अन्तर नहीं डाला है। वह अविनाशी है और ज्यों-का-त्यों है। साथ ही हम अभी, यहीं और उसीमें स्थित हैं। देवर्षि नारदने भक्तिका लक्षण करते हुए 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' इस सूत्रमें 'अस्मिन्' शब्दका प्रयोग करके यही अभिप्राय व्यक्त किया है। 'इस' शब्दके द्वारा सामने विद्यमान सर्वात्म भगवान्‌की ओर ही संकेत है। अन्यत्र नारदके सूत्रमें—

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति।

—जिसके ज्ञानसे ही जीव स्तब्ध, मत्त और आत्माराम हो जाता है—यह न भूले।

अबतककी बातोंका निष्कर्ष यह निकला कि हमारा इष्ट दूर नहीं है और उसमें स्थिति भी अप्राप्त नहीं है। भक्तिके आचार्योंने यह नहीं माना है कि भक्ति किसी नवीन भावका उन्मेष है और इष्ट कोई सर्वथा अप्राप्त वस्तु। वे अपने इष्टको 'जन्माद्यस्य यतः' आदिके द्वारा जगत्‌का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण ही मानते हैं और भक्तिको भी स्वतःसिद्ध भावका प्रादुर्भावमात्र। जीवमात्रको भगवान्‌का नित्य दास अथवा नित्य कान्ता ही वे स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थितिमें वह कौन-सी वस्तु है, जिससे रहित मानकर हम जीवको अभक्त मानें ? भक्तिसिद्धान्तमें भी नित्यप्राप्तकी प्राप्ति और नित्यनिवृत्तकी निवृत्ति ही इष्ट है। जैसे देश, काल और वस्तुसे परिच्छिन्न प्राकृत पदार्थ अप्राप्त होते हैं, भगवान् और भक्ति वैसे अप्राप्त नहीं हैं। क्या भगवान् और भक्तिकी प्रतीयमान अप्राप्ति भगवान्, उनकी कृपा और भक्तिका ही कोई विशेष भाव और आकार नहीं है ? अवश्य है; क्योंकि वही तो भगवत्प्राप्ति, प्रेम और कृपाकी प्यास अथवा साधनाकी जननी है।

चौथी बात—यह प्रत्यक्ष है कि मृत्तिका, स्वर्ण, लौह आदि धातुएँ एक होनेपर भी अनेक नाम-रूपोंसे व्यवहारका विषय बनती हैं, भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंकी उन नाम-रूपोंमें अपनी भिन्नता और रुचिकी पृथक्ता भी देखनेमें आती है। परंतु केवल इसे

कारणसे धातुभेद कोई स्वीकार नहीं करता। यदि रुचि और प्रियताके भेदसे ही अपने अन्तःकरणमें संघर्षकी सृष्टि कर ली जाय तो यही बड़ा दुःखका कारण बन जाती है। एक ही भगवान् मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह आदि आकारोंमें प्रकट होते हैं। ऐसी स्थितिमें एक आकारसे प्रेम करके क्या उनके दूसरे आकारोंसे द्वेष किया जाय? नहीं-नहीं, वे सभी परस्पर विलक्षण होनेपर भी अपने इष्टके ही आकार हैं। इसी प्रकार हमारे हृदयमें स्थित प्रीति भी समय-समयपर परस्पर विलक्षण आकारोंमें प्रकट होती है। बच्चेको दुलारना-चूमना और चपत लगाना क्या दोनों ही मोहके वात्सल्यकी अभिव्यक्ति नहीं हैं? पति-पत्नीका परस्पर मान करना भी तो प्रेम ही है। इसी प्रकार भक्तिके भी अनन्त रूप और अनन्त नाम हैं। हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुसे अधिक भगवान्का विरोधी और कौन होगा? परंतु वे दोनों भी जय-विजयके ही, जो कि भगवान्के नित्य पार्षद हैं, मूर्तरूप थे। कथा है कि एक बार भगवान्के मनमें किसीसे द्वन्द्वयुद्ध करनेकी इच्छा हुई। परंतु उनसे युद्ध कर सके, ऐसा संसारमें कोई नहीं था। जय-विजयने अपने स्वामीका संकल्प देखा और अनुभव किया कि हमारे सर्वशक्तिमान् प्रभुमें अपनी इस इच्छाको पूर्ण करनेकी सामर्थ्य नहीं है। अपने प्रभुकी इस शक्ति-न्यूनतासे उन्हें दुःख हुआ। इसीलिये वे भगवान्का संकल्प पूर्ण करनेके लिये और उनकी प्रतीयमान अपूर्णताका कलङ्क-मार्जन करनेके लिये तथा इस रूपमें एक विशेष प्रकारकी सेवा करनेके लिये प्रेमसे ही असुरके रूपमें प्रकट हुए। भक्तिका यह उत्कृष्ट रूप अपनी प्रियता और रुचिका त्याग करके प्रभुकी प्रियता और रुचिके प्रति आत्मबलिके बिना किसीको प्राप्त नहीं हो सकता। यह बात भी तो प्रसिद्ध है कि कैकेयीने रामकी प्रसन्नता और सुखके लिये ही दशरथसे उनके वनवासका वरदान माँगा था। श्रीमद्भागवतमें ही भगवद्विषयक काम, क्रोध, भय आदिको भी तन्मयता और कल्याणका हेतु बताया गया है। किस जीवके हृदयमें भगवान्ने अपना कौन-सा आकार प्रकट कर रखा है और स्वयंप्रकाश, स्वच्छन्द-प्रकृति भक्ति-महारानी कौन-सी वेष-भूषा धारण करके किस भाव, आकार और क्रियाके रूपमें अपनी उन्मुक्त लीला कर रही हैं—इसको पहचाननेका कौन दावा कर सकता है?

पाँचवीं बात—सत्ययुग आदि कालभेद, पूर्व-पश्चिम, बाहर-भीतर आदि देशभेद, भिन्न-भिन्न आचार्योंके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायभेद भी भक्तिको छिन्न-भिन्न करनेमें समर्थ नहीं हैं; क्योंकि भक्ति सर्वकालमें, सर्वदेशमें और सर्वसम्प्रदायमें केवल मनुष्योंके ही नहीं, सम्पूर्ण जीवोंके हृदयमें उनके अभीष्ट परमानन्दकी प्रकट अभिव्यक्ति है। यह महाविश्वास, परम-प्रेममय दिव्यरसके रूपमें अव्याहत अमृतस्वरूपसे प्रवाहित रहती है। कभी कहीं किन्हीं लोगोंमें भजनके रूपमें तो कहीं बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग पूजा-उपासनाके रूपमें तो दूसरी जगह योगाभ्यास एवं गौरवमयी, समन्वयमयी भावधाराके रूपमें, अन्यत्र व्याकुलता, तत्त्वजिज्ञासा और तत्त्वानुभूतिके रूपमें भी यही अपना मधुर-मधुर नृत्य-संगीतमय पाद-विन्यास कर रही है। समाधि और विक्षेपका भेद होनेपर भी यह दोनोंमें ही एकरस अनुस्यूत रहती है। उसे ज्ञानी और अज्ञानीकी भी पहचान नहीं है। सृष्टि और प्रलय दोनों ही उसके विलास हैं। जो बालक अपने पिताकी गोदमें बैठकर स्वीकार करता है कि तुम मेरे पिता हो, वह तो पुत्र है ही; जो उसकी दाढ़ी मूँछ पकड़कर खींचता है, नाकमें अँगुली डालता है, अपने पिताको पिता न मानकर उसके मित्रको पिता बतलाता है या भोलेपनसे किसीको पिता स्वीकार ही नहीं करता, वह भी पुत्र ही है। इसमें देश-विदेश, जाति, कुल-परम्परा आदिके भेद क्या बिगाड़ सकते हैं?

जैसे भिन्न-भिन्न जीव अथवा शरीर पञ्चभूतोंसे अन्न, रस, उष्णता, प्रकाश, प्राण और अवकाश लेकर जीवन धारण करते हैं, बिना समष्टिकी सत्ता और शक्तिके कोई व्यष्टि जीवित रह ही नहीं सकती, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके रूपमें व्यवहार करनेवाले जीव भी अनन्त सत्ता, शक्ति, चेतन और आनन्दसे सम्बद्ध हुए बिना—उससे जीवन, प्रेम और प्रकाश प्राप्त किये बिना रह ही नहीं सकते। यह जो उपजीव्य-उपजीवक अथवा आश्रय-आश्रित भाव है, इतना प्रत्यक्ष है कि खुली आँखसे और बिना आँखके भी देखा जा सकता है। इसलिये भगवान्से कोई विभक्त है अथवा वस्तुतः उनका कोई अभक्त है; यह कल्पना भूलसे ही है और यही अन्तःकरणमें राग-द्वेषकी सृष्टि करके दुःख देती रहती है। अवश्य ही यह दुःख भी, यह दोष-दर्शन भी एक दिन वैराग्यका हेतु बनकर ऐसा अनुभव कराये बिना नहीं रहेगा कि मैं भी भक्तिकी ही एक अनिर्वचनीय मौज हूँ।

छठी बात—जीवके मनमें विषयभोग, कर्म और अभिमानकी वृद्धिके लिये अनेकों इच्छाएँ होती रहती हैं। कभी-कभी उनसे बचनेकी भी इच्छा होती है; परंतु संसारमें ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जो अपनी सब इच्छाओंको युगपत्

या क्रमसे पूर्ण कर सके। उसमें उचित-अनुचित, आवश्यक-अनावश्यक, पहले-पीछे आदिका भेद करके काट-छाँट करनी पड़ती है। विवेकपूर्वक की हुई इच्छापूर्तिमें त्याग उपस्थित रहता है, इसलिये सुख भी। अविवेकपूर्वक की हुई इच्छा-पूर्तिमें नियन्त्रणका अभाव उपस्थित रहता है, अतएव दुःख भी। जीवको कभी आत्मतुष्टि होती है और कभी आत्मग्लानि। भूल तथा गलतीसे जीवके मनको अभिभूत कर देती है। वह दुःखी होता है अपनी वर्तमान रहनीको देखकर। यह ठीक भी है; परंतु ईश्वर उसकी भूल नहीं, उसके हृदय और भावको देखता है। ईश्वर जानता है कि यह अपने सुखकी अर्थात् मेरी प्राप्तिके लिये ही व्याकुल हो रहा है और पथभ्रष्ट हो गया है। यदि प्रेमसे अपने पास आनेवाला कोई व्यक्ति मार्ग भूल जाता है, उद्देश्य और अभिप्राय पवित्र होनेपर भी कोई गलत कदम उठा लिया है, तो क्या केवल इसी अपराधसे ईश्वर रुष्ट हो जायगा! जीवोंके अपराधसे यदि इस प्रकार ईश्वर रुष्ट होने लगे तो ईश्वर केवल रोषमय ही रोषमय रहेगा। अनन्त जीव, एक-एक जीवके अनन्त अनन्त अपराध। प्रेममय ईश्वर अपनेको उनकी स्मृतियोंमें उलझाकर कौन-सी सुख-समाधि उपलब्ध करेगा! एक सज्जनने किसी महात्मासे पूछा—'ईश्वर मुझपर रुष्ट है या तुष्ट?' महात्माने कहा—'तुम स्वयं अपने ऊपर रुष्ट हो या तुष्ट?' वस्तुतः ईश्वर कहीं अलग बैठकर रोष-तोष नहीं करता। वह तो जीवकी आत्मानुभूतिके साथ ही एक हो रहा है। जब मयूर अपने रूप-सौन्दर्यसे आह्लादित न होकर चातककी याच्यापूर्तिके लिये लालायित होता है और चातक अपनी कोमल पाँखोंसे आह्लादित न होकर मयूरके रूप-सौन्दर्यके लिये अभिलाषा करती है, तब ईश्वर दोनोंके मनोभावको ही देखता और समझता है कि ये दोनों ही अपने-अपनेमें अपूर्णता अनुभव करके मेरी पूर्णता प्राप्त करनेके इच्छुक हैं और मेरे भक्त हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि ईश्वरकी दृष्टिसे भी सब और उसीके स्वरूप तथा उसीके प्रेमी भक्त हैं। वे किसी भी अवस्थामें उसके वात्सल्यभरे उत्सङ्ग और प्रेमभरी कृपासे वञ्चित नहीं हैं। वह अपने ही हाथोंसे इन्हें प्राण देता है और अपनी ही आँखोंसे देखता। अपने ही रूपसे सृजन करता है और अपनी ही आत्माके रूपमें अनुभव करता है। कहीं किसीको अपने ही अङ्गोंमें पराया या निरपेक्षका भाव होता है! आजतक ईश्वरने किसीको अभक्त समझकर अपनी दी हुई सुख-सुविधाओंसे वञ्चित किया है!

सातवीं बात—यह देखनेमें आता है कि भक्तोंके साधन, अभ्यास, मन्त्र, नाम, रूप, भाव आदि अलग-अलग होते हैं। परंतु इस भेदसे भक्तिभावमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। किसी एक महात्माके अनेक सेवक हों तो यह आग्रह करना कि सब एक ही पद्धतिसे एक ही प्रकारकी सेवा करें—व्यर्थ ही नहीं अनुचित भी है। क्योंकि समय, स्थान, शक्ति, वस्तु, रुचि, व्यक्ति, अवस्था आदिके भेदसे सेवाके अनेकों रूप अपेक्षित होते हैं। भोजनकी सेवा अलग और वस्त्रकी सेवा अलग। यदि सभी सेवक यह आग्रह करने लग जायँ कि जिस भावकी जैसी सेवा मैं करता हूँ, वैसी ही सेवा सब करें तो केवल सेवकोंको ही नहीं, सेव्यको भी उद्वेग होगा। कर्ता, करण, उपकरण, सम्प्रदान, भावना, बुद्धि और स्थिति—ये सब सबके एक-से नहीं हो सकते। वेष-भूषा, माला-चन्दन सबके एक-से हों, सब प्रभु प्रभु या प्यारे-प्यारे ही पुकारते रहें, सब राम-राम या श्याम श्याम अथवा शिवोऽहम्, शिवोऽहम् ही रटा करें—इन सब छोटे-मोटे आग्रहोंसे भक्ति भाव आप्यायित नहीं है। यह तो विदुरका या उद्धव गोपीको, जटी या मुण्डीको, स्तुति या स्तनन्धय-सरकानेवालोंकी भक्तकी भावनाकी। चरणोंमें पड़ने या श्रीदामाकी भाँति अपना कन्धा पकड़ानेकी विलक्षण क्रियाओंकी परवा किये बिना सर्वत्र अपने आराध्य भावान्तरपर ही आनन्द रहता है। हम किसीको अभक्त तो तब मान बैठते हैं जब हमारा चित्त पूर्वाग्रहके भारसे जर्जर, कुछ सीमित संस्कारोंसे आक्रान्त अथवा गुणग्राहिणी बुद्धिसे परित्यक्त होता है। परंतु इस दशामें भी ज्ञानी विवेकी अनन्यताका रूप ग्रहण करके भक्ति विद्यमान रहती है। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि सिद्धान्तरूपसे भगवान्‌को सर्वात्मा स्वीकार करनेके बाद भी कोई भगवान्‌का विरोधी या अभक्त कैसे मालूम पड़ता है!

आठवीं बात—मूर्च्छा, सुषुप्ति, मृत्यु, प्रलय, निःसंकल्प समाधि—इनमेंसे कोई भी अवस्था भक्तिरहित नहीं होती। एक तो इनमें जाग्रत् और स्वप्नके समान ज्ञान न होनेपर भी अज्ञानमें ही चित्तवृत्ति अपने आश्रयभूत स्वरूप भगवान्‌का आलिङ्गन करके उसीमें स्थित रहती है, दूसरे इन स्थितियोंमें किसी भी जीवका आत्यन्तिक नाश नहीं होता। जैसे बड़के नन्हे-से बीजमें विशाल वृक्षकी छोटी-मोटी टहनियाँ, पत्ते, पुष्प, फल आदि सभी विशेषताएँ छिपी रहती हैं, उसी प्रकार इन अवस्थाओंमें भी सभी पदार्थ बीजरूपसे विद्यमान रहते हैं। न केवल इसी जन्मके संस्कार प्रत्युत अनन्त कालसे अबतक सभी अतीत जन्मोंके संस्कार और आगामी

असंख्य जन्मोंके बीज-संस्कार भी उनमें ही मिमटे रहते हैं; क्योंकि वे सभी अवस्थाएँ कारणरूप ही हैं। न ऐसा कह सकते हैं कि किसी जीवके अन्तःकरणमें अनादि कालसे अनुवृत्त जन्म-मृत्यु-परम्परामें कभी भक्तिभावका आविर्भाव नहीं हुआ और न तो ऐसा ही कह सकते हैं कि आगे भी नहीं होगा। इसलिये वर्तमानमें किसीको भी भक्ति-संस्कारसे शून्य कहना या समझना कैसे उचित हो सकता है? यह बात दूसरी है कि किसी व्यक्तिके वर्तमान जीवनमें अपनी निष्ठा, मान्यता, रुचि एवं ग्रन्थविशेषके अनुसार भक्तिकी वेष-भूषा और रंग-रूप प्रकट करनेके लिये वैसा कह रहे हों। अपनेमें भक्तिके अभावका अनुभव करना भक्तिकी व्यास है और दूसरोंमें भक्तिके अभावका अनुभव करना उन्हें अपनी इच्छाके अनुसार भक्तिसे युक्त देखनेका संकल्प है। इस दृष्टिसे भी संसारका कोई भी जीव वस्तुतः अभक्त नहीं है।

चौथी बात—ब्रह्म और आत्माकी एकताके ज्ञानसे भी भक्तिकी कोई हानि नहीं है; क्योंकि ज्ञानसे केवल अविद्याकी ही निवृत्ति होती है, भान अथवा व्यवहारकी नहीं। जिस उपाधिके कारण भेदकी प्रतीति अथवा व्यवहार हो रहे हैं, वह उपाधि जबतक प्रतीत होती रहेगी, जबतक रहेगी, तबतक उसके गुणधर्म भी रहेंगे ही। उपाधि जब निःसंकल्प होकर अपने आश्रयमें स्थित रहती है, तब शान्त-रस है। जब वह कर्म परायण है, तब दास्य-रस है। जब वह सम्पूर्ण जीवोंके प्रति सद्भावसे युक्त है, तब सख्य-रस है। जब वह ध्येयरूपसे अपने उत्सङ्गमें ही केवल चेतनको विषय करती है, तब वात्सल्य-रस होता है और जब वह आश्रय और विषयके रूपमें स्थित अद्वितीय चैतन्यका आलिङ्गन करती और उससे आलिङ्गित होती है, तब मधुर-रस होता है। उपाधि चाहे ज्ञानीकी हो या अज्ञानीकी, उसके सारे खेल ही परब्रह्म परमात्मामें हो रहे हैं। वह जिस अधिष्ठानमें अध्यस्त है और जिस स्वयंप्रकाश सर्वावभासक चेतनके द्वारा प्रकाशित हो रही है, वे दोनों अधिष्ठान और प्रकाशक वस्तुतः दो नहीं हैं, अद्वितीय ब्रह्म ही हैं। वह अद्वितीयता भी विलक्षण है। एक-एकका योग दो हो जाता है, परंतु अद्वितीय-अद्वितीय मिलकर दो नहीं होते। भाव-अभाव आदिके द्वन्द्वमें प्रतियोगी रहता है, परंतु ब्रह्मका कोई प्रतियोगी नहीं है। ऐसी वस्तु-स्थितिमें द्रष्टा और अधिष्ठानमें भेद-बुद्धि रहनेतक ही उपाधि सत्य जान पड़ती है। भेद-बुद्धिके निवृत्त होते ही उपाधि भी ब्रह्म-रूप ही है; क्योंकि अधिष्ठानसे अध्यस्त और प्रकाशकसे प्रकाश्य भिन्न नहीं होता। फिर तो यही कहना पड़ेगा कि भक्ति ब्रह्मरूप ही है।

अद्वैत वेदान्तमें साधनका विचार करते समय यह स्पष्ट-रूपसे स्वीकार किया गया है कि ईश्वर-कृपासे ही अद्वैतमें रुचि होती है। ईश्वरमें रागात्मिका भक्तिका उदय होनेसे संसारके राग-द्वेष निवृत्त हो जाते हैं। राग होनेसे वस्तुके दोषका पता नहीं चलता, द्वेष होनेसे गुणका ज्ञान नहीं होता। इसलिये अन्तःकरण-को राग-द्वेषशून्य करनेके लिये भगवद्भक्तिकी आवश्यकता सर्वमान्य है। अन्तःकरण शुद्ध होनेपर जब पदार्थका सात्त्विक अनुसंधान प्रारम्भ होता है, तब तत्-पदार्थके शोधनमें जो विशेष रुचि है, उसे ही भगवद्भक्ति कहते हैं। त्वं-पदार्थके अनुसंधानमें जो रुचि है, उसे आत्मरति कहते हैं। प्रधान-तथा उपाधिके विवेकमें न्याय-मीमांसा, तत्-पदार्थके विवेकमें भक्तिशास्त्र और त्वं-पदार्थके विवेकमें सांख्य-योग अत्यन्त उपयोगी हैं। किसी-न-किसी कक्षामें सभी सम्प्रदाय और शास्त्रोंका उपयोग है। जिनके विचारसे तत्-पदार्थ और त्वं-पदार्थ अलग-अलग रहते हैं, उनके लिये भगवद्भक्ति और आत्मरतिमें भेद रहता है। जब दोनों पदार्थोंके ऐक्यका बोध होता है, तब आत्मा और परमात्माके एक होनेके कारण आत्मरति और भगवद्भक्ति भी एक ही स्थितिकी वाचक हो जाती हैं। उसे ही ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। इस प्रकार परिरद्ध साधनसे लेकर ब्राह्मी स्थितिपर्यन्त एक ही भक्तिदेवी अपनी नाम-रूप, आकार-प्रकार अदल-बदलकर अनेक नाम-रूपोंमें प्रकट होती रहती हैं और भिन्न-भिन्न स्थितियोंके रूपमें विवर्तमान होती रहती हैं। चित्त-वृत्तिका सत्य, ज्ञान-मान, सुखरूप तत्त्वमें जो सहज पक्षपात है, उसीका नाम भक्ति है और वह किसी भी जीवको किसी भी अवस्थामें कभी प्रकट और कभी गुप्त रहकर अपनी उपस्थितिसे वञ्चित नहीं करती। और तत्त्व दृष्टिसे तो सब ब्रह्म ही है। इसलिये भक्ति भी असंदिग्ध और अविपर्यस्तरूपसे ब्रह्म ही है।

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥
(रामचरित० बाल०)

प्रार्थनाका महत्त्व

(लेखक—श्री १०८ श्रीस्वामी भारतानन्दजी सरस्वती महाराज)

सं गच्छध्वम्, सं वदध्वम्, सं वो मनांसि जानताम्।

(ऋग्वेद)

प्रार्थनासे बुद्धि शुद्ध होती है। देवताओंकी प्रार्थनासे दैवीशक्ति प्राप्त होती है। द्रौपदीकी प्रार्थनासे स्वयं भगवान्ने दिव्य पटकोर दी थी। नल-नीलको प्रार्थनासे पत्थर तैरानेकी शक्ति प्राप्त हुई थी। महात्मा तुलसीदासजीको श्रीपवनसुत हनुमान्जीसे प्रार्थना करनेपर भगवान् रामके दर्शन हुए, भगवान्से प्रार्थना करनेपर डाकू रत्नाकरकी बुद्धि अत्यन्त शुद्ध हो गयी। वे वाल्मीकि ऋषिके नामसे प्रसिद्ध हुए और मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने उनको *साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया। वर्तमान समयमें* भी प्रार्थनासे लाभ उठानेवाले बहुत लोग हो चुके हैं और अब भी हैं।

प्रार्थना करनेसे शारीरिक रोगोंका भी शमन होता है। *प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजीको* बाँहमें असहनीय पीड़ा हो रही थी, श्रीहनुमान्जीसे प्रार्थना करनेपर अर्थात् उन्हें 'हनुमान बाहुक' सुनाते ही सारी पीड़ा शान्त हो गयी। प्रार्थनासे कामनाकी पूर्ति होती है। राजा मनुकी प्रार्थनापर भगवान्ने पुत्ररूपसे उनके घरमें अवतार लेनेकी स्वीकृति दी। सत्यनारायणकी कथामें लिखा है कि दरिद्र लकड़हारेकी प्रार्थनापर भगवान्ने उसे धनाधिकारी बना दिया। प्रार्थनाके द्वारा मनुष्योंमें परस्पर प्रेम उत्पन्न होता है। प्रार्थना एकताके लिये मुख्य पथ है। ईंटके टुकड़ों तथा बालूसे मन्दिर बनाना असम्भव-सा है। पर यदि उसमें सीमेंट मिला दी जाय तो सभी बालूके कण एवं ईंटें एक शिलाके समान जुड़ जाती हैं। वर्तमान समयमें देखा गया है कि मनुष्योंके भिन्न समुदायोंमें विभिन्न प्रार्थना विभिन्न समय और विभिन्न स्थानपर होती है, ऐसे समुदायोंको जोड़नेके लिये बड़ी-बड़ी प्रयत्न समितियाँ बनीं, परंतु उन्हें सिद्ध करनेमें असमर्थ सिद्ध हुईं। वर्तमान युगमें भी ऐसी घटनाएँ हो चुकी हैं, प्राचीन कालमें भी हुई हैं।

'एक समय रावणादि राक्षसोंके घोर उपद्रवसे त्रस्त होकर दैवी सम्पत्तिके प्राणी—सुर, मुनि, गन्धर्व आदि हिमालयकी कन्दराओंमें छिप रहे थे—

रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा॥

रावणकी योजना थी—'हमरे बैरी बिबुध बरूथा।' 'तेन्ह कर मरन एक बिधि होई।'

'द्विजभोजन मख होम सराधा। सब कै जाइ करहु तुम्ह बाधा॥'

'छुधा छीन बलहीन सुर सहजेहिं मिलिहहिं आइ।
तब मारिहउँ कि छाड़िहउँ भली भाँति अपनाइ॥'

इस मुनि-संत विरोधी योजनाको सुनकर ऋषि, मुनि, देवता घबराये और उन्होंने एक सभाका आयोजन किया, जिसमें आशुतोष भगवान् शंकर भी पधारे थे।

बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहँ पाइअ प्रभु करिअ पुकारा॥

वे सोचने लगे—'आसुरी समुदाय दैवी समुदायको विनाश करनेपर तुला हुआ है। उससे त्राण पानेके लिये किस साधनको अपनाया जाय? हम सब दीन, हीन, असहाय दीनबन्धु भगवान्को कहाँ ढूँढें?'

पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥

परिणाम यह हुआ कि सभामें कई भिन्न मत हो गये। इस विषमताकी दशाको देखकर अहैतुकी कृपा करनेवाले भगवान् शंकर बोले—

तेहि समाज गिरिजा मैं रहेउँ। अवसर पाइ बचन एक कहेउँ॥
हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

शंकरजीने बताया कि ऐसे विकट समयमें भगवान्को ढूँढ़ने कोई कहीं न जाय। सब सम्मिलित होकर आर्त हृदयसे भावपूर्ण एक ही प्रार्थना एक साथ करें। भक्तवत्सल भगवान् तुरंत ही आश्वासन देंगे। यह बात सभीको अच्छी लगी और सभी नेत्रोंमें जल भरे हुए तथा अश्रुबिन्दु गिराते हुए गद्गद कण्ठसे करबद्ध होकर 'जय जय सुरनायक' आदि प्रार्थना करने लगे—

'जय जय सुरनायक जन सुखदायक प्रनतपाल भगवंता।
गो द्विज हितकारी जय असुरारी सिंधुसुता प्रिय कंता॥
पालन सुर धरनी अद्भुत करनी मरम न जानइ कोई।
जो सहज कृपाला दीनदयाला करउ अनुग्रह सोई॥
जय जय अबिनासी सब घट बासी ब्यापक परमानंदा।
अबिगत गोतीतं चरित पुनीतं मायारहित मुकुंदा॥

जेहि लागि बिरागी अति अनुरागी बिगत मोह मुनिबृंदा ।
निसि बासर ध्यावहिं गुनगन गावहिं जयति सच्चिदानंदा ॥
जेहिं सृष्टि उपाई त्रिबिध बनाई संग सहाय न दूजा ।
सो करउ अघारी चिंत हमारी जानिअ भगति न पूजा ॥
जो भव भय भंजन मुनिमन रंजन गंजन बिपति बरूथा ।
मन बच क्रम बानी छाँड़ि सयानी सरन सकल सुर जूथा ॥
सारद श्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहुँ कोउ नहिं जाना ।
जेहि दीन पिआरे बेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना ॥
भव बारिधि मंदर सब बिधि सुंदर गुनमंदिर सुख पुंजा ।
मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पद कंजा ॥'

वह शक्ति हमें दो दयानिधे ! कर्तव्य-मार्गपर डट जावें ।
पर-सेवा पर-उपकारमें हम जग जीवन सफल बना जावें ॥
हम दीन-दुखी, निबलों-विकलों के सेवक बन संताप हरें ।
जो हैं अटके, भूले-भटके, उनको तारें, हम तर जावें ॥
छल-दम्भ, द्वेष-पाखंड, झूठ, अन्यायसे निशदिन दूर रहें ।
जीवन हो शुद्ध-सरल अपना, शुचि प्रेम-सुधा-रस बरसावें ॥
निज आन-मान-मर्यादाका प्रभु ! ध्यान रहे, अभिमान रहे ।
जिस देश-जातिमें जन्म लिया बलिदान उसी पर हो जावें ॥

प्रार्थना समाप्त हुई कि तुरंत आकाशवाणी हुई ।

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा । तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा ॥

ब्रह्माजीसबको शिक्षा तथा आश्वासन देकर तथा देवताओंसे यह कहकर ब्रह्मलोकको चले गये कि 'तुमलोग वानररूप धारणकर सुसंगठित हो भगवान्‌का भजन करते हुए पृथ्वीपर रहो ।' प्रार्थना सफल हुई, मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका अवतार हुआ । देवता, गौएँ, ऋषि, मुनि, पृथ्वी, भक्त-समाज—सब सुखी और परमधामके अधिकारी हुए—

जब जब होइ धरम कै हानी । बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥

और ऐसे समयमें जब-जब देव-समाजने भगवान्‌से प्रार्थना की, तब तब भगवान्‌ने अवतार लेकर विश्वमें शान्ति स्थापित की । भूतकालके इतिहासमें प्रार्थना सफल हुई, तब वर्तमानमें भी सफल हो सकती है—ऐसा विश्वास सबको रखना चाहिये ।

प्रार्थनासे कितना लाभ हो सकता है, प्रार्थनाका कितना महत्त्व है—यह लिखा नहीं जा सकता । प्रार्थनाके द्वारा मृत आत्माओंको शान्ति मिलती है। जिसकी प्रथा आज भी बड़ी-बड़ी सभाओंमें देख पड़ती है । किसी महापुरुषके देहावसान हो जानेपर दो-चार मिनट मृतात्माकी शान्तिके लिये सभाओंमें सामूहिक प्रार्थना की जाती है । प्रार्थनाके उपासक महात्मा गांधी, महामना मालवीयजी आदि धार्मिक-राजनीतिक नेताओंका अधिक स्वास्थ्य बिगड़नेपर जब-जब समाजमें प्रार्थना की गयी, तब-तब लाभ प्रतीत हुआ । और भी अनेकों उदाहरण हैं । प्रार्थनामें विश्वासकी प्रधानता है । प्रार्थना हृदयसे होनी चाहिये। निरन्तर, आदरपूर्वक, दीर्घकालतक होनेसे यह सफल होती है—

दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो　　　दृढभूमिः ।

इष्टदेवको सुनानेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये, जनताको सुनानेकी दृष्टिसे नहीं । प्रार्थनासे आस्तिकता बढ़ती है । आस्तिकतासे मनुष्योंकी पापमें प्रवृत्ति नहीं होती । दुराचारके नाश और सदाचारकी वृद्धिसे समाजमें दरिद्रता, कलह, शारीरिक रोग, चरित्र-पतनकी निवृत्ति होकर परस्पर प्रेम, आरोग्य, सुख-सम्पत्तिकी वृद्धि होती है ।

ईसाई, मुसलमान, पारसी आदि सम्प्रदायोंमें प्रार्थनाका प्रमुख स्थान है । वे किसी भी रूपमें हों, किसी भी देश या स्थानमें हों, उन लोगोंकी प्रार्थना एक है । यही कारण है कि वे धार्मिक सूत्रमें आबद्ध होनेके कारण सुव्यवस्थित हैं । हमारे यहाँ त्रिकाल संध्याका नियम था ।

संध्या येन न विज्ञाता संध्या येनानुपासिता ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥

अर्थात् तीन दिनोंतक संध्या न करनेवाला अपने वर्णसे च्युत कर दिया जाता था । परंतु आजकल तो अधिकांश द्विजाति भी संध्या नहीं करते, कितने खेदका विषय है ! संध्या कामधेनु गौ है, तो प्रार्थना उसकी बछिया है । यदि गौ कहीं चली जाय और आप बछियाको ही अपने पास बाँध लें तो गौ भी इधर-उधर घूमकर उस स्थानपर आ जायगी । स्वार्थके कारण विघटित हुए समाजके अनेकों पृथक्-रूपी सुमनोंको संगठित बनानेके लिये प्रार्थना एक सूत्र है । अतएव समाजको सुव्यवस्थित बनानेके लिये प्रार्थनाको मुख्य स्थान देना ही चाहिये । प्रार्थनाकी महिमाका कहाँतक वर्णन किया जाय—

सब पर्वत स्याही करूँ, घोरूँ सागर माहिं ।
पृथ्वी का कागज करूँ, महिमा लिखी न जाहिं ॥

परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम ।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम ॥

बोझ प्रभुके कंधेपर

(संत विनोबा)

प्रभुको चिन्ता सबकी रहती है, पर विशेष चिन्ता उसे दीनोंकी होती है। और लोग भी प्रभुके हैं, पर दीन तो प्रभुके ही हैं। औरोंका आधार और भी होता है, पर दीनोंका आधार तो दीनदयाल ही होता है। समुद्रके बीच जहाजके मस्तूलमें उड़े हुए पंछीको मस्तूलके सिवा और ठिकाना कहाँ हो सकता है? उससे हटकर वह कहाँ रह सकता है? दीनका चित्त प्रभुसे छूटे भी तो किससे लगे? इसीलिये दीन प्रभुके कहलाते हैं, प्रभु दीनोंका कहलाता है। दीनताका यही वैशिष्ट्य देखकर कुन्तीने उस समय, जब उसे प्रभुने वर माँगनेको कहा, दीनता माँगी। कोई कह सकता है कि प्रभु तो देता था कटोरीमें, पर अभागिनीने माँगा दोनेमें! फूटी कटोरीसे साबित दोना तो इससे अच्छा।

कदाचित् कोई तार्किक बीचमें ही पूछ बैठे—'तो फूटी कटोरीकी बात ही क्यों?' मैं यह कहूँगा—'नहीं, पानी पीनेकी दृष्टिसे तो साबित दोने और साबित कटोरीका मूल्य समान हो, पर अंदर पैठकर देखें तो यह मानकी कटोरी पालतू पशु बन जाती है। कटोरीको उसीमें एक बड़ी धुकधुकी लगी रहती है—'मुझे कोई चुरा तो नहीं ले जायगा!' दोनेके लिये यह भय अप्रसंग है, अतः वह निर्भय है।''

फिर कटोरी और साबितका योग ही मुश्किलसे मिलता है। रामदासके शब्दोंमें—'जो बड़ा, सो चोर।' ऐसे उदाहरण बहुत थोड़े हैं कि आदमी बड़ा हो और प्रभु [illegible] हो। ऐसे उदाहरणोंका प्रायः अभाव ही है और जो कहीं और कभी दीख पड़ा, तो इस रूपमें कि [illegible], किंतु बड़प्पन खोकर—अत्यन्त दीन होकर—भगवान्के शरण आया, उसी दिन प्रभुने उसे अपने निकट खींच लिया। राजा परीक्षित्ने जब राजमुकुटका साज हटाकर मस्तक झुकाया, तब प्रभुने उसके आँगनमें खड़े रहना स्वीकार किया। गजेन्द्रको जबतक अपने बलका घमंड रहा, तबतक उसने खूब युद्ध करके देख लिया और जब गर्व गला, तब उसे दीनबन्धुकी याद आयी। उसी दिनकी घटनाका नाम तो 'गजेन्द्रमोक्ष' है। और अर्जुन! जिस दिन वह अपनी जानकारीके बलसे मोहित हुआ, प्रभुने उसे गीता सुनायी। पार्थका प्रभुसे ही मतभेद हो गया। बड़ा आदमी जो ठहरा! प्रभुके मतसे उसके मतका छत्तीसका नाता क्यों न हो? किंतु बारह बरसके वनवासने उसे 'महत्ता'से उतारकर 'दीनता'की सेवा करनेका अवसर दिया। जब जानकारीपर अधिष्ठित मनके पाँव डगमगाने लगे, तब उसने निष्कपट प्रभुके पाँव पकड़े। 'मैं तो इन्द्रियोंका गुलाम हूँ, और मेरा 'मत' क्या! मेरी तो इन्द्रियाँ चाहे जैसा निश्चय करती हैं और मनरूपी मल्ल उसपर अपनी मुहर कर देता है। वहाँ धर्मको देख सकनेवाली दृष्टिका गुजर कहाँ! प्यारे, मैं तुम्हारे शरणका सेवक हूँ। मुझे तुम्हीं समझाओ।' तब भगवान्की वाणी प्रस्फुटित हुई। गीता कही जाने लगी। परंतु गीता कहते-कहते भी श्रीकृष्णने एक बात तो कह ही डाली—'प्रज्ञावादकी बात तो खूब करते हो!' गर्ज यह कि बड़े लोगोंमें यदि किसीके प्रभुका प्यारा होनेकी बात सुनी जाती है तो वह उसीकी, जो अपना बड़प्पन खोकर, अपनी महत्ता एक ओर रखकर छोटे-से-छोटा, दीन, निराधार बन गया। तब वह प्रभुका आत्मीय कहलाया। जो जगत्का आधार है, उसको आधारसे कैसी रिश्तेदारी! जिसके नातेसे जगत्का आधार जमा नहीं रह गया, उसीका बोझ प्रभु अपने कंधोंपर लेते हैं।

(प्रेषक—[illegible])

भगवान्‌के बन्धनका सरल साधन

भगवान् राम कहते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

(रामचरित० सुन्दर०)

वेदोंकी संहिताओंमें भक्ति-तत्त्व

(लेखक—श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य दार्शनिक-सार्वभौम विद्यावारिधि न्यायमार्तण्ड वेदान्तवागीश श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ पूज्य स्वामीजी श्रीमहेश्वरानन्दजी महाराज महामण्डलेश्वर)

मङ्गलाचरणम्

ॐ नमः शम्भवाय च मयोभवाय च।
नमः शंकराय च मयस्कराय च।
नमः शिवाय च शिवतराय च॥
(शु० यजुर्वेदसंहिता १६।४१)

ॐ शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु,
शं नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः।
शं नो अपां नपात् पेरुरस्तु,
शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा॥
(ऋ० सं० ७।३५।१३; अथर्व० सं० १९।११।३)

'जिससे मोक्ष-सुख प्राप्त होता है एवं जिससे इस लोक तथा परलोकके विविध सुख प्राप्त होते हैं, उस भगवान्‌को नमस्कार है। जो पारमार्थिक अनन्त सुखको प्राप्त कराता है तथा जो सर्व प्रकारके सुखोंका दाता है, उस परमात्माको नमस्कार है। जो परमेश्वर कल्याणस्वरूप है तथा भक्तोंका भी कल्याणकर होनेसे परमकल्याणरूप है, उसे नमस्कार है। (इस मन्त्रमें 'मयः' सुखका नाम है।) विश्वरूप अविनाशी देव हमारे 'शम्' (शास्वतशान्ति-सुख) के लिये प्रसन्न हो। प्राणोंका प्रेरक एवं शरीरोंका अन्तर्यामी महादेव हमारे 'शम्'के लिये अनुकूल हो। समस्त विश्वका उत्पादक, संरक्षक एवं उपसंहारक विश्वाधिष्ठान परमात्मा हमारे 'शम्'के लिये सहायक हो। क्षीरसमुद्रशायी विश्वप्रपञ्च भगवान् श्रीनारायण-देव—जो भक्तोंको संसारके समस्त दुःखोंसे पार कर देता है—हमारे 'शम्'के लिये प्रसन्न हो। देवोंकी रक्षा करनेवाली विश्वव्यापिनी भगवान्‌की चिति शक्ति हमारे 'शम्'-सम्पत्के लिये तत्पर हो।'

वेदोंका महत्त्व

यद्यपि 'मन्त्रब्राह्मणयोर्नामधेयं वेदः' अर्थात् मन्त्र-भाग एवं ब्राह्मणभाग दोनोंका नाम वेद है, यों वैदिक सनातन धर्मानुयायी विद्वान् मानते हैं, तथापि मन्त्रभाग एवं ब्राह्मणभागका मूल-मूलीभाव तथा व्याख्येय-व्याख्यानभाव होनेके कारण अर्थात् मन्त्रभाग (संहिताएँ) मूल एवं व्याख्येय तथा ब्राह्मणभाग मूली एवं व्याख्यान होनेके कारण ब्राह्मणभागकी अपेक्षा मन्त्रभागमें मुख्य निरपेक्ष वेदत्व है। अतः उसकी संहिताओंमें ही अभिवर्णित भक्तिस्वरूप यहाँ कल्याण-प्रेमियोंके लिये यथामति प्रदर्शन किया जाता है। मनुमहाराजने भी कहा है—

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।
(मनुस्मृति २।१३)

अर्थात् धर्ममात्र भक्ति, ज्ञान आदि धर्मकी जिज्ञासा रखनेवालोंके लिये मुख्य—स्वतःप्रमाण एकमात्र श्रुति है। अतः श्रुतिके अनुकूल ही इतर स्मृति-पुराणादिके वचन प्रामाणिक एवं ग्राह्य माने जाते हैं। श्रुतिविरुद्ध कोई भी वचन प्रामाणिक नहीं माना जाता। अतएव वेदोंके महत्त्वके विषयमें महाभारतमें यह कहा गया है—

सर्वं विदुर्वेदविदो वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
वेदे हि निष्ठा सर्वस्य यद् यदस्ति च नास्ति च॥
(म० भा० शा० २७०।४३)

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥
(म० भा० १२।२३२।२४)

अर्थात् वेदोंके ज्ञाता सब कुछ जानते हैं, क्योंकि वेदमें सब कुछ प्रतिष्ठित है। जो ज्ञातव्य अर्थ अन्यत्र है या नहीं है, उस साध्य-साधनादि समस्त वर्णनीय अर्थोंकी निष्ठा वेदोंमें है। अतः वेदवाणी दिव्य है, नित्य है एवं आदि-अन्त-रहित है; सृष्टिके आदिमें स्वयम्भू परमेश्वरद्वारा उसका प्रादुर्भाव हुआ है तथा उसके द्वारा धर्म, भक्ति आदिकी समस्त प्रवृत्तियाँ सिद्ध हो रही हैं। इसलिये—

वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुम।

—कहकर हमारे पूज्य महर्षियोंने वेदोंकी अपार महिमा अभिव्यक्त की है।

भक्तिका स्वरूप

जिसके अनन्त महत्त्वका हम श्रवण करते हैं, जो हमारा वास्तविक सम्बन्धी होता है, जिसके द्वारा हमारा हित सम्पादित

होता है एवं शाश्वत शान्ति तथा अनन्त सुखका लाभ होता है, उसमें किसीकी भी अविचल प्रीति स्वभावतः हो ही जाती है। इसलिये भगवत्प्रार्थनाके रूपमें अथर्वसंहितामें कहा गया है—

देव ! संस्फान ! सहस्रपोषस्येशिषे । तस्य नो रास्व, तस्य नो धेहि, तस्य ते भक्तिवांसः स्याम ॥

(अथर्व० सं० ६ । ७९ । ३)

'हे अभ्युदय निःश्रेयसप्रदाता देव ! तू आध्यात्मिकादि असंख्य शाश्वत पुष्टियोंका स्वामी है, इसलिये हमें उन पुष्टियोंका तू दान कर, उनको हमारेमें स्थापन कर। अतः उस महान् अनन्त पुष्टिपति प्रभुकी भक्तिसे युक्त हम हों, अर्थात् तेरी पावन भक्तिद्वारा ही हमें अभीष्ट पुष्टियोंका लाभ होगा—ऐसा विश्वास हम करें।'

श्रीभगवान्‌के दिव्यतम गुणोंके श्रवणसे द्रवीभूत हुए चित्तकी वृत्तियाँ उस सर्वेश्वर प्रभुकी ओर जब धाराप्रवाहरूपसे सतत बहने लग जाती हैं, तब यही भक्तिका स्वरूप बन जाता है। अतएव ऋग्वेदसंहितामें कहा है—

अभि विश्वा अभि पृक्षः सचन्ते,
समुद्रं न स्रवतः सप्त यह्वीः ॥

(ऋ० १ । ७१ । ७)

'जैसे गङ्गा आदि बड़ी बड़ी नदियाँ समुद्रकी ओर ही दौड़ती हुई उसीमें विलीन हो जाती हैं, वैसे ही भगवद्भक्तोंके मनकी सभी वृत्तियाँ अनन्त दिव्यगुणकर्मवान् परमेश्वरकी ओर जाती हुई—तदाकार होती हुई—उसीमें विलीन हो जाती हैं।' (इस मन्त्रमें पृक्ष अन्नका नाम है, वह अन्नमय मनको लक्षित करता है।)*

इसलिये हे प्रभो !—

यस्य ते स्वादु सख्यं, स्वाद्वी प्रणीतिः।

(ऋ० ८ । ६८ । ११)

'उस परमात्माका सख्य (मित्रता) स्वादु है, अर्थात् मधुर आह्लादक आनन्दप्रद है; और उस परमेश्वरकी प्रणीति (ज्ञानभक्ति) स्वाद्वी है, समस्त संतापोंका निवारण करके परमानन्द प्रदान करनेवाली है, अर्थात् 'भक्ति स्वयं सर्व सुख-खानि', है। प्रणीति, प्रणय, प्रेम, प्रीति, भक्ति—ये सब पर्याय वाचक हैं—एकार्थके बोधक हैं।

वास्तविक सम्बन्धी भगवान्

जिसके साथ हमारा कोई-न-कोई सम्बन्ध होता है, उसे देखकर या उसका नाम सुनकर उसके प्रति स्नेहका प्रादुर्भाव हो ही जाता है। संसारके माता-पिता आदि सम्बन्धी आगन्तुक हैं—आते हैं और सदा सम्बन्धी नहीं रहते; इसलिये वे सच्चे न होनेसे स्वार्थी सम्बन्धी माने गये हैं। परंतु परमात्मा सर्वेश्वर भगवान् हम सब जीवात्माओंका माता पिता आदि वास्तविक शाश्वत निःस्वार्थ दुःख निवारक एवं हित-सुखकर सम्बन्धी है। इसलिये हमारे अतिधन्य वेदोंने उस परमात्मामें परम प्रीति उत्पन्न करनेके लिये कहा है—

त्वं त्राता तरणे ! चेत्यो भूः, पिता माता सदमिन्मानुषाणाम् ।

(ऋ० ६ । १ । ५)

'हे तरणे—तारनेहार यानी संसारके विविध दुःखोंसे तारनेवाले भगवन् ! तू हमारा त्राता रक्षक है, इसलिये तू चेत्य यानी जानने योग्य है कि तू हमारा कौन है। तू हम मनुष्योंका सदा रहनेवाला तथा माता एवं पिता है।'

पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा।

(ऋ० ६ । ३६ । ४)

'हे प्रभो ! सब (जन) जनोंका तू ही एकमात्र असमानोपम—असाधारण पति—स्वामी है तथा समस्त भुवनोंका राजा—ईश्वर है।'

स नः इन्द्रः शिवः सखा।   (ऋ० ८ । ९३ । ३)

'वह इन्द्र परमात्मा हमारा कल्याणकारी सखा है।' इसलिये हे भगवन् !

त्वमस्माकं तव स्मसि।   (ऋ० ८ । ९२ । ३२)

'तू हमारा है और हम तेरे हैं।' यह भाव भगवच्छरणागतिका भी है।

अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित्सखायम्।

(ऋ० १० । ७ । ३)

'अर्थात् अग्नि परमात्माको ही मैं सदैव अपना पिता मानता हूँ, अग्निको ही आपि यानी अपना बन्धु मानता हूँ एवं अग्निको ही मैं भाई तथा सखा मानता हूँ।' यहाँ पर

---

* श्रीमद्भागवतमें भी इसी भावको उपमाद्वारा इस प्रकार लिखा गया है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥

(श्रीमद्भा० ३ । २९ । ११)

याद रखना चाहिये कि वेदोंमें अग्नि, इन्द्र, वरुण, रुद्र आदि अनेक नामोंके द्वारा एक परमात्माका ही वर्णन किया गया है।

भजनीय परमेश्वरका स्तुत्य महत्त्व

संहिताओंमें परमेश्वरके भक्ति-वर्धक स्तुत्य महत्त्वका अनेक प्रकारसे वर्णन मिलता है। जैसे—

त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि
त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः।
त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते
त्वं विधर्तः सचसे पुरंध्या॥
(ऋ० २।१।३)

'हे अग्ने! परमात्मन्! तू इन्द्र अर्थात् अनन्त ऐश्वर्योंसे सम्पन्न है, इसलिये तू सज्जनोंके लिये वृषभ अर्थात् उनकी समस्त कामनाओंका पूरक है। तू विष्णु है—विभु, व्यापक है, इसलिये तू उरुगाय है—बहुतोंसे गानेके द्वारा स्तुति करने योग्य है एवं नमस्कार्य है। हे ब्रह्म अर्थात् वेदके पति! तू ब्रह्मा है और रयि अर्थात् समस्त कर्मफलोंका ज्ञाता एवं दाता है। हे विधारक—सर्वाधार! तू पुरन्धि अर्थात् पवित्र एकाग्र बुद्धिद्वारा प्रत्यक्ष होता है।'

ॐ अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः॥
(ऋ० ७।३२।२२; यजु० २७।३५; साम० २३३।६८०; अथर्व० २०।१२१।१)

'हे शूर—अनन्त-बल-पराक्रमनिधे! हे इन्द्र—परमात्मन्! जिस प्रकार पयःपानके इच्छुक भूखे बछड़े अपनी माताका चिन्तन करते हुए उसे पुकारते हैं, उसी प्रकार हम स्थावर एवं जङ्गम समग्र विश्वके नियामक निरतिशय-सुखपूर्ण एवं सौन्दर्यनिधि दर्शनीय तुझ परमेश्वरकी स्तुति एवं चिन्तन करते हुए भक्तिपूर्ण हृदयसे तुझे पुकारते हैं।'

ॐ इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या
इन्द्रो अपामिन्द्र इत् पर्वतानाम्।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणा-
मिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः॥
(ऋ० १०।८९।१०)

'इन्द्र परमात्मा स्वर्गलोक तथा पृथिवी-लोकका भी नियन्ता है तथा इन्द्र भगवान् जलोंका या पाताल-लोकका तथा पर्वतोंका भी नियन्ता है। इन्द्र परमेश्वर स्थावर जगत्का तथा मेधा (बुद्धि) वाले चेतन जगत्का भी नियन्ता—शासक है। वह सर्वेश्वर इन्द्र हमारे योग एवं क्षेमके सम्पादनमें समर्थ है, इसलिये वही हमारे द्वारा आह्वान या आराधना करने योग्य है।'

भगवान्की कृपालुता

श्रीभगवान्की भक्तवत्सलताका अनेक दृष्टान्तोंके द्वारा इस प्रकार वर्णन मिलता है—

ॐ गाव इव ग्रामं यूयुधिरिवाश्वान्
वाश्रेव वत्सं सुमना दुहाना।
पतिरिव जायामभि नो न्येतु धर्ता
दिवः सविता विश्ववारः॥
(ऋ० १०।१४९।४)

'जैसे गायें ग्रामके प्रति शीघ्र ही आती हैं, जैसे शूरवीर योद्धा अपने प्रिय अश्वपर बैठनेके लिये आता है, जैसे स्नेहपूरित मनवाली बहुत दूध देनेवाली हम्मा-रव करती हुई गाय अपने प्रिय बछड़ेके प्रति शीघ्रतासे आती है एवं जैसे पति अपनी प्रियतमा सुन्दरी पत्नीसे मिलनेके लिये शीघ्र आता है, वैसे ही समस्त विश्वद्वारा वरण करने योग्य निरतिशय-शाश्वतआनन्दनिधि सविता भगवान् हम शरणागत भक्तोंके समीपमें आता है।' इस मन्त्रमें यह रहस्य बतलाया गया है कि गौकी भाँति मातृरूप परमस्नेहामृतका भंडार श्रीभगवान् ग्रामकी तरह भक्तके गृहमें या उसके हृदयमें निवास करनेके लिये, वत्सस्थानापन्न अपने स्नेह एवं कृपाके भाजन भक्तको स्तनामृत पिलानेके लिये, या योद्धा वीरकी भाँति निखिल बल-पराक्रमनिधि महाप्रभु भक्तके अन्तःकरण एवं बाह्यकरणरूप अश्वोंका नियमन करनेके लिये, या उन्हें उसके वशमें स्थापन करनेके लिये तथा पतिकी भाँति विश्वपति सर्वेश्वर प्रभु प्रियतम जायाके स्थानापन्न भक्तका परिरम्भण (आलिङ्गन) करनेके लिये, या उसके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये, या उसे सर्वप्रकारसे संतुष्ट करनेके लिये, या अपने अलौकिक साक्षात्कारद्वारा कृतार्थ—धन्य बनानेके लिये शीघ्र ही भक्तकी प्रार्थनामात्रसे आ जाता है। यह भगवान्की भक्तपर स्वाभाविकी कृपालुता है। ऐसे कृपालु भगवान्के प्रति भक्तिका उद्रेक स्वभावतः हो ही जाता है।

एकेश्वरवाद

वह सर्वेश्वर भगवान् एक ही है, वह एक ही अनेक

'अमर्त्य-अविनाशी आप भगवान्के महिमाशाली नामका हम श्रद्धाके साथ जप एवं संकीर्तन करते हैं।'

इसी प्रकार उपासनाके लिये दिव्यगुणवान् साकार विग्रहोंका भी वर्णन किया गया है। जैसे—

हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक् अपां नपात्सेदु हिरण्यवर्णः।

(ऋ० २।३५।१०)

'हिरण्य यानी सुवर्ण-जैसा हित-रमणीय जिसका रूप है, चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी जिसकी हिरण्यवत् दिव्य हैं, वर्ण यानी वर्णनीय साकार विग्रह भी जिसका हिरण्यवत् अतिरमणीय सौन्दर्यसारसर्वस्व है, ऐसा वह क्षीरोदधि-शायी भगवान् नारायण अतिशय भक्तिद्वारा प्रणाम करने योग्य है।'

अर्हन् ! बिभर्षि सायकानि,
धन्वार्हन्! निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वम्,
न वा ओजीयो रुद्र ! त्वदस्ति॥

(ऋ० २।३३।१०)

'हे अर्हन्—सर्व प्रकारकी योग्यताओंसे सम्पन्न ! विश्वमान्य ! परमपूज्य ! तू दुष्टोंके निग्रहके लिये धनुष एवं बाणोंको धारण करता है। हे अर्हन्—सौन्दर्यनिधि प्रभो ! भक्तोंको संतुष्ट करनेके लिये तू अपने साकार विग्रहमें दिव्यविविधरूपवान् रत्नोंका हार धारण करता है। हे अर्हन्—विश्ववन्द्य ! तू इस अतिविस्तृत विश्वकी अपनी अमोघ एवं अचिन्त्य शक्तिद्वारा रक्षा करता है। हे रुद्र—दुःखद्रावक देव ! तुमसे अन्य कोई भी पदार्थ अत्यन्त ओजस्वी अर्थात् अनन्तवीर्यवान् एवं अमित-पराक्रमवान् नहीं है।'

अजायमानो बहुधा विजायते।

(शु० यजु० ३१।१९)

'यह प्रजापति परमेश्वर निराकाररूपसे वस्तुतः अजायमान है और अपनी अचिन्त्य दिव्य शक्तिद्वारा भक्तोंकी भावनाके अनुसार उपासनाकी सिद्धिके लिये दिव्य साकार विग्रहोंसे बहुधा जायमान होता है।'

पूर्वोक्त मन्त्रोंमें वर्णित हिरण्यवत् रूपवाला तथा धनुष-बाण एवं हार धारण करनेवाला हस्तपादकण्ठादिमान् साकार भगवान् ही हो सकता है, निराकार ब्रह्म नहीं। क्योंकि उसमें पूर्वोक्त वर्णन कभी संगत नहीं हो सकता। अतः सिद्धान्तरूपसे यह माना गया है कि सगुण साकार ब्रह्म उपास्य होता है एवं निर्गुण-निराकार ब्रह्म ज्ञेय।

परम प्रेमास्पद एवं परमानन्दनिधि भगवान्

वेदभगवान् कहते हैं कि वह सर्वात्मा भगवान्—

प्रेष्ठमु प्रियाणां स्तुहि। (ऋ० ८।१०३।१०)

—धन-स्त्री आदि समस्त प्रिय पदार्थोंसे भी निरतिशय प्रेमका आस्पद है, इसलिये तू उसकी स्तुति कर यानी आत्मारूपसे—परमप्रिय रूपसे उसका निरन्तर अनुसंधान करता रह।

प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे। (शु० य० २३।१९)

'अन्यान्य समस्त प्रिय पदार्थोंके मध्यमें एकमात्र तू ही परमप्रिय पतिदेव है, यह मानकर हम सब भक्तजन तुझे ही पुकारते हैं एवं तेरी ही चाहना रखते हुए आराधना करते रहते हैं।'

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः
सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत।
परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं
मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये॥

(ऋ० १०।४३।१)

'हे प्रभो ! एकमात्र तू ही निरतिशय-अखण्ड-आनन्दनिधि है, यह मैं जानता हूँ; इसलिये मेरी ये सभी बुद्धिवृत्तियाँ तुझ आनन्दनिधि स्वात्मभूत भगवान्से सम्बद्ध हुई तेरी ही निश्चल अभिलाषा रखती हुई—जैसे युवती पत्नियाँ अपने प्रियतम सुन्दर पतिदेवका समालिङ्गन करती हुई आनन्दमग्न हो जाती हैं, वैसे तेरा ही ध्यान करती हुई आनन्दमग्न हो जाती हैं। या जैसे रक्षणके लिये दरिद्रजन दयालु धनवान्का अवलम्बन करके दरिद्रताके दुःखसे मुक्त हो जाते हैं, वैसे ही मेरी ये बुद्धिवृत्तियाँ भी तुझ नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव अनन्त-सुखनिधि सर्वात्मा भगवान्का ध्यान करती हुई समस्त दुःखोंसे विमुक्त हो जाती हैं।' इसलिये हे भगवन् ! तू—

यच्छा नः शर्म सप्रथः। (ऋ० १।२२।१५)

सुम्नमस्मे ते अस्तु। (ऋ० १।११४।१०)

'हमें अनन्त अखण्ड-एकरसपूर्ण सुखका प्रदान कर। हे परमात्मन् ! हमारे अंदर तेरा ही महान् सुख अभिव्यक्त हो।' ('शर्म' एवं 'सुम्न' सुखके पर्याय हैं।)

इसलिये भावुक भक्त यह मङ्गलमयी प्रतीक्षा करते हुए अपने परम प्रेमास्पद भगवान्से कहते हैं—

‘अमर्त्य-अविनाशी आप भगवान्‌के महिमाशाली नामका हम श्रद्धाके साथ जप एवं संकीर्तन करते हैं ।’

इसी प्रकार उपासनाके लिये दिव्यस्वरूप साकार विग्रहोंका भी वर्णन किया गया है । जैसे—

हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृगपां नपात्सेदु हिरण्यवर्णः ।

(ऋ० २ । ३५ । १०)

‘हिरण्य यानी सुवर्ण-जैसा हित-रमणीय जिसका रूप है, चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी जिसकी हिरण्यवत् दिव्य हैं, वर्ण यानी वर्णनीय साकार विग्रह भी जिसका हिरण्यवत् अतिरमणीय सौन्दर्यसारसर्वस्व है, ऐसा यह क्षीरोदधि-जलशायी भगवान् नारायण अतिशय भक्तिद्वारा प्रणाम करने योग्य है ।’

अर्हन् ! बिभर्षि सायकानि,
धन्वार्हन् ! निष्कं यजतं विश्वरूपम् ।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वम्,
न वा ओजीयो रुद्र ! त्वदस्ति ॥

(ऋ० २ । ३३ । १०)

‘हे अर्हन्—सर्व प्रकारकी योग्यताओंसे सम्पन्न ! विश्वमान्य ! परमपूज्य ! तू दुष्टोंके निग्रहके लिये धनुष एवं बाणोंको धारण करता है । हे अर्हन्—सौन्दर्यनिधि प्रभो ! भक्तोंको संतुष्ट करनेके लिये तू अपने साकार विग्रहमें दिव्यविविधरूपवान् रत्नोंका हार धारण करता है । हे अर्हन्—विश्वस्तुत्य ! तू इस अतिविस्तृत विश्वकी अपनी अमोघ एवं अचिन्त्य शक्ति-द्वारा रक्षा करता है । हे रुद्र—दुःखद्रावक देव ! तुझसे अन्य कोई भी पदार्थ अत्यन्त ओजस्वी अर्थात् अनन्त-वीर्यवान् एवं अमित-पराक्रमवान् नहीं है ।’

अजायमानो बहुधा विजायते ।

(शु० यजु० ३१ । १९)

‘वह प्रजापति परमेश्वर निराकाररूपसे वस्तुतः अजायमान है और अपनी अचिन्त्य दिव्य शक्तिद्वारा भक्तोंकी भावनाके अनुसार उपासनाकी सिद्धिके लिये दिव्य साकार विग्रहोंसे बहुधा आयमान होता है ।’

पूर्वोक्त मन्त्रोंमें वर्णित हिरण्यवत् रूपवाला तथा धनुष-बाण एवं हार धारण करनेवाला हस्तपादकण्ठादिमान् साकार भगवान् ही हो सकता है, निराकार ब्रह्म नहीं; क्योंकि उसमें पूर्वोक्त वर्णन कभी संगत नहीं हो सकता । अतः सिद्धान्त-रूपसे यह माना गया है कि सगुण साकार ब्रह्म उपास्य होता है एवं निर्गुण-निराकार ब्रह्म ज्ञेय ।

परम प्रेमास्पद एवं परमानन्दनिधि भगवान्

वेदभगवान् कहते हैं कि यह सर्वात्मा भगवान्—

प्रेष्ठमु प्रियाणां स्तुहि । (ऋ० ८ । १०३ । १०)

—धन-स्त्री आदि समस्त प्रिय पदार्थोंसे भी निरतिशय प्रेमका आस्पद है, इसलिये तू उसकी स्तुति कर यानी आत्मा-रूपसे—परमप्रिय रूपसे उसका निरन्तर अनुसंधान करता रह ।

प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे । (शु० य० २३ । १९)

‘अन्यान्य समस्त प्रिय पदार्थोंके मध्यमें एकमात्र तू ही परमप्रिय पतिदेव है, यह मानकर हम सब भक्तजन तुझे ही पुकारते हैं एवं तेरी ही चाहना रखते हुए आराधना करते रहते हैं ।’

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः
सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत ।
परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं
मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ॥

(ऋ० १० । ४३ । १)

‘हे प्रभो ! एकमात्र तू ही निरतिशय-अखण्ड-आनन्द-निधि है, यह मैं जानता हूँ; इसलिये मेरी ये सभी बुद्धि-वृत्तियाँ तुझ आनन्दनिधि स्वात्मभूत भगवान्‌से सम्बद्ध हुई तेरी ही निश्चल अभिलाषा रखती हुई—जैसे युवती पत्नियाँ अपने प्रियतम सुन्दर पतिदेवका समालिङ्गन करती हुई आनन्दमग्न हो जाती हैं, वैसे तेरा ही ध्यान करती हुई आनन्दमग्न हो जाती हैं । या जैसे रक्षणके लिये दरिद्रजन दयालु धनवान्‌का अवलम्बन करके दरिद्रताके दुःखसे मुक्त हो जाते हैं, वैसे ही मेरी ये बुद्धिवृत्तियाँ भी तुझ नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव अनन्त-सुखनिधि सर्वात्मा भगवान्‌का ध्यान करती हुई समस्त दुःखोंसे विमुक्त हो जाती हैं ।’ इसलिये हे भगवन् ! तू—

अथा नः शर्म सप्रथः । (ऋ० १ । २२ । १५)

सुम्नमस्मे ते अस्तु । (ऋ० १ । ११४ । १०)

‘हमें अनन्त सत्यमेकरसपूर्ण सुखका प्रदान कर । हे परमात्मन् ! हमारे अंदर तेरा ही महान् सुख अभिव्यक्त हो ।’ (‘शर्म’ एवं ‘सुम्न’ सुखके पर्याय हैं ।)

इसलिये भावुक भक्त यह मङ्गलमयी प्रतीक्षा करते हुए अपने परम प्रेमास्पद भगवान्‌से कहते हैं—

परोक्षत्वकी निवृत्ति होती है और ईश्वरात्माके साथ जीवात्मा-का अभेदभाव हो जानेपर जीवात्मामें संसारित्वकी एवं अद्वितीयत्वकी निवृत्ति होती है।

उस प्रियतम आत्मस्वरूप इष्टदेवसे भिन्न बाहर एवं भीतर अन्य कोई भी पदार्थ द्रष्टव्य एवं चिन्तनीय न रहे, यही भक्तिमें अनन्यत्व है। आँखें सर्वत्र उसे ही देखती रहें, परमप्रेमास्पद परमानन्दस्वरूप सर्वात्मा भगवान् ही सदा आँखोंके सामने रहें। ये आँखें ही न रहें, जो तदन्यको देखना चाहें; वह हृदय ही टूक-टूक हो जाय, जिसमें तदन्यका भाव हो, चिन्तन हो। अनन्य प्रेमसे परिपूर्ण हृदय वह है, जो भीतरसे आप-ही-आप बोल उठता है—'हे आराध्यदेव! मुझे केवल तेरी ही अपेक्षा है, अन्य की नहीं। ज्ञानदृष्टिसे देखनेपर तुझसे अन्य कुछ भी तो नहीं है। अतः—

विश्वस्मादुपह्वये, अस्माकमस्तु केवलः।

(ऋ० १।१४।१०)

'मैं सर्वत्र विश्वरूप तुझ सर्वात्माका ही अनन्यभावसे अनुसंधान करता रहता हूँ, हमारे लिये तू ही एकमात्र द्रष्टव्य बना रहे।' तू ही एकमात्र सत्यं शिवं सुन्दरम् है, अन्य नहीं; इसलिये मैं तुझे ही चाहता एवं रटता हुआ तुझमें ही लीन होना चाहता हूँ। मुझमें तेरी तन्मयता इतनी अधिक बढ़ जाय कि मैं तू हो जाऊँ और तू मैं बन जाय। तुझसे मैं अन्य न रहूँ एवं तू मुझसे अन्य न रहे। तुझमें एवं मुझमें अभेदभावकी प्रतिष्ठा हो जाय। मेरा यह तुच्छ 'मैं' उस महान् 'तू'में 'जलमें बरफकी भाँति' गल-मिल जाय। यही अनन्य पराभक्तिका स्वरूप है। अन्तमें एकमात्र वही रह जानेसे यह एकान्त भक्ति भी कहलाती है।

अतएव उस प्रियतम परमात्माके साथ अभेदभावके बोधक इस प्रकारके अनेक वेदमन्त्र उपलब्ध हैं। जैसे—

अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनम्, न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन।

(ऋ० १०।४८।५)

'मैं स्वयं इन्द्र-परमात्मा हूँ, अतः मैं किसीसे भी पराजित नहीं हो सकता। परमानन्दनिधिरूप मेरे धनको कोई भी अभिभूत नहीं कर सकता। अतः मैं कभी भी मृत्युके समक्ष अवस्थित नहीं रह सकता; क्योंकि मैं स्वयं अमृत—अमरस्वरूप इन्द्र हूँ।'

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।

(ऋ० ३।२६।७)

'मैं स्वभावसे ही अनन्तज्ञाननिधि अग्नि-परमात्मा हूँ, मेरा चैतन्यप्रकाश सर्वत्र विभासित है, मेरे मुखमें सदा कल्याण-मय अमृत अवस्थित है।'

इस प्रकार ज्ञान अद्वैतरूप है तो भक्ति अनन्यरूपा है। दोनोंका लक्ष्य एक ही है। अतएव सिद्धान्तमें दोनोंका तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है। अतः ज्ञानके बिना भक्तिकी सिद्धि नहीं और भक्तिके बिना ज्ञानकी निष्ठा नहीं। भक्ति तथा ज्ञान एक ही कल्याण प्रेमी साधकमें मिश्री और दूधकी भाँति घुले-मिले हैं।

भक्तिके साधन

वेदोंकी संहिताओंमें सत्सङ्ग, श्रद्धा, अद्रोह, दान, ब्रह्मचर्य, कामादि-दोष निवारण आदि अनेक भक्तिके साधनोंका वर्णन मिलता है। उन्हें यहाँ क्रमशः संक्षेपमें प्रदर्शित किया जाता है—

(१) सत्सङ्ग

पुनर्ददताघ्नता जानता संगमेमहि।

(ऋ० ५।५१।१५)

'दानशील—उदार स्वभाववाले, विश्वासघातादि-दोषरहित, विवेक-विचारशील ज्ञानी भक्तकी हम बार-बार संगति करते रहें।' इस मन्त्रमें भक्तिके हेतुभूत सत्सङ्गका स्पष्ट वर्णन है।

(२) श्रद्धा

श्रद्धया सत्यमाप्यते।

(शु० यजु० १९।३०)

श्रद्धे श्रद्धापयेह नः।

(ऋ० १०।१५१।५)

'श्रद्धा-विश्वासद्वारा सत्य-परमात्माकी प्राप्ति होती है।' 'हे श्रद्धादेवी! हमारे हृदयमें रहकर तू हमें श्रद्धालु—आस्तिक बना।'

(३) अद्रोह

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

(शु० यजु० ३६।१८)

'मित्रभावकी (हितकर, मधुर) दृष्टिसे मैं समस्त भूत-प्राणियोंको देखता हूँ, अर्थात् मैं किसीसे कभी भी द्वेष एवं द्रोह नहीं करूँगा।' किंतु शक्तिके अनुसार सबकी भलाई ही करता रहूँगा। भला चाहूँगा, भला करूँगा एवं भला ही

करूँगा । (इन मन्त्रमें सर्वभूतहितैषिताका स्पष्ट उपदेश दिया गया है ।)

(४) दान—उदारता

शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त सं किर ।

(अथर्व० ३ । २४ । ५)

'सौ हाथके उत्साह एवं प्रयत्नद्वारा तू हे मानव ! धन-धान्यादिको सम्पादन कर और हजार हाथकी उदारताद्वारा तू उसका दान कर—योग्य अधिकारियोंमें वितरण कर ।'

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् ।

(ऋ० १० । ११७ । ५)

'धनवान् सत्कार्यके लिये याचना करनेवाले सत्पात्रको धनादिका अवश्य दान करे ।'

केवलाघो भवति केवलादी ।

(ऋ० १० । ११७ । ६)

'अतिथि, बन्धुवर्ग, दरिद्र आदिको न देकर केवल आप अकेला ही जो अन्नादि खाता है, वह अन्न नहीं, किंतु पाप ही खाता है ।' इसलिये शक्तिके अनुसार अन्योंको कुछ देकर ही पुण्यमय अन्न खाना चाहिये ।

(५) ब्रह्मचर्य—संयम

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।

(अथर्व० ११ । ७ । १९)

'ब्रह्मचर्य ही श्रेष्ठ तप है, उसके आश्रयद्वारा ही मानव दैवीसम्पत्तिसम्पन्न देव हो जाते हैं और वे अनायास ब्रह्मविद्या एवं अनन्य भक्तिका सम्पादन करके अविद्यारूप मृत्युका विध्वंस कर देते हैं ।'

माध्वीर्गावो भवन्तु नः ।

(ऋ० १ । ९० । ८; शु० य० १३ । २९)

हे प्रभो ! मेरी इन्द्रियाँ मधुर अर्थात् संयम-सदाचारद्वारा प्रशमतायुक्त बनी रहें—इनमें असंयमरूपी कटुता—विषैपन न रहे, ऐसी कृपा करें ।

(६) मोहादि षड् दोष-निवारणका उपदेश

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ! ॥

(ऋ० ७ । १०४ । २२; अथर्व० ८ । ४ । २२)

'हे इन्द्रस्वरूप जीवात्मन् ! दिवान्ध उल्लूके समान आचरण करनेवाले मोहरूपी राक्षसका, शुशुलूक (भेड़िये) के समान आचरण करनेवाले क्रोधरूपी राक्षसका, श्वा (कुत्ता) के समान आचरण करनेवाले मत्सररूपी राक्षसका तथा कोक (चकवा चकवी) की समान आचरण करनेवाले कामरूपी राक्षसका, सुपर्ण (गरुड़) के समान आचरण करनेवाले मदरूपी राक्षसका एवं गृध्र (गीध) के समान आचरण करनेवाले लोभरूपी राक्षसका सदुपायोंके द्वारा विध्वंस कर और जैसे पत्थरसे मिट्टीके ढेलेको पीस दिया जाता है, वैसे ही उन छः मोहादि दोषरूपी राक्षस शत्रुओंको पीस डाल ।'

इस प्रकार वेदोंकी परम प्रामाणिक संहिताओंमें भगवद्भक्तिके अनेक साधनोंका स्पष्ट वर्णन मिलता है। इन साधनोंमें सत्सङ्ग नन्दनवन है, संयम कल्पवृक्ष है और श्रद्धा कामधेनु है । जब साधक इस दिव्य नन्दनवनके कल्पवृक्षकी शीतल मधुमयी छायामें बैठकर कामधेनुका अनुग्रह प्राप्त करता है, तब उसी समय आनन्दमयी, अमृतमयी, शान्तिमयी भक्तिमाताका प्राकट्य हो जाता है और साधकका जीवन कल्याणमय, धन्य एवं कृतार्थ हो जाता है ।

उपसंहार

अन्तमें वैदिक स्तुति प्रार्थना-नमस्कारादि—जो भक्तिके खास अङ्ग हैं—मन्त्रोंद्वारा प्रदर्शन करके अपने लेखका उपसंहार करता हूँ—

ॐ यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

(अथर्व० १० । ८ । १)

ॐ नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा ।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः ॥

(अथर्व० ११ । २ । १६)

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ।
यद्भद्रं तन्न आ सुव ॥

(ऋ० ५ । ८२ । ५; शु० य० ३० । ३)

'जो भूत, भविष्यत् एवं वर्तमानकालिक समस्त जगत्‌का अधिष्ठाता—नियन्ता है एवं केवल स्वः (विशुद्ध अनन्त आनन्द) ही जिसका स्वरूप है, उस ज्येष्ठ (अतिप्रशस्त—महान्) ब्रह्मको नमस्कार है । उसे सायंकाल नमस्कार हो, प्रातःकाल नमस्कार हो । रात्रिमें नमस्कार हो एवं दिनमें नमस्कार हो। अर्थात् सर्वदा उसीको और हमारी भक्ति-भावसे भरी शुभवृत्तियाँ उसकी पूजा करें उस विश्वउत्पादक एवं

विश्व-उपसंहारक भगवान्‌को मैं दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ। हे सविता देव! भगवन्! हमारे समस्त दुःख-प्रद कल्मषोंको तू दूर कर और जो कल्याणकर सुखप्रद भद्र है, उसे हमें समर्पण कर। (यहाँ नास्तिकता, अश्रद्धा, अविवेक, दारिद्र्य, कार्पण्य, असंयम, दुराचार आदि अनेक दोषोंका नाम दुरित है और तद्विपरीत आस्तिकता, श्रद्धा, विवेक, उदारता, नम्रता, संयम, सदाचार आदि सद्गुणोंका नाम भद्र है। हरिः ॐ तत्सत्, शिवं भूयात् सर्वेषाम्* ।)

वेदोंमें भक्ति

(लेखक—याज्ञिक-सम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़ वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

'भज सेवायाम्' धातुसे 'स्त्रियां क्तिन्' (पा० सू० ३।३।९४) इस सूत्रके अनुसार 'क्तिन्' प्रत्यय लगानेपर 'भक्ति' शब्द बनता है। वस्तुतः 'क्तिन्' प्रत्यय भाव-अर्थमें होता है—'भजनं भक्तिः।' परंतु वैयाकरणोंके यहाँ कृदन्तीय प्रत्ययों-के अर्थ-परिवर्तन एक प्रक्रियाके अङ्ग हैं। अतः यही 'क्तिन्' प्रत्यय अर्थान्तरमें भी हो सकता है।

'भजनं भक्तिः', 'भज्यते अनया इति भक्तिः', 'भजन्ति अनया इति भक्तिः'—इत्यादि 'भक्ति' शब्दकी व्युत्पत्तियाँ की जा सकती हैं।

'भक्ति' शब्दका वास्तविक अर्थ 'सेवा' है। वह सेवा अनेक प्रकारसे सम्पन्न होती है। जिसमें किसी भी प्रकारकी भक्ति है, उसे 'भक्त' कहते हैं। भक्ति तथा भक्तके अनेक भेदोपभेद शास्त्रोंमें कहे गये हैं।

भक्तिके बिना किसी भी मनोरथकी प्राप्ति नहीं हो सकती, यह सर्वानुभवसिद्ध है। भगवत्प्राप्ति-जैसा परम कल्याणकारक विषय भी भक्तिके बिना सम्भव नहीं। विशेषता यह है कि भगवान् भी अपने भक्तका भजन करते हैं और भक्त भगवान्‌का।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४।११)

—के अनुसार भगवान् भी भक्तका भजन करते हैं।

न मे भक्तः प्रणश्यति। (गीता ९।३१)

—इस वचनके अनुसार भगवान् स्वयं अपने भक्तका उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेते हैं।

भगवति मनःस्थिरीकरणं भक्तिः।

अर्थात् भगवान्‌में चित्तकी स्थिरताको भक्ति कहते हैं।

अद्वैतसिद्धिकार परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वतीने भक्तिका लक्षण इस प्रकार किया है—

द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारतारूपा सविकल्प-वृत्तिर्भक्तिः।

"भगवद्भावसे द्रवित होकर भगवान्‌के साथ चित्तके सविकल्प तदाकारभावको 'भक्ति' कहते हैं।"

भक्तिरसायन (१।३) में श्रीमधुसूदन सरस्वतीने 'भक्ति'का लक्षण यों किया है—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥

तात्पर्य यह है कि भगवद्गुणके श्रवणसे प्रवाहित होनेवाली भगवद्विषयिणी धारावाहिक वृत्तिको ही भक्ति कहते हैं।

देवर्षि नारदने भक्तिका लक्षण इस प्रकार किया है—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च।

(नारदभक्तिसूत्र २)

'परमेश्वरके प्रति होनेवाले परम प्रेमको ही भक्ति कहते हैं।'

महर्षि शाण्डिल्यने भक्तिका लक्षण इस प्रकार किया है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे। (शाण्डिल्यभक्तिसूत्र १।१।२)

'ईश्वरके प्रति परमानुरागको ही भक्ति कहते हैं।'

साधारणतया वेदके कर्म, उपासना और ज्ञान—ये तीन

* इस लेखके लेखक पूज्य महामण्डलेश्वर महाराजद्वारा संस्कृतमें लिखित तथा 'अध्यात्मज्योत्स्नाविवृति' समलंकृत 'ऋग्वेद-संहितोपनिषच्छतकम्', 'यजुर्वेदसंहितोपनिषच्छतकम्' तथा 'अथर्ववेदसंहितोपनिषच्छतकम्'—ये तीन पुस्तकें संस्कृतज्ञ एवं वेद-संहिताओंके आध्यात्मिक ज्ञानरहस्यके जिज्ञासुओंको केवल डाकव्यय भेजनेपर बिना मूल्य दी जाती हैं। पता—स्वामी वेदव्यासानन्दजी योगमूर्ति महाराज, डि० गुरुगीरिका वेंगला, मु० कनखल (हरिद्वार), जि० सहारनपुर, उ० प्र०।

काण्ड माने जाते हैं। इनमें कर्मकाण्डका सम्बन्ध संहिता-ब्राह्मणभागसे और उपासना तथा ज्ञानकाण्डका सम्बन्ध आरण्यक-उपनिषद्भागसे है। फिर भी—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति (कठोपनिषद् १।२।१५)

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। (गीता १५।१५)

—आदि वचनोंके आधारपर यह निश्चित होता है कि समस्त वेदोंका परम तात्पर्य परमेश्वरके ही प्रतिपादनमें है। इन्द्र, वरुण, अग्नि, यम, सोम आदि विभिन्न नाम-रूपोंसे एक ही परमेश्वर समस्त विश्वकी सृष्टि, स्थिति तथा प्रलयका कार्य कर रहे हैं; क्योंकि—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव……………।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ॥
(ऋग्वेद ६।४७।१८)

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो
दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं
यमं मातरिश्वानमाहुः ॥
(ऋग्वेद १।१६४।४६)

—इत्यादि मन्त्रोंसे यह स्पष्ट ज्ञात हो रहा है कि एक ही परमेश्वर इन्द्रादि विविध नामोंसे कहा गया है। इससे तात्पर्य यह निकला कि वेदोंमें इन्द्रादि विविध नामोंसे जो भी स्तुति आदि की गयी है, वह वस्तुतः परमेश्वरकी ही है।

'भक्ति' शब्दका अर्थ परमेश्वर-विषयक अनुराग है। उस अनुरागको* भक्त श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन आदि विविध शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओंसे चरितार्थ करता है। इसीलिये भक्तिके अवान्तर अनेक भेदोंका वर्णन समय-समयपर महापुरुषोंने किया है।

वेदोंमें भी अनेक स्थलोंमें 'नवधा-भक्ति'का निरूपण है।

अब हम कतिपय उन वेदमन्त्रोंको उद्धृत करते हैं, जिनमें नवधा-भक्तिका वर्णन मिलता है; किंतु यह ध्यान रहे कि वेदोंमें भक्तिका स्वरूप बीजरूपमें ही मिलता है। इतिहास-पुराणादिमें इसीका महर्षियोंने उपबृंहण किया है।

* श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
(श्रीमद्भागवत ७।५)

१—श्रवण

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः। (शु० यजुर्वेद २५।२१)

यह मन्त्र वेदत्रयीमें मिलता है। इसमें देवताओंसे प्रार्थना की गयी है कि 'हम भद्रपदवाच्य परमेश्वरके नाम-गुण, चरित्रोंका श्रवण करें।' 'भद्र' शब्दका अर्थ कल्याण मङ्गल आदि है। 'कल्याणानां निधानम्', 'मङ्गलानां च मङ्गलम्' आदि वचनोंसे परमेश्वर ही परम मङ्गलस्वरूप हैं। भक्त उन्हीं मङ्गलमय परमेश्वरके (नाम-गुण-कथा-) श्रवणकी प्रार्थना करके अपनी 'श्रवण-भक्ति' व्यक्त करता है। उपर्युक्त 'भद्रं कर्णेभिः' इस मन्त्रके अन्तमें भक्त यहाँतक प्रार्थना करता है कि मैं दृढ़ अवयवयुक्त शरीरसे उसी प्रभुका स्तवन करता हुआ उस देव (परमेश्वर) के हितार्थ—प्रसन्नतार्थ—अपनी समस्त आयु व्यतीत करूँ'—

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः।

२—कीर्तन

सुष्टुतिमीरयामि। (ऋग्वेद २।३३।८)

प्र सम्राजम्। (ऋग्वेद ८।१६।१; सामवेद पूर्वा० २।२।५।१०; अथर्ववेद २०।४४।१)

'इमा उ त्वा' (सामवेद पूर्वार्चिक ३।०।२।१०)

—इन मन्त्रोंमें कीर्तनरूप भक्तिका वर्णन है।

३—स्मरण

मनामहे त्वा स्वाध्यः। (ऋग्वेद १।२३।९)

भर्गो देवस्य धीमहि। (ऋग्वेद ३।६२।१०; शुक्ल-यजुर्वेद ३।३५)

हृत्पुण्डरीकमध्ये तु (सामवेदीय मैत्रेय्युपनिषद् १।८।८)

—इन मन्त्रोंमें परमेश्वरकी स्मरणात्मक भक्ति तथा भजनीय तत्त्वके स्वरूपका वर्णन है।

४—पादसेवन

पदं देवस्य। (ऋग्वेद ८।१०२।१५; सामवेद उत्त० ७।२।१४।१)

इदं विष्णुः। (ऋग्वेद १।२२।१७; शुक्लयजुर्वेद ५।१५; सामवेद पूर्वा० ३।१।३।९)

—इन मन्त्रोंमें पादसेवनात्मिका भक्तिका संकेत मिलता है।

५—अर्चन

इन्द्राय मद्वने। (ऋग्वेद ८। ९२। १९; सामवेद पूर्वा० २। २। २। ४)

अर्चत प्रार्चत। (सामवेद पूर्वा० ४। २। २। १)

—इन मन्त्रोंमें अर्चन-भक्तिका उल्लेख मिलता है।

६—वन्दन

अभि त्वा पूर्व पीतये। (ऋग्वेद ७। १२। १९; शुक्लयजुर्वेद १७। १५; सामवेद पूर्वा० ३। २। ५। २; अथर्ववेद २०। १२१। १)

नमसा वन्दते। (सामवेद पूर्वा० २। १। ५। १)

—इन मन्त्रोंमें वन्दनात्मक भक्ति दिखलायी गयी है।

७—दास्य

यदद्य कच्च। (ऋग्वेद ८। ९३। ४; शुक्लयजुर्वेद ३३। ३५; सामवेद पूर्वा० २। ? । ४। २; अथर्ववेद २०। ११२। १)

मा मा मे। (शुक्लयजुर्वेद ७। ११; सामवेद पूर्वा० २। २। ४। ५)

—इन मन्त्रोंमें दास्य-भक्ति प्रदर्शित की गयी है।

८—सख्य

स नः पितेव सूनवे। (ऋग्वेद १। १। ९)

वयमु त्वामपूर्व्य। (ऋग्वेद ४। १७। १)

देवानां सख्यमुप सेदिमा वयम्। (ऋग्वेद १। ८९। २; शुक्लयजुर्वेद २५। १५)

न त्वाप मन्त्र परावतः। (साम० पूर्वा० २। २। ४। २)

इन मन्त्रोंमें सख्य-भक्तिका बोधन कराया गया है।

९—आत्मनिवेदन

उत वात पितासि नः। (ऋग्वेद १०। १८६। २; सामवेद उत्त० ९। २। ११। २)

यं रक्षन्ति। (सामवेद पूर्वा० २। २। १०। १)

मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये। (श्वेता० उ० ६। १८)

—इन मन्त्रोंमें आत्मनिवेदनका भाव अभिव्यक्त होता है।

छान्दोग्योपनिषद्में सूर्य, चन्द्रमा तथा विद्युत्में परम पुरुष परमेश्वरकी उपासनाके प्रकरणमें बतलाया गया है कि जो व्यक्ति यह जानता हुआ कि सूर्य आदिमें विद्यमान जो परमेश्वर है, वह मैं ही हूँ, इस प्रकार अभेद-भावनासे उन्हीं परमेश्वरकी उपासना करता है, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं, वह इहलोकमें सम्मानित होता है तथा दीर्घायुको प्राप्त करता है और उसके वंशका कभी क्षय नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि परमेश्वरकी भक्ति (उपासना) ही मनुष्यके कल्याणका एकमात्र मार्ग है। अतः मनुष्यके लिये सर्वात्मना भक्तिका अवलम्बन करना परमावश्यक है; क्योंकि भक्तिका अन्तिम फल भगवत्स्वरूप-ज्ञान है। भगवत्स्वरूप (ब्रह्म) के ज्ञानसे ही प्राणी मुक्त होता है अर्थात् वह बारंबार जन्म-मृत्युरूप महाभयंकर बन्धनसे सदाके लिये छुटकारा पा जाता है, जिससे मुक्त होनेका अन्य कोई भी उपाय नहीं है—

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।
(शुक्लयजुर्वेद ३१। १८)

य इत् तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः। (ऋग्वेद १। १६४। ३९; अथर्ववेद ९। १०। १)

'जो उस मधु (ब्रह्म) को जान लेते हैं, वे मोक्ष-पदको प्राप्त करते हैं।'

वेदोंमें माधुर्य-भक्तिका भी स्पष्ट निर्देश है। वेदने ब्रह्मको 'रस' कहा है—'रसो वै सः' (तैत्तिरीयोपनिषद् २। ७)। भक्तोंके लिये साक्षात् ब्रह्म 'मधु ब्रह्म' बन जाता है—

'मधु क्षरति तद् ब्रह्म।'

सर्वविध रसोंके उत्कृष्ट प्रस्रवणके रूपमें भी उसका वर्णन आता है—'सर्वगन्धः सर्वरसः' (छान्दो० उ० ३। १४। २)।

अन्तमें हम अथर्ववेद (६। ७९। ३) के—

'तस्य ते भक्तिवांसः स्याम।'

(हे प्रभो! हम तेरे भक्त बनें) इस मन्त्रांशका स्मरण करते हुए लेख समाप्त करते हैं।

लेख-विस्तारके भयसे इस लेखमें नवधा-भक्तिविषयक चारों वेदोंके मन्त्र पूर्ण न लिखकर केवल मन्त्रोंका प्रतीक मात्र दिया गया है और उनका अर्थ भी नहीं दिया गया है। अतः विशेष जिज्ञासुओंको ऋग्वेदादिके पूरे मन्त्रोंके परिज्ञानार्थ निर्दिष्ट मन्त्र-संकेतानुसार मन्त्र और ऋग्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेदके मन्त्रोंका अर्थ जाननेके लिये 'सायण-भाष्य' और शुक्लयजुर्वेदके मन्त्रोंका अर्थ जाननेके लिये 'महीधर-भाष्य' देखना चाहिये।

हो सकता है। अतएव भारतीय दर्शनोंमें भी 'उपासना' का एक प्रमुख स्थान है। श्रीशंकराचार्यने भी ब्रह्मसूत्रभाष्यमें तथा अन्यत्र भी उपासनाको ज्ञानकी प्राप्तिके लिये बहुत ऊँचा स्थान दिया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है—'महर्षे हि फलमय ब्रह्मोपासनमिष्यते।' (शांकरभाष्य १।१।१४) योगदर्शनमें भी 'समय' अर्थात् चित्तकी एकाग्रतारूप समाधिकी 'प्रज्ञा' के उदयके लिये आवश्यकता मानी गयी है। 'ध्यान' पारमिताके अनन्तर ही 'प्रज्ञा' का उदय तथा उसीसे परम तत्त्वकी अनुभूति होती है। 'समय' तथा 'ध्यान' में तो 'प्रपत्ति' रूप भक्ति ही प्रधान है। इसी प्रकार अन्य सभी दर्शनोंमें भक्तिका बहुत बड़ा महत्त्व है।

वस्तुतः परम तत्त्वको जाननेके लिये जिज्ञासुको आत्म समर्पण करना पड़ता है। आत्मसमर्पणके बिना ज्ञानका उदय नहीं हो सकता। जबतक अन्तःकरणसे 'अभिमान' का नाश नहीं होगा, तबतक ज्ञानका उदय किसी प्रकार न होगा और अभिमानका नाश केवल आत्मसमर्पण अर्थात् प्रपत्तिरूप भक्तिसे ही होता है। दर्शनोंका परम लक्ष्य तो ब्रह्म साक्षात्कार ही है। इसकी प्राप्तिके लिये अभिमानका नाश होना परमावश्यक है। यही बात—'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' इस कथनसे स्पष्ट होती है। तभी तो भगवान्ने उसी समय एवं उसी अवस्थामें अर्जुनको तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया और अर्जुनका मोह दूर हो गया। यही तो अहंकारकी पराजय तथा पराभक्तिकी महिमा है। इसके बिना दर्शनोंके क्षेत्रमें परमतत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

यही बात गीतामें भिन्न शब्दोंके द्वारा भी कही गयी है—

'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्।'

'श्रद्धा' भी तो 'भक्ति' का ही एक स्वरूप है।

उपनिषद्में भक्ति

(लेखक—श्रीसत्यकुमार चट्टोपाध्याय, एम्० ए०)

बहुतोंकी यह धारणा है कि उपनिषद्में केवल ज्ञानकी चर्चा है, भक्ति या कर्मकी चर्चा नहीं है, परंतु यह यथार्थ नहीं है। उपनिषद्में ज्ञान, भक्ति और कर्म—सबकी चर्चा है। यह तो सभी जानते हैं कि गीतामें ज्ञान, भक्ति और कर्म—तीनोंकी चर्चा है और यह भी सब लोग जानते हैं कि गीता उपनिषदोंका सार है। उपनिषद् गौके समान है और गीता दुग्धके समान। अतएव यदि उपनिषद्में ज्ञान, भक्ति और कर्मकी चर्चा न हो तो गीतामें किस प्रकार ज्ञान, भक्ति और कर्मकी चर्चा हो सकती है। इस प्रसङ्गमें हम यह विचार करेंगे कि उपनिषद्में भक्तिकी चर्चा किस रूपमें है।

उपनिषद्में कहा गया है कि ब्रह्मकी उपासना करना उचित है तथा ब्रह्मकी कृपा होनेपर उसको प्राप्त कर सकते हैं। 'केन' उपनिषद्में कहा है—

तद्वनमित्युपासितव्यम्॥ (४।६)

तद् (ब्रह्म) वनम् (भजनीयम्) इति उपासितव्यम्। 'भजनीय वस्तु होनेके कारण ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये।'

कठोपनिषद् कहता है—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥
(२।२।३)

'ब्रह्म प्राणवायुको ऊर्ध्व दिशामें प्रेरित करता है, अपान वायुको निम्न दिशामें प्रेरित करता है। वह स्वयं भजनीयरूपसे हृदयके भीतर अवस्थान करता है, उसकी सारे देवता उपासना करते हैं।'

यदि देवतागण ब्रह्मकी उपासना करते हैं तो मनुष्योंको उसकी उपासना करनी चाहिये, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

मुण्डकोपनिषद् कहता है—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं संधयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥
(२।२।३)

'उपनिषदुक्त धनुष ग्रहण करके उसपर शरको योजित करे। पहलेसे ही उपासनाके द्वारा उस शरको तेज धारवाला बना ले। ब्रह्ममें तन्मयतायुक्त अन्तःकरणके द्वारा उस धनुष को आकर्षित करे और उसका लक्ष्य अक्षर ब्रह्मको ही जाने।'

यह धनुष क्या है? यह बात अगले श्लोकमें कही गयी है। प्रणव (ॐकार) ही यह धनुष है, आत्मा (जीवात्मा) शर है तथा ब्रह्म उसका लक्ष्य है।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥
(मुण्डक० २।२।४)

'प्रणव (ॐकार) धनुष है, आत्मा शर है और ब्रह्म उसका लक्ष्य है। यत्नपूर्वक लक्ष्य-भेद करे। शरके समान तन्मय हो जाय।'

कठोपनिषद्में निम्नांकित श्लोक पाया जाता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥
(१।२।२३)

इसका सरल अर्थ इस प्रकार है—

'यह आत्मा उत्कृष्ट शास्त्रीय व्याख्यानके द्वारा उपलब्ध नहीं किया जाता, मेधाके द्वारा नहीं प्राप्त होता, बहुत पाण्डित्यके द्वारा (भी) नहीं प्राप्त होता। यह जिसको वरण करता है, उसीको प्राप्त होता है। उसके सामने यह आत्मा अपने स्वरूपको व्यक्त करता है।'

यह भक्तिकी चर्चा है। ब्रह्मको प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मकी कृपा अर्जन करनी पड़ती है। जो मनुष्य ब्रह्मकी उपासना करता है, उसीपर ब्रह्मकी कृपा होती है। बहुत विद्या-बुद्धि होनेसे ही ब्रह्मकी कृपा होगी, ऐसी बात नहीं है। इसके लिये भक्तिका होना आवश्यक है।

श्रीरामानुज-मतके अनुयायी श्रीरङ्ग रामानुजने उपर्युक्त मन्त्रकी इस प्रकारसे व्याख्या की है। परंतु श्रीशंकराचार्य इस प्रकारकी व्याख्या नहीं करते। ऐसी व्याख्या करनेमें उनको दो आपत्तियाँ हो सकती हैं। पहले तो उनके मतसे ज्ञानके द्वारा मोक्ष होता है, मोक्षकी प्राप्ति ब्रह्मकी कृपाकी अपेक्षा नहीं करती। दूसरी बात यह है कि उनके मतसे ब्रह्म और जीवात्मा अभिन्न हैं। इसलिये वे यह नहीं कहते कि जीवात्मा ब्रह्मको प्राप्त करेगा। अतएव उन्होंने दूसरे प्रकारसे व्याख्या की है। वे कहते हैं—

यमेव स्वात्मानमेव साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैवात्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायत एवमित्येतत्। निष्कामस्यात्मानमेव प्रार्थयत । आत्मनैवात्मा लभ्यत इत्यर्थः ॥

इसका अर्थ यह है कि 'यह साधक जो अपने आत्माको वरण करता है, वही वरणकारी है। उस वरणकारी आत्माके द्वारा स्वयं आत्मा ज्ञात होता है। जो निष्काम है, वह केवल आत्माकी ही प्रार्थना करता है। आत्मा ही आत्माको जानता है।' यह व्याख्या अस्पष्ट तथा क्लिष्ट कल्पना-सी जान पड़ती है। मूलमें है कि आत्मा जिसको वरण करता है, वही उसे प्राप्त करता है। परंतु इस व्याख्यामें कहा गया है कि जो आत्मा वरण करता है, वह प्राप्त करता है। यह श्लोक मुण्डक उपनिषद् (३।२।३) में भी है। वहाँ शंकरने कुछ भिन्न प्रकारसे व्याख्या की है। जैसे—

यमेव परमात्मानमेवैष विद्वान् वृणुते प्राप्तुमिच्छति तेन वरणेनैष परमात्मा लभ्यो नान्येन साधनान्तरेण नित्यलब्धस्वभावत्वात् ॥

इसका अर्थ यह है कि 'यह विद्वान् जिस परमात्माको वरण करता है, उसी वरणद्वारा उस परमात्माकी प्राप्ति होती है, किसी दूसरे साधनका प्रयोजन नहीं रहता; क्योंकि वह नित्य निज स्वभावको प्राप्त हुआ रहता है।'

जान पड़ता है कि मुण्डकोपनिषद्के इस श्लोककी व्याख्या करते समय आचार्य शंकरने यह व्यक्त कर दिया है कि पहले कठोपनिषद्में इसकी जैसी व्याख्या हुई है, वह ठीक नहीं हुई है। इसी कारण यहाँ और ही ढंगसे व्याख्या की गयी है। परंतु इस व्याख्यामें भी 'यम्' तथा 'तेन' इन दो शब्दोंके बीच संगतिकी रक्षा नहीं हुई है। रामानुज-मतके अनुसार जो व्याख्या की गयी है, वह खूब सरल और संतोषजनक है—इसमें संदेह नहीं।

कठोपनिषद्में एक और श्लोकमें भक्तिकी चर्चा है—

अणोरणीयान् महतो महीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥
(१।२।२०)

'आत्मा अणुसे भी अणु है, महान्से भी महान् है। यह प्राणीकी हृदय-गुहामें अवस्थान करता है। निष्काम साधक ईश्वरकी कृपासे उसका दर्शन करता है। उसका दर्शन करनेपर साधकमें सर्वज्ञता आदि महिमाका आविर्भाव होता है तथा वह शोकसे उत्तीर्ण हो जाता है।'

यह व्याख्या रामानुजके मतके अनुसार की गयी है। परंतु आचार्य शंकरने इस श्लोकमें 'धातुः प्रसादात्'के स्थानमें

'धातुप्रसादात्' पाठ ग्रहण करके इसकी व्याख्या की है। धातु अर्थात् मन आदि इन्द्रियाँ, उनके प्रसाद अर्थात् निर्मलताके प्राप्त होनेपर आत्मदर्शन होता है। इस प्रकार व्याख्या करनेसे यहाँ भक्तिका प्रसङ्ग नहीं रह जाता। 'धातुः प्रसादात्'—यह पाठ मध्वाचार्यने भी ग्रहण किया है।

इस प्रबन्धके अन्तिम भागमें हमने श्वेताश्वतर-उपनिषद्से एक श्लोक उद्धृत किया है। उसमें कहा गया है कि श्वेताश्वतर ऋषिने तपस्याके प्रभावसे तथा 'देवप्रसादात्' अर्थात् ईश्वरकी कृपासे ईश्वरको प्राप्त किया था। कठोपनिषद्के इस श्लोकमें 'धातुः प्रसादात्' पाठ लेनेपर श्वेताश्वतर-उपनिषद्की उक्तिके साथ उसकी एकवाक्यता हो जाती है।

श्रीचैतन्यके द्वारा प्रचारित वैष्णव धर्ममें पाँच प्रकारकी भक्तिकी बात कही गयी है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। ऋषि-मुनि लोग चित्त स्थिर करके भगवान्का चिन्तन करते हैं; इसको शान्तभावकी उपासना कहा है। ईश्वरको प्रभु तथा अपनेको उसका दास मानकर साधक जो उपासना करता है, वह दास्यभावकी उपासना है। ईश्वरकी सखाके रूपमें चिन्तन करनेपर सख्यभावकी उपासना होती है। पुत्रके रूपमें चिन्तन करनेपर वात्सल्य-भावकी उपासना होती है तथा पतिके रूपमें चिन्तन करनेपर मधुरभावकी उपासना होती है। इन पाँचों भावोंमें पूर्वकी अपेक्षा परभाव उच्चतर होते हैं। पहले जो उपनिषद्वाक्य उद्धृत किये गये हैं, उन स्थानोंमें किस भावकी उपासना है—इसका स्पष्ट उल्लेख न होनेपर भी इतना कह सकते हैं कि उक्त सभी स्थलोंमें शान्त और दास्यभावकी उपासनाकी चर्चा की गयी है। सख्य भावकी उपासनाका उल्लेख उपनिषद्में एक जगह पाया जाता है। मुण्डक-उपनिषद् कहता है—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
> 　　समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
> 　　नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
> 　　　　　　　　(३ । १ । १)

'एक वृक्षपर दो पक्षी सखाके समान एकत्र रहते हैं। उनमेंसे एक पक्षी स्वादु फल (कर्मफल) खाता है। दूसरा पक्षी आहार नहीं करता, केवल देखता रहता है।'

ऋग्वेद-संहिता १ । १६४ । २० में भी यह मन्त्र पाया जाता है।

मधुर और वात्सल्यभावकी उपासना इन सब उपनिषदोंमें नहीं प्राप्त होती। कृष्णोपनिषद्, गोपालपूर्वतापनी उपनिषद् आदिमें देखी जाती है।

कुछ लोगोंकी मान्यता है कि उपनिषद् जब ब्रह्मको निराकार कहते हैं, तब आकारयुक्त किसी वस्तुकी ब्रह्मरूपमें उपासना उपनिषद्-मतके विरुद्ध है। केनोपनिषद्में कहा गया है कि 'चक्षु जिसको देख नहीं सकता, जिसकी शक्तिसे चक्षुको देखा जाता है, उसको ब्रह्म जानो। जिसकी उपासना की जाती है, वह ब्रह्म नहीं।' जो लोग साकार पूजाके विरोधी हैं, वे इस वाक्यको अपने मतका समर्थक मानते हैं। परंतु इस वाक्यका अभिप्राय यह नहीं है कि किसी भी आकारयुक्त वस्तुकी ब्रह्मरूपमें उपासना करना उचित नहीं। जिस प्रकार ब्रह्मको चक्षुके द्वारा नहीं देख सकते, उसी प्रकार मनके द्वारा भी उसका चिन्तन नहीं किया जा सकता। अतएव यदि कोई मनसे निराकार ब्रह्मका चिन्तन करनेकी चेष्टा करता हुआ उपासना करता है तो वह जिसकी उपासना करेगा, वह वस्तु ब्रह्मसे भिन्न होगी। साकार या निराकार जिस किसी भी वस्तुकी उपासना की जायगी, वह ब्रह्मसे भिन्न वस्तु ही होगी। अतएव जिस प्रकार किसी निराकार वस्तुकी (जो ब्रह्म नहीं है) उपासना की जाती है, उसी प्रकार किसी साकार वस्तुकी भी (जो ब्रह्म नहीं है) उपासना की जाती है। उपनिषदोंमें अनेक स्थानोंमें भिन्न-भिन्न वस्तुकी ब्रह्मके रूपमें उपासना करनेकी बात आती है। इस प्रकारकी उपासनाको प्रतीक-उपासना कहते हैं। यह भी ध्यानमें रखनेकी बात है कि सारे पदार्थ ब्रह्मके ही अंश हैं, अतएव वस्तुतः ब्रह्मके सिवा दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है।

तैत्तिरीय-उपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्लीके दूसरे, तीसरे और चौथे अनुवाकोंमें अन्न, प्राण, मन और विज्ञानकी ब्रह्मरूपमें उपासना करनेकी बात आती है। तैत्तिरीय-उपनिषद् १ । १० में दूसरे ही प्रकारसे प्रतीक-उपासनाका उल्लेख है। छान्दोग्य-उपनिषद्में ब्रह्मोपासनाकी चर्चा है।

> सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।
> 　　　　　　　　(३ । १४ । १)

'अर्थात् जगत्की सभी वस्तुएँ ब्रह्म हैं; क्योंकि सभी वस्तुएँ ब्रह्मसे ही उत्पन्न होती हैं, ब्रह्ममें ही अवस्थान करती हैं तथा ब्रह्ममें ही विलीन हो जाती हैं। इस प्रकार चिन्तन करते हुए मनको शान्त रखकर उपासना करनी चाहिये।

हम यह भूल गये हैं कि सारी वस्तुएँ ब्रह्मका अंश हैं। समझते हैं कि कोई मेरा मित्र है, कोई मेरा शत्रु है। किसीके प्रति प्रेम होता है, किसीके प्रति द्वेष होता है, मन अशान्त हो उठता है। परंतु यदि हम विचार करें कि सारी वस्तुएँ ही ब्रह्मका अंश हैं, तो इससे मन शान्त हो जाय और उपासना करनेकी सुविधा मिले। यह है वैष्णवधर्मोक्त शान्त-भावकी उपासना।

छान्दोग्य-उपनिषद्में प्रतीक-उपासनाका भी उल्लेख मिलता है—'मनो ब्रह्मेत्युपासीत। (छा० ३।१८।१) 'मनकी ब्रह्मरूपमें उपासना करे।' जैसे ब्रह्मको इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मन भी इन्द्रियोंके द्वारा गृहीत नहीं होता। इसी सादृश्यके कारण मनकी ब्रह्मरूपसे उपासना करनेकी बात कही गयी है। सूर्य जैसे ज्योतिर्मय है, ब्रह्म भी उसी प्रकार ज्योतिर्मय है। इस सादृश्यको लेकर सूर्यकी भी ब्रह्मरूपमें उपासना करनेके लिये कहा गया है—

आदित्यो ब्रह्मेत्युपासीत। (छा० उ० ३।१९।१)

छान्दोग्य-उपनिषद्में निम्नलिखित वस्तुओंकी ब्रह्मरूपमें उपासना करनेकी बात आयी है—(१) पूर्व, पश्चिम आदि चारों दिशाएँ; (२) पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक तथा समुद्र; (३) अग्नि, सूर्य, चन्द्र और विद्युत्; (४) प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन। (देखिये ४।५–८)

कठोपनिषद्के निम्नलिखित वाक्यमें ॐकारकी ब्रह्मरूपमें उपासना करनेकी बात कही गयी है। यह भी प्रतीक-उपासना ही है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
(१।२।१६)

'यह प्रणव (ॐकार) ही अक्षर ब्रह्म है, यही परम अक्षर है, इसकी अक्षररूपमें उपासना करनेपर जो जिस वस्तुकी इच्छा करता है, उसको वह प्राप्त होती है।'

शंकर और रामानुज दोनोंके ही मतसे 'एतद् हि एव अक्षरं ज्ञात्वा'—इसका अर्थ प्रणवकी ब्रह्मरूपमें उपासना करना है।

श्वेताश्वतर-उपनिषद्में ब्रह्मके प्रति सम्पूर्ण भावसे आत्म-समर्पण करनेकी बात आती है—

मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये। (६।१८)

'हे भगवन्! मैं मोक्षकी प्राप्तिके लिये आपकी शरण लेता हूँ।' श्वेताश्वतर ऋषिने तपस्याके प्रभावसे तथा ईश्वरके अनुग्रहसे ब्रह्मको जान लिया था—

तपःप्रभावाद् देवप्रसादाच्च
ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
(६।२१)

पूर्व-उद्धृत कठोपनिषद्के वाक्य (१।२।२०) में 'धातुः प्रसादात्' पद है और यहाँ श्वेताश्वतर-उपनिषद्में 'देवप्रसादात्' पद आया है। दोनोंका अर्थ एक ही है। पूर्वोद्धृत कठोपनिषद्के (१।२।२३) मन्त्रकी भक्ति-मार्गानुसारी व्याख्या ही समीचीन है, यह श्वेताश्वतर-उपनिषद्के इन वाक्योंद्वारा स्पष्ट हो जाता है। पुनः श्वेताश्वतर-उपनिषद्में कहा है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
(६।२३)

'जिसकी ईश्वरमें परा भक्ति है और ईश्वरमें जैसी भक्ति है, वैसी ही गुरुमें भी है, उसके सामने ये बातें कहनेपर वह सब कुछ उपलब्ध कर सकता है।'

भक्तिमार्गकी साधनामें गुरुभक्तिकी जो उच्च प्रशंसा है, उसका भी मूल उपनिषद्में है। अतएव देखा जाता है कि उपनिषद्में भक्तिकी चर्चा अनेक स्थलोंपर की गयी है। यह भी कहा गया है कि ब्रह्मकी कृपाके बिना ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि ब्रह्मकी भक्ति करना ही ब्रह्मकी कृपा-प्राप्तिका उपाय है। उपनिषद्में जहाँ कहा गया है कि ज्ञानके द्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, वहाँ भी समझना चाहिये कि उपनिषद्का उद्देश्य भक्तिके द्वारा ज्ञानकी तथा ज्ञानके द्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति करना ही है। यदि ऐसी व्याख्या न करें तो 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' (कठ० १।२।२३ तथा मुण्डक ३।२।३) अर्थात् जिसपर ब्रह्मकी कृपा होती है, केवल वही उसको पा सकता है—इस वाक्यकी संगति नहीं लगेगी। गीतामें भी स्पष्टरूपसे कहा गया है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
(१८।५५)

अर्थात् भक्तिके द्वारा मनुष्य मुझको जान सकता है कि मैं क्या वस्तु (सच्चिदानन्दस्वरूप) हूँ तथा मेरा परिमाण क्या है (मैं सर्वव्यापी हूँ)।

एकादश अध्यायमें भी भगवान्ने कहा है कि वेद-पाठ

करके अथवा वेदोंका अर्थ ग्रहण करके मुझे कोई नहीं जान सकता—

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैः—(गीता ११।४८)

—केवल अनन्य भक्तिके द्वारा ही मुझको प्राप्त किया जा सकता है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गीता ११।५४)

अर्थात् अनन्य भक्तिके द्वारा मुझको इस प्रकार जाना जा सकता है, मेरा दर्शन किया जा सकता है तथा मेरे भीतर प्रवेश किया जा सकता है। यहाँ याद रखनेकी बात है कि गीता उपनिषदोंका सार है। अतएव जो गीतामें कहा गया है, वह उपनिषद्की ही बात है। गीतामें जब कहा गया है कि भक्तिहीन ज्ञानके द्वारा भगवान्की प्राप्ति नहीं होती, भक्तिके द्वारा ही उनको जान सकते हैं (ज्ञान होता है)—यही उनकी प्राप्ति होती है, तब समझना चाहिये कि उपनिषदोंका भी यही तात्पर्य है कि भक्तिके द्वारा ज्ञान होता है और ज्ञानसे भगवत्की प्राप्ति होती है।

उपनिषदोंमें ईश्वर-भक्ति

(लेखिका—श्रीरामकिशोरी देवी)

उपनिषद् वह विद्या है, जो मनुष्यको प्रभुके निकट बिठला देती है। उपनिषदोंके कण-कणसे प्रभु भक्तिका रस टपकता रहता है। उपनिषद्रूपी मानसरोवरमें भक्तिरूपी कमल चारों ओर खिले पड़े हैं। उपनिषदोंके अनुसार परमात्मा तर्कका विषय नहीं, वह केवल भक्तिके द्वारा ही जाना जाता है। परमात्माको कोई बहुश्रुत होने, अधिक प्रवचन करने अथवा मेधा बुद्धिसे नहीं जान सकता। जो मनुष्य अपने मनको शुद्ध और पवित्र करके प्रभुकी भक्ति करता है, उसीपर प्रभु अपने-आपको प्रकट कर देते हैं। उपनिषद् परमात्माको हमसे कहीं दूर नहीं बिठलाता। वे हमारे हृदयके अंदर विराजमान हैं। वे स्थिर होनेपर भी दूर-से दूर चले जाते हैं। वे हमारी समस्त कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले हैं। वे सोये हुओंमें सदा जागते रहते हैं। हमारी इन्द्रियाँ उन्हींसे शक्ति प्राप्त करके अपना कार्य करती हैं। वे आँखकी आँख, कानका कान और मनका मन हैं। सूर्यमें जो हम तेज देखते हैं, वह उन प्रभुका दिया हुआ है। यदि वे अपना तेज हटा लें तो सूर्यकी हस्ती एक मुट्ठी राखसे अधिक नहीं। उपनिषद् भक्ति रससे सराबोर हैं। जैसे शीतसे आतुर मनुष्यका अग्निके पास जानेसे शीत निवृत्त हो जाता है, वैसे ही प्रभुकी भक्ति करनेसे सब शोक-दुःख दूर होकर परमेश्वरके गुण-कर्म-स्वभावके अनुसार जीवात्माके गुण, कर्म और स्वभाव हो जाते हैं। प्रभुकी भक्ति करनेसे हमारे आत्माका बल इतना अधिक बढ़ जायगा कि हमारा मन पर्वतके समान दुःख प्राप्त होनेपर भी नहीं घबरायेगा। जैसे गर्मीके दिनोंमें हिमालयके निकट जानेपर शरीरको ठंडी वायु आनन्द देने लगती है, उसी प्रकार ईश्वरकी भक्ति करनेसे ब्रह्मानन्द और शान्तिकी शीतल वायु हृदयको स्पर्श करने लगती है। प्रभुकी भक्तिमें बड़ा रस है। छान्दोग्य-उपनिषद्में आया है—

स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्यः।

अर्थात् प्रभु भक्ति सबसे उत्कृष्ट और सर्वोत्तम रस है। यह वह रस है, जो अपने माधुर्यसे मनरूपी चातकको मतवाला कर देता है।

उपनिषदोंके अनुसार हमारा शरीर ही भगवान्का मन्दिर है। यही वह स्थान है, जहाँ हमारे देवताके दर्शन होते हैं। यों तो परमात्मा कण-कणमें रमा हुआ है। सभी पदार्थोंमें वह अग्निके समान विद्यमान है, किंतु परमात्माका दर्शन केवल इसी देव मन्दिरमें होता है। यही वह मन्दिर है, जिसके बाहरके सब दरवाजे बंद हो जानेपर जब भक्तिका भीतरी पट खुल जाता है, तब वह ज्योति अपने-आप प्रकट होती है, जिसे देखनेके लिये आत्माकी हार्दिक इच्छा होती है।

जिस प्रकार एक बालक अपने माता-पिताकी गोदमें बैठता है, उनसे मीठी मीठी बातें करता है, उसी प्रकार हम अनुभव करें कि हम परमात्माकी अमृतमयी गोदमें बैठे हैं, उनकी दयाका हाथ हमारे सिरके ऊपर है। भक्त सोचता है कि चाहे मैं हिंसक पशुओंके बीच निर्जन वनमें होऊँ अथवा महासागरके अगम्य जलके ऊपर, जब मेरे पिता मेरे साथ हैं और उनका पावन हाथ मेरे सिरके ऊपर है, तब भय किस बातका। मेरे प्रभु किसी ऐसे स्थानमें नहीं हैं, जो मुझसे दूर हो और जहाँसे वे मुझे देख न रहे हों। मेरे प्रभु तो मेरे

रोम-रोममें समाये हुए हैं और इतने महान् हैं कि मैं जहाँ जाता हूँ, उनकी उज्ज्वल ज्योति वहीं छिटकी हुई पाता हूँ। उनकी दयाका हाथ सदा मेरे सिरपर है—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥

हमारे प्रभु निराश्रयोंके आश्रय हैं, वे बहुत बड़े अवलम्ब हैं, उन्हींका सहारा पाकर हम भवसागरसे पार उतर सकते हैं। उपनिषदोंमें प्रभुको 'भूमा' कहा गया है। जिस प्रकार समुद्रमें गोता लगानेसे सारे शरीरका मैल धुल जाता है, उसी प्रकार भक्तिरूपी मानसरोवरमें गोता लगानेसे मनके समस्त कल्मष दूर हो जाते हैं।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

वे परमात्मा एक हैं और सारे संसारको वशमें रखते हैं। वे एक जड प्रकृतिसे नाना प्रकारके रूपोंको बनाते हैं, आत्माके अंदर रहनेवाले उन प्रभुको जो धीर पुरुष भक्ति-रूपी नेत्रसे देखता है, केवल उसीको शाश्वत सुख मिलता है, दूसरोंको नहीं। जिस शक्तिने सारे ब्रह्माण्डको एक नियममें बाँध रखा है, वह अति महान् और चैतन्य शक्ति है। उन महान् प्रभुकी कीर्ति यह सकल ब्रह्माण्ड गा रहा है, पृथिवी विनम्र-भावसे उनके चरणोंमें लवलीन है, सूर्य अपने तेजोमय रूपसे उनकी महानताको प्रकट कर रहा है और चन्द्रमा अपनी शीतल ज्योत्स्नासे उन सौम्य परमेश्वरका स्तवन कर रहा है। हमें भी उसीकी भक्ति करनी चाहिये। यही उपनिषदोंकी शिक्षा है।

पुराणोंमें भक्ति

(लेखक—श्रीरासमोहन चक्रवर्ती एम्० ए०, पुराणरत्न, विद्याविनोद)

(१)

हिंदूधर्मके क्रमविकासका इतिहास स्थूलरूपसे तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—(१) कर्मप्रधान वैदिक युग, (२) ज्ञानप्रधान औपनिषद युग तथा (३) भक्तिप्रधान पौराणिक युग।

वैदिक साहित्य चार भागोंमें विभक्त है—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। संहिता, ब्राह्मण और आरण्यकमें कर्ममार्ग तथा उपनिषद्में ज्ञानमार्गकी विवेचना की गयी है। वेदोंके संहिताभागके मन्त्रसमूह इन्द्र, अग्नि, वरुण, सविता, रुद्र आदि देवताओंके स्तोत्र-स्तुतिसे पूर्ण हैं। इन सब मन्त्रोंके द्वारा प्राचीन आर्यलोग देवताओंके उद्देश्यसे याग-यज्ञ करके अभीष्ट-प्रार्थना करते थे। एक ही मूल, ऐसी शक्ति विभिन्न देवताओंके नामसे अभिव्यक्त है। परमेश्वर एक और अद्वितीय है—यह रहस्य वैदिक आर्योंको ज्ञात था। ऋग्वेदने अनेकों मन्त्रोंमें इस तत्त्वको घोषित किया है—

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋग्वेद १।१६४।४६)

'तत्त्वदर्शीलोग एक ही सद् वस्तुका विभिन्न नामोंसे निर्देश करते हैं; वे उस एक ही सत्ताको अग्नि, यम और मातरिश्वाके नामसे पुकारते हैं।'

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभि-
रेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति॥
(ऐतरेय-उपनिषद् १०।११४।५)

'सुपर्ण या परमात्मा एक सत्तामात्र है। इस एक ही सत्ताकी तत्त्वदर्शीलोग अनेक नामोंसे कल्पना करते हैं।'

यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः
सचेतसो यज्ञमिमं वहन्ति।
(ऐतरेय० ८।५८।२)

'बुद्धिमान् ऋत्विग्गण एक ही वस्तुकी अनेक प्रकारसे बहुत-से नामोंद्वारा कल्पना करके यज्ञ-सम्पादन किया करते हैं।'

उसी एक अद्वितीय सत्ताको ऋग्वेदमें स्थान-स्थानपर हिरण्यगर्भ, प्रजापति, विश्वकर्मा, पुरुष इत्यादि नामोंसे अभिहित किया गया है। इस प्रसङ्गमें ऋग्वेदके हिरण्यगर्भ-सूक्त (१०।१२१) तथा पुरुषसूक्त (१०।९०) आदि विशेष आलोचनीय हैं। प्राचीन आर्योंका प्रधान अनुष्ठेय धर्म था 'यज्ञ'। अभीष्ट देवताके उद्देश्यसे वे यज्ञादि कर्म श्रद्धापूर्वक अनुष्ठित होते थे तथा इसमें अर्चना, वन्दना, नमस्कार आदि भक्तिके अङ्ग समन्वित थे। वेदोंके

संहिताभागमें 'भक्ति' शब्दका सुस्पष्ट प्रयोग न दीखनेपर भी इस अर्थमें 'श्रद्धा' शब्दका प्रयोग प्रायः देखनेमें आता है—

> श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
> श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥
> (ऋग्वेद १० । १५१ । १)

'श्रद्धाके द्वारा ही यज्ञकी अग्नि प्रज्वलित की जाती है, श्रद्धा-द्वारा ही हविकी आहुति दी जाती है । समस्त आराध्यकी प्रधानभूता श्रद्धाका हम स्तवन करते हैं ।'

वेदोंके संहिता-युगमें देव-विषयक भक्तिमूलक जो सहज सरल धर्म देखनेमें आता है, वह वेदोंके ब्राह्मणयुगमें आकर जटिल, क्रियाविशेषबहुल यज्ञानुष्ठानमें पर्यवसित होता है । कालक्रमसे एक ऐसा मत प्रबल हो उठा कि 'यज्ञकर्म ही एकमात्र धर्म है, उसीके द्वारा जीव स्वर्ग प्राप्त करता है, इसके सिवा और कुछ नहीं है ।' यद्यपि यज्ञका अनुष्ठान इन्द्रादि देवताओंके उद्देश्यसे किया जाता है, फिर भी मुख्यता यज्ञकी ही है । देवता गौण हैं, प्रयोजक नहीं हैं । अतएव यजेत स्वर्गकामः—स्वर्ग-कामनासे यज्ञ करे, इसीका नाम 'वेदवाद' है ।

उपनिषद्-युगमें इस प्राणहीन याज्ञिकताके विरुद्ध प्रतिवादकी सूचना मिलती है । उपनिषदोंमें वेदोंके कर्म-काण्डको संसार-सागरसे पार उतारनेके लिये 'अदृढ प्लव (बेड़ा)' कहकर उसकी निन्दा की गयी है—

> प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः । (मुण्डक उप० १ । २ । ७)

उपनिषद्-युगमें साधककी दृष्टि बहिर्जगत्से लौटकर अन्तर्जगत्में केन्द्रीभूत हो जाती है । चरमतत्त्वका स्वरूप-निर्णय करनेके लिये उपनिषदोंके ऋषियोंने समाहित होकर यह उपलब्धि की कि इस नामरूपात्मक दृश्य-प्रपञ्चके अन्तरालमें एक नित्य, शाश्वत, सत् पदार्थ है; ध्यानयोगसे उसको जानना चाहिये। वही 'ब्रह्म' है । तद् विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म । यह ब्रह्मविद्या ही उपनिषद् या वेदान्तका प्रतिपाद्य विषय है । उपनिषद् कहते हैं कि 'वेदवाद' स्वर्गसाधक होनेपर भी मोक्षसाधक नहीं है, एकमात्र ब्रह्मज्ञानके अवलम्बनसे ही निःश्रेयसकी प्राप्ति हो सकती है ।

उपनिषदोंके निर्गुण ब्रह्मवादमें भक्तिका स्थान नहीं है । जो निर्गुण, निर्विशेष, 'अवाङ्मनसगोचर' है, उसके साथ भाव-भक्तिका कोई सम्बन्ध स्थापित करना नहीं बनता, वह आत्मबोधरूप है । सगुण ब्रह्मके बिना भक्तिमूलक उपासना सम्भव नहीं । उपनिषदोंमें ब्रह्मके सगुण-निर्गुण, सविशेष-निर्विशेष दोनों प्रकारके विभावोंका विवरण दृष्टिगोचर होता है । ब्रह्मस्वरूपके सगुण-सविशेष विभावके वर्णनके प्रसङ्गमें उपनिषदोंमें अनेकों स्थलोंपर देव, ईश्वर, महेश्वर आदि शब्द व्यवहृत हुए हैं तथा उसी प्रसङ्गमें 'भक्ति' शब्दका उल्लेख भी श्वेताश्वतर-उपनिषद्में स्पष्ट होता है—यस्य देवे परा भक्तिः (६ । २३) । केनोपनिषद्में कहा है—तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यम् (४ । ६) । ब्रह्म वननरूपसे भजने योग्य है, इस दृष्टिसे उसकी उपासना करनी चाहिये । कठोपनिषद्में कृपावादका स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

> नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
> न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
> यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
> स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम् ॥
> (१ । २ । २३)

'इस आत्माको शास्त्रकी व्याख्याके द्वारा नहीं प्राप्त कर सकते, मेधाके द्वारा भी नहीं, अनेक प्रकारके पाण्डित्यके द्वारा भी नहीं । यह जिसको वरण अर्थात् जिसपर कृपा करता है, केवल वही इसको प्राप्त कर सकता है । उसीके सामने यह आत्मा अपने स्वरूपको प्रकाशित करता है ।'

भक्तिसाधनाके आश्रय हैं प्रेमस्वरूप, करुणामय भगवान् । बृहदारण्यक-उपनिषद्में परमात्माके सम्बन्धमें कहा गया है—

> एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पद् एषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः । (४ । ३ । ३२)

'ये ही परम गति, ये ही परम सम्पद्, ये ही परम धाम तथा ये ही परम आनन्द हैं ।' तैत्तिरीय-उपनिषद्में घोषित हुआ है—

> रसो वै सः । रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति । को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति । (२ । ७ । १)

'वही रस (प्रेम) स्वरूप है । यह जीव रस-स्वरूपको प्राप्त करके सुखी होता है । यदि हृदयाकाशमें यह आनन्द-स्वरूप न होता तो कौन अपान-चेष्टा करता, कौन प्राण-कर्म करता ? अर्थात् कोई निश्वास-प्रश्वासद्वारा प्राण धारण नहीं कर सकता । एकमात्र यही जीवको आनन्ददान करता है ।'

अतएव देखा जाता है कि भक्तिसाधनाका जो बीज

वेदोंके संहिता-भागमें ही निहित है, वही क्रमविकासके पथमें उपनिषद्में आकर अङ्कुरित और पल्लवित हुआ है। पुराणोंमें वह किस प्रकार शाखा-प्रशाखायुक्त, फूल-फलसे समृद्ध महावृक्षके रूपमें परिणत होता है—इस विषयकी आलोचना की जाती है।

(२)

'पुराण' पञ्चम वेदके नामसे शास्त्रोंमें कीर्तित हुए हैं। वेदोंके निगूढ़ अर्थको समझनेके लिये पुराणोंकी सहायता लेनेके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसी कारण शास्त्रकारोंने पुराणोंके अध्ययनके ऊपर विशेष जोर दिया है और कहा है कि पुराणोंका अनुशीलन किये बिना विद्या कभी पूर्णताको प्राप्त नहीं होती। वायुपुराणमें लिखा है—

यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चेत् पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः॥
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

'यदि कोई छः वेदाङ्गों एवं समस्त उपनिषदोंसहित चारों वेदोंसे अवगत हो और पुराण-शास्त्रमें पारदर्शी न हो तो वह विचक्षण नहीं कहला सकता। इतिहास (रामायण-महाभारत) और पुराणोंके पाठके द्वारा वेदज्ञानकी पूर्ति करनी चाहिये। जो मनुष्य पुराण-शास्त्रका पण्डित न होकर वेदोंकी चर्चा करता है, उसको देखकर वेद मानो भयभीत हो सोचता है कि यह मुझपर प्रहार करेगा।'

दुर्गम वेद-शास्त्रके तात्पर्यको ग्रहण करके उसीके आदर्शपर जीवनका गठन करना जनसाधारणके लिये सम्भव नहीं।

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।

'स्त्री, शूद्र और वर्णाश्रम लोगोंका वेद-श्रवणमें अधिकार नहीं है।' इसी कारण महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यासने जनताके कल्याण-साधनके लिये वेदमें निहित आध्यात्मिक निगूढ़ तत्त्वराशिको पुराणोंमें विस्तृतरूपसे नाना प्रकारके आख्यान-उपाख्यानोंकी सहायतासे प्रकाशित किया है। पद्मपुराणमें यही बात कही गयी है—

वेदेभ्य उद्धृत्य समस्तधर्मान्
योऽयं पुराणेषु जगाद देवः।
व्यासस्वरूपेण जगद्धिताय
वन्दे तमीशं कमलासमेतम्॥
(पद्मपुराण, क्रियायोगसार १। २)

'जिन्होंने व्यासरूपमें वेदोंसे समस्त धर्मोंको उद्धृत करके जगत्के कल्याणके निमित्त निखिल पुराणोंमें परिव्यक्त किया है, कमलासहित उस नारायणकी हम वन्दना करते हैं।'

पुराणमें भक्तिकी महिमा

भारतीय आध्यात्मिक साधनाके क्षेत्रमें कर्म, ज्ञान और भक्ति मुक्तिके त्रिविध साधनके रूपमें स्वीकृत होते चले आ रहे हैं। साधकगण अपनी-अपनी रुचि और अधिकारके भेदसे इनमेंसे किसी एक या इनकी समन्वित साधनाका अवलम्बन करके निःश्रेयसके पथपर अग्रसर होते हैं। पुराण-शास्त्रमें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनों विषयोंकी शिक्षा होनेपर भी भक्तियोगके ऊपर विशेष जोर दिया गया है; क्योंकि यह मनुष्यके लिये तत्काल कल्याणकारक है तथा भक्तिमार्गका अनुसरण ब्राह्मण-शूद्र, नर-नारी सभी निर्विशेष रूपसे सहज ही कर सकते हैं।

मार्गास्त्रयो मे विख्याता मोक्षप्राप्तौ नगाधिप।
कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च सत्तम॥
त्रयाणामप्ययं योग्यः कर्तुं शक्योऽस्ति सर्वथा।
सुलभत्वान्मानसत्वात् कायचित्ताद्यपीडनात्॥
(देवीभागवत ७। ३७। ३-४)

देवी भगवती कहती हैं—'हे नगेन्द्र! मोक्षप्राप्तिके लिये कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—ये तीनों ही मार्ग विख्यात हैं। इन तीनों प्रकारके योगोंमें भक्तियोग ही अनायास प्राप्त होनेवाला है; क्योंकि यह योग काय-चित्त आदिको पीड़ा दिये बिना ही केवल मनोवृत्तिके द्वारा सम्पादित हो सकता है। अतः इस योगको ही सुगम जानना चाहिये।'

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णने परम भागवत उद्धवजीको उपदेश देते हुए कहा है—

यत् कर्मभिर्यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि।
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा॥
(११। २०। ३२)

'कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म तथा तीर्थयात्रा, व्रत आदि अन्य साधनोंके द्वारा जो प्राप्त होता है, मेरा भक्त भक्तियोगके द्वारा वह सब अनायास प्राप्त कर लेता है।'

पुराणशास्त्रने भक्तिमार्गको सबके लिये खोलकर पूर्ण गणतान्त्रिक धर्म (Democratic Religion)का प्रचार किया है। पुराणोंमें पुनः-पुनः घोषित किया गया है कि

ईश्वरके प्रति ऐकान्तिक भक्तिके द्वारा चाण्डाल भी ब्राह्मणसे बढ़कर हो सकता है और ईश्वरभक्तिविहीन होनेपर ब्राह्मण भी चाण्डालाधम हो सकता है।

> चाण्डालोऽपि मुनिश्रेष्ठ विष्णुभक्तो द्विजाधिकः।
> विष्णुभक्तिविहीनश्च द्विजोऽपि श्वपचाधिकः॥
> (बृहन्नारदीयपुराण ३२। ३९)

श्रीमद्भागवत उच्च स्वरसे घोषित करता है—

> अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
> यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
> तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
> ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥
> (३। ३३। ७)

'जिनके जिह्वाग्रपर तुम्हारा नाम रहता है, वे चाण्डाल होनेपर भी श्रेष्ठ हो जाते हैं। जो तुम्हारा नाम लेते हैं, उन्होंने यथार्थ तपस्या कर ली, अग्निमें यथार्थ हवन कर लिया। उन्होंने तीर्थमें स्नान कर लिया, वे ही आर्य (सदाचारी) हैं, उन्होंने ही यथार्थतः वेदाध्ययन किया है।'

वेदका ब्रह्म और पुराणोंके भगवान्

पुराणशास्त्रका प्रधान गौरव यही है कि वेदने 'नेति नेति' कहकर तथा—

> यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

—कहकर जिस परब्रह्मको इन्द्रिय-मन-बुद्धिके अगम्य देशमें रख दिया है तथा जो केवल उच्चाधिकारी ज्ञानी साधकोंके ही ध्यानगम्य है, पुराणने उसी दुर्विज्ञेय परम तत्त्वको भक्तिमार्गकी साधनाके द्वारा भक्तजनोंकी सारी इन्द्रियोंके गोचरीभूत कर दिया है। पुराणोंके भगवान् केवल ज्ञेय ब्रह्म ही नहीं हैं, केवल निर्गुण निराकार अद्वितीय चित्स्वरूप ही नहीं हैं, वे केवल जीव-जगत्के मूल कारण और अधिष्ठान ही नहीं हैं; बल्कि वे प्रत्यक्ष उपास्य, भक्तके आराध्य, प्रेमघनमूर्ति, सौन्दर्य-माधुर्य-निकेतन तथा अशेष कल्याणगुणोंके आकर हैं। वे परमेश्वर होते हुए भी करुणावरुणालय, पतितपावन तथा शरणागत, दीन और आर्तजनोंके परित्राणपरायण हैं। पुराण घोषणा करते हैं कि ज्ञानमार्गमें निर्गुण ब्रह्मकी उपासना, अक्षर अव्यक्तकी आराधना देहाभिमानी जीवके लिये अत्यन्त कष्टसाध्य है। जबतक देहात्मबोध दूर नहीं हो जाता, निर्गुण ब्रह्ममें स्थिति प्राप्त नहीं होती। भक्तियोगमें सगुण ईश्वरकी उपासना साधारण जीवके लिये सहजसाध्य है। इसी कारण पुराण इस मार्ग की उपासनाके ऊपर ही विशेष जोर देते हैं। पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें कही गयी शिवगीतामें यही तत्त्व परिस्फुटित हुआ है।

भगवान् श्रीराम शंकरजीसे कहते हैं—'भगवन् शम्भो! आप यदि सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, अवयवरहित हैं, निष्क्रिय हैं, निस्तरङ्ग समुद्रके समान प्रशान्त हैं, निर्दोष, निरञ्जन, सर्वधर्मविहीन, मन-वाणीसे अगोचर, सर्वत्र अनुस्यूत होकर प्रकाशमान रूपमें अवस्थित, आत्मविद्या और तपस्याके द्वारा गम्य, उपनिषद्वाक्योंके तात्पर्यविषयीभूत, अपरिच्छिन्न, सर्वभूतात्मस्वरूप, अदृश्य तथा दुर्विज्ञेयस्वरूप हैं तो आप किस प्रकार प्राप्त हो सकते हैं—यह निश्चय न होनेके कारण मैं व्याकुल हो रहा हूँ।' भगवान् शंकरने उत्तर दिया—

> शृणु राजन् प्रवक्ष्यामि तत्रोपायं महाभुज।
> सगुणोपासनाभिस्तु चित्तैकाग्र्यं विधाय च।
> स्थूलसौराम्भिकान्यायात् तत्र चित्तं प्रवर्तयेत्॥
> (पद्मपुराण, शिवगीता १४। ५)

'हे महाबाहो! राम! तुम्हारे द्वारा जिज्ञासित विषयका उपाय कहता हूँ, सुनो। पहले सगुण उपासनाके द्वारा चित्तकी एकाग्रताका साधन करके स्थूलसौराम्भिका-न्यायके अनुसार मेरे निर्गुण स्वरूपमें चित्तको लगाये।'

जलपानतक करनेमें असमर्थ प्यासे आदमीको मरीचिका खींचकर दूर ले जाती है, तत्पश्चात् जलाशय निकट होनेपर प्रकृत जलका दर्शन और आस्वादन करा सकती है। इसको 'स्थूलसौराम्भिका-न्याय' कहते हैं। इसी प्रकार मुमुक्षु साधकको पहले सगुण-उपासनामें आरूढ़ करके चित्त-शुद्धि होनेपर निर्गुणोपासनामें प्रवृत्त कराये। अग्निपुराणमें आया है—

> साधूनामप्रमत्तानां भक्तानां भक्तवत्सलः।
> उपकर्त्ता निराकारस्साकारेण जायते।
> कार्यार्थं साधकानां च चतुर्वर्गफलप्रदः॥

'भक्तवत्सल भगवान् साधु और भक्त साधकोंकी उपासनाके निमित्त निराकार होकर भी उनके उपास्य देवताके आकारमें आविर्भूत होते हैं तथा उनके लिये उपकारक होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस चतुर्वर्गरूप फलको प्रदान करते हैं।'

पुराणमें प्रतीकोपासना और क्रियायोग

वैदिक युगके याग-यज्ञ और उपनिषद्के ब्रह्मज्ञान,

ध्यान-धारणाके स्थानमें पौराणिक युगमें सर्वसाधारणके लिये उपयोगी एक नवीन उपासना-पद्धति प्रचलित हुई। मृत्तिका, प्रस्तर या धातुसे निर्मित प्रतिमामें देवताके आविर्भावकी भावना करके उस विग्रहको पाद्य, अर्घ्य, धूप, दीप, गन्ध, पुष्प और नैवेद्य आदिके द्वारा अर्चना करनेकी विधि प्रवर्तित हुई।

> य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
> विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्॥
> लब्ध्वानुग्रह आचार्यात् तेन संदर्शितागमः।
> महापुरुषमभ्यर्चेन्मूर्त्याभिमतयाऽऽत्मनः॥
>
> (श्रीमद्भा० ११।३।४७-४८)

'जो साधक जीवात्माकी हृदयग्रन्थिका शीघ्र छेदन करनेकी इच्छा करते हैं, वे वैदिक और तान्त्रिक विधिके अनुसार अभीष्ट देवताकी पूजा करें। आचार्यसे दीक्षा ग्रहण करके तथा उनके द्वारा प्रदर्शित अर्चना विधिको जानकर अपनी अभिमत मूर्तिके द्वारा परम पुरुषकी पूजा करें।'

पुराण शास्त्रमें भक्तिमार्गकी साधनाके अन्तर्गत अभीष्ट देवताके उपासनामूलक जो 'क्रियायोग' प्रवर्तित हुआ है, तदनुसार भक्त प्रतिमाके माध्यमसे भगवान्‌की सेवा कर सकता है, उनको स्पर्श कर सकता है, उनको भोग लगा सकता है, उनका प्रसाद ग्रहण कर सकता है, उनके साथ वार्तालाप कर सकता है तथा सब प्रकारकी आपद्-विपद्‌में उनके ऊपर निर्भर रह सकता है। इस क्रियायोगके विधानके अनुसार देवताका मन्दिर-निर्माण, विग्रह-स्थापना, पूजा-अर्चना आदि करनेपर साधक भुक्ति-मुक्ति दोनोंको ही प्राप्तकर कृतार्थ हो सकता है।

> प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयम्।
> पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात्॥
> मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति।
> भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्॥
>
> (श्रीमद्भा० ११।२७।५२-५३)

'मेरा भक्त विग्रह-प्रतिष्ठाके द्वारा सार्वभौमपद, मन्दिर-निर्माणके द्वारा त्रिभुवनका स्वामित्व, पूजा आदिके द्वारा ब्रह्मलोक तथा उपर्युक्त तीनों कार्योंके द्वारा मेरी समता प्राप्त करता है और निष्काम भक्तियोगके द्वारा मुझको ही प्राप्त करता है। जो उपर्युक्त रीतिसे मेरी पूजा करता है, वह भक्तियोगको प्राप्त करता है।'

पुराणमें अवतारवाद

अवतारवाद पुराणोंका एक प्रधान अङ्ग है। इस अवतार-वादको केन्द्र बनाकर भक्तिधर्म और भक्तिसाधनाने विशेष परिपुष्टि प्राप्त की है। पुराण विश्वातीत ब्रह्मको मर्त्यलोककी भूमिकापर खींच लाये हैं और सच्चिदानन्दमय भगवान्‌को उन्होंने मनुष्योंके बीचमें पुत्र, भ्राता, सखा, प्रभु और गुरुरूपमें अवतारित कर भगवान् और मनुष्यके बीचके दुर्लङ्घ्य व्यवधान-को अद्भुत कौशलके साथ दूर कर दिया है और इसके द्वारा मनुष्यके भीतर भागवत्-बोधको जाग्रत् करके मानव-संस्कृतिको एक उच्चतर भूमिकामें प्रतिष्ठित कर दिया है। यह विश्वमानव-संस्कृतिमें पुराणोंकी एक चिरस्थायी और अविस्मरणीय देन है।

अवतारवादकी सूचना वैदिक ग्रन्थोंमें ही दीख पड़ती है। पुराणोंमें विष्णुके वामन-अवतारका वृत्तान्त है। ऋग्वेदमें भी देखा जाता है कि विष्णुने तीन पद प्रक्षेप करके पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोकको परिव्याप्त कर लिया।

> इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।
>
> (ऋग्वेद १।२२।१७-१८)

इसके सिवा शतपथब्राह्मण (१।२।५।१—७) में भी वामन-अवतारका प्रसङ्ग प्राप्त होता है। शतपथब्राह्मण (१।८।१।२—१०) में मत्स्यावतार, तैत्तिरीय आरण्यक (१।२३।१) और शतपथब्राह्मण (७।४।३।५) में कूर्मावतारका प्रसङ्ग तथा तैत्तिरीयसंहिता (७।१।५।१), तैत्तिरीयब्राह्मण (१।१।३।५) और शतपथब्राह्मण (१४।१।२।११) में वराह-अवतारका उल्लेख है।

पुराण शास्त्रके मतसे भगवान् भक्तोंके प्रति अनुग्रह प्रकट करनेके लिये ही मनुष्यके रूपमें अवतीर्ण होते हैं तथा इस प्रकारकी लीलाएँ करते हैं, जिनका श्रवण और कीर्तन करके जीव सहज ही भगवत्परायण हो सकता है। यह लीला-रस आस्वादन ही भक्तिका प्रमुख साधन है।

> अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः।
> भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥
>
> (श्रीमद्भा० १०।३३।३७)

इस प्रसङ्गमें भागवतमें कुन्तीदेवीकी उक्ति विशेषरूपसे स्मरणीय है—

> शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
> स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
> त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
> भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥
>
> (१।८।३६)

'हे श्रीकृष्ण ! जो भक्तजन तुम्हारे चरित्रका श्रवण, गान, उच्चारण या सदा स्मरण करते हैं तथा दूसरोंके कीर्तन करनेपर जिनको आनन्द प्राप्त होता है, वे शीघ्र ही तुम्हारे चरणारविन्दका दर्शन करनेमें समर्थ होते हैं, जिसके द्वारा शीघ्र उनकी जन्म-परम्परा सदाके लिये समाप्त हो जाती है ।'

पुराणोंमें देवतत्त्व और एकेश्वरवाद

पुराण शिक्षा देते हैं कि एक अद्वितीय परिपूर्ण भगवान् विभिन्न विचित्र लीलाओंके कारण तथा विभिन्न रुचि, स्वभाव और अधिकार-सम्पन्न साधकोंके कल्याणके लिये अनेकों विविध रूपोंमें प्रकट हैं । अपनी-अपनी रुचि और निष्ठाके अनुसार जो साधक जिस नाम और रूपको इष्ट मानकर भजन करता है, वह उसी दिव्य नाम और रूपका अवलम्बन करके समस्तरूपमय एकमात्र भगवान्को प्राप्त होता है । एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व ही गुण और क्रियाभेदसे अनन्त नाम और अनन्त रूप धारण करके विराजित हो रहा है । यही तत्त्व देवीपुराणमें दृष्टान्तकी सहायतासे इस प्रकार समझाया गया है—

> यथा तु स्पन्दते वर्णैर्विविधैः स्फटिको मणिः ।
> तथा गुणवशाद् देवी नानाभावेषु वर्त्यते ॥
> एकी भूत्वा यथा मेघः पृथक्त्वेनावतिष्ठते ।
> वर्णतो रूपतश्चैव तथा गुणवशात्क्रमात् ॥
> (देवीपुराण १० । ९४-९५)

'एक स्फटिक मणि जैसे नाना प्रकारके वर्णोंमें प्रकाशित होता है, उसी प्रकार देवी भगवती भी सत्त्वादि गुणोंके तारतम्यके कारण नाना भावोंमें वर्णित होती हैं । एक ही मेघ जिस प्रकार वर्ण और आकृतिके अनुसार पृथक्-पृथक् रूपोंमें अवस्थित होता है, उसी प्रकार देवी एक होकर भी गुणोंके वशसे पृथक्-पृथक् रूपोंमें अवस्थित होती हैं ।'

विभिन्न पुराणोंमें ब्रह्मा, विष्णु और शिवकी महिमाका वर्णन है, परंतु पुराणशास्त्रमें यह भी पुनः-पुनः घोषित किया गया है कि वे एक ही परमतत्त्वके विविध प्रकाश हैं तथा स्वरूपतः अभिन्न हैं ।

> रजः सत्त्वं तमश्चेति पुरुषं त्रिगुणात्मकम् ।
> वदन्ति केचिद् ब्रह्माणं विष्णुं केचिच्च शंकरम् ॥
> एको विष्णुस्त्रिधा भूत्वा सृजत्यत्ति च पाति च ।
> तस्मात् भेदो न कर्तव्यस्त्रिषु देवेषु सत्तमैः ॥
> (पद्म० क्रिया० १ । ५-६

'सत्त्व, रज और तम—इन त्रिगुणोंको ही शरीररूपमें धारण करनेवाले पुरुषका कोई ब्रह्मा, कोई विष्णु तथा कोई-कोई शंकर नामसे निर्देश करते हैं । फलतः एक ही सर्वव्यापी पुरुष त्रिविधरूपमें सृष्टि, स्थिति और संहार करता है । अतएव श्रेष्ठ पुरुष उपर्युक्त देवत्रयमें भेदबुद्धि नहीं करते ।'

विष्णुपुराणमें लिखा है—

> सृष्टिस्थित्यन्तकरणाद् ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम् ।
> स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः ॥
> (१ । २ । ६६

'एकमात्र भगवान् जनार्दन ही सृष्टि, स्थिति और संहार क्रियाके भेदसे ब्रह्मा, विष्णु और शिव संज्ञाको प्राप्त होते हैं

पौराणिक भक्तिसाधनामें सम्प्रदाय-भेद

औपनिषद ब्रह्मवादमें देवताओंका कोई स्थान न था ज्ञानमार्गकी साधनामें एक अद्वितीय ब्रह्मका ध्यान और धारणा ही विहित थी । पौराणिक युगमें भक्तिमार्गका प्रक होनेसे प्राचीन वैदिक देवताओंका पुनरभ्युदय हुआ त विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणपतिको केन्द्र करके क्रम वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर और गाणपत्य—ये पाँच उपास सम्प्रदाय गठित हुए तथा उनके मतोंके परिपोषणके लि विभिन्न पुराण, उपपुराण आदि प्रणीत हुए । इन पाँ उपासक-सम्प्रदायोंमें वैष्णव, शैव और शाक्त—इन ती सम्प्रदायोंने विशेष प्राधान्य प्राप्त किया तथा प्रत्येकने भ मार्गकी साधनाके ऊपर जोर दिया और अपने-अपने सम्प्रदाय अनुसार भक्तिमार्गकी साधनाकी विशेष-विशेष प्रणाली अ पद्धति बनायी । पुराणशास्त्रने साधकोंकी उपासनामें सुविध लिये इष्टमें निष्ठा तथा साम्प्रदायिक साधन-पद्धतिके ऊपर विशेष जोर देते हुए भी सब सम्प्रदायोंकी मौलिक एकता और उपास्य देवताओंकी स्वरूपता अभिन्नताके विषयमें दृढ़ताकी शिक्षा दी है । स्कन्दपुराणकी गणना शैव पुराणोंमें की जाती है । इसमें शिवजीने अपने श्रीमुखसे घोषणा की है कि शिव और विष्णु स्वरूपतः अभिन्न हैं—

> यथा शिवमयो विष्णुरेवं विष्णुमयः शिवः ।
> अन्तरं शिवविष्णोश्च मनागपि न विद्यते ॥
> (काशीखण्ड २१ । ४१)

([illegible] भक्तिमार्ग

[illegible] संख्या पाँच-छःसे अधिक

[illegible] सबमें

विष्णुदेवताका उल्लेख मिलता है। इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि अन्यान्य प्रधान देवताओंसे सम्बद्ध मन्त्रोंकी अपेक्षा विष्णुकी मन्त्र-संख्या कम होनेपर भी भावगाम्भीर्य और तात्त्विक दृष्टिसे ये सब मन्त्र विशेष गुरुत्वपूर्ण हैं। वेदोंके संहिता-युगमें इन्द्रदेवताकी विशेष प्रधानता थी, परंतु कालक्रमसे इन्द्रकी प्रधानता घटती गयी और विष्णुकी प्रधानता बढ़ गयी। ऋग्वेदके किसी किसी मन्त्रमें विष्णुको इन्द्रका योग्य सखा बतलाया है—इन्द्रस्य युज्यः सखा (१।२।२१९)। पुराणमें इन्द्रके स्थानमें विष्णु ही सुप्रतिष्ठित होते हैं तथा वैष्णव पुराणोंमें परमेश्वररूपमें पूजित होते हैं। विष्णुपुराण, नारदीय, गरुड, पद्म, ब्रह्मवैवर्त, भागवत आदि पुराणोंमें विष्णुकी महिमा विशेषरूपसे व्यक्त हुई है। इन सब पुराणोंमें विष्णु ही परतत्त्वके रूपमें ग्रहण किये गये हैं तथा राम-कृष्णादि विष्णुके अवतारके रूपमें पूजित हैं। श्रीराम और श्रीकृष्णको अवलम्बन करके भक्ति-साधनाकी धारा विशेष परिपुष्ट हुई है तथा प्राचीन कालसे अबतक यह साधनाकी धारा अव्याहत भावसे प्रवाहित होती हुई चली आ रही है। श्रीमद्भागवतमें भक्ति-साधनाके चरमोत्कर्षका परिचय प्राप्त होता है। इसमें भक्ति केवल मुक्तिकी प्राप्तिका साधनमात्र नहीं है, बल्कि भक्तिके चरम परिणामस्वरूप प्रेमको ही भक्तके परम साध्यके रूपमें निर्णीत किया गया है। जिस भक्तके जीवनमें इस प्रेमका विकास हुआ है, वह कभी मुक्तिकी इच्छा नहीं करता, सदा भगवत्सेवाके परमानन्दमें रत रहनेकी ही प्रार्थना करता है।

> न कामयेऽन्यं तव पादसेवना-
> दकिंचनप्रार्थ्यतमाद् वरं विभो।
> (श्रीमद्भा० १०।५१।५६)

'हे विभो! अकिंचन भक्तका उत्तम प्रार्थ्य तुम्हारे श्रीचरणोंकी सेवा है; मैं वही चाहता हूँ, उसके सिवा अन्य वरकी प्रार्थना नहीं करता।'

भक्तिका स्वरूप

भक्तिके स्वरूपका वर्णन करते समय महामुनि शाण्डिल्य कहते हैं—सा परानुरक्तिरीश्वरे, ईश्वरमें निरतिशय अनुरागका नाम ही 'भक्ति' है। देवर्षि नारदने भी अपने भक्तिसूत्रमें भक्तिकी इसी प्रकारकी परिभाषा की है—सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। अमृतस्वरूपा च। भगवान्‌के प्रति एकनिष्ठ प्रेम ही 'भक्ति' है। भक्ति अमृतस्वरूपा है। यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति।' इस (भक्ति) को प्राप्त करके मनुष्य सिद्ध होता है, अमर होता है और परितृप्त हो जाता है।

ईश्वरमें यह 'परानुरक्ति' कैसी होती है, इसको भलीभाँति विष्णुपुराणमें प्रह्लादकी प्रार्थनामें व्यक्त किया गया है—

> नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
> तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥
> या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
> त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥
> (१।२०।१९-२०)

'हे नाथ! मैं कर्मफलके वश होकर भिन्न-भिन्न सहस्रों योनियोंमें परिभ्रमण करूँ, उन सभी योनियोंमें तुम्हारे प्रति मेरी सदा निश्चल भक्ति बनी रहे। अविवेकी मनुष्यकी विषयोंमें जैसी अविचल आसक्ति रहती है, तुम्हारा अनुसरण करते हुए तुम्हारे प्रति मेरी भी वैसी ही अविचल प्रीति रहे, वह मेरे हृदयसे कभी दूर न हो।'

विषयीकी विषयोंके प्रति जो निरतिशय आसक्ति होती है, उसीको मोड़कर यदि ईश्वरमें लगा दिया जाय तो यह अहैतुकी या शुद्ध भक्ति हो जाती है। उपर्युक्त दोनों श्लोकोंका उल्लेख करते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि 'भक्तराज प्रह्लादने भक्तिकी जो परिभाषा की है, वही सर्वापेक्षा समीचीन जान पड़ती है।'

भक्तिमार्गका साधन

भागवतमें भक्तिके नौ प्रकारके साधनोंका उल्लेख है—(१) श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पादसेवन, (५) अर्चना, (६) वन्दना, (७) दास्य, (८) सख्य तथा (९) आत्मनिवेदन या शरणागति।

> श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
> अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
> इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा॥
> (श्रीमद्भा० ७।५।२३-२४)

भागवतमें ज्ञान और वैराग्ययुक्त भक्तिकी प्रशंसा की गयी है। भक्ति ज्ञानके द्वारा दीप्त होती है और वैराग्यके भीतरसे आत्मप्रकाश करती है।

> तच्छ्रद्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया।
> पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया॥
> (श्रीमद्भा० १।२।१२)

दूसरे अध्यायमें श्रवण, कीर्तन और मनन—इस त्रिविध साधनका विस्तृत वर्णन मिलता है—

> येनापि केन करणेन च शब्दपुञ्जं
> यत्र क्वचिच्छिवपरं श्रवणेन्द्रियेण।
> स्त्रीकेलिवद् दृढतरं प्रणिधीयते यत्
> तद् वै बुधाः श्रवणमत्र जगत्प्रसिद्धम्॥

'स्त्री-केलिमें जिस प्रकार मनकी स्वाभाविक आसक्ति होती है, वैसी ही दृढ़ आसक्ति जिस किसी कारणसे जिस किसी स्थानमें उद्भूत शिवविषयक वचनोंमें श्रवणेन्द्रियकी होती है, उसीको ही शैव-साधनामें 'श्रवण' कहते हैं।'

> गीतात्मना श्रुतिपदेन च भाषया वा
> शम्भुप्रतापगुणरूपविलासनाम्नाम्।
> वाचा स्फुटं तु रसवत् स्तवनं यदस्य
> तत्कीर्तनं भवति साधनमत्र मध्यम्॥

''शंकरके प्रताप, गुण, रूप, विलास (लीला) और नामके प्रकाशक संगीत, वेद मन्त्र या भाषाद्वारा मधुर रागमें उनकी स्तुति ही मध्यम साधन 'कीर्तन' के नामसे प्रसिद्ध है।''

> पूजाजपेशगुणरूपविलासनाम्नां
> युक्तिप्रियेण मनसा परिशोधनं यत्।
> तत् संततं मननमीश्वरदृष्टिलभ्यं
> सर्वेषु साधनवरेष्वपि मुख्यमुख्यम्॥

'युक्तियुक्त मनके द्वारा शंकरकी पूजा, जप, गुण, रूप, विलास और नामोंके तात्पर्यको सदा गम्भीरभावसे चिन्तन करना ही साधनोंमें श्रेष्ठ साधन 'मनन' नामसे प्रसिद्ध है। यह शिवकी कृपासे ही प्राप्त होता है।'

> एवं मननपर्यन्ते साधनेऽस्मिन् सुसाधिते।
> शिवयोगो भवेत् तेन सालोक्यादिक्रमाच्छनैः॥
> (शि० पु०, वि० सं० १।२८)

'इस प्रकार क्रमशः मननपर्यन्त साधन सुसाधित होनेपर शिवयोग निष्पन्न होता है। पश्चात् क्रमशः उसी शिवयोगके बलसे साधक सालोक्य आदि मुक्ति-पदको प्राप्त होता है।'

शिवदृष्टि या कृपावाद

शैवभक्ति-साधनामें शिवदृष्टि या शिवकी कृपाके ऊपर विशेष जोर दिया गया है। शिवकी कृपासे ही भक्ति प्राप्त होती है तथा उस भक्तिके द्वारा ही वे प्रसन्न होते हैं।

> प्रसादाद् देवताभक्तिः प्रसादो भक्तिसम्भवः।
> यथेहाङ्कुरतो बीजं बीजतो वा यथाङ्कुरः॥
> (शि० पु०, वि० सं० १।१४)

'जिस प्रकार अङ्कुरसे बीज तथा बीजसे अङ्कुर उत्पन्न होता है, उसी प्रकार देवताके प्रसादसे देवभक्ति तथा देवभक्तिके द्वारा देवताकी प्रसन्नता प्राप्त होती है।'

शिवकी कृपादृष्टि असाध्य-साधनमें समर्थ है। उनकी करुणासे महापापी भी पुण्यात्मा होकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है—

> पतितो वापि धर्मात्मा पण्डितो मूढ एव वा।
> प्रसादे तत्क्षणादेव मुच्यते नात्र संशयः॥
> अयोग्यानां च कारुण्याद् भक्तानां परमेश्वरः।
> प्रसीदति न संदेहो निगृह्य विविधान् मलान्॥
> (शिवपुराण, वायवीयसंहिता, उत्तरभाग ८।२५, २६)

'पतित हो या धर्मात्मा, पण्डित हो या मूर्ख—सभी उनके प्रसादसे तत्क्षण मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। शिवभक्तोंके अयोग्य होनेपर भी करुणावश परमेश्वर उनके विविध पापोंका नाश करके प्रसन्न होते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है।'

(ग) शाक्त भक्तिमार्ग

परतत्त्वकी मातृरूपमें उपासना करनेकी पद्धति वैदिक-युगमें ही बीजरूपमें प्रचलित थी। शाक्त-पुराणोंमें मातृ-भावकी उपासनाने प्रधानता प्राप्तकर पौराणिक भक्ति मार्गकी साधना-धारामें विशेष वेग-संचार कर दिया। ऋग्वेदमें मातृ-भावका सुस्पष्ट परिचय मिलता है 'अदिति' नाममें। 'अदिति' है सर्वलोकजननी, विश्वधात्री, मुक्तिप्रदायिनी, आत्मस्वरूपिणी इत्यादि। ऋग्वेदके वाक्सूक्त या देवीसूक्त (१०।१२५) में आद्याशक्ति जगज्जननी देवी भगवतीके स्वरूप और महिमाका वर्णन है। इसमें देवी स्वमुखसे कह रही है—'ब्रह्मस्वरूपा मैं ही रुद्र, वसु, आदित्य तथा विश्वेदेवोंके रूपमें विचरण करती हूँ। मैं ही मित्र-वरुण, इन्द्र-अग्नि तथा अश्विनीकुमारद्वयको धारण करती हूँ।' यही देवी जनकल्याणके लिये असुरोंके दमनमें निरत रहती है (अहं जनाय समदं कृणोमि), यही जगत्की एकमात्र अधीश्वरी है (अहं राष्ट्री) तथा भक्तोंको भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाली है (संगमनी वसूनाम्)। जीवके अभ्युदय और निःश्रेयस—सब उनकी कृपापर निर्भर करते हैं।

यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि
तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्।
(ऋग्वेद १० । १२५ । ५)

'मैं जिसको-जिसको चाहती हूँ, उसको-उसको श्रेष्ठ बना देती हूँ। उसको ब्रह्मा, ऋषि या उत्तम प्रज्ञाशाली बना डालती हूँ।'

कृष्णयजुर्वेदके अन्तर्गत तैत्तिरीय आरण्यकमें जगज्जननी भगवती दुर्गाके स्वरूप और महिमाको प्रकाशित करनेवाला निम्नाङ्कित स्तुति-मन्त्र दृष्टिगोचर होता है—

तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं
वैरोचनीं कर्मफलेषु जुष्टाम्।
दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये
सुतरसि तरसे नमः ॥
(तैत्तिरीय आरण्यक १० । १)

'जिनका वर्ण अग्निके समान है, जो तपःशक्तिके द्वारा ज्वलत्स्वमान हो रही हैं, जो स्वयं प्रकाशमाना हैं, जो ऐहिक और पारलौकिक कर्मफलकी प्राप्तिके लिये साधकोंके द्वारा उपासित होती हैं, मैं उन्हीं दुर्गादेवीकी शरण ग्रहण करता हूँ। हे देवि! तुम संसार-सागरको पार करनेवालोंके लिये श्रेष्ठ सेतु-रूपा हो, तुम्हीं परित्राणकारिणी हो, मैं तुमको प्रणाम करता हूँ।'

केनोपनिषद्में ब्रह्मविद्या और ब्रह्मशक्तिस्वरूपिणी हैमवती उमाका प्रसङ्ग है। उससे ज्ञात होता है कि आद्याशक्ति ही सर्वभूतोंमें शक्तिरूपसे अवस्थित है। उनकी शक्तिके बिना अग्नि एक तृणको भी नहीं जला सकता, वायु एक छोटे-से तृणको भी स्थानसे हटा नहीं सकता।

वेद और उपनिषदोंमें निहित आद्याशक्तिके इन सब तत्त्वोंका आश्रय लेकर शाक्त पुराणोंमें देवीके स्वरूप, महिमा और उपासना प्रणालीका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। देवीभागवत, मार्कण्डेयपुराण, कालिकापुराण, देवीपुराण, महाभागवत आदि पुराणों तथा उपपुराणोंमें देवीका माहात्म्य वर्णित है। मार्कण्डेयपुराणके अन्तर्गत 'सप्तशती चण्डी' देवीमाहात्म्यसे सम्बन्ध रखनेवाले श्रेष्ठ और नित्य पाठ्य-ग्रन्थके रूपमें हिंदू समाजमें प्रचलित है। ब्रह्मवैवर्त-पुराणके अन्तर्गत प्रकृतिखण्डमें, शिवपुराणके अन्तर्गत उमासंहिता-प्रकरणमें तथा ब्रह्माण्डपुराणके अन्तर्गत ललितोपाख्यान-प्रकरणमें भी शक्तिके माहात्म्य और साधन-पद्धतिका वर्णन पाया जाता है।

महाभागवतके अन्तर्गत भगवती-गीतामें देवीके परमेश्वरीत्व-भावका वर्णन प्राप्त होता है—

सृजामि ब्रह्मरूपेण जगदेतच्चराचरम्।
संहरामि महारुद्ररूपेणान्ते निजेच्छया ॥
दुर्वृत्तशमनार्थाय विष्णुः परमपूरुषः।
भूत्वा जगदिदं कृत्स्नं पालयामि महामते ॥
(भगवती-गीता ४ । १२-१३)

देवी हिमालयसे कहती हैं—'मैं ही ब्रह्मारूपसे जगत्की सृष्टि करती हूँ तथा अपनी इच्छाके वश महारुद्ररूपसे अन्तमें संहार करती हूँ। हे महामते! मैं ही पुरुषोत्तम विष्णुरूप धारण करके दुष्टोंका नाश करते हुए समस्त जगत्का पालन करती हूँ।'

सप्तशती चण्डीमें ब्रह्माकृत देवी-स्तुतिमें कहा गया है—

विष्णुः शरीरग्रहणमहमीशान एव च।
कारितास्ते यतोऽतस्त्वां कः स्तोतुं शक्तिमान् भवेत् ॥
(चण्डी १ । ८४)

'हे जगन्मातः! तुमने मुझ (ब्रह्मा) को, विष्णु और रुद्रको शरीर ग्रहण कराया है। अतः तुम्हारी स्तुति करनेमें कौन समर्थ हो सकता है।'

शाक्तपुराणोंमें मातृभाव अवलम्बन करके पराशक्ति भगवतीकी आराधनाके द्वारा होनेवाली विशेष फल-प्राप्तिका पुनः-पुनः उद्घोष किया गया है। शैव श्रीनीलकण्ठजीने अपनी देवी-भागवतकी टीकाकी उपक्रमणिकामें इस प्रकारके बहुत-से प्रमाण उद्धृत किये हैं—

आराध्या परमा शक्तिः सर्वैरपि सुरासुरैः।
मातुः परतरं किञ्चिदधिकं भुवनत्रये ॥

'यह परमाशक्ति भगवती सभी देव-दानवोंके द्वारा आराधनीया हैं। त्रिभुवनमें क्या मातासे भी बढ़कर पूजनीय और कोई है!'

धिग् धिग् धिग् धिक् च तज्जन्म यो न पूजयते शिवाम्।
जननीं सर्वजगतः करुणारससागराम् ॥

'जो सारे जगत्की जननी हैं, करुणा-रसके समुद्रके समान हैं, उन मङ्गलमयी जननीकी जो पूजा नहीं करता, उसके जन्मको सौ बार धिक्कार है।'

शरणागति

पौराणिक शाक्त उपासना प्रणालीमें भक्ति-मार्गकी महिमा विशेषरूपसे घोषित की गयी है तथा अनन्यशरणागतिको

ही जगज्जननीकी कृपा-प्राप्तिका श्रेष्ठ मार्ग निर्देश किया गया है। देवीभागवतके अन्तर्गत 'देवीगीता' में कहा गया है—

> अपराधो भवत्येव तनयस्य पदे पदे ।
> कोऽपरः सहते लोके केवलं मातरं विना ॥
> तस्माद् यूयं पराम्बां तां शरणं यात मातरम् ।
> निर्व्याजया चित्तवृत्त्या सा वः कार्यं विधास्यति ॥
>
> (देवीभागवत ७ । ३१ । ४८-४९)

'संतानसे पद-पदपर अपराध हो जाता है, त्रिलोकमें एकमात्र जननीके सिवा दूसरा कौन उसे सहन कर सकता है। अतएव तुमलोग तत्काल ही ऐकान्तिक भक्तिके साथ उस परम जननीके शरणापन्न हो जाओ, वही तुम्हारे कार्यको पूरा करेगी।'

सप्तशती चण्डीमें महर्षि मेधाने महाराज सुरथको ऐसा ही उपदेश दिया है—

> तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम् ।
> आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा ॥
>
> (चण्डी १३ । ५)

'हे महाराज! उसी भगवती परमेश्वरीकी शरणमें जाओ। उसकी आराधना करनेसे ही वह मनुष्योंको भोग, स्वर्ग और अपवर्ग प्रदान करती है।'

गुण-भेदसे भक्तिके तीन प्रकार

देवीभागवतके अन्तर्गत देवीगीतामें शाक्त-भक्तिमार्गके साधन-तत्त्वपर विस्तृतरूपसे आलोचना की गयी है (देवी-भागवत ७ । ३७)। गुणभेदसे भक्ति तामसी, राजसी और सात्त्विकी—तीन प्रकारकी है। तामसी भक्तिसे क्रमशः राजसी भक्तिका और राजसी भक्तिसे सात्त्विकी भक्तिका उदय होता है। अन्तमें सात्त्विकी भक्ति पराभक्तिमें परिणत हो जाती है।

पराभक्तिका लक्षण

सात्त्विकी भक्तिकी साधना करते-करते साधक क्रमसे परम प्रेमरूपा पराभक्तिको प्राप्त करता है। जो उस पराभक्तिको प्राप्त करके धन्य हो गया है, देवीभागवतमें उसके लक्षणका वर्णन इस प्रकार हुआ है—

> अधुना तु पराभक्तिं प्रोच्यमानां निबोध मे ।
> मद्गुणश्रवणं नित्यं मम नामानुकीर्तनम् ॥
> कल्याणगुणरत्नानामाकरायां मयि स्थिरम् ।
> चेतसो वर्तनं चैव तैलधारासमं सदा ॥
>
> (देवीभागवत ७ । ३७ । ११-१२)

देवी हिमालयसे कहती हैं—'हे नगेन्द्र! अब मैं पराभक्तिके विषयमें कह रही हूँ, तुम ध्यान देकर सुनो। जिसे पराभक्ति प्राप्त हो जाती है, वह साधक सदा-सर्वदा मेरा गुण-श्रवण तथा मेरा नाम-कीर्तन करता है। कल्याणमय गुणरत्नोंकी खानि-स्वरूप मुझमें ही उसका मन तैलधाराके समान सदा अविच्छिन्नभावसे स्थित रहता है।'

पराभक्ति और अद्वैतज्ञान

भक्ति-भूमिकामें द्वैतरूपमें उपास्य-उपासकभाव विद्यमान रहता है, इसीसे अद्वैतज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता; परंतु यह पराभक्ति अद्वैत-ज्ञानकी जननी है। पराभक्तिकी परिणतिमें उपास्य-उपासकभाव दूर हो जाता है, सर्वत्र अद्वैत अनुभूति होती है। देवीगीतामें भगवती कहती हैं—

> भक्तेस्तु या पराकाष्ठा सैव ज्ञानं प्रकीर्तितम् ।
> वैराग्यस्य च सीमा सा ज्ञाने तदुभयं यतः ॥
>
> (देवीभागवत ७ । ३७ । २८)

'पण्डितलोग भक्ति और वैराग्यकी चरम सीमाको ज्ञान कहते हैं; क्योंकि ज्ञानके उदय होनेपर भक्ति और वैराग्य सम्पूर्णता सिद्ध हो जाती है।'

> परानुरक्त्या मामेव चिन्तयेद् यो ह्यतन्द्रितः ।
> स्वाभेदेनैव मां नित्यं जानाति न विभेदतः ॥
>
> (७ । ३७ । १५)

स्वाभेदेनैवेति। अहमेव सच्चिदानन्दरूपिणी भगवत्यस्मीति भावनया इत्यर्थः। (नीलकण्ठः)

'जिसको पराभक्ति प्राप्त हो गयी है, वह साधक अतन्द्रित होकर परम अनुरागपूर्वक मेरा ही चिन्तन करता रहता और इस प्रकार चिन्तन करते-करते अन्तमें मुझको अपनेसे भिन्न न समझकर 'मैं ही सच्चिदानन्दरूपिणी भगवती हूँ'—इस प्रकारका अभिन्न ज्ञान प्राप्त करता है।'

> इत्थं जाता पराभक्तिर्यस्य भूधर तत्त्वतः ।
> तदैव तस्य चिन्मात्रे मद्रूपे विलयो भवेत् ॥
>
> (७ । ३७ । १७)

'हे भूधर! जिसमें यथार्थरूपसे इस प्रकारकी पराभक्तिका उदय हो गया है, वह मनुष्य तत्काल ही मेरे चिन्मात्रस्वरूपमें विलीन हो जाता है।'

प्रश्न हो सकता है कि ज्ञानावस्थामें यदि अद्वैतानुभूति होती है तो श्रीरामप्रसाद आदि भक्तगण जो यह प्रार्थना करते हैं कि 'चिनि हते चाइ ना मा, चिनि खेते भालबासि' (अर्थात् माँ! मैं चीनी बनना नहीं चाहता, चीनीका आस्वाद लेना

मुझे पसंद है)—इसकी संगति कैसे लगेगी ?' वस्तुतः 'चीनी बनने' और 'चीनी खाने' का विवाद 'वाचारम्भण' मात्र है। शब्दगत पार्थक्यको छोड़कर दोनोंमें तात्पर्यगत पार्थक्य नहीं है। विचारदृष्टिसे या ज्ञानकी दृष्टिसे मोक्ष है—'चीनी हो जाना' और भावदृष्टिसे या भक्तिकी दृष्टिसे मोक्ष है—'चीनी खाना'। दृष्टिभेदसे शब्दगत पार्थक्य दीख पड़नेपर भी परमार्थतः दोनों अवस्थाएँ एक और अभिन्न हैं। व्यावहारिक जगत्में 'होने' तथा 'खाने' में जो पार्थक्य दीख पड़ता है, पारमार्थिक क्षेत्रमें वह पार्थक्य नहीं है। जैसे एक ही ब्रह्मरूप वस्तु एक साथ ही सविशेष निर्विशेष तथा सगुण और निर्गुण दोनों ही है, उसी प्रकार मुक्तिकी अवस्थामें 'होना' और 'खाना' दोनों एक साथ ही सम्पादित होते हैं। जिनको मुक्तिकी प्राप्ति हो गयी है, उनके लिये ब्रह्म होना या ब्रह्मका आस्वादन करना एक ही बात है। भेद-बोध यदि लेशमात्र भी रहे तो परिपूर्ण आस्वादन सम्भव नहीं है। रस-स्वरूपसे तनिक भी विच्छिन्न होनेपर, उसमें एकबारगी निःशेषभावसे डूबे बिना परिपूर्ण आस्वादन सम्भव नहीं है। विद्वद्वर्य श्रीनरहरिने 'बोधसार' ग्रन्थमें इस सम्बन्धमें जो कुछ कहा है, वह विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है—

> अपरोक्षानुभूतिर्या वेदान्तेषु निरूपिता ।
> प्रेमलक्षणभक्तेस्तु परिणामः स एव हि ॥
>
> (बोधसारः ११ । १०)

"वेदान्तमें जो अपरोक्षानुभूतिके नामसे निरूपित हुआ है, वही 'प्रेम-लक्षणा भक्ति' या 'पराभक्ति' की परिणति है।"

श्रीमद्भागवतमें प्रतिपाद्य भक्ति

(लेखक—द० भ० प० श्रीचापुमांरवे महाराज)

श्रीमद्भागवत भक्तिशास्त्रका अद्वितीय ग्रन्थ है, वह समस्त विद्वानोंको मान्य है। इस ग्रन्थराजका मुख्य सिद्धान्त यह है कि भक्तिप्राप्त पुरुषके लिये कोई भी साधन और साध्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। यह बात भक्तप्रिय श्रीउद्धवजीके प्रति स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपने ही श्रीमुखसे कही है—

> भक्तिं लब्धवतः साधो किमन्यदवशिष्यते ।

'हे साधो ! जिसको भक्तिकी प्राप्ति हो गयी है, उसके लिये क्या अवशिष्ट रह जाता है ?' साधनकालमें भी भक्तियोग स्वतन्त्र होनेके कारण भक्तियोगीके लिये अन्य साधनोंकी अपेक्षा नहीं होती, न उससे अधिक किसी साधनसे लाभ ही मिलता है।

> तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
> न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥

अर्थात् भक्तियोगीके लिये ज्ञान-वैराग्यादि श्रेयस्कर नहीं होते। भक्तियोगी अन्य-निरपेक्ष होता है और अन्य योगी भक्तिसापेक्ष होते हैं। इस श्लोकमें जो 'प्रायः' शब्द है, वह प्रायोऽभिवपेऽवधारणे इस कोष-वाक्यके अनुसार निश्चयताका ही बोधक है। भक्ति स्वतन्त्र होनेके कारण ज्ञानकी परम भूमिकासे अपना पृथक् स्वरूप रखती है। इसी कारणसे ज्ञानी और भक्तकी भूमिका विभिन्न होती है। 'भक्तिरसायन' ग्रन्थमें श्रीमधुसूदन सरस्वती स्वामीजीने स्वरूप, साधन, फल और अधिकारके भेदसे ज्ञानी और भक्तकी विभिन्नताका बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। परंतु विस्तारभयसे यहाँ वह नहीं दिया गया। श्रीभागवत, एकादश स्कन्ध २ । ४५ में वह महत्त्वपूर्ण विषय आया है।

उपर्युक्त श्लोकमें 'आत्मा' शब्दका 'हरि' अर्थ करके श्रीधरस्वामीने श्लोकके भावका पूर्णतया भक्तिमें पर्यवसान कर दिया है। शास्त्रीय ग्रन्थोंमें प्रायः प्रथम अर्थके प्रति अरुचि होनेसे ही 'यद्वा'से प्रारम्भ करके दूसरा अर्थ लिखनेकी प्रथा रूढ़ है। यहाँ भी ऐसा होना क्रमप्राप्त है। पर वह कौन-सा कारण है, जिससे श्रीधर स्वामीको प्रथम अर्थसे संतोष नहीं हुआ ? इस असंतोषका कारण बतलाते हुए एक टीकाकार कहते हैं—

> समन्वयं व्याहिंं एतत् स्वाद्वैतनिष्ठार्था भवति । भक्तास्तु सगुणनिष्ठामेवाद्रियन्त इत्यत आह ॥

'व्याहेति' अर्थात् यह समन्वय अद्वैत-निष्ठाका बोधक है। पर भक्त तो सगुण निष्ठाका ही आदर करते हैं। अतः इसी अरुचिके कारण 'यद्वा' इत्यादि आगेका प्रकरण लिखा गया। इस अरुचिका महत्त्वपूर्ण कारण बतलाते हुए दूसरे टीकाकार लिखते हैं—'यद्वा'पर्यन्त जो व्याख्यान है,

> एतत्तु ज्ञानिनां लक्षणं न तु भागवतलक्षणमित्याश-
> यिन्योत्तरव्याख्यानमितिरित्याह यद्वेति ।

अर्थात् यह तो ज्ञानियोंका लक्षण है, न कि भागवतोंका। इससे 'आम्रनिम्बोत्तरन्याय'की प्राप्ति हुई। इस न्यायका स्वरूप यह है। किसीने पूछा कि 'आपके यहाँ कितने आमके

हुए हैं!' इसके उत्तरमें कहा गया कि 'हमारे यहाँ तो नीमके पेड़ हैं।' यह जैसे प्रश्नके अनुरूप उत्तर नहीं है, वैसे ही यहाँ पूछे गये थे भागवतोंके लक्षण और बतलाया गया ज्ञानीका लक्षण। अतएव प्रश्नानुरूप उत्तर न होनेके कारण प्रथम अर्थसे अरुचि हुई। इसीलिये 'अथ'से प्रारम्भ करके भागवतोंके लक्षण बतलानेवाला दूसरा यथार्थ अर्थ लिया। निष्कर्ष यह कि ज्ञानी और भक्तके स्वरूपमें भिन्नता है और द्वितीय अर्थका भाव ही भगवद्भक्तोंकी भक्ति है और 'भक्ति'का अर्थ है 'भागवत'-प्रतिपाद्य भक्ति।

अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम्।
यथाचरति यद् ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रियः॥

योगेश्वर हरिने भागवतका स्वरूप जाननेकी इच्छासे राजाके द्वारा उपर्युक्त प्रश्न किये जानेपर उत्तर दिया है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

इसका साधारणतया भाव बतलानेवाला एक श्लोक गीतामें भी मिलता है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

इस श्लोकमें आत्माका और सर्वभूतोंका आधार-आधेय भाव प्रतिपादन किया गया है। सामान्यतया आधार-आधेय भावकी प्रतीति जड़ वस्तुमें ही होती है, अतः इससे आत्मामें जड़त्वकी कल्पना हो सकती है। परंतु यहाँका आधार-आधेय भाव जड़ वस्तुओंके आधाराधेय-भावसे सर्वथा विलक्षण है, यही दिखलानेके लिये 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' श्लोकके आरम्भमें ही यह प्रतिपादन किया गया है। यहाँ आधारभूत आत्मामें आधेय वस्तुमें जैसी व्याप्ति दिखायी, वैसी जड़ आधारमें नहीं होती। फलतः 'योगयुक्तात्मा' दोनोंकी एकता देखता है, यही भाव उपरिनिर्दिष्ट भागवतके श्लोकमें भी है।

भक्ति-भागीरथीकी अजस्र भावधारा

(लेखक—पण्डित श्रीदेवदत्तजी शास्त्री)

वेदोंमें भक्ति

भक्तिका उद्गम और विकास अधिकांश चिन्तकोंकी दृष्टिसे विवादास्पद है। उनका मत है कि वेदोंमें 'भक्ति' का कोई उल्लेख नहीं है। ज्ञान, कर्म और उपासना—इन तीन काण्डोंसे युक्त वेदमें 'भज्' धातुसे निष्पन्न 'भक्त' या 'भक्ति' शब्दको ढूँढ़ना भाव-प्रवाह या भाव-धाराके जिज्ञासुओंकी अवहेलना करना है। वेदोंके अध्ययनसे पता चलता है कि उपनिषद्-कालके बाद उपासनाका जो भावार्थ 'भक्ति' निर्धारित किया गया, उसका मूल स्रोत वेद है।

ऋग्वेदका एक मन्त्र है—

इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति।

कुवित् सोमस्यापामिति।

अर्थात् मेरे मनमें तो यह आता है कि अपनी गौओं और घोड़ोंको उनको दे डालूँ, जिन्हें इनकी आवश्यकता है, क्योंकि मैंने बहुत बार सोमका पान किया है।

यहाँ 'सोम' शब्दका अर्थ सोमलता नहीं बल्कि आनन्द-रससे परिपूर्ण भगवान् है। वेद स्वयं इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए कहता है—

सोमं मन्यते पपिवान् यत्सम्पिंषन्त्योषधिम्, सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन।'

अर्थात् कोई पिसी हुई सोम ओषधिको ही पीकर यह न समझ ले कि मैंने सोमपान किया है। जिस 'सोम' का पान ब्राह्मणलोग करते हैं, उसे सांसारिक भोगोंमें आसक्त आदमी नहीं पी सकता।

यह 'सोम' कौन-सा है, जिसे ब्राह्मणलोग पीते हैं—इस प्रश्नके उत्तरमें बताया गया है—

ऋजीषीविक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिता।

अर्थात् यह 'सोम' सबकी रक्षा करनेवाला भगवान् है, जो 'स्वजः'—अपने भक्तके हृदयमें प्रकट होता है। इस प्रकार सोमका भावार्थ हुआ प्रभुके भक्तका भक्तिरसमें भीग जाना—डूब जाना। तात्पर्य यह कि वेदोंमें भक्तिका 'सोम' वाचक शब्द है।

और 'भक्त' शब्दके वाचक 'अपर्या,' 'स्तोता,' 'जरिता', 'सुम्नांसः' आदि अनेक शब्द मिलते हैं—

१—आभर्वत स्तुहि देवं सवितारम्।

(ऋग्वेद)

१—न मे स्तोतामतीवा न दुर्हितः स्यादग्ने न पापया।

(ऋग्वेद)

२—एषा नेत्री राधसः सूनृतानामुषा उच्छन्ती रिभ्यते वसिष्ठैः।

(ऋग्वेद)

३—प्रति त्वा स्तोमैरीळते वसिष्ठा उषर्बुधः सुभगे तुष्टुवांसः।

यही नहीं, बल्कि पौराणिक कालसे प्रचलित मानी जानेवाली 'स्मरणं कीर्तनं' आदि नवधा भक्तिका मूल उद्गम वेद ही है।

वेदका ऋषि भगवान्‌का स्मरण करता है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥

अर्थात् हे प्रजापते! (त्वत्) तुमसे (अन्यः) भिन्न कोई दूसरा (ता) उन (एतानि) इन (विश्वा) सम्पूर्ण (जातानि) उत्पन्न पदार्थोंमें (न) नहीं (परि बभूव) अंदर-बाहर व्याप्त हो सकता। इसलिये तेरे समान शक्ति किसीमें नहीं है। (यत्कामाः) जिस-जिस कामनाके लिये हम (ते) तुझे (जुहुमः) पुकारें, (नः) हमारी (तत्) वह कामना (अस्तु) पूरी हो जाय। (वयं) हम सब (रयीणाम्) भौतिक और आध्यात्मिक ऐश्वर्योंके (पतयः) स्वामी हो जायँ।

आजकलकी भाँति सामूहिक कीर्तनद्वारा भगवद्भक्तिकी पद्धति वेदोंमें भी पायी जाती है। वैदिककालके 'तुष्टुवांसः' के लिये सामूहिक कीर्तनका विधान निम्नाङ्कित मन्त्रमें मिलता है—

सखाय आ नि षीदत सविता स्तोम्यो नु नः।
दाता राधांसि शुम्भति।

(ऋग्वेद)

अर्थात् (सखायः) मित्रो! (आ नि षीदत) आओ, मिलकर बैठो। (सवितु) सबको उत्पन्न करनेवाले-सबको गति देनेवाले भगवान्‌की (नः) हमको (नु) निश्चयपूर्वक (स्तोम्यः) सामूहिक कीर्तनद्वारा उपासना करनी है। वह भगवान् (राधांसि दाता) सब सिद्धियोंको देनेवाले पदार्थोंका दाता है। (शुम्भति) वह भगवान् हमें पवित्र बनाता है।

सख्यभावकी भक्ति वेदोंमें बहुत ही मार्मिक है। एक भक्त भगवान्‌की उपासना करता है, उसे प्रभुका साक्षात्कार नहीं होता। वह निराश होकर भगवान्‌से मन-ही-मन कहता है—

'प्रभो! मुझे दर्शन क्यों नहीं दे रहे हो! मेरी भक्तिसे तुम प्रसन्न क्यों नहीं होते! तुम किसे अपना बन्धु बनाते हो! तुम किसके प्रयत्नसे प्रसन्न होते हो! किसके हृदयमें तुम अपना निवास बनाते हो!'

भक्तके इन भावोंसे भगवान् संतुष्ट होते हैं, उसे अपनी कृपाका साक्षात्कार कराते हुए भगवान् भक्तसे कहते हैं—

'भक्त! तुम्हीं मेरे बन्धु हो। अपने प्रयत्नसे तुम्हीं मुझे प्राप्त करते हो। मैं तुम्हारा ही सखा हूँ और सखाओंके हृदयमें मैं सहायक होकर बैठता हूँ। मित्र! निराश मत हो। चलते चलो, जिस राहपर चल रहे हो। वह दिन दूर नहीं, जब तुम मुझे प्रतिक्षण देखा करोगे।'

कस्ते जामिर्जनानामग्ने को दाश्वध्वरः।
को ह कस्मिन्नसि श्रितः।

(ऋग्वेद १।७५।३)

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः।
सखा सखिभ्य ईड्यः।

(ऋग्वेद १।७५।४)

इसी प्रकार प्रातःकाल और सायंकाल नित्य भगवद्भक्ति करनेका जो विधान आजकल प्रचलित है, वह वेदोंमें भी है। ऋग्वेदके सातवें मण्डलके ४१ वें सूक्तमें जो ऋचाएँ हैं, उनमें प्रातःकालकी उपासना है—

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह॥

अथर्ववेदके १९।५५ सूक्तमें ६ मन्त्र हैं, जिनमें भक्त भगवान्‌की प्रार्थना सोते समय और जागते समय करता है। उसकी इस प्रार्थनामें भक्तद्वारा भगवान्‌के प्रति जो भावनाएँ व्यक्त की गयी हैं, वे सजीव और साकार हैं—

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम॥

देवता-विज्ञान

वेदोंमें ईश्वरके अतिरिक्त देवताओंकी भक्ति प्रचुर मात्रामें उपलब्ध है। निरुक्तकार यास्कमुनिने निरुक्त (७।४।८-९) में लिखा है—

महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्य आत्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।

अर्थात् एक परमात्माकी विभिन्न शक्तियाँ ही देवता हैं। दूसरे शब्दोंमें परमात्माकी मुख्य-मुख्य शक्तियोंके प्रतीक देवगण हैं।

वेदोंके युगमें अग्नि, वायु, सूर्य मुख्य देवता थे। निरुक्तकारने देवताका अर्थ 'प्राण शक्ति सम्पन्न' लिखा है। अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र, सूर्य आदि जितने देवता हैं, सब शक्तिरूप हैं। इन सभी देवताओंके कार्योंके अन्तरमें ऋत (कारणसत्ता) विद्यमान रहता है। ईश्वर ऋत-सत्यमय है। ऋत और सत्य—ये सूक्ष्म तत्त्व हैं। इन्हीं सूक्ष्म तत्त्वोंको (मूर्तिपूजाका) स्थूल रूप देकर भारतीय संस्कृतिमें देवताओंकी पूजा, भक्ति, उपासनाका विकास हुआ है।

वेदान्तकी दृष्टिसे विश्व ब्रह्माण्डकी परम शक्तिको ब्रह्म, चैतन्य, आत्मा, सत्-चित्-आनन्द आदि कहा जाता है, किंतु इन सबके अन्तरमें जो मूल वस्तु है, वह शक्ति है। उसी शक्तिको देवी-देवताके रूपमें पूजा जाता है। यही परम शक्ति सृष्टि, स्थिति और प्रलयका कार्य करती है। इन तीन कार्योंके लिये उस परम शक्तिकी तीन शक्तियाँ हैं, जिन्हें ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहा जाता है। वेदोंमें आकाशको ब्रह्म (खं ब्रह्म) कहा गया है। उस आकाशमें स्थित उसकी अवान्तर शक्तियों-को पुराणोंमें इन्द्र (मेघशक्ति), वरुण (जलशक्ति), अग्नि (विद्युत्-शक्ति) और वायु (पवनशक्ति) कहा गया है।

शिव-विष्णुप्रभृति देवताओंकी भक्ति और पूजा वैदिक-कालसे ही चली आ रही है। तैत्तिरीय-उपनिषद्में मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथि-देवो भव। कहकर शिक्षा दी गयी है कि जिस तरह शिव, विष्णु आदि देवोंकी उपासना की जाती है, उसी प्रकार माता-पिता, आचार्य और अतिथिकी भी उपासना करनी चाहिये। भगवान् शंकराचार्यने अर्थको स्पष्ट करते हुए लिखा है—देववदु-पास्या एत इत्यर्थः। तात्पर्य यह कि पितृदेव, भद्रदेव, शिश्नदेव आदि देवान्त शब्द प्रसङ्गतः भिन्न-भिन्न अर्थ रखते हैं; किंतु कतिपय विद्वान् इनका अर्थ करनेमें भूल करते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों और तैत्तरीयसंहितामें 'भद्रदेव' शब्दका उल्लेख है। जर्मन भाषामें प्रकाशित संस्कृतकोशके सम्पादकोंने 'भद्रदेव' का अर्थ देवविश्वासी किया है। एग्गेलिंग महोदयने अपने शतपथ-ब्राह्मणके अंग्रेजी अनुवादमें इसका अर्थ 'देवभीरु' किया है। हमारे यहाँके भाष्यकारोंने 'भद्रवान्' अर्थ किया है, जिसका तात्पर्य होता है—जिस प्रकार देवतामें आदर होता है, उसी प्रकार भद्रमें हो।

किंतु शिश्नदेव, स्त्रीदेव-जैसे शब्दोंका अर्थ देवता कभी नहीं हो सकता। तथापि कतिपय विद्वान् शिवलिङ्ग-पूजाका उदाहरण देकर शिश्न (पुरुष-जननेन्द्रिय) को देव मानकर सनातनधर्मकी आलोचना करते हैं।

ब्रह्माण्डपुराण (उत्तरखण्ड १।९।११) में ये कलियुगके व्याप्त होनेपर बढ़ती हुए पापाचारका वर्णन करते हुए अन्तमें लिखा गया है—

मातृपितृकृतद्वेषाः स्त्रीदेवाः कामकिंकराः।

यहाँ 'स्त्रीदेव'का अर्थ कामुक है, न कि स्त्रीदेवता। इसी तरह शिश्नदेवका अर्थ भी कामुक ही अभिप्रेत है। कहीं-कहीं कामुकोंको शिश्नपरायण भी लिखा हुआ है, जिसका अर्थ न समझनेवाले आलोचक शिवभक्त करते हैं।

भक्तिका उद्भव और विकास

भक्तिका उद्भव और उसका इतिहास इतना पुराना है कि इतिहास इसके प्रारम्भकी देहलीतक भी नहीं पहुँच पाया। इसकी असीम व्यापकताको कालकी सीमा—अवधि सीमित नहीं कर सकी। उपलब्ध ग्रन्थों और पुरातात्त्विक सामग्रीसे यह निश्चित अनुमान किया जा सकता है कि परमात्माकी विश्व-शक्तिकी भक्ति (साकार-उपासना) उपनिषद्-कालसे पाँच हजार वर्ष पूर्व प्रचलित थी। उस समयका जनसमाज 'महामाया' पर विश्वास रखता था। यह कहना भूल है कि वृक्षों और नदियोंकी पूजा अनार्य-पद्धति है और आर्योंने अनार्योंसे सीखी है। वस्तुतः वृक्षों और नदियोंकी पूजा-भक्ति उस समय भी थी, जिसे आजकलके ऐतिहासिक प्रागैतिहासिककाल कहते हैं। यजुर्वेदमें वृक्षों, नदियों और विभिन्न अन्नौषधियोंकी स्तुतियाँ मिलती हैं। वृक्षों और नदियोंकी पूजा प्रकृतिमूलक है। यह भक्ति अन्धपरम्परा या अन्धविश्वासपर आधारित नहीं है। यह सौन्दर्यशक्तिकी भावानुभूतिका प्रतीक है। यही प्रकृतिमूलक उपासना देवी—शक्तिकी उपासनामें परिवर्तित हुई है।

वेदों, उपनिषदों और पुराणोंने ब्रह्मकी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको शक्ति माना है। श्वेताश्वतर-उपनिषद्का कहना है कि सत्त्व, रज, तम—यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही शक्ति कहलाती है। इसीका मूल स्रोत हमें ऋग्वेदमें मिलता है—

अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः॥

इसके अतिरिक्त ऋग्वेदके रात्रिसूक्त, देवीसूक्त तथा श्रीसूक्तमें एवं अथर्ववेदके देव्यथर्वशीर्षमें भगवतीकी भक्ति और पूजाका विकसित रूप स्पष्ट कथित होता है।

दुर्गोपनिषद् शक्तिको दुर्गादेवी—कात्यायनि स्वीकार करता है। मार्कण्डेय, पद्म, कूर्म, भागवत, नारद आदि पुराणों तथा बुद्धचरित, रामायण, महाभारत आदि इतिहासमें एवं योगवासिष्ठ, पातञ्जलयोगदर्शन, पूर्वमीमांसा, उत्तर-मीमांसा, न्यायकुसुमाञ्जलि, शास्त्रदीपिका आदि दर्शन-ग्रन्थोंमें एवं मालतीमाधव, कुमारसम्भव, दशकुमारचरित, नागानन्द, कर्पूरमञ्जरी, कादम्बरी आदि काव्योंमें शक्ति-उपासनाके अनेक बीज और विधान हैं।

हिंदू-धर्मग्रन्थोंके अतिरिक्त जैन, बौद्ध सम्प्रदायोंके ग्रन्थोंमें भी शक्ति-उपासनाके अनेक विधान और प्रमाण उल्लिखित हैं। जैनधर्मके ज्ञानधर्मकथाकोश-जैसे प्रबन्धात्मक साहित्यमें प्रकृति (शक्ति) सम्बन्धी प्रचुर लेख-सामग्री है। बौद्ध-साहित्यमें शक्तिके रूपमें 'तारा', 'हारिती' और 'प्रभिमेखला' का विशद वर्णन है। बौद्धोंकी महायान शाखाद्वारा शाक्तमत और सहजयान शाखाद्वारा वैष्णवमतको पर्याप्त बल मिला है। उनकी वज्रयान शाखासे विभिन्न मन्त्रों, यन्त्रों, टोने-टोटकोंका आविर्भाव हुआ है। उपलब्ध पुरातत्त्व-सामग्री और साहित्यसे स्पष्ट बोध होता है कि भारतीय देवी-देवताओंकी उपासनाका क्षेत्र क्रमशः बढ़ते-बढ़ते भारतकी सीमा पार करके तिब्बत और समस्त पूर्वी एशियाई देशोंतक विस्तृत हो गया था।

इस तरह भक्ति-भागीरथीका अजस्र प्रवाह आदिकालसे जन-मनको आप्लावित करता हुआ प्रवाहित है, जिसके अनेक स्रोत सम्प्रदाय, मतके नामसे प्रवहमाण हैं।

भक्ति और ज्ञान

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी)

बहुधा न समझनेके कारण ज्ञान और भक्ति विभिन्न-से दीख पड़ते हैं, और कभी-कभी तो दोनोंको परस्पर-विरोधी मानकर, एकको माननेवाले मनुष्य दूसरेकी निन्दा तक करते देखे जाते हैं।

तात्त्विक दृष्टिसे भक्ति और ज्ञान उसी प्रकार परस्पर उपकारक हैं, जैसे वैराग्य और तत्त्वज्ञान। तत्त्वज्ञानसे वैराग्य प्रबल होता है तथा प्रखर वैराग्यसे ज्ञान-निष्ठा बढ़ती है। इसी प्रकार जैसे-जैसे भगवान्‌में भक्तिभाव बढ़ता जाता है, वैसे-ही-वैसे ध्यानमें निष्ठा बढ़ती जाती है, और जैसे-जैसे ज्ञान परिपक्व होता जाता है, वैसे-वैसे भगवत्प्रेम उमड़ता जाता है।

एक लौकिक दृष्टान्त लीजिये। जिस मनुष्यके विषयमें आप कुछ नहीं जानते, केवल उसका नाम आपने सुना है, उसके प्रति आपके हृदयमें भक्ति या भाव कैसे उत्पन्न हो सकता है। यदि आप उसका भाषण सुनें या लेख पढ़ें और उससे यदि आप प्रभावित हों, तभी उसके प्रति आपके हृदयमें भाव जाग्रत् होगा; और एक बार भाव जाग्रत् होनेपर उसके विषयमें अधिकाधिक जाननेकी इच्छा उत्पन्न होगी तथा उसके दर्शनकी भी इच्छा होगी। इसी प्रकार ज्ञानसे भक्तिका उदय होता है और भक्तिसे पीछे जिज्ञासा बढ़ती है तथा ज्ञान होता है। इस प्रकार दोनों ही परस्पर उपकारक हैं, एक दूसरेके विरोधी हैं ही नहीं।

अब इस विषयमें आगे विचार करनेसे पहले एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बातपर ध्यान दीजिये। साधक भक्तियोग, ज्ञानयोग या अष्टाङ्गयोगमेंसे किसीकी भी साधना करता हो, तीनोंका लक्ष्य तो एक ही है—भले ही वह विभिन्न नामोंसे पुकारा जाता हो। साधन-प्रणालीकी विभिन्नताके कारण तीनों मार्गोंमें विभिन्न पारिभाषिक शब्दोंका होना स्वाभाविक है—एक ही फलको जैसे कोई 'अमरूद' कहता है तो कोई 'जाम-फल' और कोई 'प्यारा'।

> भगवान् परमात्मेति प्रोच्यतेऽष्टाङ्गयोगिभिः।
> ब्रह्मेत्युपनिषन्निष्ठैर्ज्ञानं च ज्ञानयोगिभिः॥

तात्पर्य यह है कि जिस चेतन सत्ताको भक्त 'भगवान्' कहता है, उसी चेतन सत्ताको अष्टाङ्गयोगी 'परमात्मा' कहते हैं और उसी परम सत्ताको वेदान्ती 'ब्रह्म' कहते हैं और सांख्ययोगवाले अर्थात् ज्ञानी 'ज्ञान' या 'ज्ञान-स्वरूप' कहते हैं। भक्त जिसको 'भगवत्प्राप्ति' कहता है, उसको योगी 'आत्मा-परमात्माका मिलन' कहते हैं, वेदान्ती उसी स्थितिको ब्राह्मी स्थिति या 'ब्रह्मभूत' होना कहते हैं और ज्ञानी 'स्वरूपमें स्थिति' कहते हैं। भक्त साधन-कालमें 'दासोऽहम्' कहता है और जब पराभक्तिका उदय होता है, तब उसमेंसे 'दा' उड़ जाता है, केवल 'सोऽहम्' रह जाता है। तब भक्त भगवान्‌के साथ एकीभावको प्राप्त होता है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

> इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
> (गीता १४ । २)

'तत्त्वज्ञानका आश्रय लेकर साधक मेरे समान धर्मवाला बन जाता है अर्थात् मेरे साथ उसका अभेद हो जाता है—मैं और वह भिन्न नहीं रह जाते।'

गीता भी कहती है कि भक्ति और ज्ञान परस्पर उपकारक हैं और एकके बिना दूसरा नहीं रह सकता। परंतु परिपाकके समय दोनों अभिन्न हो जाते हैं—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गीता ११।५४)

'हे शत्रुको तपानेवाले अर्जुन! केवल अनन्यभक्तिके द्वारा—मुझमें एक निष्ठावाली भक्तिके द्वारा मेरा तत्त्व-ज्ञान—मेरे सम्पूर्ण स्वरूपका ज्ञान होता है, मेरे सगुण स्वरूपका दर्शन भी हो जाता है तथा भक्त मुझमें सर्वतोभावेन मिलकर मेरा रूप बन जाता है।' इस प्रकार यहाँ यह बतलाया गया कि भक्तिसे ज्ञान और ज्ञानसे मुक्ति होती है। पुनः गीताका उपसंहार करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८।५४-५५)

'इस प्रकार ब्रह्मरूप हुए ज्ञानीका चित्त निरन्तर प्रसन्न रहता है और इस कारणसे वह किसी भी सांसारिक घटनासे उद्विग्न नहीं होता अर्थात् वह किसीके लिये शोक नहीं करता, न किसी पदार्थकी इच्छा ही करता है।† वह सब भूतोंमें समभाववाला होकर मेरी पराभक्तिको प्राप्त करता है अर्थात् मेरे साथ उसका अभेद हो जाता है। बल्कि ऐसा भक्त मेरे समग्र स्वरूपको यथार्थतः जान लेता है और तत्त्वज्ञानके द्वारा वह अविलम्ब मुझमें प्रवेश कर जाता है, मद्रूप बन जाता है।' यहाँ 'विशते तदनन्तरम्'का भाव यह है कि ज्ञान और मुक्ति अथवा पराभक्ति और भगवत्प्राप्ति दोनों एककालमें होते हैं।* बल्कि यों भी कह सकते हैं कि परा-भक्तिका ही दूसरा नाम मुक्ति है अथवा ज्ञानका ही दूसरा नाम मुक्ति है। क्योंकि पराभक्तिके उदयके बाद, अथवा तत्त्व-ज्ञानके उदयके बाद मुक्तिके लिये कोई कर्तव्य नहीं रह जाता, दोनों साथ ही होते हैं।

बिजलीके दीपमें जैसे बटन दबाते ही प्रकाश उत्पन्न होता है, उसी प्रकार ज्ञान और मुक्ति एक ही साथ होते हैं। इसलिये यहाँ बहुत ही विस्तारपूर्वक और स्पष्टरूपसे भगवान्ने कह दिया कि भक्ति और ज्ञान परस्पर उपकारक हैं और दोनोंका एक ही फल है—'मेरी प्राप्ति'।

दूसरी रीतिसे देखिये तो ज्ञानयोग और भक्तियोग दोनों ही भक्तिके ही विभिन्न प्रकार हैं। साधन-प्रणालीमें भेद होनेके कारण दोनों विभिन्न नामोंसे बोले जाते हैं। जिसको हम 'ज्ञानयोग' कहते हैं, वह 'अभेद-भक्ति' कहलाती है; और जिसको हम 'भक्तियोग' कहते हैं, वह 'भेद-भक्ति' कहलाती है। भेद-भक्तिमें साधक प्रारम्भमें अपनेको भगवान्से पृथक् मानता है और तीन सीढ़ियाँ पार करके एकीभावको प्राप्त हो जाता है।

प्रारम्भमें जब उसको भगवान्के सम्बन्धमें कोई ज्ञान नहीं रहता, तब वह ऐसा निश्चय करता है कि मैं भगवान्का हूँ—'तस्यैवाहम्।' उसके बाद जब वह अनुभव करता है कि भगवान् तो सर्वव्यापक हैं और चराचर भूतमात्रमें उनका निवास है, तब वह भगवान्को अपने सम्मुख मानता है और कहता है—'हे भगवन्! मैं तुम्हारा हूँ और तुम मेरे हो'—'तवैवाहम्'। तत्पश्चात् भाव-परिपाकके समय जब पराभक्तिका उदय होता है, तब तो वह भगवत्-रूप ही हो जाता है और कहता है—'त्वमेवाहम्'। हे भगवन्! मैं तुमसे पृथक् कहाँसे होऊँ।

* श्रुति भी कहती है—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।' जो साधक ईश्वरके प्रति सर्वतोभावसे आत्मसमर्पण कर देता है, उसके ऊपर ईश्वर प्रसन्न होते हैं और अपने समग्र स्वरूपको उसके सामने प्रकट कर देते हैं।

† श्रुति भी कहती है—'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनु-पश्यतः।' जिसको सर्वत्र एकत्वदृष्टि हो गयी है, उसको किसका मोह हो और किसका शोक हो तथा किस वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छा हो।

* ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति। (गीता ४।३९) ज्ञान हो जानेपर साधक तत्काल परम शान्तिको—मुक्तिको प्राप्त करता है। यहाँ भगवान्ने 'अचिरेण' शब्दका प्रयोग करके स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञान और मुक्ति साथ-साथ होते हैं। ज्ञान होनेके बाद मुक्तिके लिये कोई दूसरा कर्तव्य नहीं रह जाता।

क्योंकि तुम्हीं सर्वरूप हो।* इस प्रकार भेद-भक्तिकी साधनासे भक्त भगवान्‌के साथ अपना अभेद अनुभव करने लगता है।

ज्ञानमार्गमें तो प्रारम्भ ही अभेदसे होता है। इस कारण इस साधनाको अभेद-भक्ति कहते हैं। इस मार्गमें साधक पहले, 'मैं ब्रह्मरूप हूँ' यह निश्चय करता है, तत्पश्चात् 'स्वयं भी ब्रह्मरूप हूँ'—ऐसा निश्चय होता है। इसको 'स्वस्वरूपस्थिति' या 'ब्रह्मनिष्ठा' कहते हैं। श्रुतिमें अभेद-भक्तिका एक दृष्टान्त इस प्रकार मिलता है—

> जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादौ प्रपञ्चो यः प्रकाशते।
> तद् ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वपाशैः प्रमुच्यते ॥

जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें जो प्रपञ्चका अनुभव होता है, वह सभी ब्रह्मरूप है। पहले साधकको इतना निश्चय करना चाहिये। यह निश्चय परिपक्व होनेपर वह अपने-आपको ब्रह्मरूप ही देखता है; क्योंकि जहाँ सब ब्रह्मरूप हो गया, वहाँ वह स्वयं ब्रह्मसे पृथक् कैसे रह सकता है। इस प्रकार इस अभेद-भक्तिका फल भी ब्रह्मकी प्राप्ति या मुक्ति अथवा ईश्वरके साथ अभेद—जो भी कहो, वह है।

अब भक्ति और ज्ञानका स्वरूप समझिये। अभेद-भक्तिकी साधनामें अर्थात् ज्ञानयोगकी साधनामें साधक विचारका आश्रय लेता है और विचारसे अपने-आपको परमात्मासे अभिन्न निश्चय करता है। वह विचार करता है कि मैं सत्-चित्-आनन्द स्वरूप आत्मा हूँ। मैं सत् हूँ, इसलिये त्रिकालाबाधित होनेके कारण मेरा जन्म-मरण नहीं होता। मैं चित् हूँ, इसलिये चैतन्यस्वरूप होनेके कारण मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और इस कारण ज्ञान-प्राप्तिके लिये मुझे यत्न नहीं करना है। फिर मैं आनन्दस्वरूप हूँ, अतः सुख पानेके लिये मुझको जगत्‌के प्राणी-पदार्थोंकी आवश्यकता नहीं है।'

पुनः, मैं शरीर नहीं हूँ। इसलिये जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि शरीरके धर्म मुझको पीड़ा नहीं दे सकते। मैं प्राण नहीं, इसलिये भूख-प्यास आदि प्राणके धर्म मुझको व्याकुल नहीं कर सकते। इसी प्रकार मैं इन्द्रिय नहीं हूँ, इसलिये इन्द्रियों तथा उनके विषयोंके संयोग-वियोगसे उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःख मुझको स्पर्श भी नहीं कर सकते। फिर, मैं अन्तःकरण नहीं हूँ। इसलिये शोक-मोह, राग-द्वेष, कर्ता-भोक्ता आदि अन्तःकरणके धर्म मेरे पास पहुँच नहीं सकते।

जैसे सूर्यके प्रकाशके द्वारा प्राणिमात्र अपने-अपने शुभाशुभ व्यवहारोंमें लग जाते हैं, परंतु इससे सूर्यनारायणको कोई सुख-दुःख या हर्ष-शोक नहीं होता, उसी प्रकार मेरे चैतन्यके प्रकाशके द्वारा देह, इन्द्रियाँ, प्राण तथा अन्तःकरण अपने-अपने शुभाशुभ व्यवहारमें लग जाते हैं। परंतु उन व्यवहारोंसे प्राप्त होनेवाले उनके सुख-दुःख मुझमें कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकते।

इस प्रकार दीर्घ समयतक शान्त चित्तसे, भाव और प्रेमसे विचार करते-करते साधक कृतकृत्य हो जाता है।

भेदभक्तिकी साधनामें अर्थात् भक्तियोगकी साधनामें भक्त इस प्रकार विचार करता है—इस जगत्‌में जो-जो रूप दीखते हैं, वे सब भगवान् स्वयं ही धारण कर रहे हैं अर्थात् एक ही भगवान् अनन्त रूपोंमें प्रकट हो रहे हैं जो-जो शब्द सुननेमें आते हैं, वे सभी भगवान्‌के नाम हैं। और जो कुछ अनुकूल या प्रतिकूल अथवा शुभाशुभ व्यवहार होता दीखता है, वह सब भगवान्‌की ही लीला है। जैसे-जैसे भगवान्‌के प्रति अनुराग बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।' का अनुभव होता जाता है। इस प्रकार साधन करते-करते भक्त कृतकृत्य हो जाता है और भगवान्‌के साथ अपना अभेद अनुभव करता है।

यहाँ इन दोनों साधनोंमें ही समानरूपसे आवश्यक बात यह है कि साधक साधन-चतुष्टय-सम्पन्न होना चाहिये। क्योंकि इसके बिना कोई भी साधना सिद्ध नहीं हो सकती।

---

* अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ (गीता ११ । ४०)

'हे अनन्त सामर्थ्य एवं अतुल पराक्रमवाले भगवान्! आप सबमें व्याप्त हो रहे हैं, अतः ये सारे रूप एक आपके ही हैं।'

श्रुति भी कहती है—

'एकं रूपं बहुधा यः करोति।'

'परमात्मा स्वरूपसे तो एक है, परंतु वही अनन्तरूपोंको धारण किये हुए है।'

भक्तिका स्वरूप

(लेखक—पूज्य स्वामीजी श्री १०८ श्रीशरणानन्दजी महाराज)

भक्ति स्वभावसे ही रसरूप, दिव्य एवं चिन्मय है। अथवा यों कहो कि वह तत्त्वज्ञानरूपी फलका अनुपम रस है। रसकी माँग प्राणिमात्रमें स्वाभाविक है। रसकी प्राप्तिमें ही कामका अत्यन्त अभाव है; क्योंकि नीरसतामें ही कामकी उत्पत्ति होती है। भक्ति-रसके समान अन्य कोई रस नहीं है। यदि यह कहा जाय कि भक्तिमें ही रस है तो कोई अत्युक्ति नहीं है। रस उसे नहीं कहते, जिसमें क्षति हो अथवा पूर्ति हो। जो तत्त्व क्षति और पूर्तिसे रहित है, वह स्वरूपसे ही अगाध तथा अनन्त है। पर यह रहस्य तभी खुलता है, जब साधक अपनी रसकी स्वाभाविक माँगसे निराश नहीं होता, अपितु उसके लिये नित्य नव-उत्कण्ठापूर्वक लालायित रहता है। भक्ति वह प्यास है, जो कभी बुझती नहीं और न कभी उसका नाश ही होता है, अपितु वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है।

भक्ति जिसके प्रति होती है, उसे भी नित्य-नव रस मिलता है और जिसको होती है, उसे भी रस मिलता है; क्योंकि भक्ति 'भक्तका जीवन' और 'उनका स्वभाव' है, जिनकी वह भक्ति है। इतना ही नहीं, भक्तका अस्तित्व भक्ति होकर ही उनसे अभिन्न होता है, जिनके प्रति भक्ति उदय होती है।

भक्ति उन्हींके प्रति होती है, जिनके होनेमें संदेह नहीं है। यह नियम है कि निस्संदेहतापूर्वक जिसकी सत्ता स्वीकार कर ली जाती है, उसमें विश्वास अपने-आप हो जाता है। जिसमें विश्वास हो जाता है, उससे नित्य सम्बन्ध स्वाभाविक है। नित्य सम्बन्ध होते ही सभी अनित्य सम्बन्ध स्वतः मिट जाते हैं और उनके मिटते ही अखण्ड स्मृति अपने-आप होती है।

स्मृति स्वभावसे ही दूरी, भेद और विस्मृतिके नाश करनेमें समर्थ है। दूरीके नाश होनेमें योग, भेदके नाश होनेमें बोध तथा विस्मृतिके नाशमें आत्मीयता स्वतःसिद्ध है। आत्मीयता अखण्ड, अनन्तप्रियताकी जननी है। प्रियता स्वभावसे ही रसरूप है। इस दृष्टिसे भक्ति अनन्त रसकी प्रतीक है। आत्मीयता अभ्यास नहीं है, अपितु जीवन है। इसी कारण आत्मीयतासे उदित रस कभी नाश नहीं होता और न उसकी कभी पूर्ति होती है। वह रस अविनाशी होनेसे अखण्ड और कभी उसकी पूर्ति न होनेके कारण अनन्त है।

आत्मीयता वर्तमानकी वस्तु है। जो वर्तमानकी वस्तु है, उसके लिये श्रम अपेक्षित नहीं है। जिसके लिये श्रम अपेक्षित नहीं है, वह सभीके लिये साध्य है। जो सभीके लिये साध्य है, वही अनन्त है। अतः भक्तिरस अनन्तका ही स्वभाव है, और कुछ नहीं। भक्ति-रससे शून्य जीवन ही नहीं है; क्योंकि भक्ति-रसके बिना नीरसताका अन्त नहीं हो सकता। उसका अन्त हुए बिना कामका नाश नहीं हो सकता। कामके रहते हुए जीवन ही सिद्ध नहीं होता; क्योंकि काम समस्त विकारों तथा पराधीनताका प्रतीक है। पराधीनता जड़ता तथा अभावकी जननी है। जड़ता तथा अभावके रहते हुए भी यदि जीवन है तो मृत्यु क्या है? इतना ही नहीं, ऐसा कोई प्राणी है ही नहीं, जो किसी-न-किसीका भक्त न हो; क्योंकि सम्बन्धशून्य कोई व्यक्ति नहीं है। जिसका किसीसे सम्बन्ध नहीं है, उसका सभीसे सम्बन्ध है। जिसका सभीसे सम्बन्ध है, वह किसीसे विभक्त नहीं हो सकता। जो विभक्त नहीं हो सकता, वह भक्त है और उसीका जीवन भक्ति है।

जबतक साधकके जीवनमें एकसे अधिककी स्वीकृति रहती है, तबतक उसे विकल्परहित विश्वास प्राप्त नहीं होता। इसके प्राप्त हुए बिना शरणागत होना सम्भव नहीं है। शरणागत हुए बिना 'अहं' और 'मम' का नाश नहीं हो सकता और उसके हुए बिना भक्ति-रसकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। अतः अनेक अस्वीकृतियोंमें ही एक स्वीकृति निहित है। एक स्वीकृतिमें ही अविचल विश्वास तथा श्रद्धा विद्यमान है। विद्यमान विश्वास तथा श्रद्धाकी जागृतिमें ही शरणागति सजीव होती है।

शरणागतिकी सजीवतामें ही निश्चिन्तता, निर्भयता और आत्मीयता निहित है। निश्चिन्तता सामर्थ्यकी, निर्भयता स्वाधीनताकी तथा आत्मीयता प्रीतिकी प्रतीक है। सामर्थ्यकी अभिव्यक्तिमें ही अकर्तव्यका अभाव और कर्तव्यपरायणता निहित है अर्थात् जो नहीं करना चाहिये, उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती और जो करना चाहिये, वह स्वतः होने लगता है। यह नियम है कि दोषोंका अभाव होते ही गुणोंका अभिमान स्वतः गल जाता है। गुण-दोषरहित जीवनमें अहंकी गन्ध भी नहीं है। अहंके नाशमें ही भेद तथा भिन्नताका नाश है, जो ज्ञान तथा प्रेमका प्रतीक है। इस दृष्टिसे शरणागति कामनाओंकी निवृत्ति, जिज्ञासाकी पूर्ति और प्रेमकी प्राप्तिका सर्वोत्कृष्ट साधन है। पर शरणागत वही हो सकता है, जो अपनी निर्बलताओंसे अपरिचित नहीं है और अनन्तकी अहैतुकी कृपामें जिसकी अविचल श्रद्धा है।

भक्ति और ज्ञानकी एकता

(लेखक—पूज्यपाद स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज)

भक्ति और ज्ञानको लेकर प्रायः बहुत चर्चा चलती है, शास्त्रोंमें स्थान-स्थानपर ज्ञान और भक्तिकी महिमा वर्णित है। कहीं तो ज्ञानकी सर्वाधिक प्रशंसा की गयी है और कहीं भक्तिकी। महात्माओंके सत्सङ्गमें भी कभी भक्तिको ही सर्वोपरि बताया जाता है और कभी ज्ञानको ही कल्याणका अन्तिम साधन। इन दोनोंमेंसे किसी एकमें बिना निष्ठ हुए साधक अपनी साधनाको यथेष्ट विकसित करनेमें समर्थ नहीं हो पाता। किंतु जबतक यह निश्चय न हो जाय कि इन दोनोंका यथार्थ स्वरूप एवं परस्पर सम्बन्ध क्या है, तबतक किसीमें भी निष्ठ होना कठिन है।

श्रीमद्भागवतके माहात्म्यमें भक्ति माता और ज्ञान-वैराग्य पुत्र बतलाये गये हैं। यह भी कहा गया है कि ज्ञान-वैराग्यके अचेत होनेपर भक्ति भी दुर्बल और दुःख-विह्वल हो गयी थी। श्रीमद्भागवतके भी अनेक स्थल ज्ञान-वैराग्यकी उत्पत्तिके हेतुरूपमें भक्तिका प्रतिपादन करते हैं—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यत्तदहैतुकम्॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥
विसृज्य सर्वानन्याश्च मामेवं विश्वतोमुखम्। (?)

विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेवं विश्वतोमुखम् — [illegible]

—इत्यादि।

रामचरितमानसमें श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने काकभुशुण्डि-गरुड-संवादके द्वारा इस सिद्धान्तकी पुष्टि की है। काकभुशुण्डि अपने पूर्व जन्मोंकी कथा सुनाते हुए कहते हैं कि 'मैंने एक बार अवधपुरीमें जन्म लिया और वहाँ अकाल पड़ जानेके कारण मैं उज्जैन चला गया। मेरे पास बहुत धन हो गया, जिससे मेरा अभिमान बढ़ गया। मेरे एक शिव-भक्तिपरायण वैदिक द्विजवर गुरु थे। मैं उनकी कपट सेवा किया करता था। फिर भी वे मुझे पुत्रके समान पढ़ाते थे। उन्होंने मुझे शम्भु-मन्त्र दिया और विविध प्रकारसे शुभ उपदेश किया। मैं शिवमन्दिर जाकर अत्यधिक अहंकार और दम्भ-युक्त हृदयसे मन्त्र-जप करता था। मैं मोहवश विष्णुभक्तोंसे मात्सर्य और भगवान् विष्णुसे द्रोह करने लगा। गुरु मुझे बहुत समझाते थे, वे मेरे आचरणोंको देखकर दुःखित थे; पर उससे मेरा क्रोध ही बढ़ता था। एक बार जब उन्होंने कहा—

सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम पद होई॥

—तब मेरा हृदय जल गया, मैं उनकी भी उपेक्षा करने लगा। एक बार मैं शिवमन्दिरमें बैठकर नाम-जप कर रहा था। मन अहंकारसे भरपूर तो था ही, गुरुके आनेपर भी उठकर प्रणाम नहीं किया। गुरु दयालु थे, उनमें रोषका लवलेश भी नहीं था। वे तो कुछ न बोले, पर भगवान् शंकर गुरुका अपमान-रूप पाप न सह सके। उन्होंने रुष्ट होकर सहस्र जन्मोंतक अजगर हो जानेका शाप दे दिया। गुरुकी प्रार्थनापर भगवान् शंकरका अनुग्रह हुआ। उन्होंने कहा, 'द्विज! यद्यपि मेरा शाप व्यर्थ नहीं होगा, इसे सहस्र जन्म लेना ही पड़ेगा, फिर भी मेरे अनुग्रहसे इसे जन्म-मरणमें जो दुःसह दुःख होता है, वह न होगा।' फिर मुझसे कहा—'तेरा जन्म भगवान्‌की पुरीमें हुआ है, साथ ही तूने मेरी सेवामें भी मन दिया है। इसलिये पुरीके प्रभाव और मेरे अनुग्रहसे तेरे हृदयमें रामभक्ति उपजेगी।' थोड़े ही कालमें शापकी अवधि समाप्त हो गयी, तदनन्तर मुझे द्विजकी चरम देह प्राप्त हुई। पूर्व जन्मकी शिव-सेवाके फलस्वरूप भगवान् रामके चरणोंमें रुचि उत्पन्न हुई—

मन ते सकल बासना भागी। केवल राम चरन लय लागी॥

'मेरी अप्रतिहत गति तो थी ही, घरसे निकलकर मैं अनेकों मुनियोंके आश्रमोंमें गया और उनसे मैंने रामोपासनाका मार्ग पूछा; पर सभीने निर्गुण ब्रह्मका ही उपदेश किया—

'जेहि पूछउँ सोइ मुनि अस कहई। ईस्वर सर्ब भूतमय अहई॥'

'मुझे निर्गुण-मत सुहाता नहीं था, सगुण ब्रह्ममें ही विशेष रति थी। गुरुके वचनोंका स्मरण करके मन रामचरणोंमें लग गया और मैं क्षण-क्षण नवानुरागसे युक्त होकर रघुपति चरित्रोंका गान करता भ्रमण करने लगा। अन्तमें मुझे सुमेरु पर्वतके शिखरपर एक दिव्य वटकी छायामें आसीन लोमशजीके दर्शन हुए। उनसे भी मैंने सगुण ब्रह्मकी आराधनाका मार्ग पूछा। मुनीश्वरने आदरपूर्वक कुछ रघुनाथजीकी गुण-गाथा सुनायी और मुझे परम अधिकारी समझकर वे ब्रह्मका उपदेश करने

कहे। ब्रह्म अज, अद्वैत, निर्गुण, हृदयेश, अकल, अनीह, अनाम, अरूप, अनुभवगम्य, अखण्ड, अनुपमेय, अवाङ्मनसगोचर, अमल, अविनाशी, निर्विकार, निरवधि सुखराशि है। वही तू है; तुझमें और उसमें उसी प्रकार भेद नहीं, जैसे जल-तरङ्गमें।

सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥

“यद्यपि मुनि लोमशजीने मुझे अनेक प्रकारसे समझाया, किंतु निर्गुण मत मेरे हृदयमें उतरा नहीं। मैंने पुनः उनके चरणोंमें मस्तक रखकर सगुणोपासनाका ही उपदेश देनेके लिये अनुरोध किया और कहा—

राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना॥
सोइ उपदेस कहहु करि दाया। निज नयनन्हि देखौं रघुराया॥
भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा॥

“इसपर फिर उन्होंने भगवान्‌की कुछ अनुपम कथाएँ सुनाकर सगुण मतका खण्डन करके निर्गुणका ही निरूपण किया। तब मैंने भी निर्गुण मतका निराकरण करते हुए अत्यधिक हठके साथ सगुणका निरूपण करना प्रारम्भ कर दिया। बहुत उत्तर-प्रत्युत्तरसे लोमशजीको रोष आ गया और उन्होंने मुझे तुरंत काक-पक्षी हो जानेका शाप दे दिया। मैं तत्क्षण काकके रूपमें परिवर्तित हो गया। फिर भी मैं अपने सिद्धान्तपर अटल रहा।

लीन्ह श्राप मैं सीस चढ़ाई। नहिं कछु भय न दीनता आई॥

“मेरा शील और श्रीरामचरणोंमें विश्वास देखकर लोमशजीके हृदयमें परिवर्तन हुआ। उन्होंने पश्चात्ताप-युक्त होकर मुझे बुलाया, मेरा परितोष किया और हर्षित हृदयसे राममन्त्र प्रदान किया। मुनिने बालकरूप भगवान् रामका ध्यान बताया। वह मुझे बहुत अच्छा लगा। कुछ काल अपने समीप रखकर रामचरितमानस भी सुनाया और आशीर्वाद दिया—

सदा राम प्रिय होहु तुम्ह सुभ गुन भवन अमान।
कामरूप इच्छामरन ग्यान बिराग निधान॥

“तत्पश्चात् मैं इस शैलपर निवास करने लगा। यहाँ रहते मुझे सत्ताईस कल्प बीत गये। जब-जब भगवान् रामका अवधपुरीमें जन्म होता, मैं जाकर जन्म-महोत्सव देखता और पाँच वर्षतक भगवान्‌की बाललीलाके दर्शनके लोभसे वहीं रहता। एक बार भगवान्‌की बालोचित लीलाओंको देखकर कुछ संशय होने लगा। इतना मनमें आते ही प्रभुने अपनी मायाका प्रसार किया। उन्होंने मुझे पकड़नेके लिये हाथ बढ़ाया, मैं भागा; भागते हुए मैंने सब आवरणों—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार, महत्तत्त्व—को पार किया। पर मुझमें और रामकी भुजामें सर्वदा दो ही अंगुलका अन्तर रहा। विवश होकर मैं लौटकर अवधपुरी आया और भगवान्‌के मुखमें प्रविष्ट हो गया। मैंने अनेकों ब्रह्माण्ड उनके उदरमें देखे। वहाँ सब कुछ विलक्षण-विलक्षण दिखलायी पड़ा; किंतु राम सर्वत्र एकरस ही रहे—

राम न देखेउँ आन।

“सब कुछ देखनेके पश्चात् भगवत्प्रेरणासे मैं बाहर आया। भगवान् रामका यह ऐश्वर्य देखकर मेरा हृदय प्रेममग्न हो गया। प्रभु मुझे प्रेमाकुल देखकर प्रसन्न हुए और उन्होंने मुझसे वरदान माँगनेको कहा—

काकभसुंडि मागु बर अति प्रसन्न मोहि जानि।
अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुख खानि॥
ग्यान बिबेक बिरति बिग्याना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग नाना॥
आजु देउँ सब संसय नाहीं। मागु जो तोहि भाव मन माहीं॥

“मैं मनमें विचार करने लगा कि भगवान् सब कुछ देनेके लिये कह रहे हैं, पर अपनी भक्ति देनेकी बात नहीं कहते। सभी सुखोंका मूल भक्ति समझकर मैंने भगवान्‌से भक्तिकी याचना की। भगवान्‌ने भक्ति तो दी ही, साथ ही ज्ञान-वैराग्य आदि भी दे दिये।”

आगे चलकर वे कहते हैं—“अब मैं बिना पक्षपातके वेद, पुराण और संतोंका मत बतलाता हूँ। जीवके बन्धनका हेतु माया है, माया एक सुन्दरी स्त्री है। कोई मतिधीर पुरुष ही ऐसी स्त्रीका त्याग कर सकता है। साधारणतया जो श्रीरघुवीरपदसे विमुख हैं, वे कामी तो विषयवश रहते ही हैं, परंतु स्त्रीके रूपपर स्त्री मोहित नहीं होती। माया और भक्ति नारियाँ हैं, इस कारण भक्तिके लिये मायामें मोहकता नहीं है और फिर ‘भक्ति’ भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है। माया बेचारी उनकी नर्तकी है, इसलिये भक्तिको देखकर माया सकुचाती है। भक्तके सम्मुख मायाका ऐश्वर्य मलिन हो जाता है। किंतु ज्ञानरूपी पुरुषकी ऐसी स्थिति नहीं है।

“जो लोग ऐसी भक्तिको जानकर भी छोड़ देते हैं और श्रम करते हैं केवल ज्ञानके लिये, वे उसी प्रकार जड़ हैं, जैसे वह दुग्धार्थी, जो दुग्धकी प्राप्तिके एकमात्र स्थान घरकी कामधेनुको छोड़कर आककी खोज करने चले।”

तात्पर्य यह कि यथार्थ ज्ञानकी उत्पत्ति भक्तिसे ही हो सकती है। भक्तिहीनके लिये ज्ञान-प्राप्तिकी आशा आकसे दुग्ध

प्राप्त करनेकी आशाके समान है और जैसे आकके दुग्धके रंगका घी निकलता है, उसी प्रकार भक्तिहीन यदि श्रम करके यथा-कथंचित् वाक्य-ज्ञान प्राप्त भी कर ले तो वह मुमुक्षुके लिये विषवत् ही होता है।

इसके पश्चात् उन्होंने क्रमशः 'ज्ञानदीपक' और 'भक्तिमणि' के उपायोंका निदर्शन कराके दोनोंमें भगवत्-कृपाकी अनिवार्यता बतलायी और भक्तिमणिकी सुलभता एवं अम्यर्थताका प्रतिपादन किया है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आकके दुग्ध और ज्ञानदीपकके ज्ञानमें वैलक्षण्य है। आकका दुग्ध नेत्र-ज्योतिका नाशक है, किंतु हरिकृपासे हृदयमें बसनेवाली सात्त्विक श्रद्धारूपी गौका परमधर्ममय दुग्ध आत्मानुभवरूप प्रकाश प्रदान करनेवाले दीपकके लिये विज्ञान-निरूपिणी बुद्धिरूप घृतका कारण है।

यद्यपि आपाततः इस प्रसङ्गको देखनेपर ज्ञानकी अनपेक्ष्यता और भक्तिकी उपादेयता प्रतीत होती है, तथापि सूक्ष्म विचार करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भगवद्भक्तिसे ही सरलतापूर्वक यथार्थ ज्ञानकी उत्पत्ति सम्भव मानते हैं। औपनिषद ज्ञानके स्वरूप एवं फलके विषयमें उन्हें कोई विवाद नहीं।

उन्होंने स्थान-स्थानपर ज्ञान और ज्ञानीकी महत्ता स्वीकार की है—

जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई॥
भएँ ग्यान बरु मिटइ न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥
जासु ग्यान रबि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥

—आदि।

काकजीकी कथामें भी हम इसी तत्त्वको पाते हैं। वे कोरा ज्ञान लेना अस्वीकार करके भक्तिनिष्ठ हो जाते हैं। उस निष्ठाके प्रभावसे ही उन्हें मुनिका आशीर्वाद, भगवल्लीलाका दर्शन और लीलाके द्वारा ही भगवान्‌की सर्वव्यापकता और सर्वाधिष्ठानरूपताका अनुभव एवं दृढ़ ज्ञान-विज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है।

इस कथासे यह भी विदित हो जाता है कि लोमशजी अभेदवादी होते हुए भी परमभगवद्भक्त और दिव्यश्लोक रामचरितमानसके ज्ञाता थे।

श्रीमद्भागवतकी ब्रह्मस्तुतिमें इस विषयका सुन्दर विवेचन है—

पानेन ते देव कथासुधायाः
प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं
यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम्॥
तथापरे चात्मसमाधियोग-
बलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम्।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति
तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते॥

तात्पर्य यह कि भक्त और ज्ञानी दोनों भगवान्‌को प्राप्त करते हैं, पर ज्ञानीको श्रम होता है, सेवकको नहीं। यहाँ भगवत्प्राप्ति और भगवत्तत्त्व विज्ञान साध्यरूपमें एक हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भक्तिसे ज्ञानप्राप्तिके द्योतक बहुत-से वचन हैं—

'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥'
'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।'
'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी॥'
'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।'

यही नहीं,

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

—इस प्रकारकी श्रुतियोंका भी यही आशय है।

इसी प्रकार ज्ञानसे भक्तिकी प्राप्तिके भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। रामचरितमानस-सरका वर्णन करते समय—

संत सभा चहुँ दिसि अवँराई। श्रद्धा रितु बसंत सम गाई॥
संजम नियम फूल फल ग्याना। हरि पद रति रस बेद बखाना॥

—यहाँपर संयम नियमको फूल, ज्ञानको फल और हरि-पद-रतिको उस ज्ञानरूपी फलका रस बतलाया गया है।

भगवान् शंकरके मुखसे भगवान् रामकी स्वरूप-महिमा सुननेके अनन्तर भगवती पार्वतीका कथन—

भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती॥

—भी इसका एक उदाहरण है।

जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगेस जल कै चिकनाई॥

इसमें ज्ञानसे प्रतीति, प्रतीतिसे प्रीति और प्रीतिसे भक्तिकी दृढ़ताका कारण-कार्यभाव दिखलाया गया है। भक्तिमणिकी प्राप्तिके लिये यत्न करते समय—

मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी॥

—में रामकथारूपी रुचिराकरसे भक्तिमणि खोदकर निकालनेके लिये ज्ञान-वैराग्यरूप दो नेत्रोंकी आवश्यकता बतलायी गयी है।

गीतामें भी कहा है—

'भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।'
'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ॥'
'यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ॥'

इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवतमें ज्ञानोत्तर भक्तिके अनुष्ठानके भी अनेक उदाहरण हैं। कुन्तीने भगवान्‌के अवतारोंके अनेक प्रयोजनोंमें एक मुख्य प्रयोजन अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रोंके लिये भक्तियोगका विधान करना बतलाया है। एक प्रसङ्गमें कहा गया है कि—

'भगवान् उरुक्रममें ऐसे गुण ही हैं, जिनसे आकृष्ट होकर आत्माराम निर्ग्रन्थ महामुनि भी उनमें अहैतुकी भक्ति करते हैं।' श्रीशुकदेवजीने पारमहंस-संहिताके अध्ययनमें प्रवृत्तिका हेतु बतलाते हुए कहा—

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ॥

अर्थात् निर्गुण ब्रह्ममें परिनिष्ठित होनेपर भी उत्तमश्लोक श्रीकृष्णकी लीलासे चित्तके आकृष्ट हो जानेके कारण हमने इस महान् आख्यानका अध्ययन किया।

इन स्थलोंसे ज्ञानके द्वारा भक्तिकी उत्कृष्टता पूर्णता और दृढ़ता सूचित होती है।

कहीं-कहीं ज्ञानमिश्रा, कर्ममिश्रा भक्तिसे विलक्षण भक्तिका एक स्वतन्त्र ही रूप दृष्टिगोचर होता है—

सर्वाभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥

अर्थात् सर्वेशके प्रति सर्वाभिलाषशून्य ज्ञान-कर्मसे अनावृत मनोवृत्ति भक्ति है। यहाँ 'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' से भक्तिकी स्वतन्त्रता और ज्ञान-कर्म-निरपेक्षता प्रतीत होती है। किंतु चित्तमें सर्वाभिलाषिता-शून्य भावके अनुकूल संस्कार निष्कामभावसे अनुष्ठित श्रौत-स्मार्त कर्म एवं वैधी भक्तिसे होते हैं, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार भजनीयका स्वरूप-बोध जो भक्तिका मुख्य आधार एवं अङ्ग है, उसकी भी आवश्यकता माननी ही पड़ेगी। अतएव 'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' का अर्थ भक्तिके ऊपर ज्ञान-कर्म छा न जायँ—इतना ही हो सकता है, सर्वथा असम्बद्धता नहीं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'ज्ञान' और 'भक्ति' में विरोध और असम्बद्धता नहीं, प्रत्युत अविरोध और पूरकता है। कहा जा सकता है कि भक्तिके लिये उपास्य-उपासकका भेद अपेक्षित है और ज्ञानमें अभेद। फिर विरोध क्यों नहीं?

किंतु यह विरोधका कारण नहीं हो सकता; क्योंकि व्यावहारिक भेद और तात्त्विक अभेदसे उपासना सम्भव है। परम विलक्षण नाम-रूप-लीला-धामकी सच्चिदानन्दरूपता इसी प्रकार है। इस सम्बन्धमें भगवान् श्रीशंकराचार्यकी षट्पदीका निम्न पद्य कितना हृदयाकर्षक है—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥

अर्थात् भेद न होनेपर भी, नाथ! मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं; क्योंकि तरङ्ग समुद्रका होता है, तरङ्गका समुद्र नहीं।

ज्ञानिनामग्रगण्य श्रीहनुमान्‌जीका यह वचन—

देहबुद्ध्या तु दासोऽहं जीवबुद्ध्या त्वदंशकः।
वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः ॥

—भी इसका एक सुन्दर प्रमाण है।

विचार करनेपर यही निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञान और भक्तिके अनुष्ठान-प्रकारमें भेद होनेपर भी दोनों ही भगवत्प्राप्तिके उत्तम साधन हैं। हृदय-प्रधान अधिकारीके लिये भक्ति और मस्तिष्क-प्रधान अधिकारीके लिये ज्ञान मुख्यरूपमें अनुकूल होता है, यद्यपि दोनोंका दोनोंमें किसी-न-किसी रूपमें समावेश रहता ही है।

ज्ञान-कर्मके स्वाभाविक विरोधके समान ज्ञान और भक्तिका विरोध नहीं कहा जा सकता; क्योंकि गीताके अनुसार ज्ञानी एक विशिष्ट भक्त ही है—

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।

उपासना और ज्ञानमें क्या वैलक्षण्य है, इसपर यही कहा जाता है—

वस्तुतन्त्रो भवेद् बोधः कर्तृतन्त्रमुपासनम्।

अर्थात् बोध वस्तुतन्त्र होता है और उपासना कर्तृतन्त्र। उपासना उपासकके अधीन रहती है, वह उसे करे-न-करे या अन्यथा करे। किंतु बोध तो प्रमाणद्वारा जैसा अनुभूत होता है, बोद्धा उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता; क्योंकि बोध वस्तुतन्त्र है।

ऐसी स्थितिमें विरोध तब हो सकता है, जब 'ज्ञेय' और 'उपास्य' में भेद हो—ज्ञेय परब्रह्म परमात्मा हो और उपास्य कोई अपर देवता। किंतु यदि दोनोंका विषय परब्रह्म ही हो तो इसमें कोई विरोध नहीं बन सकता।

निर्गुणोपासनामें उपासनाका अधिकारी उपनिषदोंके तात्पर्यभूत प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वको ही अपना ध्येय

भक्तोंके परम आदर्श—श्रीमारुति

अतुलितबलधामं हेमशैलाभदेहं दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम् ।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं रघुपतिप्रियभक्तं वातजातं नमामि ॥

बनाता है। उसमें निर्गुण ब्रह्मविचार उपासनाका उपोद्बलक ही होता है, विरोधी नहीं। वैसे ही सगुणोपासनामें भी लक्ष्यैक्य होनेसे अविरोध है।

विरोध तब प्रतीत होने लगता है, जब उपनिषत्तात्पर्यगोचर ब्रह्मसे सगुण साकारका तत्त्व भिन्न समझा जाता है। इसी कारण सगुण-निर्गुणको तात्त्विक दृष्टिसे एक जानना आवश्यक समझा गया है। उपनिषदोंसे लेकर तुलसीकृत रामायणतक सर्वत्र इस एकताका प्रतिपादन है। श्रीमद्भागवतके इन वचनोंको इस विषयमें उद्धृत किया जा सकता है—

> कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
> जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥
> नूनं निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
> अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥

गीताकी भाष्यभूमिकामें भगवान् भाष्यकार शङ्कराचार्य अवतार-तत्त्वका निदर्शन कराते हुए कहते हैं—

भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य च रक्षणार्थं शिष्टाचारस्य स्वभावोऽपि भगवान् वसुदेवात् देवक्यामवततार।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका रामचरितमानस तो, ऐसा प्रतीत होता है, इसी विषयका प्रतिपादन करनेके लिये लिखा गया है। मानसके चार संवादरूप चार घाटोंमेंसे किसी भी घाटमें उतरकर अवगाहन किया जाय—

> रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बर बारि अगाधा॥

—का ही अनुभव होता है।

> ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
> सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद॥

—में तो यह सर्वथा सुस्पष्ट है।

उपर्युक्त विवेचनसे यही सिद्ध होता है कि भक्ति-ज्ञान परस्पर समन्वित और भगवत्प्राप्तिके अव्यर्थ साधन हैं। अतः विवादमें न पड़कर जिस मार्गमें स्वाभाविक श्रद्धा, उत्साह और शास्त्रानुसार अधिकार हो, उसी एक साधनका दृढ़तासे आलम्बन करके साधकको अपने कल्याणके लिये यत्न करना चाहिये।

भक्तिवादका गूढ़ मर्म

(लेखक—श्रीमत् स्वामीपुरुषोत्तमानन्दजी अवधूत)

भक्त-चूडामणि प्रह्लादको गोदमें बैठाकर, मस्तक सूँघते हुए, अश्रुजलसे अभिषेक करते-करते पिता हिरण्यकशिपुने प्रफुल्ल चित्तसे पूछा—

> प्रह्लादानूच्यतां तात स्वधीतं किञ्चिदुत्तमम्।
> कालेनैतावताऽऽयुष्मन् यदशिक्षद् गुरोर्भवान्॥
>
> (श्रीमद्भा० ७। ५। २२)

'आयुष्मन्! तात प्रह्लाद! इतने दिनोंतक गुरु-गृहमें रहकर जो कोई अच्छी बात तुमने सीखी है, उसमें जो सु-अधीत—सु-अधिगत हो, वह मुझसे कहो।'

इसके उत्तरमें प्रह्लादने जो वचन कहे थे, उनमें भक्तिवादका निगूढ़ मर्म निहित है, उस मर्मको अनुसरण करनेकी आज विशेष आवश्यकता आ पड़ी है।

प्रह्लाद कहते हैं—

> श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
> अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
> इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
> क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥
>
> (श्रीमद्भा० ७। ५। २३-२४)

'भगवान् विष्णुका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—इन नौ लक्षणोंवाली भक्ति यदि पुरुषोत्तम विष्णुके अर्पणपूर्वक की जाय तो मैं समझता हूँ कि यही सु-अधीत है।'

इन दोनों श्लोकोंके अन्तर्गत—

अर्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा क्रियेत

—इस अंशको अधिक स्पष्ट करते हुए श्रीधरस्वामी लिखते हैं—

सा च अर्पितैव सती यदि क्रियेत, न तु कृता सती पश्चादर्प्येत।

अर्थात् श्रवण-कीर्तन यदि 'अर्पित' होकर किया जाता है (किये जानेके पश्चात् अर्पित नहीं होता), तभी श्रवण-कीर्तनादि भक्ति-पद-वाच्य होंगे।

प्रह्लादकी उक्तिका गूढ़ मर्म अवधारण करनेपर यही सुस्पष्ट होता है कि श्रवण-कीर्तन आदि दैहिक या मानसिक कर्म पहले भगवान् विष्णुके अर्पण होकर किये जानेपर

ही भक्तिरूपमें परिणत होंगे । नहीं तो वे 'कर्म' ही रह जायँगे । जो कुछ कर्तृ-तन्त्र है अर्थात् कर्ता जिसे कर सकता है, नहीं कर सकता या अन्यथा कर सकता है, वही 'कर्म' है । श्रवण-कीर्तनादि भी 'कर्म' ही रह जायँगे, यदि वे वस्तु-तन्त्र या पुरुषोत्तम-तन्त्र न होकर कर्तृ-तन्त्र होते हैं । भक्ति-साधनामें श्रवणादि कर्मोंको पहले भगवान् विष्णुमें अर्पण करे, पश्चात् उनके प्रसाद-स्वरूप उन कर्मोंको स्वयं करे । जिस कर्म या ज्ञानका 'आरम्भ' भगवान् विष्णुसे होता है, वही भक्ति है और जो कुछ कर्म या ज्ञान जीवके अहंके द्वारा आरम्भ होता है, वह कर्म है ।

वस्तुतन्त्रं भवेज्ज्ञानम् । (पञ्चदशी)

वस्त्वधीना भवेद् विद्या । (आचार्य शंकर)

भक्ति भी भगवान् विष्णुके अधीन है; न तुम्हारे अधीन है न हमारे । भक्ति-गङ्गा विष्णु-पाद-पद्मसे प्रवाहित होती है।

इसको और भी स्पष्ट करते हुए श्रीरूपगोस्वामी अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु'में लिखते हैं—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः ।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ॥

'अतएव श्रीकृष्ण-नाम-रूप-लीला इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य नहीं होते, अपितु सेवोन्मुख जिह्वा आदिमें ही नाम-रूप-लीला स्वयं स्फुरित होते हैं ।'

कर्मेन्द्रियाँ या ज्ञानेन्द्रियाँ स्वयं कर्ता बनकर श्रीकृष्णके नाम-रूप-लीला आदिका दर्शन, श्रवण या मनन करेंगी—यह कभी सम्भव नहीं । इन्द्रियाँ 'कर्ता' होकर भगवान्के नाम-रूप-लीलाको यह अपना 'कर्म' यदि बनाने जायँगी तो नाम-रूप-लीलाका अप्राकृतत्व विलुप्त हो जायगा; क्योंकि सारे भक्तिशास्त्र कहते हैं—

नाम चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः ।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः ॥

'श्रीकृष्णका नाम चिन्तामणि है, नाम ही कृष्ण है, नाम ही चैतन्यरसविग्रह है । नाम पूर्ण, शुद्ध और नित्यमुक्त है; क्योंकि नाम और नामी अभिन्न हैं ।'

'स्वतन्त्र' नाम-रूप-लीलाको 'कर्तुः ईप्सिततमम्' कर्म-कारकमें परिणत करनेपर वस्तुके ऊपर परिच्छिन्न 'मैं'की छाप डालनी पड़ेगी, ऐसी स्थितिमें वह कभी चिन्तामणि नहीं हो सकता, उसमें जड़त्व आ जायगा, उसका चिन्मयत्व और शुद्धत्व गिर जायगा, एवं उसके पूर्ण शुद्ध, नित्यमुक्त स्वरूपमें बाधा आयेगी । पहले अपने 'अहं'को और अहंके अनुसरण करनेवाले कर्म-बुद्धि-मन और इन्द्रियोंको भगवान् विष्णुके अर्पण करनेपर, उस अर्पित अहं और बुद्धि-मन-इन्द्रियोंसे जो कर्म स्फुरित होगा, वही होगी 'भक्ति' । सारांश यह है कि भगवान्में मनोलय, बुद्धिलय और अहंलयके बाद ही भक्तिका आस्वादन होने लगेगा और निर्गुणा भक्तिमें कर्म ज्ञान होंगे 'भक्तिका भव आस्वादन' । इसीलिये गीता ऊर्ध्वमूल होनेकी बात कहती है । जिसका मूल है पुरुषोत्तम । उस मूलको पकड़कर ही विश्वमें ऊपर उठना होगा या नीचे गिरना होगा । जो मूल ऊपर है तो विश्व मूलके नीचेकी ओर ही होगा । अतएव भक्ति-साधकको कर्तृतन्त्र साधनाके विपरीत दिशामें चलना पड़ता है । वंशीके स्वरसे यमुना अपने उद्गमकी ओर बहने लगती थी । वर्णाश्रमका आरम्भ है जीवके अहंसे और भक्ति-साधनाका आरम्भ इसके उद्गमकी ओरसे—भगवान्के 'पुरुषोत्तमोऽहम्' से होता है । वर्णाश्रम विश्वसे विश्वनाथकी ओर पहुँचनेकी बात कहता है और भागवतने सुनायी है विश्वनाथसे विश्वमें आनेकी बात । इसीलिये भक्ति-साधनामें भगवान् जिस प्रकार सत्य हैं, उसी प्रकार उनका नाम भी सत्य है, रूप भी सत्य है, लीला भी सत्य है और उनका ही निर्गुण लीलाक्षेत्र यह विश्व भी सत्य है । देवगण कंसके कारागारमें श्रीकृष्णके इसी सत्य स्वरूपका स्तवन करते हैं—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥
(श्रीमद्भा० १०।२।२६)

'हे भगवान् ! तुम सत्यव्रत हो, सत्य तुम्हारा संकल्प (मनोरथ या उद्देश्य) है, सत्य तुम्हारी प्राप्तिका साधन है । तुम रूप और स्वरूप दोनों दृष्टियोंसे त्रिकालमें अबाधित सत्य हो । तुम सत्यकी योनि हो और ऋत-सत्यके दोनों दृष्टियोंमें अवस्थित हो । सत् और त्यत् (सत्य)-वाच्य यह भूतसमूह सत्य है । तुम इस सत्य भूतसमूहको पारमार्थिक सत्यमें परिणत करके ही फिर सत्यरूपमें अवतीर्ण हो । तुम्हारा शरीर सुनृता वाणी और समदर्शनका प्रवर्तक (नेत्र) है । तुम सर्वार्थमें, सर्वकालमें, सर्वविधमें सत्य हो, अतएव सत्यात्मक हो । हम तुम्हारी शरण लेते हैं ।'

भक्तिवाद कभी भगवान्को विश्वके उस पार निर्वासित नहीं करता । भगवान् इस विश्वको 'दशाङ्गुल' अतिक्रम किये हुए हैं । (अत्यतिष्ठत्) अर्थात्

नाथ—जगन्नाथ । योगमाया-स्थानीया सुभद्रा (+) जगन्नाथ और नाथको एक दूसरे साथ युक्त किये हुए हैं । पुरुषोत्तमके इस निगूढ़ तत्त्वको प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌के साथ अनन्य भक्तिद्वारा युक्त होकर बुद्धिका लय करना पड़ेगा ।

अनन्यभक्त्या तद्बुद्धिर्बुद्धिलयादत्यन्तम् ।

—अनन्य भक्तिके द्वारा अत्यन्त बुद्धिलय होनेपर भक्तिके साधक 'तद्बुद्धि' होते हैं । तद्बुद्धि होनेपर ही भक्त भगवान्‌को, वे जैसे जो कुछ हैं, तत्त्वसे जानता है ।

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।

(गीता)

भक्तिसाधनामें 'प्राप्ति' दो प्रकारकी होती है । पहली प्राप्ति 'स्वरूप'में होती है और दूसरी प्राप्ति 'रूप'में । द्वितीय प्राप्तिको ही 'अभिज्ञान' पदद्वारा भगवान्‌ने व्यक्त किया है । भगवान् श्रीमुखसे कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

(गीता)

'सततयुक्त, प्रीतिपूर्वक भजन करनेवालोंको मैं वह बुद्धियोग प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझको प्राप्त होते हैं ।' बुद्धियोगके उदय होनेके पहले सततयुक्त, प्रीतिपूर्वक भजन करनेवालेकी 'प्राप्ति' को महाकवि कालिदासके द्वारा चित्रित कण्व-मुनिके आश्रममें दुष्यन्त-शकुन्तलाकी पारस्परिक, संसारके लौकिक नेत्रोंके अन्तरालमें होनेवाली प्राप्तिके समान समझना चाहिये । बुद्धियोग प्राप्त होनेके बाद जो प्राप्ति होती है, उसकी तुलना, दूसरी बार जो दुष्यन्त शकुन्तलाकी प्राप्ति सबकी आँखोंके सामने होती है, उसके साथ की जा सकती है । इस दोनों प्राप्तियोंके बीचमें अँगूठी खो जानेके प्रसङ्गका एक अध्याय है । प्रथम प्राप्तिका नाम है ज्ञान, दूसरी बारकी प्राप्तिका नाम है विज्ञान—मन-बुद्धिके क्षेत्रमें वास्तविक रूपसे प्राप्ति । पहलेसे जानी हुई वस्तुको पुनः प्राप्त करनेका नाम ही 'अभिज्ञान' है ।

'पूर्वज्ञातस्य ज्ञानमभिज्ञा' (शाण्डिल्यसूत्र स्वप्नेश्वर-भाष्य)

श्रीनित्यगोपालने भी ठीक यही बात कही है—'एक मनुष्यको हीरा मिला है, परंतु वह हीरेको पहचानता नहीं । अतएव वह हीरेका मर्म भी नहीं समझता । इसी प्रकार भगवान्‌को तुमने पा लिया है, पहले उनको पहचानो, तब उनके माहात्म्यको समझोगे ।' भगवान्‌को तो हम पाये ही हुए हैं, यह हमारी स्वतःसिद्ध 'प्राप्ति' है । परंतु केवल प्राप्तिसे ही वे प्राप्त नहीं होते । अन्धकारमें पाये हुए धनको बिना पहचाने, बिना आँखें लगनेपर वह हाथसे चला ही जाता है । जो बच्चा हीरेको नहीं पहचानता, उसको एक लड्डू देकर उसके हाथसे आसानीसे हीरा छीन लिया जा सकता है । सर्वविरोध-शून्य बुद्धि-सम्पके भीतर पहले जिसका परिचय प्राप्त होता है, उसको जाग्रत्-अवस्थामें मन-बुद्धिके प्रकाशमें प्राप्त करनेका नाम ही अभिज्ञान है । 'प्राप्ति' हमारे जीवनमें सत्य (fact) होकर भी कर्म (task) हो जाती है । 'Spiritual life is at the same time a fact and a task.'—Eucken.

भगवान् तो प्राप्त ही हैं, यह संवाद दिया अद्वैतवादने और उस बिना जाने-बूझे प्राप्त धनको जान सुनकर पानेका समाचार दिया भक्तिवादने । अद्वैतका आस्वादन पहले न होनेपर भक्तिवादकी आधारभूमि गिर जाती है और भक्तिवादके न होनेपर अद्वैतवादमें जीवके जीवनकी कोई सार्थकता नहीं रह जाती, वह आकाशकी अवास्तविक कल्पना बन जाता है और अद्वैतवादहीन भक्तिवाद भी अन्धक भावविलासीके भक्तिवादमें परिणत हो जाता है । भक्तिवाद और अद्वैतवाद दोनों ही परस्पर परिपूरक (comlpementary) हैं । श्रीनित्यगोपालने लिखा है—'शिवके प्रति जीवकी अपनी अद्वैतताका बोध होनेपर शिवके प्रति जीवकी जो भक्ति होती है, हमारी विवेचनामें उसीको पराभक्ति कहा जा सकता है ।' 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्—शिव बने बिना कभी कोई शिवकी सच्ची पूजा नहीं कर सकता । यह श्रीनित्यगोपालकी क्रान्तिकारी पुस्तक 'भक्तियोगदर्शन'का पाठ करनेमात्रसे सुस्पष्ट हो जाता है । तथापि अबतक इस अद्वैतवादको भक्तोंने भयकी दृष्टिसे ही देखा है । अद्वैतवादने भी भक्तिको निरे ज्ञानके सोपान-रूपमें देखकर भक्तिकी प्रधानताको ही मिटा दिया है । श्रीनित्यगोपालने शिशुके साथ माँके प्रथम सम्बन्धको 'अद्वैत-सम्बन्ध' ही कहा है । शिशुकी मातृभक्तिको उज्जीवित करनेके लिये हम उसीको सुनाते हैं—

दश मास दश दिन धरिया जठरे ।

जिस माताने दस महीने दस दिन तुमको पेटमें धारण करके कितना कष्ट उठाया है, तुम उसकी भक्ति करो ।

दस मास दस दिन मातृगर्भमें रहनेका अर्थ ही यह है, कि मैं एक दिन मातृगर्भमें माँ बना हुआ था—"I was one with my mother." माँसे पृथक् कोई मेरी सत्ता न थी। माँके साथ संतानकी यह अद्वैतानुभूति जितनी स्पष्ट होगी, उतनी ही मातृभक्ति सुदृढ़ होगी। भक्ति अद्वैत-ज्ञानपूर्वा होनेपर ही निर्गुणा होती है। इस निर्गुणा भक्तिको प्राप्त करनेके पहले चाहिये ज्ञान और कर्मका अर्पण। अर्पणके बाद अनुष्ठित भक्ति ही निर्गुणा भक्ति है। यही 'अर्पितैव क्रियते'का गूढ़ तात्पर्य है। भागवत ग्रन्थमें भगवान् कपिलने माता देवहूतिको इसी निर्गुणा भक्तिकी बात सुनायी है। किसे यथासम्भव इस निर्गुणा भक्तिका अमृतरूप आज मानवीय रूप धारण कर रहा है। इसका लक्षण चारों ओर दिखायी दे रहा है। मेरे द्वारा सम्पादित (बँगला) 'उत्सव' नामक मासिक पत्रिका इस निर्गुणा भक्तिके स्वरूप और व्यवहार क्षेत्रमें उसके प्रयोग-कौशलकी सूचना देनेके उद्देश्यसे ही प्रकाशित हो रही है। पुरुषोत्तमकी जय हो।

भक्ति अर्थात् सेवा

(लेखक—स्वामीजी श्रीप्रेमपुरीजी महाराज)

यों तो ईश्वरविषयक परानुरक्ति (परम प्रेम) को 'भक्ति' कहा गया है। फिर भी जिससे प्रेम होगा, उसकी सेवाका होना स्वभावतः अनिवार्य है; अतएव 'भक्ति' शब्दका तात्पर्य है 'सेवा'। किसी भी कर्मका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ हो जानेपर वह कर्मयोग बन जाता है और इसीका दूसरा नाम है—'भक्ति'। इसे स्पष्ट करनेके लिये एक लोकगाथाको उद्धृत किया जाता है। एक देहाती किसानने उस समयके एक प्रसिद्ध संतके समीप विधिवत् जाकर जिज्ञासा की कि 'भगवन्! मुझ दीन, हीन, अकिंचन-पर दया कीजिये और मुझे आनन्दकन्द प्रभुकी प्राप्तिका उपाय बताइये।' नवप्रसूता गाय बछड़ेको देखकर जैसे विह्वल जाती है, वैसे ही संत भी भोले-भाले जिज्ञासुको देखकर प्रसन्न हो गये और सुधा-सनी वाणीमें बोले—'प्रभुके प्यारे, जगत्‌के मनभावन कृषकदेव! मन, वाणी तथा कायासे जो कुछ करें, प्रभुके लिये ही करें। आपके अधिकारानुसार आपके हिस्सेमें आया हुआ कृषिकर्म आपके लिये अवश्यकर्तव्य है। आपके स्वभावा-नुसार आपके लिये नियत इस कर्मको प्रभुकी आज्ञाका पालन करनेकी नीयतसे करते रहनेपर पाप, अपराध एवं रोगादिके होनेकी सम्भावना ही नहीं रहती, यद्यपि इस कार्यको वर्षा, शीत-आतप आदिमें खुले आकाशके नीचे, नंगे पैर, घोर परिश्रमके साथ करना होता है। इतनेपर भी सफलताकी कोई गारंटी नहीं, भेष-देवताका मुख ताकना पड़ता है। इस प्रकार यह कर्म अनेक दोषोंसे युक्त है। तथापि आपके लिये यह सहज कर्म है, अतः इसे न करनेके संकल्पको मनमें स्थान न देना। अपने सहज कर्मका त्याग करनेसे प्रभुकी आज्ञाका उल्लङ्घनरूप अपराध होता है और करनेका अभ्यास छूट जाता है, आलस्यादि भयंकर रोग शरीरमें घर कर लेते हैं। इस तरहके अनेक दोष कर्म न करनेमें भी हैं ही। अतएव न करनेसे करना ही श्रेष्ठ है। फिर कौन-सा कर्म ऐसा है, जो सर्वथा निर्दोष है; सभी तो धूमसे अग्निकी भाँति दोषोंसे घिरे ही रहते हैं। सारांश यह कि प्रभुके आदेशका पालन करनेकी भावनासे अपने हिस्सेके कर्मको पूर्ण प्रामाणिकता, परिपक्व विश्वास एवं परम प्रेमके साथ तन, मन, धन, जनसे साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न करके परम दयानिधान प्रभुको सादर समर्पित करते रहना *ही प्रभुकी प्राप्तिका अमोघ उपाय है।*'

जिस गाँवमें वह किसान रहता था, उसमें किसी ज्योतिषीने भविष्यवाणी कर दी थी कि यहाँ बारह वर्षतक वृष्टि होनेका योग बिलकुल नहीं है। ज्योतिषी महाराजकी बात सुनकर लोगोंमें हाहाकार मच गया। उस कृषकने सोचा कि 'सबकी तरह रोने-चिल्लानेसे तो अपना काम चलेगा नहीं, यह तो गुरुदेवके उपदेशको आचरणमें उतारनेका अमूल्य अवसर प्रभुकृपासे हाथ लगा है; इसे सार्थक कर लेना ही बुद्धिमानी है। कसौटी बार-बार थोड़े ही हुआ करती है, इसमें कसे जाकर पार होना ही सार है।' ऐसा निर्णय करके वह अपने हल, बैल आदि लेकर खेतपर पहुँचा और लोग क्या कहेंगे—इसकी कुछ भी परवा न करके उसने खेतको बीजारोपणके लिये तैयार करनेमें तत्पर हो गया। आकाशमार्गसे जाते हुए मेघ-देवताओंको उसे बेठ व्यर्थ श्रम करते देखकर आश्चर्य ही नहीं हुआ, अपितु उसकी नासमझीपर उन्हें तरस भी आया। कुतूहलवश एक मेघ-देवताने नीचे उतरकर कृषकसे पूछा—'इस व्यर्थके परिश्रमसे क्या अभिप्राय है?' कृषक बोला—'प्रभुकी आज्ञाका पालन, काम

करनेकी बानको बनाये रखना, आलसी न बन जाना इत्यादि अनेक अभिप्राय इस व्यर्थ व्यवसायके हो सकते हैं।' किसानकी बात बादलोंको लग गयी कि कहीं हम भी अपनी बरसनेकी आदतको भूल न जायँ। फिर क्या था? फिर तो सारे-के-सारे बादल कड़ाकेकी गर्जनाके साथ बरस पड़े और मूसलधार वृष्टि होने लगी, जिससे देखते-ही-देखते सारे देहातकी भूमि सुजला, सुफला एवं शस्यश्यामला हो गयी।

कृषककी भाँति जीव भी अपने अन्तःकरणके सूखे खेतमें भगवद्भक्तिके बीजको उगानेकी तैयारीमें तन-मनसे संलग्न हो जाय—पक्का निश्चय कर ले कि 'मुझे प्रभुने अपने ही लिये उत्पन्न किया और मैं भी प्रभुके लिये ही पैदा हुआ हूँ; अतः मेरा सर्वस्व प्रभुको समर्पित होना ही चाहिये, मेरा जीवन प्रभुमय होना ही चाहिये, मेरी प्रत्येक हलचलका सम्बन्ध साक्षात् या परम्परया प्रभुके साथ ही होना चाहिये। मैं अपने निश्चयमें दृढ़ हूँ, अपनी धुनका पक्का हूँ, अपनी आदतसे लाचार हूँ। मुझे कोई भी आलसी नहीं बना सकता; स्वयं प्रभु छुड़ाना चाहें, तब भी मैं प्रभुके लिये कर्म करनेकी अपनी आदतको छोड़ नहीं सकता।' ऐसा निश्चय होनेपर जीवकी यह बात भी प्रभुको लगे बिना रह नहीं सकती। प्रभु भी सोचने लग जायँगे कि 'कहीं मैं भी कृपामृतवर्षणकी अपनी सनातनी बानको भूल गया तो!' और वे झटपट पिघल पड़ेंगे। प्रभुको तो कृपामृतवर्षणकी आदत ही नहीं, किंतु चसका पड़ गया है। वे दयामय देव अपने व्यसनसे बाज नहीं रह सकते, सुतरां शीघ्र ही बरस पड़ेंगे और बात-की-बातमें उसकी शुष्क हृदय-भूमिको अनुग्रहामृतसे सुजला, अपनी प्राप्तिरूप फलसे सुफला एवं दिव्य प्रेमरूप शस्यके प्रदानसे श्यामला बना देंगे।

तात्पर्य यह कि हम जो कुछ करें, सच्ची नीयतसे, ईमानदारीके साथ, श्रद्धापूर्वक, प्रभुको समर्पण करनेकी विशुद्ध भावनासे ही करें, तो हमारी सभी चेष्टाएँ भगवद्भक्ति बन जायँगी और भक्तिका अर्थ भी तो यही है कि मैं जो कुछ करूँ, सो आपकी सेवा हो। दयालु प्रभु हमें शक्ति दें कि हम इन विचारोंका आचरणोंके साथ समन्वय साध सकें। ॐ शम्।

भक्तिकी सुलभता

(लेखक—स्वामीजी श्री १०८ श्रीरामसुखदासजी महाराज)

विचार करनेसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि आजके मनुष्यका जीवन स्वकीय शिक्षा, सभ्यता और संस्कृतिके परित्यागके कारण विलासयुक्त होनेसे अत्यधिक खर्चीला हो गया है। जीवन-निर्वाहकी आवश्यक वस्तुओंका मूल्य भी अधिक बढ़ गया है। व्यापार तथा नौकरी आदिके द्वारा उपार्जन भी बहुत कम होता है। इन कारणोंसे मनुष्योंको परमार्थ-साधनके लिये समयका मिलना बहुत ही कठिन हो रहा है और साथ-ही-साथ केवल भौतिक उद्देश्य हो जानेके कारण जीवन भी अनेक चिन्ताओंसे घिरकर दुःखमय हो गया है। ऐसी अवस्थामें कृपालु ऋषि, मुनि एवं संत-महात्माओंद्वारा त्रिताप-संतप्त प्राणियोंको शीतलता तथा शान्तिकी प्राप्ति करानेके लिये ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, हठयोग, अष्टाङ्गयोग, लययोग, मन्त्रयोग और राजयोग आदि अनेक साधन कहे गये हैं; और वे सभी साधन वास्तवमें यथाधिकार मनुष्योंको परमात्माकी प्राप्ति कराकर परम शान्ति प्रदान करनेवाले हैं। परंतु इस समय कलि-मल-मलिन विषय-वारि-मनोमीन प्राणियोंके लिये—जो अल्प आयु, अल्प शक्ति तथा अल्प बुद्धिवाले हैं—परम शान्ति तथा परमानन्दप्राप्तिका अत्यन्त सुलभ तथा महत्त्वपूर्ण साधन एकमात्र भक्ति ही है। उस भक्तिका स्वरूप प्रीतिपूर्वक भगवान्‌का स्मरण ही है, जैसा कि श्रीमद्भागवतमें भक्तिके लक्षण बतलाते हुए भगवान् श्रीकपिलदेवजी अपनी मातासे कहते हैं—

> मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
> मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
> लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
> अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥
> सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
> दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
> स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
> येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥
>
> (३।२९।११—१४)

अर्थात् जिस प्रकार गङ्गाका प्रवाह अखण्डरूपसे समुद्रकी ओर बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे गुणोंके श्रवण-मात्रसे मनकी गतिका तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे मुझ सर्वान्तर्यामीके प्रति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तममें नि-

माने हैं—असत्त्वापादक आवरण, अभानापादक आवरण और अनानन्दापादक* आवरण। असत्त्वापादक आवरण वस्तुकी सत्ताको आवृत करता है, अभानापादक आवरण वस्तुके चित्त्वको आवृत करता है और अनानन्दापादक आवरण आनन्दत्वको आवृत करता है।

वेदान्तके प्रक्रिया-ग्रन्थोंमें बताया गया है कि इन तीन आवरणोंमें असत्त्वापादक आवरणको केवल परोक्षज्ञान नष्ट कर देता है। शास्त्र तथा आचार्यसे ईश्वरके अस्तित्वके बारेमें परोक्षज्ञान प्राप्त करनेपर 'ईश्वरो नास्ति' इस प्रकारकी भावना नष्ट होती है; किंतु अभानापादक आवरण परोक्षज्ञानसे नष्ट नहीं होता, उसे अपरोक्ष ज्ञान ही नष्ट कर सकता है। घटका जब अपरोक्ष ज्ञान होता है, तब 'घटो नास्ति' 'घटो न भाति' ये दोनों प्रकारके आवरण नष्ट हो जाते हैं। परंतु इन प्रक्रिया-ग्रन्थोंमें इस बातका स्पष्टीकरण नहीं है कि उस तृतीय अनानन्दापादक आवरणका विनाश किससे और किस प्रकार होता है। उसका कारण यह हो सकता है कि बहुत-से आचार्योंने इस आवरणको माना ही नहीं। परंतु यह बात विचारदृष्टिसे सर्वथा संगत नहीं प्रतीत होती। इसपर यहाँ चर्चा विशेष न करनेपर भी अपने प्रकृत विषयके विचारसे यह स्पष्ट हो जायगा।

कुछ आचार्य अपरोक्ष-ज्ञानसे ही अनानन्दापादक-आवरणका नाश मान लेते हैं, परंतु यह भी अनुभवविरुद्ध है। कारण, घटके अपरोक्ष ज्ञानमात्रसे हमें किसी विशिष्ट आनन्दकी प्रतीति नहीं होती। हम हजारों वस्तुओंको देखते रहते हैं, परंतु उससे उन वस्तुओंमें स्थित आनन्दांशकी भी स्फुरणा होती हो, ऐसी बात देखी नहीं जाती। अतः यह बात निर्विवादरूपसे माननी होगी कि अनानन्दापादक आवरणका भङ्ग किसी औरसे ही होता है। यहाँपर हमारा भक्तिवाद उपस्थित होता है। प्रेम-वृत्तिसे अनानन्दापादक आवरणका भङ्ग होता है। यही भक्ति-सिद्धान्त है। दूसरा कोई उसका उपाय नहीं हो सकता। भक्ति-मकरन्द†में बताया गया है—

> याभानापादिका तामपहरति परमावृत्तिं ज्ञानवृत्ति-
> र्यानानन्दापादयति हरति ताममावृत्तिं प्रेमवृत्तिः॥
> (भ० २।१)

दूसरा आवरण जो अभानापादक है, उसे ज्ञानवृत्ति नष्ट करती है और अनानन्दापादक आवरण जो तीसरा है, उसे प्रेमवृत्ति नष्ट करती है।

यह तो सर्वजनानुभवसिद्ध है कि जिसके ऊपर हमारा प्रेम होता है, उसे देखते ही हमें आनन्दकी अनुभूति होने लगती है और यदि प्रेम न हो तो पुत्र-पत्नी आदिको देखने पर भी आनन्दानुभूति नहीं होती। यही बात ईश्वरके सम्बन्धमें भी है। भगवत्साक्षात्कार होनेपर भी भगवान्में भक्ति—प्रेम न हो तो भगवत्स्थित आनन्दांशकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। भक्ति-मकरन्दमें लिखा है—

> ज्ञानेनाभानहेतावपि समभिगतेऽप्यात्मपत्यादिभूमौ
> नैवानन्दस्य मन्दस्फुरणमपि भवेत् प्रेम नो चेत्तदस्मिन्।
> (बिन्दु १, श्लोक १)

'ज्ञानसे—साक्षात्कारसे अभानहेतु आवरणका विलय होनेपर भी यदि प्रेम न हो तो पुत्र-पति आदि ही क्यों न हों, उनमें भी आनन्दका मन्द स्फुरण भी नहीं हो सकता।' इसी कारण ज्ञानी भी भगवान्में भक्ति—प्रेम रखते हैं।

गीतामें भगवान् कहते हैं—ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ज्ञानी मेरी भक्ति करता है। यहाँ 'प्रपद्यते' इसका अर्थ शरणागति-लक्षणा भक्ति है। यह तत्त्वतः प्रपत्तितत्त्वाय न ज्ञानमितरप्रपत्तिवत्—इस शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्रमें तथा उसकी व्याख्याओंमें स्पष्ट है।

> चतुर्विधा भजन्ते मां............ज्ञानी च'
> (गीता ७।१६)

इस गीता-वाक्यसे तो स्पष्ट ही पूर्वोक्त बात सिद्ध होती है। और भागवतमें भी—

> आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
> कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्ति.................॥
> (१।७।१०)

—इस श्लोकमें जीवन्मुक्त पुरुष भी भगवान्में अहैतुकी भक्ति करते हैं—कहते हुए उक्त बातका समर्थन किया है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि भक्तिके बिना ज्ञान अकिंचित्कर है, भक्ति भगवत्प्राप्तिमें—अनावृत भगवत्स्वरूपाभिव्यक्तिमें चरम साधन है।

---

* अनानन्दापादक आवरण प्राचीन आचार्य मानते रहे। देखिये अद्वैतसिद्धिकी टीका गौडब्रह्मानन्दी (निर्णयसागर-मुद्रित पुस्तक पृ० ११०, अन्तिम पंक्ति)।

† यह लेखकका ही एक अमुद्रित भक्तिग्रन्थ है, जिसमें भक्तिका रहस्य शास्त्र-सम्मत ढंगसे नवीन रीतिसे समझाया गया है और भक्तिविषयक अनेक शङ्काएँ हल की हैं।

परंतु कुछ आचार्य भक्तिकी प्रशंसा करते हुए ज्ञानकी अत्यन्त अवहेलना करते हैं; उनका ऐसा करना केवल अर्थवादात्मक ही समझना चाहिये। कारण, वेद बतलाता है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'। और यह बात भी लोकसिद्ध है कि हमारा प्रेम पुत्र-पति आदिमें अत्यधिक हो, किंतु उनका साक्षात्कार नहीं हो रहा हो तो पूर्णतया आनन्दाभिव्यक्ति नहीं होती। पुत्रादिके दूरस्थित होनेपर अतीव व्याकुलता ही होती है। भक्तिमकरन्दमें बताया है—

प्रेम्णानानन्दहेतौ विलयमुपगतेऽपि स्फुटं नैव शर्म
प्रेयांसो यद्यपीमेऽयनविषयतां यान्ति पुत्रादयश्चेत्।
(वि. २ श्लो. १)

अर्थात् प्रेम-वृत्तिसे अनानन्दापादक आवरण नष्ट होनेपर भी आनन्दका स्फुटरूपसे स्फुरण नहीं होता, यदि प्रियतर भी पुत्रादि प्रत्यक्ष न हों। इसलिये भक्तिके समान ही साक्षात्कारात्मक ज्ञानकी भी उपयोगिता है। इसीलिये—

ज्ञानात्मना मदेषां प्रणयति हरतेऽभानमीशावृतिं कि-
त्वानन्दाकारवत्त्वं न हरति तदनानन्दबीजावृतिं सा।
प्रेमात्माना तु वृत्तिः प्रणयति नितरां न स्वयं किंतु सैषा-
नानन्दापादकस्याऽऽवरणहरणतोऽज्ञानवृत्तिं युनक्ति॥
(वि० २ श्लो० ४)

इस प्रकार दोनोंको सम कक्षामें रखते हुए भक्ति-मकरन्दमें दोनोंकी उपयोगिता स्पष्ट की गयी है।

इस प्रकार भक्ति तथा ज्ञानकी समप्रधानता सिद्ध होनेपर शास्त्रीय वचनोंपर अर्थसंदेह उपस्थित हो सकता है। भगवान् गीतामें कहते हैं—'भक्त्या मामभिजानाति' अर्थात् भक्तिसे मेरा साक्षात्कार होता है। 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तम्…।' अर्थात् निरन्तर प्रेमपूर्वक भजन करनेवालोंको मैं उस बुद्धियोगको देता हूँ……। इससे भक्ति साधन और ज्ञान साध्य प्रतीत होता है। और 'ज्ञानवान् मां प्रपद्यते', 'चतुर्विधा भजन्ते मां……ज्ञानी च' इत्यादि गीतावाक्योंसे प्रतीत होता है कि ज्ञानसे भक्ति होती है—ज्ञान साधन है, भक्ति साध्य है। इस प्रकारके अनेकानेक शास्त्रवचन उपलब्ध होते हैं, जो भक्तिको ज्ञानका साधन और ज्ञानको भक्तिका साधन बताते हैं। भगवान् नारदऋषि इनका अनुवाद करते हुए कहते हैं—'तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके, अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये'। इस संदेहका निवारण करते हुए भक्ताचार्य कहते हैं कि अपरा भक्ति ज्ञानका साधन है, परा भक्ति फलरूपा है। और ज्ञानपक्षपाती कहते हैं कि अपरज्ञान अर्थात् शास्त्रादि अध्ययनसे उत्पन्न परोक्षज्ञान भक्तिमें हेतु है, ब्रह्मज्ञान तो फलरूप है।

हम इसपर सूक्ष्मरूपसे एक बार दृष्टिपात करेंगे तो भक्ति और ज्ञानमें एकको हीन सिद्धकर दूसरेको उत्तम कहनेकी आवश्यकता न रहेगी। वास्तविक बात तो यह है कि अपनी आत्मामें प्रेम सबके लिये स्वतःसिद्ध है। परंतु जीवात्मा और परमात्मामें भेदज्ञान होनेके कारण यह प्रेम परिच्छिन्नविषयक होकर परमात्मामें नहीं हो पाता। जब तत्त्वज्ञानसे 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक साक्षात्कार होता है, तब यह परिच्छिन्न-विषयक प्रेम अपरिच्छिन्न होकर स्वयं ही परमात्म-विषयक हो जाता है। अतएव ज्ञानी पुरुषका स्वतः एव परमात्मामें प्रेम हो जाता है। भक्ति-मकरन्दमें आया है—

अनुपाधि सदैव देहिनां परमप्रेम निजात्मनीष्यते।
अनुभव निजेन किंतु तदपरिच्छिन्नविशाय्यवस्तुनि॥
विघटय्य परिच्छिदाभ्रमं सहृदं ब्रह्म विभुस्वरूपतः।
इति बोधुरदः स्फुटं भवत्यपरिच्छिन्नविषयगोचरम्॥
तदिदं विदुषो स्वतः परे भवति प्रेम जगन्मयो विभौ।
विदुषः परमप्रियोऽस्म्यसौ भजते मामिति चाह केशवः॥
अपि भक्तिमियन्त्यहीतुमीमपि निर्ग्रन्थकारो मुनीश्वराः।
इति भागवतेऽपि च ब्रवीति भक्तिमुवाच तदिदाम्॥
(बिन्दु० २ श्लो० १५—१८)

इससे हमें यह स्पष्ट हो गया कि वेदान्तके श्रवण-मनन-निदिध्यासनसे जिन्हें 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकारका तत्त्व-साक्षात्कार होता है, उन्हें स्वतः ही पराभक्ति उत्पन्न हो जाती है, अर्थात् उस ज्ञानसे ही पराभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार श्रवण-कीर्तन-स्मरणादि साधनोंसे जिन्हें पराभक्ति उत्पन्न होती

---

१. यद्यपि शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्रमें 'अभिजानाति' का अर्थ अनुरागसहित अनुभव किया गया है, फिर भी यह अनुभवपरिज्ञ होनेसे और 'तेषां सततयुक्तानां' इस वाक्यसे भक्तिमें साधनता सिद्ध होती है।

२. 'अस्ति चार्थे कर्षेत्स्वानामन्येरभ्यर्थानामर्थं निषेधाद्ध मात्ते'—इस प्रकार मधुसूदन-सरस्वतीमें सम्प्रतिपत्ति-प्रकरण-में बताया गया है। इस न्यायसे ज्ञानमें प्रवृत्ति-प्रयोजकता सिद्ध होती है, जैसे 'धनी सुखी' इस वाक्यमें धनमें हेतुत्व प्रतीत होती है।

है, उसे ज्ञान भी स्वतः प्राप्त हो जाता है। उसमें युक्ति बतलाते हुए भक्ति-मकरन्दमें आता है—

द्रुतचेतसि भक्तितो हरेर्गुणलीलाकृति पादपङ्कजम्।
सकलेषु विशीकृते पुनर्भगवद्धामसौ रसात्मकम्॥

भगवच्चरणाम्बुजद्वयी सविधीकृत्य मनस्तु वासनाम्।
भगवत्त्वपकोविदं प्रभुं सकलात्मानमपीह नान्यथा॥
(बिन्दु० २ श्लो० ७, १०)

अर्थात् भक्तिसे जो चित्त पिघल जाता है, उस पिघले हुए चित्तमें भगवान्‌का चरण-कमल अर्थात् स्वरूप अङ्कित हो जाता है, जैसे पिघली हुई लाखमें वस्तुकी छाप पड़ती है। उसके बाद वह सभी वस्तुओंको भगवत्स्वरूप देखने लगता है। भगवत्स्वरूपकी छापरूपी वासनाको सहकारी बनाकर मन सम्पूर्ण जगत्‌को भगवत्स्वरूप देख पाता है, अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह है कि जैसे पीला चश्मा लगानेपर सारा जगत् पीला दीख पड़ता है, वैसे ही हृदयमें भगवान्‌की छाप पड़ जानेसे सारे जगत्‌को भक्त भगवन्मय देखने लगता है। अन्तर इतना ही है कि पीले चश्मेसे भ्रमात्मक पीतज्ञान होता है, किंतु भगवन्मयरूपसे जगत्‌को देखना भ्रम नहीं है। कारण, सम्पूर्ण जगत् वस्तुतः भगवत्स्वरूप ही है। श्रुति कहती है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म। इसी आशयसे भक्तिमकरन्दमें कहा गया—

द्रुतचेतसि कामवेगतो विहितेऽर्किंचनकामिनीपदे।
भवतोऽप्यते पुमानसौ जगतीमेव हि कामिनीमयीम्॥
असती कठिनादिवर्त्मनोऽप्यगतस्य कथनापबाधनम्।
न सतः परमात्मनो जगत्परिदृष्टस्य कदापि बाधनम्॥'
(बिन्दु० २ श्लो० ८-९)

चित्तके पिघलनेके बारेमें आचार्य मधुसूदन सरस्वती भक्तिरसायनमें कहते हैं—

चित्तद्रव्यं तु जतुवत् स्वभावात् कठिनात्मकम्।
तापकैर्विषयैर्योगे द्रवत्वं प्रतिपद्यते॥
(१।४)

'चित्तरूपी द्रव्य जतु अर्थात् लाखके समान कठिन-स्वरूप है, वह तापक विषयोंके संयोगसे द्रवीभावको प्राप्त होता है।' इस पूर्वोक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो गया कि पूर्णभक्ति होनेपर समग्र जगत्‌को भक्त परमात्मस्वरूप देखने लगता है। यही तो वेदान्तप्रतिपादित ज्ञान है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'सकलमिदमहं च वासुदेवः' इस प्रकारका साक्षात्कार तत्त्वसाक्षात्कार कहलाता है।

इति भक्तिमतां महात्मनां भवति ज्ञानमनन्यसाधनम्।
हरिभक्तिरनन्यसाधना भवति ज्ञानवतां तथा सताम्॥
(भक्ति-मकरन्द बि० २ श्लो० ११)

कतिपय आचार्योंने भक्तिको स्वयं पुरुषार्थ बताया है। भगवान् नारदप्रभृति भी कहते हैं—स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः। और ज्ञानपक्षपातियोंने ज्ञानको ही परम पुरुषार्थ बताया है। इसमें तो दोनोंमें अविरोध है। वास्तवमें तो परमात्माका चिदंश ही ज्ञान है और आनन्दांश ही प्रेम है। भक्ति-मकरन्दमें कहा गया है—

ज्ञानं चैतन्यमात्रं व्यवहरति अतो ज्ञानवृत्तौ तु सत्त्वात्
प्रेमाख्यामानन्दमात्रं व्यवहरति तथा प्रेमवृत्तौ च भक्ताः॥

अर्थात् ज्ञान केवल चैतन्यस्वरूप है, ज्ञानवृत्ति—चित्तवृत्तिविशेषमें लक्षणासे ज्ञान-शब्द-व्यवहार है। इसी प्रकार प्रेम भी केवल आनन्दस्वरूप है, प्रेमवृत्ति—चित्तवृत्तिविशेषमें भक्तिसे अर्थात् लक्षणासे प्रेम-शब्द-व्यवहार है। भक्तोंने भी भगवान्‌को प्रेमस्वरूप कहकर स्तुति की है। उसका भी तात्पर्य यही है। इसी बातको लेकर भक्तोंने भक्तिको, ज्ञानियोंने ज्ञानको परम पुरुषार्थ बताया है। चैतन्य और आनन्द वास्तवमें दो वस्तु नहीं, किंतु परमात्मस्वरूप ही हैं। अतएव 'ग्यानहि भगतिहि नहिं कछु भेदा'—इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है। पूर्वार्धमें अभेद कहकर—'उभय हरहिं भव संभव खेदा'—यहाँपर भेदबोधक 'उभय' शब्दका प्रयोग गोस्वामीजीने किया है। अतएव यहाँपर ज्ञानवृत्ति-प्रेमवृत्ति 'उभय' शब्दका अर्थ समझना चाहिये। वृत्तियोंमें भेद तथा उनका कार्यभेद पूर्व ही बता आये हैं। 'ग्यान पंथ कृपान कै धारा'—गोस्वामीजी इस वाक्यसे ज्ञानको अति कठिन बताकर त्याज्य नहीं बताते; कारण, ज्ञान बिना भक्ति पुरुषार्थ नहीं हो सकती। यह बात शास्त्रयुक्तिसिद्ध है, पूर्वमें हम बता भी चुके हैं। किंतु 'पंथ' शब्द जोड़कर ज्ञान-साधन—विवेक-वैराग्यादि एवं निदिध्यासनादिको कठिन कह रहे हैं। जैसे कैलासका रास्ता कठिन है, इसका अर्थ 'कैलास कठिन है' नहीं होता; किंतु कैलास पहुँचनेका मार्ग कठिन है, यही अर्थ होता है। गोस्वामीजीका तात्पर्य यही है कि भक्तिमार्गसे, जो अति सरल है, चलते हुए पराभक्ति तथा तद्रूप परज्ञान प्राप्त करना मनुष्यके लिये सुगम है। ज्ञान-

मार्गसे चलते हुए ज्ञानके द्वारा पराभक्ति प्राप्त करना अति दुर्गम है।

निष्कर्ष यह है कि भक्ति तथा ज्ञान दोनों ही पक्षीके दो पंखोंके समान भगवत्प्राप्तिरूपी परम पुरुषार्थमें साक्षात् अनन्यथासिद्ध साधन हैं। दूसरे शब्दोंमें दोनों ही समप्रधान भावसे परम पुरुषार्थ हैं। अतः भक्ति और ज्ञान दोनोंमेंसे कोई भी अपेक्षणीय नहीं है। साधक पुरुष यथाभिरुचि किसी भी मार्गका अवलम्बन कर सकता है। इस प्रकार सबका सामञ्जस्य होनेपर किसी भी शास्त्रवाक्यका वैयर्थ्य अथवा अन्यथा अर्थ स्वीकार करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती है।

ज्ञान-कर्म-सहित भक्ति

(लेखक—स्वामी श्रीशंकरानन्दजी एम्० ए०, काव्यतीर्थ, सर्वदर्शनाचार्य)

भारतीय सनातन जीवन-दर्शनके दो विचार ही भारतके विचारकोंको प्रभावित करते चले आये हैं—प्रवृत्ति-मूलक कर्ममार्ग तथा निवृत्ति-मूलक ज्ञानमार्ग। प्रथम मार्गके अनुसार ब्रह्मचर्य-आश्रमके अनन्तर गृहस्थ-आश्रममें प्रविष्ट होकर वेद-विहित यज्ञ आदि कर्मोंका अनुष्ठान करना ही श्रेयस्कर है। द्वितीय मार्गके अनुसार परम सत्यके अन्वेषणकी वृत्तिसे सम्पूर्ण ऐहिक कर्मोंका त्याग करके साधना और तपस्या करना ही श्रेयस्कर माना गया है; क्योंकि इस मार्गवाले कर्मको ज्ञानकी प्राप्तिके मार्गमें प्रतिबन्धक मानते हैं। कर्मवादियोंके अनुसार वेद-विहित कर्मोंके अनुष्ठान तथा निषिद्ध कर्मोंके त्यागसे ही परमगति प्राप्त हो जाती है। परंतु ज्ञानवादियोंके अनुसार कर्मका फल अवश्य भोगना पड़ता है, इसलिये कर्मके द्वारा किसी प्रकार भी मोक्ष नहीं मिल सकता। उनके मतसे कर्म चाहे जैसा भी हो, बन्धनका कारण ही है। प्रथम मतके समर्थक हैं कर्मकाण्डी मीमांसक तथा दूसरे मतके समर्थक हैं वेदान्ती।

जैसे-जैसे आर्य-संस्कृतिका ह्रास होने लगा, वैसे-वैसे कर्मकाण्डका भी लोप होने लगा। साधारण मनुष्योंके लिये यज्ञ आदिका अनुष्ठान तो दुष्कर हो ही गया, ज्ञानमार्ग भी अति गूढ होनेके कारण दुर्बोधकर प्रतीत होने लगा। इस प्रकार जब दोनों मार्ग अत्यन्त गहन और अगम्य प्रतीत होने लगे, तब एक ऐसे मार्गकी आवश्यकता आ पड़ी, जिससे इन दोनों मार्गोंका सामञ्जस्य हो जाय और जो इन दोनोंसे सरल हो। इस समस्याका समाधान किया भक्तों तथा संतोंने, जिनके अनुसार 'ईश्वरकी भक्ति'से ही मनुष्योंको सब कुछ प्राप्त हो सकता है।

'भक्ति' शब्दकी निष्पत्ति 'भज्' धातुसे हुई है, जिसका अर्थ तो है 'सेवा करना' परंतु तात्पर्य है—भजन, अर्पण, पूजा या प्रीति करना। शाण्डिल्यके अनुसार ईश्वरमें परा (उत्कट) अनुरक्ति ही भक्ति है। भक्तिकी इस परिभाषामें 'परा' शब्द अत्यन्त महत्त्वका है; इससे 'निर्हेतुक', 'निष्काम' तथा 'निरन्तर' प्रेमका भाव टपकता है। भागवतमें भी कहा गया है—

> अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।

ईश्वरसे कुछ पानेकी इच्छासे की गयी भक्ति सकाम हो जाती है। यह सकाम भक्ति अत्यन्त निकृष्ट भक्ति मानी गयी है। भक्तिका सच्चा स्वरूप तो यही है कि उसमें कुछ लेनेका भाव ही नहीं होना चाहिये, वरं उलटे अपने मस्तक अर्पण करनेका भाव होना चाहिये। गीतामें भक्तोंको चार श्रेणियोंमें विभक्त किया गया है—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी।

> आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च······

इनमें प्रथम तीन प्रकारके भक्त तो सकाम होनेके कारण निकृष्ट हैं, किंतु चौथे प्रकारका बिना किसी कारणके केवल भगवान्से स्वाभाविक निरन्तर प्रीति करनेवाला भक्त ही श्रेष्ठ होता है।

किंतु भक्ति-मार्गमें ज्ञान तथा कर्मका कोई स्थान है या नहीं, इस सम्बन्धमें आचार्य एकमत नहीं हैं। कुछ विद्वानोंका मत है कि भक्तिके लिये ज्ञान और कर्म दोनोंकी आवश्यकता है। परंतु कुछ कहते हैं कि ज्ञान कभी भक्तिका अङ्ग नहीं बन सकता, वह तो मोक्षका स्वतन्त्र तथा सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। परंतु विचार करनेपर प्रतीत होता है कि भक्तिमें ज्ञान तथा कर्म दोनोंकी आवश्यकता पड़ती है। इनमें परस्पर विरोध नहीं, अभिन्नता है, आत्मीयता है। ज्ञान, कर्म और भक्तिके इसी समन्वय और अभेदका अत्यन्त सुन्दर ढंगसे प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थ है गीता, जिसमें भगवान्ने चारों प्रकारके भक्तोंसे ज्ञानीको ही सर्वश्रेष्ठ भक्त माना है; क्योंकि वह सदा

निष्काम होता है। यहींतक नहीं, उन्होंने ज्ञानीको अपना आत्मा ही मान लिया है—ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।

भक्तिमें ज्ञान तथा कर्म दोनोंकी आवश्यकता इसलिये होती है कि कर्म तथा ज्ञानके बिना भक्ति हो ही नहीं सकती। भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये कर्म आवश्यक ही है और इस विनश्वर शरीर और अविनश्वर आत्माके भेदका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ज्ञान भी अपरिहार्य है।

शास्त्रोंमें दो प्रकारकी भक्तिका वर्णन मिलता है—'परा' तथा 'अपरा'। अपरा भक्तिमें कर्मकी आवश्यकता रहती है। यह भक्ति सर्वसाधारणके लिये है, अतएव सरल भी है। अपरा भक्तिमें भक्त सदा भगवान्‌के गुणोंका श्रवण, उनका कीर्तन, स्मरण, चरणोंकी सेवा, उनकी अर्चना तथा वन्दना करता है, अपनेको भगवान्‌का दास समझता है, उनसे प्रीति स्थापित करता है और अन्तमें अपने आपको उनके चरणोंमें अर्पण कर देता है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(भागवत ७।५।२३)

यह है कर्मप्रधान अपरा भक्ति। इस प्रकारकी भक्तिद्वारा भक्तका अन्तःकरण शुद्ध तथा निर्मल हो जाता है।

परा भक्ति इसकी अपेक्षा सूक्ष्म तथा गहन है। यह भक्ति बुद्धिजन्य होती है तथा इसमें जो प्रीति होती है, वह स्वाभाविक होती है। यह केवल ज्ञानवान्‌को ही आनन्दित कर सकती है। इसका अधिकारी सर्वसाधारण न होकर केवल ज्ञानी ही होता है, जिसका उल्लेख गीतामें कई स्थानोंपर किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि अपरा तथा परा भक्ति क्रमशः कर्मप्रधान तथा ज्ञानप्रधान हैं और इनमें किसी प्रकारका कोई विरोध नहीं है, ये दोनों एक दूसरेके पूरक हैं।

ज्ञान-कर्मयुक्त भक्ति

(लेखक—श्रीस्वामी माधवाचार्यजी)

आत्माका अपृथक्-सिद्ध प्रधान गुण ज्ञान है। जबतक सात्त्विक ज्ञानका उदय नहीं होता, तबतक अनेक मलिन कर्मोंसे दबा हुआ आत्मा मुक्त नहीं होता। इसीलिये श्रुतियोंमें यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि बिना ज्ञानसे मुक्ति नहीं होती—ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। शास्त्रोंमें मुक्तिके चार कर्म, भक्ति, ज्ञान और प्रपत्ति बतलाये गये हैं। इन सभी उपायोंसे अन्ततोगत्वा ज्ञानका उदय होता ही है, इसलिये ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः यह श्रुति सर्वत्र चरितार्थ होती है। यहाँपर यह विचारणीय है कि कर्म और ज्ञानका कितना सम्बन्ध भक्ति-पदार्थसे है। कर्म तथा ज्ञानका मध्यवर्ती पदार्थ भक्ति है। कर्मका प्रधान सम्बन्ध शरीरसे है, सम्पूर्ण कर्म शरीरसे ही किये जाते हैं। कर्म शरीरजन्य होनेके कारण स्थूल या सूक्ष्म शरीरतक ही सीमित रहते हैं। इसलिये कर्मजन्य पुण्यकी भी सीमा बतलायी गयी है। विनाशी होनेके कारण शाश्वतिक मुक्ति-पदार्थका उपादान कर्म नहीं बन सकता। ज्ञानका प्रधान सम्बन्ध आत्मासे है। शुद्ध सात्त्विक ज्ञानके उदय होनेपर आत्मा शाश्वतिक सुख प्राप्त कर सकता है।

सात्त्विक ज्ञानके उदय होनेमें विहित-कर्मानुष्ठान कारण बनता है। सत्कर्मोंके पवित्र अनुष्ठानसे अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें पवित्रता आती है, जिससे सात्त्विक ज्ञानका उदय होने लगता है। भक्तिमार्गमें सत्कर्म और ज्ञान दोनोंका दृढ सम्बन्ध है। जब परमाराध्य भगवान्‌की सेवामें प्राणियोंकी प्रवृत्ति कर्मोंके द्वारा होती है और आचार्योपदिष्ट अनन्य-शेषत्व, अनन्य-भोग्यत्व आदि पारमार्थिक स्वरूप-ज्ञान होता है, तब उसी अवस्थामें भगवत्कृपासे अपनाये हुए प्राणियोंको सार्वदिक सुख प्राप्त होता है।

अतः शरीरकृत कर्म तथा आत्मसम्बन्धित ज्ञान दोनोंका समन्वय भक्ति-पदार्थसे है। 'भक्ति' शब्दका अर्थ भी व्याकरण-प्रदर्शित प्रकृति-प्रत्ययके अनुसार यही होता है। 'भज' धातुसे भावमें 'घञ्' प्रत्यय करनेसे 'भाग' शब्द बनता है। इसी धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय करनेपर 'भक्ति' शब्द बनता है। 'भाग' शब्दका अर्थ होता है हिस्सा। यही अर्थ 'भक्ति' शब्दका भी होना चाहिये। प्रकृतमें कर्म और ज्ञानके हिस्सेका नाम 'भक्ति' है।

शरीरकृत सत्कर्मोंसे परमाराध्य भगवच्चरणोंकी आराधना तथा आत्मसम्बन्धी विविध ज्ञानके द्वारा अनन्य-शेषत्वादि स्वरूप-परिचय एवं शेषित्वादि आवश्यक भगवद्-विषयक ज्ञानका उदय होता है। इस अवस्थाको प्राप्त हुए प्राणियोंको श्रीलक्ष्मीनारायण भगवान्‌की निर्हेतुक कृपासे नित्य-कैङ्कर्य मिलता है। निष्कर्षतः भक्तिमार्गको ज्ञान और कर्म दोनोंके अंशोंसे संवलित कहा जाता है।

हरिः शरणम्

अहल्या-उद्धार

रामपद-पदुम-पराग परी।
ऋषितिय तुरत त्यागि पाहन-तनु छबिमय देह धरी॥

(गीतावली १।

भक्त-वत्सल श्रीराम

राखी गीध गोद करि लीन्हों ।
नयन-सरोज सनेह-सलिल सुचि मनहु अरघजल दीन्हों ॥
(गीतावली ३ । १३)

भक्ति और भक्तिके नौ भेद

(लेखक—[illegible])

भगवान्में अनन्य प्रेमका नाम ही भक्ति है। प्रेमकी पराकाष्ठा ही भक्ति है और प्रेम ही भक्तिका पूर्णरूप है। जब आराधक और आराध्य एक हो जायँ और भक्तकी सारी द्वैतभावना नष्ट हो जाय, उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते—सारी क्रियाएँ करते हुए सभी अवस्थाओंमें भक्त जब भगवान्के अतिरिक्त और कुछ न देखे, तब वही तन्मयता परा भक्ति बन जाती है—सा परानुरक्तिरीश्वरे (शाण्डिल्यसूत्र) ।

रामहि केवल प्रेम पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥

इसी सिद्धान्तको भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें भी कहा है—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। (१३ । १०)

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। (१४ । २६)

भगवान्की भक्तिके लिये ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष, जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियाका कोई भेद नहीं है (नारदसूत्र ७२)। सभी देश, युग, जाति और अवस्थाके मनुष्योंको भगवान्की भक्तिका अधिकार है, क्योंकि भगवान् सबके हैं। (पद्मपुराण अ० ४२, श्लोक १०)

कविसम्राट् गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

स्वपच सबर खस जमन जड़ पावँर कोल किरात।
राम कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात॥

श्रीग्रन्थसाहबमें भी कहा गया है—

ब्राह्मण, बैस सूद अरु खत्री, डोम, चँडार, म्लेच्छ मनसोमा।
होय पुनीत भगवंत भजन ते, आप तार तारै कुल दोम॥
धन्य सो गाँव, धन्य सो ठाँव, धन्य पुनीत कुटुँब सब लोमा।
पीवत सुर रसखानि रामा मन भावत अवर न कोम॥

रामायण और गीतामें भक्तिके चार भेद कहे गये हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
(७ । १६-१७)

राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥
चहू चतुर कहुँ नाम अधारा। ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पिआरा॥

श्रीमद्भागवतके सातवें स्कन्धमें प्रह्लादने भक्तिके नौ भाग बताते हुए कहा है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(७ । ५ । २३)

१—जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना। श्रवन रंध्र अहि भवन समाना॥

कथा सुननेमें राजा परीक्षित्, पृथु, उद्धव, जनमेजय आदि उदाहरणरूप हैं।

२—कीर्तनमें नारद, सरस्वती, शंकर, शेष आदि आदर्श हैं।

३—स्मरणमें ध्रुव, प्रह्लाद, विदुर आदि उल्लेखनीय हैं।

४—पादसेवनमें सीताको देखिये—

छिनु छिनु प्रभु पद कमल बिलोकी। रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी॥

फिर निषादराजकी चतुराई देखिये—

पद पखारि जलु पान करि।

अंगद-हनुमान्की सेवाका अवलोकन कीजिये—

बालितनय अंगद हनुमाना। चरन कमल चाँपत बिधि नाना॥

भरतलालकी भक्ति देखिये—

चरन कमल रज चाहती।

जटायुका प्रेम देखिये—

नमो धरा गीधपति देखा। सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा॥

वाल्मीकी गूढ़ भक्ति परखिये—

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।

और लक्ष्मीजीकी पाद-सेवा तो जगत्प्रसिद्ध है—

संचिन्तयेद् भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम्।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम्॥
(श्रीमद्भा० ३ । २८ । २१)

५—अपने मनकी भावनाके अनुसार किसीकी मूर्तिकी पूजा करना अर्चन (पूजन) कहलाता है। श्रीमद्भागवतमें आठ प्रकारकी प्रतिमाएँ बतायी गयी हैं—

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता॥
(११ । २७ । १२)

इस परिपाटीमें ध्रुव, मीरा, नामदेव आदिकी गणना की जा सकती है।

६–वन्दनकी महत्ता देखिये—

'देव मुनि सरन समुहैं आए। सहित प्रनाम किएँ अपनाए॥'
'ते सिर कटु तुंबरि समतूला। जे न नमत हरि गुर पद मूला॥'

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।
(गीता ११। ३९)

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥
(भीष्मस्तवराज ९१)

७–दास्य भक्तिमें हनुमान्, विदुर और भरत प्रसिद्ध हैं।

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि। ... 'मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥'

८–सख्यभावमें अर्जुन, उद्धव, सुग्रीव और गुह आदिकी गणना की जाती है।

९–आत्मनिवेदनके अन्तर्गत गोपियाँ और ग्वाले आते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८। ६६)

यह नौ प्रकारकी भक्ति तीन विभागोंमें विभक्त है—१–श्रवण, कीर्तन, स्मरण (नाम-महिमा)। २–पादसेवन, अर्चन, वन्दन (मूर्ति-उपासना)। ३–दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन (भक्त-विशेष)।

कविसम्राट् गोस्वामी तुलसीदासजीने मानसमें श्रीरामजीके मुख-कमलसे शबरीको नवधा भक्ति इस प्रकार सुनायी है—

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥

× × ×

'बिनु सतसंग न हरि कथा' ... 'भव मेरोंह मा मोसत दुर्लभ। बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता॥'
'कुटिल कठोर कुबुद्धि सठ सोही। जिन्हहि न रघुपति कथा सुहाती॥'
'राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह कें सतसंगति अति प्यारी॥'
'मन कामना सिद्धि नर पावा। जो यह कथा सुनै करि गावा॥'

× × ×

गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥

हिंदू-धर्ममें गुरुसेवा परम कर्तव्य माना गया है—

गुर बिनु भव निधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥

गुरुने जो मन्त्र दिया हो, उसका जप करना और उसमें अचल विश्वास रखना।

'मंत्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्ब॥'
'महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासीं मुकुति हेतु उपदेसू॥'

जपको भगवान् अपना महान् स्वरूप बता रहे हैं—

यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि। (गीता १०। २५)

छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
इन्द्रियनको रोकना दम मान्यो बुधवीर। (विचारसागर)

हिंदू-धर्मके प्रत्येक क्षेत्रमें धर्मका अस्तित्व भरा हुआ है। इसलिये व्यर्थके कामोंसे विरत होकर सज्जनोंका धर्म है कि रात-दिन अखण्ड रूपसे भगवान्‌के भजनमें लगे रहें।

सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥

यह चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥

'ईशावास्यमिदं सर्वम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'वासुदेवः सर्वमिति'

भगवान् श्रीरामने अपनेसे अधिक संतोंको बताया है। यह उनके अपने कृपालु स्वभावका परिचय है—

आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ पर दोषा॥

× × ×

जथा लाभ संतोष सदाई। 'परदुःखदुःखप्रसन्मुखा'

स्वप्नमें भी पराये दोषको नहीं देखना चाहिये।

नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

नवम भक्ति श्रीरामचन्द्रजी सबसे छलरहित—सीधा रहना बताते हैं और कहते हैं कि मेरा भरोसा रखकर हर्ष शोक या दीनता मनमें नहीं लानी चाहिये।

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
राम भगति रति नर अरु नारी। ... सो नर अधम मूढ़ पशु समाना।
राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥

जैसे भगवान् अनन्त हैं, वैसे ही भगवान्‌की भक्तिका भी अन्त नहीं है। वेद भी नेति-नेति कहकर चुप हो जाते हैं, तब मनुष्यमें क्या शक्ति है भक्ति-सागरका अन्त पा सकनेकी—

जेहिं मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥

भक्ति-संजीवनी

(लेखक—गढ़ोली-निवासी साधु श्री[illegible])

भगवान्‌के साथ मिलन ही जीवनका सर्वोत्तम लक्ष्य है। इस लक्ष्यकी प्राप्तिके अनेक साधन हैं। उनमें भक्ति ही वर्तमान युगका मुख्य साधन है। भक्तिका अर्थ है—जिस किसी उपायसे भगवान्‌की सेवा करना। भगवान्‌की उपासना, भगवान्‌की सेवा, भगवान्‌की शरणागति—सभी भक्तिके अन्तर्गत हैं। साधारणतया भगवान्‌के साथ मिलनेके लिये चार मार्गोंका शास्त्रमें उल्लेख है—कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा प्रपत्तियोग। वेदोंका पूर्वभाग कर्मकाण्ड तथा उत्तरभाग ज्ञानकाण्ड है। भक्ति कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनोंका समन्वय करती है। कर्म और ज्ञान परस्पर भिन्न होनेपर भी एक दूसरेके अङ्ग बन जाते हैं। ज्ञानहीन कर्म केवल कृत्रिम और यन्त्रकी क्रियाके समान प्राणहीन होता है। उसमें शक्ति नहीं रह सकती। अतएव वह कर्म अन्यात्मकल्याणमें सहायक नहीं हो सकता। और कर्महीन ज्ञान भी अधिक महत्त्वपूर्ण देखनेमें नहीं आता। कर्महीन ज्ञानमें सामर्थ्य न होनेके कारण वह केवल शास्त्रार्थ या वक्तृतामात्रका विषय हो जाता है। शास्त्रार्थ कर लेने या ज्ञानविषयक वक्तृता दे देनेमें ही ज्ञानकी सार्थकता नहीं होती। समस्त क्रियाओंका ज्ञानानुवर्तिनी होना आवश्यक है। क्रियात्मक ज्ञान न होनेके कारण आजकलके ज्ञानियोंमें ज्ञानकी कोई शक्ति देखनेमें नहीं आती। जहाँ क्रिया ज्ञानके विपरीत होती हुई देखी जाती है, वहाँ समझना चाहिये कि उक्त ज्ञानमें श्रद्धाका विकास नहीं है। भक्ति कर्म और ज्ञान दोनोंकी सहायक बनकर दोनोंमें ही सरसताकी वृद्धि करती है। उपासनाके साथ ज्ञान और कर्मका विरोध नहीं है। कर्म और ज्ञान दोनों-मार्ग अनादि कालसे उपनिषद् और पुराणोंमें प्रसिद्ध हैं। कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों ही भक्तियोगके सहकारी हैं। ज्ञान-निरपेक्ष कर्म स्वर्ग-प्राप्तिका हेतु बनता है। कर्म-निरपेक्ष ज्ञान कैवल्यकी ओर अग्रसर होनेका निर्देश करता है। परंतु भक्तियोग कर्म और ज्ञानका सहायक बनकर मोक्षका सहकारी होता है। कर्म और ज्ञानका जहाँ मिलन होता है, वहीं भक्ति उत्पन्न होती है। तब ज्ञान, कर्म और भक्तिका एक ही लक्ष्य मुक्ति होता है। भक्त 'कर्मकाण्डी' नहीं होता, 'कर्मयोगी' होता है। कर्मकाण्डके सारे कर्म सकाम होते हैं और कर्मयोगके सब कर्म निष्काम होते हैं। जिस कर्ममें कामना, आसक्ति और कर्तृत्वाभिमान रहता है, वह कर्म मोक्षका साधक न होकर बाधक ही होता है। भक्त अनासक्त या निर्लिप्त होकर जीवनके समस्त कर्मोंको केवल कर्तव्यकी प्रेरणासे या भगवत्प्रीत्यर्थ करता है। इससे उसकी सीमाबद्ध बुद्धि या भोगबुद्धि नहीं रह सकती। राजसिक प्रवृत्ति या वासना उसके कर्मकी प्रेरक नहीं होती। विवेक, कर्तव्य अथवा सेवा-बुद्धि ही उसके कर्मकी नियामिका होती है। भक्तियोगके बिना कर्मयोगकी सफलता संदिग्ध हो जाती है। कर्म-संस्कार ही जीवात्माके बन्धन हैं। उक्त कर्म-संस्कार ही अविद्यारूपी कारण-शरीरका निर्माण करते हैं। परंतु कर्मका स्वरूपतः त्याग करना असम्भव है। जीवन-धारण करनेके लिये पद-पदपर कर्मका प्रयोजन होता है। कर्म स्वभावतः अच्छे या बुरे नहीं होते। जिस उद्देश्य या बुद्धिसे कर्म किया जाता है, उसीकी एक लहर अन्तःकरणमें उठकर एक तरङ्ग उत्पन्न करती है और उस तरङ्गके ऊपर ही कर्मका अच्छा-बुरा होना निर्भर करता है। कर्म किया तो जाता है स्थूल शरीरके द्वारा, परंतु स्थूल शरीरको प्रेरणा मनसे प्राप्त होती है। अतएव शुभाशुभ कर्मोंका कारण मन है। मन यदि मन्द कर्मको भी अच्छा बनाकर ग्रहण कर सके तो वह मन्द कर्म भी अच्छा बन जा सकता है। बन्ध और मुक्तिका कारण मन ही होता है। यदि दृष्टिकोण बदल जाय तो कोई भी कर्म बन्धनका कारण नहीं हो सकता।

कर्मयोग

प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण रूपमें कर्म तीन प्रकारके होते हैं। इस जीवनका प्रत्येक क्रियमाण कर्म समाप्त होकर संचितके रूपमें इकट्ठा होता रहता है। संचित कर्मोंमें जो भोगोन्मुख होते हैं, वे कर्म प्रारब्ध हो जाते हैं। प्रारब्ध कर्मोंका भोग अवश्यम्भावी है। प्रारब्ध कर्म भोगके समय वासनाके रूपको बढ़ाते हैं। वासनासे प्रवृत्ति तथा प्रवृत्तिसे वासना-यह चक्र दिन-रात चलता रहता है। प्रवृत्ति ही क्रियमाण कर्मकी पथ-प्रदर्शिका होती है। अतएव हमारा वर्तमान जीवन अतीत जीवनका फल है तथा भावी जीवनका बीजस्वरूप है। स्थूलशरीरके नष्ट हो जानेपर भी स्थूलशरीरद्वारा किया हुआ क्रियमाण कर्म नष्ट नहीं होता; क्योंकि कर्म करनेपर मानसिक जगत्‌में उसकी एक प्रतिक्रिया होती है

सेवा है। (३) अपना शरीर भी अन्तर्यामी भगवान्‌का मन्दिर है। अतएव भगवान्‌के मन्दिरको स्वच्छ और पवित्र रखना अन्तर्यामी भगवान्‌की तृतीय सेवा है। काम-क्रोध आदिका त्याग करके संध्या, पूजा, आरती, भोग, पुष्प-चयन, धूप-दीप-दान आदि अर्चावतारकी सेवा है। यह सेवा प्रतिमा या मूर्तिमें की जाती है। अपना भोजन जब भगवान्‌के भोगके लिये तैयार करोगे, तब अमेध्य भोजन-भक्षण करना तुम्हारे लिये भगवत्सेवा न होगी; क्योंकि अमेध्य भोजन भगवान्‌को अर्पण नहीं किया जाता। भोजन-कर्म, पूजा, दान और तपस्या—जो कुछ करो, सब भगवान्‌को अर्पण कर दो। इस प्रकार करनेसे कर्मका लेप तुमको स्पर्श न कर सकेगा।

भक्ति और भक्तके प्रकार-भेद

सर्वसुहृद्, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान्‌के ऊपर निर्भर करके जो भक्ति करते हैं, वे ही भक्त हैं। ज्ञानयोगके अधिकारीको पहले साधन-चतुष्टय (विचार, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व) से सम्पन्न होना पड़ता है। विरक्ति हुए बिना ज्ञानयोगका अधिकारी कोई नहीं हो सकता और अनधिकारी चेष्टा करनेपर भी ज्ञानके मुख्य फलको प्राप्त नहीं कर सकता। परंतु भक्तिके अधिकारी सभी हो सकते हैं। भगवान् गीतामें कहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पाप-योनि, स्त्री—यहाँतक कि दुराचारी पुरुष भी भक्तिका अधिकारी है। भगवान्‌का भजन करनेमें जातिका कोई विचार नहीं है। भक्तिके अधीन होकर भगवान् नीच-से-नीच—यहाँतक कि अस्पृश्य मेहतर अथवा चमारके घरमें भी पदार्पण करते हैं। भगवान् कहते हैं—

> चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
> आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
>
> (गी० ७।१६)

'हे अर्जुन! आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चार प्रकारके भक्त मेरा भजन किया करते हैं।' इनमेंसे सबसे निम्न श्रेणीका भक्त अर्थार्थी है। उससे श्रेष्ठ आर्त, आर्तसे श्रेष्ठ जिज्ञासु और जिज्ञासुसे भी श्रेष्ठ ज्ञानी है। भोग तथा ऐश्वर्यादि पदार्थोंकी इच्छा लेकर जो भगवान्‌की भक्तिमें प्रवृत्त होता है, उसके लिये भजन गौण तथा पदार्थोंकी प्राप्ति ही मुख्य होती है; क्योंकि वह पदार्थ प्राप्तिके लिये ही भगवान्‌का भजन करता है, भगवान्‌के लिये नहीं। अपने बल-बुद्धिके ऊपर भरोसा न करके वह भगवान्‌पर भरोसा करता हुआ धनके लिये भक्ति करता है, अतएव उसको भी भक्त कहते हैं। जिसको स्वाभाविक ही भगवान्‌के ऊपर विश्वास रहता है तथा जो भजन भी करता है, परंतु अपने पासके धन-विभवके नाश होनेपर, अथवा शारीरिक कष्ट या महान् संकटमें उस कष्टको दूर करनेके लिये जो भगवान्‌को पुकारता है, वह भक्त आर्त-भक्त कहलाता है। आर्त-भक्त अर्थार्थीके समान वैभव या भोगका संग्रह करना नहीं चाहता, परंतु प्राप्त वस्तुके नाश और शरीरके कष्टको सहनेमें असमर्थ होकर भगवान्‌की शरण ग्रहण करता है। अतएव अर्थार्थीकी अपेक्षा उसकी कामना कम होती है। जिज्ञासु भक्त अपने शरीरके पोषणके लिये भी कोई याचना नहीं करता, वह केवल भगवान्‌का तत्त्व जाननेके लिये ही भगवान्‌के ऊपर निर्भर करता है। जिज्ञासु भक्तको जन्म-मरणरूप संसारके दुःखोंसे परित्राण पानेकी इच्छाके द्वारा परमात्म-तत्त्व प्राप्तिकी इच्छा होती है। परंतु ज्ञानी भक्त सर्वथा निष्काम होता है। इसीलिये भगवान्‌ने ज्ञानीको अपना आत्मा ही कहा है। चित्-जड-ग्रन्थिरहित आत्माराम मुनिगण भी ज्ञानके द्वारा भगवान्‌की अहैतुकी भक्ति करते हैं; क्योंकि भगवान् इस प्रकारके दिव्य गुणोंके आधार हैं। भगवान्‌ने अपने भक्तोंकी महिमाका वर्णन करते हुए भागवतमें कहा है कि 'मैं भक्तकी पद-रजकी इच्छासे सदा उसके पीछे-पीछे घूमा करता हूँ, जिससे उसकी चरण-धूलि उड़कर मेरे शरीरपर पड़े तथा मैं उसके द्वारा पवित्र हो जाऊँ।' 'हे ब्राह्मण! मैं सर्वदा भक्तके अधीन हूँ, मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है।' भगवान् जिसके पीछे-पीछे घूमते हों, भला उसको किस बातकी चिन्ता! ज्ञानी भक्तके योग-क्षेमका भगवान् स्वयं वहन करते हैं। इसका एक दृष्टान्त यहाँ दिया जाता है—

माधवदासजी एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। गृहस्थ-आश्रममें उन्होंने बहुत धन-सम्पत्ति उपार्जन की थी। वे बड़े ही धार्मिक और विद्वान् थे। स्त्रीकी मृत्युके बाद वे संसारसे विरक्त हो गये और संसारको निःसार समझ घर त्यागकर जगन्नाथपुरीमें चले गये। वहाँ जाकर समुद्रके किनारे एकान्त स्थानमें ध्यानमग्न हो गये। उस ध्यानावस्थामें उनको शरीरतकका भान न रहा। इस प्रकार बिना अन्न-जलके जब उन्हें कई दिन बीत गये, तब दयालु भगवान्‌ने भक्तके अनशनको सहन करनेमें असमर्थ होकर सुभद्राजीको आदेश दिया—'हे सुभद्रे! तुम उत्तमोत्तम भोजन-सामग्री सोनेके थालमें रखकर मेरे भक्तके पास

पहुँचा आओ।' सुभद्राजी आज्ञा प्राप्त करके सोनेके थालमें अन्न-व्यञ्जन सजाकर माधवदासके पास गयीं; उन्होंने देखा कि यह ध्यान-मग्न हो रहा है। सुभद्राजी उसके ध्यानको भङ्ग करना उचित न समझकर वहीं थाल रखकर लौट गयीं। भक्त माधवदासका जब ध्यान टूटा, तब सामने सोनेका थाल देखकर वे सोचने लगे—'यह सब भगवान्‌की ही कृपा है।' यह विचार मनमें आते ही वे आनन्दाश्रुसे विगलित हो गये। कुछ देरके बाद भोजन करके उन्होंने थालीको एक ओर रख दिया और पुनः ध्यान-मग्न हो गये। प्रातःकाल जब मन्दिरका द्वार खोलनेपर ब्राह्मणोंने देखा कि भीतरसे एक सोनेकी थाली चोरी चली गयी है, तब वे चोरका पता लगाते-लगाते भक्त माधवदासके पास पहुँचे। वहाँ सोनेकी थाली पड़ी देख उन्होंने माधवदासको चोर समझा। फलतः उनको पुलिसने बेंतोंसे मारना शुरू किया। भक्त माधवदासने हँसते-हँसते बेंतोंकी चोट सह ली। वस्तुतः सारी बेंतोंकी चोट तो भगवान् जगन्नाथजी स्वयं सह रहे थे। भगवान्‌ने रातमें पुजारीको स्वप्नमें दर्शन देकर कहा—'मेरे भक्त माधवदासके ऊपर जो बेंतकी मार पड़ी है, उसे मैंने अपने ही ऊपर ले लिया है। अब तुमलोगोंका सर्वनाश करूँगा। यदि बचना चाहते हो तो मेरे भक्त माधवदासके चरणोंमें पड़कर क्षमा प्रार्थना करो।' पुजारी उठते ही माधवदासके पास गया और उनके चरणोंपर गिरकर उसने कातर स्वरसे क्षमा-याचना की। माधवदासने तुरंत उसको क्षमा कर दिया।

एक बार माधवदासजीको अतिसारका रोग हो गया, वे बहुत दूर समुद्रके किनारे जाकर पड़ गये। वे इतने दुर्बल हो गये कि उठनेकी भी शक्ति न रही। ऐसी अवस्थामें जगन्नाथजीने स्वयं ही सेवक बनकर उनकी सेवा-शुश्रूषा की। जब माधवदासजीको कुछ होश आया, तब उन्होंने तत्काल पहचान लिया कि हो-न-हो ये भगवान् जगन्नाथ ही हैं। ऐसा विचार करके उन्होंने अचानक प्रभुके चरण पकड़ लिये तथा विनीत भावसे कहा—'हे नाथ! मुझ-जैसे अधमके लिये आपने इतना कष्ट क्यों उठाया? प्रभो! आप तो सर्वशक्तिमान् हैं, आप चाहनेपर अपनी शक्तिसे ही मेरे सम्पूर्ण दुःखोंको दूर कर सकते थे। इस प्रकार कष्ट उठानेकी क्या आवश्यकता थी?' श्रीभगवान् बोले—'माधव! मैं भक्तोंके कष्टको सहन नहीं कर सकता। अपने सिवा मैं और किसीको भक्तकी सेवाके उपयुक्त नहीं समझता। इसीलिये मैंने तुम्हारी सेवा की है। तुम जानते हो कि प्रारब्ध कर्म भोगे बिना नष्ट नहीं होते। यह मेरा दुर्लङ्घ्य नियम है। इसी कारण मैं स्वयं सेवा करके भक्तको प्रारब्ध भोग कराता हूँ और जगत्‌को यह शिक्षा देता हूँ कि भगवान् भक्ताधीन हैं।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

उपर्युक्त चतुर्विध भक्तोंमें प्रथम तीन प्रकारके भक्त सकाम होते हैं और अन्तिम ज्ञानी भक्त निष्काम होता है। आर्त भक्तका दृष्टान्त है द्रौपदी, जिज्ञासु भक्तका दृष्टान्त उद्धव तथा अर्थार्थी भक्तका दृष्टान्त ध्रुव हैं—इनकी कथा इतिहास-पुराणोंमें प्रसिद्ध है। यहाँ विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं है। अनन्य भक्तके उदाहरण हैं उपमन्यु। भक्त उपमन्युकी उग्र तपस्याकी बात देवताओंके मुखसे सुनकर भक्तवत्सल भगवान् शंकर भक्तका गौरव बढ़ानेके लिये तथा उसके अनन्य भावकी परीक्षा करनेके लिये इन्द्रका रूप धारण करके ऐरावतपर सवार होकर उपमन्युके सामने उपस्थित हुए। उपमन्युने इन्द्रको देखकर सिर झुकाकर प्रणाम करते हुए कहा—'देवराज! आप कृपा करके मेरे सामने उपस्थित हुए हैं; आज्ञा दें, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?' इन्द्ररूपी शंकर बोले—'मैं तुम्हारी तपस्यासे प्रसन्न होकर तुम्हें वर देने आया हूँ, तुम मुझसे वर माँगो। जो कुछ तुम चाहोगे, वही मैं तुमको देनेके लिये तैयार हूँ।' इन्द्रकी बात सुनकर उपमन्यु बोले—'देवराज! मैं आपसे कुछ भी नहीं चाहता। मुझको स्वर्गादिकी इच्छा नहीं है। मैं भगवान् शंकरका भक्त हूँ, अतएव भगवान् शंकरका दासानुदास होना चाहता हूँ। जबतक भगवान् शंकर मुझको दर्शन न देंगे, तबतक मैं तपस्या ही करता रहूँगा। त्रिभुवनके सार, आदिपुरुष, अद्वितीय, अविनाशी भगवान् शंकरको प्रसन्न किये बिना किसीको शाश्वत शान्ति नहीं मिल सकती। अपने किसी दोषके कारण इस जन्ममें चाहे भगवान् शंकरका दर्शन मुझे न हो, तथापि आगामी जन्ममें जिससे भगवान् शंकरके प्रति मेरी अनन्य भक्ति हो, वही मैं भगवान् शंकरसे प्रार्थना करूँगा।'

इन्द्ररूपधारी शंकरजी उपमन्युकी बात सुनकर उनके सामने ही शिवकी नाना प्रकारसे निन्दा करने लगे। उपमन्युने शिव-निन्दा सुनकर इन्द्रका वध करनेके लिये भस्म उठायी और उसे अघोरास्त्र द्वारा अभिमन्त्रित करके इन्द्रके ऊपर फेंका; साथ ही शिव-निन्दा सुननेके प्रायश्चित्तस्वरूप अपने देहको भस्म करनेके लिये आग्नेयी धारणाका प्रयोग किया। भगवान् शंकर भक्तकी अनन्य भक्ति देखकर प्रसन्न हो उठे; उन्होंने आग्नेयी धारणाको शान्त कर दिया तथा नन्दीने अघोरास्त्रका निवारण किया। इसी बीचमें उपमन्युने देखा कि भगवान् शंकर वृषभपर आरूढ़ हो जगज्जननी उमाके साथ आविर्भूत हो गये।

गद्गद कण्ठसे भगवान्‌की स्तुति करने लगे। भगवान् शंकर बोले—'वत्स उपमन्यु! मैं तुम्हारी अनन्य भक्ति देखकर प्रसन्न हो गया हूँ। अब वर माँगो।' भगवान्‌के वचन सुनकर उपमन्यु बोले—'भगवन्! क्या मुझको और कोई वस्तु मिलना शेष रह गया है! मेरा जन्म सफल हो गया। यदि आप मुझको वर देना ही चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि आपके श्रीचरणोंमें मेरी अविचल भक्ति बनी रहे।' भगवान् शंकरने उनको देवीके हाथमें समर्पण कर दिया। देवी उनको अविनाशी कुमार-पद प्रदान करके अन्तर्हित हो गयीं। इन्हीं उपमन्युने श्रीकृष्णको शिवमन्त्रकी दीक्षा दी थी।

गुणभेदसे भक्तोंके पुनः तीन भेद होते हैं। सत्त्वगुणी भक्त देवताकी पूजा करता है, रजोगुणी भक्त यक्ष-राक्षसादिकी तथा तमोगुणी भक्त भूत-प्रेतादिकी पूजा करता है। श्रद्धा और रुचि देखकर भक्तको पहचाना जाता है। अनन्य भक्त चातकके समान अपने अभीष्ट देवताके ध्यानमें तन्मय रहते हैं। जो लोग विभिन्न कामनाओंको लेकर विभिन्न देवी-देवताओंकी पूजा करते हैं, वे भक्त नहीं; उनको स्वार्थी, व्यवसायी कह सकते हैं। चातक पिपासासे कातर होकर भी नदी-नालेके जलको नहीं पीता, मेघकी ओर देखता रहता है। इसी प्रकार अनन्य भक्त प्रारब्धवश शरीरसे नाना प्रकारके कष्ट होनेपर भी अपने इष्टदेवके सिवा अन्य किसीकी आराधना नहीं करता। सब कर्मोंके फलदाता भगवान् हैं। देवतासे फल तो शीघ्र मिलता है, परंतु भक्तको उससे देवलोककी प्राप्ति होती है।

श्रीमद्भागवतमें नवधा भक्तिका वर्णन इस प्रकार मिलता है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

भगवान्‌की कथा सुनना, नाम-कीर्तन, स्मरण, चरण-वन्दन, सेवा, पूजा, प्रणाम, सखाभाव और आत्मसमर्पण—इस नवधा भक्तिका विस्तारपूर्वक वर्णन श्रीमद्भागवतमें मिलता है। गरुडपुराणमें आठ प्रकारकी भक्तिका उल्लेख है—जैसे (१) भगवान् विष्णुके नाम एवं लीलाओंका कीर्तन करते-करते मधुरता; (२) भगवान्‌के भुक्त पत्तोंको ही एकमात्र आधार समझकर तदनुसार अनुष्ठान; (३) भक्तिपूर्वक भगवत्-कथित शास्त्रका पठन-पाठन; (४) भगवान्‌के भक्तोंका अनन्य भावसे अनुमोदन; (५) भगवत्-सेवा और कथा सुननेमें रुचि; (६) भगवद्दासभक्तिलाभ; (७) भगवत्पूजा; (८) भगवान् ही मेरे स्वामी हैं, यह ज्ञान। रामचरितमानसमें नवधा-भक्ति तथा नारदभक्ति-सूत्रमें भक्तिके ११ भेद पाये जाते हैं। प्रसिद्ध वैष्णव ग्रन्थोंमें शान्त, सख्य, दास्य, वात्सल्य और मधुर—इन पाँच प्रकारकी भक्तिके भावोंका सविस्तर वर्णन प्राप्त होता है। इन पाँचों भक्ति-भावोंके और भी अवान्तर भेद देखनेमें आते हैं। दास्यभावके अनेक भेद हैं। दास भक्त चार प्रकारके होते हैं—अधिकृत, आश्रित, पारिषद और अनुग। इनमेंसे प्रत्येकके अनेक भेद हैं। इसी प्रकार सख्य, वात्सल्य और मधुर भावके भी अनन्त भेद हैं। सामान्य भक्ति, साधन-भक्ति, गौणी-भक्ति, वैधी भक्ति, प्रेमा-भक्ति, परा भक्ति, रागात्मिका भक्ति, रागानुगा भक्ति, मिश्रा भक्ति, विद्धा भक्ति, अविद्धा भक्ति, उत्तमा भक्ति इत्यादि भक्तिके अनेक प्रकारोंका उल्लेख देखनेमें आता है। विस्तारभयसे उसे यहाँ प्रदर्शित नहीं किया गया है। इसके लिये वैष्णव-ग्रन्थ देखने चाहिये। दो विभाव—आलम्बन और उद्दीपन; आठ सात्त्विक भाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय; तथा निर्वेद, विषाद आदि तैंतीस संचारी भाव ग्रन्थोंमें प्राप्त होते हैं। अधिकारीभेदसे रतिमें भी विभिन्नता होती है। विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव और संचारी भावके द्वारा कृष्णविषयक स्थायी भाव उत्पन्न होता है। आस्वादनके कारणको विभाव कहते हैं; यह आलम्बन और उद्दीपन भेदसे दो प्रकारका होता है। इनमें श्रीकृष्ण और उनके भक्त आलम्बन विभाव हैं। जिसके द्वारा भाव प्रकाशित होता है, उसको उद्दीपन विभाव कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके गुण, चेष्टा, हँसी, अङ्ग-सौरभ, वंशी, शृङ्ग, नूपुर, शङ्ख, पदचिह्न, क्षेत्र, तुलसी तथा भक्त आदि उद्दीपन विभाव हैं। भगवान्‌के चित्तगत भावोंका बोध जिनके द्वारा होता है, उनको अनुभाव कहते हैं। भावेशवश नाचना-गाना, भूमिपर पड़ जाना, अँगड़ाई लेना, हुंकारादि अनुभावके अन्तर्गत हैं। भागवतमें लिखा है—

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
(११।१४।२४)

भक्ति भावप्रधान होती है, अतएव भगवच्चिन्तन करनेवाले भगवान्‌में रति उत्पन्न होती है। तब उपर्युक्त भावोंकी स्वतः स्फूर्ति होती है। परन्तु इन भावोंको लानेके,

भावुकतामें परिणत हो जाते हैं और रोग उत्पन्न करके साधक-को भक्ति-भावसे वञ्चित कर देते हैं। अतएव अतिसावधान होकर परीक्षा करनी पड़ती है कि भक्तका भाव सत्य है या मिथ्या। भावके राज्यमें कौन-कौन अवस्थाएँ होती हैं, यह भक्तके सिवा दूसरोंके लिये समझना कठिन है। भावके घरमें चोरी करनेपर वह भाव नष्ट हो जाता है। भक्ति, विरक्ति और ईश्वरानुभूति—ये तीनों एक ही समय होते हैं। एकको छोड़कर दूसरे नहीं रह सकते। भक्ति होनेपर विषयों-में विरक्ति अवश्य होगी तथा विषयोंमें विरक्ति होनेपर भगवान्-का अनुभव अवश्य होगा। जिस भक्तमें इनका विपर्यय या व्यतिक्रम देखा जाता है, वह भक्त भक्तिका केवल अनुकरण मात्र करता है, यह जानना चाहिये। भक्तिका अभिनय भक्ति नहीं है।

प्रपत्ति

भक्तिका ही एक सुगम उपाय प्रपत्ति है। भगवान्से मिलनेके लिये प्रबल व्यग्रताको 'प्रपत्ति' कहते हैं। भक्त सोचता है कि भगवान् मेरे हैं, अतएव भगवान्की सेवाका भार मेरे ऊपर अर्पित है। मेरे सिवा दूसरा कोई सेवा नहीं कर सकेगा। प्रपन्न समझता है कि मैं भगवान्का हूँ, अतएव मेरी और मेरी भक्तिकी रक्षाका भार भगवान्के ऊपर है। भक्तकी उपमा बंदरके बच्चेसे तथा प्रपन्नकी उपमा बिल्लीके बच्चेसे दी जाती है। बंदरका बच्चा स्वयं माको पकड़े हुए रहता है, उसके लिये माको कोई चिन्ता नहीं होती। वह केवल एक पेड़से दूसरे पेड़पर कूदती रहती है। बिल्लीका बच्चा अपने स्थानपर बैठकर म्याऊँ-म्याऊँ करता रहता है, उसमें एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेकी शक्ति नहीं होती। जब आवश्यकता होती है, तब बिल्ली उसको दाँतोंसे पकड़कर दूसरे स्थानपर ले जाती है। प्रपन्नकी भक्तिके निर्वाहका भार भगवान्के ऊपर होता है। मृत्युके समय मूर्च्छित अवस्थामें प्रपन्न जब भगवान्का ध्यान करनेमें असमर्थ होता है, तब प्रपन्नका कार्य भगवान् ही सम्पन्न करते हैं। प्रपत्तिके दो भेद हैं—शरणागति और आत्मसमर्पण। भक्ति करना भक्तके अधीन है, किंतु प्रपत्तिका होना ईश्वरके अधीन है। भगवान् श्रीरामचन्द्रने कहा है कि केवल एक बार यदि कोई मन-प्राणसे कह सके कि 'मैं तुम्हारा हूँ' तो मैं उसको सभी भूतोंसे अभय करता हूँ—

> सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
> अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
> (वाल्मीकिरामायण)

शरणागति

परिणीता पत्नीके समान प्रपन्नका एक ही कर्तव्य होता है—पतिके अनुकूल चलनेका संकल्प और प्रतिकूल चलनेका वर्जन। स्वामीके लिये अनुकूल कार्य करनेका दृढ़ संकल्प तथा प्रतिकूल कार्य त्याग करनेका दृढ़ संकल्प शरणागतिका प्रथम सोपान है। पत्नीकी रक्षाका भार पतिके ऊपर रहता है। पत्नीको सावधान होकर पतिके अनुकूल आचरण करना होता है। जो कर्म पतिको अप्रिय हो, उसे पत्नीको नहीं करना चाहिये। अतएव भक्तको भी वही कर्म करना चाहिये, जिससे भगवान् प्रसन्न हों। जिस कर्मके करनेसे भगवान् रुष्ट होते हैं, उस कर्मको त्याग देना चाहिये। शास्त्र ही भगवान्-की आज्ञा हैं। अतएव शास्त्रमें जिस कर्मके करनेका आदेश दिया गया है, वह कर्म भगवान्को प्रिय है और जिस कर्मके करनेका निषेध किया गया है, वह त्याग करने योग्य है। जिन्होंने शास्त्रोंको पढ़ा नहीं है, उनके लिये जो कर्म अपने समाजके तथा राष्ट्रके लिये कल्याणकर जान पड़े, उनका ही अनुसरण करना चाहिये। जिन कर्मोंके द्वारा अपना या दूसरों-का अनिष्ट होता हो, उसका त्याग करना चाहिये। प्रपन्न भक्तका एक विशेष गुण यह है कि भगवान् जो कुछ करते हैं, उसीको वह अपने लिये कल्याणमय समझता है। यहाँतक कि स्त्री-पुत्रादिके वियोगमें भी प्रपन्न समझता है कि जिसकी वस्तु थी, वह ले गया। इसलिये जिसने भगवान्के हाथोंमें अपना सर्वस्व दान कर दिया है, वह यदि प्राप्त वस्तुके वियोगसे कातर हो तो समझना चाहिये कि उसका दान केवल कथनमात्र है, वास्तविक नहीं है। गीतामें भगवान्का अन्तिम उपदेश शरणागति है—

> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (१८।६६)

शरणागतिमें अनन्य भाव और अकिंचन भाव होना आवश्यक है। शरणागतिमें यदि अहंभाव रहता है तो वह शरणागति भक्तिमें सहायक नहीं होती। दुर्वासा ऋषि अम्बरीषके प्रति दुर्व्यवहार करके विपन्न होकर भगवान्के शरणापन्न हुए थे। परंतु भगवान्ने कहा कि 'आप मेरे भक्तके शरण जाइये। मैं भक्तके अधीन हूँ, आपको भक्तके विरुद्ध शरण देनेमें असमर्थ हूँ।' दुर्वासा ऋषि अम्बरीषके पास जाकर शरणापन्न हुए, तब कहीं सुदर्शन-चक्रसे उन्हें त्राण मिला। अतएव शरणागत होनेमें अभिमानका

आवश्यक है । जो शरीर, मन और प्राण—अपना सब कुछ भगवान्‌को अर्पण कर सकता है, वही परम भक्त है ।

आत्मसमर्पण

जिस वस्तुको हम किसीको स्वेच्छापूर्वक दे देते हैं, उस वस्तुपर जैसे अपना कोई ममत्व नहीं रहता, उस वस्तुके नाश होनेपर हम दुःखी नहीं होते, इसी प्रकार जो भक्त अपना शरीर, वाणी, मन और अहंकार—सब कुछ भगवान्‌को अर्पण करके मग्न हो गया है, उसके लिये भगवत्सेवाके सिवा और क्या बाकी रह जायगा । आत्मसमर्पणके बाद भी यदि हम शरीर और मनको किसी अवांछित कार्यमें लगाते हैं तो हम दत्तापहारी (देकर वापस छीन लेनेवाले) होते हैं । शरीर और मन तो हमारे रहे ही नहीं, जो हम उनपर ममता करें । जिनकी वस्तु ये हैं, वह चाहे इनकी रक्षा करे या इनको नष्ट कर दे, इसमें हम कौन बोलनेवाले होते हैं । किसी वासना-द्वारा प्रेरित होकर हम उस समर्पित शरीर और मनको भोग्य पदार्थोंमें नहीं लगा सकते । भगवान्‌के आज्ञानुसार उनको सत्कर्म या भगवान्‌की सेवामें ही लगा सकते हैं । भगवान्‌ने कहा है—'सब धर्मोंका त्याग करके मेरे शरणापन्न हो जाओ ।' अतः यदि सब धर्मोंका त्याग करके हम भगवान्‌के शरण नहीं हो जाते तो हम शरणागत न होकर यथेच्छाचारी ही होंगे और इससे अनर्थकी ही प्राप्ति होगी । भजनके लिये समय और शक्तिका अपव्यय सर्वथा वर्जनीय है । भक्त एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोता । भक्त हरिदासजी एक प्रधान भक्त थे । वे प्रतिदिन तीन लाख भगवन्नाम लिया करते थे । भावका अङ्कुर मात्र उत्पन्न होनेपर क्षमा स्वयं उपस्थित होती है । चैतन्य महाप्रभुने कहा है कि जो अपने को तृणसे भी अधिक नीच मानता है, जो वृक्षके समान सहिष्णु है तथा अमानी होकर सबको मान देनेवाला है, उसे को भगवान्‌का नाम-कीर्तन करनेका अधिकार है । क्षमा न रहने पर अथवा क्रोध आनेपर अति कष्टसे उपार्जित तपोधन नष्ट हो जाता है । जिसको क्षणमात्रके लिये भी वैराग्य नहीं होता उसे भक्ति या ज्ञान कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता । अतः अरुचि (वैराग्य) भक्तिके लिये आवश्यक है । भक्त चम्पक मन-ही-मन सदा सोचते रहते थे कि "भगवान् अवश्य ही मुझे दर्शन देंगे । दर्शन पाते ही मैं उनके श्रीचरणोंमें लोट-पोट हो जाऊँगा । भगवान् मुझको उठाकर अपने हृदयसे लगा लेंगे । तब मैं भगवान्‌का स्पर्श प्राप्त करके आनन्दसागरमें निमग्न हो जाऊँगा । भगवान् मुझसे कहेंगे—'तुम वर माँगो ।' मैं कहूँगा कि 'आपकी सेवाके सिवा मैं दूसरा कोई वर नहीं चाहता ।'" इस प्रकार चिन्तन करते हुए चम्पक समाधिस्थ होकर बहुत देरतक पड़े रहते । प्रायः भक्तमें नामगानमें रुचि और अव्यर्थकालत्व—ये दो गुण होने आवश्यक हैं ।

प्रार्थना

प्रसीद परमानन्द प्रसीद परमेश्वर ।
आधिव्याधिभुजङ्गेन दष्टं मामुद्धर प्रभो ॥
श्रीकृष्ण रुक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर ।
संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगत्प्रभो ॥
केशव क्लेशहरण नारायण जनार्दन ।
गोविन्द परमानन्द मां समुद्धर माधव ॥

बिहारीका मुख

भाल के सुधाधर सी लसत बिसाल-भाल,
मंगल सी लाल तामें टीकी छबि भारी की ।
चाप सी कुटिल भौंह, नैन पैने सायक से,
सुक सी उतंग नासा मोहै मन प्यारी को ॥
बिंब से अधर ओठ, रद छद सोहत हैं,
पेखि प्रेम पास परयौ चित्त ब्रजनारी को ।
चंद सौ प्रकासकारी, कंज सौ सुबास धारी,
सब सुख भास हारी आनन बिहारी को ॥ १ ॥

भारतमें भक्ति-रसका प्रवाह

(लेखक—श्रीकन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, भू० पू० राज्यपाल उत्तरप्रदेश)

ईसाकी चौदहवीं शताब्दीमें भारतके श्रेष्ठ ग्रन्थ और दर्शन-शास्त्र पृष्ठभूमिमें विलीयमान-से हो गये। यहाँतक कि पुराण भी लोगोंकी आवश्यकता पूर्ति न कर सके। ऐसी दशामें भक्तिका प्रभाव बढ़ना स्वाभाविक था। भक्ति-रसके इस प्रवाहसे भगवान्‌के—विशेषकर भगवान् श्रीकृष्णके प्रति भक्ति-भाव विशेषरूपमें विकसित होने लगा।

(१)

इस प्रकार भक्ति-भावका जो विकास हुआ, उसके केन्द्र श्रीकृष्ण बने। भारतीय संस्कृतिमें उन्हें उच्चतम स्थान प्राप्त हुआ—काव्यमें, श्रेष्ठतम प्रेममें, धर्ममें वे स्वतः भगवान् हो गये, तत्त्वज्ञानके सर्वव्यापक परब्रह्म हो गये। उन्होंने भगवद्‌गीताका संदेश दिया, जिसने इस विभिन्न मतोंके देशमें शंकरसे तिलकतक, श्रीअरविन्द और महात्मा गांधीतक सभी महान् भारतीयोंको प्रभावित किया। मनुष्यके आकारमें मानवताकी विजयके रूपमें श्रीकृष्णने कोटि-कोटि मनोंको प्रेरणा और प्रबोध प्रदान किया।

ऋग्वेदमें विष्णु सर्वेश माने गये हैं—त्रिविक्रमो विश्वस्य और वरुण आकाशके देवता—भुवनस्य राजा। कालान्तरमें ऐतरेय-ब्राह्मणने विष्णुको देवताओंमें सर्वश्रेष्ठ पदपर रखा और वेदोंमें जिन गाथाओंका सम्बन्ध अन्य देवताओंसे था, वे सब भगवान् विष्णुके नामसे प्रचलित हुईं। तैत्तिरीय-आरण्यकने उन्हें प्राचीन ऋषि नारायणका नाम दिया, जिन्हें विष्णुके अवतार-रूपमें पाञ्चरात्र सम्प्रदायवाले पूजने लगे। जब भगवद्गीताके मौलिक संस्करणकी रचना हुई, तब यदुकुलभूषण श्रीकृष्णको भगवान् विष्णुके उस अवतारके रूपमें स्वीकार किया जा चुका था, जिसने अर्जुनको अपना विराट् स्वरूप दिखाया था। ये सभी कथन भगवान् वासुदेवके नामसे प्रचलित हुए, जिनकी पूजा विख्यात वैयाकरण पाणिनिके समय (ईसासे ५० वर्ष पूर्व) से ही चल रही थी। भगवान् वासुदेवके भक्त 'भागवत' कहलाये। ऐसे भक्तोंमें ग्रीक सम्राट्‌का भारतस्थित राजदूत हेलियोडोरस भी था, जो ईसासे २०० वर्ष पहले भारत आया था। गुप्त सम्राट् 'महाभागवत' कहलाते थे और गुप्तकालमें विष्णु और उनकी प्रिया लक्ष्मीकी पूजा व्यापक थी।

शंकरके उत्थानके पूर्व आळ्वारके नामसे प्रसिद्ध वैष्णव गुरु रहस्यवादी और संत ही नहीं, भक्तिके उपदेशक भी थे। शंकरने परब्रह्मकी पूजा भगवान् वासुदेवके रूपमें करनेका इशारा किया है। विष्णुपुराणकी रचना भगवान् विष्णुको वासुदेवके रूपमें कीर्तिमान् करनेके ध्येयसे हुई। भगवान् महान् थे—भक्त दुर्बल और असहाय थे, इसलिये उन्होंने उनसे विनम्रतापूर्ण प्रार्थना की।

भक्तिको सांसारिक प्रेमका प्रशंसित पद प्राप्त हुआ। नारदने भक्तिसूत्रमें उसकी व्याख्या करते हुए उसे प्रगाढ़ प्रेमकी प्रकृति कहा है। शाण्डिल्यने अपने भक्तिसूत्रमें इसे 'भगवान्‌के प्रति संलग्नता' की संज्ञा दी है। बादके टीका-कारोंने इसे 'सांसारिक प्रेममें पुलकित होने आदिके सदृश' (जैसा कि शकुन्तलाको दुष्यन्तके प्रति हुआ था) कहना बताया। नयी भक्ति एक ऐसी भावना थी, जिसने भक्तको प्रेरितकर भगवान्‌की पूजा करायी। उन्हें सर्वत्र खोजनेको, उनके लिये व्याकुल होनेको—यही नहीं, उनसे खीझने और उनके बीचका व्यवधान दूर करनेको बाध्य किया, जिससे भक्त भगवान्‌से उतनी ही अनुरक्तिसे प्रेम करे, जितनी आतुरतासे मानवीय सांसारिक प्रेम किया जाता है। ईसासे ८०० वर्ष पहले ही इस नये भावावेशने सहृदय कल्पनाको प्रेरितकर राधाकी सृष्टि करायी, जो पुराणोंकी लक्ष्मी या रुक्मिणीकी अपेक्षा अधिक मानवीय रूपमें भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेमराध बनायी गयी। वे 'ध्वन्यालोक' (८५० ई०) में श्रीकृष्णके साथ देवार्चन प्राप्त करनेवाली कही गयी। बादके राजा अमोघवर्ष (९८० ई०) के एक शिलालेखमें राधाको श्रीकृष्णकी प्रेयसी अङ्कित किया गया है।

भागवतपुराणमें श्रीकृष्णको अद्वितीय बालरूप, प्रेमी युवक, राजनीतिज्ञ और तत्त्वज्ञके रूपमें तथा स्वयं भगवान् माना गया है। यह एक युगकृति है। यह शीघ्र ही देशमें ऐसा मुख्य प्रभाव इसलिये प्राप्त कर गयी कि इसमें न केवल नयी भावनाका परमोपदेश था प्रत्युत मनोरम साहित्यिक आकर्षण भी था। उसकी भावनाओं तथा प्रगाढ़ाभिव्यक्तिको सभी प्रदेशोंके पौराणिकोंने घर-घर पहुँचा दिया। भागवतमें

आवश्यक है। जो शरीर, मन और प्राण—अपना सब कुछ भगवान्‌को अर्पण कर सकता है, वही प्रपन्न भक्त है।

आत्मसमर्पण

जिस वस्तुको हम किसीको स्वेच्छापूर्वक दे देते हैं, उस वस्तुपर जैसे अपना कोई ममत्व नहीं रहता, उस वस्तुके नाश होनेपर हम दुखी नहीं होते, इसी प्रकार जो भक्त अपना शरीर, वाणी, मन और अहंकार—सब कुछ भगवान्‌को अर्पण करके प्रपन्न हो गया है, उसके लिये भगवत्सेवाके सिवा और क्या बाकी रह जायगा। आत्मसमर्पणके बाद भी यदि हम शरीर और मनको किसी अपवित्र कार्यमें लगाते हैं तो हम दत्तापहारी (देकर वापस छीन लेनेवाले) होते हैं। शरीर और मन तो हमारे रहे ही नहीं, जो हम उनपर ममता करें। जिनकी वस्तु ये हैं, वह चाहे इनकी रक्षा करे या इनको नष्ट कर दे, इसमें हम कौन बोलनेवाले होते हैं। किसी वासना द्वारा प्रेरित होकर हम उस समर्पित शरीर और मनको भोग्य पदार्थोंमें नहीं लगा सकते। भगवान्‌के आज्ञानुसार उनको सत्कर्म या भगवान्‌की सेवामें ही लगा सकते हैं। भगवान्‌ने कहा है—'सब धर्मोंका त्याग करके मेरे शरणापन्न हो जाओ।' अतः यदि सब धर्मोंका त्याग करके हम भगवान्‌के शरण नहीं हो जाते तो हम शरणागत न होकर यथेच्छाचारी ही होंगे और इससे अनर्थकी ही प्राप्ति होगी। प्रपन्नके लिये समय और शक्तिका अपव्यय सर्वथा वर्जनीय है। प्रपन्न एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोता। भक्त हरिदासजी एक प्रपन्न भक्त थे। वे प्रतिदिन तीन लाख भगवन्नाम लिया करते थे। भावका अङ्कुर मात्र उत्पन्न होनेपर क्षमा स्वयं उपस्थित होती है। चैतन्य महाप्रभुने कहा है कि जो अपने को तृणसे भी अधिक नीच मानता है, जो वृक्षसे अधिक सहिष्णु है तथा अमानी होकर सबको मान देनेवाला है, उसीको भगवान्‌का नाम-कीर्तन करनेका अधिकार है। क्षमा न रहने पर अथवा क्रोध आनेपर अति कष्टसे उपार्जित तपोधन नष्ट हो जाता है। जिसको क्षणमात्रके लिये भी वैराग्य नहीं होता उसे भक्ति या ज्ञान कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। अतएव अरति (वैराग्य) भक्तिके लिये आवश्यक है। भक्त पत्नाभ मन-ही-मन सदा सोचते रहते थे कि "भगवान् अवश्य ही मुझे दर्शन देंगे। दर्शन पाते ही मैं उनके श्रीचरणोंमें लोट-पोट हो जाऊँगा। भगवान् मुझको उठाकर अपने हृदयसे लगा लेंगे। तब मैं भगवान्‌का स्पर्श प्राप्त करके आनन्दसागरमें निमग्न हो जाऊँगा। भगवान् मुझसे कहेंगे—'तुम वर माँगो।' मैं कहूँगा कि 'आपकी सेवाके सिवा मैं दूसरा कोई वर नहीं चाहता।'" इस प्रकार चिन्तन करते हुए पत्नाभ समाधिस्थ होकर बहुत देरतक पड़े रहते। प्रपन्न भक्तमें नामगानमें रुचि और अम्यर्थकास्त्व—ये दो गुण होने आवश्यक हैं।

प्रार्थना

प्रसीद परमानन्द प्रसीद परमेश्वर।
आधिव्याधिभुजङ्गेन दष्टं मामुद्धर प्रभो॥
श्रीकृष्ण रुक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर।
संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगत्प्रभो॥
केशव क्लेशहरण नारायण जनार्दन।
गोविन्द परमानन्द मां समुद्धर माधव॥

बिहारीका मुख

भाल के सुधाधर सी लसत बिसाल-भाल,
मंगल सी लाल तामें टीकी छवि भारी की।
चाप सी कुटिल भौंह, नैन पैने सायक से,
शुक सी उतंग नासा मोहै मन प्यारी की॥
बिंब से अधर ओठ, रद छद सोहत हैं,
देखि प्रेम पास परयौ चित्त ब्रजनारी की।
चंद सी प्रकासकारी, कंज सी सुपास धारी,
सब सुख रास हारी आनन बिहारी की॥ १॥

भारतमें भक्ति-रसका प्रवाह

(लेखक—श्रीकन्हैयालाल माणेकलाल मुंशी, भू० पू० राज्यपाल उत्तरप्रदेश)

ईसाकी चौदहवीं शताब्दीमें भारतके श्रेष्ठ ग्रन्थ और दर्शन-शास्त्र पृष्ठभूमिमें विलीयमान-से हो गये। यहाँतक कि पुराण भी लोगोंकी आवश्यकता-पूर्ति न कर सके। ऐसी दशामें भक्तिका प्रभाव बढ़ना स्वाभाविक था। भक्ति-रसके इस प्रवाहसे भगवान्‌के—विशेषकर भगवान् श्रीकृष्णके प्रति भक्ति-भाव विशेषरूपमें विकसित होने लगा।

(१)

इस प्रकार भक्ति-भावका जो विकास हुआ, उसके केन्द्र श्रीकृष्ण बने। भारतीय संस्कृतिमें उन्हें उच्चतम स्थान प्राप्त हुआ—काव्यमें, श्रेष्ठतम प्रेममें, धर्ममें वे स्वतः भगवान् हो गये, तत्त्वज्ञानके सर्वव्यापक परब्रह्म हो गये। उन्होंने भगवद्‌गीताका संदेश दिया, जिसने इस विभिन्न मतोंके देशमें शंकरसे तिलकतक, श्रीअरविन्द और महात्मा गांधीतक सभी महान् भारतीयोंको प्रभावित किया। मनुष्यके आकारमें मानवताकी विजयके रूपमें श्रीकृष्णने कोटि-कोटि जनोंको प्रेरणा और प्रबोध प्रदान किया।

ऋग्वेदमें विष्णु सर्वज्ञ माने गये हैं—त्रिविक्रमी विश्वव्याप्त और वरुण आकाशके देवता—भुवनके राजा। कालान्तरमें ऐतरेय-ब्राह्मणने विष्णुको देवताओंमें सर्वश्रेष्ठ पदपर रखा और वेदोंमें जिन गाथाओंका सम्बन्ध अन्य देवताओंसे था, वे सब भगवान् विष्णुके नामसे प्रचलित हुईं। तैत्तिरीय-आरण्यकने उन्हें प्राचीन ऋषि नारायणका नाम दिया, जिन्हें विष्णुके अवतार-रूपमें पाञ्चरात्र सम्प्रदायवाले पूजने लगे। जब भगवद्गीताके मौलिक संस्करणकी रचना हुई, तब यदुकुलभूषण श्रीकृष्णको भगवान् विष्णुके उस अवतारके रूपमें स्वीकार किया जा चुका था, जिसने अर्जुनको अपना विराट् स्वरूप दिखाया था। ये सभी कथन भगवान् वासुदेवके नामसे प्रचलित हुए, जिनकी पूजा विख्यात वैयाकरण पाणिनिके समय (ईसासे ५० वर्ष पूर्व) से ही चल रही थी। भगवान् वासुदेवके भक्त 'भागवत' कहलाये। ऐसे भक्तोंमें ग्रीक सम्राट्‌का भारतस्थित राजदूत हेलियोडोरस भी था, जो ईसासे २०० वर्ष पहले भारत आया था। गुप्त सम्राट् 'महाभागवत' कहलाते थे और गुप्तकालमें विष्णु और उनकी प्रिया लक्ष्मीकी पूजा व्यापक थी।

शंकरके उत्थानके पूर्व आळवारके नामसे प्रसिद्ध वैष्णव गुरु रहस्यवादी और संत ही नहीं, भक्तिके उपदेशक भी थे। शंकरने परब्रह्मकी पूजा भगवान् वासुदेवके रूपमें करनेका इशारा किया है। विष्णुपुराणकी रचना भगवान् विष्णुको वासुदेवके रूपमें कीर्तिमान् करनेके ध्येयसे हुई। भगवान् महान् थे—भक्त दुर्बल और असहाय थे, इसलिये उन्होंने उनसे विनम्रतापूर्ण प्रार्थना की।

भक्तिको सांसारिक प्रेमका मर्यादित पद प्राप्त हुआ। नारदने भक्तिसूत्रमें उसकी व्याख्या करते हुए उसे प्रगाढ़ प्रेमकी प्रकृति कहा है। शाण्डिल्यने अपने भक्तिसूत्रमें इसे 'भगवान्‌के प्रति संलग्नता' की संज्ञा दी है। बादके टीकाकारोंने इसे 'सांसारिक प्रेममें पुलकित होने आदिके सदृश' (जैसा कि शकुन्तलाको दुष्यन्तके प्रति हुआ था) करना बताया। नयी भक्ति एक ऐसी भावना थी, जिसने भक्तको प्रेरितकर भगवान्‌की पूजा करायी। उन्हें सर्वत्र खोजनेको, उनके लिये व्याकुल होनेको—यही नहीं, उनसे जीतने और उनके बीचका व्यवधान दूर करनेको बाध्य किया, जिससे भक्त भगवान्‌से उतनी ही अनुरक्तिसे प्रेम करे, जितनी भावुकतासे मानवीय सांसारिक प्रेम किया जाता है। ईसासे ८०० वर्ष पहले ही इस नये भावावेशने रागिय कल्पनाको प्रेरितकर राधाकी सृष्टि करायी, जो पुराणोंकी रुक्मी या रुक्मिणीकी अपेक्षा अधिक मानवीय रूपमें भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेमपात्र बनायी गयीं। वे 'ध्वन्यालोक' (८५० ई०) में श्रीकृष्णके साथ देशाटन प्राप्त करनेवाली कही गयीं। बादके राजा अमोघवर्ष (९८० ई०) के एक शिलालेखमें राधाको श्रीकृष्णकी प्रेयसी अङ्कित किया गया है।

भागवतपुराणमें श्रीकृष्णको अद्वितीय बालरूप, प्रेमी युवक, राजनीतिज्ञ और तत्त्वज्ञाके रूपमें तथा स्वयं भगवान् माना गया है। यह एक युगकृति है। यह शीघ्र ही देशमें ऐसा मुख्य प्रभाव इसलिये प्राप्त कर गयी कि इसमें न केवल नयी भावनाका परमोपदेश था प्रत्युत अनोखा साहित्यिक आकर्षण भी था। उसकी भावनाओं तथा मनःप्रभाविव्यक्तिको सभी प्रदेशोंके वैष्णविकोंने परस्पर पहुँचा दिया।

शुद्ध भक्तिकी अभिव्यञ्जना अद्भुत सुन्दरताके साथ की गयी है —

'जिस प्रकार पंखहीन पक्षिशावक माकी प्रतीक्षा करते हैं, जिस प्रकार क्षुधित बछड़े अपनी माताके स्तनपानके लिये आतुर रहते हैं, हे कमलाक्ष! उसी प्रकार मेरा मन तुम्हारे लिये आकुल रहता है।'""""विष्णुके चरित्र सुनना, उनके गुणगान करना, उनका स्मरण करना, उनके चरणोंमें गिरना, उनकी पूजा करना, उनको नमन करना, उनकी सेवा करना, उन्हें मित्र-भावसे ग्रहण करना, उन्हें आत्मसमर्पण करना नवधा भक्ति मानी जाती है।

गोपियोंके प्रति श्रीकृष्ण कहते हैं—'वे रातें' जब मैंने उनके प्रेमीके रूपमें वृन्दावनमें विहार किया, क्षणभरमें व्यतीत हो गयीं; पर जब मैं उनसे अलग हो गया, तब उनकी रातें अनन्त कल्पके समान हो गयीं।""""इस प्रकार सैकड़ों लोग जो मेरे वास्तविक स्वरूपको नहीं जानते, मुझे केवल प्रेमीके रूपमें मानते हैं और मुझको परब्रह्म-रूपसे प्राप्त करते हैं।'

(२)

ईसाकी दसवीं शताब्दीसे बहुत पहले ही दक्षिण भारतमें भक्तिने व्यापक स्थान प्राप्त कर लिया था। विष्णु और संकर्षणके *मन्दिर निर्मित हुए थे। अलेयवादी एवं साधु, जो आळ्वार*-नामसे प्रसिद्ध थे, घूम-घूमकर भजन गाते थे। वे भगवान्‌के पीछे पागल हो गये थे। उनमेंसे एक तो भिक्षुक था, दूसरा राजा, तीसरी थी एक भक्त स्त्री और चौथा अस्पृश्य। उन्होंने जिस नारायण-भक्तिका अनुसरण किया, शिक्षा दी, वह प्रगाढ़ प्रेम और आत्मसमर्पणके द्वारा ही प्राप्य थी और उसमें मनुष्यके दर्जा, वर्ण और संस्कृतिका लगाव नहीं था। उनके भक्तिपूर्ण गान सर्वप्रिय हो गये और उन गानोंका नाम ही *'वैष्णववेद' पड़ गया।*

आळ्वारोंके जानेके पश्चात् आचार्योंका उद्भव हुआ, जिन्होंने भक्तिको तत्त्वज्ञानका रूप दिया। १००० ई० में यामुनाचार्यने *प्रपत्तिके सिद्धान्तको प्रस्तुत किया, जिसका अर्थ* है—भगवान्‌को आत्मसमर्पण कर देना। यामुनाचार्यके प्रपौत्र-शिष्य रामानुज उनके उत्तराधिकारी बने। उन्होंने भक्ति-आन्दोलनको दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान की और इसे एकेश्वरवादी धर्मके स्तरतक पहुँचा दिया। रामायण और महाभारतके बाद भागवतका प्रभाव भारतमें अत्यन्त शक्तिशाली प्रेरणाका साधन बन गया, जिससे पाँच महान् संतोंद्वारा अनेक विभिन्न पन्थ प्रचारित हुए। ये महान् दार्शनिक संत अपनी विद्या, भक्ति और तर्कक्षमता नयी विचारधाराओंके संस्थापक बन गये। संस्कृतने जो भाषागत एकता और बौद्धिक एकता स्थापित की, उससे भारतके धार्मिक और नैतिक जीवनमें नया दृष्टिकोण लाना उनके लिये सुगम हो गया। उनके कारण ही देशमें श्रीकृष्णके प्रति चेतनता और भावना जाग्रत् हुई। लगभग ११५० ई० में निम्बार्कने तिलंगानामें एक नये सम्प्रदायकी स्थापना की, जिसमें श्रीकृष्ण और राधाकी युगल भक्तिपर जोर दिया गया। उन्होंने कहा—'हम वृषभानुसुता राधाकी पूजा करते हैं, जो भगवान् श्रीकृष्णके वामाङ्गकी शोभा बढ़ानेवाली देवी हैं और जो वैसी ही सुन्दरी हैं जैसे स्वयं श्रीकृष्ण हैं। राधाके साथ उनकी सहस्रों सखियाँ हैं। राधा एक ऐसी देवी हैं, जो सम्पूर्ण आकाङ्क्षाओंकी पूर्ति करती हैं।' मध्व (११९२ से १२७० ई०) ने इससे भी अधिक स्वतन्त्र वैष्णव-सिद्धान्तकी स्थापना की।

ज्ञानेश्वरके गुरु कहे जानेवाले विष्णुस्वामी, जिनको वल्लभने भी गुरु स्वीकार किया है, एक शक्तिशाली उपदेशक साधु हो गये हैं, जिन्होंने राधाकृष्ण-सम्प्रदाय चलाया। यद्यपि उनके सम्बन्धमें बहुत कम बातें ज्ञात हो सकी हैं, फिर भी यह तो स्पष्ट है कि भक्तिकी महाराष्ट्रीय विचारधाराके प्रमुख ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ और बादमें तुकाराम हुए जिन्होंने श्रीकृष्ण और उनकी पटरानी रुक्मिणीकी उपासना की। उनकी भक्तिमें विशुद्ध और निर्मल पति-पत्नीप्रेमका प्रतीक *कान्ता-भावको माना गया है, जब कि श्रीकृष्ण और राधाके* प्रेम (मधुर भाव) का उसमें अभाव है। इसी प्रकार श्रीचैतन्यने भी बंगालमें इस भक्तिके विकास और प्रचारमें बहुत काम किया।

ईसाकी दसवीं शताब्दीमें काह्नपाके प्रभावस्वरूप बंगालमें बौद्धधर्मका आविर्भाव हुआ। काह्नपा जैसे बहुत बड़े विद्वान् और कवि थे और बंगालमें उनका बड़ा नाम था, परंतु उन्होंने अवैध प्रेमका उपदेश दिया और यह भी कहा कि *गुरुके प्रति शारीरिक और मानसिक दोनों ही* रीतियोंसे पूर्णतया आत्मसमर्पण कर देना मुक्तिमार्ग है। लोकगीतों और त्योहारोंके द्वारा राधा-कृष्ण प्रेमकी मान्यता पहले ही स्थान पा चुकी थी। इन दोनोंकी 'युगलमूर्ति' श्रीकृष्ण-भक्तिका मार्ग अधिकाधिक रूपमें प्रशस्त होता गया। ११ वीं शताब्दीमें उमापतिने और १२ वीं शताब्दीमें

गीतगोविन्दके रचयिता जयदेवने उच्च कोटिकी कलात्मक इन्द्रियासक्ति-सूचक कृष्ण-सम्बन्धी कविताएँ लिखीं। गीत-गोविन्दकी भाषा, उसके भावात्मक लावण्य और छन्दप्रवाहने सारे देशके भक्तोंका ध्यान आकर्षित कर लिया और रचनाकालके १०० वर्षके अंदर ही यह काव्य उच्च श्रेणीका बन गया।

चौदहवीं शताब्दीमें बंगालस्थित विद्याके प्राचीन केन्द्र नवद्वीप (नदिया) में, जहाँ बौद्ध संन्यासियोंने प्रेमको ही निर्वाणका एकमात्र मार्ग बताते हुए उपदेश दिये थे, महान् भारतीय कवि चण्डीदासके भावावेगपूर्ण प्रेम-गीत गूँज उठे। यह विद्वान् विशुद्ध ब्राह्मण सहजिया-सम्प्रदायसे सम्बद्ध थे, जिसके अनुसार अपने मतका अवलम्बन करनेके लिये उनका किसी नीच व्यक्तिकी विवाहिता स्त्रीसे प्रेम करना आवश्यक था और उन्होंने अपना हृदय 'रामी' धोबिनको दे दिया। इस प्रेमके कारण चण्डीदासको प्रतीडित किया गया; पर जिस स्त्रीके प्रति उन्होंने अपने अमरगीतका गान किया था, उसके लिये उन्होंने कभी कष्ट सहे। 'तुम्हीं धर्म हो, तुम्हीं मेरी माता हो, तुम्हीं पिता। तुम्हीं वेद हो, गायत्री हो, तुम्हीं सरस्वती हो और तुम्हीं पार्वती भी' कहकर चण्डीदासने रामीके लिये भावुकता प्रकट की थी। उन्होंने प्रकटतया ऐसे धार्मिक कीर्तनोंकी रचना की, जो उनके अमर अनुरागके परि-चायक थे।

चण्डीदासके ये गान बंगालके संन्यासी और मध्वाचार्यके शिष्य माधवेन्द्रपुरीके कानोंमें तब भी गूँज रहे थे, जब वे मथुराके निकट वृन्दावन पहुँच गये थे। उन पवित्र कुञ्जोंमें, जहाँ श्रीकृष्णने राधासे प्रेम किया था, भक्ति-पथके सक्रिय केन्द्र बन गये। यमुना-तटके उन कुञ्जोंमें, जहाँ पवित्र प्रेमोत्सर्ग हुआ था, ये विद्वान् साधु इस तरह भटकते रहे, जैसे प्रेमविह्वला कुमारी गाती-बजाती अपने प्रेमीको ढूँढ रही हो। उन्होंने एक ऐसे मन्दिरकी स्थापना की, जिसने बंगाली भक्तोंको आकर्षित किया। १४८५ में उनका देहावसान हो गया। पर वे अपने पीछे कई नामी भक्त छोड़ गये, जिनमें ईश्वरपुरी भी थे।

ईश्वरपुरीने निमाईको अपना शिष्य बनाया। निमाई माधवेन्द्रके उपदेशसे श्रीकृष्ण-भक्त बन गये। 'मुझे छोड़ दो, मैं इस संसारका नहीं हूँ—मैं वृन्दावन जाकर अपने भगवान्‌से मिलूँगा' कहते हुए वे संसार छोड़कर संन्यासी हो गये और पागलकी तरह भगवान्‌को पुकारते हुए घूमने लगे। वे न केवल पूर्ण विद्वान् और संन्यासी थे, प्रत्युत उनमें ऐसी भावुकता भरी थी, जिसे वे इस प्रकार प्रकट करते थे जैसे किसी कन्याका प्रेमकी असफलतामें हृदय टूट गया हो। वे अपने प्रेमी भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते, गाते और प्रेमा-तिरेकसे सिहर उठते थे। उनका नाम अधिक विख्यातरूपमें चैतन्य या गौराङ्ग पड़ गया। वे भक्तिकी साक्षात् मूर्ति बन गये, उन्होंने वैष्णववादमें क्रान्ति उपस्थित कर दी।

चैतन्यने वृन्दावनको भक्तिका केन्द्र बना देनेकी आकाङ्क्षा की थी। १५१० ई० में उनके शिष्य लोकनाथने चैतन्य-सम्प्रदायकी स्थापना उन्हीं पवित्र कुञ्जोंमें की, जहाँ उनके गुरु रहते थे। १५१६ ई० में नवाबके दो मन्त्रियोंने वैष्णव-धर्म ग्रहण किया और मन्दिरका कार्यभार भी उन्होंने सम्हाल लिया—इन दोनोंके नाम थे रूप और सनातन। उनके चचेरे भाई जीव गोस्वामीने वृन्दावनको भक्ति और विद्याका सजीव केन्द्र बना दिया। श्रीकृष्णके प्रति नववधूके-से अमर अनुरागकी तरह प्रेम करना एक राष्ट्रीय धर्म बन गया।

इस प्रकार इस देशमें भक्ति एक अतिशय सर्जनात्मक शक्ति बन गयी, जिससे घर-घरमें प्रेम और उत्साहकी तरङ्गें उठने लगीं और आर्य-संस्कृतिमें पुनर्जीवन आ गया।

सोलहवीं शताब्दीमें भक्तिकी यह प्रेरणा वृन्दावनसे गुजरातमें फैल गयी और गुजरातके दो विख्याततम भक्त कवि—मीराँबाई और नरसिंह (नरसी) मेहता शायद इस सम्प्रदायके साधुओं और भक्तोंसे प्रभावित हुए थे।

(१)

मीराँबाई मेड़ता (राजस्थान) के राव दूदाजीकी पौत्री थीं। इनका जन्म १५०० ई० के लगभग हुआ था। इनके दादा सुदृढ़ वैष्णव भक्त थे और उनका प्रभाव इनके आरम्भिक जीवनपर पड़ा। इनका विवाह चित्तौड़के राणा साँगाके ज्येष्ठ पुत्र भोजराजके साथ हुआ था।* किंतु १५२० ई० में उनके पतिका देहान्त हो गया। १५२२ में राणा साँगाके छोटे पुत्र विक्रम गद्दीपर बैठे। उस समय उस गद्दीकी स्थिति डावाँ-डोल-सी थी; क्योंकि राणा साँगाने मुगल सम्राट्‌से जो वीरता-पूर्ण युद्ध किया था, उसका पश्चात्परिणाम उन दिनों दिखायी दे रहा था।

मीराँबाईको अपने वैधव्यका दुःख कृष्ण-भक्तिके प्रवाहमें

* एक दूसरी प्रचलित कथा यह है कि वे चित्तौड़के राणा कुम्भाकी रानी थीं और १४०३ ई० से १४७० के बीचमें हो गयी हैं।

भूल गया। वह भक्तों और साधुओंसे सदैव घिरी रहती थीं और स्वरचित भक्ति-रसके गान गानेमें मग्न रहतीं। राणाने साधुओंके साथ उनकी घनिष्ठतापर क्रोध किया और उनपर अत्याचार भी किये; पर मीराँ अडिग बनी रहीं। इसी समय उन्होंने 'मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरा न कोई' पदकी रचना की और उसे गाया। राणाने इसे अपना अपमान समझा और मीराँको विष देकर मार डालनेको तैयार हो गये; परंतु मीराँकी दृढ़ता कम न हुई। उलटे उन्होंने वृन्दावन जानेकी ठान ली। भगवान् श्रीकृष्ण उनके लिये जीवित प्रेमीके समान थे। वे उनके दर्शन करने, उनकी वंशी सुननेके लिये विह्वल होकर चल पड़ीं। उन्होंने एक गोपिकाके रूपमें श्रीकृष्णकी समस्त लीलाओंका आनन्द लेनेका संकल्प किया। वे कृष्ण-विरहमें तड़पती हुई वृन्दावनको ओर चल पड़ीं और उसी समय उन्होंने 'म्हारो दरद न जाणे कोय' की रचना की।

इसी तरहमें मीराँ द्वारकाधामके लिये गयीं। मीराँके चित्तौड़-त्यागसे राज्यपर दुर्भाग्यके बादल छा गये और सिंहासन-अधिकारी बदलते गये। अन्तमें राणाने चित्तौड़के इस दुर्भाग्यका कारण मीराँका विक्षोभ समझा और उसने प्रार्थना करके मीराँसे लौटनेका अनुरोध किया। मीराँने उसका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। तब राणाने ब्राह्मणोंसे अनुरोध किया, तो उन्होंने मीराँबाईके पास जाकर अनशन आरम्भ कर दिया और उनसे चित्तौड़ लौट चलनेका आग्रह करने लगे। इसपर मीराँ द्रवित हो गयीं और भगवान्‌से आज्ञा लेनेके लिये वे आँखोंमें आँसू भरकर भजन गुनगुनाते हुए मन्दिरमें गयीं और फिर बाहर नहीं निकलीं—भगवान्‌की मूर्तिमें ही लीन हो गयीं। यह घटना १५४७ की है।

(४)

मीराँको गुजरात और राजस्थान दोनोंके ही निवासी अपने यहाँकी होनेका दावा करते हैं। वैसे तो उनके गान सर्वत्र प्रचलित हैं। पर मथुरा-क्षेत्रके पार्श्ववर्ती भागमें उनका विशेष प्रचार है। हिंदी-जगत् इधर उन्हें हिंदी-कवि कहने लगा है; किंतु जिस शताब्दीमें मीराँबाई हुई थीं, उन दिनों इन सभी भागों—गुजरात, राजस्थान और ब्रज-क्षेत्रकी भाषा एक ही-सी थी—पुरानी गुजराती, पश्चिमी राजस्थानी लगभग एक थीं। मीराँके पद आज भी इन दोनों क्षेत्रों—गुजरात और राजस्थानमें अधिक प्रचलित हैं।

(५)

भक्ति-धाराके प्रवाहकोंमें रुद्र-सम्प्रदाय या पुष्टिमार्गके वल्लभाचार्यका नाम भी उल्लेखनीय है। इनका जन्म १४७९ में हुआ। बचपनमें ये विष्णुस्वामीके अनुगामी थे। बादमें इन्होंने उन्हींके सिद्धान्तोंके आधारपर अपने सम्प्रदायकी स्थापना की। इन्होंने समग्र भारतकी यात्रा [illegible] की। ब्रजमें इन्होंने श्रीनाथजीकी स्थापना १५०१ ई० में की। १५३१ ई० में इनका शरीरान्त हो गया। वल्लभस्वामी [illegible] तो थे ही, पर उससे भी अधिक छाप उनकी विरक्ति [illegible] थी। उन्होंने अपना शरीर, इन्द्रियाँ, परिवार, धन सम्पत्ति आदि सभी कुछ भगवान् श्रीकृष्णके अर्पण कर देनेकी प्रतिज्ञाको भक्तिका पूर्णाङ्ग माना और इसे कार्यरूपमें परिणत करनेका आदर्श सामने रखा। वल्लभस्वामीके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथजीने भक्तिकी परम्पराको और भी आगे बढ़ाकर श्रीकृष्णकी अष्टयाम सेवाका क्रम स्थिर किया।

विट्ठलनाथजीके वंशजोंने गुजरातमें जाकर अनेक मन्दिरोंकी स्थापना की और वहाँ उनके शिष्योंकी संख्या बहुत बढ़ी। सूरदास तथा अष्टछापके अन्य कवि, जिन्होंने अपनी सुमधुर रचनाओंसे मध्ययुगीन हिंदी—ब्रजभाषाके साहित्यकी समृद्धि की, श्रीवल्लभाचार्य अथवा उनके सुपुत्रके ही शिष्य थे।

ईसाकी सोलहवीं शताब्दीमें गुजरातमें भक्तिको नयी प्रेरणा देनेवाले नरसिंह मेहताका आविर्भाव हुआ। पन्द्रहवीं शताब्दीमें नरसी भक्तके नामसे उनकी ख्याति सारे भारतमें हो गयी। भक्त नरसीको भगवान् श्रीकृष्णने किस प्रकार समय-समयपर सहायता दी—यहाँतक कि उनकी हुंडीतक सिकार दी, यह कथा सारे देशमें प्रसिद्ध हो गयी। इनके पिता वडनगरके नागर ब्राह्मण थे, परंतु इनका जन्म जूनागढ़के निकट तलाजा गाँवमें हुआ था। इनके पिताका देहान्त इनकी बाल्यावस्थामें ही हो गया था। बालक नरसिंह साधुओंकी संगतिमें आये और वे वृन्दावनसे प्रसारित भक्तिके रहस्योंसे परिचित हो गये। वे गोपियोंकी तरह नाचने-गाने लगे और श्रीकृष्णको अपना प्रेमी मानने लगे। उनके इससे उनकी भाभियाँ चौंके और उनकी लगी हुई सगाई भी टूट गयी।

नरसीकी भौजाई बड़ा कर्कश स्वभावकी थी और नरसी कोई कमाई नहीं करते थे। इसलिये उन्हें उसकी बातें सहकर अपमानका जीवन व्यतीत करना पड़ता था। एक दिन उनकी भौजाईने बातों-ही-बातोंमें उन्हें मूर्ख कह दिया। बालक नरसीके बात लग गयी। वे जंगलमें चले गये और वहाँ एक परित्यक्त शिवलिङ्गकी पूजा करने लगे। एक मन्दिरमें उन्होंने सात दिनतक

२९— 'छाँड़ि दई कुल की कान, कहा करिहै कोई। संतन ढिग बैठि बैठि लोक लाज खोई ॥'

रासलीलामें नरसी मेहता
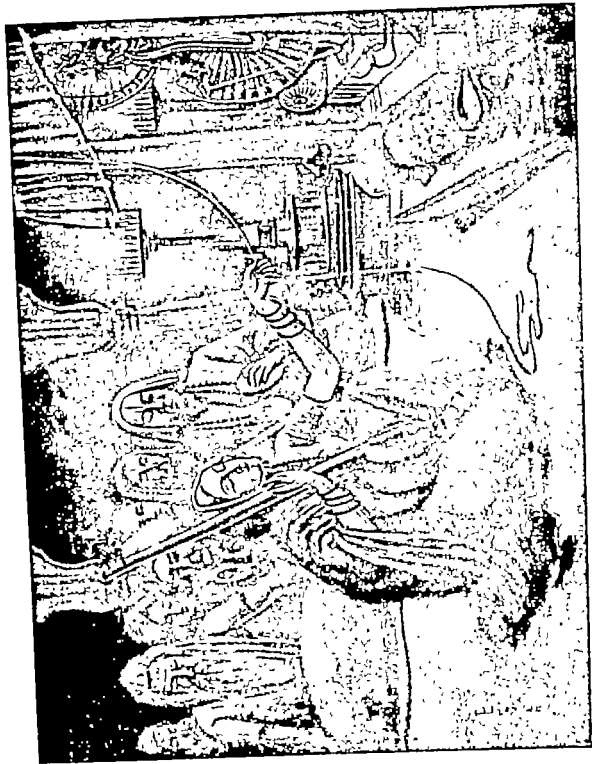
गोपनाथकी पूजा की। उनके ही शब्दोंमें भगवान् उन्हें गोलोकमें ले गये, जहाँ पहुँचकर उन्होंने श्रीकृष्णकी रासलीला देखी और उनका भगवान् श्रीकृष्णसे जीवित सम्पर्क हो गया। उन्होंने अपनी भौजाईके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए एक गानकी रचना की, जिसका आशय यह था कि 'तुमने मुझे जो कटु शब्द कहे, उनके कारण ही मैंने गोलोकमें गोपीनाथका नृत्य देखा और धरतीके भगवान्ने मेरा आलिङ्गन किया।'

नरसिंह मेहताने अपना घर जूनागढ़में बनाया और वहीं उनकी पत्नी माणिकबाईसे उन्हें कुमँरबाई नामकी कन्या और शामल नामक पुत्र हुआ।

नरसिंह कवि अवश्य थे; पर जैसा कि घर और गाँव-वालोंने समझ रखा था, वे मूर्ख नहीं थे। वे जातिवालोंके कृत्योंमें और विशेषकर सामाजिक अवसरों और रस्म-रिवाजोंमें सम्मिलित नहीं हो पाते थे; क्योंकि उनके पास एक करतालके सिवा और कुछ नहीं था। फिर भी उन्हें विश्वास था कि भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें मदद देंगे। वे एक सच्चे भक्तके रूपमें सबको समान मानते थे। वे निम्न वर्गसे आनेवालोंको आश्वासन देते, उनके प्रति सहानुभूति दिखाते और भगवान् श्रीकृष्णका यशोगान करनेमें मग्न रहते थे।

एक बार वे भजन गानेके लिये एक ढेढ़ (चमार) के घर गये। यह बात जब उनके जातिवालों (नागरब्राह्मणों) को मालूम हुई तो उन्होंने नरसिंहको जाति-बाहर कर दिया। इस तरह सामाजिक तिरस्कारका शिकार बनकर ही उन्होंने यह पद गाया—

निरधन ने मत नाखजो, हरि न आपीश अवतार रे॥

अर्थात् हे भगवन्! अगले जन्मोंमें मुझे न तो निर्धन बनाना और न नागर जातिमें जन्म देना।

नरसिंहके पद सदियोंतक जन-जनकी जिह्वापर चढ़े रहे। वल्लभाचार्यके अनुयायियोंने नरसिंहको भगवान्का दूत कहा। इनके पदोंकी संख्या ७४० है, जो शृङ्गारमालाके नामसे संग्रहीत और प्रकाशित हो चुके हैं। चैतन्य और मीराँकी तरह नरसिंह भी श्रीकृष्णको अपना जीवित स्वामी मानते थे। उनका विश्वास था कि वे भगवान् शंकरके साथ गोलोक गये थे और वहाँ राधा-कृष्णके नृत्यके समय उन्होंने मशाल दिखानेका काम किया था।

उनके अधिकांश पद श्रीकृष्ण और गोपियोंके विरह और मिलनसे सम्बन्धित हैं।

'मेरे प्रेमीने बाँसुरी बजा दी। अब मैं एक क्षण भी घरमें नहीं रह सकती, मैं ऐसी व्याकुल हूँ। उन्हें देखनेका क्या उपाय करूँ।'*

श्रीकृष्ण गोपीके साथ हैं और वह (गोपी) चन्द्रमाको सम्बोधन करके कहती है—

'दीपककी तरह न जलो। हे चन्द्र! आज स्थिर हो जाओ। आज रात मेरा प्रेमी मेरे साथ है, सारी रात्रि समाप्त हो चुकी है ···· तुम अपनी किरणें फीकी न करो। देखो, मेरा प्रेमी मुझे देखकर मुस्कराता है।···· मेरे प्राणोंके प्राण आज मुझे मिले हैं।'†

नरसिंहकी अन्य रचनाएँ श्रीकृष्ण-जन्म, बाललीला, कालियदमन, दानलीला, मानलीला, सुदामाचरित, गोविन्द-गमन आदि विषयोंपर हैं। उनकी सभी रचनाएँ छोटे-छोटे गेय पदोंमें विभाजित हैं; किंतु उनके भक्ति और ज्ञानके पद बहुत प्रचलित हैं, जो नरसिंहको वास्तविक रूपमें व्यक्त करते हैं। उनका वेदान्त पूर्णतः व्यावहारिक है। वे कहते हैं—

'तुम्हें जीव, ईश्वर और ब्रह्मका भेद जाननेसे सत्य नहीं उपलब्ध होगा। जब तुम 'मैं' और 'तुम' का अन्तर भूल जाओगे, तभी गुरु तुम्हारी मदद करेंगे।'‡

नरसीके कथनानुसार वैष्णव केवल विष्णुकी पूजा करनेवाला नहीं होता—वह तो आर्य-संस्कृतिका पुष्प है। इसीके उदाहरणस्वरूप उन्होंने उस पदकी रचना की, जिसे पिछले दिनों महात्मा गांधीने अपने जीवनका गीत बना लिया था और जो इस प्रकार है—

वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीड पराई जाणे रे;
परदुःखे उपकार करे तोय, मन अभिमान न आणे रे।

---

* वांसलडी वाई मारे वहाले, मंदिर मां न रहेवाय रे।
व्याकुल थई ने वहालाने जोवा शुं करुं उपाय रे॥

† दीवडानी पेठे मारे चांदलिया, स्थिर थई रहेजे आज।
वहालोजी मळ्यो छे साथे, वीती सघळी रात॥
रखे जोत तुं झांखी करतो, पीउडे मोह्युं हास।
प्राण नो प्राण ते आज मुजने मळ्यो॥

‡ जीव ईश्वर अने ब्रह्म भेदमां,
सत्य वस्तु नथि सत्य जाणी।
हुं अने तुंपणुं टळीए मरमैया यो,
गुरु तो तेनी पार जोशे

सकल लोकमां सहुने वंदे, निंदा न करे केनी रे;
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन धन जननी तेनी रे।
समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री जेने मात रे;
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे।
मोह माया व्यापे नहि जेने, दृढ वैराग्य जेना मनमां रे;
राम नाम शुं तालीरे लागी, सकल तीरथ तेना तनमां रे।
वणलोभी ने कपटरहित छे, काम क्रोध निवार्या रे;
भणे नरसैंयो तेनुं दरसन करतां, कुल एकोतेर तार्या रे।

नरसी भक्तने अपनी साहित्य-सृजन-शक्तिके द्वारा गुजरातीमें न केवल भक्ति-रसका अपूर्व प्रवाह बहाया प्रत्युत उसे महती शक्ति प्रदानकर इस योग्य बना दिया कि उसका प्रभाव बादके साहित्यकारोंपर भी पड़ा। इनकी रचना विशेषकर 'प्रभातिया' छन्दोंमें है, जो प्रातःकालीन प्रार्थनाओंमें गाये जाते हैं।

नरसिंह मेहताका स्वर्गवास परिपक्व अवस्थामें हुआ इसलिये उन्हें अपनी अपूर्व रचनाओंद्वारा गुजराती साहित्यकी सेवा और ऐसी भक्ति-रस-पूर्ण काव्य-सृष्टि करनेका अवसर मिला, जिसका प्रभाव आजतक है और आगे भी रहेगा।

इस प्रकार भारतके महान् भक्ति-साहित्यमें इन दो भक्त कवियों, मीराँ और नरसिंह मेहताने भी पर्याप्त योगदान देकर अपने नाम अमर कर दिये और सदियाँ बीत जानेपर भी उनकी रचनाओंका प्रभाव आज भी अक्षुण्ण बना हुआ है।*

(अनुवादक—श्रीरामबहादुर सिंह)

गृहस्थ और भक्ति

(लेखक—मा० श्रीप्रकाशजी, राज्यपाल, बंबई प्रदेश)

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वआश्रमाः॥

शास्त्रोंमें कहा है कि जिस प्रकार वायुका आश्रय लेकर सारे जन्तु संसारमें जीवित रहते हैं, उसी प्रकार गृहस्थका ही आश्रय लेकर अन्य सब आश्रमों अर्थात् सभी नर-नारी अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। अपने देशमें ऐसी अद्भुत विचारधारा कुछ दिनोंसे चली आ रही है, जिसके कारण गृहस्थको वह महत्त्व नहीं दिया जाता जो उसे देना चाहिये; और ऐसे लोगोंकी बड़ी प्रशंसा की जाती है, जो गार्हस्थ्य-जीवनसे परहेज करते हैं—उसमें या तो आते ही नहीं या उससे विमुख होकर—उसे छोड़कर बाहर चले जाते हैं। ऐसी अवस्थामें उचित है कि हम गृहस्थको उसका उपयुक्त स्थान दें, उसका महत्त्व पहचानें और उसको अपनी शक्ति और बुद्धिभर काम करनेमें उत्साहित करें और सहायता दें।

जो श्लोक ऊपर उद्धृत किया गया है, वह स्थितिको थोड़ेमें बहुत सुन्दर प्रकारसे रख देता है। हमारे पूर्वपुरुषोंने जिस प्रकार मनुष्य-समाजको चार वर्णोंमें विभक्त किया था, उसी प्रकार उसके व्यक्तिगत जीवनको चार आश्रमोंमें विभाजित किया। प्रथम आश्रमका नाम 'ब्रह्मचर्य' बतलाया गया है। यह प्रत्येक व्यक्तिके जीवनका प्रथम खण्ड है। इसमें उसे अपने शरीर, अपने आत्मा, अपने मस्तिष्कको इस प्रकारसे सुशिक्षित और सुपरिष्कृत करनेका आदेश दिया गया है, जिससे कि वह संसारमें अपने कार्यके लिये सुचारुरूपसे प्रस्तुत हो सके। इसके बाद दूसरा आश्रम 'गार्हस्थ्य' आता है। ब्रह्मचर्यके बाद व्यक्ति संसारमें प्रवेश करता है अर्थात् विवाह करके अपनी गृहस्थी स्थापित करता है और उसको समुचित रूपसे चलानेके लिये कोई उद्योग-धंधा करता है। जिस प्रकारकी शिक्षा उसने अपने प्रथमाश्रममें पायी है, उसीके अनुरूप वह संसारमें अपना काम भी निर्धारित करेगा।

सभी कार्य आवश्यक हैं, इसलिये सभी कार्योंका मान भी आवश्यक है। किसी पेशेको छोटा, किसीको बड़ा बतलाना या समझना अनुचित है। यहाँतक समझमें आता है, हमारे शास्त्रोंने ऊँच-नीचका भेद नहीं माना है, सबको अपना-अपना कार्य ठीक प्रकारसे करनेका उपदेश दिया है। भगवद्गीतामें लिखा है—योगः कर्मसु कौशलम्—जो कोई कार्य-कुशल है, वही योगी है। साथ ही यह भी कहा है—श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः—अपना धर्म अर्थात् अपना कर्तव्य-कार्य साधारण दृष्टिसे यदि गुणहीन भी प्रतीत हो, तो भी वही अपने लिये सर्वोत्तम है। ब्रह्मचर्याश्रममें व्यक्ति अपनेको संसारके लिये तैयार करता है और गृहस्थाश्रम-

* 'Gujarat and Its Literature' से संकलित।

में उस तैयारीका उपयोग करके उसे पूरा करता है। उसके अनुसार कार्य करके वह संसारकी गतिको बनाये रखनेमें सहायक होता है। श्रीकृष्णने उचित ही कहा है—

> एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
> अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

ठीक ही है कि जो इस समाजरूपी चक्रको चलानेमें सहायता नहीं देता, उसका जीवन व्यर्थ है—वह आलसी और स्वार्थी है। संसारके चक्रको चलाते रहनेका कार्य गृहस्थोंके ही सुपुर्द किया गया है।

तीसरा आश्रम 'वानप्रस्थ' का बतलाया गया है। शब्दका अर्थ यह होता है कि इस आश्रममें गृहस्थीसे निकलकर वनकी ओर व्यक्ति जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह संसारसे पूर्णरूपसे पृथक् हो जाता है। इसका अर्थ यही है कि संसारमें रहकर भी वह संसारका नहीं रहता। वह किसी प्रकारसे किसी दूसरेके साथ जीविकाके लिये संघर्ष नहीं करता, जैसा कि गृहस्थोंको अनिवार्यरूपसे कभी-कभी करना ही पड़ता है। वह इस संग्रामसे अलग हो जाता है। तथापि यदि कोई दूसरे लोग—ब्रह्मचारी या गृहस्थ—उसके अनुभव, विद्या आदिसे लाभ उठाना चाहें तो वह बराबर उनकी सेवा-सहायता करनेको तैयार रहता है। यदि किसी व्यक्तिको और भी आयु मिली तो वानप्रस्थके बाद वह चतुर्थाश्रम अर्थात् 'संन्यास' भी ग्रहण कर सकता है, जब कि वह पूर्णरूपसे संसारसे पृथक् हो जाता है।

आरम्भमें उद्धृत श्लोकमें कहा गया है कि जिस प्रकार बिना वायुके कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता, उसी प्रकार बिना गृहस्थके दूसरे आश्रमके लोग अपना निर्वाह ही नहीं कर सकते। ब्रह्मचारियोंकी शिक्षा-दीक्षाका सारा व्यय और उत्तरदायित्व गृहस्थको ही उठाना पड़ता है। आजीविकारहित असहाय *ब्रह्मचारी अपना खर्च कहाँसे लाये, यदि गृहस्थ उसे* न दे। जो माता-पिता इसकी सामर्थ्य रखते हैं, वे अपने बालक-बालिकाओंका व्यय-भार स्वयं उठाते हैं। कितने ही विद्यार्थी अन्य गृहस्थोंसे सहायता पाकर अपने अध्ययनका काम चलाते हैं। यदि बहुतोंको शासनकी ओरसे सहायता मिलती है तो शासन भी गृहस्थोंसे ही कर लेकर यह सहायता दे सकता है। वानप्रस्थ और संन्यासी भी अन्य गृहस्थोंपर ही भरोसा करके अपनी गृहस्थी छोड़नेका साहस करते हैं और यदि उन्हें अन्य गृहस्थोंकी सहायता न मिले तो उनका जीवन ही सम्भव न होगा। ऐसी अवस्थामें ठीक ही कहा है कि गृहस्थाश्रम ही सबसे श्रेष्ठ आश्रम है। उसीपर दूसरे आश्रमोंका निर्वाह अवलम्बित है।

खेद है कि इस बड़े गौरवपूर्ण आश्रमका आज हमारे देशमें वह आदर नहीं है, जो होना चाहिये और साधारणतया ऐसे लोगोंका ही आदर होता है, जो इस आश्रमको स्वयं छोड़ देते हैं और इस प्रकार वास्तवमें इस आश्रममें बने हुए अन्य लोगोंपर आश्रित हो जाते हैं। हमलोगोंका ऐसा विचार हो गया है कि गृहस्थ स्वार्थी है। उसके मकान है, उसका कुटुम्ब है, उसे स्त्री और बच्चे हैं, उसका रोजगार है—इस कारण वह स्वार्थी समझा जाने लगा है। पर वास्तवमें उससे बढ़कर निःस्वार्थ दूसरा कोई नहीं है। गृहस्थ दिन-रात परिश्रम करता है, अपनी स्त्री-बच्चोंको पालता है। ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थियों, संन्यासियोंको सहायता पहुँचाता है। वास्तवमें स्वयं बहुत कम सुख उठाता है। अपने ऊपर ही दूसरोंकी भार उठाये रहना पड़ता है। कहा भी है—'कमाऊ आवे डरते, निखट्टू आवे लड़ते।' प्रायः सभी गृहस्थोंका यह अनुभव होगा, विशेषकर संयुक्त हिंदू कुटुम्बोंके कर्ताओंका। उसीके पास सब लोग चंदेके लिये जाते हैं। उसीसे हर प्रकारकी सहायताकी लोग आशा रखते हैं। यदि वह सहायता न दे सके तो उसे कटु वचन भी सुनने पड़ते हैं। वह सभीका काम करता रहता है और अपना जीवन काफी कष्टमें व्यतीत करता है। इसपर भी यह सुनना कि वह स्वार्थी है, सो भी उन लोगोंके मुँहसे, जिनकी वह सदा सहायता करता रहता है, अवश्य ही बड़े दुःखकी बात है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि मोह-माया हमको इस प्रकार घेरे हुए रहती है कि वह छोड़ा भी नहीं जाता। एक प्रकारसे अच्छा ही है कि अधिकतर लोग इसे नहीं छोड़ते। यदि सब छोड़ सकते तो संसार ही अस्त-व्यस्त हो जाता। आज हमलोगोंके मनमें जो गार्हस्थ्य-जीवनके गौरवको न माननेकी भावना पैदा हो गयी है, उसके कुछ भयावह परिणाम भी हो रहे हैं। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि जो साधारण प्रकारके व्यवसाय आदि हैं, उनमें प्रवृत्ति तो स्वाभाविक ही मान ली गयी है। उन्हें लोग स्वीकार करते ही हैं। इसमें कोई बुराई नहीं समझी जाती। पर लोकतन्त्रात्मक समाजमें बहुतसे ऐसे पद और स्थान अनिवार्य रूपसे अब उपस्थित हो गये हैं, *जिनमें लोक*-कल्याणके लिये उपयुक्त लोगोंका जाना आवश्यक है। यदि वे जानेसे परहेज करेंगे तो समाजको बहुत बड़ी हानि पहुँचने-

की सम्भावना है। पर हम देख रहे हैं कि बहुत-से उपयुक्त लोग पदोंको अस्वीकृत कर देते हैं, जिससे कोई उन्हें यह न कह सके कि वे स्वार्थी या लोभी हैं।

कामका बोझा उठानेकी अपेक्षा काम छोड़नेका अधिक गौरव माना जाने लगा है। अवस्था यह है कि ऐसे लोग कामकी झंझटसे भी बचते हैं और प्रशंसाके भी पात्र बन जाते हैं। जो झंझटमें पड़ते हैं, बड़े परिश्रमसे और प्रतिकूल स्थितियोंमें अपना कर्तव्यकर्म करते हैं, उनकी भर्त्सना होती रहती है। हमारे लिये उचित है कि ऐसे लोगोंका, जो कठिन कार्यको उठाते हैं, उसे समुचित रूपसे सम्पन्न करते हैं और उसके कारण हर प्रकारका कष्ट सहते हैं, हम उपयुक्त रूपसे आदर-सत्कार करें। संसारके जो देश इस समय समृद्धिशाली हैं, जो समाज इस समय पुष्ट और वैभवयुक्त हैं, वहाँ यही प्रथा है। हमें भी इसे स्वीकार करना चाहिये। तभी हम अच्छे लोगोंको सार्वजनिक कार्यकी तरफ आकृष्ट कर सकेंगे और इस प्रकार अपने देश और समाजको दृढ़ और पुष्ट करनेमें सहायक हो सकेंगे।

हमारी प्रचलित मनोवृत्तिका दूसरा दुःखद परिणाम यह हुआ है कि जब गार्हस्थ्य-जीवन और विविध जीविकाके साधनोंके प्रति सम्मानकी भावना नहीं है तो गृहस्थोंका मन क्षोभ हो जाता है और वे अपने कार्योंकी ओर उतना ध्यान नहीं देते, जितना उन्हें देना चाहिये और अनुकूल परिस्थिति होनेपर देते भी। यह देखा जाता है कि हमारे घर प्रायः अव्यवस्थित रहते हैं और जबतक हमारी अपने घरके प्रति गौरव-बुद्धि न होगी, तबतक हम उनकी व्यवस्था ठीक नहीं कर सकेंगे। हम अपने पेशेके काम भी ठीक प्रकारसे नहीं करते और अन्य लोगोंको, जो हमारी सचाई और सफाईमें विश्वास होना चाहिये, वह नहीं होता। इस अभावका एकमात्र कारण यह है कि हम गृहस्थको वह आदरका स्थान नहीं दे रहे हैं, जो उसे पानेका पूरा अधिकार है। वह आधे मनसे ही काम करता है। प्राकृतिक प्रेरणाओं और लौकिक आवश्यकताओंके ही कारण वह गृहस्थी और पेशेका बोझ उठाता है। उसके हृदयमें एक प्रकारकी विवशताकी भावना बनी रहती है।

आज हमारा गृहस्थ यह समझता है कि जो कुछ हम करते हैं, अपने दिन-प्रतिदिनके जीवन-निर्वाहमात्रके लिये अनिवार्य है। इस कारण हमको इसके लिये कोई मान और आदर नहीं मिलता। यदि हमें यह न करना पड़ता तो ही अच्छा होता। जब ऐसी भावना है, तब कोई भी अपना पूरा मन लगाकर काम नहीं कर सकता। यदि हम आदर करना सीखें अर्थात् यदि हम एक दूसरेको मान प्रदान करें—क्योंकि हम सभी गृहस्थ हैं—तो उन लोगोंका उतना अधिक सम्मान न करें, जो अपनी जिम्मेवारियोंसे भागते हैं, तो हम अपने जीवनमें एक नया रंग देंगे। और हममें एक नयी स्फूर्ति, जागृति, शक्ति और आत्मसम्मानकी भावना पैदा हो जायगी, जिससे हम भी ... बातोंमें समुचित उन्नति कर सकेंगे और अपनी ... बनाकर और अपने पेशोंको ठीक तरह चलाकर ... समृद्धिशाली समाजकी सृष्टि कर सकेंगे और दूसरे देशोंकी केवल नकल न करके और उनसे ही सब वस्तुएँ न लेकर हम भी उन्हें कुछ दे सकेंगे। हमें याद रखना चाहिये कि हरेक व्यक्तिका यह धर्म है कि वह दूसरोंको कुछ अपने आचार-विचारसे सिखला सके और प्रत्येक राष्ट्रका भी कर्तव्य है कि वह दूसरोंको कुछ विशेष बातें ... सारे मनुष्य-समाजकी उन्नतिमें सहायक हो।

गृहस्थीसे ऊबकर उससे समयसे पहले भागना ठीक नहीं है। साथ ही समयके बाद उसमें चिपटे रहना भी ठीक नहीं देता। कथा है कि अपनी स्त्रीसे किसी कारण अप्रसन्न होकर कोई गृहस्थ घरसे चलने लगे। उन्होंने ठीक ही कहा—

घर छोड़े घर हर मिले, तो भजन है छोटी बात।
घर छोड़े पर घर मिले, तो घर ही रहो बरसात॥

सब कार्यको लगनसे करना चाहिये, इसीमें कल्याण है, इसीमें आत्मसम्मान है। इसीमें शोभा और श्रेय है, इसीमें वास्तवमें सच्ची भक्ति भी है। जिस कामको हम उठावें उसे यदि हम ठीक प्रकारसे करते हैं तो हम सच्चे भक्त हैं।

हम अपनी वास्तविक भक्तिका परिचय इस प्रकार दे सकते हैं कि हमपर सब लोगोंको विश्वास रहे और ... प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपसे हमारे कारण धोखा न हो। हमारे देशमें कितने ही नकली भक्त पैदा हो गये हैं, ... वचन और कर्ममें बहुत अन्तर हो गया है। इसमें विशेष दोष नहीं है। वातावरण ही ऐसा हो गया है कि अनिच्छासे रूपसे बहुत लोगोंको इच्छा न होते हुए भी इस प्रकार अपने जीवनको परस्पर-विरोधी भागोंमें विभक्त करना पड़ता है। अब समय आ गया है जब हमें सब बातों और स्थितियोंका समन्वय करना चाहिये। भगवान्‌की सेवा ही सच्ची भक्ति है और भगवान् सब समय सर्वत्र व्याप्त हैं। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८।४६)

'जिस परमात्मासे समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जो सारे जगत्में सदा व्याप्त है, उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मोंके द्वारा पूजकर—उसकी सेवा करके मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त होता है।'

अतएव गृहस्थ अपनी स्वाभाविक प्रत्येक क्रियासे भगवान्‌की यथार्थ भक्ति कर सकता है और अपनी कमाईके द्वारा समाजके सब लोगोंकी सेवा करके अवशेष अमृतान्नसे अपना जीवन-निर्वाह करता हुआ अन्तमें मानव-जीवनकी परम सफलतारूप परमात्माको भी प्राप्त कर सकता है। सबकी सेवा ही यथार्थ यज्ञ है। गीतामें ही भगवान् कहते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(३।१३)

'(सबको उनका हिस्सा देना यज्ञ है, इस) यज्ञके बाद बचे हुए अन्नको खानेवाले सत्पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग केवल अपने लिये ही पकाते—कमाते-खाते हैं, वे पाप ही खाते हैं।'

यह महत्त्वकार्य सद्‌गृहस्थ ही भलीभाँति सम्पन्न कर सकता है। जो इस कार्यमें अच्छी तरह कुशल हैं, वे ही भक्त हैं। हमें ऐसे सद्‌गृहस्थोंकी प्रचुर संख्यामें आवश्यकता है। आशा है ऐसे सद्‌गृहस्थ बनते रहेंगे और देशकी समृद्धि-वृद्धिके साथ ही मानवजीवनके परम कर्तव्यका पालन करके सफल-जीवन होंगे।

भक्ति

(लेखक—डा० श्रीसम्पूर्णानन्दजी, शिक्षामन्त्री, युक्तप्रदेश)

मैं 'कल्याण'के सम्पादक महोदयके अनुरोधका समादर करके भक्तिके सम्बन्धमें कुछ लिख रहा हूँ, परंतु मुझे यह आशङ्का है कि इस अङ्कमें जितने भी लेख होंगे, उनके लेखकोंमेंसे स्यात् ही किसीकी सम्मति मेरा समर्थन करेगी।

मेरी कठिनाई यह है कि परमार्थ-सम्बन्धी किसी विषयकी चर्चा करते समय मैं इस बातको आँखोंसे ओझल नहीं कर सकता कि अभ्युदय और निःश्रेयसके सम्बन्धमें हमारे लिये श्रुति एकमात्र स्वतःसिद्ध प्रमाण है। अभ्युदयकी बात जाने दीजिये, निःश्रेयसके विषयमें कोई दूसरा ग्रन्थ, किसी महापुरुषका कथन, श्रुतिका समकक्ष नहीं माना जा सकता। यदि भक्ति श्रेयस्कर है तो उसका पोषण श्रुतिसे होना चाहिये। यहाँ 'पोषण' शब्दसे मेरा तात्पर्य स्पष्ट आदेशसे है। यदि भक्तिका विवेचन कहीं असंदिग्ध शब्दोंमें औपनिषदवाक्योंमें मिल जाय, तब तो किसी ऊहापोहके लिये जगह रहती ही नहीं। यदि ऐसा न हो तो फिर तर्कके लिये जगह निकलती है। वेद-मन्त्रोंकी मीमांसाके लिये सर्वसम्मत नियम बने हुए हैं। यास्क, जैमिनि और व्यास—इस क्षेत्रके अधिकृत नेता हैं। यदि कहीं वेद-वाक्योंकी शास्त्रीय प्रक्रियाके अनुसार मीमांसा करनेसे भक्तिकी पुष्टि होती हो, तब तो किसी आपत्तिके लिये कोई स्थल नहीं रह जाता। अन्यथा खींचातानी करके वेदार्थको तोड़-मरोड़ करना और उससे मनमाने अर्थ निकालना अनुचित है और श्रुति-मर्यादाके सर्वथा विरुद्ध है।

मैं यह दावा नहीं कर सकता कि मैंने वेद शब्दसे उपलक्षित सारे वाङ्मयका अध्ययन किया है। पर यह भी कहना यथार्थ न होगा कि मेरे द्वारा इस अलौकिक साहित्यके पन्नोंपर दृष्टिपात नहीं हुआ है। पहले, मन्त्रभागको लीजिये। जहाँतक मैं देख पाया हूँ, किसी भी संहिताकी किसी भी प्रसिद्ध शाखामें यह शब्द नहीं मिलता और यदि कहीं आ भी गया होगा तो उसका व्यवहार उसी अर्थमें नहीं होगा, जिस अर्थमें हम उसका आजकल प्रयोग करते हैं। अब 'ब्राह्मण'को लीजिये। उपनिषद्-भागको छोड़कर ब्राह्मणोंका शेष अंश तो कर्मकाण्डपरक है। उसमें भक्तिकी बात हो नहीं सकती। अब उपनिषद्-भाग बच रहता है। इस नामसे सैकड़ों छोटी-बड़ी पुस्तकें पुकारी जाती हैं। इनमेंसे कुछ तो निश्चय ही तत्तत्सम्प्रदाय विशेषकी प्रपोषक हैं। गोपालतापनी, नृसिंहतापनी, कालिकोपनिषद्, बृहज्जाबालोपनिषद्-जैसे ग्रन्थ इस कोटिमें आते हैं। मैं इस समय इस विषयमें कुछ नहीं कहता कि वस्तुतः इस प्रकारकी पुस्तकोंकी प्रामाणिकता कहाँतक है; परंतु इस बातसे सभी लोग सहमत होंगे कि जिन दस उपनिषदोंपर शंकर तथा अन्य

आचार्योंने भाष्य किये हैं, वे निश्चय ही प्रामाणिकरूपसे उपनिषद् नाममात्र कृतियाँ हैं । शंकरने श्वेताश्वतरपर भी भाष्य किया है । परंतु इस पुस्तककी गणना 'ईशावास्य' आदि दस उपनिषदोंके बराबर नहीं होती । अब यदि इन दस ग्रन्थोंको देखा जाय तो इनमें भी भक्तिका कहीं पता नहीं चलता ।

मोक्षके उपाय सभी उपनिषदोंमें बताये गये हैं, परंतु कहीं भी इस प्रसङ्गमें भक्तिकी चर्चा नहीं आती । नचिकेता-को यमने—

विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् ।
(कठ० २ । ३ । १८)

—इस ब्रह्मविद्या और सम्पूर्ण योगविधिकी दीक्षा दी, जिससे नचिकेताको मोक्षकी प्राप्ति हुई । वहीं यह भी लिखा है कि जो दूसरा कोई भी इस मार्गका अवलम्बन करेगा, वह मुक्त होगा । छान्दोग्यमें कई विद्याओंका उपदेश है, परंतु उनमें भक्तिकी गणना नहीं है । इसका तात्पर्य क्या है ? क्या वैदिक कालमें कोई मुक्त नहीं हुआ ? क्या जिसको वे लोग मुक्ति मानते थे, वह कोई दूसरी चीज थी ? क्या वेद मोक्षके विषयमें प्रमाण नहीं हैं ? यदि यह बात हो तो फिर हिंदुओंके पास कोई भी धार्मिक आधार नहीं रह जायगा; क्योंकि श्रुतिको छोड़कर ऐसा एक भी ग्रन्थ नहीं है, जो सर्वमान्य हो ।

बहुधा यह कहा जाता है कि कलियुगमें मोक्षका भक्ति ही एकमात्र साधन है । दूसरे युगोंके मनुष्य आजकी अपेक्षा अधिक समर्थ होते थे । अतः उनका काम दूसरे साधनोंसे चल जाता था । मैं ऐसा समझता हूँ कि यह कथन निराधार है । यह माननेका कोई भी आधार नहीं है कि प्राचीन कालमें लोग आजकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते थे । किसी-किसी पौराणिक ग्रन्थमें भले ही लोगोंकी आयु सहस्रों वर्षकी बतायी गयी हो, परंतु सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद पुकार-पुकारकर कहता है—शतायुर्वै पुरुषः, पुरुषकी आयु सौ वर्षकी है । वेद आजसे कितने वर्ष पहलेकी बात कहता है, यह भले ही विवादास्पद हो; परंतु बुद्धदेवके समयके, जिनको २५०० वर्ष हो गये, लिखित प्रमाण तो मिलते ही हैं । उस समय भी पूर्णायु लगभग १०० वर्षकी थी । जिनसे ५००० वर्ष पूर्वके जो लेख उपलब्ध होते हैं, उनसे भी इससे अधिक आयुका पता नहीं चलता । दीर्घायु ही नहीं, पुराने समयमें अल्पायु व्यक्ति भी होते थे । भगवान् शंकराचार्यने ३२ वर्षकी आयुमें ही अपनी इहलीला समाप्त कर दी । जो प्रमाण मिलते हैं, उनसे यह भी सिद्ध नहीं होता कि पहलेके लोग आजकी अपेक्षा अधिक डील-डौलवाले होते थे । जिन ग्रन्थोंका निर्माण उन लोगोंने किया है, आजका मनुष्य उनको भी पढ़ता है और उनसे कहीं अधिक और कठिन ग्रन्थोंको भी पढ़ता है । उसने भले ही अपनी प्रतिभाका कुछ दिशाओंमें दुरुपयोग किया हो, परंतु प्रतिभाके अस्तित्वमें संदेह नहीं किया जा सकता । अतः आजके मनुष्यको किसी भी पहलेके समयके मनुष्यसे हीन मानना असिद्ध है । इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि जो उपाय प्राचीन समयके लोगोंके लिये सुगम थे, वे आजकलके मनुष्यके लिये दुस्साध्य हैं । फिर इस काल-के लिये नये और सरल उपायोंकी आवश्यकता क्यों पड़ी ? क्या सचमुच कोई सरल उपाय निकला है और यदि निकला है तो क्या यह वेदोक्त प्राचीन उपायोंसे भिन्न है, अथवा किसी प्राचीन परिपाटीको ही नया नाम दे दिया गया है ? शाण्डिल्य-सूत्रके अनुसार भक्तिकी परिभाषा है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे ।

यह स्मरण रखना चाहिये कि यजुर्वेद-कालके पहले वेदमें 'ईश्वर' शब्दका व्यवहार नहीं आता । ब्रह्म-यज्ञोंरके अवतरणकी कथा स्वयं यह बतलाती है कि वह उनके पीछे प्रकट हुआ । उसमें भी 'ईश्वर' शब्द ब्रह्मके लिये ही आया है । इसको जाने दिया जाय । मान लिया जाय कि ईश्वरका वहाँ भी वही अर्थ है, जो आज साधारण बोलचालमें आता है । यदि यह माना जाय कि ईश्वर कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः है तो बहुत अंधेर हो जायगा । पुण्य और अपुण्यके लिये कोई आधार नहीं रह जायगा । ऐसी कल्पनाका साधारण लोगोंपर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ेगा । ऐसा माना जाने लगा है कि मनुष्य चाहे कितने भी दुष्कर्म करे, भगवान्‌का नाम स्मरण करनेसे सब पापोंसे छूट जाता है । कहाँ तो श्रुतिकी यह शिक्षा थी—

'नाविरतो दुश्चरितात्' आदि ।

—दुश्चरित्रसे विरत हुए बिना कोई मोक्षका अधिकारी नहीं हो सकता और कहाँ यह धारणा कि किसी भी प्रकारकी पूजा-अर्चना मोक्षका द्वार खोल देती है । उसका प्रत्यक्ष प्रभाव यह पड़ा है कि सच्चरित्रताका मोक्षकी प्राप्तिमें कोई स्थान ही नहीं रह गया । लाखों मनुष्य सत्यनारायणकी कथा पढ़ते हैं, जिसमें कहीं भी सत्यनिष्ठाका उपदेश नहीं है । भगवान

मानो उल्लोंचके भूले हैं। 'भक्तमाल' प्रसिद्ध भक्त नाभाजीकी कृति है। उसमें बहुत-से भक्तोंकी कथाएँ हैं। ऐसे भी भक्तोंका उल्लेख है, जो चोरी करके मन्दिर बनवाते हैं और भगवान् उनसे प्रसन्न होते हैं। तोतेको पढ़ानेवाली गणिका और पुत्रको नारायण-नामसे पुकारनेवाला अजामिल दोनों गोलोकगामी होते हैं। कोई भी सिद्धान्त हो, उसके लिये 'फलेन परिचीयते' का तर्क लागू होता है। जिस किसी सिद्धान्तकी शिक्षा मनुष्यमें इस प्रकारकी प्रवृत्ति उत्पन्न करती हो, वह निश्चय ही दूषित है। भक्तिका स्वरूप कुछ भी हो, परंतु बार-बार यह कहना कि यह बड़ा सरल मार्ग है, भ्रामक है। मोक्षका उपाय कदापि सरल नहीं हो सकता। उसके लिये कठोर व्रतकी आवश्यकता होगी और उस मार्गपर चरित्रहीन व्यक्तिके लिये कदापि स्थान नहीं हो सकता। भगवान्‌के नामपर दम्भ और दुराचार उसी प्रकार अक्षम्य हैं, जैसे किसी देवी और देवताका नाम लेकर जिह्वाके स्वादके लिये निरीह पशुकी बलि देना। प्राचीन कालमें मनुष्यको कर्मपर भरोसा था और वह आत्मनिर्भर होता था। उसके लिये उपनिषद्‌का यह उपदेश था—आत्मनात्मा बलहीनेन लभ्यः। परंतु जबसे उसको सरल मार्गका प्रलोभन मिला और ऐसे ईश्वरका परिचय बताया गया, जो कर्मको अपनी इच्छासे काट सकता है, तबसे वह पथभ्रष्ट हो गया।

'कलियुग करि करना नर देही। देत ईस बिन हेतु सनेही ॥'
'रोमहि ठोंक जो राम उचि राखा। को करि तर्क बढ़ावइ साखा ॥'
'मुझे ही मैंने निर्बलके बल राम।'

—ऐसे उपदेशोंका प्रचार निश्चय ही मनुष्यकी आत्मनिर्भरताको कम करता है और वह इस बातको भूलकर कि मोक्षका मार्ग—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।

—छूरेकी तीखी धारके समान दुर्गम है, उसपर चलना कठिन है, सीधे-सादे रास्तोंके भ्रमजालमें पड़ जाता है और वह समझता है कि ईश्वर उसको अवश्य ही भवसमुद्रके पार कर देगा। जिस अगाध समुद्रको पार करनेकी बात सोचकर महातपस्वियोंके हृदय काँपते हैं, उसको वह गोष्पदके समान लाँघ जाना चाहता है। यह ठीक है कि 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'—जो जिसका निरन्तर ध्यान करता है, वह तद्रूप हो जाता है; जिसका चित्त निरन्तर भगवत्स्वरूपके चिन्तनमें लगा रहेगा, वह भगवदाकार हो जायगा। परंतु चित्त लगाना हँसी-खेल नहीं है। चित्तमें कितनी शक्ति है, इसका कुछ मनस्वमें अनुभव हो सकता है। किसीसे संकल्प करके प्रेम करना बड़ा कठिन व्यवहार है। यह निश्चय करके कि अब मैं भगवान्‌का भक्त हूँ, उनसे प्रेम करूँगा, और लोगोंकी ओरसे चित्तको हटा लूँगा—यह सब कहनेमें सरल प्रतीत होता है, परंतु वस्तुतः बहुत कठिन चीज है। जब किसी दृश्य व्यक्तिके साथ प्रेम करना कठिन होता है, तब अदृश्य व्यक्तिके प्रति—ऐसी सत्ताके प्रति, जो अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् है, हठात् कैसे अनुरक्ति होगी। अनुरक्तिका आभास हो सकता है, उस आभाससे चित्तको एक प्रकारके आनन्दकी अनुभूति भी हो सकती है; परंतु 'परानुरक्ति' बहुत कठिन है। यह कहना भूल है कि भक्तिका मार्ग सरल है।

जब भक्ति सरल नहीं है और युक्तिसे सम्मत भी नहीं है, तब फिर यह है क्या? मेरी निजी सम्मतिमें इस प्रश्नका उत्तर 'पातञ्जलयोग-दर्शन' में मिलता है। जो 'परानुरक्ति'-की बात कही जाती है, उसका आधार पतञ्जलिके ये चार सूत्र हैं—

'वीतरागविषयं वा चित्तम्।' 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा।'
'तस्य वाचकः प्रणवः।' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्।'

जैसा कि श्रीकृष्णने गीतामें कहा है, योगभ्रष्ट पुरुष अर्थात् जो योगमें ऊँची गति प्राप्त कर चुका होता है परंतु पराकाष्ठातक पहुँचनेके पहले ही शरीर छोड़ देता है, वह पवित्र श्रीमानोंके घर जन्म लेता है—

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।

अथवा जन्मसे ही उसकी प्रवृत्ति योगकी ओर होती है और या तो अपने पैतृक-कुलमें या सद्गुरुके शिष्य-कुलमें दीक्षित होकर वह शीघ्र ही अपना काम पूरा कर लेता है। ऐसे व्यक्तिको चित्तकी धारणाके लिये कोई छोटा-सा सहारामात्र चाहिये।

ऊपर दिये हुए पातञ्जल-सूत्र ऐसे कुछ आधारोंकी चर्चा करते हैं, परंतु ये उपाय किसी महायोगीके लिये ही चरितार्थ होते हैं। सामान्यतः मोक्षके अभिकारीके लिये अष्टाङ्ग-मार्गके सिवा दूसरी गति नहीं है। उनमें यमोंका नाम अत्यन्त महत्त्वका है। जहाँ पूर्वजन्मके महातपस्वीको यम स्वतःसिद्ध

होते हैं, साधारण साधकको इनके लिये कठिन परिश्रम करना पड़ता है। वह आगे बढ़ता है, परंतु फिर कोई त्रुटि उसको पीछे खींच लेती है। कबीरके शब्दोंमें—

> कहत कबीर टुक बाग डोरी करे,
> झटकि मन ममनसे जमीं जमीं।

उसको नियमोंका भी बहुत अभ्यास करना पड़ता है और नियमोंमें 'ईश्वर-प्रणिधान' की भी गिनती है। अकेला 'ईश्वर-प्रणिधान' पर्याप्त नहीं है। जब वह यमों और दूसरे नियमोंके साथ अभ्यासका विषय बनाया जाता है, तभी वह कल्याणकारी होता है। 'ईश्वर-प्रणिधान' के बिना भी योगका अभ्यास हो सकता है, परंतु उसमें कभी-कभी स्खलनकी आशङ्का होती है और आत्मनिर्भरता दुरभिमानमें बदल सकती है। ईश्वर-प्रणिधान इस दोषका परिहार कर देता है। इसीलिये श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

> तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
> कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन॥
> योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
> श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि 'भक्ति' नामका मोक्षके लिये कोई स्वतन्त्र साधन नहीं है। वह या तो 'ईश्वर-प्रणिधान'का नाम है और या योगाभ्यासकी क्रियाका। धारणाके लिये अनेक अवलम्बन हो सकते हैं, जिनमेंसे कुछका उल्लेख विभिन्न विद्याओंके नामसे उपनिषदोंमें आया है; और भी अनेक प्रकारके अवलम्ब हो सकते हैं। वीतराग पुरुषके रूपमें साधक अपने उपास्य या गुरुको धारणाका सहारा बना सकता है। किसी भी अभीष्ट मन्त्रका जप कर सकता है अथवा उन उपायोंसे काम ले सकता है, जिनकी दीक्षा सुरत-शब्द-योगके आचार्योंने दी है। किसी भी अवलम्बनका सहारा लिया जाय, परिणाम एक ही होगा, अनुभूति एक ही होगी। यदि भक्ति योगाभ्यासका दूसरा नाम नहीं है और योग-दर्शनोक्त ईश्वर-प्रणिधानका भी अपर नाम नहीं है तो वह मृग-मरीचिका है। प्राचीन बातोंको अकाम्य बताने और आजकलके मनुष्योंको दुर्बलताका पाठ पढ़ानेका पिछले कुछ सौ वर्षोंमें इस देशमें पर्याप्त प्रचार हो गया है। दुर्बलको लकड़ीका सहारा चाहिये ही। मार्ग तो वही प्राचीन योग-मार्ग है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है, परंतु जिसको बार-बार दुर्बल कहा गया, उससे इस कठिन मार्गपर चलनेके लिये कैसे कहा जाय। इसलिये 'भक्ति' नाम प्रचलित हुआ। जो सच्चे साधक थे, उनकी तो कोई क्षति नहीं हुई। नाम भले ही नया हो, किंतु वस्तु वही पुरानी थी, वही चिरअभ्यस्त सनातन कालसे परीक्षित 'राम-नाम'—मूल औषधि थी। उन्होंने उसीको ग्रहण किया और निःश्रेयस-पदको प्राप्त किया। परंतु साधारण साधक धोखेमें पड़ा रह गया। उसका अकल्याण हुआ। दुर्बल बताकर तपस्यासे तो वह हटा दिया गया और दूसरा कोई मार्ग है नहीं, इसलिये भटकता रह गया।

विचित्र तमाशा देखनेमें आता है। कबीर, नानक-जैसे संत स्वयं योगी थे, योगके ही उपदेष्टा थे, परंतु अपनी रचनाओंमें योगका खण्डन करते थे। इन महात्माओंके नामपर प्रचलित पंथोंमें योगक्रियाओंको 'भजन' कहा जाता है। अच्छे योगाभ्यासीको भजनानन्दी कहा जाता है।

मेरा यह दृढ़ मत है कि मोक्षके लिये केवल वही एक मार्ग है, जिसका उपदेश यमने नचिकेताको दिया था। नचिकेताने श्रवण और मननद्वारा वेदोंके सिद्धान्तोंका ग्रहण किया और निदिध्यासनकी अवस्थामें योगका अभ्यास किया। भले ही किसी आग्रहके कारण 'योग' शब्दका बहिष्कार करके इसको भक्ति नामसे कहा जाय, परंतु योगसे भिन्न भक्ति नामका कोई दूसरा साधन नहीं है। किसी दूसरे साधनपर विश्वास करना जन्म-जन्मान्तरके लिये अपनेको दुःखमें डालना है। योगके द्वारा ही चित्तके मल, विक्षेप और आवरण दूर हो सकते हैं और जीव अपनी शुद्ध-बुद्धिस्वरूपमें स्थित हो सकता है। एक और बात है, जबतक 'अहमन्यः, अयमन्यः' का भाव बना रहेगा, कितनी ही हीनी क्यों न हो जाय द्वैत-प्रतीति बनी ही रहेगी, तबतक मोक्ष नहीं हो सकता। जहाँतक भक्तिकी बात है, उसमें द्वैतभाव निश्चयरूपसे निहित है। बहुत-से भक्तोंने किसी-न-किसी रूपमें यह कहा है कि हम मोक्ष नहीं चाहते, अनन्त कालतक भगवान्‌के सौन्दर्यके आनन्दका अनुभव करते रहना चाहते हैं। यह अनुभव कितना भी सुखद क्यों न हो, द्वैतमूलक है और यह द्वैत सब भयका ही कारण है। उपनिषत्-प्रोक्त साधन ही जीवके लिये पूर्ण कल्याणका देनेवाला है, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

मैं नम्रतापूर्वक निवेदन करना चाहता हूँ कि जिन प्रेमियोंको ईश्वरके प्रति परानुरक्ति प्राप्त हो भी जायगी, उनको जीवन्मुक्ति या विदेहमुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। गीताके अनुसार जीव शरीर-त्यागके समय जिस भावका स्मरण करता है, उसीको प्राप्त होता है। भगवान्‌की भावना करनेवाला भगवान्‌को तो प्राप्त होगा, मोक्षको नहीं। कितना ही प्यारा क्यों न हो, जीव और ईश्वरके बीचमें परदा रहेगा। यह

ध्यान देनेकी बात है कि भक्तिमार्गके पोषक द्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी या द्वैताद्वैतवादी रहे हैं। शुद्धाद्वैतवादीका ब्रह्म अपनी लीलासे जगत्‌रूपमें आता है और अपनी इच्छामात्रसे इस लीलाका संवरण करता है। प्रथम जीव उसके साथ अपनी तात्त्विक अभिन्नताको जानते हुए भी इस लीलाका आनन्द लेना चाहता है। लीलामय भगवान्‌के साक्षात्कारसे उसमें अपूर्व रसकी निष्पत्ति होती है। 'रसो वै सः' इस न्यायके अनुसार रसानुभूति भी भगवत्साक्षात्कार ही है। अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार—और मेरी बुद्धि इसीको स्वीकार करती है—ये सारी बातें मोक्षके नीचेकी कोटिकी हैं। ईश्वर या परमात्मा—चाहे जिस नामका प्रयोग किया जाय, वह मायाशबल ब्रह्म है, शुद्ध ब्रह्म नहीं। शुद्ध मोक्षकी अवस्थामें जीव और ईश्वर दोनोंकी समाप्ति हो जाती है। रसका प्रश्न नहीं उठता। जहाँ द्वैत नहीं है, वहाँ कौन किसको देखे, कौन किसके साक्षात्कारका आनन्द ले। शंकरके कथनानुसार 'परमात्मपद' तक पहुँचे हुए जीव सुदीर्घ कालतक उस अवस्थामें रहते हैं, जिसको ब्रह्मलोक कहते हैं। कालान्तरमें उनके मायारूपी आवरणका क्षय हो जाता है और तब उनको पूर्ण मोक्षकी प्राप्ति होती है। भक्तिमार्गपर चलनेवाला अपनेको योगी कहे या न कहे, परंतु वह योगपथपर ही चल रहा है। अतः उसको वे सब अनुभूतियाँ होती हैं, जो योगीको होती हैं। यहाँतक कि सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं; परंतु वह ऐसा नहीं कहता और उसको ऐसा प्रतीत भी नहीं होता कि मुझमें सिद्धि है। उसको तो ऐसा लगता है कि वह स्वयं निमित्तमात्र है। जो कुछ करता है, उसकी आड़में उसका उपास्य करता है।

ना कुछ किया, न कर सकै, करिबे जोग सरीर।
जो कुछ किया सो हरि किया, भये कबीर कबीर॥

योगीको विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। जिस अवस्थामें वह इस भूमिकामें प्रवेश करता है, उस समय एक डर रहता है। पतञ्जलिने कहा है कि न तो संग करना चाहिये और न स्मय। दोनों अवस्थाओंमें पतनकी आशङ्का है। तात्पर्य यह है कि न तो सिद्धिशक्तियोंसे काम लेना चाहिये और न यह अभिमानका भाव ही आना चाहिये कि मैं इतना बड़ा हो गया कि ऊँचे लोकोंकी दैवी शक्तियाँ मेरे चरणोंपर लोट रही हैं। भक्त इस भयस्थलको सुकरतासे पार कर जाता है, क्योंकि उसको यह अभिमान होने ही नहीं पाता कि मैंने कोई बड़ा काम कर लिया है। इस दृष्टिसे भक्तिमार्गमें थोड़ी अच्छाई है, परंतु सभी योगियोंका इस जगह स्खलन नहीं होता। वह गुरुकी कृपासे इसे भी पार कर जाता है और उसको पार करनेमें शक्तिका जो उद्बोधन होता है, वह आगेके मार्गको और भी प्रशस्त कर देता है। यह मार्ग कुछ दूरतक कण्टकाकीर्ण होते हुए भी समझ-बूझकर योगका ही अवलम्बन करना सर्वतः कल्याणकारी है*।

---

* विद्वान् लेखकके कथनानुसार अवश्य ही यह लेख इस अङ्कमें प्रकाशित अन्यान्य लेखोंमें व्यक्त विचारोंसे मेल नहीं खाता और 'कल्याण' की नीतिकी दृष्टिसे भी इस लेखकी बहुत-सी बातोंके साथ विभिन्न मतभेद है। 'भक्ति' शब्दको विद्वान् लेखकने जिस दृष्टिकोणसे देखा-परखा है, उससे देखनेके दूसरे भी दृष्टिकोण हैं। तथापि "किसी प्रश्नपर विचार करनेमें सभी पक्षोंको सामने रखनेसे सुविधा होती है"—इस नीतिके अनुसार यह लेख अविकलतः आदरपूर्वक प्रकाशित किया जाता है। इसमें तर्कयुक्तिके आधारपर विचार करनेवाले प्राचीन संस्कृतिके अनुयायी एक विचारशील और ईमानदार विद्वान् महानुभावका मत है, जो विचार करने योग्य है और दूसरे दृष्टिकोणसे इस लेखपर विचार करनेपर, सम्भव है, विनीत अपना दूसरे दृष्टिकोणसे दिखनेवाला सिद्धान्त और भी परिपुष्ट हो जाय।

हाँ, जहाँतक भक्तिकी सरलताका प्रश्न है, वहाँतक यह निर्विवाद है कि ज्ञान तथा योगकी अपेक्षा भक्ति सरल है। इस बातको गीताके बारहवें अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णने स्पष्ट कर दिया है—क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ (१२।५)

इस लेखके आदरणीय विद्वान् लेखकने भी 'भक्त अपने उपास्यके आश्रित होनेसे अभिमान उत्पन्न होनेके भयस्थलको सुकरतासे 'पार कर जाता है, क्योंकि उसको यह अभिमान होने ही नहीं पाता कि मैंने कोई बड़ा काम कर लिया है।'—कहते हुए 'इस दृष्टिसे भक्ति-मार्गमें थोड़ी अच्छाई है'—यह स्वीकार किया है।

पर इस सरलताका यह अर्थ कदापि नहीं है कि भक्तको सच्चरित्र होनेकी आवश्यकता नहीं है या उसके लिये यम-नियमादि साधनभूमिके विविध साधनोंका आचरण निष्प्रयोजनीय है। बल्कि गीतामें भक्त या भक्तिमान् पुरुषके जो लक्षण भगवान्‌ने १२वें अध्यायके १३वें से २०वें श्लोकतक बतलाये हैं, वे ऐसे हैं जो चरित्रशुद्धि या यम-नियमके किसी भी सिद्धान्तसे आगे बढ़े हुए हैं। दुराचारी और संयमहीन तो कभी भक्त हो ही नहीं सकता। जिसने अपनी सारी ममता, आसक्ति अपने उपास्य भगवान्‌को समर्पित कर दी है, वह तो सहज ही परम सदाचारी और संयमी होगा। जो कुछ भी हो, हम विद्वान् लेखकके बड़े कृतज्ञ हैं, जो उन्होंने स्पष्टरूपसे अपने विचारोंको व्यक्त करके सबको विचार करनेका अवसर दिया है और मतभेदकी बातोंको छोड़कर प्रकारान्तरसे यह बतलानेकी कृपा की है कि भक्तको संयम-नियम-परायण, सच्चरित्र होना ही चाहिये।

यह लेख खण्डन-मण्डनात्मक लेखोंकी परम्परा चलानेके लिये नहीं छापा जा रहा है, अतएव इस लेखविशेषके खण्डन या मण्डनरूपमें आये हुए लेखोंको प्रकाशित करनेका विचार नहीं है।

ह० प्र० पोद्दार, 'सम्पादक'

श्रीमद्भगवद्गीतामें भक्तियोग

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीमद्भगवद्गीता समस्त शास्त्रोंका और विशेषकर उपनिषदोंका सार है। स्वयं श्रीवेदव्यासजीने महाभारतके भीष्मपर्वमें कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥
सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः॥

(४३। १-२)

'केवल गीताका ही भलीभाँति गान (श्रवण, कीर्तन, पठन, पाठन, मनन और धारण) करना चाहिये; अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है। क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ-भगवान्‌के साक्षात् मुख-कमलसे निकली हुई है। गीता सर्वशास्त्रमयी है, श्रीहरि सर्वदेवमय हैं। श्रीगङ्गा सर्वतीर्थमयी है और मनुस्मृति सर्ववेदमयी है।'

इतना ही नहीं, स्वयं भगवान्‌ने भी यह कहा है कि सब शास्त्रोंमें जो बात कही गयी है, वही बात यहाँ तू मुझसे सुन—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥

(गीता १३। ४)

'यह तत्त्व ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे वर्णन किया गया है और विविध वेदमन्त्रोंद्वारा भी विभागपूर्वक निरूपित है तथा भलीभाँति निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है।'

अतएव हमलोगोंको गीताका भलीभाँति अध्ययन और मनन करना चाहिये; क्योंकि मनन करनेपर उसमें भरे हुए गोपनीय तत्त्वका पता लगता है। अब यहाँ गीतामें वर्णित भक्तिके विषयमें कुछ विचार किया जाता है—

गीता भक्तिसे ओतप्रोत है। गीतामें कहीं तो भेदोपासनाका वर्णन है और कहीं अभेदोपासनाका। कितने ही सज्जन कहते हैं कि पहले छः अध्यायोंमें कर्मयोगकी, बीचके छः अध्यायोंमें भक्तियोगकी और अन्तके छः अध्यायोंमें ज्ञानयोगकी प्रधानता है। पहले छः अध्यायोंमें कर्मयोग और अन्तिम छः अध्यायोंमें ज्ञानयोगकी प्रधानता तो मानी जा सकती है; किंतु सातवें अध्यायसे बारहवें अध्यायतक तो भरपूर ही भक्ति भरी है। अतः इन सभी अध्यायोंको भक्तियोग ही कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। क्योंकि इनमेंसे अधिकांशमें तो सगुण-साकार और सगुण-निराकारका ही वर्णन है, किसी-किसी स्थलमें निर्गुण-निराकारकी उपासनाका भी उल्लेख है। इन छहों अध्यायोंमें कुल २०१ श्लोक हैं। इनमें जो एक गोपनीय रहस्यकी बात है, उसका यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है।

इन सभी श्लोकोंपर भलीभाँति ध्यान देकर देखनेसे पता लगता है कि प्रायः प्रत्येक श्लोकमें ही किसी-न-किसी रूपमें भगवद्वाचक पद आया है। जहाँ भगवान् श्रीकृष्णके वचन हैं, वहाँ तो अहम्, माम्, मया, मत्तः, मम, मे, मयि और अस्मि आदि पदोंका प्रयोग है एवं अर्जुनके वचनोंमें त्वम्, त्वाम्, त्वया, त्वत्तः, तव, ते, भवान् और असि तथा जनार्दन, पुरुषोत्तम, देव, देवेश, जगन्निवास आदि पदोंका प्रयोग है। इसी प्रकार संजयके वचनोंमें भी स्पष्ट ही हरि, देव, देवदेव, केशव, कृष्ण, वासुदेव आदि भगवद्वाचक शब्द आये हैं। अधिकांश शब्द तो सगुण-साकार और सगुण-निराकारके ही वाचक हैं, पर कितने ही शब्द निर्गुण-निराकारके वाचक भी हैं—जैसे ॐ, अक्षर, अव्यक्त, ब्रह्म आदि।

इन २०१ श्लोकोंमेंसे अधिकांशमें भगवान्‌के वाचक शब्द ही हैं, केवल इनका दसवाँ अंश अर्थात् २१ श्लोक ऐसे हैं, जिनमें भगवद्वाचक शब्द नहीं हैं। किंतु वे भी भाव और प्रकरणके अनुसार भक्तिसे पृथक् नहीं हैं। इनमेंसे आठवें अध्यायमें ऐसे ९ श्लोक हैं, शेष पाँच अध्यायोंमेंसे प्रत्येकमें दो या तीन श्लोकसे अधिक ऐसे नहीं हैं। पाँचों अध्यायोंमें कुल मिलाकर १२ श्लोक ही ऐसे आये हैं, जिनमें प्रकटरूपमें भगवद्वाचक शब्द नहीं हैं—जैसे सातवें अध्यायका २०वाँ और २७वाँ; नवें अध्यायका २रा, १२वाँ और २१वाँ; दसवेंका ४था और २९वाँ; ग्यारहवेंका ६ठा और १०वाँ एवं बारहवेंका १२वाँ, १३वाँ और १८वाँ।

जिनमें कर्मयोगकी प्रधानता मानी गयी है, उन अध्यायों (१ से ६ तक) में भी कोई भी अध्याय भक्तिके वर्णनसे

खाली नहीं है। पहले अध्यायमें संजय और अर्जुनके वचनोंमें माधव, हृषीकेश, अच्युत, कृष्ण, केशव, मधुसूदन, जनार्दन, वार्ष्णेय आदि भक्तिभावसे ओतप्रोत भगवद्वाचक शब्द आये हैं। दूसरे अध्यायके ६१वें श्लोकमें तो भगवत्-शरणागतिका भाव स्पष्ट ही है—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

'साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण (शरण) होकर ध्यानमें बैठे; क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर होती है।'

इसी प्रकार तीसरे अध्यायके ३०वें श्लोकमें परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सब कर्म भगवान्के समर्पण करनेका भाव है—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

'मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और संतापरहित होकर युद्ध कर।'

चौथे अध्यायमें तो स्वयं भगवान् कहते हैं कि 'मैं साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हूँ और श्रेष्ठ पुरुषोंके उद्धार, दुष्टोंके विनाश एवं धर्मकी संस्थापनाके लिये समय-समयपर अवतार लेता हूँ।'

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(गीता ४। ६)

'मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।'

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(गीता ४। ८)

'श्रेष्ठ पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पापकर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

इसके बाद भगवान्ने अपने जन्म और कर्मकी दिव्यता जाननेका महत्त्व बतलाया है। जन्मकी दिव्यता यह कि भगवान्का जन्म अलौकिक है, मनुष्योंकी भाँति पुण्य-पापके फलस्वरूप उत्पन्न नहीं है तथा न वे प्रकृतिके परतन्त्र ही हैं। वे केवल उत्पन्न और विनष्ट होते-से दिखायी पड़ते हैं, मनुष्योंकी भाँति जन्मते-मरते नहीं; अतः वास्तवमें उनका जन्म-मरण नहीं होता, केवल प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है। उनका विग्रह रोगशून्य, दोषरहित और चिन्मय होता है (गीता ४। ६)। वे अपनेपर मायाका पर्दा डाल लेते हैं, इसलिये उनको कोई पहचान नहीं सकता (गीता ७। २५)। जो भक्त भगवान्के शरण होकर उनको श्रद्धा-प्रेमसे भजता है, वही उनको यथार्थरूपसे जानता है। वे अपनी इच्छासे प्रकृतिको वशमें करके स्वयं अजन्मा और अविनाशी रहते हुए ही श्रेष्ठ पुरुषोंके कल्याण और धर्मके प्रचारके लिये अपनी योगमायासे प्रकट होते हैं (गीता ४। ८)। यह उनके जन्मकी दिव्यता है। तथा कर्मोंकी दिव्यता यह है कि उनकी सारी चेष्टाएँ अभिमान, आसक्ति और कामनासे रहित एवं केवल संसारके कल्याणके लिये ही होती हैं (गीता ४। १३-१४)। इसलिये उनके कर्म दिव्य हैं। इस प्रकार समझकर इस समझको काममें लाना ही भगवान्के जन्म और कर्मकी दिव्यताका तत्त्व जानना है।

इस चौथे अध्यायमें भगवान्ने अपनी भक्तिकी महिमामें यहाँतक कह दिया कि—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(गीता ४। ११ का पूर्वार्ध)

'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

पाँचवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें तो भगवान्ने अपने स्वरूप, प्रभाव और गुणोंका तत्त्व जाननेका फल परम शान्तिकी प्राप्ति बतलाया ही है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥
(गीता ५। २९)

'मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित, दयालु और प्रेमी तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

यहाँ यह प्रश्न होता है कि इस प्रकार जो भगवान्को यज्ञ-तपोंका भोक्ता, समस्त लोकोंका महेश्वर तथा समस्त

परम पदकी प्राप्ति होती है। उसी परम पदकी प्राप्ति मनुष्यको गोपियोंकी भाँति * सदा-सर्वदा भगवान्‌के शरण होकर अपने कर्तव्य कर्मोंको करते हुए भी होती है। भगवान् कहते हैं—

> सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
> मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
> (गीता १८।५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परम पदको प्राप्त हो जाता है।'

इस प्रकार भगवान्‌ने अपनी शरणागतिरूप भक्तिका माहात्म्य बतलाकर अर्जुनको सब प्रकारसे अपनी शरण ग्रहण करनेका आदेश दिया है—

> चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
> बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥
> मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि।
> (गीता १८। ५७, ५८ का पूर्वार्ध)

'सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके तथा समबुद्धिरूप योगका अवलम्बन करके मेरे परायण हो जा और निरन्तर मुझमें चित्तको लगाये रह। इस प्रकार मुझमें चित्त लगाये रहकर तू मेरी कृपासे समस्त संकटोंको अनायास ही पार कर जायगा।'

यहाँ भगवान्‌ने अपने सगुण-साकार स्वरूपकी भक्तिके साधनोंका वर्णन करके, अर्जुनको अपनी शरणमें आनेकी आज्ञा देकर उसका महत्त्व बतलाया है। यद्यपि सगुण निराकारकी शरणका भी फल परम शान्ति और शाश्वत पदकी प्राप्ति है, किंतु उसे गुह्यतर ही कहा गया है, गुह्यतम नहीं। भगवान् कहते हैं—

> तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
> तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
> इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
> (गीता १८। ६२, ६३ का पूर्वार्ध)

'हे भारत! तू सब प्रकारसे उस सर्वव्यापी परमेश्वरकी ही शरणमें चला जा। उस परमात्माकी कृपासे तू परम शान्तिको तथा सनातन परम धामको प्राप्त होगा। इस प्रकार यह गुह्यसे भी गुह्यतर ज्ञान मैंने तुझसे कह दिया।'

भगवान्‌ने गुह्यतम तो अपनी शरणागतिरूप भक्तिको ही बतलाया है—

> सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
> इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
> (गीता १८। ६४—६६)

'सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा। तू मुझमें मन वाला हो, मेरा भक्त बन जा, मेरा पूजन कर और मुझको प्रणाम कर। यों करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है। सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्याग करके यानी अर्पण करके तू केवल मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।'

इसे सर्वगुह्यतम कहनेका अभिप्राय यह है कि ६२वें और ६३वें श्लोकोंमें तो सर्वव्यापी निराकार परमात्माके शरण जानेको गुह्यतर ही कहा है, किंतु यहाँ स्वयं भगवान् प्रकट होकर अपना परिचय देते हुए कहते हैं कि 'मैं ही साक्षात् परमात्मा हूँ, तू मेरी शरणमें आ जा।' इस प्रकार प्रकट होकर अपना परिचय देना अर्जुन-जैसे अपने अत्यन्त प्रेमी भक्तके

---

* भक्तिमती गोपियाँ किस प्रकार भक्ति करती हुई सब कार्य किया करती थीं, इसका वर्णन श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके ४४वें अध्यायके १५वें श्लोकमें इस प्रकार मिलता है—

> या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
> प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
> गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
> धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देना आदि काम-काज करते समय प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद वाणीसे श्रीकृष्णके नाम और गुणोंका गान किया करती हैं। इस प्रकार सदा श्रीकृष्णके स्वरूपमें ही चित्त लगाये रखनेवाली व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य हैं।'

सामने ही सम्भव है। दूसरेसे यह नहीं कहा जा सकता कि 'मैं ही साक्षात् परमात्मा हूँ, तुम मेरी शरणमें आ जाओ।'

यहाँ ६४वें श्लोकमें 'तू मेरा सर्वगुह्यतम श्रेष्ठ वचन फिर भी सुन' कहकर भगवान्‌ने पहले नवें अध्यायके ३४वें श्लोकमें कहे हुए वचनकी ओर संकेत किया है। यहाँ ६६वें श्लोकमें तो शरणागतिका माहात्म्य है और ३४वें श्लोकमें उसका स्वरूप है। उसे भी गुह्यतम कहा है। नवें अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें 'अनसूयवे' पदसे अर्जुनको उसका परम अधिकारी मानकर और गुह्यतम रहस्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके गुह्यतम, राजगुह्य आदि शब्दोंका प्रयोग करते हुए जिस शरणागतिरूप भक्तिकी बात कहनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसीका पूरे अध्यायमें वर्णन करते हुए अन्तमें ३४वें श्लोकमें शरणागतिका स्पष्ट उल्लेख करते हुए ही अध्यायकी समाप्ति की गयी है। भगवान् कहते हैं—

> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
>
> (गीता ९। ३४)

'मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन कर और मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यहाँ बतलाये हुए शरणागतिरूप भक्तिके चारों साधनोंमेंसे एक साधनके अनुष्ठानसे ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है या चारोंके। इसका उत्तर यह है कि एकके अनुष्ठानसे ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है, फिर चारोंके अनुष्ठानसे हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है।

केवल 'मन्मना भव'—भगवान्‌में मन लगानेके साधनसे भगवत्प्राप्ति इसी अध्यायके २२वें श्लोकसे समझनी चाहिये। भगवान्‌ने कहा है—

> अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
> तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

यहाँ अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' और प्राप्तकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है। अतः भगवान्‌की प्राप्तिके लिये जो साधन उन्हें प्राप्त है, सब प्रकारके विघ्न बाधाओंसे बचाकर उसकी रक्षा करना और जिस साधनकी कमी है, उसकी पूर्ति करके स्वयं अपनी प्राप्ति करा देना ही उन प्रेमी भक्तोंका योगक्षेम वहन करना है।

भक्तिमार्गमें यह एक विशेषता है कि साधक भक्तके किये हुए साधनकी रक्षा और उसके साधनकी कमी-की पूर्ति भी भगवान् कर देते हैं। यहाँ रक्षा करनेका यह अभिप्राय है कि यदि कोई भक्त भगवान्‌से कोई सांसारिक वस्तु माँगता है तो भगवान् उसके माँगनेपर भी यदि उसमें उसका अहित समझते हैं तो वह वस्तु उसे नहीं देते। जैसे नारदजीने भगवान्‌से हरिका रूप माँगा था, किंतु उसमें उनका अहित समझकर 'हरि' शब्दका अर्थ बंदर भी होनेके कारण भगवान्‌ने उनको बंदरका रूप दे दिया और इसके परिणामस्वरूप उनके शापको भी भगवान्‌ने स्वीकार कर लिया; परंतु अपने भक्तको कञ्चन और कामिनीसे उसी प्रकार बचा लिया, जिस प्रकार एक हितैषी सद्वैद्य रोगीको कुपथ्यसे बचा लेता है।

केवल 'मद्भक्तो भव'—भगवान्‌की भक्तिके साधनसे भगवान्‌की प्राप्ति इसी अध्यायके ३०वें और ३१वें श्लोकोंमें बतलायी गयी है।

केवल 'मद्याजी भव'—भगवान्‌की पूजासे भगवत्प्राप्तिकी बात इसी अध्यायके २६वें श्लोकसे समझनी चाहिये। भगवान् कहते हैं—

> पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
> तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

यहाँ भी यह जिज्ञासा होती है कि इस श्लोकमें जो पत्र, पुष्प, फल, जल—इन चार पदार्थोंके अर्पणकी बात कही गयी है, सो इन चारोंके समर्पणसे भगवान् प्रकट होकर उसकी भेंट स्वीकार करते हैं या एकके समर्पणसे भी। इसका उत्तर यह है कि प्रेमपूर्वक एकके समर्पणसे भी भगवान् उसे स्वीकार कर लेते हैं; क्योंकि इसमें क्रियाओं और पदार्थोंकी प्रधानता नहीं है, प्रेमकी प्रधानता है। प्रेम होनेसे चारोंमेंसे एकको अर्पण करनेपर भी उसे भगवान् स्वीकार कर लेते हैं। जैसे—द्रौपदीके[1] केवल पत्ती अर्पण करनेसे,

---

१. द्रौपदीकी यह कथा महाभारत, वनपर्वके २६२वें अध्यायमें देख सकते हैं।

गजेन्द्रके केवल पुष्प भेंट करनेसे, भीलनीके केवल फल अर्पण करनेसे और राजा रन्तिदेवके केवल जल अर्पण करनेसे ही भगवान्‌ने प्रकट होकर उनके दिये हुए पदार्थको ग्रहण किया था। इस प्रकार ये सभी एक-एक पदार्थके अर्पण करनेसे ही भगवान्‌को प्राप्त हो गये। तब फिर सब प्रकारसे भक्तिपूर्वक भगवान्‌की पूजा करनेवालेको भगवान् मिल जायँ, इसमें तो कहना ही क्या है।

इसी प्रकार केवल 'नमस्कुरु'—नमस्कार करनेसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है, किंतु गीतामें भगवान्‌ने नमस्कारके साथ कीर्तन आदि भक्तिके अन्य अङ्गोंका भी समावेश कर दिया है—

> सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
> नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥
> (गीता ९।१४)

'वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्यप्रेमसे मेरी उपासना करते हैं।'

महाभारतके शान्तिपर्वमें तो केवल नमस्कारमात्रसे भी संसारसे उद्धार होना बतलाया है—

> एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
> दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥
> (महा० शान्ति० ४७।९२)

'भगवान् श्रीकृष्णको एक बार भी किया हुआ प्रणाम दस अश्वमेधयज्ञोंके अन्तमें किये जानेवाले अवभृथस्नानके समान होता है। इतना ही नहीं, दस अश्वमेधयज्ञ करनेवाला तो उनके फलको भोगकर पुनः संसारमें जन्म लेता है, किंतु भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवाला पुनः संसारमें जन्म नहीं लेता।'

ऊपर बतलाया जा चुका है कि नवें अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें भगवान्‌ने अपनी भक्तिको सबसे गुह्यतम, राजगुह्य और विज्ञानसहित ज्ञान बतलाकर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है एवं उसको बहुत ही उत्तम और सुगम बतलाया है। ऐसा सुगम साधन होनेपर भी सभी मनुष्य इसमें नहीं लगते, इसमें श्रद्धाका न होना ही कारण है। भगवान् कहते हैं—

> अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
> अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥
> (गीता ९।३)

'हे परंतप! उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धा न रखनेवाले पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसार-चक्रमें भ्रमण करते रहते हैं।'

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जिसकी भक्तिके धर्ममें श्रद्धा नहीं, उसका संसारमें यानी चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करना तो सर्वथा सम्भव है, पर यहाँ उसके साथ ही 'मुझे न प्राप्त होकर' कहनेकी क्या आवश्यकता है, जब कि उसे भगवान्‌के प्राप्त होनेकी कोई सम्भावना ही नहीं। इसका उत्तर यह है कि 'मुझे न प्राप्त होकर' कथनसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यमात्रका परमात्माकी प्राप्तिमें जन्मसिद्ध अधिकार है। किंतु जैसे राजाके पुत्रका उस राज्यपर जन्मसिद्ध स्वाभाविक अधिकार होते हुए भी पितामें श्रद्धा-भक्ति न होनेके कारण वह उस राज्यसे वञ्चित किया जाय तो कोई दोषकी बात नहीं होती, उसी प्रकार भगवान्‌में श्रद्धा, भक्ति, प्रेम न होनेके कारण भगवान्‌की प्राप्तिमें उसका जन्मसिद्ध अधिकार होते हुए भी कोई उससे वञ्चित रह जाय तो अनुचित नहीं कहा जा सकता।

इसलिये मनुष्यको श्रद्धा-भक्तिपूर्वक नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करना चाहिये; क्योंकि उठते-बैठते, सोते-जागते, हर समय भगवान्‌का स्मरण करना सर्वोत्तम है। हर समय भगवान्‌का स्मरण करनेसे अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण स्वाभाविक ही हो जाता है और अन्तकालके स्मरणका बड़ा भारी महत्त्व है। भगवान् कहते हैं—

> अन्तकाले [illegible]
> यः प्रयाति [illegible] नास्त्यत्र [illegible]

[illegible] प्रकार [illegible] है।

१. गजेन्द्रकी कथा श्रीमद्भागवतके अष्टम स्कन्धके २रे, ३रे अध्यायोंमें देख सकते हैं।

२. भीलनीकी कथा श्रीरामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें देख सकते हैं।

३. महाराज रन्तिदेवकी कथा श्रीमद्भागवतके नवम स्कन्धके २१वें अध्यायमें देख सकते हैं।

यदि कहें कि भगवान्‌का स्मरण करते हुए मरनेवालेका तो भगवान् उद्धार कर देते हैं और जो उन्हें स्मरण नहीं करता, उसका उद्धार नहीं करते, तो क्या भगवान् भी अपना मान और बड़ाई करनेवालेका ही पक्ष रखते हैं, तो यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि भगवान्‌ने यह नियम बनाया है कि मृत्युके समय जो मनुष्य पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, मनुष्य, देवता, पितर आदि किसी भी स्वरूपका चिन्तन करता हुआ मरता है, वह उसी-उसीको प्राप्त होता है (गीता ८ । ६) । इस न्यायसे भगवान्‌को स्मरण करते हुए मरनेवाला भगवान्‌को प्राप्त होता है । अतः उपर्युक्त कथनसे भगवान्‌में पक्षपात या विषमताका कोई दोष नहीं आता । भगवान्‌ने स्वयं कहा भी है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

(गीता ९ । २९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ ।'

श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके किष्किन्धाकाण्डमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भी भक्त हनुमान्‌के प्रति कहा है—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ । सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ ॥

यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि 'भगवान् जब समदर्शी होकर भी अपना भजन करनेवालेके लिये ही यह कहते हैं कि वह मेरे हृदयमें है और मैं उसके हृदयमें हूँ, तब क्या यह विषमता नहीं है ।' इसका उत्तर यह है कि सूर्य सबके ऊपर समानभावसे प्रकाश डालते हैं, पर दर्पणमें उनका प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है, काठ आदिमें नहीं; और सूर्यमुखी शीशा तो सूर्यकी किरणोंको खींचकर रूई, कपड़ा आदिको भस्म भी कर डालता है । यह उस पदार्थकी ही विशेषता है, इसमें सूर्यकी कोई विषमता नहीं है । वैसे ही भगवान्‌के भक्तके प्रेमकी ही उपर्युक्त विशेषता है, उससे भगवान्‌में विषमताका कोई दोष नहीं आता ।

इसलिये हर समय भगवान्‌के नाम और रूपका स्मरण करना चाहिये; क्योंकि शरीरका कोई भरोसा नहीं है; पता नहीं, कब प्राण चले जायँ । हर समय स्मरण करनेवाले भक्तको अन्तकालमें भगवान्‌की स्मृति स्वाभाविक हो ही जाती है । जो पुरुष नित्य-निरन्तर परम दिव्य पुरुष परमात्माका चिन्तन करता रहता है, वह भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण करता हुआ उस परम दिव्य पुरुष परमात्माको पा लेता है तथा जो इन्द्रियों और मनको सब ओरसे रोककर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक परमात्माके नामका उच्चारण और उनके स्वरूपका ध्यान करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है, वह निश्चय ही परम गतिको प्राप्त हो जाता है (गीता ८ । ८—१३) ।*

अतएव ज्ञानयोग, ध्यानयोग, अष्टाङ्गयोग, कर्मयोग आदि जितने भी भगवत्प्राप्तिके साधन हैं, उन सबमें भगवद्भक्ति सर्वोत्तम है । भगवान्‌ने छठे अध्यायके ४७वें श्लोकमें बतलाया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है ।'

इसी प्रकार अर्जुनके पूछनेपर बारहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें भी भगवान्‌ने अपने भक्तोंको सबसे उत्तम बतलाकर भक्तिका महत्त्व प्रदर्शित किया है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥

'मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं ।'

भक्ति सुगम होनेसे उत्तम है, इतनी ही बात नहीं है; भक्तिके मार्गमें यह विशेषता है कि भक्त अपने नेत्रोंद्वारा भगवान्‌को देख सकता है (गीता ११ । ५४) तथा भक्तके द्वारा प्रेमपूर्वक अर्पण किये हुए पत्र-पुष्प-फलादिको भगवान् प्रत्यक्ष प्रकट होकर खाते हैं (गीता ९ । २६) । यह बात ज्ञानयोग, अष्टाङ्गयोग या कर्मयोगसे सम्भव नहीं । इसलिये भक्तिको सर्वोत्तम कहना शास्त्र-संगत और युक्तियुक्त है ।

इसके सिवा, अनन्य चित्तसे नित्य निरन्तर स्मरण करनेवालेको भगवान् अनायास ही मिल जाते हैं—

* इस विषयका विस्तार देखना हो तो गीता-तत्त्व-विवेचनी टीकामें आठवें अध्यायके ८वेंसे १३वें श्लोकतककी टीका पढ़ सकते हैं ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

अनन्य-चिन्तन करनेवाले भक्तको सहज ही भगवान् मिल जाते हैं—इतना ही नहीं। उसका भगवान् संसार-समुद्रसे शीघ्र ही उद्धार भी कर देते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
(गीता १२ । ६-७)

'जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ अर्थात् मैं उनका उद्धार कर देता हूँ ।'

अतएव हमलोगोंको अनन्य भक्तियोगके द्वारा नित्य-निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करते हुए उनकी उपासना करनी चाहिये। संसारमें एक परमेश्वरके सिवा मेरा कोई परम हितैषी नहीं है, वे ही मेरे सर्वस्व हैं—यह समझकर जो भगवान्‌के प्रति अत्यन्त श्रद्धासे युक्त प्रेम किया जाता है—जिस प्रेममें स्वार्थ और अभिमानका जरा भी दोष नहीं है, जो सर्वथा पूर्ण और अटल है, जिसका जरा-सा अंश भी भगवान्‌से भिन्न वस्तुमें नहीं है और जिसके कारण क्षणमात्रके लिये भी भगवान्‌का विस्मरण असह्य हो जाता है—उसे 'अनन्य भक्ति' कहते हैं। ऐसे अनन्य भक्तियोगके द्वारा नित्य-निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करते हुए उनके गुण, प्रभाव और चरित्रोंका श्रवण-कीर्तन करना एवं उनके परम पावन नामोंका उच्चारण और जप करना ही अनन्य भक्तियोग-के द्वारा भगवान्‌का चिन्तन करते हुए उनकी उपासना करना है । इस प्रकारके अनन्य भक्तका भगवान् तत्काल ही उद्धार कर देते हैं ।

चाहे मनुष्य कितना भी पापी क्यों न हो, भक्तिके *प्रभावसे उसके सम्पूर्ण पापोंका नाश ही नहीं हो जाता बल्कि* वह परम धर्मात्मा बन जाता है और फिर उसे परम शान्ति *मिल जाती है । गीताके नवें अध्यायके ३०वें, ३१वें* श्लोकोंमें भगवान् कहते हैं—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है। क्योंकि *वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति* निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर और उनके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है । इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ।'

संसार-सागरसे जीवका उद्धार होना बहुत ही कठिन है, किंतु भगवान्‌की शरणसे यह कठिन कार्य भी सुगम हो जाता है । भगवान्‌ने कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
(गीता ७ । १४)

'क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है; परंतु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको लाँघ जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं ।'

भगवान्‌की भक्तिके प्रभावसे भगवान्‌का यथार्थ ज्ञान भी हो जाता है और ज्ञानके साथ ही भगवान् भी उसे मिल जाते हैं । *भगवान् स्वयं अपने उस अनन्यभक्तको वह ज्ञान* प्रदान कर देते हैं, जिससे उसे उनकी प्राप्ति अनायास ही हो जाती है । भगवान् कहते हैं—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(गीता १० । ८—१०)

'मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सम्पूर्ण जगत् चेष्टा करता है—इस प्रकार समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं। वे निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे तत्त्व, रहस्य और प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

भाव यह है कि जो मनुष्य भगवान्‌के स्वरूप और प्रभावको तत्त्वसे जान लेता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है (गीता १० । ३, ८)। भगवान्‌के स्वरूप और प्रभावका वर्णन गीताके सातवें अध्यायके ७वेंसे १२वें श्लोकतक, नवें अध्यायके १७वें, १८वें और १९वेंमें एवं पंद्रहवें अध्यायके १२वेंसे १५वें श्लोकतक तथा और भी अनेक स्थलोंमें किया गया है। उन सबका सार भगवान्‌ने दसवें अध्यायके ४१ वें, ४२वें श्लोकोंमें बतलाया है। वे कहते हैं—

> यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
> तत् तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके एक अंशकी ही अभिव्यक्ति (प्रकटन) जान।'

भाव यह है कि दसवें अध्यायके ४थे श्लोकसे १७वेंतक तथा १९वें श्लोकसे ४०वेंतक तथा गीताके अन्यान्य स्थलोंमें जो कुछ भी विभूतियाँ बतलायी गयी हैं एवं समस्त संसारके जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम सम्पूर्ण पदार्थोंमें जो भी बल, बुद्धि, तेज, गुण, प्रभाव आदि प्रतीत होते हैं, वे सब-के-सब मिलकर भी भगवान्‌के प्रभावके एक अंशमात्रका ही प्रादुर्भाव हैं।

> अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
> विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

'अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है ! मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योगमायाके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

जैसे जलका बुद्बुदा समुद्रका एक अंशमात्र है, वैसे ही सम्पूर्ण गुण और प्रभावसहित सारा ब्रह्माण्ड परमात्माके किसी एक अंशमें है—इस प्रकार समझकर जो दसवें अध्यायके उपर्युक्त ८ वें, ९ वें और १० वें श्लोकोंके अनुसार परमात्माकी उपासना करता है, वह अनायास ही परमात्माको पा लेता है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह बात सिद्ध हो गयी कि भगवान्‌की भक्ति ज्ञानयोग, अष्टाङ्गयोग, कर्मयोग आदि सभी साधनोंकी अपेक्षा उत्तम, सुगम और सुलभ है। इतना ही नहीं, भक्तिसे शीघ्र ही सारे पापोंका नाश होकर भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान हो जाता है और मनुष्य इस दुस्तर संसार-समुद्रसे तरकर भगवान्‌का दर्शन पा लेता है एवं भगवान्‌को तत्त्वसे जानकर उनमें प्रवेश भी कर सकता है। भगवान्‌ने कहा है—

> भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
> ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
>
> (गीता ११ । ५४)

'हे परंतप अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

यों तो ज्ञानयोगके द्वारा भी पापोंका नाश होकर परमात्माका ज्ञान और परम शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है (गीता ४ । ३४—३६, ३९), किंतु उससे सगुण-साकार भगवान्‌का साक्षात् दर्शन नहीं होता। इसके विपरीत अनन्य भक्तिसे परमात्माका ज्ञान और परमात्माकी प्राप्ति यानी परमात्मामें एकीभावसे प्रवेश होनेके अतिरिक्त उनका साक्षात् दर्शन भी सम्भव है। इसलिये भगवान्‌की अनन्य भक्तिका मार्ग सर्वोत्तम है।

यहाँ उस अनन्यभक्तिका स्वरूप जाननेके लिये अनन्य भक्तके लक्षण बतलाते हैं—

> मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
> निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥
>
> (गीता ११ । ५५)

'हे अर्जुन ! जो पुरुष सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको केवल मेरे लिये ही करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूत प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह अनन्य भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्राप्त होता है।'

यदि कहें कि इस श्लोकमें जो भगवान्‌के लिये कर्म करना, भगवान्‌के परायण होना और भगवान्‌का भक्त

होना—ये तीन बातें बतलायी गयी हैं, इन तीनोंके अनुष्ठानसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है या एकके अनुष्ठानसे भी', तो इसका उत्तर यह है कि इन तीनोंके अनुष्ठानसे भगवत्प्राप्ति हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है, किसी एकके अनुष्ठानसे भी हो सकती है। केवल भगवदर्थ कर्म करनेसे भी मनुष्यको भगवत्प्राप्तिरूप सिद्धि प्राप्त होनेकी बात भगवान्ने गीताके बारहवें अध्यायके १० वें श्लोकमें बतलायी है—

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।

'हे अर्जुन! तू मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा।'

तथा केवल भगवान्‌के परायण होनेसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। भगवान्ने कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९। ३२)

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

एवं केवल भगवान्‌की भक्तिसे भी भगवत्प्राप्ति हो जाती है—

देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥

(गीता ७। २३ का उत्तरार्ध)

'देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त—चाहे जैसे मुझे भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

ऐसे भक्त चार प्रकारके होते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

(गीता ७। १६)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करनेवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं।'

इन चारोंमें अर्थार्थी भक्तसे आर्त, आर्तसे जिज्ञासु और जिज्ञासुसे ज्ञानी (निष्काम) श्रेष्ठ है। अर्थार्थी भक्तसे आर्त इसलिये श्रेष्ठ है कि वह स्त्री, पुत्र, धन आदिकी तो बात ही क्या, राज्यभोग भी भगवान्से नहीं चाहता—जैसे ध्रुवने चाहा था) परंतु द्रौपदीकी भाँति किसी बड़े भारी सांसारिक संकटके प्राप्त होनेपर उसके निवारणके लिये प्रार्थना करता है। पर जिज्ञासु तो सांसारिक भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी उस संकटकी निवृत्तिके लिये प्रार्थना नहीं करता, वरं भक्त उद्धवकी भाँति संसार-सागरसे अपना उद्धार करनेके लिये परमात्माको तत्त्वसे जाननेकी ही इच्छा करता है। इसलिये आर्तसे भी जिज्ञासु श्रेष्ठ है। किंतु भक्त प्रह्लादकी भाँति निष्काम ज्ञानी भक्त तो अपनी मुक्तिके लिये भी याचना नहीं करता। इसलिये भगवान्ने निष्काम ज्ञानी भक्तको सबसे बढ़कर बतलाया है।

इन चारोंमें ज्ञानी भक्त भगवान्‌को अतिशय प्रिय है; क्योंकि ज्ञानीको भगवान् अतिशय प्रिय हैं। सातवें अध्यायके १७ वें श्लोकमें भगवान् स्वयं कहते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझे तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ, और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

क्योंकि भगवान्‌का यह विरद है कि जो मुझे जिस प्रकार भजता है, मैं भी उसे उसी प्रकार भजता हूँ (गीता ४। ११)।

इतना ही नहीं, जो भगवान्‌को प्रेमसे भजता है, उसको भगवान् अपने हृदयमें बसा लेते हैं। भगवान्ने गीताके नवें अध्यायके २९वें श्लोकमें कहा है कि 'जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

यदि पूछा जाय कि 'क्या ऐसे ज्ञानी निष्काम भक्तके अतिरिक्त दूसरे भक्त श्रेष्ठ नहीं हैं और क्या उनका उद्धार नहीं होगा?' तो ऐसी बात नहीं है। ये सभी भक्त श्रेष्ठ हैं और सभीका उद्धार होता है। किंतु ज्ञानी निष्काम भक्त सर्वोत्तम

१. भक्त ध्रुवका प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत, चतुर्थ स्कन्धके ८वें, ९वें अध्यायोंमें देख सकते हैं।

२. द्रौपदीका यह प्रसङ्ग महाभारत, सभापर्वके ६८वें अध्यायमें पढ़ सकते हैं।

३. भक्त उद्धवका प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत, एकादश स्कन्धके सातवेंसे उन्तीसवें अध्यायतक देख सकते हैं।

४. भक्त प्रह्लादका प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत, सप्तम स्कन्धके ५वें से १०वें अध्यायतक देख सकते हैं।

भक्तिमें सबका अधिकार

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ (गीता ९ । ३२)

होना—ये तीन बातें बतलायी गयी हैं, इन तीनोंके अनुष्ठानसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है या एकके अनुष्ठानसे भी', तो इसका उत्तर यह है कि इन तीनोंके अनुष्ठानसे भगवत्प्राप्ति हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या है, किसी एकके अनुष्ठानसे भी हो सकती है। केवल भगवदर्थ कर्म करनेसे भी मनुष्यको भगवत्प्राप्तिरूप सिद्धि प्राप्त होनेकी बात भगवान्‌ने गीताके बारहवें अध्यायके १० वें श्लोकमें बतलायी है—

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।

'हे अर्जुन! तू मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा।'

तथा केवल भगवान्‌के परायण होनेसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। भगवान्‌ने कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(गीता ९। ३२)

'हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परम गतिको ही प्राप्त होते हैं।'

एवं केवल भगवान्‌की भक्तिसे भी भगवत्प्राप्ति हो जाती है—

देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥
(गीता ७। २३ का उत्तरार्ध)

'देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त—चाहे जैसे ही मुझे भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

ऐसे भक्त चार प्रकारके होते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
(गीता ७। १६)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करनेवाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी—ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं।'

इन चारोंमें अर्थार्थी भक्तसे आर्त, आर्तसे जिज्ञासु और जिज्ञासुसे ज्ञानी (निष्काम) श्रेष्ठ है। अर्थार्थी भक्तसे आर्त इसलिये श्रेष्ठ है कि वह स्त्री, पुत्र, धन आदिकी तो बात ही क्या, राज्यभोग भी भगवान्‌से नहीं चाहता—जैसे ध्रुवने[1] चाहा था; परंतु द्रौपदीकी[2] भाँति किसी बड़े भारी सांसारिक संकटके प्राप्त होनेपर उसके निवारणके लिये याचना करता है। पर जिज्ञासु तो सांसारिक भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी उस संकटकी निवृत्तिके लिये प्रार्थना नहीं करता, वरं भक्त उद्धवकी[3] भाँति संसार-सागरसे अपना उद्धार करनेके लिये परमात्माको तत्त्वसे जाननेकी ही इच्छा करता है। इसलिये आर्तसे भी जिज्ञासु श्रेष्ठ है। किंतु भक्त प्रह्लादकी[4] भाँति निष्काम ज्ञानी भक्त तो अपनी मुक्तिके लिये भी याचना नहीं करता। इसलिये भगवान्‌ने निष्काम ज्ञानी भक्तको सबसे बढ़कर बतलाया है।

इन चारोंमें ज्ञानी भक्त भगवान्‌को अतिशय प्रिय है; क्योंकि ज्ञानीको भगवान् अतिशय प्रिय हैं। सातवें अध्यायके १७ वें श्लोकमें भगवान् स्वयं कहते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

'उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेम-भक्तियुक्त ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझे तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ, अतः वह ज्ञानी भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

क्योंकि भगवान्‌का यह नियम है कि जो मुझे जिस प्रकार भजता है, मैं भी उसे उसी प्रकार भजता हूँ (गीता ४। ११)।

इतना ही नहीं, जो भगवान्‌को प्रेमसे भजता है, उसको भगवान् अपने हृदयमें बसा लेते हैं। भगवान्‌ने गीताके नवें अध्यायके २९वें श्लोकमें कहा है कि 'जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

यदि पूछा जाय कि 'क्या ऐसे ज्ञानी निष्काम भक्तके अतिरिक्त दूसरे भक्त श्रेष्ठ नहीं हैं और क्या उनका उद्धार नहीं होगा?' तो ऐसी बात नहीं है। ये सभी भक्त श्रेष्ठ हैं और सभीका उद्धार होता है; किंतु ज्ञानी निष्काम भक्त सर्वोत्तम

---

१. भक्त ध्रुवका प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत, चतुर्थ स्कन्धके ८वें, ९वें अध्यायोंमें देख सकते हैं।

२. द्रौपदीका यह प्रसङ्ग महाभारत, सभापर्वके ६८वें अध्यायमें पढ़ सकते हैं।

३. भक्त उद्धवका प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत, एकादश स्कन्धमें कई स्थलोंमें विस्तारपूर्वक देख सकते हैं।

४. भक्त प्रह्लादका प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत, सप्तम स्कन्धके ५वें से १०वें अध्यायतक देख सकते हैं।

भक्तिमें सबका अधिकार

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
१२— स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ (गीता ९ । ३२)

भक्तोद्धारक भगवान्

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

(गीता १२ । ७)

है। ज्ञानी निष्काम भक्तको तो भगवान्‌ने अपना स्वरूप ही बतलाया है—

> उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
> आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥
>
> (गीता ७। १८)

'ये सभी उदार हैं, परंतु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है। क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है।'

उदारका अर्थ है श्रेष्ठ। भगवान्‌के कथनका भाव यह है कि 'वे भक्त मुझे पहले भजते हैं, तब फिर उसके बाद मैं उनको भजता हूँ तथा वे अपने अमूल्य समयको मुझपर श्रद्धा-विश्वास करके न्योछावर कर देते हैं, यह उनकी उदारता है। इसलिये वे श्रेष्ठ हैं। और मेरी भक्ति सकाम, निष्काम या अन्य किसी भी भावसे क्यों न की जाय, मेरे भक्तका उद्धार हो ही जाता है (गीता ७। २१); किंतु प्रेम और निष्काम-भावकी उनमें कमी होनेके कारण उनको मेरी प्राप्तिमें विलम्ब हो सकता है। मेरी उपासनाकी तो बात ही क्या है, जो दूसरे देवताओंकी उपासना करते हैं, वे भी मेरी ही उपासना करते हैं; किंतु वे मुझको तत्त्वसे न जाननेके कारण इस लोक या स्वर्ग आदि परलोकरूप नाशवान् फलको ही पाते हैं।'

> अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
>
> (गीता ७। २३का पूर्वार्ध)

'क्योंकि उन अल्प बुद्धिवालोंका वह फल नाशवान् है।'

सातवें अध्यायके पहले श्लोकमें जिस समग्र रूपको जाननेकी बात कही गयी है, उसका भगवान्‌ने यही अभिप्राय बतलाया कि जो कुछ है वह मुझसे अलग नहीं है (गीता ७। ७) और सब कुछ मेरा ही स्वरूप है (गीता ७। १९)। एवं इस तत्त्वको जाननेवाला निष्पाप तथा राग-द्वेषजनित मोहसे मुक्त भगवद्भक्त भगवान्‌के शरण होकर भगवान्‌के समग्र रूपको जान जाता है (गीता ७। २८, २९, ३०)।

ऐसे ज्ञानी भगवत्प्राप्त महात्मा भक्तकी जो स्थिति है, उसकी भगवान्‌ने बड़ी प्रशंसा की है (गीता १२। १३ से १९)। भगवान्‌ने उसको अपना प्रिय भक्त कहा है; किंतु जो साधक उस ज्ञानी भक्तके लक्षणोंको लक्ष्य बनाकर उनके अनुसार श्रद्धापूर्वक साधन करता है, उसको तो भगवान्‌ने अपना अतिशय प्रिय बतलाया है; क्योंकि उसने भगवान्‌पर श्रद्धा-विश्वास करके अपने जीवनको भगवान्‌के लिये ही न्योछावर कर दिया है। भगवान् कहते हैं—

> ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
> श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥
>
> (गीता १२। २०)

'परंतु जो श्रद्धायुक्त पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतका निष्काम प्रेमभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं।'

जब केवल मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगानेसे ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है (गीता ८। ७; १२। ८), तब फिर जो सर्वस्व भगवान्‌के समर्पण करके सब प्रकारसे भगवान्‌को भजता है, उसके उद्धारमें तो कहना ही क्या है।

काकभुशुण्डिकी कामना

> जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू। मो पर करहु कृपा अरु नेहू॥
> मन भावत बर मागउँ स्वामी। तुम्ह उदार उर अंतरजामी॥
> अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव।
> जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥
> भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपासिंधु सुखधाम।
> सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम॥
>
> (रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण

(लेखक—अध्यापक श्रीअक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय एम्० ए०)

(१)

श्रीकृष्णकी जो जीवन-कथा महाभारत, भागवत, विष्णुपुराण तथा अन्यान्य पुराणों एवं उत्तरकालीन चिरस्मरणीय धार्मिक ग्रन्थों और काव्योंमें प्राप्त होती है, उससे ज्ञात होता है कि श्रीकृष्णका व्यक्तित्व कितना महान् और जटिल था, उतने महान् व्यक्तित्वका कोई पुरुष न तो इस धराधाममें उत्पन्न हुआ और न किसी ऐसे पुरुषकी कल्पना ही कभी मानव-मस्तिष्कमें आयी। यह तो मानना ही पड़ेगा कि बुद्ध, ईसा, चैतन्य आदि सभी विश्ववन्द्य महात्माओंके समान श्रीकृष्णके जीवन और चरित्रका चित्रण करनेमें भी इतिहास एवं प्रामाणिक परम्पराओंके साथ उत्कृष्टतम धार्मिक मनोभावोंसे उत्पन्न कल्पनाएँ भी जुड़ गयी हैं। परंतु ऐसी सारी स्थितियोंमें इन यथार्थ और आदर्श पुरुषोंके विषयमें जो सर्वसाधारणकी धारणाएँ हैं तथा हमारे लिये और समस्त मानव जातिके कल्याणके लिये जो उदाहरण और उपदेश आर्षग्रन्थोंमें वर्णनानुसार वे छोड़ गये हैं, उनका हमसे जीवनदायक सम्बन्ध है तथा सभी देशों और समस्त युगोंके नर-नारियोंके जीवनपर वे स्थायीरूपसे स्वस्थ, मंगलशील और उत्साहोत्पादक प्रभाव डालते हैं।

इस दृष्टिकोणसे श्रीकृष्ण हमारे सामने पूर्ण भगवत्ताके सर्वोच्च आदर्शकी अभिव्यक्तिके साथ-साथ सर्वथा पूर्ण तथा मानवताके सर्वोच्च आदर्शसे पूर्ण सर्वांगसुन्दर विग्रहके रूपमें प्रकट होते हैं। उनके भीतर मनुष्य और ईश्वर 'नर' और 'नारायण'के भाव पूर्णतया समन्वित हैं, कोई भी पक्ष न्यूनताको नहीं प्राप्त होता। इसीसे उनको 'नरोत्तम' या 'पुरुषोत्तम' अथवा 'नर-नारायण' कहते हैं। इस नरोत्तम, पुरुषोत्तम, नर-नारायण अथवा मानव-भगवान्‌की महान् और सुन्दर भावनामें आध्यात्मिक ज्ञानकी प्रथम श्रेणीमें अवस्थित भारतीय ऋषियों और भक्तोंने ईश्वर और मनुष्यके मिलनकी आध्यात्मिक विचार भूमिका अन्वेषण किया है। यहाँ भगवान् अपने सारे ऐश्वर्य और सौन्दर्यको लेकर मानव रूपमें अपने आपको प्रकट करते हैं और मनुष्य उनमें अपनी भगवत्ताका पूर्णरूपमें अनुभव करता है। मनुष्य और ईश्वरके बीच, सान्त और अनन्तके बीच, जागतिक अपूर्णता और दिव्य पूर्णताके बीच तथा जीव और ब्रह्मके बीचकी खाईं इन अवतारी पुरुषके द्वारा अद्भुत रीतिसे पाट दी जाती है। भगवान् यहाँ मानव-शरीरमें मानवी व्यापारों और भावनाओंको लेकर प्रकट होते हैं तथा मनुष्य-जीवनके सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्यको अभिव्यक्त करते हैं।

(२)

ऐतिहासिक पुरुषके रूपमें श्रीकृष्ण संसारके सर्वश्रेष्ठ गुरु थे। उन्होंने जो नैतिक और आध्यात्मिक साधनाकी प्रणाली बतायी, उसमें साम्प्रदायिकता, धर्मान्धता और कट्टरताका सर्वथा अभाव है और वैसी प्रणाली जगत्‌में पहले किसी धर्मगुरुके मस्तिष्कमें कभी नहीं आयी। वह सर्वथा व्यापक दार्शनिक भित्ति तथा परम गम्भीर अध्यात्म दृष्टिकी आधार-शिलापर अवस्थित है।

वह सार्वभौम—सर्वव्यापी है और सभी देशों और युगोंके नर-नारियोंके उपयुक्त तथा सभ्यता और संस्कृतिके सभी स्तरोंके लोगोंके लिये अनुकूल है। उनके सिद्धान्तकी अत्यन्त सारगर्भित, अत्यन्त विशद तथा अत्यन्त युक्तिपूर्ण व्याख्या का शुभदर्शन हमें गीतामें प्राप्त होता है, जिसको समस्त सत्यान्वेषी पुरुषोंने विश्वके सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक संगीतके रूपमें स्वीकार किया है। महाभारत, भागवत तथा दूसरे पुराणोंमें जो उनका सारा जीवन ऐतिह्य वर्णित है, वह उनके द्वारा प्रचारित दर्शन, आचार-शास्त्र तथा धर्मका अत्यन्त उज्ज्वल और सुन्दर दृष्टान्त है। उन्होंने भगवत्ताके अधिकारपूर्ण स्वरमें उपदेश किया है और जिन सत्योंका प्रतिपादन किया है, उनको मानवताके साधारण स्तरपर स्वयं आचरणमें लाकर प्रदर्शित भी कर दिया है। उन्होंने दिखला दिया है कि किस प्रकार भौतिक जीवनके साधारण कर्तव्योंका ईमानदारीसे पालन करते हुए मानव-आत्मा अपने भीतर स्थित ईश्वरत्वकी अनुभूति कर सकता है, किस प्रकार जीवन और उसके कर्तव्यके प्रति अपनी अन्तःप्रवृत्तिको बदलकर प्रतिदिनके साधारण-से-साधारण कर्मको भागवत कर्मके रूपमें परिणत किया जा सकता है। श्रीकृष्णने सदा अपनी अन्तश्चेतनामें अपने आनन्दमय दिव्य स्वरूपमें निवास करते हुए ही इस सांसारिक जगत्‌के मनुष्यके रूपमें अपने कर्तव्यका पूर्णतः पालन किया है।

श्रीकृष्णके द्वारा उपदिष्ट धर्म एक ही साथ व्यापक

धर्म' भी है और 'भागवतधर्म' भी। वह मानवत्व और ईश्वरत्वका सच्चा तथा महान् सम्मिलन है। अपने धार्मिक उपदेशोंमें श्रीकृष्णने विश्वके लोगोंकी अन्तर्दृष्टिके समक्ष मानवताकी एक अत्यन्त विशद और गौरवमयी धारणा प्रस्तुत की है। वे कहते हैं कि मनुष्य अपनेको केवल एक तुच्छ साधक ही न माने—जो बन्धन और दुःखसे संतप्त होकर मुक्तिकी चिन्तामें है और इस आपाततः असुन्दर मानव-जीवनसे छुटकारा पानेके लिये तड़प रहा है, बल्कि मनुष्यको चाहिये कि वह अपने सच्चे स्वरूपकी प्राप्तिको ही आदर्श माने। मनुष्य केवल कर्ता और उपासक ही नहीं है, वह स्वयं ही वह सत्य है जिसकी अनुभूति उसे इस व्यक्त जगत्में अपने व्यावहारिक जीवनमें ही करनी है। जीव, जैसा वह अपने आपको साधारणतया देखता है, आत्म-तत्त्वकी केवल एक आंशिक और अपूर्ण अभिव्यक्ति है।

श्रीकृष्णने मनुष्यके सामने मुक्ति या निर्वाणके आदर्शको अथवा मनुष्यत्वके पूर्ण उच्छेद, या जीवत्वसे पूर्णरूपसे छुटकारा पा जानेको मानव-जीवनके अन्तिम लक्ष्यके रूपमें प्रस्तुत नहीं किया है। जगत् पापमय है, लौकिक जीवन दुःखमय है, सुव्यवस्थित आध्यात्मिक साधनाके द्वारा मनुष्यकी अहं-चेतनाको नष्ट कर देना है अथवा उसे किसी निर्विशेष, निष्क्रिय सत् या अक्षर सर्वव्यापी निर्गुण तत्त्वमें विलीन कर देना है—इन विचारोंको वे प्रोत्साहित नहीं करते। उनके विचारसे प्रत्येक मनुष्यको पूर्ण ज्ञान, पूर्ण कर्म, पूर्ण शान्ति और पूर्ण सौख्य तथा पूर्ण प्रेम और पूर्ण आनन्दसे युक्त मानवताको अपने जीवनका लक्ष्य बनानेकी विशद भावना धारण करनी चाहिये। प्रत्येक व्यष्टि-मानवको समष्टि-मानव बनना है। उसे अपनी ही आत्मचेतनामें सार्वभौमता और निरपेक्षता, असीमता और चिरंतनता, सर्वव्यापी आनन्दमय सत् और सबको माधुर्यसे भर देनेवाले सौन्दर्य, पवित्रता तथा प्रेमकी अनुभूति करनी है; क्योंकि ये उसके सच्चे स्वरूपके प्रमुख गुण हैं। श्रीकृष्ण प्रत्येक मनुष्यसे कहते हैं—'अपने आपको जानो, अपने स्वरूपमें स्थित होओ और अपने व्यावहारिक जीवनमें ही अपने आपको पहचानो।'

जब मनुष्य इस जगत्में अपने यथार्थ 'मनुष्यत्व'का अनुभव कर लेता है, तब वह आत्म-अनात्मके भेदको लाँघ जाता है, वह सीमित अहंकी भावनासे ऊपर उठ जाता है और क्रमशः वह बन्धन और दुःखकी भावनासे मुक्त हो जाता है। वह तब सबमें अपनेको और अपनेमें सबको देखता है। अपनी आलोकित चेतनामें वह घृणा, द्वेष और भयसे रहित हो जाता है। विश्वात्माके साथ वह अपनी एकता-का अनुभव करता है और विश्व उसके सामने उसकी अन्तः-प्रकृतिके प्रेम, सौन्दर्य, आनन्द और कल्याणकी मुक्त आत्माभिव्यक्तिके लिये एक विशाल और मनोहर क्षेत्रके रूपमें उपस्थित होता है। उसके पारिवारिक और सामाजिक जीवनके सारे कर्म लीलारूपमें परिवर्तित हो जाते हैं, जिसमें लाभ और हानि, सफलता और विफलता, जय और पराजय—यहाँतक कि जीवन और मृत्यु भी उसको समानरूपसे सुन्दर लगते हैं। सारे जीवोंके साथ एकत्वका अनुभव जब उसकी चेतनाके लिये सहज स्वभाव बन जाता है, तब उसके सारे कर्म स्वभावतः समस्त जीवोंकी निःस्वार्थ सेवाका रूप ग्रहण कर लेते हैं और उनके आन्तर और बाह्य कल्याणमें सहायक होते हैं। इस प्रकारके अध्यात्मज्ञानकी अवस्थामें उसके कर्म अनिवार्यरूपसे लुप्त नहीं हो जाते, बल्कि वे उसके भीतरकी भागवती शक्तिके आत्माभिव्यञ्जनका रूप धारण कर लेते हैं और ऐसी दशामें वह स्वयं किसी प्रकारकी स्वार्थसिद्धि, अभिलाषा, चिन्ता या आवेशसे पूर्ण मुक्त होता है। वह अपने इस दिव्य लोकमें आनन्दपूर्वक क्रीडा करता है। श्रीकृष्ण अपने सांसारिक जीवनमें इसी पूर्ण पुरुषके रूपमें अभिव्यक्त होते हैं और संसारके आत्मविस्मृत नर-नारियोंके सामने इसको आदर्शरूपमें प्राप्त करनेके लिये उपस्थित करते हैं।

(२)

श्रीकृष्ण जहाँ एक ओर अपने व्यावहारिक जीवन तथा उपदेशोंमें सांसारिक पुरुषोंके सामने मानव आदर्शके विषयमें एक उच्च और उत्साहप्रद चित्र उपस्थित करते हैं, वहाँ दूसरी ओर वे ईश्वरको मनुष्यके बहुत समीप ला देते हैं। वे इस श्रेष्ठ सत्यका उपदेश करते हैं कि भगवान् अपने निर्विकार अगाह्य रूपके अलौकिक आनन्दका नित्य रसास्वादन करते हुए ही सदा लीलामय और नानात्वसे पूर्ण इस लोकमें नाना प्रकारसे आत्मक्रीडा करते हैं। यह विश्व-व्यापार ही उनकी भौतिक लीला है। यहाँ वे अपने-आपको अनन्त ससीम रूपोंमें व्यक्त करते हैं और उन सबके द्वारा तथा उन सबके भीतर आत्मानन्दका रसास्वादन करते हैं। भौतिक पदार्थ, सजीव प्राणी, मूढ़ पशु और बुद्धिमान् मनुष्य—इन सबमें उनकी आत्माभिव्यक्ति हो रही है और ये सब उनकी आत्म

मर्यादाके साधन हैं। जड प्रकृतिके नियम, प्राणि-विज्ञान और मानस-विज्ञानके नियम, नीति और धर्मके नियम, जो इस जगत्‌के विभिन्न व्यापारोंका मार्ग-संचालन एवं निर्धारण करते हुए पाये जाते हैं, वे अन्ततः उनकी पूर्णतया आध्यात्मिक और पूर्णतया मुक्त, पूर्णतया शुभ, पूर्णतया सौन्दर्यमय तथा श्रेष्ठ, पूर्णतया शुद्ध प्रेम और आनन्दमय प्रकृतिके लीलामय आत्माभिव्यञ्जनके नाना रूपोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। उनका अपना पूर्णतया स्वच्छन्द और अचिन्त्य संकल्प ही उनके काल देश और सापेक्षताके अपने लोकमें, सान्त और परिवर्तनशील जीवोंके असंख्य प्रकारके रूपोंमें आत्मास्वादन और आत्मप्रकाशनके प्रयोजनसे उनके पारमार्थिक स्वयं प्रकाशित अलौकिक स्वरूपके ऊपर विभिन्न प्रकारके आवरण और विक्षेप डाल देता है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण ईश्वरीय आत्माभिव्यक्ति, आत्मास्वादन और आत्मक्रीडाको सारे जागतिक कर्मोंमें, विश्व-विधानमें देखनेकी शिक्षा हमको देते हैं। वे सबमें परमात्माको और सबको परमात्मामें देखनेका उपदेश देते हैं। वे विभिन्न प्रकृतिके तथा विभिन्न श्रेणीके भौतिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकासवाले असंख्य मनुष्योंमें हमें यह देखनेकी शिक्षा देते हैं कि वे भगवान् ही विभिन्न उपयुक्त रूप धारण करके स्वरचित विश्व-ब्रह्माण्डके भीतर नाना प्रकारसे अभिनय कर रहे हैं। मनुष्यके विचार, संकल्प और क्रिया-सम्बन्धी स्वच्छन्दताकी अनुभूति, उसकी कर्तव्य और उत्तरदायित्वकी भावना, उसका सदसद्-विवेक, धर्माधर्म तथा उचित-अनुचितका विचार, उसकी अपूर्णताकी भावना तथा पूर्णताकी अभिलाषा—वे भी भगवान्‌के आत्मरसास्वादन और लीलामयी आत्माभिव्यक्तिके रूप-विशेष हैं। विभु, शाश्वत, आनन्दमय तथा लीलामय परमात्माकी अपने भीतर तथा अपने समस्त लौकिक अनुभवके विषयोंमें प्रत्यक्ष अनुभूति करनेसे ही मनुष्य पूर्णत्वको प्राप्त होता है।

समस्त मानव जातिके, समस्त पशु-जीवनके तथा जगत्‌के ईश्वरत्वको श्रीकृष्णने प्रकट कर दिया और यह दिखला दिया कि मनुष्यके लिये अपनी बौद्धिक तथा भावात्मक चेतनाको विशुद्ध एवं आध्यात्मिक बनाकर, एवं पारिवारिक तथा सामाजिक जीवनमें अपने संकल्प और भावनाको समुचित संयममें रखकर, अपने तथा इस जगत्‌के ईश्वरत्वका साक्षात् अनुभव करना सम्भव है। उनके दार्शनिक, नैतिक तथा धार्मिक उपदेशोंमें कहीं नैराश्यको स्थान नहीं मिला है, आत्मग्लानिको प्रोत्साहन नहीं दिया गया है, निराश होनेकी सम्मति नहीं दी गयी है तथा मनुष्यमें दुर्बलताकी भावना और सांसारिक शक्तियों तथा किसी सर्वशक्तिमान्‌के भी सामने असहाय होकर आत्मसमर्पण करनेकी प्रवृत्तिको कहीं समर्थन नहीं प्राप्त है। उनके कथनानुसार नैतिक और आध्यात्मिक आत्मसंयमकी साधनाका प्रथम सोपान है—तथा आत्मविश्वासका विकास और अपनेको तुच्छ समझनेकी भावना, दुर्बलता और नपुंसकताकी भावनासे मनको मुक्त करनेका प्रयास।

प्रत्येक मनुष्यमें—चाहे वह बाहरसे कितना ही बड़ा या छोटा हो, विद्वान् या मूर्ख हो, बलवान् या दुर्बल हो—उन्होंने दीप्त गौरवकी भावनाको जाग्रत् करनेकी चेष्टा की। यह गौरवका भाव जीवके ईश्वरत्वकी सतत स्मृति तथा गम्भीर अनुभूतिके ऊपर और उस जगत्‌के विधानपर जिसमें प्रत्येक मनुष्यको परमात्माके द्वारा निर्दिष्ट भाग अपना अभिनय करना है, आधारित है। प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह अपने साधारण-से-साधारण कर्तव्यका पालन करता हुआ अपने तथा जिनसे उसका काम पड़ता है, उन सभी मनुष्यों एवं अन्य जीवोंके आत्माकी स्वरूपगत पवित्रता, कल्याणमयता, अमरत्व, अनन्तत्व और सर्वशक्तिमत्ताको सदा स्मरण रखे। इस प्रकार अपने ईश्वरत्व तथा सबके ईश्वरत्वकी अनुभूतिकी साधना सब प्रकारके नैतिक गुणोंका प्रबल स्रोत बन जाती है और अपार शक्ति, निर्भयता तथा निश्चिन्त एवं आनन्दमय जीवनका उद्गम बनती है। जीव और जगत्‌के ईश्वरत्वकी इस भावनाका अभ्यासी किसी मनुष्यके विरुद्ध किसी पापमय और क्षुद्र प्रवृत्ति तथा भावना, किसी दूषित वासना और प्रवृत्ति अथवा किसी द्वेष या दुर्भावनाको मनमें स्थान नहीं दे सकता। वह किसी भी मनुष्य अथवा जीवका अहित या हानि नहीं कर सकता तथा सम्पर्कमें आनेवाले किसी प्राणीकी अवज्ञा नहीं कर सकता। उसका चित्त तथा व्यवहार स्वभावतः सभी मनुष्यों और सभी जीवोंके प्रति प्रेम और सहानुभूति, करुणा और सम्मानपूर्ण होता है। मानव-जातिकी बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक संस्कृतिके लिये जगद्गुरुरूपमें श्रीकृष्णकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन है—अपने इस विश्वमें ईश्वरत्वके ऊपर पड़े हुए पर्देको हटाना।

(४)

वैदिक ऋषियोंने भोगके आदर्शके ठीक विपरीत जीवनको नियमन करनेवाले शासन सिद्धान्तके रूपमें त्यागके आदर्श

की खोज निरर्थक । वैदिक ऋषियोंने यज्ञकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'स्वर्गादि ऊपरके लोकोंमें अक्षय सुखकी प्राप्तिके उद्देश्यसे कामोपभोगके अनित्य और सान्त विषयोंका त्याग ही "यज्ञ" है ।' बाह्य दृष्टिसे सामाजिक जीवनमें यह यज्ञ पारस्परिक सेवाका रूप ग्रहण करता है—समाजमें अपने मानव-बन्धुओंके कल्याण और सुखके लिये प्रत्येक व्यक्तिके द्वारा अपने पार्थिव स्वार्थोंके स्वेच्छापूर्वक त्यागका रूप ग्रहण करता है—जिसमें उन सारी विधियोंका पालन करना पड़ता है, जिनसे नम्रता और श्रद्धाकी भावना बढ़े और व्यावहारिक जीवन उन्नत होकर उन अदृश्य महान् शक्तियोंकी पूजा और भक्तिके जीवनमें बदल जाय, जो विश्व-व्यापारको नियममें रखकर संचालित कर रही हैं और इस जगत्में क्रमिक और उन्नत जीवनको सम्भव बना रही हैं । अथवा समाजके सामूहिक कल्याणके लिये यह व्यक्ति या वर्ग-विशेषद्वारा अपने वैयक्तिक या वर्गगत स्वार्थोंके धर्मानुकूल त्यागका रूप धारण करता है । यह यज्ञका बाहरी रूप है । आभ्यन्तर दृष्टिसे यज्ञका अर्थ है आत्माकी मुक्तिके लिये अपने क्षुद्र स्वार्थोंका बलिदान—जीवनके उच्चसे उच्चतर स्तरके दिव्य और शाश्वत आनन्दके उपभोगके हेतु नैतिक और आध्यात्मिक योग्यता प्राप्त करनेके लिये जीवनके निम्न स्तरके भोगोंका त्याग ।

वेदोंने अति प्राचीन कालमें संसारके सारे स्त्री-पुरुषोंके लिये उनके व्यावहारिक जागतिक जीवनमें सत्य धर्मके रूपमें यज्ञकी शिक्षा दी । उन्होंने यह भी सिखलाया कि यज्ञकी यह भावना शाश्वत रूपसे जगत्के विधानमें निहित है । वैदिक ऋषियोंकी दिव्य दृष्टिमें, जगत्में विकासकी क्रियाका सनातन नियमन भोगके सिद्धान्त—अस्तित्व और अधिकारके लिये संघर्ष तथा सर्वाधिक शक्तिशालीके विजयी होनेके सिद्धान्तपर अवलम्बित नहीं है, बल्कि यज्ञके सिद्धान्त—त्याग और पारस्परिक सेवाके सिद्धान्तपर अवलम्बित है । अतएव उन्होंने यज्ञके सिद्धान्तको सनातन धर्म अर्थात् जीवनके शाश्वत नियामक आदर्शका नाम दिया । तथापि व्यवहारमें यज्ञने नाना प्रकारके विधि-विधानोंका रूप ग्रहण कर लिया और यज्ञके मूल अभिप्रायके स्थानमें उन्हींपर लोग विशेष जोर देने लगे । कभी-कभी इसके कुछ बाह्य विधानोंके विरुद्ध सुधारकोंने विद्रोह भी खड़ा किया । कभी-कभी विधि-विधानकी जटिलताके कारण स्वयं यज्ञवादकी ही निन्दा की गयी ।

प्राचीन युगके योगियों और ज्ञानियोंने प्रवृत्ति-मार्गसे विलक्षण निवृत्ति-मार्गका उपदेश दिया था । उन्होंने सब प्रकारके पारिवारिक और सामाजिक कर्मोंको—चाहे वे कितने ही उदात्त और धर्मानुकूल क्यों न हों, दुःख और बन्धनका मूल माना; क्योंकि ये सब कर्म कामनामूलक होते हैं, मनुष्यकी वृत्ति और शक्तिको संसारके अनित्य एवं क्षणिक पदार्थोंमें लगाते हैं और जीवनको अधिकाधिक जटिल बनाते हैं । मनुष्य-मनुष्यके बीचमें भेद-भाव बढ़ाते हैं और उनके मूलमें रहनेवाली आध्यात्मिक एकतासे चित्तको हटाते हैं, जो सब प्रकारकी विभिन्नताओंका मूल आधार और वास्तविक तथ्य है; तथा बहुधा मनुष्यों और पशुओंकी हिंसामें भी निमित्त बनते हैं । त्याग-मार्गके उपदेशओंने विभिन्न प्रकारके तर्क एवं युक्तियोंद्वारा प्रतिपादित किया कि जो मनुष्य जीवनकी पूर्णता चाहते हैं, उन्हें समस्त पारिवारिक और सामाजिक जीवनका त्याग करना चाहिये, सारे वैदिक यज्ञोंका त्याग करना चाहिये, सारे सामाजिक और पारिवारिक कर्तव्योंको अस्वीकार कर देना चाहिये, बाह्य-जगत्से विमुख हो जाना चाहिये और संन्यास ग्रहण करके अपना सारा समय एवं शक्ति अन्तरात्मा तथा परम तत्त्वके गम्भीर चिन्तन तथा धारणा और ध्यानमें लगाना चाहिये ।' तदनुसार उन्होंने यज्ञके सिद्धान्तका खण्डन किया, जो पारिवारिक और सामाजिक जीवनके प्रति कर्तव्यभावनाके आधारपर अवलम्बित था तथा जिसका उद्देश्य यज्ञानुष्ठानके द्वारा जीवनको उच्च स्तरपर उठाना था । उन लोगोंने यज्ञको उन निम्न-श्रेणीके पुरुषोंके लिये लाभदायक समझा, जिनमें सांसारिक कामनाओं और आसक्तियोंको दबाने एवं नियन्त्रित करनेकी क्षमता नहीं होती तथा जो घर और समाजसे सम्बन्ध नहीं छोड़ सकते और न योग एवं ज्ञानके अभ्यासमें पूर्णतया अपने आपको लगा सकते हैं । उनके विचारसे यज्ञ कभी योग और ज्ञानके समकक्ष नहीं हो सकता और ये सर्वोच्च कोटिकी पारमार्थिक साधनाएँ पारिवारिक तथा सामाजिक जीवनके विभिन्न क्रिया-कलापके बीच रहकर नहीं हो सकतीं ।

श्रीकृष्णने यज्ञके सिद्धान्तकी एक सुन्दर और अभिनव व्याख्या की और कर्मोंको मानव-जीवनकी आध्यात्मिक पूर्णताका साधन बनाकर योग और ज्ञानके समकक्ष पहुँचा दिया । श्रीकृष्णके जीवन-दर्शनकी आधारभित्ति यह धारणा है कि मनुष्य स्वरूपतः परमात्मासे अभिन्न है तथा यहाँ मनुष्यको यथोचित अभिनय करना है, उस संसारमें भगवान् लीलासे अपनेको अभिव्यक्त करते हैं । इस जगत्में

निर्दिष्ट मानव-जीवनका आध्यात्मिक आदर्श है—आत्माके दिव्य स्वरूपकी तथा जगत्‌की प्रत्येक घटनामें प्रभुकी लीलाकी व्यावहारिक अनुभूति—इस ब्रह्माण्डके अन्तर्गत प्रत्येक जीवकी अर्थात् प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक देवता तथा प्रत्येक निम्नस्तरके प्राणीकी आत्मा और विश्वात्माके साथ अपने आत्माकी एकत्वकी अनुभूति।

विश्वके रूपमें भगवान्‌के इस आत्माभिव्यञ्जनकी योजनामें मनुष्यको यह योग्यता प्राप्त है कि वह मनोभावके अनुसार स्वेच्छापूर्वक काम कर सके और अपने जीवनके उद्देश्यकी पूर्तिके उपायों और युक्तियोंका निर्माण करे तथा अपने विवेक और इच्छा शक्तिके अनुसार अपने कर्तव्योंका पालन करे। इस प्रकार कर्म करना उसके लिये स्वाभाविक है। वह बिना कर्म किये मनुष्यरूपमें रह नहीं सकता। कर्मके रूप विभिन्न हो सकते हैं, विभिन्न मनुष्योंके लिये विभिन्न प्रकारके कर्म अनुकूल हो सकते हैं; क्योंकि उनकी शक्ति, स्वभाव तथा सामाजिक स्थिति विभिन्न प्रकारकी होती है। परंतु प्रत्येक मनुष्यको प्रभुके इस संसारमें अपने धर्मके अनुसार कर्म करना चाहिये, जो धर्म मनुष्यको परमेश्वरने अपनी इस लीला-भूमिके लिये प्रदान किया है। जो काम उसके लिये विहित है, उसको ठीक समझते हुए विशुद्ध बुद्धि एवं उदात्त उद्देश्यसे दृढ़ निश्चयपूर्वक करना चाहिये। परंतु उसकी कोई स्वार्थयुक्त कामना नहीं होनी चाहिये, न किसी दुर्भावनासे ही प्रभावित होना चाहिये और न अपने जीवनके लिये कर्मफलमें अनुचित आसक्ति ही होनी चाहिये। उसको भगवान्‌के लीला-क्षेत्रमें भगवान्‌के निर्देशानुसार एक कर्तव्य-परायण खिलाड़ी बनना चाहिये और अपनी क्रीड़ाके सारे कर्मोंको एकमात्र प्रभुके चरणोंमें अर्पण करते रहना चाहिये। उसको अपने कर्मोंकी सफलता विफलतासे विचलित नहीं होना चाहिये; क्योंकि सारे कर्म और उनके फलके अधिकारी वस्तुतः विश्व ब्रह्माण्डके एकमात्र सूत्रधार भगवान् हैं।

अपने कर्तव्योंका परम तत्परता और श्रद्धापूर्वक पालन करते हुए, बिना किसी कामना या अहंकारके केवल प्रभुकी पूजाकी भावनासे कर्म करे। मन ईश्वरमें लगा रहे, अपने सीमित कर्म-क्षेत्रमें वह सर्वत्र भगवान्‌की संनिधिका अनुभव करनेकी चेष्टा करे। मनुष्य निरन्तर याद रखे कि उसके अपने आत्मा और विश्वात्मामें वस्तुतः कोई भेद नहीं है। उसे चाहिये कि वह ईमानदारीके साथ अपने मानव-जीवनमें भगवान्‌के लीलाक्षेत्रमें भगवान्‌के लिये अपने स्वांगके अनुसार खेल खेले, उसमें यही माने कि भगवान्‌की ओरसे उसके लिये यही भगवत्पूजाका विधान बना है। सत्य है कि इस प्रकारसे अनुष्ठित कर्म बन्धन या दुःखका हेतु नहीं बन सकता। यह तो भगवान्‌के लिये, भगवान्‌के बन्दे भगवज्जनके द्वारा सम्पादित भगवान्‌का ही कर्म होता है। फिर भला, यह मनुष्यको कर्मोपभोगके ससीम और क्षणिक विषयोंमें कैसे बाँध सकेगा। कर्म नहीं, बल्कि अहंकारजन्य आकाङ्क्षाएँ तथा कामनाएँ और कर्मोंके अच्छे तथा बुरे फलोंकी आसक्ति और लोलुपता ही बन्धन और क्षोभका वास्तविक कारण है। भगवान् श्रीकृष्णने जिस प्रकारके कर्मका अनुष्ठान करनेके लिये कहा है, उनमें इन दोनोंका सर्वथा अभाव पाया जाता है। यहाँ कर्मको उदात्त बनाकर आध्यात्मिक स्तरपर ले आया जाता है और कर्मकी भावनामें ही भेद और ज्ञानके साधनका अन्तर्भाव हो जाता है। इस भावसे सम्पादित कर्म सहज ही लोक-कल्याणके हेतु बनते हैं। इनसे सारे समाजके कल्याणकी दृष्टिसे वैयक्तिक तथा सामूहिक स्वार्थोंका बलिदान तो अपने-आप होता है। कर्म यदि विश्वात्मा भगवान्‌की आराधनाके भावसे किये जाते हैं तो उससे विश्वका कल्याण ही होगा। भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा उपदिष्ट 'योग' का यही वास्तविक मर्म है। इसमें कर्म, ज्ञान और योगका—प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति-मार्गका व्यावहारिक समन्वय निष्पन्न होता है।

श्रीकृष्णने अपने जीवनमें तथा अपने उपदेशोंके द्वारा नारायणको नरका तथा नरको नारायणका रूप प्रदान किया है। भगवान् श्रीकृष्ण जिस भगवान्‌के स्वयं मूर्तरूप हैं तथा जिनका निरूपण उन्होंने मानव-समाजके सामने किया है, वे निरे गुणातीत एवं देश-कालातीत ब्रह्म नहीं हैं, जो मानवीय भावनाओंसे परे हों तथा सम्पूर्ण जागतिक व्यापारों एवं मनुष्यकी आवश्यकताओंसे उदासीन हैं। उन्होंने मनुष्यके सामने एक ऐसे भगवान्‌को उपस्थित किया है, जो अनादि, अनन्त, अपरिच्छिन्न एवं निर्गुण ब्रह्म होते हुए भी सतत क्रियाशील, सदा जागरूक, सदा आनन्दमय साकार विग्रह हैं, जिनमें सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, उत्तम-से-उत्तम, मानवीय वेदनाएँ और भावनाएँ निहित हैं, जो मनुष्योंके साथ मधुर सम्बन्धका निर्वाह करते हुए नाना प्रकारकी लीला करते हैं तथा जिनके भीतर वे स्वयं विभिन्न, असीम एवं गम्भीर रूपोंमें प्रकट होते हैं। वे ईश्वर सबमें व्याप्त होते हुए भी सबसे परे

हैं, एक ही साथ सगुण और निर्गुण दोनों हैं तथा पूर्ण शान्त, आत्मलीन और अविकारी होते हुए भी सदा कर्मरत, सतत लीलामय तथा ब्रह्माण्डमें सतत अपनेको व्यक्त करके विभिन्न रूपोंमें सदा अपना रसास्वादन करनेवाले हैं। वे महायोगेश्वर, महाज्ञानेश्वर, महाकर्मेश्वर तथा महाप्रेमेश्वर हैं। वे वेदनाओं एवं भावनाओंसे सदा परे होते हुए भी नित्य मधुरतम प्रेमी हैं, परम मनोहारी मित्र हैं, असीम करुणा और कृपासे पूर्ण प्रभु हैं। वे सबके मनोभावोंका समुचितरूपसे उत्तर देते हैं। मनुष्यको वे सर्वाधिक स्नेह करनेवाले माता-पिताके, परम अनुरागी सखा एवं क्रीडा-सहचरके, आवश्यकताके समय सहायताके लिये आतुर मित्रके तथा विपत्तिकालमें अत्यन्त कृपालु तथा समर्थ संरक्षकके रूपमें प्राप्त होते हैं। वे सबके स्नेहभाजन, सबके प्रशंसापात्र, सबके भयास्पद तथा सबके सम्मानके केन्द्र बनते हैं और सबके विभिन्न मनोभावोंका बिना चूके उत्तर देते हैं, उन्हें आध्यात्मिक रंग देते और पूर्णता प्रदान करते हैं। वस्तुतः उनका चरित्र वह अक्षय स्रोत है, जहाँसे सब मनुष्योंको अपनी परम विशुद्ध, परम सुन्दर, परम उन्नत तथा परम प्रभावोत्पादक भावनाएँ और उच्चाभिलाषाएँ प्राप्त होती हैं और इन्हीं भावनाओं एवं आकाङ्क्षाओंका ठीक-ठीक अनुशीलन करनेपर मानव-जीवन क्रमशः उन्नत होकर इसी दिव्य विश्व विधानमें भगवत्ताको प्राप्त होता है।

श्रीकृष्णने ईश्वरको मनुष्यके समक्ष एक आदर्श मानव—पुराण पुरुषोत्तमके रूपमें प्रस्तुत किया है और अपने जीवनके द्वारा यह दिखला दिया है कि प्रत्येक मनुष्य इस परम आदर्श को, इस पूर्ण मानवताको, जो भगवत्तासे अभिन्न है, यम-नियमके पालन तथा आभ्यन्तर एवं बाह्य प्रकृतिकी शुद्धिके द्वारा प्राप्त कर सकता है। उसकी यह प्रकृति आपाततः सीमित तथा पार्थिव आवरणोंसे आवृत होते हुए भी वस्तुतः दिव्य है। मानव-जीवनमें यह क्षमता है कि वह इस जगत्‌में ही अपना उत्थान करके उसे भागवत जीवनके रूपमें बदल सकता है। भागवत मानव शरीरमें जीवनकी अनुभूति प्रत्येक स्त्री-पुरुषकी समस्त सक्रिय चेष्टाओंका अन्तिम लक्ष्य होना चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्णने अनन्त दयामय ईश्वरको दीन और दुर्बलोंके सामने कर दिया, अनन्त करुणामय भगवान्‌को दुःखियों और दुष्कृतियोंके सामने, असीम क्षमावान् परमेश्वरको पापियों, भूल करनेवालों तथा अपराधियोंके सामने, मधुरतम प्रेममय प्रभुको कोमल-हृदय भक्तों तथा प्रेमियोंके सामने और पवित्रतम, कल्याणमय तथा आचारवान् ईश्वरको आचार-वादियोंके सामने लाकर खड़ा कर दिया। उन्होंने ईश्वरको सत्यान्वेषियोंके सामने आध्यात्मिक प्रकाश देनेवाले शाश्वत गुरुके रूपमें, अध्यात्मवादियोंके सामने मायातीत सच्चिदानन्द-घनरूपमें तथा योगियोंके सामने विश्वात्माके रूपमें उपस्थित कर दिया। भगवान् श्रीकृष्णने भक्तोंको यह शिक्षा दी है कि वे जगत्‌के सत्पुरुषों और महापुरुषोंके चरित्र तथा कर्मोंमें एवं प्रकृतिकी विभिन्न शक्तियों और दृश्योंमें अभिव्यक्त होनेवाले भगवान्‌के अनन्त सौन्दर्य, ऐश्वर्य और ज्ञानको देखें, उसकी उपासना करें तथा उनसे प्रेम करें। संसारमें मनुष्यों अथवा प्रकृतिके अंदर जो भी शक्तियाँ हमें प्रकट हुई दीखती हैं, वे सब ईश्वरीय शक्तिकी ही अभिव्यक्तियाँ हैं। सारा सौन्दर्य ईश्वरीय सौन्दर्यका ही प्रकट रूप है, सारे गुण ईश्वरीय शीलके प्रतिरूप हैं तथा मानव-समाज और बाह्य जगत्‌के सारे दृश्य ईश्वरीय लीला हैं। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने ईश्वरको सभी मनुष्योंके मन और हृदयके अत्यन्त समीप पहुँचा दिया।

सभी युगों और समस्त देशोंमें ईश्वरको अगणित प्रकारके सीमाबद्ध मरणशील जीवोंसे पूर्ण इस विस्तृत जगत्‌के सर्व-शक्तिमान् एवं सर्वज्ञ स्रष्टा, शास्ता और संहर्ताके रूपमें स्वीकार किया गया है। उनकी असीम शक्ति और बुद्धिमत्ता मनको चकरा देनेवाले इस जटिल और नाना रूपोंसे पूर्ण जगत्‌के अद्भुत सामञ्जस्य और नियमानुकूलतामें बहुत स्पष्टरूपसे अभिव्यक्त हो रही है। परंतु श्रीकृष्णके विचारसे जीवनकी चरितार्थताके लिये साधना करनेवाले तत्पर साधकको भगवान्‌का ध्यान करते समय उनकी असीम शक्ति और बुद्धिमत्ताको बहुत अधिक महत्त्व देनेकी आवश्यकता नहीं है। बल्कि उसको चाहिये कि वह भगवान्‌के असीम सौन्दर्य, माधुर्य तथा सर्वाङ्गपूर्ण नैतिक गुणोंपर मनको स्थिर करे तथा उनको अपने व्यावहारिक जीवनमें उतारनेकी चेष्टा करे, जिससे इसी मानव-शरीरमें वह दिव्य जीवनकी अनुभूति कर सके। पवित्रता, भलाई, माधुर्य, सत्यभाषण, प्रेम, दया, करुणा, अहंकारशून्यता, प्रसन्नता, लीलाप्रियता आदि तत्त्वतः ईश्वरीय गुण हैं। ये भगवती प्रकृतिमें पूर्णरूपमें सदा बने रहते हैं। जगत्‌के क्लेशोंके बीच रहते हुए भी मनुष्यको इन गुणोंको जानना और अपनाना चाहिये। आध्यात्मिक साधनाका साधक निरन्तर भगवान्‌का मधुर चिन्तन करके अपने अहंभावको भगवत्समर्पण करता रहे, भगवान्‌की स्तुति

तथा उनसे अनुराग करके, उनका आदेश समझकर भगवत्प्रेमसे प्रेरित होकर भगवान्‌के लिये आनन्द और लगनके साथ अपने कर्तव्य-कर्मोंका सम्पादन करता रहे और बाह्य जगत्‌के दृश्यों तथा मानव-समाजके क्रिया-कलापोंपर भगवान्‌की अलौकिक सुन्दरता, कल्याणप्रियता तथा आनन्दमयता और इनके प्रकाशमें विचार करते हुए अपने जीवनमें इन दैवी गुणोंका अनुभव निरन्तर बढ़ाता रहे।

भगवान् श्रीकृष्णने परम शक्तिशाली एवं तेजस्वी वैदिक देवताओंकी अपेक्षा मानव-वेषधारी भगवान्‌की महिमाको बहुत बढ़ा दिया है तथा ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, अग्नि, वायु तथा दूसरे महान् वेदोक्त देवताओंसे पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके रूपमें अभिव्यक्त दीप्तिमान् नररूप नारायणके सम्मुख नतमस्तक किया है। उन्होंने यह दिखला दिया कि मानवीय गुण और भाव आध्यात्मिक दृष्टिसे दैवी शक्ति और ऐश्वर्यसे कहीं बढ़कर हैं तथा बल और प्रतापके प्रदर्शनकी अपेक्षा मनुष्यत्वकी पूर्णतामें ईश्वरत्व अधिक दीप्त होकर प्रकाशित होता है। ऐसा नहीं है कि श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट तथा श्रीकृष्णके द्वारा निरूपित लोकोत्तम नरपति भगवान्‌में शक्ति और ऐश्वर्यका अभाव था। उनकी शक्ति असीम थी, उनका ज्ञान अनन्त था और उनमें तेज भी अपरिमित था। ये सब गुण इस विराट एवं जटिल विश्व-विधानकी रचना और संचालनमें स्पष्ट ही अभिव्यक्त होते हैं। परंतु अपने परम स्वरूपमें तथा मनुष्यके साथ अपने सम्बन्धमें वे अपनी असीम शक्ति, ज्ञान और ऐश्वर्यको पीछे रखकर सर्वोच्च, सुन्दरतम और मधुरतम मानवीय गुणों और आध्यात्मिक महत्ताओंको प्रकट करते हैं। भगवान्‌की परिपूर्ण सुन्दरता इसीमें है कि वह अपनी अनन्त शक्ति और महत्ताको छिपाकर अपने भक्तोंको अपनी [illegible] मनोवृत्तियोंके सम्मुख [illegible] पूर्णरूपसे प्रकट करता है और इस प्रकार मनुष्यको अपनी ओर आकर्षित करता है [illegible] परमात्माकी स्थितिपर पहुँचनेमें उसकी सहायता क[illegible]

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण इस बातके भूखे नहीं [illegible] जिसको उन्होंने विचार, संकल्प और [illegible] की है तथा जिसको अपना स्वभाव मुक्तसे [illegible] उसे नियन्त्रणमें रखनेकी शक्ति दी है—[illegible] सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ गुणातीत ब्रह्म [illegible] सर्वव्यापक तत्त्वमें दृढ़ श्रद्धा रखे, उसका ध्यान [illegible] भक्ति करे। बल्कि वे मायातीत चेतन पर [illegible] अपने साधारण व्यावहारिक जीवनमें [illegible] अपितु प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक प्राणी[illegible] रूपमें तथा अपने सबसे प्यारे मित्रके [illegible] अत्यन्त स्नेह करनेवाले माता-पिता तथा [illegible] अत्यन्त उदार संरक्षकके रूपमें, अत्यन्त [illegible] परोपकारी और अत्यन्त प्रसन्न साथ खेलनेवाले रूपमें प्रभुको देखे। मनुष्य प्रभुके साथ [illegible] उत्साहप्रद तथा उभारक सम्बन्ध स्थापित [illegible] जीवनके सभी छोटे-बड़े कार्योंमें प्रभुके [illegible] अस्तित्वका अनुभव कर सकता है। भगवान् [illegible] हैं कि प्रत्येक मनुष्य ईश्वरके लिये जिये और [illegible] काम करे, उनके प्रति अनुराग [illegible] अपनी शारीरिक, मानसिक, नैतिक, बौद्धिक [illegible] उन्नति करे और अन्तमें अपने आपको भगवान्‌[illegible] पूर्ण समर्पित कर दे तथा उनके साथ पूर्णतया [illegible] श्रीकृष्णने जिस धर्मकी शिक्षा दी है, वह न तो [illegible] है, न निरा आध्यात्मिक है, बल्कि उसका सार [illegible] व्यावहारिक जीवनके प्रत्येक विभागमें, इस जगत्‌में [illegible] ईश्वरका साक्षात्कार करना तथा प्रभुके साथ [illegible] तथा अपनी एकताकी आनन्दमय अनुभूति करना।

श्रीराधाजीसे प्रार्थना

रूठिनो हे वृषभानुदुलारि !
कृष्णप्रिया कृष्णगतप्राणा कृष्णा कीर्तिकुमारि ॥
नित्य निकुञ्जेश्वरि रासेश्वरि रसमयि रस-सागर ।
परम रसिक रसराजकी उज्ज्वल [illegible] ॥
हरिप्रिया आह्लादिनि हरि [illegible]
मेरे बनाए [illegible] निवेदन

मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम

(लेखक—स्व० राजा श्रीदुर्जनसिंहजी)

श्रीअवधेश-कुमार, कौसल्या-प्राणाधार, जानकी-जीवन, दैत्यदर्प-दलन, दशारि-गति-दायक, भक्त-जन-रञ्जन, दुष्ट-निकन्दन, जग-हितकारी, शरणागत-भय-हारी, भगवान् श्रीरामचन्द्र महाराजके परममङ्गलमय, श्रीजनककुमारी-हृदय-कञ्ज-भृङ्ग, श्रीसौमित्रि-कर-सरोज-लालित, पतितपावनी-श्रीसुरधुनी-प्रसूति-धाम पाद-पद्मोंसे जो इस देव-दुर्लभ वसुन्धराको पावन होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ, उसका मुख्य प्रयोजन मर्यादा-स्थापनद्वारा कर्तव्याकर्तव्य-विमूढ़ संसारको पथ-प्रदर्शन कराना था और इसी कारण श्रीभगवान् 'मर्यादा-पुरुषोत्तम'के शुभ नामसे अलंकृत किये जाते हैं।

इस महत्त्वपूर्ण और आदर्श अवतारका यह निमित्त प्रसिद्ध है और इसके मुख्य-मुख्य कल्याणप्रद चरित्रोंमें भी, जो मर्यादा-प्रतिष्ठार्थ उदाहरणीय समझे जाते हैं—जैसे साधुओंके परित्राण और दुष्टोंके विनाशद्वारा धर्मकी संस्थापना, गुरु-भक्ति, मातृ-पितृ-भक्ति, भ्रातृ-प्रेम, एकपत्नीव्रत, वर्णाश्रम-धर्म-पालन, राजनीति और प्रजारक्षा इत्यादि—उपर्युक्त प्रयोजन स्पष्ट प्रकट है। परंतु प्रत्येक चरित्रका क्या रहस्य है और उसके भावोंकी सीमा कहाँतक है, जो आदर्शरूपसे मर्यादा-प्रतिष्ठार्थ ग्रहण किये जा सकें—इसका परिचय बहुत थोड़े लोगोंको है। अतः यहाँ मुख्य-मुख्य चरित्रोंपर अनुक्रमसे किंचित् विचार किया जाता है।

(१) ऐसे उदाहरणीय पावन चरित्रोंका श्रीगणेश उस लोक-हित-लीला लीलासे होता है, जिसमें निम्नाङ्कित प्रतिज्ञाकी पूर्तिका आरम्भ हुआ है, जो आपके प्रत्येक अवतारके लिये अनादि-कालसे चली आ रही है—

> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

इसीके साथ इससे प्रजारक्षाका आदर्श भी प्रकट होगा। जब श्रीविश्वामित्रजी अपने यज्ञकी रक्षाके लिये दोनों मधुरमूर्ति भ्राताओंको साथ लिये आश्रमकी ओर यात्रा कर रहे थे, तब मार्गमें ताड़का नामकी विकराल राक्षसी अपने घोर रौद्र-नादसे समस्त वनप्रान्तको प्रकम्पित करती हुई इनकी ओर झपटी। उस समय श्रीभगवान्‌के सम्मुख धर्म-संकट उत्पन्न हो गया। एक ओर अपने उपास्य साधु-महात्माओंका निर्दय भक्षण और प्रजाका धर्षण करनेवाली आततायिनी पिशाचिनी—जिसके द्वारा देशके चौपट होनेकी कथा श्रीविश्वामित्रजीसे अभी सुन चुके हैं— वधका प्रश्न और दूसरी ओर स्त्री-जातिपर हाथ उठानेके लिये दोष-प्रासिका प्रतिबन्ध, जिसका आज भी पूर्ण प्रचार देखनेमें आ रहा है। किंतु साधु-महात्माओंके परित्राण और प्रजाकी रक्षाके भावका उस समय भगवान्‌के हृदयमें इतना उद्रेक हुआ कि उन्होंने उसी क्षण उस दुष्टाके संहारका कर्तव्य असन्दिग्धरूपसे निश्चित कर लिया। श्रीविश्वामित्रजी महाराजके निम्नलिखित उपदेशसे भगवान्‌के निश्चयकी पुष्टि भी हो गयी—

> नहि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम।
> चातुर्वर्ण्यहितार्थं हि कर्तव्यं राजसूनुना ॥
>
> (वा० रा० १ । २५ । १७)

'हे नरोत्तम! तुमको स्त्रीवध करनेमें ग्लानि करना उचित नहीं। राजपुत्रको चारों वर्णोंके कल्याणके लिये समयपर (आततायिनी) स्त्रीका वध भी करना चाहिये।'

> नृशंसमनृशंसं वा प्रजारक्षणकारणात्।
> पातकं वा सदोषं वा कर्तव्यं रक्षता सदा ॥
>
> (वा० रा० १ । २५ । १८)

'प्रजा-रक्षणके लिये क्रूर, सौम्य, पातकयुक्त और दोषयुक्त कर्म भी प्रजारक्षकको सदा करने चाहिये।'

जब साधु-महात्मा सताये जायँ और प्रजा पीड़ित की जाय, तब उस सतानेवाली और पीड़ा देनेवाली स्त्रीका वध भी अवश्य-कर्तव्य हो जाता है। पुरुष आततायी हो तो उसके लिये तो किसी विचारकी भी आवश्यकता नहीं।

इस चरित्रमें एक और गहरा रहस्य भरा हुआ है। श्रीभगवान्‌ने जो प्रथम ही स्त्रीका वध किया, इससे उन्होंने संसारको यही शिक्षा दी कि जो कोई भी प्राणी मनुष्य-जन्म धारण करके जगत्‌में धार्मिक जीवन निर्वाह करनेका संकल्प करे, उसके लिये प्रथम और प्रधान कर्तव्य यही है कि वह सद्बुद्धिके सदुपयोगद्वारा यथाशक्य मायाका दमन करे; क्योंकि मायाके जालमें फँस जानेके बाद धर्मकी वेदीपर अपने जीवनकी आहुति दे सकना मनुष्यके लिये असम्भव-सा है।

(२) क्षात्र-धर्मका क्या रहस्य है, यह इस विचित्र चरित्रसे प्रकट होगा। परम माङ्गलिक विवाहोत्सवके पश्चात् जब

श्रीविदेहराजसे विदा लेकर श्रीकोसल-नरेश अपने दल-बल-सहित अपनी राजधानी जगत्-पावनी अयोध्यापुरीको पधार रहे हैं, तब रास्तेमें क्या देखते हैं कि मस्तकपर जटा धारण किये और फड़कते हुए होठोंवाले भयंकर वीरवेषधारी भृगुकुलशिरोमणि श्रीपरशुरामजी उग्ररूप धारण किये श्रीरामके शिव-धनुष भङ्ग करनेपर अपना तीव्र क्रोध प्रकट करते हुए श्रीरामसे कह रहे हैं कि 'यदि तुम इस वैष्णव धनुषपर शर-संधान कर सको तो तुमसे मैं द्वन्द्वयुद्ध करूँगा।'

यहाँ भी विकट परिस्थिति उपस्थित है। एक ओर तो ऐसे पुरुषकी ओरसे, जिसने इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रिय-हीन कर दिया था और इस समय भी वैसे ही उग्र कर्मके लिये तैयार था,—इस प्रकारका युद्धाह्वान जिसे तनिक भी क्षात्र तेजवाला पुरुष एक क्षण भी सहन नहीं कर सकता और दूसरी ओर ब्राह्मणवंशके प्रति हृदयमें पूज्यभाव। अब यहाँ यदि एक भाव दूसरेको दबाता है अर्थात् यदि युद्धाह्वानको स्वीकार करके उनसे द्वन्द्वयुद्ध अथवा उनपर प्रहार करके उनके प्राण लिये जाते हैं तो पूज्य-भाव नष्ट होता है; और यदि पूज्यभावके विचारसे युद्धाह्वानके उत्तरमें उनके चरणोंपर मस्तक रखा जाता है तो क्षात्र तेजकी हानि होती है। अतः यहाँ ऐसी विचित्र क्रिया होनी चाहिये, जिससे दोनों भावोंकी रक्षा होकर दोनों पक्षोंका महत्त्व स्थिर रहे और एक भावका इतना आवेश न हो जाय कि वह दूसरेको दबा दे। अतः सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्‌ने इस जटिल समस्याके समाधानरूपमें कहा—

> वीर्यहीनमिवाशक्तं क्षत्रधर्मेण भार्गव।
> अवजानासि मे तेजः पश्य मेऽद्य पराक्रमम्॥
>
> (वा० रा० १।७६।२)

'हे भृगुवंशशिरोमणि! आपने एक वीर्यहीन और क्षात्रधर्म-के पालनमें असमर्थ मनुष्यकी तरह जो मेरे तेजकी अवज्ञा की है, इसके लिये आज मेरा पराक्रम देखिये।'

इतना कहकर श्रीरामने उनसे धनुष लेकर उसी क्षण चढ़ा दिया। तदनन्तर क्रोधयुक्त होकर कहा—

> ब्राह्मणोऽसीति पूज्यो मे विश्वामित्रकृतेन च।
> तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम्॥
> इमां वा त्वद्गतिं राम तपोबलसमर्जितान्।
> लोकानप्रतिमान् वापि हनिष्यामीति मे मतिः॥
>
> (वा० रा० १।७६।६-७)

'आप ब्राह्मण होनेके नाते मेरे पूज्य हैं, विश्वामित्रजीकी बहिन सत्यवतीके पौत्र हैं; इसलिये मैं आपके प्राण हरण करनेवाला बाण नहीं छोड़ सकता। किंतु मैं आपकी गतिका अथवा तपोबलसे प्राप्त होनेवाले अनुपम लोकोंका विनाश करूँगा।'

इस अमितप्रभावान्वित चरित्रका मुख्य उद्देश्य यही है कि जब हृदयमें दो भावोंका एक ही साथ संघर्ष हो, तब दोनोंको इस प्रकारसे समझानेमें ही बुद्धिमानी है, जिसमें एक-का दूसरेके द्वारा पराभव न हो जाय, दोनोंकी रक्षा हो। साथ ही धर्मका भी नाश न होने पावे। यहाँ सामान्यतया सभी वर्णोंके लिये और विशेषतया क्षत्रियोंके लिये इस मर्यादाके रक्षाका उपदेश है। वह यह है कि चित्तमें कितने भी क्षात्रभाव उत्पन्न हों, कितनी ही क्रोधाग्नि धधके, किंतु इससे जिनमें पूज्य या आदर-बुद्धि है, वह नष्ट नहीं होनी चाहिये, साथ ही अपना क्षात्र तेज भी सुरक्षित रहना चाहिये। इस मर्यादाका अनुकरण किसी अंशमें महाभारत-युद्धमें भी हुआ था। यहाँ शङ्का उत्पन्न होती है कि 'रावण भी तो ब्राह्मण ही था, फिर श्रीभगवान्‌ने उसको कुलसहित क्यों मार डाला? उसने तो केवल धर्मपत्नीका ही हरण किया था, श्रीपरशुरामजीने तो इक्कीस बार क्षत्रियोंका विनाश किया और इस समय भी वे स्वयं भगवान्‌का संहार करनेकी बुद्धिसे ही यहाँ आये थे। द्वन्द्वयुद्धका यही तो प्रयोजन था।'

इस शङ्काका समाधान करनेके लिये श्रीपरशुरामजीके चरित्रका कुछ परिचय आवश्यक है। एक बार श्रीपरशुरामजी-के पिता अरण्यसेवी ब्रह्मनिष्ठ तपस्वी श्रीजमदग्निजीकी सर्व-स्वरूपा हविर्धानी गौको सहस्रबाहु अर्जुन जबरदस्ती छीनकर ले गया। परशुरामजीने युद्धमें उसका वध करके अपनी गौ छुड़ा ली। तदनन्तर सहस्रार्जुनके पुत्रोंने एकान्त पाकर जमदग्निका वध कर डाला। पूज्य पिताकी इस प्रकार हत्या होनेपर परशुरामजीकी क्रोधाग्नि भड़क उठी और इन्होंने इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय करनेका संकल्प कर लिया।

परशुरामजी भी श्रीभगवान्‌के ही अवतार थे। अतएव इस कार्यको करके उन्होंने दुष्कृतियोंको ही दण्ड दिया था, अतः दुष्कृति रावणके साथ इनकी तुलना नहीं हो सकती। इन दोनोंके आचरण परस्पर सर्वथा विपरीत थे। हाँ, यह अवश्य है कि श्रीपरशुरामजीका संकल्प क्रोधावेशमें सीमासे बाहर चला गया था; परंतु इस प्रकारके आवेशके निरोधकी शक्ति केवल श्रीमर्यादा-पुरुषोत्तममें ही थी, जिन्होंने किसी भी भाव या आवेशको मर्यादासे बाहर नहीं जाने दिया।

(३) धर्मयुक्त शुद्ध राजनीति क्या है, इसका चित्र भी श्रीभगवान्‌की इस धर्मनीति लीलाके द्वारा पूर्णरूपसे प्रकट होता है।

जब महारानी श्रीकैकेयीने कोपभवनमें प्रवेश करके श्रीदशरथ महाराजको दो वरदानरूपी वज्रोंसे छेदकर मूर्च्छित कर दिया, तब भगवान्‌ने वहाँ उपस्थित होकर इसका कारण पूछा। उस समय कैकेयीने यह संदेह करके कि श्रीराम इतना स्वार्थत्याग सहज-में ही कैसे करेंगे, उन्हें कोई स्पष्ट उत्तर न देकर पहले उनसे प्रतिज्ञा करवानेका प्रयत्न किया। उत्तरमें श्रीभगवान्‌ने ये स्मरणीय आदर्श वचन कहे—

> तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम्।
> करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥
> (वा० रा० २।१८।३०)

'माता! महाराजने तुमसे जो कुछ माँगा है, वह मुझे बतला दो। मैं उसे सम्पादन करनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ। रामका यह सिद्धान्त स्मरण रखो, राम दो बात नहीं कहता। अर्थात् उसने जो कुछ कह दिया सो कह दिया; फिर वह उसके विरुद्ध नहीं करता।'

कैसी महत्त्वपूर्ण वचन-पालनकी प्रतिज्ञा है! विचारिये—एक ओर अनेक भोग-विलासोंसे पूर्ण विस्तृत विशाल राज्यके सिंहासनकी अभिरुचि और दूसरी ओर शीत, आतप, अवघट मार्ग, राक्षस, हिंसक पशु आदि अनेक विघ्न-बाधाओंसे युक्त, कल्पनातीत क्लेश सहन करते हुए, एकाकी अरण्य-सेवन! इस जटिल समस्यामें जिस राजनीतिके बलपर अनेक रचनाएँ रची गयीं और आजकल भी जिसे कहीं पालिसी (Policy) और कहीं डिप्लोमेसी (Diplomacy) कहते हैं, जो केवल छल-प्रधान होती है और जिसमें प्रकट कुछ और ही किया जाता है तथा भीतर कुछ और ही रहता है, यहाँ उसके द्वारा साम, दान, दण्ड और भेदरूप चतुर्विध नीतिका प्रयोग करके युक्ति और चतुराईसे काम लेनेका प्रयोजन कोई ऐसा उपाय सोच निकालना ही होता, जिससे सिंहासनका स्वार्थ हाथसे न जाय। किंतु श्रीरामके परम पवित्र हृदयमें राजनीति और धर्म दो रूपमें नहीं थे। वहाँ तो राजनीतिका अर्थ ही धर्मसे अविरुद्ध' निश्चित था और धर्मकी दृष्टिसे एक अयोध्याका तो क्या, चौदह भुवनका साम्राज्य भी मृगमरीचिका ही है। इससे सिद्ध होता है कि स्वधर्मका लोप करके स्वार्थ-साधन करना मनुष्यमात्रके लिये निषिद्ध है; फिर राजापर तो नर-पति होनेके नाते प्रजाकी सब प्रकारकी रक्षा करनेका दायित्व है। धर्मात्मा राजा कभी स्वार्थमें लिप्त नहीं हो सकता। यथार्थ राजनीति वही है, जिससे धार्मिक सिद्धान्तोंका खण्डन न होकर व्यवहारकी सुन्दरता हो जाय। अर्थात् साम, दान, दण्ड और भेदरूप नीतिके द्वारा ऐसी युक्ति और निपुणतासे काम लिया जाय, जिससे व्यवहार भी न बिगड़ने पावे और धर्मका विरोध भी न हो। छल-प्रतारणादि-प्रधान कुटिल बुद्धिसे किसी व्यवहारको सिद्ध भी कर लिया, तो यह वस्तुतः कूटनीतिका कार्य पापमें परिणत होकर मनुष्यको नरकमें ले जाता है। इसके लिये श्रीयुधिष्ठिर महाराजका उदाहरण प्रसिद्ध है। जिनकी आजन्म दृढ़ सत्यनिष्ठा रही, उन्हें युद्धके अवसरपर दूसरोंके अनुरोधसे केवल एक बार और वह भी दबे हुए शब्दोंमें अन्यथा बोलनेके कारण दुःखप्रद नरकका द्वार देखना पड़ा।

(४) भ्रातृप्रेमकी पराकाष्ठा देखना चाहें तो इस कथा-मृतका पान कीजिये—

जब चित्रकूटमें यह सूचना पहुँची कि श्रीभरतजी चतुरङ्गिणी सेना लिये धूमधामसे चले आ रहे हैं, तब लक्ष्मणजीने क्रोधावेशमें भरतजीको युद्धमें पराजित करनेकी प्रतिज्ञा कर डाली। भगवान् श्रीराम तो उसको सुनते ही सन्न हो गये। बड़ी विकट परिस्थिति है। एक ओर वह प्यारा सरल भाई है, जो सर्वस्व त्यागकर अनन्यभावसे सेवामें तत्पर है और इस क्षण भी सांनिध्यमें ही उपस्थित है, एवं दूसरी ओर वह प्रिय भ्राता है, जो समीप नहीं है और जिसकी माताकी क्रूरताके कारण ही आज वनवासका दारुण दुःख सहना पड़ रहा है, परंतु जिसके साथ परस्पर परम गूढ़ और अनिर्वचनीय प्रेम है। सामान्यरूपसे जगद्-व्यवहारानुकूल अपरोक्षपर ही विशेष ध्यान दिया जाता है। किंतु श्रीभगवान्‌का हृदय ऐसी मुँहदेखी बातोंको कब स्पर्श कर सकता था। वहाँ तो परोक्ष-अपरोक्ष दोनों ही समान हैं। ऐसी दशामें अपने प्रेमीके विरुद्ध श्रीरामको एक शब्द भी कैसे सहन हो सकता था! विरुद्ध शब्दोंके कानमें पड़ते ही प्रेमावेशसे तत्काल उत्तेजित होकर श्रीरामने प्यारे भाई श्रीलक्ष्मणके खिन्न होनेकी कुछ भी परवा न करके ये वचन कह ही डाले—

'भाई लक्ष्मण! धर्म, अर्थ, काम और पृथ्वी—जो कुछ भी मैं चाहता हूँ, वह सब तुम्हीं लोगोंके लिये। यह तुमसे मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ। भरतने तुम्हारा कब क्या अहित किया है, जो तुम आज ऐसे भयाकुल होकर भरतपर संदेह कर रहे हो! तुमको भरतके प्रति कोई अप्रिय या क्रूर वचन नहीं

कहना चाहिये। यदि तुम भरतका अपकार करोगे तो वह मेरा ही अपकार होगा। यदि तुम राज्यके लिये ऐसा कह रहे हो तो भरतको आने दो। मैं उससे कह दूँगा कि तुम लक्ष्मणको राज्य दे दो। भरत मेरी बातको अवश्य ही मान लेंगे।'

यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि श्रीभगवान्‌का श्रीलक्ष्मणजीके प्रति उतना प्रेम नहीं था। उनका तो प्राणिमात्रमें प्रेम है, फिर अपने अनन्य सेवक प्यारे कनिष्ठ भ्राता लक्ष्मणके लिये तो कहना ही क्या है। यहाँ जो क्षोभ हुआ है, यह वास्तवमें लक्ष्मणजीपर नहीं है। उनके हृदयमें जो विकृति उत्पन्न हो गयी थी, उसीको निकालनेके लिये श्रीभगवान्‌का यह कठोर यत्न है। भगवान्‌के वचन सुनते ही श्रीलक्ष्मणजीका मनोविकार नष्ट हो गया। इस प्रकार अन्य प्राणियोंके साथ भी किया जाता है। श्रीभगवान्‌को किसीसे तनिक भी द्वेष नहीं है। सबके आत्मा होनेके कारण वे तो सबके आत्मरूप हैं। केवल अङ्कुरित विकृतियोंको ही वे यथोचित दण्डादि विधियोंके द्वारा नष्ट किया करते हैं।

(५) अब नास्तिकवादको किसी प्रकार भी न सह सकनेका एक अभ्रान्त दृष्टान्त सुनिये। श्रीभरतजीने जब चित्रकूट पहुँचकर श्रीभगवान्‌को अवधपुरी लौटाकर राज्याभिषिक्त करनेके अनेक यत्न किये, अनेक प्रार्थनाएँ कीं और श्रीवसिष्ठजी आदि ऋषियोंने भी अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार परामर्श दिया, तब उन ऋषियोंमें जाबालि ऋषिका मत सनातनधर्मसे नितान्त विरुद्ध प्रकट हुआ। नमूनेके लिये एक श्लोक लीजिये—

> स नास्ति तव कश्चिद्धि स मन्यं तस्मान्माता पिता चेति राम सज्जेत यो नरः।
> उन्मत्त इव स ज्ञेयो नास्ति कश्चिद्धि कस्यचित्॥
>
> (वा० रा० २।१०८।४)

'हे राम! अतएव यह माता है, यह पिता है—यों समझकर जो इन सम्बन्धोंमें लिप्त होता है, उसे उन्मत्त-जैसा जानना चाहिये। क्योंकि कोई किसीका नहीं है।' ऐसे ही और भी धर्मविरुद्ध बातें थीं। श्रीभगवान्‌के लिये यह अतिशय जटिल प्रसङ्ग था। एक पक्षमें था घोर नास्तिकवाद और दूसरेमें उसको प्रकट करनेवाले अपने कुलपूज्य ऋषि। श्रीभगवान् बड़े ही ब्रह्मण्य थे। फिर जाबालि ऋषि तो कुलके आदरणीय एवं उपास्य हैं। ऐसे महानुभावके प्रति श्रीरामके अगाध हृदयमें विकृत भाव कब उत्पन्न हो सकते थे। परंतु धर्मके नितान्त विरुद्ध शब्दोंने—जिनका आशय श्रीभगवान्‌को सत्यसे विचलित करना था—हृदयमें परिवर्तन कर दिया। श्रीभगवान्‌ने उस समय मर्यादा-रक्षार्थ नास्तिकवादका तीव्र विरोध करना ही उचित समझा और तिरस्कारपूर्वक ऋषिके प्रति जो कुछ क[हा] उसका एक वचन यह है—

> निन्दाम्यहं कर्म कृतं पितुस्तद्
> यस्त्वामगृह्णाद् विषमस्थबुद्धिम्।
> बुद्ध्यानयैवंविधया चरन्तं
> सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम्॥
>
> (वा० रा० २।१०९।३३)

'इस प्रकारकी बुद्धिसे आचरण करनेवाले तथा प[क्के] नास्तिक और धर्ममार्गसे हटे हुए आपको जो मेरे पिता[जी]ने याजक बनाया, मैं उनके इस कार्यकी निन्दा करता हूँ। क्यों[कि] आप अवैदिक दुर्मार्गाश्रित बुद्धिवाले हैं।'

आखिर, जाबालिके यह कहनेपर कि 'मैं नास्तिक नहीं हूँ, केवल आपको लौटानेके लिये ऐसा कह रहा था' और वसिष्ठजी[के] द्वारा इसका समर्थन किये जानेपर भगवान् शान्त हुए। [ए]क और मनके उत्कट भावोंके आवेशमें नास्तिकवादकी [अवज्ञा]की सीमा यहाँतक पहुँची कि पितृभक्तिमें बँधे हुए श्रीरामने जो पूज्य पिताके सत्यकी रक्षाके लिये आज अनेक संकट स[ह] कर रहे हैं, पिताके कार्यके प्रति भी अश्रद्धा प्रकट की। [इस] जो मर्यादा स्थिर की गयी, उसका प्रत्यक्ष उद्देश्य यही है कि मनुष्यको अन्य सब विचार त्यागकर नास्तिकभावोंका [ती]व्र विरोध करना चाहिये।

(६) अब गुरुभक्तिके गहातल्यमय पावन प्रस[ङ्ग]पर विचार कीजिये।

यों तो कुल-उपास्य श्रीवसिष्ठ महाराजका महत्त्व स्थान-स्थानपर प्रकट है ही। प्रत्येक धार्मिक और व्यावहारिक कार्यों उनकी प्रधानता रही है, जो गुरुभक्तिका पूर्ण प्रमाण है। परंतु देखना तो यह है कि विकट समस्या उपस्थित होनेपर अन्य उदाहरणीय चरित्रोंकी तरह गुरुभक्तिके प्रबल भाव[ों] ही हृदयमें साम्राज्य होकर उसकी अनन्यता किस विशेष चरित्रके द्वारा सिद्ध हो सकती है।

खेदसे कहना पड़ता है कि श्रीवाल्मीकि-रामायण मर्यादा-रक्षाके इस एक मुख्य अङ्गकी पूर्तिमें असमर्थ रही। उसमें कहीं भी ऐसा प्रसङ्ग नहीं है, जिसके द्वारा इसको सिद्ध कि[या] जा सके। प्रस्तुत चित्रकूटमें तो उपर्युक्त प्रसङ्गमें जब श्रीगु[रु] महाराजने बड़े प्रबल हेतुवादके द्वारा श्रीभरतजीके पक्ष[का] समर्थनकी चेष्टा की, तब दूसरोंकी भाँति उनका कथन भ[ी] भगवान्‌ने स्वीकार नहीं किया।

श्रीरामचरितमानसने अपनी सर्वाङ्गपूर्णता सिद्ध करते हुए चित्रकूटकी लीलामें ही इस मर्यादाकी भी यथेष्ट रक्षा की है।

श्रीवसिष्ठजी महाराज भरतजीका पक्ष लेकर भगवान्से कहते हैं—

सब कें उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।
पुरजन जननी भरत हित होइ सो कहिअ उपाउ॥

इसपर भगवान्ने जो उत्तर दिया, वह गुरुभक्तिकी पराकाष्ठा है—

सुनि मुनि बचन कहत रघुराऊ। नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ॥
सब कर हित रुख राउरि राखें। आयसु किएँ मुदित फुर भाषें॥
प्रथम जो आयसु मो कहुँ होई। माथें मानि करौं सिख सोई॥

विचारिये—कहाँ तो पितृभक्तिके निर्वाहार्थ वनवासके लिये आप इतने दृढ़ हो रहे थे कि यदि कोई उसके विरुद्ध कहता था तो उसे तुरंत उचित उत्तर दे दिया जाता था; परंतु आज गुरुदेवकी आज्ञाके सम्मुख श्रीभगवान्ने अपना वह संकल्प सर्वथा ढीला कर दिया। गुरुभक्तिकी इससे अधिक क्या मर्यादा हो सकती है।

(७) भ्रातृभक्तिकी परम सीमाका यह उत्तम उदाहरण सुनने योग्य ही है—

पञ्चवटीमें श्रीजानकीजीसहित दोनों भ्राता सुखपूर्वक बैठे परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं। तब श्रीलक्ष्मणजीने श्रीभरतजीकी प्रशंसा करते हुए कहा—

भर्ता दशरथो यस्याः साधुश्च भरतः सुतः।
कथं नु साम्बा कैकेयी तादृशी क्रूरदर्शिनी॥
(वा० रा० ३।१६।३५)

'जिनके पति श्रीदशरथजी महाराज और पुत्र साधुस्वभाव भरतजी हैं, वह माता कैकेयी ऐसी क्रूर स्वभाववाली कैसे हुई?'

यहाँ भी एक ओर वही प्राणपणसे सेवामें तत्पर 'अलीक वचन बोलनेवाले' कनिष्ठ भ्राता हैं और दूसरी ओर वही विमाता, जिसके कारण यह सारा उत्पात और विघ्न हुआ। परंतु जो कुछ भी हो, मातृभक्तिके भावोंने हृदयमें इतना उत्कट रूप धारण किया कि माताके विरुद्ध एक भी वचन उन्हें सहन नहीं हुआ। श्रीभगवान्ने कहा—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु॥
(वा० रा० ३।१६।३७)

'हे भाई! तुमको मँझली माताकी निन्दा कदापि नहीं करनी चाहिये। इक्ष्वाकुकुलश्रेष्ठ भरतजीकी ही बात कहनी चाहिये।'

इससे अधिक मातृभक्तिकी मर्यादा और क्या हो सकती है।

(८) मित्रधर्म और स्वामिधर्म दोनोंकी पराकाष्ठाके विचित्र चित्रके दर्शन निम्नाङ्कित एक ही मर्मस्पर्शी लीलामें हो जाते हैं।

भगवान्के निर्मल, विचित्र और मर्यादापूर्ण चरित्रोंमें तीन ऐसे हैं, जिनके विषयमें उनके यथार्थ स्वरूपकी अनभिज्ञताके कारण अबोध मनुष्य प्रायः आक्षेप किया करते हैं। इन तीनोंमें एक बालि-वधकी लीला है।

अन्य पुरुषोंकी तो बात ही क्या, स्वयं बालीने भी श्रीभगवान्को उलाहना दिया है। उसके आक्षेपोंके उत्तरमें अनेक प्रकारसे समाधान किया गया है। किंतु इनमें सबसे मुख्य समाधान निम्नाङ्कित है।

जिस समय सुग्रीवसे मित्रता करके श्रीभगवान्ने प्रतिज्ञा की थी, उसी समयके वचन हैं—

प्रतिज्ञा च मया दत्ता तदा वानरसंनिधौ।
प्रतिज्ञा च कथं शक्या मद्विधेनानवेक्षितुम्॥
(वा० रा० ४।१८।२८)

'मैंने सुग्रीवको जो वचन दिया था, उस प्रतिज्ञाको अब कैसे टाल सकता हूँ।'

विचारिये—बालीने साक्षात् श्रीभगवान्का कोई अपराध नहीं किया था, किंतु वह उनके मित्र सुग्रीवका शत्रु था। अतः उसको अपना भी शत्रु समझकर उसके वधकी तत्काल प्रतिज्ञा की गयी। यही तो मित्र-धर्मकी पराकाष्ठा है। मित्रका कार्य उपस्थित होनेपर अपने निजके हानि-लाभका सारा विचार छोड़ उसका कार्य जिस प्रकार भी सम्भव हो, साधना चाहिये। इसीलिये मित्रके सुख-सम्पादनार्थ उसके शत्रु-रूप भ्राताका वध किया गया। इस बातके समझनेमें तो अधिक कठिनता नहीं है; किंतु जिस बातपर मुख्य आक्षेप होता है, वह यह है कि 'बालीको युद्धाह्वानद्वारा सम्मुख होकर धर्मपूर्वक क्यों नहीं मारा?' इस शङ्काका समाधान श्रीवाल्मीकीय या मानस दोनों रामायणोंके मूलसे नहीं होता। टीकाओंके निर्णयानुसार यथार्थ बात यह थी कि बालीको एक मुनिका वरदान था कि सम्मुख युद्ध करनेवालेका बल उसमें आ जायगा, जिससे उसके बलकी वृद्धि हो जायगी। इस दशामें भगवान्के लिये एक जटिल समस्या आ खड़ी हुई। बालीको प्रतिज्ञा पालनार्थ अवश्य मारना है। यदि [illegible] धैर्यपूर्वक

से काम लेते हैं तो उस वरदानकी महिमा घटती है, जो उन्हीं-की भक्तिके बदले मुनिने दिया था और यदि वरदान-की रक्षा की जाती है तो धर्मपूर्वक युद्ध न होनेसे पापकी प्राप्ति और जगत्में निन्दा होती है। इस समस्याके उपस्थित होते ही स्वामिधर्मके भाव हृदयमें इतने प्रबल हो गये कि भगवान्ने अपने धर्माधर्म और निन्दा-स्तुतिके विचारको हृदयसे तत्काल निकाल, अपने जनका मुख ऊँचा करना ही मुख्य समझ, उस सुग्रीवसे लड़ते हुए बालीको बाणसे मारकर गिरा ही तो दिया।

इससे यही मर्यादा निश्चित हुई कि स्वामीको कोई ऐसी चेष्टा नहीं करनी चाहिये, जिससे अपनी स्वार्थ-सिद्धिके द्वारा अपने दास या सेवकका महत्त्व घटे। इस विषयपर सत्य हृदय और निष्पक्ष बुद्धिसे विचार करना चाहिये कि श्रीभगवान्-का धर्मयुक्त कार्य वरदानकी महिमाको क्षीण करते हुए सम्मुख धर्मयुद्ध करना होता या जब हुआ है, जिसमें अपने निजका विचार हृदयसे निकालकर केवल अपने जनके वरकी प्रतिष्ठा रखी गयी!

(९) अब शरणागत-वत्सलताके महत्त्व-निरूपणका प्रसङ्ग देखिये।

जिस समय विभीषणजी अपने भ्राता रावणसे तिरस्कृत होकर श्रीरामदलमें आये, उस समय श्रीभगवान्ने अपने सभी समीपस्थोंसे सम्मति ली। उनमें हनुमान्को छोड़कर अन्य किसीका मत विभीषणके अनुकूल नहीं हुआ। बात भी ऐसी ही थी। अकस्मात् आये हुए साक्षात् शत्रुके भाईका सहसा कैसे विश्वास हो। किंतु इन सब विचारोंको हृदयमें किञ्चित् भी स्थान न दे शरणागत-वत्सलताके भावके वशीभूत हो श्रीरामने सहसा अपना निश्चय इस वचनके द्वारा प्रकट कर दिया, जो शरणागतिका महावाक्य समझा जाता है—

> सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
> अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
> (वा० रा० ६ । १८ । ३३)

'जो एक बार भी शरण होकर तथा यह कहकर कि मैं तुम्हारा हूँ, मुझसे रक्षा चाहे, उसे मैं समस्त भूतोंसे अभय कर देता हूँ—यह मेरा व्रत है।'

(१०) लोकमतका क्या मूल्य है और राजाको लोकहितकी कितनी आवश्यकता है, इस प्रमुख विषयपर यह दृढ़हृदयग्राही लीला पूर्ण प्रकाश डालेगी। इसी घटनासे पातिव्रत-धर्म और एकपत्नीव्रतका आदर्श भी सिद्ध होगा। बालि-वध-लीलामें कहा गया था कि भगवान्की तीन लीलाओंपर आक्षेप होता है। उनमें दूसरी यह है। किंतु यह आक्षेप ऐसे मनुष्योंके द्वारा होते हैं, जिनमें इस कराल कालके पूर्ण विकृतियाँ आ गयी हैं। इस परम संयोगका मुझे ऐसे रामायणोंके दर्शन तो होंगे ही क्योंकि, जो प्रजाके आन्तरिक भाव जाननेका यत्न करके उनके कष्ट, क्षोभ या असन्तोषको यथाशक्य दूर करनेकी चेष्टा करें। ऐसे भी तो नहीं हैं जो खुले रूपसे धर्मपूर्वक आन्दोलनके द्वारा प्रकट होनेवाले लोकमतका भी आदर करें। आजकल तो ऐसे प्रकाशका उलटा दमन होता है। आजकलकी नीतिके अनुसार तो मान का पात्र वही समझा जाता है, जो अपने प्रबल संगठनद्वारा राज्यको प्राप्त करे। बस, ऐसी ही क्षुद्र नीतियोंका अनुभव करके लोग इन उदार चरित्रोंपर तुरंत कुतर्क करनेको तैयार हो जाते हैं और यह नहीं सोचते कि उस रामराज्यमें लोक-मतके आदरकी सीमा इतनी ऊँची थी कि वह आजकलके संकीर्ण विचारवालोंकी कल्पनातकमें नहीं आ सकती। प्रत्युत वे तो उसमें उलटे दूषण लगाते हैं। उस समय प्रजाके सबके हितके लिये कैसा भी कठिन साधन बचाकर नहीं रखा जाता था। इसका एक सर्वोत्तम उदाहरण यह है। एक दिवस कुछ हास्यकार पुरुष हास्यविनोदद्वारा श्रीभगवान्को रिझा रहे थे। उसी प्रसङ्गमें श्रीभगवान्ने उनसे पूछा कि 'नगरमें हमारे सम्बन्धकी क्या बातें हुआ करती हैं?' उनसे निवेदन किया गया कि 'सेतुबन्धन, रावण-वधादि अद्भुत कार्योंकी पूर्ण प्रशंसा है; किंतु इस प्रकारकी चर्चा भी नगरमें हो रही है कि रावणने जिन श्रीसीताजीको अङ्कमें लेकर उनका हरण किया और जिन्होंने उसके घरमें निवास किया, उनको जब महाराजने स्वीकार कर लिया, तब अब हम भी अपनी स्त्रियोंके ऐसे कार्योंको सहन करेंगे।'

श्रीभगवान्को यह सुनकर परम खेद हुआ। उन्हें अपनी आदर्श पतिव्रता सहधर्मिणीकी पूर्ण पवित्रताका अटल निश्चय था। बल्कि रावण-विजयके अनन्तर उनको अपने समीप बुलाकर कठिन अग्निपरीक्षा भी करा ली गयी थी और उसमें वह सबके समक्ष लंकेकी घोर उत्तीर्ण हुई थीं। इस प्रकार अपनी पत्नीके सर्वांगत् निष्कलङ्क सिद्ध होते हुए भी केवल लोकमतका महत्त्व बढ़ानेके लिये मर्यादा पुरुषोत्तम ने अपनी उस प्राणप्रियाके—जिसका मन स्वप्नमें किञ्चित् कामीय

वियोग ही सर्वथा असह्य हो गया था—परित्यागका ही पूर्ण निश्चय कर लिया।

कहिये, लोकमतका इससे अधिक आदर क्या हो सकता है। और इसी कारण ऐसा त्याग किया गया, जिससे अधिक सम्भव ही नहीं। परंतु इसमें मुख्य तथा विचारणीय बात यह है कि यहाँ निरे थोथे लोकमतका ही आदर नहीं किया गया है, इसमें परम लोकहित भी अभिमत था; क्योंकि संसारकी दृष्टि अन्तर्वर्ती हेतुओंके तहतक न पहुँच केवल परिणामपर रहती है। अतः श्रीजानकीजीका जैसा शुद्ध चरित्र था, उसकी सर्वथा उपेक्षा करके स्थूलदृष्टिके द्वारा यही प्रसिद्ध हो गया कि जब रामने राक्षसोंके वशमें प्राप्त हुई पत्नीको ग्रहण कर लिया, तब प्रजा भी राजाका ही अनुकरण करेगी। विचारिये, यदि श्रीभगवान् अपने हृदयको पाषाण बनाकर श्रीजानकीजीका त्यागरूप उग्र कार्य न करते तो सदाचारको कितना भयानक धक्का पहुँचता! सभी स्त्रियाँ श्रीजानकीजीके तुल्य ऐसे कठिन पातिव्रतधर्ममें दृढ़ नहीं रह सकतीं। विशेषकर कलियुग-सरीखे समयमें। सच पूछा जाय तो यह आदर्श आजकल-से समयके लिये नहीं था, क्योंकि आज तो सदाचारका सर्वथा लोप होकर संसारमें धर्मविरुद्ध विचारोंकी यहाँतक प्रबलता है कि लोग विवाह-संस्काररूप मुख्य संस्कारके बन्धनोंको भी छिन्न-भिन्न करवानेके लिये राज्यसे कानून बनवा रहे हैं। इस कराल कालमें योनि-पवित्रता तो कोई वस्तु ही नहीं रही। इसके कारण देश थोड़े ही समयमें वर्णसंकर-सृष्टिसे व्याप्त हो जायगा। श्रीभगवान्‌के इस दूरदर्शितापूर्ण चरित्रसे पातिव्रतधर्म और एकपत्नीव्रतकी भी पूर्ण पराकाष्ठा प्रमाणित हुई। श्रीजानकीजीकी, जबतक वे श्रीभगवान्‌के साथ रहीं, पूर्ण अनुरक्तता प्रकट ही है और अन्तमें भी उन्होंने स्वामीकी आज्ञाका पालन करते हुए ही घोर यातना सहकर शरीर-त्याग किया। साथ ही श्रीभगवान्‌ने भी कभी अन्य स्त्रीका संकल्प भी हृदयमें नहीं किया और वियोगके पश्चात् ब्रह्मचर्यमें ही अपनी लीला सम्पन्न की।

उपर्युक्त इस पवित्र चरित्रोंसे जो मर्यादा स्थिर की गयी है, उसका यथामति दिग्दर्शन कराया गया।

अन्तमें इतनी बात और प्रदर्शित करनी आवश्यक है कि सामूहिक रूपसे इस लेखमें प्रतिपादित समस्त चरित्रोंसे या अन्योंसे भी, जिनका उल्लेख यहाँ नहीं हुआ है, यह परम अनुकरणीय मर्यादा और निश्चित होती है कि प्रारब्धवशात् कितनी भी आपत्तियोंके आनेपर भी मनुष्यको पुरुषार्थहीन होकर कभी भी लक्ष्यच्युत नहीं होना चाहिये। विचारिये, श्रीरामकी परम दारुण आपत्तियाँ राज्यसिंहासनके त्याग या वनवासमें ही समाप्त नहीं हुईं, किंतु यहाँतक पीछे पड़ीं कि प्राणसे प्यारी धर्मपत्नीका भी वियोग हो गया और वह भी सामान्यरूपसे नहीं, एक विकट और प्रबल राक्षसके हरण-द्वारा। परंतु जितनी जितनी अधिक भीषण आपत्तियाँ आयीं, उतने-ही-उतने अधिक पुरुषार्थके लिये उनका उत्साह होता गया। अतः प्राणीमात्रके जीवनकी सफलताके लिये श्रीभगवान्‌के द्वारा यह सर्वोच्च शिक्षारूप मर्यादा स्थिर की गयी है कि जितनी अधिक आपत्तियाँ आयें, उतना ही अधिक पुरुषार्थ किया जाना चाहिये।

भगवान्‌को भक्त सबसे अधिक प्रिय हैं

भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी। तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

(रामचरित० उत्तर०)

श्रीभगवान्‌का रूप चिन्मय है

(लेखक—डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

जिस प्रकार ज्ञान और आनन्द आदि श्रीभगवान्‌के स्वरूपभूत गुण हैं, उसी प्रकार कर-चरण-नयन-वदनादिमान् रूप भी उनका स्वरूप ही है; क्योंकि श्रुतिने इसे भी उनका स्वरूप ही बताया है।

भगवद्विग्रह स्वाभाविक है—स्वरूपात्मक है; आगन्तुक, परकीय, प्राकृत, त्रिगुणमय नहीं है। साम्प्रदायिक सिद्धान्तमाला-में यह प्रश्नोत्तर प्रचलित है—'किमात्मिका भगवतो व्यक्तिः ? यदात्मको भगवान्। किमात्मको भगवान् ? ज्ञानात्मको भगवान्।' इससे भी यही सिद्ध होता है कि भगवद्-व्यक्ति भगवद्-स्वरूप ही है।

श्रीभगवान्‌का सौन्दर्य-सार-सर्वस्व, अवाङ्मनस-गोचर दिव्य रूप श्रुति-शास्त्रोंका एकमात्र लक्ष्य है। परमहंस महा-मुनिजन उसी श्रीविग्रहके चरणोंके चिन्तनमें लीन रहा करते हैं। यह श्रीविग्रह अत्यन्त विनिर्मल है। यदि कहीं भी दोष-धातु-मलका संनिवेश होता तो सेरोंके संत गोस्वामी तुलसी-दासजी एक बार रामा-विरक्त होकर दुबारा रामानुरक्त क्यों होते ?

जिस प्रकार पाषाण-प्रतिमाका उपादान पाषाण है, उस प्रतिमाके चरण-वदनादि अवयव पाषाणमय हैं, उसी प्रकार ईश्वरके चिद्घन-विग्रहका उपादान चैतन्य है, उसके चरण-वदनादि अङ्ग-प्रत्यङ्ग भी चैतन्यमय हैं।

जिस प्रकार लोकमें माता-पितासे 'भवपरस्परसम्भूत' सृष्टि होती है, उसी प्रकार श्रीमन्नारायण-भगवान्‌से ब्रह्मदेव का जन्म नहीं होता। उनके तो नाभि-सरोरुहसे ही पद्मासन ब्रह्मदेवका आविर्भाव शास्त्रमें वर्णित है। ईश्वर-विग्रहमें इन्द्रियचिह्न भक्त-जन-ध्येय होनेके कारण, लौकिक पुरुषके स्तनके समान, केवल सौन्दर्य-विधायी होते हैं। लोकमें देखा जाता है कि जन्म-समयमें बालक-बालिकाओंके स्तनांग एक-से होते हैं। बालिकाओंके स्तन, उनके प्रसवसमय होने पर बालकोंके पोषक होते हैं; किंतु बालकोंके स्तन उनके प्रसवपरक होनेपर, स्तनन्धयोंके पोषक न होकर केवल सौन्दर्य-विधायी ही होते हैं। श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहमें भी उपस्थोपस्थिति भक्तजनोपध्येय होनेके कारण, केवल सौन्दर्य-निमित्तक है।

भगवान्‌के विग्रहका 'सच्चिदानन्द' नामका अप्राकृत 'सत्' है। इसी सत्‌को 'शुद्ध सत्त्व', 'शुद्ध तत्त्व', 'विशुद्ध सत्त्व', अथवा 'विशुद्ध तत्त्व' कहा जाता है; न कि प्राकृत सत्त्वगुणके किसी अंश-विशेषको। शास्त्रने भगवान्‌में प्राकृत गुणोंका निषेध किया है—

सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः।

कर-चरणादिमान् भगवद्-रूपके भगवद्-स्वरूप होनेके कारण उस रूपका सत्, सत्स्वरूप आदि शब्दोंसे निर्देश करना उचित ही है। इसी प्रकार उसको चित्, चिन्मय, संवित्, ज्ञानमय, आनन्दमय आदि शब्दोंसे अभिहित करना भी शास्त्रीय ही है। ऐसे सभी शब्दोंके भावको लक्षित करनेके लिये भक्तजन 'सच्चिदानन्दघन' शब्दका प्रयोग किया करते हैं, जिसका अर्थ है—सच्चिदानन्दकी मूर्ति। घन शब्दका अर्थ है मूर्ति—

घनो मूर्तौ। (महाभाष्य ३ । ३ । ७७)

भक्तिमें अपार शक्ति

(रचयिता—साहित्य-वाचस्पति पं० श्रीदीनानाथजी चतुर्वेदी, शास्त्री 'सुमनेश')

त्याग ती प्राप्त की सोसक है, पुनि पोसक मानहु चित्त की भार है।
प्यार असार है जीव को हार, समाधि में सासम को निरधार है॥
बासना सिंधु महा 'सुमनेस' लु, ताकी सजोर बिसैली बयार है।
उक्ति सजुक्ति विमुक्ति की मुक्ति, विरक्ति तें भक्ति में सक्ति अपार है॥

भक्तिके परम लक्ष्य—भगवान् नारायण

भगवान्‌की दिव्य गुणावली

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य)

भगवान्‌की दिव्य गुणावलीका वर्णन यथार्थतः कौन कर सकता है ? वही, जिसको भगवान्‌के असीम अनुग्रहसे उनके विमल निरञ्जन रूपकी एक भव्य झाँकी प्राप्त हो गयी हो। इस प्रत्यक्ष अनुभवके अभावमें शास्त्र ही हमारे एकमात्र सहायक हैं। शास्त्र भी तो महर्षियोंके प्रातिभ चक्षुके द्वारा निर्धारित तथा अनुभूत तथ्योंके प्रतिपादक ग्रन्थ हैं और उनका महत्त्व भी इसी बातमें है कि ये ऋषियोंकी विविध अनुभूतियोंके तात्त्विक परिचायक हैं। शास्त्रके वचनोंका ही सम्बल लेकर यह दीन लेखक इस महनीय प्रयासके लिये यहाँ तत्पर है।

दिव्यगुणोंपनिकेतन सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्‌के गुणोंकी इयत्ता नहीं—अवधि नहीं। उनके गुणोंकी गणना न तो कोई कर सका है और न भविष्यमें ही उसे करनेकी किसीमें क्षमता हो सकती है। श्रीमद्भागवतका स्पष्ट कथन है कि लगातार अनेक कल्पोंतक प्रयत्न करनेसे भूमिके कणोंको कोई गिननेमें भले ही समर्थ हो जाय, परंतु उस अखिलशक्तिधामके गुणोंको गिन डालना एकदम असम्भव है। बात यह है कि भगवान् स्वयं अनन्त हैं और उनके गुण भी उसी प्रकार अनन्त हैं—

> यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ता-
>
> ननुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः।
>
> रजांसि भूमेर्गणयेत् कथंचित्
>
> कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः॥
>
> (श्रीमद्भा० ११ । ४ । २)

भागवतके एक दूसरे स्थल (१० । १४ । ७) में भी इसी विशिष्टताका निर्देश अन्य उदाहरणोंकी सहायतासे किया गया है।

भगवान्‌का शरीर कितना सुन्दर तथा मधुर है ! उनके शरीरसे निकलनेवाली प्रभाकी तुलना एक साथ उगनेवाले करोड़ों सूर्योंकी चमकके साथ की जाती है—'कोटिसूर्यसमप्रभः।' गीतामें भी इस विशिष्टताका उल्लेख है—

> दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
>
> यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः॥
>
> (११ । १२)

इस पद्यका 'सहस्र' शब्द भी अनन्त संख्याका ही बोधक माना जाना चाहिये। आकाशमें यदि हजारों सूर्य एक साथ उदय हो जायँ तो वह प्रकाश भी भगवान्‌के प्रकाशकी समता किसी प्रकार नहीं पा सकेगा। हमारी भौतिक आँखें इस एक कलाधारी सूर्यको एकटक देखनेमें चौंधिया जाती हैं, तो उस दिव्य रूपका दर्शन क्यों कर सकती हैं। इसीलिये तो भगवान्‌ने अपने ऐश्वर्यको देखनेके लिये अर्जुनको दिव्य नेत्र प्रदान किये थे—

> दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥
>
> (गीता ११ । ८)

भगवान् करोड़ों चन्द्रमाके समान शीतल हैं (कोटिचन्द्रसुशीतलः) तथा वे करोड़ों वायुके समान् महान् बलशाली हैं (वायुकोटिमहाबलः)। भगवान् सौन्दर्य तथा माधुर्यके निकेतन हैं। उस पुरुषकी अलौकिक शोभा क्या कही जाय, जिसे लक्ष्मी अपने हाथमें कमल धारणकर स्वयं खोजती फिरती है। कौन लक्ष्मी ? वही लक्ष्मी, जिसे संसार पागल होकर ढूँढ़ता फिरता है। आशय यह है कि निखिल प्राणियोंके द्वारा खोजी जानेवाली लक्ष्मी भी जिसके पीछे पागल होकर भटकती फिरती है, भला, उस व्यक्तिके रूप-सौन्दर्यकी, आकर्षणकी सीमा कहाँ। उसके अलौकिक माधुर्यकी इयत्ता कहाँ। वह स्वयं सौन्दर्य-सुधा-सागर चन्द्रमा अपनी रूपसुधाको छिटकाता हुआ जब मस्तीमें आकर झूमता निकलता है, तब भला, उसके असम्य सौन्दर्यकी कहीं तुलना है। भागवतकार अपनी मस्तीमें बोल उठते हैं—

> नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद्
>
> दुःखच्छिदं ते मृगयामि कंचन।
>
> यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया
>
> श्रियेतरैरङ्ग विमृग्यमाणया॥

इसीलिये ये 'साक्षान्मन्मथमन्मथः' की उपाधिसे विभूषित किये जाते हैं। तुलसीदासके शब्दोंमें ये 'कोटि मनोज लजावनिहारे' हैं। एक कामदेव नहीं, करोड़ों कामदेव जिनकी सुन्दरता देखकर लज्जित हो जाते हैं, वे भगवान् कितने सुन्दर होंगे—इस विषयमें तो भावुकोंकी भी बुद्धि कल्पनाकी दौड़में आगे नहीं बढ़ती, दूसरोंकी तो बात ही क्या। ऐसे श्यामके ऊपर गोपिकाओंका रीझना कुछ अचरजकी बात नहीं

रूपमें पूर्णतया जागरूक है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अपने श्रीमुखसे इस 'उपेक्षाभाव' का रहस्य समझाया है। रासपञ्चाध्यायीमें गोपियोंके प्रश्नका श्रीकृष्ण बड़ा ही उदार उत्तर देते हैं—

> नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
> भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।
> यथाधनो लब्धधने विनष्टे
> तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥
>
> (श्रीमद्भा० १०।३२।२०)

'हे गोपिकाओ! यह ठीक है कि मैं अपने भजनेवाले जनोंको भी कभी-कभी नहीं भजता। इसका क्या कारण है? इसका कारण मनोवैज्ञानिक है। मेरी ओरसे उनके प्रेमकी ज्यों ही प्रतिक्रिया आरम्भ होती है, उनका प्रेम छलकने लगता है। इसलिये मैं अपनी झलक एक बार दिखलाकर अन्तर्हित हो जाता हूँ, जिससे मेरे पानेकी उनकी अभिलाषा तीव्रसे तीव्रतर बन जाय—जिस प्रकार किसी दरिद्रको कहींसे मिली हुई मणि यदि गायब हो जाती है तो वह उसके पानेके लिये एकदम बेचैन हो उठता है।' अध्यात्मजगत्में भी ठीक यही बात है। इस प्रकार गोपियोंकी उपेक्षा करनेमें भगवान्का कोमल हृदय यही चाहता था कि भगवान्के प्रति उनका प्रेम और भी बढ़ता चला जाय। इस भावनाके भीतर नैष्ठुर्यकी कल्पना कथमपि सम्भव है? नहीं, कभी नहीं। भगवान् भक्तोंके पराधीन रहते हैं। भागवतका कहना है—

> सत्याशिषो हि भगवंस्तव पादपद्म-
> माशीस्तथानुभजतः पुरुषार्थमूर्तेः ।
> अप्येवमर्य भगवान् परिपाति दीनान्
> वाश्रेव वत्सकमनुग्रहकातरोऽस्मान् ॥
>
> (श्रीमद्भा० ४।९।१७)

भगवान्का चरणारविन्द ही अलभ्य लाभ है। उसकी प्राप्तिके अनन्तर प्राप्तव्य कुछ रहता ही नहीं; तथापि भगवान् स्वयं ही अनुग्रह करनेके लिये कातर रहते हैं और भक्तोंके कल्याण-साधनके लिये उसी प्रकार उतावले बैठे रहते हैं, जैसे रँभानेवाली गाय अपने दुधमुँहे बच्चेकी ओर। इस उपमाके भीतर कितनी व्याकुलता है। भगवान्के हृदयमें भक्तोंके लिये कितनी व्याकुलता भरी रहती है—इसका अनुमान इस उपमाके सहारे किया जा सकता है। इसीलिये भगवान् भक्तोंके कल्याणार्थ उन सब रूपोंको धारण करते हैं, जिनकी भक्त अपनी बुद्धिसे कल्पना करता है—

> यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
> तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ।
>
> (श्रीमद्भा० ३।९।११)

इस प्रकार भगवान्का अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग दोनों इतने सुन्दर तथा कोमल हैं कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसी अलौकिक गुणावलीके कारण ही तो त्रिगुणातीत मुनिजन भी भगवान्के स्वरूपके ध्यानमें मस्त होकर काल-यापन करते हैं—

> आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
> कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥

श्याम निकट बुलाते हैं

मायाके बाजारमें अँगार चुगते हो तुम, द्वार पै तुम्हारे सुधा-धार ढरकाते हैं,
तुम उनके हो, वे तुम्हारे—इसी नाते सदा मूल अपराध राधावर अपनाते हैं।
लेनेको समोद गोद उत्सुक अनाथ-नाथ, हाथ किंतु उनके उठे ही रह जाते हैं,
हाय! रे अभागे जीव! भागे फिरते हो तुम, दूर हट जाते, श्याम निकट बुलाते हैं॥

पूनोंकी तुम्हारी मुसक्यानें, छटा छाई दिव्य, अन्तर न आज कोई शरद्-वसन्तमें,
कान खोलो, ध्यान दे तनिक सुन तो लो सही, मृदु मुरलीका स्वर गूँजता दिगन्तमें।
तोड़ बन्धनोंको, छोड़ जगके प्रपञ्च चलो, प्रीतिकी पुकार उठी अपनी अनन्तमें,
फिर पिछड़े तो चिर बिछुड़े रहोगे अरे! आशा नहीं रासकी, निराशा होगी अन्तमें॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

भक्तिका स्वाद

(लेखक—डा० श्रीसुरेशचन्द्रजी [illegible], एम्० ए० डी०, लिट्०)

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥
(रामचरितमानस)

तुलसीदास पहुँचे हुए संत और सच्चे भक्त थे। पूरा रामचरितमानस लिखनेके बाद अन्तमें उन्होंने अपने जीवनभरका अनुभव इस दोहेमें टाँक दिया है। इस दोहेमें जैसे वे अपने मनोवैज्ञानिक संघर्षका निचोड़ रख गये हैं। इसमें उपदेशकी भाषा नहीं, आत्मनिरीक्षणकी शब्दावलीमें कुछ ऐसा मँहगा सत्य कहा गया है, जो प्रायः सर्वत्र नहीं मिलता। कामी पुरुषको जैसे नारी प्रिय लगती है—इस एक उपमामें गुसाईंजीने भक्तिकी पूरी मीमांसा कर दी है। कामी व्यक्तिके मनकी छटपटाहटको कहकर या लिखकर नहीं बताया जा सकता। उसे अन्यसे सुनकर ज्ञान लेनेका भी उपाय नहीं है। वह तो हरेकके निजी अनुभवकी बात है। कामका डंक जिसे न लगा हो, ऐसा कौन शरीरधारी हो सकता है। स्त्री या पुरुषके मनोभावोंमें काम-वासनाका सबसे अधिक प्रबल स्थान है। इस वासनामें जो अपने प्रियके लिये राग होता है—हृदयकी वह व्याकुलता, मिलनेकी वह तीव्र इच्छा, यही कामानुगा भक्ति है। इस मनोदशामें व्यक्ति अपने व्यक्तित्वका कोई अंश बचा नहीं रखता। वह प्रियतमाके लिये अपने सर्वोत्तम समर्पण स्वेच्छा और प्रसन्नतासे करता है। उसमें उसे अलौकिक आनन्दकी प्राप्ति होती है।

गुसाईंजीका कहना है कि चित्तकी यही अवस्था जब स्त्री-विशेषके लिये न रहकर प्रेम, रूप और शक्तिकी समष्टि किसी दिव्यतत्त्व या रामके लिये हो जाय तो यही सर्वोत्तम भक्तिकी मनोदशा है। इस मनोदशाका विश्लेषण करें तो यह वह अवस्था है, जिसमें मानवीय आत्मा सुराकी खोज अपनेसे बाहर संसारके किसी विनाशात्मक केन्द्रमें नहीं करती। वरं जिस चैतन्य तत्त्वसे उसका विकास हुआ है, उसीसे मिल जानेके लिये वह कामातुर मनकी-सी व्यग्रता प्राप्त करती है। यही भक्ति-का उत्कृष्ट रूप है। उसीमें रसकी उपलब्धि है। मनकी उस दशामें अपने आपसे जूझना नहीं पड़ता। वह तो एक भीतरसे स्वतः आनेवाली प्रेरणा होती है, जो अधिकार किए रहती है। वस्तुतः भाव है—भूख खोलने एक दो मनेकी आवश्यक ही भक्ति-जनित आनन्दकी परम अनुभूति है।

पाँच भूतोंसे बने हुए संसारमें रहकर पञ्चविषयोंमें रम करनेवाली पाँच इन्द्रियोंको साथ रखकर कौन यहाँ आकर्षणसे बच सकता है और किसका मन अछूता रह है। पाँच विषयोंमें भी स्त्रीरूपी विषयकी शृङ्खलाएँ सबसे दृ हैं। उनका बन्धन जबतक नहीं मिटता, तबतक भक्ति कैसी। हाँ, उसकी उपलब्धिके मार्गमें कुछ व्यवधान ए ही करते रहें। जिस प्रकार किशोर अवस्थाके साथ, स्वच्छ किसी विचित्र रूपमें कामकी पहली चिनगारी छू लेती है फिर जीवन और मनोभाव रंग-बिरंगी कल्पनाओंसे भर हैं, वैसी ही कोई प्रबल घटना जबतक ईश्वर-तत्त्व या भगव प्रति मनके दुर्दम आकर्षणके रूपमें अपने अनुभवमें न तबतक मानो भक्तिका कोई स्वाद नहीं मिला। ज्ञानमें भी इसी प्रकार ज्योतिका दर्शन होता है। यदि ऊँची भूमि पहुँचकर देखा जाय तो जैसा गोसाईंजीने कहा है—

ग्यानहि भगतिहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खे

ज्ञान और भक्ति, साधनाके इन दो पक्षोंमें विरो भावनाकी कल्पना उचित नहीं। सच्चा ज्ञानी ईश्वर-भक्त होता है। भगवान्की जो दिव्य विभूति है, जिसमें उनक ज्योतिर्मय रूप है, जो चैतन्य-तत्त्व ही व्यष्टिमें और स एकमात्र सत्य है, मायासे परे उस रूपमें उसकी अनुभूति का स्फुट लक्षण है। भक्त और ज्ञानी दोनोंके मनमें वैराग प्रतीति आवश्यक है। विषयोंसे यदि वैराग्य नहीं हुआ ह ज्ञान उपजा है न भक्ति। ज्ञान और भक्तिमें यदि भेद क ही हो तो कह सकते हैं कि ज्ञानकी दशामें संसारका मा मिट जाता है और उसका 'एकमेवाद्वितीयम्' रूप ही अनुभ आता है। किंतु भक्त इस नाना-भावको स्वीकार करके उ विरोधी हुई एकत्वके प्रति जागरूक रहता है। एकमें ना भावका निराकरण और दूसरेमें उसे स्वीकार करते हुए जीवनके व्यवहारको चैतन्यमय, आनन्दमय और रस बनाना अभीष्ट होता है।

ऋषि प्रक्रियामें सर्वप्रथम कामकी अभिव्यक्ति गयी है—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्
(ऋग्वेद, नासदीयसू

काम ही मनकी शक्ति है। प्राकृत मनुष्यकी कामना बहिर्मुखी या विषयके लिये अर्पित होती है। अपने केन्द्रमें बैठकर वह इन्द्रियद्वारोंके भीतरसे बाहरकी ओर झाँकता रहता है, जैसा अङ्गरेज आत्म कवि 'वेमना' ने कहा है—'पञ्चभूतोंमें जबतक पञ्चेन्द्रियोंका संचार होता रहेगा तबतक जगत्का अस्तित्व दिखायी देगा। किंतु इन्द्रियोंको अन्तर्मुखी बनाकर ध्यानपूर्वक देखनेसे ज्ञात होगा कि अकेला जीवमात्र सत्य है, शेष सब मिथ्या है। वही ब्रह्म है। चित्त-शुद्धिके बिना उपासना व्यर्थ है।'

इस प्रकार हममेंसे प्रत्येकके सामने यह आवश्यक कर्तव्य आता है कि विश्वमें जो सत् और असत्का दुर्धर्ष विधान है, जो उसका अनादि, अनन्त चक्र है, उसमें अपनी स्थितिको बचाते सत्के साथ जोड़ें। सत्को पकड़नेसे ही हमें मन और इन्द्रियोंकी वह स्वच्छता प्राप्त हो सकती है, जिसके अनुसार जीवन व्यतीत करना प्रत्येक सज्जन व्यक्तिका कर्तव्य है। युद्धसे बचते न कोई ज्ञानी बन सकता है न भक्त। प्रत्येकको पहले एक आध्यात्मिक लड़ाई लड़नी पड़ती है। इस पहली टक्करको जो नहीं झेल सका, उसके लिये ज्ञान, योग, धर्म, भक्ति आदि साधनोंकी चर्चा ही व्यर्थ है। अतएव प्रत्येकको सर्वप्रथम चरित्रयोगके रूपमें अपनी साधनाके बीज अङ्कुरित करना आवश्यक होता है। ऐसा भी अनुभवमें आता है कि विषयों और इन्द्रियोंके बीच मचनेवाले इस संग्राममें एक बार ही जय नहीं मिल जाती। यह विरोध या संघर्ष लंबा भी खिंच सकता है।

सत् और असत्, पुण्य और पाप, ज्योति और तम, चेतन और जड, गुण और दोष—इनमेंसे हम सत् पक्ष छोड़कर असत्की ओर मन ले जाते हैं, इसीका नाम 'मोह' है, और असत्को पहचानकर उसे छोड़ देते हैं और सत् पक्षकी ओर मन ले जाते हैं, इसीका नाम 'विवेककी विजय' है। विवेक और मोहका यह द्वन्द्व अपने-अपने विविधरूप मानसिक भावोंका ही संघर्ष है। कभी विवेककी पराजय होती है, कभी मोहकी। ज्ञानका प्रतिद्वन्द्वी अज्ञान ही मोह है। मोह सब व्याधियोंका मूल है, विज्ञानको मोह नहीं होता। जब बुद्धिमें विज्ञानका सूर्य चमकता है, तब उसपर मोहका अन्धकार नहीं छा सकता। जिसे गुसाईंजीने मनकी भीतरी गाँठ या 'अभ्यन्तर-ग्रन्थि' कहा है, वह मोह ही है। रामचरितमानसमें आरम्भसे ही कविने मोहकी समस्याको उठाया है—

महामोह तम पुंज जासु बचन रबि कर निकर।

अर्वाचीन भाषामें कहें तो वस्तुओंके यथार्थ मूल्याङ्कनका संकर—यही मोह है। प्राचीन शब्दावलीमें काम, क्रोध, लोभ, मद, अहंकार—जितने भी मानसिक विकार हैं, वे मानसरोग या मनोमल ही मोहके रूप हैं। कविने तीन प्रकारके मल कहे हैं—एक कलिमल, दूसरे मनोमल और तीसरे संसारके मल मनोमल तो अपने ही भीतरके आध्यात्मिक विकार हैं। कलि-मल वे आधिभौतिक या सामाजिक त्रुटियाँ हैं, जिनके बीचमें रहकर मानवको जीवन-निर्वाह करना होता है। संसृति या संसारके रोग वे आवरण हैं, जो मायाके सम्पर्कमें आनेके कारण ही प्रत्येक जीव या मनकी आधिदैविक सीमाएँ बने हुए हैं, जिनके कारण हम अपने प्रातिस्विक या निजी स्वरूपके आनन्दसे वञ्चित हैं। मनोमलको 'मल', कलिमलको 'विक्षेप' और संसृति-रोगोंको 'आवरण' कहा जा सकता है। कविकी दृष्टिमें रामकी कथा इन तीनों विकारोंसे मनको छुड़ानेवाली है। 'रामाख्यमीशं हरिम्' यही रामका स्वरूप है। विश्वके निर्माणमें परात्पर, अव्यय, अक्षर, क्षर—जितनी कारण-परम्पराएँ हैं, अथवा पुरुष-प्रकृति-विकृति आदिके जितने धरातल हैं, उन सबसे परे जो निर्विशेष चैतन्य कारण है, वही ब्रह्म है, वही राम है। उस तत्त्वकी विशेषता यह है कि वह स्वयं अविकृत रहता हुआ इस भूतमय विश्वका सृजन कर रहा है, जो क्षण-क्षण परि-वर्तनशील है। उसके स्वाभाविक ज्ञान और बल क्रियाका एक विराट् नियम है—तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।

जिसकी वह सृष्टि करता है, उसमें वह स्वयं अनुप्रविष्ट हो जाता है। निर्गुण होते हुए भी उसका यही सगुण रूप है—

जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही।

श्रुतियाँ उसी अनादि, अजन्मा, व्यापक, निरञ्जन तत्त्वको ब्रह्म कहती हैं—

जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म व्यापक बिरज अज कहि गावहीं।

अपने उद्गम-स्रोततक पहुँचने या उसमें जा मिलनेकी आकुलता—जिस आनन्द-तत्त्वसे हमारा मूल स्वरूप निर्मित हुआ है, उसे ही पुनः अनुभव करनेकी व्यग्रता—यही उपासनाका हेतु और लक्ष्य है। इसीकी साधना 'भक्ति' है। भक्तकी भगवान्में आसक्ति और कामी पुरुषकी स्त्रीमें आसक्ति—इन दोनोंके आकर्षणका स्वरूप समान है, यद्यपि दोनोंके धरातलमें स्पष्ट ही महान् अन्तर है। एक बहिर्मुखी और दूसरा अन्तर्मुखी है। कामासक्त स्थितिमें हम किसी बाह्य केन्द्रकी परिक्रमा करने लगते हैं। किंतु भक्तिकी साधनामें अपने ही चैतन्य केन्द्रकी प्रदक्षिणा

करनी होती है। जो जिसकी मनश्चिन्ता करता है, उसके गुणोंका भ्यावान उसकी आत्मामें होता जाता है; क्योंकि वह उसके प्रभाव-क्षेत्रमें खिंचकर उसके साथ तन्मय होता जाता है। मनकी रतिका क्षेत्र या तो नारी है, या फिर अपना आत्मा ही हो सकता है। श्रद्धा, वात्सल्य, स्नेह और काम—इन चारों भावोंकी समष्टिकी संज्ञा रति है। रतिकी प्राप्ति केवल स्त्रीसे ही सम्भव है। मित्र, पुत्र, गुरु, माता-पिता आदि जितने सम्बन्ध हैं, उनसे श्रद्धा, वात्सल्य, स्नेहके भाव तो मिलते हैं; किंतु रतिके आकर्षणका केन्द्र नारी है। जैसी रसलीसे पुरुष नारीके प्रति खिंचता है, वैसी और किसीके प्रति नहीं। 'कमिष्टि नारि पियारि जिमि' इस सूत्रमें उसी रतिरस आकर्षणका संकेत है। यही आकर्षण स्त्रीसे हटकर जब अपने ही चैतन्य केन्द्रमें समाविष्ट हो जाता है, तब इसी परिवर्तनको 'भक्ति' कहते हैं। यह जितना स्वाभाविक होता है, उससे उतना ही अधिक रस प्राप्त होता है। गुसाईंजीने मानसके अन्तमें जिस उपमाका उल्लेख किया है, वही ऋग्वेदमें अपने मन और देवतत्त्वके पारस्परिक आकर्षणके लिये प्रयुक्त हुई है—

पतिरिव जायामभि नो न्येतु
(ऋग्वेद १०।१४९।४)

अर्थात् 'जैसे पति अपनी पत्नीके प्रति होता है, वैसे ही हम उस महान् देवके प्रति आकृष्ट हों।' रति या कामका जो स्वाद है, वही भक्तिका स्वाद है। स्वाद ही रस है। स्वाद या रसमें ही सच्चा सुख है। बिना रसके मन हठात् कहीं ठहरता नहीं। उसे बलपूर्वक रोका भी जाय, तो भी बार-बार छटक जाता है। 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'। रसकी अनुभूति या प्राप्तिका नाम ही आनन्द है। विषय-रस चखनेमें मन जिस स्वादुभावसे रमता है, उसीसे उसे भगवद्रसमें रमना चाहिये। यही भक्तिका सच्चा स्वाद है। यह रस कल्पना नहीं, नितान्त सत्य है। विषय-रसके अस्तित्वकी सचाई जितनी ठोस है, उससे कहीं अधिक सत्यात्मक भक्ति-रसकी उपलब्धि है। उस रसकी सत्ता है। उसमें भी मानव चैतन्यकी सब अनुभूतियाँ हैं। उसमें भी हमारा वह चिर-परिचित सुख भरपूर विद्यमान है। वस्तुतः वह सुख विषय-सुखसे कहीं विशिष्ट है। अतएव भक्तिका स्वाद 'आनन्द' कहा जाता है।

अध्यात्म-अनुभूतिका स्वाद इन भौतिक स्वादोंसे कहीं अधिक मीठा है। ऋषिने उसे चखते हुए कहा था—

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
(ऋग्वेद ६।४७।१)

यह रस स्वादिष्ठ है, मीठा है, तीव्र है। ज्यों ज्यों चखो, रंग गहरा जाता है। यह अति रसीला है। इसकी तुलनामें अन्य कुछ नहीं है। प्रकृतिमें ही एक-से-एक मीठे स्वाद भरे हैं। दाखके अणु-अणुमें कौन इतनी माधुरी भर देता है? पुष्पके परागमें या मधुके कोशमें जो मिठास है, उसका स्रोत कहाँ है? वेदोंमें सूर्यकी रश्मियोंको मधुकी नाड़ियाँ कहा गया है। सौर मण्डलमें जो विद्यमान है, संवत्सरद्वारा जिसका निर्माण हो रहा है, वह सब सूर्यकी रश्मियोंकी ही रचना है। उन रश्मियोंके अनन्त प्रकार हैं, जिनसे वे नाना पदार्थोंकी सृष्टि कर रही हैं। इनमें ही एक विचित्र रहस्य मधुर स्वादकी उत्पत्तिमें भी छिपा हुआ है। प्रकृतिके भूत-भौतिक धरातलपर जो मिठास हम चख पाते हैं, वह अकेली घटना नहीं है। प्राणके धरातलपर जो क्रिया-शक्ति है, जो प्राण-मात्रा है, उसमें भी उन मधु-नाड़ियोंका जाल पूरा हुआ है। वस्तुतः प्राणके अधिदैविक धरातलसे ही उतरकर यह रस स्थूल भूतोंमें आता है। प्राणमें जो मधु है, वही सब कुछ है। स्थूल भूतोंका मधु तो उसकी अनुभूति है। अपना स्वाद विकृत हो तो बाह्य मधु कड़ुआ लगता है। विषयोंके सब स्वाद इसी नियमके अधीन हैं। प्राणोंमें जो मिठासका अनुभव है, वह और भी सूक्ष्म स्तरसे अवतीर्ण होता है। वह प्रज्ञा-मात्रा या मनका धरातल है। मधुका उद्गम वहीं कहीं है। जो मन विषयोंसे मिठास खींचता है, वही जब मुड़कर भीतरकी ओर मिठास ढूँढ़ता है, तब उसे अपने ही चैतन्य केन्द्रमें मधुका भरा हुआ छत्ता मिल जाता है। यह कोश मिल जाय, तभी सच्चा भक्तिका स्वाद आता है और तभी मन ठहरता भी है। मक्खियाँ जैसे मधुपर, वैसे ही इन्द्रियाँ सदा सब उस केन्द्रपर टूटती हैं। उन्हें वहाँ सब कुछ सार मिलता है। रसकी उपलब्धि ही सबसे बड़ा लाभ है। रसकी उपलब्धि ही जीवनका उपनिषद् या रहस्य है। मोहकी दशामें हम उसे विषयोंमें बाहर ढूँढ़ते हुए भटकते हैं। विवेककी आँख खुलनेपर उसका स्वाद भीतर ढूँढ़ने लगते हैं। यही भक्तिका स्वाद है। उस रसके प्रति उमँगता हुआ मन जिस अनुरागसे प्रवृत्त होता है, वही भक्ति है।

प्रेम और भक्ति

(लेखक—डा० श्रीइन्द्रसेनजी)

प्रेम, भक्ति, आनन्द तथा सौन्दर्य जीवनके विविध तथा परस्पर सम्बद्ध रस हैं। इनसे ही जीवन हमें प्रिय लगता है। इनकी अभिवृद्धि ही जीवनका स्वाभाविक ध्येय तथा प्रयोजन है। भक्ति, आनन्द और सौन्दर्यमें भी आधारभूत रस प्रेम ही है—भक्ति पूज्यके प्रति प्रेम है, आनन्द प्रेमकी आन्तरिक भावना और गति है और प्रेमका विषय सुन्दर होता है। प्रेम अपने-आपमें अत्यन्त व्यापक भाव है, इसे कौन नहीं जानता। प्रेमकी भूख हर किसीको रहती है और इसका उपभोग भी हर कोई करता है। मानवोंके बीच ही नहीं, पशुओंमें भी जीवनकी यह प्रबल तथा प्रिय प्रेरणा है। वनस्पति तथा जड़ पदार्थोंमें भी अनेक प्रकारके आकर्षण-विकर्षण देखे जाते हैं। वे भी प्रेमसे सर्वथा अनभिज्ञ नहीं। प्रत्यक्ष ही प्रेम व्यापक तत्त्व है, सत्तामात्रका व्यापक बल है, विश्वको संगठित रखनेवाला सूत्र है।

परंतु वर्तमान समयमें प्रेमके लिये शोर-गुल कुछ विशेष है। जिस जोरसे यह शब्द सुना जाता है, जितना इसके लिये हो-हल्ला मचता है! गली-कूचोंमें इसके तरानोंकी बाढ़ आ गयी प्रतीत होती है। परंतु साथ ही इसके लिये रोना भी बहुत है, मानो इसका अभाव भी लोगोंको सता रहा है। 'अभाव' वैज्ञानिक सिद्धान्तोंतकमें प्रतिष्ठित हो गया है। मनोविश्लेषण प्रमाणसहित दिखलाता है कि प्रेम प्राप्त न होनेसे ही नाना मानसिक विकार तथा रोग पैदा हो रहे हैं।

अपूर्व स्थिति है, प्रेमकी बाढ़ और प्रेमका अभाव! अथवा क्या प्रेम ऐसा रस है, जो शान्त और तृप्त नहीं करता, बल्कि अग्नि और अभावको बढ़ाता है? या फिर क्या अहरहका यह प्रेम शब्द अत्यन्त रहस्यपूर्ण तथा गम्भीर समस्या है। जितना यह परिचित है, उतना ही यह अज्ञात तथा शायद अज्ञेय भी है। कितनी विचित्रता है कि प्रेम करनेको सब कहते हैं, परंतु इसके तत्त्वको जानता कोई विरला ही है। कबीरने तो स्पष्ट कहा है—

नेह निभावन एक रस महा कठिन व्यवहार।

वस्तुतः प्रेम रहस्यपूर्ण वस्तु है। जैसे यह जगत्‌में मानव, पशु, वनस्पति तथा जड़ पदार्थसे व्यापकतया सम्बद्ध है, वैसे ही मानवीय व्यक्तित्वके भी सभी स्तरोंपर यह एक-एक सार्थक स्थान रखता है। शारीरिक, प्राणिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक—सभी स्तरोंपर प्रेम अनुभव किया जा सकता है और वास्तवमें इतने ही प्रेमके रूप हैं। हम बहुधा किसीके प्रति उसके भौतिक आकार और रूपके कारण आकर्षणका अनुभव करते हैं। यह रूप हमारे मनमें बसने लगता है और हम उसका चिन्तन करते हैं। अनेक बार भौतिक आकार और रूप आकर्षक न होते हुए तथा अरुचिकर होते हुए भी हम व्यक्तिके सम्पर्कमें आते हैं और उससे वेगपूर्वक आकृष्ट हो जाते हैं। वह व्यक्ति हमपर छा जाता है और हम उसके साथ आन्तरिक आदान-प्रदान अनुभव करने लगते हैं। इसमें हृदय विशेषरूपसे संलग्न हो जाता है और सम्बद्ध व्यक्ति एक दूसरेमें गम्भीर आत्मतुष्टि लाभ करते हैं। परंतु इस अनुभवमें रूठ जाना, उलझना, शिकायत, दावा, विरोध भी हृदयके उतार-चढ़ावोंमें घूम-फिरकर आते हैं। ये इस प्रेमानुभवकी ही धूप-छाँह हैं और यही नाटकीय प्रेम प्राणिक प्रेम है। परंतु मानवीय व्यक्तित्वमें प्राणके दो रूप हैं। एक बाह्य और स्थूल तथा दूसरा आन्तरिक और सूक्ष्म। पहला केवल व्यक्तिगत रूप है और दूसरा व्यक्तिमें उसका गुह्य चैत्य-आधार है। यह अधिक सच्चा तत्त्व है। जब यह व्यक्तियोंके पारस्परिक सम्बन्धोंमें, स्पर्श तथा स्पन्दनमें आता है, तब वे प्रेमकी एक और ही गति अनुभव करते हैं। इसमें अधिक आन्तरिकता, व्यापकता, सूक्ष्मता तथा स्थायित्व होते हैं और सारा अनुभव आत्मदानसे प्रेरित और परिप्लावित प्रतीत होता है। इसकी उदारता और मधुरता अपूर्व होती है। सामान्य जीवनमें इसीकी जितनी और जहाँ कुछ झलक दिखायी दे जाती है, वही मानवकी स्थूल व्यावहारिकतामें दिव्य आभा है।

विचार, चिन्तन तथा आदर्शोंके सामने व्यक्ति आपसमें मानसिक-बौद्धिक प्रेम अनुभव करते हैं। इसमें सामान्य प्राणिक प्रेमका आवेग नहीं होता, सूक्ष्म प्राणका आत्मदान भी नहीं, एक पारस्परिक सहानुभूति होती है, जो खूब गाढ़ी भी हो सकती है।

परंतु मानव-मानवके सम्बन्धोंमें आध्यात्मिक प्रेम वह अपूर्व प्रेम है, जो उनके व्यक्तित्वके गहनतम तथा गम्भीरतम भागको, उनके अन्तरात्माओं अथवा चैत्य पुरुषोंको आपसमें जोड़ देता है। इसमें व्यक्ति आत्मासे आत्माका स्पर्श अनुभव

करते हैं—जो अवर्णनीय रूपमें मधुर, सूक्ष्म तथा एकत्वपूर्ण होता है। शुद्ध निरपेक्ष आत्मदान इसकी शैली है और पूर्ण एकत्व इसका ध्येय है। इसमें भोगका नाम नहीं, सौदेकी बू नहीं। यही वास्तवमें दिव्य प्रेम है। यह भी हमारी सामान्य प्रकृतियोंमें कभी-कभी झलक दिखा जाता है, यद्यपि उसे हम स्पष्टरूपमें पहचान नहीं पाते। इसीको चरितार्थ करनेके लिये साधनाकी आवश्यकता पड़ती है, मन और प्राणको शुद्ध करना होता है, उन्हें आत्मदानका स्वर्णिम नियम सिखाना होता है।

ये विविध प्रेम-सम्बन्ध पुरुष-पुरुषमें, स्त्री-स्त्रीमें तथा पुरुष-स्त्रीमें हो सकते हैं। सामान्य व्यवहारमें ये मिले-जुले होते हैं और इनकी विभिन्न गतियोंको पहचानना आसान नहीं होता। श्रीअरविन्द जहाँ कवि और साहित्यिक होनेके कारण जीवनके रसोंके मर्मज्ञ थे, वहाँ योगी और दार्शनिक होनेसे उन्होंने इन रसोंका निरीक्षण और विश्लेषण भी अत्यन्त सूक्ष्म किया है। प्रेम-विषयकी विवेचना करते हुए एक प्रसङ्गमें वे कहते हैं—"What is called love is sometimes one thing, sometimes another, most often a confused mixture." 'जिसे हम प्रेम कहते हैं, वह कभी एक चीज होता है, कभी दूसरी, बहुधा ऐसी खिचड़ी, जिसका विश्लेषण कठिन होता है।' अतः प्रेम साथी जटिल वस्तु है—इसके रूप अनेक हैं, इसके विषय अनेक हैं; और जो शुद्ध प्रेम है, हृदयस्थित चैत्यपुरुषका प्रेम, यह ही जीवनका गूढ रहस्य है, जिसके लिये भक्तलोग चिरकालीन भक्तिकी साधना किया करते हैं और जिसे पाकर वे मूक और तृप्त हो जाते हैं।

स्त्री-पुरुषके सम्बन्धमें शुद्ध प्रेमका भाव कुछ अधिक कठिन होता है; क्योंकि इनके बीच प्रकृतिजन्य काम सहज ही आ जाता है और काम वस्तुतः प्रेमका घातक है। यह बहिर्मुख प्राणिक आवेग है, जो क्षणिक होता है तथा अनेक प्रतिक्रियाओंको उत्पन्न करता है। इसमें सच्चा स्थायी अन्तर्मिलन तथा एकत्व कभी नहीं होता। वैसे स्त्री-प्रकृति और पुरुष-प्रकृतिमें एक प्रकारकी गम्भीरतर पूरकता भी होती है। यह व्यक्तित्वके उच्चतर अङ्गोंकी सहानुभूतिपर निर्भर करती है और जहाँ उसे अभिव्यक्त होनेका अवसर मिलता है, वहाँ स्त्री-पुरुषकी मैत्री अधिक स्वाभाविक हो जाती है और उसमें फिर काम विक्षेप सिद्ध नहीं कर पाता। परंतु काम है हर अवस्थामें विघ्न और बाधा ही। इसके संयम और नियममें आनेसे ही प्रेमका मधुरभाव हृदयमें प्रतिष्ठित हो पाता है। अथवा हृदयमें प्रेमके एकत्वपूर्ण गम्भीर मधुरभावके विकसित होनेसे काम उत्तरोत्तर संयम-नियममें आने लगता है। पश्चिमी मनोविश्लेषण काम और प्रेममें भेद नहीं करता। वह काम-को ही प्रेम मानता है और इसीके अभावको जीवनके दुःखका कारण बतलाता है। परंतु आज कामकी कमी कैसे कही जायगी। काम-वासना भी कम नहीं और काम-तृप्ति भी कम नहीं, परंतु मानव पहलेसे अधिक अतृप्त है। वास्तवमें कमी प्रेमकी है और प्रेम ही तृप्त करता है, जीवनमें संतोष और सुख प्रदान करता है। जितना काम बढ़ता है, उतना ही प्रेम कम हो जाता है और प्रेमका अभाव ही व्यक्तिके दुःख, व्यक्त अतृप्त-भाव, रोग और संघर्षशीलताका मूल कारण है। परंतु यह प्रेम तो जीवनका रहस्य है, जो स्थूल तथा बहिर्मुख काम-वासनाको अतिक्रान्त करनेसे ही अनुभवमें आता है। योगानुभव तो प्रत्यक्षरूपमें जानता है कि 'काम एक विकार है, एक निम्न वृत्ति है, जो प्रेमके प्रतिष्ठित होनेमें बाधा डालती है।' (श्रीअरविन्द) परंतु यह जीवनका सत्य अनुभवमें आना चाहिये। इससे गार्हस्थ्य-जीवनमें अपूर्व रस और सौन्दर्य उपलब्ध हो सकते हैं।

परंतु प्रेमकी स्वाभाविक गतिमें एक अनन्तता और असीमता समाविष्ट होती है। प्रेमी चाहता है कि उसका प्रेम असीम हो और अनन्तकालतक बना रहे। इस प्रकार प्रेमी साधकका विषय प्रेममय भगवान् हो जाते हैं। व्यक्तिगत मानवका प्रेम शुद्ध, गम्भीर और निःस्वार्थ होते हुए भी तुच्छ अनुभव होने लगता है और प्रेममार्गका पथिक उस प्रेम और प्रेमके उस आधारको खोजने लगता है, जो सब व्यक्तियोंको तथा सारी सत्ताको अपने प्रेमपूर्ण बाहुओंमें समेटे बाँधे हुए है। प्रेमके इस परम विषयकी ओर व्यक्ति अनेक प्रकारसे प्रवृत्त होता है। तुलसीदास कहते हैं—

हम तो चाख्यौ प्रेम रस पत्नीके उपदेश।

पत्नीकी झिड़कीने उनके अंदर अपनी प्राणिक संलग्नता के प्रति ग्लानि पैदा कर दी और वे उस प्रेमकी खोजमें चल पड़े, जिसमें विछोह और ग्लानिकी जगह नहीं। प्रेमके स्वाभाविक विकासमें भी व्यक्ति अन्तमें भागवत प्रेमका अभीप्सु बन सकता है।

यह प्रेम ही भक्ति कहलाता है और इसकी साधना ही भक्तिमार्ग, जो योगकी एक प्रसिद्ध शैली भी है। मध्यकालमें भारतमें अनेक भक्त हुए—गुरु नानक, मीरा

कबीर, तुलसी आदि । उस समय भक्ति एक लोक-प्रगति बन गयी थी और उसने निश्चय ही सार्वजनिक जीवनमें अपूर्व पवित्रता और प्रेमका संचार किया । उस समयका साहित्य अधिकांशमें भक्ति-विषयक है और अत्यन्त रसपूर्ण है । ये भक्त प्रेमके कैसे रसिक थे, इन्होंने कितना प्रेम-रस पिया और पिलाया । कबीर कहते हैं—

> छिनहिं चढ़ै छिन उतरै, सो तो प्रेम न होय ।
> अघट प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोय ॥

तथा—

> जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जानु मसान ।
> जैसे खाल लुहार की, साँस लेत बिन प्रान ॥

मीराँ तो थी ही 'दरद-दिवानी' वह कहती है—

> और सखी मद पी-पी माती,
> मैं बिनु पियाँ ही माती ।
> प्रेम भठी को मैं मद पीयो,
> छकी फिरूँ दिन राती ॥

'मैं तो दरद (प्रेम) दिवानी मेरो दरद न जाणै कोय ।'

गुरु नानकका रूप भी यही है—

> नाम खुमारी नानका चढ़ी रहै दिन रैन ।

प्रेमका ध्येय प्रेम ही है—असीम और शाश्वत । तुलसीदास विनती करते हैं—

> चहौं न सुगति सुमति संपति कछु,
> रिधि सिधि बिपुल बड़ाई ।
> हेतु रहित अनुराग राम पद,
> बढ़ौ अनुदिन अधिकाई ॥

अवश्य ही हमारे मध्ययुगके भक्तोंने प्रेम और भक्तिके रसको खूब ही पिया-पिलाया और उनका साहित्य इसका अमरस्रोत रहेगा; परंतु उनका जीवन-दर्शन आज हमें कई अंशोंमें कटु देता है । उनका जगत्, शरीर तथा स्त्री विषयक दृष्टिकोण हमें असंतोषजनक लगता है । यह वास्तवमें उस समयके मायावादका परिणाम था । आज हम जगत्को मिथ्या नहीं मानते, सत्य मानते हैं, जीवनका क्षेत्र अङ्गीकार करते हैं । शरीर तो अनिवार्य तथा बहुमूल्य साधन है और स्त्री जीवन-संगिनी है, प्रेमानुभवकी सहयोगिनी । दोष हमारी काम-वृत्तिमें है, जो स्थूल परिमुक्त भावके कारण आन्तरिक प्रेमको अवकाश नहीं देती । इस प्रकार भक्तिमार्ग अनिवार्य रूपसे मध्यकालीन जीवन-दर्शनसे आबद्ध नहीं । और न इसका ज्ञान और कर्मके प्रति वह भाव होनेकी आवश्यकता है, जो उस समय था । भक्तिमार्ग प्रायः ज्ञानकी निन्दा करता आया है । परंतु प्रेम और भक्तिके ये अनिवार्य परिणाम नहीं हैं । इसके विपरीत भगवान्के लिये प्रेम हमें उनसे एकत्व प्रदान करेगा और यदि इस एकत्व-सम्बन्धको हम सीमित नहीं रखेंगे तो जहाँ यह उनके प्रेम-भावसे सम्बन्धित करेगा, वहाँ यह उनके ज्ञानपक्ष और कर्तृत्वपक्षसे भी सम्बन्धित करेगा । सर्वाङ्गीण प्रेममें भगवान्के साथ ज्ञान, कर्म और आनन्द—तीनों पक्षोंसे हम एकत्व अनुभव करेंगे । इससे ज्ञान और कर्म प्रेमकी वृद्धिके साधन हो जायँगे और वे (ज्ञान और कर्म) अपने आपमें भी रसमय हो जायँगे । वस्तुतः इन तीनों पक्षोंमें अन्तिम है भी आनन्द ही । उपनिषद्के ऋषिकी अनुभूति स्पष्ट है—

> आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥

'आनन्दसे ही ये जीव उत्पन्न होते हैं, आनन्दसे उत्पन्न हुए जीते हैं और आनन्दको ही प्राप्त होकर उसमें लीन हो जाते हैं ।' श्रीअरविन्द आज उसी भावको बलपूर्वक इन शब्दोंमें कहते हैं—"Love and Ananda are the last word of being, the secret of secrets, the mystery of mysteries." 'प्रेम और आनन्द सत्ताविषयक अन्तिम शब्द हैं । प्रेम और आनन्द ही परम रहस्य हैं, परम गुह्य तत्त्व हैं ।'

वर्तमान जीवनमें विज्ञान और वैज्ञानिक बुद्धि प्रधान प्रेरणाएँ हैं । साथ-साथ सुखवाद और सौन्दर्यवाद भी प्रबल प्रवृत्तियाँ हैं; परंतु ये सब मानसिक और प्राणिक प्रभाव हैं और इस कारण द्वन्द्वमय हैं और जीवनमें द्वन्द्वोंको पैदा करते हैं । इन द्वन्द्वोंका उपाय अवश्य ही एकत्वमय चेतना है । उसे विकसित करनेके लिये विज्ञानको विश्लेषणात्मककी जगह संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण पैदा करनेकी आवश्यकता है । परंतु व्यावहारिक जीवनमें तो सुखवाद और सौन्दर्यवाद अधिक प्रबल हैं । विज्ञान इनका सेवक ही है । इनके द्वन्द्व आनन्द और प्रेमभावको विकसित करनेसे ही दूर हो सकते हैं और आजके मानवके लिये विकासका यह मार्ग कदाचित् अधिक प्रेरणाप्रद भी सिद्ध हो सकता है ।

संत भक्त कवि ही सच्चे भक्त हैं

[लेखक—महामहोपाध्याय डा० प्रसन्नकुमार आचार्य, आई० ई० एस्० (रिटायर्ड)]

रूप गोस्वामीके 'भक्ति-रसामृत सिन्धु' (१-२) में भक्तिके विकासका जो वर्णन किया गया है, उसमें विभिन्न अवस्थाओं या श्रेणियोंका विवेचन है, जिसका परिणाम भक्ति है। श्रद्धा उसका प्रथम सोपान है। यह ईश्वरका साक्षात्कार कर चुकनेवाले साधुओंके सत्सङ्गसे प्राप्त होती है। साधु-सङ्गके अनिवार्य प्रभावसे एक प्रकारकी विशेष श्रद्धा उत्पन्न होती है। भजन-क्रिया तीसरी सीढ़ी है। चौथा सोपान है विविध प्रकारकी अपरीक्षित क्रिया-प्रणालियों एवं श्रद्धाके मार्गमें आनेवाले अनर्थोंकी निवृत्ति। इससे निष्ठाकी प्राप्ति होती है। फिर उससे प्रभाव और अनुकूल भाव (रुचि) का जन्म होता है। सातवीं अवस्था है आसक्ति अथवा विश्वासकी दृढ़ता। इसके बाद प्रेम आता है। प्रेमसे भाव या अनुभूति उत्पन्न होती है। तब दसवीं अवस्थामें भक्ति आती है। सूफीधर्म (तसव्वुफ़) में इन्हीं दसके सात अवस्थाओंमें अन्तर्भाव किया गया है—जिज्ञासा, प्रेम, आलोक या ज्ञान, सांसारिकता-का विनाश, ऐक्य, विस्मय तथा आत्म निर्वाण।

रूप गोस्वामीके इस संक्षिप्त विश्लेषणसे स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति कर्ममार्गसे शून्य नहीं हो सकती, यद्यपि यहाँ ज्ञानमार्गपर विशेष बल नहीं दिया गया है। मनके विविध अङ्ग हैं—विचार (जो ज्ञानका आधार है), भाव (जिसपर प्रीति आधारित है) तथा इच्छा (जो क्रियाका आधार है)। इसी प्रकार ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों अन्योन्याश्रित हैं। इनमेंसे किसी पूर्ण निवृत्ति और केवल एकका आचरण असम्भव जान पड़ता है। अपने सेनापतिकी आज्ञाका अनुसरण करनेवाला रणक्षेत्रका सैनिक भी अपने कर्मोंके ज्ञान तथा उसके परिणामकी भावनासे अपनेको सर्वथा पृथक् नहीं कर सकता।

प्रवक्ता या संदेशवाहक (पैगम्बर) की परिभाषा है—वह व्यक्ति, जो जनताको चेतावनी एवं शिक्षा देनेके लिये ईश्वरद्वारा प्रेरित एवं उद्बुद्ध किया गया हो। वह ईश्वरेच्छाकी घोषणा तथा व्याख्या करता है और आगामी बातों एवं घटनाओंकी भविष्यवाणी करता है। महान् धर्मोंके अधिकांश नेताओंने प्रवक्ताका रूप ग्रहण कर लिया। निःसन्देह उनमें अपनी घोषणाओंके प्रति श्रद्धा थी। पर यह बात संदेहास्पद है कि उनमें अपने अथवा दैवी प्रेरणासे प्राप्त विचारोंके प्रति जिस प्रकारकी निष्ठा थी, उसी प्रकारकी श्रद्धा उनकी किसी एक ईश्वरमें भी थी। बौद्धधर्म, ईसाईधर्म तथा इस्लामके नेताओंके जीवनकी गाथाएँ पढ़नेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। पर हमारे संत कवियोंकी बात दूसरी है। भगवान् श्रीकृष्णके प्रति ममत्वमें मीराँबाईने गोपिकाओंका अनुकरण किया। यही बात आंडालकी विष्णु-भक्तिके विषयमें भी कही जा सकती है। श्रीकृष्णका कीर्तन करते हुए चैतन्य अपने आपको भूल जाते थे। जयदेवने अपने 'गीत-गोविन्द' में राधा-कृष्णकी लीलाका वर्णन किया है। सूरदास, तुलसीदास, चण्डीदास, विद्यापति तथा अन्य मधुर गायकोंने राधाकृष्ण या सीतारामके प्रेमकी बहुविध स्थितियोंका गान करते हुए अपने काव्योंमें भरनेको निमग्न कर दिया है।

कवि, प्रेमी तथा तत्त्वज्ञानी कल्पनाके मूर्तरूप हैं। मीराँबाई जन्मजात प्रेमिका एवं कवयित्री थीं। वे १५४७ में मारवाड़में पैदा हुई थीं। जब वे तीन वर्षकी ही थीं, तभी एक साधुने उन्हें गिरिधर (कृष्ण) की एक मूर्ति दी थी। तभी वे उस मूर्तिपर रीझ गयी थीं और उसे उन्होंने अपना जीवन साथी बना लिया था। आठ वर्षकी अवस्थामें उनका विवाह हो गया, पर उनके प्रेमी पति उन्हें संसारी न बना पाये। पतिकी मृत्युके पश्चात् देवरने मीराँको तंग किया। वे पैदल चलकर वृन्दावन पहुँचीं और श्रीकृष्णकी गोपिका बननेकी उनकी कल्पना उनमें बद्धमूल हो गयी। वृन्दावनमें ही ४१ वर्षकी अवस्थामें महान् वैष्णव संत जीवगोस्वामीसे उनकी भेंट हुई, जो उस समय ५८ वर्षके थे। यहीं उनकी भेंट चैतन्यके भक्त हरिदाससे हुई। वे वल्लभ-सम्प्रदायके कृष्णदास तथा राधावल्लभ-सम्प्रदायके हितहरिवंशजीसे भी मिलीं। फिर वे द्वारका गयीं और कहा जाता है कि ६७ वर्षकी आयुमें द्वारकामें भगवान्‌की मूर्तिमें समा गयीं। इस प्रकार उन्हें सामीप्य-मुक्ति मिली।

दक्षिणके वैष्णव संत विष्णुचित्त स्वामीने ४०० ई० में एक परित्यक्त कन्या आंडालको शरण दी। मीराँबाईकी भाँति ही वे रङ्गनाथ (विष्णु) का यशोगान करती थीं और उन्हींकी मूर्तिमें वे भी अन्तर्धान—विलीन हो गयीं। उन्होंने जो दिव्य गीत गाये और जो तिरुप्पावैके नामसे विख्यात हैं, वे आज भी दक्षिणमें उसी तरह गाये जाते हैं, जैसे उत्तरमें मीराँबाईके

भजन गाये जाते हैं। बंगालके जयदेव श्रीराधा-कृष्णके प्रणय-गीतोंके गायकरूपमें बहुत प्रसिद्ध हैं। उनका अत्यधिक आकर्षक श्रीकाव्य 'गीतगोविन्द' मधुरतम संस्कृत-छन्दोंमें राधाके साथ श्रीकृष्णके घनिष्ठ सम्बन्ध एवं क्रीडाका वर्णन करता है। १२ सर्गोंके १०० छन्दोंमें वृन्दावनके सौन्दर्यका वर्णन करते हुए विभोर होकर कविने सकाम राधा-कृष्णकी केलिका वर्णन किया है। जयदेवके अन्तिम दिन पश्चिम बंगालके 'केंदुबिल्व' ग्राम (जिला वीरभूम) में व्यतीत हुए।

निमाई (चैतन्य) जगन्नाथ मिश्र तथा शचीदेवीकी संतान थे। वे नवद्वीप (बंगाल) में १४८४ ई० में उत्पन्न हुए थे। उनके दो विवाह हुए थे—पहला लक्ष्मीदेवीके साथ और दूसरा विष्णुप्रियाके साथ। पहली स्त्री (लक्ष्मीदेवी) की उनके गृहस्थ-जीवनमें ही मृत्यु हो गयी। जब उन्होंने सांसारिक जीवनका त्याग किया, तब दूसरीको भी छोड़ दिया। उन्होंने ईश्वरपुरीसे संन्यासकी दीक्षा ली। वैष्णव-धर्म ग्रहण करनेके बाद उन्होंने श्रीकृष्णकी प्रेयसीके रूपमें अपनेको समझा। प्रारम्भमें वे एक अध्यापक थे, पर उन्होंने श्रीकृष्णपर आठ पद्योंको छोड़ और कुछ नहीं लिखा। किंतु उन्होंने कीर्तन-गीतोंका प्रचलन किया। 'चैतन्यचरितामृत' इत्यादि ग्रन्थ उनके अनुयायियोंने रचे। उनके भक्तोंने ही उन्हें चैतन्यकी उपाधिसे विभूषित किया। १०० पद्योंका एक कृष्ण-कर्णामृत काव्य है, जो बिल्वमङ्गल (१४०० ई०)-रचित कहा जाता है। वे दक्षिणमें कृष्णानदीके तटवर्ती किसी स्थानमें उत्पन्न हुए थे। वे एक वाराङ्गना चिन्तामणिके प्रेममें पागल-से रहते थे। चिन्तामणिने इन्हें अपना प्रेम बालकृष्णपर केन्द्रित करनेको प्रेरित किया। सोमगिरिसे वैष्णवधर्मकी दीक्षा लेकर इन्होंने इन्द्रियजन्य सुखोंका त्याग किया और वृन्दावन चले गये। चिन्तामणिने भी संसार त्यागकर इनका पदानुसरण किया और तबसे दोनों वृन्दावनमें रहकर राधा-कृष्णका यशोगान करने लगे। इन्हीं गीतोंसे 'कृष्ण-कर्णामृत' काव्य बन गया।

इसी प्रकारके एक भक्त बंगालके चण्डीदास (१४१७-१४७७) थे। वे शाक्तसे वैष्णव हुए और उन्होंने राधा-कृष्णके गीत गाये।

विद्यापति (१४००-१५०७) मिथिलाके राजा शिवसिंह तथा रानी लक्ष्मीदेवीके राजकवि थे और इन्होंने राधा-कृष्णके प्रेम-सम्बन्धी शृङ्गारकाव्यका निर्माण किया। सूरदास (१४७९-१५८४) सहस्रों गीतोंवाले सूरसागरके अन्ध-गायक थे। उन्हें श्रीवल्लभाचार्यने वैष्णवधर्मकी दीक्षा दी थी। राधा-कृष्णके अन्य भक्तोंकी भाँति वे वृन्दावनमें न रहकर गोवर्धन पर्वतकी तलहटीमें रहे।

प्रसिद्ध कवि तुलसीदास अपने रामचरितमानसके लिये विख्यात हैं। वे 'सीतापति राम'के भक्त थे। कहा जाता है कि माँके पेटसे बाहर आते ही उन्होंने राम-नाम लिया था। वे रामके ही थे और रामने ही उनका उद्धार किया। काशी, चित्रकूट एवं अयोध्यामें साधु-सङ्ग करते हुए वे वृन्दावन पहुँचे। वहाँ उनकी भेंट नन्ददाससे हुई। कहा जाता है कि उनकी इच्छाके अनुसार वृन्दावनके एक प्रसिद्ध मन्दिरकी राधा-कृष्ण-मूर्ति सीता-रामके रूपमें बदल गयी थी। तुलसीदासके अनुसार भक्तिका सार भगवल्लीला-सम्बन्धी प्रवचनोंको सुनना और ईश्वर-नामोच्चार है। यह भी चैतन्यस्थापित कीर्तन जैसा ही है।

ये संत और गायक ही सच्चे भगवद्भक्त रहे हैं। रूप गोस्वामीने अपने 'भक्ति-रसामृत-सिन्धु'में भक्तिके विकासके लिये जिन आवश्यक तत्त्वोंकी व्याख्या और विवेचना की है, वे इनमें पाये जाते हैं।

रुद्रको कौन परम प्रिय है ?

श्रीरुद्र भगवान् कहते हैं—

यः परं रंहसः साक्षात् त्रिगुणाज्जीवसंज्ञितात्। भगवन्तं वासुदेवं प्रपन्नः स प्रियो हि मे॥
(श्रीमद्भा० ४। २४। २८)

'जो व्यक्ति अव्यक्त प्रकृति तथा जीवसंज्ञक पुरुष—इन दोनोंके नियामक भगवान् वासुदेवकी साक्षात् शरण लेता है, वह मुझे परम प्रिय है।'

हमारी भक्तिनिष्ठा कैसी हो ?

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

आत्मोत्थानके तीन प्रधान साधनों (भक्ति, ज्ञान और कर्म) में भक्तियोग सबसे सुगम और प्रशस्त है। इसका सम्बन्ध हृदयसे है। अपढ़ व्यक्ति भी भक्तिसे कृतार्थ हो सकता है। भक्ति किसकी ? अपनेसे गुणवान्‌की—सबसे अधिक गुणी भगवान्‌की। भक्तिका उद्गम लघुता और दीनताके भावसे होता है। उसका प्राथमिक रूप है विनय। गुणी व्यक्तिके प्रति आदरभाव होना गुणोंके विकासका प्रशस्त पथ है। भक्तिका चरम विकास है—समर्पण, अपनेको गुणीके चरणोंमें लीन कर देना। भक्तिसे अन्तमें भगवान् और भक्त दोनोंकी एकता हो जाती है। भक्त भगवान् बन जाता है।

भक्ति-मार्गके दो भय-स्थान हैं। अन्ध-भक्ति और दिखावा। विवेकपूर्वक की हुई भक्ति आत्माको ऊँचा उठाती है, तो अन्ध-भक्ति पतनकी ओर अग्रसर करती है। विवेक-पूर्वक भक्तिमें व्यक्ति प्रधान न होकर गुणोंकी प्रधानता रहती है। अतः जहाँ कहीं भी जिस व्यक्तिमें गुण दिखायी देता है, भक्त हृदय उनके प्रति सहज आकर्षित हो अर्पित हो जाता है। अन्ध-भक्तिमें व्यक्ति ही प्रधान होता है, अतः दूसरे तद्रूप अथवा तदधिक गुणीके प्रति भी वैसा अर्पणका भाव नहीं आता। अन्य व्यक्तिके गुण उसे दिखायी नहीं देते। दिखावारूप भक्ति तो वास्तवमें भक्ति है ही नहीं, वह तो ठगी है, उससे तो पतन ही होता है।

भक्ति-निष्ठा कैसी होनी चाहिये, इस विषयपर जैन संत शिरोमणि श्रीमद् आनन्दघनजीने दृष्टान्तसहित सुन्दर प्रकाश डाला है। उनका वह मेरणात्मक पद इस प्रकार है—

ऐसे जिन चरणे चित लाउँ रे मना,
ऐसे अरिहंतके गुण गाउँ रे मना।
उदर भरणके कारणे रे गउआं वनमें जाय।
चारो चरे चहुँ दिस फिरै, वाकी सुरत बछरुआ मांय ॥१॥

अर्थात् प्रभुमें भक्ति निष्ठा ऐसी हो, प्रभुके गुण-गानमें मस्ती अथवा लीनता ऐसी हो। कैसी ! जिस प्रकार उदर-भरणके लिये गौएँ वनमें जाती हैं, घास चरती हैं, चारों ओर फिरती हैं, पर उनका मन अपने बछड़ोंमें लगा रहता है। समय होते ही लौटे आकर सबसे पहले बछड़ोंको सँभालती हैं। वैसे ही संसारके सब काम करते हुए भी हम प्रभुको न भूलें। उनकी हर समय स्मृति बनी रहे। समय मिलते ही हम भक्तिमें लीन हो जायँ।

पाँच सात सहेलियाँ रे हिल मिल पाणी जाय।
ताली दिये खल-खल हँसे, वाकी सुरत गगरुआ मांय ॥२॥

अर्थात् पाँच-सात पनिहारिनें—सखियाँ मिलकर जल भरने कुएँ-तालाब आदिको जाती हैं। रास्तेमें तालियाँ देती हुईं हँसती-खेलती हैं, पर उनका ध्यान सिरके घड़ेकी ओर लगा रहता है कि वह कहीं गिर न जाय। यों सारे व्यावहारिक प्रवृत्तियोंमें रहते हुए भी हमारा पतन न हो, इसकी पूरी सावधानी रहे।

नटवा नाचे चौकमें रे, लोक करे लख सोर।
बाँस ग्रही वरते चढ़े, वाको चित न चलै कहुँ ठोर ॥३॥

अर्थात् नट खेल दिखानेको बाँस लेकर रस्सीपर चढ़ता है, लोग उसकी कुशलता देखकर शोर-गुल मचाते रहते हैं। पर उसका ध्यान इधर-उधर देखते हुए भी रस्सी आदिमें रहता है कि कहीं गिर न पड़ूँ। वैसे ही हर समय सांसारिक, पारिवारिक कोलाहलमें भी हमारा ध्यान प्रभुमें लगा रहे। हम उनको न भूलें।

जुआरी मन में जुआ रे, कामी के मन काम।
आनँदघन प्रभु यों कहै, तू ले भगवन्तको नाम ॥४॥

अर्थात् जैसे जुआरीके मनमें जुआ बसा रहता है एवं कामी पुरुषका मन कामवासनामें ही (अन्य सब सुध-बुध खोकर) लगा रहता है। अन्य बातोंमें उसे रस नहीं मिलता, वैसे ही प्रभु-नाम-स्मरणादिरूप भक्तिमें हमारी अनन्य निष्ठा हो, जिससे उसके सिवा अन्य कहीं भी मन न जाय। भक्तिके बिना चैन ही न पड़े। अन्य प्रवृत्तियोंमें भक्तको रस नहीं मिलता। ऐसी भक्ति-निष्ठा ही मनुष्यको भगवान्‌के समीप पहुँचाते हुए भगवत्-रूप बना देती है।

भक्तराज प्रह्लादने भक्तिकी व्याख्या करते हुए कहा है—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

'अज्ञानियोंका इन्द्रियोंके विषयोंमें जैसा अविचल प्रे

देखनेमें आता है। तुम्हारा स्मरण करते समय हे प्रभु ! तुम्हारी ओर ऐसी ही तीव्र आसक्ति मेरे हृदयमें निरन्तर रहे (ऐसी मेरी प्रार्थना है।)'

तुलसीदासजीने भी रामायणमें कहा है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

सर्व-सुलभ भक्ति-मार्ग

(भक्तिका तात्त्विक विवेचन)

[लेखक—आचार्य पं० श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ]

मानस-रामायणमें गोस्वामीजीने भगवान् श्रीरामचन्द्रके मुखसे अयोध्यापुरवासियोंके प्रति भक्तिकी यही महिमा कहलायी है और भक्तिमार्गको सर्वसुलभ बतलाया है—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा।
जोग न मख जप तप उपवासा॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई।
जथा लाभ संतोष सदाई॥
मोर दास कहाइ नर आसा।
करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा॥
बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई।
एहि आचरन बस्य मैं भाई॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा।
सुखमय ताहि सदा सब आसा॥
अनारंभ अनिकेत अमानी।
अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा।
तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा॥
भगति पच्छ हठ नहिं सठताई।
दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई॥
(उत्तरकाण्ड)

'भक्तिमार्ग कितना सुलभ है, जिसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—योगके इन अष्टाङ्गोंकी आवश्यकता नहीं, न जप-तप, अथवा मखकी ही अपेक्षा है। सरल स्वभाव, मनमें कुटिलता न रखना, जो कुछ मिल जाय, उसीमें संतोष—ये ही भक्तिके मुख्य लक्षण हैं। भक्त न तो किसीसे वैर-विरोध करता है और न किसीसे आशा अथवा भय ही रखता है। वह अहंकारपूर्वक कोई क्रिया नहीं करता—सम्पूर्ण संकल्पोंका संन्यासी होता यानी आसक्त नहीं होता, मान-पाप क्रोध-रहित होता है, स्वस्वरूपको समझता है तथा भगवद्भक्तोंकी संगतिमें रमण करता है। उसके लिये नरक, स्वर्ग, अपवर्ग समान होते हैं तथा इस प्रकार जो मनुष्य ज्ञानहठ, कर्महठ छोड़कर भक्तिहठ रखता है, वह सुखी होता है।

ज्ञानमार्ग—कैवल्य-मुक्तिदायक है, पर है अतिक्लिष्ट। उसके साधन भी कठिन हैं, उसमें विघ्न भी अनेक आते हैं, उसमें मनको कोई अवलम्ब भी नहीं रहता। यदि कोई विरला ज्ञानमार्गसे तर भी जाय, तो भी उसके लिये भक्ति आवश्यक है—भक्ति बिना कोरा ज्ञान पुनः पतनकी ओर ही ले जाता है ज्ञानीको।

यह भक्ति—संत-समागमके बिना कहाँ।

कर्ममार्ग—से पुनः ज्ञानमार्गपर आना पड़ता है, उसमें भक्ति आवश्यक है ही।

भक्तिमार्ग—स्वतन्त्र मार्ग है। गोस्वामीजीके शब्दोंमें यह सम्पूर्ण गुणोंकी खान है।

ऊपर भक्तके जो गुण कहे गये हैं, वे गीतामें भी कई श्लोकोंमें वर्णित हैं। इससे स्पष्ट है कि ज्ञानमार्ग कठिन है ही, कर्ममार्ग भी कठिन है, और भक्तिमार्ग तो सभीसे कठिन है, पर साथ ही सरल भी है।

नवविध भक्ति

भक्तिमें सबसे प्रथम आवश्यकता श्रवण की है।

श्रवण न हो तो कीर्तन कैसा।

कीर्तनसे स्मरण बना रहता है।

फिर पादसेवन। इसमें सब प्रकारकी सेवा आ जाती है। जहाँ पादसेवन होगा अर्चन भी आ ही जायगा।

अर्चन वन्दनाके बिना अपूरा ही रह जायगा। तब दासभाव जगेगा।

फिर यही दासभाव सख्यभावमें परिणत हो जायगा। अन्तमें सख्यभाव आत्मनिवेदन रूप हो जायगा।

तीव्र-संस्कारी जीव इसी जन्ममें और मध्यम-संस्कारी जीव प्रयत्न करते रहें तो अनेक जन्मोंमें जाकर परा गतिको प्राप्त करते हैं।

सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार—ये ध्यानयोगसे पार हुए।

राजा जनक, जैगीषव्य आदि कर्मयोगसे पार हुए।

भक्तियोगसे जो पार हुए, उनकी नामावली भी कम लंबी नहीं है—भक्तमालकी गाथाएँ पढ़िये।

सार यह है कि

शक्तिसे भक्ति पनपती है और भक्तिसे शक्ति आती है; इसलिये पर-गति प्राप्त करनेमें भक्ति, शक्ति तथा युक्तिका यथार्थ समन्वय आवश्यक है।

भक्तिके अनुरूप मार्ग, शक्तिके अनुरूप ऊपर चलना और भक्ति-शक्तिका समन्वय—ये तीन बातें आवश्यक हैं। भक्तिके बिना शक्ति व्यर्थ, शक्तिके बिना कोरी भक्ति व्यर्थ और युक्तिके बिना भक्ति-शक्तिका समन्वय नहीं हो सकता।

इन गीता-वचनोंको देखिये—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥
(१२ । १३–२०)

इन श्लोकोंमें 'जो मद्भक्तः', 'भक्तिमान्', 'भक्ताः' इत्यादि विशेषणोंको देखकर विस्मय होता है कि भगवान् कोरे ज्ञानसे, कोरे कर्मकाण्डसे प्रसन्न होनेवाले नहीं, उनको 'भक्त' भी चाहिये।

कैसे भक्त ?

ऐसे भक्त, जो द्वेषरहित हों, मैत्र हों, करुण हों, निर्मम हों, निरहंकार हों, समसुख-दुःख हों, क्षमावान् हों—

और

संतुष्ट हों, यतात्मा हों, दृढनिश्चय हों, मुझमें मन-बुद्धिको अर्पण किये हों—

यही नहीं,

जो लोगोंसे घबरायें नहीं, लोग जिनसे घबरायें नहीं तथा जो भय, हर्ष, अमर्ष एवं उद्वेगसे मुक्त हों—

यही नहीं,

किसी वस्तुकी अपेक्षा न रखें, शुचि हों, दक्ष हों, उदासीन हों, गतव्यथ हों, सर्वारम्भपरित्यागी (मैं ही करनेवाला हूँ, ऐसी बुद्धि न रखनेवाले) हों—

जो

शत्रु और मित्रको समान समझें, मानापमानको एक-सा मानें, शीत-उष्ण, सुख-दुःखमें समान रहें, सङ्गरहित हों—

जो

निन्दा-स्तुतिमें समान रहें, मौनी हों (जितना आवश्यक हो, अपरिहार्य हो, उतना ही बोलनेवाले हों), स्थिरमति रहें, अनिकेत हों—कहीं ममत्व न रखें—

जो

श्रद्धावान् हों—बस, मुझे ही सब कुछ समझें—ऐसे-ऐसे गुणोंसे युक्त भक्तिमान् मुझे प्रिय हैं।

इन गीताके श्लोकोंसे स्पष्ट है कि गीताके 'भक्तिमान्' में और अन्यत्र 'भक्तिमान्' में बड़ा भेद है।

सारांश, कोरी भक्ति भी कुछ नहीं तथा कोरे ज्ञान-विज्ञानादि गुण भी भक्तिशून्य होनेसे सार्थक नहीं हैं। रामायण उत्तरकाण्डके दोहे और गीताके द्वादश अध्यायमें बहुत कुछ साम्य है।

यह है तात्त्विक विवेचन भक्तिका। यह सोचकर प्रत्येक व्यक्ति भक्ति और शक्तिका यथार्थ उपयोग करे।

भक्ति-तत्त्वका दिग्दर्शन

शास्त्रोंकी आलोचना करते समय सबसे पहले अनुबन्ध-चतुष्टय अर्थात् अधिकारी, सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजनका विचार किया जाता है। अतएव भक्ति-शास्त्रके अनुबन्ध-चतुष्टय क्या हैं? श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव कहते हैं कि भक्ति-शास्त्रके प्रति श्रद्धावान् व्यक्ति ही इसका अधिकारी है। 'वाच्य-वाचकः सम्बन्धः।' इस शास्त्रका प्रतिपाद्य विषय है—'उपास्य-तत्त्व'। अतएव शास्त्रका उपास्य-तत्त्वके साथ वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। उपास्य-तत्त्व श्रीकृष्णकी प्राप्तिका उपाय 'अभिधेय' है। अतएव भक्ति अभिधेय है और श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति ही इसका 'प्रयोजन' है।

१. अधिकारी (जीव-तत्त्व)

जब भक्ति-शास्त्रका अधिकारी श्रद्धावान् जीव है, तब यह सहज ही जिज्ञासा होती है कि जीव-तत्त्व क्या है और वह श्रद्धावान् होता कैसे है। पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें जीव-तत्त्वके विषयमें जामाता मुनि कहते हैं—

ज्ञानाश्रयो ज्ञानगुणश्चेतनः प्रकृतेः परः ।
न जातो निर्विकारश्च एकरूपः स्वरूपभाक् ॥
अणुर्नित्यो व्याप्तिशीलश्चिदानन्दात्मकस्तथा ।
अहमर्थोऽव्ययः क्षेत्री भिन्नरूपः सनातनः ॥
अदाह्योऽच्छेद्य अक्लेद्य अशोष्योऽक्षर एव च ।
एवमादिगुणैर्युक्तः शेषभूतः परस्य वै ॥
मकारेणोच्यते जीवः क्षेत्रज्ञः परवान् सदा ।
दासभूतो हरेरेव नान्यस्यैव कदाचन ॥
आत्मा न देवो न नरो न तिर्यक् स्थावरो न च ।
न देहो नेन्द्रियं नैव मनः प्राणो न चापि धीः ॥
न जडो न विकारी च ज्ञानमात्रात्मको न च ।
स्वस्मै स्वयंप्रकाशः स्यादेकरूपः स्वरूपभाक् ॥
अहमर्थः प्रतिक्षेत्रं भिन्नोऽणुर्नित्यनिर्मलः ।
तथा ज्ञातृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वनिजधर्मकः ॥
परमात्मैकशेषत्वस्वभावः सर्वदा स्वतः ॥

अर्थात् जीव देह नहीं है, ज्ञानका आश्रय है। ज्ञान उसका गुण है। जैसे अग्निका गुण दाह है, सूर्यका गुण प्रकाश है, उसी प्रकार जीवका गुण ज्ञान है। वह चेतन है, प्रकृतिसे परे है। जैसे काष्ठमें व्यापक अग्नि काष्ठसे भिन्न है, उसी प्रकार देही (जीव) देहसे भिन्न है, इन्द्रिय, मन, प्राण या बुद्धि भी नहीं है। वह अजन्मा है, निर्विकार है, सदा एकरूप रहता है। अणु है, नित्य है, व्यापक है, चित् और आनन्द स्वरूप है। 'अहं'-शब्द-वाच्य, अविनाशी, क्षेत्री (शरीररूप क्षेत्रका स्वामी) शरीरसे भिन्नरूप, सदा एकरूप, अदाह्य, अच्छेद्य, अक्लेद्य, अशोष्य, अक्षर आदि गुणोंसे युक्त है। जीव समस्त पदार्थोंका द्रष्टा और प्रकाशक है तथा स्वयं अपना भी द्रष्टा और प्रकाशक है। वह न जन्मा है और न उससे पैदा हुआ है। जीव केवल श्रीहरिका दास है, और किसीका नहीं। वह देवता नहीं, मनुष्य नहीं, न तिर्यक् है न स्थावर है। वह ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है, कर्मानुसार उसका गमनागमन होता है। परमात्माका केवल अनन्यदासत्व ही जीवका स्वभाव है।

ये जीव असंख्य हैं, अनन्त हैं। जल, स्थल और अन्तरिक्षमें कोई स्थान ऐसा नहीं, जो जीवोंसे खाली हो। जीवके सम्बन्धमें श्रीसनातन गोस्वामीके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

जीवेर स्वरूप हय, कृष्णेर नित्यदास।
कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश॥

अर्थात् स्वरूपतः जीव श्रीकृष्णका नित्यदास है। वह श्रीकृष्णकी तटस्था शक्ति है, भेद और अभेदरूपमें प्रकाशित होता है। शास्त्रोंमें अन्तरङ्गा, बहिरङ्गा और तटस्था भेदसे श्रीभगवान्की तीन शक्तियोंका उल्लेख पाया जाता है। श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

कृष्णेर स्वाभाविक तिन शक्ति-परिणति।
चित्-शक्ति, जीवशक्ति आर मायाशक्ति॥

अर्थात् श्रीभगवान्की स्वभावतः तीन शक्तियोंमें परिणति होती है—चित्-शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्तिमें। चित्-शक्ति ही अन्तरङ्गा शक्ति है, मायाशक्ति बहिरङ्गा तथा जीव-शक्ति तटस्था। श्रीनारदपञ्चरात्रमें भी लिखा है—

यत्तटस्थं तु चिद्रूपं स्वसंवेद्याद् विनिर्गतम्।
रञ्जितं गुणरागेण स जीव इति कथ्यते॥

अर्थात् चित् पदार्थ स्वसंवेद्य मूलरूपसे निकलकर तटस्थ होकर रहता है। गुणरागके द्वारा रञ्जित वह तटस्थ चिद्रूप ही जीव कहलाता है। भगवान्ने गीतामें भी कहा है—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

अर्थात् पूर्वोक्त आठ प्रकारकी अपरा प्रकृतिसे भिन्न एक मेरी जीवरूप परा प्रकृति है, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है। अर्थात् जैसे देहीके द्वारा यह देह धारण किया जाता है, उसी प्रकार असंख्य-असंख्य जीवोंके द्वारा मर्त्य, स्वर्ग और अन्तरिक्षरूप अनन्त ब्रह्माण्ड धारण किया जाता है।

अब यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि 'जब जीव स्वयं भगवान्‌की, श्रीकृष्णकी तटस्था शक्ति है, तब फिर श्रीकृष्ण-तत्त्व है क्या ?' वेद-वेदान्त आदि शास्त्रोंकी चरम आलोचना करनेसे ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण अखिल-प्रेम-रसानन्दमूर्ति हैं। वे नित्य रस-स्वरूप हैं, नित्य प्रेम-स्वरूप हैं तथा नित्य आनन्द-स्वरूप हैं। सूर्यकी किरणके समान, अग्निके स्फुलिङ्गके समान जीव इस अखिल-प्रेम-रस-आनन्द-स्वरूप श्रीकृष्णका ही अंश है। अतएव विशुद्ध प्रेम-रस-आनन्द ही जीवका मुख्य स्वरूप या स्वभाव है। आनन्द ही ब्रह्म है, एवं परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ही परम तत्त्व हैं। इस आनन्दसे ही जीवोंकी उत्पत्ति होती है तथा आनन्दमें ही जीवोंका लय होता है। श्रुति भी कहती है—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।

अर्थात् ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। आनन्दसे ही भूतगण उत्पन्न होते हैं, आनन्दसे वे जीवित रहते हैं, आनन्दमें गमन करते हैं तथा आनन्दमें ही प्रवेश करते हैं।

अतएव प्रेमानन्द ही जीवका प्रकृत स्वरूप है। फिर यह इस संसारमें इतना दुःखी क्यों है ? श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं कि जीव श्रीकृष्णकी तटस्था शक्ति है, उनकी अन्तरङ्गा और बहिरङ्गा शक्तियोंके मध्यमें स्थित है। अन्तरङ्गा शक्तिके आकर्षणको प्राप्तकर जीव श्रीकृष्णोन्मुख होता है—नित्यानन्द नित्य सुखका भोग करता है, परंतु बहिरङ्गा शक्तिके आकर्षणसे वह मायामुग्ध होकर सांसारिक क्लेशोंको भोगता है। श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

कृष्ण भुलि सेइ जीव अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसार दुःख॥
कभु स्वर्गे उठाय, कभु नरके डुबाय।

अर्थात् यही अनादि जीव श्रीकृष्णको भूलकर जब बहिर्मुख होता है, तब माया उसको सांसारिक दुःख प्रदान करती है। कभी ऊपर उठाकर स्वर्गमें ले जाती है तो कभी नरकमें डुबा देती है। अविद्या या माया श्रीभगवान्‌की परिचारिका है। भगवद्विमुख जीवोंका अपने प्रभुकी अवज्ञा करना वह सहन नहीं कर सकती। इसीलिये दण्डविधान करती है। अतएव भगवद्विमुखता ही दुःखका हेतु है और इस मायासे निस्तार पानेका एकमात्र उपाय है—भगवान्‌के सम्मुख होना। गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

अर्थात् यह दैवी त्रिगुणमयी मेरी माया दुरत्यय है, इससे पार पाना कठिन है। जो मेरी शरणमें आ जाते हैं, वे ही इस मायासे निस्तार पाते हैं। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
(श्रीमद्भागवत ११।१४।२०)

'हे उद्धव ! मैं श्रद्धापूर्वक की हुई एकमात्र भक्तिसे ही वशमें होता हूँ। क्योंकि मैं संतोंकी आत्मा और प्रिय हूँ। मेरी दृढभक्ति चाण्डालको भी जातिदोषसे पवित्र करती है।' अतएव भक्ति ही श्रीकृष्ण-प्राप्तिका उपाय है। भक्तिके द्वारा श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति होती है। प्रेमसे दुःख दूर होता है और संसार-वासना तिरोहित हो जाती है। परंतु इस प्रेमका मुख्य प्रयोजन श्रीकृष्ण-प्रेमका आस्वादन ही है।

२. सम्बन्ध (भगवत्तत्त्व)

वेदादि समस्त शास्त्र सब प्रकारसे श्रीकृष्णके ही पारतम्यको प्रकट करते हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण ही परतम हैं, उनके ऊपर कोई दूसरा उपास्य-तत्त्व नहीं है—यही सब शास्त्रोंका अभिप्राय है। श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

कृष्णेर स्वरूपविचार शुन सनातन।
अद्वय ज्ञान-तत्त्व व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन॥
सर्व आदि सर्व अंशी किशोर शेखर।
चिदानन्द देह सर्वाश्रय सर्वेश्वर॥

अर्थात् हे सनातन ! अब श्रीकृष्णके स्वरूपके विषयमें मैं कहता हूँ, तुम सुनो। कृष्ण अद्वय ज्ञानतत्त्व हैं, और वे ही व्रजमें व्रजेन्द्रनन्दन हैं। वे सबके आदिकारण हैं, सब उन्हींके अंश हैं, वे अंशी हैं। वे किशोरशेखर श्रीकृष्ण चिदानन्दमूर्ति हैं, सबके आश्रय हैं, सर्वेश्वर हैं। ब्रह्मसंहितामें कहा है—

भक्ति-तत्त्वका दिग्दर्शन

शास्त्रोंकी आलोचना करते समय सबसे पहले अनुबन्ध-चतुष्टय अर्थात् अधिकारी, सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजनका विचार किया जाता है। अतएव भक्ति-शास्त्रके अनुबन्ध-चतुष्टय क्या हैं ? श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव कहते हैं कि भक्ति-शास्त्रके प्रति श्रद्धावान् व्यक्ति ही इसका अधिकारी है। 'वाच्य-वाचक-सम्बन्धः।' इस शास्त्रका प्रतिपाद्य विषय है—'उपास्य-तत्त्व'। अतएव शास्त्रका उपास्य-तत्त्वके साथ वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। उपास्य-तत्त्व श्रीकृष्णकी प्राप्तिका उपाय 'अभिधेय' है। अतएव भक्ति अभिधेय है और श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति ही इसका 'प्रयोजन' है।

१. अधिकारी (जीव-तत्त्व)

जब भक्ति-शास्त्रका अधिकारी श्रद्धावान् जीव है, तब यह स्वतः ही जिज्ञासा होती है कि जीव-तत्त्व क्या है और वह श्रद्धावान् होता कैसे है। पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें जीव-तत्त्वके विषयमें जामाता मुनि कहते हैं—

> ज्ञानाश्रयो ज्ञानगुणश्चेतनः प्रकृतेः परः।
> न जातो निर्विकारश्च एकरूपः स्वरूपभाक्॥
> अणुर्नित्यो व्याप्तिशीलश्चिदानन्दात्मकस्तथा।
> अहमर्थोऽव्ययः क्षेत्री भिन्नरूपः सनातनः॥
> अदाह्योऽच्छेद्य अक्लेद्य अशोष्योऽक्षर एव च।
> एवमादिगुणैर्युक्तः शेषभूतः परस्य वै॥
> मकारेणोच्यते जीवः क्षेत्रज्ञः परवान् सदा।
> दासभूतो हरेरेव नान्यस्यैव कदाचन॥
> आत्मा न देवो न नरो न तिर्यक् स्थावरो न च।
> न देहो नेन्द्रियं नैव मनः प्राणो न चापि धीः॥
> न जडो न विकारी च ज्ञानमात्रात्मको न च।
> स्वस्मै स्वयंप्रकाशः स्यादेकरूपः स्वरूपभाक्॥
> अहमर्थः प्रतिक्षेत्रं भिन्नोऽणुर्नित्यनिर्मलः।
> तथा ज्ञातृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वनिजधर्मकः॥
> परमात्मैकशेषत्वस्वभावः सर्वदा स्वतः॥

अर्थात् जीव देह नहीं है, ज्ञानका आश्रय है। ज्ञान उसका गुण है। जैसे अग्निका गुण दाह है, सूर्यका गुण प्रकाश है, उसी प्रकार जीवका गुण ज्ञान है। वह चेतन है, प्रकृतिके परे है। जैसे काष्ठमें व्यापक अग्नि काष्ठसे भिन्न है, उसी प्रकार देही (जीव) देहसे भिन्न है, इन्द्रिय, मन, प्राण या बुद्धि भी नहीं है। वह अजन्मा है, निर्विकार है, एकरूप रहता है। अणु है, नित्य है, व्यापक है, चित् और आनन्द-स्वरूप है। 'अहं'-शब्द-वाच्य, अविनाशी, क्षेत्री (शरीररूप क्षेत्रका स्वामी) शरीरसे भिन्नरूप, सदा एकरूप अदाह्य, अच्छेद्य, अक्लेद्य, अशोष्य, अक्षर आदि गुणोंसे युक्त है। जीव समस्त पदार्थोंका द्रष्टा और प्रकाशक है तथा स्वयं अपना भी द्रष्टा और प्रकाशक है। वह न जड़ है और न जड़से पैदा हुआ है। जीव केवल श्रीहरिका दास है, और किसीका नहीं। वह देवता नहीं, मनुष्य नहीं, न तिर्यक् है न स्थावर है। वह ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। कर्मानुसार उसका गमनागमन होता है। परमात्माका सेवक अनन्यदासत्व ही जीवका स्वभाव है।

ये जीव असंख्य हैं, अनन्त हैं। जल, स्थल और अन्तरिक्षमें कोई स्थान ऐसा नहीं, जो जीवोंसे खाली हो। जीवके सम्बन्धमें श्रीसनातन गोस्वामीके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

> जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास।
> कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश॥

अर्थात् स्वरूपतः जीव श्रीकृष्णका नित्यदास है, वह श्रीकृष्णकी तटस्था शक्ति है, भेद और अभेदरूपमें प्रकाशित होता है। शास्त्रोंमें अन्तरङ्गा, बहिरङ्गा और तटस्था भेदसे श्रीभगवान्‌की तीन शक्तियोंका उल्लेख पाया जाता है। श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

> कृष्णेर स्वाभाविक तिन शक्ति-परिणति।
> चित्-शक्ति, जीवशक्ति आर मायाशक्ति॥

अर्थात् श्रीभगवान्‌की स्वभावतः तीन शक्तियोंमें परिणति होती है—चित्-शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्तिमें। चित्-शक्ति ही अन्तरङ्गा शक्ति है, मायाशक्ति बहिरङ्गा तथा जीव-शक्ति तटस्था। श्रीनारदपाञ्चरात्रमें भी लिखा है—

> यत्तटस्थं तु चिद्रूपं स्वसंवेद्याद् विनिर्गतम्।
> रञ्जितं गुणरागेण स जीव इति कथ्यते॥

अर्थात् चित् पदार्थ स्वसंवेद्य मूलरूपसे निकलकर तटस्थ होकर रहता है। गुणरागके द्वारा रञ्जित वह तटस्थ चिद्रूप ही जीव कहलाता है। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

अर्थात् पूर्वोक्त आठ प्रकारकी अपरा प्रकृतिसे भिन्न एक मेरी जीवरूप परा प्रकृति है, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है। अर्थात् जैसे देहीके द्वारा यह देह धारण किया जाता है, उसी प्रकार असंख्य-असंख्य जीवोंके द्वारा जल, स्थल और अन्तरिक्षरूप अनन्त ब्रह्माण्ड धारण किया जाता है।

अब यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि 'जब जीव स्वयं भगवान्‌की, श्रीकृष्णकी तटस्था शक्ति है, तब फिर श्रीकृष्ण-तत्त्व है क्या?' वेद-वेदान्त आदि शास्त्रोंकी चरम आलोचना करनेसे ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण अखिल-प्रेम-रसानन्दमूर्ति हैं। वे नित्य रस-स्वरूप हैं, नित्य प्रेम-स्वरूप हैं तथा नित्य आनन्द-स्वरूप हैं। सूर्यकी किरणके समान, अग्निके स्फुलिङ्गके समान जीव इस अखिल-प्रेम-रस-आनन्द-स्वरूप श्रीकृष्णका ही अंश है। अतएव विशुद्ध प्रेम-रस-आनन्द ही जीवका प्रकृत स्वरूप या स्वभाव है। आनन्द ही ब्रह्म है, एवं परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ही परम तत्त्व हैं। इस आनन्दसे ही जीवोंकी उत्पत्ति होती है तथा आनन्दमें ही जीवोंका लय होता है। श्रुति भी कहती है—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।

अर्थात् ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। आनन्दसे ही भूतगण उत्पन्न होते हैं, आनन्दसे वे जीवित रहते हैं, आनन्दमें गमन करते हैं तथा आनन्दमें ही प्रवेश करते हैं।

अतएव प्रेमानन्द ही जीवका प्रकृत स्वरूप है। फिर यह इस संसारमें इतना दुःखी क्यों है? श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं कि जीव श्रीकृष्णकी तटस्था शक्ति है, उनकी अन्तरङ्गा और बहिरङ्गा शक्तियोंके मध्यमें स्थित है। अन्तरङ्गा शक्तिके आकर्षणको प्राप्तकर जीव श्रीकृष्णोन्मुख होता है—नित्यानन्द नित्य सुखका भोग करता है, परंतु बहिरङ्गा शक्तिके आकर्षणसे वह मायामुग्ध होकर सांसारिक क्लेशोंको भोगता है। श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

कृष्ण भुलि सेइ जीव अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसार दुःख॥
कभु स्वर्गे उठाय, कभु नरके डुबाय।

अर्थात् यही अनादि जीव श्रीकृष्णको भूलकर जब बहिर्मुख होता है, तब माया उसको सांसारिक दुःख प्रदान करती है। कभी ऊपर उठाकर स्वर्गमें ले जाती है तो कभी नरकमें डुबा देती है। अविद्या या माया श्रीभगवान्‌की परिचारिका है। भगवद्विमुख जीवोंका अपने प्रभुकी अवज्ञा करना वह सहन नहीं कर सकती। इसीलिये दण्डविधान करती है। अतएव भगवद्विमुखता ही दुःखका हेतु है और इस मायासे निस्तार पानेका एकमात्र उपाय है—भगवान्‌के सम्मुख होना। गीतामें भी भगवान् कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

अर्थात् यह दैवी त्रिगुणमयी मेरी माया दुरत्यय है, इससे पार पाना कठिन है। जो मेरी शरणमें आ जाते हैं, वे ही इस मायासे निस्तार पाते हैं। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
(श्रीमद्भागवत ११। १४। २०)

'हे उद्धव! मैं श्रद्धापूर्वक की हुई एकमात्र भक्तिसे ही वशमें होता हूँ; क्योंकि मैं संतोंकी आत्मा और प्रिय हूँ। मेरी दृढ़भक्ति चाण्डालको भी जातिदोषसे पवित्र करती है।' अतएव भक्ति ही श्रीकृष्ण-प्राप्तिका उपाय है। भक्तिके द्वारा श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति होती है। प्रेमसे दुःख दूर होता है और संसार-यातना तिरोहित हो जाती है। परंतु इस प्रेमका मुख्य प्रयोजन श्रीकृष्ण-प्रेमका आस्वादन ही है।

२. सम्बन्ध (भगवत्तत्त्व)

वेदादि समस्त शास्त्र सब प्रकारसे श्रीकृष्णके ही परतत्त्व-को प्रकट करते हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण ही परतत्त्व हैं, उनके ऊपर कोई दूसरा उपास्य-तत्त्व नहीं है—यही सब शास्त्रोंका अभिप्राय है। श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

कृष्णेर स्वरूपविचार शुन सनातन।
अद्वय ज्ञान-तत्त्व व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन॥
सर्व आदि सर्व अंशी किशोर शेखर।
चिदानन्द देह सर्वाश्रय सर्वेश्वर॥

अर्थात् हे सनातन! अब श्रीकृष्णके स्वरूपके विषयमें मैं कहता हूँ, तुम सुनो। कृष्ण अद्वय ज्ञानतत्त्व हैं, और वे ही व्रजमें व्रजेन्द्रनन्दन हैं। वे सबके आदिकारण हैं, सब उन्हींके अंश हैं, वे अंशी हैं। वे किशोरशेखर श्रीकृष्ण चिदानन्दमूर्ति हैं, सबके आश्रय हैं, सर्वेश्वर हैं। ब्रह्मसंहितामें कहा है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥
(ब्र. सं० ५-१)

अर्थात् श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं, सच्चिदानन्दविग्रह हैं, अनादि हैं और (सबके) आदि—मूलकारण हैं। गोविन्द सब कारणोंके कारण हैं अर्थात् उनका कारण कोई नहीं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥
(१।२।११)

अर्थात् तत्त्ववेत्तागण जिसको अद्वय ज्ञान-तत्त्व कहते हैं, वही ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्—इन तीन शब्दोंसे अभिहित होता है।

एक ही अद्वयतत्त्वकी यह त्रिविध अनुभूति है। जैसे दूरसे दीखनेवाला सूर्यका विस्तृत प्रकाश समीपसे गोलाकार ज्योतिःपिण्डके रूपमें तथा और भी समीप जानेपर उसमें विराजित भगवान् सूर्यदेवके रूपमें मूर्तिमान् दिखायी देता है, उसी प्रकार ज्ञानके उदयकालमें साधकके शुद्ध सात्त्विक हृदय-पटपर जो भगवद्विग्रहका आलोक प्रतिफलित होता है, उसे ब्रह्म कहते हैं। यह सत्तामात्र आलोक ही निर्गुणवादियोंके द्वारा निर्गुण, निराकार, निर्विशेष, निष्क्रिय आदि नामोंसे पुकारा जाता है। यही आलोकपुञ्ज जब बिम्बरूपसे साधकके हृदयाकाशमें प्रतिभात होता है, तब इसे 'परमात्मा' कहते हैं। योगिजन इसका प्रादेशमात्र दीपकलिका-ज्योतिके समान दर्शन करते हैं। इसीको जगत्का 'अन्तर्यामी' माना जाता है। ये 'ब्रह्मानुभव' और 'परमात्मदर्शन' दोनों ही भगवत्तत्त्वके आंशिक बोध मात्र हैं। इस 'ब्रह्म' के प्रतिष्ठान और 'परमात्मा' के अधिष्ठानभूत परमतत्त्वको ही 'भगवान्' कहते हैं। भक्तोंको प्रेमाञ्जनच्छुरित नेत्रोंसे अचिन्त्य-अनन्त-गुणसम्पन्न, षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् श्यामसुन्दररूपके मधुर दर्शन होते हैं। ब्रह्मतत्त्वके सम्बन्धमें उपनिषद् कहते हैं—

ॐ एकमेवाद्वितीयम्। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

—सम्भवतः इस श्रुतिका अवलम्बन करके ही श्रीकृष्णको अद्वय ज्ञानतत्त्वकी संज्ञा दी गयी है। वही परम ब्रह्म भगवान् हैं। उपर्युक्त भागवतीय श्लोककी व्याख्या करते हुए श्रीजीव गोस्वामी लिखते हैं—

अद्वयत्वं चास्य स्वयंसिद्धतादृशातादृशतत्त्वान्तराभावात् स्वशक्त्येकसहायत्वात् परमाश्रयं तं विना तासामसिद्धत्वाच्च।

अर्थात् स्वयंसिद्ध तादृश और अतादृश (सजातीय और विजातीय) तत्त्विरूप किसी अन्य तत्त्वके न होनेके कारण तथा एकमात्र स्वशक्तिपर अवलम्बित होनेके कारण और अन्य सब शक्तियोंके परम आश्रय होनेके कारण श्रीकृष्ण ही अद्वयतत्त्व हैं; उनके बिना कोई शक्ति कर्म नहीं कर सकती। श्रुति भी कहती है—

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।
(श्वेताश्वतर० ६।८)

अतः स्पष्ट है कि परमब्रह्मकी नाना प्रकारकी शक्तियाँ हैं। उनमें ज्ञान, बल और क्रिया स्वाभाविक हैं, जिनके प्रभावसे जगत्-व्यापार आदि कार्य सम्पन्न होते रहते हैं। उसी परब्रह्मका नाम श्रीकृष्ण है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥
(श्रीमद्भा० १०।१४।५५)

'हे महाराज! तुम इन श्रीकृष्णको सम्पूर्ण जीवात्माओंका आत्मा जानो, जो वैसे होकर भी जगत्के हितके लिये अपनी योगमायाके प्रभावसे सर्वसाधारणके सामने सांसारिक जीवोंके समान जान पड़ते हैं।'

यह श्रीकृष्णतत्त्व ही है, जिससे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न होकर विवृत हो रहे हैं; इसका समर्थन आधुनिक ज्योतिर्विज्ञानके द्वारा भी होता है। रात्रिके समय नील आकाशकी ओर देखिये। अनन्त नक्षत्रमालाएँ रत्नके समान शुभ्र किरणोंसे युक्त दीख पड़ेंगी। वे यद्यपि देखनेमें अति क्षुद्र हैं, फिर भी वस्तुतः उनमें अनेकों तारे सूर्यकी अपेक्षा भी कई लाख गुना बड़े हैं। यह सूर्य भी, जो इतना छोटा दीख पड़ता है, इस पृथ्वीकी अपेक्षा चौदह लाख गुना बड़ा है। परंतु जो नक्षत्रपुञ्ज आकाशमें हम देखते हैं, वे वस्तुतः अनन्त आकाशमें फैली असंख्य नक्षत्रराशिके करोड़वें अंशके बराबर हैं। इससे विश्वब्रह्माण्डकी विशालता और असीमताका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इनमेंसे एक-एक नक्षत्र-विशेषको केन्द्रमें लेकर अनेकों ग्रह अपने उपग्रहों और उल्काओंके साथ भ्रमण कर रहे हैं। जैसे पृथ्वी, मङ्गल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, यूरेनस, नेपच्यून और प्लूटो—ये नौ ग्रह सूर्यकी परिक्रमा करते हुए सौरमण्डलका निर्माण करते हैं, वैसे इस अनन्त आकाशमें असंख्य सौर मण्डल हैं। सबकी रचना और गति-विधि विलक्षण ही है। वे नाना प्रकारके रक्त, नील, पीत आदि वर्णोंसे युक्त हैं। उनके प्रकाश और तापमें भी निरन्तर परिवर्तन देखा जाता है। एम्० फ्लेमेरियन नामक फ्रेंच ज्योति

मिथुनके स्थान, हेक तथा हाइड्रा प्रभृति नक्षत्रपुञ्जोंके विषयमें बतलाया है कि ये नक्षत्र-पुञ्ज कुछ दिनोंतक प्रकाशकिरणोंको बिखेरकर अन्धकारमें विलीन हो जाते हैं। सम्भवतः इनमें हमारी पृथ्वीकी दृष्टिसे दो-दो तीन-तीन महीनोंका रात-दिन होता है। यह अनन्त विलक्षणताओंसे युक्त अनन्त तारकाराशि केन्द्राकर्षण और केन्द्रापकर्षण—दो विभिन्न शक्तियोंके द्वारा विधृत होकर जीवन-यापन कर रही हैं। यदि ये आकर्षण-शक्तियाँ न होतीं तो ब्रह्माण्डकी सारी व्यवस्था ही नष्ट हो जाती। अनन्त सौरमण्डल इसी आकर्षण-शक्तिके परस्पर अवस्थित हैं। इससे यह सहज ही कल्पना की जा सकती है कि इस अनन्त कोटि ब्रह्माण्डका एक ऐसा भी केन्द्र है, जिसके आकर्षणसे ये दृष्टादृष्ट, कल्पित, कल्पनातीत, अनुमित और अनुमानातीत निखिल विश्व-ब्रह्माण्ड आकृष्ट होकर उसमें विधृत हो रहे हैं। वे सर्वाकर्षक, सर्वाधार, सर्वपोषक, सर्वाश्रय, निखिल आकर्षण और निखिल शक्तिके परमाश्रय और परमाधार श्रीकृष्ण गोविन्द ही हैं।

पाठकोंको इस विवेचनसे 'श्रीकृष्ण' शब्दकी वैज्ञानिक निरुक्ति सहज ही समझमें आ सकती है। वस्तुतः श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं; जो सर्वापेक्षा बृहत्तम है, वही श्रीकृष्ण हैं—

यद्वेव परमं ब्रह्म सर्वतोऽपि बृहत्तमम्।
सर्वस्मादपि बृंहणत्वात् कृष्ण इत्यभिधीयते॥

'जो परम ब्रह्म है, सबसे बृहत्तम है, सबको फैलाये हुए है, वही श्रीकृष्ण कहलाता है।' बृहद् गौतमीतन्त्रमें भी आया है—

अथवा कर्षयेत् सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम्।
कालरूपेण भगवांस्तेनायं कृष्ण उच्यते॥

अर्थात् भगवान् सारे स्थावर-जङ्गम जगत्‌को कालरूपसे आकर्षित कर रहे हैं, इसी कारण वे श्रीकृष्ण कहलाते हैं।

सम्बन्ध-तत्त्वमें अवतारवाद

इस जगत्‌में सच्चिदानन्दविग्रह श्रीभगवान् जो अपने रूपको प्रकट करते हैं, वह उनका अपना रूप प्रकट करना ही अवतार कहलाता है। वे अशेषकल्याणगुणमय हैं। दया उनका विशिष्ट गुण है। जीवके प्रति श्रीभगवान्‌की दयाको सभी धर्म विभाती स्वीकार करते हैं। परंतु जब जीवके परित्राणका उपाय प्रदर्शन करनेके लिये वे जगत्‌में अवतीर्ण होते हैं, तब उनकी दयाका प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त होता है। अन्य किसी अवस्थामें उनकी दया वैसे समुज्ज्वलरूपमें प्रकाशित नहीं होती। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तथायं चावतारस्ते भुवो भारजिहीर्षया।
स्वानां चानन्यभावानामनुध्यानाय चासकृत्॥
(१।७।२५)

अतएव श्रीभगवान्‌के अवतारका उद्देश्य है—पृथ्वीके भारका हरण तथा अनन्यभावविशिष्ट अपने भक्तोंके अनुध्यानमें सहायता करना। भगवान् स्वरूपशक्तिके विलासरूपमें इस जगत्‌में अपने रूपको प्रकट करते हैं। भक्तोंको सुख देनेके लिये ही उनकी श्रीमूर्ति प्रपञ्चमें आविर्भूत होती है। गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

धर्म ही जीवके मङ्गलका हेतु है। धर्मकी उन्नतिसे ही जीवकी उन्नति होती है। धर्मसे च्युत होना ही जीवका अधःपतन है। इस धर्मकी रक्षाके लिये ही श्रीभगवान् इस धराधाममें अवतीर्ण होते हैं। उपर्युक्त श्लोककी टीकामें श्रीमधुसूदन सरस्वतीके कथनका अभिप्राय यह है कि कर्मफलके भोगके लिये जीवका जन्म होता है। कर्मानुसार जीव देह ग्रहण करता है। परंतु जो सर्वकारणोंके कारण तथा सर्वकर्मातीत हैं, उनका देहधारण कर्माधीन नहीं है और न उनका शरीर ही भौतिक शरीर है। इसी कारण बृहद् विष्णुपुराणमें कहा गया है—

यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः।
स सर्वस्माद् बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्तविधानतः॥

भाष्यकार श्रीशंकराचार्यजी भी कहते हैं—

स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा सम्पन्नस्त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्याजोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन् स्वमायया देहवानिव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन् लक्ष्यते, स्वप्रयोजनाभावेऽपि भूतानुजिघृक्षया।

अर्थात् ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजके द्वारा सदा सम्पन्न वे भगवान् अपनी त्रिगुणात्मिका वैष्णवी माया, मूलप्रकृतिको वशीभूत करके, निखिल भूतोंके ईश्वर तथा अज, अव्यय, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव होते हुए भी अपनी मायाके द्वारा देहवान्‌के समान प्रकट होते हुए-से तथा

उनका अपना कोई प्रयोजन न होनेपर भी सब जीवोंके प्रति अनुग्रहकी इच्छासे संसारका कल्याण करते हुए दीख पड़ते हैं।

श्रीभगवान्‌की प्रकृति भौतिक नहीं है, उनका श्रीविग्रह भौतिक नहीं है—इस बातको श्रीमद्रामानुजाचार्य, श्रीमधुसूदन सरस्वती, श्रीमद्विश्वनाथ चक्रवर्ती, श्रीमान् बलदेव विद्याभूषण तथा महाभारतके टीकाकार श्रीमान् नीलकण्ठ प्रभृतिने शास्त्र और युक्तिके अनुसार सुस्पष्टरूपसे प्रमाणित कर दिया है। श्रीभगवान्‌ने गीतामें स्वयं अपने श्रीमुखसे कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

तात्पर्य यह है कि भगवान्‌के जन्म और कर्म दिव्य हैं, भौतिक नहीं। श्रीजीव गोस्वामी कहते हैं कि 'ईश्वरका ज्ञानादि जैसे नित्य है, देह भी वैसे ही नित्य है। उनमें देह-देहीका भेद नहीं है। जीवदेह जैसे चेतनाविहीन होनेपर 'शव' बन जाता है, भगवद्देहके बारेमें ऐसी बात नहीं; वह सदा ही चिदानन्दस्वरूप बना रहता है। अतएव श्रीविग्रह सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् ही हैं।' वे श्रीभगवत्संदर्भमें लिखते हैं—

यदात्मको भगवान् तदात्मिका व्यक्तिः। किमात्मको भगवान्? ज्ञानात्मक ऐश्वर्यात्मकः शक्त्यात्मकश्च।

अर्थात् भगवान् जैसे हैं, वैसी ही उनकी अभिव्यक्ति होती है। भगवान् कैसे हैं? वे ज्ञानस्वरूप हैं, ऐश्वर्यस्वरूप हैं और शक्तिस्वरूप हैं। भगवान्‌के स्वरूपसे भगवद्देह भिन्न नहीं है। जो स्वरूप है, वही विग्रह है। विज्ञान-आनन्द भगवान्‌का स्वरूप है, अतएव भगवद्विग्रह भी विज्ञानानन्दमय है। भगवान् रसस्वरूप हैं, अतएव श्रीभगवद्विग्रह भी रसमय है। भगवान् गीतामें कहते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

अर्थात् मूढलोग मुझको भौतिक मानव देह धारण किये हुए समझकर मेरी अवज्ञा करते हैं। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि सर्वव्यापक परम ब्रह्म सीमित मानव-देह कैसे धारण कर लेता है। इसका उत्तर यह है कि जो सर्वव्यापक है, निराकार, निर्विकार है, वह सर्वशक्तिमान् भी है। अतएव वह साकार रूपमें प्रकट हो, इसमें कुछ भी असम्भव या अलौकिक नहीं है। दुर्गासप्तशतीमें श्रीअम्बिका देवीके प्राकट्यके विषयमें लिखा है—

अतुलं तत्र तत्तेजः सर्वदेवशरीरजम्।
एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा॥

भाव यह है कि सम्पूर्ण देवताओंके शरीरसे उत्पन्न अतुल तेज एकत्र होकर नारीके रूपमें प्रकट हुआ और उस तेजसे तीनों लोक व्याप्त हो उठे। अर्थात् सूक्ष्मसे स्थूलरूप प्रकट हुआ।

वेदादि शास्त्रोंमें देवताओंकी विग्रहवत्ता भी स्वीकृत हुई है। निरुक्तकार यास्कमुनि कहते हैं—

अथाकारचिन्तनं देवतानाम्। पुरुषविधाः स्युरित्येकं। चेतनावद्वद्धि स्तुतयो भवन्ति। तथाभिधानानि। अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते। (१।७।१।६)

अर्थात् वेद-मन्त्रोंमें मनुष्योंके समान आकारविशिष्ट रूपमें देवताओंका चिन्तन होता है, चेतनके समान उनकी स्तुतियाँ होती हैं तथा पुरुषके समान उनके आख्यायिका वर्णन पाया जाता है। मन्त्रोंमें मनुष्यके समान अङ्ग-प्रत्यङ्गसे युक्त विग्रहरूपमें उनकी उपलब्धि होती है।

श्रीशंकराचार्यने ब्रह्मसूत्र, १। ३। २७ के शारीरक भाष्यमें लिखा है—

एकस्यापि देवतात्मनो युगपद् अनेकस्वरूपप्रतिपत्तिः सम्भवति।

अर्थात् एक देवतात्मा आत्मा भी अनेक स्वरूप ग्रहण कर सकता है। योगी भी कायव्यूहका विस्तार कर सकता है। जैसे—

आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ।
योगी कुर्याद् बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्॥
प्राप्नुयाद् विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्।
संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव॥

अर्थात् हे राजन्! योगबलको प्राप्त करके योगी बहुत-से शरीर धारण कर सकता है और उन सबके द्वारा पृथ्वीपर विचरण कर सकता है। किसी शरीरसे विषयोंको प्राप्त करता है तो किसी शरीरके द्वारा उग्र तप करता है और फिर उन शरीरोंको अपने भीतर इस प्रकार समेट लेता है जैसे सूर्य अपनी रश्मियोंको बटोर लेता है।

योगदर्शनमें आया है—

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।

अर्थात् मन्त्र-जपसे इष्टदेवताके दर्शन होते हैं। अतएव जब देवता और मनुष्य इस प्रकार शरीर धारण करनेमें समर्थ हैं, तब सर्वशक्तिमान् प्रभुके लिये अप्राकृतविग्रह धारण करना सर्वथा सम्भव है। इसमें किसी प्रकारकी शङ्काके लिये स्थान ही नहीं है।

अब यहाँ भगवान्‌के विविध अवतारोंके विषयमें कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है—

(क) पुरुषावतार

भगवान्‌के पुरुषावतारके विषयमें सात्वततन्त्रमें आता है—

> विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः ।
> एकं तु महतः स्रष्टृ द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम् ।
> तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते ॥

विष्णुभगवान्‌के तीन रूप शास्त्रमें निर्दिष्ट हुए हैं। उनमें जो प्रकृतिके अन्तर्यामी हैं और महत्तत्त्वके स्रष्टा हैं, उनका नाम प्रथम पुरुष है। जो ब्रह्माण्डके और जीव-समष्टिके अन्तर्यामी हैं, उनका नाम द्वितीय पुरुष है। तथा जो सर्वभूतोंके अथवा व्यष्टि जीवके अन्तर्यामी हैं, उनका नाम तृतीय पुरुष है।

प्रलयलीन, वासनाबद्ध, भगवद्विमुख जीवोंके प्रति करुणा-वश भगवान् सृष्टिकी इच्छा करते हैं, जिससे वे जीव संसारमें कर्म करते हुए भगवत्सांनिध्य प्राप्त करनेकी चेष्टा करें और वासनाजालसे मुक्त हों। इस इच्छासे भगवान् पुरुषरूप होकर प्रकृतिकी ओर देखते हैं। इससे प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है और गुणत्रयमें वैषम्य होकर महत्तत्त्वसे लेकर क्षित्यादिपर्यन्त सारे तत्त्वोंकी सृष्टि होती है। ये प्रथम पुरुष ही इस सृष्टिके कर्ता हैं। इनको महाविष्णु या संकर्षण कहते हैं। इनका रूप विराट् है।

इस महदादि सृष्टि और असंहत कारण-तत्त्वोंको परस्पर सम्मिलित करनेके लिये प्रथम पुरुष अंशतः अनेक रूप होकर उनमें प्रवेश करते हैं। यह प्रविष्ट अंश ही द्वितीय पुरुष है। ये अपने प्रबल आकर्षणके द्वारा उनको चक्रगति प्रदान करते हैं। इस प्रकार वे तत्त्व चक्रगतिविशिष्ट होकर, पञ्चीकृत दशामें, चक्राकारमें आवर्तित और आकुञ्चित होकर, केन्द्र-विच्छिन्न होकर अनन्त ब्रह्माण्डका आकार धारण करते हैं। द्वितीय पुरुष इस ब्रह्माण्डके सृष्टिकर्ता हैं, इनको गर्भोदशायी और प्रद्युम्न आदि नामोंसे अभिहित किया जाता है। ये भी विराट्‌रूप हैं।

द्वितीय पुरुषद्वारा यह ब्रह्माण्ड सूक्ष्म होता है। स्थूल सृष्टिके लिये द्वितीय पुरुषसे विविध अवतारोंका प्रादुर्भाव होता है। उनमें जो पालनकर्ता विष्णु हैं, उन्हींको तृतीय पुरुष कहते हैं। ये व्यष्टि जीवके अन्तर्यामी हैं, इन्हें क्षीरोदशायी और अनिरुद्ध भी कहते हैं। ये चतुर्भुज हैं, इन्हें अन्तर्यामी परमात्मा भी कहा जाता है।

(ख) गुणावतार

स्थूल सृष्टि या चराचर-सृष्टिके लिये गुणावतारोंका प्रयोजन होता है। उनमें सृष्टिकर्ता रजोगुणविशिष्ट ब्रह्मा, संहारकर्ता तमोगुणविशिष्ट रुद्र तथा पालनकर्ता सत्त्वगुण-विशिष्ट विष्णु हैं।

(ग) लीलावतार

भगवान्‌के जिन अवतारोंमें प्रयासरहित, विविध विचित्रताओंसे पूर्ण, नित्य नूतन उत्साह-तरङ्गोंसे युक्त, स्वेच्छाधीन कार्य दृष्टिगोचर होते हैं, उनको लीलावतार कहते हैं। लीलावतार पूर्ण, अंश और आवेश-भेदसे तीन प्रकारके होते हैं। कल्पावतार और युगावतार—सबका समावेश लीलावतारके उक्त तीन भेदोंके अन्तर्गत हो जाता है। एकमात्र श्रीकृष्ण ही पूर्णावतार हैं। श्रीमद्भागवतके अनुसार १४ मन्वन्तरावतार हैं। जैसे—

१. यज्ञ—ये स्वायम्भुव मन्वन्तरके पालक हैं। इनके पिताका नाम रुचि और माताका नाम आकूति था।

२. विभु—स्वारोचिष मन्वन्तरके पालक हैं। पिता वेदशिरा, माता तुषिता।

३. सत्यसेन—औत्तमीय मन्वन्तरके पालक। पिता धर्म, माता सूनृता।

४. हरि—तामसीय मन्वन्तरके पालक और गजेन्द्रको मोक्ष देनेवाले। पिता हरिमेध और माता हरिणी।

५. वैकुण्ठ—रैवतीय मन्वन्तरके पालक। पिता शुभ्र, माता विकुण्ठा।

६. अजित—चाक्षुषीय मन्वन्तरके पालक। पिता वैराज, माता सम्भूति। ये ही कूर्मरूपधारी हैं।

७. वामन—वैवस्वत मन्वन्तरके पालक। पिता कश्यप, माता अदिति।

८. सार्वभौम—सावर्णीय मन्वन्तरके पालक। पिता देवगुह्य, माता सरस्वती।

९. ऋषभ—दक्षसावर्णीय मन्वन्तरके पालक। पिता आयुष्मान्, माता अम्बुधारा।

१०. विष्वक्सेन—ब्रह्मसावर्णीय मन्वन्तरके पालक। पिता विश्वसृज्, माता विषूची।

११. धर्मसेतु—धर्मसावर्णीय मन्वन्तरके पालक। पिता आर्यक, माता वैधृता।

१२. सुधामा—रुद्रसावर्णीय मन्वन्तरके पालक। पिता सत्यसह, माता सूनृता।

१३. योगेश्वर—देवसावर्णीय मन्वन्तरके पालक। पिता देवहोत्र, माता बृहती।

१४. बृहद्भानु—इन्द्रसावर्णीय मन्वन्तरके पालक। पिता सत्रायन, माता विनता।

कल्पावतार—२५ हैं—जैसे (१) चतुस्सन (सनत्कुमार, सनक, सनन्दन और सनातन), (२) नारद। ये दोनों अवतार ब्राह्म कल्पमें आविर्भूत होते हैं और सभी कल्पोंमें विद्यमान रहते हैं। (३) वाराह—इनका दो बार आविर्भाव होता है, पहला ब्राह्म कल्पके स्वायम्भुव मन्वन्तरमें ब्रह्माके नासारन्ध्रसे और दूसरा ब्राह्म कल्पके चाक्षुष मन्वन्तरमें जलसे। (४) मत्स्य, (५) यज्ञ, (६) नर-नारायण, (७) कपिल, (८) दत्तात्रेय, (९) हयशीर्ष, (१०) हंस, (११) ध्रुवप्रिय या पृश्निगर्भ, (१२) ऋषभ, (१३) पृथु—ये ११ अवतार स्वायम्भुव मन्वन्तरमें होते हैं। (१४) नृसिंह, (१५) कूर्म, (१६) धन्वन्तरि, (१७) मोहिनी, (१८) वामन, (१९) परशुराम, (२०) रामचन्द्र, (२१) व्यास, (२२) बलराम, (२३) श्रीकृष्ण, (२४) बुद्ध और (२५) कल्कि। इनमें अन्तिम आठ वैवस्वत मन्वन्तरके अवतार हैं।

युगावतार ४ हैं—सत्ययुगमें शुक्ल, त्रेतामें रक्त, द्वापरमें श्याम और कलिमें कृष्ण। यज्ञ और वामन अवतारों-का समावेश मन्वन्तरावतार तथा कल्पावतार दोनोंमें होता है।

सम्बन्ध-तत्त्वमें श्रीकृष्ण

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् एक ही अद्वय तत्त्वके वाचक शब्द हैं। परंतु साधकोंके भावानुसार ये तीनों शब्द तीन विभिन्न अर्थोंमें व्यवहृत होते हैं। जहाँ किसी गुणका प्रकाश नहीं है, तादात्म्य-साधनके द्वारा साधकके हृदयमें जब वैसे तत्त्वकी स्फूर्ति होती है, तब उसको ब्रह्म कहते हैं। विश्वस्थितिरूपसे दीखनेवाले अन्तर्यामीको योगी परमात्मा कहते हैं और भक्तकी भावनामें सर्वगुण-परिपूर्ण, अशेषकल्याणगुणमय श्रीभगवत्तत्त्वकी स्फूर्ति होती है। ये ऐश्वर्य-वीर्यादि अशेष कल्याणगुणोंके निधान परम तत्त्व ही श्रीभगवान् हैं। श्रीजीवगोस्वामी श्रीकृष्ण-संदर्भमें लिखते हैं—

पूर्वं च आनन्दमात्रं विशेष्यं समस्ताः शक्तयो विशेषणानि विशिष्टो भगवान् इत्यायातम्। तथा चैवं वैशिष्ट्ये प्राप्ते पूर्णाविर्भावत्वेन अखण्डतत्त्वरूपोऽसौ भगवान्—ब्रह्म तु स्फुटमप्रकटितवैशिष्ट्याकारत्वेन तस्यैव असम्यगाविर्भाव इत्यायातम्॥

अर्थात् शक्तिविशिष्टताके साथ परम तत्त्वका जो पूर्ण आविर्भाव है, वही भगवत्-शब्दवाच्य है। ब्रह्म उसका असम्यक् आविर्भाव मात्र है। ब्रह्ममें शक्तिकी स्फूर्ति लक्षित नहीं होती; परंतु भगवत्तत्त्वमें शक्तिकी लीला परिलक्षित होती है। अतएव श्रीभगवत्-शक्ति-प्रकटनका तारतम्य ही अंशत्व, पूर्णत्व, पूर्णतरत्व और पूर्णतमत्वका परिमाण है। श्रीजीवगोस्वामीने 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'—इस भागवतीय श्लोककी व्याख्यामें श्रीवृन्दावनविहारी श्रीकृष्णको पूर्णतम कहकर निर्देश किया है। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें भी लिखा है—

> पूर्णो नृसिंहो रामश्च श्वेतद्वीपविराड् विभुः।
> परिपूर्णतमः कृष्णो वैकुण्ठे गोकुले स्वयम्॥
> वैकुण्ठे कमलाकान्तो रूपभेदाच्चतुर्भुजः।
> गोलोकगोकुले राधाकान्तोऽयं द्विभुजः स्वयम्॥
> अस्यैव तेजो नित्यं च चित्ते कुर्वन्ति योगिनः।
> भक्ताः पादाम्बुजं तेजः कुतस्तेजस्विना विना॥
>
> (ब्रह्मवैवर्त, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, पूर्वार्द्ध, अध्याय १)

अर्थात् नृसिंह, राम और श्वेतद्वीपके विराट् विभु—ये पूर्ण हैं। परंतु वैकुण्ठमें और गोकुल (वृन्दावन) में श्रीकृष्ण ही परिपूर्णतम हैं। वैकुण्ठमें कृष्णकी विलासमूर्ति कमलापति नारायण विराजित हैं। वहाँ वे चतुर्भुज हैं। गोलोकमें तथा गोकुलमें वही द्विभुज राधाकान्त हैं। इन्हींके तेजका योगिजन नित्य चिन्तन करते हैं, भक्तगण इन्हींके चरण-कमलोंकी उपासना ध्यान करते हैं।

इनके अतिरिक्त माधुर्य-संयुक्त ऐश्वर्य बहुत ही दुर्लभ होता है। श्रीकृष्णमें जैसा परमैश्वर्य और परम माधुर्यका पूर्णतम समावेश देखा जाता है, वैसा अन्यत्र कहीं देखनेमें नहीं आता। विष्णुपुराणमें कहा गया है—

> समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशावृतभूतवर्गः।
> इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः संसाधिताशेषजगद्धितो यः॥
>
> (६।५।८४)

अर्थात् वे सम्पूर्ण कल्याण-गुणोंके स्वरूप हैं, उन्होंने अपनी

माया शक्तिके लेशमात्रसे सम्पूर्ण प्राणियोंको व्याप्त किया है, और अपने इच्छानुसार मनमाने विविध देह धारण करते हैं और जगत्‌का अशेष कल्याण-साधन करते हैं। यह अनन्तगुणविशिष्ट परम तत्त्व ही भगवान् हैं तथा भागवतके अकाट्य प्रमाणके अनुसार श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। श्रीलघुभागवतामृतमें कहा गया है—

> इति शास्त्रेषु तस्य महास्वरूपता।
> माधुर्यादिगुणाधिक्यात् कृष्णस्य श्रेष्ठतोच्यते॥
> अतः कृष्णोऽप्राकृतानां गुणानां निःसुतायुतैः।
> विशिष्टोऽयं महाशक्तिः पूर्णानन्दघनाकृतिः॥

अर्थात् मुख्य मुख्य शास्त्रोंमें माधुर्यादि गुणकी अधिकताके कारण ब्रह्मस्वरूपकी अपेक्षा श्रीकृष्णकी श्रेष्ठता वर्णित की गयी है। अतएव असंख्य अप्राकृत गुणोंसे युक्त होनेके कारण श्रीकृष्ण महाशक्तिमान् और पूर्णानन्दघन हैं।

भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

> यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
> तत् तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

अर्थात् हे अर्जुन! ऐश्वर्ययुक्त, सम्पत्तियुक्त तथा बल-प्रभावादिके आधिक्यसे युक्त जितनी वस्तुएँ हैं, उन सबको मेरी शक्तिके लेशसे उत्पन्न हुआ जानो। तथा—

> अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
> विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

'हे अर्जुन! मेरी विभूतिके विषयमें तुमको इतना अधिक जाननेसे क्या प्रयोजन—मैं अपनी प्रकृतिके एक अंश अन्तर्यामी पुरुष अर्थात् परमात्मरूपसे इस जड-चेतनात्मक जगत्‌को व्याप्त करके अवस्थित हूँ।'

भगवान्‌के ऐश्वर्यका अन्त नहीं है। श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णलीलाके सम्बन्धमें श्रीसनातनजीसे कहते हैं कि व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण चिरकिशोर हैं। प्रकट और अप्रकट-भेदसे उनकी लीला दो प्रकारकी है। वे जब प्रकट-लीला करनेकी इच्छा करते हैं, तब पहले पिता-माता और भक्तोंको आविर्भूत करते हैं, उसके बाद स्वयं आविर्भूत होते हैं। श्रीकृष्ण सम्पूर्ण भक्तिरसोंके आश्रय हैं तथा नित्यलीलामें विहार करते हैं। नरलीलाका अनुकरण करनेमें विभिन्न वयस् होनेपर भी वे चिरकिशोर हैं। उनकी सारी लीलाएँ नित्य हैं। ब्रह्माण्ड अनन्त हैं, एक एक ब्रह्माण्डमें क्षण-क्षणमें पूतना-वध आदि सारी लीलाएँ प्रकाशित होती रहती हैं।

श्रीकृष्णका प्रकट प्रकाशकाल १२५ वर्ष है, जिसमें वे व्रजमें अपना प्रकट लीला-विलास करते हैं। श्रीकृष्ण-लीलामें भी तारतम्य पाया जाता है। व्रजधाममें श्रीकृष्ण सम्पूर्ण ऐश्वर्यसे परिपूर्णतम रूपमें प्रकाशित होते हैं, अतएव व्रजमें वे पूर्णतम हैं, मथुरामें पूर्णतर हैं और द्वारकामें पूर्ण। श्रीकृष्ण सर्वत्र एक ही हैं; परंतु केवल उनके ऐश्वर्य-माधुर्यके प्रकाशके तारतम्यमें पूर्णतमता, पूर्णतरता और पूर्णता प्रकटित होती है। जैसे एक ही चन्द्र विभिन्न तिथियोंमें कला किरणोंको प्रकाशित करते हुए पूर्णिमाकी रात्रिमें पूर्णतमताको प्राप्त होता है, व्रजमें भी उसी प्रकार श्रीकृष्ण अपने पूर्णतम ऐश्वर्य और माधुर्यको प्रकाशित करते हैं।

इसी कारण वृन्दावन धामकी महामहिमा है। भगवान् स्वयं श्रीमुखसे कहते हैं—

> इदं वृन्दावनं रम्यं मम धामैव केवलम्।
> पञ्चयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम्॥
> कालिन्दीयं सुषुम्णाख्या परमामृतवाहिनी।
> अत्र देवाश्च भूतानि वर्तन्ते सूक्ष्मरूपतः॥
> सर्वदेवमयश्चाहं न त्यजामि वनं क्वचित्।
> आविर्भावस्तिरोभावो भवत्यत्र युगे युगे॥
> तेजोमयमिदं रम्यमदृश्यं चर्मचक्षुषा॥

'यह रम्य वृन्दावन ही मेरा एकमात्र धाम है। यह पाँच योजन विस्तारवाला वन मेरा देह ही है। यह कालिन्दी परम अमृतरूप जल प्रवाहित करनेवाली मेरी सुषुम्णा नाड़ी है। यहाँ देवतागण सूक्ष्मरूपसे निवास करते हैं और सर्वदेवमय मैं इस वृन्दावनको कभी नहीं त्यागता। केवल युग-युगमें इसका आविर्भाव और तिरोभाव होता है। यह रम्य वृन्दावन तेजोमय है, चर्मचक्षुके द्वारा यह देखा नहीं जा सकता।'

पद्मपुराणके पातालखण्डमें आया है—

> यमुनाजलकल्लोले सदा क्रीडति माधवः।

अर्थात् श्रीकृष्ण यमुना-जलकी तरङ्गोंमें वहाँ सदा क्रीडा करते हैं। श्रीजीवगोस्वामी इस श्लोककी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

यमुनाया जलतटे यत्र पुण्यभूते वृन्दावने इति प्रकरणाल्लभ्यम्।

मन्दस्थगाथे नीरदादि अर्थ भी किया जा सकता है। नीरका अर्थ यहाँ वृन्दावन ही लक्षित है। श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

सर्वोपरि श्रीगोकुल व्रजलोक धाम।
श्रीगोलोक श्वेतद्वीप वृन्दावन नाम॥
सर्वग अनन्त विभु कृष्णतनु सम।
उपर्यधो व्यापि आछे नाहिक नियम॥
ब्रह्माण्डे प्रकाश तार कृष्णेर इच्छाय।
एकइ स्वरूप तार नाहि दुइ काय॥
चिन्तामणि भूमि कल्पवृक्षमय वन।
चर्मचक्षे देखे तारे प्रपञ्चेर सम॥
प्रेमनेत्रे देखे तार स्वरूप प्रकाश।
गोप गोपी साथे याहाँ कृष्णेर विलास॥

अर्थात् सबसे ऊपर श्रीगोकुल अथवा व्रजलोक धाम है, जिसे 'श्रीगोलोक', 'श्वेतद्वीप' तथा 'वृन्दावन' नामसे पुकारते हैं। वह श्रीकृष्णके शरीरके समान सर्वव्यापी, अनन्त, विभु है। ऊपर और नीचे व्याप्त है, उसका कोई हेतु नहीं है। श्रीकृष्णकी इच्छासे ही वह ब्रह्माण्डमें प्रकाशित हो रहा है। वह एकमात्र चैतन्यस्वरूप है। देह-देहीके समान उसका द्विविध रूप नहीं है। वहाँ भूमि चिन्तामणिके समान तथा वन कल्पवृक्षमय हैं। चर्मचक्षुओंसे देखनेपर वह वृन्दावन धाम प्रपञ्चके समान दीखता है। प्रेमनेत्रसे देखनेपर उसके स्वरूपका प्रकाश होता है और गोप-गोपाङ्गनाओंके साथ श्रीकृष्णकी विलासलीला प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है।

यह अनन्त विश्व-ब्रह्माण्ड श्रीकृष्णकी चित् शक्तिके द्वारा विरचित है, यह सब कुछ उन्हींकी महिमा है—इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि वे कितने महान् और कितने ऐश्वर्यशाली हैं। शास्त्रमें कहा गया है कि जो निरतिशय बृहत् है, जिससे बड़ा और कुछ नहीं है, वही ब्रह्म है; मायातीत अनन्त कोटि विश्व-ब्रह्माण्ड ब्रह्ममें अवस्थित हैं। ब्रह्म सर्वाधार है; परंतु उस ब्रह्मके भी प्रतिष्ठान, आधार श्रीकृष्ण हैं। गीतामें उन्होंने कहा है—ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्। अतएव श्रीकृष्ण क्या वस्तु हैं, यह इससे समझा जा सकता है। इसीलिये श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

पूर्ण भव षडैश्वर्य-पूर्ण अवतार।
ब्रह्मा शिव अन्त ना पाय और कोन छार॥

अर्थात् श्रीकृष्णका पूर्णावतार इस प्रकार षडैश्वर्योंसे पूर्ण है। उनका ब्रह्मा और विष्णु भी जब अन्त नहीं पाते, तब बेचारा सिद्धीमें पुतला जीव क्या पता पा सकता है! ब्रह्मसंहितामें कहा गया है—

गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य
देवीमहेशहरिधामसु तेषु तेषु।
ते ते प्रभावनिचया विहिताश्च येन
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

अर्थात् श्रीकृष्णके निजधाम गोलोक वृन्दावनके नीचे परव्योम है, जिसे विष्णुलोक भी कहते हैं; तथा देवीलोक अर्थात् मायालोक, शिवलोक आदि लोक परव्योमके नीचे हैं। इन लोकोंमें यथायोग्य देवोंके प्रभावोंका जो विधान करते हैं उन गोलोकविहारी आदिपुरुष गोविन्दको मैं भजता हूँ।

श्रीकृष्णका ऐश्वर्य और माधुर्य

भगवान् श्रीकृष्णके ऐश्वर्यका अन्त नहीं है। एक बार श्रीमन्महाप्रभुने श्रीसनातन गोस्वामीसे कहा कि मैं तुमसे एकपादविभूतिकी बात कह रहा हूँ, श्रवण करो। श्रीकृष्णकी त्रिपादविभूति मन और वाणीके अगोचर है। त्रिपादविभूतिकी तो बात ही क्या, एकपादविभूतिका भी कोई अन्त नहीं पा सकता। परिदृश्यमान एक-एक और अनन्त एक-एक ब्रह्माण्ड है। इस प्रकारके ब्रह्माण्ड असंख्य हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक सृष्टिकर्ता, एक संहारकर्ता और एक पालनकर्ता है। इनका साधारण नाम त्रिलोकपाल है।

श्रीकृष्णकी द्वारका-लीलाके समय एक दिन इस ब्रह्माण्डके सृष्टिकर्ता ब्रह्मा उनके दर्शनार्थ द्वारकामें आये। उन्होंने आकर द्वारपालके द्वारा अपने आगमनकी सूचना दी। श्रीकृष्णने द्वारपालसे कहा—'कौन ब्रह्मा आये हैं, उनका नाम क्या है? पूछकर आओ।' द्वारपालने ब्रह्माके पास जाकर तदनुसार पूछा। सुनकर ब्रह्मा विस्मित होकर बोले—'मैं सनक-पिता चतुर्मुख ब्रह्मा हूँ।' द्वारपालने श्रीकृष्णके पास जाकर ब्रह्माके उत्तरको निवेदन किया। श्रीकृष्णने ब्रह्माको अंदर बुलानेकी आज्ञा दी। ब्रह्माने आकर श्रीकृष्णके चरणोंमें दण्डवत् प्रणाम किया। श्रीकृष्णने उनका यथायोग्य पूजा-सत्कार करके आनेका कारण पूछा। ब्रह्मा बोले—"मैं अपने आनेका कारण पीछे निवेदन करूँगा, पहले यह तो बतलाइये कि आपने द्वारपालके द्वारा जो पुछवाया कि 'कौन ब्रह्मा आये हैं'—इसका कारण क्या है? क्या ब्रह्माण्डमें मेरे सिवा कोई और ब्रह्मा भी है?"

ब्रह्माके इस प्रश्नको सुनकर श्रीकृष्ण मुस्कराये और तत्काल ही उस सभामें अनेकों ब्रह्माओंका आविर्भाव हो गया। उनमें कोई तो दस मुखवाला था, कोई बीस मुखवाला, कोई सौ

मुखका, कोई सहस्रमुख, कोई लक्षमुख। इन असंख्य ब्रह्माओंके साथ-साथ लक्ष-कोटि नेत्रोंवाले इन्द्र प्रभृति देवता भी आये। उनको देखकर चतुर्मुख ब्रह्माके आश्चर्यकी सीमा न रही। ये सब ब्रह्मा आकर कोटि-कोटि मुकुटोंके द्वारा श्रीकृष्णके पादपीठको स्पर्श करने लगे और प्रार्थना करने लगे कि 'हे प्रभो! इन दासोंको किस लिये आपने आह्वान किया है?' श्रीकृष्ण बोले—'कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। आपलोगोंको देखनेकी इच्छासे ही बुलाया है।' इसके बाद श्रीकृष्णने उनको एक-एक करके विदा किया। चतुर्मुख ब्रह्मा विस्मित नेत्रोंसे यह सब देख रहे थे; अन्तमें श्रीकृष्णके चरणोंमें नमस्कार करते हुए बोले—'प्रभो! मेरा संशय निवृत्त हो गया। जो सुनना-जानना चाहता था, वह प्रत्यक्ष देख लिया।' ऐसा कहकर ब्रह्मा श्रीकृष्णसे आज्ञा प्राप्तकर अपने धामको चले गये।

गोलोक अर्थात् गोकुल, मथुरा और द्वारका—इन तीन धामोंमें श्रीकृष्ण नित्य अवस्थान करते हैं। ये तीनों धाम उनके स्वरूपैश्वर्यद्वारा पूर्ण हैं। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके अधीश्वर होकर भी प्रभु अपनी योगमायासे इस गोलोक धाममें लीला करते हैं। उनकी यह गोप-लीलामूर्ति उन वैकुण्ठादि लोकोंकी अधीश्वर-मूर्तियोंकी अपेक्षा भी बहुत अधिक चमत्कारपूर्ण है।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

> यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोग-
> 	मायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
> विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः
> 	परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥
>
> (३।२।१२)

'श्रीभगवान्‌ने अपनी योगमायाका प्रभाव दिखानेके लिये मानव-लीलाके योग्य जो श्रीविग्रह धारण किया था, वह स्वयं प्रभुके चित्तको विस्मित करनेवाला था, सौभाग्य और ऐश्वर्यका परम धाम था तथा आभूषणोंको भी भूषित करनेवाला था।' श्रीभगवान्‌की अन्यान्य देवलीलाओंकी अपेक्षा यह मानव-लीला अधिक मनोहर है। इसमें भगवान्‌की चित्-शक्तिका अद्भुत प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसकी मनोहरताका लेश भी किसी देव-लीलामें नहीं पाया जाता। यही बात भगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे कही है—

> सन्ति दैवादिलीलास्ता मर्त्यलीला मनोहरा।
> अहो मदीयचिद्रूपस्य प्रभावं परमाद्भुतम्॥
> दिव्यादिदिव्यलोकेषु यद्रूपोऽपि न सम्भवेत्॥

श्रीमद्भागवतमें इसी रूपकी महिमाका संकेत करते हुए कहते हैं—

> गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
> 	लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम्।
> दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
> 	मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य॥
>
> (१०।४४।१४)

रङ्गस्थलमें श्रीकृष्णका दर्शन करके मथुरानगरीकी रमणियाँ बोलीं कि 'जो लावण्यका सार है, जिसकी तुलनामें भी कोई दूसरा रूप नहीं रखा जा सकता, फिर उससे बढ़कर तो हो ही कैसे सकता है, जिसकी रमणीयता स्वयं सिद्ध है तथा जो क्षण-क्षण नूतन बना रहता है, जो महान् ऐश्वर्य, शोभा और यशका एकान्त आश्रय है तथा जो औरोंके लिये दुर्लभ है, श्रीकृष्णके उस रूपको गोपिकाएँ निरन्तर नयनोंके द्वारा पान करती रहती हैं। अतएव बतलाओ, उन्होंने कौन सा तप किया है?' तथा—

> यस्याननं मकरकुण्डलचारुकर्ण-
> 	भ्राजत्कपोलसुभगं सविलासहासम्।
> नित्योत्सवं न ततृपुर्दृशिभिः पिबन्त्यो
> 	नार्यो नराश्च मुदिताः कुपिता निमेश्च॥
>
> (श्रीमद्भा० ९।२४।६५)

'मकराकृति कुण्डलोंके द्वारा शोभायमान मनोहर कर्णयुगल तथा गण्डयुगलसे जो मुखमण्डल श्रीसम्पन्न हो रहा है, जिसमें विलास-युक्त मन्द-मधुर मुसकान विराज रही है तथा जो नित्य आनन्दमय है, श्रीकृष्णके उसी मुखाम्बुजको नेत्रद्वारा पान करके नर-नारीगण आनन्दसे परितृप्त हो रहे हैं तथा उस दर्शनमें बाधा डालनेवाले निमेषोन्मेषको सहन न करके उनके गिरानेवाले निमिके प्रति कोप प्रकाशित कर रहे हैं।'

श्रीभगवान्‌का भजन करनेवालोंके लिये उनके गुणोंमें माधुर्यकी ही प्रधानता है। गोपीगण माधुर्यमूर्ति श्रीभगवान्‌की विशेषता उपासिका हैं। श्रीबिल्वमङ्गलका श्रीकृष्णकर्णामृत, जयदेवका श्रीगीतगोविन्द, सूरदास, विद्यापति और चण्डीदासकी पदावलियाँ आदि अन्य श्रीकृष्ण माधुर्य-वर्णनके अक्षय अमृत-भंडार हैं। श्रीमद्भागवतकी तो बात ही क्या, अन्यान्य

श्रीकृष्णलीलाका सहस्रों सालोंपर वर्णन प्राप्त होनेपर भी श्रीमद्भागवत और महाभारतमें विस्तृतरूपसे भगवान्‌की माधुर्यमयी तथा ऐश्वर्यमयी लीलाका रसास्वादन प्राप्त होता है। महर्षि व्यासने अपने इन महान् ग्रन्थोंमें स्पष्ट लिख दिया है कि 'श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं।'

श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्धके तृतीय अध्यायमें श्रीकृष्णके जन्म-प्रसङ्गका वर्णन है। जब कारागारमें वसुदेवके यहाँ श्रीकृष्ण चतुर्भुज नारायणरूपमें अवतीर्ण हुए, तब उस रूपको देखकर वसुदेव और देवकी विस्मयापन्न हो उठे। देवकी उस चतुर्भुज रूपके तेजको सह न सकनेके कारण प्रार्थना करने लगीं—

> उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्।
> शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्॥
> (श्रीमद्भा० १०।३।३०)

अर्थात् 'हे विश्वात्मन्! शङ्ख-चक्र-गदा पद्मकी शोभासे युक्त अपने इस अलौकिक चतुर्भुज रूपका उपसंहार करो।' भक्तवत्सल भगवान्‌ने तत्काल ही द्विभुजधारी मानव शिशुका आकार ग्रहण किया। वसुदेवजीने उनकी आज्ञासे उस मानव शिशुको नन्दजीके घर पहुँचा दिया। ऐसा माना जाता है कि श्रीकृष्णका जब कंसके कारागारमें ऐश्वर्यमय रूपमें आविर्भाव हुआ, उसी समय मधुररूपमें वे यशोदाके यहाँ भी प्रकट हुए थे। वसुदेवजी जब शिशु कृष्णको लेकर यशोदाके सूतिकागृहमें पहुँचे, उसी समय वसुदेवनन्दन उन यशोदानन्दन परिपूर्णतम श्रीमन्-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णमें प्रविष्ट हो गये और बदलेमें वे नन्दात्मजा महामायाको ले आये। श्रीकृष्णकी चिदानन्द-माधुर्यमयी लीलाका श्रीगणेश नन्दजीके घरसे ही प्रकट होता है। मानव-शिशुका ऐसा भुवन-मोहन रूप और कहीं देखनेमें नहीं आता। श्रीकृष्ण सर्वप्रथम अपने रूपके अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यसे गोप-गोपिकाओंके चित्तको आकर्षित करते हैं। श्रीभगवान्‌के जितने रूप प्रकट हुए हैं, ऐसा सुन्दर सच्चिदानन्द विग्रह और कहीं प्रकट नहीं हुआ। इस रूप-माधुर्यसे मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी भी आकृष्ट हो जाते हैं।

इसके बाद पूतना-मोक्षण, तृणावर्त-वध, वत्सासुर-वध, बकासुर-वध, अघासुर-प्रलम्बासुर-धेनुक-अरिष्ट-केशी-व्योमासुर-वध, कंसके महलमें कुवलयापीड गजराजका वध इत्यादि कर्मोंमें श्रीकृष्णका असीम वीर्य पराक्रम, असीम सुहृद्-वात्सल्य तथा असीम लोकानुग्रहका परिचय प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवतमें कंसवध श्रीकृष्णके आविर्भावके प्रथम कारणरूपमें वर्णित है। एक गोपबालक श्रीकृष्णका अनेक यदुवीरोंको भीषण त्रास देनेवाले दुर्धर्ष और दुर्दन्त प्रतापशाली महाबली कंसको युद्धमें क्षणभरमें पछाड़ना उनकी भगवत्ताको प्रकट करता है। उसके बाद इन्होंने प्रबल शक्तिशाली मगध-सम्राट् जरासंधको, जिसने सैकड़ों राजाओंको पराजित करके उनको कारागारमें डालकर उनके राज्य हड़प लिये थे, नीति-बलसे भीमके द्वारा मल्लयुद्धमें मरवा डाला। जरासंधके पास अपार सैनिक बल था। उसकी सैन्यशक्तिका कुछ अनुमान इस बातसे लगाया जा सकता है कि महाभारतके युद्धमें उभय पक्षमें कुल मिलाकर केवल अठारह अक्षौहिणी सेना थी, जब कि जरासंधने तेईस-तेईस अक्षौहिणी सेना साथ लेकर सत्रह बार श्रीकृष्ण-पालित मधुपुरीपर चढ़ाई की किंतु प्रत्येक बार उसे मुँहकी खाकर तथा अपनी सारी सेनाको खपाकर लौट जाना पड़ा। श्रीकृष्ण उसे हर बार इसी आशासे जीता छोड़ देते थे कि वह दुबारा विशाल वाहिनी लेकर मथुरापर चढ़ आयेगा और इस प्रकार घर बैठे उन्हें पृथ्वीका भार हरण करनेका अवसर प्राप्त होगा। अठारहवीं बार दूसरे प्रबलतर शत्रु कालयवनको भी साथ-ही-साथ आक्रमण करते देखकर प्रभुने अपनी सारी सेनाको संहारसे बचानेके उद्देश्यसे संग्रामभूमिसे भाग खड़े हुए और इसी बीचमें समुद्रके बीच द्वारकापुरी बसाकर समस्त मथुरावासियोंको उन्होंने योगबलसे वहाँ पहुँचा दिया। बादमें भीमसेनके द्वारा जरासंधको भी मरवाकर श्रीकृष्णने बंदीगृहसे राजाओंको मुक्त किया और इस प्रकार दुर्बलोंके ऊपर सबलके अत्याचारको समाप्त कर दिया। इसके बाद नरकासुर, बाणासुर, कालयवन, पौण्ड्रक, शिशुपाल, शाल्व आदिके वध भी साधारण पराक्रमके द्योतक नहीं हैं। इसीको लक्ष्य करके श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

> स्थित्युद्भवान्तं भुवनत्रयस्य यः
> समीहतेऽनन्तगुणः स्वलीलया।
> न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रह-
> स्तथापि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते॥

'जो अनन्तगुणशाली भगवान् अपनी लीलासे त्रिभुवनकी सृष्टि, स्थिति और संहार करते रहते हैं, उनके लिये शत्रुपक्षका निग्रह करना कोई चमत्कारकी बात नहीं है। तथापि उन्होंने मनुष्यके समान युद्धमें असाधारण युद्ध-नैपुण्य दिखलाकर और विजय प्राप्त करके संसारके लोगोंके सामने वीरताका आदर्श उपस्थित किया, इसीसे उनका वर्णन किया जाता है।'

इस अलौकिक ऐश्वर्य लीलाके बीच श्रीभगवान्‌ने जो अति विलक्षण प्रेम—माधुर्यकी लीला प्रदर्शित की है, उसका आभास श्रीउद्धवजीको व्रजमें दूत बनाकर भेजनेकी लीलामें मिलता है। भागवत, दशम स्कन्धके ४६ वें अध्यायमें श्रीकृष्ण गोपियोंको अपना संदेश भेजते समय अपने प्रिय सखा भक्त-प्रवर श्रीउद्धवजीसे कहते हैं—'हे उद्धव ! तुम व्रजमें जाओ, मेरी विरह-विधुरा गोपिकाएँ मुझको न देखकर मूर्च्छित पड़ी हुई हैं। मेरी बात सुनाकर तुम उन्हें सान्त्वना दो । उनके मन प्राण बुद्धि और आत्मा दिन-रात मुझमें ही अर्पित हैं। वास्तव-में मेरा मन ही उनका मन बना हुआ है, मेरे ही प्राणोंसे वे अनुप्राणित हैं। मेरे सिवा और कुछ वे नहीं जानतीं। उन्होंने 'मेरे' लिये लोकधर्म, वेदधर्म तथा देहधर्म—सबका परित्याग कर दिया है। वे व्रजबालाएँ दिन-रात केवल मेरा ही चिन्तन करती हैं, विरहकी उत्कण्ठामें वे विह्वल हो रही हैं; मेरे स्मरणमें, मेरे ध्यानमें विमुग्ध पड़ी हुई हैं तथा मुझको देखने-की आशामें अतिक्लेशसे जीवन-यापन कर रही हैं।'

श्रीकृष्णके इस सरल हृदयगत भावोच्छ्वाससे स्पष्ट ही पता लगता है कि उनका हृदय प्रेम-रस—माधुर्यसे कितना परिपूर्ण है। आगे चलकर एकादश स्कन्धके द्वादश अध्याय-में श्रीकृष्ण पुनः उद्धवजीसे कहते हैं—'हे उद्धव ! व्रज-बालाओंकी बात मैं तुमसे क्या कहूँ । श्रीवृन्दावनमें वे सुदीर्घ कालतक मेरे सङ्ग-सुखको प्राप्त कर चुकनेके बाद भी उस सुदीर्घ-कालको एक क्षणके समान बीता हुआ समझती थीं। इस समय मेरे चले आनेके कारण आधा क्षण भी उनके लिये कोटि कल्पोंके समान क्लेशप्रद हो रहा है। उनको जब मेरा सङ्ग प्राप्त होता था, तब वे अपना गेह-देह-मन प्राण-आत्मा सब कुछ भूल जाती थीं। जिस प्रकार नदियाँ समुद्रमें मिलकर अपनेको खो देती हैं, ध्यानमग्न मुनिगण जैसे समाधिमें अपने आपको खो देते हैं, गोपियाँ भी मुझको पाकर उसी प्रकार आत्म-विस्मृत हो जाती थीं । हे उद्धव ! व्रजबालाओंके भाव-रस, ध्यान-धारणा योगीश्वरोंकी ध्यान-समाधिसे भी अधिक अगाध हैं।' इस कथासे श्रीकृष्णके महागाम्भीर्यमय माधुर्यभावका परिचय प्राप्त होता है । श्रीरासलीलामें उन्होंने जिस महान् माधुर्यका निदर्शन-प्रदर्शन किया है, उसकी तुलना कहीं नहीं है। उसको प्रकट करनेके लिये उपयुक्त भाषाका अभाव है, मानवी भाषामें कभी वह भाव प्रकाशित ही नहीं किया जा सकता। रासलीलाके अवसानमें उन्होंने गोपीप्रेमके महान् माधुर्यको अपने हृदयमें अनुभव करके कहा था कि 'मैं तुमलोगोंके प्रेमका बदला देनेके लिये ऋणी हूँ । तुमलोगोंने दुरन्त—दुश्छेद्य गृहशृङ्खला, समाज-बन्धन, लोक-धर्म और वेदधर्मका त्याग करके, आर्यपथको छोड़कर मेरे प्रति जो प्रेम प्रदर्शित किया है, मैं कदापि तुम्हारे इस अनवच्छिन्न, अनवद्य, अव्यभिचारी प्रेमका बदला नहीं चुका सकता । मैं तुम्हारे प्रेम-ऋणका ऋणी होकर चिरकालके लिये तुम्हारे चरणोंमें बँध गया। इस ऋणके परिशोधका साधन मेरे पास नहीं है। तथापि यदि तुम्हारे भावमें तुम्हारा अनुशीलन कर सकूँ, रात-दिन तुम्हारे भावमें विभोर हो सकूँ, तुम्हारा गुण-कीर्तन करते-करते, तुम्हारा नाम जपते-जपते, तुम्हारा रूप-ध्यान करते-करते दिन-रात बिता सकूँ तो यही तुम्हारे सामने मेरा कृतज्ञताज्ञापन तथा आत्मप्रसाद-प्राप्तिका यत्किंचित् उपाय होगा।'

सांदीपनि मुनिके आश्रममें रहते हुए श्रीकृष्ण स्वल्पकाल-में ही १४ विद्याओं और ६४ कलाओंमें पारंगत हो गये। इस युद्ध-कलाकी शिक्षाके लिये सांदीपनि मुनिके गुरुकुलको धन्यवाद दें, अथवा यमुनातटस्थ केलिकुञ्जसमलंकृत, गोप-बालाविलसित रास स्थलीको धन्यवाद दें—समझमें नहीं आता। जो रण-रङ्गमें रुद्रलीलाके ताण्डवनृत्यमें विश्वविजयी महागुरु हैं, वे ही रासलीलामें व्रजबालाओंको नृत्यशिक्षाके लिये गुरुरूपमें वरण करते हैं—इसका चिन्तन करते-करते मन भावना-सिन्धुकी तरङ्गोंमें तरङ्गायमान होने लगता है।

श्रीकृष्णकी शिक्षाके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें जो वर्णन है, वह अद्भुत है। श्रीकृष्णकी राजनीतिके विषयमें जगत्‌में आन्दोलन और आलोचना होती आ रही है और होती रहेगी। परंतु महाभारतमें जो हमें विख्यात, विपुल राजनीति-की सामग्री प्राप्त होती है, व्यास-भीष्म आदि जो नीतिका उपदेश देते हैं, वह समस्त नीति एक श्रीकृष्णमें मूर्तिमान् होकर नित्य विराजती है। युद्ध-नीतिमें श्रीकृष्णकी अपूर्व बुद्धि तथा संग्राममें उनकी असीम शक्तिका वर्णन महाभारतमें पद-पदपर प्राप्त होता है। जो वृन्दावनमें वन-वन धेनु चराते और बंसी बजाते थे, वे ही पाञ्चजन्य शङ्खके मधुर-घोर निनाद-से, कौमोदकी गदाके भीषण प्रहारसे, शार्ङ्गधनुके सुतीक्ष्ण शरापातसे, सुदीर्घ धूमकेतुसम कृपाण और खड्ग तथा अनन्त शक्तिशाली सुदर्शन चक्रके प्रभावसे देवताओं और मनुष्योंको भीषण त्रास देनेवाले दुर्धर्ष और दुर्दान्त दैत्योंको संहार और निरस्त करके अपने बल-वीर्य और पराक्रमकी पराकाष्ठा प्रदर्शित करते हैं। कहाँ तो यमुनापुलिनमें, कुञ्ज-

काननमें मुरलीके मधुर नादसे व्रजबालाओंको आकृष्टित करना और कहाँ पाञ्चजन्यके भीषण निनादसे समराङ्गणको प्रकम्पित करना! चरित्रका ऐसा पूर्णतम बहुमुखी विकास और कहाँ मिल सकता है!

श्रीकृष्णके दिव्य उपदेश श्रीमद्भगवद्गीतामें उपलब्ध हैं और भागवत, महाभारतादि ग्रन्थोंमें नीति-धर्म और आचार-सम्बन्धी उनके उपदेश भरे पड़े हैं। कर्णपर्वके ६९वें अध्यायमें अर्जुनको श्रीकृष्णने धर्म-तत्त्वके सम्बन्धमें एक सूक्ष्म उपदेश प्रदान किया है। उपदेशका हेतु यह है कि अर्जुनने प्रतिज्ञा की थी कि जो व्यक्ति उन्हें गाण्डीव परित्याग करनेके लिये कहेगा, उसको वे मार डालेंगे। दैवात् जब कर्ण सेनानी होकर पाण्डव-सैन्यको मथने लगा और अर्जुन उसे पराजित न कर सके, तब युधिष्ठिरने रुष्ट होकर उन्हें उत्साहित करनेके उद्देश्यसे भर्त्सना करनी प्रारम्भ की—

धनुश्च तत् केशवाय प्रयच्छ यन्ता भविष्यस्त्वं रणे केशवस्य।
तथाहनिष्यत् केशवः कर्णमुग्रं मरुत्पतिर्वृत्रमिवात्तवज्रः॥
राधेयमेतं यदि नाद्य शक्तश्चरन्तमुग्रं प्रतिबाधनाय।
प्रयच्छान्यस्मै गाण्डीवमेतदद्य त्वत्तो योऽस्त्रैरभ्यधिको वा नरेन्द्रः॥

(क० ६८। २६½-२७½)

'तुम अपना गाण्डीव धनुष भगवान् श्रीकृष्णको दे दो तथा रणभूमिमें स्वयं इनके सारथि बन जाओ। फिर जैसे इन्द्रने हाथमें वज्र लेकर वृत्रासुरका वध किया था, उसी प्रकार ये श्रीकृष्ण भयंकर वीर कर्णको मार डालेंगे। यदि तुम आज रणभूमिमें विचरते हुए इस भयानक वीर राधापुत्र कर्णका सामना करनेकी शक्ति नहीं रखते तो अब यह गाण्डीव धनुष दूसरे किसी ऐसे राजाको दे दो, जो अस्त्र-बलमें तुमसे बढ़कर हो।'

धर्मराजके इस वचनको सुनकर सत्यसंकल्प अर्जुन पद-दलित नागराजके समान क्रुद्ध हो उठे और खड्ग उठाकर उनका शिरश्छेदन करनेके लिये उद्यत हो गये। श्रीकृष्ण वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने अर्जुनको रोकते हुए कहा—

अकार्याणां क्रियाणां च संयोगं यः करोति वै।
कार्याणामक्रियाणां च स पार्थ पुरुषाधमः॥

(कर्ण० ६९। १८)

'पार्थ! जो करने योग्य होनेपर भी असम्भव हों तथा जो साध्य होनेपर भी निषिद्ध हों ऐसे कर्मोंसे जो सम्बन्ध जोड़ता है, वह पुरुषोंमें अधम माना गया है।'

यही नहीं, वहीं श्रीकृष्णने अहिंसाका उपदेश देते हुए कहा है—

प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान् मतो मम।
अनृतां वा वदेद् वाचं न तु हिंस्यात् कथंचन॥

(कर्ण० ६९। २३)

'तात! मेरे विचारसे प्राणियोंकी हिंसा न करना ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है। किसीकी प्राणरक्षाके लिये झूठ बोलना पड़े तो बोल दे, किंतु उसकी हिंसा किसी तरह न होने दे।'

युद्ध-नीतिका उपदेश करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—

अयुध्यमानस्य वधस्तथाशत्रोश्च मानद।
पराङ्मुखस्य द्रवतः शरणं चापि गच्छतः॥
कृताञ्जलेः प्रपन्नस्य प्रमत्तस्य तथैव च।
न वधः पूज्यते सद्भिस्तच्च सर्वं गुरौ तव॥

(कर्ण० ६९। २५-२६)

'मानद! जो युद्ध न करता हो, शत्रुता न रखता हो, संग्रामसे विमुख होकर भागा जा रहा हो, शरणमें आता हो, हाथ जोड़कर आश्रयमें आ पड़ा हो तथा असावधान हो, ऐसे मनुष्यका वध करना श्रेष्ठ पुरुष अच्छा नहीं समझते हैं। तुम्हारे बड़े भाईमें उपर्युक्त सभी बातें हैं।'

श्रीकृष्णने अर्जुनसे पुनः कहा—हे पार्थ! धर्मकी गति अतिसूक्ष्म है। किसी कार्यमें धर्म होता है तो किसीमें धर्मका क्षय होता है। इसका विचार करना सहज नहीं है।

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम्।
तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं पश्य सत्यमनुष्ठितम्॥

(कर्ण० ६९। ३१)

'सत्य बोलना उत्तम है। सत्यसे बढ़कर दूसरा कुछ नहीं है। परंतु यह समझ लो कि सत्पुरुषोंद्वारा आचरणमें लाये हुए सत्यके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान अत्यन्त कठिन होता है।'

बड़ोंकी हत्या तलवारसे नहीं होती, उनके मुखपर तुम कहनेसे ही उनका वध हो जाता है। यही धर्मतत्त्व है।

महाभारतके अन्तमें सारे नर-संहारका कारण अपनेको मानकर जब युधिष्ठिर विलाप करने लगे, तब भगवान्ने धर्मतत्त्वका सार उपदेश करते हुए उनसे कहा—

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्।
एतावान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति॥

'सब प्रकारकी कुटिलता ही मृत्युका आस्पद है और सरलता मोक्षका मार्ग है। इतना ही ज्ञानका विषय है। इस व्यर्थके प्रलापसे क्या काम!'

युधिष्ठिरको तत्त्वज्ञानका उपदेश देते हुए अन्तमें वे कहते हैं—

लब्ध्वा हि पृथिवीं कृत्स्नां सह स्थावरजङ्गमाम्।
ममत्वं यस्य नैव स्यात् किं तया स करिष्यति॥

'महाराज! यदि किसीने सारी स्थावर-जङ्गमात्मक पृथ्वीको प्राप्त कर लिया, परंतु उसमें उसकी ममता नहीं है तो वह उस पृथ्वीको लेकर क्या करेगा।'

श्रीकृष्णके द्वारा प्रदत्त ऐसे अनेक उपदेशरत्न यत्र-तत्र शास्त्रोंमें बिखरे पड़े हैं। भगवद्गीता, उद्धवगीता, अनुगीता आदिमें आध्यात्मिक ज्ञानकी पराकाष्ठा प्राप्त होती है। इन ग्रन्थोंमें भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट अलौकिक सारे तत्त्वज्ञान भरे पड़े हैं। श्रीकृष्णके द्वारा जगत्‌के जीवोंके कल्याणार्थ दिये गये विभिन्न प्रकारके योग, ज्ञान, कर्म और भक्तिके साधनपरक उपदेश जो इन ग्रन्थोंमें प्रचुररूपसे प्राप्त होते हैं, उनके सर्वज्ञत्वके द्योतक हैं, पूर्णतमत्वके परिचायक हैं।

३. अभिधेय तत्त्व

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—परमतत्त्वके ये त्रिविध आविर्भाव उपासकोंकी विभिन्न धारणाओंके अनुसार शास्त्रमें वर्णित हैं। श्रीकृष्ण परमतत्त्वके पूर्णतम आविर्भाव हैं, यह उपर्युक्त सम्बन्धतत्त्वमें विविध प्रकारसे निर्दिष्ट किया जा चुका है। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं, यह बात सुनकर चित्तमें स्वभावतः ही यह लालसा उत्पन्न होती है कि हृदयकी ऐसी अभिलषित वस्तुकी प्राप्ति कैसे हो सकती है। इस जिज्ञासाकी परितृप्तिके लिये 'अभिधेय तत्त्व' की अवतारणा की जाती है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें लिखा है—

> श्रुतिर्माता पृष्टा दिशति भवदाराधनविधिं
> यथा मातुर्वाणी स्मृतिरपि तथा वक्ति भगिनी।
> पुराणाद्या ये वा सहजनिवहास्ते तदनुगा
> अतः सत्यं ज्ञातं मुरहर ! भवानेव शरणम्॥

'माता श्रुतिसे पूछा गया तो उन्होंने तुम्हारी आराधना करनेके लिये कहा। माता श्रुतिने जो बतलाया, बहिन स्मृतिने भी वही कहा। पुराण-इतिहास आदि भ्रातृवर्ग भी उन्हींके अनुगामी हैं अर्थात् उन्होंने भी तुम्हारी आराधना करनेके लिये ही कहा है। अतएव हे मुरारि ! एकमात्र तुम्हीं आश्रय हो, यह मैंने ठीक-ठीक जान लिया।'

यह कहा जा चुका है कि तटस्थाशक्तिरूप समस्त जीव श्रीकृष्णके ही विभिन्नांश हैं। ये जीव नित्यमुक्त और नित्य-संसारी भेदसे दो प्रकारके हैं। जो सदा श्रीकृष्णके चरणोंमें उन्मुख रहते हैं, वे नित्यमुक्त हैं और उनकी गणना पार्षदोंमें होती है। इसके विपरीत जो जीव नित्य बहिर्मुख रहते हैं, वे ही नित्य-संसारी हैं। वे अनादि बहिर्मुखताके वश होकर संसारके बन्धनमें पड़कर दुःख भोग करते हैं। बहिर्मुखताके कारण माया उनको बन्धनमें डालकर त्रितापसे संतप्त करती रहती है। जीव काम और क्रोधके वशीभूत होकर त्रिताप भोगता रहता है। संसारचक्रमें भ्रमण करते-करते जब जीवको साधु-सङ्ग प्राप्त होता है, तब उनके उपदेशसे संसार-रोगसे मुक्ति मिल जाती है। जीव कृष्णभक्ति प्राप्त करके पुनः श्रीकृष्णके चरणप्रान्तमें गमन करता है। अतएव संसारके त्रिविध तापोंसे निस्तार पानेके लिये जीवको सारी वासनाओंका परित्याग करके एकमात्र कृष्णभक्ति करना ही विधेय है।

श्रीकृष्णभक्ति ही सर्वप्रधान अभिधेय है। कर्म, योग और ज्ञान—ये तीनों भक्तिमुखापेक्षी हैं। भक्तिके फलकी तुलनामें कर्म, योग और ज्ञानके फल अति तुच्छ हैं। भक्तिकी सहायताके बिना कर्मादि अति तुच्छ फल प्रदान करनेमें भी समर्थ नहीं होते। भक्ति-रहित कर्म और योग कुछ-कुछ फल प्रदान करके निवृत्त हो जाते हैं, परंतु वे फल चिरस्थायी नहीं होते। भक्ति-रहित ज्ञान भी इसी प्रकार अकिंचित्कर होता है। श्रीमद्भागवतमें और भी कहा गया है—

> तपस्विनो दानपरा यशस्विनो
> मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः।
> क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
> तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥
> (२।४।१७)

'तपस्वी, दानशील, यशस्वी, मनस्वी, मन्त्र-जप करनेवाले तथा सदाचारी लोग अपना तप आदि जिनको समर्पण किये बिना कल्याणकी प्राप्ति नहीं कर सकते, उन मङ्गल यशवाले भगवान्‌को पुनः-पुनः प्रणाम करता हूँ।'

> मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
> चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥
> य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
> न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥
> (श्रीमद्भाग० ११।५।२-३)

'विराट् पुरुषके मुख, बाहु, ऊरु और चरणोंसे सत्त्वादि गुण-तारतम्यके अनुसार पृथक्-पृथक् ब्राह्मण आदि वर्णों और आश्रमोंकी उत्पत्ति हुई है। जो इन वर्णाश्रमके साक्षात् जनक, नियन्ता एवं आत्मा उन ऐश्वर्यशाली पुरुषको नहीं भजते, अपितु उनकी अवज्ञा करते हैं, वे कर्मोंके द्वारा प्राप्त अपने अधिकारसे च्युत होकर नीचे गिर जाते हैं।'

जो लोग जान-बूझकर भगवत्पार्षदोंकी भक्तिके प्रति अवज्ञा प्रकट करते हैं, उनके द्वारा उनके पराक्रमोंसे दग्ध

हो जानेपर भी इस अवस्थाके अपराधसे उनका संसार-बीज नष्ट नहीं होता। श्रीकृष्ण-भक्तिके बिना मायाके फंदेसे छुटकारा पानेका कोई उपाय नहीं है। भगवान्‌ने कहा है—

सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वदा तस्मै ददाम्येतद् व्रतं मम॥

अर्थात् जो एक बार भी मेरे शरणागत होकर यह कहता हुआ कि 'हे प्रभो! मैं तुम्हारा हूँ' मुझसे रक्षाकी प्रार्थना करता है, मैं उसको सदाके लिये निर्भयताका वर दे देता हूँ, यह मेरा व्रत है।

इसीलिये श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
(२।३।१०)

'बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह चाहे अकाम अर्थात् एकान्तभक्त हो, सर्वकाम अर्थात् इहामुत्र कर्मफलकी कामना करनेवाला हो, अथवा मोक्ष चाहनेवाला हो, उसे तीव्र भक्ति-योगके द्वारा परमपुरुष श्रीकृष्णकी आराधना करनी चाहिये।'

मनुष्यका चित्त स्वभावतः सकाम और स्वार्थके लिये व्याकुल होता है। जबतक देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी यह स्वार्थ-कामना वर्तमान है, तबतक चित्त भगवत्साधनाके द्वारा अपनी सुख-वासनाकी पूर्तिके लिये व्याकुल न होगा। साधना या उपासनाका प्रधानतम पवित्र उद्देश्य है—भगवत्प्रेमके द्वारा हृदयको नित्य-निरन्तर पूर्ण किये रखना। परंतु नश्वर धन-जन, घर-द्वार, विषय-वैभव तथा भोग-विलासकी लालसामें यदि हृदय व्याकुल रहता है तो इससे साधनाके उद्देश्यकी सिद्धि नहीं होती। दयामय भगवान् जिनके प्रति अनुग्रह करते हैं, उनके हृदयसे विषय-भोगकी वासना और स्वार्थपरताको तिरोहित कर देते हैं और अपने चरणोंमें अनुराग प्रदानकर विषय-वासनाको दूर कर देते हैं।

साधु-सङ्ग

सांसारिक वासनासे निष्कृति प्राप्त करना जीवके लिये सहज नहीं है। संतकी संगतिके बिना संसारकी निवृत्ति नहीं होती। पूर्व जन्मोंके शुभ कर्मोंके बिना तथा भगवत्कृपाके बिना साधु-सङ्ग मिलना दुर्लभ है। सत्सङ्ग प्राप्त होनेपर श्रीकृष्णमें रति उत्पन्न होती है, अतएव साधुसङ्ग भी भगवत्कृपासे ही प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे-
ज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥
(१०।५१।५३)

'हे अच्युत! जन्म-मृत्युरूप इस संसारका चक्कर काटते जब किसी मनुष्यकी संसार-वासनासे छूटनेकी प्रवृत्ति होती है, तब उसको साधुसङ्ग प्राप्त होता है। साधुसङ्ग प्राप्त होनेपर उनकी कृपासे संतोंके आश्रय तथा कार्य-कारणरूप जगत्के एकमात्र स्वामी आपमें रति उत्पन्न होती है।'

कभी-कभी भगवान् अपनी साधु-संगतिसे प्रेरित करके अपनी कृपाके योग्य जीवोंको संसार-बन्धनसे मुक्त करते हैं, कभी स्वयं अन्तर्यामीरूपसे उनके हृदयमें भक्तिका प्रकाश करते हैं। उनकी कृपाकी इयत्ता नहीं है। श्रीचैतन्य-चरितामृतमें लिखा है—

कृष्ण यदि कृपा करेन कोन भाग्यवाने।
गुरु अन्तर्यामि रूपे शिखाय आपने॥ ×××
साधुसङ्गे कृष्ण-भक्त्ये श्रद्धा यदि हय।
भक्तिफल प्रेम हय, संसार याय क्षय॥

अर्थात् यदि किसी भाग्यवान् जीवपर श्रीकृष्णकी कृपा होती है तो वे अन्तर्यामी गुरुके रूपमें उसको स्वयं शिक्षा देते हैं। यदि साधुसङ्गके फलस्वरूप श्रीकृष्ण-भक्तिमें श्रद्धा होती है तो वह भक्ति-साधन करता है और उसके फलस्वरूप उसे श्रीकृष्ण प्रेम प्राप्त होता है तथा आवागमनरूप संसारका क्षय हो जाता है। अतएव श्रद्धालु पुरुष ही भक्तिका अधिकारी है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्॥
(श्रीमद्भा० ११।२०।२७-२८)

हम चित्तकी अनन्त कामनाओंसे निरन्तर व्याकुल रहते हैं। सागरकी तरङ्गोंके समान कामनाओंकी तरङ्गें उठा करके आती हैं और हमारे हृदयको विक्षुब्ध कर देती हैं। हम इसको समझते हैं, पर उनका परित्याग नहीं कर सकते। ऐसी अवस्थामें हम विवेक-वैराग्यका अधिकार प्राप्त करके ज्ञानकी साधनामें कैसे प्रवृत्त हो सकते हैं। संसारमें आसक्ति

अशक्तिके कारण भक्तियोगका अधिकारी होना भी असम्भव ही बन पड़ता है। परंतु श्रीभगवान्‌की आश्वासन-वाणी यहाँ भी हमारे भीतर आशाका संचार करती है। वे कहते हैं—'अविद्याके महाप्रभावसे तुम सहसा सांसारिक कामनाओंका परित्याग नहीं कर सकते, यह सत्य है। परंतु मेरी कथामें श्रद्धावान् होकर, दृढ़निश्चयी होकर, प्रसन्नचित्त होकर दुःखप्रद कामनाओंका भोग करते समय भी उनको निन्दनीय समझते हुए मेरा भजन करते रहो।' भक्ति स्वतन्त्र है; ज्ञानके लिये जैसे पहले विवेक-वैराग्य आवश्यक हैं, भक्तिके लिये उस प्रकारकी किसी पूर्वावस्थाकी अपेक्षा नहीं होती।

भक्तिर्हि स्वतः प्रमाणत्वात् अन्यनिरपेक्षा।

श्रीभगवान् और भी कहते हैं—

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥
(११।२०।३१)

'अतएव मेरी भक्तिसे युक्त तथा मुझमें लीन रहनेवाले योगीके लिये पृथक् ज्ञान-वैराग्यरूप साधन श्रेयस्कर नहीं; क्योंकि भक्तिकी साधनामें प्रवृत्त होनेपर वे स्वतः आविर्भूत होते हैं।' श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥
(१।२।७)

यों तो कर्म और ज्ञानकी साधनाके लिये भी श्रद्धा अपेक्षित है, क्योंकि श्रद्धाके बिना सम्यक् प्रवृत्ति नहीं होती। परंतु भक्तिमें सम्यक् प्रवृत्तिके लिये तो श्रद्धा अत्यन्त आवश्यक है। श्रद्धाके बिना अनन्य भक्तिमें प्रवृत्ति सम्भव नहीं और होनेपर भी वह स्थायी नहीं होती। कर्म-परित्यागका अधिकार दो प्रकारसे होता है—ज्ञानमार्गमें वैराग्यके उदयके लिये और भक्तिमार्गमें श्रद्धाके उदयके लिये कर्म-त्याग प्रशस्त होता है। परंतु भक्ति-साधनामें श्रद्धासे भी बढ़कर महत्कृपाकी आवश्यकता होती है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

रहूगणैतत् तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद् वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥
(५।१२।१२)

जड़भरतजी कहते हैं—'हे रहूगण! महापुरुषकी चरण-धूलिसे अभिषेक किये बिना धर्म-पालनके लिये कष्ट सहने, यज्ञोंके द्वारा देवताओंकी उपासनासे, अन्नादिके दानसे, गृहस्थोचित धर्मानुष्ठानसे, वेदाध्ययनसे अथवा मन्त्रोंके द्वारा वरुण, अग्नि और सूर्यकी उपासनासे भी मनुष्य भगवद्भक्ति प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता।'

यह श्रीकृष्ण-भक्ति जीवके लिये सर्वप्रधान कर्तव्य होनेपर भी वेदविहित नित्य-नैमित्तिक कर्म सबके लिये कर्तव्य हैं। श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥

अर्थात् श्रुति-स्मृति भगवान्‌की ही आज्ञा हैं; और जो इनका उल्लङ्घन करता है, वह मेरा विद्रोही तथा द्वेषी है; वह मेरा भक्त या वैष्णव नहीं कहला सकता।

यह साधारण मनुष्यके लिये उपदेश है। इसके विपरीत श्रीमद्भगवद्गीताके उपसंहारमें भगवान्‌ने कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(१८।६६)

यहाँ सर्व-कर्म-परित्यागका उपदेश दिया गया है। इससे भगवद्वाक्यमें परस्पर विरोधकी आशङ्का होती है। इसके समाधान-स्वरूप श्रीमद्भागवतमें भक्त उद्धवके प्रति श्रीभगवान् कहते हैं—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥
(११।२०।९)

अर्थात् तभीतक वेदविहित कर्मोंका करना आवश्यक है जबतक निर्वेद (वैराग्य) न हो जाय और मेरी कथा सुननेमें तथा मेरा भजन करनेमें जबतक श्रद्धा न उत्पन्न हो।

भगवद्भक्तिके अधिकारी तीन प्रकारके होते हैं। भक्ति-रसामृत-सिन्धुमें श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं—

शास्त्रे युक्तौ च निपुणः सर्वथा दृढनिश्चयः।
प्रौढश्रद्धोऽधिकारी यः स भक्तावुत्तमो मतः॥
यः शास्त्रादिष्वनिपुणः श्रद्धावान् स तु मध्यमः।
यो भवेत् कोमलश्रद्धः स कनिष्ठो निगद्यते॥

अर्थात् जो शास्त्रमें तथा युक्तिमें निपुण है तथा सब प्रकारसे तत्त्वविचारके द्वारा दृढ़निश्चयी है, ऐसा प्रौढ़ श्रद्धावान् व्यक्ति भक्तिका उत्तम अधिकारी है। शास्त्रवचनमें विश्वास ही श्रद्धा कहलाता है। श्रद्धाके तारतम्यके अनुसार ही भक्तिके

अधिकारीके तारतम्यका निर्णय किया जाता है । सर्वथा दृढनिश्चयी वह है जो तत्त्वविचार, साधन-विचार तथा पुरुषार्थ-के विचारसे दृढनिश्चयपर पहुँच गया है। युक्तिका अर्थ शास्त्रानुगा युक्ति है, स्वतन्त्र युक्ति नहीं । जो शास्त्रादिमें निपुण नहीं हैं, परंतु श्रद्धावान् हैं, वे मध्यम अधिकारी हैं । अनिपुणका अर्थ है—जो अपनी श्रद्धाके प्रतिकूल बलवान् तर्क उपस्थित होनेपर उसका समाधान नहीं कर सकता। बहिर्मुख व्यक्तिके कुतर्कसे क्षणमात्रके लिये चित्तके डोल जानेपर भी जो अपने विवेकद्वारा गुरुके उपदिष्ट अर्थमें विश्वास करते हैं, इस प्रकारके भक्त कनिष्ठ भक्त हैं। कुतर्कसे चित्तका कुछ क्षणोंके लिये हिल जाना ही कोमलत्व है। कुतर्कसे जिसका विश्वास बिल्कुल ही नष्ट हो जाता है, उसको भक्त नहीं कह सकते । श्रीभगवान्ने स्वयं गीतामें चतुर्विध भक्तोंका उल्लेख किया है—

> चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
> आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
> तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
> प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
> उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
> (७ । १६-१८)

अर्थात् हे अर्जुन ! जो सुकृती व्यक्ति, जो मेरी भक्ति करते हैं चार प्रकारके होते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी । जो अपना दुःख दूर करनेके लिये भगवद्भजन करते हैं, वे आर्त हैं । सुख-प्राप्तिके लिये जो भजन करते हैं, वे अर्थार्थी हैं । संसारको अनित्य जानकर जो आत्मतत्त्वके ज्ञानकी इच्छासे भगवद्भजन करते हैं, वे जिज्ञासु हैं । ज्ञानी भक्त तीन प्रकारके होते हैं—इनमें एक श्रेणीके ज्ञानी भगवदैश्वर्यको जानकर भगवद्भजन करते हैं, दूसरी श्रेणीके ज्ञानी भगवन्माधुर्यको जानकर भजन करते हैं और तीसरी श्रेणीके ज्ञानी ऐश्वर्य और माधुर्य दोनोंको जानते हुए भजन करते हैं। इन चार प्रकारके भक्तोंमें ज्ञानी मेरा आत्मस्वरूप है, यह मेरा मत है, क्योंकि ज्ञानी परमप्रीति-स्वरूप मेरा ही आश्रय लेते हैं । आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी भक्त तो सकाम होते हैं, उनमें अन्यान्य विषयोंके प्राप्त करनेकी याचना होती है; परंतु ज्ञानी भक्त मुझको छोड़कर और कुछ नहीं चाहता ।

> बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
> वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
> (गीता ७ । १९)

'अनेक जन्मोंमें अर्जित पुण्यके प्रभावसे ज्ञानवान् [illegible] चराचर विश्वको वासुदेवात्मक देखकर मेरी भक्तिमें [illegible] रहता है । ऐसा महात्मा नितान्त ही दुर्लभ है ।'

शरणागति

श्रीकृष्णकी दयाका स्मरण होनेपर उनके प्रति [illegible] चित्त अभिभूत हो जाता है । श्रीउद्धवजी कहते हैं—

> अहो बकी यं स्तनकालकूटं
> जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
> लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
> कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥
> (श्रीमद्भा० ३ । २ । २३)

'दुष्टा पूतनाने अपने स्तनोंमें कालकूट विष [illegible] श्रीकृष्णको मार डालनेकी इच्छासे अपना स्तन पान [illegible] किंतु परम दयामय श्रीकृष्णने उस मातृवेशधारिणी [illegible] माताके समान सद्गति प्रदान की । अतएव श्रीकृष्णके [illegible] दूसरा ऐसा दयालु कौन है, जिसकी शरणमें हम जायँ !' [illegible] अन्य देवताओंको त्यागकर परम दयालु श्रीकृष्णके शरण होना जीवका परम कर्तव्य है । यहाँ शरणागतिका [illegible] जानना आवश्यक है । वह इस प्रकार है—

> आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
> रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा ।
> आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥
> (वैष्णव[illegible]

शरणागति छः प्रकारकी होती है—जैसे (१) भग[illegible] की अनुकूलताका संकल्प अर्थात् जो भगवत्प्राप्तिके [illegible] कर्तव्य हों, उनके पालनका नियम, (२) [illegible] कूलताका त्याग, (३) प्रभु हमारी निश्चय ही [illegible] करेंगे—यह विश्वास, (४) एकान्तमें अपनी [illegible] लिये भगवान्से प्रार्थना, (५) आत्मनिवेदन और (६) कार्पण्य—अर्थात् 'हे प्रभो ! त्राहि माम्, त्राहि माम्' [illegible] हुए अपनी कातरता प्रकट करना । इस शरणागतिकी [illegible] स्वयं भगवान् श्रीमुखसे कहते हैं—

> मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
> निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
> तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
> मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै ॥
> (श्रीमद्भा० ११ । २९ । ३४)

'मनुष्य जब सारे कर्मोंका त्याग करके मुझे आत्मसमर्पण कर देता है, तब वह मेरा विशेष माननीय हो जाता है तथा जीवन्मुक्त होकर मत्सदृश ऐश्वर्य-प्राप्तिके योग्य हो जाता है।'

साधन-भक्ति

श्रीकृष्ण-प्रेम-भक्तिकी साधना ही साधन-भक्ति कहलाती है। जिन कर्मोंके अनुशीलनसे भगवान्‌में परा भक्तिका उदय होता है, उसीका नाम साधन-भक्ति है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

> स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
> अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥
> (१।२।६)

अर्थात् मनुष्यका परमधर्म वही है, जिसके द्वारा श्रीकृष्णमें अहैतुकी, अप्रतिहत (अखण्ड) भक्ति प्राप्त होती है, जिस भक्तिके बलसे वह आत्माकी प्रसन्नता लाभ करता है। साधन-भक्ति ही वह परम धर्म है। क्योंकि—

> कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा।
> नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता॥

'इन्द्रिय-प्रेरणाके द्वारा जो साध्य है तथा प्रेमादि जिसके साध्य (फल) हैं, उसको 'साधन-भक्ति' कहते हैं। तथा हृदयमें नित्य सिद्ध भावके आविर्भावका नाम ही साध्यता है।'

श्रवण आदि नवधा-भक्ति ही साधन-भक्ति है। नित्य-सिद्ध वस्तु है श्रीभगवत्प्रेम। यह आत्माका नित्यधर्म है। अग्निमें दाहिका शक्ति तथा पुष्पोंमें सुगन्धके समान आत्माके साथ इसका समवाय सम्बन्ध है, अतएव यह नित्य वस्तु है। यह नित्यसिद्ध वस्तु उत्पाद्य नहीं है। परंतु श्रवण-कीर्तन आदिके द्वारा जब हृदयमें इसका उदय होता है, तब इसको 'साध्य' कह सकते हैं। इस प्रकार 'साधनभक्ति' और 'साध्यभक्ति'का विचार किया जाता है। साधन भक्तिके दो भेद हैं, वैधी और रागानुगा। भक्तिके इन दोनों भेदोंके रहस्यको हृदयंगम करनेके लिये उत्तमा भक्ति या परा भक्तिके मार्गसे अग्रसर होना ठीक होगा। यहाँ गीतोक्त परा-भक्तिका उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है। यह 'निष्काम परा-भक्ति' ब्रह्मज्ञानके बाद उदित होती है। भगवान् श्रीमुखसे कहते हैं—

> ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
> समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
> भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
> ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
> (गीता १८। ५४-५५)

उत्तमा भक्ति प्राप्त करनेके लिये जिस साधन-भक्तिका अनुशीलन करना पड़ता है, उसका अन्याभिलाषिता-शून्य होना आवश्यक है। इसी प्रकार स्मृत्युक्त सकाम कर्म तथा तद्विपरीत शुद्ध ब्रह्मज्ञानके भाव भी उस अनुशीलनमें नहीं होते। इससे स्पष्ट हो जाता है कि निखिल वासनाओंका त्याग करते हुए केवल श्रीकृष्ण-प्रीत्यर्थ श्रीकृष्णका अनुशीलन ही उत्तमा भक्ति है। अर्थात् श्रीकृष्णके लिये सब प्रकारके स्वार्थका परित्याग अथवा श्रीकृष्ण-चरणमें एकबारगी आत्म-विसर्जन ही उत्तमा भक्ति है। अपने स्वार्थकी तनिक भी वासना रहनेपर 'उत्तमा भक्ति' नहीं हो सकती। प्रवृत्तिमार्गमें स्वर्गकी कामना, धन-धान्य-बाहुल्यकी कामना, मनुष्यके लिये स्वाभाविक है। इसके लिये भगवान्‌की अर्चना-वन्दना आदि करना निश्चय ही भक्तिका अङ्ग होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है; परंतु यह उत्तमा भक्ति नहीं होगी। आत्मविसर्जनके बिना उत्तमा भक्ति होती ही नहीं। शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रमें लिखा है—सा परानुरक्तिरीश्वरे। अर्थात् ईश्वरमें परा अनुरक्ति ही भक्ति कहलाती है। भक्तिके लक्षण शास्त्रोंमें इस प्रकार लिखे हैं—

> (१) अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
> आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥
> (२) अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंगता।
> भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः॥
> (३) सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
> हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥
> (४) देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
> सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥
> अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
> जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥

यहाँ 'ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' विशेषरूप विचारणीय है। 'ज्ञान' शब्द ब्रह्मके स्वरूपलक्षणमें निर्दिष्ट हुआ है—जैसे सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म—(तैत्तिरीयोपनिषद्)। यहाँ 'ज्ञान' पदार्थ, द्रव्य, गुण या कर्म नहीं है। अन्यत्र 'ज्ञान'का प्रयोग मानसिक क्रियाके अर्थमें होता है—जैसे प्रत्यक्ष-पदार्थका ज्ञान। परंतु यहाँ 'ज्ञान' पद मानसिक क्रिया भी नहीं है। यह आत्मनिष्ठ गुण विशेष है। इसके साथ मनका या चित्तवृत्तिका कोई सम्बन्ध नहीं है। चित्तवृत्तिके द्वारा उत्पन्न मतिको भी 'ज्ञान' कहते हैं, परंतु यहाँ जिस ज्ञानकी बात हो रही है, वह है 'ब्रह्मज्ञान'। परंतु यह सगुण ब्रह्मज्ञान नहीं है। यहाँ निर्विशेष-ब्रह्मज्ञान ही अभिप्रेत है; क्योंकि निर्विशेष ब्रह्मज्ञान भक्तिका विरोधी है। 'ज्ञानादिद्वारा अनावृत जो कृष्ण-

अनुशीलन' है, उसीका नाम भक्ति है। अर्थात् यदि निर्विशेष-ब्रह्मज्ञान कृष्णानुशीलनमें समाविष्ट होता है तो उसकी भक्ति-संज्ञा नहीं होती। परंतु भगवत्तत्त्वके ज्ञानका निषेध यहाँ नहीं है; क्योंकि भगवत्तत्त्वका ज्ञान भक्तिका बाधक न होकर साधक ही होता है। इसी प्रकार स्वर्गादिजनक कर्मानुष्ठान भी भक्तिके बाधक हैं। अतएव कृष्णानुशीलनमें ऐसे कर्मोंका संसर्ग नहीं चाहिये। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि कर्ममात्र ही बाधक हैं; क्योंकि भगवत्परिचर्या भी कर्मविशेष है। परंतु ऐसे कर्म भक्तिके बाधक न होकर साधक ही होते हैं।

इस प्रकार जान पड़ता है कि उत्तम भक्तिके स्वरूप इतने सुन्दररूपसे विवृत हुए हैं कि वेदान्तशास्त्रके चरम प्रान्तमें उपस्थित हुए बिना इस प्रकारकी भक्ति-साधनाका ज्ञान अति दुर्लभ है। फलतः वेदान्तशास्त्रका जो चरम लक्ष्य है, यह भक्ति साधकको उसी सुविशाल सुन्दर सरस राज्यमें उपस्थित करती है। वेदान्त ब्रह्मतत्त्वका निरूपण करते-करते जब रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति—इस मन्त्रका उल्लेख करता है, तब उसको प्राप्त करनेके लिये श्रेष्ठतम साधन भक्ति ही होती है—इसमें कोई संदेह नहीं है।

ऋग्वेदके अनेक स्थलोंमें जीवके साथ भगवान्‌के मधुर सम्बन्धकी सूचना देनेवाले मन्त्र प्राप्त होते हैं। 'हे अग्नि! तुम मेरे पिता हो। हे अग्नि! हम तुम्हारे हैं। तुम हमारा सब प्रकारसे कल्याण करो।' इन सब मन्त्रोंके द्वारा यह सिद्ध होता है कि वैदिक ऋषिगण ब्रह्मतत्त्वको मधुमयरूपमें अनुभव कर चुके थे। 'मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः'—इस ऋङ्मन्त्रसे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि जिससे इस विश्व-ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति हुई है, वह मधुमय है। उसके मधुमय होनेके कारण ही वायु मधु वहन करता है, सिन्धु मधु क्षरण करता है। हमारा अन्न मधुमय है, पृथिवीके रजःकण मधुमय हैं—इत्यादि वेदमन्त्रोंके द्वारा ज्ञात होता है कि अति प्राचीन कालमें भी आर्य ऋषिगण भगवान्‌की आधुनिक वैष्णवोंके समान रसमय, प्रेममय और मधुमय भावमें उपासना करते थे।

विष्णुमें अनन्य ममता अथवा प्रेमसंगत ममताको भक्ति कहते हैं। सम्पूर्ण उपाधियोंसे मुक्त भगवत्संलग्न इन्द्रियोंके द्वारा श्रीकृष्णका सेवन उत्तमा भक्ति है। श्रीमद्भागवतमें वैधी भक्तिके नौ अङ्ग वर्णित हुए हैं, जैसे—

> श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
> अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
> (७।५।२३)

वैधी भक्तिके ये सब अङ्ग 'परा भक्ति' के साधक हैं और इनकी समष्टि ही परम धर्म है।

साधन-भक्तिद्वारा साध्य भक्तिका उदय होता है। भक्तियोग अथवा साधन-भक्ति परा-भक्ति नहीं है, यह धर्म है। यह एक ओर जैसे परा-भक्तिका प्रकाशक है, वैसे ही उपनिषद्-ज्ञानका भी प्रकाशक है। इसके लिये—

> वासुदेवे भगवति भक्तियोगः समाहितः।
> सध्रीचीनेन वैराग्यं ज्ञानं च जनयिष्यति॥
> (४।२९।३७)

'भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णकी भक्तिसे शीघ्र ही वैराग्य और ज्ञानकी प्राप्ति होती है।'

भक्तियोग अर्थात् साधन-भक्तिसे इस प्रकार उपनिषद्‌का प्रकाशित होता है और उसका परिपाक होनेपर परा भक्ति या प्रेम-लक्षणा भक्ति प्रकट होती है।

भक्तिके प्रकार

'भक्ति-संदर्भ' में लिखा है कि जनि आदिके द्वारा श्रीगुरुका आश्रय लेनेके बाद उपासनाके पूर्वाङ्गस्वरूप उपास्यदेवका साम्मुख्य प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी पड़ती है। इस प्रकार उपास्यदेवके सम्मुख होना ही उपासनाका पूर्वाङ्ग है। इस साम्मुख्यका श्रेष्ठतम उपाय है—भक्ति। भक्तिसंदर्भमें भक्तिके तीन प्रकार वर्णित हैं—आरोपसिद्धा, सङ्गसिद्धा और स्वरूपसिद्धा। भक्तित्वका अभाव होनेपर भी भगवान्‌को अर्पित आदि जिन कर्मोंके द्वारा भक्तित्वकी प्राप्ति होती है, उन कर्मोंको 'आरोपसिद्धा' भक्ति कहते हैं और भक्तिके परिकरके रूपमें जो कर्म किये जाते हैं, उनको 'सङ्गसिद्धा' भक्ति कहते हैं। ज्ञान और कर्म भक्तिके अङ्गके रूपमें व्यवहृत होते हैं, अतएव इनको 'सङ्गसिद्धा' भक्ति कहते हैं। स्वरूपसिद्धा भक्ति वह है, जो स्वतः भक्तिरूपमें प्रसिद्ध है। श्रवण-कीर्तनादि नवधाभक्ति स्वरूपसिद्धा भक्ति है। 'भक्तिसंदर्भ' ग्रन्थमें इसके सिवा अनेक भेदोपभेद-सहित भक्तिका वर्णन किया गया है।

रागमयी भक्तिको 'रागात्मिका' भक्ति कहते हैं। ब्रजवासियोंमें रागात्मिका भक्ति दृष्टिगोचर होती है। जो लोग ब्रजवासियोंके समान अर्थात् श्रीकृष्णके दास-दासी, सखी-सखा तथा माता-पिता आदिके भावसे श्रीकृष्णको भजते हैं, वे भजनमें प्रवृत्त होते हैं, वे 'रागानुगा भक्ति' के साधक कहलाते

है। जो भक्ति रागात्मिका भक्तिके अनुकरणके लिये होती है तथा उसी प्रकारके भावकी ओर साधकको परिचालित करती है, वही 'रागानुगा भक्ति' है। परंतु रागानुगा साधकके चित्तमें सख्यरस या अन्य किसी प्रकारका उदय होनेपर भी वह अपनेको श्रीदाम, ललिता, विशाखा, श्रीराधा या नन्द-यशोदा आदिके रूपमें नहीं मानता। ऐसा करनेसे 'अहंग्रह' उपासना हो जाती है।

> तत्तद्भावादिमाधुर्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते।
> नात्र शास्त्रं न युक्तिं च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम्॥

'श्रीभागवतादि शास्त्र सुनकर तत्तद्भावोंके माधुर्यका अनुभव करनेपर साधकका चित्त विधिवाक्य या किसी प्रकारकी युक्तिकी अपेक्षा नहीं करता, उसमें स्वतः प्रवृत्त हो जाता है। यही लोभोत्पत्तिका लक्षण है।' अतएव श्रीमन्महाप्रभु कहते हैं—

> लोभे व्रजवासीर भावे करे अनुगति।
> शास्त्रयुक्ति नाहि माने रागानुगार प्रकृति॥

अर्थात् रागानुगाकी प्रकृति यह है कि उसका साधक लोभसे व्रजवासियोंके भावोंका अनुगमन करता है, शास्त्र और युक्तिपर ध्यान नहीं देता।

> सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि।
> तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः॥
> कृष्णं स्मरन् जनं चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम्।
> तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद् वासं व्रजे सदा॥

रागानुगा भक्तिका साधक दो प्रकारकी साधना करता है, साधकरूपसे वह उपास्यदेवका श्रवण-कीर्तन करता है और सिद्धरूपसे मनमें अपने सिद्धदेहकी भावना करता है। वह श्रीकृष्ण और उनके जनोंका स्मरण करता है। अपनेमें उनमेंसे अन्यतमकी भावना करता है और सदा-सर्वदा व्रजमें रहकर श्रीकृष्ण-सेवा करता है

जो लोग मधुर-रसके रागानुगीय साधक हैं, वे श्रीललिता-विशाखा-श्रीरूपमञ्जरी आदिकी आज्ञासे श्रीराधा-माधवकी सेवा करें तथा स्वयं श्रीकृष्णका आकर्षण करनेवाले वेषमें सुसज्जित तथा श्रीराधिकाके निर्माल्यस्वरूप वसन-आभूषणसे भूषित सखियोंकी सहेलीके रूपमें अपनी मनोमयी मूर्तिका चिन्तन करें। सनत्कुमार-तन्त्रमें लिखा है—

> आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोरमाम्।
> रूपयौवनसम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्॥

रागानुगीय साधक भक्त सखियोंके मण्डलमें अपनेको रूपयौवनसम्पन्ना किशोरीरूपमें चिन्तन करते हैं। श्रीनरोत्तमदास ठाकुरके 'प्रेमभक्तिचन्द्रिका' ग्रन्थमें 'रागानुगा भक्ति' वर्णित है। उस ग्रन्थके भाव दुरूह हैं। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीकृत 'रागवर्त्मचन्द्रिका' तथा 'श्रीकृष्णकर्णामृत', 'श्रीकृष्णमाधुरी' आदि ग्रन्थ इस विषयमें द्रष्टव्य हैं।

श्रीरागानुगा भक्ति जिनके हृदयमें प्रादुर्भूत हो गयी है, वे सिद्धदेहमें श्रीराधा-माधवकी कुञ्जसेवा करके निरतिशय परमानन्दमें निमग्न रहते हैं। ऐसे साधकजन साधनराज्यके भूषण हैं। योगीन्द्रगणदुर्लभा रागानुगा भक्ति बहुत साधनके द्वारा प्राप्त होती है।

प्रयोजन-तत्त्व

इस संसारमें प्रयोजनके बिना कोई कार्य नहीं करता। भगवत्साधनाका भी प्रयोजन है और वह प्रयोजन है प्रेम। प्रेमकी पूर्वावस्थाका नाम है 'भाव या रति'। साधन-भक्तिके परिपाकमें अथवा भक्तिकी कृपासे भावभक्तिका उदय होता है। जब श्रीकृष्णमें प्रीतिके कारण उनमें मन संलग्न रहना चाहता है, तब भाव ही रति नामसे अभिहित होता है। यह भाव मनकी अवस्था (विकार)-विशेषका नाम है। विषय-रस-निमग्न व्यक्तिका चित्त जब भगवद्-उन्मुख होता है तथा भगवद्भावमें विभावित होता है, श्रीभगवान्‌के चिन्तन करनेमें रस लेता है, तब कहना पड़ेगा कि उसके अंदर भाव उत्पन्न हो गया है।

श्रीराधिकाका चित्त अन्यान्य बालिकाओंके समान बाल्यक्रीडामें रत था। सहसा उन्हें एक दिन चित्रपटमें मुरलीधर श्रीकृष्णकी भुवनमोहिनी श्रीमूर्ति देखनेको मिली। सुना, इनका नाम श्यामसुन्दर है। दूरसे आती हुई वंशी-ध्वनि उनके कानोंमें प्रविष्ट हुई, उसी क्षण उनके मनमें प्रेम-विकार उत्पन्न हुआ। बाल्यक्रीडासे मन हट गया। क्षणभरमें चित्त बदल गया। योगिनीके समान वे शिखिपिच्छ-चूडालंकृत वंशीधर श्यामसुन्दरके ध्यानमें निमग्न हो गयीं। उनकी आहार-निद्रा छूट गयी, सखियोंके साथ बाहर-संसार बंद हो गया। वे घरके कोनेमें बैठकर श्यामसुन्दरके रूपका ध्यान करने लगीं। इसीका नाम भाव है। यह प्रेमकी प्रथम अवस्था है।

भाव चित्तको द्रवित करता है, चित्तकी कठोरता दूर करके उसको कोमल बनाता है। यह ह्लादिनीशक्तिकी वृत्ति-

विशेष है और इसकी अपेक्षा कोटिगुना आनन्दरूप, आह्लादनी-शक्तिके साररूप वृत्तिको रति कहते हैं।

जिनके हृदयमें यथार्थ प्रेमका अङ्कुर उत्पन्न हो गया है, प्राकृतिक दुःखसे उनको दुःख-बोध नहीं होता, वे सर्वदा ही श्रीकृष्णके परिचिन्तनमें काल-यापन करते हैं। प्रेमाङ्कुर उत्पन्न होनेके पूर्व निम्नाङ्कित नौ लक्षण उदित होते हैं, जैसे—(१) क्षान्ति—क्षोभके कारणोंके उपस्थित होनेपर भी चित्तका अक्षुब्ध दशामें स्थित रहना क्षान्ति कहलाता है। तितिक्षा, क्षमा, धैर्य इसके नामान्तर हैं। (२) अव्यर्थ-कालत्व—प्रेमी-भक्त श्रीकृष्णके सिवा अन्य किसी विषयमें क्षणभरके लिये चित्तको नहीं लगने देता। (३) विरक्ति—भगवद्-विषयके सिवा प्रेमीके चित्तमें अन्य किसी विषयकी कभी भी रुचि नहीं होती। (४) मानशून्यता; (५) आशाबन्ध—निरन्तर श्रीकृष्णकी प्राप्तिकी आशा बँधी रहती है। (६) समुत्कण्ठा; (७) नाम-स्मरणमें रुचि; (८) भगवद्गुणाख्यानमें आसक्ति और (९) उनकी लीला-भूमिमें प्रीति।

प्रेमाविष्ट चित्तकी उपरम दशामें नाना प्रकारके विलक्षण भावोंका आविर्भाव होता है। इस दशामें प्रायः बाह्यज्ञान नहीं रहता।

> धन्यस्यायं नवः प्रेमा यस्योन्मीलति चेतसि।
> अन्तर्वाणीभिरप्यस्य मुद्रा सुष्ठु सुदुर्गमा॥

'जिस धन्य पुरुषके चित्तमें इस नवीन प्रेमका उदय होता है, उसकी वाणी और क्रियाके रहस्यको शास्त्रवेत्ता भी नहीं जान सकते।' श्रीमद्भागवतने इस सम्बन्धमें एक अति सुन्दर प्रमाण दिया है—

> एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
> जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
> हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
> त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
>
> (११।२।४०)

'उपर्युक्त साधनप्रणालीके अनुसार साधना करनेवाला स्वप्रिय श्रीभगवान्‌के नामका कीर्तन करते-करते श्रीभगवान्‌में अनुराग हो जानेके कारण द्रवितचित्त होकर कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी उच्चस्वरसे प्रलाप करता है। कभी गाता और कभी उन्मत्तके समान नाचने लगता है। वह साधक स्वभावतः जनसाधारणके आचार-व्यवहारसे परिमुक्त होकर कार्य करता है।'

मधुर रतिमें भाव और महाभाव उपजते और उनकी अवस्थाएँ कहलाती हैं। भावकी चरम सीमामें अनुराग प्रकट होता है। भाव ही अनुरागका महान् आश्रय है। अनुरागके दृष्टान्तमें गोपी-प्रेमका उल्लेख किया जा सकता है। पर गोपी-प्रेम क्या वस्तु है, यह बतलाना कठिन है। कुछ सुरसिक प्रेमी भक्तगण आदिपुराणसे गोपी-प्रेमसम्बन्धी दो-एक बातें लेकर भक्तोंको समझानेकी चेष्टा करते हैं। श्रीचैतन्य-चरितामृतके चतुर्थ अध्यायमें गोपी-प्रेमका माहात्म्य वर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

> कामगन्धहीन स्वाभाविक गोपीप्रेम।
> निर्मल उज्ज्वल शुद्ध येन दग्ध हेम॥
> कृष्णेर सहाय गुरु, बान्धव, प्रेयसी।
> गोपिका हयेन प्रिया, शिष्या, सखी, दासी॥
> गोपिका जानेन कृष्णेर मनेर वाञ्छित।
> प्रेम सेवा परिपाटी इष्टसमीहित॥

अर्थात् गोपी-प्रेम स्वभावतः काम-गन्ध शून्य होता है। तपाये हुए स्वर्णके समान निर्मल, उज्ज्वल और शुद्ध होता है। गोपिकाएँ श्रीकृष्णकी सहायिका, गुरु, शिष्या, प्रिया, बान्धव, सखी, दासी—सब कुछ हैं। गोपिकाएँ श्रीकृष्णके मनकी अभिलाषा, प्रेम-सेवाकी परिपाटी तथा इष्ट-सेवामें लगे रहना अच्छी तरह जानती हैं, दूसरा कोई नहीं जानता। दशम स्कन्धमें श्रीरासलीलाके ३२वें अध्यायमें प्रेमी भगवान् श्रीकृष्ण अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

> एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
> स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
> मया परोक्षं भजता तिरोहितं
> मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः॥
>
> (श्रीमद्भा० १०।३२।२१)

'हे अबलागण! यह जानता हुआ भी कि तुमलोगोंने मेरे लिये लोक और वेदका तथा स्वजनोंका परित्याग कर दिया है, तुम्हारे निरन्तर ध्यान प्रवाहको बनाये रखनेके लिये तथा प्रेमालाप-श्रवण करनेके लिये गलीमें रहता हुआ भी अन्तर्हित हो गया था। हे प्रियागण! मैं तुम्हारा प्रिय हूँ। मेरे प्रति दोषदृष्टि रखना योग्य नहीं है।'

गोपी-प्रेमके विषयमें अधिक क्या कहा जाय, इस प्रेमकी तुलना संसारमें है ही नहीं। परंतु इस प्रेमका आश्रय गोपी हृदयके सिवा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। 'उज्ज्वल नीलमणि' ग्रन्थमें कहा गया है—

वरामृतस्वरूपश्रीः स्वं स्वरूपं मनो नयेत्।
स रूढश्चाधिरूढश्चेत्युच्यते द्विविधो बुधैः ॥

'यह महाभाव श्रेष्ठ अमृतके तुल्य स्वरूप-सम्पत्ति धारण करके चित्तको निज स्वरूप प्रदान करता है। पण्डित-लोग इस महाभावके रूढ और अधिरूढ—दो भेद बतलाते हैं।'

जिस महाभावमें सारे सात्त्विक भाव उद्दीप्त होते हैं, उसको रूढ-भाव कहते हैं। रास-रस निमग्ना गोपियोंमें स्वरभङ्ग, कम्प, रोमाञ्च, अश्रु, स्तम्भ, वैवर्ण्य, स्वेद तथा मूर्च्छा—ये आठों सात्त्विक भाव परिलक्षित होते हैं। अब अधिरूढ महाभावका लक्षण कहते हैं—

रूढोक्तेभ्योऽनुभावेभ्यः कामप्याप्ता विशिष्टताम्।
यत्रानुभावा दृश्यन्ते सोऽधिरूढो निगद्यते ॥

'जहाँ रूढभावोक्त अनुभावोंसे आगे बढ़कर सात्त्विक भाव किसी विशिष्ट दशाको प्राप्त होते हैं, उसको अधिरूढ-भाव कहते हैं।' इसका एक उदाहरण दिया जाता है—

लोकातीतमजाण्डकोटिगमपि त्रैकालिकं यत् सुखं
दुःखं चेति पृथग् यदि स्फुटमुभे ते गच्छतः कूटताम्।
नैवाभासतुलां शिवे तदपि तत्कूटद्वयं राधिका-
प्रेमोद्यत्सुखदुःखसिन्धुभवयोर्बिन्द्वोरपि ॥

एक दिन श्रीश्रीराधिकाजीके प्रेमके विषयमें जिज्ञासा करनेपर श्रीशंकरजीने पार्वतीजीसे कहा—'हे शिवे! लोका-तीत—वैकुण्ठगत तथा कोटि-कोटि ब्रह्माण्डगत त्रिकाल-सम्बन्धी सुख-दुःख यदि विभिन्न-रूपमें राशीभूत हों, तो भी वे दोनों श्रीराधाजीके प्रेमोत्पन्न सुख-दुःख सिन्धुके एक बूँदकी भी तुलना नहीं कर सकते।' इसी अधिरूढ महा-भावका एक सूक्ष्म उदाहरण पद्यावलीसे दिया जाता है—

पञ्चत्वं तनुरेतु भूतनिवहाः स्वांशे विशन्तु स्फुटं
धातारं प्रणिपत्य हन्त शिरसा तत्रापि याचे वरम्।
तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन-
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः ॥

श्रीश्रीराधाजी श्रीललिताजीसे कहती हैं कि 'हे सखि! श्रीकृष्ण यदि लौटकर व्रजमें नहीं आते तो निश्चय ही मैं इस जीवनमें उनको नहीं पाऊँगी। अतएव अब इतना कष्ट उठाकर इस शरीरकी रक्षा करनेका कोई प्रयोजन नहीं है। शरीर भी नष्ट जाय—यह पञ्चत्वको प्राप्त होकर स्पष्टरूपसे आकाशादि स्वकारणरूप भूतोंमें लीन हो जाय। परंतु मैं विधातासे हाथ जोड़कर यह प्रार्थना करती हूँ कि मेरे शरीरके पाँचों भूत प्रियतम श्रीकृष्णसे सम्पर्कित भूतोंमें ही विलीन हों—जलतत्त्व उस बावड़ीके जलमें मिले जहाँ श्रीकृष्ण जल-विहार करते हों; तेजस्तत्त्व उस दर्पणमें समा जाय जिसमें श्रीकृष्ण अपना मुख देखते हों; आकाश-तत्त्व उस आँगनके आकाशमें चला जाय जिसमें श्रीकृष्ण क्रीडा करते हों; पृथ्वीतत्त्व उस धरणीमें समा जाय, जिसपर श्रीकृष्ण चलते-फिरते हों और वायुतत्त्व उस ताड़के पंखेकी हवामें समा जाय जो प्रियतम श्रीकृष्णको हवा देता हो।' यह भावसमुद्र अगाध, अनन्त है; इसका वर्णन करके पार पाना असम्भव है। यहाँ यत्किंचित् दिग्दर्शनमात्र करानेकी चेष्टा की गयी है।

भक्तिसे सम्पूर्ण सद्गुणोंकी प्राप्ति

श्रीप्रह्लादजी कहते हैं—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥

(श्रीमद्भा० ५। १८। १२)

'जिस पुरुषकी भगवान्‌में निष्काम भक्ति है, उसके हृदयमें समस्त देवता धर्म-ज्ञानादि सम्पूर्ण सद्गुणोंके सहित सदा निवास करते हैं। किंतु जो भगवान्‌का भक्त नहीं है, उसमें महापुरुषोंके वे गुण आ ही कहाँसे सकते हैं। वह तो तरह-तरहके संकल्प करके निरन्तर तुच्छ बाहरी विषयोंकी ओर ही दौड़ता रहता है।'

श्रीशंकराचार्य और भक्ति

(लेखक—अध्यापक श्री[illegible] काव्य-व्याकरण-तीर्थ)

अधिकांश लोग मानते हैं कि शंकराचार्य केवल ज्ञानवादी ही थे, क्योंकि वे अद्वैतवादके प्रतिष्ठापक थे। अद्वैतवाद दर्शनके ज्ञान-क्षेत्रकी चरमताका परिचायक है। परंतु वे केवल ज्ञानवादी ही नहीं थे, मूर्तिमान् ज्ञान-कर्म और भक्तिके समुच्चयवादी थे। उन्होंने जब जैसी लीला की, उस समय वे एकमात्र उसी मतवादके प्रचारक बन गये हैं। केवल धर्मके क्षेत्रमें ही ऐसा देखा जाता हो—ऐसी बात नहीं है, साहित्यके क्षेत्रमें भी इस प्रकारके दृष्टान्तका अभाव नहीं है। भानुसिंहकी पदावलीके लेखक रवीन्द्रनाथ ही नाट्यकार, समालोचक और औपन्यासिक रवीन्द्रनाथ हैं। तथापि पूर्णदृष्टिके अभावमें पूर्णके प्रचारके बदले अंशका प्रकाश होता है। फलतः भ्रान्त धारणाकी सृष्टि होती है। वर्तमान प्रबन्धका आलोच्य विषय है 'भक्त शंकराचार्य।'

जिनके जीवन-दर्शनमें, कर्ममें भक्तिका लीला-विलास दृष्टिगोचर होता है, वही भक्त-पद-वाच्य होता है। शंकर आधार हैं और भक्ति आधेय है। 'भक्त शंकर' पर विचार करनेसे ही शंकराचार्य और भक्तिका सम्पर्क निर्णीत होगा। यह विचार तीन भागोंमें विभक्त हो सकता है—जीवन, साधना और रचना।

शंकराचार्य परम पितृ-मातृ-भक्त थे। पिताकी मृत्युसे वे असीम मर्माहत हुए थे, यह बात पण्डितोंको अविदित नहीं। उनकी मातृ-भक्तिका निदर्शन करनेवाली अनेकों कहानियाँ सुनी जाती हैं। वे माता-पिताको परम गुरु मानते थे। उनको असंतुष्ट करके कोई धर्मकार्य नहीं हो सकता। इसी कारण उन्होंने मातासे अनुमति प्राप्त करके ही संन्यास लिया था। अधिक क्या, संन्यासीका स्वपद-प्रत्यावर्तन करना शास्त्र-विरुद्ध है, पर [illegible] भी माताके अनुरोधसे जीवनभरमें एक बार माताके साथ भेंट करनेकी स्वीकृति उन्होंने दे दी तथा माताके मृत्युकालमें आकर स्वयं माताकी और्ध्वदैहिक क्रिया सम्पन्न करके मातृभक्तिका चरम और परम आदर्श उपस्थित किया। स्वयं आचरण करके दूसरोंको शिक्षा दे, [illegible] भी उनके जीवनमें [illegible] हुआ। [illegible]

लिये प्रश्नोत्तररत्नमालिकामें भी वे इस प्रकार उनकी महिमाकी घोषणा करते हैं—

'प्रत्यक्षदेवता का माता · पूज्यो गुरुश्च कस्तातः।'

उनकी साधनाके बारेमें कुछ विशेष ज्ञात नहीं होता। उनकी गुरु-भक्ति सुप्रसिद्ध ही है, उसके फलस्वरूप उनकी प्रतिभा आज भी प्रदीप्त है। उनके कुलदेवता श्रीवल्लभ (रमापति) हैं। इस श्लोकमें उनका भक्ति-विलास विशेषरूपसे प्रकाशित हुआ है—

यस्य प्रसादादहमेव विष्णु-
र्मय्येव सर्वं परिकल्पितं च।
इत्थं विजानामि सदात्मरूपं
तस्याङ्घ्रियुग्मं प्रणतोऽस्मि नित्यम्॥
—[illegible]

"जिसके प्रसादसे मैं ही साक्षात् विष्णु हूँ, तथा मुझमें ही समस्त विश्व परिकल्पित है' यह अनुभूति मुझको हो रही है, उन गुरुदेवके नित्य आत्मस्वरूप चरण युगलोंमें मैं नित्य प्रणाम करता हूँ।" भक्त ही नित्य प्रणाम करता है। इसके सिवा उनके अनेकों ग्रन्थोंमें श्रीकृष्ण-वन्दना देखनेमें आती है। ग्रन्थोंमें देव-वन्दनाकी प्रथा सुप्रचलित है, पर वन्दना भक्तिकी ही प्रकाशिका है। साधन-जीवनमें भक्तिकी महिमा यथेष्ट रूपमें स्वीकृत की गयी है। आचार्यने ज्ञान वैराग्यके साथ भक्तिको भी मुक्तिका साधन बतलाया है—

वैराग्यमात्मबोधो भक्तिश्चेति त्रयं गदितम्।
मुक्तेः साधनमादौ तत्र विरागो वितृष्णता भोग्ये॥

'वैराग्य, आत्मज्ञान और भक्ति—ये तीन मुक्तिके साधन कहे गये हैं। इनमें प्रथमोक्त वैराग्यका अर्थ है—वितृष्ण अर्थात् भोगोंके प्रति रागका अभाव।' अन्यत्र मनीषियोंको उपदेशरूपमें श्रीहरिचरणोंमें भक्तियोग कथित हुआ है।

हरिचरणभक्तियोगप्रभावतः स्वान्तं प्रयाति यत्नैः।

भक्ति ज्ञानकी पूर्वावस्था है। अथवा भक्ति ही क्रमशः ज्ञानमें रूपान्तरित होती है। श्रीकृष्णके चरण-कमलमें भक्ति किये बिना अन्तःकरणकी अर्थात् मनकी शुद्धि नहीं

होती और मन शुद्ध हुए बिना ज्ञानका आविर्भाव या स्थायित्व असम्भव है।

(प्रबोध-सुधाकर, द्विधाभक्तिप्रकरण १६६-१६७)

भक्तिके क्षेत्रमें पद्मसुख आचार्य शंकरकी 'मणिरत्न-माला' का अन्यतम रत्न है भक्ति। आत्मजिज्ञासाके पद्याने भक्तोंको उपदेश देते समय केवल शिव-विष्णु-भक्तिको प्रिय बनानेके लिये ही उन्होंने उपदेश नहीं दिया, बल्कि अपने अनुभूत सत्यको भी प्रकट कर दिया। जैसे—

अहर्निशं किं परिचिन्तनीयं
संसारमिथ्यात्वशिवात्मतत्त्वम्।
किं कर्म यत् प्रीतिकरं मुरारेः
क्वास्था न कार्या सततं भवाब्धौ॥

'अहर्निश ध्येय वस्तु क्या है?—संसारकी अनित्यता और आत्मस्वरूप शिव-तत्त्व। कर्म किसे कहते हैं?—जिससे श्रीकृष्ण प्रसन्न हों। किसके प्रति आस्था रखना उचित नहीं?—भवसागरके प्रति।' इस श्रीकृष्ण-प्रीतिके द्वारा मनुष्यको सालोक्य, सामीप्य और सायुज्यकी प्राप्ति होती है—इसका समर्थन भी हमें उनके उपदेशोंसे प्राप्त होता है—

कस्मपि भगवद्भक्तेः किं तल्लोकस्वरूपसाक्षात्त्वम्।

(प्रश्नोत्तरमालिका १७)

भक्तिके प्रयोजन और फल आदि कहकर भी शंकराचार्य तृप्त न हो सके। अथवा यह सोचकर कि आगे चलकर नाना पण्डित नाना प्रकारकी व्याख्या करेंगे, उन्होंने भक्ति-संज्ञा भी निर्धारित कर दी तथा भक्तिका श्रेष्ठत्व स्थापन करनेका प्रयास किया—

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।
स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते॥

(विवेकचूडामणि ३१)

'मुक्तिके जितने हेतु हैं, उनमें भक्ति ही श्रेष्ठ है। विद्वान् लोग कहते हैं कि स्व-स्वरूपका अनुसंधान ही भक्ति है।'

शंकराचार्यने अपना चरम मत प्रकट करके भी समझा कि भक्तिकी यह संज्ञा सबकी अनुभूतिमें नहीं आ सकती। अतएव उन्होंने दूसरे मतको भी प्रकट किया है—

स्वात्मतत्त्वानुसंधानं भक्तिरित्यपरे जगुः।

'दूसरे लोग कहते हैं कि स्व और आत्माका अर्थात् जीवात्मा और ईश्वरका तत्त्वानुसंधान ही भक्ति है।'

उनके जीवनमें, आचरणमें सर्वत्र ही भक्तिका प्रभाव देखनेमें आता है। भक्ति आत्मतत्त्वकी विश्लेषिका या परिपूरिका है—यह घोषणा उन्होंने अपने उपदेशमें, आदेशमें सर्वत्र ही समानरूपसे की है।

भावपरिप्लुत हुए बिना कोई भी भावमयी रचनाकी सृष्टि करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। जिसके हृदयमें भक्ति-भाव नहीं है, वह कभी भक्तिमूलक रचनामें सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। रचनाकी सिद्धिकी परीक्षा फल देखकर होती है। सिद्धिके बारेमें सहज ही जानकारी प्राप्त करनी हो तो जानना होगा कि जन-समाजमें रचयिताके भाव कहाँतक संक्रमित हुए हैं। वे भाव जितना अधिक संक्रमित होते हैं, उतनी ही अधिक सिद्धि सूचित होती है। भक्त शंकरा-चार्यकी स्तोत्रावली संकलन करके यह देखा जा सकता है।

भगवद्गीता किंचिदधीता
गङ्गाजललवकणिका पीता।
सकृदपि यस्य मुरारिसमर्चा
तस्य यमः किं कुरुते चर्चाम्॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते!
प्राप्ते संनिहिते मरणे
नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे॥

(चर्पटपञ्जरिकास्तोत्रम्)

भक्ति-शब्दके मूल धातुका ही प्रयोग यहाँ किया गया है। यदि 'भजन' और 'भक्ति'को पर्याय-शब्द कहें तो जान पड़ता है कि भूल न होगी। वे जब जिस देवताकी स्तुति करते हैं, तभी जान पड़ता है कि वे उसीके परम भक्त हैं। जब यहाँ जिसके विषयमें विचार करते हैं, तब वहाँ उसी मतवादके समर्थक जान पड़ते हैं। श्रीकृष्ण भक्त शंकराचार्य कहते हैं—

विना यस्य ध्यानं व्रजति पशुतां सूकरमुखां
विना यस्य ज्ञानं जनिमृतिभयं याति जनता।
विना यस्य स्मृत्या कृमिशतजनिं याति स विभुः
शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः॥

(श्रीकृष्णाष्टकम्)

'जिसके ध्यान बिना जीव सूकर आदि पशुयोनियोंको प्राप्त होता है, जिसको जाने बिना प्राणी जन्म-मरणके (विधायक) भयस्थानको प्राप्त होता है तथा जिसके स्मरण बिना सैकड़ों (कुत्सित) कीटयोनियोंको प्राप्त होता है, वे परमसमर्थ, शरणदाता, लोकेश्वर श्रीकृष्ण मुझे अपना दर्शन दें।'

इसको पढ़कर बहुत लोग समझेंगे कि श्रीकृष्ण उनके

श्रीशंकराचार्य और भक्ति

(लेखक—अध्यापक श्री[illegible] काव्य-व्याकरण-तीर्थ)

अधिकांश लोग मानते हैं कि शंकराचार्य केवल ज्ञानवादी ही थे, क्योंकि वे अद्वैतवादके प्रतिष्ठापक थे। अद्वैतवाद दर्शनके ज्ञान-क्षेत्रकी चरमताका परिचायक है। परंतु वे केवल ज्ञानवादी ही नहीं थे, मूर्तिमान् ज्ञान-कर्म और भक्तिके समुच्चय-वादी थे। उन्होंने जब जैसी लीला की, उस समय वे एकमात्र उसी मतवादके प्रचारक जान पड़े हैं। केवल धर्मके क्षेत्रमें ही ऐसा देखा जाता हो—ऐसी बात नहीं है, साहित्यके क्षेत्रमें भी इस प्रकारके दृष्टान्तका अभाव नहीं है। भानुसिंहकी पदावलीके लेखक रवीन्द्रनाथ ही नाट्यकार, समालोचक और औप-न्यासिक रवीन्द्रनाथ हैं। तथापि पूर्णदृष्टिके अभावमें पूर्णके प्रचारके पदले अंशका प्रकाश होता है। इससे भ्रान्त धारणाकी सृष्टि होती है। वर्तमान प्रबन्धका आलोच्य विषय है 'भक्त शंकराचार्य।'

जिनके जीवन-दर्शनमें, कर्ममें भक्तिका लीला-विलास दृष्टिगोचर होता है, वही भक्त-पद-वाच्य होता है। शंकर आधार हैं और भक्ति आधेय है। 'भक्त शंकर' पर विचार करनेसे ही शंकराचार्य और भक्तिका सम्पर्क निर्णीत होगा। यह विचार तीन भागोंमें विभक्त हो सकता है—जीवन, साधना और रचना।

शंकराचार्य परम पितृ-मातृ-भक्त थे। पिताकी मृत्युसे वे अत्यन्त मर्माहत हुए थे, यह बात पण्डितोंसे अविदित नहीं। उनकी मातृ-भक्तिका निदर्शन करनेवाली अनेकों कहानियाँ सुनी जाती हैं। वे माता-पिताको परम गुरु मानते थे। उनको असंतुष्ट करके कोई धर्मकार्य नहीं हो सकता। इसी कारण उन्होंने मातासे अनुमति प्राप्त करके ही संन्यास लिया था। अधिक क्या, संन्यासीका स्वगृह-प्रत्यावर्तन करना शास्त्र-विरुद्ध है, यह जानकर भी माताके अनुरोधसे साधभरमें एक बार माताके साथ भेंट करनेकी स्वीकृति उन्होंने दे दी तथा माताके मृत्युक्षणमें आकर स्वयं माताकी और्ध्वदैहिक क्रिया सम्पन्न करके मातृ-भक्तिका चरम और परम आदर्श स्थापित किया। स्वयं धर्माचरण करके दूसरोंको शिक्षा दे, शास्त्रका यह सिद्धान्त भी उनके जीवनमें पूरा-पूरा चरितार्थ हुआ। माता-पिताको परम देवता जानकर, उनको संतुष्ट करके ही वे तृप्त नहीं हुए, बल्कि जगत्‌के लोगोंको शिक्षा देनेके लिये प्रश्नोत्तरमालिकामें भी वे इस प्रकार उनकी श्रेष्ठता घोषणा करते हैं—

'प्रत्यक्षदेवता का माता पूज्यो गुरुश्च कस्तातः।'

उनकी साधनाके बारेमें कुछ विशेष ज्ञात नहीं होता। उनकी गुरु-भक्ति सुप्रसिद्ध ही है, उसके फलस्वरूप उनकी प्रतिभा आज भी प्रदीप्त है। उनके इष्टदेव श्रीवल्लभ (रमापति) हैं। इस श्लोकमें उनका भक्ति-निर्भर चित्त विशेषरूपसे प्रकाशित हुआ है—

> यस्य प्रसादादहमेव विष्णु-
> र्मय्येव सर्वं परिकल्पितं च।
> इत्थं विजानामि सदात्मरूपं
> तस्याङ्घ्रियुग्मं प्रणतोऽस्मि नित्यम्॥
>
> —[illegible]

"जिनके प्रसादसे 'मैं ही साक्षात् विष्णु हूँ, तथा मुझमें ही समस्त विश्व परिकल्पित है' यह अनुभूति मुझको होती है, उन गुरुदेवके नित्य आत्मस्वरूप चरण-युगलोंमें मैं नित्य प्रणाम करता हूँ।" भक्त ही नित्य प्रणाम प्राप्त करता है। इसके सिवा उनके अनेकों ग्रन्थोंमें श्रीकृष्ण-वन्दना देखनेमें आती है। ग्रन्थके आदिमें देव-वन्दनाकी प्रथा सुप्रचलित है, यह वन्दना भक्तिकी ही प्रकाशिका है। साधन-जीवनमें भक्तिकी महिमा यथेष्ट रूपमें स्वीकृत की गयी है। आचार्यने ज्ञान-वैराग्यके साथ भक्तिको भी मुक्तिका साधन बतलाया है—

> *वैराग्यमात्मबोधो भक्तिश्चेति त्रयं गदितम्।*
> *मुक्तेः साधनमादौ तत्र विरागो वितृष्णता भोग्ये॥*

"वैराग्य, आत्मज्ञान और भक्ति—ये तीन मुक्तिके साधन कहे गये हैं। इनमेंसे प्रथमोक्त वैराग्यका अर्थ है—विराग अर्थात् भोगोंके प्रति रागका अभाव।" अन्यत्र मनःस्थैर्यके उपायरूपमें श्रीहरिचरणोंमें भक्तियोग कथित हुआ है।

> हरिचरणभक्तियोगान्मनसः स्थैर्यं भवति सर्वैः।

भक्ति ज्ञानकी पूर्वावस्था है। अथवा भक्ति ही चरम अवस्थामें ज्ञानमें रूपान्तरित होती है। श्रीकृष्णके चरण-कमलमें भक्ति किये बिना अन्तरात्माकी अर्थात् मनकी शुद्धि नहीं

होती और मन शुद्ध हुए बिना ज्ञानका आविर्भाव या स्थायित्व असम्भव है।'

(प्रबोध-सुधाकर, शिवाभक्तिप्रकरण १९९-१९०)

भक्तिके अवगानमें पञ्चमुख आचार्य शंकरकी 'मणिरत्नमाला' का अन्यतम रत्न है भक्ति। आत्मजिज्ञासाके बहाने जनताको उपदेश देते समय केवल शिव विष्णु-भक्तिको प्रिय बनानेके लिये ही उन्होंने उपदेश नहीं दिया, बल्कि अपने अनुभूत सत्यको भी प्रकट कर दिया। जैसे—

> अहर्निशं किं परिचिन्तनीयं
> संसारमिथ्यात्वशिवात्मतत्त्वम्।
> किं कर्म यत् प्रीतिकरं मुरारेः
> क्वास्था न कार्या सततं भवाब्धौ॥

'अहर्निश ध्येय वस्तु क्या है?—संसारकी अनित्यता और आत्मस्वरूप शिव-तत्त्व। कर्म किसे कहते हैं?—जिससे श्रीकृष्ण प्रसन्न हों। किसके प्रति आस्था रखना उचित नहीं?—भवसागरके प्रति।' इस श्रीकृष्ण-प्रीतिके द्वारा मनुष्यको सालोक्य, सामीप्य और सायुज्यकी प्राप्ति होती है—इसका समर्थन भी हमें उनके उपदेशोंसे प्राप्त होता है—

> क्षणमपि भगवद्भक्तेः किं तल्लोकस्वरूपसाक्षात्त्वम्।

(प्रश्नोत्तरमालिका १७)

भक्तिके प्रयोजन और फल आदि कहकर भी शंकराचार्य तृप्त न हो सके। अथवा यह सोचकर कि आगे चलकर नाना पण्डित नाना प्रकारकी व्याख्या करेंगे, उन्होंने भक्ति-संज्ञा भी निर्धारित कर दी तथा भक्तिका श्रेष्ठत्व स्थापन करनेका प्रयास किया—

> मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।
> स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते॥

(विवेकचूडामणि ३२)

'मुक्तिके जितने हेतु हैं, उनमें भक्ति ही श्रेष्ठ है। विद्वान् लोग कहते हैं कि स्व-स्वरूपका अनुसंधान ही भक्ति है।'

शंकराचार्यने अपना चरम मत प्रकट करके भी समझा कि भक्तिकी यह संज्ञा सबकी अनुभूतिमें नहीं आ सकती। अतएव उन्होंने दूसरे मतको भी प्रकट किया है—

> स्वात्मतत्त्वानुसंधानं भक्तिरित्यपरे जगुः।

'दूसरे लोग कहते हैं कि स्व और आत्माका अर्थात् जीवात्मा और ईश्वरका तत्त्वानुसंधान ही भक्ति है।'

उनके जीवनमें, आचरणमें सर्वत्र ही भक्तिका प्रभाव देखनेमें आता है। भक्ति आत्मतत्त्वकी विश्लेषिका या परिपूरिका है—यह घोषणा उन्होंने अपने उपदेशोंमें, आदेशोंमें सर्वत्र ही समानरूपसे की है।

भावपरिप्लुत हुए बिना कोई भी भावमयी रचनाकी सृष्टि करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। जिसके हृदयमें भक्ति-भाव नहीं है, वह कभी भक्तिमूलक रचनामें सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। रचनाकी सिद्धिकी परीक्षा फल देखकर होती है। सिद्धिके बारेमें सहज ही जानकारी प्राप्त करनी हो तो जानना होगा कि जन-समाजमें रचयिताके भाव कहाँतक संक्रमित हुए हैं। वे भाव जितना अधिक संक्रमित होते हैं, उतनी ही अधिक सिद्धि सूचित होती है। भक्त शंकराचार्यकी स्तोत्रावली संकलन करके यह देखा जा सकता है।

> भगवद्गीता किंचिदधीता
> गङ्गाजललवकणिका पीता।
> सकृदपि यस्य मुरारिसमर्चा
> तस्य यमः किं कुरुते चर्चाम्॥
> भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते।
> प्राप्ते संनिहिते मरणे
> नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे॥

(चर्पटपञ्जरिकास्तोत्रम्)

भक्ति-शब्दके मूल धातुका ही प्रयोग यहाँ किया गया है। यदि 'भजन' और 'भक्ति'को पर्याय-शब्द कहें तो जान पड़ता है कि भूल न होगी। वे जब जिस देवताकी स्तुति करते हैं, तभी जान पड़ता है कि वे उसीके परम भक्त हैं। जब जहाँ जिसके विषयमें विचार करते हैं, तब वहाँ उसी मतवादके समर्थक जान पड़ते हैं। श्रीकृष्ण-भक्त शंकराचार्य कहते हैं—

> विना यस्य ध्यानं व्रजति पशुतां सूकरमुखां
> विना यस्य ज्ञानं जनिमृतिभयं याति जनता।
> विना यस्य स्मृत्या कृमिशतजनिं याति स विभुः
> शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः॥

(श्रीकृष्णाष्टकम्)

'जिसके ध्यान बिना जीव सूकर आदि पशुयोनियोंको प्राप्त होता है, जिसको जाने बिना प्राणी जन्म-मरणके (विशाल) भयस्थानको प्राप्त होता है तथा जिसके स्मरण बिना सैकड़ों (कुत्सित) कीटयोनियोंको प्राप्त होता है, वे परमसमर्थ, शरणदाता, लोकेश्वर श्रीकृष्ण मुझे अपना दर्शन दें।'

इसको पढ़कर बहुत लोग समझेंगे कि श्रीकृष्ण उनके

पुण्यरेखा है, इसी कारण उन्होंने श्रीकृष्णका ऐसा स्तवन किया है।

ये केवल श्रीकृष्णकी ही स्तुति-रचना नहीं करते, वे बहु-देव-देवी-स्तवनमें सिद्ध हो गये हैं। एक और स्तुति उद्धृत की जाती है—

> अलकानन्दे परमानन्दे
> कुरु मयि करुणां कातरवन्द्ये।
> तव तटनिकटे यस्य निवासः
> खलु वैकुण्ठे तस्य निवासः॥
>
> (गङ्गास्तोत्रम्)

'हे अलकापुरीमें विहार करनेवाली, परमानन्दमयी, हे दीन-दुःखियोंकी शरणदात्री एवं नमनीया गङ्गादेवी! तुम मुझपर कृपा करो। माँ! तुम्हारे तटपर जो निवास करता है, उसका वैकुण्ठमें निवास निश्चित है।'

भगवान् श्रीशंकराचार्यकी भक्तिके सम्बन्धमें और भी प्रमाण दिये जा सकते हैं। परंतु इस संक्षिप्त प्रबन्धकी संक्षिप्तताकी रक्षाके लिये बहुत प्रमाण नहीं दिये जा रहे हैं।

शिव ज्ञानकी मूर्ति हैं, परंतु वे भक्तिके भी पूर्ण स्वरूप हैं। शिवके समान श्रीरामचन्द्रका भक्त कोई नहीं है तथा श्रीरामचन्द्रकी अपेक्षा शिवका भक्त कोई नहीं है। शिवके अवतार शंकराचार्य यदि भक्तिवादी हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

आइये, हम सब शिवावतार भक्तश्रेष्ठ श्रीशंकराचार्यको श्रद्धावनत मस्तकसे प्रणति प्रदर्शित करें।

आचार्य श्रीविष्णुस्वामीकी भक्ति

(लेखक—श्रीगोविन्ददासजी वैष्णव)

आजसे लगभग २६०० वर्ष पूर्व दक्षिण-भारतके प्राचीन तीर्थ मदुरा नगरीमें पाण्ड्यविजय नामक राजा राज्य करते थे। इन महाराज पाण्ड्यविजयके भाग्यवान् कुलगुरु थे—ब्राह्मणश्रेष्ठ देवस्वामी और देवस्वामीकी धर्मपत्नी थीं श्रीमती पयोमती देवी। इन्हीं ब्राह्मण-दम्पतिके पुत्ररत्न थे श्रीविष्णुस्वामी।

विष्णुस्वामी जब बहुत छोटे थे, जब उन्होंने घुटनों चलना प्रारम्भ किया था, उनमें कई अद्भुत बातें प्रकट हो गयी थीं। शैशवमें भी खिलौनोंमें उन्होंने कभी कोई अभिरुचि नहीं दिखायी। चापल्य उनमें आया ही नहीं। माताके साथ तुलसीपूजन, गोपूजन और पिताके साथ संध्या या देवार्चनकी अनुकृति उनके स्वाभाविक कार्य थे। पिता संध्या करने बैठते थे और उनका छोटा-सा बालक समीप बैठकर उन्हींकी भाँति आचमन करनेका प्रयत्न करता था। ये ही शिशु विष्णुके विनोद थे।

थोड़े बड़े होनेपर विष्णुस्वामीने बालकोंको एकत्र करके भगवत्सेवा-पूजाकी लीला प्रारम्भ कर दी। उस समयतक सामान्य पत्र और पुष्पोंतकका अन्तर चाहे उनकी समझमें न आया हो, किंतु वे सभी बालकोंको किसी भी कल्पित मूर्तिकी अर्चना बड़ी तत्परतासे सिखाया करते थे। बालोचित अनुराग उनके साथ कभी अपनी मूर्तिको स्नान कराता, कभी पूजा-पत्ता-से सजाता, नैवेद्य-नीराजनका समारम्भ करता या मूर्तिके आगे पृथ्वीपर मस्तक रखकर प्रणिपात करता।

अध्ययनकालमें पूरा मनोयोग दिया विष्णुस्वामीने और उसीका परिणाम यह हुआ कि सरस्वती-जैसे उनकी सेवामें साक्षात् समुपस्थित हो गयीं।

श्रीकृष्ण ही जीवोंके परम प्रेमास्पद एवं प्राप्य हैं। मनुष्यका सर्वोपरि कर्तव्य श्रीनन्दनन्दनकी सेवा ही है। भक्ति ही श्रुति-स्मृति-पुराण-शास्त्रीय सर्वोपरि श्रेयस्कर साधना है—इस प्रश्नके निश्चयमें उन्हें न कोई विकल्प था, न शङ्काके लिये स्थान। भक्ति पितृ-परम्परासे उन्हें प्राप्त थी। वस्तुतः भक्तिके प्रचारके लिये ही विष्णुस्वामीका अवतार हुआ था। शास्त्रोंके श्रद्धासमन्वित अध्ययनने बुद्धिको निश्चयमें स्थिर कर दिया।

अब विष्णुस्वामीने साधना प्रारम्भ कर दी। वे एक कोमलरूपमें वात्सल्यभावसे भगवान् श्रीबालगोपालकी उपासना करने लगे।* शास्त्रोंकी मर्यादा उनसे छिपी नहीं थी, किंतु उनकी दृढ़ श्रद्धा थी कि प्रतिमा जड़ मूर्ति नहीं है, वह आराध्यका साक्षात् अर्चाविग्रह है। नैवेद्य निवेदन करनेके अनन्तर वे बड़े वात्सल्यभावसे आग्रह करते कि उनके सारे सौरभ उसे आरोगें और जब उन्हें नैवेद्यमें कुछ भी कमी नहीं

* सर्वेषां भगवान् बालगोपालरूपको नाम पूजनीय: ।
(बृहन्नारदीय)

दीखती, तब वे खिन्न हो उठते। उन्हें लगता, अभी मैं इसका अधिकारी नहीं हुआ कि करुणा-वरुणालय श्यामसुन्दर मेरी प्रार्थना स्वीकार करें।

इच्छा, अभिलाषा, उत्कण्ठा बढ़ते-बढ़ते यह वृत्ति अभीप्सा बन गयी। प्रतीक्षाकी विपुल वेदना उसमें अन्तर्हित हो उठी। कभी अश्रुप्रवाह चलता, कभी प्रशान्त बैठे रहते और कभी उन्मत्त-से कीर्तन करते हुए नृत्य करने लगते।

माताको पुत्रके इस अद्भुत भावको देखकर बड़ी वेदना होती। उनके बालकको यह क्या हो गया है! क्यों वह अपने स्नान-भोजनकी सुधि नहीं रख पाता! किंतु उनकी बात कोई सुनता नहीं। आचार्य देवस्वामी हँसकर टाल देते। वे कहते—'विष्णुको कुछ नहीं हुआ है। वह परम भाग्यशाली है। अभीसे उसमें भक्तिके दिव्य भावोंका उदय होने लगा है। उसने हमारे कुलको कृतार्थ कर दिया।' भला, ऐसे भाव रखनेवाले स्वामीसे यशोमती देवी क्या कहें। स्वयं विष्णुकी स्थिति ऐसी नहीं कि उससे कुछ कहा जा सके। लगता था वह कुछ सुनता-समझता ही नहीं।

विष्णुस्वामी सचमुच कुछ सुनते-समझते नहीं। उनका मन उनके अपार अध्ययनका आस-कम स्पर्श नहीं करता। श्यामसुन्दर आते नहीं, वे मेरा नैवेद्य स्वीकार नहीं करते—पता नहीं इस प्रकारके कितने भाव निरन्तर उनके मनमें उठते रहते। अर्चाका कोई क्रम नहीं रह गया। दिनभर अर्चा। कितनी बार वे अपने गोपालको स्नान कराते, पुष्पोंसे सजाते हैं, नैवेद्य निवेदन करते हैं—कुछ ठिकाना नहीं रह गया। अभी मेरे गोपालने खाया नहीं है, अभी तो उसने स्नान भी नहीं किया है। अब उसे सो जाना चाहिये। जब जो बात ध्यानमें आ जाती, वही क्रिया चलने लगती।

विष्णुस्वामीके हृदयमें, प्राणोंमें और जीवनमें उनका गोपाल बस गया है। उन्हें रात्रिमें निद्रा भी आती कि नहीं, पता नहीं। एक ही कार्य रह गया है, गोपालका स्मरण और उसकी अर्चा। एक-दो दिन नहीं, महीनों, पूरे वर्षतक चलता रहा यह क्रम। इतनेपर भी जब विष्णुस्वामीको भगवत्साक्षात्कार नहीं हुआ, तब वे सोचने लगे—'अरे! मेरे गोपाल मुझपर प्रसन्न नहीं होते, न मेरी सेवाको ही स्वीकार करते हैं और न मेरे अपराध ही बतलाते हैं। इसलिये जबतक श्यामसुन्दर साक्षात् प्रकट होकर दर्शन नहीं देते, तबतक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।' सदा स विरतार्थ विचाय समर्थन करार। धन्य विष्णुस्वामी।

विष्णुस्वामीने अन्न-जलका सर्वथा परित्याग कर दिया है। गोपाल! तुम नहीं खाते तो मैं भी भोजन नहीं करूँगा। तुम मेरे समर्पित जलको नहीं पीते तो मैं भी जल नहीं पीऊँगा। यह अन्न, ये फूल और यह जल सेवन करने योग्य नहीं, जिन्हें तुमने स्वीकार न किया हो। एक ही रट लगी है विष्णुस्वामी-को। भगवान्‌के द्वारा अनुपयुक्त नैवेद्यको जलमें विसर्जितकर वे निराहार रह जाते। आज छः दिन पूरे हो गये, विष्णु-स्वामीने जलतक ग्रहण नहीं किया। आश्रममें कोई आहार ग्रहण करे, यह कैसे सम्भव था।

यद्यपि लगातार छः दिनके उपवाससे विष्णुस्वामीके शरीरमें पर्याप्त शिथिलता आ गयी थी, तथापि उन्होंने अपने विचारोंमें कोई परिवर्तन नहीं किया। वे पूर्ववत् प्रेमार्द्र चित्तसे भगवदाराधनमें संलग्न रहे।

× × × ×

आज विष्णुस्वामीके उपवासका सातवाँ दिन है। भूख नहीं कहाँसे विष्णुस्वामीके अत्यन्त क्षीणकायमें शक्ति आ गयी है। उन्होंने स्नान करके संध्या-वन्दन किया और अपने गोपालकी अर्चा की। समिधाएँ एकत्रित करके अग्नि प्रज्वलित कर दी। लोगोंने समझा आज विष्णुस्वामी कोई यज्ञ करना चाहते होंगे। वे कहने लगे—'श्यामसुन्दर! उस शरीरका क्या प्रयो-जन, जिसकी सेवा तुम्हें स्वीकार नहीं। श्रुति कहती है कि अग्नि तुम्हारे सर्वांगसम्पन्न मुख है। मैं अपने इस शरीरको तुम्हें समर्पित करता हूँ।'

'प्रिय विष्णु!' जैसे माधुर्यका अनन्त स्रोत फूट पड़ा हो। भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु कृपानिधि भगवान् श्यामसुन्दर प्रकट हो गये। नव-नील-नीरदश्याम, बर्हिबर्हावतंस, पीताम्बरपरिधान, वनमाली श्रीहरि मन्द-मन्द मुसकरा रहे थे। समिधाओंकी अग्नि स्वतः शान्त हो गयी और प्रकोष्ठ कोटि-कोटि-चन्द्रोज्ज्वल ज्योत्स्नासे परिपूर्ण हो गया। सौन्दर्य, सौकुमार्य एवं सुषमा-की घनीभूत वह श्यामल मूर्ति बोल उठी—'विष्णु, तुम तो मेरे स्वरूप ही हो। इतना कष्ट क्यों किया तुमने। तुम्हें संदेह क्यों है कि तुम्हारी सेवा मुझे स्वीकार नहीं है। देखो मैं छः दिनोंसे भूखा हूँ। तुमने उपवास करके मुझे भूखा रखा है। उठो, अब हम दोनों एक साथ भोजन करेंगे।'

भगवान्‌के दिव्यातिदिव्य सौन्दर्यको देखकर विष्णुस्वामी मुग्ध हो गये। प्रभुकी प्रेमभरी वाणीको सुनकर वे परमानन्द-में निमग्न हो गये। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—'प्रभो! आप शरणागत-वत्सल हैं। अनजानमें मैंने बालबुद्धिसे जो

अपराध किया है, उसे आप कृपामूर्ति कृपया क्षमा करें।'

विष्णुस्वामीकी प्रार्थना सुनकर भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'वत्स! तुम्हारी क्या इच्छा है? मैं उसे पूर्ण करूँगा।' विष्णुस्वामीने कहा—'प्रभो! आपने निजजन जान-कर मुझे दर्शन दिया, इससे मैं कृतकृत्य हो गया। अब आप मुझे श्रीचरणोंकी नित्यसेवा प्रदान करें, यही प्रार्थना है।' श्रीभगवान् बोले—'सौम्य! तुम्हारा अवतार संसारमें भागवत धर्मका प्रचार करनेके लिये हुआ है। इसलिये तुम अभी कुछ काल जगत्‌में रहकर मेरा यह प्रिय कार्य करो।' यह कह-कर श्रीभगवान्‌ने विष्णुस्वामीको शरणागति-पञ्चाक्षर-मन्त्र (*'कृष्ण! तवास्मि'*) प्रदान किया और बतलाया कि यह मन्त्र शरणागत जनोंको देना चाहिये। पुनः प्रभुने अपनी श्रीकण्ठकी तुलसी-दल-विरचित माला लेकर कमलोंसे तुलसी-मन्त्रोच्चारणपूर्वक विष्णुस्वामीके गलेमें पहना दी और आज्ञा की—'तुम श्रीमाधवदेवसे ब्रह्मसूत्रका तात्पर्य और भावार्थ त्रिपुरारिसे साम्प्रदायिक दीक्षा ग्रहण करके मेरे द्वारा प्रवर्तित रुद्र-सम्प्रदायको जगत्‌में प्रतिष्ठित करो। श्रीमाधवदेव कलापग्राममें तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। अब यह व्याकुलता छोड़ो और इतने सुस्थिर बनो कि वहाँ जा सको। उसके आगेका कार्य अपने-आप सम्पन्न होता रहेगा। और कोई तुम्हारी अभि-लाषा हो तो कहो।'

विष्णुस्वामीने प्रार्थना की—'भगवन्! यदि आप मुझ-पर प्रसन्न हैं तो इसी स्वरूपसे सदा यहाँ निवास करें। मैं *राजोपचार-विधिसे आपकी सेवा करना चाहता हूँ।'*

श्रीभगवान् बोले—'सौम्य! कलिकालमें साक्षात् रूपसे यहाँ मेरी निरन्तर स्थिति अपनी ही बनायी मर्यादाके अनुरूप नहीं है।' विष्णुस्वामीको भगवान्‌का यह भाव स्वीकार करना पड़ा और स्वयं विभु श्रीकृष्ण उन्हें श्रीविग्रहके रूपमें प्राप्त हुए। अब विष्णुस्वामी उन्हीं विग्रहरूप प्रभुकी परम प्रेमसे पर अर्चा करने लगे।

भगवता विष्णुस्वामिनं प्रत्युक्तम्। सौम्य! यथार्थं श्रीभागवतं मे शास्त्रे, अहमेव देव एक एव। कृष्ण! तवास्मीति पञ्चाक्षरात्मकेनात्मनिवेदनम्, नामैव मन्त्रः, महाराजोपचारविधिना सेवैव कर्म। त्वत्सम्प्रदाये दीक्षितो यथोक्तगोपीजनवदिव परिचरिष्यति मां प्रतिमास्वर्चां साक्षात्मत्वा, तत्कृतां सेवां स्वीकरिष्यामि।*

भगवान्‌ने विष्णुस्वामीको उत्तर दिया, 'सौम्य! भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत मेरे दो शास्त्र (आधार) हैं, *मैं ही एकमात्र उपास्य हूँ, 'कृष्ण! तवास्मि' इस पञ्चा-*क्षर मन्त्रसे आत्मनिवेदन किया जाता है, मेरा नाम ही मन्त्र है, महाराजोपचारविधिसे मेरी सेवा करना ही कर्म है। जो तुम्हारे सम्प्रदायमें दीक्षित होकर यशोदा, गोपीजन एवं उद्धवादिकी भी भाँति मेरे अर्चा विग्रहको भी मेरा साक्षात् स्वरूप मानकर मेरी परिचर्या करेगा, उसकी सेवाको मैं उसी भाँति स्वीकार करूँगा।'

× × × ×

श्रावणमें सातवें दिन उत्सव आया। पुष्पोंकी सुस्थिर एवं माला आनन्द-गद्गद हो गयी। विष्णुने श्रीकृष्णको साकार पाया, इस समाचारने ही देवस्वामीको इतना सम्पन्न कर दिया कि पूरे मुहूर्त भर वे प्रेम-समाधिमें मग्न रहे। धन्य है वह मथुरा नगरी, जहाँ श्रीविष्णुस्वामीकी आराधना सफल हुई।

विष्णुस्वामीने आगे चलकर 'वैष्णवाचार्य' पदवीको प्राप्त किया और वे वैष्णवाचार्योंमें प्रमुख माने गये। इनके सम्प्रदायके वैष्णव मत तथा अन्य प्रान्तोंमें भी अद्यावधि विद्यमान हैं। महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यने इन्हीं विष्णुस्वामीके मतको आधार बनाकर अपने पुष्टि सम्प्रदाय (अनुग्रह-मार्ग)-की स्थापना की।

भक्तिकी प्राप्ति परमधर्म

यम कहते हैं—

> एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः।
> भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः॥
>
> (*श्रीमद्भा० ६।३।२२*)

'इस जगत्‌में जीवोंके लिये बस, यही सबसे बड़ा कर्तव्य—परमधर्म है कि वे नाम-कीर्तन आदि उपायोंसे भगवान्‌के चरणोंमें भक्तिभाव प्राप्त कर लें।'

* सम्प्रदायप्रदीप, तृतीय प्रकरण।

श्रीरामानुजाचार्यकी भक्ति

भगवान् श्रीरामानुजाचार्यका सिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है। इस सम्प्रदायकी आचार्य-परम्परामें सर्वप्रथम आचार्य भगवान् श्रीनारायण माने जाते हैं। उन्होंने निज स्वरूपाशक्ति श्रीमहालक्ष्मीजीको श्रीनारायण-मन्त्रका उपदेश किया। करुणामयी स्नेहमयी माताने भगवान्‌के पार्षदप्रवर श्रीविष्वक्सेनजीको उपदेश दिया। उन्होंने श्रीशठकोप स्वामीको उपदेश दिया। तत्पश्चात् वही उपदेश परम्परासे श्रीनाथमुनि, पुण्डरीकाक्षस्वामी, श्रीराममिश्रजी तथा श्रीयामुनाचार्यजीको प्राप्त हुआ।

आचार्य श्रीरामानुज अभेद-प्रतिपादक एवं भेद-प्रतिपादक तथा निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्मकी प्रतिपादिका—दोनों ही प्रकारकी श्रुतियोंको सत्य और प्रमाण मानते हैं। वे कहते हैं कि अभेद और भेदका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंमें परस्पर विरोध नहीं है। अभेद-प्रतिपादक वाक्य एकके अंदर तीन (ब्रह्म-प्रकृति-जीव) का वर्णन करते हैं और भेद-प्रतिपादक वाक्य उन तीनोंका पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं। इसी प्रकार जहाँ निर्गुणका वर्णन है, वहाँ यह भाव समझना चाहिये कि ब्रह्ममें कोई प्राकृत गुण नहीं है; और जहाँ सगुणका वर्णन है, वहाँ यह भाव है कि ब्रह्ममें स्वरूपभूत अलौकिक गुण हैं, जो जड प्रकृति या जीवात्मामें नहीं हैं।

श्रीरामानुजाचार्यके मतसे ब्रह्म स्थूल-सूक्ष्म-चेतनाचितविशिष्ट पुरुषोत्तम हैं, वे सगुण और सविशेष हैं। ब्रह्मकी शक्ति माया है। ब्रह्म अशेष कल्याणकारी गुण-गणोंके आकर हैं। उनमें निकृष्ट कुछ भी नहीं है। सर्वेश्वरत्व, सर्वशेषित्व, सर्वकर्माराध्यत्व, सर्वफलप्रदत्व, सर्वाधारत्व, सर्वकार्योत्पादकत्व, समस्त द्रव्य-शरीरत्व, चिदचित्-शरीरत्व आदि उनके लक्षण हैं। वे सूक्ष्म चिदचिद्-विशेषरूपमें जगत्‌के उपादान-कारण हैं और संकल्प-विशिष्टरूपमें निमित्त-कारण हैं, यों वे ही अभिन्न-निमित्तोपादान कारण हैं। जीव और जगत् उनका शरीर हैं, भगवान् आत्मा हैं। वे सृष्टिकर्ता, कर्मफलदाता, नियन्ता, सर्वान्तर्यामी, अपार कारुण्य-सौशील्य-वात्सल्य-औदार्य-ऐश्वर्य और सौन्दर्य आदि अनन्तानन्त सद्गुणोंके महान् सागर सर्वाधीश्वर भगवान् नारायण हैं। ईश्वरका स्वरूप पाँच प्रकारका है—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा। वे शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज हैं। श्री-भू-लीलासहित समस्त दिव्याभूषणोंसे भूषित हैं।

जगत् जड है। जगत् ब्रह्मका शरीर है। ब्रह्म जगत्‌के रूपमें परिणत हैं, तथापि वे निर्विकार हैं। जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं है। जीव भी ब्रह्मका शरीर है, ब्रह्म और जीव दोनों ही चेतन हैं। ब्रह्म विभु हैं, जीव अणु है; ब्रह्म पूर्ण हैं, जीव खण्डित है; ब्रह्म ईश्वर हैं, जीव दास है; ईश्वर कारण हैं, जीव कार्य है। जीव देह-इन्द्रिय-मन-प्राण आदिसे भिन्न है। जीव नित्य है, उसका स्वरूप भी नित्य है। प्रत्येक शरीरमें जीव भिन्न-भिन्न हैं। उपाधिवश ही जीव संसारभोगको प्राप्त होता है। जीव ही कर्ता-भोक्ता है। जीवके पाँच भेद हैं—नित्य, मुक्त, केवल, मुमुक्षु और बद्ध।

दिव्यधाम श्रीवैकुण्ठमें श्री-भू-लीला महादेवियोंके सहित भगवान् नारायणकी सेवाका प्राप्त होना ही 'परम पुरुषार्थ' है। भगवान्‌के इस दासत्वकी प्राप्ति ही मुक्ति है। भगवान्‌के साथ अभिन्नता कभी सम्भव नहीं; क्योंकि जीव स्वरूपतः नित्य है, वह नित्य दास है, नित्य अणु है। वह कभी विभु नहीं हो सकता। वैकुण्ठमें अपार कल्याणगुण-गण-महोदधि भगवान् नारायणके नित्य दासत्वको प्राप्त होकर मुक्त जीव दिव्यानन्दका अनुभव करते हैं।

इस मुक्तिके उपाय पाँच हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, प्रपत्तियोग और आचार्याभिमानयोग। ये पाँचों ही भक्तिके अङ्ग हैं। केवल ज्ञानसे मुक्ति नहीं हो सकती। ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति नहीं हो सकती। भक्तिसे प्रसन्न होकर दयामय भगवान् मुक्ति प्रदान करते हैं। वेदना, ध्यान, उपासना आदि शब्दोंसे भक्ति ही सूचित होती है।

न्यासविद्या ही प्रपत्ति है। अनुकूलताका संकल्प, प्रतिकूलताका त्याग, भगवान्‌में सम्पूर्णतया आत्मसमर्पण, सब प्रकारसे केवल श्रीभगवान्‌के शरण हो जाना ही प्रपत्ति है। विभु, भूमा, सर्वेश्वर श्रीभगवान्‌के श्रीचरणोंमें पूर्ण आत्म-समर्पण करनेसे मुक्ति मिल सकती है। अतः सर्वस्व-निवेदन-रूप शरणागति-भक्ति ही भगवान्‌की प्रसन्नताका प्रधान साधन है।

श्रीनिम्बार्काचार्य और भक्ति

(लेखक—स्वामी श्रीपरमानन्ददासजी)

श्रीश्रीनिम्बार्काचार्यने साधकोंको परम मोक्षकी प्राप्ति करानेके लिये 'प्रपत्ति'की साधना ही प्रवर्तित की है। उन्होंने बतलाया कि अमूर्त मूलरूपकी उपासनाकी अपेक्षा प्रत्यक्षित मूर्तरूपकी उपासना ही जीवके लिये अधिक प्रशस्त है। अतएव निम्बार्क-सम्प्रदायके साधक सत्त्वगुणप्रधानवृत्ति 'भगवान् श्रीकृष्ण'की उपासनाको ही मुख्यरूपसे ग्रहण करते हैं। इस श्रेणीके वैष्णवजन 'श्रीकृष्ण और श्रीराधिका'-रूप युगल मूर्तिकी उपासनाका विशेषरूपसे अवलम्बन करके भी उसको सर्वविषयक ब्रह्मबुद्धिके भावरूपमें ही ग्रहण करते हैं। इस विशिष्ट साधनका वर्णन करनेके पहले, श्रीनिम्बार्क स्वामीने ब्रह्मका जो स्वरूप-निरूपण किया है तथा ब्रह्म-प्राप्तिके लिये भक्तियोगके अन्तर्गत भक्तोंको जिस साधनका अवलम्बन करनेके लिये कहा है, उसका किंचित् परिचय देना आवश्यक है।

ब्रह्म चिदानन्दस्वरूप अद्वैत तत्त्वपदार्थ है। ब्रह्मका स्वरूप श्रीनिम्बार्काचार्यने 'चतुष्पादविशिष्ट' रूपमें वर्णन किया है। (क) दृश्यमानीय अनन्त जगत् प्रथम पाद है। (ख) इस जगत्के पदार्थोंको विभिन्न रूपोंमें देखनेवाला द्रष्टा जीव द्वितीय पाद है। (ग) अनन्त जागतिक पदार्थोंका पूर्ण और नित्यद्रष्टा ईश्वर तृतीय पाद है। (घ) इन तीनों रूपोंसे विवर्जित नित्य, एकरस, आनन्दमात्रका अनुभव करनेवाला चतुर्थ पाद है, जिसका एकान्त अक्षर पादके नामसे श्रुतिने वर्णन किया है।

इस सम्बन्धमें वेदान्तदर्शनके अपने भाष्यमें श्रीनिम्बार्क स्वामीने द्वैताद्वैत-मीमांसा (भेदाभेदवाद) की स्थापना की है। इस सिद्धान्तके अनुसार दृश्यमान जगत् और जीव दोनों ही मूलतः ब्रह्म हैं। परंतु जीव और जगत् मात्रमें ही उनकी सत्ता समाप्त नहीं होती। इन दोनोंके अतीत भी उनका स्वरूप है। इन दोनोंसे अतीत स्वरूप ही जगत्का मूल उपादान कारण है। जगत् और जीव ब्रह्मके ही अंशमात्र हैं। अंशके साथ अंशीका जो भेदाभेद-सम्बन्ध है, जगत् और जीवके साथ ब्रह्मका भी वैसा ही सम्बन्ध है। अंश सम्पूर्ण भावसे अंशीका अङ्ग है, अतएव अभिन्न है और अंशी अंशको अतिक्रम करके भी स्थित है, अंशमात्रमें ही अंशीकी सत्ता समाप्त नहीं होती; अतएव अंशी अंशसे भिन्न भी है। अतएव दोनोंके सम्बन्धको भेदाभेद-सम्बन्धके रूपमें निर्देश करना पड़ता है। अंशांशि-सम्बन्ध और भेदाभेद अथवा द्वैताद्वैत-सम्बन्ध एक ही अर्थके द्योतक हैं।

ब्रह्म अपने चिदंशके द्वारा अपने स्वरूपगत आनन्दका अनुभव (भोग) करता है। उनका स्वरूपगत आनन्द भूमा है, अनन्त है। इस आनन्दकी अनन्तरूपमें द्रष्टा होनेकी योग्यता है तथा उसके स्वरूपगत चित्-शक्तिमें भी अनन्तभावसे प्रसारित होकर इस आनन्दको अनन्तरूपसे अनुभव करनेकी योग्यता है। जैसे सूर्यदेव अपने स्वच्छ रूप अनन्त तेजोमयी रश्मियोंको फैलाकर अपने प्रभा-स्वरूप आकाशको तथा आकाशस्थ सारी वस्तुओंको स्वयं स्पर्श और प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म भी स्वरूपगत चिदंश अनन्त सूक्ष्म चित्स्वरूप भागोंमें अपनेको विभक्त करके अनन्त रूपोंमें अपने स्वरूपगत आनन्दका अनुभव और प्रकाश करता है। ये सब सूक्ष्म चिदंश (चित्-अणु) ही जीव हैं; तथा ब्रह्मके स्वरूपगत आनन्दको जो जीव अनन्त विभिन्न और विशेषरूपोंमें अनुभव (दर्शन) करता है, उन सारे विभिन्न रूपोंकी समष्टि ही जगत् है। ब्रह्मके स्वरूपगत अनन्त आनन्दको विशेष-विशेषरूपमें दर्शन (अनुभव) करनेके निमित्त ही जीव-शक्तिका प्रकाश है। अतएव जीवस्वरूप व्यष्टि द्रष्टा है—ब्रह्मके स्वरूपगत आनन्दके विशेष विशेष अंशका द्रष्टा है। परंतु ब्रह्म अपने स्वरूपगत आनन्दको अनन्त विभिन्न रूपोंमें समष्टिरूपसे एक साथ भी अनुभव करता है। उनकी चित्-शक्ति इन सबको एक ही साथ अपने ज्ञानका विषय भी बनाती है।

इन सभी अनन्त रूपोंका समग्र दर्शन करनेवालेके रूपमें ब्रह्मको 'ईश्वर' संज्ञा दी गयी है। अतएव ईश्वररूपी ब्रह्म सर्व और जीव विशेषज्ञ है। समग्र-द्रष्टा ईश्वरके दर्शनके भीतर ही व्यष्टि-दर्शनकारी प्रत्येक जीवका विशेष विशेष दर्शन है। समग्र-दर्शनमें जो कुछ है, उसको अतिक्रम करके कोई विशेष-दर्शनमें कुछ नहीं रहता और न रह सकता है। सारा विशेष-दर्शनकारी जीव सर्वदा ही ईश्वरके अधीन है। वह ईश्वरको कदापि अतिक्रम नहीं कर सकता। वस्तुतः जीव और जगत्का नियन्ता होनेके कारण ब्रह्मकी 'ईश्वर' संज्ञा है, य

ईश्वररूपी ब्रह्म ही सर्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वप्रकाशक तथा सृष्टि-स्थिति-प्रलयका एकमात्र कारण है। ईश्वरब्रह्म, जीवब्रह्म और जगद्ब्रह्म—यह त्रिविध रूप अक्षरब्रह्ममें ही प्रतिष्ठित है। इस अक्षर ब्रह्मको ही 'निर्गुण ब्रह्म' अथवा 'सद्ब्रह्म' कहते हैं। यह चिदानन्द-स्वरूप सद्वस्तु है, जो अपने स्वरूपगत आनन्दका निर्विशेषरूपमें नित्य अनुभव करता है। इसमें किसी प्रकारकी विशेष क्रिया नहीं होती। यह नित्यानन्दमें एकरसनिमग्न रहता है।

यह निर्गुण ब्रह्म ही जगत्‌का निमित्त और उपादान कारण है। ब्रह्म ही जगत्‌का कारण है, अतएव उसकी केवल निर्गुणरूपमें व्याख्या नहीं की जा सकती। गुण गुणीसे अभिन्न, गुणीका ही गुण होता है।

सर्वरूप और अरूप, सर्वरूपमय और सर्वरूपातीत, प्राकृत-गुणातीत अथच सम्पूर्ण जगत्‌के नियन्ता और आश्रय-स्वरूप इस ब्रह्मको भक्तिके द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। भक्ति ही इस पूर्णब्रह्मकी प्राप्तिका पूर्ण साधन है। अपनेको तथा समग्र विश्वको ब्रह्मरूपमें चिन्तन करना भक्तिमार्गका अङ्ग है। भक्तिमार्गके साधकके लिये अनात्म नामकी कोई वस्तु ही नहीं है। वह अपनेको जिस प्रकार ब्रह्मसे अभिन्न-रूपमें चिन्तन करता है, उसी प्रकार परिदृश्यमान समस्त जगत्‌को भी ब्रह्मसे अभिन्नरूपमें चिन्तन करता है। ब्रह्मको जीव और जगत्‌से अतीत, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, अच्युत और आनन्दमयरूपमें भी चिन्तन करता है। इस भक्तिमार्गकी उपासनाकी केवल सगुण-उपासनाके रूपमें व्याख्या समीचीन नहीं है। भक्तिमार्गकी उपासना त्रिविध अङ्गोंमें पूर्ण होती है। जगत्‌का ब्रह्मरूपमें दर्शन इसका एक अङ्ग है, जीवकी ब्रह्मरूपमें भावना इसका द्वितीय अङ्ग है तथा जीव और जगत्‌से अतीत, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, रसमय और आनन्दमय रूपमें ब्रह्मका ध्यान इसका तृतीय अङ्ग है। उपासनाके प्रथम दो अङ्गोंके द्वारा साधकका चित्त सर्वतोभावेन निर्मल हो जाता है और तृतीय अङ्गके द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार सम्पन्न होता है। भक्तकी दृष्टिमें ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों ही है। जागतिक कोई भी वस्तु केवल गुणात्मक नहीं है, ब्रह्मसे विच्छिन्न होकर गुण रह ही नहीं सकते। गुणोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। भक्त साधक जिस किसी मूर्तिका दर्शन करते हैं, उसीको ब्रह्म समझकर उसके प्रति स्वभावतः प्रेमयुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार चित्तके सर्वविध द्वैत-धारणा और असत्तासे विवर्जित एवं निर्मल हो जानेपर पर-ब्रह्ममें सम्यक् निष्ठा उदित होती है। इसीका शास्त्रोंमें 'परा-भक्ति'के नामसे उल्लेख किया गया है। इसीके द्वारा परब्रह्मका साक्षात्कार होता है। भक्तिकी प्राथमिक अवस्थाको 'साधन-भक्ति' कहते हैं। इसके द्वारा चित्त प्रसारित होकर जब अनन्तताको प्राप्त होता है, तब परा-भक्ति नामक भक्तिकी परम अवस्था उपस्थित होती है।

श्रीश्रीभगवद्विग्रहकी ब्रह्मरूपमें उपासना, जो द्वैतबुद्धिके ऊपर प्रतिष्ठित है, साक्षात्-सम्बन्धसे मोक्षप्रद न होनेपर भी चित्तको निर्मल बनाकर थोड़े ही समयमें और थोड़े ही आयाससे अद्वैतज्ञान उत्पन्न कर देती है। इस अद्वैतज्ञानके प्रतिष्ठित होनेपर पराभक्ति अपने-आप उदित होती है और साधक अन्तमें ब्रह्मसाक्षात्कार प्राप्त करके मोक्ष लाभ करता है।

श्रीश्रीराधा-कृष्ण युगलमूर्तिकी उपासनाको अभीष्टरूपमें ग्रहण करके श्रीनिम्बार्क स्वामीने इनके स्वरूप, गुण, शक्ति-का जैसा वर्णन किया है, उसकी कुछ व्याख्या यहाँ की जाती है। ब्रह्मप्राप्तिके निमित्त जो साधक साधनका आश्रय लेते हैं, वे पहले ब्रह्मके स्वरूप, गुण, शक्ति, जीव-जगत्‌का स्वरूप और जीव-जगत् किस प्रकार ब्रह्मके साथ तादात्म्य-सम्बन्धसे सम्बद्ध है—इसका विचार करके तत्त्व-निर्णय कर लेते हैं; तत्पश्चात् ब्रह्मप्राप्तिके निमित्त तीव्र मननमें अग्रसर होते हैं। उनकी इस मननशीलताको लक्ष्यमें रखकर 'चिन्तनकी सर्वोच्च अवस्था' ही ब्रह्मका साधन कही जाती है; क्योंकि यही चित्तके आवरणको भेदकर ब्रह्म-प्राप्ति कराती है। इसी प्रकार इनके स्वरूप, गुण और शक्तिके सम्बन्धमें यथार्थ निर्णय करके, उनका माहात्म्य-ज्ञान प्राप्तकर, उनकी प्राप्तिके लिये उपासना-में ऐकान्तिकभावसे अपनेको लगा देनेपर इनकी प्राप्ति होकर धीरे-धीरे ब्रह्मस्वरूप-लाभ होता है। इस प्रकारका मार्ग ही बुद्धिको व्यवसायात्मिका बनाता है और यही समधिक फलप्रद है।

महाप्रलयके बाद सृष्टिके आरम्भ-कालमें परमपुरुष परमात्मा अपनी सर्वव्यापिनी चैतन्यमय ईश्वरीय शक्तिको उद्बोधित करके क्रमशः अपनी प्रकृति (माया) नामक शक्तिको उद्बोधित करते हैं। सत्त्व, रज और तम—ये तीन प्रकृतिके गुण हैं। ये परम पुरुष ही जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और संहार करनेके लिये इन तीनों गुणोंको धारण करके क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर संज्ञाको प्राप्त होते हैं। प्रकाश्य जगत्‌में निर्मल सत्त्व ही ज्ञान और आनन्दके आदर्शका स्थान

ग्रहण करता है । इस सत्त्वगुणसे अधिष्ठित पुरुषके रूपमें ब्रह्मकी 'श्रीकृष्ण' और 'विष्णु' संज्ञाएँ होती हैं । उनका गोलोकाधिपति रूप—श्रीकृष्णरूप समस्त जागतिक जीवोंके अशेष कल्याणका साधक और मुक्तिप्रद है । वे ब्रह्मके अमूर्त और मूर्तरूपके मध्यस्थानमें सेतुके रूपमें स्थित होकर साधारण जीवोंके मोक्षके प्रधान हेतु बनते हैं । श्रीकृष्ण विशुद्ध ज्ञानमय देहसे सर्वात्मरूपमें सर्वदा विराजित रहते हैं । मैं ब्रह्मसे भिन्न हूँ—ऐसा बोध उन्हें किसी कालमें नहीं होता । वे विज्ञानमात्र हैं, कर्म-बन्धनसे रहित हैं, निर्मल हैं । प्रकृतिके गुणोंसे युक्त रहनेपर भी वे सच्चिदानन्दमयके शुद्ध-सत्त्वस्वरूपमें निर्मल पदके एकमात्र अधिकारी हैं । प्रकृतिका तात्त्विक भेद खूब सहज नहीं है, यह सत्य तो है; परंतु सत्त्व होनेपर भी जो उसकी यथार्थताको सम्यक्‌रूपमें जान पाता है, उसे फिर कभी इस संसारमें जन्ममरण नहीं करना पड़ता । चिन्मय-देहधारी श्रीकृष्ण नित्य ब्रह्म जीवन्मुक्तरूपमें स्थित रहते हैं, वे ज्ञानके आधार हैं । सच्चिदानन्दमयकी सूक्ष्म शक्तिके अन्तर्गत, शुद्ध सत्त्वगुणका अवलम्बन करके स्थित रहनेवाले, विज्ञानमात्र ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर गौण ईश्वररूपमें माने जाते हैं । ये ईश्वर-गण एवं इनकी शक्तियाँ जगत्‌का कल्याण करनेके निमित्त अवताररूपमें प्रकट होती हैं ।

प्राकृतिक बाह्य जगत्‌के समान जीव-जगत्‌में भी जब अधर्मकी वृद्धि होनेसे जन-समाज अतिशय हीन दशामें पहुँच जाता है, जब अत्याचारके कारण नर-नारियोंकी कातरतापूर्ण हाहाकारकी ध्वनि गगनमण्डलको व्याप्त करके ऊपरकी ओर उठती है, तब उनके दुःखभारको दूर करनेके लिये तथा नष्ट हुए धर्म-साधनोंको पुनः संस्थापित करनेके लिये जगन्नियन्ता भगवान्‌की विशेष-विशेष शक्तियाँ जगत्‌में आविर्भूत होती हैं । जब उनके यत्न और चेष्टाके द्वारा अशुभ-राशि विलुप्त नहीं होती, तब सर्वशक्तिसम्पन्न महापुरुषके रूपमें श्रीभगवान् ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि ईश्वरोंके अंशसे अपने-आपको आविर्भूत करते हैं । परंतु विष्णु ही जगत्‌का मङ्गल करनेवाली पालिनी-शक्तिकी मूर्ति हैं । अतएव अधिकांश रूपोंमें विष्णुके अंशसे ही श्रीभगवान् अवतार लेते हैं, इतना ही नहीं वे स्वयं ही मोक्षधर्मके उपदेष्टा बनते हैं; क्योंकि बद्ध जीवोंके लिये उनके समान उपदेश करना कठिन है । अतएव जब जीवकी मुक्ति-पिपासा बढ़ती है, तब उसका यथार्थ मार्ग-प्रदर्शन करनेके लिये भी श्रीभगवान्‌का अवतार हुआ करता है । इस प्रकार जब-जब भगवान् जीवमण्डलमें अवतीर्ण होते हैं, तब-तब वैसी शक्ति प्रकट करनेके लिये ही वे आविर्भूत होते हैं और वैसी ही शक्तिके अनुरूप उनके देहावयव भी गठित होते हैं ।

भगवदवतारकी सारी मूर्तियाँ जनसाधारणके लिये उपास्य होती हैं । समग्र विश्वमें व्याप्त तथा विश्वातीत ब्रह्म जिनकी बुद्धिमें नहीं आता, जो लोग भेद-बुद्धिके कारण सर्वत्र समदर्शन करनेमें असमर्थ होते हैं, उनके लिये भगवद्विग्रहका पूजन ही उत्कृष्ट भक्तिमार्गका साधन है । प्रेमपूर्वक उन विग्रहोंका ध्यान, उन विग्रहोंके अनुरूप मन्त्रोंका कीर्तन, जप और स्मरण करनेसे साधक उनका सायुज्य प्राप्त करता है । अनन्यचित्तसे अवताररूपी भगवान्‌का नाम-स्मरण, उनके रूपका ध्यान, उनके गुण और कीर्ति—इन सबका चिन्तन करके साधक तन्मयता प्राप्त करता है । अतएव उस तन्मयताके कारण उनका जो सर्वमय भाव है, वह अपने-आप ही अधिष्ठित हो जाता है, और साधककी क्रमशः सर्वोत्तम अधिकारियोंमें गणना हो जाती है । यही भारतीय साकार उपासना है, यही भगवदुपासना है । यह भक्तिमार्गका अति सहज और महत्त्वपूर्ण साधन है । अन्तर्यामी भगवान् साधककी भक्तिके वशीभूत होकर उस मूर्तिके द्वारा ही साधकके सारे मनोरथोंको पूर्ण करते हैं । ब्रह्म सर्वगत है । अतएव प्रतिमा भी ब्रह्ममयी है । प्रतिमामें ब्रह्मबुद्धिकी धारणा करते-करते जब भक्तकी धारणा-शक्ति क्रमशः वृद्धिको प्राप्त होती है, तब उसका मन अपने-आप प्रशान्त हो उठता है तथा वह साधक आगे चलकर सारे विश्वकी ब्रह्मरूपमें धारणा करनेमें समर्थ हो जाता है । वह विश्वरूप साधक अन्तमें सम्पूर्ण विश्वको भी लाँघकर तदतीत परब्रह्मका ध्यानके द्वारा साक्षात्कार कर सकता है । इस प्रकार प्रतिमाकी ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करनेपर साधकके लिये प्रतिमामें ही ब्रह्म प्रकट हो जाता है । परंतु इससे ब्रह्मको प्रतिमात्वकी प्राप्ति नहीं होती । यद्यपि प्रतीकोंमें भी ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करनेकी विधि शास्त्रादिमें कथित है । ब्रह्मसूत्रमें वेदव्यासने उसका सुस्पष्टरूपमें वर्णन किया है । कनिष्ठ अधिकारीके लिये ही प्रतिमामें ब्रह्मकी अर्चनाकी व्यवस्था की गयी है । श्रीमद्भागवतमें भी श्रीभगवान्‌की इस प्रकारकी उक्ति पायी जाती है—'सर्वभूतोंमें स्थित ईश्वररूपी मेरा जबतक अपने हृदयमें अनुभव न कर सके, तबतक मनुष्य अपने आश्रमोचित कर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ प्रतीक आदिमें मेरी उपासना करे ।' जगत्‌का विशेष कल्याण करनेवाले भगवान्‌के जो रूप हैं, ध्यान और उपासनाकी व्यवस्था की

गयी है। वस्तुतः किसी भी पुरुषके विषयमें महत्‌बुद्धि होनेपर उसके प्रति स्वयं ही भक्ति उत्पन्न हो जाती है। जब इस प्रकार सर्वत्र महत्ताके चिन्तनसे भक्ति उद्दीप्त हो जाती है, तब ब्रह्मभावकी स्थापना अपेक्षाकृत सहज हो जाती है।

विशेष शक्ति-सम्पन्न तथा विशेष उपकारीकी उपासना और ध्यानमें जैसे एक ओर साधककी भक्ति स्वभावतः ही उद्दीप्त होती है, उसी प्रकार दूसरी ओर वे विभूतिसम्पन्न महात्मागण भक्तिपूर्वक उपासित होनेपर कृपा-परवश होकर साधककी सहायता तथा कल्याण-साधन करते हैं। विविध रूपोंमें अभिव्यक्त जितनी ब्रह्मकी मूर्तियाँ हैं, उनमें जीवकी स्थिति सुधारनेवाले, कल्याणप्रद और मुक्तिदायक तथा सबसे अधिक निर्मल सत्त्वगुणमय गोलोकाधिपति श्रीकृष्णकी मूर्ति सबसे प्रधान है—यह बात पहले कही जा चुकी है। तथा जगत् ब्रह्मका अंश है, अतएव सत्य है—इसका भी उल्लेख किया जा चुका है। गोलोकाधिपति भगवान् श्रीकृष्ण मनुष्य-लोकके कल्याणके लिये यदुकुलमें आविर्भूत हुए थे। अतएव निम्बार्कीय वैष्णवगण जगत्‌को सत्य और ब्रह्ममय मानते हैं तथा विशेषरूपसे श्रीकृष्णकी उपासनामें प्रवृत्त होते हैं।

श्रीनिम्बार्क स्वामीने अपने 'वेदान्त-कामधेनु' नामक संक्षिप्त ग्रन्थमें जगत्‌की ब्रह्मात्मकताके विषयमें निम्नलिखित श्लोकमें अपना सिद्धान्त प्रकट किया है—

> सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं
> 　　श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
> ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं
> 　　त्रिरूपतापि श्रुतिसूत्रसाधिता॥

'यह सब कुछ विज्ञानमय है, अतएव यथार्थ है; क्योंकि श्रुति और स्मृतिने सर्वत्र निखिल विश्वको ब्रह्मात्मक रूपमें सिद्ध किया है। यही वेदज्ञोंका मत है। और ब्रह्मकी त्रिरूपता (प्रकृति, पुरुष और ईश्वररूपता) भी श्रुतियोंमें तथा ब्रह्मसूत्रमें भी स्थापित की गयी है।'

भगवान् श्रीकृष्ण ही निम्बार्कीय वैष्णवोंके विशेषरूपसे उपास्य हैं—यह भी श्रीनिम्बार्क स्वामीने इस ग्रन्थमें बतलाया है—

> नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्
> 　　संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
> भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहा-
> 　　दचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात्॥

'भक्तोंकी इच्छासे जिन्होंने मनोहर विग्रह धारण किया, जिनकी शक्तिकी इयत्ता नहीं, उन अचिन्त्य जगत्‌के शास्ता श्रीकृष्णके ब्रह्मा, शिव आदिके द्वारा वन्दित चरण-कमलके सिवा जीवकी अन्य कोई गति दृष्टिगोचर नहीं होती।'

उनकी प्राप्तिका उपाय बतलाते हुए श्रीनिम्बार्क स्वामी पुनः कहते हैं—

> कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते
> 　　यया भवेत् प्रेमविशेषलक्षणा।
> भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः
> 　　सा चोत्तमा साधनरूपिकापरा॥

'दैन्यादि गुणोंसे युक्त पुरुषके ऊपर भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा प्रकट होती है। इस कृपाके द्वारा उन सर्वेश्वर परमात्मामें प्रेमविशेषरूपा भक्ति उत्पन्न होती है। यह भक्ति दो प्रकारकी है, एक साधनरूपा अपरा भक्ति और दूसरी उत्तमा—परा भक्ति।'

परंतु निम्बार्क-सम्प्रदायके उपास्यदेव भगवान् श्रीकृष्ण होनेपर भी निम्बार्कीय वैष्णवगण उनकी सशक्तिक उपासनाको ही समधिक फलप्रद मानते हैं। भगवान्‌के पुरुषविग्रहोंमें जैसे श्रीकृष्ण-मूर्ति प्रधान है, स्त्रीमूर्तियोंमें श्रीराधिका-मूर्ति भी उसी प्रकार प्रधान है। श्रीराधिका श्रीकृष्णकी सर्वप्रधाना शक्ति हैं। सशक्तिक भगवद्-मूर्तिकी उपासनामें जो महान् फल होते हैं, उन्हींके अन्तर्गत एक विशेष लाभ यह देखनेमें आता है कि उनसे अतिशीघ्र साधककी कामवृत्ति निवृत्त हो जाती है। भगवान्‌के साथ संयुक्तरूपमें स्त्रीमूर्तिकी भक्तिपूर्वक अर्चना करनेसे स्त्रीमूर्तिके प्रति कामभाव तिरोहित हो जाता है और स्त्री-पुरुषके मिथुनीकृत भावका भगवल्लीलाके रूपमें दर्शन करते-करते साधक सहज ही शिक्षा प्राप्त करके वास्तवमें निर्मलत्व लाभ करता है। अतएव उपास्य-स्वरूपका वर्णन करते हुए श्रीनिम्बार्क स्वामी अपने 'वेदान्त-कामधेनु' नामक ग्रन्थमें लिखते हैं—

> स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोष-
> 　　मशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
> व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं
> 　　ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥

वामे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ॥

'जो स्वभावतः सर्वप्रकारसे दोषवर्जित हैं, जिनमें पूर्णरूपेण कल्याणजनक सारे गुण विद्यमान हैं, (महाविराट् आदि) चतुर्विध व्यूह जिनके अङ्ग हैं, जो सबके द्वारा वरणीय हैं, जिनके नेत्र कमलके समान हैं, उन परब्रह्म श्रीकृष्णरूप हरिका मैं ध्यान करता हूँ।

'उनके वामाङ्गमें प्रसन्नवदना वृषभानुनन्दिनी विराजित हैं। ये श्रीकृष्णके अनुरूप ही सौन्दर्यादि गुणोंसे समन्वित हैं। सहस्र-सहस्र सखियाँ नित्य-निरन्तर इनकी सेवामें लगी रहती हैं। इस प्रकार समस्त अभीष्ट प्रदान करनेवाली देवी श्रीराधिकाका मैं ध्यान करता हूँ।'

सर्वजीवोंमें भगवद्बुद्धि स्थापित करके, द्वेष, हिंसा, मिथ्याभाषण, कलह इत्यादिको त्यागकर, अहंकाररहित बुद्धि और निर्मल चित्तसे युक्त होकर, साधक प्रेमपूर्ण हृदयसे श्रीभगवत्स्वरूप-सागरमें नदीकी भाँति प्रविष्ट होकर सम्पूर्णानन्दकी प्राप्तिके योग्य बन सके—यही श्रीनिम्बार्कद्वारा प्रचारित सनातन भक्तिमार्गका लक्ष्य है।

सर्वसंतापहारी और सर्वानर्थनिवृत्तिकारी श्रीहरिकी जय हो।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

श्रीमन्मध्वाचार्य और भक्ति

(लेखक—श्रीयुत बी० रामकृष्णाचार बी० ए०, विशारद)

श्रीमन्मध्वाचार्य दक्षिण भारतके तीन प्रसिद्ध मत-प्रवर्तकोंमें एक थे। आपके द्वारा प्रतिपादित तत्त्व 'श्रीमध्व-सिद्धान्त' नामसे विख्यात है।

श्रीआचार्यजीकी संक्षिप्त जीवनी

श्रीमध्वाचार्यजीका काल संवत् १२९५ से १३७४ (ई० सन् १२३८-१३१७) था। आपका अवतार एक वैदिक धर्मनिष्ठ ब्राह्मणकुलमें हुआ था। आपका बचपनका नाम था 'वासुदेव'। नारायण भट्ट (उपनाम मध्यगेह भट्ट) आपके पिता और वेदवती माता थीं। आपकी जन्मतिथि विलम्ब संवत्सरकी आश्विन शुक्ला दशमी (विजयादशमी) थी।

पाँचवें वर्षमें आपका उपनयन-संस्कार हुआ और आठवें वर्षमें आपने सनकादि मानसपुत्रोंकी प्राचीन परम्पराके यति श्रीमदच्युतप्रेक्षतीर्थके द्वारा बाल्यसंन्यास-दीक्षा ली। तबसे आपका नाम 'श्रीमध्वाचार्य' हुआ। इसके अतिरिक्त आप 'श्रीमानन्दतीर्थ', 'पूर्णप्रज्ञ', 'पूर्णबोध', 'सर्वज्ञ', 'सुखतीर्थ' आदि नामोंसे भी विख्यात हुए। ऋग्वेदके 'बलित्था' सूक्त तथा अन्य कई पुराणवचनोंके आधारपर आप श्रीवायुदेवके तीसरे अवतार माने जाते हैं।

छोटी अवस्थामें ही श्रीमध्वाचार्यजीने श्रुति-स्मृति-पुराणेतिहास-धर्मशास्त्र आदिका सम्यक् अध्ययन करके पूर्णज्ञान प्राप्त किया। अखिल भारतके पुण्य-तीर्थस्थानोंकी यात्रा की और दो बार बदरीनाथधामको श्रीवेदव्यासजीके दिव्य दर्शनके लिये पधारे। वहाँपर श्रीवेदव्यासजीने आपका स्वागत किया और भगवान्‌के सत्यका प्रचार करनेकी प्रेरणा की। बदरीनाथसे लौटकर आचार्यजी सर्वत्र अपने द्वैत-सिद्धान्तका प्रचार करते रहे। इस लोकमें ७९ वर्षतक भक्तिका सर्वाङ्गीण अनुष्ठान, ग्रन्थ-प्रणयन तथा धर्मप्रचार करते हुए आप तीसरी बार सं० १३७४ के माघ शुक्ला नवमीके दिन उडुपीक्षेत्रसे अन्तर्धान होकर बदरीनाथ पधारे। माध्व-सम्प्रदायका विश्वास है कि आचार्यजी अभी बदरीमें श्रीवेदव्यासकी संनिधिमें तप कर रहे हैं और अपने प्रिय उडुपीक्षेत्रमें परोक्षरूपसे संनिहित भी हैं। यहाँ श्रीअनन्तेश्वरजीके मन्दिरमें श्रीमध्वाचार्यजीका दिव्यपीठ है, जिसकी माध्व भक्त प्रतिदिन आराधना कर रहे हैं।

श्रीमध्वाचार्यके समयमें यहाँपर दैवप्रेरणासे द्वारका-क्षेत्रसे रुक्मिणीदेवी-करार्चित श्रीबालकृष्णजीकी मूर्ति एक दैवी नाव पर आ गयी। श्रीमध्वाचार्यजीने इसे प्राप्तकर उडुपीक्षेत्रमें प्रतिष्ठित किया। तबसे उडुपीकी ख्याति बढ़ने लगी। श्रीभगवान्‌की पूजा निरन्तर चलनेके लिये अपने आठ बाल-ब्रह्मचारियोंको परमहंस संन्यास देकर आपने उत्तराधिकारी बनाया और पूजा तथा मठप्रचारका काम उनको सौंप दिया। आगे चलकर इन आठ मूल यतिश्रेष्ठोंके शिष्य अपना-अपना अलग मठ बनवाकर पूजा-अध्ययन, धर्म-प्रचारादि करने लगे। वे उडुपीके 'अष्टमठ' नामसे आज भी प्रसिद्ध हैं।

श्रीआचार्यजीने अपने आठ मुख्य शिष्योंको अलग-अलग उपासनाकी मूर्तियाँ प्रदान कीं, जो आज भी पूजित होती हैं। इनके और कई शिष्य भी हो गये थे। श्रीआचार्यका मूल मठ उडुपीका श्रीकृष्णमठ है। आपके समयकी कई वस्तुएँ अद्यापि श्रीकृष्णमठमें उपयुक्त होती हैं।

श्रीमदाचार्यजीके बनाये कुल ३७ ग्रन्थ हैं, जिनमें गीताभाष्य, दशोपनिषद्-भाष्य, ब्रह्मसूत्र-तात्पर्य-बोधक अनुव्याख्यान, ब्रह्मसूत्र-अणुभाष्य, भागवत-भारत-गीता-तात्पर्य-निर्णय, श्रीकृष्णामृत-महार्णव आदि मुख्य हैं। वेद-स्मृति-पुराणोंके प्रमाणोंसे भरे ये ग्रन्थ-समूह 'सर्वमूल'नामसे विख्यात हैं। श्रीमदाचार्यजीके प्रतिपादित सिद्धान्तका सार यों कहा जाता है—

> श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्त्वतो
> भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः ।
> मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनं
> ह्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः ॥

'मध्वमतमें श्रीहरि ही सर्वोत्तम हैं, जगत् सत्य है, पाँच तरहके भेद सत्य हैं, ब्रह्मादि जीव हरिके सेवक हैं, उनमें परस्पर तारतम्यका क्रम है। जीवका स्वरूपगत सुखानुभव ही मोक्ष है, हरिकी निर्मल भक्ति ही उस मोक्षका साधन है। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम—ये तीन प्रमाण हैं। श्रीहरिका स्वरूप वेदादि सर्वशास्त्रोंसे जाना जा सकता है।'

श्रीमदाचार्यजीके द्वारा प्रतिपादित भक्ति

> माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः ।
> स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥

श्रीमदाचार्यजीने निरूपण किया है कि अपने आराध्यदेवकी महिमा जानते हुए अपने स्त्री-सुतादि परिवारकी अपेक्षा अधिक एवं दृढतर स्नेह भगवान्पर रखना ही 'भक्ति' कहलाता है। इस तरहकी भक्तिके द्वारा ही जीव सांसारिक दुःखको पार करके मुक्ति-लाभ कर सकता है, अन्यथा नहीं।

श्रीआचार्यजीने अपने कई ग्रन्थोंमें बहुधा भक्तिको ही मुक्तिके साधनरूपसे प्रतिपादित किया है—

> यथा भक्तिविशेषोऽत्र दृश्यते पुरुषोत्तमे ।
> तथा मुक्तिविशेषोऽपि ज्ञानिनां लिङ्गभेदने ॥
> योगिनां भिन्नलिङ्गानामाविर्भूतस्वरूपिणाम् ।
> प्राप्तस्तो परमानन्दं तारतम्यं सदैव हि ॥
> (गीताभाष्य)

भगवान् श्रीहरिके प्रति जितनी अधिक गाढ़ भक्ति होती है, उतने ही प्रमाणसे लिङ्गदेहका भङ्ग होते ही ज्ञानियोंको मोक्ष-विशेष अर्थात् अधिकाधिक आनन्दका अनुभव होगा। इस तरह लिङ्गदेहका भङ्ग होनेके बाद स्वरूपानन्दप्राप्त योगियोंको सदा तारतम्यज्ञान और उस ज्ञानसे आनन्दानुभव भी होता है। [माध्वसम्प्रदायके अनुसार जीवके स्वरूपपर जो अज्ञानका आवरण पड़ा रहता है, वही 'लिङ्गदेह' कहलाता है। जीवके मोक्ष प्राप्त करनेके पहले यह लिङ्गदेह श्रीवासुदेवकी गदाके प्रहारसे टूट जायगा। तभी जीवके स्वरूपका आविर्भाव होगा। यही मोक्ष कहलाता है।]

> विना ज्ञानं कुतो भक्तिः कुतो भक्तिं विना च तत् ।
> (गीताभाष्य)

'ज्ञानके बिना भक्ति कहाँ और बिना भक्तिके ज्ञान कैसा।' इससे ज्ञानपूर्विका भक्ति ही मोक्षका मुख्य साधन सिद्ध हुई।

> अतो विष्णोः पराभक्तिस्तद्भक्तेषु रमादिषु ।
> तारतम्येन कर्तव्या पुरुषार्थमभीप्सता ॥
> (ब्रह्मसूत्रानुव्याख्यान)

'मोक्षप्राप्तिके लिये भक्ति ही कारण है। अतः भगवान् विष्णुकी भक्ति करना ही मुख्य कर्तव्य है। साथ ही मोक्षकी इच्छा करनेवालेको श्रीलक्ष्मी आदि भगवान्के भक्तोंकी भी तारतम्यानुसार भक्ति करनी पड़ती है।'

> स्यादरः सर्वजन्तूनां संसिद्धौ हि स्वभावतः ।
> ततोऽधिका स्वोत्तमेषु तद्योग्यतानुसारतः ॥
> कर्तव्यो वासुदेवान्तं सर्वथा शुभमिच्छता ।
> न कदाचित् त्यजेत् तं च क्रमेणैवं विवर्धयेत् ॥
> समेषु स्यात्तथा स्नेहः सत्स्वन्येषु ततो दया ।

'मोक्षकी कामना करनेवाले स्वभावतः उत्तम लोगोंका प्राणिमात्रके प्रति आदर यानी प्रेम होना चाहिये। तारतम्यके अनुसार अपनेसे अधिक योग्यता रखनेवालों, अपनेसे उत्तम पुरुषोंके प्रति भक्तिभाव रखना होगा। शुभकी कामना करनेवाला सब तरहसे श्रीवासुदेवपर्यन्त उत्तमोत्तम जीवोंके प्रति अधिकाधिक भक्ति करे। आदर कभी कम न करे, अपितु उसे क्रमशः बढ़ाता रहे। अपने समान सज्जन लोगोंके साथ समान प्रेम रखे। अन्य लोगों अर्थात् दुष्टोंपर दया करे।'

> विष्णुभक्तिपरो दैवो विपरीतस्तथाऽसुरः ।
> द्विविधो भूतसर्गोऽत्र दैव आसुर एव च ॥

भक्त्या प्रसन्नो भगवान् दद्याज्ज्ञानमनाकुलम् ।
तयैव दर्शनं यातः प्रदद्यान्मुक्तिमेतया ॥

'ईश्वरकी इस प्राणिसृष्टिमें जीवोंके दो वर्ग हैं—विष्णु-भक्त वर्ग दैव तथा विष्णु-द्वेषी वर्ग आसुर कहलाता है। भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान् उत्तम ज्ञान देते हैं और उसी भक्तिके द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन तथा मोक्ष भी देते हैं।'

यही अभिप्राय गीतामें भी भगवान्के श्रीमुखसे व्यक्त हुआ है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

भगवान् कहते हैं—'अर्जुन! अनन्यभक्तिके द्वारा इस तरहसे व्यापक स्वरूपमें मुझे जानना, प्रत्यक्ष देखना, मेरे वैकुण्ठादि लोकोंमें प्रवेश पाकर मोक्ष प्राप्त करना शक्य होता है।'

यहाँपर एक प्रश्न उठ सकता है—

गोप्यः कामाद्भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।

अर्थात् गोपस्त्रियाँ कामसे, कंस भयसे तथा शिशुपालादि भगवान्से द्वेष करके मोक्ष पा गये—यह कैसे सम्भव है? श्रीमध्वाचार्यजी अपने भागवत-तात्पर्य-निर्णयके प्रमाणसे यह समाधान देते हैं—

गोप्यः कामयुता भक्त्या कंसाविष्टः स्वयं भृगुः ।
द्वेषी भययुतो भक्त्या चैद्यादिष्वप्यथानृपाः ॥
विद्वेषसंयुता भक्त्या वृष्णयो बन्धुसंयुताः ।

'गोपस्त्रियोंमें कामभिश्रित भक्ति, कंसमें भययुक्त भक्ति, शिशुपालादिकोंमें द्वेषयुक्त भक्ति तथा यादवोंमें बन्धुभावयुक्त भक्ति थी। इस तरह भिन्न-भिन्न प्रकारकी भक्तिके द्वारा ही उन लोगोंने मोक्षको प्राप्त किया।' (विदित है कि कंसमें भृगुमुनिका अंश भी था।) इनमेंसे भृगु आदि साधुलोग भक्तिसे मोक्ष पा गये और द्वेषादिसे असुरलोग अन्धतमसको गये।

ध्यानतीर्थतपोयज्ञपूर्वाः सर्वेऽपि सर्वदा ।
अङ्गानि हरिसेवायां भक्तिस्त्वेका विमुक्तये ॥

'ध्यान, तीर्थस्नान, तप, यज्ञ आदि सत्कार्य सभी हरिसेवा एवं भक्तिके अङ्ग हैं। परंतु मुक्तिका साधन तो एक भक्ति ही बन सकती है।'

भक्तपर्यान्वयिलक्ष्म्येव भक्तिर्मोक्षाय केवलम् ।
मुक्तानामपि भक्तिर्हि नित्यानन्दस्वरूपिणी ॥
(गीतातात्पर्य)

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥
(श्वेता०)

ज्ञानपूर्वः परस्नेहो नित्यो भक्तिरितीर्यते ।
इत्यादि वेदवचनं साधनप्रतिपादकम् ॥

'अन्य सभी कर्म भक्तिकी प्राप्तिके लिये किये जाते हैं। पर मोक्षका साधन तो एक भक्ति ही बनती है। मोक्ष पाये हुए जीवोंको भी हरिभक्ति, आनन्दस्वरूप मालूम होती है। अतः श्रीहरिके प्रति भक्ति रखनी ही चाहिये। इसी तरह मोक्षकामुक अपने गुरुमें भी भक्ति रखे। तब गुरुसे उपदिष्ट (या अनुपदिष्ट) विषय भी हमारे मनमें स्वयं प्रकाशित होंगे। ज्ञानपूर्वक उत्तम स्नेह ही भक्ति कहलाता है। इस प्रकार वेदवाक्य मोक्षसाधनका मार्ग बतलाते हैं।'

भक्त्या त्वनन्यया शक्य इत्यादिना विष्णुभक्तेः सर्वसाधनोत्तमत्वं परोक्षापरोक्षज्ञानयोर्ज्ञानिमोक्षेऽपि मोक्ष... तदधीनत्वं च समर्थितम् ॥

'अनन्य भक्तिसे श्रीभगवान्का ज्ञान, दर्शन एवं प्राप्ति सम्भव हैं—इत्यादि गीतावचनसे मोक्षके साधनोंमें हरिभक्ति ही मुख्यता प्रमाणित होती है। परोक्ष एवं अपरोक्ष ज्ञानकी प्राप्तिके लिये और ज्ञानीको मोक्ष-प्राप्ति करानेके लिये भी ... मुख्य साधन बनता है। इस प्रकार श्रीमध्वाचार्यजीने गीता... तात्पर्यमें सिद्ध किया है।'

श्रीमद्भागवतमें जो नवधा भक्तिका उल्लेख प्राप्त होता है। इसे ध्यानमें रखकर श्रीमध्वाचार्यजी अपने 'श्रीकृष्णामृत-महार्णव' नामक हरि-महिमा-बोधक ग्रन्थमें यों कहते हैं—

अर्चितः संस्मृतो ध्यातः कीर्तितः कथितः स्तुतः ।
यो ददात्यमृतत्वं हि स मां रक्षतु केशवः ॥

इस प्रकार वेद-उपनिषद्, पुराणादि प्रमाणोंसे श्रीमध्वाचार्यके द्वारा प्रतिपादित भक्तिका स्वरूप ... ठहरता है—

(१) अपने परिवारपर जो प्रेम रहता है, उससे भी ... नित्य तथा सर्वोत्तम भगवान् श्रीहरिके प्रति स्नेह ही भक्ति है। यह उनकी महिमाके ज्ञानसे ही पूर्ण हो सकती है अर्थात् उनकी महिमाके ज्ञानसे यह प्रेम दृढ़ हो जाता है। यही भक्ति मोक्षका साधन होगी। ज्ञानेनैवामृतीभवति—ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। यह ज्ञान भक्तिसे मिश्रित होना चाहिये। ज्ञानरहित भक्ति तथा भक्तिरहित ज्ञान दोनों ही मोक्षप्रद नहीं बन सकते।

(२) तारतम्यके क्रमसे भगवान्‌के बाद उनकी अर्धाङ्गिनी लक्ष्मीदेवीके प्रति तथा उनके बाद ब्रह्मा, वायु आदि देवताओं-के प्रति—इस तरह भगवान्‌के परिवार एवं देवताओंके प्रति भी उनके योग्यतानुसार भक्ति रखनी चाहिये। इसके अनन्तर अपने गुरु एवं ज्ञान-वयोवृद्धोंके प्रति भी आदरसहित भक्ति होनी चाहिये तथा अपनेसे नीची श्रेणीके प्राणियोंपर दया बनाये रखना चाहिये। क्योंकि जीवमात्रमें परमात्मा श्रीहरि अन्तर्यामीके रूपमें स्थित हैं। सबके प्रेरक वे ही हैं, सृष्टि-स्थिति-लय-कर्ता वे ही हैं। मुख्यतः सभीके माता-पिता और गति भी वे ही हैं। इस कारण जगत्कुटुम्बी श्रीहरिके परिवाररूप जो समस्त जीव हैं, उन सबके साथ प्रेम करनेसे हम भगवान्‌के अनुग्रह-पात्र बन सकते हैं।

इस अभिमतका संकेत करते हुए श्रीआचार्यजी अपने 'द्वादशस्तोत्र'में लिखते हैं—

> कुरु भुङ्क्ष्व च कर्म निजं नियतं
> हरिपादविनम्रधिया सततम्।
> हरिरेव परो हरिरेव गुरु-
> र्हरिरेव जगत्पितृमातृगतिः॥
> (द्वादशस्तोत्र १-१)

'अरे जीव! सदा श्रीहरिके चरण-कमलोंमें नम्रतायुक्त बुद्धि (भक्ति) रखकर अपना शास्त्रविहित कर्म किया कर। हरि ही सर्वोत्तम हैं। हरि ही गुरु हैं। वे ही सारी सृष्टिके पिता-माता तथा गति हैं।'

अन्यत्र उसी स्तोत्रमें श्रीमध्वाचार्यजी भगवान्‌की अनन्यभावसे शरण माँगते हुए भक्तिका आदर्श बतलाते हैं—

> अगणितगुणगण्यशरीर हे
> विगतगुणेतर भव मम शरणम्।
> (द्वा० स्तोत्र २।१)

'प्रभो! आपका श्रीविग्रह अनन्त गुणगणोंसे बना हुआ है, उसमें दोषका लेश भी नहीं है। आप मेरी रक्षा करें।'

हमारी पुण्यभूमि भारतमें सदा-सर्वदा भगवद्भक्तिका स्रोत बहता रहे—यही उनके चरणोंमें विनीत प्रार्थना है।

श्रीवल्लभाचार्यकी पुष्टि-भक्ति

(लेखक—श्रीचन्दुलाल हरगोविन्द शास्त्री)

श्रीमद्भागवतमें रास-पञ्चाध्यायीके प्रारम्भमें भगवान् जब गोपीजनको उपदेश देते हैं कि पति-पुत्र आदिकी सेवा करना स्त्रियोंका स्वधर्म है, तब उसके उत्तरमें श्रीगोपियाँ प्रभुसे विनती करती हैं—

> यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
> स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।

> अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
> प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥
> (१०।२९।३२)

अर्थात् आप तो सचमुच ही देहधारियोंके प्रियतम हैं, बन्धु हैं और आत्मा हैं। इसलिये आपका यह उपदेश उसके आश्रयरूप आप परमेश्वरके उद्देश्यसे ही है। अतएव प्रभुकी सेवा करना हमारा, जीवमात्रका स्वधर्म है। पति-पुत्रादिकी सेवा तो शरीर-सम्बन्धके कारण ही की जाती है, आत्मधर्म या भगवद्धर्मके नाते नहीं। अतएव जो लोग देह और इन्द्रियोंका भोग नहीं चाहते, वे भगवान्‌से ही प्रीति करते हैं; क्योंकि समष्टिरूप भगवान्‌के लिये जो कर्म किये जाते हैं, वे ही कर्म, भगवान् सबके आत्मा हैं—इस कारण व्यष्टिरूप जीवके लिये हो जाते हैं। भगवान् प्रेष्ठ हैं, अतएव सर्वधर्म भगवान्‌में सिद्ध हैं; इस कारण धर्मीरूपमें भगवान्‌की ही सेवा करनी चाहिये। जो प्रिय है और कालातीत है, उसीकी सेवा करनी चाहिये। कालातीत एकमात्र केवल श्रीकृष्ण ही हैं। वे ही एक सर्वदोष-रहित देवता हैं—

> कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम्।

अतएव श्रीकृष्णकी ही सेवा करना भक्तिशास्त्रका निष्कर्ष है, इसी कारण श्रीवल्लभाचार्यजी पुष्टिमार्गका विधान करते हैं।

पुष्टि-भक्तिमें शुद्ध स्नेह ही प्रधान है—

> यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
> स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥

'आत्मभावसे जब जिसके ऊपर भगवान् कृपा करते हैं, तब वह पुरुष लोक और वेदमें निष्ठावाली बुद्धिका त्याग कर देता है।' इस शास्त्र-वाक्यके अनुसार वेदमें निष्ठावाली मर्यादा-भक्तिकी अपेक्षा पुष्टिभक्ति भिन्न है, यह स्पष्ट ज्ञात होता है। केवल भजन ही भक्ति नहीं है; बल्कि जिसमें प्रियत्व ही प्रयोजन होता है, वही भक्ति है। 'भक्ति' शब्दमें 'क्तिन्' प्रत्यय प्रियत्वका ही सूचक है।

> केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः।

—आदि श्रीमद्भागवतके वचनोंमें प्रयुक्त 'भाव' शब्दका अर्थ भक्ति ही है। भावका अर्थ है देवादिविषयक रति। 'रति' शब्द-का धर्म होता है—स्नेह। इसी कारण 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' आदि सूत्रोंमें शाण्डिल्य आदि मुनियोंने प्रभुमें निरतिशय स्नेहको ही भक्तिके नामसे पुकारा है और इसी कारण पुष्टि-भक्तिमें स्नेहका ही प्राधान्य है।

पुष्टिभक्तिमें माहात्म्य-ज्ञानकी अपेक्षा भगवदनुग्रह ही विशेष नियामक है

भगवान् पुष्टिभक्तोंको कृतार्थ करनेके लिये वात्सल्य, पुत्रभाव, सखाभाव आदिकी लीला करते हैं। यदि भक्तमें माहात्म्यज्ञान हो तो तत्तद्भावोंकी लीला नहीं हो सकती। अतएव भगवान् स्वयं 'कर्तुं-अकर्तुं-अन्यथाकर्तुं' समर्थ होनेके कारण भक्तके अंदर माहात्म्यज्ञानका भी तिरोभाव कर देते हैं। भगवान्के जन्मके समय देवकीजीने स्तुति करते हुए भगवान्-को कालका भी काल कहा है और इस प्रकार भगवान्के माहात्म्य-ज्ञानका वर्णन किया है। परंतु भगवान्को उनके अंदर मातृभाव स्थापित करना है, अतएव दूसरे ही क्षण आप देवकीजीके हृदयमें माहात्म्यज्ञानको तिरोहित और स्नेहभावको उद्बुद्ध कर देते हैं। तब देवकीजी स्तुति करती हैं—'तुम्हारे जन्मका पता कंसको न लग जाय, वह कोई अनर्थ न कर बैठे।' यशोदाजीके प्रसङ्गमें भी आप उन्हें अपने श्रीमुखमें ब्रह्माण्डका दर्शन कराते हैं और उस माहात्म्यज्ञानको तुरंत अन्यथा करके पुनः पुत्रभाव स्थापित कर देते हैं। इस प्रकारका अनुग्रह ही पुष्टि है। माता यशोदाजी ब्रह्माण्डके नायकको रस्सीसे बाँधनेकी चेष्टा करती हैं, परंतु प्रभु अपनेको बँधाते नहीं। पीछे माताकी दीनावस्था देखकर कृपासे बँध जाते हैं। इसलिये प्रेमलक्षणा पुष्टिभक्तिमें भगवान्का अनुग्रह ही नियामक है, ज्ञानादि नियामक नहीं—यह स्पष्ट हो जाता है और यहाँ प्रभु भी बाधक नहीं होते; क्योंकि जो कृपा करने आता है, वह बाधा क्यों करेगा।

जिसमें प्रभुके सुखका ही मुख्य विचार हो, वही पुष्टिभक्ति है

पुष्टिभक्तको भगवान् कृपा करके अपने स्वरूपका दान करते हैं। अतएव ऐसे कृपापात्र जीवका कर्तव्य है कि वह भगवान्की सेवा ही करे। प्रभुके सुखका विचार करना ही पुष्टिभक्ति है। प्राथमिक दशामें भक्त अपने देहेन्द्रिय और द्रव्यका भगवान्में विनियोग करता है और इसके द्वारा बहुत अंशोंतक अपनी अहंता और ममताको दूर करता है। जैसे-जैसे भगवत्स्वरूपके प्रति उसका भाव बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसका मन भगवान्के ही उत्सवोंमें मग्न होता जाता है। उसको प्रभुके उत्सवोंमें बाह्य पदार्थोंका विस्मरण हो जाता है। इसको मानसी सेवा कहते हैं—'चेतस्तत्प्रवणं सेवा'—चित्त भगवान्में, भगवान्की परिचर्यामें, भगवान्की लीलामें लगा रहे—इसीका नाम सेवा है। इस प्रकारकी सेवा भावात्मक होनेके कारण ज्ञान-स्वरूप निवेद्य पदार्थद्वारा होनी चाहिये। निवेदन किये जानेवाले पदार्थके स्वरूपको समझकर, भगवान्-को क्या प्रिय है—इस बातको तथा देश-कालको जानकर, ऋतु-अनुसार पदार्थको समर्पण करनेपर ही वह निवेदन किया गया पदार्थ ज्ञानमय कहलाता है। वेणुगीतके 'अक्षण्वतां फलमिदं'—इत्यादि श्लोकोंमें हरिणियाँ अपने नेत्र सौन्दर्यके कारण भगवत्-प्रिया गोपाङ्गनाओंके नेत्रोंका स्मरण करानेवाले होनेके कारण भगवान्को प्रिय हैं, यह समझकर भगवान्की पूजा नेत्रोंद्वारा करती हैं ('पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः')—इस प्रकार श्रीशुकदेवजी कहते हैं। अर्थात् पुष्टिभक्तिमें भगवान्का ज्ञान अर्थात् देश-कालानुसार भगवान्के क्या अपेक्षित है—इसका ज्ञान और अपना ज्ञान अर्थात् अपने पदार्थोंमें अमुक वस्तु सुन्दर होनेके कारण भगवान्में विनियोग करने योग्य है—यह ज्ञान ये दोनों सेवाके अङ्ग हैं। यदि ये ज्ञान न हों तो सब व्यर्थ है।

पुष्टिभक्तिमें भगवान्का किया हुआ वरण ही मुख्य है

पुष्टिभक्ति साधन-साध्य नहीं है। अपितु भगवान् जिसे अङ्गीकार करते हैं, उसीके द्वारा साध्य है। अङ्गीकार करनेमें भगवान् योग्य-अयोग्यका विचार नहीं करते। क्योंकि प्रथमरूपसे उत्पादनके समय भगवान् कतिपय कृपापात्र जीवोंको विशेष अनुग्रहका दान करते हैं। श्रुति भी कहती है—'नायमात्मा.........यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।' 'भगवान् जिसे वरण करते हैं, वही मनुष्य भगवान्को प्राप्त कर सकता है। परमात्मा अपना स्वरूप उस भक्तके सामने प्रकट कर देते हैं।' इससे समझा जा सकता है कि भगवान्ने पुष्टि दैवी जीव साक्षात् रसात्मक धर्मीस्वरूपके द्वारा माङ्गीकृत हैं।

पुष्टि-भक्तका कर्तव्य

पुष्टिभक्तिमें भगवत्कृपा ही नियामक होती है, अतएव इसमें कृपाके सिवा अन्य साधनका उपयोग नहीं हो सकता—

गोदके लिये मचलते यशोदानन्दन

प्रतिबिम्बपर रीझे बालकृष्ण

यह बतलाया जा चुका है। परंतु भगवत्-अनुग्रह कब और किसके ऊपर होगा, यह कोई जान नहीं सकता; इसलिये जब भी हो, तभी इस भगवत्कृपाकी प्राप्तिके योग्य बननेके लिये जीवको तत्पर रहना चाहिये और उसके लिये नीचे लिखे अनुसार बर्तना चाहिये—

'जीव अपनी प्रत्येक कृतिमें भगवत्-इच्छाको नियामक* माने और प्रपञ्चके प्रत्येक पदार्थसे ममत्व हटाकर भगवत्स्वरूपकी ही भावना करे।'

—इस प्रकार श्रीमहाप्रभुके वचनानुसार जो कुछ भी बुरा-भला हो, उसमें भगवान्की उस प्रकारकी लीला ही कारण है—यों समझना चाहिये। भगवान्के अनन्य आश्रय और शरणके ऊपर दृढ़ श्रद्धाकी उसे विशेष आवश्यकता है। गीतामें—

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।

—इस वचनानुसार जो श्रद्धापूर्वक अनन्यभावसे भगवान्को भजता है, उसको वे स्वयं 'युक्ततम'—उत्तम योगी कहते हैं। भगवान् अपनी मायाको 'दुरत्यया' अर्थात् जो जल्दी जीती न जा सके—ऐसी बताते हैं। इस मायाको पार करनेका उपाय श्रीमद्भागवतमें श्रीउद्धवजी बतलाते हैं—

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलंकारचर्चिताः।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि॥

अर्थात् भगवान्के द्वारा सेवित माला, चन्दन, वस्त्र, अलंकार आदिको धारण करनेवाले तथा भगवत्प्रसादरूप अन्नका भोजन करनेवाले भक्त भगवान्की मायाको जीत लेते हैं। इसलिये जो भगवान्का कृपापात्र जीव होता है, वह भगवान्को निवेदन किये बिना किसी भी पदार्थका उपभोग नहीं करता; तथा न भगवत्प्रसादके सिवा और अन्न ही खाता है। पुष्टि-भक्तिमें भाव ही मुख्य साधन है। पुष्टिभक्तके हृदयमें भावात्मक प्रभु विराजते हैं और इस भावकी सिद्धिके लिये वह प्रभुके सुखके लिये अनेकों मनोरथ करता है।

भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यते।

भगवान्की भावना करनेसे जीवकी प्रभुके साथ संलाप आदि करनेकी तीव्र इच्छा होती है और उसका चित्त प्रभुके सिवा किसी भी सांसारिक वस्तुपर नहीं टिकता। उसे सर्वत्र प्रभु ही भासित होता है। ऐसा भक्त बाहरसे सांसारिक दीखनेपर भी महान् विरक्त होता है। भक्तकी इस स्थितिको देखकर हृदयमें अवस्थित प्रभु बाहर प्रकट हो जाते हैं—

क्लिश्यमानाञ्जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत्।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थं निर्गतं बहिः॥

पुष्टि-भक्तिका अधिकारी

श्रीमद्भगवद्गीता (अध्याय १८। ५४-५५) के अनुसार ब्रह्मभावको प्राप्त हुआ जीव ही इस पराभक्तिका अधिकारी होता है। वही भगवान्के स्वरूपको यथार्थ रीतिसे तत्त्वतः जानता है और स्वरूपानन्दको प्राप्त होता है। भागवतमें आता है कि केवल भावसे ही गोपियाँ, गौएँ, पक्षी और मृग आदि भगवान्को प्राप्त हुए हैं और यहाँ ब्रह्मभावको प्राप्त हुआ जीव ही पराभक्तिका अधिकारी बताया गया है। अतः यह प्रश्न होता है कि फिर गोपी-गाय आदि पराभक्तिके अधिकारी कैसे हुए। इसका उत्तर यह है कि भगवान् जिसको दर्शन देने, जिसके साथ सम्भाषणादि करने अथवा स्वरूपदान देनेकी इच्छा करते हैं, उसको नाद आदिके द्वारा अलौकिक सुधा प्रदान करते हैं, जिससे उसे ब्रह्मात्मभावकी प्राप्ति होती है और तत्पश्चात् वे उसे स्वरूपका दान करते हैं। नादके द्वारा शुद्ध किये बिना भगवान् किसीको अङ्गीकार करते ही नहीं। पशु-पक्षियोंको भी उन्होंने सुधाका दान करके ही अङ्गीकृत किया है। वेणुगीतके प्रसङ्गमें यह उत्तर मिलता है। भगवान् वंशीध्वनि करते हुए जब वृन्दावनमें प्रवेश करते हैं, तब व्रजाङ्गनाएँ उस ध्वनिको श्रवण करके परस्पर उसका वर्णन करनेका प्रयत्न करती हैं। परंतु—

नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप।

—इस प्रकार चौथे श्लोकमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि 'हे राजन्! प्रेमावेशके कारण वे उसका वर्णन कर न सकीं।' इसके बाद 'बर्हापीडं०' श्लोक आता है और छठे श्लोकमें गोपीजन वेणु-रवका वर्णन प्रारम्भ करती हैं। श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि पहले भगवान्की वंशीध्वनिका वर्णन करनेमें असमर्थ गोपियाँ जो तुरंत ही उसका वर्णन करनेमें समर्थ हो जाती हैं—इसका कारण यही है कि परम कृपालु प्रभुने अपने 'बर्हापीडं०' श्लोकमें वर्णित स्वरूपका नादद्वारा गोपियोंमें प्रादुर्भाव कर दिया और उसके प्रभावसे ही गोपियोंमें वर्णनकी शक्ति आ गयी, यह स्पष्ट जान पड़ता है। ऐसा न मानें तो वेणुगीतके चौथे और छठे श्लोकोंके बीचमें 'बर्हापीडं०' श्लोकका

* सर्वेण तथा लौकेऽपि मत्वा चिन्तां तुर्यं त्यजेत्।

रखना ही असंगत हो जायगा। भगवान् जिसको स्वस्वा-मिसम्बन्ध दान करनेकी इच्छा करते हैं, उसको इसी प्रकार अलौकिक दानके द्वारा ब्रह्मविद्या प्रदान करते हैं और फिर उसको अङ्गीकार करते हैं। यही यहाँ अनुगृहीत जीवोंका प्रतिपादन है।

पुष्टि-भक्ति-शास्त्र किसके लिये है ?

पुष्टि-भक्तिके प्रवर्तक श्रीवल्लभाचार्यजी 'तत्त्वार्थ-दीप' निबन्धमें कहते हैं—

> सात्त्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः।
> भवान्तसम्भवाद् दैवात् तेषामर्थे निरूप्यते॥

अर्थात् जो सत्त्वगुणाश्रित भगवद्भक्त मुक्तिके अधिकारी हैं और पूर्वजन्मोंमें उपार्जित पुण्योंके संयोगसे जिनको यह अन्तिम जन्म प्राप्त हुआ है, उन्हींके लिये पुष्टि-भक्तिका निरूपण किया जाता है। अर्थात् पुष्टि-भक्तिका अधिकारी वही है, जिसने निःस्पृही भगवद्भक्तोंमें भी ईश्वरकी इच्छासे अन्तिम जन्म प्राप्त किया है।

पुष्टि-भक्तिका फल

पुष्टि-भक्तिके फलस्वरूप जीवको प्रभुके साथ सम्भाषण, गान, रमण आदि करनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है तथा अलौकिक सामर्थ्यकी प्राप्ति होती है। इसीको पुष्टिभक्त मोक्ष कहते हैं। उनको चातुर्धा मुक्तिकी अपेक्षा नहीं होती। मुक्तिको वे अत्यन्त निकृष्ट समझते हैं। वेणुगीतमें—

> अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः।

—इस श्लोकमें गोपियाँ कहती हैं कि इन्द्रियवान् जीवका फल यह सख्य ही है, 'न परम्' अर्थात् मोक्ष फल नहीं है। और इसमें भी भगवान्‌का साक्षात्कारमात्र होना श्रेष्ठ है। सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे सर्वात्मभावसे भगवत्स्वरूपके अलौकिक रसकी प्राप्ति करें, यही मुख्य फल और अन्तिम ध्येय है जो सर्वभावपूर्वक प्रपत्ति—शरणागत होनेसे ही इस अलौकिक रसकी प्राप्ति होती है। भगवान्—धर्मी रसात्मक हैं तो उनके धर्म, भाव भी रसात्मक हैं। अर्थात् भगवान् के भगवद्धर्म जीव और जीवके धर्मकी अपेक्षा उत्तम हैं। इसलिये गोपियोंको 'यह कृष्ण, मैं कृष्ण'—इस प्रकार जो असाध्य अद्वैत-ज्ञान होता है, वह जीवको होनेवाले ब्रह्माद्वैतके अनुभवकी अपेक्षा उत्तम है। गोपियोंको जो ज्ञान होता है, वह केवल भगवत्कृपासे ही होता है, अतएव वह ज्ञान सात्त्विक जीवोंको होनेवाले ब्रह्माद्वैतके अनुभवकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। इसीसे उद्धवजी-जैसे ज्ञानी भक्त भी—

> वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।

अर्थात् व्रजकी सारी स्त्रियोंके पदके धूलिकणोंको मैं अनेक बार वन्दना करता हूँ—यों कहकर इन पुष्टिमार्गीय गोपाङ्गनाओंका उत्कर्ष सिद्ध करते हैं। इस प्रकारकी पुष्टिभक्ति परमभाग्यवान् भगवदीयोंको ही विरहात्मक स्वरूपसे प्राप्त होती है।

उद्धवजीकी अनोखी अभिलाषा

उद्धवजी कहते हैं—

> आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
> या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥
>
> (श्रीमद्भा० १०।४७।६१)

'मेरे लिये तो सबसे अच्छी बात यही होगी कि मैं इस वृन्दावनधाममें कोई झाड़ी, लता अथवा ओषधि—जड़ी-बूटी ही बन जाऊँ! आह! यदि मैं ऐसा बन जाऊँ तो मुझे इन व्रजाङ्गनाओंकी चरण-धूलि निरन्तर सेवन करनेके लिये मिलती रहेगी। इनकी चरण-रजमें स्नान करके मैं धन्य हो जाऊँगा। धन्य हैं ये गोपियाँ! देखो तो सही, जिनको छोड़ना अत्यन्त कठिन है, उन स्वजन-सम्बन्धियों तथा लोक-वेदकी आर्य-मर्यादाका परित्याग करके इन्होंने भगवान्‌की पदवी, उनके साथ तन्मयता, उनका परम प्रेम प्राप्त कर लिया है—औरोंकी तो बात ही क्या—भगवद्वाणी, उनकी निःश्वासरूप समस्त श्रुतियाँ, उपनिषदें भी अबतक भगवान्‌के परम प्रेममय स्वरूपको *ढूँढ़ती ही रहती हैं, प्राप्त नहीं कर पातीं!'*

श्रीमच्चैतन्यमहाप्रभुका भक्तिधर्म*

(लेखक—श्रीहरिपद विद्यारत्न, एम्०ए०, बी० एल्०)

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता ।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ॥

'भगवान् व्रजेशनन्दन श्रीकृष्ण आराध्य हैं, वृन्दावन उनका धाम है; जो व्रजाङ्गना-वर्गके द्वारा आविष्कृत हुई है, वही सुन्दर उपासना है; श्रीमद्भागवत विशुद्ध प्रमाणग्रन्थ है तथा प्रेमा-भक्ति परम पुरुषार्थ है—यह श्रीचैतन्य महाप्रभुका सिद्धान्त है और उसके प्रति हमारी परम श्रद्धा है ।'

कलि-मलसे दूषित इस युगमें कलिके दोषोंको दूर करके पावन करनेवाले, कलिके भयका नाश करनेवाले, श्रीगुरु एवं वैष्णवोंके चरण-कमलोंका कीर्तन (गुणानुवाद), स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण एवं पूजन करनेके बाद श्रीवैष्णवाचार्यवर्य श्रीविश्वनाथचक्रवर्ती महाशयके द्वारा रचित इस सूत्ररूप श्लोकको मस्तकपर रखकर उसमें संक्षिप्तरूपमें दिये गये श्रीगौडीय वैष्णव-धर्मके मुख्य पाँच लक्षणोंकी ही सर्वप्रथम आलोचना की जाती है ।

पहले उपास्य-तत्त्वका ही निर्णय करना चाहिये । साथ ही उपासनामें उपास्य और उपासकका क्या सम्बन्ध होता है, इसका भी निरूपण आवश्यक है । जैसा उपासक होता है, उपास्य तत्त्व भी उसीके उपयुक्त होता है । अपनी-अपनी मनोवृत्तिके अनुसार मनुष्योंके अनेक भेद होते हैं । संक्षेपमें विद्वान् लोग उनको चार श्रेणियोंमें विभाजित करते हैं । श्रीरूप-गोस्वामी प्रभृति आचार्योंके मतसे वे हैं—अन्याभिलाषी, कर्मी, ज्ञानी और भक्तियोगी ।

जो लोग जड इन्द्रियोंकी तृप्तिको ही जीवनका मूल उद्देश्य मानकर शास्त्रविधिका उल्लङ्घन करके स्वेच्छानुसार भोगसाधनमें रत होते हैं, उनमें कुछ तो सामाजिक मर्यादाकी रक्षाके लिये नीतिपरायण रहते हैं और कुछ दुर्नीतिका भी अनुसरण करते हैं। दोनोंका लक्ष्य होता है जड-भोग । वे अनीश्वरवादी होते हैं और कभी कभी समाजको दिखानेके लिये ईश्वरवादी बन जाते हैं । ये तब-के-तब प्रायः 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' —इस चार्वाक मतके माननेवाले होते हैं । ये नाना प्रकारके पाप और दुर्नीतिका आचरण करते हैं, क्योंकि उन्हें ईश्वरका भय तो होता नहीं ।

श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान्‌ने उद्धवजीसे कहा है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥
(११ । २० । ६)

'मनुष्योंके कल्याणके लिये मैंने ज्ञान, कर्म और भक्ति—ये तीन प्रकारके योग बतलाये हैं; इनके सिवा कहीं कोई अन्य उपाय नहीं है ।'

परंतु अनीश्वरवादी इनमेंसे किसी भी योगकी बात नहीं सुनना चाहते । ऐसे लोग कल्याणके मार्गसे च्युत हो जाते हैं । इन्हींको 'अन्याभिलाषी' कहते हैं । इनका वस्तुतः कोई उपास्य नहीं होता । कोई-कोई घोर पापाचारी अपनी-अपनी दुष्क्रियाओंमें प्रवृत्त होनेके पूर्व ही, उनमें सफल होनेकी कामनासे सकल्पित देवताकी पूजा करते हैं । श्रीभगवान् फिर कहते हैं—

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २० । ७)

उपर्युक्त भगवद्वाक्यके अनुसार अपने कर्मोंका फल-भोग चाहनेवालोंके लिये कर्मयोग ही प्रशस्त मार्ग है । किंतु कर्मयोगका अवलम्बन न करके जो भोगकी अभिलाषा करते हैं, वे अन्याभिलाषी कहलाते हैं । कर्मयोगियोंमें फलका त्याग करके निष्काम कर्म करनेवाले श्रेष्ठ हैं । वे वासुदेवः सर्व-मिति—(गीता ७ । १९) के अनुसार भगवान् वासुदेवके ही प्रपन्न होते हैं । और जो फलकी अभिलाषासे कर्म करते हैं, उनके विषयमें भगवान्‌के निम्नाङ्कित शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
× × ×
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥
(गीता ७ । २०, २३)

किंतु दूसरे देवताओंका भजन करनेवाले पुण्यकामी लोगों-को प्राप्त होनेवाला फल भी नित्य नहीं होता ।

* लेख बहुत बड़ा होनेके कारण उसका कुछ अंश छोड़ दिया गया है, लेखक महानुभाव क्षमा करें ।—सम्पादक ।

······क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
······गतागतं कामकामा लभन्ते ॥

(गीता ९।२१)

स्वर्गमें भी उनकी स्थिति अनित्य होती है। वेदमें भी स्वर्ग-सुखको क्षणिक कहा गया है—

अपि सर्वं जीवितमल्पमेव।
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥

(कठोप० १।१।२६)

यह कठोपनिषद्में नचिकेताका वचन है। मुण्डकमें भी है—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वे-
मं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥

(१।२।१०)

छान्दोग्यमें आया है—

तद् यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते।
एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते······॥

(८।१।६)

श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान् कहते हैं—

तावत् प्रमोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः ॥

(११।१०।२६)

अतएव सुखभोगकी कामनावाले पुण्यकर्मी भी नित्य कल्याणको नहीं प्राप्त होते। नाना प्रकारके देव देवियोंकी सेवासे वे तुच्छ अनित्य फलको प्राप्त करते हैं। परंतु मद्भक्ता यान्ति मामपि—इस भगवद्वाक्यके अनुसार भगवद्भक्त नित्य मङ्गल प्रदान करनेवाले भगवच्चरणारविन्दको ही प्राप्त होते हैं। इधर निष्कामकर्मी क्रमशः चित्त-शुद्धि लाभ करके शुद्ध भक्ति-मार्गसे चलनेका प्रयत्न करते हैं। अन्तमें श्रीहरिकी उपासनासे अनन्य भक्तिके फलस्वरूप निःश्रेयसको प्राप्त करते हैं। कामकर्मी आवागमनके चक्करमें पड़ते हैं, उनकी आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति नहीं होती—यह देखकर बुद्धिमान् पुरुष निर्वेदको प्राप्त होते हैं। वे निर्वेदके फलस्वरूप घर-द्वार छोड़कर ज्ञानयोगका आश्रय लेते हैं और केवल मोक्षकी प्राप्तिके लिये अति कठिन साधना करते हैं। इससे उनका चित्त जब भोगकी वासनासे रहित होकर निर्मल हो जाता है। इसके बाद यदि वे नित्य भगवद्भजनके मार्गपर नहीं चलते तो मुक्ता-भिमानी होकर दम्भके कारण गिर जाते हैं और पुनः देहके प्रति लोलुप बन जाते हैं। यही बात श्रीमद्भागवतकी ब्रह्म-स्तुतिमें सुस्पष्ट कर दी गयी है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥

(१०।२।३२)

तथा—

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।४)

भक्ति ही श्रेयका मार्ग है। निःश्रेयसकी प्राप्तिके लिये अन्य कोई उपाय नहीं है। जैसे तुष अर्थात् धानके छिलकेको कूटनेसे चावल नहीं प्राप्त होता, उसी प्रकार भक्तिरहित ब्रह्मानुसंधानमें रत रहनेवाले साधकोंको क्लेश मात्र हाथ लगता है। वे किसी एक उपास्य देवकी आराधना नहीं करते, न वे ब्रह्मके अप्राकृत रूपको ही स्वीकार करते हैं, अपितु साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना—इस सिद्धान्तके अनुसार कोई विष्णुकी, कोई शिवकी, कोई दुर्गाकी, कोई गणेशकी और कोई सूर्यकी अपने-अपने मतानुसार कल्पित मूर्तियोंकी पूजा करके पञ्चोपासक कहलाकर मूर्तिपूजा करते हैं। परंतु वे भी इस प्रकारकी उपासनाके द्वारा निःश्रेयसको न प्राप्तकर तबतक दुःख भोगते हैं, जबतक भगवान्के श्रीचरणोंका आश्रय नहीं लेते। अतएव भक्तियोगके अधिकारी को उपास्यका निर्णय करनेके लिये श्रीभगवान्की इन उक्तिका अनुसरण करना चाहिये—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

(गीता १०।८—११)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'बुद्धिमान् वे ही हैं, जो मुझ (भगवान्) को ही सबकी उत्पत्तिका कारण और सबका प्रवर्तक समझकर अनन्य भावसे मेरी (भगवान्‌की) उपासना करते हैं। वे मद्गतचित्त तथा मद्गतप्राण होकर एक दूसरेको मेरा ही तत्त्व समझाते, परस्पर मेरी ही चर्चा करते, मुझमें ही संतुष्ट रहते और मुझमें ही प्रीति करते हैं। उन नित्य-निरन्तर मुझसे जुड़े हुए तथा प्रेमपूर्वक मेरा ही भजन करनेवाले भक्तोंकी सुगमताके लिये मैं उन्हें बुद्धियोग प्रदान करता हूँ तथा उनके अज्ञानान्धकारको नष्ट कर देता हूँ जिससे वे शुद्ध मेरी (भगवत्) सेवाको प्राप्त करते हैं।' यही जीवके लिये महान् निःश्रेयस है। यहाँ श्रीकृष्ण अपनी ही अनन्य भक्ति करनेकी शिक्षा दे रहे हैं।

भक्तियोगमें सुसिद्ध साधक 'भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले' (भा० १।७।४)—के अनुसार भगवान्‌की नित्य चिन्मय मूर्तिको ध्यानके नेत्रोंसे देखते हैं और उस मूर्तिको अर्चामें प्रकट करते हैं। भक्तिके साधक अथवा जिनकी भक्ति सिद्ध हो चुकी है, ऐसे लोग भी उस मूर्तिकी शास्त्रोक्त विधिसे भक्तिपूर्वक पूजा करते हैं। यह मूर्ति काल्पनिक नहीं होती और न पञ्चोपासकोंके समान फल-प्रदानपर्यन्त उसकी पूजा होती है। अतएव भक्तिमार्गके अनुयायियोंकी अर्चामें भगवत्पूजा होती है, मूर्तिपूजा नहीं होती। उनकी पूजामें विसर्जन नहीं होता।

अब कृष्णतत्त्वकी विवेचना करनी है। श्रीमद्भागवत (१।३।२८) में कहा गया है—कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। ब्रह्मसंहिताका उल्लेख है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥
(५।१)

इससे प्रमाणित होता है कि श्रीकृष्ण ही सर्वदेवेश्वरेश्वर हैं। वहीं यह भी कहा गया है—

रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्
नानावतारमकरोद् भुवनेषु किन्तु।
कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
(५।४५)

अर्थात् श्रीकृष्ण ही स्वयं अंश-कलादिके रूपमें रामादि अवतार-विग्रहोंको धारण करते हैं। वे ही परम पुरुष हैं। गीता (१५।१५) में श्रीकृष्ण उपदेश देते हैं—वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः। वेदमें श्रीकृष्णकी ही कलाविशेषके रूपमें श्रीविष्णुका परम तत्त्व व्यक्त किया है। जैसे ऋग्वेदमें—

ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्॥ (१।२२।२०)

सूर्यके आलोकसे दीप्तिमान् खुले आकाशमें जैसे आँख फैलाकर देखनेपर ठीक-ठीक दीख पड़ता है, उसी प्रकार परम तत्त्वको जाननेवाले सर्वेश्वरेश्वर परब्रह्म परमात्मा श्रीभगवान्‌के परम पदको निरन्तर देखते हैं, उसकी उपासना करते हैं। वेदकी उपासना-पद्धतिमें पहले अन्तश्चक्षुके द्वारा दर्शनकी ही बात कही गयी है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। (बृ० उ० ४।५।६)

विष्णुधर्ममें लिखा है—

महतो पुरुषे चैव ब्रह्मण्यपि च स प्रभुः।
यथैक एव पुरुषो वासुदेवो व्यवस्थितः॥

गीतामें भी श्रीभगवान् कहते हैं—ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्। अर्थात् ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा मैं हूँ।

श्रीमद्भागवतमें श्रीब्रह्माजी नारदजीसे कहते हैं—

द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च।
वासुदेवात्परो ब्रह्मन् न चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः॥
(२।५।१४)

अर्थात् भगवान् वासुदेव ही द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव—सब कुछ हैं। उनसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु नहीं है। श्रीकृष्ण स्वविभूतियोंका वर्णन तत्त्वतः करते हुए उद्धवसे कहते हैं—

वासुदेवो भगवतां त्वं तु भागवतेष्वहम्॥
(श्रीमद्भा० ११।१६।२९)

तथा गीतामें—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत् तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

इस प्रकारके श्रीकृष्णकी भगवत्ताके प्रमाण श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें श्रीकृष्णलीलाके अनेक स्थलोंमें, विशेषतः ब्रह्माजीके मोहकी लीला तथा गोवर्धन-धारणके पश्चात् इन्द्रकी स्तुतिमें द्रष्टव्य हैं।

श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ही प्रेम-भक्तिके साधकोंके लिये भजनीय तत्त्व हैं, यह वेदमें भी देखा जाता है—

यद्वै तत् सुकृतं रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। (तै० उ० २।७।१)

अर्थात् सुकृतस्वरूप ब्रह्म ही रसस्वरूप है। इसको प्राप्त करके ही जीव आनन्दयुक्त होता है। यदि ब्रह्म आनन्दस्वरूप न होता तो कौन जीवित रहता, कौन प्राण-व्यापार सम्पादन करता।

आनन्दमय-विग्रह श्रीकृष्ण ही नित्य आनन्दकामीके लिये उपास्य हैं। गोपालतापनीय श्रुति (पूर्व० ११।१) भी कहती है—

गोपवेशं सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरं द्विभुजं वनमालिनमीश्वरम्।

तथा

कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्तं रसयेत्।

पुनः छान्दोग्य-उपनिषद्में लिखा है—

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये। (८।१३।१)

इस मन्त्रमें परमानन्द-प्राप्तिकी सुगमताके लिये श्रीभगवान्‌की श्रीराधा-कृष्णरूप युगलमूर्तिका ध्यान करनेका निगूढ़ उपदेश है। इसका सरलार्थ यह है—'श्यामसुन्दर श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिये उनकी ही स्वरूपशक्ति ह्लादिनी-सार-रूपा श्रीराधाका आश्रय लेता हूँ और श्रीराधाकी प्राप्तिके लिये श्रीकृष्णका आश्रय लेता हूँ।'

इस प्रकार संक्षेपमें प्रमाणित हुआ कि भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही अनन्य-माधुर्याश्रित भक्तियोगावलम्बी साधकोंके एकमात्र उपास्य तत्त्व हैं तथा ऐश्वर्यभावाश्रित भक्तोंके उपास्य हैं—वासुदेव द्वारकाधीश अथवा मथुरानाथ अथवा उनके व्यावव्यूह श्रीविष्णु-राम-नृसिंहादि। श्रीचैतन्यमतानुयायी श्रीरूपानुग भक्त श्रीनन्दनन्दनकी ही उपासना करते हैं। श्रीमन्महाप्रभुने श्रीमथुरा तथा श्रीद्वारकाधामके राजनीतिविशारद श्रीवासुदेवकी उपासनाका वैसा आदर्श नहीं उपस्थित किया, जैसा व्रजदेवी यशोदाके सनन्दन (बालक) की, नन्दव्रजमें श्रीदाम सुदामा आदि गोपालोंके सखाकी, श्रीवृन्दावनलीलामें श्रीराधिका आदि गोपीजनोंके प्राणवल्लभकी, वंशीनिनादके द्वारा श्रीगोप-गोपिकाओंको आकर्षित करनेवाले मुरली-मनोहरकी तथा पशु-पक्षि तरु-लता, गिरि-नदी, मृग-खग आदिको आनन्दित करनेवाले गौर-बालक गोपाल श्रीकृष्णचन्द्रकी आराधनाका उपदेश दिया है। विशेषतः मधुर-रसास्वादतत्पर होकर अहर्निश श्रीश्रीराधाकृष्ण युगल स्वरूपके कीर्तन और स्मरणको ही प्रधानता देकर उन्होंने अपने अनुगामियोंके लिये अपना आदर्श श्रीधाम नवद्वीप मायापुरमें श्रीगौराङ्गरूपसे, श्रीनीलाचल-क्षेत्रमें श्रीकृष्ण-चैतन्यरूपसे पूर्णरूपेण प्रदर्शित किया है। अतएव उनके मतसे व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही आराध्य हैं, यह सिद्धान्त निश्चय हुआ।

इसके बाद उनके धामका निर्णय किया जाता है। व्रजभूमिमें ही व्रजेन्द्रनन्दनकी लीला हुई—न मथुरामें हुई न द्वारकामें और न अन्यत्र। जब सूर्यग्रहणके बहाने श्रीकृष्ण नन्द-यशोदा एवं अन्यान्य गोप-गोपिकाओंसे मिले थे, उस समय न तो किसी व्रजवासी या व्रजवासिनीको न स्वयं श्रीकृष्णको ही वैसी प्रसन्नता हुई, जैसी प्रसन्नता पहले व्रजमें मिलनेपर होती थी।

अब व्रजेन्द्रनन्दनकी उपासना-प्रणालीका वर्णन किया जायगा। उपासनाका लक्ष्य है उनकी प्रीति प्राप्त करना। वृन्दावनमें तथा व्रजधाममें उनके साथ-साथ गोवर्धनमें और राधाकुण्डमें—इतना ही क्यों, समस्त व्रजभूमिमें मधुर रसकी सेवा ही श्रीकृष्णको परम सुख प्रदान करती है। उसीके यत्नपूर्वक साधना करनी चाहिये।

सभी मनुष्य एक दूसरेके साथ पाँच रसोंद्वारा सम्बन्धित हैं। उदाहरणके लिये कुछ सम्बन्धी हमारे ऐसे होते हैं, जो मन, वचन और शरीरसे हमारा आदर करते हैं। हमको देखकर, हमारी बातें सुनकर, हमारे विषयकी चर्चा करके उनको बहुत प्रसन्नता होती है, यद्यपि उनकी हमारे प्रति इतनी ममत्व-बुद्धि नहीं होती कि अपने सुखको त्यागकर वे हमारे सुखके लिये सदा प्रयत्न करें। हमारे प्रति उनकी प्रीति पूर्णतः क्रियाशील नहीं होती। उनका हमारे साथ शान्त-रसका सम्बन्ध है।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी होते हैं, जो रात-दिन निःस्वार्थ भावसे हमें सुख पहुँचानेवाले कार्य करते हैं। उनकी हमारे प्रति ममतामयी वृत्ति कार्यकारी होती है, जो शान्त-रसका आश्रय करनेवाले सम्बन्धियोंमें नहीं होती। ये लोग हमें अधिकतर प्रीति प्रदान करते हैं। ये हमारी दास्य-रससे सेवा करते हैं।

सख्य-रसके रसिक सखा इनकी अपेक्षा कहीं अधिक मात्रामें खेल आदिके द्वारा बराबरीके भावसे हमको अधिक गाढ़ी प्रीति प्रदान करते हैं।

माता-पितामें ममताकी अधिकता बहुत परिमाणमें होती है। वे दोनों वात्सल्य-रसद्वारा हमको प्राणयोग

तथा शासनयोग्य समझकर सखाओंकी अपेक्षा भी अधिक गाढ़ी प्रीतिसे हमारा पालन करते हैं।

सर्वोपरि ममताकी अधिकता अनन्यभावसे—एकीभावसे, तादात्म्यभावसे पुष्ट, कान्ताके माधुर्यसे उज्ज्वल शृङ्गार-रसमें दीख पड़ती है। स्वाङ्गपर्यन्त सर्वस्वका भी दान देकर ऐसी घनिष्ठ मधुर-रसमयी सेवा कहीं भी अन्य किन्हीं सम्बन्धियों या सखाओंमें सम्भव नहीं है। उनमें भी यदि यह प्रीति पारकीयभावसे अनुष्ठित होती है, तब इसके रसास्वादनमें उत्तमोत्तम माधुर्य-की पराकाष्ठा हो जाती है, यद्यपि किसी जीव विशेषके साथ यह आस्वादन सर्वथा निन्दनीय होता है।

वृन्दावनमें शान्तरसके आश्रय गौएँ, वेत्र, सींग मुरली, पर्वत, नदी, वृक्ष, यमुनातट, कुञ्ज आदि श्रीकृष्णके सांनिध्य-में उनके आह्वान-स्वरसे अथवा वेणुनादसे सदा उत्फुल्ल रहते हैं, श्रीकृष्णके वियोगमें उनकी भी दशा शोचनीय हो जाती है। नन्दालयमें चित्रक, पत्रक, रक्तक आदि सेवक 'श्रीकृष्ण ही हमारे एकमात्र प्रभु हैं' यह मानकर अहैतुकी प्रीतिवश आदेश प्राप्त होनेके पहले ही अपने मनसे उनका अभीष्ट सम्पादन करते रहते हैं। वे शुद्ध दास्य-रसके आदर्श हैं। श्रीदाम, सुदाम, वसुदाम, सुबल आदि व्रज-गोपाल—जो क्रीडाभूमिमें श्रीकृष्णको ही अपनी पीठपर वहन नहीं करते, अपितु समय आनेपर स्वयं श्रीकृष्णके कंधेपर चढ़कर उनको आनन्दित करते हैं—विश्रम्भात्मक सख्य-रसके रसिकोंका उदाहरण स्थापित करते हैं। नन्द-यशोदा आदि वात्सल्यभाव-से श्रीकृष्णके पालनमें रत रहते हैं। वे श्रीकृष्णको भगवान् जानकर भी पुत्र-स्नेहसे कभी विचलित नहीं होते, अपितु वात्सल्य-रसके द्वारा ही उनकी सेवा करते हैं। श्रीराधिका आदि किशोर अवस्थाकी गोपियाँ नानाविध शृङ्गार-रसके उपयुक्त परकीया-भावसे युक्त रास विलास आदिसे श्रीकृष्णको सुख प्रदान करती हुई मधुररसाश्रित कान्तारूपसे श्रीवृन्दावन-लीलामें परिदृष्ट होती हैं। समस्त विश्वके एकमात्र भोक्तृतत्त्व भगवान् श्रीकृष्णकी परकीया-भावसे सेवा सर्वोत्तमोत्तम है, गर्हणीया कदापि नहीं। मुनिवर मैत्रेयने श्रीविदुरसे यही बात कही है—

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते।

(श्रीमद्भा० ३।७।९)

परकीयाभावकी प्रामाणिकताका विचार करते समय इस विषयकी आलोचना विस्तारसे की जायगी।

उपर्युक्त पाँचों रसोंके आश्रय व्रजवासियोंकी श्रीकृष्णमें ही ऐकान्तिकी भक्ति थी, अन्यत्र कहीं भी न थी—यहाँतक कि उनके काय-व्यूहरूप श्रीविष्णुभगवान्में भी नहीं थी। उनके लिये मुक्ति भी स्पृहणीय न थी। श्रीचैतन्य महाप्रभुसे रस-शास्त्रकी विशेष शिक्षा पाये हुए श्रीरूपगोस्वामिपाद शुद्ध भक्तिके सम्पुटरूप श्रीहरि-भक्ति-रसामृतसिन्धु नामक ग्रन्थमें (पूर्वभागकी द्वितीय लहरीमें) लिखते हैं—

किन्तु प्रेमैकमाधुर्यभुज एकान्तिनो हरौ।
नैवाङ्गीकुर्वते जातु मुक्तिं पञ्चविधामपि॥
तत्राप्येकान्तिनां श्रेष्ठा गोविन्दहृतमानसाः।
येषां श्रीशप्रसादोऽपि मनो हर्तुं न शक्नुयात्॥
सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि श्रीशकृष्णस्वरूपयोः।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः॥

मुक्ति व्रजवासियोंको अङ्गीकार नहीं थी—इसे सुस्पष्ट करते हुए श्रीजीव गोस्वामी—जो श्रीरूपके सहयोगी छः गोस्वामियोंमें एक थे—अपनी 'दुर्गमसंगमनी' टीकामें उपर्युक्त श्लोकोंकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

यतः साक्षात् तदीयसेवयैव पुनर्व्रजपरमानन्दाः। गोविन्दः श्रीगोकुलेन्द्रः, श्रीशः परव्योमाधिपः उपलक्षणत्वेन श्रीद्वारकानाथोऽपि। रसेन सर्वोत्कृष्टप्रेममयरसेनेत्यर्थः। उत्कृष्यते उत्कृष्टतया प्रकाश्यते। यतस्तस्य रसस्य एषैव स्थितिः स्वभावः यत्कृष्णरूपमेवोत्कृष्टत्वेन दर्शयति।

अर्थात् क्योंकि साक्षात् श्रीकृष्णरूपकी सेवासे ही व्रज-वासियोंको परमानन्दकी प्राप्ति होती थी। 'गोविन्द'का अभिप्राय यहाँ श्रीगोकुलेन्द्रसे है और 'श्रीश'का लक्ष्मीपति, परव्योमके अधिपति और उपलक्षणसे श्रीद्वारकानाथसे भी है। 'रस' शब्दका अभिप्राय यहाँ सर्वोत्कृष्ट प्रेममय रससे है। 'उत्कृष्यते' का अर्थ है उत्कृष्टरूपसे प्रकाशित होता है। क्योंकि उस रसकी यही स्थिति, यही स्वभाव है कि वह श्रीकृष्णरूपको ही उत्कृष्टरूपमें प्रदर्शित करता है।

× × × ×

अतएव श्रीमद्भागवतका रसास्वादन कराते हुए श्री-मच्चैतन्यदेवने वृन्दावनीय-लीलाका ही उत्कर्ष दिखलाया है। व्रजवधूवर्गके द्वारा आचरित माधुर्योपासनाकी श्रेष्ठतामें श्रीमद्भागवत ही प्रमाण है—यह स्पष्ट है।

श्रीमद्भागवतके आदिका तीसरा श्लोक इस प्रकार है—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥

वेद कल्पतरु हैं, ब्रह्मसूत्र उसके पुष्प हैं, श्रीमद्भागवत उसका रसमय मधुर फल है। क्योंकि—

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते ।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद् रतिः क्वचित् ॥
(श्रीमद्भा० १२ । १३ । १५)

अर्थात् श्रीमद्भागवत सम्पूर्ण वेदान्त (उपनिषदों) का सार है, भागवतके रसामृतसे जो छक गया है उसकी अन्य किसी भी ग्रन्थमें प्रीति नहीं हो सकती । यही श्रीमद्भागवतरूपी फल जब चित्जगत्‌में परिपक्वताको प्राप्त होता है, तब श्री-शुकदेवजी उसको पक्षिभावसे प्रपञ्चमें ले आते हैं। अतएव उसको 'शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्' कहा गया है। श्रीकृष्ण-लीला ही वह रस है। 'हे भगवत्प्रीतिरसज्ञ ! अप्राकृत रसकी भावनामें चतुर भक्तजन ! शुकके मुखसे निकले हुए इस परमानन्दनिर्वृतिरूप रसका मुक्तावस्थामें भी पुनः-पुनः नित्य पान करो ।' इस सुविमल भागवत-शास्त्रके विषयमें पुनः श्रीमद्भागवत- (१२ । १३ । १८) की ही घोषणा है—

श्रीमद् भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते ।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥

अर्थात् श्रीमद्भागवतपुराण दोषरहित है, वैष्णवोंका प्रिय ग्रन्थ है, जिसमें विशुद्ध और उत्कृष्ट पारमहंस्य-ज्ञानका गान हुआ है तथा जिसमें ज्ञान विराग और भक्तिके साथ-साथ भागवतसेवारूप नैष्कर्म्यका सिद्धान्त प्रकट किया गया है। उसको सुनने, सुस्वरसे पाठ करने तथा भक्तिपूर्वक चिन्तन करनेसे मनुष्य भवक्लेशरूप-बन्धनसे छूट जाता है । अतएव श्री-मद्भागवतके विशुद्ध प्रमाण होनेमें कोई शङ्काका अवसर नहीं रह जाता । प्रबन्ध-विस्तारके भयसे अन्य प्रमाण नहीं दिये जा रहे हैं।

अब यह विचार करना है कि परम पुरुषार्थ क्या है। कर्मी लोग त्रिवर्ग-कामी होते हैं। उनके प्रार्थनीय हैं—धर्म, अर्थ और काम । धर्माचरणके द्वारा वे उस पुण्यलोककी कामना करते हैं, जहाँ उन्हें बहुत-से भोग प्राप्त होनेकी आशा है । उनकी आकाङ्क्षाका वर्णन वेदमें भी आता है। जैसे-

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति
न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥
(कठोपनिषद् १ । १ । १२)

नचिकेता यमराजसे कहते हैं—'स्वर्गलोकमें कोई भय नहीं है। वहाँ न तो तुम (यम) हो और न बुढ़ापेका डर। प्राणी भूख और प्यास दोनोंको पार करके शोकरहित हो स्वर्गलोकके आनन्द भोगता है ।' परंतु नचिकेता फिर कामनाकी निवृत्तिके लिये स्वर्ग-सुखके अस्थायित्वको भलीभाँति स्थापित करता है—

अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।

अर्थात् आप अपने स्वर्गके अश्व आदि तथा नाच-गीत आदिको अपने पास ही रखिये। क्योंकि सर्व (स्वर्ग) का भी जीवन अल्पकालीन ही है।

मुण्डकोपनिषद्‌में भी आता है—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्।
(१ । २ । १२)

अर्थात् ब्रह्मज्ञान-सम्पन्न विद्वान् कर्मोंके द्वारा प्राप्त स्वर्गादि लोकोंको अनित्य जानकर (सकाम) कर्मोंके प्रति निर्वेदको प्राप्त करता है। अतएव यज्ञ-यागादिके द्वारा धर्मार्जन परम पुरुषार्थ नहीं है।

अर्थकामियोंकी भी आशा कदापि पूरी नहीं होती—इस बातको सभी जानते हैं और अनुभव करते हैं। अर्थार्जनमें दुःख होता है, उसके नाशमें ताप होता है, अर्थको लेकर आपसमें बड़ा झगड़ा-विवाद खड़ा हो जाता है, चोरोंके भयसे तथा प्राण जानेके भयसे क्लेश होता है। अर्थकी जितनी वृद्धि होती है, उतनी ही अधिक उसकी प्राप्तिकी आशा भी बढ़ती है और अप्राप्तिमें दुःख होता है। अर्थके द्वारा सुखकी प्राप्ति कदापि नहीं होती । अर्थ सारे अनर्थोंका मूल है। श्रीमद्भागवतमें ही कहा है कि एक अर्थसे पंद्रह अनर्थ उत्पन्न होते हैं। देखिये श्रीमद्भागवत ११ । २३ । १८-१९।

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।

असली अर्थको छोड़कर संसारी पुरुष भोग-कामनाकी सिद्धिके लिये धनको ही अर्थ मानते हैं, जिससे सारे भोग-पदार्थोंका संग्रह हो सके। असली अर्थ क्या है, इसका निर्णय आगे किया जायगा।

काम भी सुखद नहीं होते। उनकी अप्राप्तिमें दुःख होता है। प्राप्तिके लिये चेष्टा भी दुःखप्रद होती है। प्राप्त होनेपर भी उनका उपभोग अल्पकालतक ही सीमित होता है। उपभोगके बाद उनकी सामग्रीका क्षय हो जाता है। यह और भी दुःखजनक होता है। अर्थ-प्राप्तिकी आशाके समान भोग-कामना भी उपभोगके द्वारा क्रमशः बढ़ती है, उससे कभी परितृप्ति नहीं होती। राजा ययातिने परम अभिज्ञ होकर इस सत्यकी सम्यक् उपलब्धि की थी—

> न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
> हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
> एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत्॥
> यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
>
> (विष्णुपुराण ४। १०। २३-२४)

भोगसे काम शान्त नहीं होता, बरं घृताहुतिके द्वारा अग्निके समान उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। जगत्‌में जितनी भी भोगकी वस्तुएँ हैं, वे सब-की-सब एक भी कामी पुरुषको पर्याप्त प्रीति नहीं प्रदान कर सकतीं। अतएव काम भी भोग-साधक अर्थके समान ही सुखदायी नहीं है, बल्कि अति दुःखदायी है।

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि धर्म-अर्थ-कामरूप त्रिवर्गको ही परम पुरुषार्थ माननेवालोंको शाश्वत और निर्मल सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। उन्हें सुखका जो आभास मिलता है, वह भी क्षणिक और दुःखमिश्रित होता है। त्रिवर्गके द्वारा कभी निःश्रेयसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव बुद्धिमान् मनुष्य कदापि इनका अनुसरण करके दुर्लभ मानव-जन्मको नहीं खोवे। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

> लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
> मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
> तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
> न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥

'रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्शके मूल हैं—विषय। ये कीट आदि समस्त शरीरोंमें स्वतः प्राप्त होते हैं। इनके लिये यत्न करना आवश्यक नहीं है। परंतु मानव-देह अनेक जन्मोंमें भी प्राप्त होना कठिन है। अतएव बुद्धिमान् पुरुष विषयके अनुसंधानमें व्यर्थ ही इसको नष्ट न करके प्रतिक्षण निःश्रेयसकी प्राप्तिके लिये श्रीभगवदनुशीलन करे।'

स्वर्ग-सुखकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले पुण्यकर्मको मिथ्याके अनुयायी धर्म कहते हैं। यहाँतक उसीकी निन्दा की गयी। परंतु असली धर्म अन्य ही प्रकारका है, वह परम धर्म है। उसका फल नित्य है। श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धके द्वितीय अध्यायमें आया है—

> स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
> अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥ ६॥
>
> × × × ×
>
> धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
> नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥ ८॥
> धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते।
> नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः॥ ९॥
> कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
> जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः॥ १०॥
>
> × × × ×
>
> स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्॥ १३॥

जिससे अधोक्षज श्रीकृष्णमें भक्ति हो, वही परम धर्म है। इस भक्तिमें अन्य भोगोंकी कामना नहीं होती और यह आत्माकी प्रसन्नताका विधान करती है। इसके विपरीत जिस धर्मानुष्ठानसे भगवत्कथा-श्रवण-कीर्तन आदिमें रुचि नहीं उत्पन्न होती, वह तो केवल श्रम ही पैदा करता है। यह परम धर्म जीवोंको जड़की आसक्तिसे छुड़ाता है। इसके द्वारा प्राप्त अर्थका पर्यवसान उस काममें नहीं होता, जिसके द्वारा इन्द्रिय-प्रीति प्राप्त होती है। तत्त्वजिज्ञासा ही धर्म आदिका तात्पर्य होती है।

धर्म-अर्थ और काममें भक्तोंकी आस्था नहीं होती। वे पूर्वकर्मोंके अनुसार प्राप्त हुए दुःखका निवारण करनेके लिये कोई प्रयत्न नहीं करते। यही नहीं, वे जन्म-जन्मान्तरको छुड़ानेवाले मोक्षकी भी कामना नहीं करते। वे केवल यही चाहते हैं कि उनकी *श्रीभगवत्पाद-पद्मोंमें निश्चल भक्ति बनी रहे।* श्रीमच्चैतन्यमहाप्रभुने स्वरचित शिक्षाष्टकमें भक्तकी प्रार्थनाके निर्मलत्वको सुन्दर शब्दोंमें व्यक्त किया है—

> न धनं न जनं न सुन्दरीं
> कवितां वा जगदीश कामये।

मम जन्मनि जन्मनीश्वरे
भवतात् भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भक्तोंको चतुर्वर्गकी आकाङ्क्षा नहीं होती; धर्म-अर्थ-काम-मोक्षको वे पुरुषार्थ ही नहीं मानते।

स्वरूपतः जीव नित्य कृष्ण-दास है, इसके सिवा सब कुछ भ्रम है। इसीमें श्रीचैतन्यके अनुयायियोंके 'अचिन्त्य-भेदाभेद'नामक दार्शनिक सिद्धान्तका बीज निहित है। श्रीचैतन्य-चरितामृतमें आया है—

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्य दास।
कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश ॥
× × × ×
कृष्ण भूलि सेइ जीव अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसार-दुःख ॥
× × × ×
मायामुग्ध जीवेर नाहि कृष्णस्मृति ज्ञान।
जीवेरे कृपाय कैला कृष्ण वेद पुराण ॥
कृष्णप्राप्ति सम्बन्ध भक्तिप्राप्तिर साधन।
अतएव भक्ति कृष्ण प्राप्तिर उपाय।
अभिधेय बलि तारे सर्व शास्त्र गाय ॥
वेदशास्त्रे कहे सम्बन्ध अभिधेय प्रयोजन।
कृष्ण कृष्णभक्ति प्रेम महाधन ॥

नित्य कृष्ण-दास्य ही जीवका स्वरूप है। यह भेदाभेद-प्रकाशके द्वारा श्रीकृष्णकी तटस्था शक्तिरूप है। श्रीकृष्ण विभुचित् हैं। जीव अणुचित् है। दोनोंका चेतनतारूप धर्म होनेके नाते अभेद है। परंतु श्रीकृष्ण विभु हैं और जीव अणु है, इस दृष्टिसे उनमें भेद है। चित्-अचित्के बीच जीवकी स्थिति जल और स्थलके बीच तटकी स्थितिके समान है। श्रीकृष्णकी चिच्छक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्तिके परिणामस्वरूप चिदचिद्-रूप जीव-जगत्का आविर्भाव होता है। जीव कृष्णको भूलकर अनादिकालसे कृष्णबहिर्मुख है। अतएव माया उसको सांसारिक सुख प्रदान करती है, जो वस्तुतः दुःख ही है। मायामुग्ध जीवको कृष्णस्मृतिजनित ज्ञान नहीं है। श्रीकृष्णने जीवके प्रति दयापरवश होकर वेद-पुराणोंकी रचना की। वेद सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजनको बतलाते हैं। कृष्ण-प्राप्ति ही सम्बन्ध है, कृष्णभक्ति अभिधेय है और कृष्ण-प्रेम प्रयोजन है। जीवके स्वरूप आदिके सम्बन्धमें यही महाप्रभुका मत है, जो शास्त्रसम्मत भी है।

अतः स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवत्प्रेम ही केवल निःश्रेयस मार्ग है। भगवान्‌ने श्रीमद्भागवत (११।२०।६) में मनुष्यके कल्याणके लिये तीन ही उपाय बतलाये हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति। इस विषयमें विलक्षणता यह है कि ज्ञान और कर्मकी उपयोगिता निःश्रेयसकी प्राप्तिमें नहीं है। सच तो यह है कि भक्तिके बिना ये दोनों ही अपना अपना फल प्रदान करनेमें असमर्थ हैं। ज्ञान-कर्मके फलकी प्राप्तिके लिये जो भक्ति की जाती है, वह ज्ञान-कर्मप्रधान मिश्र भक्ति है। भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये केवल भक्ति ही समर्थ होती है, मिश्राभक्ति नहीं। वह अकिञ्चन (केवला) एवं और एक (अनन्या) होती है। श्रीभगवान् कहते हैं—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।२०-२२)

अर्थात् केवल भक्तिके बिना अन्य साधनोंसे भगवत्प्रेमप्राप्तिकी सम्भावना नहीं है। श्रीनारदजीकी उक्तिसे अन्यत्र भी यही ध्वनित होता है—

किं जन्मभिस्त्रिभिर्वेह शौक्रसावित्रयाज्ञिकैः।
कर्मभिर्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि विबुधायुषा ॥
श्रुतेन तपसा वा किं वचोभिश्चित्तवृत्तिभिः।
किं वा योगेन सांख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि।
किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न यत्रात्मप्रदो हरिः ॥
(श्रीमद्भा० ४।३१।१०-१२)

उत्तम भक्तिका लक्षण नारदपाञ्चरात्रमें इस प्रकार बतलाया गया है—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥

भक्तिरसामृतसिन्धु- (पूर्व विभाग, प्रथम लहरी) में भी आया है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

दोनों श्लोकोंका एक ही भाव है। दूसरे श्लोकमें भक्तिका लक्षण बतलाते हैं कि अनुकूल भावसे श्रीकृष्णकी सेवा ही भक्ति

है। श्रीकृष्णको जो प्रवृत्ति रुचती हो, उसीमें उनकी अनुकूलता है। प्रभुरोंद्वारा प्रतिकूल भावसे अनुशीलन भक्ति नहीं है।

अतः श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुका जो भक्तिधर्म है, वह कृष्णसेवाके अन्तर्गत शुद्धभक्तिमूलक है। वह भक्ति चतुर्वर्गकी प्राप्तिमें सहायता करनेवाली मिश्रभक्ति नहीं है। वह तो स्वरूपा-वस्थामें स्थित जीवका नित्यकृत्य—श्रीकृष्णसेवा है, जो वह श्रीकृष्णप्रेमकी साधिका है। यह प्रेम-धर्म आदि, मध्य और अन्तमें श्रीभगवन्नामकीर्तनके सहयोगसे ही करना चाहिये। कलिमें नाम-संकीर्तन ही युगधर्म है। श्रीनाम-कीर्तनके प्रभावसे भगवत्प्रेमकी प्राप्ति सुलभ हो जाती है; क्योंकि नाम नामीसे अर्थात् श्रीकृष्णसे अभिन्न है। पद्मपुराणमें लिखा है—

> नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
> पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः॥

अतएव श्रीकृष्णके समान नाम भी जड़-संस्पर्शसे शून्य, नित्यमुक्त, चिद्‌घनविग्रह, चिन्तामणिके समान अभीष्ट प्रदान करनेमें समर्थ है। ऋग्वेदमें आता है—

> ॐ आऽस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन् महस्ते
> विष्णो सुमतिं भजामहे ॐ तत्सत्।
> (१।१५६।३)

अर्थात् हे विष्णो! तुम्हारा नाम चित्स्वरूप है, अतएव महः—स्वप्रकाशरूप है। इसलिये उसके विषयमें अल्पज्ञान रखते हुए भी उसका उच्चारणमात्र करते हुए सुमति अर्थात् तद्विषयक ज्ञान हम प्राप्त करते हैं। श्रीमद्भागवतमें आया है—

> कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
> कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥
> कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
> द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥
> (१२।३।५१-५२)

कलियुगमें जीवोंकी ध्यान-यज्ञ-अर्चना योग्यताके अभावसे निष्फल हो जाती हैं, नाम-संकीर्तनसे ही उनमें निःश्रेयस-प्राप्तिकी योग्यता आती है, अन्य कोई उपाय नहीं है। बृहन्नारदीय पुराणमें ठीक ही लिखा है—

> हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
> कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

श्रीचैतन्य-चरितामृत (आदिलीला, परिच्छेद १७) में श्रीमन्महाप्रभुके द्वारा की गयी इस श्लोककी व्याख्या इस प्रकार उद्धृत है—

> कलिकाले नामरूपे कृष्ण-अवतार।
> नाम हैते हय सर्व जगत् निस्तार॥
> दार्ढ्य लागि हरेर्नाम उक्ति तिन बार।
> जड़ लोक बुझाइते पुनरेव कार॥
> केवल शब्दे पुनरपि निश्चय करण।
> ज्ञान योग तप कर्म आदि निवारण॥
> अन्यथा ये माने तार नाहिक निस्तार।
> नाहि नाहि नाहि ए तिन एवकार॥

अर्थात् कलिमें नामके रूपमें श्रीकृष्णका अवतार है। नामसे सम्पूर्ण चराचरका निस्तार होता है। दृढ़ताके लिये 'हरेर्नाम' की तीन बार आवृत्ति की गयी है। जड़ लोगोंको समझानेके लिये पुनः 'एव' का प्रयोग किया गया है और फिर 'केवल' शब्दका और भी निश्चय करानेके लिये प्रयोग हुआ है। उससे ज्ञान—योग-तप-कर्मों आदिका निवारण किया गया है। जिसकी ऐसी मान्यता नहीं है, उसका निस्तार नहीं है। 'एव' के साथ 'नास्ति, नास्ति, नास्ति' तीन बार कहकर इसीका पूर्ण समर्थन किया गया है।

इसके अतिरिक्त श्रीचैतन्य-चरितामृतकी अन्त्य लीलाके चतुर्थ परिच्छेदमें भी श्रीमन्महाप्रभुका उपदेश है—

> कुबुद्धि छाड़िया कर श्रवण-कीर्तन।
> अचिरात् पाबे तबे कृष्ण-प्रेम-धन॥
> नीचजाति नहे कृष्ण-भजने अयोग्य।
> सत्कुल विप्र नहे भजनेर योग्य॥
> जेइ भजे सेइ बड़, अभक्त हीन छार।
> कृष्ण-भजने नाहि जाति-कुलादि-विचार॥
> दीनेरे अधिक दया करे भगवान्।
> कुलीन पण्डित-धनीर बड़ अभिमान॥
> भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति।
> कृष्ण-प्रेम कृष्ण दिते धरे महाशक्ति॥
> तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ नाम-संकीर्तन।
> निरपराधे नाम लैले पाय प्रेमधन॥

अर्थात् कुबुद्धि (तर्कबुद्धि) छोड़कर श्रवण-कीर्तन करो। इनके करनेसे शीघ्र ही कृष्ण-प्रेम-धन प्राप्त हो जायगा। नीच वर्णमें पैदा होनेसे ही कोई भजनके अयोग्य नहीं होता। इसके विपरीत सत्कुलमें उत्पन्न ब्राह्मण ही भजनके योग्य हो, ऐसी बात भी नहीं है। जो भजनमें लगा रहता है, वही श्रेष्ठ है; और जो अभक्त है, वही हीन—धूलके समान है। भगवान् दीनोंपर अधिक

दया करते हैं। कुलीन, पण्डित और धनी लोग बड़े अभिमानी होते हैं। (अतएव वे भजन विमुख होनेके कारण अपराधी हैं।) भजनमें नवधा भक्ति श्रेष्ठ है। यह कृष्ण-प्रेम तथा स्वयं श्रीकृष्णको प्रदान करनेमें शक्तिशालिनी होती है। उसमें भी नाम-संकीर्तन सर्वश्रेष्ठ है। साधु-निन्दा आदि दस अपराधोंका त्याग करके नाम लेनेपर प्रेम-धन प्राप्त होता है।

श्रीमद्भागवतमें कुन्ती महारानी श्रीकृष्णसे कहती हैं—

जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिंचनगोचरम्॥
(१।८।२६)

श्रीभगवान् अकिंचनको ही प्राप्त होते हैं, अभिमानीको नहीं। श्रीमन्महाप्रभुने 'शिक्षाष्टक' के तृतीय श्लोकमें कीर्तन-प्रणालीका उपदेश दिया है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

'तृणसे भी अधिक नम्र होकर, वृक्षसे भी अधिक सहिष्णु बनकर, स्वयं मानकी अभिलाषासे रहित होकर तथा दूसरोंको मान देते हुए सदा श्रीहरिके कीर्तनमें रत रहे।'

श्रीहरि-नाम-कीर्तन करनेवालोंमें चार प्रकारकी योग्यता होनी चाहिये। वे दीन रहें, परंतु कपट-दैन्य प्रशंसनीय नहीं है। राजा अम्बरीषके समान सब प्रकारका वैभव होनेपर भी तथा उपर्युक्त कुन्ती महारानीके वचनानुसार सुन्दर कुलमें जन्म, ऐश्वर्य, विद्या और श्रीसम्पन्न होकर भी मद-अभिमानसे शून्य रहे। जैसे वृक्ष घाम-शीत-वृष्टि आदिके द्वारा प्राप्त क्लेशको धैर्यपूर्वक सहकर भी, कुल्हाड़ीसे काटकर बहुत क्लेश देनेवालेको भी फल-पुष्प-छाया आदिके द्वारा सुख पहुँचाता है, कीर्तन करनेवालेको भी उसी प्रकार धैर्यशील और सहिष्णुवान् होना चाहिये। सर्वगुण-सम्पन्न होकर भी अपनेको सम्मानके योग्य न समझे। सबके भीतर अन्तर्यामीरूपसे श्रीकृष्ण ही विराजमान हैं, यह स्मरण रखकर सभीको सम्मान प्रदान करे।

अन्तमें संकीर्तन-गुणावलीका वर्णन करनेवाला श्रीमन्महाप्रभुके शिक्षाष्टकका प्रथम श्लोक हमारे गुरुवर प्रभुपाद श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती महाराजकी व्याख्याके साथ उद्धृत कर यह निबन्ध समाप्त किया जाता है—

चेतोदर्पणमार्जनं (१) भवमहादावाग्निनिर्वापणं (२)
श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं (३) विद्यावधूजीवनम्। (४)
आनन्दाम्बुधिवर्धनं (५) प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं (६)
सर्वात्मस्नपनं (७) परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम्॥

यहाँ 'संकीर्तन' से सर्वतोभावेन कीर्तन—यह अर्थ निकलता है, जिसमें अन्य किसी साधनकी अपेक्षा न हो। इसी द्वारा सम्यग् विजय प्राप्त होती है। इससे सभी प्रकार सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इनमेंसे सात विशेष सिद्धियाँ बतायी जाती हैं। (१) नाम-संकीर्तन जीवके मलिन चित्त-दर्पणको शुद्ध करके निर्मल कर देता है। प्रभु-विमुख होनेसे कर्मियोंमें फल-भोगकी स्पृहा और ज्ञानियोंमें फल-त्यागकी स्पृहा रहती है। इन दोनों प्रकारकी स्पृहारूपी मलसे सदा जीवका चित्त-दर्पण आवृत रहता ही है; उस मलसमूहको दूर करनेके लिये श्रीकृष्ण-संकीर्तन ही एकमात्र उपाय है। श्रीकृष्णके कीर्तनसे जब चित्त-दर्पण निर्मल हो जाता है, तब जीव माया-मुक्त होकर अपने स्वरूप अर्थात् श्रीकृष्णदास्यभावको स्पष्टरूपसे प्राप्त कर लेता है। (२) यह संसार सुखद दीखनेपर भी भीतरसे जलते हुए वनके समान है, जिसमें रहनेवाले श्रीकृष्ण विमुख जीव सदा जिसमें जलते रहते हैं। श्रीकृष्णके सम्यक् कीर्तनसे ही कृष्णोन्मुख प्राप्त होकर शान्तिरूप जलसे जिसका शमन कर लेता है। (३) अन्याभिलाष तथा कर्म ज्ञानादिसे मङ्गलकी इच्छा ही अज्ञानरूपी अन्धकार है। कुमुदको आनन्द देनेवाली ज्योत्स्नाके समान श्रीकृष्णका संकीर्तन अज्ञान-तमका निरसन करके परम मङ्गलरूप शोभा वितरित करता है। (४) मुण्डकोपनिषद्में परा-अपरा-भेदसे विद्या दो प्रकारकी मानी गयी है। श्रीकृष्ण-संकीर्तनके प्रभावसे जीव अपरा (लौकिक) विद्यासे मुक्त होकर परा-विद्या अर्थात् श्रीकृष्ण-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त कर लेता है। अतएव यह विद्यारूपी वधूका जीवन है। (५) श्रीकृष्ण-संकीर्तनसे ही जीवका अपार्थिव आनन्द-सिन्धु प्रफुल्लतापूर्वक बढ़कर अखण्ड आनन्द प्रदान करता है। (६) श्रीकृष्ण-संकीर्तन पद-पदपर अप्राकृत रसामृतका आस्वादन प्रदान करता है। श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं—

स्यात् कृष्णनामचरितादिसिताप्यविद्या-
पित्तोपतप्तरसनस्य न रोचिका नु।
किन्त्वादरादनुदिनं खलु सैव जुष्टा
स्वाद्वी क्रमाद् भवति तद्गदमूलहन्त्री॥
(उपदेशामृत श्लो० ७)

'अहा! जिसकी रसना अविद्या-पित्तसे दग्ध है, उसे

श्रीकृष्ण-नाम-गुण-चरितादिरूप सुमिष्ट मिश्री भी रुचिकर नहीं होती। किंतु यदि श्रद्धापूर्वक उसका निरन्तर सेवन किया जाय तो क्रमशः उसका अविद्या-रोग प्रशमित होता है, नाममें रस आने लगता है और रुचि बढ़ जाती है। (७) उपाधि-ग्रस्त जीव नाना प्रकारके स्थूल-सूक्ष्म मालिन्यसे युक्त होता है। श्रीकृष्ण-संकीर्तनसे जडाभिनिवेशज ये सारे मल धुल जाते हैं और जीव श्रीकृष्णोन्मुख होकर सुस्निग्ध श्रीकृष्ण-पाद-पद्म-सेवाको प्राप्त करता है।

'ज्ञानेश्वरी' और 'दासबोध' में भक्ति

(लेखक—पं० श्रीगोविन्द नरहरि वैजापुरकर, न्याय-वेदान्ताचार्य)

'कल्याण' के भक्ति-अङ्कमें भक्तिपर अनेक विविध विद्वान् अपने-अपने विचार और अनुभव उपस्थित करेंगे। मैं कोई वैसा विद्वान् नहीं और न अनुभवी ही हूँ। दर्शनका साधारण विद्यार्थी और शास्त्रज्ञका ककहरा शुरू करनेवाला भक्तोंकी चरण-धूलिका कृपाकाङ्क्षी ठहरा। फिर भी 'भक्ति' पर लिखनेकी उत्कण्ठा विशेष जोर पकड़ रही थी। सामने श्री-ज्ञानेश्वर महाराजकी 'ज्ञानेश्वरी' और श्रीसमर्थ रामदास स्वामी-का 'दासबोध' रखा था। दृष्टि पड़ते ही मनमें एक विलक्षण-सा धैर्य आ गया। अँधेको लाठी नहीं, लाठियाँ मिल गयीं। अब इन्हीं ग्रन्थरत्नोंके डाँड़ोंसे इस अपनी क्षुद्र बुद्धि-तरीको भक्ति-सागरके पार ले जानेके लिये निकल पड़ा हूँ। भक्तोंके आशीर्वादकी अनुकूल वायु और गुरुनाथकी पतवार-का सहारा मिला तो निश्चय ही अपने मनमें सफल होऊँगा। हाँ, तो अब भूमिका छोड़ लेना ही आरम्भ करता हूँ।

श्रीज्ञानदेव भगवान्‌के ही भावको व्यक्त करते हुए कहते हैं—"कपिध्वज! मेरे उस स्वाभाविक प्रकाशको ही लोग 'भक्ति' कहते हैं। आर्तोंमें वही आर्ति, जिज्ञासुओंमें वही जिज्ञासा और अर्थार्थियोंमें वही अर्थादि नाम पाती है। इस प्रकार ये मेरी तीनों भक्तियाँ अज्ञानको लेकर ही चलती हैं। ये मुझे देखनेवालेको देखनेके पदार्थपरसे दिखाती हैं। यहाँ मुँहसे ही मुँह दीखता है, यह कहना गलत न होगा। पर यह मिथ्या द्वितीयत्व जो दीखता है, वह दर्पणकी ही करामात है। वास्तवमें दृष्टि-अन्तरद्वारा मैं ही स्वयं दीखता हूँ। फिर भी उसमें दृश्य-स्वरूप-भेद रहता ही है। वही दृश्यत्व मिटते ही मेरा मैं ही अपने-को प्राप्त होता हूँ। 'चौथी' तो इसे यों ही कहा है, पर है यह 'पहली' ही। इसीलिये हाथ उठाकर, बड़े विश्वासके साथ मैंने तुमसे कहा कि 'ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है।'"

"कल्पके आदिमें रहनेवाली यही उत्तम भक्ति 'भागवत' के निमित्तसे मैंने ब्रह्मदेवको बतायी। ज्ञानी इसे अपनी 'ज्ञान-कला' कहते हैं। शिवोपासक इसे 'शक्ति' और हम लोग इसे 'परम भक्ति' कहा करते हैं। यह भक्ति कर्मयोगी तभी पाते हैं, जब वे मुझसे आकर मिल जाते हैं। तब चारों ओर मैं-ही-मैं भरा रहता हूँ। उस समय विचारके साथ वैराग्य और मोक्षके साथ बन्ध खुल जाता है, पुनरावृत्तिके साथ वृत्ति भी डूब जाती है तथा जीवभावके साथ ईश्वरभाव भी मिट जाता है। जिस तरह आकाश चारों भूतोंको निगल जाता है, उसी तरह अलिप्त, साध्य-साधनसे अतीत और शुद्ध उस अपने पदको एकरूप होकर मैं ही भोगता हूँ। आत्मा वह भक्त उस समय मद्रूप होकर बिना क्रियाके मुझे उसी तरह भजता है, जिस तरह लहरें सभी अङ्गोंसे पानीका उपभोग करती हैं, प्रभा बिम्बमें सर्वत्र विकसित होती है या जिस तरह आकाशमें अवकाश लेटा रहता है। इस तरह वास्तवमें उसे क्रिया पसंद नहीं पड़ती, फिर भी उसकी भावनामें भक्ति रहती ही है। कैसे? यह तो अनुभवका विषय है, बोलकर बतलानेकी वस्तु नहीं।"

> भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
> ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
>
> (१८। ५५)

उपर्युक्त गीतावचनका ज्ञानदेवने यही रहस्य बतलाया है, जो ऊपर कहा गया है।

निरूपणकी इस परम चोटीपर पहुँचकर श्रीज्ञानदेव जब साधनाकी उपत्यकामें उतरते हैं, तब भक्तियोगके प्रसङ्गमें भगवान्‌के शब्दोंका ही भाष्य करते हुए समझा देते हैं—"किंवा अभ्यास करनेकी सामर्थ्य भी तुम्हारी देहमें न हो तो जिस स्थितिमें हो उसी स्थितिमें बने रहो। इन्द्रियोंको मत रोको और न भोगोंको ही छोड़ो। अपनी जातिका अभिमान भी मत त्यागो। अपने कुल-धर्म एवं कुलाचारका यथाविधि पालन करते रहो। जो कर्म करने योग्य हों, उन्हें करो और न करने योग्य हों, उन्हें

मत करो। इस प्रकार मुझसे आचरण करनेकी तुम्हें पूरी छूट है। किंतु शरीर, वाणी, मनसे जो कर्म करो उन्हें 'मैं करता हूँ' यह मत कहो। जो परमात्मा विश्वको चलाता है, वह जानता ही है कि कौन कर्म करनेवाला है और कौन नहीं। यह कर्म कम किया और यह अधिक—इस विषयमें हर्ष-विषाद मत मानो। कारण, जैसे प्राचीन संस्कार होंगे, वैसे ही कर्म होंगे। इतना तो अपने जीवनका सार्थक्य कर लो। माली जिधर ले जाय, पानी उधर ही जाता है। उसी तरह तुम बन जाओ। इस प्रकार करनेसे प्रवृत्ति-निवृत्तिका बोझ बुद्धिपर नहीं पड़ता और चित्त-वृत्ति मुझमें स्थिर हो जाती है। क्या रथ कभी यह सोचता है कि यह मार्ग सीधा है या टेढ़ा? इस तरह थोड़ा-बहुत जो भी कर्म बन पड़े, चुपचाप मुझे अर्पण करते जाओ। यदि अन्तकालतक ऐसी ही सद्भावना बनी रही तो तुम मेरे सायुज्य-सदनको प्राप्त हो जाओगे।'

वे ही ज्ञानदेव 'राजविद्या-राजगुह्य' प्रकरणमें सगुणभक्तिकी महिमा भी पूरी शक्तिसे बखानने लगते हैं। वे भगवान्‌के भावमें कहते हैं—'अर्जुन! जो महात्मा बढ़ते हुए प्रेमसे मुझे भजते हैं, जिन्हें मनसे भी द्वैत-भाव छू नहीं जाता, जो मद्रूप होकर मेरी सेवा करते हैं, उनकी सेवामें जो विलक्षणता होती है, वह सचमुच सुनने योग्य है। ध्यान देकर उसे सुनो।

'वे हरिकीर्तनके लिये प्रेमसे शृङ्गार करके नाचते हैं। उनके प्रायश्चित्त आदि सभी व्यापार नष्ट हो जाते हैं। कीर्तन उनमें पापोंका नाम भी रहने नहीं देता। वे यम या मनोनिग्रह और दम या बाह्येन्द्रिय-निग्रहको निस्तेज कर देते हैं। तीर्थ अपने स्थानसे च्युत हो जाते हैं और यमलोकके सारे व्यापार रुक जाते हैं। यम कहने लगता है कि 'हम किसका नियमन करें?' दम कहने लगता है कि 'किसे जीतें?' तीर्थ कहने लगते हैं कि 'किसका उद्धार करें' क्योंकि दोष तो थे, वे दवाके लिये भी नहीं बचे। इस प्रकार वे भक्त मेरे नाम-घोषसे संसारके सभी प्राणियोंके दुःख दूर कर देते हैं। और सारा जगत् महासुखमें उछलने-कूदने लगता है।

'वे सायु प्रभात हुए बिना ही लोगोंको प्रकाश (आत्मज्ञान) प्राप्त करा देते हैं। अमृतके बिना ही प्राणियोंके जीवोंका रक्षण करते हैं और योग-साधनाके बिना ही मोक्षको आँखोंके सामने खड़ा कर देते हैं। वे राव और रंकमें भेद नहीं करते। छोटा और बड़ा कुछ नहीं पहचानते। इस तरह वे जगत्‌के लिये भेदरहित आनन्दका स्रोत बन जाते हैं। वैकुण्ठको देखे वाला कचित् ही दृष्टिगोचर होता है। इन साधुओंने तो सा सब जगह वैकुण्ठ कर दिया है।

'मेरे जिस नामका मुखसे उच्चारण होनेके लिये व्यास जन्म मेरी सेवा करनी पड़ती है, वही नाम इनकी कर्तव सकौतुक नाचा करता है। मैं एक बार वैकुण्ठमें भी न मिलूँ सूर्यमण्डलमें भी न दीख पड़ूँ, योगियोंके मनको भी लाँघ चला जाऊँ और भी भले ही कहीं न मिलूँ, पर उनके पास अवश्य मिलता हूँ, जो सदैव मेरा नाम धारण किये रहते हैं। देश-कालको भूलकर मेरे नाम-कीर्तनके योगसे मनमें सुखी और तृप्त रहते हैं। मेरा ही गुणगान करते क सृष्टिमें विचरते रहते हैं, बीच-बीचमें आत्मचर्चा भी करते हैं।

'फिर वे कितने ही यत्नप्रयत्न और मनोंको देकर उनसे अवगम प्राप्त कर लेते हैं। बाहरसे यम नियमोंका बाड़कर भीतर मूलबन्धका किला तैयार करते हैं और उ प्राणायामकी तोपें लगा देते हैं। फिर कुण्डलिनीको जगा करके उसके प्रकाशमें मन और प्राणकी अनुकूलता (ध्यान द्वारा चन्द्रामृत या सत्रहवीं कलाके अर्थात् परिपूर्ण मन अमृतके कुण्डको कब्जेमें कर लेते हैं। उस समय प्र बड़ी ही धूमधामके साथ सपरिवार काम क्रोधादि विद् भराभावीकर इन्द्रियोंको बाँध हृदयके भीतर ले जात इसनेमें धारणारूप घुड़सवार चढ़ाई करके पञ्चभूतोंको क कर देते और संकल्पकी चतुरङ्ग सेना (मन, बुद्धि, और अहंकार) को नष्ट कर देते हैं। फिर जय-जयकार ध्यानकी दुन्दुभि बजने लगती है और तन्मयताकी छत्र राज्य प्रकाशित हो उठता है। फिर समाधि सिंहासनपर आत्मानुभवके राज्यसुखका ऐश्वर्यरूपसे पट्टा होता है। अर्जुन! मेरा भजन ऐसा गहन है। अब भी लोग जिस जिस तरह मेरा भजन करते हैं, वह सुनो

'जैसे वस्त्रके दोनों छोरोंतक धागा और एक ही अविछिन्न संग रहता है, वैसे ही वे मेरे स्वरूपके बिना किसी भी वस्तुको स्वीकार करते। छोटे-बड़े, सजीव-निर्जीवका भेद त्यागकर आनेवाली प्रत्येक वस्तुको मद्रूप समझकर जीवमात्रको नमस्कार करना उन्हें प्रिय लगता है। वे सदैव न होते हैं, नम्रता ही उनकी सम्पदा होती है। वे अह

करके सभी कर्म मुझे समर्पित कर देते हैं। नम्रताका दृढ़ अभ्यास करते हुए उन्हें मानापमानका ध्यान नहीं रहता। इस कारण वे सहज मद्रूप हो जाते हैं। इस प्रकार मद्रूप होकर भी सदैव मेरी ही उपासना किया करते हैं।' ज्ञानेश्वरने अपना यह हृदय—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥
(९।१४)

—गीतोपनिषद्के इस मन्त्रके व्याख्यानमें रख दिया है।

भगवान् अर्जुनसे (गीता १४। २६में) कहते हैं कि 'अर्जुन! जो अव्यभिचारी भक्तियोगसे मेरी सेवा करता है, वह सत्त्व, रज, तम—इन गुणोंको भलीभाँति जीतकर ब्रह्मरूप बनने योग्य हो जाता है।' यहाँ मैं कौन, मेरी भक्ति किस प्रकार की जाय, अव्यभिचारी भक्ति क्या वस्तु है—इसकी व्याख्या करते हुए श्रीज्ञानेश्वर महाराज लिखते हैं।

'अर्जुन सुनो! इस जगत्में मैं इस प्रकार स्थित हूँ कि रसका तेज जैसे रसमें होता है, अर्थात् वह रससे पृथक् नहीं है, जैसे पटआपन और जल, अवकाश और आकाश या मिठास और शक्कर अभिन्न हैं, वैसे ही मैं जगत्से अभिन्न हूँ। जैसे अग्नि ही ज्वाला है, कमलपत्र ही कमल है, शाखा-पल्लव आदि ही वृक्ष हैं, वैसे ही जिसे विश्व कहते हैं वह सब मद्रूप ही है। इस तरह मुझे विश्वसे अलग न कर ऐक्यरूपसे पहचानना ही अव्यभिचारी भक्ति है। लहरें छोटी ही क्यों न हों, वे समुद्रसे भिन्न नहीं होतीं। इसी तरह ईश्वर और मुझमें कोई भेद नहीं है। इस तरह जब साम्यभाव और ऐक्यभावकी दृष्टि विकसित होती है, तभी हम उसे 'भक्ति' कह सकते हैं। ऐसी स्थिति हो जानेपर तो जैसे नमककी डली समुद्रमें गल जानेपर उसे अलग गलानेके लिये कहना नहीं पड़ता, या जैसे अग्नि तृण—घास-फूस जलाकर स्वयं शान्त हो जाता है, उसी तरह भेद बुद्धिको नष्टकर वह 'सोऽहं' वृत्ति भी नहीं रहती। मेरे बड़प्पनकी और भक्तके छोटेपनकी भावना नष्ट हो जाती और दोनोंका अनादिकालसे चला आता हुआ ऐक्य ही सामने खड़ा हो जाता है। इस जगत्में ऐसे लक्षणोंसे युक्त जो मेरा भक्त होता है, मुक्ति अवस्था उसकी पतिव्रता बनकर रहेगी। इस प्रकार ज्ञान-दृष्टिसे जो मेरी सेवा करता है, वह ब्रह्मरूप सम गुंफ्याका रस बन जाता है।'

ज्ञानदेव महाराजने भक्तिको जिस सर्वोच्च शिखरपर पहुँचा दिया है, यह अब अलग बतानेकी आवश्यकता नहीं। हमारी दृष्टिसे 'ज्ञानेश्वरीकी भक्ति' पर इतना विवेचन पर्याप्त प्रकाश डाल सकता है।

ऊपर श्रीज्ञानेश्वर महाराजकी दृष्टिसे भक्ति-तत्त्वकी मीमांसा की गयी। श्रीज्ञानेश्वरके नाथ-पंथी होनेसे उनकी भक्तिपर योग और ज्ञानकी पूरी छाप पड़ना स्वाभाविक ही है और वैसा हुआ भी है। किंतु श्रीसमर्थ रामदास महाराजके शुद्ध भक्तिसम्प्रदायिक होनेसे उनका भक्ति-निरूपण कुछ और ही ढंगका है। तीन स्फुट अभङ्गोंमें उनके विचारोंकी पृष्ठ-भूमि देख फिर उनके भक्ति-निरूपणका विहङ्गम-अवलोकन किया जायगा।

पहले अभङ्गमें वे कहते हैं—'अरे! यह काया कालकी है। वह अपनी वस्तु ले ही जायगा। फिर व्यर्थ इसे 'मेरी' क्यों कहता है। बिना प्रयत्नके तूने जीवन व्यर्थ गँवाया, दम्भ किया, जिससे तू परलोकसे चूक गया। तूने अपने हितकी चिन्ता नहीं की और अब अन्तमें सब कुछ छोड़ किसके मुँहमें जा रहा है। इसलिये अब भी ईश्वरका भजन कर ले।'

दूसरेमें वे कहते हैं—'कोई भी एक उपासना तुमसे नहीं बनती। फिर भक्तिकी भावना कहाँसे आये। हृदयमें एक पलका भी निश्चय नहीं। मन दर-दर भटक रहा है। किसी एक देवको नहीं मानता, तीन-पाँचके फेरमें पड़ा रहता है। फलतः मन नग्नाकार बन गया है। फिर निष्ठापूर्वक भजन कहाँ। श्रीरामदास कहते हैं कि बिना निष्ठाके सब कुछ शून्य है।'

अन्तिम अभङ्गमें श्रीसमर्थने अपना चरम निष्कर्ष बता दिया है—'बिना ज्ञानकी जो भी कथाएँ हों, सभी शुष्कवार्ता ही हैं—यह बात स्वयं भगवान् ही कह चुके हैं। इसलिये उनके वचनपर ध्यान दीजिये। एक ज्ञानसे सब कुछ सार्थक हो जाता है और बिना ज्ञानके सभी कर्म निरर्थक हैं। रामदास कहते हैं कि बिना ज्ञानका प्राणी पाषाण ही है।' बस, इसी पृष्ठभूमिपर समर्थकी भक्ति देखिये।

दासबोधके पूरे चतुर्थ दशकमें जिस नवविधा भक्तिका निरूपण है, समर्थके शब्दोंमें वह भागवत (सप्तम स्कन्ध, अध्याय ५, श्लोक २३) में प्रह्लादद्वारा निरूपित नवविधा भक्तिका ही भाष्य है।

श्रवण—हरिकथा, पुराण अथवा अध्यात्मनिरूपणका श्रवण श्रवण-भक्ति है। भाव यह है कि परमात्मा सगुण और

निर्गुण उभयरूप होनेसे उसकी सगुण लीलाओंको सुननेसे सगुण भक्ति-भावका उद्दीपन होता है और अध्यात्म-श्रवणसे ज्ञानपोषण होता है। इस तरह श्रवण-भक्तिसे ज्ञान और भक्ति दोनोंका लाभ होता है। साधनाके सभी मार्गों और उनके सभी साधनों तथा यथासाध्य संतरकी सभी क्रियाओं, कर्मों एवं तत्त्वोंकी बात सुनिये और उनमेंसे सार ले लीजिये तथा असार त्याग दीजिये। इसीका नाम श्रवण है। सगुणका वर्णन और निर्गुणका अध्यात्मज्ञान सुनकर उसमेंसे 'विभक्ति' (परमात्मा-जीव-शिवका भेद) त्याग 'भक्ति' (अद्वैत या तादात्म्य) को खोज निकालना ही समर्थकी दृष्टिमें श्रवण-भक्ति है।

कीर्तन—सगुण हरिकथा करना, भगवान्‌की कीर्तिका प्रचार करना और वाणीसे श्रीहरिके नाम-गुणोंका कीर्तन करना कीर्तन-भक्ति है। कीर्तनकारको चाहिये कि वह बहुत-सी बातें कण्ठस्थ करे। निरूप्य विषयका अर्थ भी याद रखनेका प्रयत्न करे। निरन्तर हरिकथा करे, उसके बिना कभी न रहे। हरिकी गूँजसे सारा ब्रह्माण्ड भर दे। कीर्तनसे परमात्मा संतुष्ट होता है, अपने जीको समाधान मिलता है और बहुतों-के उद्धारका मार्ग खुल जाता है। कलियुगमें कीर्तनसे ये तीन बड़े लाभ हैं। कीर्तनमें संगीतका भी पूर्ण समावेश रहे। वक्ता भक्ति, ज्ञान और वैराग्यके लक्षण बतलाये, स्वधर्म-रक्षा-के उपाय सुझाये, साधनमार्गको सँभालकर अध्यात्मका निरूपण करे। लोगोंके मनमें किसी तरहका संशय पड़े, ऐसी एक भी बात न कहनेकी सावधानी रखे। अद्वैतका निरूपण करते समय यह सतर्कता रहे कि कहीं सगुणका प्रेम टूट न जाय। वक्ताका अधिकार बहुत बड़ा है। निश्चय ही छोटा या साधारण व्यक्ति वक्ता नहीं हो सकता। उसे अनुभवी होना ही चाहिये। वह सब बातुओंको सँभालकर ज्ञानका निरूपण करे, जिससे वेदाज्ञाका भङ्ग न होते हुए लोग सन्मार्गगामी बनें।'

समर्थ स्पष्ट कहते हैं कि जिससे यह न बच पाये, वह इस पचड़ेमें कभी न पड़े और केवल भगवान्‌के सामने सप्रेम उनके गुणानुवाद गाये। यह भी कीर्तन भक्ति ही है। देवर्षि नारद सदैव कीर्तन करनेके कारण नारायणरूप माने जाते हैं। कीर्तनकी महिमा अगाध है।'

स्मरण—भगवान्‌का अखण्ड नाम स्मरण और समाधान पाना स्मरण भक्ति है। नित्य नियमसे सर्वदा नाम-स्मरण करना चाहिये। सुख या दुःख किसी भी समय बिना नामके न रहे। सब प्रकारके सांसारिक काम करते हुए भी नाम-स्मरण चलता रहे। नामसे सारे विघ्न दूर होते, सभी संकट बाधाएँ मिटतीं और अन्तमें सद्गति प्राप्त होती है। नामकी महिमा श्रीशंकरजी जानते हैं। इसीके मारे वे हलाहल विषके प्रभावसे छूट गये। काशीमें मरनेवालोंको वे रामनामका उपदेश देकर मुक्त कर देते हैं। नामके प्रभावसे सागरपर पत्थर तैर गये, प्रह्लाद भक्त-शिरोमणि बन गये, व्याधा आदिकवि हो गया। नाम-स्मरणका अधिकार चारों वर्णोंको है। वहाँ छोटे-बड़ेका प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये मनमें भगवान्‌के रूपका ध्यान करते हुए अखण्ड नाम-स्मरण किया जाय। यही नामभक्ति है।

पादसेवन—मोक्ष-प्राप्तिके लिये शरीर, वाणी और मनसे सद्गुरु-चरणोंकी सेवा करना पादसेवन भक्ति है। जन्म-मरणका चक्कर छुड़ानेके लिये सद्गुरुकी शरण अनिवार्य है। ब्रह्मस्वरूपका परिचय सद्गुरु ही कराते हैं। वस्तु चर्म-चक्षुओंको नहीं दीखती। मन उसका अनुमान नहीं कर पाता और अशान्त हुए बिना उसका अनुभव नहीं होता। अनुभव लेने जाते हैं तो द्वैत (त्रिपुटी) का ... हो जाता है। बिना द्वैत-त्यागके अनुभव नहीं होता। ... त्याग, आत्मनिवेदन, विदेहस्थिति, अलिप्तता, सहजावस्था, उन्मनावस्था और विज्ञान—ये सभी एक रूप ही हैं। ... सुखको दिखानेवाले ये सात संकेत हैं। ये और ऐसे अन्य सभी अनुभवके अङ्ग पाद-सेवनसे ही समझमें आते हैं। इसीलिये यह गुरुगम्य मार्ग है। ... सत्सङ्गसे सब कुछ हो जाता है। पर यह औपचारिक ... है। तथ्य यह है कि सद्गुरुके चरण दृढ़तासे पकड़ने चाहिये, तभी उद्धार होगा। यही पाद-सेवन-भक्ति है। यही सद्गुरु मुक्तितक पहुँचा देती है।

अर्चन—भगवान्‌की पूजा अर्चन-भक्ति है। यह ... होनी चाहिये। घरके बड़े-बूढ़े जिन्हें पूजते आये, उनका पूजन करना अर्चन-भक्ति है। संक्षेपमें शरीर, वाणी, मन और चित्त, वित्त और जीवन, सब कुछ देकर सद्भावपूर्वक भगवान्‌का अर्चन करना—यह अर्चन भक्ति है। भगवान्‌की तरह ही गुरुकी भी अर्चा करनी चाहिये। यदि ऐसी षोडशोपचार, पञ्चोपचार, चतुष्षष्टि-उपचार या असंख्य उपचारोंसे पूजा करनेकी शक्ति न हो तो मनसे ही उन सारे पदार्थोंकी कल्पना करके बड़े भावसे मानस पूजा करनी चाहिये। यह भी अर्चन भक्तिमें आ जाती है।

वन्दन—देवताकी प्रतिमा, साधु-संत और सद्गुरुको साष्टाङ्ग नमस्कार या यथाविधि नमन वन्दन भक्ति है। सूर्य, अन्य देवता एवं सद्गुरुको साष्टाङ्ग और दूसरोंको साधारण नमस्कार किया जाय। जिसमें विशेष गुण दीखें, उसे सद्गुरुका अभिन्न मानें। इससे नम्रता आती है, विकल्प नष्ट होते और साधु-संतोंसे मित्रता होती है। इससे चित्तके दोष मिटते और नष्ट हुआ समाधान भी पुनः बन जाता है। नमस्कारसे पतित भी पावन हो जाते हैं, सद्बुद्धि विकसित होती है। इससे बढ़कर शरणागतिका दूसरा सरल मार्ग नहीं। किंतु यह अनन्य भावसे अर्थात् निष्कपट होकर करना चाहिये। साधकोंके शरणमें आते ही साधुओंको उनकी चिन्ता लग जाती है और फिर वे उन्हें स्वस्वरूपमें स्थित कर देते हैं।

दास्य—देवद्वारपर सदा सेवाके लिये तत्पर रहना, प्रत्येक देवकार्य सोत्साह पूरा करनेके लिये तैयार रहना, देवताके ऐश्वर्यको सँभालना, उसमें कमी न पड़ने देना और देवभजनका रंग चढ़ाना दास्य-भक्ति है। देवालयोंका निर्माण तथा जीर्णोद्धार, पूजनका प्रबन्ध, उत्सव-जयन्तियाँ मनाना, वहाँ आनेवालोंका आतिथ्य और भगवान्के सामने करुणस्तोत्र पढ़कर उनसे आन्तरिक संतोष देना दास्य-भक्ति है। यह सब प्रत्यक्ष साधनेकी शक्ति न हो तो मानस दास्य ही करें। देवताकी तरह सद्गुरुकी भी दास्यभक्ति की जाय।

सख्य—देवताके साथ परम सख्य सम्पादन करना, उसे प्रेमसूत्रमें बाँध लेना और जो-जो उसे प्रिय हो, उसे करना सख्य भक्ति है। देवके साथ सख्य-स्थापनार्थ अपना स्वार्थ सौख्य छोड़ना और सर्वस्व लगाकर उससे भिन्न न होना सख्य है। इस तरह सख्यभक्तिसे भगवान्को बाँध लेनेपर फिर तो वह भक्तकी सारी चिन्ता स्वयं करता है। लाक्षागृहमें पाण्डवोंको जलनेसे किसने बचाया? अपना अभीष्ट सिद्ध न होनेपर भगवान्से अप्रसन्न होना सख्य नहीं। भगवान् बड़े दयालु हैं। कहीं शायद अपने पुत्रकी हत्या करनेवाली कोई माता चाहे मिल जाय, पर अपने भक्तको भगवान्ने नष्ट कर दिया हो, यह तो कहीं देखा और न कभी सुना ही गया। प्रेमका निर्वाह करना तो भगवान् ही जानते हैं। इसी तरह गुरु भी सख्यभक्ति करने योग्य हैं, यह शास्त्र-वचन है।

आत्मनिवेदन—भगवान्के चरणोंमें अपने आपको समर्पित कर देना ही आत्मनिवेदन है। 'मैं कौन, भगवान् कौन और उसे कैसे समर्पण किया जाय'—इन सबका समर्थने विस्तृत विवेचन किया है। संक्षेपमें वे कहते हैं—'अपने आपको 'भक्त' कहना और भगवान्को 'विभक्त'से भजना बड़ी ही अटपटी बात है। 'भक्त' कभी विभक्त नहीं और 'विभक्त' भक्त नहीं। देव कौन, यह अपने अन्तरमें ही खोजे। मैं कौन—इसके निश्चयार्थ जिस तत्त्वसे पिण्ड-ब्रह्माण्डका विस्तार हुआ, उसका विचार करे। जिन तत्त्वोंसे पिण्ड बना, उन्हें विवेकसे मूलतत्त्वोंमें विलीन करे, तो स्पष्ट समझमें आ जायगा कि इन तत्त्वोंमें 'मैं' नहीं। इसी तरह पिण्डके तत्त्वोंको मूल अद्वितीय तत्त्वमें क्रमशः विलीन कर देनेपर 'मैं' शेष ही नहीं रहता और इस प्रकार आत्मनिवेदन सहज ही सध जाता है। बिना आत्मनिवेदनके जन्म-मरणका चक्कर छूट नहीं सकता। इसीसे सायुज्य-मुक्ति मिलती है। सायुज्य मुक्ति कल्पान्तमें भी विचलित नहीं होती। त्रैलोक्य नष्ट होनेपर भी सायुज्य-मुक्ति नष्ट नहीं होती। भगवद्-भजनसे सभी प्रकारकी मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं।'

श्रीज्ञानेश्वर महाराज और श्रीरामदास स्वामी महाराजके इस भक्तिनिरूपणका विहङ्गम-अवलोकन करनेपर—जिसमें उसके स्वरूप और प्रकार दोनोंका ही संक्षिप्त, पर सारगर्भ विवेचन है—भगवद्-भक्त श्रीमधुसूदन सरस्वतीके इस श्लोकका रहस्य समझमें आ जाता है—

> नवरसमिलितं वा केवलं वा पुमर्थं
> परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति।
> निरुपमसुखसंविद्रूपमस्पृष्टदुःखं
> तमहमखिलतुष्ट्यै शास्त्रदृष्ट्या व्यनज्मि॥

सचमुच भक्तियोग नवरसोंके मिश्रणसे बना अलौकिक उत्तम रस है और 'रसो वै सः'—यह श्रुति यहीं चरितार्थ होती है। यह स्वतन्त्र पुरुषार्थ है। चारों पुरुषार्थोंसे सुख मिलता है। सुख-साधक होनेसे वे पुरुषार्थ कहे जाते हैं, किंतु भक्ति तो सुखस्वरूप होनेसे परम पुरुषार्थ है। यह निरुपम सुख और ज्ञानरूप तथा त्रिविध दुःखसे असंस्पृष्ट है। भला, ऐसे अलौकिक योगको कौन नहीं चाहेगा।

श्रीशंकराचार्य और भक्ति

(लेखक—श्रीयुत मा० महादेवन्, एम्० ए०, पी० एच्० डी०)

श्रीशंकराचार्यके मतानुसार एक बुद्धिमान् मनुष्यके जीवनका उद्देश्य होना चाहिये—आत्मसाक्षात्कार। हमारे भीतर जो आत्मा है—बस, वही एकमात्र सत्य है और वही परमात्मा है। किंतु 'अहम्', 'इदम्' इत्यादिकी मिथ्या उपाधियोंके पीछे अपनेको छिपाये हुए यह जगत्में विचरण करता है। इस अध्यासका कारण है हमारी अविद्या या अज्ञान, जिससे हमें मुक्त होना है। हम अविद्यासे क्यों और कैसे मोहित हो रहे हैं, इसकी मीमांसा व्यर्थ है। इस कठोर सत्यको हमें स्वीकार कर लेना है कि हम अविद्याके बन्धनमें हैं और इससे छूटनेके लिये ही हमें चेष्टा करनी है। श्रुति, भगवद्गीता तथा ब्रह्मसूत्रोंके अनुरूप निर्विशेष ब्रह्मका निरूपण करनेके अतिरिक्त श्रीशंकराचार्यने उस साधन-पद्धतिका भी संकेत किया है, जिसका अनुसरण करके हम अविद्यासे छूट सकते हैं और फलतः आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करके 'अहम्' तथा 'इदम्' इत्यादिकी भ्रान्त धारणासे सर्वदाके लिये मुक्त हो सकते हैं।

सोनेके अँगूठीके रूपमें ढाले जानेकी भाँति किसी वस्तुका आकार धारण करना उसका एक उपाधिसे उपहित होना है, इसलिये श्रीशंकराचार्य परमात्मा अथवा आत्माको उसकी नाना अभिव्यक्तियोंसे अधिक महत्त्व देते हैं। हम उनको 'अनात्म-श्रीविगर्हण प्रकरणमें' इस प्रकारकी घोषणा करते हुए पाते हैं—

> धातुर्लोकः साधितो वा ततः किं
>
> विष्णोर्लोको वीक्षितो वा ततः किम्।
>
> शम्भोर्लोकः शासितो वा ततः किं
>
> येन स्वात्मा नैव साक्षात्कृतोऽभूत्॥

'जिसने अपने आत्माका साक्षात्कार नहीं किया, उसने ब्रह्मलोक भी प्राप्त कर लिया तो क्या हुआ, उसे वैकुण्ठका दर्शन मिल गया तो क्या हुआ। उसका कैलासपर प्रभुत्व जम गया तो क्या हुआ।'

परमात्मा अर्थात् आत्माके साक्षात्कारके लिये आवश्यक गुणोंमें श्रीशंकराचार्य भक्तिको प्रथम स्थान देते हैं। किंतु उनकी भक्ति एक निराले ढंगकी है। वे हमारी बुद्धियोंको पहचानते हैं और भक्तिके विभिन्न स्तरोंका विवेचन करते हैं—साधककी भक्तिका स्तर तथा सिद्धकी भक्तिका अलग। उनके मतानुसार भक्तिके बिना आत्मसाक्षात्कार असम्भव है। विवेकचूडामणिमें वे कहते हैं—

> मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।

'मोक्षप्राप्तिके साधनोंमें भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ है।'

वे इसको कितना महत्त्व देते हैं, यह बात 'एव' शब्दके प्रयोगसे विदित हो जाती है। पुनः 'सर्ववेदान्तसिद्धान्तसार-संग्रह' में वे लिखते हैं—

> यस्य प्रसादेन विमुक्तसङ्गाः
>
> शुकादयः संसृतिबन्धमुक्ताः।
>
> तस्य प्रसादो बहुजन्मलभ्यो
>
> भक्त्येकगम्यो भवमुक्तिहेतुः॥

'भव-बन्धनसे छुड़ानेवाली वस्तु उनकी कृपा है, जो अनेक जन्मोंके साधनके बाद एकमात्र भक्तिके द्वारा प्राप्त होती है। उनकी इसी कृपासे शुकदेवादि अनासक्त होकर भवबन्धनसे मुक्त हो सके हैं।'

'भक्त्येकगम्यः' पद इस बातपर जोर देता है कि केवल भक्ति ही मुक्तिका वास्तविक कारण है। वे 'प्रबोधसुधाकर' में भी कहते हैं—

> शुद्ध्यति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोजभक्तिमृते।
>
> वसनमिव क्षारोदैर्भक्त्या प्रक्षाल्यते चेतः॥

'श्रीकृष्णके चरण-कमलोंकी भक्ति किये बिना अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता। जैसे गंदा कपड़ा खारके जलसे साफ किया जाता है, उसी प्रकार चित्तके मलको धोनेके लिये भक्ति ही साधन है।'

ऊपर केवल थोड़े-से उद्धरण दिये गये हैं, जो इस बातको समझाते हैं कि श्रीशंकराचार्य भक्तिको कितना स्थान देते हैं।

आत्मसाक्षात्कार ही जीवनका असली ध्येय है। अतः श्रीशंकराचार्यके मतसे सर्वोत्कृष्ट भक्ति वही है, जो आत्मा एवं परमात्माको अभिन्न मानकर की जाती है। विवेकचूडामणिमें भक्तिकी परिभाषा वे इस प्रकार करते हैं—

> स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते।
>
> स्वात्मतत्त्वानुसन्धानं भक्तिरित्यपरे जगुः॥

'अपने वास्तविक स्वरूपका अनुसंधान ही भक्ति कहलाती है। कोई-कोई आत्मतत्त्वके अनुसंधानको ही भक्ति कहते हैं।'

ये परिभाषाएँ उनके लिये उपयुक्त हो सकती हैं, जो ऊँचे उठे हुए पुरुष हैं, संन्यासी हैं या संसारके सम्बन्धोंको तोड़कर या तोड़नेकी चेष्टामें रत रहकर निरन्तर आत्मविचारमें संलग्न रहते हैं अथवा संसारके बन्धनोंके तोड़नेके प्रयासमें लगे हुए हैं। किंतु श्रीशंकराचार्य भक्तिके अन्य स्तरोंको भी स्वीकार करते हैं। इसीलिये 'शिवानन्दलहरी'में भक्तिकी दूसरे ढंगसे परिभाषा करते हुए उसे भगवान्‌के प्रति एक मानसिक वृत्ति किंवा क्रिया बतलाते हैं—

अङ्कोलं निजबीजसन्ततिरयस्कान्तोपलं सूचिका
साध्वी नैजविभुं लता क्षितिरुहं सिन्धुः सरिद्वल्लभम्।
प्राप्नोतीह यथा तथा पशुपतेः पादारविन्दद्वयं
चेतोवृत्तिरुपेत्य तिष्ठति सदा सा भक्तिरित्युच्यते॥

"जैसे अङ्कोल वृक्षके बीज मूलवृक्षसे, सुई चुम्बकसे, पतिव्रता अपने पतिसे, लता वृक्षसे, नदी सागरसे जा मिलती है, उसी प्रकार जब चित्तवृत्तियाँ भगवान्‌के चरण-कमलोंको प्राप्तकर उनमें सदाके लिये स्थिर हो जाती हैं, तब उसे 'भक्ति' कहते हैं।"

अतएव भगवान्‌के प्रति चित्तकी एक विशेष प्रकारकी वृत्तिका नाम ही भक्ति है और उपर्युक्त परिभाषामें आचार्यने जो पाँच उदाहरण दिये हैं, वे भक्तिके विभिन्न स्तरोंके द्योतक हैं, जिनका पर्यवसान नदी और सागरकी भाँति दोनोंके पूर्ण मिलनमें ही है। अन्तिम स्तरपर व्यक्तिगत सत्ता चरम सत्तामें विलीन हो जाती है।

श्रीशंकराचार्यकी दृष्टिमें विश्वमें केवल एक ही सत्य वस्तु है और वह है ब्रह्म। समस्त देवता उन्हींकी अभिव्यक्तियाँ हैं। श्रीशंकराचार्यने स्तोत्रोंके रूपमें अनेक उत्कृष्ट पद्यसमूहोंकी रचना करके भक्ति-साहित्यको समृद्ध बनाया है—उनमेंसे कुछ स्तोत्र भावमयी उक्तियोंकी दृष्टिसे श्रेष्ठ हैं तो कुछ शुद्ध बौद्धिक भक्तिकी दृष्टिसे। प्रथम प्रकारके स्तोत्रोंके सर्वश्रेष्ठ उदाहरणोंमें 'शिवानन्दलहरी' एवं 'सौन्दर्यलहरी'के नाम लिये जा सकते हैं तथा दूसरे प्रकारके उदाहरणोंमें 'हरिमीडे' और 'दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र' का। प्रायः जितने भी देवताओंको हमलोग सामान्यतया जानते हैं, उन सबका ध्यान तथा उनकी प्रार्थना उन्होंने की है—यहाँतक कि गङ्गा और यमुना आदि नदियोंको भी उन्होंने तीव्र भक्ति-भावसे पुकारा है। किंतु एक बात जो इन सब स्तोत्रोंमें पायी जाती है वह एकदम स्पष्ट है। जैसा पहले कहा जा चुका है, जिस किसी भी देवताको ले लीजिये, श्रीशंकराचार्यने उनको परमपुरुष, परमात्माकी ही अभिव्यक्ति माना है और इसीलिये हम उनको नाम तथा रूपकी अपेक्षा तत्त्वपर अधिक ध्यान देते हुए पाते हैं। चाहे शिव, विष्णु, अम्बिका, गणेश या कोई अन्य देवता हों, हम देखते हैं, उनकी प्रार्थनाका लक्ष्य है—सर्वव्यापी आत्मतत्त्व। गणेशभुजङ्गप्रयातस्तोत्रमें हमें निम्नलिखित अर्थपूर्ण पद मिलता है—

यमेकाक्षरं निर्मलं निर्विकल्पं
गुणातीतमानन्दमाकारशून्यम्।
परं पारमोंकारमाम्नायगर्भं
वदन्ति प्रगल्भं पुराणं तमीडे॥

'जिनको लोग एक, अक्षर, निर्मल, निर्विकल्प, गुणातीत, निराकार, आनन्द, परमपुरुष, प्रणव और वेदगर्भ कहते हैं, उन प्रबुद्ध एवं पुराणपुरुषकी मैं अभ्यर्थना करता हूँ।'

देवीकी प्रार्थना करते समय वे कहते हैं—

शरीरे धनेऽपत्यवर्गे कलत्रे
विरक्तस्य सद्देशिकादिष्टबुद्धेः।
यदाकस्मिकं ज्योतिरानन्दरूपं
समाधौ भवेत्तत्त्वमस्यम्ब सत्यम्॥

'मा! तुम वही सत्य हो, जिसका ज्ञान एवं आनन्दके रूपमें सद्गुरुके उपदेशसे निर्मल हुई बुद्धिवाला कोई भाग्यवान् पुरुष शरीर, धन, पुत्र एवं कलत्रसे विरक्त होकर समाधिमें दर्शन करता है।'

विभिन्न देवताओंके प्रति श्रीशंकराचार्यकी उपर्युक्त भावनाके अनुसार, चाहे जिस देवताकी वे प्रार्थना कर रहे हों, वह है सर्वोपरि सत्ता; क्योंकि उन-उन रूपोंमें उनकी प्रार्थनाके लक्ष्य परमात्मा ही हैं। अतः देवताके नाम और रूपके दृष्टिकोणको गौणता प्रदान करनेके लिये अन्य देवताओंको उस अवसरके लिये गौण स्थान दे दिया जाता है। उसका यह अर्थ नहीं है कि अन्य देवताओंको उन्होंने किसी भी प्रकारसे हीन माना हो। देखिये शिवानन्दलहरीमें श्रीशंकराचार्य परमपुरुषको किस प्रकार सम्बोधित करते हैं—

सहस्रं वर्तन्ते जगति विबुधाः क्षुद्रफलदा
न मन्ये स्वप्ने वा तदनुसरणं तत्कृतफलम्।
हरिब्रह्मादीनामपि निकटभाजामसुलभं
चिरं याचे शम्भो शिव तव पदाम्भोजभजनम्॥

'संसारमें क्षुद्र फल देनेवाले सहस्रों देवता हैं। मैं

स्वप्नमें भी उनकी अथवा उनके दिये हुए फलोंकी परवा नहीं करता। परंतु निकट रहनेवाले विष्णु और ब्रह्मादिके लिये भी दुर्लभ आपके चरणकमलोंकी भक्तिको दे शिव! शम्भो! मैं आपसे सदा माँगता हूँ।'

त्रिपुरसुन्दरी-मानसपूजा-स्तोत्रमें वे पुनः कहते हैं—

> एषा पादतले पतत्यमरसी विष्णुर्नमत्यग्रतः
> शम्भुर्देहि दृगञ्चलं सुरपतिं दूरस्थमालोकय।
> इत्येवं परिचारिकाभिरुदिते सम्मानना कुर्वती
> दृग्भङ्गेन यथोचितं भगवती भूयाद्विभूत्यै मम॥

'ये ब्रह्मा आपके चरणोंपर गिर रहे हैं, आगे विष्णु नमस्कार कर रहे हैं; यहाँ शम्भु हैं, उन्हें अपने कटाक्षसे कृतार्थ कीजिये; दूर खड़े हुए इन्द्रपर भी दृष्टिपात कीजिये—परिचारिकाओंसे इस प्रकार सुनकर सबको यथोचित सम्मान देती हुई भगवती मेरा कल्याण करें।'

परमात्मा सभी नाम-रूपोंके ऊपर तथा मन और इन्द्रियोंसे परे हैं, अतएव श्रीशंकराचार्य देवताके बाह्य नाम-रूपकी अपेक्षा हमारी भक्ति अथवा चित्तवृत्तिको अधिक प्रधानता देते हैं। भक्तिका पर्यवसान साक्षात्कारमें होता है और भक्तिकी ही हमें साधना करनी है। इसलिये श्रीशंकराचार्य मनुष्यके हृदयको भगवान्‌का मन्दिर तथा भगवत्साक्षात्कारका स्थान माननेपर अधिक जोर देते हैं। उन्हें खोजनेके लिये बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं है। उदाहरणके लिये वे श्रीकृष्णाष्टकमें कहते हैं—

> असुनायम्यादौ यमनियममुख्यैः सुकरणै-
> र्निरुद्धयेदं चित्तं हृदि विलयमानीय सकलम्।
> यमीड्यं पश्यन्ति प्रवरमतयो मायिनमसौ
> शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः॥

'यम-नियम आदि श्रेष्ठ साधनोंके द्वारा पहले प्राणोंका निरोध करके तथा चित्तको वशमें करके एवं सब कुछ हृदयमें विलीन करके श्रेष्ठ बुद्धिवाले लोग जिन वन्दनीय, मायापति, शरणद एवं लोकोंके स्वामी भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करते हैं, मेरी आँखें बस, उन्हींको देखा करें।'

अतएव उनके श्रीकृष्ण केवल द्वापरयुगमें अवतार लेनेवाले श्रीकृष्ण ही नहीं हैं, वरं वे भगवान् हैं जिनको योग-के द्वारा हृदयदरीमें खोजना पड़ता है।

श्रीशंकराचार्यकी भक्ति केवल भावुकताके ढंगकी नहीं है, जो मिथ्या विश्वाससे प्रेरित अथवा निरी स्वार्थमूलक होती है। उनकी भक्ति ज्ञानके द्वारा परिमार्जित एवं सुसंस्कृत है। [illegible] एक प्रकारकी सूक्ष्म मानसिक वृत्ति है, [illegible] दिशामें सतत प्रयत्न करनेके बाद भगवान्‌की [illegible] है। हठपूर्वक इसे पैदा नहीं किया जा सकता, [illegible] हठ करनेसे कोई प्रेमी नहीं बन सकता। भक्तिका [illegible] उचित प्रणालीद्वारा पोषण करना होता है। [illegible] तथा जन्म होता है जिसका नियन्त्रण करनेवाली [illegible] भगवान्‌की सत्तापर अनन्य तथा अतर्क्य [illegible] शंकराचार्यके अनुसार जगत्‌से असम्पृक्त तथा [illegible] भी भगवान् विश्वके धारक एवं नियन्ता हैं। [illegible] आधार है, जिसपर श्रीशंकराचार्य भक्तिका [illegible] करनेका आग्रह करते हैं। जो सच्चा भक्त बनना [illegible] उसे इस बातका सदा याद रखना चाहिये कि [illegible] नियन्त्रणमें रखते हैं तथा विश्वको सुचारुरूपसे चलाने [illegible] उन्होंने नियम बना रखे हैं। ऐसे ईश्वरकी [illegible] उपस्थितिका पहले अनुभव होने लगना चाहिये। [illegible] उनके यथार्थ लक्षणोंके सम्बन्धमें उसकी धारणा [illegible] अनिश्चित हो। 'प्रबोधसुधाकर' में श्रीशंकराचार्य भी [illegible] विषयमें विस्तारसे विचार करते हैं। वे भक्तिको दो [illegible] विभाजित करते हैं—

> स्थूला सूक्ष्मा चेति द्वेधा हरिभक्तिरुद्दिष्टा।
> प्रारम्भे स्थूला स्यात् सूक्ष्मा तस्याः सकाशात्॥

'भक्ति स्थूल और सूक्ष्म—दो प्रकारकी कही गयी [illegible] पहले स्थूल भक्ति होती है और फिर उसीसे [illegible] भक्तिका उदय होता है।'

ईश्वर एवं उनकी सत्ताके विषयमें हमारी धारणा [illegible] अस्पष्ट हो सकती है। सूर्य एक रोशनीका देवता है, [illegible] किसी भेदभावके सर्वत्र एवं सभी प्राणियोंपर अपना [illegible] बिखेरता है; किंतु यदि कोई अंधा व्यक्ति और [illegible] नीचे खड़ा हो, तब भी उसका अन्धत्व सूर्यकी [illegible] प्राप्त होनेमें उसके लिये बाधक होगा। सूर्यको देखनेके [illegible] उसे अपने अन्धत्वसे मुक्ति पानी होगी तथा [illegible] चिकित्सकमें विश्वास रखकर उसके आदेशोंका [illegible] यदि हम ईश्वरकी सत्तामें तथा उनके द्वारा प्रवर्तित [illegible] विश्वास रखनेका दम भरते हैं, पर यदि हम उनके [illegible] पालन नहीं करते तो हमारा भक्त कहलाना केवल दम्भ है। [illegible] श्रीशंकराचार्यके मतानुसार सच्चा भक्त बननेके लिये जो [illegible] है, उनमें पहली बात है—ईश्वरके निस्सीम निर्विकार [illegible]

स्वप्नमें भी उनकी अथवा उनके दिये हुए फलोंकी परवा नहीं करता। परंतु निकट रहनेवाले विष्णु और ब्रह्मादिके लिये भी दुर्लभ आपके चरणकमलोंकी भक्तिको हे शिव! शम्भो! मैं आपसे सदा माँगता हूँ।'

त्रिपुरसुन्दरी-मानसपूजा-स्तोत्रमें वे पुनः कहते हैं—

> एषा पादतले पतत्यपमसौ विष्णुर्नमस्यग्रतः
> शम्भुर्देहि दृगञ्चलं सुरपतिं दूरस्थमालोकय।
> इत्येवं परिचारिकाभिरुदिते सम्मानना कुर्वती
> दृग्भङ्ग्या यथोचितं भगवती भूयाद्विभूत्यै मम॥

'ये ब्रह्मा आपके चरणोंपर गिर रहे हैं, आगे विष्णु नमस्कार कर रहे हैं। यहाँ शम्भु हैं, उन्हें अपने कटाक्षसे कृतार्थ कीजिये; दूर खड़े हुए इन्द्रपर भी दृष्टिपात कीजिये—परिचारिकाओंसे इस प्रकार सुनकर सबको यथोचित सम्मान देती हुई भगवती मेरा कल्याण करें।'

परमात्मा सभी नाम-रूपोंके ऊपर तथा मन और इन्द्रियोंसे परे हैं, अतएव श्रीशंकराचार्य देवताके बाह्य नाम-रूपकी अपेक्षा हमारी भक्ति अथवा चित्तवृत्तिको अधिक प्रधानता देते हैं। भक्तिका पर्यवसान साक्षात्कारमें होता है और भक्तिकी ही इसमें साधना करनी है। इसलिये श्रीशंकराचार्य मनुष्यके हृदयको भगवान्का मन्दिर तथा भगवत्साक्षात्कारका स्थान माननेपर अधिक जोर देते हैं। उन्हें खोजनेके लिये बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं है। उदाहरणके लिये वे श्रीकृष्णाष्टकमें कहते हैं—

> असूनायम्यादौ यमनियममुख्यैः सुकरणै-
> र्निरुध्येदं चित्तं हृदि विलयमानीय सकलम्।
> यमीड्यं पश्यन्ति प्रवरमतयो मायिनमसौ
> शरण्यो लोकेशो मम भवतु कृष्णोऽक्षिविषयः॥

'यम-नियम आदि श्रेष्ठ साधनोंके द्वारा पहले प्राणोंका निरोध करके तथा चित्तको वशमें करके एवं उस सबको हृदयमें विलीन करके श्रेष्ठ बुद्धिवाले लोग जिन वन्दनीय, मायापति, शरणद एवं लोकोंके स्वामी भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करते हैं, मेरी आँखें बस, उन्हींको देखा करें।'

अतएव उनके श्रीकृष्ण केवल द्वापरयुगमें अवतार लेनेवाले श्रीकृष्ण ही नहीं हैं, वरं वे भगवान् हैं जिनको योग-के द्वारा हृदयदरीमें खोजना पड़ता है।

श्रीशंकराचार्यकी भक्ति केवल भावुकताके ढंगकी नहीं है, जो मिथ्या विश्वाससे प्रेरित अथवा निरी स्वार्थमूलक होती है। उनकी भक्ति ज्ञानके द्वारा परिमार्जित एवं सुसंस्कृत है। ... एक प्रकारकी सहज मानसिक वृत्ति है, जो ... दिशामें सतत प्रयत्न करनेके बाद भगवान्की दयासे प्राप्त हो... है। हठपूर्वक इसे पैदा नहीं किया जा सकता, क्योंकि ... हठ करनेसे कोई प्रेमी नहीं बन सकता। भक्तिका ... उचित प्रणालीद्वारा पोषण करना होता है। ... तथा जन्म होता है जिसका नियन्त्रण करनेवाली ... भगवान्की सत्तापर अनन्य तथा अखण्ड विश्वास ... शंकराचार्यके अनुसार जगत्से असम्पृक्त तथा निर्लेप ... भी भगवान् विश्वके धारक एवं नियन्ता हैं। यही ... आधार है, जिसपर श्रीशंकराचार्य भक्तिका ... करनेका आग्रह करते हैं। जो सच्चा भक्त बनना चाहे ... उसे इस बातका सदा ध्यान रखना चाहिये कि ... नियन्त्रणमें रखते हैं तथा विश्वको सुचारुरूपसे ... उन्होंने नियम बना रखे हैं। ऐसे ईश्वरकी ... उपस्थितिका पहले अनुभव होने लगना चाहिये और ... उनके यथार्थ लक्षणोंके सम्बन्धमें उनकी धारणा अस्प... अनिश्चित हो। 'प्रबोधसुधाकर' में श्रीशंकराचार्य भ... विषयमें विस्तारसे विचार करते हैं। वे भक्तिको दो ... विभाजित करते हैं—

> स्थूला सूक्ष्मा चेति द्वेधा हरिभक्तिरुद्दिष्टा।
> प्रारम्भे स्थूला स्यात् सूक्ष्मा तस्याः सकाशात्तु॥

'भक्ति स्थूल और सूक्ष्म—दो प्रकारकी कही ग... पहले स्थूल भक्ति होती है और फिर उसीसे बादमें सू... भक्तिका उदय होता है।'

ईश्वर एवं उनकी सत्ताके विषयमें हमारी धारणा ... अस्पष्ट हो सकती है। सूर्य एक ऐसेमहर देवता है, जो ... किसी भेदभावके सर्वत्र एवं सभी प्राणियोंपर प्रकाश ... बिखेरता है; किंतु यदि कोई अंधा व्यक्ति धूप ... नीचे खड़ा हो, तब भी उसका अन्धत्व सूर्यकी प्रकाश ... प्राप्त होनेमें उसके लिये बाधक होगा। एक रोगीको ... उसे अपने अन्धत्वसे मुक्ति पानी होगी तथा किसी ... चिकित्सकमें विश्वास रखकर उसके आदेशोंका पालन ... यदि हम ईश्वरकी सत्तामें तथा उनके द्वारा प्रचलित नि... विश्वास रखनेका दम भरते हैं, पर यदि हम उनके नि... पालन नहीं करते तो हमारा भक्त कहलाना केवल दम्भ है। ... श्रीशंकराचार्यके मतानुसार सच्चा भक्त बननेके लिये जो आव... है, उसमें पहली बात है—ईश्वरके नियमोंका निर्विवाद ...

एक दूसरे प्रसङ्गमें श्रीशंकराचार्य उच्चतम शिखरपर पहुँचनेके पूर्व मानसिक विकासकी सीढ़ियोंका वर्णन करते हैं और सच्ची भक्तिका उदय होनेसे पूर्व विनय एवं अपने मन इत्यादिके सम्पूर्ण समर्पणका होना आवश्यक बताते हैं।

षट्पदीमें वे कहते हैं—

अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम्।
भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः॥

'हे विष्णुभगवान्! मेरी उद्दण्डता दूर कीजिये। मेरे मनका दमन कीजिये और विषयोंकी मृगतृष्णाको शान्त कर दीजिये, प्राणियोंके प्रति मेरा दयाभाव बढ़ाइये और इस संसार-समुद्रसे मुझे पार लगाइये।'

यहाँ उन सोपानोंका वर्णन है, जिनके द्वारा मन धीरे-धीरे पूर्णताकी ओर अग्रसर होता है। देव्यपराधस्तोत्रमें देवीके प्रति अपना सम्पूर्ण समर्पण वे बड़े भावपूर्ण शब्दोंमें इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

यत्रैव यत्रैव मनो मदीयं
तत्रैव तत्रैव तव स्वरूपम्।
यत्रैव यत्रैव शिरो मदीयं
तत्रैव तत्रैव पदद्वयं ते॥

'माँ! जहाँ-जहाँ मेरा मन जाय, वहीं-वहीं तुम्हारी स्थिति रहे और जहाँ-जहाँ मेरा सिर झुके, वहाँ-वहाँ तुम्हारे चरण-युगल रहें।'

इसके पश्चात् श्रीशंकराचार्य उस व्यक्तिकी भक्तिका वर्णन करते हैं, जिसने भगवान्‌की सत्ताका, उनके साथ एकात्मताका अनुभव करना आरम्भ कर दिया है।

केनापि गीयमाने हरिगीते वेणुनादे वा।
आनन्दाविर्भावो युगपत् स्यात् सात्त्विकोद्रेकः॥
तस्मिन्ननुभवति मनः प्रगृह्यमाणं परात्मसुखम्।
स्थिरतां याते तस्मिन्नपि मत्तेभत्वदन्तिदशाम्॥

'कोई भगवत्सम्बन्धी गीतका गान करे अथवा बाँसुरी बजाये तो (उसके सुनते ही) आनन्दके आविर्भावसे एक साथ ही सर्व सात्त्विक भावोंका उद्रेक हो जाय। उस दशामें पैदा हुआ मन परमात्मसुखका अनुभव करता है और जब चित्त स्थिर हो जाता है, तब उसकी अवस्था मतवाले हाथीके समान हो जाती है।'

श्रीमद्भागवतमें वर्णित कृष्णकी तथा श्रीशुकदेवकी भक्तिकी इस अवस्थाके उदाहरण हैं।

फिर श्रीशंकराचार्यजी उच्चतम शिखरपर पहुँचे हुए उस सच्चे भक्तका वर्णन करते हैं जिसने भगवत्साक्षात्कार प्राप्त कर लिया है, जिसके लिये संसार भगवान्‌के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया है और जो सभी भूतोंमें केवल अपने आत्माको ही देखता है तथा जिसे भगवान्‌से किसीका भी एवं स्वयं अपने आत्माके साथ एकत्वका पूर्ण ज्ञान हो गया है। श्रीशंकराचार्य उसका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

बन्धुषु भगवद्भावं भगवति भूतानि पश्यति क्रमशः।
एतादृशी दशा चेत् तदैव हरिदाससर्वथः स्यात्॥

'क्रमशः वह समस्त प्राणियोंमें भगवान्‌को और भगवान्‌में समस्त प्राणियोंको देखने लगता है। जब ऐसी अवस्था हो जाय, तब उसे भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ समझना चाहिये।'

यद्यपि श्रीशंकराचार्यके मतानुसार आत्मज्ञान प्राप्त होनेपर, जैसे नमकका पुतला पानीमें डाला हुआ घोल-मेल हो जाता है, उसी प्रकार जीव शिवके साथ मिल जाता है तथा उसका व्यष्टिभाव जो कल्पित था, नष्ट हो जाता है, फिर भी जबतक इस प्रकार पूर्णरूपसे एकत्व न हो जाय, तबतक वे भगवान् एवं जीवको पृथक् बताते हैं। जीव और शिव जब मिलकर एक हो जाते हैं, तब भगवद्भक्ति श्रीशंकरके मतसे साधककी भक्तिसे कुछ भिन्न होती है। शिव सर्वदा प्रभु और पूर्ण हैं एवं जीव सिर्फ उनका एक सेवक—एक अंश है। मोटे रूपमें कहें तो ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीशंकर विकासकी तीन भूमिकाएँ स्वीकार करते हैं—

'तस्यैवाहम्', 'ममैवासौ' तथा 'स एवाहम्'।

पहली भूमिका यह है जहाँ भक्त मानता है कि वह प्रभुका सेवकमात्र है तथा प्रभु-आज्ञा-पालन मात्र ही उसका कर्तव्य है। यहाँ भक्त प्रभुसे कोई ऊँचा स्थान ओढ़नेका दावा नहीं कर सकता। वह इस प्रकार कहता है—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

'हे नाथ! मुझमें और आपमें भेद न होनेपर भी मैं ही आपका हूँ, आप मेरे नहीं; क्योंकि तरङ्ग ही समुद्रकी होती है, तरङ्गका समुद्र कहीं नहीं होता।'

जब कोई सेवक अपनी दीर्घकालीन, सच्ची एवं भक्तिपूर्ण सेवाद्वारा स्वामीसे अधिकाधिक घनिष्ठ होता जाता है

तब वह स्वामीके प्रति भी एक प्रकारकी आसक्ति एवं अभिमानकी भावनाको व्यक्त करने लगता है और वह अनुभव करने लगता है कि स्वामी उसीके स्वामी हैं। वह स्वामीके आदेशोंकी रूप-रेखाके निर्माणका उत्तरदायित्व भी अपने ऊपर ले लेता है। वह उनके साथ स्वतन्त्रता बरतने लगता है और स्वामी भी उसे इसके लिये छूट दे देता है। कभी-कभी तो वह स्वामीको यह आदेश देता देखा जाता है कि उन्हें उसे कौन-सी आज्ञा देनी चाहिये। भक्तके इसी रूपमें श्रीशंकराचार्यने भगवती लक्ष्मीको रात्री ही नहीं किया वरं बाध्य कर दिया एक दरिद्र गृहस्थके घरपर स्वर्णामलक-फलोंके रूपमें अपनी दयाकी वर्षा करनेके लिये। 'ममैवासौ' इसी भूमिकाका वाचक है। अनेक संतोंकी जीवन-कथाओं तथा कृतियोंसे भारतवर्षका इतिहास भरा पड़ा है। बहुत बार उनकी क्रियाओंका हमारी बुद्धि अथवा दृष्टिकोणके द्वारा समाधान नहीं हो सकता है। वे प्रायः इसी श्रेणीके संत होते हैं और भगवान्‌के साथ उनका परिचयाधिक्य उन्हें कभी-कभी परम स्वतन्त्र बना देता है। किंतु उनके उदाहरण-को सामने रखकर हमलोगोंको, जिनके अंदर अभी भक्तिका बीज बोना और उसे उगाना है, अपनेको इस योग्य नहीं मान लेना चाहिये कि जीवनके सामान्य नियमोंकी अवहेलना करके हम उनके असाधारण व्यवहारोंकी नकल करने लगें। बृहदारण्यक उपनिषद्‌के अपने भाष्यमें उपसंहारमें श्रीशंकराचार्यजीने हमें ऐसी दुर्बलताके विरुद्ध चेतावनी दी है।

भक्तिकी अन्तिम भूमिकाका वर्णन 'स एवाहम्'—'वही मैं हूँ।' इस वाक्यमें हुआ है। जहाँ जीव एवं शिवका पूर्ण एकीकरण हो गया है। इस अवस्थामें उदय होने-वाले आनन्दका शब्दोंद्वारा वर्णन सम्भव नहीं है। यह एक आन्तरिक अनुभूति है, जो स्वसंवेद्य है। इस प्रकारका आनन्द ही सबसे उच्चकोटिकी भक्ति है। यह ज्ञानसे कोई पृथक् वस्तु नहीं है। जब किसी सती-साध्वी प्रियतमासे भीड़में अपने पतिका निर्देश करनेको कहा जाता है, तब वह 'नहीं' कहती रहती है; किंतु अन्तमें जब उसे अपने पतिके सामने लाकर खड़ा कर दिया जाता है, तब वह हाँ-ना कुछ नहीं कहती, वरं मौन हो जाती है। यह मौनावलम्बन उसके द्वारा पतिके पहचान अथवा ज्ञान लिये जाने तथा उसके आनन्द दोनोंका व्यञ्जक है। ज्ञानीकी भक्तिका यही स्वरूप है; क्योंकि यह भिन्न नहीं है उन भगवान्‌से, जो अपने भक्तोंका वर्गीकरण करते समय कहते हैं—ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् अर्थात् मैं ज्ञानीको अपना स्वरूप ही मानता हूँ।

यह आनन्द वाणीके परे है। इस बातको श्रीशंकराचार्यजी इस प्रकार कहते हैं—

> घृतक्षीरद्राक्षामधुमधुरिमा कैरपि पदै-
> र्विशिष्याख्येयो भवति रसनामात्रविषयः।
> तथा ते सौन्दर्यं परमशिवदृङ्मात्रविषयः
> कथंकारं ब्रूमः सकलनिगमागोचरगुणे ॥

'घी, दूध, दाख तथा मधुकी मिठासका सविशेष वर्णन शब्दोंद्वारा नहीं किया जा सकता। उसको तो केवल जिह्वा ही जान सकती है। इसी प्रकार देवि! आपके परम सौन्दर्यका आस्वादन केवल आपके पति भगवान् शंकरके नेत्र ही कर सकते हैं। फिर भला, मैं कैसे उसका वर्णन कर सकता हूँ, जब कि आपके गुण सम्पूर्ण वेदोंके लिये भी अगम्य हैं।'

ऐसा होता है भगवत्प्राप्त पुरुषका, सच्चे भक्तका आनन्द। हमलोगोंमेंसे प्रत्येकको अपने-अपने मनको टटोल लेना चाहिये और फिर सच्चा भक्त बनना ही अपने वर्तमान तथा भावी जीवनका उद्देश्य मानकर अपनी मुक्तिके लिये प्रयत्न-शील एवं सच्चा भक्त बन जाना चाहिये। भगवान् इस काममें हमारी सहायता करें।

भगवत्प्रेमीका क्षणभरका संग भी मोक्षसे बढ़कर है

प्रचेतागण कहते हैं—

> तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्। भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥
> (श्रीमद्भा० ४। ३०। ३४)

'हम तो भगवत्प्रेमीके क्षणभरके सङ्गके सामने स्वर्ग और मोक्षको भी कुछ नहीं समझते; फिर मानवी भोगोंकी तो बात ही क्या है।'

महर्षि वाल्मीकिकी भक्ति

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

रामेति परिकृमन्तमात्मन्ं कवितालताम् । भक्ताते मोदपम्तं तं वाल्मीकिं को न वन्दते ॥

भगवद्धाम आपकोंमें महर्षि वाल्मीकिका नाम अद्वितीय है। उनके सम्बन्धमें यह प्रसिद्ध है कि वे पहले रत्नाकर नामके डाकू थे और प्रतिलोमक्रमसे श्रीराम-नामका जप करके ब्रह्माजीके समान पूज्य बन गये—

उलटा नामु जपत जगु जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥ (मानस)

जान आदिकबि तुलसी नाम प्रभाउ।
उलटा जपत कोल ते भए ऋषिराउ॥
(बरवै-रामायण)

भगवद्यशःकीर्तनमें ये अद्वितीय हैं। सौ करोड़ श्लोकोंमें भगवान् श्रीरामके यशका इन्होंने विस्तारपूर्वक गान किया। योगवासिष्ठ-महारामायण, वाल्मीकि-रामायण, आनन्दरामायण, अद्भुतरामायण आदि उनकी रचनाओंके संक्षेप हैं। ये सभी देवताओंके उपासक थे। श्रीअप्पय्यदीक्षितने रामायण-सार-संग्रहमें सिद्ध किया है कि श्रीरामायणमें सर्वत्र भगवान् शंकरके परत्वकी ही ध्वनि सुनायी देती है। स्कन्दपुराणमें इनके द्वारा कुशस्थलीमें वाल्मीकेश्वर शिवकी स्थापनाकी भी बात आयी है।

वाल्मीकि-रामायणके युद्धकाण्डमें श्रीब्रह्माद्वारा कृत श्री-रामस्तुतिमें इनकी गूढ़ भक्ति प्रस्फुटित होती है। वहाँ ये कहते हैं—'अग्नि आपका क्रोध तथा श्रीवत्सलक्ष्मांक चन्द्रमा आपकी प्रसन्नताका स्वरूप है। पहले वामनावतारमें आपने अपने पराक्रमसे तीनों लोकोंका उल्लङ्घन किया था। आपने ही दुर्धर्ष बलिको बाँधकर इन्द्रको राजा बनाया था। भगवती सीता लक्ष्मी तथा आप प्रजापति विष्णु हैं। रावणके वधके लिये ही आपने मनुष्य शरीरमें प्रवेश किया है और वह कार्य आपने सम्पन्न किया। देव! आपका बल, वीर्य तथा पराक्रम सर्वथा अमोघ है। श्रीराम! आपका दर्शन और स्तुति अमोघ हैं तथा पृथ्वीपर आपकी भक्ति करनेवाले मनुष्य भी अमोघ होंगे'—

अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः।
अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तो नरा भुवि॥

वे फिर कहते हैं—'जो पुराण-पुरुषोत्तमदेव आपकी भक्ति, उपासना करेंगे, वे इस लोक तथा परलोकमें भी अपनी समस्त काम्य वस्तुओंको प्राप्त कर लेंगे'—

ये त्वां देवं ध्रुवं भक्ताः पुराणं पुरुषोत्तमम्।
प्राप्नुवन्ति तथा कामानिह लोके परत्र च॥
(११७ । १०-३१)

श्रीमदध्यात्म-रामायण तथा आनन्दरामायणमें यह प्रसङ्ग आता है कि वनयात्रामें भगवान् श्रीराम इनके आश्रमपर पधारे और उन्होंने इनसे अपने रहनेके लिये उचित स्थानका संकेत पूछा। इसपर इन्होंने हँसकर कहा—'प्रभो! जब सम्पूर्ण प्राणियों-के आप ही एकमात्र उत्तम निवास स्थान हैं और सारे जीव आपके निवास-स्थान हैं, तब आपको उचित स्थान भला, मैं क्या बताऊँ। तथापि जब आपने पूछा है, तब सुनिये—जो शान्त, समदर्शी और राग-द्वेषसे मुक्त हैं और अहर्निश आपका भजन करते हैं, उनके हृदयमें आप विराजिये। जो आपके मन्त्रका जप करता तथा आपकी ही शरणमें रहता है, उसके हृदयमें आप सीतासहित सदा सुखपूर्वक निवास करें। जो सदा चित्त-को वशमें रखकर आपका भजन करता तथा आपके चरणोंकी सेवा करता है, आपके नाम-जपसे जिसके सब पाप नष्ट हो गये हैं, उसका हृदय आपका निवासगृह है—

पश्यन्ति ये सर्वगुहाशयस्थं
त्वां चिद्घनं सत्यमनन्तमेकम्।
अलेपकं सर्वगतं वरेण्यं
तेषां हृदब्जे सह सीतया वस॥
(अध्यात्म० अयो० २ । ६ । ६१)

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने भी अपने मानसमें इस प्रसङ्गको विस्तारसे निरूपित किया है। वे इनकी भक्तिसे बहुत प्रभावित हैं। कवितावली आदिमें उन्होंने इनके निवास-स्थानका बड़ी श्रद्धासे चित्रण किया है और उसकी महिमा गायी है। व्यासदेवने 'बृहद्धर्मपुराण'में इनकी तथा इनके रामायणकी बहुत प्रशंसा की है। कालिदास आदि कवियोंकी भी इनमें अतुल श्रद्धा थी। इनकी पवित्र भक्तिके परिणाम-स्वरूप मूर्तिमती भक्ति भगवती सीताने इनके यहाँ निवास किया। इनकी वह परिचर्या, लव-कुशका पालन-शिक्षण आदि अवाङ्मनसगोचर ही हैं।

१. स्कन्दपुराण, आवन्त्यखण्डमें इनका पूर्व नाम अग्निशर्मा आया है।

शबरीकी भक्ति

(लेखक—पण्डित श्रीजीवनशंकरजी याज्ञिक, एम्० ए०)

श्रीरामचरितमानस मुख्यतः भक्तिका ग्रन्थ है, अतएव उसमें भगवान्की लीलाके साथ अनेक भक्तोंके चरित भी वर्णित हैं। श्रीराम-वाल्मीकि-मिलन-प्रसङ्गमें प्रभुके निवासके लिये चौदह भवनोंका वर्णन ऋषियोंने किया है और उस वर्णनके व्याजसे उतने ही प्रकारके भक्तोंकी ओर संकेत किया है जो रामायणमें मिलते हैं। दर्शनके लिये किसीके लोचन लालायित हैं तो कोई गुण अघाते तृप्त नहीं होता; कोई चातक-की नाईं रूपका प्रेमी है तो कोई बाल-चरित प्रत्यक्ष करनेका लोभी। किसीने शरणागति और आत्मसमर्पणको जीवनका परम ध्येय मानकर भक्तका पद प्राप्त किया और कोई प्रभुको अपना सर्वस्व मानकर भक्त-पङ्क्तिमें आ बैठा।

गीतामें जो भक्त-श्रेणी वर्णित है, उसका अक्षरशः अनुवाद करके गोस्वामीजीने उसको स्वीकार किया है। साथ ही गीतोक्त चारों श्रेणियोंसे भी ऊपर एक भक्तको उन्होंने स्थान दिया है। वे भक्त हैं—राजा दशरथ। इनके वर्णनमें कविकी कल्पना निखर उठी है।

परंतु एक भक्त, जिसे स्वयं भगवान्के श्रीमुखसे प्रशंसा मिली, वह और भी विलक्षण है। इतना ही नहीं, प्रेमकी विवशताने उसके लिये मर्यादाका उल्लङ्घन भी मर्यादा-पुरुषोत्तमने निस्संकोच कर दिया। कहना न होगा—वह भक्त है शबरी। शबरीकी भक्तिका प्रभुपर क्या और कैसा प्रभाव पड़ा—यही इस निबन्धमें देखना है।

श्रीराम अनुजसहित सीताजीकी खोजमें जंगलमें भटक रहे हैं। परंतु वहाँ सीतानुसार विचरण करते हुए भी आप अपने भक्तोंको नहीं भूलते, उनके आश्रमोंपर स्वयं जा-जाकर दर्शन देते हैं। अवश्य ही प्रतिज्ञानुसार गाँव, नगर या किसीके घर नहीं जाते। सुग्रीव और विभीषणकी राजधानीमें इसी कारण नहीं पधारे। परंतु शबरीकी कुटियाको आश्रम-तुल्य मानकर उनके यहाँ पधारे। शबरीके न तो कोई शिष्य थे न वहाँ और कोई भक्तमण्डली ही थी और वह किसी मन्दिर आदिमें रहती हो, ऐसा भी कोई संकेत कविने वहाँ नहीं किया है। वह स्वयं अपने स्थानको 'घर' कहती है। फिर भी प्रभुके चरण वहाँ पधारे।

शबरीने दर्शन किया। पाद्य, आसन और नैवेद्यसे सत्कार किया। उसकी सेवा प्रभुने प्रसन्नतासे स्वीकार [illegible]—इतनी ही बात नहीं; बल्कि उसके दिये 'कंद मूल फल सुरस अति' [illegible] बार बखान'। महाभारतमें लिखा है कि भोजन करते [illegible] भोजनकी प्रशंसा नहीं करनी चाहिये। शास्त्रकारोंने [illegible] कुछ नहीं दिया जाता। कारण कुछ भी हो, नियम यही है [illegible] भोजन करते हुए उसकी प्रशंसा तो करनी ही नहीं, [illegible] रखना होता है। विशेषकर प्रभुके लिये तो यह [illegible] क्योंकि वे ठहरे 'काम बिरत बिगत उदासी'। जैसे [illegible] उनके लिये निषिद्ध था, वैसे ही भोजनकी प्रशंसा भी [illegible] थी। परंतु प्रभुने इस नियमका भी उल्लङ्घन किया।

इसके पश्चात् शबरीको स्तुति करनेका अवसर [illegible]। बेचारी संकोचमें पड़ गयी। कैसे स्तुति की जाती है, [illegible] जानती ही न थी। उस समय प्रभु उसके संकोचको [illegible] मन-ही-मन मानो कह रहे हैं—'अरी! तू क्या मेरी स्तुति करेगी, मैं स्वयं तेरी स्तुति करने तेरे द्वारपर आया हूँ।' ब्रह्मा, [illegible] देवता आदिने कितनी ही बार प्रभुकी स्तुति की; [illegible] किसीको कभी भी स्तुति करनेसे रोका नहीं, न [illegible] रोका। आज इस बातके विपरीत, और वह भी [illegible] आचरण हो रहा है। शबरीको स्तुति नहीं करने दी [illegible] प्रभु भक्तसे लीला करते हैं। यही चतुराईसे शबरीको [illegible] डालते हैं। जिनका वचन है—'मोहि कपट छल छिद्र न भाव' [illegible] ही आज प्रेमवश सीधी-सादी और विश्वास करनेवाली [illegible] साथ छल कर रहे हैं—जो प्रेम-राज्यमें, भक्त और भगवान् [illegible] बीच छल ही नहीं, प्रेमके उत्कर्षका एक साधन है।

शबरीसे प्रभु कहते हैं—'भामि, तू मेरी बात सुन। [illegible] तुझे उपदेश देता हूँ।' और यह आज्ञा करते हैं—'सावधान सुनु, धरु मन माहीं'। बेचारी हाथ जोड़ सुनती [illegible] रहती है। वह क्या समझे कि उपदेशका बहाना करके [illegible] प्रशंसा की जायगी। यदि उसको यह संदेह भी होता [illegible] कि प्रभु उसकी प्रशंसा करेंगे तो उसकी क्या दशा होती, [illegible] कल्पनाका विषय है। अपनी दीनताके कारण वह [illegible] ही संकोचसे ऐसी दब रही थी कि मुखसे शब्द नहीं [illegible] था। वह तो धर्म-कान सुनकर सिमटकर एक [illegible] पड़ जाती। परंतु वह तो धोखेमें आ गयी और प्रभुकी [illegible] बन गयी।

उपदेशके लिये नियम है—जो पुराणादिमें सब जगह समानरूपसे मिलता है—कि प्रश्नकर्ताको उपदेश दिया जाता है। प्रश्नसे श्रोताके अधिकारका पता चलता है। नीतिका वचन है—नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्। शबरीने तो उपदेशकी प्रार्थना की नहीं। बिना जिज्ञासाके उपदेश करना अनुचित और जो उपदेश पालनीय न हो, वह भी व्यर्थ। यहाँ दोनों ही आपत्तियाँ की जा सकती हैं। शबरीने उपदेशकी प्रार्थना नहीं की और दूसरे जो वस्तु या स्थिति प्राप्त हो चुकी, उसके लिये उपदेश व्यर्थ ही नहीं हास्योत्पादक है। जो गन्तव्य स्थानको पहुँच गया उसको मार्ग दिखाना व्यर्थ है। वही बात यहाँ भी चरितार्थ है। नवधा भक्तिका उपदेश किया जा रहा है किसको !

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥

यह व्यर्थ उपदेश है या स्तुति—उपदेशके व्याजसे स्तुति है। और एक बड़े मजेकी बात है। उपदेश तो चरितार्थ करनेके लिये दिया जाता है। पर शबरी तो अभी-अभी प्रभुके समक्ष ही योगाग्निसे अपना शरीर भस्म कर देगी। उसको अवसर कहाँ मिला ग्रहण करनेका। यदि यह कहा जाय कि उपदेश जगत्‌के लिये है, तो ठीक है; परंतु जब शबरी रहेगी ही नहीं; तब यह तो किसको सुनायेगी। इसी प्रकार एक बार फिर भक्तवत्सलतासे परवश होकर बिना जिज्ञासाके अपनी प्रजाको स्वयं आमन्त्रितकर प्रभु उपदेश देंगे। दोनों अवसरोंपर नियमभङ्गका कारण समान है।

नवधा भक्ति तो प्रसिद्ध श्लोकमें वर्णित है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(श्रीमद्भा० ७।५।२३)

परंतु शबरीको जो नवधा भक्ति बतायी गयी, वह इससे भिन्न है। सिद्धान्ततः तो कोई भेद न भी हो, परंतु अन्तर तो है ही। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि भोलीभाली शबरीने जिस क्रमसे या क्रम-भङ्गसे साधन किया, उसीका वर्णन प्रभु कर रहे हैं। मानो शबरीने ही एक भक्ति-शास्त्रकी रचना कर डाली और उसपर प्रभुने मुहर लगा दी और यह भी साथमें बता दिया कि भक्तिके राज्यमें नियम-पालनसे कहीं अधिक महत्त्व भावका है। खाँड़का खिलौना साबित भी मीठा और टूटा भी मीठा। दूसरी बात यह है कि पौराणिक भक्तिका क्रम प्रभुमें दृढ़ भक्ति प्राप्त करनेका साधन है। एक-एक सोपानसे प्रभुके प्रति प्रेम दृढ़ और अगाध होता है और भक्त प्रभुके अधिकाधिक निकट पहुँचता जाता है। अन्तमें उसकी अनन्यताके कारण वे ही उसके सर्वस्व एवं प्रेम-पात्र बन जाते हैं। गीतामें जैसे अर्जुनसे भगवान्‌ने कहा—'मामुपैष्यसि', नवधा भक्ति यहाँतक जीवको पहुँचा देगी। परंतु शबरीकी भक्ति तो ऐसी थी कि वह स्वयं प्रभुकी प्रेम-पात्र हो गयी। वहाँ तो, गीताके शब्दोंमें, यह दशा हो जाती है—मयि ते तेषु चाप्यहम्। प्रभुका प्यारा बननेका उपाय शबरीने बतलाया। और किसी भक्तको प्रभुने यह नहीं कहा—सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें। जहाँ एकसे कल्याण हो जाता हो, वहाँ पूरी नौ और वे सब-की-सब दृढ़ भक्ति।

श्रीभगवान्‌ने एक और हँसीकी बात कही। शबरीको 'करिवरगामिनी' कहकर सम्बोधित किया। वह भले ही अपनेको सर्वप्रकार हीन समझे, परंतु प्रभु तो उसमें हृदय और शरीरका सौन्दर्य देखते हैं। जिसका हृदय वास्तवमें सुन्दर होता है, उसका तन और गति भी सुन्दर होती है।

प्रेममें नियम नहीं चलता। प्रेमराज्यके नियम ही कुछ अटपट होते हैं। साधारण नियम विशेष नियमोंके सामने निस्तेज हो जाते हैं। प्रभुको जो भक्त प्रेम-पाशमें बाँध लेते हैं, वे जैसे चाहते हैं उन्हें नचा लेते हैं। शबरीके प्रेमकी बाढ़में मर्यादाकी सीमाएँ अदृश्य हो गयीं।

मनुष्यके धर्म

नारदजी कहते हैं—

श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः। सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
(श्रीमद्भा० ७।११।११)

संतोंके परम आश्रय भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुण-लीला आदिका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार, उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण (यही मनुष्योंका धर्म है)।

१— भक्तिके परमाचार्य भगवान् वेदव्यास

रामभक्तिके महान् प्रचारक महर्षि वाल्मीकि

भक्ति तथा ज्ञान

(लेखक—श्रीयुत आर्० कृष्णस्वामी ऐयर)

भक्ति एवं ज्ञान—क्या ये परस्परविरोधी हैं, अथवा एक दूसरेके पूरक हैं ? और इन दोनोंमें व्यावहारिक दृष्टि तथा सैद्धान्तिक विचारसे कौन अधिक श्रेष्ठ है ? इन तथा ऐसे अन्य प्रश्नोंको लेकर विद्वज्जन वाद-विवाद करते तथा झगड़ते देखे-सुने जाते हैं। मैं इस विषयकी तार्किक विवेचनाके लिये प्रस्तुत नहीं हूँ। मैं अपनेको भगवान् श्रीकृष्णद्वारा अपनी अमर गीतामें किये गये कतिपय सरल वक्तव्योंकी व्याख्यातक ही सीमित रखना चाहता हूँ। यह बात मैं पहले ही कह देना चाहता हूँ कि भक्ति-सम्बन्धी आधुनिक दृष्टिकोणका, जो उसे व्यक्तिगत या सामूहिक संगीत, नृत्य, पाठ इत्यादिके रूपमें मानता है, गीतामें कहीं उल्लेख नहीं है, इसलिये मैं उसके विषयमें कुछ कहना नहीं चाहता।

भगवान् कहते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
(गीता ७ । १६)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ऐसे चार प्रकारके सुकृती भक्त-जन मुझे भजते हैं।'

इससे स्पष्ट है कि भगवान् ज्ञानीको भक्तसे अलग कोई व्यक्ति नहीं मानते, पर उसे भक्तोंकी ही एक श्रेणी बताते हैं। यह दिखानेके लिये कि भक्ति एवं ज्ञान परस्परविरोधी नहीं हैं, इतना ही लिखना पर्याप्त है।

एक रोगी, जो डाक्टरके पास अपने किसी रोगकी निवृत्तिके लिये जाता है, उस डाक्टरके प्रति अत्यन्त सम्मानपूर्ण आचरण करता है और उसके निर्देशोंका पूरी तरह पालन करता है, किस लिये ? ऊपरसे देखनेपर ऐसा ज्ञात होता है कि यह आचरण डाक्टरको प्रसन्न करनेके लिये किया जा रहा है। पर क्या सचमुच ऐसा है ? या यह केवल इसलिये है कि शीघ्र-से-शीघ्र रोगसे मुक्ति प्राप्त हो ? डाक्टरके पास जाना रोगके कारण ही है; रोगीका डाक्टरके प्रति बाह्य विनीत एवं आज्ञापालनका भाव भी रोगसे मुक्ति पानेकी इच्छासे ही प्रेरित है। यदि डाक्टर दयालु है तो रोग-मुक्तिके बाद भी रोगीमें उसके प्रति कृतज्ञताकी भावना हो सकती है; किंतु यदि डाक्टर शुद्ध पेशेवर आदमी है तो कोई बन्धन हुआ भी तो उसी क्षण टूट जाता है जब रोगसे रोगीको मुक्ति मिल जाती है। जो हो, रोगीका अन्तिम लक्ष्य रोग-मुक्त होना ही होता है; उसका डाक्टरकी शरण लेना उक्त लक्ष्यकी पूर्तिका साधनमात्र है। इसी प्रकार यदि एक आर्त व्यक्ति भगवान्से उनकी कृपाके लिये प्रार्थना करता है तो वस्तुतः वह केवल अपने दुःख-मोचनके लिये ऐसा करता है। भगवत्कृपा उसके दुःख-मोचनका एक साधनमात्र है, इसीलिये वह उसकी प्रार्थना करता है। यदि उसके बिना ही वह अपने दुःखसे मुक्ति प्राप्त कर सकता होता तो वह उस कृपाके लिये प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं अनुभव करता। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान्का अवलम्बन स्वतः कोई साध्य नहीं है वरं दूसरे ही उद्देश्य अर्थात् दुःखसे छूटनेका एक साधनमात्र है।

इसी प्रकार जो सेवक निष्ठापूर्वक अपने स्वामीकी सेवा इसलिये करता है कि मासके अन्तमें उसे अपना निश्चित वेतन पूरा मिल जाय, ऊपरसे स्वामीके प्रति निष्ठावान् दीखता अवश्य है, किंतु वस्तुतः जिस वस्तुके प्रति उसकी निष्ठा या भक्ति है, वह है उसका वेतन और स्वामीकी निष्ठापूर्वक सेवा स्वामीके लिये नहीं वरं वेतनके लिये है। दूसरे शब्दोंमें स्वामी भक्तिका विषय अवश्य है, किंतु उस भक्तिका लक्ष्य है वेतन। अतः जो भक्त किसी सांसारिक लाभके लिये भगवान्का अवलम्ब लेता है, वस्तुतः उस लाभको मूल्यवान् या महत्त्वपूर्ण समझता है और भगवान्को उस लाभकी प्राप्तिका साधन बनाकर गौण कर देता है। जिज्ञासु भक्तके लिये भी यही बात है; उसके लिये ज्ञान ही अन्तिम ध्येय है और भगवान्का अवलम्ब उस ज्ञानकी प्राप्तिका साधनमात्र है। इन तीन प्रकारके भक्तोंमें श्रेणी-भेद हो सकता है, किंतु तीनोंकी प्रवृत्तिमें यह बात संनिविष्ट है कि किसी अन्य वस्तुकी प्राप्तिके लिये वे ईश्वरको साधनमात्र समझते हैं—चाहे उनका लक्ष्य दुःखसे मुक्ति या सांसारिक लाभ अथवा ज्ञान कुछ भी क्यों न हो। भगवान्ने चारों ही प्रकारके भक्तोंको 'सुकृती' कहा है, किंतु तीनको एक साथ रखकर चौथे ज्ञानीको विशेष महत्त्व प्रदान किया है। इस प्रकारके श्रेणी विभाजनका औचित्य वे यह बताकर सिद्ध करते हैं कि प्रथम तीन ईश्वरका अवलम्ब तो लेते हैं, किंतु उनका अन्तिम साध्य ईश्वर नहीं, दूसरे पदार्थ हैं, और ईश्वरके प्रति उनकी भक्ति उस उद्देश्य-

की पूर्तिके मार्गमें एक पग भर है, इसलिये उनके लिये वे उद्देश्य मुख्य एवं ईश्वर गौण है। उनके लिये ईश्वर उनका अन्तिम या सर्वोच्च साध्य नहीं है। किंतु ज्ञानीके लिये ईश्वर न केवल भक्तिका विषय है वरं सर्वोच्च साध्य या लक्ष्य भी है—

> उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
> आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥
> (गीता ७।१८)

'भगवान् कहते हैं कि अवश्य ही ये सभी उदार हैं, परंतु मेरा मत है कि ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है; क्योंकि वह स्थिरबुद्धि ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही भली प्रकार स्थित है।'

> तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
> प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
> (गीता ७।१७)

यह भक्ति जिसमें दूसरेके लिये अवकाश नहीं है, अनन्य कहलाती है। वहाँ दूसरा कुछ नहीं है, इसलिये भक्ति भगवान्‌से दूर नहीं हटती। इसीलिये उसे 'अव्यभिचारिणी' भी कहा गया है।

> पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
> (गीता ८।२२)

'हे पार्थ! वह परम पुरुष अनन्य भक्तिसे प्राप्य है।'

> भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
> (गीता ११।५४)

'हे अर्जुन! मैं अनन्य भक्तिके द्वारा इस रूपमें जाना जा सकता हूँ।'

> मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
> (गीता १४।२६)

'जो अव्यभिचारी भक्तियोगसे मेरा सेवन करता है।' निम्नलिखित श्लोकार्धमें दोनों बातें कही गयी हैं—

> मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
> (गीता १३।१०)

'बिना किसी दूसरेका विचार किये (अनन्यभावसे) मुझमें अव्यभिचारिणी भक्ति रखना।'

यही इन रूपोंमें चौथी पराभक्ति है, जो वस्तुतः सर्वोत्तम है और इसीलिये जिसे 'परा' कहा गया है—

> मद्भक्तिं लभते पराम्। (१८।५४)

'उसे मुझमें परा भक्ति प्राप्त होती है।'

यही परा भक्ति मनुष्यको उस अन्तिम अवस्थामें ले आती है, जिसके फलस्वरूप दूसरे ही क्षण मुक्ति मिल जाती है—ऐसी बात नहीं, अपितु जिसके समकालमें ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इसपर विचार करना अनावश्यक है कि यह अवस्था भगवान्‌से घनिष्ठ सम्पर्ककी है, अथवा उनमें लीन हो जानेकी, उनके साथ एक मिल जानेकी है। हमलोग आज जिस स्थितिमें हैं, उसमें रहते हुए उस अवस्थाकी यथोचित धारणा नहीं कर सकते। हमारे लिये इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि इसे ही सर्वोच्च अवस्था तथा जीवनका ध्येय घोषित किया गया है। यह सर्वोच्च प्रकाशकी, पूर्ण आनन्दकी, सर्वोच्च सत्यकी स्थिति है। जो शब्द इस विश्वजगत्‌की धारणाओंतक ही सीमित हैं, उन धारणाओंसे अतीत करनेवाली स्थितिका संतोषजनक वर्णन कैसे कर सकते हैं। जब हमें उसका वर्णन करना पड़ता है, तब इन शब्दोंका सहारा लेनेके अतिरिक्त हमारे पास दूसरा विकल्प ही क्या है—भले ये शब्द कितने ही अपूर्ण क्यों न हों! यदि हम इन शब्दोंको उनके वाच्य अर्थमें ग्रहण करेंगे और उस स्थितिकी धारणामें प्रत्यक्ष जगत्‌के संदर्भमें प्रयुक्त होनेवाले इन्हीं तात्पर्योंको संनिविष्ट कर लेंगे तो धोखा होगा।

कल्पना कीजिये, एक मित्र मुझसे कहते हैं कि शर्करा मीठी है। मैं उनकी प्रामाणिकतामें अक्षुण्ण विश्वास रखता हूँ, अतः मुझे उनके कथनकी सत्यतामें किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं है। संदेह और भ्रम—अज्ञानमूलक—ये दोष हैं, जो ज्ञानको विकृत करते हैं। इनमेंसे कोई भी दोष मेरे मित्रके इस कथनमें नहीं है, इसलिये मैं इस कथनकी यथार्थताका कि शर्करा मीठी है, निश्चयपूर्वक दावा कर सकता हूँ। परंतु क्या मैं स्वयं अनुभव प्राप्त किये बिना इस कथनका दावा कर सकता हूँ कि शर्करा मीठी है? यह दावा तो तभी किया जा सकता है, जब मैं एक टुकड़ी शर्करा अपनी जिह्वापर रखकर उसका स्वाद ले लूँ। तभी स्वानुभवके बलपर मैं यह जाननेका दावा कर सकता हूँ कि शर्करा मीठी है। इस प्रकार ज्ञान दो प्रकारका होता है—परोक्ष विश्वासपर, ऊपर किया है, दूसरा अनुभवका परिणाम है। श्रीकृष्णने पहलेको ज्ञान तथा दूसरेको 'विज्ञान' नाम दिया है। ऐसे कि ज्ञान

पूर्वक देखा जा सकता है, पहला आरम्भिक कोटिका है और दूसरा परम कोटिका। एकमें दूसरेका भ्रम नहीं होना चाहिये। मान लीजिये, मुझे एक मित्रसे ज्ञात हुआ कि शर्करा मीठी है, किंतु शर्कराको चखनेकी बात तो दूर रही, उसे प्राप्त करनेका भी प्रयत्न न करके मैं चुप बैठ रहता हूँ तो क्या मैं उपर्युक्त दूसरी स्थितिको पा सकता हूँ? मित्रने मुझे जो ज्ञान दिया है, उसका तो आदर मुझे करना ही चाहिये; साथ ही उस परोक्षज्ञानको वास्तविक अनुभवमें परिणत करनेकी भी निरन्तर और अथक चेष्टा करनी चाहिये। यदि आरम्भिक जानकारीको ज्ञानकी संज्ञा दी जाती है तो उसे अनुभव करनेकी निरन्तर चेष्टाको 'ज्ञान-निष्ठा' कहा जायगा और परिणाममें होनेवाले अनुभवकी 'विज्ञान' अथवा 'अभिज्ञान' संज्ञा होगी। अब यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञाननिष्ठा प्राथमिक ज्ञानके पीछे आती है और द्वितीय ज्ञानके पहले आती है।

यही ज्ञान-निष्ठा, जो परोक्षज्ञानके बाद और वास्तविक अनुभवके पहले आती है, पराभक्ति कहलाती है, जो मूल सूचीमें चौथी है। इसलिये यह एक प्रकारके ज्ञानका परिणाम और दूसरे प्रकारके ज्ञानका कारण है। इस क्रमको भगवान्‌ने अठारहवें अध्यायके ५०वें से ५५वें श्लोक तक भलीभाँति व्यक्त किया है। वे कहते हैं—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥

(१८।५०)

'हे कुन्तीपुत्र (अर्जुन)! ज्ञानकी पराकाष्ठारूप सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष जिस क्रमसे ब्रह्मको प्राप्त होता है, उसे तू मुझसे सुन।'

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(१८।५१-५३)

'हे अर्जुन! जो विशुद्ध बुद्धिसे युक्त है, जिसने धैर्यपूर्वक मनको निगृहीत कर लिया है, जिसने शब्दादि विषयोंका त्याग कर दिया है, जो राग-द्वेषरहित है; जो एकान्तसेवी, मिताहारी, वाग्मी, शरीर एवं मनको वशमें रखनेवाला है, सदा ध्यानमग्न रहनेवाला एवं वैराग्यनिष्ठ है, जो अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहको छोड़कर ममतारहित और शान्त हो गया है, वही ब्रह्मको प्राप्त करनेके योग्य होता है।'

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

(१८।५४)

'इस प्रकार जिसने ब्रह्मको पा लिया है और जिसका अन्तःकरण निर्मल हो गया है, वह न तो कभी शोक करता है, न किसी प्रकारकी आकाङ्क्षा ही करता है तथा समस्त भूतोंके प्रति समभाव रखता हुआ मेरी परा भक्तिको प्राप्त होता है।'

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(१८।५५)

'उस परा भक्तिके द्वारा वह मुझे पूर्णरूपसे जान लेता है कि मैं वस्तुतः क्या और किस प्रभाववाला हूँ। इस प्रकार मुझे यथार्थरूपमें जानकर वह तुरंत मुझमें प्रवेश कर जाता है।'

यही भाव ग्यारहवें अध्यायके ५४वें श्लोकमें भी पाया जाता है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

'हे अर्जुन! इस रूपमें मैं अनन्य भक्तिके द्वारा जाना जा सकता हूँ तथा इसके द्वारा मेरा यथार्थ अनुभव एवं मुझमें प्रवेश करना भी शक्य है।'

ऊपर उद्धृत किये हुए दोनों अन्तिम श्लोकोंमें 'भक्ति' शब्दका करण कारकमें प्रयोग इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि उपर्युक्त भक्ति वास्तविक अनुभूतिका आवश्यक सोपान है। १३वें अध्यायके ७वेंसे ११वें श्लोकतक भगवान्‌ने स्वयं 'ज्ञान' संज्ञाके अन्तर्गत ज्ञानप्राप्तिके बीस आवश्यक उपायोंका उल्लेख किया है और उनमें इस भक्तिकी भी गणना की गयी है—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

(गीता १३।१०)

इस प्रकार यह भक्ति ज्ञाननिष्ठासे अभिन्न है, जो अन्तिम प्रबोधका अव्यवहित कारण है। अतः

ठीक-ठीक समझ लेनेपर भक्ति एवं ज्ञानके बीच कोई विरोध नहीं हो सकता।

जो इन दोनोंके बीच विरोध देखते हैं, वे 'भक्ति' और 'ज्ञान' शब्दोंके अर्थका स्पष्ट ज्ञान न होनेके कारण अपने आपको तथा दूसरोंको भी भ्रममें रखते हैं। स्पष्ट धारणा न होनेके कारण ही वे भक्तिसे ज्ञानको अथवा ज्ञानसे भक्तिको भेद बताते हैं। ऊपरके विवेचनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि आध्यात्मिक विकासकी निम्नलिखित श्रेणियाँ हैं—

१—सकाम भक्ति—व्यक्तिगत स्वार्थके साधनरूपमें भगवान्‌का आश्रय।

२—ज्ञान—शास्त्रों एवं गुरुओंसे प्राप्त ब्रह्मका परोक्ष ज्ञान।

३—यथार्थ भक्ति या ज्ञाननिष्ठा—इस प्रकार जाने हुए ईश्वरके साक्षात्कारके लिये तीव्र प्रयत्न।

४—विज्ञान—अन्तिम सिद्धि या ब्रह्म-साक्षात्कार।

ध्यान देनेकी बात यह है कि क्रमाङ्क १ और ३ दोनोंको 'भक्ति' और क्रमाङ्क २ और ४ को 'ज्ञान' संज्ञा दी गयी है। जो इस अन्तरको स्पष्टरूपसे अपने सामने नहीं रखता, वह कह सकता है कि भक्ति ज्ञानसे भेद है। वह ठीक कहता है यदि उसका अभिप्राय क्रमाङ्क १ की भक्ति और क्रमाङ्क २ के ज्ञानसे है। उसका कथन अयथार्थ है यदि उसका आशय क्रमाङ्क ३ की भक्ति और क्रमाङ्क ४ के ज्ञानसे है। दूसरा व्यक्ति कह सकता है कि ज्ञान भक्तिसे भेद है। वह ठीक कहता है यदि उसका आशय क्रमाङ्क २ के ज्ञान और क्रमाङ्क १ की भक्तिसे है। वह ठीक नहीं कहता यदि उसका अभिप्राय क्रमाङ्क २ के ज्ञान और क्रमाङ्क ३ की भक्तिसे है। फिर मैं यह समझनेमें असमर्थ हूँ कि जो बातें समानरूपसे महत्त्वपूर्ण हैं उनको लेकर बड़ाई-छुटाईका प्रश्न ही कैसे उठ सकता है। यदि दोनोंमेंसे एक भी दूसरेके बिना टिक नहीं सकता और प्रत्येक अनिवार्य है, तब अपेक्षाकृत भेदताका कोई प्रश्न उठ नहीं सकता। कौन भेद है—भवनके ऊपरका भाग या उसकी नींव? कौन भेद है, सीढ़ीका दूसरा डंडा या चौथा?' ऐसे प्रश्न वस्तुतः निरर्थक हैं, ये हमारे मनको भ्रमित करते हैं और जो यथार्थ समस्या हमारे सामने है और यदि हम मुक्त होना चाहते हैं तो जिसका हल आवश्यक है, उससे हमें दूर, और दूर ले जाते हैं।

फिर इस समय जिस स्थितिमें हम हैं, उसमें हम ऐसे प्रश्नोंपर विचार करनेमें असमर्थ हैं, जिनका हमारे जीवनसे कोई व्यावहारिक सम्बन्ध नहीं है और क्या उनका विचार करनेसे किंचित् भी लाभ है? यदि हम अपने हृदयोंको टटोलें और जान-बूझकर अंधे न बनें तो हमें स्वीकार करना ही होगा कि हम भक्तिकी उस अवस्थासे भी बहुत दूर हैं, जिसे हमने 'सकाम' संज्ञा दी है। जब हम बीमार पड़ते हैं, तब हमें प्रथम स्मृति डाक्टरकी होती है; यदि हम कोई लाभ चाहते हैं तो हम अपने प्रयत्नोंका ही भरोसा करते हैं; जब हम कोई बात सीखना चाहते हैं, तब हमें पता रहता है कि उस विषयपर पुस्तकें हैं—यहाँतक कि शिक्षक भी अनावश्यक मान लिया जाता है। यह है हमारी सामान्य मनोवृत्ति। हमारे अपने दैनिक जीवनकी व्यवस्थामें ईश्वरके लिये कोई स्थान नहीं है। हमें इससे ऊपर उठना होगा और ईश्वरपर पूर्ण निर्भरताका पाठ सीखना होगा। क्या हम जो साँस लेते हैं, वह अपने संकल्प या अपनी इच्छासे लेते हैं? यदि यह बात होती तो दूसरी ओर ध्यान देते ही या निद्रामग्न होते ही हम मर जाते। क्या पाचन हमारे संकल्पसे होता है? कैसे भोजन पचता है, यह हम भोजनके विषयमें कुछ भी नहीं जानते। क्या हम अपनी इच्छासे जन्म लेते या अपनी इच्छासे मर सकते हैं? हमें अनुभव करना चाहिये कि हम कुछ नहीं कर सकते और ईश्वरके अभिकर्तृत्वके बिना हमें कुछ भी नहीं हो सकता। इस समय इतना ही अनुभव हमारे लिये पर्याप्त है। यही एक एक पग आगे बढ़ाते हुए हमें अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचा देगा।

भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है

श्रीसूतजी कहते हैं—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे। अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति॥
(श्रीमद्भा० १।२।६)

मनुष्योंके लिये सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिससे भगवान् श्रीकृष्णमें भक्ति हो—भक्ति भी ऐसी, जिसमें किसी प्रकारकी कामना न हो और जो नित्य-निरन्तर बनी रहे। ऐसी भक्तिसे हृदय आनन्दस्वरूप परमात्माकी उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है।

भक्ति और ज्ञान

(लेखक—श्री एस० अमीचरसिंह शास्त्री)

भक्ति और ज्ञान निःश्रेयस-प्राप्तिके दो प्रमुख मार्ग हैं, न्धनसे छूटनेके तथा शाश्वत सुख उपलब्ध करनेके अमोघ धन हैं। ये परमार्थके साधन ही नहीं वरं स्वयं परमार्थरूप । अतएव इन दोनोंको मोक्ष-लाभका अचूक साधन मानना सर्वसंगत ही है।

किंतु भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ चतुराईसे केवल दो ही गोंका उल्लेख करते हैं—ज्ञानियोंके लिये ज्ञानयोग और र्मप्रवण स्वभाववालोंके लिये कर्मयोग। वे भक्तिका पृथक् र्गके रूपमें उल्लेख नहीं करते—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥*

(गीता ३ । ३)

क्या इसका यह अर्थ है कि श्रीभगवान्‌के मतसे भक्तिमें र्म और ज्ञान दोनोंके लक्षण घटते हैं, अतः कर्म और ज्ञान—न दोनों मार्गोंमें भक्तिका भी समावेश हो जाता है ? यदि गवान् श्रीकृष्णका वास्तवमें यही भाव हो तो यह परम्परागत िचारधाराके साथ पूर्णतया मेल खाती है। वेद भी वल दो ही मार्गोंका प्रचार करते हैं—कर्मकाण्डमें वर्णित कर्म-र्ग और ज्ञानकाण्ड अथवा उपनिषदोंमें वर्णित ज्ञानमार्ग। किंतु न्दोग्य तथा बृहदारण्यक-जैसे उपनिषदोंमें ज्ञानकाण्डके सर्वोच्च िद्धान्तके पहले बहुत-सी उपासनाओं या विद्याओं अर्थात् नसिक पूजाकी विधियोंका उल्लेख है, जिनमें उपासकको उपास्यका इस रूपमें गाढ़ चिन्तन करनेका आदेश दिया गया है कि उपास्यका उपासकके साथ और उपासकका उपास्यके साथ अभेद है। इसीको शास्त्रीय भाषामें 'अहंग्रहोपासना' कहते हैं। उपनिषद्युक्त उपासनाएँ भक्तिके ही पूर्वरूप हैं, क्योंकि भक्ति की प्रक्रिया तथा उपनिषद्-प्रोक्त उपासनाओंमें अत्यन्त विलक्षण साम्य है। इसलिये परानुभूतिमें सहायकमात्र होने तथा ज्ञानप्राप्तिका एक मुख्य अङ्ग होनेके नाते वैदिक परम्परामें भक्तिकी एक पृथक् योग अथवा मार्गके रूपमें गणना नहीं हुई है। दूसरे शब्दोंमें, श्रुतियोंके अनुसार एवं वैदिक परम्पराके सर्वथा अनुरूप और मूलानुसारी व्याख्याता भगवान् श्रीकृष्णके मतसे अत्यन्त अहंकारमूलक कर्मकाण्ड तथा वेदान्तके सर्वोच्च तत्त्व निर्गुण ब्रह्मके बीचकी अवस्थाका प्रतीक है—भक्ति।

मानो अपने विचारोंका स्पष्टीकरण करनेके लिये श्रीभगवान् पुनः श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें उद्धवको उपदेशोंमें यह समझाते हैं कि मानवके परम कल्याणके साधक केवल तीन मार्ग हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। इनके अतिरिक्त कोई चौथा उपाय नहीं है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥*

(श्रीमद्भा० ११ । २० । ६)

यहाँ भी भक्तिका ज्ञान और कर्म दोनोंके बाद उल्लेख करके श्रीभगवान् मानो यह मत प्रकट कर रहे हैं कि भक्ति ज्ञान और कर्मका ही मधुर सम्मिश्रण है—वास्तवमें है भी यही बात।

किंतु कर्मयोगको कभी भी मोक्षके एक अव्यवहित अथवा साक्षात् साधनके रूपमें स्वीकार नहीं किया गया है। शास्त्रविहित और समर्पित कर्म अधिक-से-अधिक कर्मासक्तिके मूल अहंकारकी शक्तियोंको क्षीण भर कर सकता है। अहंकारके इस प्रकार जर्जरित हो जानेपर मन और बुद्धि पवित्र—निर्मल हो जाते हैं और इस प्रकार व्यक्ति इस *योग्य बन जाता है कि उसके अन्तःकरणमें ईश्वरके प्रति* परानुरक्तिका भाव जाग्रत् हो जाय अथवा निर्गुण निर्विशेष ब्रह्मकी अनुभूतिका उदय हो सके। इसलिये प्रारम्भिक साधन मात्र होनेके नाते कर्मकी चर्चाको यहीं समाप्त किया जा सकता है।

अतः हमारे लिये भक्ति और ज्ञान—परमानन्द-प्राप्तिके ये दो ही मार्ग बच रहते हैं। किंतु यहाँ स्वाभाविक ही यह प्रश्न उठता है—जैसा कि स्वयं अर्जुनने उठाया था—कि दोनोंमें श्रेष्ठ कौन हैं, निर्गुण निर्विशेष ब्रह्मका साक्षात्कार करनेवाले ज्ञानी अथवा ईश्वरकी प्रेमयुक्त भक्तिमें अपना मन लगा देनेवाले भक्तगण?

---

* हे निष्पाप अर्जुन ! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है, ज्ञानियोंकी ज्ञानयोगसे और कर्मयोगियों-की निष्कामकर्मयोगसे।

* मनुष्योंके कल्याण-साधनके लिये ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग—ये तीन योग (उपाय) मैंने कहे हैं; इनके अतिरिक्त (मोक्षप्राप्तिका) और कोई उपाय कहीं नहीं है।

हृदयङ्गम करनेके लिये ज्ञान और भक्तिकी सीमा एवं स्वरूपका स्पष्ट बोध होना अनिवार्य है। तब प्रश्न होता है कि ज्ञान क्या है और भक्ति क्या है।

उपनिषद्, जो ज्ञानके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ हैं, यह घोषणा करते हैं कि आत्मसाक्षात्कार करना चाहिये, और उसके सहायकरूपमें श्रवण अर्थात् गुरुमुखसे महावाक्योंमें प्रतिपादित परम सत्यको सुनना, इस प्रकार प्राप्त सत्यके तत्त्वका मनन करना और निदिध्यासन अर्थात् अन्तमें इस सत्यकी अकाट्य प्रामाणिकतामें अविचल विश्वास करना—ये उपाय बताते हैं—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।*

(बृह० उ० २।४।५)

किंतु यह आत्मा है क्या वस्तु ? आत्मा हमारे भीतर निगूढ रहनेवाला हमारा अपना स्वरूप है, वह वास्तवमें ब्रह्म ही है—'अयमात्मा ब्रह्म।' † (माण्डूक्य उ० १।२)। और ब्रह्म क्या है ? इसके विषयमें सचमुच निश्चयात्मकरूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता।

जो कुछ भी ज्ञात है, उससे यह भिन्न है और जो कुछ अज्ञात है, उससे परे है—

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। (केन० १।३)

कोई भी यह दावा नहीं कर सकता कि मैंने इसे पूर्णरूपसे जान लिया है; क्योंकि यह अज्ञेय है—

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।‡

(केन० २।३)

हमारी जानी हुई किसी वस्तुके सदृश यह नहीं है। तथापि कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो इससे बाहर स्थित हो; क्योंकि ब्रह्ममें सभीका समावेश है—

अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ति।§ (बृहदा० उ० २।३।६)

तो क्या उसके स्वरूपके विषयमें कुछ भी कहना नहीं बनता ? बृहदारण्यक कहता है—नहीं, ऐसा सम्भव नहीं है। निषेधवाक्योंकी श्रृङ्खलासे भले ही उसका एक प्रकारसे वर्णन किया जा सकता है—वह स्थूल नहीं है, सूक्ष्म नहीं है; छोटा नहीं है, बड़ा भी नहीं है; न तो वह चमकदार है न छायामय, न उसका किसी वस्तुसे लगाव है। वह स्वादहीन, गन्धहीन, श्रोत्रहीन, चक्षुहीन, वाणीरहित, मनरहित एवं प्राणरहित है। वह न तो भक्षक है न भक्ष्य, न भक्षक है न भक्ष्य—'अस्थूलमनणु'......इत्यादि। (बृह० उ० ३।८)

यदि ब्रह्म विरुद्ध धर्मोंका समवायमात्र है, तब या तो वह वन्ध्या-पुत्रवत् अथवा आकाश-नीलवत् असत् है अथवा कोई अत्यन्त स्थूल एवं जड पदार्थ होना चाहिये; क्योंकि उसे मन और प्राणसे रहित बताया गया है। उपनिषद् कहता है—नहीं ऐसी बात नहीं है। वह ब्रह्म परम सत्, सर्वोच्च सत्ता है—'सत्यम्'। वह परम चित् है—'ज्ञानम्' और है वह कालातीत, अतएव शाश्वत तथा अन्तरहित है—'अनन्तम्'। (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म—तैत्तिरीयोपनिषद् २।१)। ठीक है; किंतु वह नित्य-सत्य-ज्ञानरूप ब्रह्म मनुष्यके लिये, जो सनातन सुखके लिये लालायित है, किस पार्थिव उपयोगका है ? उपनिषद् कहते हैं कि यह ब्रह्म ज्ञानका सार ही नहीं, परमानन्दस्वरूप भी है—विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृह० उ० ३।९।२८)। वह केवल स्वयं आनन्दस्वरूप ही नहीं है; जो उसे जान लेता है, उसे भी वह आनन्दसे प्लावित कर देता है—रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।* (तैत्तिरीय० २।७।१)

ब्रह्म भले ही वैसा हो, जैसा कि उपनिषद् उसका वर्णन करते हैं, किंतु दुःखमें डूबे हुए, संसारके जालमें फँसे हुए तथा जन्म-मृत्युके प्रवाहमें निरन्तर बहते हुए, सदा अपूर्ण हम दीन मनुष्य ब्रह्मको जानकर क्या पा लेते हैं ? अब उपनिषद् उस चौंका देनेवाले तथा सहसा विश्वासमें न आने योग्य सत्यको व्यक्त करते हुए कहते हैं—'तुम्हीं वह ब्रह्म हो—स आत्मा तत्त्वमसि'† (छान्दो० ६।८।७) और 'मैं ब्रह्म हूँ—अहं ब्रह्मास्मि' (बृह० उ० १।४।१०)। इसपर हम पुकार उठते हैं—'यह तो असम्भव है। कहाँ वह सच्चिदानन्दमय ब्रह्म और कहाँ हम मर्त्यलोकके प्राणी, उससे इतने

* यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है।

† यह आत्मा ही ब्रह्म है।

‡ जो लोग इसे जान लेनेका दावा करते हैं, उन्होंने वास्तवमें इसे नहीं जाना और जो इसे जाननेका दावा नहीं करते, उनके द्वारा यह जाना हुआ है।

§ इसके पश्चात् 'नेति नेति' यह ब्रह्मका आदेश है। 'नेति नेति' इससे बढ़कर कोई उत्कृष्ट आदेश नहीं है।

* वह निश्चय रस ही है। जब इसको पाकर पुरुष आनन्दस्वरूप बन जाता है।

† वह आत्मा है और वह तू है।

है । इसी प्रकार हमलोग भी असंख्य जीवोंके रूपमें असत् हैं, किंतु एक ब्रह्मके रूपमें सदा सत् हैं । दृश्य जगत्की यथार्थताकी मात्राका ठीक-ठीक निरूपण करना कठिन है । यह ऐकान्तिक तथा शाश्वतरूपसे सत् नहीं है; क्योंकि ऐसे क्षण भी आते हैं जब कि यह जगत् अपनी सत्ताको खो बैठता है—जैसे हमारी स्वप्नावस्था अथवा प्रगाढ़ निद्राकी अवस्थामें । संक्षेपमें, यदि यह ऐकान्तिकरूपसे सत् हो तो कभी इसका भान लुप्त नहीं होना चाहिये और यदि यह ऐकान्तिकरूपसे असत् हो तो कभी इसका भान होना ही नहीं चाहिये—सच्चेत् न बाध्येत, असच्चेत् न प्रतीयेत । अतएव यह संसार सत् और असत् दोनों है । सारांश, यह मिथ्या है ।

सत्ताकी तीन अवस्थाएँ हैं । संसारमें रचे-पचे अज्ञानीके लिये जगत् और असंख्य जीव सर्वथा सत् हैं, अर्थात् इन सबकी 'व्यावहारिक सत्ता' है । पर जिनके भीतर ब्रह्म-ज्ञानका आलोक उतर चुका है, उनके लिये जगत्की सत्ता केवल ऊपरी छायामात्र है, जैसे मरुभूमिमें मरीचिकाकी । इसीको 'प्रातिभासिक सत्ता' कहते हैं । किंतु जिन्होंने अपनेको ब्रह्ममें लीन कर दिया है अर्थात् जो मुक्त हो गये हैं, उनके लिये केवलमात्र ब्रह्म ही निरपेक्ष सत् है, अन्य कुछ है ही नहीं । यही 'पारमार्थिक सत्ता' है । इस पारमार्थिक सत्ताकी अनुभूतिमें सारे व्यवहार शान्त हो जाते हैं, जैसे जागनेपर स्वप्नजगत् लुप्त हो जाता है । सत्ताकी इन तीनों अवस्थाओंका तात्पर्य समझ लेना परम आवश्यक है, अन्यथा उपनिषदोंका ज्ञानमार्ग हमारे लिये नितरां अगम्य ही रहेगा ।

अतएव यह निष्कर्ष निकला कि अद्वैत अथवा पारमार्थिक दृष्टिसे केवल ब्रह्म ही सत् है ।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥

किंतु व्यवहारक्षेत्र अथवा व्यावहारिक दशामें जगत् सत् है, नाना जीव भी सत् हैं और ईश्वर अर्थात् मायोपाधिक ब्रह्म ही जगत्के जीव-समूहकी नियामिका नियन्ता है । जगत्पतिके रूपमें ईश्वर अर्थात् सगुण ब्रह्म सर्वज्ञ एवं तेजोमय भास्वर है । उनका प्रत्येक संकल्प परम सत्य है । वे समस्त गुणोंके आगार हैं । छान्दोग्यके शब्दोंमें वे हैं—

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्पः ...... सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः । (३ । १४ । २)

सांसारिक बन्धनमें पड़े हुए मनुष्यको अनिश्चल एवं अनुरागपूर्ण भक्तिसे युक्त होकर इन्हीं परमेश्वरकी शरणमें जाना चाहिये तथा अपने सम्पूर्ण कर्मोंको उनके अर्पित कर देना चाहिये। सारांश, अपनेको सर्वतोभावेन अनुरागयुक्त श्रद्धाके साथ प्रभुके अर्पण कर देना चाहिये । तब अज्ञानका आवरण हट जायगा, तभी परमात्माको अनुभव करनेकी इच्छा उत्पन्न होगी और तब गुरुके द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त होगा । जीवको उपास्य ईश्वरके साथ अपने अभेदका ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ता जाता है, त्यों-ही-त्यों उसकी ईश्वरके प्रति भक्ति गाढ़से गाढ़तर होती चली जाती है । सारांश, जीवकी भक्तिका पर्यवसान अभेद-भक्तिमें हो जाता है और यह अभेद-भक्ति कोई असम्भव स्थिति नहीं है; क्योंकि उपनिषद् उपासकको अभेद-उपासनाके लिये आग्रहपूर्वक प्रेरित करते हैं । कोई भी अन्य उपासक, जो अपने इष्टदेवसे अपनेको भिन्न मानता है, पशु-तुल्य है, अपने इष्टदेवके लिये केवल एक भारवाही पशुके समान है—

अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम् ।

(बृह० उ० १ । ४ । १०)

वास्तवमें जो उपासक अपना अपने उपास्य ईश्वरके साथ अभेद स्थापित कर लेता है, वह ईश्वरका आत्मा (स्वरूप) ही बन जाता है—आत्मा ह्येषां स भवति । (बृहदा०) । ऐसे अभेदोपासकको सगुण ईश्वर सर्वोच्च ज्ञान, अखण्ड निर्गुण ब्रह्मका साक्षात्कार प्रदान करता है, जहाँ समस्त दृश्य-प्रपञ्च विलीन हो जाता है और जिसमें जीव अपने व्यक्ति-भावको सदाके लिये त्यागकर उसी प्रकार विलीन हो जाता है जैसे सागरमें नदी ।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः
परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥*

(मुण्ड० ३ । २ । ८)

इस प्रकार ज्ञान केवल बुद्धिगत निश्चय ही नहीं है, कोरी कल्पनाकी उड़ान नहीं है; यह एक निश्चित सत्ता है, एक अनिर्वचनीय अनुभूति है, परम पुरुषार्थ है । ब्रह्मकी साक्षात् एवं परम अनुभूतिरूप इस ज्ञानका बिना ईश्वरकी कृपाके उदय नहीं हो सकता—

* जिस प्रकार निरन्तर बहती हुई नदियाँ अपने नाम-रूपको त्यागकर समुद्रमें लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान् नाम-रूपसे मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुषको प्राप्त हो जाता है ।

कि या तो जीवकी परमात्माके रूपमें परिणति हो जाय अथवा दोनों मिलकर एक सर्वथा पृथक् सत्तामें परिणत हो जायँ। पहले विकल्पको तो तुरंत ही मनसे निकाल देना चाहिये; क्योंकि ईश्वरसे तत्त्वतः भिन्न होनेके कारण जीव कभी तद्रूप नहीं हो सकता, जैसे लोहेके गोलेको चाहे कितनी ही तेज आगमें तपाया जाय और आगकी भाँति वह चाहे कितना भी दहकने लगे, वह आग कभी नहीं बन सकता, लोहाका-लोहा ही रहेगा। दूसरे विकल्पको भी त्याग देना पड़ेगा; क्योंकि उसका अर्थ होगा परमात्मामें परिणाम या विकारको स्वीकार करना, जो उनके स्वरूपके सर्वथा विरुद्ध होगा। अतः जीव कभी ईश्वरमें विलीन नहीं हो सकता। इस प्रकार भक्ति-सम्प्रदायोंकी मुक्तिके विषयमें सामान्य भावना यही है। मुक्तिका अर्थ है—आनन्द और आनन्दके लिये आस्वादक, आस्वाद्य और आस्वादन—तीनों आवश्यक हैं। अपने इस मतके अनुरूप ही भक्तिके सभी सम्प्रदाय जीवका ब्रह्ममें विलीन होना नहीं मानते हैं।

ज्ञान और भक्ति-मार्गोंकी बहुसंख्यक अन्य विषमताओंका* विवेचन न करके इस समय हम केवल इसी प्रश्नपर विचार करेंगे कि भक्ति-सम्प्रदायोंमें ज्ञानका क्या स्थान है। यद्यपि भक्तिके बहुत-से सम्प्रदाय भक्तिके सहायकरूपमें बेचारे ज्ञानकी आवश्यकताको स्वीकार करते हैं, फिर भी कुछ भक्ति-सम्प्रदाय ऐसे हैं जो ज्ञानका भक्तिके क्षेत्रसे सर्वथा बहिष्कार कर देते हैं। उदाहरणार्थ श्रीरूपगोस्वामी कर्म और ज्ञान दोनोंसे कोई सम्पर्क नहीं रखना चाहते—ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।† इस मतका समर्थन करनेमें ऐसा लगता है श्रीरूप भक्तिसूत्रोंमें उल्लिखित श्रीनारदके विचारोंसे प्रभावित हुए हैं—

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके। अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये। स्वयंफलरूपतेति ब्रह्मकुमारः।

(भक्तिसूत्र २८–३०)

नारदजी कहते हैं कि 'किन्हीं आचार्योंके मतसे भक्तिका साधन ज्ञान ही है। कुछ दूसरे आचार्योंका मत है कि भक्ति और ज्ञान एक दूसरेके आश्रित हैं। किंतु ब्रह्मकुमार (नारद)-के मतसे भक्ति स्वयंफलरूपा है—यह साधन भी है और साध्य भी। साधनको ही साध्य मान लेनेमें जो तर्ककी दृष्टिसे आपत्ति है, उसे एक बार भूल भी जायँ, फिर भी इसपर सहसा विश्वास नहीं होता कि ऐसे सर्वश्रेष्ठ ऋषिने ज्ञानको उसका उचित स्थान देना अस्वीकार कर दिया हो, यदि हम यह नहीं मान लेते कि प्रस्तुत सूत्र अर्थवाद है, अर्थात् भक्तिका महत्त्व बढ़ानेके उद्देश्यसे की हुई उसकी प्रशंसामात्र है। जो कुछ भी हो, भक्ति-सम्प्रदायोंने ज्ञानके प्रति अपने विरोधको बल देनेके लिये इस सूत्रको अपना आधार बनाया है। इस धारणाकी पुष्टिमें सामान्यतः यही बात प्रबल प्रमाणके रूपमें कही जाती है कि गँवार ग्वालिनोंने, जिन्हें ज्ञान छूतक नहीं गया था, केवल भक्तिके द्वारा परमानन्दको प्राप्त कर लिया।

हमें अब यह विचार करना है कि उपर्युक्त तर्क समीक्षाकी कसौटीपर ठहरता है या नहीं। क्या यह बात दावेके साथ कही जा सकती है कि गोपियाँ ज्ञानशून्य थीं, जब कि वे श्रीकृष्णकी भगवत्ता तथा उनके अन्तर्यामी होनेकी बातसे पूर्णतया परिचित थीं? वे श्रीकृष्णसे कहती हैं—

> न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
> नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
> विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
> सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥*
>
> (श्रीमद्भा० १०। ३१। ४)

फिर कृष्णोपनिषद्के उस वर्णनकी† हम कैसे अवहेलना कर सकते हैं, जिसमें यह बताया गया है कि गोपियोंके रूपमें दण्डकारण्यके वे सब महर्षिगण थे, जो श्रीरामके प्रति दिव्य-प्रेमसे मतवाले हो गये थे और इसलिये जिन्हें कृष्णावतारमें उनके साथ क्रीडा करनेके लिये भगवान्‌ने गोपीरूपमें जन्म लेनेकी आज्ञा दी थी। निश्चय ही महर्षिगण कभी ज्ञानशून्य नहीं

---

* क्योंकि अनेक अन्य विद्वानोंने भी भक्तिपर लिखा होगा, इसलिये केवल भक्तिका ज्ञानसे ही दूरतक विवेचन करना चाहता हूँ, क्योंकि प्रस्तुत केवल ज्ञानसे सम्बन्ध है।

† ज्ञान-कर्म आदिके आवरणसे रहित।

* यह निश्चय है कि आप केवल यशोदाके पुत्र ही नहीं हैं, बल्कि समस्त देहधारियोंके अन्तःकरणके साक्षी हैं। हे सखे! ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे ही आपने सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षाके लिये यदुकुलमें अवतार लिया है।

† ......रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दरं मुनयो वनवासिनो विस्मिता बभूवुः। तं होचुः.........आलिङ्गामो भवन्तमिति। भवान्तरे कृष्णावतारे यूयं गोपिका भूत्वा मामालिङ्गथ ....।

(कृ० उ० १)

अन्ततोगत्वा पराभक्तिमें परिणत हो जाती है, जिसका विशेष लक्षण है भगवत्प्रेम-जनित उन्माद, इसका प्रचुर प्रमाण राजा निमिको प्रबुद्धद्वारा दिये गये उपदेशमें मिलता है—

भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ।*

(श्रीमद्भा० ११ । ३ । ३१)

भक्त्या साधनभक्त्या संजातया प्रेमलक्षणया भक्त्या ।

(श्रीधरस्वामीकृत टीका)

पराभक्तिकी इस उन्मादपूर्ण स्थितिका हृदयग्राही वर्णन स्वयं प्रबुद्धने किया है—

क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-

द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।

नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं

भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । ३ । ३२)

दिव्योन्मादकी इस उत्कृष्ट अवस्थामें तीव्र वेदनाके आँसुओंके आगे-पीछे उल्लासकी विशद स्मितरेखा खिंची रहती है तथा हर्षके साथ-साथ पारी-पारीसे वैकल्य-वैरका पड़पड़ाना भी चालू रहता है । भक्त आनन्दमें मग्न होकर नाचने लगता है, तार स्वरसे भगवान्के गुणगान करने लगता है और तुरंत ही सर्वथा चुप हो रहता है; उस समय वह उनके चिन्तनमें इस तरह लीन हो जाता है मानो उनके साथ घुल-मिलकर एक हो गया हो । सारांश, यह वह अवस्था है, जिसमें भक्तकी भावना-तन्त्री परमात्माके स्वरसे पूर्णतया संवादी स्वरमें बजने लगती है । परिणामतः भक्तके भावनात्मक जीवनमें एक तीव्र वेदनाशीलता, विचित्र उत्फुल्लता आ जाती है तथा ईश्वरकी सतत एवं अन्य सब कुछ भुला देनेवाली अनुभूति होने लगती है । इस अवस्थाका श्रीमधुसूदन सरस्वती अपने 'भक्तिरसायन'में इस प्रकार वर्णन करते हैं—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।

सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥

(१ । ३)

'भगवद्धर्मों (भजन-कीर्तन आदि भगवत्प्राप्तिके साधनों) के अभ्याससे द्रवित हुए चित्तकी वृत्तियोंका निरन्तर—तैलधारावत् सर्वेश्वर भगवान्‌की ओर प्रवाहित होना ही भक्ति है ।'

जब यह भगवान्‌की सतत अनुभूति निर्गुण ब्रह्ममें लीन हो जाने, दूसरे शब्दोंमें ज्ञानमार्गकी 'ब्रह्माकारवृत्ति'के अतिरिक्त और क्या है ? अतएव पराभक्ति सत्स्वरूपाकार ज्ञानके अविच्छिन्न प्रवाहके साथ भक्तकी अत्यन्त सूक्ष्म एवं रसमयी संवेदनशीलता तथा भगवत्कृपाकी बाढ़की हिलोरोंका संगमस्थल है, अखिल सर्वश्रेष्ठ तत्त्वोंका सम्मिश्रण है, एक ऐसी विलक्षण अवस्था है जिसका वर्णन करनेमें बुद्धि कुण्ठित हो जाती है । इस अवस्थामें अहंकार सर्वथा मिट जाता है, केवल अपने आत्माके रूपमें ईश्वरानुभूति शेष रह जाती है ।

यह वह अवस्था है, जिसके विषयमें भगवान् कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥*

(गीता ६ । ३०)

अतः पराभक्तिकी सर्वश्रेष्ठ मस्तीमें उच्चतम ब्रह्मज्ञान, निर्गुण ब्रह्मसाक्षात्कार रहता ही है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

इस प्रकारका दावा क्रान्तिकारी एवं दुस्साहस-पूर्ण-सा प्रतीत होगा । फिर भी बात यही है । किसीको आश्चर्य हो सकता है कि ईश्वरके अनन्त कल्याणमय गुणोंके चिन्तनमें लीन होनेसे निर्गुण ब्रह्मका साक्षात्कार कैसे हो सकता है । गुणीके सम्बन्धसे गुणोंका थोड़ा विश्लेषण करनेपर यह सिद्ध हो जायगा कि बात ऐसी ही है । निर्गुण ब्रह्मकी अपने नित्य-कल्याणमय गुणोंसे सम्पन्न रूपमें कल्पना ही तो ईश्वर है । तब फिर गुण क्या हैं ? गुणोंकी उस गुणीसे पृथक् कल्पना नहीं की जा सकती, जिसके वे धर्म हैं । अधिक-से-अधिक मनकी वे वृत्तियाँ या अवस्थाएँ—मानसिक तरंगें हैं, जो किसी धर्मीके चतुर्दिक् हिलोरें लेती रहती हैं और जिनसे उसका ज्ञान होता है । इस बातका पक्का प्रमाण न तो है और न हो ही सकता है कि जिस धर्मीका ज्ञान होता है, उसमें गुण स्वाभाविकरूपसे रहते हैं । अधिक सम्भावना यही है कि वे किसी धर्मीका बोध करानेवाली मानसिक लहरियाँ हैं । यदि ईश्वरमें गुण स्वाभाविकरूपमें विद्यमान होते तो उन गुणोंके स्वरूपके विषयमें इतना मतभेद होना कैसे जैसा कि सचमुच पाया जाता है । अतः गुण किसी

* (वैधी) भक्तिसे (प्रेमा) भक्तिका उदय होनेपर शरीर पुलकित हो जाता है ।

* जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता; क्योंकि वह मुझमें एकीभावसे स्थित है ।

चतुर्दश परम भागवत और उनके आराध्य

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीकव्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान् ।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन् पुण्यानिमान् परमभागवतान् नमामि ॥

उनमें सीमित स्वार्थ-बुद्धि तथा भोग-बुद्धि नहीं रहती। वस्तुतः भागवतोंका सम्पूर्ण जीवन ही भगवत्कैंकर्य है। उनके कर्म राजसी प्रवृत्ति और वासनासे प्रेरित नहीं होते। वे विवेक, कर्तव्य और कैंकर्यकी भावनासे प्रेरित होते हैं। भक्तियोगका आधार भगवत्कृपा है। बिना भक्तिकी सहायतासे कर्मयोगकी सफलता संदिग्ध हो जाती है। कर्म-संस्कार ही जीवात्माका बन्धन है। वही अविद्याके रूपमें कारण-शरीरका निर्माण करता है। पर कर्मका हम स्वरूपतः त्याग नहीं कर सकते। जीवन-धारण करनेमें पग-पगपर कर्मकी आवश्यकता हो जाती है। कर्म स्वतः न अच्छा है न बुरा। कर्म जिस मन्तव्यसे, जिस उद्देश्यसे किया जाता है, कर्म करनेसे अन्तःकरणमें जो एक तरङ्ग उठती है, एक विकार उत्पन्न होता है, उसीपर कर्मकी अच्छाई या बुराई निर्भर करती है। कर्म तो हम स्थूल-शरीरसे करते हैं, पर उसकी प्रेरणा मनसे आती है। इसीलिये कहा गया है—

> मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
> (ब्रह्म० पु० १।४७।४)

'मन ही मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका कारण है।'

कर्म तीन प्रकारके होते हैं—प्रारब्ध, संचित, क्रियमाण। प्रत्येक क्रियमाण कर्म समाप्त होनेपर संचितके कोषमें चला जाता है; और वही जब फल देना प्रारम्भ करता है, तब प्रारब्ध बन जाता है। प्रारब्धका भोग अवश्यम्भावी है। प्रारब्ध हमारी वासनाका निर्माण करता है और वासना प्रवृत्ति-का। प्रवृत्ति पुनः क्रियमाण कर्मका पथ-प्रदर्शन करती है। अतः हमारा वर्तमान जीवन अतीत जीवनका फल और भविष्य जीवनका बीज है। जिस प्रकार वृक्षसे फल होता है और वही फल फिर वृक्षको जन्म देता है, उसी प्रकार जैसे हमारे अतीत कर्म थे, उसी प्रकार हमारी प्रवृत्ति बनी और जैसी हमारी प्रवृत्ति बनी है, उसी प्रकारके कर्म हम करते रहते हैं। यह जीव 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्' के चक्रमें पड़ा रहता है। कभी भगवान्की कृपा होती है तो उनके चरणोंमें हमारा अनुराग उत्पन्न हो जाता है।

> कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

ऐसे भगवान्को भूलकर जो जीव विषयके चिन्तनमें लग जाता है, यह उसका बड़ा अभाग्य है और उसका विनाश (पतन) निश्चित है।

विषयोंके चिन्तनसे उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है, तब इच्छाका उदय होता है और यह इच्छा किस प्रकार जीवको विनाशकी ओर ले जाती है, इसका क्रम भगवान्ने गीतामें बताया है—

> ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
> सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
> क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
> स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥
> (२।६२-६३)

'हे अर्जुन! मनसहित इन्द्रियोंको वशमें करके मेरे परायण न होनेसे मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन होता है, विषयोंको चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है और आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है। कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे अविवेक अर्थात् मूढ़भाव उत्पन्न होता है और अविवेकसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है। स्मृतिके भ्रमित हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिके नाश होनेसे यह पुरुष अपने श्रेयसाधनसे गिर जाता है।'

स्थूलशरीरके नष्ट हो जानेपर भी उसके द्वारा किया हुआ कर्म नष्ट नहीं होता; क्योंकि कर्म करनेपर मानसिक जगत्में एक हलचल मच जाती है, अन्तःकरणमें सुख या दुःखकी लहर दौड़ जाती है और सूक्ष्मशरीरपर एक छाप पड़ जाती है। यह सूक्ष्मशरीर कर्म-संस्कार लिये हुए एक स्थूलशरीर-से दूसरे स्थूलशरीरमें प्रवेश करता है। ये ही कर्मसंस्कार वासना तथा प्रवृत्तिको जन्म देते हैं। अच्छे कर्मोंके संस्कारसे प्रवृत्ति भी परिमार्जित हो जाती है और गंदे कर्मोंके संस्कारसे प्रवृत्ति कलुषित हो जाती है। सूक्ष्मशरीर अपनी प्रवृत्तिके अनुसार अनुकूल योनि चुन लेता है। जिस प्रकार गेहूँका बीज धानके खेतमें फूटता नहीं, उसी प्रकार यदि संयोगसे सूक्ष्मशरीर अपनी प्रवृत्तिके प्रतिकूल किसी योनिमें चला जाय तो वहाँ वह विकसित नहीं होता, माताके गर्भमें या कीट-कीटके रूपमें ही नष्ट हो जाता है। तो फिर कर्मोंसे छुटकारा किस प्रकार मिले? अच्छे और बुरे दोनों कर्म तो आत्माके लिये बन्धन ही हैं। अच्छा कर्म सोनेकी हथ-कड़ीसे बाँधकर स्वर्ग ले जाता है, बुरा कर्म लोहेकी हथकड़ीसे बाँधकर नरक। कर्मयोग इनसे छुटकारेका हमें एक उपाय बतलाता है। यदि हम अहंकाररहित, अनासक्त और निर्लिप्त होकर कर्म करें, मनको निर्विकार रखें तथा अन्तःकरणमें कोई लहर उत्पन्न न हो तो उस क्रियमाण कर्मसे न तो प्रारब्धका निर्माण होता है न सूक्ष्मशरीरका विकास। वह कर्म

ज्ञानयोगकी सफलताके लिये वासनाका शमन आवश्यक है, पर अनंत जन्मोंका जीवन-रस पीकर वासना-सर्पिणी मानव-अन्तःकरणमें फुफकार मारती रहती है। ज्ञानयोगके लिये स्थितप्रज्ञ होना आवश्यक है। इस सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
(२।५५)

'हे अर्जुन! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है, और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।'

हृदयका निष्काम होना एक जटिल समस्या है, पर भक्तियोगका आश्रय पाकर हृदय अपने-आप शान्त हो जाता है। तब परमात्माके साक्षात्कारसे अपने-आप मायाका बन्धन टूट जाता है, हृदयकी गाँठ खुल जाती है और कर्म-संस्कार नष्ट हो जाते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥
(मुण्डक॰ २ । २)

भक्तिसे पृथक् ज्ञानका मार्ग दुर्गम और कठिन है, पर भक्ति-पथ अत्यन्त सुगम है।

भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥

ज्ञान भक्तिका पूरक और प्रकाशक है।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।
(ईशोप॰ १४)

निष्काम कर्मसे चित्तकी शुद्धि होती है और ज्ञानसे भगवत्तत्त्वकी प्राप्ति। उपासनात्मक ज्ञान और भक्तिमें कोई अन्तर नहीं।

भक्तिके दो रूप हैं—उपासना और कैंकर्य। सदैव भगवान्‌का चिन्तन, स्मरण और ध्यान करना, भगवान्‌में अनन्य विश्वास एवं उन्हें अनवरत याद रखनेका ही नाम उपासना है। जिस प्रकार तेलकी धारा कभी टूटने नहीं पाती, उसी प्रकार जब परमात्माके अनवरत ध्यानसे परमात्मा प्रत्यक्षके समान हो जायँ, परमात्माके साथ मानव-हृदय एकाकार हो जाय, तब उसका नाम उपासना है।

तन ते कर्म करहु बिधि नाना। मन राखहु जहँ कृपानिधाना॥
मन तें सकल बासना भागी। केवल राम चरन लय लागी॥

उपासनाकी सफलताके लिये भगवान्‌के ऊपर आत्यन्तिक प्रेम होना आवश्यक है।

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥

भगवान्‌के चरणोंमें अन्तःकरणको जोड़ देना ही योग कहलाता है। उपासनामें सबसे अधिक आवश्यकता है भगवत्प्रेमकी; क्योंकि हम जिसको सबसे अधिक प्यार करते हैं, दिन-रात उसीके विषयमें सोचते रहते हैं। उसके स्मरण और चिन्तनमें आनन्दकी अनुभूति होती है। भगवान्‌को यदि हम हृदयसे प्यार करेंगे तो उनका ध्यान सदैव हमें बना रहेगा। उनके स्मरण और चिन्तनमें आनन्दकी अनुभूति होगी। उनके प्रेममें हम मस्त और मतवाले बने रहेंगे और एक क्षण भी बिना उनको देखे हृदय बेचैन हो उठेगा। अन्तःकरणका सबसे बड़ा आकर्षण प्रेम ही है। बिना प्रेमके यदि जबरदस्ती मनको भगवान्‌में लगाया भी जाय तो वहाँ वह अधिक देरतक नहीं टिक सकता। क्योंकि मन चञ्चल है और हठात् विषयोंकी ओर चला जाता है। भोग-रसका पान करनेवाले चञ्चल मनको प्रथम-प्रथम भगवान्‌में लगानेके लिये दो साधनोंकी आवश्यकता है—अभ्यास और वैराग्यकी। अभ्यासके द्वारा मनको भगवान्‌में टिकनेकी तथा भगवान्‌से प्रेम करनेकी आदत पड़ जाती है। वैराग्यके द्वारा संसारसे विरक्ति और परमात्मामें अनुरक्ति उत्पन्न होती है।

जब सब विषय विलास विरागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥
होइ बिबेक मोह भ्रम भागा।

भगवान्‌से अविचल प्रेमका ही नाम 'पराभक्ति' है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे। (शाण्डिल्यभक्तिसूत्र २)

भक्तिका दूसरा रूप कैंकर्य है। जीव शाश्वत भगवद्दास है और भगवान्‌की सेवा करना ही जीवका धर्म है। भक्ति चाहे माधुर्य-भावकी हो या दास्यभावकी, भगवत्कैंकर्य प्रत्येक दशामें आवश्यक है। परब्रह्म माया-प्रपञ्चसे परे त्रिपाद्-विभूतिके स्वामी श्रीमन्नारायण भगवान् हैं। मन-मन्दिरसे वासनाकी धूल झाड़कर, भक्ति-जलसे उसे प्रक्षालितकर, ज्ञान-रश्मिसे दीप्त प्रेम-सिंहासनपर श्रीमन्नारायण भगवान्‌की मूर्ति स्थापित करना ही परब्रह्मका कैंकर्य है। अन्तःकरण परब्रह्मके आलोकसे आलोकित हो जाय, हृदय परमात्माके चरणोंमें लीन हो जाय, शाश्वत प्रेम और अनवरत ध्यानके कारण भगवान् प्रत्यक्षके समान हो जायँ, तब परब्रह्मका कैंकर्य सम्पन्न हुआ समझना चाहिये। प्रपत्तिकी भावना इस कैंकर्यकी पोषक तथा पूरक है।

क्योंकि हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त होते हैं।'

भगवान्‌की माया इतनी प्रबल है कि ज्ञानियोंको भी मोह हो जाता है, पर भक्तोंपर मायाका कोई प्रभाव नहीं पड़ता—

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

(गीता ७ । १४)

फिर भी जिसकी बुद्धि मारी जाती है, वह परमात्माको नहीं भजता—उनकी शरणमें नहीं आता—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

(गीता ७ । १५)

भगवान्‌की भक्तिमें अनन्यता और अकिंचनता आवश्यक है। जबतक हम सम्पूर्ण आशा-भरोसा छोड़कर एकमात्र परमात्माकी शरणमें न चले जायँ, तबतक उनकी कृपादृष्टि नहीं मिल सकती। अनन्यताका अर्थ है—परमात्माको छोड़कर अन्य किसीको भी हृदयमें स्थान न देना, चाहे वह देवता हो या मनुष्य, कामिनी हो या काञ्चन। पत्नी जैसे आदर सभीका करती है, पर भजती है केवल पतिको ही, उसी प्रकार प्रपन्नको निन्दा किसीकी नहीं करनी चाहिये, आदर सभी देवताओंका करना चाहिये, पर भजना चाहिये केवल भगवान्‌को ही। हृदयमें केवल भगवान्‌को ही स्थान देना चाहिये, अन्यको नहीं।

सब कर मत खगनायक एहा। करिअ राम पद पंकज नेहा ॥

भक्त चार प्रकारके होते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। आर्त भक्त वे हैं, जिनपर कोई विपत्ति आ पड़ी और उस कष्टके निवारणके लिये ही वे भगवान्‌को भजते हैं। जिज्ञासु भगवान्‌को जाननेकी इच्छासे तथा अर्थार्थी किसी मनोरथ अथवा प्रयोजनकी सिद्धिके लिये भगवान्‌को भजते हैं। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी—तीनोंकी भक्ति सकाम है, अतः सदा-मोक्षप्रद नहीं है। ज्ञानी कर्तव्य तथा विवेककी प्रेरणासे भगवान्‌को भजते हैं। भगवान् स्वामी हैं और जीव दास है। अतः जीवका स्वत्व है भगवान्‌की भक्ति करना। ज्ञानीकी भक्ति निष्काम है, अतः वह सदा-मोक्षप्रद है।

भक्तिका ही एक सुगम रूप 'प्रपत्ति' है। भगवान्‌से मिलनेकी व्यवस्था प्रपत्तिका प्रधान अङ्ग है। भक्त समझते हैं कि भगवान् मेरे हैं (ममैवासौ), अतः उनकी सेवाका भार मेरे ऊपर है। प्रपन्न समझते हैं कि मैं भगवान्‌का हूँ (तस्यैवाहम्), अतः मेरी रक्षाका भार उनके ऊपर है। भक्तोंको बंदरके बच्चेसे उपमा दी जाती है, प्रपन्नोंको बिल्लीके बच्चेसे। बंदरके बच्चे खुद बंदरीको पकड़े रहते हैं, माँको कोई चिन्ता नहीं रहती। पर बिल्ली स्वयं अपने बच्चेको पकड़ती है, बच्चेको अपनी कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती। बच्चेसे भूल होना सम्भव है, पर माँसे भूल नहीं हो सकती। प्रपन्नोंके भक्ति-निर्वाहका भार भगवान्‌के ऊपर रहता है। मृत्युकालकी बेहोशीकी अवस्थामें भगवान्‌का ध्यान आना अत्यन्त कठिन है, पर प्रपन्नोंका वह कार्य भगवान् स्वयं सम्पन्न कर देते हैं—

ततस्तं म्रियमाणं तु काष्ठपाषाणसंनिभम् ।
अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम् ॥

साधारण भक्त नौकरके समान होता है, पर प्रपन्नकी अवस्था पत्नीकी-सी होती है। स्वामी यदि अप्रसन्न हो जाय तो दास अन्यत्र भी जा सकता है, पर पत्नी कहाँ जाय। उसके लिये तो पतिको छोड़कर और कोई आश्रय ही नहीं है। इसी तरह प्रपन्नके लिये सब कुछ भगवान् ही हैं।

प्रपत्तिके दो भेद हैं—शरणागति और आत्मसमर्पण। प्रपत्तिका होना केवल भगवत्कृपापर निर्भर करता है। विवाहिता पत्नीकी तरह प्रपन्नोंका केवल एक कर्तव्य रहता है—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।

—स्वामीके अनुकूल कार्य करना तथा स्वामीके प्रतिकूल कार्योंका सर्वथा त्याग।' पत्नीकी प्रतिष्ठा तथा रक्षाका भार तो पतिपर है ही; पर पत्नीका भी कर्तव्य है कि जो काम पतिको रुचे, वही करे; जो न रुचे, वह कभी न करे। उसी प्रकार प्रपन्नोंको भी भगवान्‌की इच्छाके अनुकूल ही आहार-विहार तथा अन्य सभी कर्मोंको करना चाहिये। भगवान्‌की इच्छाके विरुद्ध कोई भी शारीरिक या मानसिक कर्म नहीं करना चाहिये। जिस कामसे अपना, समाजका तथा संसारका कल्याण हो, वह भगवान्‌के अनुकूल है, जिस कामसे अपना और दूसरेका भी अनिष्ट होता हो, वह प्रतिकूल है।

शरणागतिकी झलक प्रथम-प्रथम उपनिषदोंमें मिलती है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

(श्वेता० ६ । १८)

भगवान्‌की प्रतिज्ञा है कि "जो एक बार भी शरणागत हो जाता है और हृदयसे यह कहता हुआ कि 'नाथ ! मैं आपका हूँ' मुझसे रक्षाके लिये प्रार्थना करता है, मैं उसको अभय कर देता हूँ।"

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वाल्मीकि रा० ६।१८।३३)

सभी धर्मों—सभी उपायोंको छोड़कर, संसारका सारा आशा-भरोसा त्यागकर निश्छल हृदयसे केवल भगवान्‌की शरणमें आनेसे ही भगवान् पापोंसे मुक्त कर देते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६६)

भगवान् अपने शरणागतका त्याग नहीं कर सकते—

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

प्रपत्तिका दूसरा अङ्ग है आत्मसमर्पण—अपने आपको भगवान्‌के चरणोंमें सौंप देना। जिस प्रकार पत्नी अपने आपको विवाहके समय स्वामीके चरणोंमें सौंप देती है, उसी प्रकार अपने शरीर, मन, आत्मा—सब कुछ परमात्माको दे देना—यह श्रीवैष्णवोंका पाँचवाँ संस्कार है। इसके बाद जीवको यह अधिकार नहीं रह जाता कि वह दी हुई वस्तुको वापस ले ले। जो शरीर, मन, आत्मा परमात्माको अर्पित हो गये हैं, उन्हें भगवत्कैंकर्यके अतिरिक्त अन्य किसी कार्यमें लगाना अनुचित है। आत्मसमर्पणके बाद यदि हम शरीर और मनको किसी अपवित्र कार्यमें लगावें तो हम आत्मापहारी (चोर) हो जायँगे। शरीर और मन हमारे रहे ही नहीं, वे भगवान्‌की वस्तु बन गये। अतः उन्हें वासनासे प्रेरित होकर हम प्रवृत्तिके अनुसार किसी भोग-कार्यमें नहीं लगा सकते। भगवान्‌की आज्ञा और इच्छाके अनुसार उसे किसी सत्कार्य अथवा भगवत्कैंकर्यमें ही लगा सकते हैं। प्रपन्नके लिये समय, शक्ति तथा धनका अपव्यय और दुरुपयोग असम्य वर्जनीय है। विलासिताओंमें, निरर्थक गप्पोंमें, व्यसनमें तथा ऐसे कामोंमें जिनसे संसारका, समाजका, मानवताका अनिष्ट होता हो, अपने समय, शक्ति एवं धनको लगाना प्रपत्तिका विरोधी है। भक्तोंको एक क्षण भी भगवत्कैंकर्यसे विमुख नहीं रहना चाहिये। कर्तव्यकी प्रेरणासे किये गये भगवान्‌की आज्ञाके अनुकूल जीवनके सारे कर्म भगवत्कैंकर्यके अन्तर्गत हैं। भक्तोंको भगवान्‌से भी अधिक अन्य भक्तोंका आदर करना चाहिये; क्योंकि भक्त भगवान्‌के जीवित स्वरूप हैं। भक्तोंके लिये दैन्य भी आवश्यक है। श्रीस्वामी यामुनाचार्यने कहा है—

> न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके सहस्रशो यन्न मया व्यधायि।
> सोऽहं विपाकावसरे मुकुन्द क्रन्दामि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे॥
> अपराधसहस्रभाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे।
> अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात्कुरु॥
>
> (स्तो० ११, ५१)

'ऐसा कोई निन्दित कर्म नहीं है, जिसे मैंने हजारों बार न किया हो। वही मैं उन कर्मोंके फल-भोगका समय आनेपर अब आपके सामने रो रहा हूँ। हजारों अपराधोंके भण्डार, भयंकर आवागमनरूप समुद्रके गर्भमें पड़े हुए आपकी शरणमें आये हुए मुझ आश्रयहीनको हे हरि! आप अपनी कृपासे ही अपना लीजिये।'

सब कुछ भगवान्‌के समर्पण करो

योगीश्वर कविजी कहते हैं—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्प[illegible]॥

(११।२।३६)

'(भागवतधर्मका पालन करनेवालेके लिये यह नि[illegible] यह एक विशे[illegible] ही करे।) वह शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहङ्कार[illegible] अथवा एक [illegible] स्वभाववश [illegible] जो-जो करे, वह सब परम पुरुष भगवान [illegible] के [illegible] उन्हें [illegible] यही सरल-से-सरल, सीधा-सा भागवतध[illegible]

भक्ति

(लेखक—पं० श्रीशिवशंकरजी अवस्थी शास्त्री, एम्० ए०)

स जयति गोकुलसद्मा
　　सरसिजनयनः शिशुर्घनश्यामः ।
पद्मपदचिह्नितसद्मा
　　कृतकलकन्दः कृपाजलधिः ॥

(मनस्तोष)

शुद्ध, श्याम रति भक्तिका प्रथम, तथा समापत्ति[1] चरम लक्षण है। अस्मात्, शुद्ध या सात्त्विक रतिरूप भाव या वृत्ति भगवान्‌के माहात्म्य-बोधके साथ नाना भूमिकाओंमें विकसित होकर फल-भक्तिका रूप ग्रहण करती है। चित्तमें रहे हुए सात्त्विक रतिरूप संस्कार, स्मृतिरूप आभ्यन्तर निमित्तद्वारा, अथवा शास्त्रवर्णित 'अतसीकुसुमोपमेयकान्ति' आदि कमनीय स्वरूप तथा अर्चादि विग्रहोंके दर्शनसे वृत्ति या भावके रूपमें परिणत होते हैं। स्मृति या कल्पनाजन्य वस्तुसे अथवा इन्द्रियप्रणालीद्वारा बाह्यवस्तुसे उपराग या आभोगके अनन्तर मनमें जो ग्राह्य-ग्रहणाकारा प्रतीति होती है, वही वृत्ति है।

वृत्तिमें स्थिरता नहीं होती। यह अन्यान्य वृत्तियोंद्वारा विच्छिन्न होती रहती है। नाम-कीर्तन तथा भावनादि साधन-भक्तिद्वारा आराध्यके साथ चित्त जब पूर्णतया समापन्न होता है, तब उस वृत्तिका उच्छेद कठिन हो जाता है। इस स्थितिमें वह वृत्तिमात्र न रहकर शक्तिका रूप ग्रहण करती है। भक्तको यहीं भक्तिरसकी अनुभूति होती है, जो विषया-वच्छिन्न चिदानन्दांशमूत लौकिक रसका साम्य-तत्त्व है।

यतिवर नारायणतीर्थने लिखा है—

इत्थं च लौकिकरसे शृङ्गारादौ विषयावच्छिन्नस्यैव चिदानन्दांशस्य स्फुरणात् तदानन्दांशस्य न्यूनत्वं भगवदाकारोल्लेखोल्लसितस्वभावे भक्तिरसे तु अनवच्छिन्नचिदानन्दघनस्य भगवतः स्फुरणात् तत्स्वरूपाभिव्यज्यमानस्य । अतो भगवद्भक्तिरस एव लौकिकरसापेक्षया परमरसिकैः सेव्यः ।'

(भक्तिचन्द्रिका)

सामान्य जनोंकी प्रतीतिका विषय न बननेके कारण ही भक्तिको काव्योचित[1]-लक्षण-ग्रन्थोंमें भावमात्रकी संज्ञा प्राप्त हुई है। भक्तिमार्गसे परिचित व्यक्तियोंसे यह छिपा नहीं है कि किस प्रकार हृदयदेशकी कल्पना-मूर्तिके अन्तरालसे कोटि-काम-कमनीय, तडित्कान्ति, कमल-कोमल भगवद्विग्रहका आविर्भाव होकर विलक्षण रसका चर्वण होता है। फलभक्ति-रूप उत्कृष्ट रसदशामें द्वैतका परिहार हो जाता है। यहाँ पूर्ण ऐक्यकी सिद्धि होती है। यही भक्तका मोक्ष है।

भजनीयेन अद्वितीयमिदं कृत्स्नस्य तत्स्वरूपत्वात् ।

(शाण्डिल्यसूत्र)

अर्थात् परमेश्वरसे—ये सेवक, सेवा तथा तत्साधनरूप गुरु-मन्त्रादि अभिन्न हैं; कारण, सम्पूर्ण जगत् परमात्मस्व-

---

1\. क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः । 　(पातञ्जलयोगदर्शन १ । ४१)

'वृत्तिहीन स्फटिक मणिके सदृश, वृत्तिरहित चित्तका गृहीता, ग्रहण अथवा ग्राह्यरूपोंके द्वारा उपरञ्जित होकर उन्हींके आकाररूपमें भासित होना समापत्ति है।'

2\. सर्वात्मनाभिमिरेव 　　स्नेहधारानुसारिणी ।
रतिः प्रेमपरिभाषा 　　भक्तिर्भगवदन्यत्रैव ॥

(शाण्डिल्य-संहिता)

1\. (क) भाव एवाभिरेके ।

(भक्तिमीमांसा सूत्र २ । २ । १)

(ख) रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः ।
भावः प्रोक्तः ··· ···। (काव्य-प्रकाश ४ । ३५)

2\. (क) सैव फलरूपेति ब्रह्मकुमाराः । १० ।
तस्मात् सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः । ११ ।

(नारद-भक्तिसूत्र)

(ख) सैव मोक्ष विरक्तिः सपरिकरघनानन्दभुक्तिः मतिश्च
सैवान्तःसंस्कृतानिर्वचनसुपथिकतत्त्वविद्यानसक्तिः ।
योगश्चापि च सैव प्रकटितपरमानन्दसर्वस्वमुक्तिः
सैवाद्वैता च मुक्तिः कथमपि भजनानन्दमुक्तैः परा भक्तिः ॥

(भक्तिनिर्णय)

(ग) तत्र भक्तिर्भक्तं तत्र 'भज' सेवायामिति धात्वनुसारात् सेवामात्रम्, समानेऽपि राजसेवादिकर्मणि भक्तोऽयमभक्तोऽयमिति भेदव्यवहारदर्शनात् । मात्रप्राधान्येन कार्यं सा भक्तस्यसि भजनधर्मत्वादिविज्ञानस्यापि भक्तोऽयमिति भिन्नव्यवहारस्तेन पूज्य-नमस्कारादावनुगमाच्च । अतएव न भजनमात्रेऽपि तच्छब्दः प्रयोक्तव्यः गौरवात् । किंतु भक्तिस्त्वं भजनं हरिगुणोपाधिनैरन्तर्येण मनःसंस्थापनमेतदेव च मैत्र्यधर्मम् ।

(भक्तिचन्द्रिका)

रूप ही तो है। भक्तिकी रसरूपतामें प्रायः सभी तत्त्वज्ञ एक-मत हैं। कुछ लोग उसे समाधिजन्य ब्रह्मानन्द-सदृश अथवा उससे भी बढ़कर मानते हैं—

> सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। २।
> अमृतस्वरूपा च। ३। (नारद०)
> सा परानुरक्तिरीश्वरे। २।
> तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात्। ३।
> द्वेषप्रतिपक्षभावाद् रसशब्दाच्च रागः। ६।
> (शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र)
> भक्तिर्मनस उल्लासविशेषः। १।
> रसस्तु तत्सामग्रीत उत्पत्तेः। ४।
> (भक्तिमीमांसासूत्र)

उपर्युक्त सूत्रोंका तात्पर्य यह है कि—परमात्मामें परमप्रेम ही भक्ति है; उसे अमृत, रस अथवा राग शब्दसे भी कहा जाता है।

समाधिसुखस्येव भक्तिसुखस्यापि स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वात्। भक्तियोगः पुरुषार्थः परमानन्दरूपत्वादिति निर्विवादम्।
(भक्तिरसायन)

'समाधिसुखके सदृश भक्तिसुख भी परमानन्द रूप होनेसे स्वतन्त्र पुरुषार्थ है।'

> ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्धगुणीकृतः।
> नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि॥
> (भक्तिरसामृतसिन्धु)

'एक ओर ब्रह्मानन्दको परार्धगुना करके रखा जाय तथा दूसरी ओर भक्तिसुखके सागरका परमाणु, तो भी इसकी तुलना ब्रह्मानन्द नहीं कर सकता।'

श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

> या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
> ध्यानाद् भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्।
> सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
> किं त्वन्तकासिलुलितात् पततां विमानात्॥
> (४। ९। १०)

ध्रुवजी कहते हैं—

'नाथ! आपके चरण-कमलोंका ध्यान करनेसे और आपके भक्तोंके पवित्र चरित्र सुननेसे प्राणियोंको जो आनन्द प्राप्त होता है, वह निजानन्दस्वरूप ब्रह्ममें भी नहीं मिल सकता। फिर जिन्हें कालकी तलवार काटे डालती है, उन स्वर्गीय विमानोंसे गिरनेवाले पुरुषोंको तो वह सुख मिल ही कैसे सकता है।'

तथा च श्रीमन्मुरहरमधुमथनपदारविन्दमकरन्दमन्दाकिनीमवगाहमानस्य मनसः समुल्लासो रत्यन्तप्रेमशब्दाभिधेय एव स्वानन्दमाविर्भावयन् कार्यभावकिरादिभिरभिव्यक्तो रसरूपो रत्याख्यः स्थायी भावो मोक्षमपि न्यक्कुर्वन् परमभक्तिरिति सिद्धम्।
(भक्तिचन्द्रिका[2])

'भगवान् विष्णु अथवा भगवान् शंकरके चरण-कमलके मकरन्दकी मन्दाकिनीमें अवगाहन करनेवाले मनका उल्लास ही 'राग' 'भाव' अथवा 'प्रेम' शब्दसे कहा जाता है। वह आत्मानन्दको प्रकट करता हुआ, हरि अथवा हरिभक्त आलम्बन विभाव-नामक तथा माहात्म्य-गुणादिकोंका श्रवण एवं पुण्यवनादि भूमिरूप उद्दीपन-विभाव-नामक कारण अश्रु-रोमाञ्चादि अनुभावरूप कार्य तथा हर्ष-निर्वेदादि सहकारी निर्वेदसे अभिव्यक्त, मोक्षको भी पराजित करनेवाला रसरूप रति-नामक स्थायीभाव ही परभक्ति है, यह सिद्ध हुआ।'

यही नहीं, साहित्यिक-शिरोमणि श्रीआनन्दवर्धनाचार्य कहता है कि 'कवियोंकी अभिनव रसदृष्टि तथा विद्वानों की ज्ञान-दृष्टि—इन दोनोंमें मुझे वह सुख नहीं मिला जो क्षीरोदधिशायी भगवान् विष्णुकी भक्तिमें प्राप्त हुआ।'

> या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा
> दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
> ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
> श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्॥
> (ध्वन्यालोक)

श्रवणादि नवधा भक्ति, महत्सेवादि भक्ति-भूमिकाएँ[1] तथा रत्यादि प्रेमा भक्तिके प्रादुर्भावमें नाम-जप ही

---

१. प्रथमं महतां सेवा तद्दयापात्रता ततः।
श्रद्धाथ तेषां धर्मेषु ततो हरिगुणश्रुतिः॥
ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः स्वरूपाधिगतिस्ततः।
प्रेमवृद्धिः परानन्दे तस्याथ स्फुरणं ततः॥
भगवद्धर्मनिष्ठातः स्वस्मिंस्तद्गुणशालिता।
प्रेम्णोऽथ परमा काष्ठेत्युदिता भक्तिभूमिकाः॥

२. देखिये—श्रीनारायणतीर्थकी भक्तिचन्द्रिका।

मूल कारण है। वेदोंसे लेकर आजतकके अनुभवी भक्तोंने पापों तथा तज्जन्य रोगोंके उन्मूलन एवं तत्त्वकी उपलब्धिमें भगवन्नामको ही परमाश्रय माना है—

गृणीमसि त्वेषं रुद्रस्य नाम ।

(ऋग्वेद मं० २, सूक्त ३३)

'हमलोग रुद्रका प्रदीप्त नाम लेते हैं।'

प्रतत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान् ।
तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान् क्षयन्तमस्य रजसः पराके ॥

(ऋग्वेद म० ७ अ० ६ व० २५ मंत्र ५)

'परिशः दृश्यमान इस प्रपञ्चसे परे सूक्ष्मरूपसे निवास करनेवाले हे अन्तर्यामी! मैं अल्प प्राणी नामकी शक्ति जानता हुआ आपके श्रेष्ठ नामका तथा महिमाशाली आपके गुणोंका कीर्तन करता हूँ।'

जप करते-करते नामके अन्तस्तलसे वाणीके परम रस तथा पुण्यतम ज्योतिका प्रादुर्भाव होता है।

प्राप्तरूपविभागाया यो वाचः परमो रसः ।
यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः ॥

(वाक्यपदीय)

'अनन्त वाचकरूपोंमें विभक्त वाणीके परम रस एवं पुण्यतम ज्योतिकी उपलब्धि करनेके लिये व्याकरण एक सरल मार्ग है।' व्याकरणसे तात्पर्य है—वाक्योंको पदोंमें, पदोंको वर्णोंमें, वर्णोंको श्रुतियोंमें तथा श्रुतियोंको परमाणुओंमें तोड़नेकी विद्या।

सम्पूर्ण धर्मादि पुरुषार्थोंके एकमात्र स्वामी लक्ष्मीपति परम कृपालु परमात्मा हमारे हृदय-देशमें बैठे हैं और हम फिर भी दीन बने हैं। कैसी विडम्बना है।

मया वारं वारं जठरभरणाय प्रतिदिनं
प्रयातेन व्यर्थीकृतमहह जन्मैव सकलम् ।
हृदिस्थोऽपि श्रीमानखिलपुरुषार्थैकनिलयो
दयोदारस्वामी न च गरुडगामी परिचितः ॥

(वैष्णव-कण्ठाभरण)

अतः अब भगवान्से प्रार्थना है—

त्वन्नामकीर्तनसुधारसपानपीनो
दीनोऽपि दैन्यमपहाय दिवं प्रयाति ।
पश्चादुपैति परमं पदमीश ते वै-
तद्भाग्यपौष्यकरणं कुरु मामपीश ॥

(भविष्यपुराण)

'दीन—दुःखी मनुष्य भी तुम्हारे नाम-कीर्तनरूप सुधा-रसके पानसे पुष्ट होकर दीनता त्याग दिव्य-लोकोंमें चला जाता है और वहाँके भोगोंको चिरकालतक भोगकर फिर हे स्वामिन्! वह आपके परमपदको पा लेता है। हे प्रभो! मुझे भी ऐसा बना दीजिये, जिससे मेरी वाणी आदि इन्द्रियाँ इस प्रकारका सौभाग्य प्राप्तकर धन्य हो सकें।'

भक्तिसे पाप पूरी तरह जल जाते हैं

स्वयं भगवान् कहते हैं—

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् । तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १९)

'उद्धव! जैसे धधकती हुई आग लकड़ियोंके बड़े ढेरको भी जलाकर खाक कर देती है, वैसे ही मेरी भक्ति भी समस्त पापराशिको पूर्णतया जला डालती है।'

---

१. ऋग्वेदमें भक्ति-सम्बन्धी मन्त्र—

१. तमु स्तोतारः…(१ । १५६ । ३)
२. नू मर्तो दयते …(७ । १०० । १)
३. त्रिर्देवः पृथिवीमेष …(७ । १०० । ३)
४. तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम् …(१ । १५४ । ५)
५. यः पूर्व्याय वेधसे …(१ । १५६ । २)
६. वि चक्रमे पृथिवीमेष …(७ । १०० । ४)
७. प्र विष्णवे शूषमेतु …(१ । १५४ । ३)
८. यो मर्त्येषु निरमाति पूर्व…(खि० अप० ६ । २८)

विशेष जानकारीके लिये भक्तिनिर्णय, भगवन्नाम-माहात्म्य-संग्रह तथा भक्ति-चन्द्रिका देखें।

करोड़ों ब्राह्मणोंकी हत्या लगी हो, शरणमें आनेपर मैं उसे भी नहीं त्यागता । जीव ज्यों ही मेरे सम्मुख होता है, त्यों ही उसके करोड़ों जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं ।'

इस सम्बन्धमें भरतलालजी श्रीरामचन्द्रसे कहते हैं—

राउरि रीति सुबानि बड़ाई । जगत बिदित निगमागम गाई ॥
कूर कुटिल खल कुमति कलंकी । नीच निसील निरीस निसंकी ॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए । सकृत प्रनामु किहें अपनाए ॥
देखि दोष कबहुँ न उर आने । सुनि गुन साधु समाज बखाने ॥

'हे नाथ ! आपकी रीति और सुन्दर स्वभावकी बड़ाई जगत्‌में प्रसिद्ध है और वेद-शास्त्रोंने गायी है । जो क्रूर, कुटिल, दुष्ट, कुबुद्धि, कलङ्की, नीच, शीलहीन, निरीश्वरवादी (नास्तिक) और निःशङ्क (निडर) हैं, उन्हें भी आपने शरणमें सम्मुख आया सुनकर एक बार प्रणाम करनेपर ही अपना लिया । उन (शरणागतों) के दोषोंको देखकर भी आपने कभी मनमें नहीं रखा और उनके गुणोंको सुनकर साधुओंके समाजमें उनका बखान किया ।'

दृष्टान्तस्वरूपमें सुग्रीव और विभीषणको लिया जाय । सुग्रीव और विभीषण आर्तभक्त थे । सुग्रीवको रामचन्द्रने कहा—

अंगद सहित करहु तुम्ह राजू । संतत हृदयँ धरेहु मम काजू ॥

'तुम अङ्गदसहित राज्य करो । मेरे कामका हृदयमें सदा ध्यान रखना ।'

श्रीरामचन्द्रने सुग्रीवसे कामको ध्यानमें रखनेको कहा, इसका कारण यह था कि बालीके मरनेके पहले सुग्रीवने रामचन्द्रसे कहा था—

कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा । तजहु सोच मन आनहु धीरा ॥
सब प्रकार करिहउँ सेवकाई । जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई ॥

'हे रघुवीर ! सुनिये ! सोच छोड़ दीजिये और मनमें धीरज लाइये । मैं सब प्रकारसे आपकी सेवा करूँगा, जिस उपायसे जानकीजी आकर आपको मिलें ।'

राज्य पानेपर सुग्रीवने क्या किया, यह भी प्रत्यक्ष है—

इहाँ पवनसुत हृदयँ बिचारा । राम काजु सुग्रीवँ बिसारा ॥

'यहाँ (किष्किन्धानगरीमें) पवनकुमार श्रीहनुमान्‌जीने विचार किया कि सुग्रीवने रामकार्यको भुला दिया ।'

उस ओर रामचन्द्र क्या कहते हैं—

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी । पावा राज कोस पुर नारी ॥

'सुग्रीव भी राज्य, खजाना, नगर और स्त्री पा गया है और उसने मेरी सुध भुला दी है ।'

सेवक सुग्रीव प्रभुके बलसे पाये हुए राज्यका सुख भोग रहा है और प्रभु स्वयं एक पहाड़पर वर्षाके विकराल दिनोंको बिता रहे हैं, हृदयमें सीता-जैसी पतिव्रता स्त्रीके वियोगका दुःख है—पता नहीं, सीता कहाँ और किस अवस्थामें है । रामचन्द्र लक्ष्मणजीसे कहते हैं—

बरषा गत निर्मल रितु आई । सुधि न तात सीता कै पाई ॥
एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं । कालहु जीति निमिष महुँ आनौं ॥
कतहुँ रहउ जौं जीवति होई । तात जतन करि आनउँ सोई ॥

'वर्षा बीत गयी, निर्मल शरद्-ऋतु आ गयी; परंतु तात ! सीताका कोई समाचार नहीं मिला । एक बार किसी प्रकार भी पता पा जाऊँ तो कालको भी जीतकर पलभरमें जानकीको ले आऊँ । कहीं भी रहे, यदि जीती होगी तो हे तात ! यत्न करके मैं उसे अवश्य लाऊँगा ।'

इस प्रकार प्रभुको चिन्ता और विषादसे युक्त देखकर जब लक्ष्मणजी क्रोधित हो उठे, तब रामचन्द्रने लक्ष्मणजीसे कहा—

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव ।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव ॥

'तब दयाकी सीमा श्रीरघुनाथजीने छोटे भाई लक्ष्मणको समझाया कि हे तात ! सुग्रीव सखा है, केवल भय दिखलाकर ले आओ (उनका और किसी प्रकारका अनिष्ट न हो) ।'

यह कृपालुताकी पराकाष्ठा है । सुग्रीवको बुलानेकी भी आवश्यकता केवल इसीलिये है कि रामचन्द्र उससे उसकी प्रतिज्ञाके अनुसार काम कराना चाहते हैं, ताकि भक्तके वचन भी मिथ्या न हो जायँ तथा उसकी भक्ति और ख्याति बनी रहे ।

फिर विभीषणकी ही बात देखी जाय । श्रीरामचन्द्रने प्रतिज्ञा की थी—

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह ।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह ॥

'श्रीरामजीने भुजा उठाकर (मुनिमण्डलीमें) प्रण किया कि मैं पृथ्वीको राक्षसोंसे रहित कर दूँगा । फिर समस्त मुनियोंके आश्रमोंमें जा-जाकर उनको सुख दिया ।'

फिर रामचन्द्रने दूसरी प्रतिज्ञा जटायुके सामने की थी—

सीता हरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ ।
जौं मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ ॥

'हे तात ! सीता-हरणकी बात आप जाकर पिताजीसे न कहियेगा । यदि मैं राम हूँ तो दशमुख रावण स्वयं ही कुटुम्बसहित वहाँ आकर कहेगा ।'

ऐसी-ऐसी प्रतिज्ञा रहनेपर भी जब विभीषणने आकर और अपना परिचय देकर भगवान् श्रीरामको प्रणाम किया, तब एक बारकी दण्डवत् (सकृत् प्रणाम) से ही रामचन्द्र द्रवित हो गये और उसे—

मुख बिलोकि गहि हृदयँ लगावा।

इससे यह सिद्ध है कि जिस प्रकार हजारों वर्षोंके अन्धकारमय स्थानमें भी प्रकाश पहुँचनेपर वह स्थान तुरंत प्रकाशित हो उठता है, उसी प्रकार नीच-से-नीच जीव भी जब भगवान् श्रीरामकी शरणमें आता है, तब वे उसे अपना लेते हैं और उसके किसी भी गुण-दोषका विचार नहीं करते। अतः भक्ति-मार्ग अत्यन्त ही सुगम और सरल है।

मुख्य विशेषता तो यह है कि एक बार प्रभुके दरबारमें जाकर प्रणाम कर लेनेसे ही फिर उस जीवपर प्रभु कभी नाराज नहीं होते। पूज्यपाद गोस्वामीजीका अनुभव है—

जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहिं करुना करि कीन्ह न कोहू॥

'जिनकी भक्तोंपर बड़ी ममता और कृपा है—यहाँतक कि जिन्होंने एक बार जिसपर कृपा कर दी, उसपर फिर कभी क्रोध नहीं किया।'

भक्ति सुलभ है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि इसके लिये किसी भी अन्य साधनकी आवश्यकता नहीं है। जैसे कोई मूर्ख और अज्ञानी जीव भी कल्पवृक्षके तले जाकर कोई कामना करे तो उसकी वह कामना पूर्ण होगी ही, उसी प्रकार केवल भक्तिकी चाहसे राम-नामकी शरण पकड़नेपर उसे भक्ति मिल जाती है और वह जीव सुखी हो जाता है। गोस्वामीजीने अपनी विनय-पत्रिकामें कहा है—

मोको भयो रामनाम सुरतरु सो रामप्रसाद कृपालु कृपा के।
तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय बबा के॥

'मेरे लिये तो एक राम-नाम ही कल्पवृक्ष हो गया है और वह कृपालु श्रीरामचन्द्रजीकी कृपासे हुआ है। अब तुलसी इस अनुभवके कारण ऐसा सुखी और निश्चिन्त है, जैसे कोई बालक अपने माता-पिताके राज्यमें होता है।'

भगवान् श्रीराम स्वयं नारदजीसे कहने लगे—

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥

'हे मुने! सुनो, मैं तुम्हें जोर देकर कह रहा हूँ कि जो समस्त आशा-भरोसा छोड़कर केवल मुझको ही भजते हैं, मैं सदा उनकी वैसे ही रखवाली करता हूँ, जैसे माता बालककी रक्षा करती है।'

इन सभी प्रसङ्गोंसे यह प्रमाणित होता है कि भक्तोंकी रक्षा और योग-क्षेमकी रक्षा स्वयं भगवान् निरन्तर अतन्द्रित भावसे किया करते हैं और इसकी प्राप्तिके लिये आवश्यकता इस परम सुलभ उपायकी है कि एक बार भी उनकी शरणमें जाकर जीव कह दे—'प्रभो! मेरी रक्षा कीजिये।'

भक्तियोगकी सुगमता इस बातसे भी स्पष्ट होती है कि इसके लिये कोई कठिन इन्द्रिय-निग्रह या तपस्याकी आवश्यकता नहीं होती। केवल कर्मोंको भगवत्-प्रेममें डुबा देना है। किसी भी कर्ममें इन्द्रिय-निरोध करनेकी कठोर आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता केवल यह है कि समस्त इन्द्रियार्थोंमें भगवान्‌का रूप मिला है और सर्व भगवन्निमित्तक हो।

प्रवृत्तिवाले कार्योंकी भी आवश्यकता इसमें नहीं है। बल्कि भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा॥

'भाई! यह मेरी भक्तिका मार्ग सुलभ और सुखदायक है, पुराणों और वेदोंने इसे गाया है। न किसीसे वैर करे न लड़ाई-झगड़ा करे, न आशा रखे न भय ही करे। उसके लिये सभी दिशाएँ सदा सुखमयी हैं, जो कोई भी आरम्भ (आसक्तिपूर्वक कर्म) नहीं करता, जिसका कोई अपना घर नहीं है (यानी जिसकी घरमें ममता नहीं है), जो मानहीन, पापहीन और क्रोधहीन है और जो भक्ति करनेमें निपुण और विज्ञानवान् है, संतजनोंके संसर्ग (सत्सङ्ग) से जिसे सदा प्रेम है, जिसके मनमें सभी विषय—यहाँतक कि स्वर्ग और मुक्तितक (भक्तिके सामने) तृणके समान हैं।'

अस हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सुहाई॥

'ऐसी सुगम और परम सुख देनेवाली हरि-भक्ति जिसे न सुहावे, ऐसा मूढ़ कौन है?'

अतः गम्भीर दृष्टिसे देखनेपर ज्ञात होता है कि भगवद्भक्ति गुणमें तो परम तेजस्वी एवं महान् है, किंतु इसकी प्राप्ति परम सुलभ उपायसे होती है। प्राप्तिके लिये जीवको केवल पूर्ण विश्वासके साथ भगवान्‌की शरणमें जाकर अपनेको भगवान्‌के चरण-कमलोंमें समर्पण कर देना है।

भगवान्‌की शरणमें आनेपर और भगवत्-भक्ति प्राप्त हो जानेपर जीवकी क्या दशा होती है और उसको किस-किस कामके उत्तरदायित्वसे छुटकारा मिल जाता है, इस विषयमें श्रीराघवेन्द्र स्वयं ही श्रीलक्ष्मणजीसे कहते हैं—

चले हरषि तजि नगर नृप तापस बनिक भिखारि।
जिमि हरि भगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि॥

× × × ×

सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा॥

'(शरद्-ऋतु देखकर) राजा, तपस्वी, व्यापारी और भिखारी हर्षित होकर नगर छोड़कर उसी प्रकार चले, जैसे भगवान्‌की भक्ति पाकर चारों आश्रमवाले श्रमको त्याग देते हैं।'

× × × ×

'जो मछलियाँ अथाह जलमें निवास करती हैं, वे उसी प्रकार सुखी रहती हैं जैसे भगवान्‌की शरणमें चले जानेपर मनुष्यको एक भी बाधा नहीं सताती।'

भक्तिके लक्षण

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधरजी शर्मा चतुर्वेदी 'वाचस्पति')

भक्ति आर्य-जातिका सर्वस्व है। प्रत्येक मनुष्य इसीके आधारपर अपने कल्याणकी इच्छा करता है और इसीसे कल्याण होनेका दृढ़ विश्वास रखता है। उस भक्तिका क्या लक्षण है—यह विचार यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। क्योंकि हमारे शास्त्र ऐसा मानते हैं कि लक्षण और प्रमाणसे ही किसी वस्तुकी सिद्धि हुआ करती है। जिसका कोई लक्षण नहीं, वह वस्तु ही सिद्ध नहीं। इसलिये शास्त्रकार सभी वस्तुओंका लक्षण बताया करते हैं। तदनुसार भक्तिका भी कोई लक्षण होना आवश्यक है। लक्षण प्रायः वाचक शब्दकी निरुक्तिसे ही बताये जाते हैं। अतः 'भक्ति' शब्दार्थके क्रमिक विकासका विचार भी यहाँ आवश्यक है।

'भक्ति' और 'भाग' दोनों शब्द एक ही धातुसे सिद्ध होते हैं। यद्यपि दोनों शब्दोंमें प्रत्यय भिन्न-भिन्न हैं, तथापि उन दोनों प्रत्ययोंका अर्थ भी व्याकरणमें एक ही माना गया है। इससे सिद्ध होता है कि 'भक्ति' और 'भाग' शब्द समानार्थक हैं। 'भाग' शब्द लोकव्यवहारमें अवयव अर्थमें भी प्रसिद्ध है, और किसी समुदायका एक अवयव जो नियत रूपसे किसीके अधिकारमें दे दिया जाय, उसे भी भाग कहते हैं—जैसे यह वस्तु देवदत्तका भाग है, यह चैत्रका या यज्ञदत्तका इत्यादि। वैदिक वाङ्मयमें 'भक्ति' शब्दका प्रयोग भी इसी अर्थमें पाया मिलता है। ऋग्वेदसंहिता ८। २७। ११में 'भक्तये' यह चतुर्थी विभक्तिका रूप आया है। उसका अर्थ भाष्यकारोंने 'सम्भजनाय'—'भजनाय' अर्थात् 'विभाग' के लिये अथवा 'विभाग-प्राप्ति' करनेके लिये—यही किया है। ब्राह्मणोंमें भी ऐतरेय ब्राह्मणकी तृतीय पञ्चिकाके २०वें खण्डमें और सप्तम पञ्चिकाके चतुर्थ खण्डमें एवं दैवत-ब्राह्मणके तृतीय अध्यायकी २२ वीं कण्डिकामें 'भक्ति' शब्द मिलता है। वहाँ सब जगह भाष्यकारोंने उस शब्दका 'भाग' ही अर्थ किया है। वेदमन्त्रोंके अर्थका परिचायक निरुक्त ग्रन्थ है। वह भी वेदाङ्ग होनेके कारण वैदिक वाङ्मयमें ही गिना जाता है। उसमें भी 'भक्ति' शब्दका व्यवहार हुआ है—

तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात् तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः।

अर्थात् तीनों लोकोंके तीन ही मुख्य देवता हैं—अग्नि, वायु और सूर्य, यह पहले कह चुके हैं। अब उनकी भक्ति और साहचर्यकी व्याख्या करते हैं। यहाँ भी भक्तिका अर्थ भाग ही है, जैसा कि व्याख्यान करते हुए निरुक्तकारने आगे लिखा है—

अथैतान्यग्निभक्तीनि, अयं लोकः, प्रातःसवनम्, वसन्तः, गायत्री इत्यादि।

अर्थात् यह पृथ्वीलोक, यज्ञका प्रातः-सवन, वसन्त ऋतु, गायत्री छन्द—ये सब अग्निकी भक्ति हैं अर्थात् अग्नि देवताके भागमें आये हुए हैं। अस्तु, यह सिद्ध हो गया कि वैदिक वाङ्मयमें 'भक्ति' शब्द उस अर्थमें नहीं मिलता, जिस अर्थमें आजकल प्रसिद्ध है, किंतु 'भाग' अर्थमें ही मिलता है। पूर्वोक्त निरुक्त-वचनका यह तात्पर्य हो सकता है कि पृथिवीलोक, गायत्री छन्द आदि अग्नि देवताके अवयव हैं; क्योंकि निरुक्तकार ऐसा ही मानते हैं कि लोक, छन्द आदि सब देवताके स्वरूप ही होते हैं। इसलिये उन्हें अवयव भी कह सकते हैं। और अग्नि देवताके भागमें ये सब हैं—इस प्रकार 'अधिकार' अर्थ भी कर सकते हैं। अस्तु,

वैदिक वाङ्मयमें केवल श्वेताश्वतर उपनिषद्में वर्तमान प्रचलित अर्थमें 'भक्ति' शब्द आया है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
(६।२३)

'जिस पुरुषकी देवमें परम भक्ति हो और देवके समान ही गुरुमें भी भक्ति हो, उस पुरुषके हृदयमें इन उपनिषद्के कहे हुए अर्थोंका प्रकाश हो सकता है।'

यहाँ 'भक्ति' शब्दका श्रद्धा या प्रेम ही अर्थ है। किंतु यह मन्त्र उपनिषद्के अन्तमें अधिकार और फलश्रुतिके साथ पढ़ा गया है। इसलिये बहुतोंको संदेह है कि यह उपनिषद्का भाग है या नहीं। सम्भव है अधिकारका निरूपण पीछे ही जोड़ा गया हो। और यहाँ भक्तिको ज्ञानका अङ्ग माना गया है, इसलिये शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रके स्वप्नेश्वर-भाष्यमें भी यह निर्णय किया गया है कि यहाँ 'देव' शब्दका अर्थ ईश्वर नहीं, किंतु ज्ञान देनेवाले देवता ही यहाँ 'देव' शब्दका अर्थ है, और उनपर तथा अपने गुरुपर श्रद्धा ही यहाँ 'भक्ति' शब्दका अर्थ है। अस्तु,

पूर्वोक्त वैदिक वाङ्मयके अनुसार ही यदि शब्दका अर्थ लिया जाय तो 'ईश्वरकी भक्ति करो' इस वाक्यका अर्थ होगा कि 'ईश्वरके भाग बनो'। तब प्रश्न होगा कि ईश्वरके भाग तो सब जीव हैं ही, फिर बनें क्या? यह सभी ईश्वरवादियोंका अनुभव है कि हम ईश्वरके अधिकारमें हैं—जैसे ईश्वर चलाता है, वैसे ही चलते हैं और 'भाग' शब्दका 'अवयव' अर्थ लिया जाय, तो यह भी ठीक है कि सब ईश्वरके अवयव हैं; क्योंकि जीवमात्रको ईश्वरका अंश श्रुति-स्मृति और ब्रह्मसूत्रोंने कहा है। ब्रह्मसूत्रोंमें सबके अवयव होनेकी उपपत्ति तीन प्रकारसे बतायी गयी है। अग्नि विस्फुलिङ्गके समान अंशांशिभाववादसे, प्रतिबिम्बवादसे या अवच्छेदवादसे। अंशांशिभाववादका आशय यह है कि यद्यपि लोकमें अंशसे अंशी या अवयवसे अवयवी बनता है, जैसे तन्तुओंसे पट या ईंटोंसे मकान बना करता है; किंतु यहाँ वैसी बात नहीं। यहाँ अंशोंसे अंशी नहीं बनता, किंतु अंशीसे अंश निकलते हैं। जैसे प्रज्वलित अग्निमेंसे छोटे-छोटे कण निकलकर बाहर अपना पृथक्-पृथक् आयतन बना लेते हैं और इन्धन पाकर अलग-अलग प्रज्वलित हो जाते हैं, वैसे ही ईश्वरमेंसे जीव पृथक्-पृथक् प्रकट होकर अपना-अपना शरीररूप आयतन बनाकर उसके स्वामी बन जाते हैं। अग्नि एक सावयव परिच्छिन्न पदार्थ है, इसलिये वहाँ यह शङ्का हो सकती है कि अग्निमेंसे बहुत-से कण या विस्फुलिङ्ग बराबर निकलते रहनेपर अग्नि न्यून हो जायगी या समाप्त ही हो जायगी। किंतु ईश्वर निरवयव और विभु है, इसलिये यहाँ पर घटनेकी या समाप्त हो जाने की कोई आशङ्का नहीं। अनन्तमेंसे अनन्त निकल जानेपर भी अनन्त ही बना रहता है—

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

दूसरा—प्रतिबिम्बवाद यह बताया गया है—जैसे एक ही सूर्यके हजारों जलपात्रोंमें हजारों प्रतिबिम्ब बनते और चमकते हैं तथा अपनी किरणें थोड़े प्रदेशमें फैलाते हैं, उसी प्रकार एक ईश्वरके भिन्न-भिन्न अन्तःकरणोंमें प्रतिबिम्बित अनन्त जीव हैं। उनमें भी चमकरूप थोड़ा-थोड़ा ज्ञान है और उस ज्ञानका अल्प प्रसार भी है। प्रतिबिम्बोंके न रहने या नष्ट हो जानेपर भी बिम्बका कुछ नहीं बिगड़ता, जलमें कम्पन होनेपर प्रतिबिम्ब ही कम्पित होता है, किंतु बिम्बका उस कम्पनसे कोई सम्बन्ध नहीं। इसी प्रकार जीवके सुख-दुःखादिका या इसके जन्म-मरण आदिका ईश्वरसे कोई सम्बन्ध नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि प्रतिबिम्बमें कोई नयी सजावट करनी हो तो सीधी सजावट प्रतिबिम्बमें नहीं की जा सकेगी; बिम्बको सजा दो, प्रतिबिम्ब भी अपने-आप सज जायगा। उदाहरणके लिये हमारे मुखका प्रतिबिम्ब अनेक दर्पणोंमें पड़ता है—उन प्रतिबिम्बोंमें यदि हम तिलक लगाना चाहें तो सीधे प्रतिबिम्बोंमें नहीं लगा सकेंगे, किंतु बिम्बरूप मुखमें तिलक लगा देनेपर प्रतिबिम्बोंमें अपने-आप ही वह तिलक लग जायगा। इसी प्रकार ईश्वरको हम जो कुछ अर्पण करें, उसका प्रतिफल हमें अवश्य प्राप्त होगा। यह 'प्रतिबिम्बवाद' हुआ। तीसरे—'अवच्छेदवाद' का स्वरूप यह है कि जैसे अनन्त और अपरिच्छिन्न आकाश एक घड़ा या दीवारोंके घेरेमें आ जानेसे एक घरके रूपमें महाकाशसे पृथक्-सा प्रतीत होने लगता है, पर वास्तवमें पृथक् नहीं है, घड़े या दीवारोंको तोड़ते ही महाकाशका महाकाश ही रह जायगा, उसी प्रकार अन्तःकरणके घेरेमें बद्ध होकर परमात्मा ही जीवात्मस्वरूप बन जाता है और अन्तःकरणके परिच्छेदके हटनेपर तो वह पूर्ववत् ईश्वररूप है ही।

इन तीनों दृष्टान्तोंसे जीव ईश्वरका अंशांशिभाव वेदान्तदर्शनमें सिद्ध किया जाता है। किंतु यह स्मरण रहे कि दृष्टान्त केवल बुद्धिको समझानेके लिये होते हैं। दृष्टान्तके सभी धर्मोंको दार्ष्टान्तिकपर नहीं घटाया जा सकता। अस्तु, यहाँ हमें इतना ही कहना है कि किसी भी प्रकारसे विचार करें,

जीव तो स्वतः ही ईश्वरके भाग हैं; फिर इन्हें भाग बनने या भक्ति करनेका उपदेश देनेका प्रयोजन क्या रहा। इसका उत्तर होगा कि ईश्वरके भाग होते हुए भी भाग होनेका ज्ञान इन्हें नहीं है। ये अपनेको स्वतन्त्र समझ रहे हैं, ईश्वरके भागरूपमें नहीं समझते। इसलिये 'भक्ति करो'—इस उपदेशका तात्पर्य यही होगा कि अपनेको ईश्वरका भाग—अपना उनके अधिकारमें होना या उनका अंश होना समझो। बस, समझते ही परमानन्दस्वरूप होकर सब दुःखोंसे छुटकारा पा जाओगे। तब 'भक्ति' शब्दका अर्थ हुआ—भाग होनेका ज्ञान; यही जीवका कर्तव्य रहा। किंतु यह न समझनेका दोष अन्तःकरण अर्थात् मनका है। अन्तःकरणरूप उपाधिके घेरेमें आनेसे ही जीवभाव सिद्ध है और इसीसे सब अनर्थ उत्पन्न हुए हैं। उस घेरेको हटानेकी आवश्यकता है; किंतु, वह हटे कैसे? एकताका ज्ञान हो तब अन्तःकरण मिटा हो और अन्तःकरण मिटा हो तब एकताका ज्ञान हो—यह एक अन्योन्याश्रय दोष आ पड़ता है।

इसका समाधान शास्त्रकार यों करते हैं कि मनरूप उपाधि भी तो कहीं आकाशसे नहीं टूट पड़ी। यह भी ईश्वरकी शक्ति मायाका ही एक अंश है और ईश्वरकी शक्ति माया ईश्वरसे अभिन्न है। तभी तो अद्वैतवाद बनता है। इसलिये मनको यदि ईश्वरकी ओर लगाया जाय तो यह भी स्वयं अपने कारणमें लीन होकर निवृत्त हो जायगा और जीवका ईश्वरका भाग होना सिद्ध हो जायगा। किंतु मन चञ्चल है, वह एक जगह टिकता नहीं। सम्पूर्ण गीताका उपदेश सुनते हुए अर्जुनने कहीं भी असम्भवताका प्रश्न नहीं उठाया; किंतु मनको रोकनेकी बात आते ही वह बोल उठा—

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥
(६।३४)

—अर्थात् मनका रोकना तो वायुके रोकनेके समान एक दुष्कर कर्म है। जब अर्जुन-जैसे परम अभ्यासीके लिये भी यह दुष्कर प्रतीत हुआ, तब साधारण जीवोंकी तो बात ही क्या है। बस, इस दुष्कर कर्मको साध्य बनानेके लिये ही सब शास्त्रोंके भिन्न-भिन्न प्रकारके उपदेश चलते हैं। बड़े-बड़े अनुभवी आचार्योंका इस विषयमें यह मत है कि मनको बलात् नहीं रोका जा सकता, प्रेमके बन्धनसे बँधकर यह स्वयं रुक जाता है। इसलिये परमानन्दरूप भगवान्के प्रेमका आस्वाद यदि मनको दिया जाय तो यह रुक जायगा; रुककर वहीं लीन हो जानेपर भगवान्का भाग होना अर्थात् भगवद्भक्ति जीवकी सिद्ध हो जायगी। इस प्रकार भागरूप अर्थका बतानेवाला 'भक्ति' शब्द भाग बननेके कारणरूप प्रेममें चला गया और 'भक्ति' शब्दका अर्थ भगवान्का प्रेम ही हो गया। उस प्रेमको प्राप्त करनेके लिये उसके साधन श्रवण, कीर्तन आदिकी आवश्यकता है—इसलिये प्रेमके साधनोंमें भी 'भक्ति' शब्द चला गया और यों भक्ति दो प्रकारकी हो गयी—साधन-भक्ति और फलरूपा भक्ति।

प्रेम और प्रेमके साधन—श्रवणादि अर्थोंमें 'भक्ति' शब्दके दर्शन हमें प्रधानरूपसे सर्वप्रथम श्रीभगवद्गीतामें ही होते हैं। वहीं भगवान्ने 'भक्ति' शब्दका खूब प्रयोग किया है और इसके फल, उपाय आदि सब विस्तारसे बताये हैं। इसी अर्थको लेकर इस शास्त्रके आचार्योंने भक्तिका लक्षण बनाया और पुराणादिद्वारा इस अर्थके अत्यन्त प्रसिद्ध हो जानेके कारण ही व्याकरणके आचार्य भगवान् पाणिनिने 'भज सेवायाम्' पढ़कर 'भज' धातुका अर्थ सेवा ही स्थिर कर दिया। उस सेवासे प्राप्त होनेवाला प्रेम भी भक्ति शब्दका अर्थ प्रधानरूपसे बना रहा।

भक्तिके निरूपण करनेवाले दो सूत्र प्रसिद्ध हैं—एक शाण्डिल्यका और दूसरा नारदका। दोनोंमें भक्तिका एक ही लक्षण हुआ है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे।

अर्थात् ईश्वरमें परम अनुराग होना ही भक्ति है। भक्ति-शास्त्रके परमाचार्य महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजीने उपाय और फलसहित उस लक्षणको और भी स्पष्ट कर दिया—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥

अर्थात् भगवान्का माहात्म्य जानकर उनमें सबसे अधिक दृढ़ स्नेह होना ही भक्ति है और उसीसे मुक्ति होती है, मुक्तिका कोई और उपाय नहीं है। इस प्रकार इन्होंने ज्ञानको भी भक्तिका अङ्ग बनाया; क्योंकि बिना जाने प्रेम हो ही नहीं सकता। भगवान्का महत्त्व न समझेंगे तो प्रेम कैसे होगा। इसलिये भगवान्के महत्त्वका ज्ञान पहले होना आवश्यक है। भक्तिकी परम दृष्टान्तभूता व्रजगोपियोंको भी भगवान् श्रीकृष्णके महत्त्वका पूर्ण ज्ञान था। तभी तो गोपिकागीतमें उन्होंने स्पष्ट कहा है—

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।

विखनसार्थितो धर्मगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥
(श्रीमद्भा० १०।३१।४)

अर्थात् 'आप केवल गोपीके पुत्र नहीं हैं, सभी प्राणियोंके अन्तःकरणमें आप द्रष्टा रूपसे विराजमान हैं। धर्मकी रक्षाके लिये ब्रह्माजीकी प्रार्थनापर आपने यह अवतार धारण किया है।' इस प्रकार उन्हें पूर्ण ज्ञान होना स्पष्ट हो जाता है और इसीलिये वे भक्तोंमें शिरोमणि कही जाती हैं। नारदभगवान् अपने सूत्रोंमें उन्हींका उदाहरण देते हुए कहते हैं कि वैसे ही परम अनुरागका नाम भक्ति है, जैसा गोपिकाओंका था।

आचार्य श्रीमधुसूदनसरस्वतीने भी भक्तिका विवरण करनेके लिये 'भक्ति-रसायन' ग्रन्थ लिखा है। उनके भक्ति-लक्षणकी भी छटा देखिये—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥

इसका आशय है कि हमारा चित्त एक कठिन वस्तु है। जैसे लाख आदि कठिन वस्तुको अग्निके तापसे पिघला-कर फिर उसे किसी साँचेमें ढाला जाता है, उसी प्रकार श्रवण, कीर्तन आदि उपायोंसे पहले चित्तको पिघलाना चाहिये। जब वह पिघल जायगा, तब उसकी तैलकी धाराके समान एक अविच्छिन्न वृत्ति बन जायगी। वह वृत्ति जब सर्वेश्वरकी ओर लगे, तब उसका नाम भक्ति होता है।

श्रीमधुसूदनाचार्यने लक्षणमें प्रेमका नाम नहीं लिया है। किंतु तैलकी धाराके समान अविच्छिन्न वृत्ति प्रेमके बिना हो नहीं सकती। इसलिये वैसी वृत्ति कहनेसे ही प्रेम समझ लिया जाता है और आगे विवरणमें जो उन्होंने भक्तिकी ग्यारह भूमिकाएँ बतायी हैं, उसमें प्रेमका विलक्षण विवरण आ जाता है। भक्तिमार्गके विद्यार्थीको ग्यारह श्रेणियाँ पार करनी पड़ती हैं। उनको ही ग्यारह भूमिकाएँ कहते हैं। भक्तिरसायन-में ग्यारह भूमिकाओंका वर्णन इस प्रकार है। पहली भूमिका-में अर्थात् पहली श्रेणीमें परम भक्त महान् पुरुषोंकी सेवा करनी होती है। उनका काम करना, उनकी आज्ञाका पालन करना, उनकी चरण-वन्दनादि सेवा करना—यही पहली श्रेणीके भक्तिमार्गके विद्यार्थीका कर्तव्य है। दूसरी श्रेणीमें सेवा करते-करते वह उन महापुरुषोंका कृपापात्र बन जाता है—यह महापुरुषोंका कृपापात्र बन जाना ही दूसरी भूमिका है। ज्यों-ज्यों यह उन महापुरुषोंका कृपापात्र बनता है, वैसे-वैसे ही उनके धर्मोंमें अर्थात् जो-जो काम वे महापुरुष करते हैं, उनमें इस भक्तिमार्गके विद्यार्थीकी भी श्रद्धा होती जाती है—यह तीसरी भूमिका हुई। तब चौथी भूमिकामें भगवान्के गुणोंका श्रवण और अपने मुखसे उन गुणोंका कीर्तन भी करने लगता है। नवधा भक्तिके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन—ये छः अङ्ग इस चौथी भूमिकामें ही आ जाते हैं। तब पाँचवीं भूमिकामें भगवान्के प्रेमका अङ्कुर इस विद्यार्थीके हृदयमें उत्पन्न हो जाता है। प्रेमका अङ्कुर उत्पन्न हो जानेपर यह भगवत्तत्त्वको जाननेका अधिकाधिक प्रयत्न करता है। और इसका यह भगवत्तत्त्व ज्ञान बढ़ता जाता है। यह छठी भूमिका है। स्मरण रहे कि प्रेमका अङ्कुर उत्पन्न होने-से पूर्व भी श्रवण-कीर्तन आदिके द्वारा सामान्य ज्ञान हो चुका रहता है—यदि सामान्य ज्ञान भी न हुआ रहे तो प्रेमका अङ्कुर ही कैसे जमे। किंतु ज्यों-ज्यों प्रेम बढ़ता है, वैसे-वैसे ही स्व-रूप-ज्ञानकी उत्कण्ठा भी बढ़ती जाती है और उत्कण्ठाके अनु-सार यत्न करनेपर भगवत्-स्वरूप ज्ञान और साथ ही अपना स्वरूप-ज्ञान भी होता जाता है। दोनोंका स्वरूप-ज्ञान होते ही अपनेमें दासभाव प्रतीत होने लगता है। इससे नवधा भक्ति-के सातवें अङ्ग दास्यकी भूमिकामें भक्त आ जाता है। अब जैसे-जैसे अधिक तत्त्वज्ञान होता जाता है, वैसे ही-वैसे परमानन्द-रूप भगवान्में प्रेम भी बढ़ता जाता है। यही सातवीं भूमिका श्रीमधुसूदन सरस्वतीने बतायी है—प्रेमवृद्धिः परानन्दे। आठवीं भूमिकामें मनमें परमात्मतत्त्वका बार-बार स्फुरण होता है। अधिक प्रेम होनेपर स्फुरण होना स्वाभाविक ही है। इस स्फुरणसे पूर्ण आनन्द प्राप्तकर वह भक्त एकमात्र भगवद्धर्म श्रवण-कीर्तनादिमें पूर्णासक्त हो जाता है, मानो उसीमें डूब जाता है। यह भागवतधर्मोंकी निष्ठारूप नवम भूमिका कही गयी है। इसमें प्राप्त हो जानेवालोंकी दशा श्रीभागवतमें वर्णित है—

क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥
(११।३।३२)

अर्थात् ऐसे भक्त कभी भगवच्चिन्तनका अनुभव करते हुए रोने लगते हैं, कभी उस आनन्दके प्रवाहमें हँसते हैं कभी प्रसन्न होते हैं, कभी अलौकिक भावमें स्थित होकर कुछ

बड़बड़ाने लगते हैं, कभी नाचते हैं, कभी गाते हैं, कभी-कभी भगवान्‌को खोजने लगते हैं और कभी परम शान्तिका अनुभव करके चुप हो रहते हैं। इसके अनन्तर दशम भूमिकामें भगवान्‌की सर्वरूपता और आनन्द-रूपता भक्तमें भी प्रकट होने लगती है। वह सब कुछ जान जाता है और सदा आनन्दमें निमग्न रहता है। यही नवधा भक्तिके वर्णनमें सख्यरूपा आठवीं भक्ति बतायी गयी है। सख्यका अर्थ है—'समान ख्याति'—अर्थात् जिसके साथ प्रेम है, उसीके समान अपनेको पाना। इसके आगे प्रेमकी परा-काष्ठारूप पराभक्ति प्राप्त हो जाती है, जिसके प्राप्त होनेके अनन्तर और कुछ प्राप्तव्य नहीं रहता। यही भक्तिरसायनमें अन्तिम ग्यारहवीं भूमिका मानी गयी है और नवधा भक्तिके प्रसङ्गमें भी इसे 'आत्मनिवेदन' रूप अन्तिम स्थान दिया गया है। यह अन्तिम भूमिका व्रजगोपियोंको ही प्राप्त हुई थी—ऐसा आचार्योंका वर्णन है।

पाठक देखेंगे कि इन ग्यारह भूमिकाओंमें भक्ति और ज्ञानका परस्पर सहयोग चलता रहता है। ज्ञानसे भक्ति बढ़ती है और भक्तिसे ज्ञानका परिपोष होता जाता है। अन्तिम भूमिकामें दोनों एकरूप हो जाते हैं—इसे चाहे पराभक्ति कहिये या परज्ञान। जगत्‌की विस्मृति दोनोंमें समान है। पराभक्ति-में यही विशेषता मानी जाती है कि वहाँ प्रेमकी अधिकता और भगवत्तत्त्वका सतत स्फुरण होनेसे एक अलौकिक आनन्दका अनुभव होता है। श्रुति और स्मृतिमें ज्ञानको भी आनन्दरूप कहा है—इसलिये परज्ञानमें भी आनन्द है, किंतु उसका स्फुरण नहीं। पराभक्तिमें परमानन्दका स्फुरण भी होता है। इसीलिये परम भक्त या अनन्य भक्त आगे कुछ नहीं चाहते। मुक्तिकी भी उन्हें इच्छा नहीं होती। वे तो उसी परम प्रेमावस्थामें निमग्न रहना चाहते हैं। श्रीमधुसूदनसरस्वतीने इसी आधार-पर दोनोंका अधिकार-भेद इस प्रकार बतलाया है कि जो अत्यन्त विरक्त हैं, जिनके अन्तःकरणमें राग या प्रेमका लेश भी नहीं, वे ज्ञानमार्गके अधिकारी हैं। चित्त न द्रवित होनेसे भक्ति उन्हें प्राप्त नहीं हो सकती। किंतु जिनके हृदयमें प्रेमका अंश है—वह चाहे सांसारिक स्त्री-पुत्रादिमें ही हो, उस स्थितिमें उसका प्रवाह बदलकर गुरुद्वारा ईश्वरकी ओर लगाया जा सकता है—वे ही भक्तिके अधिकारी होते हैं। श्रीमधुसूदनसरस्वती भक्तिको अन्तिम प्राप्य कहते हैं। वे मुक्तिप्राप्तिको भक्तिका फल नहीं मानते। भक्ति स्वयं फलरूपा है। श्रीवल्लभाचार्यने जो भक्तिसे मुक्ति कही है, उसका भी अभिप्राय यही है कि यदि मुक्ति होनी होगी तो भक्तिसे ही हो सकती है, और किसी मार्गसे नहीं। किंतु भक्त-को मुक्तिकी इच्छा ही न हो, तब मुक्तिको फल कैसे कहा जाय। शाण्डिल्यसूत्रमें भी भक्तिके द्वारा मुक्ति बतायी गयी है। आगमशास्त्रमें तो भक्तोंकी मुक्ति दूसरे ही प्रकारकी कही गयी है। ज्ञानी पुरुषोंकी मुक्ति अन्तःकरणका अत्यन्त विलय होनेके बाद आत्माकी केवल रूपमें स्थितिका नाम है। किंतु भक्तोंकी मुक्ति इष्टदेवताकी नित्यलीलामें प्रवेश होना है—इसीको श्रीवल्लभाचार्य भी परममुक्ति कहते हैं। सम्भवतः भक्ति-निरूपक शास्त्रोंको यही मुक्ति अभिप्रेत है। विलयरूप मुक्तिको भक्ति-का प्राप्य नहीं कहा जा सकता। इसीसे दोनों मतोंकी एक-वाक्यता हो जाती है। विलयरूप मुक्तिको भक्त नहीं चाहते और नित्यलीला-प्रवेशरूपा मुक्ति भक्तिका फल है।

श्रीमधुसूदनसरस्वतीने भक्तिरसायनमें एक विशेषता और बतायी है। वह यह है कि भक्ति केवल प्रेमरूपा भी होती है और नौ रसोंमेंसे किसी एक रससे या अनेक रसोंसे संवलित भी हो सकती है। साधनदशामें ही अवर भूमिकाओंमें यह भेद होता है, पर-दशा-में तो वह रस भी भक्तिमें विलीन होकर एकरूप ही बन जाता है। यह भक्ति-लक्षणोंका संक्षिप्ततः समन्वय प्रदर्शित किया गया। भगवत्कृपासे पुनः देशमें इस भक्तिके तत्त्वको समझने-वालोंकी वृद्धि हो, तभी भगवत्प्राप्तिका प्रधान साधन पूर्णरूपसे सफल हो सकता है।

भक्तिमें लगानेवाला ही यथार्थ आत्मीय है

ऋषभजी कहते हैं—

> गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात् पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
> दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्यान्न मोचयेद् यः समुपेतमृत्युम्॥
>
> (श्रीमद्भा० ५।५।१८)

'जो अपने प्रिय सम्बन्धीको भगवद्भक्तिका उपदेश देकर मृत्युकी फाँसीसे नहीं छुड़ाता, वह गुरु गुरु नहीं है, स्वजन स्वजन नहीं है, पिता पिता नहीं है, माता माता नहीं है, इष्टदेव इष्टदेव नहीं है और पति पति नहीं है।'

भक्ति धर्मका सार है

(लेखक—श्रीधर्मेन्द्रनाथजी मिश्र, एम्० ए०)

भक्ति अथवा ईश्वरके प्रति प्रेम किसी धर्म-विशेषकी सम्पत्ति नहीं है और न यह कोई पंथ या साम्प्रदायिक भावना ही है। यह तो प्रत्येक विवेकशील धर्मकी अन्तर्वर्तिनी धारा है। भारतमें कदाचित् ही कोई ऐसा धर्म हो, जो स्पष्ट अथवा अस्पष्टरूपसे ईश-प्रेमका आदेश न दे। यहूदी-धर्ममें पशुओंका बलिदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता था, जब-तक उस धर्मके 'पैगम्बर' ने स्वतः यह घोषणा नहीं कर दी कि ईश्वर हिंसात्मक बलि नहीं चाहता, अपितु वह शुद्ध हृदयकी भक्तिका ही समादर करता है। तदनन्तर ईसामसीह आये और उन्होंने ईश्वरीय प्रेमका उद्घोष और प्रचार किया। हिंदूधर्ममें एक प्राचीन मुनिने ईश्वरके सम्बन्धमें कहा है—

प्रियो वित्तात्, प्रियः पुत्रात्, प्रियोऽन्यस्मात् सर्वस्मात्।

अर्थात् ईश्वर धन, पुत्र एवं अन्य सभी पदार्थोंकी अपेक्षा अधिक प्रिय है। शाण्डिल्य और नारदने मानव और ईश्वरके सम्बन्धको मूलतः प्रेमका बन्धन ही कहा है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे।

अर्थात् परिच्छिन्न जीवका अपरिच्छिन्न ईश्वरमें परम अनुराग भक्ति कहलाता है। एवं—

सा कस्मै परमप्रेमरूपा।

अर्थात् किसीके प्रति सर्वोच्च और विशुद्धतम प्रेमको भक्ति कहते हैं।

सर्वप्रथम गीताने—बारहवें अध्यायमें एवं अन्यत्र भी—भक्त बननेके लिये अपेक्षित गुणोंकी तालिका दी है। साधारणतया हम यह समझते हैं कि भावके द्वारा ईश्वरका सामीप्य सुलभ है; श्रीमद्भगवद्गीताने भक्तिका जो मानदण्ड रखा है, उसने इस विषयमें हमारी आँखें खोलकर हमें यह स्पष्ट बताया है कि इस भाव-साधनके लिये क्या-क्या आवश्यक है। गीता स्पष्ट शब्दोंमें हमें बताती है कि भक्तके लिये सर्वप्रथम वासना-जय परम आवश्यक है। तत्पश्चात् भक्तका जीवन योग अथवा यज्ञके सम्पूर्ण अङ्गोंके अनुष्ठान, अभावग्रस्तोंको दान, समस्त स्वार्थोंका परित्याग, शान्ति और अहिंसा—इन लक्षणोंमें बीतता है। काम, क्रोध और शक्ति-संचयकी भावनासे ऊपर उठ जाना भक्तके लिये अनिवार्य है। उसकी अपनी सम्पत्तिके प्रति भी ममता नहीं होनी चाहिये। अहंभाव एवं अभिमानको भी त्यागकर उसे एकमात्र ईश्वर-के चिन्तनमें दत्तचित्त हो जाना चाहिये। उसको शत्रु और मित्र दोनोंमें समभाव होना चाहिये तथा अपनी निन्दा और स्तुतिकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिये। सारांश, उसे अपनी सम्पूर्ण क्रियाओं, विचारों और भावनाओंको कृष्णमें ही केन्द्रित कर देना चाहिये। गीताका वचन है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥
(९।२७)

'हे अर्जुन! तुम जो कुछ कर्म करते हो, जो कुछ खाते हो, हवन करते हो, दान देते हो और तपस्या करते हो, उन सबको मुझे समर्पण कर दो।'

दक्षिण भारतमें आळवार संतोंने प्रेमके सिद्धान्तका प्रचार किया था। इन आळवारोंमें अधिकांश ब्राह्मणेतर थे और इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध थे—शठकोप स्वामी अथवा नम्मळवार, जिन्होंने भगवान् विष्णुके प्रति उस उत्कट प्रेमका उपदेश दिया, जिसमें भक्त अपनी भी सुध भूल जाता है; और इसी प्रेमको उन्होंने भक्त-जीवनकी सबसे बड़ी कसौटी माना है।

आळवार संतोंके दाक्षिणात्य अनुयायियोंने वेदोंको अथवा संस्कृतभाषामें लिखित किसी भी अन्य ग्रन्थको प्रमाण न मान-कर केवल उक्त संतोंके परम्परागत पदसमूहको ही धर्मग्रन्थके रूपमें स्वीकार किया। नाथमुनिने आळवार संतोंकी वाणियोंका संकलन करके ग्रन्थाकार किया। आचार्य रामानुजके गुरु श्रीयामुनाचार्य कोलाहल नामके राजकविको परास्त करने-पर आळवन्दार (अर्थात् विजेता) के नामसे प्रसिद्ध हुए। अपनी विजयके उपलक्ष्यमें यामुनाचार्यने आळवन्दार-स्तोत्र रचा, जिसके पद भक्तिप्रेमसे परिपूर्ण हैं। श्रीरामानुजने ग्यारहवीं शताब्दीमें प्रेममय श्रीभगवान्‌की उपासनाका प्रचार किया।

सोलहवीं शताब्दीमें श्रीचैतन्यने प्रेमके सिद्धान्तका प्रेम-भक्तिके नामसे प्रचार किया। उन्होंने और उनके अनुयायी रूप, सनातन तथा जीव गोस्वामियोंने भक्तिके सिद्धान्तका बड़ा ही सूक्ष्म और मार्मिक विवेचन किया और वे इस निष्कर्षपर पहुँचे कि गोपियोंके भावका अनुसरण करनेवाला श्रीकृष्ण-प्रेम ही मानवके धार्मिक जीवनका परम साध्य है। उन्होंने भक्तिकी यह परिभाषा स्वीकार की—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

'श्रीकृष्णके अनुकूल रहकर उनकी आराधना करना ही भक्ति है । इसमें कोई अन्य कामना नहीं होती और यह ज्ञान तथा कर्मसे सर्वथा निरपेक्ष होती है ।'

अपरिच्छिन्न ईश्वरके परिच्छिन्न जीवके साथ सम्बन्धका विश्लेषण करनेवाला ज्ञान हृदयमें विशुद्ध भक्तिका संचार नहीं होने देता; क्योंकि यह विवेचन वास्तवमें अत्यन्त कठिन है और साधकको एक निर्मम-हीन प्रतीतिमें ले जाकर छोड़ देता है । इसी प्रकार यज्ञ-यागादि नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका विधिपूर्वक अनुष्ठान भी भक्तको ईश्वरके ध्यानमें मग्न नहीं होने देता, जो भक्तिके लिये अपेक्षित है । ज्ञानके नितान्त आश्रयसे नीरस तत्त्वज्ञान हाथ लगता है; शांकर-सिद्धान्त इसका निदर्शन है । और केवल कर्मकाण्डमें लगे रहनेसे भी मनुष्यका जीवन मरुस्थलोपम—कठोर बन जाता है । भक्तिका मार्ग इन दोनोंके बीचमें पड़ता है । उसमें ज्ञान अनावश्यक नहीं है और न वैदिक कर्मकाण्ड ही व्यर्थ है । अपितु ये दोनों ही अपने-अपने ढंगसे लाभप्रद हैं और भवाटवीमें भटकती हुई आत्माओंको भक्तिमार्गमें प्रवृत्त करनेमें सहायक बनते हैं ।

श्रीचैतन्यका जन्म पंद्रहवीं शताब्दीके अन्तमें नवद्वीपमें हुआ था । वे मार्टिन लूथरके समकालीन थे । उन्होंने अपने जीवनमें वृन्दावनकी गोपियोंकी आनन्दमयी भाव-विह्वलताकी अनुभूति की थी । उन्हें स्वयं श्रीराधाकी गम्भीर विरह-वेदनाकी भी पूर्ण अनुभूति हुआ करती थी और उस अवस्थामें उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुधारा प्रवाहित होती, शरीरपर रोमाञ्च हो आता और वे बाह्य-ज्ञान-शून्य हो जाते थे । इस प्रकारकी अनुभूतियाँ ईसाई संतों और मुसलमान सूफियोंको भी हुई हैं ।

श्रीचैतन्यके मतकी विलक्षणता यह है कि उन्होंने भगवान्‌के प्रति रागमयी भक्तिपर अधिक बल दिया है, जिस प्रकारकी रागमयी आसक्ति किसी प्रेमिकाकी अपने प्रेमीके प्रति होती है—

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि ।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम् ॥

(पञ्चदशी ९ । ८४)

अर्थात् जिस प्रकार कोई पर-पुरुषानुरक्ता स्त्री गृह-कार्योंमें व्यस्त रहती हुई भी अपने हृदयमें उस अवैध प्रेमकी आनन्दानुभूति करती रहती है, ठीक उसी प्रकार भक्त भी अपने लौकिक कर्तव्योंमें संलग्न होनेपर भी प्रियतम प्रभुके रसमय ध्यानमें मग्न रहता है । वैष्णव-धर्मके जिस स्वरूपका श्रीचैतन्यने बंगालमें प्रचार किया, उसमें भगवन्नाम और भगवत्-प्रेमके तत्त्वोंपर ही अधिक महत्त्व दिया गया है ।

यही भक्तिका सिद्धान्त अथवा प्रेमका तत्त्व है । भगवान्‌के नामका निरन्तर जप करनेसे भगवान्‌के प्रति आसक्ति (रति) उत्पन्न होती है और तदनन्तर प्रेमकी । प्रेम ही धार्मिक जीवनका आनन्दमय चरम लक्ष्य है ।

भक्तिसे रहित ज्ञान और कर्म अशोभन हैं

नारदजी कहते हैं—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥

(श्रीमद्भा० १ । ५ । १२)

'वह निर्मल ज्ञान भी, जो मोक्षकी प्राप्तिका साक्षात् साधन है, यदि भगवान्‌की भक्तिसे रहित हो तो उसकी उतनी शोभा नहीं होती । फिर जो साधन और सिद्धि दोनों ही दशाओंमें सदा ही अमङ्गलरूप है, वह काम्य-कर्म, और जो भगवान्‌को अर्पण नहीं किया गया है—ऐसा अहैतुक (निष्काम) कर्म भी कैसे सुशोभित हो सकता है ?'

भक्तिका फल

(लेखक—श्रीकृष्णमुनिजी 'प्राणेश्वर' महानुभाव)

अपनी आन्तरिक श्रद्धा, प्रेम तथा हृदयके अनुरागसे मन, वाणी और शरीरद्वारा किसी अन्यको रिझानेका नाम भक्ति है। भक्तिका इष्ट अथवा लक्ष्य एक होता है। भक्त अपनी भावनाका स्थान एक बना लेता है, जहाँ उसकी श्रद्धा जम जाती है। इसे असाधारण भक्ति, विशेष भक्ति अथवा अनन्यभक्ति कहा जाता है। अनेक लक्ष्य स्थिर करना, कभी किसीको और कभी किसीको इष्ट बनाकर उनमें अपनी श्रद्धाको बाँट देना साधारण भक्ति अथवा सामान्य भक्ति कही जाती है। भक्तिका विधान भी एक ही है, अर्थात् अपने इष्टको प्रसन्न करने, रिझानेका मार्ग भी एक ही है। इसमें प्रथम अपने हृदयकी विशुद्ध भावनासे उस परमेश्वरके अवतारको अथवा दूसरे किसी इष्टदेवको अपने हृदय-मन्दिरमें बिठा लेना होता है, जिसपर हमारी पूर्ण श्रद्धा है, आन्तरिक प्रेम है। फिर एकाग्र मनसे इन्द्रियोंको विषय-वासनाओंके अनेक मार्गोंसे रोक लेना होता है, ताकि हमारा मन इन्द्रियोंके साथ-साथ उन-उन रास्तोंसे बाहर निकलकर उन-उन विषय-भोगोंकी लालसामें न फँस जाय। किंतु यह बात सरल नहीं। इसके लिये सतत, नित्य अभ्यास करना चाहिये। तब मनकी एकाग्रता होती है। अतएव भक्तको एकान्तकी आवश्यकता पड़ती है, जहाँ किसी प्रकारका शब्द न सुनायी दे, रूप-रंग न दीख पड़े, सुगन्ध और दुर्गन्धका भान न हो, खट्टे-मीठे-चरपरे आदि अनेक रसवाले पदार्थोंका संयोग न हो अथवा शीतल, उष्ण, मृदु और कठोर वस्तुओंका स्पर्श न हो, जिससे इन्द्रियोंको मनमानी क्रीडा करनेका तथा स्वेच्छासे कामनाओंके खुले मैदानमें घूमनेका समय न मिल सके। इस प्रकार मनको एकाग्र कर लेना भक्ति-मार्गकी प्रथम सीढ़ीपर पग धरना है।

मनको एकाग्र कर अपने इष्टको हृदयके विशुद्ध भावना-पर बिठला, प्रभुकी श्रीमूर्तिके प्रथम चरण-कमलसे ध्यान तथा चिन्तन करना चाहिये। मुखसे नाम स्मरण और हृदयमें प्रभुकी श्रीमूर्तिके एक-एक अङ्गका ध्यान करता जाय। साथ ही प्रभुने उस उस अङ्गसे भक्तजनोंके कल्याणार्थ जो-जो लीला की हो अथवा कर्म किया हो, उस-उस कर्म अथवा चेष्टाका चिन्तन करता जाय। हमारा ध्यान, हमारी एकाग्रता, हमारा भाव, स्थिर हो जानेपर नामस्मरणकी विधि पूर्ण होती है। इस विधिसे प्रभुके नामस्मरणद्वारा हृदयमें एक विशेष आनन्द, अलौकिक सुखका अनुभव होने लगता है, जिसको वही जान सकता है।

ध्यान विसर्जन अर्थात् लक्ष्य छूट जानेके बाद म[न] उचट जाता है। इसलिये ध्यान छोड़कर भक्ति-मार्गके [दू]सरे अङ्गोंको अपनाना चाहिये। उस समय प्रभु-स्तुति, स्तोत्र, भजन, आरतियाँ, मूर्ति-वर्णन—आत्मनिवेदन, अपने पाप-कर्मोंके शान्त्यर्थ प्रायश्चित्तविधानके और प्रभु-लीलापूर्ण ग्रन्थोंका अध्ययन करना चाहिये।

भक्तिका फल

ऊपर कह आये हैं कि भक्तिका इष्ट एक है अर्थात् [ए]क परमेश्वर-अवतारको ही सम्मुख रखना चाहिये। भक्ति[का] साधन, भक्ति करनेका प्रकार अथवा विधि भी प्रायः एक है। किंतु भक्तिके फलमें अनेक भेद हो जाते हैं, जिसके प्र[धान] दो कारण हैं। एक, भक्तकी मनोकल्पित कल्पना। दूसरा, इष्ट[देव]का कृपा-प्रसाद। प्रत्येक मनुष्यकी विचार-धारा निराली [हो]ती है। प्रत्येकका स्वार्थ तथा कामना भिन्न भिन्न होती है। इसलिये फलमें भेद हो जाना आवश्यक है। और जहाँ फल[में] ही नहीं, उसका फल भी अच्छा ही होता है। फल-भेद[का] दूसरा कारण इष्टदेवकी प्रसन्नता और उदासीनता है। भ[क्त]का आचार-विचार अच्छा होना चाहिये। यदि वह दुराचा[री], व्यभिचारी, लालची, कपटी, ईर्ष्यालु, क्रोधी, द्वेषी, ए[वं] हिंसक, दूसरोंका अनिष्ट चिन्तन करनेवाला, छल-कपटी [है] तो प्रभु उसपर प्रसन्न नहीं होते। अतः यह आवश्यक है [कि] हमारा व्यवहार प्रभुको प्रसन्न करनेवाला हो। इसलिये फल-प्रा[प्ति] अवतारकी कृपापर निर्भर होता है। अतः फल-प्राप्तिके [लिये] अपने इष्टदेव अवतारकी तथा देवमूर्तियोंमें रहनेवाले इ[ष्ट]की कृपा—प्रसन्नता प्राप्त कर लेना जरूरी है।

भगवान् उसीपर प्रसन्न होते हैं, जो सदाचारी, धर्म[निष्ठ], परोपकारपरायण, सरल-हृदय, सत्य-व्यवहार, निर्लो[भ], क्रोध और ईर्ष्या आदि दोषोंसे दूर हो और उ[स]का अन्तःकरण दुर्गुणोंसे भरा न हो। इसीसे महात्माओंने प्रभुकी दिव्य-लीलाओंके अनेकों वर्णन हैं, वह म[नुष्य]मात्र होता है। साधारणसे साधारण व्यक्ति भी इ[न] सब प्रकारके दुर्गुणोंसे बच प्रभुको पूर्ण है। वह स्नेह दे

देखनेमें आये हैं, जहाँ आजसे बीस-पचीस वर्ष पहले अति उत्साहपूर्ण कार्य होता रहा। अमर लिखे दोष आ जानेपर उस स्थानकी शक्तिने काम करना छोड़ दिया। 'मनुष्यके अच्छे आचार-विचार और व्यवहारसे प्रभुशक्ति उत्साहित हो विशेष कार्य करती है तथा कुत्सित व्यवहारसे कार्य करना छोड़ देती है।' परमेश्वर शुद्ध, निर्गुण, परिपक्व, परिमार्जित स्वरूप हैं। उनमें राजसी और तामसी भावना त्रिकालमें भी नहीं होती। उनमें किसीके विषयमें विरोधी भावना नहीं होती। वे समदर्शी हैं। इसीलिये वे हमारी विरोधी भावनाओंको, जो औरोंके लिये हानिकर हों, पूर्ण नहीं करते।

इसलिये भक्तको चाहिये कि वह अपनी शुद्ध भावनासे तथा पवित्र आचारसे अपने स्वामीका कृपा-पात्र बन जाय और अपनी शुभ-कामनाकी पूर्तिके लिये प्रभुसे अथवा शक्तियोंसे याचना अथवा प्रार्थना करे। नहीं तो केवल परिश्रम ही होगा और ऐसी भक्तिका यथायोग्य फल मिलनेमें भी संशय ही रह जायगा।

भक्ति और उसकी अद्भुत विशेषताएँ

(लेखक—श्रीकृष्णबिहारीजी मिश्र शास्त्री)

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥
(नारदपञ्चरात्र)

'तत्पर होकर इन्द्रियोंके द्वारा सम्पूर्ण उपाधियोंसे रहित विशुद्ध भगवत्सेवा ही भक्ति कही जाती है।' इसीका स्पष्टीकरण भक्तिरसामृतसिन्धुमें किया गया है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

'श्रीकृष्णको उद्देश्य करके उनकी रुचिके अनुकूल शरीर, मन, वाणीकी क्रियाओंका अनुशीलन—जो भक्तिसे भिन्न सम्पूर्ण भोग-मोक्ष आदिकी वासनासे रहित एवं ज्ञान-कर्मादिसे अनाच्छादित हो, उत्तम भक्तिका लक्षण है।'

(१) क्लेशोंका नाश, (२) शुभदातृत्व, (३) मोक्षमें लघुबुद्धि, (४) सुदुर्लभता, (५) सान्द्रानन्दविशेषरूपता, (६) श्रीकृष्णको आकर्षित करना—भक्तिदेवीकी ये छः अपनी विशेषताएँ हैं। अर्थात् जिस व्यक्तिके हृदयमें भक्तिदेवी विराजती हैं, उसमें उपर्युक्त छः विशेषताएँ आ जाती हैं—

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

सम्पूर्ण विश्व जिनके कारण छटपटा रहा है और निरन्तर उन्हींमें फँसता जा रहा है, जिनसे बचनेके लिये थोड़े-से इने-गिने लोग मोक्षकी कामना करते हैं, उन्हीं क्लेशोंका नाश करना भक्तिकी प्रथम विशेषता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है—

ऐसेहिं हरि बिनु भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥

['भज सेवायाम्' धातुसे क्रमशः ल्युट् तथा क्तिन् प्रत्यय लगानेपर 'भजन' एवं 'भक्ति' शब्दकी निष्पत्ति होती है, अतः यहाँ भजनका भक्ति अर्थ लेनेमें कोई बाधा नहीं।]

तथा—

राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥

यों तो क्लेशनाशमें ज्ञानको भी कारण माना गया है, परंतु उसके साधन तथा साध्यमें भक्तिकी अपेक्षा कुछ अन्तर है। यथा—

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥
नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर।
(रामचरितमानस)

भक्तिकी द्वितीय विशेषता 'शुभदातृत्व' है। शुभका सामान्य अर्थ सुख है। भक्ति सम्पूर्ण सुखोंकी खान है। काकभुशुण्डि-द्वारा भक्तिका वर माँगनेपर भगवान् श्रीरामने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा—

'सब सुख खानि भगति तैं मागी। नहिं जग कोउ तोहि सम बड़भागी॥'
(मानस)

यह भी निश्चित सिद्धान्त है कि भक्तिके बिना शाश्वत सुखोपलब्धि हो ही नहीं सकती। ज्ञानसे भार-पीड़ित व्यक्ति-का भार उतरनेके समान सांसारिक क्लेशोंकी निवृत्ति तो शास्त्रों तथा आचार्योंने बतायी है, परंतु उससे अन्य किसी सुखकी उपलब्धिका कोई वचन नहीं है। अतः सुख तो भक्तिसे ही मिल सकता है। तभी तुलसीदासजीने कहा है—

बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल।
कैहि मनि बिनु सुख पाव न कोई। (रा० मा०)

श्रीमद्भागवत-माहात्म्यके नारद-भक्ति-संवादमें नारदजी कहते हैं—

> त्वं तु भक्तिः प्रिया तस्य सततं प्राणतोऽधिका ।
> त्वयाऽऽहूतस्तु भगवान् याति नीचगृहेष्वपि ॥
> (२।१)

'हे भक्ति ! तुम तो श्रीभगवान्‌की प्राणाधिक प्रिया हो, तुम्हारे बुलानेपर तो भगवान् नीचोंके घर भी चले जाते हैं ।'

इस भक्तिके आकर्षणसे ही व्यापक, निरञ्जन, निर्गुण, अनासक्त तथा अजन्मा ब्रह्म कौसल्याकी गोदमें विराजे थे—

> ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद ।
> सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद ॥

ऐसी विशेषताओंवाली भक्तिको हमने यदि न अपनाया, हम केवल वादके वाद-विवादोंमें क्यों रहे। तो यह हमारे जन्मकी विफलता होगी—यही हमें बतानेको 'कल्याण' ने यह अङ्क निकाला है ।

भक्ति-तत्त्वकी लोकोत्तर महत्ता

(लेखक—पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

प्रेम मानव-हृदयका लोकोत्तर प्रिय एवं प्राणप्रद शब्द है । प्रेम-पात्रके ध्यान, मिलन एवं सत्सङ्गमें मनुष्यको जो आनन्द मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है ।

बलिदान, कुर्बानी और उत्सर्ग-जैसे शब्द प्रेमकी स्तुति मात्रके ही मनके हैं । पातिव्रत्य और एक-पत्नीव्रत शब्द भी प्रेम-माहात्म्यके ही अभिव्यञ्जक हैं ।

मातृ-प्रेम, पितृ-प्रेम, कुटुम्ब-प्रेम, देश-प्रेम और विश्व-प्रेम इसी व्यापक तत्त्वके एकदेशीय रूप हैं । लोक-पावन और त्रैलोक्य-वन्द्य जौहर-व्रत भी प्रेम-धर्मकी अकथ कहानीका ही परिचायक है ।

यह प्रेम-शब्द ही है, जिसके माध्यमसे बहुत बड़े-बड़े त्याग किये गये और किये जा सकते हैं एवं जिसके सम्मुख सभी आकर्षण और प्रलोभन तथा भयसमूह ध्वस्त-ध्वस्त होते प्रतीत होते हैं, अपितु मृत-प्राय और मृतक-तुल्य हो जाते हैं, किंतु धर्म-कर्म, तप-त्याग, सुख-शान्ति और हर्ष-आनन्द जीवित-से और यौवनोन्मुख रहते हैं ।

परंतु यह 'प्रेम' शब्द ईश्वर-भक्तिमें परिवर्तित होनेपर ही वास्तविक प्रेम-शब्द-मान्य होता है । लौकिक जगत्‌में तो प्रायः प्रेमके नामपर न्यूनाधिक रूपसे निजसुखेच्छारूप 'काम'-की ही क्रीडा होती है। इस 'प्रेम'को ही 'निर्गुणा भक्ति' कहते हैं। इस निर्गुणा भक्तिमें स्वार्थ लेशमात्र भी नहीं रहता। लोकैषणा, धनैषणा और पुत्रैषणा इससे सदाके लिये विदा माँग लेती हैं। वह वह परिस्थिति है, जहाँ वरदान दिये जानेपर भी भक्तके मुखसे यही निकलता है—

> प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम ।

भक्त वस्तुतः तप-त्यागका सोना होता है, और होता है वह धर्म और त्यागका प्रतीक और प्रेमका मूर्त-रूप । यही कारण है, भक्तिसे मनुष्य ईश्वर-तुल्य हो जाता है। यही नहीं ईश्वर स्वयं उसका वशवर्ती हो जाता है, उसके नचाये नाचता है—

> अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।
> साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥*
> (श्रीमद्भागवत ९ । ४ । ६३)

भक्तिसे व्यष्टि-समष्टि-घातक सभी तत्त्व नाशोन्मुख होने लगते हैं एवं ऐसा निर्दोष, निर्मल और निष्पाप तथा सुन्दर वातावरण बन जाता है, जिसमें प्रवेश करके पतनोन्मुख मनुष्य भी प्रकर्षोन्मुख हो जाता है और भक्त पुरुष तो ऋषि-महर्षितक बन जाता है एवं एकान्तसेवी विरक्त महात्मा ।

भक्ति-वाङ्मयमें ऐसे भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं, जहाँ भक्तोंने बड़े-से-बड़े पद और साम्राज्यको भी ठुकराकर भगवद्भजनमें ही आयुके लाखों वर्ष बिताये हैं ।

ऐसी दशामें यह तो सहज सुलभ और अत्यधिक सम्भव बात है कि विश्वमें भक्तिका वातावरण बननेपर नित्यके आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्लेश बात-की-बातमें दूर हो जायँ और मनुष्य चैनकी साँस ले ।

यह भी सत्य है कि जब-जब संसारका वायुमण्डल जैसा बन पाया, तब-तब ही मनुष्यको ऐसा अनुभव हुआ कि जगत्‌में भगवत्-भक्ति ही वस्तुतः स्वर्गातीत, मुक्ति-व्यतीत, सर्वतोमधुर एवं सर्वतोभद्र वस्तु है । इस प्रकारका अनुभव क्यों हुआ और कैसे हो सकता है, इसका उत्तर यह है—

१. भक्ति स्वयं एक विलक्षण आनन्द है । भक्ति-रस

---

* हे द्विज ! मैं भक्तोंके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ, मेरे हृदयपर साधु भक्तोंका सम्पूर्ण अधिकार है, भक्त मुझे बहुत ही प्रिय होते हैं ।

समस्त रसोंका मधुर निर्यास एवं समस्त सौन्दर्योंका सौन्दर्य है। इसके स्वादके सम्मुख लोक-परलोकका कोई भी आनन्द नहीं ठहर सकता। भक्ति न केवल साधन है अपितु स्वयं साध्य और फल-स्वरूपा है।

२. भक्ति-रसके आनन्दातिरेकसे साधक भक्त आत्म-सम्पृक्त और परसम्पृक्त भाव-भावनाओंसे सर्वथा असंस्पृष्ट और निरा चिदानन्दमय हो जाता है। ऐसी दशामें वह भाव, कर्म और इच्छाकी व्यावहारिक सकाम सीमाको पार कर जाता है। फिर वह किसी भी भय-बाधा, दुःख-शोक अथवा प्रलोभनका शिकार तो हो ही कैसे सकता है।

३. परमात्मतत्त्व आराध्य देवके आनन्द-सायुज्यसे भक्त सदैव प्रफुल्ल एवं संतुष्ट रहता है। अतएव सांसारिक दुःख और प्रलोभन उसे आकर्षित नहीं कर सकते।

४. इसके धारणा-ध्यान और समाधि-जन्य फलसे भक्त आत्मस्थ हो जाता है। फिर वह न केवल व्यवहार अपितु संसारके सभी कार्य करता हुआ जाग्रदवस्थामें भी समाधिस्थ-सा बना रहता है।

५. भक्त, भजन और भजन-साध्य इष्ट-तत्त्वकी त्रिपुटी अथवा निरपेक्ष पूर्णावस्थारूप सक्रिय समन्वयसे साधकका अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रहता और वह केवल परमात्म-तत्त्वमय हो जाता है। इस स्थितिमें संसारके स्थानमें ब्रह्मानन्द ही उसका अपना विषय रह जाता है। तब मायाजनित काम उसतक पहुँच ही कैसे सकते हैं।

६. संसारको परमात्मतत्त्वका विराट् रूप मानकर जब वह उसके विविध और विभिन्न प्रकारके सौन्दर्यके आस्वादनमें संलग्न होता है अथवा विश्व-सौन्दर्य-स्वरूप प्रभुके विराट्-रूपका आनन्द लेता है, तब वह स्वयं रूप-प्रिय बनकर (?) होकर प्राकृतिक प्रपञ्चसे मुक्त हो जाता है।

७. भक्ति-साधनाद्वारा अज्ञानोपहत एवं मायोपहत भी मल-विक्षेप एवं आवरणोंसे मुक्त होकर अपनेमें चिदानन्द अनुभव करके निर्विकार, अकुतोभय और आनन्द-स्वरूप बन जाता है। ऐसी दशामें व्यावहारिक दुःखोंसे उसका कोई छुटकारा हो जाता है।

८. वेदान्तकी दृष्टिसे जीव परमात्मतत्त्व ही है। भक्ति साधनाद्वारा इस दृष्टिको व्यापक बना लेनेपर सीधा भक्त साधककी दृष्टिमें आनन्दस्वरूप परमात्मतत्त्व ही पड़ता है। फिर शोक-जन्य दुःख उसे नहीं हो पाते।

९. अतः भगवान्की भक्तिमें लीन होनेपर फिर भक्त भी उसके अपने आनन्दसे वञ्चित कैसे रह सकता है और सांसारिक दुःखोंका भोगायतन भी कैसे बन सकता है।

१०. आनन्दस्वरूप भगवान्से समस्त भूतोंकी उत्पत्ति होती है एवं आनन्दके द्वारा ही संसारका जीवन-यापन होता है। उसी आनन्दमय परमात्मामें ही लीन जगत् होता है। ऐसी परिस्थितिमें भक्तिद्वारा परमात्मतत्त्वके साथ लेश भी—उसका सीधा सम्बन्ध भी भक्तको आनन्दका देता है। यही कारण है कि वह दुःखमात्रसे सर्वथा विमुक्त हो जाता है।

भगवान्के नाम-गुणोंका श्रवण मङ्गलमय

योगीश्वर कवि कहते हैं—

> शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
> गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः॥
>
> (श्रीमद्भा० ११।२।३९)

'संसारमें भगवान्के जन्मकी और लीलाकी बहुत-सी मङ्गलमयी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उनको सुनते रहना चाहिये। उन गुणों और लीलाओंका स्मरण दिलानेवाले भगवान्के बहुत-से नाम भी प्रसिद्ध हैं। लाज-संकोच छोड़कर उनका गान करते रहना चाहिये। इस प्रकार किसी भी व्यक्ति, वस्तु और स्थानमें आसक्ति न करके विचरण करते रहना चाहिये।'

दास्य-रस-रसिक श्रीभरत

७—

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति ।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति ॥ (रामचरित० २ । ३२५)

समस्त रसोंका मधुर निर्यास एवं समस्त सौन्दर्योंका सौन्दर्य है। इसके स्वादके सम्मुख लोक-परलोकका कोई भी आनन्द नहीं टहर सकता। भक्ति न केवल साधन है अपितु स्वयं साध्य और फलस्वरूपा है।

२. भक्ति-रसके आनन्दातिरेकसे साधक भक्त भावसम्पृक्त और परसम्पृक्त भाव-भावनाओंसे सर्वथा असंस्पृष्ट और निरा चिदानन्दमय हो जाता है। ऐसी दशामें वह भाव, कर्म और इच्छाकी व्यावहारिक सकाम सीमाको पार कर जाता है। फिर वह किसी भी भय-शङ्का, दुःख-शोक अथवा प्रलोभनरूप विकार से हो ही कैसे सकता है।

३. परमात्मतत्त्व आराध्य देवके आनन्द-सायुज्यसे भक्त सदैव प्रफुल्ल एवं संतुष्ट रहता है। अतएव सांसारिक दुःख और प्रलोभन उसे आकर्षित नहीं कर सकते।

४. इसके धारणा-ध्यान और समाधि-जन्य फलसे भक्त आत्मस्थ हो जाता है। फिर वह न केवल व्यवहार अपितु संसारके सभी कार्य करता हुआ जाग्रदवस्थामें भी समाधिस्थ-सा बना रहता है।

५. भक्त, भजन और भजन-साध्य इस-तत्त्वकी त्रिपुटी अथवा निरपेक्ष पूर्णावस्थारूप सक्रिय समन्वयसे साधकका अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रहता और वह केवल परमात्मतत्त्वमय हो जाता है। इस स्थितिमें संसारके स्थानमें ब्रह्मानन्द ही उसका अपना विषय रह जाता है। तब मायाजनित कष्ट उसतक पहुँच ही कैसे सकते हैं।

६. संसारको परमात्मतत्त्वका विराट् रूप मानकर जब उसके विविध और विभिन्न प्रकारके सौन्दर्यके आस्वाद में संलग्न होता है अथवा विश्व-सौन्दर्य-स्वरूप प्रभुके दिव्य रूपका आनन्द लेता है, तब वह स्वयं तन्मय चित्तवृत्तिस्थ होकर प्राकृतिक प्रपञ्चसे मुक्त हो जाता है।

७. भक्ति-साधनाद्वारा अज्ञानोत्पन्न एवं मायोत्पन्न मल-विक्षेप एवं आवरणसे मुक्त होकर आत्मामें अद्वैतता अनुभव करके निर्विकार, अक्षुब्ध और आनन्दमय हो जाता है। ऐसी दशामें व्यावहारिक दुःखोंसे उसका स्वतः छुटकारा हो जाता है।

८. वेदान्तकी दृष्टिसे जीव परमात्मतत्त्व ही है। भक्ति-साधनाद्वारा इस दृष्टिको व्यापक बना लेनेपर जीवरूप भक्त साधकको दृष्टिमें आनन्दस्वरूप परमात्मतत्त्व ही पड़ता है। फिर जीव-जन्य दुःख उसे नहीं हो पाते।

९. अतः भगवान्की भक्तिमें लीन होनेपर फिर भक्त उसके अपने आनन्दसे वञ्चित कैसे रह सकता है और सांसारिक दुःखोंका भोक्तापन भी कैसे बन सकता है।

१०. आनन्दस्वरूप भगवान्से समस्त भूतोंकी उत्पत्ति होती है एवं आनन्दके द्वारा ही संसारका संरक्षण भी होता है। उसी आनन्दमय परमात्मामें ही जीव मग्न होता है। ऐसी परिस्थितिमें भक्तिद्वारा परमात्मतत्त्वसे सम्बन्ध भी—उसका लीला सम्बन्ध भी भक्तको आनन्दमग्न कर देता है। यही कारण है कि वह दुःखमात्रसे सहज ही विमुक्त हो जाता है।

भगवान्के नाम-गुणोंका श्रवण मङ्गलमय

योगीश्वर कवि कहते हैं —

> शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
> गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः॥
>
> (श्रीमद्भा० ११।२।३९)

'संसारमें भगवान्के जन्मकी और लीलाकी बहुत-सी मङ्गलमयी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उनको सुनते रहना चाहिये। उन गुणों और लीलाओंका स्मरण दिलानेवाले भगवान्के बहुत-से नाम भी प्रसिद्ध हैं। लाज-संकोच छोड़कर उनका गान करते रहना चाहिये। इस प्रकार किसी भी व्यक्ति, वस्तु और स्थानमें आसक्ति न करके विचरण करते रहना चाहिये।'

दास्य-रस-रसिक श्रीभरत

७—

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति॥ (रामचरित० २।३२५)

विरहिणी श्रीजानकी

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥ (रामचरित० ५।३०)

सत्सङ्ग और भगवद्भक्तोंके लक्षण, उनकी महिमा, प्रभाव और उदाहरण

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

सत्' जो भगवान् हैं, उनके प्रति प्रेम और उनका मिलन ...त्तविक एवं मुख्य सत्सङ्ग है । भगवत्प्राप्त भक्तों या ...न्मुक्त ज्ञानी महात्माओंका सङ्ग दूसरी श्रेणीका सत्सङ्ग है । ...त्तप्रेमी उच्चकोटिके साधकोंका सङ्ग तीसरी कोटिका सत्सङ्ग । चौथी श्रेणीमें सत्-शास्त्रोंका अनुशीलन भी सत्सङ्ग है ।

सत्स्वरूप भगवान्में प्रेम होना और उनका मिलना तो ...स साधनोंका फल है । जो भगवान्को प्राप्त हो चुके हैं तथा जिनका भगवान्में अनन्य प्रेम है, ऐसे भगवत्प्राप्त भक्तोंका मिलन या सङ्ग भगवान्की कृपासे ही मिलता है । वही पुरुष ...गवान्की कृपाका अधिकारी होता है, जो अपनेपर भगवान्की ...पाको मानता है । यह फिर उस कृपाको तत्त्वसे जानकर शान्ति-...को प्राप्त हो जाता है (गीता ५ । २९) । जिसकी भगवान्में ...और उनके भक्तोंमें श्रद्धा, विश्वास और प्रेम होता है एवं जिसके अन्तःकरणमें पूर्वके श्रद्धा-भक्तिविषयक संस्कारोंका संग्रह होता है, वह भी भगवान्की कृपाका अधिकारी होता है।

श्रीरामचरितमानसमें भक्त विभीषणने हनुमान्जीसे कहा है—

...त मोहि मा भरोस हनुमंता । बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता ॥

'हे हनुमान् ! अब मुझे विश्वास हो गया कि श्रीरामजीकी मुझपर कृपा है; क्योंकि हरिकी कृपाके बिना संत नहीं मिलते ।'

श्रीशिवजी भी पार्वतीजीसे कहते हैं—

गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन ।
बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान ॥

'हे गिरिजे ! संत-समागमके समान दूसरा कोई लाभ नहीं है । पर वह श्रीहरिकी कृपाके बिना सम्भव नहीं है, ऐसी बात वेद और पुराण कहते हैं ।'

पूर्वके उत्तम संस्कारोंके प्रभावसे भी भक्तोंका मिलन होता है । स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने प्रजाको उपदेश देते हुए कहा है—

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी । बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी ॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता । सतसंगति संसृति कर अंता ॥

'भक्ति स्वतन्त्र साधन है और सब सुखोंकी खान है । परंतु सत्सङ्गके बिना प्राणी इसे नहीं पा सकते । और पुण्य-समूहके बिना संत नहीं मिलते । सत्सङ्गति ही जन्म मरणके चक्रका अन्त करती है ।'

अब ऐसे भगवत्प्राप्त पुरुषोंके लक्षण बतलाये जाते हैं, जिनको गीतामें स्वयं भगवान्ने अपना प्रिय भक्त कहा है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
(१२ । १३-१४)

'जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे शून्य, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, जिसने मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें कर लिया है, जिसका मुझमें दृढ निश्चय है तथा जिसके मन एवं बुद्धि मुझमें अर्पित हैं, वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है ।'

भगवत्प्राप्त भक्तों या जीवन्मुक्त गुणातीत पुरुषोंका सभी प्राणियों एवं पदार्थोंके प्रति समान भाव होता है (गीता १४ । २४-२५) । उनका किसीसे भी व्यक्तिगत स्वार्थका सम्बन्ध नहीं होता (गीता ३ । १८) । उनका देह या मकान आदिमें ममता, आसक्ति और अभिमानका सर्वथा अभाव होता है (गीता १२ । १९) एवं उनका यावन्मात्र प्राणियोंपर दया, प्रेम और समभाव रहता है (गीता १२ । १३) । उन परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषोंके समभावका वर्णन करते हुए भगवान्ने कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥
(गीता ५ । १८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समान दृष्टि रखते हैं ।'

यहाँ भगवान्ने ज्ञानीको समदर्शी कहकर यह भाव व्यक्त किया है कि उनका सबके साथ शास्त्रविहित न्याययुक्त व्यवहारका भेद रहते हुए भी सबमें समभाव

सबके साथ समान व्यवहार तो कोई कर ही नहीं सकता। क्योंकि विवाह या श्राद्धादि कर्म ब्राह्मणसे ही करवाये जाते हैं, चाण्डाल आदिसे नहीं; दूध गायका ही पीया जाता है, कुतियाका नहीं; सवारी हाथीकी ही की जाती है, गायकी नहीं; पत्ते और घास आदि हाथी और गायको ही खिलाये जाते हैं, कुत्ते या मनुष्योंको नहीं। अतः सबके हितकी ओर दृष्टि रखते हुए ही आदर-सत्कारपूर्वक सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करना ही समव्यवहार है, न कि एक ही पदार्थसे सबकी समानरूपसे सेवा करना। किंतु सबमें व्यवहारका यथायोग्य भेद रहनेपर भी प्रेम और आत्मीयता अपने शरीरकी भाँति सबमें समान होनी चाहिये। जैसे अपने शरीरमें प्रेम और आत्मभाव (अपनापन) समान होते हुए भी व्यवहार अपने ही अङ्गोंके साथ अलग-अलग होता है—जैसे मस्तकके साथ ब्राह्मणकी तरह, हाथोंके साथ क्षत्रियकी तरह, जङ्घाके साथ वैश्यके समान, पैरोंके साथ शूद्रके समान एवं गुदा-उपस्थादिके साथ अछूतके समान व्यवहार किया जाता है; उसी प्रकार सबके साथ अपने आत्माके समान समभाव रखते हुए ही यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(गीता ६। ३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम-दृष्टि रखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

श्रीरामचरितमानसमें भरतके प्रति संतोंके लक्षण बतलाते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—

बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मयत्री। द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री॥
ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥

निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुन मंदिर सुख पुंज॥

'संत विषयोंमें लंपट (लिप्त) नहीं होते, वे शील और सद्गुणोंकी खान होते हैं। उन्हें पराया दुःख देखकर दुःख और सुख देखकर सुख होता है। वे सबमें सर्वत्र सब समय सम दृष्टि रखते हैं, उनके मनमें उनका कोई शत्रु नहीं होता। वे मदसे शून्य और वैराग्यवान् होते हैं तथा लोभ, क्रोध, हर्ष और भयके त्यागी होते हैं। उनका चित्त बड़ा कोमल होता है। वे दीनोंपर दया करते हैं तथा मन, वचन और कर्मसे मेरी निष्कपट (विशुद्ध) भक्ति करते हैं। सबको सम्मान देते हैं पर स्वयं मानरहित होते हैं। हे भरत! वे प्राणी (संतजन) मुझे प्राणोंके समान प्यारे होते हैं। उनको कोई कामना नहीं होती। वे मेरे नामके परायण (आश्रित) होते हैं तथा शान्ति, वैराग्य, विनय और प्रसन्नताके घर होते हैं। उनमें शीतलता, सरलता, सबके प्रति मित्रभाव और ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रीति होती है, जो (सम्पूर्ण) धर्मोंकी जननी है। हे तात! ये सब लक्षण जिसके हृदयमें बसते हों, उसको सदा सच्चा संत जानना। जिनका मन और इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, जो नियम (सदाचार) और नीति (मर्यादा) से कभी विचलित नहीं होते और मुखसे कभी कठोर वचन नहीं बोलते, जिन्हें निन्दा और स्तुति दोनों समान हैं और मेरे चरण-कमलोंमें जिनकी ममता है, वे गुणोंके धाम और सुखकी राशि संतजन मुझे प्राणोंके समान प्रिय हैं।'

इन लक्षणोंमें बहुत-से तो आन्तरिक होनेके कारण म[illegible] संवेद्य हैं, अतः उनको वे भक्त स्वयं ही जानते हैं और कु[illegible] से आचरण ऐसे भी हैं, जिन्हें देखकर दूसरे लोग भी उन[illegible] स्थितिका कुछ अनुमान लगा सकते हैं। किंतु वास्तवमें तो ई[illegible] और महात्माओंकी जिनपर कृपा होती है, वे ही उनको ज[illegible] सकते हैं। जिनके सङ्ग, दर्शन, भाषण और वार्ता[illegible] अपनेमें भगवत्प्राप्त पुरुषोंके लक्षणोंका प्रादुर्भाव हो, [illegible] लिये तो, वे ही भगवत्प्राप्त संत हैं—यों समझकर उन पुरु[illegible] से लाभ उठाना चाहिये। जो उन पुरुषोंका श्रद्धा भक्तिपूर्वक [illegible] करके उनकी आज्ञाका पालन करता है, वही उनसे वि[illegible] लाभ उठा सकता है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥
(१३। २५)

'दूसरे (मन्दबुद्धि लोग जो ध्यानयोग, [illegible] कर्मयोगादिको बात नहीं जानते) इस प्रकार न जानते हुए [illegible] हैं—तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार [illegible]

रखते हैं और वे अवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निस्संदेह पार कर लेते हैं।'

ऐसे संतोंके सङ्गकी महिमा और प्रभावका वर्णन करते हुए गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥
बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥
सतसंगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधात सुहाई॥

'जलमें रहनेवाले, जमीनपर चलनेवाले और आकाशमें विचरनेवाले नाना प्रकारके जड-चेतन जो भी जीव इस जगत्‌में हैं, उनमेंसे जिसने जिस समय जहाँ कहीं भी जिस किसी उपायसे बुद्धि (ज्ञान), कीर्ति, सद्गति, विभूति (ऐश्वर्य) और भलाई (अच्छापन) पायी है, वह सब सत्सङ्गका ही प्रभाव समझना चाहिये। वेदोंमें और लोकमें भी उनकी प्राप्तिका दूसरा कोई साधन नहीं है। सत्सङ्गके बिना विवेक (सत्-असत्‌की पहचान) नहीं होता और श्रीरामचन्द्रजीकी कृपाके बिना वह सत्सङ्ग सहजमें मिलता नहीं। सत्सङ्गति आनन्द और कल्याणकी जड़ है। सत्सङ्गकी सिद्धि (प्राप्ति) ही फल है, अन्य सब साधन तो फूल हैं। दुष्ट भी सत्सङ्ग पाकर सुधर जाते हैं, जैसे पारसके स्पर्शसे लोहा सुहावना हो जाता है—सुन्दर सुवर्ण बन जाता है।'

इसी विषयमें श्रीमहादेवजीने गरुड़जीसे कहा है—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

'सत्सङ्गके बिना श्रीहरिकी कथा सुननेको नहीं मिलती, हरिकथा-श्रवणके बिना मोह नहीं भागता और मोहके गये बिना श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें दृढ़ (अचल) प्रेम नहीं होता।'

श्रीकाकभुशुण्डिजीने भी गरुड़जीसे कहा है—

सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहूँ पाई॥
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥

'सुन्दर हरिभक्ति ही समस्त साधनोंका फल है। परंतु उसे संत (की कृपा) के बिना किसीने नहीं पाया। यों विचारकर जो भी संतोंका सङ्ग करता है, हे गरुड़जी! उसके लिये श्रीरामजीकी भक्ति सुलभ हो जाती है।'

फिर जिनको भगवान्‌ने संसारका कल्याण करनेके लिये ही संसारमें भेजा है, उन परम अधिकारी पुरुषोंकी तो बात ही क्या है! उनके तो दर्शन, भाषण, स्पर्श, चिन्तन और वार्तालापसे भी विशेष लाभ हो सकता है। जैसे किसी कामी पुरुषके अंदर कामिनीके दर्शन, भाषण, स्पर्श या चिन्तनसे कामकी जागृति हो जाती है, वैसे ही भगवत्प्रेमी पुरुषोंके दर्शन, भाषण, स्पर्श या चिन्तनसे भगवत्प्रेमकी जागृति अवश्य होनी चाहिये। प्रसिद्ध है कि पारसके सङ्गसे लोहा सोना बन जाता है; किंतु महात्माके सङ्गकी तो उससे भी बढ़कर महिमा बतलायी गयी है; किसी कविने कहा है—

पारस में अरु संत में, बहुत अंतरो जान।
वह लोहा कंचन करे, वह करै आपु समान॥

'पारसमें और संतमें बहुत अन्तर समझना चाहिये। पारस लोहेको सोना अवश्य बना देता है; किंतु संत तो अपने सम्पर्कमें आनेवालेको अपने समान ही बना लेते हैं।'

पारसके साथ सम्बन्ध होनेपर लोहा अवश्य ही सोना बन जाता है। यदि न बने तो यही समझना चाहिये कि या तो वह पारस पारस नहीं है या वह लोहा लोहा नहीं है। इसी प्रकार महापुरुषोंके सङ्गसे साधक अवश्य ही महापुरुष बन जाता है। यदि नहीं बनता तो यही समझना चाहिये कि या तो वह महापुरुष महापुरुष नहीं है अथवा साधकमें श्रद्धा-विश्वास और प्रेमकी कमी है।

उन भगवत्प्राप्त अधिकारी पुरुषोंकी तो जहाँ भी दृष्टि पड़ती है, वे जिनका मनसे स्मरण कर लेते हैं या जिनका स्पर्श कर लेते हैं, उन व्यक्तियों और पदार्थोंमें भगवत्प्रेम परिपूर्ण हो जाता है। किसी जिज्ञासुके मरनेके पूर्व यदि वे वहाँ पहुँच जाते हैं तो कथा-कीर्तन सुनाकर उसका कल्याण कर देते हैं। श्रीनारद-पुराणमें तो यहाँतक कहा गया है—

महापातकयुक्तो वा युक्तो वा चोपपातकैः।
परं पदं प्रयान्त्येव महद्भिरवलोकिताः॥
कलेवरं वा तद्भस्म तद्धूमं वापि सत्तम।
यदि पश्यति पुण्यात्मा स प्रयाति परां गतिम्॥

(ना० पूर्व० ७। ७४-७५)

'जिनपर महापुरुषोंकी दृष्टि पड़ जाती है, वे महापातक या उपपातकोंसे युक्त होनेपर भी अवश्य परम पदको प्राप्त हो जाते हैं। पवित्रात्मा महापुरुष यदि किसीके मृत शरीरको, उसकी चिताके धूएँको अथवा उसके भस्मको भी देख लें तो वह मृतक पुरुष परम गतिको पा लेता है।'

इसीलिये महापुरुषोंके सङ्गकी महिमा शास्त्रोंमें विशेषरूपसे वर्णित है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥
(१।१८।१३)

'भगवत्सङ्गी (भगवत्प्रेमी) पुरुषके लव (क्षण) मात्रके भी सङ्गके साथ हम स्वर्गकी तो क्या, मोक्षकी भी तुलना नहीं कर सकते; फिर संसारके तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है!'

श्रीरामचरितमानसमें भी लङ्किनी राक्षसीका हनुमान्‌जीके प्रति इसी आशयका वचन मिलता है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥

'हे तात! स्वर्ग और मोक्षके सुखोंको यदि तराजूके एक पलड़ेमें रखा जाय, तो वे सब मिलकर भी (दूसरे पलड़ेपर रखे हुए) उस सुखके बराबर नहीं हो सकते, जो लवमात्रके सत्सङ्गसे प्राप्त होता है।'

ऐसे महापुरुषोंकी कृपासे भक्तिकी प्राप्तिका प्रधान साधन बतलाते हुए श्रीनारदजी कहते हैं—

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद् वा।
(नारद० ३८)

'भगवान्‌की भक्ति मुख्यतया महापुरुषोंकी कृपासे ही अथवा भगवान्‌की कृपाके लेशमात्रसे प्राप्त होती है।'

नारदजी फिर कहते हैं—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।
(ना० भ० सू० ३९)

'उन महापुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ एवं अगम्य होते हुए भी मिल जानेपर अमोघ होता है।'

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव। (ना० भ० सू० ४०)

'और वह भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है।'

श्रीमद्भागवतमें भी कहा है—

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥
(११।२।२९)

'जीवोंके लिये मनुष्य-शरीरका प्राप्त होना कठिन है। यदि यह प्राप्त हो भी गया तो है यह क्षणभङ्गुर। और ऐसे अनिश्चित मनुष्य-जीवनमें भगवान्‌के प्रिय भक्तजनोंका दर्शन तो और भी दुर्लभ है।'

ऐसे महापुरुषोंका मिलन हो जाय तो हमलोगोंको चाहिये कि हम उनको साष्टाङ्ग नमस्कार करें, उनसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रश्न करके भगवान्‌के तत्त्वको समझें, उनकी आज्ञाका पालन करें और उनकी सेवा करें। उनकी आज्ञाका पालन करना ही उनकी वास्तविक सेवा है। एवं इससे भी बढ़कर है—उन महापुरुषोंके संकेत, सिद्धान्त और मनके अनुकूल चलना, अपने मन-इन्द्रियोंकी डोरको उनके हाथमें सौंप देना और उनके हाथकी कठपुतली बन जाना। इस प्रकारकी चेष्टा करनेवाले परम श्रद्धालु मनुष्योंमें उन सत्पुरुषोंके सङ्गके प्रभावसे सद्गुण-सदाचारका आगमन तथा उनके दुर्गुण-दुराचारका नाश ही नहीं, वरं भगवान्‌की भक्ति, उनके तत्त्वका ज्ञान और भगवत्प्राप्ति आदि सहजमें ही हो सकते हैं।

शास्त्रोंमें सत्सङ्गके प्रभावके अनेक उदाहरण मिलते हैं। हमलोगोंको उनपर ध्यान देना चाहिये। भगवान्‌के मिलन और मिलनरूप सत्सङ्गके श्रेष्ठ उदाहरण हैं—सुतीक्ष्ण और शबरी। इनकी कथा श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें देखनेको मिलती है। तथा भगवान्‌के प्रेमी ज्ञानी या भगवत्प्राप्त भक्तोंके सत्सङ्गसे भगवान्‌के तत्त्वका ज्ञान और उनकी प्राप्ति होनेके तो बहुत उदाहरण हैं। श्रीनारदजीके सङ्ग और उपदेशसे ध्रुवको भगवान्‌के दर्शन हो गये और उनके अभीष्टकी भी सिद्धि हो गयी (श्रीमद्भागवत स्कन्ध ४, अध्याय ८-९)। श्रीकाकभुशुण्डिजीके सत्सङ्गसे गरुड़जीका मोहनाश ही नहीं, उन्हें भगवान्‌का अनन्य प्रेम भी प्राप्त हो गया (श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड) तथा श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके सङ्ग और उपदेशसे श्रीराम, रघुनाथ भट्ट और हरिदास आदिका उद्धार हो गया। इसी प्रकार महात्मा हारिद्रुमत गौतमकी आज्ञाका पालन करनेमें तत्पर सत्यकामको और सत्यकामके सङ्ग और सेवासे उपकोसलको ब्रह्मका ज्ञान हो गया (छान्दोग्य-उप० अ० ४, ख० ४ से १७)। राजा अश्वपतिका सङ्ग करनेपर उनके उपदेशसे महात्मा उद्दालकको साथ लेकर उनके पास आये हुए प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल नामक ऋषियोंको ज्ञान प्राप्त हो गया (छान्दोग्य-उप० अ० ५ ख० ११)। आरुणि उद्दालकके सत्सङ्गसे श्वेतकेतुको ब्रह्मका ज्ञान हो गया (छान्दोग्य-उप० अ० ६ ख० ८ से १६)। श्रीसनत्कुमारजीके सङ्ग और उपदेशसे महर्षि नारदका अज्ञानान्धकार दूर हो गया तथा उनको ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी।

(छान्दोग्य-उप० अ० ७)। याज्ञवल्क्य मुनिके उपदेशसे मैत्रेयीको ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो गयी (बृहदारण्यक० अ० ४ ब्रा० ५)। श्रीधर्मराजके सङ्ग और उपदेशसे नचिकेता आत्मतत्त्वको जानकर ब्रह्मभावको प्राप्त हो गये (कठोपनिषद् अ० २)। महात्मा जडभरतके सङ्ग और उपदेशसे राजा रहूगणको परमात्माका ज्ञान हो गया (भागवत स्कन्ध ५। अ० ११ से १३)। इस प्रकार सत्सङ्गसे भगवान्में प्रेम, उनके तत्त्वका ज्ञान और उनकी प्राप्ति होनेके उदाहरण श्रुतियों तथा इतिहास-पुराणोंमें भरे पड़े हैं। हमलोगोंको चाहिये कि शास्त्रोंका अनुशीलन करके सत्सङ्गका प्रभाव समझें और उसके अनुसार सत्पुरुषोंके सङ्गका लाभ उठावें; क्योंकि मनुष्य जैसा सङ्ग करता है, वैसा ही बन जाता है। लोकोक्ति प्रसिद्ध है—'जैसा करे सङ्ग, वैसा चढ़े रंग'। और देखनेमें भी आता है कि मनुष्य योगीके सङ्गसे योगी, भोगीके सङ्गसे भोगी और रोगीके सङ्गसे रोगी हो जाता है। इस बातको समझकर हमें संसारासक्त मनुष्योंका सङ्ग न करके महात्मा पुरुषोंका ही सङ्ग करना चाहिये; क्योंकि सत्पुरुषोंका सङ्ग मुक्तिदायक है और संसारासक्त मनुष्योंका सङ्ग बन्धनकारक है।

श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

संत संग अपबर्ग कर, कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कबि कोबिद श्रुति पुरान सदग्रंथ॥

'संतका सङ्ग मोक्ष (भव-बन्धनसे छूटने) का और कामीका सङ्ग जन्म-मृत्युके बन्धनमें पड़नेका मार्ग है। संत, कवि और पण्डित तथा वेद-पुराण आदि सभी सद्ग्रन्थ ऐसी बात कहते हैं।'

किंतु यदि महात्मा पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त न हो तो उनके अभावमें विरक्त दैवी-सम्पदायुक्त उच्चकोटिके साधकोंका सङ्ग करना चाहिये। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक साधन करते हुए उनका सङ्ग करनेसे भी बहुत लाभ होता है; क्योंकि वीतराग पुरुषोंके स्मरणसे वैराग्यके भाव जाग्रत् होते हैं और मनकी एकाग्रता हो जाती है। श्रीपातञ्जलयोगदर्शनमें बतलाया है—

वीतरागविषयं वा चित्तम्। (१। ३७)

'जिन पुरुषोंकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, ऐसे विरक्त पुरुषोंको ध्येय बनाकर अभ्यास करनेवाला व्यक्ति स्थिरचित्त हो जाता है।'

जो उच्चकोटिके वीतराग साधु-महात्मा होते हैं, उनके लिये त्रिलोकीका ऐश्वर्य भी धूलके समान होता है। वे मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाको कलङ्क समझते हैं। इसलिये वे न अपने पैर पुजवाते हैं, न अपने पैरोंकी धूल किसीको देते हैं और न पैरोंका जल ही। न वे अपना फोटो पुजवाते हैं और न मान-पत्र ही लेते हैं। वे अपनी कीर्ति कभी नहीं चाहते, बल्कि जहाँ कीर्ति होती है, वहाँ वे ठहरते ही नहीं; फिर अपनी आरती उतरवाने और लोगोंको उच्छिष्ट खिलानेकी तो बात ही क्या है। यदि ऐसे विरक्त महापुरुषोंका सङ्ग न प्राप्त हो तो मनुष्यको चाहिये कि दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग तो कभी न करे। दुष्ट पुरुषोंके लक्षणोंका वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदासजीने लिखा है—

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई॥
खलन्ह हृदयँ अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥
जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥
काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥
बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥

× × × ×

पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपबाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद॥

× × × ×

मातु पिता गुर बिप्र न मानहिं। आपु गए अरु घालहिं आनहिं॥
करहिं मोह बस द्रोह परावा। संत संग हरि कथा न भावा॥
अवगुन सिंधु मंदमति कामी। बेद बिदूषक परधन स्वामी॥
बिप्र द्रोह पर द्रोह बिसेषा। दंभ कपट जियँ धरें सुबेषा॥

ऐसे अधम मनुज खल कृतजुग त्रेताँ नाहिं।
द्वापर कछुक बृंद बहु होइहहिं कलिजुग माहिं॥

'अब असंतों (दुष्टों) का स्वभाव सुनो। कभी भूलकर भी उनकी संगति नहीं करनी चाहिये। उनका सङ्ग उसी प्रकार सदा दुःख देनेवाला होता है, जैसे हरहाई (बुरी जातिकी) गाय कपिला (सीधी और दुधार) गायको अपने सङ्गसे नष्ट कर डालती है। दुष्टोंके हृदयमें बहुत अधिक संताप होता है। वे परायी सम्पत्ति (सुख) देखकर सदा जलते रहते हैं। वे जहाँ-कहीं दूसरेकी निन्दा सुन लेते हैं, वहाँ ऐसे हर्षित होते हैं, मानो रास्तेमें पड़ा खजाना उन्हें मिल गया हो। वे काम, क्रोध, मद और लोभके परायण तथा निर्दयी, कपटी, कुटिल और पापोंके घर होते हैं। वे बिना ही

सब किसीसे वैर किया करते हैं। जो उनके साथ भलाई करता है, उसका भी अपकार करते हैं। × × ×

वे दूसरोंसे द्रोह करते हैं और परायी स्त्री, पराये धन तथा परायी निन्दामें आसक्त रहते हैं। वे पामर और पापमय मनुष्य नर-शरीर धारण किये हुए राक्षस ही हैं।'' वे माता, पिता, गुरु और ब्राह्मण—किसीको नहीं मानते। स्वयं तो नष्ट हुए ही रहते हैं, अपने सङ्गसे दूसरोंको भी नष्ट करते हैं। वे मोहवश दूसरोंसे द्रोह करते हैं। उन्हें न संतोंका सङ्ग अच्छा लगता है न भगवान्की कथा ही सुहाती है। वे अवगुणोंके समुद्र, मन्दबुद्धि, कामी तथा वेदोंके निन्दक होते हैं और बलपूर्वक पराये धनके स्वामी बन जाते हैं। वे ब्राह्मणोंसे तो द्रोह करते ही हैं, परमात्माके साथ भी विशेषरूपसे द्रोह करते हैं। उनके हृदयमें दम्भ और कपट भरा रहता है, परंतु वे ऊपरसे सुन्दर वेष धारण किये रहते हैं। ऐसे नीच और दुष्ट मनुष्य सत्ययुग और त्रेतामें नहीं होते, द्वापरमें थोड़े होते हैं, किंतु कलियुगमें तो इनके झुंड-के-झुंड होंगे।'

आगे फिर कलियुगका वर्णन करते हुए पूज्यपाद गोस्वामीजी कहते हैं—

कलि मल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रंथ।
दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ॥

× × × ×

मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
सोइ सयान जो पर धन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥

× × × ×

निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥
जाकें नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥

असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥

× × × ×

सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥
गुर सिष बधिर अंध का लेखा। एक न सुनइ एक नहिं देखा॥
हरइ सिष्य धन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महुँ परई॥

× × × ×

जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥
नारि मुई गृह संपति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी॥
ते बिप्रन्ह सन आपु पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥

'कलियुगके पापोंने सारे धर्मोंको ग्रस लिया, सद्ग्रन्थ लुप्त हो गये, दम्भियोंने अपनी बुद्धिसे कल्पना कर-करके बहुत-से पंथ प्रकट कर दिये। कलियुगमें जिसको जो अच्छा लग जाय, वही मार्ग है। जो डींग मारता है, वही पंडित है। जो मिथ्या आरम्भ करता (आडम्बर रचता) है और जो दम्भमें रत है, उसीको सब कोई संत कहते हैं। जो जिस किसी प्रकारसे दूसरेका धन हरण कर ले, वही बुद्धिमान् है। जो दम्भ करता है, वही बड़ा आचारी है। जो आचारहीन है और वेदमार्गका त्यागी है, कलियुगमें वही ज्ञानी और वही वैराग्यवान् है। जिसके बड़े-बड़े नख और लंबी-लंबी जटाएँ हैं, वही कलियुगमें प्रसिद्ध तपस्वी है। जो अमङ्गल वेष और अमङ्गल भूषण धारण करते हैं और भक्ष्य-अभक्ष्य (खानेयोग्य और न खानेयोग्य)—सब कुछ खा लेते हैं, वे ही योगी हैं, वे ही सिद्ध हैं और वे ही मनुष्य कलियुगमें पूज्य हैं। शूद्र ब्राह्मणोंको ज्ञानोपदेश करते हैं और गलेमें जनेऊ डालकर कुत्सित दान लेते हैं। गुरु और शिष्य क्रमशः बहरे और अंधेके समान होते हैं—एक (शिष्य) गुरुके उपदेशको सुनता नहीं, दूसरा (गुरु) देखता नहीं (उसे ज्ञानदृष्टि प्राप्त नहीं है)। जो गुरु शिष्यका धन तो हर लेता है, पर शोक (अज्ञान) नहीं मिटा सकता, वह घोर नरकमें पड़ता है। तेली, कुम्हार, चाण्डाल, भील, कोल और कलवार आदि जो वर्णमें नीचे हैं, वे स्त्रीके मरनेपर अथवा घरकी सम्पत्ति नष्ट हो जानेपर सिर मुड़ाकर संन्यासी हो जाते हैं। वे अपनेको ब्राह्मणोंसे पुजवाते हैं और अपने ही हाथों लोक और परलोक—दोनों नष्ट करते हैं।'

सुना और देखा भी जाता है कि आजकल दम्भीलोग भक्त, साधु, ज्ञानी, योगी और महात्मा बनकर अपने नामका जप और अपने स्वरूपका ध्यान करवाते हैं तथा अपने फोटोपर माला रखकर एवं अपनी जूठन खिलाकर अपना और दूसरोंका धर्म भ्रष्ट करते हैं। ऐसे दम्भी मनुष्योंसे सब लोगोंको सदा सावधान रहना चाहिये, क्योंकि ऐसे पुरुषोंके सङ्गसे मनुष्यमें दुर्गुण-दुराचारोंकी वृद्धि होती है और परिणाममें उसका पतन हो जाता है। इसके विपरीत जिन पुरुषोंके दर्शन, भाषण, वार्तालाप और स्पर्शसे हमारे अंदर बैठे हुए आत्माके पर्देसे धीरे-धीरे अज्ञानका आवरण हटाये हुए दैवी सम्पदाके लक्षण प्रकट हों और भगवान्की भक्तिका उदय हो, उन दैवी-सम्पदायुक्त उच्चकोटिके साधक भक्तका सङ्ग करना चाहिये। ऐसे साधक भक्तोंके लक्षण गीताके १२वें अध्यायके १३वें, १४वें श्लोकोंमें इस प्रकार बतलाये गये हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

'परंतु हे कुन्तीपुत्र ! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित—अक्षर-स्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं। वे दृढनिश्चयी भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्य प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं।'

ऐसे पुरुषोंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सङ्ग करनेसे दैवी-सम्पदाके लक्षणोंका और ईश्वर-भक्तिका प्रादुर्भाव अवश्य ही होना चाहिये। यदि नहीं होता तो समझना चाहिये कि या तो जिस साधक भक्तका हम सङ्ग कर रहे हैं, उसमें कोई कमी है अथवा हममें श्रद्धा-भक्तिकी कमी है।

किंतु यदि ऐसे उच्चकोटिके वीतराग साधकोंका भी सङ्ग न मिले तो सत्-शास्त्रोंका सङ्ग (अध्ययन) करना चाहिये; क्योंकि सत्-शास्त्रोंका सङ्ग भी सत्सङ्ग ही है। श्रुति-स्मृति, गीता, रामायण, भागवत आदि इतिहास-पुराण तथा इसी प्रकारके ज्ञान, वैराग्य और सदाचारसे युक्त अन्य शास्त्रोंका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अनुशीलन तथा उनमें कही हुई बातोंको हृदयमें धारण और पालन करनेसे भी मनुष्यका संसारसे वैराग्य और भगवान्‌से प्रेम होता है और आगे चलकर वह सच्चा भक्त बन जाता है एवं भगवान्‌को यथार्थरूपसे जानकर उनको प्राप्त हो जाता है।

गौणी और परा भक्ति

(लेखक—महाकवि पं० [illegible])

सो सुतंत्र अवलंब न आना । तेहि आधीन ग्यान बिग्याना ॥
भगति तात अनुपम सुखमूला । मिलइ जो संत होइँ अनुकूला ॥
(श्रीरामचरित० अरण्य०)

भक्ति किसीके पीछे चलनेवाली नहीं है कि प्रथम अन्य साधन किया जाय तब उसकी प्राप्ति हो; वह स्वतन्त्र है, कोई भी मनुष्य उसको प्राप्त कर सकता है। जैसे व्याकरण पढ़नेसे शब्दोंका ज्ञान तो होता ही है, साथ ही साहित्य, दर्शन, नीति एवं धर्म-शास्त्रका भी उदाहरणोंद्वारा ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान और विज्ञानका भी भक्तिके द्वारा ज्ञान हो जाता है।

क्रमानुपपत्तिश्च । (दैवीमीमांसा)

अर्थात् क्रम माननेके लिये कोई प्रमाण नहीं है। भक्ति-लाभके लिये साधनका कोई क्रम नहीं है कि प्रथम इसका शुरू किया जाय, तब उसका आरम्भ हो। ज्ञानादिके लिये तो ऐसी विधि है, परंतु भक्तिमें ऐसा नियम नहीं है। जिस प्रकारकी साधन-विधि अथवा क्रम कर्मकाण्ड, योग तथा ज्ञानमार्गमें है, वैसा भक्ति-मार्गमें नहीं है। आनन्दकन्द भगवान्‌का कृपापात्र भक्त अलौकिक भावसे विधि-बन्धनको अतिक्रम करके आनन्द-सागरमें निमग्न होता है।

भक्तिको 'ऐश्वर्यप्रदा' नामसे पुकारते हैं। आचार्य भृगु, कश्यप, नारद आदि महर्षिगणने ज्ञानमार्गमें पारंगत होते हुए भी भगवान्‌की उपासना भक्तिमार्गसे ही की है।

जो जल-समूह समुद्रमें मिल जाता है, उसके लिये वाष्परूप-द्वारा अन्य जलसमूहको प्रवाहरूपमें प्रेरित करनेका अवसर नहीं रहता, अतः वह परोपकार करनेसे वञ्चित हो जाता है। इसी प्रकार जीव ज्ञानमार्गसे ऊर्ध्वगमन करता हुआ उसकी उच्चतम सीढ़ीतक पहुँच जाता है, उसे वहाँ भी एकाकीपनका अनुभव होता है। इसीलिये वह पुनः भक्तिमार्गकी ओर मुड़ जाता है।

भज उन पन भजनहँ गानहँ । सिरि छिपि सगुन भक्त रति मानहँ ॥
(मानस)

ज्ञानमार्ग जहाँ स्वावलम्बन निर्भर है, भक्तिमार्गमें सर्वस्व प्रभुको समर्पित कर दिया जाता है। वह स्वयं निर्बल बनकर प्रभु-पाद-पद्ममें अपनेको भी समर्पित कर देता है। उसके द्वारा लौकिक एवं पारलौकिक जो कोई भी कार्य होते हैं, उन सबका कारण वह प्रभु श्रीरामको समझता है।

प्रश्न होता है कि 'ऐसा भाव रखना तो कल्पनाकी उड़ान-मात्र है। जबतक ऐसा विचार मनमें लानेसे क्या वास्तवमें अलौकिक स्वाद आ सकता है ?' इसका उत्तर यह है कि जैसे अक्षराभ्यासके समय ही बालक विद्वान् नहीं बन जाता, वरं विद्वान् होनेका क्रम आरम्भ करता है, वैसे ही ऐसा संकल्प

शुद्ध होनेसे, मिट्टीसे हीरा होनेके समान वह भक्त कालान्तरमें 'पराभक्ति' को पा लेता है।

जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥

'जिससे मैं शीघ्र प्रसन्न होता हूँ वह मेरी सुखप्रदा भक्ति है'; उसे प्राप्त करनेके लिये न तो धर्म, वैराग्य, योग, ज्ञान आदिकी आवश्यकता है न विद्या-बुद्धिकी। भक्ति किसी भी अन्य पदार्थपर आधारित नहीं है। उलटे उसीकी प्राप्तिसे धर्म, वैराग्य, योगयुक्ति, शान्ति, समाधि, ज्ञान, विवेक आदि सब गुण अपने-आप आ जाते हैं। इसका कारण यह है कि आरम्भसे ही भक्तका मन प्रभुमें लग जाता है। यद्यपि आरम्भमें उसके अंदर चञ्चलता अधिक रहती है, फिर भी ज्यों-ज्यों वह भक्तिमार्गपर चलता है, त्यों-त्यों उसकी मनोवृत्तिमें प्रभु-प्रीतिका अङ्कुर नित्यप्रति बढ़ता जाता है और प्रभु-कृपा मालिन बन उसको सींचती, पालन करती है तथा वह विकाररूपी पशुओंसे उसकी रक्षा करती है। धीरे-धीरे उसके हृदयमें प्रभुके लिये प्रेम एवं अनुराग सदाके लिये स्थिर हो जाता है। तब भगवान् कहते हैं, 'मुझको स्वयं उससे प्रेम हो जाता है। यह रहस्यका रहस्य है कि मेरी कृपाकी छत्र-छायामें जो आ जाता है, वह निश्चित ही मेरा भक्त बन जाता है। जिसका एक पग मेरी ओर बढ़ता है, उसकी ओर मेरे सहस्र पग बढ़ते हैं; क्योंकि मैं ऐसा न करूँ तो भवसागरमें पड़ा जीव अपनी ओरसे मुझको कहाँ पा सकता है।'

एक बार श्रीलक्ष्मणजीने पूछा—'प्रभुवर! जो भक्त आपकी ओर अग्रसर होता है, क्या उसको विषय-वासना नहीं सताती?' श्रीरामजीने हँसकर उत्तर दिया कि 'कभी-कभी सताती है। परंतु मैं उसपर दृष्टि रखता हूँ। जैसे पिता अपने बालकके नदी-स्नान करते समय उसपर दृष्टि रखता है, उसे गहरे जलमें नहीं जाने देता, इसी प्रकार मैं अपने भक्तको विषयमें लिप्त नहीं होने देता।' यहाँ प्रश्न होता है कि प्रारब्ध-कर्म भक्तपर कैसा प्रभाव रखते हैं। उत्तर यह है कि शरीरके साथ प्रारब्ध कर्मोंका अभिन्न सम्बन्ध रहता है। परंतु यदि भक्तने अपनेको प्रभु-चरणोंमें समर्पित कर दिया है तो जैसे पथिक प्रचण्ड घामसे व्याकुल हो सघन वृक्षकी छायामें पहुँचकर शान्ति पाता है, उसी प्रकार भक्त प्रभुकी भक्तिका आश्रय लेकर प्रारब्धके चंगुलसे निकल आता है। ऐसी दशा भक्तकी गौणी-भक्तिमें रहती है। प्रारब्ध-कर्म उसको यथावत् विपत्तियों और दबोचते हैं; उस समय भी वह प्रभुका स्मरण करता हुआ उनसे बचानेकी प्रार्थना भगवान्से करता है। तब उदार शिरोमणि प्रभु उसकी विषय-वासनाकी भी पूर्ति करकर उसे सदा अपने चरणोंकी प्रीतिमें लगा लेते हैं।

फिर प्रश्न होता है कि 'क्या भगवान् अपने भक्तके लिये प्रारब्ध कर्मोंको नष्ट नहीं कर सकते?' उत्तर यह है कि मलत्याग करनेपर मल-स्थानको धोनेके लिये हाथसे स्पर्श करना होता है, परंतु हाथमें मिट्टी लगानेसे मलिनता दूर होकर हाथ शुद्ध हो जाते हैं। शरीरधारीके लिये प्रारब्ध भोग अनिवार्य होता है, परंतु भक्तको साधारण जीवकी भाँति भोगना नहीं पड़ता। भगवान्की कृपा उसके लिये सहायक होती है, जिससे उसका प्रभाव कम हो जाता है—जैसे ज्येष्ठका घाम होनेपर भी बादल घिर आनेसे उसकी गरमी उतना व्याकुल नहीं करती। व्यक्तिविशेषके प्रारब्ध नाशसे संसारमें उथल-पुथल हो सकती है। जैसे एक निज मोटरकारको बिगाड़ देनेका कारण बन सकती है, वैसे ही किसी व्यक्तिविशेषके प्रारब्धका नाश करनेमें प्रलयकाल-सा दृश्य आ सकता है; क्योंकि कर्मोंकी कड़ियोंके ही आधारपर यह संसार आधारित है। एक व्यक्तिके कर्म असंख्य व्यक्तियोंके कर्मोंके साथ जुड़े रहते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, जड़ पदार्थ, पर्वत, सागर, भूमि—सब एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं। अतः पूर्णरूपसे किसीके भी प्रारब्धका नाश नहीं किया जा सकता, परंतु भगवान्की कृपासे भक्तको नाममात्रके लिये प्रारब्ध भोगना पड़ता है। प्रेम कर्मोंको वह अपनेमें लय कर लेता है। जैसे सोनेमें मढ़ीसे नगकी सरसता मिलती है, वैसे ही प्रारब्धका संचित कर्मोंसे सम्बन्ध रहता है। पराभक्तिप्राप्त भक्तका संचित नष्ट हो जाता है; तब प्रारब्धका स्रोत टूट जाता है और अपार रसरूप प्रेमके तापसे प्रारब्धका मूल भी रस पहुँचानेमें समर्थ नहीं होता। तब प्रारब्ध-वृक्ष खोखला पड़ जाता है, पूर्णरूपसे रस न पहुँच पानेके कारण अपना विकास पूर्णरूपसे नहीं कर पाता। जितनी शक्ति बिजलीकी लैम्पमें होती है, उतना ही प्रकाश चारों ओर विद्युत्‌रूपसे फैल जाता है। इसी प्रकार जैसे भजन भाव होता है, उसी अनुपातसे प्रारब्धकी शक्ति कम हो जाती है—यहाँतक कि तीव्र भजन होनेपर वह नाममात्रके लिये रह जाती है।

अब प्रश्न यह है कि 'भक्ति कितने प्रकारकी होती है?' उत्तर यह है कि भक्ति दो प्रकारकी होती है—एक गौणी और दूसरी परा। और भक्ति कहते किसे हैं? इस सम्बन्धमें महर्षि नारदका मत है—

तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।

(भक्तिसूत्र १९)

अर्थात् समस्त आचार भगवान्‌के अर्पण कर देना और उन्हें थोड़ी देरके लिये भूल जानेपर भी विस्मरणसे अत्यन्त व्याकुल हो जाना।

शाण्डिल्यजीका कथन है—

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ।

(नारद-भक्ति सूत्र १८)

जब जगत्‌का नितान्त ध्यान न रहे और साधक एकमात्र आत्मचैतन्यमें ही सदा स्थिर रहे, इसीका नाम आत्मरति है। उसी आत्मरतिके साथ-साथ सगुणरूप भगवान् श्रीराम अथवा श्रीकृष्णके साथ एकरूप हो जाना ही भक्ति है।

महर्षि नारद इसीको बढ़ाकर कहते हैं कि "जब साधकका ऐसा स्वभाव हो जाय कि वह अपने सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कर दे, प्रभुके स्मरणको कभी न भूले और यदि भूल जाय तो उसके चित्तमें विकलता हो, तब इस अवस्थाको 'भक्ति' कहते हैं।"

यहाँ फिर प्रश्न होता है कि आप्तजनोंने जिस मार्गको निर्धारित कर दिया है, उसी मार्गका अवलम्बन उचित है और वह है शास्त्रानुसार आचरण। दर्शनशास्त्रमें वेदान्त सर्वोपरि माना जाता है और वेदान्तका सिद्धान्त है—ज्ञानार्जन करके ब्रह्मको प्राप्त करना। तब शास्त्रका उल्लङ्घन करके भक्ति-मार्गपर चलना क्या उचित है ? पक्की सड़क छोड़ अन्य मार्गसे जाना तो क्लेशकारक ही होता है।

दूसरा प्रश्न है कि 'बिना ज्ञानके भक्ति कैसे हो सकती है ? जबतक ईश्वरका ज्ञान आपको न होगा, तबतक उनकी भक्ति कैसे प्राप्त की जा सकती है ! बिना परिचय प्राप्त किये सम्भाषण कैसे हो सकता है ?' उत्तर यह है कि जननीके साथ शिशुको परिचय करनेकी आवश्यकता नहीं है। उन दोनोंका परिचय स्वाभाविक है। अज्ञानी शिशुको ज्ञान कहाँ हो सकता है। उसकी देख-रेख स्वतः जननी करती है। इसी प्रकारका सम्बन्ध जीव और ईश्वरका है। जीव मायाके वश होकर ईश्वरसे विमुख हो जाता है और विषय-वासनाओंमें फँसकर ईश्वरको भूल जाता है। शक्ति-सम्पन्न तपस्वियोंने अपने विचारबलसे कामादि षड्विकारोंको शमन करनेका प्रयत्न किया और तब ईश्वरका अन्वेषण किया था। कोई ब्रह्मको उस सुमेरु पर्वतके उच्च शिखरके समान अगम्य—अचिन्त्य, कोई उसे 'अहं ब्रह्मास्मि' कहकर अपना ही स्वरूप, कोई विराट्‌रूपमें विश्वभरमें व्याप्त कहते हुए बिना किसी आधारके ब्रह्मरूपी प्रासादपर चढ़ते थे और जरा-सी भी भूल होनेपर भर्राकर नीचे आ गिरते थे। पुनः उसी ब्रह्मरूपी शैल-शिखरपर आरोहण करते थे। यही क्रम अनेक कल्पोंतक लगा रहता था। ब्रह्मके अन्वेषण करनेका यह प्रबल सुमेधा-की शक्तिपर अवलम्बित था। उस मार्गके पथिक आधुनिक कालमें भी हैं और भविष्यमें भी रहेंगे। यह मार्ग ब्रह्मके विराट् ऐश्वर्यकी छानबीन करता हुआ उसका पता लगाता है, परंतु अगाध अगम सागरका पार पाना क्या सम्भव है ! भक्ति-मार्गका पथिक पथके शोधनकी चिन्ता नहीं करता, अर्थात् वह हृदयकी मलिनता-विक्षेपादिको दूर करनेमें समय नष्ट नहीं करता। प्रत्युत वह नाम तथा ध्यानका सहारा लिये भगवत्-चरणारविन्दमें अपने मलिन मनको लगाता आगे बढ़ता है।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि जो अभीष्ट स्थानके मार्गसे परिचित नहीं है, वह वहाँ कैसे पहुँच सकता है। भक्ति-मार्गपर चलनेवाले निर्बल और दीन होते हैं, जैसे नदीमें प्रस्तुत रहनेवाली नावके द्वारा घोर धाराकी नदी पार की जाती है, उसी प्रकार भक्तिके पथिकका स्वयं प्रभु रामकी कृपा पथ-प्रदर्शन करती है। इसका कारण यह है कि आरम्भसे ही जीव पुकारता है—'हे नाथ ! मैं दीन-निर्बल हूँ, करुणाकरकी कृपा मुझको सँभाले।' इस आर्त-पुकारको सुन भगवान् अपनी कृपाका सहारा देते हुए उसे अपनी ओर आकर्षित करते हैं। ऐसा क्रम गौणी-भक्तितक ही रहता है। और जब वह भक्त गौणी विभागकी उत्तम सीढ़ीको भी पार कर जाता है और पराभक्तिके प्रथम सोपानपर पग रखता है, तब करुणासागर भक्तवत्सल, दीनबन्धु राम स्वयं उस भक्तके पास उपस्थित होते हैं। जिसने मन-वचन-कर्मसे प्रभुकी शरण स्वीकार कर ली है, उसके साथ जो कोई भी घटना घटती है, उसके सम्बन्धमें वह अनुभव करता है कि उदार-शिरोमणि रामने मेरे हितमें ही ऐसा किया है। फिर तो बड़े-से-बड़ा दुःख आ पड़नेपर भी वह घबराता नहीं; क्योंकि उसको विश्वास रहता है कि मुझ वासबुद्धि दीन-जनकी रक्षा मेरे करुणाकर अवश्य करेंगे। अतः ज्ञान और भक्तिमें यही भेद है कि ज्ञानी ब्रह्मके निकट स्वयं जाता है और भक्तके पास प्रभु राम स्वयं आते हैं। अर्थात् पहले उनकी कृपा बुद्धिद्वारा पथ-प्रदर्शन करती है, और उसके पश्चात् स्वयं श्रीराम भक्तके पास आते हैं और एक बार आनेपर फिर छोड़कर जाते नहीं।

फिर आनेपर प्रभुको आत्मसमर्पण करना ही पड़ता है, उसी प्रकार मन-वचन-कर्मसे भगवत्-भजन होते रहनेके कारण; जैसे जलधारा बालूकी राशिको बहा ले जाती है, उसी प्रकार निरन्तर भजनमें लगा चित्त प्रारब्धको बिल्कुल कमजोर कर देता है। केवल मात्र शरीरके अङ्ग-अवयव जो प्रारब्धके अनुसार गर्भमें बने और प्रादुर्भूत हुए थे, वे तो दीखते हैं; परंतु उनपर भी भजनके गुणोंका प्रभाव रहता है। आगे चलकर जीवित दशामें ही भक्त और भक्तवत्सल एक-से हो जाते हैं।

विधिनिषेधागोचरत्वमनुभवात्। (दैवीमीमांसा)

अर्थात् स्वरूपका अनुभव हो जानेपर मनुष्यके लिये विधि-निषेध नहीं रहता। जब भक्त पराभक्ति प्राप्त कर लेता है, तब मुझे यह कर्म करना चाहिये और यह नहीं करना चाहिये—इसका विचार वह त्याग देता है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि साधकको शरीर रहते हुए इन्द्रिय, मन और बुद्धिको साथ रखना ही पड़ता है। तब ये सब व्यापार अवश्य करेंगे। यदि करेंगे तो विधि-निषेध इनपर लागू अवश्य होगा? इसका उत्तर यह है कि मोटरकारका इंजिन चलता रहता है, परंतु उसकी पहिया नहीं हिलती। क्योंकि स्टीयरिंग और क्लच न घुमानेसे उसकी पहिया नहीं हिलती। इसी प्रकार इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि साधारणरूपसे अपना व्यवहार प्राकृतिक शरीरकी रक्षाके रूपमें करते हैं, परंतु भक्तको उसका विशेष अनुभव नहीं होता; क्योंकि मन और बुद्धि संयुक्तरूपसे भगवान् श्रीरामके चरण-चिन्तनमें लगे रहते हैं।

जैसे स्थिर जलमें पवन-वेगसे लहरें उठती हैं अथवा ढेला फेंकनेसे जलमें उछाल होती है और लहरें दौड़ पड़ती हैं, उसी प्रकार परमहंसस्थितिधारी संतको कोई छेड़ता है तो उसमें उसके अनुसार ही आचरण देखनेमें आते हैं। उसका स्वरूपका व्यवहार अपना नहीं रहता, वह उसमें कारण होता है। पुजारीने मूर्तिको पीतवस्त्रसे सजाया तो वह पीतवस्त्रके साथ देख पड़ी, और नीले वस्त्र पहना दिये तो नीले रूपमें दृष्टिगत हुई। उन सबका कारण पुजारी है।

पराभक्तिप्राप्त भक्त भगवान्‌के अतिरिक्त किसी भी पदार्थको भिन्नरूपसे नहीं देखता। भक्तिमार्गमें साधकभावकी दृढ़ता न होनेपर भी वह सालोक्य प्राप्त करता है—

अविपक्वभावानामपि तत्सालोक्यम्। (दैवीमीमांसा)

अर्थात् भाव दृढ़ न होनेपर भी सालोक्य-मुक्ति प्राप्त होती है। कहनेका तात्पर्य यह कि मिश्रीका एक कण भी मधुरताका अनुभव कराता है। अब प्रश्न होता है—पराभक्ति प्राप्त कैसे हो? उत्तर है कि इसके उपाय आचार्योंने विविध प्रकारके वर्णन किये हैं—

महिमाख्यान इति भरद्वाजः।

अर्थात् भगवान्‌की महिमा वर्णन करना ही इसका उपाय है, यह महर्षि भरद्वाजका मत है।

जनसेवा प्रवृत्तिरिति वसिष्ठः।

जनता-सेवामें प्रवृत्ति ही इसका साधन है, यह महर्षि वसिष्ठका मत है।

तदर्पिताखिलाचरण इति कश्यपः।

अर्थात् भगवान्‌को समस्त कर्म समर्पण करना ही ऐसी उच्च स्थितिका लक्षण है, यह महर्षि कश्यपका मत है।

तद्विस्मरणेऽव्याकुलतात्मेति नारदः।

अर्थात् उनका (श्रीरामका) विस्मरण होनेपर व्याकुलता होना ही ऐसी उच्चस्थितिका लक्षण है, यह महर्षि नारदका मत है।

माहात्म्यज्ञानमपेक्ष्यम् (दैवीमीमांसा)

अर्थात् पराभक्तिमें माहात्म्य-ज्ञानकी भी अपेक्षा हुआ करती है। भगवान्‌के लीला-चरित्रोंको सुनकर प्रेम-प्रीतिका उद्गार होता है, मनोमोहक लीलाओंसे अनुराग जाग उठता है। प्रभुके लीला-कार्योंको स्मरणकर भक्त गद्गद हो जाता है और उनकी स्मृतिसे अपनी श्रद्धाको अभिन्न बलवती बना लेता है। माहात्म्यके जाने बिना मनुष्यको ज्ञान ही क्या हो सकता है कि भगवान्‌ने अवतार लेकर क्या किया। यदि माहात्म्यका वर्णन न किया जाता तो शबरी, शरभङ्ग तथा सुतीक्ष्ण आदि भक्तोंके यहाँ प्रभुके पधारनेका वृत्तान्त कैसे ज्ञात होता और भक्तके भावानुकूल श्रीरामके वन जानेका वृत्तान्त भी कैसे ज्ञात होता।

भक्ति और योग

(लेखक—डा० भानुशङ्कर नीलकण्ठ आचार्य, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

भगवान् श्रीव्यासने अपने योगभाष्यमें 'योग' की व्याख्या करते हुए कहा है—योगः समाधिः[1]। अर्थात् योगका अर्थ है समाधि। इस प्रकार भारतीय दर्शन-शास्त्रोंमें योग और समाधिको पर्यायवाची शब्द माना गया है। भगवान् पतञ्जलिने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—योगके ये आठ अङ्ग बतलाये हैं। इनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—ये योगके बहिरङ्ग साधन हैं तथा धारणा, ध्यान और समाधि—योगके अन्तरङ्ग साधन हैं—ऐसा भगवान् पतञ्जलिका कहना है[2]।

धारणाकी व्याख्या करते हुए योगसूत्रमें कहा गया है—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। (३ । १)

अर्थात् किसी एक देशमें—ध्येय पदार्थमें चित्तको लगानेका नाम 'धारणा' है। इस प्रकार ध्येयमें लगा हुआ चित्त उसमें स्थिर रहे और वह वृत्ति एकतार बनी रहे तो उसको 'ध्यान' कहते हैं। योगसूत्रका वचन है—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (३ । २)

अर्थात् ध्येय वस्तुमें चित्तकी एकतानताका होना 'ध्यान' कहलाता है। और इस प्रकार ध्यान सिद्ध होनेके बाद जब साधकको केवल ध्येयकी ही प्रतीति होती है, तो वह स्थिति 'समाधि' कहलाती है।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

(३ । ३)

अर्थात् जब ध्यानमें केवल ध्येयकी ही प्रतीति होती है और चित्त अपने स्वरूपसे शून्यवत् हो जाता है, तब उस स्थितिको 'समाधि' कहते हैं। समाधिका प्रथम सोपान धारणा और द्वितीय सोपान ध्यान है। धारणा सिद्ध होनेके बाद ध्यान और ध्यान सिद्ध होनेके बाद साधक समाधि-स्थितिमें पहुँच सकता है। ध्येय वस्तुमें जब चित्त अखण्ड धारारूपमें स्थिर रहता है, तभी समाधि स्थिति प्राप्त होती है। चित्तको ध्येयमें जोड़ना धारणा है, ध्येयमें स्थिर करना ध्यान है और ध्येयमें तन्मय हो जाना समाधि है।

१. योगसूत्र १ । १ व्यासभाष्य।

२. योगसूत्र ३ । ७।

इस प्रकार समाधिका जो लक्षण योगसूत्रमें दिखलाया है, वही लक्षण भक्तिका 'भक्तिरसायन' ग्रन्थमें श्रीमधुसूदन सरस्वतीने बतलाया है। जैसे—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥
(१ । ३)

अर्थात् सर्वेश्वर भगवान्में भगवद्धर्मोंके अनुष्ठानसे द्रवित हुए मनकी धारावाहिकताको प्राप्त वृत्ति 'भक्ति' कहलाती है। इस व्याख्यामें यम-नियम आदिके द्वारा इन्द्रियोंको संयममें रखकर भगवान्‌के गुणोंका श्रवण करना 'भगवद्धर्म' के रूपमें समझाया गया है और भगवद्धर्मसे पवित्र हुआ मन जब अखण्ड धाराके रूपसे सर्वेश्वर परमात्मामें स्थिर होकर तन्मय हो जाता है, तब उस वृत्तिको 'भक्ति' नामसे पुकारते हैं। इस प्रकार भगवान् पतञ्जलिने 'योग' की जो व्याख्या की है, वही व्याख्या 'भक्ति' की श्रीमधुसूदन सरस्वतीने की है। चित्त जब भगवान्‌को ही अपना ध्येय बनाकर उसमें अखण्ड धारावाहिकतासे तन्मय बन जाता है, तभी उसको भक्ति कहते हैं।

अन्य आचार्योंने इसी भक्तिको पराभक्ति नाम प्रदान किया है। महर्षि शाण्डिल्य अपने भक्तिसूत्रमें भक्तिकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—

सा परानुरक्तिरीश्वरे। (१ । १ । २)

अर्थात् ईश्वरमें परम अनुराग ही भक्ति है। संसारके सब विषयोंसे मन हट जाय और भगवान्‌में ही परम प्रीतियुक्त होकर प्रवृत्त जाय तो उस स्थितिको भक्ति कहेंगे—यह इस सूत्रका अभिप्राय है। शाण्डिल्य मुनिने ईश्वरमें अनन्य प्रेम-प्रकारको ही 'भक्ति' नाम प्रदान किया है।

ईश्वरको ही ध्येय बनाकर, उसमें तन्मय होकर, चित्तका ईश्वरके प्रति परम अनुरक्त होना—इसको 'परम प्रेमरूपा भक्ति' नाम महर्षि नारदजीने दिया है। अपने भक्तिसूत्रमें भक्तिकी व्याख्या करते हुए नारदजी कहते हैं—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। (ना० भ० २)

अर्थात् भगवान्‌में अनन्य परम प्रेम-प्रकारका ही नाम भक्ति है।

इस प्रकार भक्ति ही सम्प्रज्ञात समाधि है। भक्ति ही

योग है। भक्तिसे सम्प्रज्ञात योग और फिर असम्प्रज्ञात योगकी भूमिका प्राप्त होती है, और साधकको सायुज्य मुक्ति मिल जाती है।

भगवान् पतञ्जलिने 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (१।२३) इस सूत्रमें योगके अष्टाङ्गोंको अलग रखकर 'केवल ईश्वरकी भक्तिसे ही योग-समाधि सिद्ध होती है' यह बतलाया है। क्योंकि जब भक्त भगवान्‌को ही ध्येय बनाकर, उसमें अपने चित्तको अखण्ड प्रवाहवत् ध्यानद्वारा युक्त करके तन्मय करता है, तब उस धारावाहिकतासे चित्त ध्येयाकार बन जाता है और यही समाधिकी स्थिति है। इस प्रकार भक्ति ही समाधिका रूप ले लेती है। नारदजी आगे चलकर यह भी कहते हैं कि भगवानमें स्थित चित्त यदि थोड़ी देरके लिये भी भगवान्‌को भूल जाता है तो भक्तको परम व्याकुलता होती है—

तद्विस्मरणे परमव्याकुलता। (ना० भ० १९)

इसीसे इसको 'अनन्य प्रेम' या 'पराभक्ति' कहते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
(६।४६)

—यह कहकर प्रतिपादन किया गया है कि भक्ति ही योग है, और उस भक्तियोगको तप, ज्ञान और कर्मसे भी श्रेष्ठ बतलाया है।

भक्तिका स्वरूप

(लेखक—डा० श्रीनृपेन्द्रनाथ राय चौधरी एम० ए०, डी० लिट्०)

अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिका नाम है योग। मानव-जीवनका परम लक्ष्य है—श्रीभगवान्‌को पाना। शास्त्रोंमें भगवत्प्राप्तिके उपायस्वरूप कर्म, ज्ञान और भक्ति—त्रिविध योगका विशद विस्तारसे वर्णन है। कोई-कोई अष्टाङ्गयोगको भी स्वतन्त्र योग समझते हैं। परंतु गम्भीरतापूर्वक विचार करनेसे प्रतीत होता है कि वह कर्मयोगके ही अन्तर्गत है। अष्टाङ्गयोगके अङ्ग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि बिना कर्मके निष्पन्न नहीं हो सकते। वस्तुतः कर्मयोगको सारे योगोंकी भित्ति कह सकते हैं। भक्ति और ज्ञान दोनोंका ही अनुशीलन करनेके लिये कर्म करनेकी आवश्यकता होती है। स्वयं श्रीभगवान्‌ने कहा है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
(गीता ३।५)

'कर्म किये बिना कोई क्षणमात्र भी नहीं रह सकता।' तथापि शुद्ध भक्त और शुद्ध ज्ञानी, दोनों ही आसक्तिरहित होकर केवल कर्तव्य मानकर कर्म करते हैं। भगवत्प्राप्तिके इन तीनों उपायोंमें कौन-सा श्रेष्ठ है, इस विषयको लेकर विभिन्न सम्प्रदायोंके आचार्योंमें पूर्वापर मतभेद चला आ रहा है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसके सामञ्जस्यका प्रयास दीख पड़ता है। परंतु वहाँ भी वही पुराना विवाद विद्यमान है। कर्मयोगके विषयमें चाहे उतनी बात न हो, परंतु ज्ञान और भक्तिमें कौन बड़ा है—इसकी मीमांसा आजतक न तो हुई और न ऐसा लगता है कि भविष्यमें ही हो सकेगी। शिव-महिम्नःस्तोत्रकी भाषामें हम कह सकते हैं कि जबतक मनुष्योंमें रुचिवैचित्र्य बना रहेगा, तबतक ऋजु और कुटिल नाना मार्गोंका अवलम्बन करके ही मनुष्य भगवान्‌को पानेकी चेष्टा करता रहेगा। तथापि यह बात अधिकांश लोग स्वीकार करते हैं कि ज्ञानका पथ बड़ा ही दुर्गम है और भक्तिका पथ बहुत कुछ सहज है। स्वयं श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।

'जो अव्यक्त अर्थात् निर्गुण ब्रह्मके प्रति आसक्त होते हैं उनको अधिक कष्ट उठाना पड़ता है।' भागवतमें भी ब्रह्माजीने भक्तिके मार्गको श्रेयका मार्ग कहकर वर्णन किया है। जैसे—

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥
(१०।१४।४)

अर्थात् 'हे विभो! जो तुम्हारी प्राप्तिके कल्याणजनक पथ भक्तिका त्याग करके केवल अद्वैतज्ञानकी प्राप्तिके लिये कष्ट उठाते हैं, उनको धानका परित्याग करके स्थूल भूसी कूटनेवालेके समान केवल क्लेश ही हाथ लगता है।'

इस प्रकारकी भक्ति है क्या वस्तु—इस सम्बन्धमें

विभिन्न शास्त्र-ग्रन्थ तथा आचार्योंका मत यहाँ उद्धृत किया जाता है।

उपनिषद्-ग्रन्थ आर्य-साधनाके श्रेष्ठ अवदान हैं। मुक्तिकोपनिषद्में १०८ उपनिषदोंका नामोल्लेख है। इनके सिवा और भी बहुत-से उपनिषद् दृष्ट होते हैं। अष्टोत्तरशत उपनिषदोंमें ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक—इन दस उपनिषदोंको सभी सम्प्रदायके लोग प्रधान या मुख्य उपनिषद् मानते हैं। इनमें किसी एकमें भी 'भक्ति' शब्दका उल्लेख नहीं है। भक्ति-पदार्थके स्थानापन्न-रूपमें किसी-किसी उपनिषद्में 'श्रद्धा' शब्दका प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। 'श्रद्धा' शब्दकी व्याख्यामें आचार्य शंकर कहते हैं—

गुरुवेदान्तवाक्येषु दृढविश्वासः श्रद्धा।

अर्थात् आचार्य और शास्त्रके वचनोंमें दृढ विश्वास ही श्रद्धा है। गीतामें कहा गया है—'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्।' श्रद्धाके द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। परंतु कहीं भी यह बात नहीं कही गयी है कि श्रद्धाके द्वारा भक्ति प्राप्त होती है। भक्तिसूत्रकार शाण्डिल्य कहते हैं कि श्रद्धा और भक्ति एक ही वस्तु हैं। श्रद्धाद्वारा ज्ञानकी प्राप्ति होती है, परंतु भगवान्की प्राप्तिका उपाय है भक्ति—

नैव श्रद्धा तु साधारण्यात्।

(भक्तिसूत्र १।२४ तथा [illegible] ५७)

परंतु 'श्रद्धा' शब्दकी भक्तिके अनुकूल ही व्याख्या की गयी है। जैसे—

श्रद्धा त्वन्योपायवर्जं भक्त्युन्मुखचित्तवृत्तिविशेषः।

अर्थात् कर्म, ज्ञान आदि उपायोंका त्याग करके भक्तिके प्रति उन्मुख चित्तवृत्तिविशेषका नाम श्रद्धा है। ईशादि मुख्य दस उपनिषदोंमें 'भक्ति' शब्दका उल्लेख न प्राप्त होनेपर भी श्वेताश्वतर उपनिषद्के अन्तिम मन्त्रमें 'भक्ति' शब्दका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। जैसे—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

'जो देवताके प्रति (परमेश्वरके प्रति) परम भक्तिमान् हैं तथा गुरुके प्रति भी वैसे ही भक्तिमान् हैं, यह उपनिषत्-तत्त्व उन्हींके सम्मुख प्रकाशित होता है।' उपनिषदोंमें भक्तिवादकी खोज करनेवाले कोई-कोई आचार्य कठोपनिषद्के इस मन्त्रकी भक्तिवादके अनुकूल व्याख्या करते हैं—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।

'जिसपर ये परमात्मा कृपा करते हैं, उसीके सामने यह अपने तनुको प्रकाशित करते हैं।' परंतु स्वामी शंकर आदि अद्वैतवादी इस मन्त्रकी निर्विशेष ब्रह्मके अनुकूल व्याख्या करते हैं। छोटे-छोटे उपनिषदोंमें अन्यतम गोपालतापनीय, नृसिंहतापनीय, रामतापनीय आदि ग्रन्थोंमें तत्तत् देवताकी उपासना और भजनकी बात विस्तारसे वर्णित है। भक्तिके द्वारा भजन ही इन सब ग्रन्थोंमें प्रतिपाद्य वस्तु है।

'भक्तिसूत्र'के नामसे दो ग्रन्थ प्राप्त होते हैं—एकके रचयिता हैं देवर्षि नारद और दूसरेके महर्षि शाण्डिल्य। दोनों ही ग्रन्थ विष्णुपुराण, महाभारत, हरिवंश और श्रीमद्भागवतके बाद रचे गये हैं, इसका प्रमाण स्थान-स्थानपर ग्रन्थस्थ सूत्रोंमें ही प्राप्त होता है। नारदीय भक्तिसूत्र ८४ सूत्रोंमें समाप्त होता है। शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रोंकी संख्या एक सौ है। नारदके भक्तिसूत्रमें शाण्डिल्यका नाम आया है। परंतु शाण्डिल्यके सूत्रोंमें नारदका उल्लेख नहीं है। देवर्षि नारद ब्रह्माके मानसपुत्र हैं। अतएव महर्षि नारद शाण्डिल्यके पूर्वज तथा भक्ति-धर्मके अन्यतम आदिप्रचारक हैं; परंतु शाण्डिल्यने अपने भक्तिसूत्रमें अन्यान्य आचार्योंके नामका उल्लेख करते समय देवर्षि नारदका नामतक नहीं लिया है—यह क्या आश्चर्यकी बात नहीं है! नारदीय भक्तिसूत्रकी कोई टीका हमारे देखनेमें नहीं आयी। शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रकी एक टीका हमने देखी है। इसके रचयिताका नाम स्वप्नेश्वर है। ये स्वप्नेश्वर वैष्णव-साहित्यमें सुपरिचित वासुदेव सार्वभौमके पौत्र थे। उनके पिताका नाम जलेश्वर वाहिनीपति था। जलेश्वर उत्कलके राजा गजपति प्रतापरुद्रके अन्यतम सेनापति थे, अतएव 'वाहिनीपति' उनकी उपाधि हो गयी। स्वप्नेश्वरने प्रधानतः गीता और श्रीमद्भागवतका आश्रय लेकर ही अपनी टीकाकी रचना की है।

भक्तिकी संज्ञा और स्वरूपका निर्णय करते हुए देवर्षि नारद कहते हैं—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा॥२॥
अमृतस्वरूपा च॥३॥

अर्थात् भगवान्के प्रति एकनिष्ठ प्रेम ही भक्ति है तथा भक्ति अमृतस्वरूपा है। भक्ति प्राप्त होनेपर विषादकी ज्वाला दूर होती है, मनमें विमल शान्तिका उदय होता है। '[illegible]' में भी कहा गया है—

तापत्रयमयौघम्र तावत् पीडयते जनम्।
यावन्नाश्रयति मो नाथ भक्त्या त्वत्पादपङ्कजम्॥

'जबतक भक्तिभावसे भरकर मनुष्य तुम्हारे पाद-पद्मका आश्रय नहीं लेता, तभीतक हे प्रभो ! दैहिक आदि तीनों ताप और पापोंके समूह उसे पीड़ित करते हैं।'

भागवतमें श्रीभगवान्ने गोपियोंको लक्ष्य करके कहा है—

मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।

—'मेरी भक्तिके द्वारा ही लोग अमृतत्वको प्राप्त करते हैं।' यह अमृतत्व देहका चिरस्थायी होना नहीं है। भक्तिद्वारा श्रीभगवान्के साथ नित्य सम्बन्ध स्थापन करके अपूर्व रस-माधुर्यका आस्वादन ही यह अमृतत्व है। भक्तिशास्त्रमें इसको चतुर्वर्गके ऊपर अवस्थित पञ्चम पुरुषार्थके नामसे कहा गया है। देवर्षि नारद भक्तिको परमप्रेमरूपा कहते हैं, परंतु प्रत्यक्षरूपसे प्रेमकी कोई संज्ञा निर्णय नहीं करते। प्रेम क्या है, यह जाननेके लिये हमको भकराज कृष्णदास कविराज गोस्वामीकृत दर्शन और रसशास्त्रके अपूर्व समन्वय-ग्रन्थ श्रीचैतन्य-चरितामृतकी ओर दृष्टिपात करना' होगा।

ह्लादिनीर सार प्रेम—अर्थात् आनन्द-रसका जो निर्यास या घनीभूत सार है, वही प्रेम है। एकमात्र विहस्तु श्रीभगवान्के सिवा अन्य किसीके प्रति वास्तविक प्रेम नहीं हो सकता। स्त्री-पुत्रादिके प्रति जो स्नेह होता है, वह यथार्थ प्रेमपद-वाच्य नहीं है; क्योंकि उसमें आत्मेन्द्रियकी प्रीति वर्तमान रहती है, वह काम मात्र है।

आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तारे बलि काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम॥

गीतामें श्रीभगवान् अर्जुनसे कहते हैं—'हे कौन्तेय ! तुम जो कुछ करो, जो कुछ खाओ, जो कुछ हवन करो, जो कुछ दान करो और जो भी तपस्या करो, वह सब मुझे अर्पण कर दो।' (९।२७) अर्थात् तुम अपने सुखका विचार न करके, इस प्रकारके कर्तृत्वाभिमानको त्यागकर अपने कृत्य सत्कार्योंके द्वारा यह चिन्तन करो कि इससे भगवान् प्रसन्न हों। यों करनेसे परम तृप्ति प्राप्त करोगे—

यत् करोमि जगन्मातस्तदेव तव पूजनम्।

महर्षि शाण्डिल्यके मतसे 'परानुरक्तिरीश्वरे'—ईश्वरके प्रति ऐकान्तिक अनुराग ही भक्ति है। देवर्षि नारदद्वारा कथित 'परमप्रेमरूपा'के साथ इसका कोई पार्थक्य नहीं है। नारदके समान शाण्डिल्य भी भक्तिको 'अमृतस्वरूपा' कहते हैं।

तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात्।

'ईश्वरमें भक्ति सुप्रतिष्ठित होनेपर अमृतत्वकी प्राप्ति होती है—यह शास्त्रका उपदेश है।' 'भक्तिरसामृतसिन्धु' ग्रन्थमें श्रीरूपगोस्वामी कहते हैं—

इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।

अर्थात् इष्टमें रसभावित एकान्त आविष्टताका नाम ही 'राग' है। भक्तिके स्वरूप या लक्षणका निर्णय करते हुए वे भक्तिको सामान्य-भक्ति, साधन-भक्ति, भाव-भक्ति और प्रेम-भक्ति—इन चार श्रेणियोंमें विभक्त करते हैं। यह भक्तिका सूक्ष्म विभाग है। स्थूलतः भक्ति दो प्रकारकी होती है—साधन या वैधी भक्ति, और परा या प्रेम-भक्ति। शास्त्रविधिके अनुसार श्रवण, कीर्तन आदि नौ प्रकारकी भक्तिमें किसी एक या अधिक अङ्गोंकी साधनाका नाम साधन-भक्ति या वैधी-भक्ति है। साधन-भक्ति-के द्वारसे कोई-कोई भाग्यवान् साधक प्रेम-भक्तिकी भूमिकामें अधिरूढ होते हैं। उसका क्रम इस प्रकार है—

साधन भक्ति हइते हय रतिर उदय।
रति गाढ़ हैले तार प्रेम नाम कय॥
प्रेमवृद्धि क्रमे नाम स्नेह मान प्रणय।
राग, अनुराग, भाव, महाभाव हय॥

(चैतन्यचरितामृत)

जो लोग इस विषयमें विस्तारसे जाननेके इच्छुक हों उनसे मैं श्रीरूपगोस्वामीकृत 'भक्तिरसामृतसिन्धु' पढ़नेका अनुरोध करूँगा।

भक्तिशास्त्रमें 'नारद-पाञ्चरात्र' एक विख्यात ग्रन्थ है। भक्तिकी संज्ञाके विषयमें इस ग्रन्थमें कहा गया है—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते॥

'अन्य कामनाओंका परिहार करके निर्मल चित्तसे समग्र इन्द्रियोंके द्वारा श्रीभगवान्की सेवाका नाम भक्ति है।'

श्रीमद्भागवत भक्ति-ग्रन्थोंमें शीर्षस्थानीय कहा गया है। वहाँ भगवदवतार श्रीकपिलदेव अपनी माता देवहूतिको उपदेशके प्रसङ्गमें कहते हैं—'माता ! जो मेरे भक्त हैं, वे मेरी सेवा छोड़कर और कुछ नहीं चाहते। सालोक्य (मेरे साथ एक लोकमें वास), सार्ष्टि (मेरे समान ऐश्वर्य), सारूप्य (मेरे समान रूप), सामीप्य (मेरे समीप अवस्थान) या एकत्व (निर्वाण-मुक्ति)—इनमेंसे कोई भी यदि मैं देना चाहूँ, तो भी वे ग्रहण नहीं करते। वे चाहते हैं मुझसे प्रेम करना, मेरी सेवा करना।

इसीका नाम 'आत्यन्तिक भक्तियोग' है। इसके द्वारा मेरे भक्तगण त्रिगुणात्मिका मायाका अतिक्रम करके मेरे विमल प्रेमको प्राप्त करते हैं।'

> स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः।
> येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते॥

गीतामें भी श्रीभगवान्‌ने मायाको 'दैवी' और 'दुरत्यया' कहा है। मायाको जीतना बहुत कठिन है। परंतु—

> मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

'जो मेरी शरण ले लेते हैं, माया उनको फिर आबद्ध नहीं कर सकती।' इसी कारण गीताका चरम उपदेश देते हुए भगवान् कहते हैं—

> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

भक्तिके लक्षणके सम्बन्धमें पूर्वाचार्योंके मतकी आलोचना करते हुए देवर्षि नारदने कहा है कि 'पराशरपुत्र व्यासजीके मतसे श्रीभगवान्‌की पूजा आदिमें जो अनुराग है, उसीका नाम भक्ति है।' गर्ग मुनिके मतसे भगवान्‌की कथामें (अर्थात् नाम, रूप, गुण और लीलाके कीर्तनमें) अनुरागका नाम भक्ति है। महर्षि शाण्डिल्यके मतसे अपने आत्मामें (परमात्माके अभिन्न अंशरूपमें) अबाध अनुरागका ही नाम भक्ति है।' शाण्डिल्यका मत आपाततः अभेदवाद-मूलक जान पड़ता है, तथापि वस्तुतः ऐसा नहीं है। जीव भगवान्‌का अंश अवश्य है, परंतु भगवान् विभुचैतन्य हैं और जीव अणुचैतन्य है। अतएव दोनोंमें सेव्य-सेवक-भावका सम्बन्ध नित्य विद्यमान है।

> जीवेर स्वरूप हय नित्य कृष्ण दास।
> कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश॥
> (चैतन्यचरितामृत)

पुरुषोत्तम युगमें भक्तिके सर्वश्रेष्ठ विश्लेषणकर्ता श्रीरूपगोस्वामीके मतसे—

> अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
> आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

अर्थात् अन्य अभिलाषासे शून्य, ज्ञान-कर्म तप प्रयुक्त नित्य-नैमित्तिक कर्म आदिसे अनावृत, कृष्णमें प्रीतियुक्त प्रवृत्तिके साथ कृष्णानुशीलन ही उत्तमा भक्ति है। जो नारद-पाञ्चरात्रसे भक्ति-लक्षण-विषयक जो श्लोक उद्धृत किया गया है, उसके साथ इस श्लोकका जो तात्त्विक ऐक्य है उसके विश्लेषणकी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

गीताके प्रसिद्ध टीकाकार और सुविख्यात 'अद्वैतसिद्धि' ग्रन्थके प्रणेता श्रीमधुसूदनसरस्वती अपनी वृद्धावस्थामें लिखे (सम्भवतः अन्तिम) ग्रन्थ 'भक्ति-रसायन'में भक्तिके लक्षणका निर्देश करते हुए कहते हैं—

> द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकतां गता।
> सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥

अर्थात् 'भगवान्‌के गुण, महिमा आदि श्रवण करनेसे सत्त्व-गुणके उद्रेकवश मन द्रवीभूत होकर भगवान्‌के प्रति अविच्छिन्न तैलधाराके समान जिस चिन्तनधारामें लीन हो जाता है, उसीका नाम भक्ति है।'

जो लोग भक्तिके सम्बन्धमें अधिक जाननेकी अभिलाषा रखते हों, उनको श्रीजीवगोस्वामीकृत 'भक्ति-संदर्भ' और 'भक्तिरसामृत-सिन्धु', श्रीविष्णुपुरीगोस्वामीकृत 'विष्णुभक्ति-रत्नावली' तथा उसकी 'कान्तिमाला' नामक टीका, एवं गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रीविश्वनाथचक्रवर्तीकृत 'माधुर्य-कादम्बिनी' के अध्ययनसे अपार आनन्दकी प्राप्ति होगी।

भगवान्‌का भक्त विषयोंसे पराजित नहीं होता

भगवान् कहते हैं—

> बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः। प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥
> (श्रीमद्भा० ११।१४।१८)

'उद्धवजी! मेरा जो भक्त अभी जितेन्द्रिय नहीं हो सका है और संसारके विषय बार-बार जिसे बाधा पहुँचाते रहते हैं—अपनी ओर खींच लिया करते हैं, वह भी क्षण-क्षणमें बढ़नेवाली मेरी प्रगल्भ भक्तिके प्रभावसे प्रायः विषयोंसे पराजित नहीं होता।'

भक्ति-तत्त्व

(लेखक—श्रीप्रतापचन्दजी पाण्ड्या, बी० ए०)

यहाँ भक्तिका तात्पर्य भगवान्‌की अर्थात् परमात्माकी भक्तिसे है। विषय-भोगोंकी भक्ति तो सभी सांसारिक प्राणी करते हैं—सदासे करते आ रहे हैं। इस भक्तिको भगवान्‌की ओर मोड़ना है, जैसा कि तुलसीदासजीने कहा है—

> कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
> तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

भक्ति, श्रद्धा, प्रतीति, गाढ़ प्रेम या रुचि—ये सब मूलतः एवं परिणामतः एक ही हैं।

जन्मसे भेड़ोंके झुंडमें पलकर अपने-आपको भेड़ समझनेवाले सिंहको दूसरा सिंह देखकर एवं जल आदिमें अपनी परछाईं देखकर अपने सिंह होनेका तथा भेड़ न होनेका बोध होता है। कीट भ्रमरका चिन्तन करते-करते भ्रमर बन जाता है। ऐसा ही फल भक्तिका होता है।

अनादिकालसे यह संसारी आत्मा (जीव) अपने यथार्थस्वरूपको भूला हुआ है—अपने सत्-चित्-आनन्दमय रूप अर्थात् अपने अजर, अमर, अनन्त ज्ञानमय तथा अनन्त आनन्दमय स्वरूपको भूलकर उससे प्रेम न करके बाहरी, तुच्छ, पराधीन वस्तुओंमें निजपना मानता या उनमें सुख ढूँढ़ता गाफिल हो रहा है। भगवद्-भक्तिसे जीवको भगवान्‌से प्रेम होकर उनके स्वरूप—सच्चिदानन्दमय रूपके प्रति प्रेम एवं श्रद्धा होती है। इससे तुच्छ, पराधीन, सुखाभासप्रद सांसारिक भोगोंसे रुचि हटकर शाश्वत आनन्द आदिकी इच्छा होती है और अपने स्वरूपका बोध होकर उसकी उपलब्धि होती है; क्योंकि आत्माके और परमात्माके स्वरूपमें भिन्नता नहीं है और मन जो कुछ सोचता है, जिस किसीका ध्यान करता है, वैसा ही बन जाता है। सच्चे प्रेम तथा प्रेमीके ध्यानमें प्रेम, प्रेमी तथा प्रेमास्पदकी, ध्यान-ध्याता-ध्येयकी एकता हो जाती है।

उपनिषदोंके प्रसिद्ध वाक्य हैं—सोऽहम् (वही परमात्मा मैं हूँ), तत्त्वमसि (तू वही परमात्मा है) ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति (ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही बन जाता है)। यहाँ जाननेका अर्थ शास्त्रीय या शाब्दिक ज्ञान नहीं है, किंतु प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध ज्ञान—एक प्रकारसे आत्माद्वारा परमात्माका प्रत्यक्ष दर्शन या साक्षात्कार है। मनुस्मृतिमें भी अन्तमें कहा गया है—आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्। (१२। ११९) अर्थात् अपनी आत्मा ही सर्वदेवतास्वरूप है—सब आत्मामें ही स्थित हैं। बाइबल भी कहती है कि 'परमात्माने मनुष्यको अपने-जैसा ही बनाया' (जेनेसिस १। २६; ५। १); 'तुम ही देव हो' (सेंट जॉन १०। ३४; पद-संग्रह ८२। ६); 'मानवमात्र प्रभुके पुत्र हैं' (१ जॉन ३। १-२); 'परमात्माका राज्य तुम्हारे अंदर है' (सेंट ल्यूक १७। २१); और 'तुम भी वैसे ही पूर्ण बनो, जैसा कि स्वर्गमें तुम्हारा पिता (परमात्मा) पूर्ण है।' (सेंट मैथ्यू ५। ४८)।

जो आत्मासे प्रेम करेगा, वह परमात्मासे भी प्रेम करेगा और इसी तरह जो परमात्मासे प्रेम करेगा, वह आत्मासे भी प्रेम करेगा; क्योंकि आत्मा और परमात्मा दोनोंका स्वरूप तत्त्वतः एक-सा है और जिसे आत्मा या परमात्मासे प्रेम है, उसे उनके गुणोंसे भी प्रेम है।

जो परमात्मासे प्रेम करेगा, वह उसके भक्तोंसे, उसके गुणोंका अनुसरण करनेवालोंसे और उसके उपदेशोंसे भी प्रेम करेगा। इसी प्रकार भक्तों, संतों या उनके दिव्य उपदेशोंसे प्रेम करनेवालेका परमात्मासे भी प्रेम हो जाता है।

शास्त्र, तस्वीर, जप, मूर्ति-पूजा आदि सभी सार्थक हैं, जब उनके साधनसे परमात्मामें भक्ति हो।

परमात्माकी चाहे आत्म-स्वरूप समझकर या चाहे पृथक्-स्वरूप समझकर भक्ति करें, फल एक-सा ही होगा। उसके गुणोंके प्रेमी होकर तत्स्वरूप या तन्मय बन जायँगे। एकान्त श्रद्धा तथा ध्यानका यही फल है।

जो विभूति, शक्ति, सौन्दर्य आदिके प्रेमी हैं, वे भगवान्‌की बाह्य विभूति, शक्ति, सौन्दर्य आदिसे आकर्षित होकर उनके भक्त बन सकते हैं और फिर उनके वास्तविक और आन्तरिक गुणोंके प्रेमी बन जाते हैं। अतः यह भी एक साधन है।

क्षीरसागरका प्रेमी कीचड़के गड्ढेसे क्यों प्रेम करेगा। अमृतका इच्छुक क्या उच्छिष्ट, दुर्गन्धयुक्त भोजन-कणकी या वमनकी इच्छा करेगा? इसी तरह यदि भगवान्‌से प्रेम है तो सांसारिक विषय-भोगोंसे प्रेम नहीं हो सकता; क्योंकि भगवान्‌के प्रेमीको सांसारिक पदार्थोंकी इच्छा नहीं रहती। अतः वह किसी पदार्थके लिये दुःखी नहीं हो सकता।

भगवान्‌की भक्तिमें तल्लीन रहनेमें इतना आनन्द है,

इतनी एकाग्रता है कि वहाँ मोक्षकी भी इच्छाके लिये अवकाश नहीं है।

भगवान्‌से सांसारिक पदार्थोंकी इच्छा करना वैसा ही है जैसा कि अमृत-सागरके पास जाकर भी जीवनके लिये विष-की इच्छा करना।

जिन भगवान्‌के स्मरणसे ही विषयेच्छा दूर हो जाती है, उन भगवान्‌का भक्त दुश्चरित्र कैसे रह सकता है। इसीलिये भगवान्‌से प्रेम होते ही वाल्मीकि, बिल्वमङ्गल आदि भक्तोंका चरित्र सुधर गया। गीतामें अहिंसा, समता, अपरिग्रह आदिको भक्तोंका लक्षण बताया गया है (अध्याय १२) और कहा गया है कि भक्त होनेपर दुराचारी भी तुरंत धर्मात्मा बन जाता है (९ । ३१)। साथ ही यह भी बतलाया गया है कि भक्तोंको भगवान्‌से बुद्धियोग (तत्त्व-ज्ञान) मिलता है, जिसकी सहायतासे वे परमात्माको प्राप्त कर लेते हैं (१० । १०)।

चाहे आत्माका उपासक होनेके कारण सब जीवोंको आत्म-स्वरूप या अपने-ही-जैसा समझ लेनेसे या भगवान्‌का भक्त होनेके नाते सब जीवोंको तत्त्वतः भगवत्स्वरूप समझ लेनेसे या उनको भगवान्‌की सृष्टि अथवा संतान समझ लेनेसे या भगवान्‌को दयामय समझनेसे या उनकी कृपा-आकाङ्क्षी मन बनानेसे—किसी भी तरह हो, भक्तमें और अथवा सर्व-जीवोंके प्रति मैत्रीभावका गुण अवश्य आ जाता है। भागवतमें आया है कि प्राणियोंके प्रति दया और प्रेमके बिना पूजा उपासना ढोंग है (३ । २९ । २०-२७; ७ । १४ । ३९-४१)। बाइबल भी कहती है कि 'दया, न्याय और सच्चाईकी बलि अपेक्षा अधिक स्वीकार्य है' (सेंट मैथ्यू ९ । १३; प्रवचन २१ । ३) और 'परमात्मा-जैसे ही दयालु बनो' (सेंट ल्यूक ६ । ३६)।

इस तरह भक्तिमें ज्ञान तथा चारित्र्यका भी समावेश है।

अक्षय आनन्द, अनन्त ज्ञान, अमरत्व, आत्म आदि से प्रेम करना कितना स्वाभाविक और सरल है, परंतु अनादि कालसे इनसे विमुख तथा इन्हें भूले रहनेसे इनसे प्रेम करना कितना कठिन भी है। किंतु साधनासे सब कुछ सहज हो जाता है और यह प्रेम-साधना तो यदि इस जन्ममें पूरी नहीं हुई तो आगामी जन्ममें भी इसकी उपलब्धि निश्चित है रहती है। यदि इस सच्चे प्रेमके कणका भी उदय हो जाय तो अनादि कालसे छाया—अन्धकार एकदम नष्ट हो जाता है।

आराध्या माँ

माँ, शरणमें आ गया हूँ!
दीनता थी, था क्षुब्ध अधिकार-मदके सामने मैं,
व्यथित थी तृष्णा, सतत था घूमता लघु मानमें मैं,
अब तुम्हारी चरण-रजकी सुरभि-सुस्मिति पा गया हूँ॥
देखता हूँ, प्रलयकारिणि! ध्वंसमें निर्माण तेरा,
ध्वनि यही श्रुति बोलती है, 'जाग वत्स! हुआ सवेरा।'
शान्तमयि! नव-नव प्रभा सब देख-देख लुभा गया हूँ॥
वर्णमें नव अर्थ होकर कर रही क्रीड़ा सजग तू,
छन्दमें रस-स्रोत निर्झर, आत्म मङ्गलसे सुभग तू।
तप हुई, प्रिय मुक्ति की ध्वनि गूँजती, वर पा गया हूँ॥
माँ, शरणमें आ गया हूँ॥

—गदाधर मिश्र, साहित्यरत्न

भक्तिका मर्म

(लेखक—डा० सर्वेश्वरप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्०)

भक्तिकी परिभाषा है 'परानुरक्तिः ईश्वरे'। इसमें 'ईश्वर' और 'परम अनुराग' इन दो शब्दोंका मर्म अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।

'ईश्वर' को लोग तीन दृष्टिकोणोंसे समझनेका प्रयत्न किया करते हैं। एक है—देहबुद्धिका दृष्टिकोण। इस दृष्टिकोणसे मनुष्य अपनेको सदेह व्यक्ति मानता हुआ किसी ऐसे सजीव आदर्शकी ओर उन्मुख होता है, जो उसके मनोभावोंको समझता हुआ उसको ऊँचा उठानेमें सहायक हो। वह संकटमें उसका त्राता होगा, उसका रक्षक होगा और सुखमें उसका सब प्रकार साथ देगा। कोई सामान्य देहधारी संत, नेता अथवा महापुरुष भी ऐसा आदर्श हो सकता है। परंतु नश्वर देहधारी महापुरुषकी अपनी सीमाएँ हुआ करती हैं। ससीम व्यक्तिका सर्वोत्तम आदर्श तो असीम व्यक्ति ही हो सकेगा। अतएव ऐसे असीम आदर्शको ही वह अपना परम आराध्य मानता है और उसे ही ईश्वर कहता है। आदर्शकी ओर मनुष्यकी उन्मुखता या तो शक्तिके मार्गसे या ज्ञानके मार्गसे या आनन्दके मार्गसे होती है। अतएव अपने ईश्वरमें वह अनन्त सत्, अनन्त चित् और अनन्त आनन्दकी भावना करता है। अपनी भावनाके अनुसार वह उसे शिवरूपमें, विष्णुरूपमें (राम या कृष्णरूपमें), देवीरूपमें या ऐसे ही अन्य रूपोंमें देखता है और उसका शासन स्वीकार करनेमें ही अपनी कृतार्थता समझता है। कभी-कभी वह इस महामहिम ईश्वरीय सत्ताको सहज सुलभ न जानकर किसी परम भक्त या महापुरुषको सशरीर रूपसे ग्रहण करके उसे ही अपना इष्ट बना लेता और उसकी ही भक्तिमें दत्त-चित्त हो जाता है। हनुमान् आदिको इष्टदेवके रूपमें ग्रहण करनेका यही रहस्य है।

दूसरा दृष्टिकोण है—जीव-बुद्धिका। इस दृष्टिकोणसे मनुष्य अपनेको देहसे भिन्न एक चेतन व्यक्तित्व मानता है और इस दृष्टिसे ऐसे आदर्शकी ओर उन्मुख होता है, जो केवल चेतनधर्मा है—अर्थात् जिसमें नाम, रूप, स्थान और कालकी कोई सीमाएँ नहीं हैं, इनके कोई बन्धन नहीं हैं। उसका कोई खास रूप नहीं, खास नाम नहीं। वह घट-घट-वासी है—देश-कालके बन्धनोंसे परे। परंतु उसमें मानव-मनोभावोंको समझकर उनके अनुकूल अपना प्रेम और अपनी करुणा वितरित करनेकी उमंग अवश्य है। वह जीवकी तरह परिच्छिन्न अथवा सीमित नहीं, परंतु जीवोंके मनोभावोंके सम्बन्धमें जीवधर्मा अवश्य है; क्योंकि है तो वह जीवका ही आदर्श। इस रूपमें ईश्वर सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी है। वह जीवके लिये अंशी है और जीव उसका अंश है। वह विभु है, जीव अणु है। वह पूर्ण और अपरिच्छिन्न है, जीव अपूर्ण और परिच्छिन्न है।

तीसरा दृष्टिकोण है—आत्मबुद्धिका। इस दृष्टिसे तो मनुष्य केवल अपने चेतन स्वभावपर लक्ष्य करता हुआ अपना व्यक्तित्व अथवा परिच्छिन्नत्व ही भुला बैठता है, अतएव अपने और अपने आदर्शमें उसे कोई अन्तर ही नहीं जान पड़ता। उसका ईश्वर उससे भिन्न नहीं। उस ईश्वरमें न किसी तरहका व्यक्तित्व है न किसी तरहका कर्तृत्व। वह तो एक अनिर्वचनीय सत्ता, एक महासमाधि-की दशा है। वहाँ आराध्य और आराधक एक हैं।

अध्यात्मरामायणमें इसीलिये कहा गया है—

देहबुद्ध्या तु दासोऽहं जीवबुद्ध्या त्वदंशकः।
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः॥

वस्तुतः इन तीनों दृष्टियोंसे देखा जानेवाला ईश्वर एक ही है। अव्यक्त तत्त्व भी वही है। घट-घटवासी, निग्रहानुग्रह-कर्ता भी वही है और राम-कृष्ण आदि रूपोंमें हमारा आदर्श बननेवाला भी वही है। सार्वभौम नियम भी वही है और वही सार्वभौम नियामक भी है। जीव और जगत्से परे भी वही है तथा जीव और जगत्के रूपोंमें विलसनेवाला भी वही है।

अब रही बात परम अनुरागकी। तो अनुरागकी बात तो सभी समझते हैं; क्योंकि कामिनी, काञ्चन और कीर्तिके प्रति अनुरागकी बातें दुनियामें सब कहीं देखी जाती हैं। किसी-किसीमें इन नश्वर वस्तुओंकी ओर परम अनुराग भी हो जाता है। जब अनुराग इस कोटिका हो जाय कि उस वस्तुके बिना एक क्षणको भी चैन न पड़े और जिसकी समस्त वृत्तियाँ पूर्णरूपसे उसी अनुराग-योग्य वस्तुमें केन्द्रित हो जायँ, तब समझिये कि वह अनुराग परम अनुरागकी कोटिमें पहुँच गया। परम अनुरागीका अपने इष्टके साथ

संयोग मछलीका-सा होगा और वियोग चातकका-सा होगा। वह इसके अतिरिक्त अन्य वस्तुकी न तो स्वप्नमें भी कामना करेगा न उसे एक क्षणके लिये भी भुला सकेगा। ऐसा भाव रखना चाहिये अपने ईश्वरके प्रति।

यों तो काञ्चन, कामिनी और कीर्ति आदि ईश्वरके ही चमत्कार हैं; परंतु ये नश्वर और परिच्छिन्न होनेके कारण समग्र ईश्वर नहीं हो सकते। अतएव उनमेंसे किसी पदार्थकी ओर यदि हमने अपना समग्र अनुराग अर्पित कर दिया तो यह हमारी मोह-मूढता ही होगी। अनुरागका जो पाठ हम उनसे सीखते हैं, उसकी सार्थकता तभी है, जब हम उसे अपने परम आदर्श आराध्यकी ओर अर्पित करें। तभी हमें पूर्ण शान्ति और परम आनन्द मिलेगा।

यह अर्पण क्यों नहीं होता? इसका प्रधान कारण यह है कि विषय-सम्पर्कके प्रभावके कारण हमारी मूल प्रवृत्ति ही दब जाती है और हम प्रत्यक्ष जगत्को ही सब कुछ मान बैठते हैं। जीवकी मूल प्रवृत्ति है अनन्त सत्, अनन्त चित् और अनन्त आनन्दकी स्थितिमें पहुँचनेकी। अपने इस आदर्शकी ओर उसका सहज स्नेह रहा करता है। यह आदर्श उसका सहज सखा है। गोस्वामी तुलसीदासजीने ठीक ही कहा है—

ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू।

अथवा—

ब्रह्म जीव इव सहज सँघाती॥

परंतु रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दके भौतिक आधारोंके प्रभावसे उन्हींमें बुद्धि रमा लेनेवाला जीव उन्हींको सब कुछ मानकर उन्हींकी उपलब्धिमें अपनी मूल प्रवृत्ति चरितार्थ करनेकी चेष्टा करने लगता और दुःख उठाता है। आवश्यकता है कि नश्वर रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्दको सुन्दरता तथा मनोरमता देनेवाले अविनश्वर रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्दके परमधाम परमात्मातक अपनी दृष्टि फैलायी जाय और इस प्रकार अपने अनुरागका उदात्तीकरण किया जाय। यदि हम रूपपर रीझ रहे हैं तो श्रीकृष्णके रूपपर क्यों न रीझें। यदि हम गुणपर रीझ रहे हैं तो श्रीरामके गुणोंपर क्यों न रीझें। यदि हम शासककी शक्तिपर रीझ रहे हैं तो महेश्वरकी शक्तिपर क्यों न रीझें।

कुछ लोग जन्मसे ही अच्छे संस्कारी हुआ करते हैं। थोड़े ही प्रयत्नसे उनके मनोभाव ईश्वरकी ओर लग जाते हैं। उन्हें सच्चे प्रीतिमार्गी समझिये। कुछके संस्कार मध्यम श्रेणीके होते हैं। उनकी प्रीति ईश्वरकी ओर सहज ही नहीं उमड़ती। उन्हें ईश्वर-विषयक मनन और चिन्तनद्वारा बारंबार मनके संस्कारोंपर ठोकरें लगानी पड़ती हैं। सत्सङ्ग उनके लिये परम आवश्यक है। सत्सङ्ग, सत्-चिन्तन आदिके द्वारा जब उन्हें ईश्वरमें प्रतीति (विश्वास) होने लगेगी, तब धीरे-धीरे उसके प्रति प्रीति भी होने लगेगी। श्रद्धा और विश्वास उस प्रतीतिके बाह्य रूप हैं। श्रद्धा-विश्वासवाले ऐसे सज्जनोंको प्रतीतिमार्गी समझिये। कुछके संस्कार इतने दब जाते हैं—इतने मलिन हो जाते हैं कि वे ईश्वरके विषयमें सोचना ही नहीं चाहते। परंतु—

मीचु भुआल 'भायप' भो 'सब काहू' है डर

—उससे वे भी डरते हैं। वस्तुतः वे ही सबसे अधिक डरते हैं, अतः उनके इस डरकी भावनाका लाभ उठाकर उन्हें ईश्वराभिमुख किया जा सकता है। 'परमात्माको याद करोगे तो सुख पाओगे; संकटसे बचना हो तो उसकी शरणमें जाओ; मनुष्यका किया-कराया जहाँ व्यर्थ हो जाता है, वहाँ ईश्वरका सहारा ही काम देता है'—ये तथा ऐसी ही बातें यदि किसी अनुकूल परिस्थितिमें ऐसे लोगोंके मानसपर बैठा दी जायँ तो ये भी ईश्वरकी ओर उन्मुख हो सकते हैं। ऐसे लोगोंको भीतिमार्गी कहना चाहिये। भीतिका भाव भी मनुष्यमें तन्मयता ला देता है। जिससे हम बहुत भय करें, वही हमारे मनमें जम जाता है, अर्थात् उसीमें हम तन्मय हो जाते हैं। यह तन्मयता ही अनुरागकी जननी होती है। गोस्वामीजीने ऐसे ही लोगोंको लक्ष्य करके कहा है—'बिनु भय होइ न प्रीति।'

संसारमें प्रभुके प्रीतिमार्गी बहुत कम हैं। अधिक साधक प्रतीतिमार्गी कहे जा सकते हैं, जो पर्याप्त हैं; परंतु उन्हें चिर प्रयत्नके अनन्तर ही यह स्थिति प्राप्त होती है। भीतिमार्गी तो कई हो सकते हैं, परंतु उन्हें भी मार्ग दिखानेवाला कोई व्यक्ति, कोई अवसर, कोई आघात मिलना चाहिये। तभी तो वे यह मार्ग भी देख सकेंगे। गोस्वामीजीने कहा है कि जीव तीन प्रकारके हैं—विषयी, साधक और सिद्ध। भीतिमार्ग विषयी जीवोंके लिये समझिये, प्रतीतिमार्ग साधक जीवोंके लिये और प्रीतिमार्ग सिद्ध जीवोंके लिये। भीतिमार्गकी परिपक्वतामें प्रतीतिमार्ग सधता और प्रतीतिमार्गकी परिपक्वतामें प्रीतिमार्ग सधता है।

जिन विषयी जीवोंमें दैवी सम्पत्तिका भी अंश है, उनके लिये भक्तिमार्ग अथवा शरणागतिका मार्ग उत्तम है।

इनमें तीनों उपर्युक्त मार्गोंके तत्त्व किसी-न-किसी रूपमें आ जाते हैं। आराध्यके अनुकूल आचरण करना और प्रतिकूल आचरण न करना; वह रक्षा करेगा, इसका विश्वास रखकर इस रक्षाके लिये उसका वरण करना; और पूरी निरभिमानिताके साथ अपनेको उसके अधीन कर देना—यही षड्‌विधा शरणागति है। यदि ईश्वरसे रागात्मक सम्बन्ध सहज ही नहीं जुड़ पाया है तो इस प्रकारके अभ्याससे वह रागात्मकता क्रमशः आप-ही-आप प्रकट हो जायगी। लिया करता हुआ भी मनुष्य भगवत्-कृपाको प्रधान मानकर चले तो उसे खेद-खिन्न होनेका अवसर नहीं आता।

अनुरागमें आराध्य और आराधकका द्वैत तो अनिवार्य है; परंतु जब वह अनुराग पराकोटिमें पहुँच जाता है, तब आराध्य-आराधकका भावाद्वैत हो उठना भी सहज हो जाता है। यह तो अनिर्वचनीय द्वैताद्वैत-विलक्षण स्थिति रहती है। अतएव उसका वर्णन ही क्या किया जाय।

मूर्तिमें भगवान्‌की पूजा और भक्ति

(लेखक—सर्वतन्त्रस्वतन्त्र विद्यामार्तण्ड पं० श्रीमाधवाचार्यजी)

मूर्ति, भगवान्, पूजा और भक्ति—ये चार पदार्थ विचारणीय हैं। इनमें भी प्रथम भगवत्तत्त्वपर विचार करना होगा। इसके पश्चात् भगवान्‌की मूर्तिकी विशेषतायें बतलानी होंगी। मूर्तितत्त्वके निर्णयके अनन्तर पूजा तथा भक्तिके रहस्यको समझाना होगा।

निरूपण पदार्थ-क्रमसे ही होने चाहिये। इसीमें उनका सौकर्य समाया हुआ रहता है। इस कारण पदार्थ-क्रमको कभी न छोड़ना चाहिये। हम भी यहाँ पदार्थ-क्रमका ही अनुसरण करते हैं।

ब्रह्मसूत्रके सभी भाष्यकारोंने—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति-वाक्यको ब्रह्मका स्वरूप-लक्षण माना है। इसके साथ 'आनन्दं ब्रह्म' इसे और सम्मिलित कर देते हैं। तभी वेदान्तसारने ब्रह्मको—'अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनस-गोचरम्' कहा है।

इन सबका एक साथ अर्थ करें तो यह होता है कि 'सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदसे शून्य, अविनाशी, स्वप्रकाश चैतन्य परमानन्दस्वरूप भगवान् हैं।'

श्रीमद्रामानुजाचार्यने अपने श्रीभाष्यमें श्रीशंकराचार्यके द्वारा किया हुआ 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुतिका अर्थ इस प्रकार उद्धृत किया है कि 'सद्रूप, चिद्रूप और काल, देश तथा वस्तुके परिच्छेदसे शून्य ब्रह्म है।'

इतना ही नहीं, श्रीभाष्यने यहाँ शंकरका मत भी इस प्रकार उद्धृत किया है कि 'सारे विशेषोंका प्रतिद्वन्द्वी चिन्मात्र ब्रह्म ही परम पुरुषार्थ है। वही एक सत्य है, तदितर अन्य सब मिथ्या हैं; क्योंकि श्रुतिका 'सत्य' पद विकारास्पद असत्य वस्तुसे ब्रह्मको व्यावृत्त करता है। 'ज्ञान' पद अनन्याधीन स्वतःप्रकाश ब्रह्मको जड पदार्थसे भिन्न दिखाता है। 'अनन्त' पद ब्रह्म या भगवान्‌को तीनों परिच्छेदोंसे रहित बताता है।

'यह व्यावृत्ति न तो भावरूप है और न अभावधर्मिक है, किंतु ब्रह्मसे इतर सारे पदार्थोंका निराकरण है।

'चैतन्यमात्र ही ब्रह्मका स्वरूप है। वास्तवमें सत्यत्वादिक पदार्थ चैतन्यसे भिन्न नहीं हैं, पर कल्पनासे भिन्नके समान प्रतीत हो रहे हैं। ब्रह्ममें कोई गुण नहीं है; वह निर्विशेष, निराकार, अरूप, अग्राह्य, चिन्मात्र है।'

भट्ट भास्करने कहा है कि 'सत्यत्व—यह धर्मीका व्यपदेश है। चैतन्य उसका धर्म है। चैतन्ययुक्त सत्य ब्रह्म, देश और काल, सबकी दृष्टिसे अनन्त है।

'जिस प्रकार द्रव्य गुणोंसे रहित नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म भी गुणोंसे रहित नहीं है।'

श्रीभाष्यके अनुसार 'भगवान् नारायणका नाम ही अनन्त हो, यह बात नहीं; उनके गुण भी अनन्त हैं। अतः भगवान् स्वरूप और गुण दोनोंकी दृष्टिसे अनन्त हैं। भगवान्‌की सत्तामें किसी भी प्रकारकी उपाधिका योग नहीं है, इस कारण वे ही एकमात्र सत्य हैं। इसीसे वे 'सत्यनारायण' कहाते हैं।

'निरतिशय सर्वज्ञत्व भगवान्‌में ही है, इस कारण एकमात्र भगवान् ही परम सीमाके ज्ञानी तथा ज्ञानरूप गुणसे युक्त हैं।

श्रीसम्प्रदायके प्रकरण-ग्रन्थोंमें—

क्लेशकर्मविपाकैस्तु वासनाभिस्तथैव च ।
अपरामृष्ट एवेह पुरुषो हीश्वरः स्मृतः ॥

—यह भगवान्‌का लक्षण किया गया है। यह एक प्रकारसे योगसूत्रमें दिये गये ईश्वरके लक्षणका ही अनुवाद है। इसका भाव यह है कि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—इन पाँच प्रकारके क्लेशोंसे; पाप, पुण्य और मिश्र—इन त्रिविध कर्मोंसे; कर्मोंके विपाक—जाति, आयु और भोगसे तथा वासनाओंसे असंस्पृष्ट पुरुषोत्तमका नाम भगवान् है।

इस प्रकार हम वेदान्तमें सगुणवाद और निर्गुणवाद, सविशेषवाद और निर्विशेषवाद—सब कुछ पाते हैं। यही बात हम उपनिषदोंमें भी देखते हैं। 'सगुण'से 'निर्गुण' तथा 'सविशेष'से 'निर्विशेष' शब्द नितान्त विरुद्ध पड़ते हैं; फिर भी हम भाष्योंकी विचार-परम्पराओंमें ऐसी वस्तुएँ भी देखते हैं, जिनसे दोनोंका समन्वय हो जाता है।

निर्विशेषवादी शंकरने भी विचार करते-करते ब्रह्मसूत्र १।२।११ पर कह दिया है कि 'सविशेषत्वमपि ब्रह्मणोऽभ्युपगन्तव्यम्।' अर्थात् भले ही परमार्थमें निर्विशेष ब्रह्म हो, किंतु उसे सविशेष भी मानना ही चाहिये।

यह निर्विशेषवादमें भी एक प्रकारसे उसके साथ सविशेषवादकी एकताकी स्पष्ट स्वीकारोक्ति है।

ब्रह्मसूत्र १।२।१४ के भाष्यमें आचार्य शंकरने कहा है—

निर्गुणमपि सद् ब्रह्म नामरूपगतैर्गुणैः सगुणमुपासनार्थं तत्र तत्रोपदिश्यते।

'ब्रह्म निर्गुण रहता हुआ भी नाम और रूपमें रहनेवाले गुणोंमें सगुण हो जाता है। उपासनाके लिये सगुण ब्रह्मका ही उपदेश दिया जाता है।' दूसरे शब्दोंमें कहें तो यह कह सकते हैं कि 'ब्रह्म भले ही निर्गुण हो, पर उपासनासे वह सगुण भी हो जाता है। अथवा जिसकी उपासना की जा सकती है वह उपासनाके लिये सदा सगुण रहता है।'

जिस प्रकार वह निर्गुण और सगुण दोनों है, उसी प्रकार वह निराकार भी है। यही बात ब्रह्मसूत्र १।२।१५ के भाष्यमें शंकराचार्यजी महाराजने कही है—'आकारविशेषोपदेश उपासनार्थो न विरुध्यते।'

—ब्रह्मके सम्बन्धमें उपासनाके उद्देश्यसे यह कहना कि वह आकार-विशेष ग्रहण करता है, सिद्धान्तके विरुद्ध नहीं है। तभी—

अथ'''य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः। तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद। (छा० उ० १।६।६-७)

'भगवान् सूर्यदेवके भीतर जो तेजोमय पुरुष दीखता है जिसके दाढ़ी-मूँछ ही नहीं, किंतु नखसे शिखातक सब कुछ तेजोमय है, उसकी दृष्टि कमलकी पंखुड़ीके समान है। उसका 'उत्' नाम है; क्योंकि वह सारे पापोंके ऊपर है। जो उपासक उसे इस रूपमें जान जाता है, वह भी उसकी उपासनाके बलसे सारे पापोंसे ऊपर उठ जाता है।'

यहाँ छान्दोग्य-उपनिषद्‌ने सूर्यमण्डलमें साकार ब्रह्म अथवा मूर्तिमान् पुरुषोत्तम भगवान्‌को बताया है तथा उन्हींकी उपासनाका उपदेश भी दिया है।

'भगवान् पुरुषविध हैं' इस विषयमें निरुक्त भी उपनिषदोंके साथ है। देवता भी प्रायः मनुष्यके सरीखे ही शरीर धारण करते हैं। यही कारण है कि स्तुतिमें ब्रह्मा भी अपनेको साथ ही विराजमान रखते हैं; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपने हाथसे साथ दिये (बाँहें फैला) हाथ) का ही होता है।

भगवान् वास्तवमें सर्वव्यापक हैं, तो भी वे एकदेशीय होते हैं। इस विषयमें श्रीशंकर ब्रह्मसूत्र १।२।१४ के भाष्यमें कहते हैं—

सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थं स्थानविशेषो न विरुध्यते शालग्राम इव विष्णोः।

'निस्संदेह ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, फिर भी उपलब्धिके लिये उसका स्थानविशेष भी होता है। इस स्थानविशेषका सर्वगतत्वके साथ कोई विरोध नहीं होता—जैसे कि भगवान् विष्णु सर्वव्यापक हैं, फिर भी उनकी उपलब्धि शालग्राममें होती है।' इस तरह व्यापक भी एकदेशीय हो जाता है।

यहाँ आचार्य शालग्रामका भगवान् विष्णुकी संनिधिके रूपमें दृष्टान्त दे रहे हैं।

यदि उपमेय सूर्य और उपमान शालग्रामकी तुलना करें एकवाक्यतासे करें तो यह कह सकते हैं—

'भगवान् विष्णुकी संनिधि शालग्राममें है। इसी प्रकार ब्रह्मकी संनिधि सूर्यमण्डलमें है। या शालग्राम भगवान् विष्णुकी संनिधि तथा आदित्यमण्डल ब्रह्मकी संनिधि है।'

शालग्राम सूर्यमण्डलकी पूर्णोपमा है। क्योंकि सूर्यमण्डल र शालग्राम दोनों गोल हैं। सूर्यमण्डल तेजोमय तथा तेजका न्तिम रूप कृष्णात्मक नील है तथा शालग्राम भी कृष्णात्मक ल है। सूर्य और शालग्राम दोनों व्यापक ब्रह्मकी संनिधि । ब्रह्मकी व्यापकता दिखानेके लिये 'विष्णु' शब्दसे व्यापक ह्मका उल्लेख किया गया है।

दूसरे शब्दोंमें कहें तो यह कह सकते हैं कि उपासकोंके ये शालग्रामकी पिण्डी सूर्यमण्डल है। वे इसीमें भगवान्‌की की पा सकते हैं। पर उपासना विधिपूर्वक वैदिक ढंगसे नी चाहिये। भट्ट भास्करने कहा है—

सर्वगतस्य स्थानव्यपदेश उपासनार्थम्, यथा दहरे पुण्ड-के आदित्ये चक्षुषि च तिष्ठन् इति च तत्र तत्र संनिधानं र्शयति।

'हृदय-कमल, आदित्य और चक्षुमें भगवान्‌की संनिधिका परेश श्रुति देती है। अतः इन स्थानोंमें सर्वव्यापक भगवान्‌की निधि उपासकोंके लिये होती है।'

इतना ही नहीं, ब्रह्मसूत्र १। २। १४ में 'आदि' शब्द गया है, जिससे प्रतीत होता है कि—

उपासनार्थं नामरूपग्रहणमपि ब्रह्म निर्दिश्यते।

'व्यापक सर्वेश उपासकोंके लिये संनिधिमें संनिहित होते —इतना ही नहीं, अपितु नाम और रूपका ग्रहण भी करते । क्योंकि वहाँ उनका नाम और रूप भी निर्दिष्ट होता है।

सर्वव्यापक होते हुए भी वे सर्वेश नाम-रूपयुक्त होकर निधिमें कैसे संनिहित हो जाते हैं, इसका उत्तर श्रीभाष्यने देया है—

सर्वगोऽपि भगवान् स्वमहिम्ना स्वासाधारणदाक्षिण्यतया च उपासकाभिमतपूरणाय चक्षुरादिस्थानेषु दृश्यो भवति।

'सर्वव्यापक होनेपर भी भगवान् अपनी असाधारण महिमा और शक्तिसे उपासकोंकी इच्छाको पूर्ण करनेके लिये बतायी हुई संनिधियोंमें दृष्टिगोचर हो जाते हैं।'

यहाँ आनन्द-भाष्यने—'भावनाप्रकर्षेण् भक्तैरुप-लभ्यमानत्वात्' इतना और जोड़ दिया है। इसका अर्थ यह होता है कि भक्तजन भावनाके प्रकर्षसे उन्हें जैसे रूप और जिस स्थानमें देखना चाहते हैं, देख सकते हैं।

श्रीनिम्बार्काचार्यके शिष्य श्रीनिवासाचार्यने कहा है कि 'छा० उ० १। ६। ७-८ की श्रुतिमें 'पुरुषो दृश्यते' —पुरुष दीखता है, यह कहा गया है। इस कथनसे ब्रह्मके रूपका निर्देश हो जाता है। एवं वासका जैसा स्थान होता है, भगवान् वहाँ उसी योग्य विग्रहको धारण करके संनिधि रखते हैं—यह सूर्यमण्डलमें तेजोमय विग्रहके बतानेसे स्पष्ट हो जाता है।''

ब्रह्मसूत्र १। १। २० के भाष्यमें भगवान् शंकरने स्पष्ट कहा है—परमेश्वरस्यापि इच्छावशात् मायामयं रूपं साधका-नुग्रहार्थम्।

'परमेश्वर भी साधकोंपर अनुग्रह करनेके लिये अपनी इच्छासे इच्छामय विग्रह धारण कर लेते हैं।'

ब्रह्म सूत्र ४। १। ११ के श्रीभाष्यमें आचार्य रामानुजने भी कहा है—

ब्रह्मणः परिपूर्णस्य सर्वगतस्य सत्यसंकल्पस्य स्वेच्छापरि-कल्पिताः स्वासाधारणा अप्राकृताश्च लोका न अत्यन्ताय न सन्ति, श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रामाण्यात्।

'सर्वतःपरिपूर्ण सर्वव्यापक सत्यसंकल्प परमेश्वरकी इच्छासे परिकल्पित अप्राकृत वैकुण्ठादि लोक हैं; क्योंकि उनका श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणोंमें प्रतिपादन है।' ब्रह्म सूत्र ४। १। १० के शांकरभाष्यमें भी आया है—

ततः परं परिशुद्धं विष्णोः परमं पदं प्रतिपद्यन्ते।

'इसके अनन्तर मुक्त पुरुष विष्णुके परिशुद्ध (माया-परिवर्जित) परमपदको पा जाते हैं।'

इससे प्रतीत होता है कि इच्छापरिकल्पित कोई परम पद भी अवश्य है।

इस निरूपणसे सिद्ध होता है कि भगवान् अपनी इच्छासे भक्तोंकी प्रसन्नताके लिये लोकोपकरण और विग्रह-ग्रहण करते हैं। ये सारी चीजें प्राकृत नहीं होतीं। इनका मूल उपादान भगवान्‌की इच्छामात्र ही हुआ करता है। मन्त्रों और श्रुतियोंमें इन लोकोंका भी प्रकरण आता है।

यह लोक श्रीवैष्णवोंके मतसे वैकुण्ठ, निम्बार्कके मतसे वृन्दावन, वल्लभके मतसे गोकुल एवं रामानन्दके मतसे अयोध्या है। इनके अतिरिक्त अन्य उपासक भी अपनी-अपनी रुचिके अनुसार परमेश्वरका लोक देखते और पाते हैं।

इन लोकोंमें नित्य संनिधि रखनेवाले सर्वेशको 'पर' कहते हैं। सृष्टि रचनेके समय व्यूहके रूपमें भगवान् आते हैं। वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न—ये चार व्यूह हैं। इनमें पर और वासुदेवमें कोई अन्तर नहीं है। इस कारण अवशेष तीन ही व्यूह रह जाते हैं। जीवका अधिष्ठाता

संकर्षण, मनका सर्वेश्वर्य प्रद्युम्न तथा अहंकारका अधिपति अनिरुद्ध होता है। ये तीनों भगवान्‌के स्वेच्छाविग्रह हैं। अधिष्ठाता आदि होनेके नाते जीव आदि भी कहाते हैं।

वैकुण्ठवासी भगवान् परमपदकी प्राप्तिपर ही मिल सकते हैं। क्षीरसागरवासीकी प्राप्ति विभवशक्तिकी प्राप्तिपर भी हो सकती है। वे भी हमसे बहुत दूर हैं।

अन्तर्यामीको पानेके लिये मनयोगकी परम सिद्धि आवश्यक है। इसे भी पा लेना परम कठिन है।

इसी कारण भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं एवं भक्तजनोंपर पूर्ण कृपा करते हैं। सर्वत्र सबको प्राप्त होते हैं। गोपियाँ श्रीकृष्णको ब्रह्म समझती थीं। अर्जुन भी उन्हें जान गये थे। भगवान् निम्बार्कने परब्रह्म परमात्माके पूर्णावतार श्रीकृष्ण भगवान्‌को ही वेदान्तवेद्य परब्रह्म परमात्मा माना है। इन्होंने वेदान्तकामधेनुमें ब्रह्मका लक्षण इस प्रकार किया है—

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोष-
मशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं
ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥

'जिनमें स्वभावसे ही कोई दोष नहीं, जो सारे कल्याणमय गुणोंकी एक महाराशि हैं, उन निर्विप व्यूहोंके अङ्गी परम वरेण्य परब्रह्म कमलेक्षण श्रीकृष्णका मैं ध्यान करता हूँ।'

अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥

'उनके वाम अङ्गमें परम प्रसन्नताके साथ वैसे ही मनोमोहक रूप-लावण्यवाली वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिकाजी सहस्रों सखियोंके साथ विराजमान रहती हैं। मैं उन्हीं देवीका स्मरण करता हूँ। वे ही मेरे सारे अभीष्टोंको पूर्ण करती हैं।'

यही नहीं, इनके द्वारा रचित ब्रह्मसूत्रका भाष्य भी इसी प्रतिज्ञाके साथ चलता है कि मैं श्रीकृष्णमें सम्पूर्ण शास्त्रोंका समन्वय करता हूँ।' गीताके भाष्यमें भगवान् शंकरने भी कहा है—

आदिकर्ता नारायणाख्यो विष्णुर्भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवात्किल कृष्णः किल सम्बभूव।

'जगत्‌के आदिकर्ता नारायण नामक भगवान् विष्णु भूमिदेव ब्राह्मणोंके ब्राह्मणत्वकी रक्षाके लिये देवकी एवं वसुदेवसे कृष्णके रूपमें अवतरित हुए।'

ब्रह्मसूत्र ४।४।२२ के भाष्यमें रामानन्दाचार्यने कहा है—

न वात्सल्यसौशील्यसौलभ्यादिगुणगण वारिधिर्भगवान् भक्तजनानुकम्पापरायणः परमपुरुषः श्रीरामचन्द्रः परमात्मा स्वानन्यभक्तं प्रापितं स्वलोकं कर्हिचिदप्यावर्तयिष्यति।

'भगवान् श्रीरामचन्द्र सदा ही भक्तोंपर कृपा रखते हैं। वे सम्पूर्ण वात्सल्य, सौजन्य, सौशील्य-सौलभ्यके सिन्धु हैं। अतः वे अपने अनन्योपासकको अपनी दिव्य अयोध्यामें निवास देकर फिर कभी वहाँसे नहीं हटाते।'

छान्दोग्य-उपनिषद्‌में 'कृष्णाय देवकीपुत्राय'—विषय मैंने देवकीपुत्र श्रीकृष्ण भगवान्‌से कहा था। रूपमें देवकीपुत्र श्रीकृष्णका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इसके सिवा मुक्तिका, रामरहस्य, हंस, सीता, रामतापिनी, कृष्णतापिनी, वराह, हयग्रीव, दत्तात्रेय, गरुड़ आदि उपनिषद् अवतारोंकी कथाओंसे भरे पड़े हैं। वेदोंमें भी अवतारोंकी कथाओंका आभास मिलता रहता है।

यह सच है—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

'जब-जब धर्मका ह्रास होता तथा अभिमानी दिखलाई पड़ते हैं, तब-तब भक्तोंकी रक्षा करने एवं भूमिका भार उतारनेके लिये भगवान्‌का अवतार होता है।'

पर मधुरताके साथ सारे कार्य अवतारोंमें भी पूरे नहीं होते। इनके समयमें भी सब इन्हें सर्वेश्वर नहीं समझ पाते।

इस कारण भगवान्‌को फिर सोचना पड़ा कि मैं विभवरूपसे भी जिन कामोंको पूरा नहीं कर सका, उनके लिये अब मुझे क्या करना चाहिये।'

परत्वव्यूहविभवैरपर्याप्तस्य संग्रहः।
अन्तर्यामी तदप्यहमर्चारूपेण तं करोमि॥

'जो कार्य मैं पर, व्यूह और विभवरूपसे नहीं कर सका, उसे अब अन्तर्यामी मैं अर्चावतारसे पूरा करूँगा।'

अर्चाका अर्थ है—पूजा-उपासना। इसके लिये होनेवाले अवतारका नाम अर्चावतार है। दूसरे शब्दोंमें कहें तो मूर्तियोंका ही दूसरा नाम 'अर्चावतार' है।
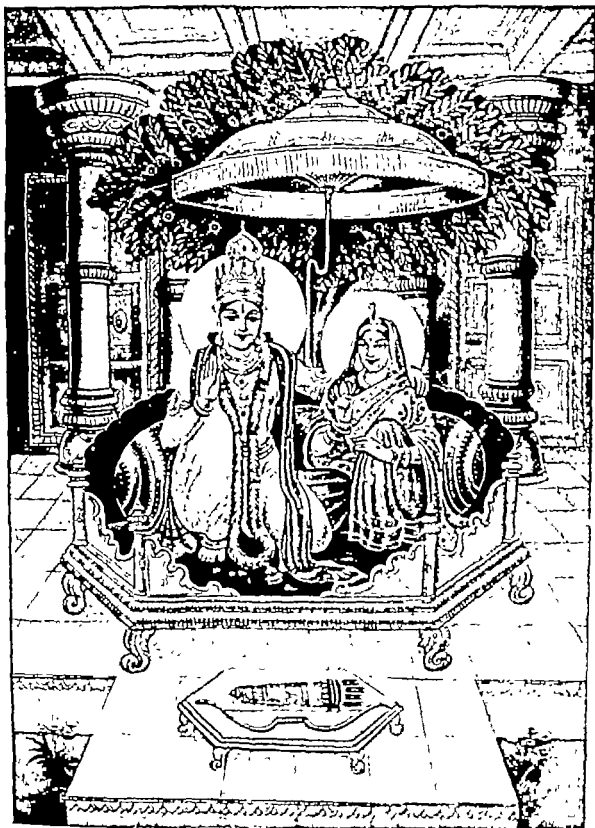
भक्तोंके परम उपजीव्य श्रीसीता-राम

गण्डकी नदीमें भगवान् शालग्रामके रूपमें प्रकट हैं। श्रीरङ्गादि धामोंमें वेङ्कटेशादिके रूपमें अर्चावतारकी झाँकी स्पष्ट दिखायी देती है। इन दिव्य धामोंके अतिरिक्त ब्रजमें भी अनेकों स्थल हैं, जहाँ उपासकोंने अपनी उपासनाके बलसे भगवान्‌को स्वयं प्रकट किया है। इस विषयमें बहुत दूर जानेकी आवश्यकता नहीं, मेरे प्रथम पुरुष आदिगौड़ अरिवासीवंशोद्भव आहिताग्नि परमोपासक श्रीकल्याणदेवजीने अपनी उपासनाके बलसे बलदेवजीको स्वतः प्रकट किया था। ब्रजके श्रीबल्दाऊजीके मन्दिर एवं बलदेव ग्रामके आप ही आदि संस्थापक थे। स्वतः प्रकट प्रतिमाएँ भगवान्‌के स्वयं अर्चावतार हैं। वे किसीकी भी बनायी हुई नहीं होतीं। समयपर अपने भक्तोंको अपने प्राकट्यका निर्देश करती हैं। भक्त संकेतित स्थलपर जाकर खोदकर उन्हें प्राप्त कर लेते हैं।

सर्वलक्षणसम्पन्न मनोहर प्रतिमा उतने समयतक ही प्रतिमाके रूपमें परिलक्षित होती है, जबतक उपासक उसमें भगवान्‌की दृढ़ भावना नहीं कर पाता।

यही समय मूर्तिमें भगवद्भावके आरोपका अथवा मूर्तिमें भगवान्‌की पूजाका रहता है।

पर जब मूर्तिमें भगवान्‌के आरोपकी परिपूर्णता हो जाती है, तब फिर वह मूर्ति दारु-पाषाणमयी—जड नहीं रह जाती। वह तो अपने उपासकके लिये भगवान् हो जाती है।

भक्त उसे मूर्ति नहीं देखता, प्रत्युत अपना भगवान् देखता है। उसके सामने आरोप और आरोपितका भेद नहीं ठहर पाता। वह मूर्ति नहीं, किंतु सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान् होते हैं।

स्वतःसम्भूत मूर्तियाँ यों ही नहीं मिल जातीं। ये उपासकोंके लिये ही प्रादुर्भूत होती हैं। अतः ये शीघ्र ही भगवान् भासने लगती हैं। इनकी उपासना शीघ्र ही सिद्ध हो जाती है। इस कारण इन्हें प्रथम कोटिका 'अर्चावतार' स्वीकार किया जाता है। जहाँ ये प्रकट होती हैं, वे स्थल तीर्थस्थान हो जाया करते हैं।

कवि कृष्णजीने कह दिया—'आप सो जायँ' तो भगवान् स्वयं सो गये। मीराको देखते-देखते श्रीरणछोड़रायजीने अपने अंदर लीन कर लिया। उपासिका मीराके लिये द्वारकाधीश निरी जड मूर्ति नहीं, स्वयं चिन्मय भगवान् थे। मीराकी इच्छामात्रसे उन्होंने उसे अपनेमें लय कर लिया।

दूसरी कोटि देवता और सिद्धोंके द्वारा स्थापित मूर्तियोंकी होती है। इनमें भी विशेषताएँ हुई करती हैं। तीसरा प्रकार मानवोंके द्वारा निर्मित विधिपूर्वक प्रतिष्ठापित मूर्तियोंका हुआ करता है। इन सबमें विशेषताएँ अवश्य होती हैं, तो भी उपासकोंद्वारा की गयी उपासनाकी विशेषताएँ सबसे प्रबल होती हैं, जो इन्हें ईश्वरकी विशेषताओंसे विशेषित कर देती हैं। इसी बातको सोचकर—एक स्थलपर—प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलरने कहा था—'भारतका विज्ञान इतना उत्कृष्ट है कि जिसने पत्थरको परमात्मा बना दिया।'

उपासना, भक्ति और ध्यान—ये पर्यायवाचक शब्द हैं। श्रुतिमें इन सबके स्थानपर 'निदिध्यासन' शब्द मिलता है। यों तो उपनिषदोंकी सभी श्रुतियाँ अमूल्य हैं पर 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' यह सबसे अधिक मूल्यवती प्रतीत होती है; क्योंकि इसमें भगवान्‌के साक्षात्कारके साधन बताये गये हैं। श्रवण—पहला साधन है। वेदान्तादि शास्त्रोंसे भगवान्‌का स्वरूप, उनकी उपासनाका प्रकार, कृपाका फल, भक्ति-रस और उसके विरोधीभावको भी पूर्णरूपसे जान लेना चाहिये।

योगभाष्यमें एक स्थलपर लिखा मिलता है कि 'भगवान्‌के गुणानुवाद सुननेपर यदि किसीकी आँखोंमें आँसू छलक आयें और शरीरमें रोमाञ्च हो जाय तो समझ लेना चाहिये कि इसके हृदयमें मोक्षके बीज विद्यमान हैं।'

श्रवण और सत्सङ्गति—ये प्रथमोपादेय हैं। भगवद्-विषयक बातोंको तत्त्वज्ञ पुरुषोंके मुँहसे श्रद्धाके साथ एवं विनयपूर्वक सुनना चाहिये।

रुक्मिणीने—श्रीकृष्णको पत्र लिखते समय—सर्वप्रथम 'श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर।' यहींसे प्रारम्भ किया है। वे कहती हैं—'हे भुवनके एकमात्र सुन्दर पुरुषोत्तम! मैंने आपके गुणोंको सुना—वे कर्णपथसे मेरे हृदयमें प्रविष्ट हो गये। इसी कारण मैं आपकी अनन्या बननेके लिये प्रयत्नशील हुई हूँ।'

साधनाका प्रथम सोपान श्रवण है। बिना इसके साधक आगे नहीं बढ़ सकता।

श्रवण विधिपूर्वक महापुरुषोंके समीप ही हो सकता है, अन्यके समीप नहीं। सांख्यसूत्रकारने इसे गुरुद्वारा प्राप्ति माना है। उपदेश मध्यमविवेकी ही दे सकता है; क्योंकि वही संस्कारवश उपदेश-कार्यमें प्रवृत्त होता है। परम विवेकी-

को भान नहीं होता कि किसको क्या उपदेश दे । प्रारम्भका विद्यार्थी भी उपदेश देनेका अधिकारी नहीं होता ।

कबीर अनधिकारियोंको 'गुरुआ' कहा करते थे । गुरु नहीं मानते थे । यों तो वे कभी-कभी यह भी कह दिया करते थे कि—

जो कोइ मिला सो गुरु मिला, चेला मिला न कोय ।

'मुझे सब गुरु ही मिले । अबतक शिष्य कोई नहीं मिला ।' क्योंकि श्रद्धाके साथ सुनने और सुनी हुई बातको जीवनमें उतारने, काममें लानेवाले व्यक्ति मिलने कठिन होते हैं ।

भगवत्तत्त्व क्या है ? मूर्ति कैसे भगवान् हो जाती है ? कबतक मूर्तिमें भगवान्‌की पूजा हो सकती है ? भक्ति-तत्त्व वास्तविक रूपमें क्या है ? ये सारी चीजें सुनने और समझनेकी हुआ करती हैं । सायणाचार्यने भी एक स्थलपर कहा है कि जगत्, जीव और परमात्माके विषयमें श्रवण और विचार सदा होना चाहिये । किसी भी परमार्थ-सम्बन्धी निरूपणसे श्रोताको ही लाभ होता हो—यह बात नहीं है, अपितु वक्ताको भी लाभ पहुँचता है । याज्ञवल्क्य जनकसे त्याग-वैराग्यकी बात कहते-कहते स्वयं सर्वत्यागी हो गये थे ।

मननका अर्थ निम्बार्कने 'निरन्तर चिन्तन' किया है । वे कहते हैं—'मननं नाम निरन्तरं चिन्तनम्', अखण्ड चिन्तनका नाम ही मनन है । यह भगवान्‌की ओर जानेके लिये प्रथम सोपान है । इसमें अखण्ड स्मृति साधिका है; यही कारण है कि भगवान् सनत्कुमारने श्रीनारदसे कहा है—'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (छा० ७ । २६ । २) 'अखण्ड एवं अचल स्मृतिकी प्राप्ति हो जानेपर जीवकी सारी वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं ।' तभी ब्रह्मसूत्र १ । १ । ४ के श्रीभाष्यमें श्रीरामानुजाचार्यने कहा है—'चिन्तनं च स्मृतिसंततिरूपं न (तु) स्मृतिमात्रम् ।' 'भगवान्‌का निरन्तर स्मरण बना रहना चाहिये । कभी-कभी एवं किसी प्रकार स्मरण कर लेना चिन्तन नहीं कहलाता ।'

यह चिन्तन वह स्मृति है, जिसके उद्‌भासित या उद्‌बुद्ध होते ही सारी दुनिया भूल जाती है, यह भी ध्यान नहीं रहता कि 'मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ?' क्योंकि चित्तमें केवल स्मर्तव्य ही रह जाती है, अन्य व्यापारोंसे वृत्तियाँ विरत हो जाती हैं ।

उसी बातको उर्दूके एक कविने किसी अनन्य-स्मृतिशीलसे कहा है—

जो उस गुल पै कहीं अरिफ तेरी नज़र ठहरे ।
खामे नज़्ज़ाराकी ना आँखोंमें उम्रभर ठहरे ॥

'जो उस अद्वितीय पुष्पपर तेरा मन चला गया होता फिर इस दुनियाकी बहारके लिये तेरी आँखोंमें कोई चाह र[ह] [न] रह जाती ।'

क्योंकि उनकी स्मृतिमें गाफिलको और तो क्या, अप[नी] स्मृति भी नहीं रहती । 'सोऽहम्' की भावना भी [भूल] जाती है ।

तेरी ही यादमें है गाफिल व गाफिल हम ।
पूछने गैरसे हम अपनी खबर जाते हैं ॥

कोई अनन्य स्मरणशील व्यक्ति भगवान्‌से भी कह [रहा है] कि 'तेरी यादमें मैं इतना तल्लीन हूँ कि अब मैं अपना समाचार पूछने दूसरेके घर जाता हूँ ।'

भले ही ये पूछने जायँ; फिर भी 'मैं कौन हूँ' यह [व]ही बतला सकता है, जो उनका बन चुका है ।

कविवर बिहारीजीके यहाँ तो—

जब जब वै सुधि कीजिये,
तब तब सब सुधि जाहिं ।

'जब कभी भी उनकी याद आ जाती है, अन्य सारी [सुधि] उसके आते ही चली जाती है ।' दिगम्बर इमेरीगर [...] इस पूरी नहीं होती । इसीका नाम अनन्यस्मृति है । [य]ह मननका ही एक रूप है ।

निदिध्यासन ध्यानको कहते हैं । आचार्य मध्वने ब्र[ह्म]सूत्र-भाष्यमें 'निदिध्यासन' शब्दका सीधा ध्यान अ[र्थ] किया है । आनन्दभाष्यने बारंबारके ध्यानको निदिध्या[सन] माना है । निम्बार्कने बताया है कि भगवान्‌के साक्षात्का[र]का असाधारण कारण निदिध्यासन (ध्यान) है ।

ध्यान—योगसूत्रमें ध्यानकी परिभाषा इस प्रकार [दी] गयी है—'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'—धारणाके स्थ[ल]में ध्येयका आलम्बन रखनेवाली वृत्तिका प्रवाह, तैलकी धा[रा]के समान निरन्तर चलता रहे, जिसमें दूसरा विजातीय भी ज्ञान [न] करनेवाली वृत्तिके साथ टकराकर ध्येयसे हट न जाय, उस[े] 'ध्यान' कहा जाता है ।

'निदिध्यासन' ध्यान, ज्ञान, पराभक्ति और अनवरतस्मृति ही एक पर्याय है—ऐसी बात 'वेदान्त-कौस्तुभ' भाष्यमें क[ही] गयी है । भाष्यकारका यह भी कहना है कि सर्व स्पष्ट 'निदिध्यासन' शब्द इसलिये पर्यायरूपमें प्रयुक्त किया है ।

इस विषयमें श्रीशंकराचार्यजीने भी इनका साथ दिया है। उन्होंने ब्रह्मसूत्र १।१।४ के भाष्यमें लिखा है—

विदि-उपास्त्योश्च अव्यतिरेकेण प्रयोगो दृश्यते ...... ध्यायति प्रोषितनाथा पतिम् इति या निरन्तरस्मरणा पतिं प्रति सोत्कण्ठा सा एवम् अभिधीयते।

'वेदन (ज्ञान) और उपासन दोनोंका एक ही अर्थमें प्रयोग होसकता है। प्रोषितपतिका (पतिवियोगिनी) स्त्री पतिका ध्यान करती है, यह प्रयोग उसी पतिप्राणाके विषयमें हो सकता है, जो अत्यन्त उत्कण्ठाके साथ निरन्तर पतिका स्मरण करती है।' यही बात उपासनामें भी होती है। अतः ध्यान, वेदन, उपासन, पराभक्ति, ज्ञान, ध्रुवा स्मृति—इन शब्दोंका एक ही अर्थ है।

श्रीशंकराचार्यके द्वारा 'प्रोषितपतिका'का उल्लेख यहाँ विशेष अभिप्राय रखता है। ध्यान कैसे और क्या होता है, यह वियोगिनीको देखनेपर सीधे समझमें आ जाता है। उसे सिवा अपने प्रियतमके स्मरणके दूसरे किसी भी पदार्थका भान नहीं रहता।

शकुन्तलाको यदि कुछ भी संसारका अनुसंधान रहा होता तो वह महातपस्वी दुर्वासाकी कभी उपेक्षा नहीं करती। दुर्वासा अपने तपके माहात्म्यसे जान गये थे कि यह अनन्य मनसे अपने प्रेष्ठका चिन्तन कर रही है। ऋषिने अपनी शक्तिसे दुष्यन्तके हृदयपर विस्मृतिकी यवनिका डालकर शकुन्तला-की मूर्तिको तिरोहित कर दिया, पर सदाके लिये नहीं।

वियोगमें अपार शक्ति है—हठयोगकी सारी शक्तियाँ यह अपने साधकको क्षणभरमें प्रदान कर देता है।

हेर गति योगिनि की छिन में वियोगिनि की,
विरह महंत की अनोखी यह बान है।

यही कारण है कि शंकर प्रोषितपतिकाओंको उपासनाके दृष्टान्तरूपमें अपने भाष्यमें उपस्थित कर रहे हैं।

अन्य कोई साधक हो या न हो, प्रेमी या उपासकको इसकी कोई अपेक्षा नहीं होती। नामश्रवण ही उसके लिये पर्याप्त है। गोपियोंके कानमें जहाँ कृष्णका नाम गया कि वे—

सुनत स्याम को नाम बाम गृह की सुधि भूली।
भरि आनँद रस हृदय प्रेम बेली द्रुम फूली॥
पुलक रोम सब अंग भए, भरि आए जल नैन।
कंठ घुटे गदगद गिरा बोल्यौ जात न बैन॥
व्यवस्था प्रेम की॥

'कृष्ण' शब्द कानमें आते ही कृष्णविरहिणी व्रजाङ्गनाएँ घर-द्वार सब कुछ भूल गयीं। इस नामके अकस्मात् सुननेसे कृष्ण-के साक्षात्कारका ही आनन्द उन्हें आ गया। पूर्वानुभूत रसने मूर्तिमान् होकर प्रेमकी वल्लरीको प्रफुल्लित कर दिया। वह उत्तर पूर्णरूपसे छा गया। सारे शरीरमें रोमाञ्च हो गया। आँखोंमें पानी उमड़ आया। कण्ठके गद्गद होनेके कारण एक भी शब्द वे न बोल सकीं।'

यह है विरहिणियोंपर प्रियतमके नामका प्रभाव। भला, संन्यासी होकर भी शंकर इसे कैसे भूल सकते हैं।

ध्यानकी वास्तविक प्रक्रिया हमें वियोगी या विरहिणीकी तन्मयतासे मिलती है। वे जो कुछ भी सुनते-देखते हैं, प्रिय-मय ही देखते-सुनते हैं—यहाँतक कि अन्तमें यह तन्मयता इतनी बढ़ जाती है कि—

जब ध्येयरूप हो ध्याता स्वयं होता है,
मैं 'तू'का किस्सा वहाँ खतम होता है।

ध्याता और ध्येयमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। तभी श्रीकृष्ण उद्धवसे कह सकते हैं—

उन में मोमें है सखा! छिन भरि अंतर नाहिं।

'सखा! मुझमें और उन (गोपियों) में अब कोई अन्तर नहीं रह गया है। वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ।'

श्रीकृष्ण और गोपियोंको एक करनेवाला है ध्यान। यह एक ऐसी वस्तु है, जहाँ भारतके ही समस्त वेदान्ताचार्य नहीं, प्रत्युत सारे विश्वके सारे धर्मोंके सभी उपासक एकमत हो जाते हैं। पूर्व या पश्चिम, उत्तर अथवा दक्षिणमें जिस किसीने भी भगवान्‌को पाया है, ध्यानसे ही पाया है। ध्यान ही परम साधन है। इसमें किसीको भी किसी प्रकारका संदेह नहीं हो सकता।

श्रवण शब्दोंका ही हो सकता है। ध्यानाङ्ग श्रवणमें ऐसा शब्द चाहिये, जो मननका भी विषय बन जाय। ऐसा शब्द ओंकारके अतिरिक्त अन्य नहीं हो सकता।

अनेक उपनिषदोंमें इसे ही ब्रह्मका वाचक तथा परम आलम्बन माना है। यही अनादि शब्द है, जो मानवादि अखिल प्राणियोंके प्राणोंपर गूँजा करता है।

इसीका परिचय योगने दिया है—'तस्य वाचकः प्रणवः।' 'भगवान्‌का वाचक एकमात्र प्रणव है।'

भगवान्‌के आज अनेकों नाम सुननेमें आते हैं, पर ये सारे

एक (ॐ) के ही रूपान्तर हैं। इस कारण भगवान्के नामोंमें बड़ी सुलभ है।

योगी समाधि-प्राप्तिके सारे उपायोंसे विफल हो अनन्य-भक्तिकी ही शरण लेता है; क्योंकि महर्षि पतञ्जलि योगियोंको उपदेश देते हैं—'ईश्वरप्रणिधानाद् वा।' (१।२३) 'ईश्वरके प्रणिधान (भक्ति) से वे सारी बातें प्राप्त हो जाती हैं, जो निर्विकल्प-समाधिके लिये चाहिये।'

प्रणिधानका अर्थ कृष्णद्वैपायनने भक्तिविशेष किया है। योगवार्तिककार 'ॐ' के जपके साथ ब्रह्मके ध्यानको प्रणिधान कहते हैं—'प्रणवजपेन सह ब्रह्मध्यानं प्रणिधानम्।'

क्योंकि 'प्रणवस्मरणेन सह यस्य सार्वज्ञ्यादिगुण-युक्तस्य ईश्वरस्य स्मृतिरुपतिष्ठते।' प्रणवके स्मरणपूर्वक जपके साथ ही सर्वज्ञत्वादिक गुणोंसे युक्त ईश्वरकी स्मृति हो जाती है।'

अतः स्मरणयुक्त प्रणवका जप करते हुए प्रणवके अर्थरूप भगवान्का स्मरण करते हैं—केवल स्मरण ही नहीं अपितु उन्हें बारंबार चित्तमें स्थापित करते हैं। इतना ही नहीं करते, अपने सारे कर्मोंके फलोंको भी भगवान्की भेंट कर देते हैं।

ब्रह्मको अपनी आत्माका आत्मा माननेवाले हृदय-कमलमें स्थित जीवके भीतर अन्तर्यामीके रूपमें भगवान्का ध्यान करते हैं। आत्माको ब्रह्म अथवा आत्मामें ब्रह्म या ब्रह्मको अपने आत्माका परम प्रिय मानकर भी ध्यान किया जाता है। इसमें अनुरक्ति परम ऐकात्म्य-सम्पादन रहती है।

भगवान् शालग्रामपर निर्निमेष एकाग्र-दृष्टि रखकर श्वासकी गतिके साथ ॐ का जप और भगवान्का ध्यान दीप-शिखाको सर्वेशके रूपमें झलका देते हैं।

मूर्तियोंपर इसी प्रकार ध्यान करनेसे वे भी उपासना-फलसे उपासकोंके लिये भगवान् बन जाती हैं।

अव्यक्त भगवान् भी उपासनासे भक्तकी इच्छाके अनुसार व्यक्त होते हैं। ब्र० सू० ३।२।२४ में भक्तिको संराधनके नामसे भी स्मरण किया गया है। विज्ञानभिक्षु भगवान्के सम्यग् आराधनका साधन भजन, मनन, धारणा, ध्यान और समाधिको मानते हैं। यही उनका संराधन है।

भगवान् रामानुजने स्पष्ट कर दिया है कि भक्तिरूप संराधन भगवान्को प्रत्यक्ष कर देता है।

सत्य है—भगवान् अपनी संनिधिमें भी व्यापक हैं। जब भक्त अपनी अचिन्त्य भक्तिकी शक्तिसे भगवान्को प्रत्यक्ष करना चाहते हैं, भगवान्की मूर्ति उसी समय भगवान् हो जाती है। निराकार भी साकार एवं व्यापक भी एकदेशस्थित बन जाता है।

भगवान्की चरण-धूलिका महत्त्व

नागपत्नियाँ कहती हैं—

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः॥

(श्रीमद्भा० १०।१६।३७)

'अहा! कितनी महिमामयी है तुम्हारे श्रीचरणोंकी धूलि! जो इस परम दुर्लभ धूलिकी शरण ग्रहण कर लेते हैं, उनके मनमें सागर-समन्वित सम्पूर्ण धराका आधिपत्य पा लेनेकी इच्छा नहीं होती। इसकी अपेक्षा भी उत्तम, जरा आदि दोषोंसे रहित देहके द्वारा एक मन्वन्तर-कालपर्यन्त भोगने योग्य स्वर्गसुखकी भी कामना उन्हें नहीं होती। इससे भी अत्यधिक मात्रामें लोभनीय एवं विघ्न-बाधाशून्य पातालसुख—पाताललोकका आधिपत्य भी उन्हें आकर्षित नहीं करता। इस सुखसे भी अत्यधिक महान् ब्रह्मपदको पा लेनेकी वासना भी उनमें कभी नहीं जगती। ब्रह्मपदसे भी श्रेष्ठ योगसिद्धियोंकी ओर भी उनका मन नहीं जाता। इससे भी श्रेष्ठ जन्म-मृत्युविहीन मोक्षपदकी इच्छा उनमें उत्पन्न नहीं होती। यह है तुम्हारी चरणरजकी शरणमें चले आनेका परिणाम, प्रभो!'

भक्ति और मूर्तिमें भगवत्पूजन

(लेखक—पं० श्रीरामनारायणजी त्रिपाठी 'मित्र' शास्त्री)

श्रद्धा विश्वासपूर्वक अनन्य भावसे अपने इष्टदेवके पाद-पद्मोंमें हृदयकी आसक्तिको ही 'भक्ति' कहते हैं। यह भक्ति तामसी, राजसी, सात्त्विकी, निर्गुणा—इन भेदोंसे चार प्रकारकी होती है। चारों भक्तियोंमें तामसी-राजसी भक्ति करनेवाले भक्त तो शत्रुनाश, राज्यलाभ आदिकी कामनासे तामस-राजस देवोंका आराधन करके उनसे अभीष्ट फल प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं, और अपने उद्धारक परमेश्वरसे विमुख बने रहते हैं। ऐसे भक्तोंका प्रयास किसी प्रकार सफल हो जानेपर भी वे वस्तुतः कोरे ही रह जाते हैं। सात्त्विकी भक्ति सकाम निष्काम भेदसे दो प्रकारकी होती है। इन दोनों प्रकारकी भक्तियोंको करनेवाले भक्त निष्कपट भावसे अपने प्रियतम परमेश्वरकी ही उपासना करते हैं, अन्य देवोंको अपने प्रभुकी ही विभूतियाँ समझकर उन सबका उन्हींमें अन्तर्भाव मानते हैं। सकाम सात्त्विकी भक्ति करनेवाले भक्त वैकुण्ठ-लोकादिकी प्राप्तिकी इच्छामें रखकर अपने प्रभुको रिझाते और उनसे अभीष्ट फल पाकर कृतार्थ होते हैं। ऐसे भक्त कुछ विलम्बसे मुक्तिके भागी होते हैं। निष्काम सात्त्विकी भक्तिकी महिमा तो वर्णनातीत है। यह भक्ति तो उन्हीं महाभागोंके हृदयमें अङ्कुरित होती है, जिनका अनेकों जन्मोंका पुण्यफल संचित है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन—इन नौ विभागोंमें यह भक्ति विभक्त रहा करती है। इसी भक्तिमें यह शक्ति है कि प्रभुको भक्तके अधीन बना दे। इसी भक्तिकी प्रशंसामें भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजीसे कहा कि 'उद्धव! योग-साधन, ज्ञान विज्ञान, धर्मानुष्ठान, जप-पाठ और तप-त्याग मेरी प्राप्ति उतनी सुगमतासे नहीं करा सकते जितनी दिनोंदिन बढ़नेवाली मेरी अनन्य प्रेममयी भक्ति।'

> न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
> न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
>
> (श्रीमद्भा० ११।१४।२०)

श्रीभगवान्‌का यह भी कहना है कि 'मैं सज्जनोंका प्रिय आत्मा हूँ, मैं केवल श्रद्धापूर्वक की हुई भक्तिसे ही ग्रहण किया जा सकता हूँ। मेरी भक्ति करनेवाले भक्त यदि जन्मसे चाण्डाल भी हों, तो भी मेरी भक्ति उन्हें पवित्र कर देती है'—

> भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
> भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥
>
> (श्रीमद्भा० ११।१४।२१)

उन्हीं प्रभुने यह भी कहा है कि 'सत्य-दयायुक्त धर्म और तपोयुक्त विद्या मेरी भक्तिसे हीन मनुष्यको भलीभाँति पवित्र नहीं कर पाते, यह निश्चित है।'

> धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता।
> मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥
>
> (श्रीमद्भा० ११।१४।२२)

भक्तवत्सल श्रीकृष्ण यह भी कहते हैं कि 'रोमाञ्च हुए बिना, चित्तके द्रवीभूत हुए बिना एवं आनन्दकी अश्रुधारा बहाये बिना, साथ ही मेरी भक्तिके किये बिना अन्तःकरणकी शुद्धि कैसे हो सकती है।'

> कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
> विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः॥
>
> (श्रीमद्भा० ११।१४।२३)

पुनः भगवान् निष्काम सात्त्विकी भक्ति करनेवाले अपने भक्तकी महत्ताका वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'गद्गद वाणीके साथ-साथ जिसका चित्त द्रवित हुआ करता है, जो कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी लाज छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाता है और नाचने लगता है—ऐसा मेरा भक्त त्रिभुवनको पवित्र कर देता है।'

> वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
> रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
> विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
> मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
>
> (श्रीमद्भा० ११।१४।२४)

'जिस प्रकार अग्निसे तपाया गया सोना मलका त्याग कर देता है और फिर अपने शुद्ध रूपमें चमकने लगता है, उसी प्रकार आत्मा (जीव) मेरी भक्तिके योगसे कर्मोंके मलको विशेषरूपसे धोकर मेरा सेवन करने लगता है।'

> यथाग्निना हेम मलं जहाति
> ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्।

आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २५)

यद्यपि निष्काम सात्त्विकी भक्तियोंमें वैसे तो कोई भी कम नहीं है, पर उन सबमें श्रवण एवं कीर्तनकी बड़ी महत्ता है, जिसे भगवान् उद्धवजीके समक्ष इस प्रकार प्रकाशित करते हैं—'मेरी पवित्र गाथाओंके श्रवणरूप व्यापारोंसे जैसे-जैसे अन्तःकरण परिमार्जित होता जाता है, वैसे-वैसे वह सूक्ष्म वस्तु (परमतत्त्व) को देखने लगता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अञ्जनके प्रयोगसे नेत्र सूक्ष्म वस्तुएँ देखने लगता है।'

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ
मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं
चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २६)

'समस्त भुवनके मध्य वे निर्धन मनुष्य भी धन्य हैं, जिनके हृदयोंमें एक भगवान्‌की ही भक्ति निवास किया करती है; क्योंकि भक्तिसूत्रमें बँधे हुए श्रीभगवान् सब भाँति अपना वैकुण्ठलोक भी छोड़कर उन निर्धन भक्तोंके हृदयोंमें समा जाया करते हैं।'

सकलभुवनमध्ये निर्धनास्तेऽपि धन्या
निवसति हृदि येषां श्रीहरेर्भक्तिरेका ।
हरिरपि निजलोकं सर्वथातो विहाय
प्रविशति हृदि तेषां भक्तिसूत्रोपनद्धः ॥
(पद्मपु० उ० ख०)

जिस निष्काम सात्त्विकी भक्तिका हम वर्णन कर रहे हैं, उस भक्तिके धारण करनेवाले भक्त किसी प्रकारका लोभ नहीं करते। वे अपने प्रभुकी सेवाके अतिरिक्त अपने प्रभुकी दी हुई सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और एकत्व (सायुज्य)— ये पाँच प्रकारकी मुक्तियाँ भी ग्रहण नहीं करते, अन्य विभवों-की तो बात ही क्या। उनके इस त्यागकी बात स्वयं भगवान् कपिलदेवने अपनी माता देवहूतिसे कही है, जिसे पूर्ण प्रमाण समझना चाहिये—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २९ । १३)

वे भक्त विचारते हैं कि 'यदि हम सालोक्य और सामीप्य मुक्तियाँ अङ्गीकार कर लेंगे तो नित्य, उनका एक ही लोकमें अथवा समीप-समीप निरं... ऐसी दशामें हम उनकी उस समानके ... कर पायेंगे, जैसी उनके विरहमें व्यथित होकर ... अनुभव करते हुए किया करते हैं। यदि ... कर लेंगे तो हमारा उनका विभवसे साम्य हो जाय... हम सदाकी भाँति दासभावसे उनकी सेवा न ... सारूप्य मुक्तिके अङ्गीकार करनेपर स्वामी-सेवक ... हो जायगा। वैसी अवस्थामें भी हम उनकी यथोचित से... सकेंगे; क्योंकि अबतक हमारे उनके रूपमें विलक्षणता है, ... हम उनकी रूप-माधुरीपर विमुग्ध हैं और उनकी ... निरन्तर दर्शनाभिलाषी बने रहते हैं। रूपकी स... जानेपर सम्भव है, दर्शनोंका यह चाव न रह ज... एकत्व (सायुज्य)-मुक्ति ग्रहण कर लेते हैं, तब तो ... स्वामीकी सेवासे सर्वदाके लिये वञ्चित हो जायेंगे; ... इस मुक्तिके पाते ही हम प्रभुमें समा जायेंगे और ... अस्तित्व ही मिट जायगा। बस, हम सेवा करनेवाले ही ... रह जायेंगे तब सेवा कैसे कर सकेंगे।' इन्हीं विचारों... निष्काम सात्त्विकी भक्ति करनेवाले भक्त पाँचों प्र... मुक्तियाँ देनेपर भी ग्रहण नहीं करते।

त्यागकी वृत्ति रखनेवाले इन भक्तोंकी यह निष्काम ... भक्ति शनैः-शनैः निर्गुणरूप धारण कर लेती है और ... वैराग्यकी जननी बनकर आत्मजनित ज्ञान-वैराग... पुत्रोंको उन भक्तोंका सहायक बना देती है। ... स्वामियोंकी अनुकम्पासे उक्त भक्तोंको ध्येय तत्त्व... साक्षात्कार हो जाता है और भवसागरसे निवृत्ति हो ... है। यही निर्गुणा भक्ति 'आत्यन्तिक भक्तियोग' ... अभिहित की गयी है। कपिल भगवान् अपनी माता... हैं कि 'इसी आत्यन्तिक भक्तियोगके द्वारा भक्त तीनों ... अतिक्रमण करके हमारे भावको प्राप्त हो जाता है।'

अर्थात् निर्गुणा भक्ति भक्तको भी निर्गुण ... है और वह विदितत्त्व होकर परमात्मस्वरूपमें लि... जाता है। उसे उस परमानन्दकी प्राप्ति हो ज... जिसके समान कोई प्राप्य विषय अवशिष्ट नहीं र...

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २९ । १४)

इस भक्तिको प्राप्त जो भाग्यशाली भक्त भगवान्के चरणारविन्दोंकी धूलकी शरण ले लेते हैं, वे उस धूलके समक्ष स्वर्ग, चक्रवर्तीका पद, ब्रह्माका पद, पातालका आधिपत्य, योगसिद्धियाँ तथा मुक्तिपद—इनमेंसे किसीकी भी चाह नहीं है—

> न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
> न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
> न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
> वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः॥
> (श्रीमद्भा० १०।१६।३७)

इस अहैतुकी निर्गुणा भक्तिका अनुसरण करनेवाले जो धन्य भाग्यवान् भक्त पवित्र, कीर्ति प्रभुके पद-पल्लवरूप नौकाका आश्रय ले लेते हैं, जो कि आश्रय लेने योग्य सर्वश्रेष्ठ स्थान है, उनके लिये संसार-सागर बछड़ेके पद-चिह्नकी भाँति सरलतासे पार करने योग्य बन जाता है। उन्हें स्वतः परम पदकी प्राप्ति हो जाती है और जो विपत्तियोंका स्थान है, वह संसार उनके लिये रह ही नहीं जाता—

> समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं
> महत्पदं पुण्ययशोमुरारेः।
> भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं
> पदं पदं यद् विपदां न तेषाम्॥
> (श्रीमद्भा० १०।१४।५८)

अहैतुकी निर्गुणा भक्ति करनेवाले महान् भक्तोंको कोई रोक नहीं सकता। यदि कोई रोकता है तो उसे स्वयं कर्मोंका भागी बनकर नीचा देखना पड़ता है। इतना ही नहीं, उन्हें रोकनेवाला शीघ्र ही यमलोकका अतिथि बन जाता है। इस विषयमें भक्त अम्बरीष और भक्त प्रह्लादके चरित्र सर्वोपरि प्रमाण हैं। भक्तिकी वृद्धि करनेमें सत्सङ्ग, सच्चरित्रता, भगवन्नामस्मरण, भगवत्कथा-श्रवण, भूतदया—ये विशेष साधक हैं। भक्तोंके लिये तो यह आदेश है कि जहाँ भगवत्कथारूप अमृतकी नदी न बहती हो और जहाँ भगवान्के आश्रित परमवैष्णव साधुजन न रहते हों, एवं जहाँ भगवान्के निमित्त यज्ञ-यागादि तथा उनके जन्म-महोत्सव आदि न होते हों, वह चाहे इन्द्रलोक ही क्यों न हो, उसका भी सेवन न करें—

> न यत्र वैकुण्ठकथासुधापगा
> न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः।
> न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः
> सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्॥
> (श्रीमद्भा० ५।१९।२४)

प्रह्लादजी तो अपना मत यह बतलाते हैं कि उन परम-पुरुष भगवान्के रिझानेके हेतु धन, अच्छे कुलमें जन्म, रूप, तप, शास्त्रादिका श्रवण, इन्द्रियोंका सामर्थ्य, तेज, प्रभाव, शारीरिक बल, पुरुषार्थ, बुद्धि और योग-साधन—इनमेंसे कोई भी अपेक्षित नहीं है, भगवान् तो केवल भक्तिसे रीझते हैं। इसका उदाहरण गजेन्द्र है; उसपर ये परमपुरुष भगवान् केवल भक्तिसे प्रसन्न हो गये थे—

> मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
> स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः।
> नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
> भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय॥
> (श्रीमद्भा० ७।९।९)

भक्त-शिरोमणि प्रह्लादजीका यह भी मत है कि उपर्युक्त बारह गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी यदि कमलनाभ भगवान्के चरण-कमलोंसे विमुख है तो उसकी अपेक्षा वह चाण्डाल श्रेष्ठ है, जिसने मन, वचन, क्रिया, धन, प्राण—ये सब अपने उन प्रभुको समर्पित कर दिये हैं। वह अतिशय अभिमान-रहित परम भक्त अपने कुलको पवित्र कर देता है, परंतु अभिमानसे भरा हुआ वह ब्राह्मण नहीं कर सकता—

> विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
> पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
> मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
> प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥
> (श्रीमद्भा० ७।९।१०)

इन सब बातोंसे सिद्ध हो गया कि अपने प्रभुको वशमें करनेके लिये भक्तिसे बढ़कर दूसरा उपाय नहीं है। हमारे पूर्व महर्षियोंने मूर्ति-पूजनरूप भगवदाराधनकी सरल रीति उन भक्तोंके लिये निकाली थी, जिनकी बुद्धि सरल थी और जिन्हें निराकार ब्रह्ममें श्रद्धा विश्वास करनेमें कठिनाई प्रतीत हो रही थी। कारण, सरल बुद्धिवाले भक्त साकार वस्तुओंके ही दर्शनाभ्यासी थे, अतएव उन्हें निराकार ईश्वरमें आस्था करना कठिन हो रहा था। सूक्ष्म बुद्धिवाले महर्षियोंको पूर्ण विश्वास था कि ब्रह्म निराकार होते हुए भी विश्वके कण-कणमें व्याप्त है। उसे विश्वकी किसी भी वस्तुमें आस्था

करके खोजा जाय तो वह मिल सकता है। यही निश्चितकर उन कुशाग्रबुद्धि महर्षियोंने स्थूल बुद्धिवाले भक्तोंको मूर्तिमें ईश्वरकी भावना करा दी थी। मूर्तिमें भावना कर लेनेके पश्चात् वे जब श्रद्धापूर्वक मूर्ति-पूजन करने लगे, तब उनके हृदयोंमें शनैः-शनैः मूर्तिके प्रति, वैसा ही अनुराग हो गया, जैसा किसी अपने प्रिय सम्बन्धीके प्रति हुआ करता है। जब वे भगवन्मूर्तिपर विमुग्ध होकर ईश्वरभावसे उसकी पूजामें संलग्न हो गये, तब उन्हें मूर्तिमें ही अपने प्रभुके शुभ दर्शन हो गये। उनकी देखा-देखी जब अन्य भक्त भी मूर्ति पूजन करने लगे, तब पूर्णरूपसे मूर्ति-पूजनका प्रचार हो गया।

मूर्ति-पूजनसे ईश्वरका ज्ञान उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार छोटे बच्चेको अक्षर-बोध कराते समय उसकी लेखनीसे अक्षरोंका प्रतिबिम्ब बनाकर उसपर उससे लिखवाया जाता है और धीरे-धीरे उसे अक्षरोंका ज्ञान हो जाता है। फिर वह स्वतन्त्रतासे अक्षर लिखने लगता है। मूर्तिमें भगवत्पूजन करनेवाले भक्तोंको भी उसी परमतत्त्वकी प्राप्ति होती है, जो पूर्ववर्णित सद्भक्तोंको प्राप्त होती है। तथा प्राप्त होना चाहिये। मूर्ति शैली, दारुमयी, लौही, लेप्या, लेख्या, सैकती, मनोमयी और मणिमयी—इन भेदोंसे आठ प्रकारकी होती है। आठों प्रकारकी मूर्तियोंके चल-अचल, ये दो भेद और हैं। चल मूर्तियाँ वे हैं, जो पिटारी आदिमें रखकर सर्वत्र ले जायी जा सकती हैं। उनमें आवाहन विसर्जनके साथ, अथवा आवाहन विसर्जनके बिना, दोनों प्रकारसे पूजा की जा सकती है। अचल मूर्तियाँ वे हैं, जिनमें इष्टदेवका आवाहन और प्राण-प्रतिष्ठा करके उन्हें किसी मन्दिरमें स्थापित किया जाता है। उनकी पूजामें आवाहन-विसर्जनकी आवश्यकता नहीं रह जाती। भगवद्भक्तोंका मूर्ति-पूजन देखकर अन्य देवोंके उपासकोंने भी मूर्ति-पूजनकी रीति स्वीकृत की थी। वास्तवमें अनन्यभावसे देखिये तो अन्य देवी-देव भी प्रभुके ही रूप हैं। मूर्तिमें भगवान्‌की भावना रखनेवाले भक्तोंके समक्ष भगवान् कैसे प्रकट हो जाते हैं, इस विषयमें हम कुछ उदाहरण दे रहे हैं।

एक महात्मा एक दिन अपने एक ब्राह्मण शिष्यके घर पहुँचे। दैवयोगसे उन्हें वहाँ कई दिन रहना पड़ गया। महात्माजीके पास कुछ शालग्रामजीकी मूर्तियाँ थीं। उनके शिष्य ब्राह्मणकी एक अबोध बालिका प्रतिदिन महात्माजीके समीप बैठकर उनकी पूजा देखा करती थी। एक दिन कन्याने महात्माजीसे पूछा कि—'बाबाजी! आप किसकी पूजा करते हैं?' महात्माजीने कन्याको अबोध समझकर हँसी-हँसीमें उससे कह दिया—'हम सिलपिले भगवान्‌की पूजा करते हैं।' ... कि 'बाबाजी! सिलपिले भगवान्‌की पूजा करनेसे क्या होता है?' महात्माजीने कहा, 'सिलपिले भगवान्‌की ... मनचाहा फल प्राप्त हो सकता है।' कन्याने कहा—'बाबाजी! मुझे भी एक सिलपिले भगवान् दे दीजिये, मैं भी आपकी भाँति उनकी पूजा किया ...' उसका सच्चा अनुराग देखकर उसे एक शालग्रामजी ... दे दी और पूजनका विधान भी बतला दिया। महात्माजी तो विदा हो गये। कन्या परमविश्वास तथा श्रद्धाके साथ अपने 'सिलपिले भगवान्‌'की पूजा करने लगी। ... अबोध बालिका अपने उन इष्टदेवके अनुराग-रंगमें ऐसी रँग गयी कि उनका क्षणभरका वियोग उसे असह्य ... लगा। वह कुछ भी खाती-पीती, अपने उन ठाकुरजीको भोग लगाये बिना नहीं खाती-पीती। वयस्क हो जानेपर ... कन्याका विवाह हुआ, तब दुर्भाग्यसे उस देवीको ... पतिदेव मिले, जो महामूर्ख हरिविमुख थे। ... अपने 'सिलपिले भगवान्‌'को बहुत पहले ... ले गयी थी। एक दिन उसके पतिदेवने पूजा करते ... उससे पूछा कि 'तू किसकी पूजा करती है?' उसने ... सारी मनोकामना पूर्ण करनेवाले अपने 'सिलपिले भगवान्‌' ... पूजा करती हूँ।'' पतिदेवने कहा—'... ... है!' यह कहकर उस मूर्तिको उठा लिया और बोले कि ... नदीमें डाल दूँगा।' कन्याने बहुत अनुनय-विनय ... कहा—'स्वामिन्! ऐसा न कीजियेगा।' किंतु ... स्वभावतः दुष्ट हठी थे, वे कब मानने लगे। ... साथ-ही-साथ रोती चली गयी, किंतु उन ... पतिदेवने सचमुच उस मूर्तिको नदीमें फेंक दिया। ... समयसे अपने सिलपिले भगवान्‌के विरहमें बावली हो ... उसे अपने इष्टदेवके बिना सारा संसार ... उसका खाना-पीना-सोना सब भूल गया। ... निरन्तर रटने लगी—'मेरे सिलपिले भगवान्! तुम ... छोड़कर कहाँ चले गये, शीघ्र दर्शन दो। नहीं तो ... प्राण जा रहे हैं। आपका वियोग असह्य है।'

एक दिन वह अपने उन भगवान्‌के विरहमें ... डूबनेपर तुल गयी। लोगोंने उसे बहुत कुछ समझाया, ... उसने एक न सुनी। वह पागल-सी बनी नदीके किनारे ... गयी। उसने बड़े ऊँचे स्वरसे पुकारा—'मेरे प्राणप्यारे सिल...

गमन् ! शीघ्र बाहर आकर दर्शन दो, नहीं तो दासीका प्राणान्त होने जा रहा है।' इस करुण पुकारके साथ ही एक मधुर शब्द हुआ कि 'मैं आ रहा हूँ।' फिर उस कन्याके पास वही श्यामसुन्दरकी मूर्ति उपस्थित हो गयी। अब वह मूर्तिको उठाकर हृदयसे लगाने लगी, तब उसी मूर्तिके अंदरसे चतुर्भुजरूपमें भगवान् प्रकट हो गये, जिनके दिव्य तेजसे सब दर्शकोंकी आँखें झप गयीं। इतनेमें एक प्रकाशमान स्वर्णमय विमान आया, भगवान् अपनी उस सखी कन्याको उसीमें बिठलाकर वैकुण्ठ धामको लिये चले गये। सबके वे हरिविमुख पतिदेव आँखें फाड़ते हुए रह गये।

मूर्तिमें सच्चे भावसे भगवत्पूजन करनेपर भगवान् कैसे प्रकट हो जाते हैं और भक्तका समर्पित किया हुआ नैवेद्य किस प्रकार ग्रहण करते हैं—इसका एक उदाहरण नीचे देते हैं।

एक महात्माजीने एक लक्ष्मी-नारायणका मन्दिर बनवाया था, जिसमें लक्ष्मी-नारायणके सिवा अन्य देवोंकी भी मूर्तियाँ स्थापित थीं। महात्माजीने एक अबोध बालकको चेला भी बना रखा था, जो मन्दिरकी सफाई और पूजन-पात्रोंका मार्जन आदि किया करता था। वह कभी-कभी महात्माजीसे उन देव-मूर्तियोंके विषयमें पूछा करता था कि 'गुरुजी! वे कौन हैं और ये कौन हैं?' महात्माजी लक्ष्मी-नारायणकी ओर संकेत करके उसे समझा देते थे कि 'ये लक्ष्मी-नारायण हैं, ये ही दोनों जने मन्दिरके स्वामी हैं।' तथा अन्य देवोंके नाम बतलाकर उन सबको लक्ष्मी-नारायणके सेवक आदि बतला दिया करते थे। सरलहृदय बालकके हृदयमें महात्माजीके कथनानुसार ही मन्दिरस्थ देवी-देवताओंके प्रति निष्ठा हो गयी थी, जो निष्ठा तरुण हो जानेपर भी उसके हृदयस्थलका परित्याग नहीं कर पायी। एक बार महात्माजी एक मासके लिये तीर्थयात्रा चल गये। चलते समय मन्दिरका भार उसी चेलेपर छोड़ गये। वे उससे कह गये कि 'बेटा! प्रतिदिन लक्ष्मी-नारायण आदि देवी-देवताओंकी धूप आदिके द्वारा पूजा करना और पवित्र भोजन बनाकर सबको भोग लगाना।' महात्माजीके चले जानेपर उस चेलेने उनके कथनानुसार लक्ष्मी-नारायण आदिकी प्रेमके साथ पूजा की और भोजन बनाकर वह पहले लक्ष्मी-नारायणके सामने ले गया। आँखें मूँदकर घंटी बजाने लगा और बोला—'भोजन कीजिये। आप दोनों जने मन्दिरके स्वामी हैं। अतः प्रथम आपका भोजन हो जाना आवश्यक है, पश्चात् अन्य देवी-देवताओंको भोग लगाऊँगा।' चेला बहुत देर तक खड़ा रहा, किंतु उन्होंने भोजन नहीं किया। तब चेलेने विचार किया कि 'मुझसे कोई अपराध हो गया है, तभी तो स्वामिनी-स्वामीजी रूठ गये हैं।' उसने अनुमान किया कि शायद धूप देते समय स्वामिनी-स्वामीकी नाकोंमें धूपका धुआँ पहले नहीं पहुँचा, अन्य देवी-देवताओंकी नाकोंमें पहुँच गया, इसीलिये ये रुष्ट हो गये हैं और भोजन नहीं करते। उसने लक्ष्मी-नारायणके अतिरिक्त अन्य सब देवी-देवताओंकी नाकोंमें रूई लगा दी और पुनः पात्रका मार्जन करके पहले विधिपूर्वक लक्ष्मी-नारायणके समक्ष धूप दी, फिर सबकी नाकोंसे रूई निकालकर अन्य देवी देवताओंको भी धूप दी। फिर लक्ष्मी-नारायणके समक्ष भोजन रखकर बोला—'अब तो कोई त्रुटि है नहीं, कृपया भोजन कीजिये।' लक्ष्मी-नारायणने फिर भी भोजन नहीं किया। तब चेलेने विचारा कि 'हो-न-हो भोजन बनानेमें ही कोई त्रुटि रह गयी है। इसीलिये ये भोजन नहीं करते।' बेचारेने पुनः पात्रोंका मार्जन किया और पवित्रताके साथ भोजन बनाकर उनके समक्ष ले गया। लक्ष्मी-नारायणने फिर भी भोजन नहीं किया। तब चेला एक लट्ठ उठा लाया और उनके सिरपर तानके खड़ा हो गया। वह कहने लगा—'अबकी कोई त्रुटि नहीं होने पायी है। भोजन करना हो तो सीधे-सीधे कर लो। अन्यथा मैं दोनोंके सिरपर लट्ठ जड़े देता हूँ।' उस चेलेकी अपने प्रति सच्ची आस्था देखकर मूर्तिके ही रूपमें श्रीलक्ष्मी-नारायण भोजन करने लगे। अब क्या था, उसे भोजन करानेका सरल उपाय ज्ञात हो गया। जिस देवी अथवा देवताके समक्ष भोजन रखता, उसके सिरपर लट्ठ तानके खड़ा हो जाता और कहता कि 'भोजन करोगे या सिरपर लट्ठ जड़वाओगे।' उसकी बात सुनकर प्रत्येक देवी-देवता मूर्ति-रूपमें ही भोजन करने लगता था। इस घटनाके बादसे प्रतिदिन उसका लट्ठदेवके ही बलपर कार्य चलने लगा। अब सारी मूर्तियाँ प्रतिदिन भोजन करने लगीं, तब बीस सेर भोजन-सामग्रीकी आवश्यकता पड़ने लगी। महात्माजी जो कुछ सामान रख गये थे, वह आठ ही दिनमें समाप्त हो गया। जब सामान समाप्त हो गया, तब चेला बेचारा दूकान-परसे उधार ला-लाकर भोग लगाने लगा। एक मासके पश्चात् जब महात्माजी वापस आये, तब चेलेसे पूछा 'कहो, बेटा! लक्ष्मी-नारायण आदिकी पूजा तो ठीक-ठीक करते रहे न?' उसने कहा कि 'गुरुजी! पूजामें तो कोई त्रुटि नहीं होने पायी है, किंतु एक प्रार्थना है कि जब कभी बाहर जाया कीजिये, तब भोजन-सामग्री पर्याप्त रख जाया कीजिये।

सबकी आप इतनी व्यस्त सामग्री रख गये थे, जो आठ ही दिनोंमें समाप्त हो गयी। दूकानदारसे अधिक-से-अधिक सामग्री उधार लेनी पड़ी है।' महात्माने बिगड़कर कहा कि 'मैं जो सामग्री रख गया था, वह किसने खा डाली?' चेलेने कहा, 'गुरुजी! क्या यह भी पूछोगे? आपने जो इतनी बड़ी सेना पाल रखी है, आखिर अबतक इसने क्या खाया है? मुझे प्रतिदिन बीस सेर आटा सेंकना पड़ता था; जो कष्ट मुझे भोगना पड़ा है, वह मैं ही जानता हूँ।' महात्माजी बिगड़ पड़े और कहने लगे—'क्यों झूठ बकता है? कहीं देवी-देवता भोजन करते हैं; वे तो केवल सुगन्ध लिया करते हैं। तूने दूकानसे मिठाई ले-लेकर खायी होगी। मैं तेरी बात नहीं मान सकता। अच्छा, तू भोजन बनाकर दे; मैं देवी-देवताओंको भोग लगाकर देखूँ कि वे खाते हैं या नहीं।' चेला भोजन बनाकर लाया। महात्माजीने उसे लक्ष्मी-नारायणके समक्ष रखकर घंटी बजायी और आँखें मूँदकर खड़े रहे; किंतु उक्त देवी-देवताने भोजन नहीं किया। तब महात्माजीने चेलेको डाँटकर कहा कि 'देख रहे हो! कहो, देवी-देवताओंने भोजन किया है?' उन्होंने सचमुच किसीने भोजन नहीं किया है। तब वह डंडा लाया और लक्ष्मी-नारायणके सिरपर तानकर खड़ा हो गया और कहने लगा कि 'फिर आप यहाँ भोजन करते हो या लट्ठ खाना चाहते हो?' यह सुनते ही वे भोजन करने लगे। महात्माजी यह देखकर [illegible] और चेलेसे सारा रहस्य पूछा। तब उसने आरम्भसे वृत्तान्त बतलाया। महात्माजी चेलेके चरणोंमें गिर पड़े और बोले—'बेटा! तुम गुरु हो, मैं चेला हूँ।' उन्होंने सच्ची आस्था रखकर मूर्तियोंमें देवी-देवताओं और भगवान्‌को प्रकट करा दिये। मीराँबाईको भी भगवान्‌की चित्र-मूर्तिमें [illegible] करनेपर परम तत्त्वकी प्राप्ति हुई थी। मूर्तियोंमें आस्था रखनेवाले भक्तोंको चाहिये कि वे जब मूर्तियोंमें भगवान् देखें, तब प्राणिमात्रके हृदयमें ईश्वरकी आस्था रखकर ईश्वरभावसे सत्कार करें और उनकी सेवा करें; वे ईश्वरको प्रसन्न कर सकते हैं।

अवधविहारी एवं विपिनविहारीके चरण

(रचयिता—श्रीरामनारायण त्रिपाठी 'मित्र' शास्त्री)

(१)

ध्येय हैं मुनीश्वर, मयंक-मौलि, मारुतिके,
सेव्य हैं सुमित्रा-सुत, जनकदुलारीके।
गेय हैं सुपर्ण-शेष-शारदा-भुशुण्डिजीके,
पूज्य हैं भरत प्रेम पूरित पुजारीके॥
शरण शरण्य हैं कपीश-पवनानुजके,
पावन-करण हैं अपूत ऋषिनारीके।
दाता शान्तिके हैं भव-ताप-तापितोंके 'मित्र'
[illegible] पद अवध-विहारीके॥

(२)

सम्पति-निधान हैं प्रधान ब्रज-भूतलके,
प्राणाधार जो हैं वृषभानु-सुकुमारीके।
देवकी-यशोदा, वसुदेव-नन्दके हैं प्रिय,
जीवनके फल हैं विवेकी जन्म-धारीके॥
मंजु मानसर हैं परमहंस-हंसोंके ये,
स्नेह-सुधा-सिन्धु हैं सनेही सदाचारीके।
जानेको अपार भव-पारावार पार 'मित्र'
पोत हैं उदार पद विपिन-विहारीके॥

भक्तिकी दुर्लभता

(लेखक—आचार्य श्री एस्० बी० हरिकर)

'भक्ति दुर्लभ है'—यह बात जो सुनेगा, उसीका चित्त आश्चर्यसे भर जायगा; क्योंकि इससे अधिक स्पष्ट तथा बेढब और कुछ नहीं है कि पारमार्थिक साधनाके क्षेत्रमें भक्ति ही सबसे सुगम साधन है। ज्ञान, योग एवं कर्मकी तुलनामें भी भक्तिकी सर्वाधिक सुगमता तथा सरलता सुविख्यात है। सारे पुराण और सभी संत एक स्वरसे पुकार-पुकार कहते हैं कि भक्ति सुगम है। यह उस राजपथके समान है, जिसपर एक अंधा और लँगड़ा भी बिना कठिनताके चल जा सकता है, जैसा श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह।

(११ । २ । ३५)

सबसे सुगम होनेके कारण लाखों व्यक्तियोंद्वारा यह मार्ग अपनाया जाता है। हम लाखों नर-नारियों और बालकोंको मन्दिरों, गिरजाघरों तथा मस्जिदोंमें जाते देखते हैं। धार्मिक समारोहोंमें हम लाखों रुपये व्यय होते देखते हैं और यह बात भी कोई कम महत्त्वकी नहीं है कि भक्ति-समाजोंकी संख्या भी पर्याप्त है। ऐसी स्थितिमें यह कहना अवश्य ही मूर्खतापूर्ण होगा कि भक्ति दुर्लभ वस्तु है। फिर भी हम यह कहनेका साहस कर रहे हैं कि एक अर्थमें भक्ति दुर्लभ है। आपातत: यह उक्ति मूर्खतापूर्ण प्रतीत होनेपर भी हमें यह कहनेमें कोई भय नहीं है; क्योंकि भक्तिके महान् आचार्य हमारी बातका समर्थन कर रहे हैं।

भक्तिके सबसे बड़े आचार्य नारदजी कहते हैं—

प्रकाशते क्वापि पात्रे। (भक्तिसूत्र ५३)

'इसका किसी विरले व्यक्तिमें ही प्रकाशन होता है, जिसने सतत साधनाके द्वारा अपनेको इसके योग्य बना लिया हो।'

महाराष्ट्रके महान् संत एकनाथजी कहते हैं—'लोग भक्त कहानेमें गौरव मानते हैं, परंतु भक्ति दुर्लभ है; क्योंकि भक्तिका तत्त्व अत्यन्त निगूढ है। वेद भी इसे पूरा-पूरा समझ लेनेमें असमर्थ हैं।' महाराष्ट्रके एक दूसरे संत तुकारामजी कहते हैं—'भक्ति कठिन है, यह सूलीपर चढ़कर रोटीका स्वाद लेनेके समान है।' अतएव आइये, हमलोग भक्तिके स्वरूपको समझनेकी चेष्टा करें। भक्तिके स्वरूपको ठीक-ठीक समझ लेनेपर इस ऊपरी विरोधका परिहार हो जायगा।

श्रीमद्भागवतमें भक्तराज प्रह्लाद भक्तिकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(७ । ५ । २३)

'भगवान्के गुणोंका श्रवण, नाम-कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, प्रणिपात, दास्य, सख्य एवं आत्मनिवेदन—यह नौ प्रकारकी भक्ति है। भगवद्गीताका कथन है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

(७ । १६)

'हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! चार प्रकारके सुकृतीजन मेरा भजन करते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी।'

किंतु श्रीनारदने अपने भक्तिसूत्रमें भक्तिकी सबसे सुन्दर परिभाषा दी है—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। (भक्तिसूत्र २)

'वह भक्ति ईश्वरके प्रति परमप्रेमरूपा है।'

दूसरे सूत्रकार श्रीशाण्डिल्य भी इसीसे मिलती-जुलती परिभाषा करते हैं—

सा परानुरक्तिरीश्वरे।

भागवत और गीताकी परिभाषाओंसे यह परिभाषा अच्छी है; क्योंकि भागवत और गीतामें तो भक्ति भिन्न-भिन्न विभिन्न रूपोंमें व्यक्त होती है—इसीका निर्देश किया गया है। वे भक्तिकी व्यापकताका संकेत करती हैं, वास्तविक स्वरूपका नहीं; क्योंकि बिना तथा भक्त बने भी भगवान् श्रीकृष्णके गुणोंको सुना जा सकता है। कोई-सा व्यक्ति हरिकीर्तनमें सम्मिलित हो सकता है—इसलिये नहीं कि उसका नाम-श्रवणके प्रति अनुराग है, वरं इसलिये कि जिस मकान-में वह किरायेपर रहता है, उसके मालिकने उसे निमन्त्रित किया है और अपने मकान-मालिकको वह अप्रसन्न नहीं करना चाहता। अतएव ऐसा व्यक्ति—जो भी शब्द उसके कर्णकुहरोंमें प्रवेश कर रहे हैं, उन्हें यन्त्रवत् सुनता हुआ केवल शरीरसे तो वहाँ उपस्थित रह सकता है, किंतु यह निरन्तर इस बातकी प्रतीक्षामें रहेगा कि कब यह आयोजन समाप्त होता है। ऐसे मनुष्यको भगवान्का 'भक्त' कहकर पुकारना क्या विडम्बना मात्र नहीं होगा!

इसी प्रकार कोई व्यक्ति केवल अपने श्रोताओंको रिझानेके उद्देश्यसे भगवान्के अवतारोंकी कथा कह सकता है अथवा उनकी महिमाका गान कर सकता है, जिससे श्रोतागण मुग्ध करके उसे भेंटकी सामग्री अथवा रुपया चढ़ायें; किंतु ऐसे कीर्तनकारको भक्त नहीं कहा जा सकता।

एक व्यक्ति तीन-चार मन्दिरोंका पुजारी हो सकता है और प्रातःकालका अपना सारा समय मन्दिरस्थ देवताओंकी सेवामें बिता सकता है, किंतु पूछनेपर वह व्यक्ति यदि इस प्रकारका उत्तर दे कि 'अब मुझे छुट्टी मिल गयी, मैंने मूर्तियोंका अभिषेक कर दिया और मेरा कार्य समाप्त हो गया !' तो उसे भक्त नहीं कह सकते। यदि प्रतिमाका अभिषेक, उसे स्नान कराना, उसे वस्त्र धारण कराना आदिमें किसीको परिश्रम अथवा थकानका बोध होता है तो सारे दिन ऐसी सेवाओंमें रत रहनेवाला व्यक्ति भी भक्त नहीं कहला सकता।

तथ्य यह है कि ऐसे व्यक्ति भक्तिके केवल बाह्य नियमोंका पालन करते हैं। इसका नाम है—'वैधी भक्ति'। परंतु भक्तिके विषयमें सबसे महत्त्वकी बात तो यह है कि सदाचारकी भाँति यह भी आन्तरिक वस्तु है। इसका उद्गम हृदयसे होना चाहिये।

भक्तिके अन्तिम प्रकार आत्मनिवेदनको छोड़कर शेष सभी प्रकार प्रत्यक्ष देखनेमें आ सकते हैं। उनका भक्तिके रूपमें आदर तभी होगा, जब वे आन्तरिक भगवत्प्रेमकी बाह्य अभिव्यक्ति बनें। यदि अन्तरमें प्रेम हो तो यह आवश्यक नहीं कि वह विधिपूर्वक प्रार्थनाके रूपमें बाहर प्रकट हो ही। व्याकरणकी दृष्टिसे शुद्ध तथा भलीभाँति चुने हुए शब्दोंमें भगवत्कथा कहनेके बदले भक्त 'भगवान्' को गाली भी दे सकता है और फिर भी उस गाली-गलौजकी गणना भक्तिमें ही होगी। इसके विपरीत एक विद्वान् ब्राह्मण वेदमन्त्रोंसे भगवान्की स्तुति करता है, फिर भी यह आवश्यक नहीं कि उसे भक्तिकी श्रेणीमें ही रखा जाय। महाराष्ट्रके महान् संत तुकाराम-जीने भक्तिके प्राणरूप भगवत्-प्रेम तथा अर्चन आदि भक्तिके बाह्य आचरणोंका सम्बन्ध दिखानेके लिये एक बहुत ही सुन्दर दृष्टान्त दिया है। वे कहते हैं कि शून्यके पहले कोई-सा भी अङ्क रहनेसे—चाहे वह एक ही क्यों न हो—शून्यका भी मूल्य हो जाता है। किंतु यदि शून्यके पहले कोई संख्या न रहे तो असंख्य शून्योंका मूल्य एकके बराबर भी नहीं

होगा *। इसी प्रकार यदि हृदयमें प्रेम है तो जैसा ऊ[पर] कह आये हैं, गालीका भी भक्तिमें समावेश हो ज[ाता है;] किंतु यदि प्रेम नहीं है तो ईश्वरसे सम्बन्ध रखनेवा[ले] अनुष्ठानोंको भी भक्तिका नाम नहीं दिया जा सकता; क्यों[कि उन] क्रियाओंके द्वारा अनुष्ठानकर्ता भगवान्को न चाहकर बड़ाई या प्रतिष्ठा-जैसी कोई सांसारिक वस्तु चाहता है। [इस] प्रकार भगवान्का भक्त न होकर वास्तवमें वह धन[का भक्त होता] है। इसीलिये इस क्षेत्रके अधिकारी पुरुष कहते हैं कि [वास्तविक] भक्ति तो रागानुगा ही है। वह परम प्रेमस्वरूपा है।

यहाँ कोई कह सकता है—'अच्छा, मान लि[या कि] भक्ति परमप्रेमस्वरूपा है; किंतु क्या ऐसा प्रेम दुर्ल[भ] वस्तु है ?' इसपर हमारा कहना यह है कि 'हाँ, य[ह] दुर्लभ है। भोगोंके प्रति प्रेम सर्वत्र पाया जाता है। [इनके] प्रति आसक्तिमें हेतु विषयोंके साथ हमारा चिरन्तन [सम्बन्ध] ही है। वे हमारे सूक्ष्मशरीरपर संस्कार छोड़ जाते [हैं और] हम जहाँ-कहीं, जिस योनिमें भी जाते हैं, उन्हें [साथ ले] जाते हैं। भगवत्प्रेम ऐसा नहीं है। वह तो भगवत्[कृपा]का फल है। अतः हमें भगवत्प्रेमके उस स्वरूपका अ[नुसंधान] करना चाहिये, जिसे देवर्षि नारदने अपने भ[क्तिसूत्रमें] निर्धारित किया है। उससे हमें यह समझनेमें सहायता [मिलेगी] कि सच्ची भक्ति क्यों दुर्लभ है। नारदजी कहते हैं—

प्रकाशते क्वापि पात्रे।

इस प्रेमका जो स्वरूप उन्होंने समझा है, [उसका] निरूपण करनेके पूर्व नारदजी अन्य आचार्यों[के मतोंका] उल्लेख करते हुए कहते हैं—

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः ॥ १६ ॥

पराशरनन्दन श्रीव्यासजीके मतानुसार भगवान्[की पूजा] आदि अनुष्ठानोंमें अनुराग ही भक्तिका स्वरूप है।

कथादिष्विति गर्गः ॥ १७ ॥

श्रीगर्गाचार्यके मतसे भगवान्की कथा आदिमें [अनुराग] ही भक्तिका स्वरूप है।

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥ १८ ॥

शाण्डिल्य ऋषिके मतमें इसका आत्मरतिमें ...

---

* गोस्वामी तुलसीदासजीने भी अपनी दोहावली(१०)में [राम-नाम] की महिमाके विषयमें इसी आशयका विचार व्यक्त किया है—

राम नाम को अंक है, सब साधन हैं सून।
अंक गएँ कछु हाथ नहीं, अंक रहें दस गून ॥

विरोध नहीं होना चाहिये । अन्तमें नारदजी स्वयं अपना मत इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ॥ १९ ॥

परंतु नारदजीकी रायमें अपने सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कर देना और भगवान्‌का थोड़ा-सा भी विस्मरण होनेपर परम व्याकुल हो जाना ही भक्ति है ।

किंतु आगे चलकर वे कहते हैं कि वास्तवमें भक्तिका यथार्थ स्वरूप अनिर्वचनीय है—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ॥ ५१ ॥

अर्थात् प्रेमके वास्तविक स्वरूपकी ठीक-ठीक एवं निश्चित परिभाषा अथवा व्याख्या सम्भव नहीं है ।

इसे अनिर्वचनीय बताकर वे अगले सूत्रमें एक दृष्टान्त देते हैं, जिससे इस अलौकिक वस्तुकी कुछ धारणा हो सकती है । वे कहते हैं—

मूकास्वादनवत् ॥ ५२ ॥

'यह उस आनन्दकी अनुभूतिके समान है, जिसे कोई गूँगा किसी मीठी वस्तुको चखनेपर प्राप्त करता है ।'

इसके बाद वे इस प्रेमके कुछ लक्षण बताते हुए कहते हैं—

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ॥ ५४ ॥

'यह प्रेम गुणरहित है, स्वार्थप्रेरित कर्मप्रवृत्तियोंसे शून्य है और एकरस अखण्ड अनुभवरूप है, जो प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है तथा कतिपय शर्तोंके पूर्ण हो जानेपर अपने-आप प्रकट होता है ।'

क्या हम कह सकते हैं कि जिन बहुसंख्यक मनुष्योंको हम देवालयों, गिरजाघरों एवं मस्जिदोंमें जाते अथवा तीर्थ यात्रा करते देखते हैं, उनमें ये सब लक्षण पाये जाते हैं ?

क्या ऐसी बात नहीं है कि उनमेंसे बहुत-से लोग भगवत्प्रार्थना एवं पूजा आदि उतना प्रेमसे प्रेरित होकर नहीं करते जितना स्वार्थके वशीभूत होकर करते हैं और नियमोंका पालन केवल उतनी ही दूरतक करते हैं, जितना मोक्षकी प्राप्तिके लिये आवश्यक होता है ।

ऐसे लोग बहुत थोड़े हैं, जो भगवान्‌की महिमा यथार्थ रूपमें समझते हैं और जो प्रेमसे प्रेरित होकर उनकी सेवामें पूर्ण आत्मोत्सर्ग कर देते हैं । ऐसे लोग बहुत ही थोड़े हैं; क्योंकि भगवान्‌के प्रति प्रगाढ़ प्रेमका अर्थ होता है सम्पूर्ण आत्मसमर्पण, सम्पूर्ण त्याग और पूर्ण विश्वास । ये असाधारण गुण हैं । अबोध बच्चोंकी भाँति हममेंसे अधिकांशका भगवान्‌की *महत्ता, उनके ज्ञान एवं शक्तिमें नाममात्रका विश्वास* होता है । संकटमें हम उनसे प्रार्थना करते हैं और साथ-ही-साथ अपनी अभिलाषाओंकी पूर्तिके लिये सांसारिक उपायोंका भी अवलम्बन करते हैं । उदाहरणके लिये ज्वरसे पीड़ित कोई व्यक्ति प्रार्थना भी कर सकता है और उसी समय चिकित्साके लिये डाक्टरके यहाँ भी जा सकता है । यह भक्ति नहीं है । सच्चा भक्त एकनिष्ठ होता है । गर्भस्थ शिशुकी भाँति वह *प्रत्येक पदार्थके लिये भगवान्‌पर ही सम्पूर्णरूपसे तथा अनन्य* भावसे निर्भर रहता है । ऐसा विश्वास दुर्लभ है । भगवान्‌के प्रति अडिग विश्वास सर्वत्र नहीं मिलता । प्रह्लाद-जैसे भक्तोंमें ही वह मिल सकता है । प्रतिकूल परिस्थितियोंसे आक्रान्त होनेपर *हममेंसे अधिकांश इस दिशामें असफल सिद्ध होंगे ।*

भगवान्‌के प्रति अविरल विश्वास रखनेवाले व्यक्तिके हृदयमें उनका दर्शन करने, उनकी वाणी सुनने, उनके निकट सम्पर्कमें आनेकी तीव्र लालसा होती है । इसी प्रबल लालसाका नाम है 'भक्ति' । यही वह वस्तु है जिसके लक्षण नारदजीने अपने पूर्वोक्त सूत्रोंमें बताये हैं ।

पैठणके संत श्रीएकनाथजीद्वारा लिखित श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धकी मराठी व्याख्याकी कुछ पंक्तियाँ हम यहाँ उद्धृत करते हैं, क्योंकि उनमें सुन्दर दृष्टान्तोंद्वारा इस प्रेमके विभिन्न रूपोंका विवेचन किया गया है—

जळ मत्स्यिणीते म्हणे गोड, मत्स्य सुखा अति अवघड ।
मकरंदें भ्रमर अति मूढ, न कळे उघड सुखस्वादु ॥
ज्ञान सांगती अति सुगम, भक्ति रहस्य गुह्य परम ।
मत्स्यिण उदके प्रेम, पैलें हें वर्म ठावेंसिना न कळे ॥
कृपण म्हणे धन गोड, तो धनीचें प्रेम जीवीं वाढे ।
तैसें माझें प्रेम पाढे, जो हृदयीं वाढे सर्वदा ॥
जैं वधू म्हणे संसारस्था पाडीं, स्वानंदें वाहती गोडी ।
तैसी माझ्या प्रेमाच्या गोडी, भक्तां गोडी जै होय ॥
जैसें धेनूचा चरणीं वोढके, तैसें माझ्या प्रेमाचें वोढके ।
चोरीं संपत्ति चक्रवके, स्वानंद मोडे चकोरटी ॥
सर्वदा आईची आवडी फार, जेवी तर्हेस देखी दुरून ।
तैसी माझा ध्यावया पुढें, त्यांचा जिव्हा बोलवी ॥

भक्तिकी दुर्लभता

(लेखक—[illegible])

श्रीरामचरितमानसमें भक्तिकी दुर्लभता बतलाते हुए माता पार्वतीने श्रीशंकर भगवान्‌से कहा—

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्म ब्रतधारी॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई। बिषय बिमुख बिराग रत होई॥
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई॥
ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ॥
तिन्ह सहस्र महुँ सब सुख खानी। दुर्लभ ब्रह्म लीन बिग्यानी॥
धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी॥
सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया॥

'हे त्रिपुरारि! सुनिये, हजारों मनुष्योंमें कोई एक धर्मव्रतका धारण करनेवाला होता है और करोड़ों धर्मात्माओंमें कोई एक विषयसे विमुख (विषयोंका त्यागी) और वैराग्य-परायण होता है। श्रुति कहती है कि करोड़ों विरक्तोंमें कोई एक सम्यक् (यथार्थ) ज्ञानको प्राप्त करता है और करोड़ों ज्ञानियोंमें कोई एक ही जीवन्मुक्त होता है। जगत्‌में कोई विरला ही ऐसा (जीवन्मुक्त) होगा। हजारों जीवन्मुक्तोंमें भी सब सुखोंकी खान, ब्रह्ममें लीन विज्ञानवान् पुरुष और भी दुर्लभ है। धर्मात्मा, वैराग्यवान्, ज्ञानी, जीवन्मुक्त और ब्रह्मलीन—इन सबमें भी हे देवाधिदेव महादेवजी! वह प्राणी अत्यन्त दुर्लभ है, जो मद-माया-रहित होकर रामभक्तिके परायण हो।'

तुलना करते हुए भगवान् श्रीरामने भी अपने मुखसे ही भक्तका स्थान और सभी प्रकारके मनुष्योंसे ऊँचा बतलाया है—

मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिधि प्रकारा॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी। तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहु तें अति प्रिय बिग्यानी॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥
भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

'यह सारा संसार मेरी मायासे उत्पन्न है। इसमें अनेकों प्रकारके चराचर जीव हैं। वे सभी मुझे प्रिय हैं, क्योंकि सभी मेरे उत्पन्न किये हुए हैं। इनमें मुझको मनुष्य सबसे अधिक अच्छे लगते हैं। उन मनुष्योंमें भी द्विज, द्विजोंमें भी वेदोंको धारण करनेवाले, उनमें भी वेदोक्त धर्मपर चलनेवाले, उनमें भी विरक्त (वैराग्यवान्) मुझे प्रिय हैं। वैराग्यवानोंमें फिर ज्ञानी और ज्ञानियोंसे भी अति प्रिय विज्ञानी हैं। विज्ञानियोंसे भी प्रिय मुझे अपना दास है, जिसे मेरी ही गति है, कोई दूसरी आशा नहीं है। मैं तुमसे बार-बार सत्य (सिद्धान्त) कहता हूँ कि मुझे अपने सेवकके समान प्रिय कोई भी नहीं है। भक्तिहीन ब्रह्मा ही क्यों न हों, वह मुझे सब जीवोंके समान ही प्रिय हैं। परंतु भक्तिमान् अत्यन्त नीच भी प्राणी मुझे प्राणोंके समान प्रिय है। यह मेरी घोषणा है।'

इन सभी बातोंसे सिद्ध होता है कि कर्मकाण्डी या ज्ञानी इत्यादिसे भगवान्‌को भक्तिमार्ग अवलम्बन करनेवाला जीव विशेष प्रिय होता है। अतः भक्तिका स्थान सबसे ऊँचा है। इसलिये यह दुर्लभ है।

काकभुशुण्डिजीको भक्तिका वरदान देते समय भगवान् रामने कहा था—

सब सुख खानि भगति तैं मागी। नहिं जग कोउ तोहि सम बड़भागी॥
जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं। जे जप जोग अनल तन दहहीं॥
रीझेउँ देखि तोरि चतुराई। मागेहु भगति मोहि अति भाई॥

'तुमने सब सुखोंकी खान भक्ति माँग ली। संसारमें तुम्हारे समान भाग्यवान् दूसरा कोई नहीं है। वे मुनि, जो जप और योगकी अग्निसे शरीर जलाते रहते हैं, करोड़ों यत्न करके भी जिसको (जिस भक्तिको) नहीं पाते, वही भक्ति तुमने माँगी है। तुम्हारी चतुरता देखकर मैं रीझ गया। यह चतुरता मुझे बहुत ही अच्छी लगी।'

यहाँ कहनेका यथार्थ भाव यह है कि भगवद्भक्ति मुनि-जनोंके लिये भी दुर्लभ है, साधारण जीवके विषयमें तो कहना ही क्या। इसके लिये दो साधनोंकी अत्यन्त आवश्यकता है। प्रथम अटल विश्वास और दूसरी रामकी कृपा। भगवान्‌में अटल विश्वासके लिये 'विश्वासके स्वरूप' शंकरजीकी आराधना, उनकी सेवा-भक्ति और उनका भजन करना चाहिये। क्योंकि—

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु॥

'बिना विश्वासके भक्ति नहीं होती, भक्तिके बिना श्रीरामजी द्रवित नहीं होते (ढरते नहीं) और श्रीरामजीकी कृपाके बिना जीव स्वप्नमें भी शान्ति नहीं पाता।'

और श्रीरामजीकी कृपा प्राप्त करनेके लिये पूज्यपाद श्रीगोस्वामीजीने अपने रामचरितमानसमें बतलाया है —

मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥

'अपनी चतुरता अर्थात् छल-कपट त्यागकर मन, वचन और कर्मसे भजन करनेपर श्रीरामचन्द्रजी कृपा करते हैं।'

भक्ति प्राप्त करनेके लिये श्रीरामकी कृपा प्राप्त कर लेना अत्यावश्यक है। यह अनुभव प्राप्त करनेपर काकभुशुण्डिजीने कहा है—

राम कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई॥
जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगेस जल कै चिकनाई॥

'हे पक्षिराज! सुनिये, श्रीरामजीकी कृपा बिना उनकी प्रभुता नहीं जानी जाती। प्रभुता जाने बिना उनमें विश्वास नहीं जमता, विश्वासके बिना प्रीति नहीं होती और प्रीति बिना भक्ति वैसे ही दृढ़ नहीं होती, जैसे हे पक्षिराज! जलकी चिकनाई नहीं ठहरती।'

भक्ति मुनियोंके लिये भी परम दुर्लभ होनेपर भी श्रीरामकी कृपासे सुलभ हो जाती है, अतएव श्रीरामकृपा-प्राप्तिके लिये भजन करना चाहिये और रामकृपा प्राप्त करके दुर्लभ भक्ति प्राप्त करनी चाहिये। यह भक्ति जिसने भी प्राप्त कर ली, वही मानव-जीवन तथा धन्य हो गया।

पतित और पतित-पावन

[एक झाँकी]

(रचयिता—श्री 'सिय भिखारी')

मानससे मुक्ता चुन-चुनकर
  चरण गूँथने अभिनव हार।
क्या उनको स्वीकार न होगा?
  यह मेरा लघुतम उपहार॥

माँ! झाँकी कर लो, स्वर्णिम यह
  फैल रही आभा भूपर।
पुष्पक आकर्षीकी गोदीमें
  बैठे विहँस रहे रघुवर॥

यह आता है कौन अजाता!
  क्यों अपनेमें सिकुड़ रहा!
दूर-दूर ही खड़ा हुआ क्यों
  प्रभु-चरणोंको ताक रहा॥

यह निषाद है! जिसकी छाया-
  तक छू जानेपर ये लोग।
छींटे लेते हैं, पर देखो!
  है कैसा सुखकर संयोग!

उसी अपावन-सी कायाको
  प्रभुने अपने हृदय लगाकर।
पावन किया अपावनको यों
  जगसे सारा भेद मिटाकर॥

जिसने पतित पतंगोंको यों
  पावन करके पार लगाया!
उस करुणाके बलपर ही यह
  पतित पावन राम कहाया॥

वसुधाके कण-कणमें अङ्कित
  "रघुपति राघव राजा राम"!
दिग् दिगन्तमें गूँज रहा है
  पतित-पावन सीताराम!

भक्तिका मनोविज्ञान

(लेखक—श्रीगुणवन्तसिंहजी कोठी एम्० ए०, बार-एट-लॉ, विद्या-वारिधि)

भारतकी संस्कृतिके विकास और उत्कर्षमें भक्तिका भाग श्रेष्ठ है। हमारे साहित्य, संगीत एवं विविध कलाओंपर भक्ति-रसकी अमिट छाप है। हमारी मातृभूमिके मनोहर मन्दिर, महान् मेले तथा विशाल स्तूप-स्तम्भ भक्तिकी भव्यताके प्रकार स्वरूप हैं। श्रीमद्भागवतमें स्वयं भगवान्को 'भक्त-भक्तिमान्' एवं 'भक्त-पराधीन' बतलाया गया है। सीताकी व्यथासे व्याकुल हुए महाकवि भवभूति अपने 'उत्तर-रामचरित'-नाटकमें 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्' कहकर करुण-रसके अन्तर्गत शृङ्गारादि अन्य आठों रसोंका समावेश करते हैं। मनोविज्ञान भक्तिको रस-राशि सिद्ध करता है। भक्ति-रसका यह विश्लेषण और विवेचन ही इस लघु लेखका लक्ष्य है।

भक्ति मनकी एक वृत्ति या भाव है। श्रीशंकराचार्य अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य (२।४।६)में लिखते हैं—'मनस्त्वेकमनेकवृत्तिकम्' अर्थात् मनकी अनेक वृत्तियाँ हैं। मनोविज्ञान मनकी मुख्य वृत्तियाँ तीन मानता है—(१) ज्ञान, (२) भावना और (३) क्रिया। इन तीनोंमेंसे प्रत्येककी पुनः अनेक शाखाएँ हैं। इस वृत्तित्रयीकी विशेषता यह है कि कोई भी मानसिक अवस्था हो, उसमें तीनोंका अविच्छिन्न साहचर्य रहता है तथा किसी एककी प्रधानता रहती है। जैसे राज्यमें प्रधानमन्त्रीके साथ अन्य मन्त्री सहयोगसे कार्य करते हैं, वैसे ही एक वृत्तिके प्राधान्यमें अन्य दोनों वृत्तियाँ सामञ्जस्यपूर्वक व्यवहार करती हैं। उदाहरणके लिये जो पुरुष 'स्याम्सुन्दर' मीराँके भजन गाता है, उसकी वृत्तिमें प्रधानता तो भावनाकी होती है, पर उसे पदोंका बोध रहने तथा गानेके रूपमें शारीरिक चेष्टा होनेके कारण अन्य दोनों वृत्तियाँ गौण-रूपसे विद्यमान रहती हैं। फुटबॉल खेलते समय खिलाड़ीकी वृत्तिमें क्रियाकी मुख्यता रहती है, साथ ही गेंदको 'गोल'तक पहुँचा देनेके लक्ष्यका ज्ञान बराबर बना रहता है और सफल प्रयासमें आनन्द आता है एवं विफल कृतिसे दुःखका अनुभव होता है। इसी प्रकार 'गीता' पर किसी विद्वान्का व्याख्यान सुननेमें ज्ञान-वृत्तिकी प्रमुखता होती है, पर व्याख्यानपर ध्यान देने और उसके अवगमने और मिलनेमें अन्य दोनों वृत्तियाँ सतत सम्पर्क रखती हैं। सारांश, नियम यह है कि समष्टिरूपसे तीनों वृत्तियोंका व्यवहार प्रत्येक मानसिक व्यापारमें रहता है और व्यष्टिरूपसे किसी एक वृत्तिकी प्रमुखता होती है। प्रमुखताके अनुसार ही अनेक वृत्तियोंका वर्गीकरण तीनों मुख्य वृत्तियोंके अन्तर्गत किया जाता है। भक्तिमें भावनाका पलड़ा भारी होनेके कारण वह इसी मुख्य-वृत्तिके अन्तर्गत है।

भक्ति-तत्त्वको सम्यक्तया समझनेके लिये यह जान लेना आवश्यक है कि भावनाके अन्तर्गत कौन और कैसी वृत्तियाँ शाखाओंके रूपमें रहती हैं। समासतः ये वृत्तियाँ निम्न प्रकारसे विभक्त की जा सकती हैं:—

(१) देहात्मक, यथा—सर्दी गर्मी, भूख प्यास।

(२) आवेशात्मक यथा—भय-क्रोध।

(३) रसात्मक, यथा—प्रेम, श्रद्धा।

संस्कृत-व्याकरणके भ्वादिगणके धातुओंकी तरह भावनाकी वृत्तियोंकी संख्या अन्य दो मुख्य वृत्तियोंकी तुलनामें बहुत अधिक है। आवेशात्मक वृत्तियोंमें हर्ष, विषाद, भय, काम, क्रोध, लोभ, आशा, ईर्ष्या, घृणा, गर्व, दया, सहानुभूति, ममता इत्यादि सम्मिलित हैं। भले और बुरे कर्मोंके मूलमें इन्हीं भावनावेगोंकी प्रेरणा रहती है। अर्जुनके इस प्रश्नके उत्तरमें कि मनुष्य किसकी प्रेरणासे पाप करता है, श्रीकृष्ण-भगवान्ने कहा है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।

(गीता ३।३७)

आसुरी भावनाओंके कारण ही संसारमें अनेक समर हुए हैं और आगे भी होते रहेंगे। भावनावेगोंकी तुलना तूफानोंसे की जाती है। ये मनस्तापके साथ-साथ प्रचण्ड पवनके समान सारे शरीरको झकझोर डालते हैं। उदाहरणके लिये विकासवादके प्रतिपादक श्रीडार्विनने[1] भयके कारण जो लक्षण शरीरमें प्रकट होते हैं, उनका रोचक वर्णन (सारांशमें) इस प्रकार किया है—'आँखें और मुँह चौड़े हो जाते हैं और भौंहें उठ जाती हैं। हृदय तेजीसे धड़कने लगता है और बदनका वर्ण पीला हो जाता है। रोम खड़े हो जाते हैं और तन काँपने लगता है। मुख सूख जाता है और वाणी अस्पष्ट हो जाती है। साँस लेनेमें कठिनाई होती है। भयभीत पुरुष या तो

1. Charles Darwin: Expression of Emotions, pp. 306—309.

सहसा भाग जाता है या उसके पैर थिरकने लगते हैं।' प्रत्येक आवेगमें कुछ-न-कुछ अभिव्यक्ति होती है। भावावेशमें श्रीगौरांग महाप्रभु और श्रीरामकृष्ण परमहंस कभी हँसने लगते थे तो कभी रोने लगते थे। प्रभु-प्रेम-मतवाली मीराँकी भी यही दशा हो जाया करती थी। श्रीमद्भागवतमें स्वयं श्रीकृष्णने भक्तोंकी ऐसी दशाका वर्णन करते हुए उद्धवसे कहा है—

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
(११।१४।२४)

अर्थात् जिसकी वाणी गद्गद हो जाती है, हृदय पिघल जाता है, जो कभी रोता है तो कभी जोरसे हँसता है, कहीं निर्लज्ज होकर गाने लगता है तो कहीं नाचने लगता है—ऐसा मेरा भक्त संसारको पवित्र करता है। ऐसे लक्षणोंको साहित्यिक भाषामें 'अनुभाव' भी कहा जाता है।

प्रश्न उठता है कि भक्तिमान् पुरुषके शरीरमें उद्वेग-जन्य लक्षण क्यों प्रकट होते हैं। मनुष्य दुःखमें रोता है और सुखमें गाता है और नाचता है। इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये हमें भावनाके आवेगों (Emotions) और रसों (Sentiments) के अन्तरके गहन गह्वरमें डुबकी लगानी होगी—

जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।

आवेग या आवेश भावनाकी धार है। यह प्रकृतिका विधान है कि मनोमय कोशमें विकार होनेपर उसकी प्रतिक्रिया अन्नमय कोश या स्थूलशरीरमें लक्षणोंद्वारा प्रकट होती है; क्योंकि 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि।' प्रत्येक रसमें अनेक आवेग अव्यक्तरूपसे रहते हैं और अवसर आनेपर प्रकट होते हैं। प्रेम-रसमें परिस्थितिके अनुरूप कौन-कौनसे आवेगोंका प्रादुर्भाव होता है, यह उदाहरणोंद्वारा स्पष्ट किया जाता है। शकुन्तलाका लालन-पालन करनेसे पहले महर्षि कण्व 'मोह न माया, सुखमें माया' की कहावतको चरितार्थ करते थे। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटकके चतुर्थ अङ्कके 'श्लोकचतुष्टय' में कालिदासने महर्षिके मुखसे जो भाव व्यक्त कराये हैं, वे 'तनया-विश्लेष-दुःख' की अमर कहानी हैं। पहले श्लोकमें कण्वने कहा है—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्क
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्श
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौक
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्न
(४।६)

अर्थात् इस विचारमात्रसे कि शकुन्तला आज जायगी, मेरा हृदय विषादसे व्याप्त हो गया है, आँसू रोकनेके कारण कण्ठ अवरुद्ध हो गया है और चिन्तासे नेत्र जड (निश्चेष्ट) हो गये हैं। जब स्नेहके कारण वनवासी इतना विकल हो जाता है, तब पुत्रीके वियोगके दुःखोंसे गृहस्थियोंको व्यथा क्यों न होगी। भवभूतिने सीताके विरहसे व्याकुल रामके साथ-साथ पत्थरको रुला दि वज्रका भी दिल दहलाया है—

अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।
(उत्तररामचरित् १।२

भावनावेशमें रामके तनमें दुःखके जो लक्षण प्र होते हैं, उनका वर्णन भी कितना सरस है—

निरुद्धोऽप्यावेगः स्फुरदधरनासापुटतया
परेषामुन्नेयो भवति च भराध्मातहृदयः॥

अर्थात् आवेगको रोकनेपर भी अधर और नासिका कम्पनसे अन्य पुरुष अनुमान कर लेते हैं कि (इन हृदय अत्यन्त संतप्त है। जब श्रीकृष्ण-प्रेम-मग्न मीराँ वि वेदनासे दुःखी हो गयी, तब इलाजके लिये उनके पि जी मेड़ता (जोधपुर) से वैद्य लेकर मेवाड़ गये। उसने यह पद गाकर सुनाया—

हे री मैं तो प्रेम दिवानी, मेरो दरद न जाणै कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस बिध सोणा होय॥
गगन मँडल पर सेज पिया की, किस बिध मिलणा होय॥
घायल की गति घायल जाणै, की जिण लाई होय।
जौहरि की गति जौहरि जाणै, की जिन जौहर होय॥
दरद की मारी बन बन डोलूँ, बैद मिल्या नहिं कोय।
मीराँ की प्रभु पीर मिटै, जब बैद साँवलिया होय॥

उपर्युक्त अवतरणोंसे स्पष्ट है कि रसपोषणमें आवे लहरें क्या-क्या रूप दिखाती हैं।

सारांश यह है कि प्रियजनके मिलनसे हर्ष और उन वियोगमें विषाद, उनके सम्मान प्रशंसासे उन्माद और कारणसे निर्वेद, उनके उपकारके प्रति गर्व और अपकारके प्रति रोष तथा उनकी श्रीवृद्धिमें ईर्ष्या होनेकी सम्भा

[illegible]निकी आशङ्कासे भय इत्यादि आवेगोंकी अनुभूति होती है। प्रेम-रस इन आवेगोंका सतत स्रोत है, स्थायी भाव है और आवेग अनुभाव हैं, जो प्रियजनकी परिस्थितिके अनुसार उठते-जाते रहते हैं। मनोविज्ञानके पण्डितप्रवर शैंड (Shand) रसको किसी व्यक्ति या वस्तुमें केन्द्रित आवेगात्मक प्रवृत्तियोंकी ग्रन्थि या पद्धति (System) मानते हैं। मनोविज्ञानका धुरन्धर विद्वान् मेकडूगल (McDougall) प्रत्येक आवेगका किसी-न-किसी सहजात प्रवृत्ति (Instinct) से घनिष्ठ सम्बन्ध मानता है। भयका आवेग तभी आता है, जब आत्मरक्षाकी नैसर्गिक प्रवृत्तिका प्रतिबन्ध प्रतीत होता है; इसीलिये प्राणी—नर या पशु—यन्त्रवत् व्यवहार करता है। अनेक महान् पुरुष, जो भावुक होते हैं, आवेगमें आकर [illegible] व्यवहार कर बैठते हैं। गीताका वास्तविक प्रारम्भ अर्जुनकी आवेगात्मक अवस्थासे ही होता है। उस समय वह महारथी वीर प्रियजनोंके प्रेमके कारण युद्धक्षेत्रकी सेनाओंके बीचमें अश्रुमोचन करता हुआ हथियार डालकर बैठ जाता है। भक्तिमें प्रेमकी प्रधानता होनेसे विविध आवेगोंका उत्थान होता है और भक्तके शारीरिक लक्षण उनकी पहचान हैं। जिस प्रकार 'साहित्य-दर्पण' में विश्वनाथने रसको काव्यकी आत्मा कहा है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' (१।१।१), उसी प्रकार प्रेम भक्तिका प्राण है। नारदने भक्तिको 'प्रेमरूपा' ही बतलाया है। नारदपाञ्चरात्रमें भी 'स्नेहो भक्तिरिति' कहा गया है।

भक्ति प्रेमरूपा होनेके साथ-साथ श्रद्धा विश्वासरूपिणी भी है। जहाँ भक्ति है, वहाँ प्रेम, श्रद्धा और विश्वास अवश्य विद्यमान रहते हैं। कहा है—'बिनु बिस्वास भगति नहिं।' अमरीकन मनोविज्ञानवेत्ता जेम्स[1] (James) ने विश्वासको 'वास्तविकताका भाव' (The sense of reality) बतलाया है। किसी बातमें विश्वास करनेका अर्थ यह होता है कि वह वस्तुतः विद्यमान है। संशय या संदेह और विश्वासका विरोध है। इस संसारके समस्त व्यवहारका आधार विश्वास है। इसीलिये गीताका वचन है—'नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।' (४।४०) अर्थात् संदेहशील पुरुषके लिये न यह लोक है न परलोक और न सुख ही है। भारतके यहाँ सभी आस्तिक दर्शनोंमें विश्वासके बलपर ही 'शब्द' को भी प्रमाण माना जाता है। विश्वासके आश्रयपर ही ग्रन्थ, समाचारपत्र, फिल्म, रेडियो और टेलिविजन आधुनिक जगत्में ज्ञान-प्रसारके सबल एवं सफल साधन बने हुए हैं। विश्वासमें कितना बल है—इसका ज्वलन्त उदाहरण यहूदियोंद्वारा पुनः पैलेस्टाइनमें निज राज्यकी प्राप्ति है। ई० पू० ५२७में ये लोग निष्कासित हुए थे, पर वे इस अटल विश्वासपर जीते रहे कि उनके सुदिन फिर आयेंगे और इनको पैतृकभूमिका राज्य मिलेगा।

श्रद्धाका आरम्भ विश्वाससे होता है, पर दोनोंमें भेद है। साधारणतया स्वामीका नौकरपर विश्वास होता है, पर उसपर श्रद्धा नहीं होती। जिस व्यक्तिमें नैतिक या आध्यात्मिक *उत्कृष्टता होती है, वह हमारी श्रद्धाका पात्र होता है।* जो नैतिक आदर्श हमारे मनमें अव्यक्त रहता है, वह हमारे श्रद्धेय पुरुषमें साकार होकर प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकारकी उत्कृष्टता (Superiority) पर विश्वास होते ही श्रद्धाका प्रादुर्भाव हो जाता है। एक आधुनिक उदाहरण लीजिये। श्रीनरेन्द्र, जो बादमें स्वामी विवेकानन्दके नामसे प्रसिद्ध हुए, श्रीरामकृष्ण परमहंसके पास आया-जाया करते थे। एक दिन पीनेको पानी माँगनेपर कोई वैष्णव महाशय चाँदीके गिलासमें जल लेकर परमहंसके सामने प्रस्तुत हुए। पर परमहंसने उसे अस्वीकार कर दिया। श्रीनरेन्द्रके एकान्तमें पूछनेपर उन्होंने कारण यह बतलाया कि वह पुरुष विषयलोलुप है। गुप्त खोज करनेपर सब यह बात सच निकली, तब उस अज्ञात पुरुषकी अन्तरात्माको आध्यात्मिक शक्तिद्वारा जान लेनेकी क्षमता श्रीरामकृष्णजीमें देखकर श्रीनरेन्द्रका आदर-भाव श्रद्धामें परिणत हो गया। इसी प्रकार विश्वरूप-दर्शनके पश्चात् श्रद्धासे आप्लावित होकर अर्जुन श्रीकृष्णसे प्रार्थना करते हैं—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि॥
(गीता ११।४१)

अर्थात् मित्र समझनेके कारण आपकी यह महिमा न जानकर भूलसे या प्रेमसे 'हे कृष्ण! हे यादव! हे सखा!' इस प्रकार परवश जो कुछ मैंने कहा है, उसके लिये मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ। केम्ब्रिजमें दर्शन शास्त्रके प्रोफेसर वार्ड[1] (Ward) का मत है कि विश्वासमें हमारा भाव

1. A. F. Shand: "Character of the Emotions".

2. William McDougall—"Social Psychology".

3. William James: "Principles of Psychology, Vol.II.

1. James Ward: 'Psychological Principles', p. 358

वास्तविक स्थिति (Objective situation) पर आधारित रहता है—बाह्य जगत्‌में जो पदार्थ है, उसकी ओर हमारा ध्यान जाता है। परंतु श्रद्धामें हमारा भाव आत्मनिष्ठ (Subjective attitude) होता है—आदर्शका विचार हमारे मनमें उठता है। पुनर्जन्ममें विश्वास रखनेका अर्थ है कि पुनर्जन्म इस संसारमें होता है। अमुक पुरुषमें हमारी श्रद्धा होनेका अर्थ है कि वह हमारे आदर्शका प्रतीक है अर्थात् हमारे भावके अनुसार जैसा वह होना चाहिये, वैसा हमें दीखता है। गीतामें श्रद्धाको 'मनमयपुरुष' मानती है और कहती है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
(१७।३)

अर्थात् सभी लोगोंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय होता है; इसलिये जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह स्वयं भी वैसा ही है। यूनानी पण्डित प्लेटो[1] (Plato) ने भावों (Ideas) को शाश्वत माना है और कहा है कि सत्यम् (Truth), शिवम् (Goodness) और सुन्दरम् (Beauty) के आदर्श भी शाश्वत हैं। ये हमारे अन्तःकरणमें ही निवास करते हैं।

विश्वास और श्रद्धामें एक विशेष भेद यह है कि विश्वास एकाकी या निरपेक्ष वृत्ति है। परंतु श्रद्धाके अन्तर्गत अनेक वृत्तियोंका आवास है और वे परिस्थितिके अनुरूप व्यक्त होती रहती हैं। श्रद्धा प्रेमकी तरह रस मानी जाती है। उसमें आभार, आदर, भय, विस्मय और विनयकी भावनाएँ निहित हैं। जिन श्रद्धालु पुरुषोंको किसी महात्माकी संगतिका सौभाग्य प्राप्त है, उनका अनुभव है कि महात्मासे प्रश्न करते समय उन्हें भय होता है कि कोई अनुचित शब्द उनके मुखसे न निकल जाय। महात्माकी असाधारण शक्तिसे विस्मय के और उनके अनेक उपकारोंके स्मरणसे आभारके भाव उठते हैं। उनकी तुलनामें निज स्वगुणके विचारसे विनय उत्पन्न होती है और उनकी सौम्य मूर्ति देखकर हृदय आदरसे भर जाता है। इन सारी भावनाओंका केन्द्र महात्माका व्यक्तित्व होता है। अतएव मेकडूगलका[2] मत है कि श्रद्धाका व्यक्तित्वसे घनिष्ठ सम्बन्ध है और जो नैतिक आदर्श हमारे मनमें अव्यक्त रहता है, वह उस व्यक्तित्वमें प्रकट होता है। मैकडूगलने श्रद्धाको सर्वोत्कृष्ट धार्मिक भावना कहा है। भगवान् भी कहते हैं कि—

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।
(६।४७)

अर्थात् जो मुझे श्रद्धासे भजता है, वह मुझे अति मान्य है।

उपर्युक्त वैज्ञानिक विवेचन प्रतिपादित करता है कि भक्ति भावनाओंका रसायन है। भक्ति ही वह पुनीत संगम है जहाँ पावन प्रेम, अटल श्रद्धा और दृढ़ विश्वास सरिताओंका सुधा-सलिल आकर मिलता है। भक्तिकी महिमा अपार है।

भक्तिका प्रयोग दो अर्थोंमें होता है—(१) सामान्य और (२) विशेष। सामान्य अर्थके अन्तर्गत गुरुभक्ति, पितृभक्ति, स्वामिभक्ति, देशभक्ति इत्यादि हैं। भक्तिका विशेष अर्थ है परमेश्वरकी भक्ति। अतएव नारद-भक्ति-सूत्र (२) में कहा गया है—'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' अर्थात् परमात्माके प्रति परम प्रेम ही भक्तिका स्वरूप है। और शाण्डिल्य भक्ति सूत्र (कहता है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् भक्ति ईश्वरमें परम अनुरागका नाम है। भगवान्‌ने गीतामें अनेक बार कहा कि 'मेरी भक्ति अनन्य होनी चाहिये।' अनन्यभावसे ही 'भक्ति' होती है। जिस पुरुषकी भावनामें समस्त संसार है, उसके लिये सभी प्रकारकी भक्ति ईश्वरभक्तिमें हो जाती है। देशभक्तिके भगवद्भक्तिका प्रतीक हो जिससे पावन वातावरण उत्पन्न हो जाता है—इसका उदाहरण महात्मा गांधीकी भारत भक्ति थी। इसी मानते हुए महामना श्रीमालवीयजीने आगरा विश्वविद्यालयके दीक्षान्त समारोहके अभिभाषणमें देशके लिये ईश्वर-भक्तिको अनिवार्य बतलाया था। उनकी राय समय भारतको चरित्रवान् पुरुषोंकी परम आवश्यकता है और चरित्र निर्माणमें परमात्माकी भक्ति बहुत जरूरी है।

भौतिकवादके वर्तमान युगमें भक्तिके महत्त्व विज्ञान विशारदोंने जो भाव प्रकट किये हैं, उनका उल्लेख करके यह लेख समाप्त किया जाता है। उनमें डॉ. कैरेल[1] (Dr. Carrel) हैं। चिकित्सामें मौलिक अनुसंधानके लिये उन्हें सन् १९१२ में नोबल पुरस्कार (Nobel Prize) प्राप्त करनेका सम्मान मिला। फ्रांसके लियोंस (Lyons) नगर विश्वविद्यालयमें

1. Plato 'Republic'.
2. S. H. Mellone 'Elements of Psychology', pp. 250-251.

1. Dr. Alexis Carrel 'Man the Unknown' pp. 141—143.

हुए थे। प्रभु-प्रार्थनासे असाध्य रोग मिट सकते हैं—इसकी वैज्ञानिक खोज उन्होंने सन् १९०२ में आरम्भ की। जिस लूर (Lourdes) तीर्थका नाम हमारे केन्द्रीय विधमन्त्री श्रीकृष्णमाचारीने 'व्यय-कर'के प्रसङ्गमें कुछ दिनों पूर्व लोक-सभामें लिया था, उस तीर्थमें जाकर डा० कैरलका एक रोगी, जो राजयक्ष्मा (Tuberculosis) की असाध्य एवं मरणासन्न अवस्थाको सन् १९११ में पहुँच चुका था, सहसा पूर्ण स्वस्थ होकर घर लौटा, तब उन्होंने इस आध्यात्मिक चमत्कारकी चर्चा विश्वविद्यालयमें कर डाली। इसपर उनके विरुद्ध वैज्ञानिक मण्डलोंमें प्रबल आन्दोलन उठा, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें अपना पद-त्याग करना पड़ा। सौभाग्यसे सन् १९०५ में उन्हें न्यूयार्क (अमरीका) की चिकित्सा-खोजकी रॉकफेलर संस्था (Rockfeller Institute) में उच्चपद प्राप्त हुआ और वहाँ वे तीस वर्षतक कार्य करके विश्व-विख्यात हो गये। वे आजन्म अन्वेषण और अनुशीलनके पश्चात् इस निश्चयपर पहुँचे हैं कि प्रभु-प्रार्थना (Prayer) की शक्ति संसारकी सबसे बड़ी शक्ति है।

ईश्वर-भक्ति और प्रार्थनाके विषयमें डा० कैरलने निज ग्रन्थमें जो विचार प्रकट किये हैं, वे प्रत्येक साधक और दार्शनिकके लिये मनन करने योग्य हैं। मनुष्यको अपने आपको भगवान्‌के समर्पण कर देना चाहिये। प्रार्थना तपस्याके तुल्य है। प्रार्थनामें प्रार्थीको तल्लीन हो जाना चाहिये और प्रभुके समक्ष उसकी स्थिति वैसी ही होनी चाहिये, जैसी स्थिति पटकी चित्रकारके सामने होती है। अनेक वर्षोंके परीक्षणके पश्चात् उन्होंने अपने अनुभवसे लिखा है कि 'प्रार्थनाके ही प्रभावसे कोढ़, कैन्सर, यक्ष्मा इत्यादि रोगोंके असाध्य बीमार कुछ मिनटोंमें ही पूर्ण स्वस्थ होते हुए देखे गये हैं। इस प्रकारकी आध्यात्मिक क्रियासे विलक्षण मानसिक और शारीरिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं। हमारे शास्त्रका यह वचन कितना सार्थक है—

> अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात्‌ ।
> नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्‌ ॥
> (गरुडपुराण)

'अच्युत, अनन्त, गोविन्द—इन नामोंके उच्चारणरूप औषधसे सब प्रकारके रोगोंका नाश होता है—यह मैं सत्य-सत्य कहता हूँ।'

अन्तिम अध्यायमें डा० कैरलने मानवके नव-निर्माणके लिये बतलाया है कि संसारके सर्वोदयके लिये हमारा ध्यान जड पदार्थों और मशीनोंसे हटकर मनुष्यकी आत्माकी ओर आकृष्ट होना आवश्यक है, अन्यथा हमारी सभ्यताका नृशंस भौतिकवाद मानवताको मिटाकर नर-यन्त्रोंकी सृष्टि रच देगा। इस वैज्ञानिक युगमें मनुष्योंका स्थान यन्त्र ले रहे हैं—यथा 'गणित-यन्त्र' और 'अनुवाद-यन्त्र', और साम्यवादी देशोंमें 'मनुष्य-यन्त्र' बनते जा रहे हैं।

भक्तिमें अमोघ शक्ति है। नारद-भक्ति-सूत्र (४१) में कहा गया है, 'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्' अर्थात् भगवान् और भक्तमें भेदका अभाव हो जाता है। संत श्रीविनोबा भावेका कथन है कि 'मनमें राम, मुखमें नाम, हाथमें काम' हमारे जीवनको कृतार्थ करता है। भगवान्‌ने यही उपदेश गीतामें दिया है—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।' (गीता १८। ४६) अर्थात् निज कर्माचरणसे मनुष्य भगवान्‌की पूजा करके सिद्धि पाता है। अतएव भक्ति-रससे सींची हुई देश-भक्तिकी सफलता आश्चर्यजनक होती है। ऐसे देश-भक्तोंके लिये भगवान्‌ने आश्वासन दिया है—'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्‌।' (गीता ९। २२) अर्थात् उन नित्य युक्तमें ही रत रहनेवालोंके योग-क्षेमका भार मैं उठाता हूँ।

मृत्युके प्रवाहको रोकनेका उपाय

श्रीकुन्तीजी कहती हैं—

> शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।
> त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्‌ ॥
> (श्रीमद्भा० १।८।३६)

'भक्तजन बार-बार आपके चरित्रका श्रवण, गान, कीर्तन एवं स्मरण करके आनन्दित होते रहते हैं। वे ही अविलम्ब आपके उस चरण-कमलका दर्शन कर पाते हैं, जो जन्म-मृत्युके प्रवाहको सदाके लिये रोक देता है।'

भक्तिका मनोवैज्ञानिक स्रोत

(लेखक—श्रीकृष्णबहादुर सिनहा, एम्० ए०, एल-एल० बी०)

भक्ति हमारे जीवनका प्राण है। जिस प्रकार पौधेका पोषण जल तथा वायुके आधारपर ही होता है, उसी प्रकार हमारा हृदय भक्तिके द्वारा ही बलवान् और सुखी होता है।

भक्तिको दूसरे रूपमें विश्वास (Belief) कह सकते हैं। मनोवैज्ञानिक ढंगसे देखा जाय तो भक्तिके विचार हमारे हृदयरूपी रिक्त श्यामपट्ट (Blank Slate) पर मौलिक तथा आधारभूत चिह्न बनाते हैं, जिनपर हमारा भावी जीवन आधारित होता है। उदाहरणार्थ—यदि हमारे मनमें भक्तिका अङ्कुर स्फुटित हो चुका है तो हमको भक्ति-गीतोंसे अभिरुचि होगी, हमारी इच्छाएँ भगवान् राम या कृष्णमें केन्द्रित होंगी। इसके विपरीत यदि हमारे मनमें भक्तिका कोई भाव नहीं है तो हमें भक्तिकी बातें दारुण दुःखस्वरूप और भक्तोंकी कथा यमराजके दरबार-जैसी लगेगी।

समस्त धर्मग्रन्थोंका सार (Essence) भक्ति ही है। भक्तिके ही बीजारोपणके हेतु भागवत आदिकी विभिन्न कथाओं-का प्रचार एवं गङ्गा-यमुना, त्रिवेणी-सरयूका नित्य स्नान किया जाता है। मनोविज्ञान कहता है कि प्रत्येक छोटे-से-छोटे कार्यका, जिसे हम करते हैं, मानस-पटलपर अमिट प्रभाव पड़ता है। गङ्गा-स्नान करनेसे मनमें गङ्गाजी या ईश्वरके प्रति भक्तिका भाव अङ्कुरित होता है। भगवान् शंकरके शिवलिङ्गपर गङ्गाजल, बेलपत्र, पुष्पादि अर्पित करने-से भक्तिकी भावना बलवती होती है।

भक्तिका स्रोत मनुष्यकी परिस्थितियोंके प्रभावसे प्रस्फुटित होता है। मनुष्य अपनी परिस्थितियोंका ही दास होता है। एक उच्चकुलमें उत्पन्न बालक प्रायः सुशिक्षित एवं सुशील होता है। वह अपने कुलकी मर्यादाकी रक्षाके हेतु बड़े-से-बड़े कार्य कर सकता है। परंतु जो धर्महीन है, वह अर्थ प्राप्तिके साधनोंका दास है, उसे धर्मका अभाव सदा ही खटकता रहेगा। महात्माओंके निवासों, मन्दिरोंके पुजारियों-के संसर्ग, तीर्थस्थलोंके निवासों, धर्मात्माओंके संसर्ग तथा सज्जनोंकी संगति प्रायः धार्मिक भावनाओंसे ओतप्रोत होती है। क्योंकि चरित्र-निर्माणमें वंश-परम्परा (Heredity) का पर्याप्त प्रतिशत उत्तरदायित्व होता है। भक्तोंके वंशज भक्ति-प्रधान होते हैं और दुर्जनोंकी संतानें दुष्ट, चोर, डाकू, चरित्रहीन ही होती हैं।

भक्तिकी भावनाओंको चरम सीमातक पहुँचानेके लिये स्वाध्याय करना चाहिये। स्वाध्याय धर्मका निचोड़ (सार) है। स्वाध्यायके बिना कोई धार्मिक नहीं बन सकता। स्वाध्याय-का अर्थ है—सद्ग्रन्थोंका विचारपूर्वक अध्ययन तथा मनन करना। प्रतिदिन पाँच मिनट मौन रहकर, कम-से-कम पाँच मिनट किसी धार्मिक ग्रन्थका स्वाध्याय करना श्रेयस्कर है। कोई सत्कर्म करना हो, नित्यप्रति करना चाहिये। इससे चरित्र-निर्माणमें सहायता मिलती है। मनोविज्ञानका सिद्धान्त है— जो कार्य बार-बार किया जाता है, वह आगे चलकर अपने-आप स्वतः भी होने लगता है। स्वतः होनेको ही स्वभाव (Habit) बन जाना कहते हैं। अश्लील विचार भी स्वतः उत्पन्न होते देखे जाते हैं। यदि कोई किसी युवतीको बार-बार देखता है और प्रभावित होता है तो बार-बार उसको देखने-का ही प्रयत्न करेगा। कुछ दिनों बाद उसका स्वभाव बन जायगा उस युवतीको बार-बार घूरनेका। फिर आगे उसका रूप उसके मस्तिष्कमें नाचेगा और स्वप्नमें दर्शन भी हो सकता है। यदि उस युवतीका प्राप्त करना सुगम है तो वह उसे प्राप्त करनेका प्रत्येक सम्भव प्रयत्न भी करेगा। यही बात साधु-महात्मा, भगवद्भक्त पुरुषोंके तथा भगवद्-विग्रहादिको देखनेसे उनके सम्बन्धमें होती है। यह है भक्ति-का मनोविज्ञान।

भक्तिकी भावनाओंका आगमन हमारे अंदर अङ्कुरित भाव होते हैं। ये भाव हमारे मनमें परिस्थितियोंसे जाग्रत् करते हैं। कुछ परिस्थितियाँ स्वाभाविक होती हैं, कुछ कृत्रिम होती हैं। उन कृत्रिम परिस्थितियोंको परिवर्तन कर सकते हैं। हमको चाहिये कि हम सत्संग करें। सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करें। इनके समान उत्तेजक या सुधारक नहीं। अतः स्वाध्याय और सत्संग ही हमारी भक्तिकी भावनाके स्रोत हैं।

भक्ति

(लेखक—श्रीसुन्दरजी लालजी गाराई)

पैगम्बर महम्मद साहबने एक जगह कहा है—

'प्रार्थना धर्मका स्तम्भ है, स्वर्ग-प्राप्तिके लिये सुलभ मार्ग है और मोक्ष-मन्दिरके द्वारको खोल देनेवाली कुंजी चाबी है।'

जब-जब इस पृथ्वीपर हम किन्हीं अद्भुत, अवर्णनीय, विचित्र और समझमें न आ सकनेवाले पदार्थोंको देखते हैं और उन्हें सूक्ष्म दृष्टिसे देखते हैं, तब-तब हमको सहज ही भान होता है कि अपनेसे कोई महान् दैवी सत्ता इस जगत् और जगत्‌के पदार्थोंपर शासन करती हुई विकसित हो रही है और ऐसा होते ही स्वाभाविक मानवी दृष्टिसे उसकी विभूतियोंके प्रति सिर अवनत हो जाता है। जिस प्रकार नदियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति समुद्रमें जाकर मिलनेकी होती है, उसी प्रकार हम सूक्ष्मदृष्टिसे देखते हैं तो जान पड़ता है कि इस जगत्‌के यावन्मात्र प्राणी और पदार्थ इसी स्वाभाविक प्रवृत्तिसे प्रेरित होकर पाप-पुण्य करते हुए अपने मन्द-तीव्र विकासकी गतिके अनुसार ज्ञात या अज्ञात-रूपसे अपने लक्ष्य-बिन्दुको ही प्राप्त करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। इसी नियमका अनुसरण करके इस अद्भुत रचनाके विषयमें विचार करने, इसके रहस्यको जानने तथा इसके अपूर्व नियम और बुद्धिमत्ताको समझनेके लिये मनुष्यका अन्तःकरण प्रेमसे भरपूर होकर, जिज्ञासु बनकर अनेक प्रकारके प्रयत्न करने लगता है। जिन प्रयत्नोंमें पहले प्रेमके साथ-साथ कुछ अंशोंमें भय मिला हुआ जान पड़ता है, वही प्रेम, वही जिज्ञासा और वे ही प्रयत्न भक्तिके ढाँचेको तैयार करनेवाले धुँधले अङ्ग हैं। जब वे अपने पूर्ण स्वरूपको प्राप्त होते हैं, तब हम उसको 'भक्ति' कहते हैं।

भक्ति और ज्ञान—ये कुछ एक-दूसरेसे नितान्त पृथक् विषय नहीं हैं, अपितु ये एक ही शृङ्खलाकी अलग-अलग कड़ियाँ हैं। जब ये अलग-अलग होते हैं, तब उनको हम कड़ियाँ कहकर पुकारते हैं, परंतु उनके एकत्र होते ही 'कड़ियाँ' शब्द छोड़कर उसको हम 'शृङ्खला' शब्दसे पुकारने लगते हैं।

जो अनन्य भक्ति है, वही अभेद-ज्ञान है। जो परम भक्त है, वही पूर्ण ज्ञानी है। जिस प्रकार ज्ञानीको जब ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर उसकी भेदभावना दूर हो जाती है और वह इस जगत्‌के किसी भी पदार्थको ब्रह्मसे अलग नहीं मानता अर्थात् सब कुछ ब्रह्ममय देखता है, उसी प्रकार भक्त अपनी भक्तिमें लीन होकर ईश्वरके सिवा और कुछ नहीं देख सकता। जड-चैतन्य कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जिसमें उसको ईश्वरके स्वरूपकी प्रतीति न होती हो। इसी कारण प्रभु-भक्तिमें लीन सुदामाने भगवान् श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये जाते समय जंगलमें मिलनेवाले रीछ और बाघ-जैसे हिंसक पशुओंको भी श्रीकृष्णमय देखा था।

हम अपने स्वरूपमें स्थित हों, यही ज्ञानकी अन्तिम सीमा है, जिसके लिये वेदका महावाक्य 'तत्त्वमसि' प्रमाण-स्वरूप है। वह कहता है कि सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और सत्यका भी सत्य, सबके अन्तरात्मा तुम्हीं हो और अपने स्वरूपका इस प्रकारसे अनुभव होना ही ज्ञानकी पराकाष्ठा है और यही वेद और धर्मका अन्त है।

एक ओर ज्ञानीको इस प्रकार अनुभव होता है और दूसरी ओर भक्त अपनी भक्तिमें लीन होकर ज्ञानीको प्राप्त हुई वस्तुओंका स्वयं स्वानुभव करता है, अर्थात् दोनोंका अन्तिम हेतु भेद-भाव मिटाकर एक ही लक्ष्य-बिन्दुमें तद्रूप होना ही होता है। इसलिये जो सच्चा भक्त है, वही सच्चा ज्ञानी है, वही सच्चा योगी है। दूसरे शब्दोंमें कहें तो ऊपर कहे अनुसार भक्ति मूल स्थानपर पहुँचानेवाली शृङ्खलाकी मुख्य कड़ी अथवा ऐसी कड़ी है, जो दूसरी अनेकों कड़ियों-को अपने साथ गूँथकर लक्ष्य-बिन्दुको प्राप्त करानेवाली शृङ्खलाका स्वरूप धारण करती है। यही एक अति सुलभ साधन है, जिसके बिना ज्ञानयोगकी प्राप्ति असम्भव ही कही जा सकती है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने इसी बातका प्रतिपादन करते हुए श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनसे कहा है—

> तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
> ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
> तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
> नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

'इस प्रकार सदैव मेरे स्वरूपमें मिल जानेके लिये तत्पर तथा प्रीतिपूर्वक मुझको भजनेवाले जो साधक हैं, उनको मैं जिस बुद्धिके योगसे प्राप्त हो सकता हूँ, वैसा बुद्धियोग प्रदान

करता हूँ। उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये ही उनके अन्तःकरणमें स्थित होकर सुप्रकाशित ज्ञान-दीपके योगसे उनके अज्ञान-जन्य अन्धकारका मैं नाश करता हूँ।'

भक्ति एक ऐसा सरल और अत्युत्तम विषय है, जिसमें शुद्ध भावना और श्रद्धाके सिवा दूसरे किसी भी तर्क-वितर्क अथवा प्रमाणकी आवश्यकता नहीं रहती। जैसे सूर्य स्वयं प्रकाशमान होकर अपने प्रकाशको प्रकट करनेके लिये किसी दूसरी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखता, उसी प्रकार भक्ति एक ऐसा विषय है, जो स्वयं प्रमाणरूप है, जिसके लिये किसी दूसरे प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती।

जबतक मनुष्य अहंता और अहंकारसे मुक्त नहीं होता, प्रभुके साथ ऐक्य-सम्पादन करनेमें प्रयत्नशील नहीं होता, तबतक उसकी भक्ति शून्याकार ही होती है। परंतु जब उसमें सच्चा प्रेम उत्पन्न होता है और तीव्र इच्छा उसको पूर्णरूपसे जगा देती है, तब इस उत्तम योगका प्रारम्भ होता है, जो अन्तमें उसके अधिकारके अनुसार उत्तम, मध्यम या कनिष्ठ फलकी प्राप्ति कराता है।

जब अहंकार-वृत्तिसे उत्पन्न होनेवाले सारे विकार, वचन और कर्म उस महान् शक्तिके प्रति पूज्यभावमें तथा शुद्ध प्रेममें तन्मय बन जाते हैं और क्रमशः शुद्ध होते जाते हैं, तब वह महान् शक्तिप्रेरक हो रही है—ऐसा भान होने लगता है और यह स्थिति निरन्तर बनी रहे तो अन्तमें वासनाओंसे निर्मित अज्ञानरूपी अन्तरपट दूर होकर अन्तरात्माका ज्ञान हो जाता है और वही हमारा सच्चा स्वरूप होनेके कारण उसकी ओर हम स्वाभाविक ही आकर्षित हो जाते हैं।

भक्ति चाहे जिस प्रकारसे शुरू हुई हो, होना चाहिये उसे उच्च भावनासे सराबोर। नीच, तुच्छ तथा हलके हेतुओंको इस उत्तम विषयमें कहीं भी स्थान नहीं मिलना चाहिये। ऐसा होनेपर ही हम प्रभुमय होने तथा उसके प्रेम-पात्र बननेके योग्य हो सकेंगे।

भक्ति इतनी अधिक शुद्ध और खरी होनी चाहिये कि उसका हेतु केवल प्रभु-स्वरूपका उच्च अनुभव करके प्रभुमय बन जानेके सिवा और कुछ न हो। तभी उससे उत्तमोत्तम परिणाम प्राप्त हो सकेगा; क्योंकि भक्तिका जितना उच्च हेतु होगा, फल भी उतना ही उच्च ... प्रभु अपने भक्तकी भावना, प्रेम और हेतुके ... तदनुकूल फल प्रदान करते हैं। इसीसे सिद्ध होता है कि ... भक्तकी भावनाके अनुसार सगुण अथवा निर्गुण हो सकते हैं; क्योंकि यदि प्रभु केवल निर्गुण ही हों, उनसे हम ... सकें, उनके साथ बोल न सकें—ऐसे हों तो ... प्रत्यक्ष-प्रत्युत्तर मिलना असम्भव ही कहा जाय।

भक्ति एक अत्युत्तम मार्ग है। इस मार्गमें भक्त ... अपनी इच्छाके अनुसार प्रभुके सगुण स्वरूपकी ... सकते हैं। यहाँ प्रभुके निर्गुण स्वरूपको ही माननेवाले ... सगुणरूपको न माननेवालेके लिये मीरा, नरसिंह, ... प्रह्लाद और ध्रुव आदि समर्थ भक्तोंका दृष्टान्त ही ... है। बल्कि यह एक ऐसा उत्तम साधन है, जो ... प्रभुभावमें, दूसरे बहुत-से साधनोंकी अपेक्षा ... बदल देता है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भक्तोंकी ... शङ्काका समाधान करके ...

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

'मुझमें चित्त स्थिर करके नित्य-युक्त होकर ... श्रद्धासे मुझको भजते हैं, वे ही भक्तियोगको उत्तम ... जानते हैं—ऐसा मेरा मत है।'

भक्तिमें एक और सर्वोत्तम गुण है सर्वात्मभाव ... करनेका, और उसीके सहारे हम सरलतासे गुणातीत होते हैं। फिर जैसे-जैसे हम अपने मार्गमें आगे बढ़ेंगे, वैसे-वैसे मार्गमें आनेवाली सारी कठिनाइयाँ स्वभावतः दूर हो जायँगी। क्या यह इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है कि ... हमारी पूर्ण या अपूर्ण भक्तिकी अपेक्षा न करके हमारा ... करनेके लिये ही प्रत्युत्तर प्रदान करते हैं। अर्जुनको ... पूर्ण विश्वास दिलाते हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

'तुम मुझमें ही मन लगाओ तथा मुझमें ही बुद्धि स्थिर करो। ऐसी चेष्टा करनेपर तुम मुझमें ही निवास करोगे, इसमें कोई संशय नहीं है।'

इस ... प्रकारके मनुष्योंके लिये भक्तिमें नाना ... हो सकती है; परंतु उनमें प्रत्येकका हेतु ... तो एक प्रभुके दर्शनसे पूर्ण होकर प्रभुमय ... चाहिये। तभी वह उत्तम

कही जा सकेगी, तभी वह अनेक योगोंमें एक उत्तम गिना जायगा।

हम भी इस प्रकारके उत्तम योगको अनुभवमें लाकर के उत्तम फलको प्राप्त कर सकते हैं। परंतु इसके लिये, जैसा कि ऊपर अनेकों बार कहा जा चुका है, अपनी भक्ति-भावना अति शुद्ध तथा उच्च भावोंसे ही प्रेरित होनी चाहिये। तभी हम अति उच्च और उत्तम परिणाम प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकते हैं।

कदाचित् मैं भक्त बन पाता !

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

बात है कोई बीस-बाईस साल पुरानी। सुना कि अमुक तिषी सच्ची भविष्यवाणी करता है, यहाँतक कि मृत्युकी तारीख भी बतला देता है। मैंने भी कुछ प्रश्न उसके भेज दिये। मेरा एक प्रश्न यह भी था कि 'जीवनमें कभी भक्त बन सकूँगा क्या ?'

उत्तरमें उसने लिखा था—'भजन-पूजन, भक्तिभाव दिका विचार तो बहुत होता है, किंतु सधता नहीं। न-पूजन आदि शुभ कर्मोंमें विघ्न-बाधाएँ अधिक उपस्थित आती हैं, जिससे चित्तमें खेद भी होता है। तथापि आपके ग्रहचक्रका झुकाव अध्यात्मविद्या, आत्मज्ञान, वेदान्त, कर्म, ईश्वर-पूजा, उपासना आदि परमार्थकी ओर अधिक । भविष्यमें तथे ईश्वरभक्त बन जानेकी शुभ-सूचना ………।'

× × ×

ज्योतिषीके और कई उत्तर तो समयके कुछ थोड़े हेर-के साथ सही उतरे, पर यह 'शुभ-सूचना' अभीतक ी नहीं उतर पायी। ऊहापोहकी जो स्थिति आजसे बीस साल पहले थी, वही आज भी है। भक्त बननेकी च्छा तो बहुत होती है, पर भक्त बन कहाँ पाया ! वही है—

दिल तो चलता है, मगर टट्टू नहीं चलता !

× × ×

जहाँतक मैं सोच पाया हूँ, इसका कारण यही समझता हूँ कि मैंने सच्चे दिलसे कभी भक्त बननेकी चेष्टा की ही नहीं, जानके कभी इसके लिये प्रयत्न किया ही नहीं। पानीमें डूबते समय, गोता खाते समय प्राण बचानेके लिये जैसी छटपटाहट होती है, प्रभुको पानेके लिये पलभरको भी तो वैसी छटपटाहट मुझमें पैदा हुई नहीं। फिर मैं अपने उद्देश्यमें सफल होता भी तो कैसे। भक्त बनता भी तो कैसे।

केवल Wishful thinking से काम चलता है कहीं !

मन लाड़ुओंसे कि भूख बुझाई !

× × ×

और फिर, जाना है मुझे दिल्ली, बैठा हूँ कलकत्तेकी गाड़ीमें! बनना चाहता हूँ भक्त, काम करता हूँ अभक्तोंके ! तब मैं भक्त बनूँ भी तो कैसे।

रही कहीं है, रह कहीं, राहबर कहीं,
ऐसे भी कामयाब हुआ है सफर कहीं !

× × ×

भक्त बननेकी राह भला, किसीसे छिपी है ! अनादि-कालसे हमारे धर्मग्रन्थ, हमारे साधु-संत उसे बताते चले आ रहे हैं।

यह लीजिये, नरसी भगत कह रहे हैं—

वैष्णव जन तो तेने कहीये, जे पीड पराई जाणे रे।
पर दुःखे उपकार करे, तोये मन अभिमान न आणे रे॥
सकळ लोकमाँ सहुने वंदे, निन्दा न करे केनी रे।
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन धन जननी तेनी रे॥
समदृष्टी ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री जेने मात रे।
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे॥
मोह माया व्यापे नहिं जेने, दृढ वैराग्य जेना मनमाँ रे।
राम नामशुं ताळी लागी, सकळ तीरथ तेना तनमाँ रे॥
वण लोभी ने कपटरहित छे, काम क्रोध निवार्या रे।
भणे 'नरसैयो' तेनुं दरशण करताँ, कुळ एकोतेर तार्या रे॥

वैष्णव वह है, जो—

परायी पीर समझता है,

पराये दुःखमें मदद करता है, पर उसका अहंकार नहीं करता,

सबकी वन्दना करता है,

निन्दा किसीकी नहीं करता,
मनसा, वाचा, कर्मणा स्थिर रहता है,
छोटे-बड़े सबमें समदृष्टि रखता है,
तृष्णाका त्याग कर देता है,
परस्त्रीको माताके समान मानता है,
कभी झूठ नहीं बोलता,
परायी कौड़ी नहीं छूता,
मोह-ममतासे निर्लिप्त रहता है,
दृढ़ वैराग्यवान् होता है,
रामनाम हर समय जपता रहता है,
निर्लोभी रहता है,
कपटसे दूर रहता है,
काम और क्रोधको मार भगाता है।

× × ×

गीतामें भक्तकी राह बतायी गयी है बारहवें अध्यायमें। एक दिन मैं उसे खोजने लगा तो उसमें भक्तके ४०, ४१ लक्षण मिले। ये १३वें श्लोकसे २०वें श्लोकतक बताये गये हैं।

भक्तके इन लक्षणोंको मैंने यों समेटा—

अहिंसा

वह किसी प्राणीसे द्वेष नहीं करता।
सबका मित्र होता है।
सबपर दया करता है।
अपराधीको क्षमा करता है।
उससे लोगोंको उद्वेग नहीं होता।
उद्वेगोंसे वह मुक्त रहता है।
वह तटस्थ रहता है।

आसक्तित्याग

किसी पदार्थमें उसका ममत्व नहीं रहता।
उसमें किसी बातका अहंकार नहीं रहता।
किसीके कुछ भी करनेपर वह उद्विग्न नहीं होता।
दूसरेकी उन्नतिसे उसे संताप नहीं होता।
इच्छाओंसे वह शून्य रहता है।
दुःखोंसे वह मुक्त रहता है।
संकल्पमात्रका वह त्याग कर देता है।
वह आश्रमोंके पुछ नहीं बाँधता।
वह शुभ-अशुभ दोनोंका त्याग करता है।
संसारमें उसकी कोई आसक्ति नहीं रहती।
किसी स्थान या घरकी उसे ममता नहीं होती।

स्थितप्रज्ञता

वह सुख-दुःखमें समान रहता है।
जो मिले, उसीमें संतुष्ट रहता है।
हर्षमें वह फूलता नहीं।
किसीसे वह डरता नहीं।
किसीसे कभी द्वेष नहीं करता।
किसी बातका सोच नहीं करता।
शत्रु-मित्रमें समभाव रखता है।
मान-अपमानमें समभाव रखता है।
गर्मी-सर्दी उसके लिये बराबर हैं।
सुख-दुःख उसके लिये एक-जैसे हैं।
निन्दा-स्तुति उसके लिये बराबर हैं।
उसकी बुद्धि सदा स्थिर रहती है।

योगयुक्तता

वह योगयुक्त रहता है।
इन्द्रियनिग्रही होता है।
दृढ़ निश्चयवाला होता है।
पवित्र होता है।
दक्ष और सतत सावधान रहता है।
मौनी, मननशील होता है।

भगवत्परायणता

मन और बुद्धि भगवान्को अर्पित कर देता है।
श्रद्धापूर्वक भक्ति करता है।
भगवत्परायण होता है।

भक्तके लक्षणोंका यह विभाजन अन्तिम नहीं है। इसमें पुनरुक्ति तो है ही, एक श्रेणीका लक्षण दूसरी श्रेणीमें भी आ सकता है। मूल बात इतनी ही है कि भक्तमें अहिंसा, आसक्तित्याग, स्थितप्रज्ञता, योगयुक्तता और भगवत्परायणता होनी ही चाहिये। बिना इन सब गुणोंके भक्त कैसा! तुलसीकी माला डाल लेनेसे, त्रिपुण्ड्र लगा लेनेसे, रामनाम ले लेनेसे ही कोई भक्त नहीं हो जाता।

जप माला छापा तिलक सरै न एको काम।

भक्त बननेके लिये तो सारा जीवन-क्रम ही बदलना पड़ेगा।

× × ×

अहिंसा तो भक्तमें कूट-कूटकर भरी होनी चाहिये। प्राणिमात्रके प्रति उसके हृदयमें प्रेमभाव होना चाहिये। वह न किसीसे द्वेष करे, न घृणा। प्रत्येक जीवकी सेवा और सहायताके लिये, दुखियोंका कष्ट दूर करनेके लिये वह सदैव तत्पर रहे। अपराधीके लिये भी, कष्ट देनेवालेके लिये भी उसके हृदयमें प्रेम होना चाहिये। उत्तेजना, क्रोध, घृणा, आदि विकार तो उसके पास भी न फटकने चाहिये। उसका रोम-रोम पुकारता हो—

कहूँ मैं दुश्मनी किससे, अगर दुश्मन भी हो अपना,
मुहब्बतने नहीं दिलमें जगह छोड़ी अदावत की!

× × ×

भक्तका हृदय प्रेम और दया, करुणा और उदारतासे लबालब भरा रहना चाहिये। उसके किसी कोनेमें भी हिंसाके लिये कोई गुंजाइश न हो। कैसी भी स्थितिमें वह उत्तेजित न हो। न तो वह किसीपर कभी क्रोध करे न किसीको कभी सताये। उसके मुखसे कभी किसीके लिये भी कटु, कठोर या अप्रिय शब्द न निकले। किसीपर भी उसकी भौंहें टेढ़ी न हों। अपकारीके प्रति भी वह उपकार करे। विरोधी, अन्यायी और अत्याचारीके लिये भी उसके हृदयमें क्षमा होनी चाहिये, स्नेह होना चाहिये।

× × ×

भक्तमें लौकिक या पारलौकिक किसी भी वस्तुकी आकांक्षा नहीं रहनी चाहिये। किसी भी पदार्थ, स्थिति, व्यक्ति, भाव, स्थान, पदके प्रति आसक्ति या ममता न रहनी चाहिये। उसके चित्तमें कोई कामना न रहे। और जब कोई कामना ही नहीं, तब कैसा दुःख, कैसा शोक—

न ऊधोका लेना, न माधोका देना।

भक्तको हर्ष-शोक, सुख-दुःख, शीत-उष्ण, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वोंमें कभी विचलित न होना चाहिये। जब जैसी स्थितिमें पड़ जाय, सदा उसीमें संतोष माने, उसीसे लाभ उठाये। उसका मूलमन्त्र हो—

जाही बिधि राखै राम, ताही बिधि रहिये।

× × ×

और इस स्थितिको पानेके लिये भक्तको सदा योगयुक्त होना पड़ेगा। इन्द्रियोंको काबूमें रखना पड़ेगा। इसके लिये पक्का निश्चय करना होगा और सतत सावधानीसे साधना करनी होगी। अपनेपर हर घड़ी, हर क्षण, हर पल नियन्त्रण रखना होगा। पता नहीं कब, किस घड़ी पैर फिसल जाय। जरा चूके कि गये। इसलिये हर समय उसे मौन होकर, मननशील रहते हुए साधनामें प्रवृत्त होना पड़ेगा।

× × ×

पर मनुष्यके प्रयत्नकी भी तो सीमा है। अपने बलपर वह कहाँतक ऊँचा उठेगा। और फिर, इसमें उसके अहंकारके प्रबल होनेका भी तो अंदेशा है। इसलिये उसके भागका एकमात्र उपाय है—प्रभु-चरणारविन्दोंमें सर्वात्मभावसे आत्म-समर्पण। उसे तन, मन, बुद्धि—सब कुछ प्रभुको अर्पित कर देना होगा। सच्चे हृदयसे कहना होगा—

Take my life and let it be
Consecrated, Lord! to Thee.
Take my will & make it Thine,
It shall be no longer mine.
Take my heart, it is Thine own;
It shall be Thy Royal Throne.
Take my intellect and use
Every power as Thou shalt choose.
Take my self, and I will be
Ever, only, all for Thee.

मेरा जीवन तेरा,
मेरी इच्छा तेरी,
मेरा हृदय तेरा,
मेरी बुद्धि तेरी और—
और तब मैं भी तेरा।

'डूबनेका शौक हमको हो तो फिर क्या खौफ हो,
हम तेरे, किश्ती तेरी, साहिल तेरा, दरिया तेरा!'

× × ×

जब इन कसौटियोंपर अपनेको कसने बैठता हूँ, तब भीतरसे मेरा ही दिल मुझे कचोटने लगता है कि—

ऐ मन अभी कच्चा तू है,
और दुनियामें फँसे
हरिजन अभी कहाँ तू है।...*

× × ×

काश, मैं भक्त बन पाता!

* जिस धर्मदमें घूमता है तू, कभी तू भक्त बना कहाँ!

भक्ति और विपत्ति

(लेखक—श्रीमुकुन्दराय विजयशंकर पराशर्य)

वैष्णव-सम्प्रदायके सब नहीं, पर कोई-कोई अनुयायी ऐसा माने बैठे जान पड़ते हैं कि भक्त जब विपत्तिमें फँसता है, तब ईश्वरके नामस्मरणमात्रसे संकटमोचन भगवान् भक्तकी रक्षाके लिये दौड़ पड़ते हैं—

'मारी हुंडी स्वीकारो महाराज रे, शामळा गिरधारी ।'

—यह भक्त नरसिंह मेहताकी आर्थिक संकटमें की गयी पुकार हमारे लिये भी अनुकरणीय है—ऐसा वे मानते हैं और सच्चे दिलसे मानते हैं। भक्त होना मानो भीड़ पड़नेपर भगवान्को रक्षाके लिये बुलानेका उपाय है, इसी रूपमें वे भक्त और भगवान्के सम्बन्धको देखते हैं और अपनी विचार-सरणिके समर्थनमें ध्रुव, कुब्जा, जरासन्धके द्वारा कैद किये गये राजा लोग तथा सुदामा आदिके दृष्टान्त सामने रखते हैं।

भक्तवत्सल भगवान् अपने भक्तको चाहे जैसी स्थितिमें-से तारें और उबारें, इसमें कुछ भी अनुचित नहीं, आश्चर्यजनक नहीं, वरं यह स्वाभाविक है। परित्राणाय साधूनाम्—इस गीतावाक्यके अनुसार भक्तोंकी मुक्ति तथा रक्षाके लिये भगवान् स्वयं युग-युगमें अवतार लेते हैं। एकनिष्ठासे जो ईश्वरकी भक्तिमें लगे हुए हैं, ऐसे नित्ययुक्त भक्तोंका कष्ट हरनेमें भक्तवत्सल करुणानिधि ईश्वरकी महत्ता और तत्परता दोनों ही स्वीकार्य हैं।

परंतु भक्त अपनी ऐकान्तिक ईश्वरोपासना छोड़कर, पशु बनकर अपने सांसारिक व्यवहारमें संकट आनेपर भगवान्को कष्ट देनेके लिये प्रेरित हो और उसके औचित्यको स्वीकार करे, उसकी यह वृत्ति ठीक नहीं कही जायगी। समझना चाहिये कि ईश्वर-प्राप्तिके लिये आतुर मनुष्यके लिये भक्ति कर्म नहीं, वरं एक स्थिति है, अवस्था है। भक्ति एक गति (गम्य) है, साधन नहीं। भक्ति तादात्म्यके लिये प्रेरणा प्रदान करती है। श्रीमद्भागवतमें नृसिंह-भगवान्की स्तुति करते समय भक्त प्रह्लादने ठीक ही कहा है कि जो भक्त पशु बनकर अपने लौकिक प्रयोजनकी सिद्धिके लिये ईश्वरसे करुणाकी याचना करता है, वह भक्त नहीं—बल्कि स्वार्थी व्यापारी है। भक्ति सौदेकी वस्तु नहीं है, बल्कि स्वेच्छासे होनेवाले आत्मसमर्पणका चिह्न है।

उत्कण्ठा-युक्त हृदयकी भक्ति ईश्वरके साथ तादात्म्यके लिये प्रेरणा प्रदान करती है। दूसरी इच्छाएँ उस समय कम होने लगती हैं। उस समय भक्तके ऊपर विपत्ति अनेक क्षति होनेपर, ईश्वरप्राप्तिके लिये नहीं, परंतु सिर्फ सांसारिक साधन प्राप्तिके लिये भगवान्की आराधना भक्ति नहीं है, किंतु लौकिक दीनवृत्ति है। इससे सायुज्यके साथ विरोध खड़ा हो जाता है। और यह भक्त भगवान्के बीच एकरागतासे विमुख द्वैत तथा लोभ वैषम्य पैदा कर देता है। भक्तकी यहाँ (तादात्म्यकी दृष्टिसे) मर्यादा दीखती है, यह हीनपामरता है। भक्तिमार्गका अनुसरण करनेवालोंके लिये यह उचित नहीं।

भगवत्प्राप्ति या भक्तिके सिवा जिसने अन्य कामकी इच्छा की है, वही ठगा गया है। ध्रुव, प्रह्लाद, गोपियोंने केवल अनन्य भक्तिकी कामना की है। इन्होंने ईश्वर-स्मरण किया है, परंतु वह दुःखके प्रार्थनाके लिये नहीं। पशु बननेवाले गजेन्द्रने पानेके लिये ही भगवान्का स्मरण नहीं किया। ग्राहसे भी अधिक बाधक यह सांसारिक सुखकी इच्छा है जो जीवको ईश्वर-ज्ञानसे विमुख करती है। इस प्रकारके ज्ञानसे रहित जीवन बितानेकी इच्छा गजेन्द्रको नहीं थी। गजेन्द्रने तीनों कालसे अबाधित मुक्तिपदकी याचना की। यह तो गजेन्द्र था, परंतु मनुष्य-भक्त तो ईश्वरकी गति जाने और देखे हुए होते हैं। अतः ईश्वर जो स्थिति प्रदान करें, उसीमें वे रहनेके लिये तैयार रहते हैं। केवल उनकी अपेक्षा रहती है कि उनका मन ईश्वरकी भक्तिमें लीन रहे।

सांसारिक सुखद स्थितिकी अपेक्षा विपत्तिके समय मनुष्य हृदयको बहुत उत्कण्ठाके साथ ईश्वरकी ओर प्रेरित करता है। ईश्वर जिसको तारना चाहते हैं, उसको विरोध रूपी अग्निमें तपाकर शुद्ध और निर्मल बना लेते हैं। इस स्थितिको समझनेवाले भक्त कभी विपत्तिसे डरते नहीं, उसका स्वागत करते हैं। श्रीमद्भागवतमें माता कुन्ती श्रीकृष्णकी स्तुति करती हैं—

> विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो ।
> भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥
>
> (श्रीमद्भागवत १।८।२५)

हे जगद्गुरो! हमपर सदा सब जगह विपत्ति ही आया करे, जिससे जिनके दर्शनसे संसारका आवागमन बंद हो जाता है

है, ऐसी अपार महिमावाले आपका दर्शन हम पा सकें ।'

माता कुन्तीने यह प्रार्थना अपनी प्रथमावस्थाके सुखमय दिनोंमें नहीं की थी । पाण्डवोंके वनवासके बाद, कुरुक्षेत्रके युद्धमें उभयपक्षके सर्वनाशके बाद, पाण्डव-कुलके एकमात्र आधाररूप उत्तराके गर्भस्थको अश्वत्थामाके द्वारा हानि पहुँचानेके यत्नके बादकी यह प्रार्थना है । जीवनभर संकट-के-ऊपर संकट सहनेके बाद इस प्रकार ऐसी विपत्तिकी स्वेच्छापूर्वक प्रार्थना करते हुए ईश्वरकी अपार महिमाका गान करनेवाले भक्तहृदयमें परमात्मदर्शनकी कितनी उत्कट अभिलाषा होगी, साधारण मनुष्य तो इसकी केवल कल्पना ही कर सकता है ।

कहनेका तात्पर्य यह है कि विपत्ति और कष्ट भक्तोंके लिये नश्वर सांसारिक विषमता तथा ईश्वरकी शाश्वत परम-गहन महत्ताको प्रत्यक्ष प्रदर्शित करानेवाले प्रसङ्ग होते हैं । ऐसे प्रसङ्गोंमें सच्चे भक्तकी ईश्वरमें लगी हुई वृत्ति विशेष दृढ़ हो जाती है । विपत्तिको इष्टस्थिति समझकर आतुर भक्त उससे लाभ उठा लेता है । जागतिक दुःखानुभवरूपी विषम तरङ्गें भक्तकी जीवन-नौकाको ईश्वररूपी बंदरगाहकी ओर प्रेरित करती हैं, अतः वे वाञ्छनीय होती हैं । विपत्तिके अनुभव भक्त-हृदयको ईश्वरकी ओर ले जानेवाले वेगवान् वाहन हैं, वैकुण्ठवासी जगन्नाथको तुरंत मँगानेवाले तार-टेलीफोन नहीं हैं ।

भक्तिके विषयमें जिज्ञासु प्रायः यह प्रश्न उठाते हैं कि भक्ति सकाम होती है या निष्काम । इस प्रश्नके दो पहलू हैं । भक्ति सकाम होनी चाहिये या निष्काम ! यह भक्तकी आदर्श स्थिति दिखलाता है । दूसरा पहलू है—भक्ति कितनी और किस प्रकारकी होनी चाहिये ! यह पहलू भक्तिकी वस्तुस्थितिको जानना चाहता है ।

प्रश्नके समान ही उत्तरके भी दो पहलू हैं । वस्तुस्थितिको जाननेकी दृष्टिसे कह सकते हैं कि भक्ति सकाम और निष्काम दोनों प्रकारकी दृष्टिगोचर होती है तथा सकामसे निष्काममें परिणत होती हुई भी दीखती है । परंतु भक्तिके आदर्शकी दृष्टिसे विचार करें तो ऐसा जान पड़ता है कि भक्ति अपने विशिष्ट स्वरूपमें सकाम नहीं, निष्काम ही है । भक्ति किस प्रकारकी होनी चाहिये !—देवहूतिके इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीकपिलदेवजीने निष्काम भक्तिकी ही महिमाका वर्णन किया है—

> देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् ।
> सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ॥
> अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।
> जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥
> नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचि-
> न्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः ।
> (श्रीमद्भा० ३ । २५ । ३२—३४)

'विकाररहित—शुद्ध अन्तःकरणवाले मनुष्योंकी विषयोंको ग्रहण करनेवाली तथा केवल वेदोक्त कर्मोंमें ही तत्पर रहनेवाली इन्द्रियाँ जो सत्त्वमूर्ति श्रीहरिमें स्वाभाविकरूपसे वर्तती हैं, उसीको निष्काम भक्ति कहते हैं और यह भगवद्भक्ति मुक्तिसे भी श्रेष्ठ होनेके कारण, जैसे जठराग्नि खाये हुए अन्नको पचा देती है, वैसे ही लिङ्गशरीरको तत्काल नष्ट कर देती है । मेरी चरण-सेवामें ही आसक्त रहनेवाले तथा मेरे लिये ही सारी क्रियाओंको करनेवाले भक्त केवल मेरी भक्तिमें रत रहकर, मेरी सायुज्य मुक्तिकी भी इच्छा नहीं करते, फिर भला, सालोक्य-मुक्तिको ही क्यों चाहेंगे ।

औचित्य भी निष्काम भक्तिका ही हो सकता है और है—यह सिद्धान्त वैष्णव-सम्प्रदायके अनुयायियोंको सर्वथा मान्य है, सो ठीक ही है । भक्तकी सांसारिक तथा व्यावहारिक विपत्तिके समय प्रभु सहायक बनें, इसमें ईश्वरके लिये कोई अनुचित बात नहीं है । अपने भक्तकी दृष्टिसे भक्तके धर्म और भक्तके अन्तिम हितको देखना है । तब यही प्रश्न विचारणीय हो जाता है कि भक्तका अन्तिम ध्येय क्या होना चाहिये ।

सामान्य जडबुद्धि मनुष्यका ऐसा स्वभाव होता है कि जबतक वह अपने बल, सामर्थ्य, बुद्धि, अर्थ, समय, संयोग—सबको अपने वशमें रखनेका पूरा-पूरा यत्न करता हुआ अपने विरोधी तत्त्वोंको नहीं देखता, तबतक अहंकार और पुरुषार्थमें ही भरोसा रखनेवाला वह दैवाधीन जडबुद्धि मनुष्य पारलौकिक परशक्तिको स्वीकारतक नहीं करता । ऐसा मनुष्य जब अपने सभी प्रयत्नोंमें असफल होता है, जब उसके अहंकारको गहरी ठेस लगती है, तब वह किसी पारलौकिक शक्तिको स्वीकार करता है । और यदि उस शक्तिकी दयाके प्रभावमें उसकी श्रद्धा जमती है तो अपनी विपत्तिके समय वह उस पर-तत्त्वकी सहायता माँगता है । इस प्रकारका प्रसङ्ग आ पड़नेपर ईश्वरमें अश्रद्धा रखनेवाले मनुष्यमें भी सहसा भक्ति उत्पन्न हो जाती है । यह सकाम भक्ति है । परंतु 'भक्ति' है—यह बात ही यही है और इस प्रकारकी भक्तिका प्रादुर्भाव व्यर्थ ही ईश्वर-कृपा है । यह ठीक है, परंतु यहीं इसकी समाप्ति नहीं है । भक्तिका यहाँ पूर्ण विराम नहीं है; यहाँ भक्तिका उदय होता है, विकास और पूर्णता अभी शेष रहती है ।

पुनः गजेन्द्रका उदाहरण लीजिये। गजेन्द्र ग्राहके चंगुलसे मुक्त होनेके लिये स्वयं और पीछे स्वजनोंके सहित मिलकर भी हार गया। तब ग्राहसे छुटकारा पानेके लिये उसने श्रीहरिको स्मरण किया। परंतु प्रभुको स्मरण करनेके साथ ही उसके पूर्वजन्मके संस्कार जाग उठे। ऐहिक जीवनकी तथा सांसारिक सुखभोगकी सारी वृत्तियाँ कम हो गयीं। आत्ममग्न हो गया। आत्मा अमर है, फिर उसके लिये यहाँ क्या और अन्यत्र क्या ? परंतु आत्मापर मायाका आवरण तनिक भी नहीं होना चाहिये, ईश्वरके साथ प्रेममय—भक्तिमय तादात्म्यसे भिन्न कोई गति नहीं होनी चाहिये—यह भान होते ही गजेन्द्र प्रार्थना करता हुए कहने लगा—

> जिजीविषे नाहमिहामुया कि-
> मन्तर्बहिश्चावृतयेभयोन्या ।
> इच्छामि कालेन न यस्य विप्लव-
> स्तस्यात्मलोकावरणस्य मोक्षम् ॥
> (श्रीमद्भा० ८ । ३ । २५)

'इस ग्राहके चंगुलसे छूटकर मैं जीनेकी इच्छा नहीं करता; क्योंकि बाहर और भीतर—सब ओर अविवेक—अज्ञानसे व्याप्त इस गजदेहसे मुझे क्या लेना है। परंतु जिस अज्ञानसे आत्मरूप प्रकाश ढक गया है तथा (एक ज्ञानको छोड़कर) उम्र काल भी जिसका नाश नहीं कर सकता, मैं उस अज्ञानकी निवृत्ति चाहता हूँ।'

इसके बाद गजेन्द्रको मोक्ष-लाभ होता है; परंतु उस समय उसका गज-शरीर गिर जाता है। वह ईश्वरके पार्षदके रूपमें मुक्त हो जाता है। यह स्थिति है। दूसरी (सौतेली) माताके कहनेपर ध्रुव राज्यकी आकाङ्क्षासे तप करते हैं। परंतु तपके प्रभावसे ईश्वर-दर्शनके साथ ही उनकी सकामवृत्ति छूट जाती है और ध्रुव ईश्वरसे केवल भक्ति माँगते हैं, भक्तोंका सङ्ग माँगते हैं। श्रीमद्भागवतमें ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सकाम उपासना, भक्तिके प्रभावसे, सकाम न रहकर निष्काममें परिणत हो जाती है। सकाम भक्ति बुरी नहीं है। भक्तिका होना ही बड़े भाग्यकी बात है। सकाम भक्तिका भी औचित्य है; परंतु सकामसे विशिष्ट, विकसित, बलिष्ठ और उन्नत—ऐसी भक्ति तो निष्काम भक्ति है, जो सकाम भक्तिका परिपक्वरूप है—यही दिखलाना यहाँ उद्देश्य है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भक्तोंके चार प्रकार बतलाये गये हैं—

> आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
> (७।१६)

'आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चार प्रकारके भक्त होते हैं।' भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

> तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
> (गीता ७।१७)

> उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
> (७।१८)

'उन (चारों) में ज्ञानी भक्त, जो मुझमें नित्य जुड़ा है तथा अनन्य भक्तिसे मेरी उपासना करता है, श्रेष्ठ है।' यों कहकर भगवान् श्रीकृष्ण आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी इन तीनों प्रकारके भक्तोंको गौण बतलाते हुए नित्य अनन्य भक्तिवाले ज्ञानीको महत्त्व देते हैं। उपर्युक्त प्रकारके भक्तोंको यद्यपि हीन नहीं बतलाया, फिर भी उनका स्थान निष्काम ज्ञानी भक्तसे निम्नकोटिका है—यह बात स्पष्ट कर दी।

श्रीमद्भगवद्गीताके भक्तियोगनामक बारहवें अध्यायमें भक्तके लक्षणोंको देखना चाहिये। श्रीकृष्ण कहते हैं—

> श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
> ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥
> (१२।१२)

'अभ्याससे ज्ञान श्रेयस्कर है, ज्ञानसे ध्यान विशिष्ट है। ध्यानसे भी कर्मफलका त्याग विशेष महत्त्वका है, जिस त्यागके द्वारा परम शान्तिकी प्राप्ति होती है।'

यहाँ कर्मफलत्यागकी बात कही गयी है, इसमें सकाम उपासनामें रहनेवाली इच्छामात्र, स्पृहा या कामनाके सम्पूर्ण त्यागका भी समावेश समझना चाहिये। जो फल-त्यागपूर्वक कर्म करते हैं, वे फलानुसंधानका भी निषेध करते हैं, वे सकाम कामनाको क्योंकर छूट दे सकते हैं। भक्तके लक्षण दिखलाते हुए भगवद्गीतामें जो विशेषण दिये गये हैं, उन्हें देखनेसे भी यह बात स्पष्ट हो जायगी कि 'अनपेक्षः', 'उदासीनः', 'सर्वारम्भपरित्यागी', 'यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति', 'निर्ममः' इत्यादि जो प्रिय भक्तोंके लक्षण श्रीकृष्णने स्वयं अपने मुखारविन्दसे कहे हैं, वे सभी निष्काम भक्तके ही हैं, सकाम भक्तके नहीं; क्योंकि स्वयं पराकाष्ठाको पहुँचकर भक्तको आत्मकाम बना देती है और आत्मकाममें स्पृहा या कामना रह नहीं सकती। ऐसी ही ऊँची है। इस निष्काम भक्तके तो प्रभु स्वयं भक्त बने रहते हैं।

अविचल भक्ति

(लेखक—श्रीघासीरामजी माथुर 'विशारद')

प्रायः सभी भगवत्-प्रेमी, भक्त, साधु-संत, महात्मा और आचार्य यही चाहते हैं कि अपने सुहृद् परमकृपालु भगवान्‌में उनकी भक्ति अविचल हो—कभी विचलित अथवा डगमगान न होने पावे। वह सदा-सर्वदा अडिग रहे, अचल रहे, अक्षुण्ण रहे। अविच्छिन्न, अव्यभिचारिणी, अविरल, अभङ्ग और अखण्ड भी बनी रहे एवं नित्य-निरन्तर दृढ़से दृढ़तर होती जाय। अस्तु!

राजा द्रुपद गरुडध्वज श्रीहरिसे कहते हैं—

त्वयि भक्तिर्दृढा मेऽस्तु जन्मजन्मान्तरेष्वपि॥
कीटेषु पक्षिषु मृगेषु सरीसृपेषु
रक्षःपिशाचमनुजेष्वपि यत्र यत्र।
जातस्य मे भवतु केशव ते प्रसादात्
त्वय्येव भक्तिरचलाव्यभिचारिणी च॥

(पाण्डवगीता १२)

'प्रभो! जन्म-जन्मान्तरमें भी मेरी आपके चरणोंमें अविचल भक्ति सदा बनी रहे। मैं कीट-पतङ्ग, पशु-पक्षी, सर्प-अजगर, राक्षस-पिशाच या मनुष्य—किसी भी योनिमें जन्म लूँ, हे केशव! आपकी कृपासे आपमें मेरी सदा-सर्वदा अव्यभिचारिणी भक्ति बनी रहे।'

× × × ×

भक्तराज प्रह्लाद नृसिंहरूपधारी भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

(विष्णुपुराण १। २०। १८, १९)

'नाथ! सहस्रों योनियोंमेंसे जिस-जिसमें मैं जाऊँ, उसी-उसीमें हे अच्युत! आपके प्रति मेरी सदा-सर्वदा अक्षुण्ण भक्ति रहे। अविवेकी पुरुषोंकी विषयोंमें जैसी अविचल प्रीति होती है, वैसी ही प्रीति आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदयसे कभी दूर न हो।'

× × × ×

बालभक्त ध्रुवजी श्रीअनन्त भगवान्‌से निवेदन करते हैं—

'अनन्त परमात्मन्! मुझे तो आप उन विशुद्ध-हृदय महात्मा भक्तोंका सङ्ग दीजिये, जिनका आपमें अविच्छिन्न भक्ति-भाव हो।'

× × × ×

महर्षि अगस्त्यजी धनुर्धारी भगवान् रामसे वरदान माँगते हुए कहते हैं—

अबिरल भगति बिरति सतसंगा। चरन सरोरुह प्रीति अभंगा॥

हे प्रभु! मुझे प्रगाढ़ भक्ति, वैराग्य, सत्सङ्ग और आपके चरण-कमलोंमें अटूट प्रेम प्राप्त हो।

× × × ×

रसिककिसोरी मिटै ताप ना
बिन दृढ़ चिंतामनि उर धारें।

× × × ×

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी भी अपनी ईश-विनयमें कहते हैं—

श्रीवल्लभ पद कमल अमल में मेरी भक्ति दृढ़ाय॥

× × × ×

दृढ़ताका प्रमाणपत्र

यह तो हुई अविचल भक्तिके दो-चार प्रेमियों—भगवद्भक्तिपरायण पुरुषोंकी बात। अब सुनिये! भक्ता एवं धर्मपरायणा नारियोंमेंसे एककी अविचल भक्तिभावना!

भक्तिमती शबरीजीकी कुटियापर जब मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम पधारे, तब वे गद्गद होकर नाचने लगीं। सदा सत्य वचन बोलनेवाले भगवान् राम शबरीजीके छल छिद्र-हीन हृदयकी भक्तिमें ओतप्रोत देखकर बोले—

सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें।

ऐसा प्रशंसासूचक प्रमाण-पत्र पाकर भी क्या शबरीजीकी भक्तिमें विराम बिन्दु लग गया? कहीं प्रेमी अपने प्रेमास्पदको विस्मरण कर सकते हैं। जब वे स्तवार्पण कर चुकीं और भगवान्‌ने उनसे वरदान माँगनेके लिये कहा, तब वे कहती हैं—

यत् त्वां साक्षात् प्रपश्यामि [illegible]।
तथापि याचे भगवंस्त्वयि भक्तिर्दृढा मम॥

'मैं अत्यन्त नीच कुलमें जन्म लेनेपर भी आपका साक्षात् दर्शन कर रही हूँ, यह क्या साधारण अनुग्रहका फल है।

तथापि मैं यही चाहती हूँ कि आपमें मेरी दृढ़भक्ति सदा बनी रहे।'

भगवान्‌को हँसते हुए कहना पड़ा—'यही होगा'।

धन्य है! भक्तिके ऐसे दृढ़ प्रेमियोंके चरणोंमें कोटिशः प्रणाम!

दृढ़ताके साधन

भक्ति—हरिभक्ति, गुरुभक्ति, पितृभक्ति, मातृभक्ति, पतिभक्ति आदि क्या हैं? और किस प्रकार इनमें दृढ़ता आ सकती है? इन प्रश्नोंका उत्तर जिस सुन्दर, सुगम, सरल और सूक्ष्मरूपमें भक्तशिरोमणि पूज्य महात्मा श्रीतुलसीदासजीद्वारा विरचित श्रीरामचरितमानसमें मिल सकता है, वैसा अन्यत्र नहीं। भक्तिकी जो अनेक धाराएँ मानसमें प्रवाहित हो रही हैं, उन सबका यहाँ विवेचन करके लेखका कलेवर बढ़ाना प्रथम तो हमें अभीष्ट ही नहीं, दूसरे यह कि अन्य विषयोंकी चटोरी हमारी लेखनी भक्तिके नामसे कोसों दूर भागती है। हम तो केवल यही चाहते हैं कि हमें अपने अहैतुक दयालु भगवान्‌का ज्ञान हो जाय, उनसे हमारी जान-पहचान हो जाय और उनके चरणकमलोंमें प्रीति लग जाय। बस, फिर क्या! कल्याण हो गया।

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।

× × × ×

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और मायाके सम्बन्धमें अपने अनुज भ्राता लक्ष्मणजीद्वारा पूछे गये प्रश्नोंका उत्तर देते हुए भगवान् श्रीरामने थोड़ेमें बहुत कुछ बतलाया है कि किस प्रकार—

श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं।

परंतु इन सब झंझटोंमें पड़े कौन। अविरल भक्ति प्राप्त करनेके लिये हम तो 'विनयपत्रिकामें' जैसी रहनी श्रीतुलसीदासजी चाहते हैं, वैसी-ही रहनी स्वयं भी माँगते हैं—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ कृपालु कृपा तें संत सुभाव गहौंगो॥
जथालाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान सम सीतल मन पर गुन नहिं दोष कहौंगो॥
परिहरि देह जनित चिंता दुख सुख सम बुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरि भक्ति लहौंगो॥

'क्या मैं कभी इस रहनीसे रहूँगा? क्या कृपालु श्रीरघुनाथजीकी कृपासे कभी मैं संतोंका-सा स्वभाव ग्रहण करूँगा? अर्थात् जो कुछ मिल जाय, उसीमें संतुष्ट रहूँगा, किसीसे (मनुष्य या देवतासे) कुछ भी नहीं चाहूँगा। निरन्तर दूसरोंकी भलाई करनेमें ही लगा रहूँगा। मन, वचन और कर्मसे संयम-नियमोंका पालन करूँगा। कानोंसे अति कठोर और असह्य वचन सुनकर भी उससे उत्पन्न हुई (क्रोधकी) आगमें न जलूँगा। अभिमान छोड़कर सबमें समबुद्धि रहूँगा और मनको शान्त रखूँगा। दूसरोंकी निन्दा-स्तुति कुछ भी नहीं करूँगा। शरीरसम्बन्धी चिन्ताएँ छोड़कर सुख और दुःखको समानभावसे सहूँगा। हे नाथ! क्या तुलसीदास इस (उपर्युक्त) मार्गपर रहकर कभी 'अविचल हरि-भक्ति' को प्राप्त करेगा?'

यमराजका अपने दूतोंके प्रति आदेश

यमराज कहते हैं—

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान्॥
(श्रीमद्भा० ६ । ३ । २९)

'जिनकी जीभ भगवान्‌के गुणों और नामोंका उच्चारण नहीं करती, जिनका चित्त उनके चरणारविन्दोंका चिन्तन नहीं करता और जिनका सिर एक बार भी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें नहीं झुकता, उन भगवत्सेवाविमुख पापियोंको ही मेरे पास लाया करो।'

भक्तिके सम्बन्धमें कुछ वेतुकी आलोचनाएँ एवं उनका उत्तर

(लेखक—श्रीनारायणराम पुरुषोत्तम एम्० ए०)

नामस्मरण

कुछ लोगोंका कहना है कि 'भक्तिका स्थान मन है। केवल मुँहसे भगवान्‌के नामको जपनेमात्रसे न तो भक्तिका अन्तरमें अस्तित्व सूचित होता है और न भक्तिकी अभिवृद्धि ही होती है।' इस प्रकारकी भावना समीचीन नहीं। बड़े-बड़े पण्डितोंने कहा है कि मनके चञ्चल होनेपर भी यदि भगवान्‌का नाम मुँहसे जपने लगें तो यह भक्तिका प्रमाण और उसकी अभिवृद्धिका मार्ग है। इतना ही नहीं, यह बात शास्त्र और तर्कसे भी सिद्ध हो जाती है। हमें पहले तो यह याद रखना चाहिये कि जिन शब्दोंका उच्चारण मुँहके अंदर रहनेवाले जीभ आदि अवयवोंद्वारा होता है, यह उनका अपना काम नहीं वरं उसके पीछे इन शब्दोंके उच्चारण करनेकी प्रेरणा या मनका संकल्प काम करता है। अपने-आप होनेवाली शारीरिक चेष्टाओंके अन्तरात्मामें भी गुप्त-रूपसे मानसिक संकल्प रहता है—इस बातको आधुनिक मनःशास्त्री मानते हैं। इस शास्त्रने यह मान लिया है कि सोते समय, चलते समय, पलक मारते समय भी इन क्रियाओंके पीछे मानसिक प्रेरणा अवश्य रहती है। ऐसी परिस्थितिमें जब हम 'राम'-'राम' का उच्चारण करते हैं, तब भी समझना चाहिये कि मनके अंदर कहीं भगवान्‌का नाम उच्चारण करनेकी लालसा छिपी है। ऐसा हुए बिना अचानक आकस्मिक हवा फेफड़ोंसे बाहर नहीं आती। इस प्रकार माननेमें भी कि जितनी बार राम-नामका उच्चारण किया जाता है, उतनी ही बार रामके सामने मन काँपता है, कोई दोष नहीं है। मनकी एकाग्रताकी अभिवृद्धि होनेके साथ-साथ यह कम्पन प्रकट होता रहता है। व्याकुल हृदयसे नामका उच्चारण करते समय भी सूक्ष्मरूपसे यह कँपकँपी होती रहनेके कारण जब भगवान्‌के नामका जप होता है, तब अंदरकी भक्ति-भावनाको ऊपर उठकर आने और नये भक्ति-संस्कार पाने योग्य होनेका अवसर मिलता है। अतः सभी पण्डितोंने स्वीकार किया है कि भक्तिमें नामके उच्चारणका स्थान सर्वोपरि है।

मानव-सेवा

आजकल कुछ लोगोंका कहना है कि 'नाम जपना, तीर्थयात्रा करना, ध्यान करना भक्ति नहीं है। भक्ति है लोगोंकी सेवा करना और वही भगवान्‌की सेवा है।' यद्यपि अन्य बातोंकी तरह हमारे शास्त्र यह भी कहते हैं कि मानवके प्रति भी भगवद्भाव रखना आवश्यक है, फिर भी ये लोग तो भगवान्‌को मानवताके रूपमें देखते हुए ही कहते हैं कि मानवकी सेवा भगवान्‌की सेवाके समान है। इनकी दृष्टिमें भगवान् और मानवके स्थानमें कोई भेद नहीं है। ये मानवके सिवा भगवान्‌के अस्तित्वको मानते ही नहीं। कभी-कभी तो ये यह कहते हुए भी पाये जाते हैं कि 'भगवान् हैं ही नहीं।' पर 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' की घोषणा करनेवाले उपनिषद् कहते हैं कि 'एक मानव-सृष्टि ही नहीं वरं सारी सृष्टि मिलकर भी भगवान्‌के सामने अत्यन्त अल्प है। परमात्माकी व्याप्ति हमारी बुद्धिके परे है।' किंतु इन लोगोंको इन उपनिषदोंकी बातोंपर विश्वास नहीं है। यहाँतक कि इनके मतसे जिनको मानवकी सेवा करनेका अवकाश ही नहीं प्राप्त होता—ऐसे दीन-दुखी, लँगड़े-लूले, बहरे-अंधे आदि तो भगवान्‌की सेवा करनेके सभी अवसरोंसे वञ्चित हैं। इसी प्रकार निरन्तर ईश्वरके ध्यानमें मग्न रहनेवाले पवित्र मुनि, तपस्वी आदि भी, इनके मतसे, ईश्वरकी सेवासे दूर रहते हैं। ईश्वरकी वाणी ही वेद है। ऐसे वेदके विरुद्ध उलटा-सीधा कोई भी काम करनेका दुस्साहस नहीं करना चाहिये। परंतु ये लोग यह बहुत बड़ा असभ्य कार्य करते हैं, जो ईश्वरके आज्ञानुसार सत्कर्मोंमें लगे हुए सत्पुरुषोंकी भी मनमानी आलोचना करते हैं और उन्हें ईश्वरसेवासे विमुख बतलाते हैं। अतः यह कहनेमें अत्युक्ति नहीं होगी कि इनकी यह चेष्टा सर्वथा दोषयुक्त है।

सकाम-भक्ति

बहुत थोड़े लोग आत्माको जाननेकी इच्छासे या मोक्ष पानेकी लालसासे परमेश्वरका भजन करते हैं। निन्यानबे प्रतिशतसे अधिक भक्त तो ऐसे ही हैं, जो अपनी व्यावसंगत इच्छाओंकी पूर्ति—संतानकी प्राप्ति, रोगोंसे मुक्ति आदिके लिये ही भगवान्‌का स्मरण करते हैं। पर ऐसे भक्तोंकी कोई भी उन्नत श्रेणीके भक्त कभी निन्दा या अपहेलना नहीं करते; इन्हें भगवान्‌के शब्दोंमें सुकृती और उदार ही मानते हैं। केवल ये ही लोग, जो स्वयं मार्गोंके पूछनेका समय आनेपर भी भूलकर भी ईश्वरका स्मरण नहीं करते, बुद्धिके मिथ्याभिमानसे उपर्युक्त भक्तोंकी निन्दा करते

हुए उन्हें परिहासके साथ चेतावनी देते हैं कि 'ईश्वरसे व्यापार नहीं करना चाहिये। केवल नारियल समर्पण करनेसे वह तुम्हारा रोग दूर नहीं कर देगा। जो काम तुमलोग करते हो, वह व्यापार है न कि भक्ति।' भक्तमेव इतना तो अवश्य जानते हैं कि नास्तिकोंकी बातोंका कोई मूल्य नहीं है, परमात्मा श्रीकृष्णकी बातोंका ही अधिक मूल्य है। जब स्वयं भगवान् ही अपना भजन करनेवाले गरीबों, पीड़ितों और जिज्ञासुओंको 'उदार'की उपाधि देते हैं, तब ये नास्तिक उनको भक्त न कहें तो इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं।

भगवान् कहते हैं—

> चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
> आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
> उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
>
> (भगवद्गीता ७। १६, १८)

अच्छा स्वभाव या उत्तम चरित्र

इन लोगोंका यह भी एक आक्षेप है कि 'जब लोगोंमें यह भावना स्थिर हो जायगी कि भक्ति ही श्रेष्ठ है और भक्ति ही हमको भवसिन्धुसे पार देगी, तब लोग अच्छे स्वभाव तथा उच्च चरित्रकी अवहेलना करके भक्तिके भरोसे रहकर मार्गभ्रष्ट हो जायँगे। इससे, लोगोंकी पहले जो चरित्र बना था उसे भी ठेस लगेगी।'

वस्तुतः इस प्रकारका आक्षेप करनेवाले यह नहीं समझ रहे हैं कि भक्तिका मुख्य फल क्या है। भक्तिका परम फल है—भक्तके अन्तरात्माको शुद्ध कर देना। जिसपर ईश्वरकी कृपा होती है, वही पुरुष धर्म बुद्धिवाला समझा जाता है। ये भक्तिसे ईश्वरकी कृपा प्राप्त होती है। ये लोग भगवान् श्रीकृष्णके निम्नाङ्कित वचनपर ध्यान नहीं देते—

> अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
> ....
> क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
>
> (गीता ९। ३०, ३१)

—इन वाक्योंमें भगवान्‌ने यह स्पष्ट कहा है कि मेरी भक्ति करनेवाला मेरी प्राप्तिसे पहले निश्चय ही कर्मसंगर करनेवाला धर्मात्मा हो जायगा।' भगवान् अपने भक्तोंपर इतना उपकार तो निश्चित ही करते हैं कि वे उसे दुराचारसे दूर कर देते हैं। वह भगवान्‌की कृपासे तुरंत धर्मात्मा होकर शाश्वती शान्तिको पा जाता है। इससे यह सिद्ध है कि भक्ति उच्च चरित्रके निर्माणमें कोई बाधा नहीं डालती। भक्तिसे तुरंत पूर्ण तथा विशुद्ध निष्कलङ्क चरित्रकी प्राप्ति सहज ही हो जाती है।

सीनेमें समाने हेतु

(रचयिता—श्रीपृथ्वीसिंहजी चौहान 'प्रेमी')

लोक-लाज छोड़, दौड़-दौड़ हरि-मन्दिरको,
साधु-संग बैठनेको मजबूर हो गई।
निरख-निरख पूर नूर नन्दलालजीका,
सरक-सरक दुनियासे दूर हो गई॥
कौड़ी-मोल बेच अपनेको गिरधारी-हाथ,
दिव्य अनमोल हीरा कोहेनूर हो गई।
प्रेमी श्यामसुन्दरके सीनेमें समाने हेतु,
'मीराँ' मान-माघके पसीने-चूर हो गई॥

प्रेम-भक्ति

(लेखक—प्रभुपाद श्रीप्राणकिशोरजी गोस्वामी)

भक्त, भक्ति, भगवान् और गुरु—एक ही तत्त्वकी चतुर्धा स्थिति है। श्रीगुरुदेवकी कृपासे भक्त-सङ्गकी प्राप्ति होती है अथवा भक्तके सङ्गसे प्रेम-भक्ति प्रदान करनेवाले श्रीगुरुके चरणोंका आश्रय प्राप्त होता है। श्रीगुरुके चरणोंका आश्रय लेनेपर ही मर्मी साधकके सङ्ग-प्रभावसे भक्ति प्राप्त होती है। सुदुर्लभा, क्लेशघ्नी (क्लेशोंका नाश करनेवाली), शुभदा, मोक्षको भी लघुता प्रदान करनेवाली, ब्रह्मानन्दसे भी अधिक सुख देनेवाली एवं श्रीकृष्णको आकर्षित करनेवाली शुद्धा प्रेम-भक्तिके उदय होनेपर भक्तिके स्वरूप, भगवान्‌के स्वरूप तथा भक्तके स्वरूपका परिचय प्राप्त होता है। भक्ति किसे कहते हैं ? भक्ति किसकी करें ? भक्ति ही क्यों करें ? भक्ति कौन करे ? इन प्रश्नोंका समाधान होनेपर हृदय निरुपाधि प्रेमसे पूर्ण हो सकता है।

वेदान्त-विचारमें पहले सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजन और अधिकारी—इन चारोंका विचार किया जाता है। भक्तिके सम्बन्धमें भी सबमुख्य अनुबन्ध-चतुष्टयका जानना आवश्यक है। प्रथम है—सम्बन्ध-तत्त्व। भक्तिदेवीका निगूढ-तम सम्बन्ध श्रीभगवान्‌के साथ है। एक ही परतत्त्वका ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन पृथक् नामोंसे श्रुति-स्मृति-पुराणोंमें वर्णन किया गया है; तथापि इनकी अभिव्यक्ति-में तारतम्य ध्वनित होता है। निर्विशेषरूपमें स्फुरित होनेवाला परतत्त्व ब्रह्म विभु और अनन्त है। जीव-जगत्‌के भीतर चेतना-की धारा प्रवर्तित करनेवाला अन्तर्यामी परमात्मा चेतना प्रदान करनेवाली शक्ति या विशेषतासे युक्त है। परंतु भगवान् अनन्त-अचिन्त्य शक्तिसे युक्त परमतत्त्व हैं। साधारण बुद्धिसे निर्गुण ब्रह्म ही परम तत्त्वके रूपमें स्वीकृत होता है, यही लोकमें प्रसिद्ध है। सारे सद्गुणोंकी खान परमानन्द-विग्रहस्वरूप श्री-भगवान् ही निर्गुण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हैं—यह बात गीतामें स्पष्ट शब्दोंमें कही गयी है, तथापि उसकी विकृत व्याख्या होनेके कारण बहुधा लोग उस प्रसिद्ध वाक्यका तात्पर्य समझनेमें समर्थ नहीं होते। गीताका वह वचन इस प्रकार है—

> ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
> शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
> (१४।२७)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ।' 'प्रतिष्ठा' शब्दका अर्थ शंकराचार्य 'प्रतिमा' करते हैं। यह व्याख्या आदरणीय नहीं है; क्योंकि श्रीकृष्ण निराकार ब्रह्मकी प्रतिमा हैं—यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती। प्रकाशकी प्रतिमा सूर्य है, इस बातको कोई युक्तियुक्त नहीं कह सकता। अमृत, अव्यय, शाश्वत धर्म और एकान्त सुख—इनकी भी प्रतिमा नहीं हो सकती। श्रीधरस्वामी कहते हैं—

> ब्रह्मणोऽहं प्रतिष्ठा प्रतिमा घनीभूतं ब्रह्मैवाहं यथा घनीभूत-प्रकाश एव सूर्यमण्डलं तद्वदित्यर्थः ।

अतएव यही कहना ठीक है कि अमूर्त ब्रह्म है, घनीभूत परब्रह्म भगवान् हैं। भगवत्स्वरूपके सम्बन्धमें भक्तिके नेत्रोंसे जो देखा जाता है, हम धीरतापूर्वक उसीका विचार करने चलते हैं। भगवान् सत्-स्वरूप, चिन्मय तथा आनन्द-रस-घन मूर्ति हैं। अनन्त, अचिन्त्य, विचित्र शक्तियाँ उनकी स्वरूपभूता हैं। वे भेद-रहित होकर भी भेदवान् हैं, अरूप होकर भी रूपवान् हैं, विभु होनेपर भी उनकी मध्यमाकृति सत्य और नित्य है। मानव-मनके द्वारा परिकल्पित परस्परविरोधी अनन्त गुणोंके निधि श्रीभगवान् हैं। उनका स्थूल-सूक्ष्म आदि किसी विशेषण-के द्वारा निर्देश नहीं कर सकते। उनका श्रीविग्रह स्वप्रकाश, अखण्ड स्वरूप है। अनन्त एवं विग्रहवान् होकर भी प्रधानरूपमें वे एकविग्रह हैं, अपनी अनुरूपा स्वरूप-शक्तिके प्रकटरूप श्रीलक्ष्मीजीके द्वारा परिसेवित हैं। अपने प्रभा-विशेषका विस्तार करके वे आकार, परिच्छद (वस्त्र-शय्या), एवं परिकर (पार्षद आदि) के साथ अपने धाममें विराजमान रहते हैं। स्वरूप शक्तिके विलाससे अद्भुत गुण-लीला आदिके द्वारा आत्माराम मुनियोंके भी चित्तको आकर्षित करते हैं। उन्हींके सामान्य प्रकाश स्थानीय ब्रह्मतत्त्व है। जो अपनी तटस्था शक्तिके अनन्त चिन्मयरूप जीवोंके एकमात्र आश्रय हैं, जिनकी शक्तिके आभाससे विश्व-प्रपञ्च प्रकट होता है, वे ही पण्डितगणरचित पदावलीके द्वारा अभिव्यञ्जित भगवान् हैं। ऐश्वर्यभाव एवं माधुर्यभाव दो ही भावोंसे उनका अनुभव हो सकता है। उनकी समृद्धिकी बात उनके भक्तके मुखसे ही वर्णित है। जैसे—

> यत्पदाब्ज मधुपुम्मुखो योऽयमसौ भवान्स्वे
> सर्वेश्वरं किमपि निश्चयमर्पयत्यत नरामी ।
> सुधान्तस्य स्फुरति भवभिसंश्रितः मोदकारी-
> श्रीमः परमपुरुषमन ते धाम विराजते ॥

भागवतकी कथा हो रही है, ऐसे समयमें मुझको प्रसन्नतापूर्वक तक्षक डँसता है तो डँस ले, मेरा चित्त इससे विचलित नहीं होगा।' भक्तलोग वाणीके द्वारा भगवान्‌का स्तवन करते हैं, देहद्वारा उनको नमस्कार करते हैं, मनद्वारा सर्वदा उनका स्मरण करते हैं। इससे भी उनकी सम्यक् तृप्ति नहीं होती, इसी-से वे नेत्रोंके जलसे हृदयको आप्लावितकर अपना सारा जीवन श्रीहरिके चरणोंमें समर्पण कर देते हैं। राजर्षि भरतके विषय-वैराग्यकी कथा चिरकालसे प्रसिद्ध है। उन्होंने परमपुरुषोत्तम श्रीभगवान्‌की महिमाके प्रति लालसान्वित होकर अपने जीवनके भोगकालमें ही दुस्त्यज स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव तथा राज्यको तुच्छ समझकर त्याग दिया। राजा भगीरथ राजाओंके मुकुट-मणि होनेपर भी अभिमानशून्य हो गये, जिससे उनके हृदयमें श्रीहरि-भक्तिका प्रादुर्भाव हुआ। वे शत्रुके राज्यमें भी निरभिमान होकर भिक्षा माँगते और अतिहीन जनको भी अभिवादन करते। भगवान्‌को पानेकी दृढ़ आशाका नाम ही 'आशाबन्ध' है। 'हे गोपीजनवल्लभ! मुझमें प्रेम रंचमात्र भी नहीं है। साधन, ध्यान, धारणा, ज्ञान, पवित्रता—कुछ भी मुझमें नहीं है; तथापि तुम दीनोंके प्रति अधिक दयालु हो—यह सोचकर तुम्हारी प्राप्तिकी जो मुझे आशा होती है, वही मुझे कष्ट दे रही है। हाय! पद्मनाभो—मैं क्या करूँ! कहाँ तुमको पाऊँ!' इस प्रकार प्यारे प्रभुको पानेका जो गुरुतर लोभ है, वही 'समुत्कण्ठा' कहलाता है। श्रीस्वगुरु कहते हैं—'जिनके कृष्णवर्णकी दोनों भृकुटियाँ थोड़ी टेढ़ी हुई हैं, बरुनी बड़ी-बड़ी और घनी हैं, दोनों नेत्र अनुरागीके दर्शनके लिये चञ्चल हो रहे हैं, मधुर और कोमल वाणी है, अधरामृत कुछ-कुछ लाल है, जिनकी वंशीध्वनिका माधुर्य मनको मतवाला कर देता है, उन भुवनमोहन व्रजकिशोरको देखनेके लिये मेरे नेत्र लोलुप हो रहे हैं। हे गोविन्द! आज बाला राधिका अपने कमल-सदृश नेत्रोंसे अश्रु-वर्षण करती हुई मधुरतर कण्ठसे तुम्हारी नामावली-का गान कर रही है।' इस वर्णनसे यह समझमें आ जाता है कि 'नामगानमें सदा रुचि' किस प्रकार होती है। श्रीकृष्णके मन्मथ-मन्मथ किशोर रूपकी बात सुनकर उस परमसुन्दरके गुण-वर्णनमें किसकी आसक्ति न होगी! वृद्ध व्रजवासी-गण जब लीला-स्थली दिखलाकर कहते हैं कि यहाँ गोविन्द-गोपालने ऐसी लीलाएँ की थीं, तब उनकी यह बात सुनकर भक्तिमान् व्यक्तिकी व्रजमें वास करनेकी प्रबल आसक्ति होती है। इसीसे देखनेमें आता है कि पशुतुल्य गुणवान् पुरुष दूसरी जगहका वास परित्याग करके व्रजवास

करते हैं। साधक, सिद्ध एवं नित्यसिद्ध परिकरोंमें ये सारे गुण पूर्ण, पूर्णतर एवं पूर्णतमरूपमें अभिव्यक्त होते हैं।

भगवान्‌की स्वरूप-शक्ति संवित्-सार शुद्धसत्त्वविशेषात्मिका ह्लादिनीमयी चित्तवृत्ति ही भाव है। भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषा, उनकी सेवाकी अभिलाषा तथा भगवान्‌के सौहार्द-लाभकी अभिलाषासे यह भाव-भक्ति-प्रेम—सूर्यकी किरणोंके समान उदय होकर चित्तको मसृण कर देती है। चित्त जब सम्यक्‌रूपसे मसृण (कोमल) हो जाता है, तब परम आनन्दके उत्कर्षसे घनीभूत भाव ही प्रेम कहलाता है।

> सम्यङ्‌मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
> भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥
>
> (भक्तिरसामृतसिन्धु १।४।१ से उद्धृत)

भावदशामें मसृणताकी बात सम्यक्‌रूपसे कही नहीं जा सकती। किंतु प्रेममें मसृणता तथा ममत्व बोध पूर्णरूपसे प्रकट होता है।

भक्तके मनके अनुसार भावोदयमें तारतम्य होता है। गरिष्ठ मन स्वर्ण-पिण्डके समान तथा लघिष्ठ मन तूल (रूई) के समान होता है। वायुके झोंकेकी तरह अल्प भाव भी रूईके समान हल्के मनको आन्दोलित कर देता है, परंतु स्वर्ण-पिण्डके समान भारी मनको चञ्चल नहीं कर सकता। गम्भीर चित्त समुद्रके समान और गाम्भीर्यरहित मन क्षुद्र जलाशयके समान होता है। भाव महापर्वतके समान समुद्रको क्षुब्ध नहीं कर सकता, परंतु क्षुद्र जलाशयमें क्षोभ उत्पन्न कर सकता है। महिष्ठ चित्त नगरके समान है और क्षोदिष्ठ चित्त झोंपड़ीके समान होता है। इन दो प्रकारके चित्तोंमें भाव प्रदीप या हस्तीके समान रहता है। नगरमें जगमगाता हुआ प्रदीप किसीकी दृष्टिको आकर्षित नहीं करता, अथवा हाथी प्रवेश करनेपर भी लक्षका विषय नहीं बनता। परंतु कुटीरका प्रदीप सबको आकर्षित करता है और हस्ती प्रवेश करते ही सारा घर गिर पड़ जाता है। कर्कश चित्त वज्र, स्वर्ण और लाहके समान है तथा भाव अग्निके समान। वज्रतुल्य साधक हृदय भावाग्निसे कोमल नहीं होता। स्वर्णतुल्य चित्त अग्निके निकट जानेसे द्रवित होकर गल जाता है। परंतु लाहकी तो बात ही न्यारी है। वह तो उससे सहज भी पिघल जाता है। स्वभावतः कोमल चित्तकी मधु, नवनीत और अमृतके साथ तुलना कर सकते हैं। सूर्यकी तरहकी तरह भाव थोड़े ही तापसे मधु एवं नवनीतके समान हृदयको विगलित कर देता है। श्रीकृष्णके प्रियतम भक्तका चित्त अमृततुल्य है, यह सब समय स्निग्ध रहता हुआ भी सहसा बाहर प्रकट नहीं होता।

प्रेम अथवा निर्मल निविड भाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी भावोंके संयोगसे श्रीकृष्ण रतिमें चमत्कार आता है। स्थायीभाव ही भक्तिरसका मूल उपादान है। जो अविरुद्ध या विरुद्ध सब प्रकारके भावोंको आत्मसात् करके सम्राट्की तरह इन सबको वशमें करके विराजित है, उसको स्थायीभाव कहते हैं। इसीका दूसरा नाम है—*श्रीकृष्ण-प्रीति*। यह कृष्ण-प्रीति पाँच मुख्य और सात गौण अलौकिक पारमार्थिक रसोंका आस्वादन कराती है। (१) शान्त, (२) दास्य, (३) सख्य, (४) वात्सल्य और (५) मधुर—ये पाँच मुख्य रस हैं। (६) हास्य, (७) अद्भुत, (८) वीर, (९) करुण, (१०) रौद्र, (११) भयानक और (१२) बीभत्स—ये गौण सात रस हैं। द्वादश रसोंका वर्ण है—(१) श्वेत, (२) चित्र, (३) अरुण, (४) शोण, (५) श्याम, (६) पाण्डुर, (७) पिङ्गल, (८) गौर, (९) धूम्र, (१०) रक्त, (११) काल और (१२) नील—इन बारह रसोंके देवता क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) कपिल, (२) माधव, (३) उपेन्द्र, (४) नृसिंह, (५) नन्दनन्दन, (६) हलधर, (७) कूर्म, (८) कल्कि, (९) राघव, (१०) परशुराम, (११) वराह, (१२) मीन या बुद्ध।

कृष्ण प्रीति भक्त-चित्तको उल्लसित करती है, ममता-बुद्धिका उदय करती है, विश्वास उत्पन्न करती है, प्रियत्वका अभिमान जाग्रत् करती है, हृदयको द्रवित करती है, अतिशय लालसापूर्वक स्व (श्रीकृष्ण) के साथ युक्त करती है, प्रतिक्षण नये-नये रूपमें अनुभूत होती है, अनुपमेय एवं निरतिशय चमत्कृतिके द्वारा उन्मत्त कर देती है। जिस अवस्थामें अतिशय उल्लास होता है उसका नाम है 'रति'। यही रति ममतासे अधिकता होनेपर 'प्रेम' कहलाती है। प्रेम जब सम्भ्रमरहित विश्वासमय होता है, तब उसका नाम 'प्रणय' होता है। अतिशय प्रियत्वके अभिमानसे प्रणय-कौटिल्यका आभास ग्रहण करनेपर जो भाव वैचित्र्यको ग्रहण करता है, उसका नाम है 'मान'। चित्तको द्रवित करनेवाला प्रेम 'स्नेह' कहलाता है। स्नेह अतिशय अभिलाषासे युक्त होनेपर 'राग'रूपमें परिणत होता है। राग जभी प्रियको नये-नये रूपोंमें अनुभव कराके तथा स्वयं भी नया-नया रूप धारण करके 'अनुराग' नाम ग्रहण करता है। अनुरागमें प्रिय और प्रियाके प्रेमवैचित्र्यका अनुभव होता है तथा प्रियके सम्बन्धसे अप्राणीमें भी जन्म लेनेकी लालसा जाग्रत् होती है। अनुराग असमोर्ध्व चमत्कारिता प्राप्त करके उन्मादक हो जाता है, तब उसको 'महाभाव' कहते हैं। प्रेम-का उदय होनेपर मिलनावस्थामें पलकका गिरना भी असह्य हो उठता है। कल्पका समय भी क्षणके समान अनुभव होता है और विरहमें क्षणकाल भी कल्पके समान दीर्घ जान पड़ता है।

महाभावस्वरूपिणी श्रीराधा श्रीकृष्णके प्रेमगौरवमें [illegible] भेद हैं। परमसुन्दर, असमोर्ध्व शील-माधुर्यकी [illegible] से समलंकृत नन्दनन्दन श्रीराधाके प्रेमके आश्रय हैं। श्रीराधा मधुर-रसका श्रेष्ठतम आश्रय हैं। श्रीराधा-गोविन्दकी परस्पर रति इतनी अगाध है कि तटस्थ अथवा विरोधी किसी भी भावके समावेशसे कहीं भी कभी भी उसमें [illegible] नहीं होता। यथा—

> इतोऽभूरे राज्ञी स्फुरति परितो मित्रसभा
> इतोऽग्रे चन्द्रावलिकिरणपरि नैकसु [illegible]।
> असम्ये राधायां कुसुमितकलम्बोपमाने
> हगम्बाणीकौशल तदपि च मुकुन्दस्य [illegible]॥
> (भक्तिरसामृतसिन्धु २। ५। ०४ [illegible])

'कुछ दूरपर माता यशोदा हैं, चारों ओर [illegible] स्थित हैं, आँखोंके सामने चन्द्रावली हैं, समीप ही पर्वतो [illegible] अरिष्टासुर है; तथापि दक्षिणी ओर कुसुमित [illegible] श्रीराधाके प्रति मुकुन्दकी चञ्चल दृष्टि विद्युत्के समान [illegible] पड़ रही है।' श्रीकृष्णकी संधिनी, संवित् और ह्लादिनी—इन तीन शक्तियोंमें श्रीकृष्ण एवं भक्तोंका सुख [illegible] करनेवाली ह्लादिनी शक्तिका सार है मादन नामक [illegible] जिसमें सब प्रकारके भावोंको उत्पन्न करानेकी क्षमता है। [illegible] महाभावस्वरूपा श्रीराधाका असाधारण गुण है। इसी [illegible] श्रीराधाके भावका नाम है—'मादनाख्य महाभाव'।

श्रीराधाके कायिक गुण छः हैं—(१) मधु[illegible], (२) नववया, (३) चलापाङ्गा, (४) [illegible], (५) चारुसौभाग्यरेखाढ्या, (६) गन्धोन्मादितमाधवा।

वाचिक गुण तीन हैं—(१) संगीत प्रसराभिज्ञा, (२) रम्यवाक्, (३) नर्मपण्डिता।

मानस गुण दस हैं—(१) विनीता, (२) [illegible] पूर्णा, (३) विदग्धा, (४) पाटवान्विता, (५) [illegible] शीला, (६) सुमर्यादा, (७) धैर्यशालिनी, (८) [illegible] शालिनी, (९) सुविलासा, (१०) महाभाव परमोत्कर्ष [illegible]।

श्रीराधाके और भी कई गुणोंका उल्लेख [illegible]

महाभाव-परमोत्कर्षिणी राधाके रूपका वर्णन करते हुए रूपगोस्वामिपाद कहते हैं—

अमूल्यमणिवृष्टिभिर्हिगुणपञ्चकोरमणिर्भरै
र्स्मेरस्नीस्मिग्धविभूषणप्रतिकृतिस्वरूपं वपुर्बिभ्रती।
कण्ठम्रस्तुटत्स्वराय पुलकैर्लब्धा फदम्बाकृति
राधा वेणुधर प्रवातकदलीतुल्या क्वचिद् वर्तते॥

श्रीराधाकी कम्पान्तरिता अवस्था देखकर उन्हींकी सखी उदात्त अलंकारपूर्ण वाक्यमें श्रीकृष्णसे कहती है—'वंशीधारी! तुम्हें देखे बिना आज राधाकी क्या दशा हो रही है, जानते हो? राधाके नेत्रोंसे इतनी अश्रु-वृष्टि हो रही है कि उससे यमुनाका जल बढ़ गया है। उनके शरीरसे पसीना इस प्रकार चू रहा है, जैसे चाँदनी रातमें चन्द्रकान्तमणि पसीज उठी है। उनके देहका रंग भी उसी मणिके समान पीला पड़ गया है। कण्ठकी वाणी अर्धस्फुट एवं स्वरभङ्गयुक्त हो गयी है, कदम्बके केसरके समान सर्वाङ्ग पुलकित हो रहा है। राधा-स्वरूपा श्रीराधा आँधी-पानीमें केलेके पेड़के समान काँपकर गिर पड़ी है।' अश्रु, कम्प, पुलक, स्वेद, वैवर्ण्य, कण्ठरोध, दशमी दशाके समान भूमिमें लुण्ठन आदि सात्त्विक ऐसे भाव-अनुभाव श्रीराधाकी महाभावस्वरूपताको प्रकट करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके श्रीविग्रहमें श्रीरूपगोस्वामी उन्हीं महाभावस्वरूपाकी प्रेम-रस-वृष्टि देखनेकी अभिलाषासे कहते हैं—क्या वे चैतन्यमहाप्रभु फिर हमारे नयनपथके पथिक होंगे? जो अपनी अश्रुधारासे समीपकी भूमिको पङ्किल कर देते थे, आनन्दसे जिनके अङ्गमें कदम्ब-केसरके समान घनी पुलकावली दृष्टिगोचर होती थी, शरीर पसीनेसे लथपथ होता रहता था, उच्चस्वरसे अपने प्रियतम श्रीकृष्णका नाम-कीर्तन करते हुए आनन्दमें मग्न रहते थे, वे ही प्रभु मुझे दर्शन दें। यथा—

मुखं स्निग्धप्रभुकुतिभिरमितः सान्द्रपुलकैः
परीताङ्गो श्रीपरस्पन्दनवकिञ्जल्कजयिभिः।
घनस्वेदस्तोमस्तिमिततनुरुत्कीर्तनसुखी
स चैतन्यः किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम्॥

राय रामानन्दके साथ श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुकी मिलन-कथामें महाभावस्वरूपिणी श्रीराधाका प्रेम-विलास-विवर्त वर्णित है। अनन्तविलासमय प्रेमके विवर्त या विचित्र परिपाक-दशामें रमण-रमणी-भावके रूपमें नायक-नायिकाका पृथक् अभिमान किस प्रकार दूर होकर प्रेममें विलीन हो जाता है, इसका संवाद वहाँ पाया जाता है। मानिनी राधा अपनी सखीसे कहती हैं—

पहिलहि राग नयन भङ्ग भेल। अनुदिन बाढ़ल अवधि ना गेल॥
ना सो रमण ना हम रमणी। दुहुँ मन मनोभव पेषल जानि॥
ए सखि से सब प्रेम कहिनी। कानु ठामे कहबि बिछुरह जानि॥
ना खोजलुँ दूती ना खोजलुँ आन। दुहुँ केरि मिलने मध्यत पाँचबान॥

नेत्रोंके कटाक्षसे ही प्रथम राग उत्पन्न हो गया। क्षण-क्षण प्रीति बढ़ने लगी, उसकी कहीं अवधि आयी ही नहीं। न तो वह रमण है और न मैं रमणी हूँ। दोनोंके मनको प्रेमने चूर्ण करके एक कर दिया। अरी सखि! यह सब प्रेम-कहानी प्रिय कान्हसे ही कहनी है। भूलना मत। न मैं दूती खोजने गयी और न किसी दूसरेको खोजा, दोनोंका मिलन हो गया। इसमें प्रेम ही मध्यस्थ है।

महाभाववती वृषभानुनन्दिनी श्रीराधाका जो प्रेम-परिपाक अधिरूढ़-अवस्थामें परमानन्दघन गोविन्दको सम्यक् संतोष प्रदान करनेमें समर्थ है तथा जिस प्रेमको मध्यस्थ करके श्रीराधा और गोविन्दकी परस्पर एकात्मता और अद्वयता है, उस प्रेमा-भक्तिको प्राप्त करनेके लिये श्रीराधाकी सखियोंका आनुगत्य आवश्यक है।

श्रीललिता-विशाखा प्रभृति सखियाँ तथा श्रीरूपमञ्जरी आदि मञ्जरीगण भोग-तृष्णा-शून्य हैं। उनके श्रीकृष्णैकसेवा-निष्ठ भावका अनुगमन करते हुए रागानुगा पथसे भजन करना ही भक्तिरसका परम फल है।

इस भक्तिका अनुशीलन करते समय श्रीराधा-कृष्ण-युगलकी अद्वयाम प्रेम-सेवाको प्राप्तकर जीव धन्य हो सकता है। इस भक्तिमें जीवमात्रका अधिकार है। भगवान् कहते हैं—

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा॥
(भागवत ११।१२।८)

'केवल भक्ति-भावके द्वारा ही गोपियाँ, गायें, यमलार्जुन आदि वृक्ष, पर्वत, व्रजके हरिण आदि पशु, कालिय आदि नाग तथा अन्य मूढबुद्धि जीव भी मुझको अनायास ही प्राप्त करके कृतकृत्य हो गये।'
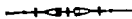
भक्ति-साधन और महाप्रभु श्रीगौरहरि

(लेखक—डा० श्रीमहानामव्रत ब्रह्मचारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

मनुष्यकी आवश्यकताका अन्त नहीं । वह निरन्तर किसी-न-किसी अनुसंधानमें रत रहता है । प्यास मिटती नहीं । इसका कारण है जीवकी अपूर्णता । अपूर्ण जीव पूर्ण होना चाहता है । अतृप्त जीव तृप्ति खोजता है । मरणशील जीव अमृतकी ओर दौड़ लगा रहा है । जबतक उसको अमृतमय मार्गकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक कामनाकी निवृत्ति नहीं ।

जीवनकी तात्कालिक आवश्यकताओंको हम भलीभाँति जानते हैं । सम्पूर्ण जीवनकी आवश्यकताको नहीं समझते, नहीं सोचते । कर्मकी आवश्यकता है भोजन-वस्त्रके लिये, भोजन-वस्त्रका प्रयोजन है जीवन-धारणके लिये । इतना स्पष्ट है । परंतु जीवन-धारण किस लिये है—यह स्पष्ट नहीं है । हम कलाईमें घड़ी बाँधते हैं, दस-पाँच मिनटका हिसाब रखनेके लिये । परंतु सारा जीवन बीत गया है, इसका कोई हिसाब-किताब नहीं है ।

इस समग्र जीवनके प्रयोजनको ही वैष्णव शास्त्रोंमें प्रयोजन तत्त्व कहा गया है । जीवनकी जो अन्तिम परम प्रयोजनीय वस्तु है, वह क्या है ? श्रीमन्महाप्रभुने सनातन-गोस्वामिपादको इस प्रश्नका निम्नाङ्कित उत्तर दिया था—

पुरुषार्थ-शिरोमणि प्रेम महाधन ।

'जिस प्रयोजनके पूर्ण होनेपर सारी आवश्यकताएँ निवृत्त हो जाती हैं, वह है प्रेम । 'प्रेम प्रयोजन ।''

यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि महाप्रभु यह नहीं कहते कि 'भगवान् श्रीकृष्ण प्रयोजन हैं ।' क्योंकि यदि हृदयमें प्रेम न हो तो मनुष्यको भगवान् प्राप्त हो जानेपर भी प्राप्त नहीं होंगे । कंस, शिशुपाल आदिने भी श्रीकृष्णको प्राप्त किया था; परंतु उनके प्राण प्रेमहीन थे, अतएव वे उस प्राप्तिका आस्वादन न कर सके । भोजन हो और भूख न हो तो भोगकी प्राप्ति न होगी । अतएव पहले आवश्यक है भूख । कृष्णास्वादनकी भूख ही प्रेम है । प्रश्न हो सकता है कि 'भोजन हो और भूख न हो'—यह जैसी कष्टप्रद अवस्था है, उसकी अपेक्षा भी 'भूख है, परंतु भोजन नहीं' यह क्या अधिक कष्टप्रद नहीं है ? यह विचार लौकिक जगत्के भोजन और भूखके सम्बन्धमें बिल्कुल यथार्थ है, परंतु अलौकिक—अप्राकृत सुधा अर्थात् 'प्रेम' के सम्बन्धमें सर्वथा सत्य नहीं है । प्रेम नहीं, पर कृष्ण हैं—ऐसे दृष्टान्त तो हैं, जैसे कंस आदिका । परंतु प्रेम है और कृष्ण नहीं आते हैं—[illegible] दृष्टान्त कहीं नहीं मिलता । श्रीकृष्णको आकर्षित [illegible] प्रेमका एक अनिर्वचनीय स्वभाव है । प्रेमरूपी [illegible] हृदयमें आग उठनेपर आस्वाद्य वस्तु, प्रेमका मूर्तिमान् [illegible] यहाँ दौड़कर आनेके लिये बाध्य है; क्योंकि वे [illegible] प्रेमके अधीन रहते हैं ।

इस परम प्रयोजनीय वस्तुको प्राप्त करनेके उपाय[illegible] नाम साधन है । प्रेमधनकी प्राप्तिके साधनका नाम है [illegible] 'भक्ति प्राप्तिका साधन है ।' भक्ति बड़ी ही दुर्लभ [illegible] है । श्रीरूपको शिक्षा देते समय महाप्रभुने भक्तिकी दुर्लभ[illegible] का वर्णन किया है ।

ब्रह्माण्डमें अगणित जीव चौरासी लख योनियोंमें भ्रमण कर रहे हैं । पृथ्वीपर चलनेवाले, जलमें विचरनेवाले और आकाशमें उड़नेवाले असंख्य जीवसमूहोंमें मनुष्योंकी संख्या अति अल्प है । उनमें सनातन वैदिक सिद्धान्तकी [illegible] छायामें आश्रय लेनेवाले मनुष्योंकी संख्या और भी [illegible] है । जो वेदोंके माननेवाले हैं, उनमें अधिकांश [illegible] कहनेमात्रको ही वेदोंको मानते हैं । उनके जीवनमें [illegible] वैदिक सत्यका प्रभाव नहीं है ।

जिनके जीवनके आचरणमें वैदिक धर्म [illegible] उनमें अधिकांश लोग याग-यज्ञ आदि क्रिया-कर्मोंमें ही [illegible] हैं । महान् सत्यरत्नकी प्राप्ति उनको नहीं होती । [illegible] भी सभी अनुभूति-सम्पन्न नहीं होते । सत्यकी अनुभूति [illegible] बिना मुक्ति नहीं होती । ज्ञान-सम्पन्न कोटि मनुष्योंमें [illegible] एक अनुभूति प्राप्त करके मुक्तिलाभ करता है । इस प्रकार [illegible] कोटि मुक्त जीवोंमें कृष्णभक्त एक भी [illegible] है । मिले न मिले—निश्चितरूपसे कुछ कहा नहीं जा सकता ।

'मुक्ति' शब्द अभावात्मक है और 'भक्ति' भावात्मक । दुःखसे परित्राण, बन्धनसे छुटकारेका नाम है मुक्ति । परंतु भक्ति एक भावकी वस्तुका आस्वादन है । दोनों उसी प्रकार एक नहीं हो सकते, जैसे पराधीनता[illegible] बन्धनसे मुक्ति, और स्वाधीनताका उपभोग एक बात नहीं है । कहीं कोई देश बहुत प्रयत्न करके पराधीनताके [illegible] पाशको छेदन करता है, परंतु तत्काल ही उसे स्वाधीनता[illegible]

पूर्ण सुख भोगनेको नहीं मिलता। स्वाधीनताका आस्वादन एक आत्मगत वस्तुका सम्भोग है, यह सर्वथा चेष्टा-सापेक्ष है। उसी प्रकार मुक्तिकी साधना एक है, भक्तिकी साधना उससे भिन्न है। रुचि और रस भी भिन्न-भिन्न हैं।
'कोटि मुक्त पुरुषोंमें एक कृष्णभक्त दुर्लभ है।' इसका कारण यह है कि मुक्तिसुखमें एक आपात-पूर्णतृप्तिका आभास रहता है। उसमें जो मस्त हैं, उनके लिये भक्ति-साधनाका पथ ही रुद्ध हो जाता है।

ज्ञानी जीवन्मुक्त देह करि माने।
वस्तुतः बुद्धि शुद्ध नहे कृष्णभक्ति विने॥

'ज्ञानी अपनेको जीवन्मुक्त हुआ मानता है। परंतु वास्तवमें कृष्णभक्तिके बिना बुद्धि शुद्ध नहीं होती।'

भक्त निष्काम होता है। मुक्तिकामी भी सकाम है। भक्त कामनाहीन होनेके कारण शान्त होता है और शान्त होनेके कारण ही शान्तिका अधिकारी होता है। भक्तिकी दुर्लभताका वर्णन करते हुए महाप्रभुने श्रीरूपगोस्वामीसे कहा था कि संसार-चक्रमें भ्रमण करते-करते कहीं किसी भाग्यवान् जीवको भक्तिलताका बीज प्राप्त होता है। कौन है वह भाग्यवान्? संसार-पथपर चलते-चलते कदाचित् किसीके मनमें इस प्रकारके विचारका उदय होता है कि अपार धन-जन, विद्या-बुद्धि, सामर्थ्य सौन्दर्यके होते हुए भी मैं इस कारण नितान्त अभागा हूँ कि मुझे हरि-भक्ति प्राप्त नहीं हुई। यह भावना तीव्र होकर यदि चित्तमें उद्वेगकी सृष्टि करती है तो वही व्यक्ति भाग्यवान् हो जाता है।

इस प्रकारकी भावना भी अकारण ही उदय होती हो—ऐसी बात नहीं है। जिस पुरुषके पड़ोसी उसकी अपेक्षा दरिद्र होते हैं, वह अपनेको धनी समझता है। पक्षान्तरमें जिसके पड़ोसी उसकी अपेक्षा धनशाली होते हैं, वह अपनेको दरिद्र समझता है। इसी प्रकार जो लोग भक्तिधनके धनी हैं, उनका सङ्ग—सांनिध्य प्राप्त होनेपर अपनेमें इस धनका अभाव-बोध होनेके कारण वेदनाका उदय होता है। इसके विपरीत अभक्तके सङ्ग-सांनिध्यसे हृदयमें रही हुई भक्ति भी नष्ट हो जाती है। 'सब भावके साधु-सङ्गसे सर्वसिद्धि होती है'—इस कथनमें अतिशयोक्ति नहीं है।

भक्तिमान् सज्जनोंके सङ्गसे जिनके हृदयमें भक्ति-वासना जाग पड़ी है, वही मनुष्य भाग्यवान् है। ऐसा भाग्यवान् मनुष्य ही 'गुरु कृष्ण प्रसादे पाय भक्तिलता बीज'। 'प्रसादे पाय'—यह श्रीमुखकी उक्ति ध्यान देने योग्य है। भक्ति-बीज चेष्टा करके प्राप्त नहीं किया जा सकता। केवल कृपासे ही प्राप्त हो सकता है। यह सर्वतोभावेन प्रसाद-लभ्य ही है। प्रयासद्वारा कदापि लभ्य नहीं। तब फिर क्या प्रयासकी कोई सार्थकता नहीं है?—अवश्य है। यदि नहीं होती तो इतना जप-तप, साधन-भजन करनेके लिये क्यों कहा जाता।

बहुत कालतक प्रयास या भजन-साधनके फलस्वरूप यह ज्ञात होगा कि यह प्रबल चेष्टाके द्वारा प्राप्त होनेवाली वस्तु नहीं है। भक्तकी अपनी चेष्टाकी व्यर्थताको दिखलाकर अन्तःकरणमें अनुभव करा देना ही इसकी सार्थकता है। वास्तविक अनुभूतिकी प्राप्ति तो कृपासे ही होती है। वेदमन्त्रमें आता है—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' वे जिसको कृपा करके वरण करते हैं, वही उनको प्राप्त कर सकता है। अन्य सब लोगोंकी अन्य सब प्रकारकी आयोजना आडम्बरमात्र हैं। अनुग्रह-शक्तिकी मूर्ति श्रीगुरुदेवकी कृपाके बिना और कोई मार्ग नहीं है।

हृदयमें भक्ति-बीजके जम जानेपर नित्य जल सिञ्चनके द्वारा उसको बढ़ानेकी साधना करनी पड़ती है। बढ़नेपर वह ब्रह्मलोक एवं परव्योम (बैकुण्ठ) को भी भेदकर गोलोक—वृन्दावनमें श्रीकृष्ण-चरणरूपी कल्पवृक्षके नीचे आश्रय-लाभ करेगी। तब उस लतामें प्रेम-फल फलेगा। परंतु जल सिञ्चनका कार्य तो इसके बाद भी चलता ही रहेगा—जैसे बीजसे, वैसे ही फलवती लतासे। श्रवण-कीर्तन ही यह जलसिञ्चन है, यही सर्वश्रेष्ठ साधन है। अन्य सब प्रकारके साधनोंकी अपेक्षा, महाप्रभुकी देनरूप इस भागवतीय साधनमें एक अपूर्वता है। अन्यान्य सब साधनोंमें पहले शास्त्रोक्त साधन-रहस्य आचार्यके मुखसे सुना जाता है, उसके बाद जीवनके आचरण-अनुष्ठानके द्वारा उसका पालन किया जाता है। परंतु उपर्युक्त भागवतीय साधनमें केवल श्रवणद्वारा ही फलप्राप्ति होती है। केवल श्रवणादिके माध्यमसे ही प्रेम-प्राप्तिरूप फल प्राप्त हो जाता है। यह एक नयी बात है। केवल कथा सुननेसे कल्याण किस प्रकार होगा? यह श्रवणमाहात्म्य एकमात्र भागवत शास्त्रको ही ज्ञात है। इसका गूढ़ हेतु अनुसंधान करने योग्य है।

सभी शास्त्रोंमें 'इतिकर्तव्यता'—अर्थात् यह करना और यह न करना, यह विधि-निषेध है। निष्काम कर्म करना, फलाकाङ्क्षा नहीं करना—इस उपदेशको कण्ठस्थ करके उसका चिन्तन करनेसे कोई लाभ नहीं होता। व्यावहारिक जीवनमें

उसे कार्यरूपमें परिणत करनेसे ही वाञ्छित लाभ होता है। भागवतशास्त्रका मुख्य कथन 'इतिकर्तव्यता' नहीं है। भागवत-का लक्ष्य है—पुराणपुरुषकी नित्य नवीन रहनेवाली लीला-कथा-का वर्णन करना—जो शाश्वत सत्य भक्तमनमें प्रकटित हुआ था, उसके संवादको घोषित करना। इस घोषणाके कानोंमें पड़ते ही कल्याणका स्रोत खुल जाता है। यही भागवत-शास्त्रका दावा है। यह रहस्य और भी स्पष्ट होना चाहिये।

जीवके साथ भगवान् श्रीकृष्णका सम्बन्ध अनादि और नित्य है। नित्य वस्तुका किसी कालमें भी नाश नहीं हो सकता। जो मनुष्य सदा ही उसको भूला रहता है—यहाँ-तक कि मुँहसे उसको अस्वीकार भी करता है, उसका भी कृष्णके साथ नित्य-दास्यका सम्बन्ध नष्ट नहीं होता, केवल विस्मृतिके आवरणसे ढका रहता है।

जिस प्रकार लौकिक बाल्य-जीवनके अनेकों प्रियजनोंकी बातें कर्मजीवनमें स्मृतिपटपर नहीं रहतीं, किंतु कोई यदि दैवात् किसी बाल्यबन्धुका नाम उच्चारण करे तथा उसके रूप, गुण, कार्य आदिका वर्णन करके सुनाये तो उसे सुनकर प्राण आकुल हो उठते हैं। जितना ही सुना जाता है, उतना ही विस्मृतिका आवरण दूर होता है। अन्तमें भ्रान्तिका पर्दा एकदम हट जानेपर प्राचीन प्रीति पुनः नवीन हो उठती है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण जीवके नित्य निजजन हैं। भक्तका रक्त-तत्त्व ही जीवका शाश्वत वासस्थान है। यह नित्य-सम्बन्ध उसको याद नहीं रहा है। सम्बन्धके शाश्वत सूर्यको स्मृति-भ्रंशरूपी मेघने ढँक दिया है। 'मार्जन होय भजन'। केवल भजन-के द्वारा ही यह मेघ हट सकता है। नित्य ब्रज-कथा-श्रवण-रूपी पवनके झकोरेसे यह आवरणकारी मेघ दूर हो जायगा। ब्रजकी रसलीलाकी कथा सुनते-सुनते ही प्राण भागवतभक्तके लिये आकुल हो उठेंगे। रासलीलाके उपसंहारमें श्रीशुकदेवजीने यही बात कही है—'श्रुत्वा तत्परो भवेत्।'

माधुर्यघन ब्रजप्राप्तिका उपाय है—नित्य नवायमान माधुर्यमयी ब्रजकथाका पुनः-पुनः श्रवण और अनुशीलन। भ्रान्तिका पर्दा बहुत ही मोटा और घना हो गया है, अतएव इसके हटानेके लिये बारंबार इस कथाके आस्वादनकी आवश्यकता है। हमारे कानोंमें मल है, इसी कारण यह कथा सुननेपर भी हमें सुनायी नहीं देती, कानके भीतर जाकर भी हृदयमें प्रवेश नहीं करती। इसीलिये 'नित्यं

भागवतं शृणु'—भागवतको नित्य सुनो। नित्य[illegible] अभिनिविष्ट चित्तसे सम्पूर्ण मन लगाकर सुनो। श्रवण-कीर्तन ही परम कल्याणमय हैं। वे भी अमृत हैं, [illegible] कथा भी अमृत है। उस अमृतकथाका जो कीर्तन करता है, वह भी पूर्णामृतका आस्वादन करता है। जो सुनता है, उसको भी परमामृतका स्वाद मिलता रहता है।

इस श्रवण-कीर्तनरूपी अनुशीलनसे भक्ति [illegible] है। श्रीनारद-भक्तिसूत्रमें भक्तिको 'अमृतस्वरूप' कहा गया है। श्रीगीतामें भगवान् कहते हैं—'भक्त्या मामभिजानाति' 'भक्तिके द्वारा मुझको सम्यक् रूपसे कोई भी जान सकता है।' श्रुति कहती है—'भक्तिवशः पुरुषः', 'भक्तिरेव भूयसी।' 'श्रीभगवान् भक्तिके वश हैं।' 'भक्ति ही भगवत्प्राप्ति-का श्रेष्ठ साधन है।' 'भक्तिरेव विष्णुप्रिया'—भक्ति ही भगवान् विष्णुको प्यारी है।

भक्तिलताकी वृद्धिके मार्गमें दो प्रबल बाधाएँ हैं। एक है वैष्णवापराध, दूसरा है लाभ-पूजा-प्रतिष्ठाकी चाह। 'भक्तोऽहं सुमान् वैष्णवः'—इस व्युत्पत्तिके अनुसार जीवमात्र ही वैष्णव हैं। उनको पीड़ा पहुँचाना, उनकी अवज्ञा करना, निन्दा करना—इत्यादि वैष्णवापराध हैं। अपराध मुख्यतः नैतिक होते हैं। प्रतिदिनके व्यवहारमें नैतिक अपवित्रता ही अपराध है। नैतिक जीवन अपनाये बिना आध्यात्मिक साधना सम्भव नहीं हो सकती। निरपराध होकर भजन करनेका एक अर्थ यह भी है। मनुष्यके प्रति, भक्तके प्रति, भगवान्‌के प्रति हमारे और आचरण जिसका जितना ही निर्मल होगा, उसकी [illegible] भी उतनी ही शक्तिशालिनी होगी।

प्रतिष्ठाका लोभ साधन पथका दूसरा विघ्न है। [illegible] परम प्रभुके आसनपर जब हम अपने मलिन 'अहम्' को बैठा देते हैं, तब भक्तिलताकी वृद्धि रुक जाती है। इतनी ही बात नहीं, वहीं ही कठिन विपदा आ पड़ती है। हमारी दृष्टि हरि-पदसे विच्युत होकर निज पद-प्रतिष्ठामें निबद्ध हो जाती है। फलतः श्रवण-कीर्तन आदि जब नियमका [illegible] प्रतिकूल होने लगता है। तब ब्रज-नियमसे प्रतिष्ठारूपी [illegible] ही बढ़ती है, मूल भक्तिलता सूख जाती है।

आराध्य वस्तुके प्रति सत्य सुस्थिर स्नेह [illegible] विरतिसे पुरस्कार मिल सकता है। अहंताकी पूर्णरूपेण निर्मूलन करके भक्तिलताके मूलमें जलसिञ्चन करना होता है। जो गुरु मेरा है, वह सभी गुरुजन है—इस प्रकार

भावनाके द्वारा मैं-पनको भुला देना पड़ेगा। चन्द्रकी किरणें मूलतः सूर्यकी ही सम्पत्ति हैं 'तोमारी गरबे गरबिनी हाम'—मैं तुम्हारे ही गर्वसे गर्विणी हूँ—इस प्रकारकी बुद्धिमें स्थित होकर प्रभुकथाका श्रवण-कीर्तन करना होगा।

इस प्रकार साधन करनेपर ही भक्तिरूपा श्रीकृष्ण-पाद-पद्ममें पहुँच जायगी। सब मक्खन और हृदयवन एकाकार हो जायँगे। कृष्णके साथ जीवका जो नित्य सम्बन्ध है, उसकी अन्तःकरणमें अनुभूति होने लगेगी। भक्तिलतामें परम पुरुषार्थरूप प्रेम फल फलेगा।

श्रीश्रीगौरसुन्दरने यह भागवतीय साधन-तत्त्व जगत्‌को प्रदान किया है, केवल इतना ही नहीं। महाप्रभु श्रीगौरसुन्दरके दानमें और भी कुछ नवीनता है। उन्होंने केवल भक्तिधन ही नहीं प्रदान किया, बल्कि उदात्त-उज्ज्वल-रस-विशिष्ट महाभावमयी श्रीराधाभावसे विमण्डित भक्ति-सम्पद्‌का वितरण किया है। केवल वितरण ही नहीं किया, अपितु स्वयं आचरणमें लाकर आस्वादनसे भरपूर होकर वितरण किया। और वितरण किया पात्रापात्रका विचार करके नहीं, बल्कि बिना विचारे, बिना कृपणता किये, कंगाल बनकर, रो-रोकर जिस-तिसके द्वार-द्वारपर घूमकर। ऐसी महासम्पदा इस प्रकारसे और कभी वितरित नहीं हुई। इसीलिये श्रीश्रीगौर-सुन्दरको भक्तगण 'वदान्यशिरोमणि' कहते हैं। हरिभक्ति-धनके महादाता श्रीश्रीगौरहरिकी जय हो! भक्ति देवीकी जय हो!!

'भक्त-प्रवर गोस्वामी तुलसीदासका जन्म'

(रचयिता—श्रीविश्वेश्वरप्रसादजी उपाध्याय 'निर्झर', एम्० ए०)

× × × ×

जागा प्रभात शुभ्र।
यामिनी विदा हुई।
'मी' सिन्धुकी अपार जलराशिकी तरङ्गोंमें,
रुन-झुन कर, छुम-छुम कर,
पायल छनछनाया क्यों?
बोला सिन्धु—
'सुन रे, यह
मानव-जग,
आजका प्रभात
युग-युगको दिखायेगा—
पावन पथ,
ज्ञान-पंथ,
अभिनव प्रकाश-लोक।
शुभ दिव्य-संज्ञाको,
धर्म और संस्कृतिको—
देगा गति,
निर्मल मति,
शाश्वत अपार ज्ञान।
सहसा नभ-बीच,
रश्मि-रथपर आरूढ़ हुए,
पूर्व-अद्रि-शृङ्ग पर कञ्चन बिखेरते,
श्वेत-हरित मण्डलमें,
प्रकृतिकी पीठिकापर,
सद्य-धन्य, सजीव-से हो,
चेतन उल्लास-से,
कृष्ण मेघ-मण्डलके घूँघटसे,
झाँके रवि,
मूर्त आतरूप-से।
मन्द स्वर्ण-स्मिति-से पुलकित थे
अधर-द्वय,
आकुल थे युगल नयन,
व्याकुल थे प्राण-मन।
आगत अनुभूतिकी
हर्ष-वीचि व्याप्त हुई
ज्योतिर्मय वपुके उस
एक-एक रोममें।
भावोंकी गतिसे
अनुप्रेरित थे विवस्वान,
और सूर्य गतिसे ही
चञ्चल था स्यन्दन-चक्र

(धूम-भ्रमितसे हों ज्यों चञ्चल शफ)
रह-रहकर कँपता था मरुत्पथ।
वैसे ही भावोंका वेग लिये,
गत्यतिरेक-मग्न,
अगत-आभास के मधुमें,
आकण्ठ डूब,
झन्-झन् कर अंतरके
तार झनझना उठे।
······देखा तो मनस्वीके व्योमपर
घिरे थे मेघ,
रिमझिम कर मेघ-पुष्प सावनके झरते थे।
ऐसा क्यों?
बोल उठीं हँसकर दिशाएँ सब,
नील व्योम-रन्ध्र-से,
समवेत कण्ठसे—
और जगे पक्षीगण,
वृन्त-पुष्प, तरु औ' तृण,
धरतीके लघु-लघु कण,
मानवके अन्तरतम।
······'सरिताकी लहरोंमें,
यौवन-प्रवाह क्यों?
अम्बुधिपर रह-रहकर
मारुत क्यों करता नृत्य?
आजकी नवेली उषा
जाने क्यों लिपटी है,
विद्युत् परिधान में,
बूँदोंके गानमें?'
सोच ही रहे थे सब,
निर्झर,
सर,
सिन्धु,
चल,
झाँकती कहीं थी प्रकृति
मेघ-अवगुण्ठनसे,
आकुल,
समाकुल,
उस स्वर्णिम विहानको।
धीरेसे डोल उठा धरतीका आँचल नव,
पर्वत-पयोधर पीन।
दुग्ध धवल फूट चला,
तरल-मधुर,
शक्ति-प्रखर,
जननीका जीवन-रस।
जाग उठी धरती माँ—धीरेसे चीख उठी,
मानो थी पीड़ित वह प्रसवकी पीड़ासे।
"सुन, सुन रे, बोले जग,
कैसा नाद, कैसी ध्वनि,
नभका आशीर्वचन,
देवोंकी वाणी शुभ—कौन हुआ?
किसने अवतार लिया?
बोला नभ—तुलसीने, जय हो जय तुलसीकी
बोलीं दिशाएँ—'जय वाणी महर्षिकी!'
हुई नभ-वाणी शुभ—
'होगा यह भारतका, नहीं-नहीं, विश्वका,
महान कवि,
मनीषी श्रेष्ठ।
भारतीय संस्कृति, साहित्य और धर्म भी,
युग-युगतक फूलेगा, पनपेगा इसके पाणि-पद्मोंसे
ज्ञानका प्रकाश शुभ्र, धर्मकी अनन्त गति,
भक्तिकी अनन्य युक्ति इससे ही फैलेगी।
विश्वको देगा यह 'रामबोला' नाम को,
और शुचि आत्मज्ञान, शान्ति-दान, भक्ति-मान,
जिससे जग पायेगा सत्-चित्-आनंदको।
और तब होगा यह धरतीका महाप्राण,
भारतकी भक्ति-धर्म-संस्कृतिका देवदूत,
प्रतिनिधि श्रेष्ठ,
रामका अनन्य भक्त।'

प्रेम-भक्तियुक्त अजपा-नाम-साधनद्वारा भगवान् वासुदेवकी उपासना

(लेखक—श्रीनरेशजी ब्रह्मचारी)

प्रेम-भक्तिका स्वरूप

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ।
(नारद-भक्ति-सूत्र)

'वह (भक्ति) ईश्वरके प्रति ऐकान्तिक प्रेम-स्वरूपा है ।'

भक्ति प्राप्त करनेका साधन भक्ति ही है । भक्ति-साधनके द्वारा परम अवस्थामें जो ऐकान्तिक प्रेम प्राप्त होता है, वह भी भक्ति ही है । वही वास्तविक भक्ति है । साधन-भक्ति ही चरम अवस्थामें सिद्ध-भक्ति अथवा परम प्रेम नामसे पुकारी होती है । इसीको 'परा-भक्ति' कहते हैं । भगवान् नारद कहते हैं—परम प्रेम ही श्रीभगवान्की पराभक्तिका प्रकृत स्वरूप है ।

'जिनके द्वारा अभीष्ट सिद्ध होता है, जिसके द्वारा भगवान्का भजन किया जाता है, उन्हें प्राप्त किया जाता है, वही भक्ति है'—श्रीश्रीविजयकृष्ण गोस्वामीके इस वचनका समर्थन श्रीमद्भागवतोक्त निम्नलिखित श्लोकसे होता है—

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥
(३ । २९ । १४)

'यही आत्यन्तिक भक्तियोग कहलाता है, जिससे जीव त्रिगुणात्मिका मायाको पारकर मद्भाव—मेरे विमल प्रेमको प्राप्त होता है ।'

इसी भक्तिकी पराकाष्ठा प्रेम है । प्रेमकी पराकाष्ठा ही श्रीभगवान् हैं । श्रीचैतन्य-चरितामृतकार लिखते हैं—

साधन-भक्ति हइते हय रतिर उदय ।
रति गाढ़ हइले तार प्रेम नाम कय ॥
भक्ति धन हइबे प्रेम उपजय ॥

'साधन-भक्तिसे रति उत्पन्न होती है, रतिको ही गाढ़ होनेपर प्रेम कहते हैं । भक्तिसे ही कृष्णप्रेम उपजता है ।' प्रेम रसमय ही श्रीभगवान् हैं । अथवा प्रेम-रस ही श्रीकृष्णका स्वरूप है, इनकी शक्ति इनके साथ एकरूप होती है ।

श्रीचैतन्यचरितामृतकारने और भी स्पष्ट करके वर्णन किया है—'ह्लादिनीका सार है प्रेम, प्रेमका सार है भाव, भावकी पराकाष्ठाका नाम है महाभाव, महाभावस्वरूपा श्रीराधा-ठकुरानी हैं ।'

सर्वगुण खानि कृष्णकान्ता शिरोमणि ।

पराशान्ति और परमानन्दरूप पराभक्ति—प्रेम-रसमय है । यही बात देवर्षि नारद निम्नाङ्कित शब्दोंमें कहते हैं—

शान्तिरूपात् परमानन्दरूपाच्च । (भक्तिसूत्र ६०)

श्रुति भी कहती है—आनन्दं ब्रह्म ।

इससे स्पष्ट होता है कि प्रेम ही पराशान्ति है; परमानन्दमय प्रेममूर्ति ही स्वयं श्रीभगवान् हैं । श्रीभगवान्का ही दूसरा नाम प्रेममय है । एक प्रेमी कविकी उक्ति है—'हे प्रेममय ! मेरे जीवनको प्रेममय बना दो ।' कवि ब्राउनिंगने भी कहा है, 'ईश्वर ! तुम प्रेमस्वरूप हो, इसी सत्यपर मैं अपना जीवन निर्माण करता हूँ । (God ! Thou art Love, I build my faith on that.)'

तात्पर्य, प्रेम ही परमेश्वर है, प्रेम ही परमात्मा है ।

श्रीमद्भगवद्गीताने पुरुषोत्तम परमात्माको ही ईश्वर कहा है—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
(१५ । १७)

पराशान्तिमय, परमानन्दस्वरूप, प्रेममूर्ति, परमात्मा पुरुषोत्तम ही संस्कारावृत जीवात्मारूपसे वासुदेव होकर जीव-देहमें अनुस्यूत हैं ।

प्राकृत प्रेम ही प्रेममयकी प्रेमज्योति

जीवदेहमें जीवात्मारूपसे ओतप्रोत ईश्वर परम प्रेममय हैं । इसीसे जीवात्माके आन्तर और बाह्य संस्कारोंमें भी उसी प्रेमका ही विकास परिलक्षित होता है । यह विशुद्ध प्रेम-ज्योति आवरणरूप समस्त संस्कारजालको भेदकर अन्नमय स्थूल देहके बहिर्भागमें प्रकाशित होनेसे संस्कारयुक्त होती है । मेघावृत सूर्यरश्मि मेघरूप आवरणको भेदकर बाहर निकल आनेपर भी जिस प्रकार मलिनताको प्राप्त होती है—सम्पूर्ण तेजोराशिरूपमें दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी प्रकार विशुद्ध प्रेमच्छटा भी मलिन हो जाती है, काल, कर्म और स्वभावके द्वारा प्रभावित होकर । आकाश जब मेघमुक्त होता है, तब जैसे सूर्यकिरण चमकती ही है, यह बात स्पष्ट दीख पड़ती और समझमें आती है, वैसे ही जीवात्माके संस्कारमुक्त होनेपर सारी प्रेमच्छटा प्रेममयकी ही है, इस बातकी दिव्यानुभूति अपने-आप ही होती है ।

संस्कारमात्र ही कामनापूर्ण होता है। अतः संस्कारजालको भेदकर यह जो प्रेम बाहर आता है, वह काम-गन्धयुक्त होता है और काम-गन्धयुक्त होनेके कारण ही फिर इसे प्रेम न कहकर 'काम' कहते हैं। कामनायुक्त होनेसे 'काम', और कामनामुक्त होनेसे वही वस्तु 'प्रेम' कहलाती है। श्रीचैतन्य-चरितामृतमें काम-प्रेमका पार्थक्य इस प्रकार निरूपित है—

आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा, तार नाम काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा, धरे प्रेम नाम॥

मतलब यह कि अपने सुखकी इच्छा काम है, और श्रीकृष्णके सुखकी इच्छा प्रेम। वस्तुतः काम-प्रेममें कोई पार्थक्य नहीं है, पार्थक्य केवल उसके प्रयोग-भेदमें है और प्रयोग भी हुआ करता है कामनानुसारी ही।

श्रीमद्भागवतका वचन है—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

(१०।२९।१५)

अर्थात् काम, क्रोध, भय, स्नेह, एकता, सौहार्द—इन सबको जो भगवान्‌की ओर लगा सकता है—भगवन्मुखी बना सकता है, वह अन्तमें निश्चय ही प्रेममें तन्मयताको प्राप्त होता है। जिस किसी प्रकारसे भी हो, भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जुड़ जाना चाहिये। जिस किसी भावसे भी वृत्ति भगवान्‌में लगनेपर मन भगवन्मय हो जाता है।

कामादिके वर्तमान बहिर्मुखी भावोंको बाहरसे खींचकर अन्तर्मुखी करके, जहाँसे ये भाव आये, वहीं इन्हें पहुँचा देनेसे सब कर्तव्य समाप्त हो जाता है, सब झगड़ा मिट जाता है। काम अर्थात् कामना-वासनासे ही अहंता-ममता, क्रोध-भय आदि सबकी उत्पत्ति होती है।

अतः कामको साधनामें लगानेसे अर्थात् काम क्या वस्तु है, इसे पूर्णरूपसे जाननेकी साधनाके द्वारा कामको सम्यक्-रूपसे जाननेपर काम अर्थात् कामना-वासनाकी उत्पत्तिके मूलका पता लग ही जाता है—यह निःसन्देह सत्य है।

श्रीराधाके संस्कार-जालका भेद करते हुए प्रेम अभिन्नता को प्राप्त होकर कामना-वासनापूर्ण स्वार्थयुक्त प्राकृत स्नेह, प्यार, माया, मोह, ममता आदिका रूप धारण करता है। अतः विशुद्ध प्रेमके संस्कारयुक्त अभिन्न अंशोंका आश्रय लेकर ही परम प्रेममयके अनुसंधानमें अग्रसर होना होगा। इस अभिन्नताप्राप्त प्रेम अर्थात् कामादिको अन्तर्मुखी या भगवन्मुखी करनेकी जो साधना है, वही भक्ति है। सार वस्तु है भगवत्प्रेम ही।

वासुदेव-तत्त्व

प्रेम ही पराशान्ति है, पराशान्ति ही प्रेम है। ही किस प्रकार प्रेम है, यह समझना हो तो होगा कि अशान्ति क्या है। इस अभावका भी नहीं है, वासनाका भी कोई छोर नहीं है। चीजें हैं, उन सबके मिल जानेसे ही है, अन्यथा नहीं। यह सब वासना-चाना है—यह सब चाहनेका मूल क्या है? कामना मूल है। पर इस वासनाका मूल क्या है? भगवान्‌से ही होती है। महाभारतका वचन है—

वासनाद् वासुदेवस्य वासितं ते जगत्त्रयम्।
सर्वभूतनिवासोऽसि वासुदेव नमोऽस्तु ते॥

वासुदेवकी वासनासे ही विश्वकी सृष्टि होती है। से ही श्रीभगवान् वासुदेवरूपसे भुवनत्रयमें सब अंदर निवास करते हैं। श्रीभगवान्‌से ही वासना होती है। वासनामात्र उन्हींकी है। अतः मेरी 'मेरी कामना' इत्याकारक स्वभावगत अहंकार, भाव और संस्कारको मुक्तकर, वासना वासुदेवमें लीन करके सर्वथा छोड़ देनेसे मनकी वासना-कामनाका अन्त हो जाता है। इस प्रकार वासनारूप संस्कारोंसे मनके मुक्त होनेसे फिर कोई काम ही नहीं रह जाता। वासनाने मन अतः मन भी वासनाके साथ-साथ ही उनमें लय हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान् उपदेश करते हुए कहते हैं—मन ही बन्ध और मोक्षका कारण है। मन जब विषयोंमें आसक्त होता है, वह बन्धनका कारण होता है और जब परमेश्वरमें होता है, तब मोक्षका कारण होता है। जब यह मन 'मेरा' के भावसे उत्पन्न होनेवाले काम-क्रोध-लोभादि मुक्त हो जाता है, तब वह सुख-दुःखसे अतीत होकर और उदासीन अवस्थाको प्राप्त होता है। तब वैराग्य भक्तियुक्त हृदयसे आत्माको प्रकृतिसे अद्वितीय, भेदरहित, स्वयंप्रकाश, सूक्ष्म, अखण्ड, निर्लेप (सुख-दुःखशून्य) देख पाता और प्राप्तिका अनुभव करता है। योगियोंके लिये भगवत्प्राप्तिके हेतु श्रीहरिकी भक्तिके सदृश अन्य कोई मङ्गलमय मार्ग नहीं है।

मदनमोहनकी मदन-विजय-लीला

संस्कारमात्र ही कामनापूर्ण होता है। अतः संस्कारजालको भेदकर यह जो प्रेम बाहर आता है, वह काम-गन्धयुक्त होता है और काम-गन्धयुक्त होनेके कारण ही फिर इसे प्रेम न कहकर 'काम' कहते हैं। कामनायुक्त होनेसे 'काम', और कामनामुक्त होनेसे वही वस्तु 'प्रेम' कहलाती है। श्रीचैतन्य-चरितामृतमें काम-प्रेमका पार्थक्य इस प्रकार निरूपित है—

आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा, तार नाम काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा, धरे प्रेम नाम॥

मतलब यह कि अपने सुखकी इच्छा काम है, और श्रीकृष्णके सुखकी इच्छा प्रेम। वस्तुतः काम-प्रेममें कोई पार्थक्य नहीं है, पार्थक्य केवल उसके प्रयोग-भेदमें है और प्रयोग भी हुआ करता है कामनानुयायी ही।

श्रीमद्भागवतका वचन है—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

(१०।२९।१५)

अर्थात् काम, क्रोध, भय, स्नेह, एकता, सौहार्द—इन सबको जो भगवान्‌की ओर लगा सकता है—भगवन्मुखी बना सकता है, वह अन्तमें निश्चय ही प्रेममें तन्मयताको प्राप्त होता है। जिस किसी प्रकारसे भी हो, भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जुड़ जाना चाहिये। जिस किसी भावसे भी वृत्ति भगवान्‌में लगनेपर मन भगवन्मय हो जाता है।

कामादिके वर्तमान बहिर्मुखी भावोंको बाहरसे खींचकर अन्तर्मुखी करके, जहाँसे ये भाव आये, वहीं इन्हें पहुँचा देनेसे सब कर्तव्य समाप्त हो जाता है, सब झगड़ा मिट जाता है। काम अर्थात् कामना-वासनासे ही अहंता-ममता, क्रोध-भय आदि सबकी उत्पत्ति होती है।

अतः कामकी साधनामें लगनेसे अर्थात् काम क्या वस्तु है, इसे पूर्णरूपसे जाननेकी साधनाके द्वारा कामको सम्यक्-रूपसे जान लेनेपर काम अर्थात् कामना-वासनाकी उत्पत्तिके मूलका पता लग ही जाता है—यह विज्ञानसम्मत सत्य है।

जीवात्माके संस्कार-जालका भेद करते हुए प्रेम मलिनता को प्राप्त होकर कामना-वासनापूर्ण स्वार्थयुक्त आसक्ति स्नेह, प्यार, माया, मोह, ममता आदिका रूप धारण करता है। अतः विमल प्रेमके संस्कारयुक्त मलिन रूपोंका आश्रय लेकर ही परम प्रेमभावके अनुसंधानमें अग्रसर होना होगा। इस मलिनतायुक्त प्रेम अर्थात् कामादिको अन्तर्मुखी या भगवन्मुखी

इसी प्रसङ्गमें श्रीश्रीविजयकृष्ण गोस्वामीजी कहते हैं—'जबतक मन रहता है, तभीतक स्त्री-पुरुष एवं विषय विषयीका आकर्षण रहता है। मनके लय होनेपर भी कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंका कार्य तो होता ही है, पर उसका प्रकार भिन्न होता है।' इस प्रकार 'अहं'के निकल जानेपर, श्रीभगवान्में लय हो जानेपर रहते हैं केवल जीवात्मा और परमात्मा। परमात्माके साथ जीवात्माका यह मिलन हो जानेपर भगवच्चरणोंमें नैवेद्य देह-मनके द्वारा—अविचलित मन्त्रके द्वारा कर्मरूप सेवा ही जीवका परम लक्ष्य है।

सर्वभावेन उनकी शरण लेनेसे हमारी समस्त वासनाएँ भी उन्हींकी हो जाती हैं। सारी वासनाएँ उन्हें समर्पित होनेपर 'मम' और 'हमारा' नामकी कोई चीज ही नहीं रह जाती। तब अभाव भी नहीं रहता, दुःख भी नहीं रहता। प्रेममय परमानन्दरूप शान्तिमय सुशीतल श्रीचरणोंमें आश्रय पाकर सुख-दुःख, आनन्द-निरानन्द, मान-अपमान आदि विषयोंके अनुभूतिरूप तापोंसे तथा जीव क्षुधा-तृष्णा, रोग-शोकसे अतीत शान्त, शीतल होता हुआ परमशान्ति लाभ करता है। श्रीश्रीगोस्वामी प्रभु कहते हैं—'कर्तृत्वाभिमानके रहते मनुष्य मुक्त नहीं होता। मुक्त होनेपर भी मनुष्यमें कर्म देखा जाता है। पर वह होता है बालकीडावत्, उन्माद-नृत्यवत्। केवल यन्त्रवत् देहके द्वारा कार्य होते रहते हैं। परंतु मनुष्य जबतक अपने-आपको दीन हीन कंगाल नहीं समझ पाता, तबतक कुछ भी नहीं हो सकता। दीन-हीन होनेपर ही दीनानाथ दया करते हैं। अभिमानी दयाका पात्र नहीं।'

श्रीभगवान्ने स्वयं गीतामें कहा है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(१८।६२)

'सर्वभावेन उन्हींकी शरण लो, उन्हींके प्रसादसे शाश्वती पराशान्तिरूप भूमि प्राप्त होगी।'

अन्यत्र श्रीगीतामें भगवान्ने सर्वगुह्यतम परमपुरुषार्थ-साधनका उपदेश करते हुए कहा है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
(१८।६५-६६)

'अपना चित्त मुझमें स्थिर करो, मेरे भक्त और पुजारी बन जाओ, मुझे नमस्कार करो। इसी विधिसे मुझे प्राप्त होओगे, यह तुमसे सत्य-सत्य कहता हूँ। कारण, तुम मेरे प्रिय हो। स्वभावजात सकल धर्म मुझमें ही परित्याग करके केवल एक मेरी शरणमें आ जाओ।' कारण, श्रीभगवान्से ही सब ध[illegible]ी सृष्टि होती है। क्रमशः मलिनता प्राप्त होनेसे मोहवश सब धर्म भगवान्से पृथक् प्रतीत होने लगते हैं।

भक्ति-साधन-रहस्य

साध्य वस्तु श्रीभगवान्के सम्बन्धमें ज्ञान होनेसे उनपर जो आकर्षण अर्थात् अनुराग होता है, उसीको भक्ति कहते हैं। स्थूल-जगत्के वैषयिक सम्बन्धसे सम्बन्धित होकर सर्वभूतस्थ श्रीभगवान् वासुदेवकी सृष्टिके सरस लीला-माधुर्यके स्वाभाविक आकर्षणसे आकृष्ट हो वैध भोगके द्वारा विषयोपभोग-प्रवृत्तिसे निवृत्त होनेके हेतु अर्थात् कल्पनाप्रसूत स्थूल-जगत्में सर्वत्र वासुदेवरूपसे सूक्ष्म अप्राकृत भगवल्लीला-विलास-माधुर्यके दर्शन और सेवनके द्वारा आस्वादनके उद्देश्य-से श्रीभगवान्की ओर प्रवृत्ति-स्थापन करनेके लिये जो साधना-की जाती है, उसे भक्ति-साधना कहते हैं।

वासना-समर्पणरूप भक्ति-साधनाके द्वारा जीवात्मा-परमात्मा-मिलन

आत्मज्ञान लाभकर अपनी वासना उन्हें समर्पित कर चुकनेपर भगवदिच्छासे चालित होनेके लिये जो साधना की जाती है, वही भक्ति है। इस भक्तिके द्वारा अन्तमें जो वस्तु प्राप्त होता है, वही 'भगवत्प्रेम' है। प्रेमके द्वारा प्रेममयकी सेवा ही प्रेमिकका एकमात्र लक्ष्य होता है। इस प्रेमके नाना रूप हैं। *इसीसे इसके नाना नाम और आख्यान हैं। प्रेममय-*से ही प्रेमके द्वारा विश्वकी सृष्टि होती है, प्रेम ही विश्वको धारण किये हुए है, प्रेममें ही विश्वका लय होता है। प्रेमके द्वारा ही जीव अथवा जीवभेद भावकी उत्पत्ति होती है; *प्रेम ही जीवका आश्रय है, प्रेममें ही जीव विलीन हो जाता* है। अनादिकालसे अनन्त प्रेममयकी सृष्टि-स्थिति प्रलय-लीला होती चली आयी है और आगे भी होती रहेगी। काल-कर्म और स्वभावसे प्रभावित होकर अनन्त जलराशि महासमुद्रसे जलबिन्दु वाष्पाकारमें उड़कर मेघाकारको प्राप्त होते और वृष्टिरूपसे धरातल परगते हैं; पीछे छोटे-छोटे निर्झर आदिका संयोग पाकर वेगवती स्रोतस्वती नदीके आकारमें स्वभावतः प्रधावित होकर महासागरमें जाकर फिर मिल जाते हैं। इसकी गतिमें जैसे कोई विराम नहीं होता, वैसे ही प्रेममयकी सृष्टि-स्थिति प्रलय-लीलाका भी कोई अन्त नहीं है। नद-नदीके

है, त्यागसे कर्म-फलत्यागकी महिमा विशेष है—इस त्यागके होनेपर शान्तिभूमि प्राप्त होती है।' यही श्रीमद्भगवद्गीताका उपदेश है।

श्रीगीताके अठारहों अध्यायोंमें श्रीभगवान्‌ने जो कुछ उपदेश किया है, सब भक्तियोग ही है। मामेकं शरणं व्रज (१८।६६)—यही श्रीभगवान्‌का गुह्यतम परम उपदेश है। यह शरणागति कैसे प्राप्त होती है, इसीका श्रीगीतामें विधिवत् वर्णन हुआ है। सम्पूर्ण शरणागतिको ही पूर्णभक्ति कहते हैं, भक्तिकी पराकाष्ठा ही प्रेम है।

अजपा-नाम-साधन-रहस्य

सब कर्मोंको करते हुए शरणागतिका अभ्यास करनेके लिये सहज, सरल, श्वास-प्रश्वासके साथ अमाकृत शक्तियुक्त मनोवैज्ञानिक श्रीभगवन्नाम-साधन शास्त्रोंमें निर्दिष्ट है। श्रीमद्भागवत-श्रीमद्भगवद्गीता आदि शास्त्र-ग्रन्थोंमें भी संकेत-से इसका उल्लेख है। इसी श्रीअर्जुनने शरणि श्रीकृष्णका शिष्यत्व स्वीकार करते हुए शरणागत होकर तथा इस प्रकार योग्य अधिकारी बनकर श्रीभगवान्‌के संकेत-वचनोंको हृदयंगम किया था। श्रीश्रीगोस्वामी प्रभुने कहा है—'भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत—ये दो ग्रन्थ उपनिषदोंके भाष्यस्वरूप हैं। गीता और भागवतकी पद्धतिसे अनुसार साधन करनेसे ऋषियोंके हृदयकी बात—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति० उ० २।१) आदि वचनोंकी सत्यता प्रत्यक्ष होती है, इसमें सन्देह नहीं। ब्रह्मके दो भाव हैं—नित्य और लीला। नित्य-साधन गीताके द्वारा होता है और लीला-साधन भागवतके द्वारा।

> ब्रह्मविद् परमाप्नोति शोकं तरति चात्मवित्।
> रसो ब्रह्म रसं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति नान्यथा॥

'ब्रह्मवेत्ता परमपद प्राप्त करता है, आत्मज्ञानी शोकसे मुक्त हो जाता है, रसस्वरूप ब्रह्मका रस पाकर ही जीव आनन्दित होता है, अन्य उपायसे आनन्द नहीं मिलता। ब्रह्मज्ञान, योग, भगवत्तत्त्व—ये तीन प्रकारके साधन यहाँ कहे गये हैं। ······यही सत्ययुगका ऋषिपथ है।' यह अति अद्भुत मनोविज्ञानसम्मत साधना है। कर्म होनेसे उसके साथ श्वास प्रश्वासका चलना भी जारी रहेगा ही। अतः कर्मके साथ श्वास प्रश्वाससे नाम-जपका अभ्यास कोई कर सके तो उससे विधियुक्त कर्म भी होगा और भगवन्नाम-जप भी; साथ-साथ सदा ही प्रणामके द्वारा शरणभाव युक्त होकर शरणागतिका अभ्यास भी होता रहेगा।

प्रेमलाभ अर्थात् भगवत्प्राप्तिरूप लक्ष्यको स्थिर रखकर नित्य नैम कर्मोंका श्रीगीताके 'मत्कर्मकृत्'-भावसे सम्पादन करनेकी चेष्टा करनेसे भी भगवत्-स्मृति सदा ही जागरूक रहेगी। श्रीभगवन्नाम-जप करते हुए उक्त प्रकार कर्म करनेसे तथा 'श्रीभगवान्‌का ही नाम मैं ले रहा हूँ' यही भाव हृदयमें आरम्भसे धारण किये रहनेसे भगवत्-स्मृति बनी रहेगी। इसके साथ प्रणाम अर्थात् समर्पण-मन्त्रके द्वारा सदा ही शरणागत-भाव रहनेसे निश्चय ही भक्तियोगका आश्रय प्राप्त होगा। इस प्रकार साधन करते रहनेसे क्रमशः श्रीनाम-भगवान्‌के सङ्गके प्रभावसे नाममें आसक्ति बढ़ती जायगी। आसक्तिके प्रबल होनेपर नामका सङ्ग छोड़ना क्रमशः असम्भव हो जायगा। यह 'नाम' प्रेममय श्रीभगवान्‌का ही है; भाव और विश्वास हृदयमें बस जानेपर नाम-भगवान्‌के साथ प्रीति इत्यादि बढ़ेगी और तब भक्तियुक्त मन नाम-प्रेममय होकर रहेगा।

प्राण-मनोवैज्ञानिक साधन-तत्त्व

देह, प्राण, मन और आत्मा परस्पर घनिष्ठ सम्बन्धसे सम्बद्ध हैं। आत्माका ही संस्कारयुक्त स्थूल विकास मन, प्राण और देह है। ऐतरेय आरण्यकमें प्राणको ही प्रधान माना है। देहमें सर्वत्र और देहाश्रित इन्द्रियादि, मन, बुद्धि—सबके ऊपर प्राणकी क्रिया और प्रभुत्व है। मन और इन्द्रियोंकी भी क्रिया प्राणके ऊपर न होती हो—यह बात नहीं है; पर बुद्धि, मन और इन्द्रियादि स्थूलमें आसक्त होनेके कारण इनकी क्रिया देहके ऊपर ही होती है। अतः स्थूल-देहके साथ जिसका विशेष सम्बन्ध है, उस प्राणका आश्रय लेकर मनको वशमें करना केवल मनका अवलम्बन करके साधना करनेकी अपेक्षा अधिक सुगम है।

अतः प्राणका आश्रय लेकर सत्संस्कारयुक्त मनके द्वारा उपर्युक्त प्रकारसे शास्त्र निर्दिष्ट श्रीभगवन्नाम-साधन करनेसे देह और मन दोनोंके ही ऊपर प्राणकी क्रिया होनेके कारण देह और मनमें सर्वत्र सत्संस्कारयुक्त ईश्वरानुरक्त मनकी क्रिया प्राणके साथ होती है। और सत्संस्कारयुक्त मन 'नाम-भगवान्' के सङ्गके प्रभावसे 'नाम भगवान्'में आसक्त होता है, मनके असत्-संस्कार क्रमशः हटते हैं और आत्माके स्थूल विकासरूप प्राणके सहारे ही स्थूलसे क्रमशः सूक्ष्ममें

करते रहना चाहिये । इसमें पूर्व-संस्कार और मनकी मलिनताके कारण संयम और नियम आदिमें शिथिलता भी आ सकती है । परंतु प्रातः तथा सायंकाल दृढ़ आसन-से बैठकर चित्तवृत्तियोंको विषयोंसे खींचकर एक भगवान्‌में सब कुछ देखनेके हेतु प्रेम-भक्तियुक्त मनसे गुरुदत्त भगवान्‌के शक्तियुक्त भगवन्नाम-साधन करनेसे आसक्ति एवं नियम आदिकी दृढ़ता बढ़ेगी और प्रेमिक मन क्रमशः प्रेममयको समर्पित होगा ।

भगवत्-कृपापूर्ण सेवास्वादनमें ही चरितार्थता

आकाशके मेघमुक्त होनेपर जैसे सूर्य-दर्शन होता है, परंतु फिर मेघ आकर सूर्यको ढक देते हैं और पृथिवी मलिन रूप धारण करती है, वैसे ही कभी-कभी श्रीभगवान् भक्तको अपनी ओर खींचनेके लिये अहैतुकी कृपा करके थोड़ी देरके लिये संस्कारावरण हटाकर नाना देव-देवी, ज्योति आदि ऐश्वर्यरूपसे दर्शन दिया करते हैं और फिर पर्दा डाल देते हैं, जिससे सर्वत्र अन्धकार छा जाता है । फिर थोड़ी देरके लिये अपनी झाँकी दिखा देते हैं । भीषण अन्धकारमें यह कृपारूप आलोक ही आशा है । इस आशाके बलपर ही जीव अन्धकारमें भी मार्गपर चलता है । यह आशा ही उसकी प्रगति या सिद्धिका कारण है । प्रेममय भगवान् प्रेमी भक्तको मिलन या दर्शनरूप अमृतबिन्दुका परम मधुर आस्वादन क्षणभरके लिये कराकर विच्छेद—विरहकी अवस्था उत्पन्न कर उसके अंदर व्याकुलताकी आग जला देते हैं । विरह-व्याकुल प्रेमी-की इस अग्निमें उसकी अपनी वासना दग्ध हो जाती है । रह जाती है तब केवल तन्मुखी वासना—तन्मयी वासना, जो अनुमान या धारणाके परे है । प्रेमी उस अवस्थामें प्रेमानन्द-सागरमें तैरता-उतराता रहता है—उसकी दृष्टिमें तब सब कुछ प्रेममय हो जाता है, केवल एक प्रेम और प्रेम ही रह जाता है । अन्तमें इस प्रेम-रस-सिन्धुमें वह समाविष्ट हो जाता है । उस समय उसकी क्या अवस्था होती है, इसे प्रेमी भी जानता है या नहीं—कुछ कहा नहीं जा सकता ।

भगवत्प्राप्ति-साधन-सिद्ध सेवासे ही इस रसका आस्वादन होता है—नान्यः पन्थाः । आस्वादनमें ही चरितार्थता है ।

भक्ति

(रचयिता—श्रीधीरेश्वर उपाध्याय)

सार नहीं जप-तप-जोगादि में, साधन में,
नाहीं यह अन्य कोऊ साधन ही सार है ।
सार है न तीरथ व्रत संयमहु करने का,
जाते भव बेड़ा नहिं होनहार पार है ॥
पार है तुम्हारी तभी नैया—यह सत्य मानु,
सुंदर 'धीरेश' सिख देत बार-बार है ।
बार है न यामें नेकु मुक्ति के साधना यह
भगवन्नाम कलिमें बस भक्ति सार है ॥
आसा है कौन, सिद्धि ते फिरता गुमानभरे,
चंद ही दिनों की जग जिंदगी की आसा है ।
आसा है न तात-मात-वनितादिक साथी की,
जी ना संग जाये धन-धामादिक आसा है ॥
आसा है इहि ते बार करौ उपचार तुम,
देहु निज चित्त पुनि दया-धर्म-आसा है ।
आसा है भगवत् का सभी प्रानियों में, यही—
भक्ति 'धीरेश्वर' भव-मुक्ति होन आसा है ॥

ग्न-भिन्न होकर विलीन हो जाती है। इसी कारण भागवतमें
सिको 'अप्रतिहता' कहा गया है।

भक्तिका तीसरा विशेषण है—ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति।

मनुष्यके जीवनमें आत्मतत्त्व निर्मल, उज्ज्वल होकर
ने स्वरूपमें बहुत कम प्रकाशित होता है। यह तप,
च, स्वाध्याय, योगसाधना, ध्यान-धारणा प्रभृति
धोंके भी द्वारा प्रच्छन्न होकर या मोहग्रस्त होकर प्रकाशित
हीं होता। अकिंचना भक्तिके प्रभावसे, अति गम्भीर
दुरागतके अमृत-स्पर्शसे आत्मप्रकाश एवं आत्मप्रसन्नताके
रे विघ्न, सारे आच्छादन-आवरण हट जाते हैं, मिट जाते
। ध्यान, ज्ञान, जप-तप आदि किसी भी साधनसे यह
सर्वमङ्गल परिणाम सिद्ध नहीं होता, परंतु अमृतमयी
क्तिके द्वारा यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है।

इस श्लोकमें चौथी बात यह बतलायी गयी है कि धर्म क्या
और धर्मके साथ भक्तिका क्या सम्बन्ध है। धर्म वही
नुशीलन, वही भावना या साधना है, जिससे भक्ति प्रकाशित
ती है, जिससे भक्ति उत्पन्न होती है—यह बात कहना ठीक
हीं; क्योंकि भक्ति अन्तरके अन्तर्देशमें चिरस्थायिनी,
चिन्मयी शक्तिके रूपमें सदा विराजमान रहती है।
सकी उत्पत्ति नहीं होती; उसका उल्लास होता है, प्राकट्य
ता है। उसी उल्लास और प्राकट्यमें जो सहायता करती
; अर्थात् विघ्न-बाधाओं और अन्तरायोंको दूर करती है,
ही साधना, वही अनुशीलन धर्म है। श्रीचैतन्य-चरितामृतमें
हा गया है—

> नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम साध्य कभु नय।
> श्रवणादि-शुद्ध चित्ते करये उदय॥

यह भक्ति जब हृदयमें समुदित होती है, निर्मल अन्तरमें
प्रकाशित होती है, तभी भगवान्‌के साथ अनन्त आनन्द-
य मधुर मङ्गल सम्बन्धका समारम्भ होता है, अन्यथा नहीं।

भक्ति जीवके हृदयका नित्य तत्त्व है—यह तत्त्व भागवत,
तीय स्कन्ध, २५वें अध्यायके दो चिरस्मरणीय श्लोकोंमें
अति विचित्रभावसे प्रकाशित हुआ है। जिस चित्तमें कोई
द्वेष नहीं, कामना-वासना और काम-क्रोधादिका उत्पात
हीं, जो शास्त्रानुसार निर्मल जीवन बिता रहा है, जिसे
श्रीकृष्णकी सेवाके अतिरिक्त और कोई आकाङ्क्षा नहीं है, उस
चित्तमें, उसी जीवनमें सारी इन्द्रियाँ सत्त्व-पथमें प्रवर्तित होती
हैं, रजोगुण और तमोगुणका कोई प्रभाव नहीं पड़ पाता।
इन्द्रियाँ और मन सत्त्व-पथपर चलते-चलते परम सत्त्वस्वरूप
श्रीभगवान्‌से शुभ संयोग प्राप्त करते हैं तथा सत्त्वगुणके
प्रभावसे मुक्त होकर धीरे-धीरे आनन्द-चिन्मयस्वरूपिणी चिरं-
तनी भक्तिवृत्तिमें विलीन हो जाते हैं। तब अन्तर उस
भक्तिकी अमृत किरणोंसे आलोकित हो उठता है। इसकी
साधनामें ज्ञान विज्ञान, योग-तप-स्वाध्याय आदिकी अनपेक्ष
कुछ नहीं रहती। अति सहजभावसे स्वाभाविक निर्मल
जीवन-पथ पूर्णतः प्रकाशित हो उठता है। यह सब कुछ
श्रीकृष्ण-सेवाकी प्राप्तिके लिये आकुल आकाङ्क्षाकी भित्तिके
ऊपर संघटित होता है। यही प्रसिद्ध 'देवानां गुणलिङ्गानां' (३।
२५। १९-२१)—आदि श्लोकोंका निगूढ़ तात्पर्य है।

भागवतमें अन्यत्र कहा गया है कि भक्तिके बिना योग-
तप आदिसे भी चित्त शुद्ध नहीं होता। गुणोंका प्रभाव रह
ही जाता है। चित्त मायातीत नहीं हो सकता। जो लोग
मुक्त हो गये हैं, अथवा मुक्त होनेका अभिमान रखते हैं,
तथा वस्तुतः योगादिकी उच्च भूमिपर आरोहण करते हैं, वे
अन्तमें निम्न भूमिमें आ पड़ते हैं। केवल भक्तिहीनता ही
उनके इस पतनका कारण है।

> आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
> पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः।
> (१०। २। ३२)

> ते पद सुर दुर्लभ पदहु ते परत हम देखत हरी।
> (रामचरितमानस)

श्रीभगवान् कपिलदेवने तृतीय स्कन्धके अन्तिम अध्यायोंमें
जो भक्तियोगकी व्याख्या की है, उसमें भी अति प्राञ्जल
भाषामें यही बतलाया गया है कि भक्ति सहज और स्वाभाविक
वृत्ति है। लीला-पुरुषोत्तम भगवान्‌की रूप-गुण-लीला-कथा-
का श्रवणमात्र करनेसे भक्तके हृदयमें भगवान्‌के प्रति
भक्तिस्रोत उमड़कर प्रबल वेगसे बहने लगता है—ठीक उसी
प्रकार जैसे भागीरथीका जल-स्रोत-प्रवाह समुद्रकी ओर
प्रवाहित होता है। उस स्रोत-प्रवाहमें कभी विरति नहीं होती।

श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान्, अद्वय परतत्त्वके तीन
विभावोंका उल्लेख है। वे हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भग-
वान्। ब्रह्म निर्विशेष, निर्विकल्प और निराकार तत्त्व है।
परमात्मा विश्व-ब्रह्माण्डकी अन्तर्यामी महाशक्ति है। यह
रूपरहित अमूर्त तत्त्व है। भगवान् सर्वसौन्दर्यमण्डित हैं।
वे अनन्त-गुण-रत्नाकर हैं, अपूर्व अनन्त-लीला-विलासी हैं।
जो भक्तिकी साधना करते हैं, वे लोग इस रूप-गुण-ली-

भगवान्‌के सांनिध्य, सेवा तथा लीला-विलासादिके सुखकी कामना करते हैं। ज्ञान-साधनाका फल ब्रह्म-सायुज्य-मुक्ति अथवा ब्रह्म-निर्वाण है। योग-साधनामें जीवात्मा मायाके बन्धनसे मुक्त होकर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयके भेदको लाँघ जाता यानी परमात्मामें विलीन हो जाता है। भक्ति-साधनामें भक्त श्रीभगवान्‌के लीलाराज्यमें प्रवेश करता है। मायासे तो वह अवश्य ही मुक्त हो जाता है। गीताकी भाषामें 'विशते तदनन्तरम्'। ज्ञान और भक्तिका भेद अति विलक्षण है। ज्ञानका परमफल है—महाशून्यमय आकाशमें विलीन हो जाना। भक्तिका परम फल है—अनन्त रूप-रस-ऐश्वर्य-गुणधामी सर्वभाव परिपूर्ण सत्यस्वरूप श्रीभगवान्‌के आनन्द-चिन्मय राज्यको प्राप्त करना।

यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक उठता है कि यदि भगवान् और ब्रह्ममें इतना अन्तर है तो साधकलोग भगवान्‌को छोड़कर ब्रह्मभावनामें क्यों लगते हैं? इसका कारण है स्वाभाविक व्यक्तिगत प्रकृति और रुचिका भेद। ये क्यों हजारों ज्ञानी-विज्ञानी अद्वैत तत्त्व निर्विकल्प ब्रह्मकी ओर स्वभावतः ही आकृष्ट होते हैं। निर्विशेष तत्त्वमें ही उनका विश्वास है। वही उनकी एकमात्र शक्ति है। सर्वातिशयी, सर्वमयी परम ब्रह्म स्वयं भगवान्‌के रूप-गुण-लीला-धाम-परिकर प्रभृतिमें उनका विश्वास नहीं है। वे इन सब बातोंको कल्पना समझते हैं। आनन्द-चिन्मय सत्ताका भगवत्मय तत्त्व उनके शुष्क चित्तमें कभी प्रतिभात नहीं होता। वे लोग गोलोक-वृन्दावन आदि धामोंके दर्शनोंको बिल्कुल ही मिथ्या मानते हैं। वे लोग समझते हैं कि यह जगत् रज्जुसर्पमोमय मिथ्या है। जो कुछ है, इतना ही है। इसके अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है। परव्योम तथा उसके भीतरके भगवद्धाम आदि उनके निकट मिथ्या कल्पनाके विलास हैं। लीलाका भी अस्तित्व नहीं है। है केवल माया-विनिर्मित विशुद्ध चित्। परंतु यह भी अद्वैत तत्त्व विज्ञानकी प्रज्वलित अग्निमें भस्मीभूत हो जाता है। रहता है केवल निराकार निर्विशेष ब्रह्म। साधक स्वयं भी नहीं रहता, वह ब्रह्माग्निके स्फुलिङ्गके समान विलीन हो जाता है। अद्वैतविज्ञान इस प्रकार सर्वज्ञयी होकर परम सिद्धिको प्राप्त होता है और इधर भक्ति-साधनामें भक्त, कोटिकल्पके अन्तमें भी जो लीलाको प्राप्त नहीं होता, उस परमानन्द, सौन्दर्यमय, मनोरम, मधुरतम, मङ्गलमय, नित्य धाम गोलोक वैकुण्ठमें चिरंतन चिन्मय लीलामें प्रवेश करके कृतार्थ होता है।

इसी कारण सब शास्त्रोंमें भक्तिकी महिमा कीर्तित हुई है। गीतामें कहा गया है—

> योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
> श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
> (६।४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

फिर उसके अन्तमें श्रीभगवान् कहते हैं—

> सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
> मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
> मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
> (गीता १८।६४-६५)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण गोपनीयोंसे भी अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन। तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।'

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें श्रीभगवान् ऐसे कहते हैं—

> न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
> न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
> (११।१४।२०)

सहस्रों योग-साधनोंमें, सहस्रों [illegible], सहस्रों वैराग्यसाधनोंमें, सहस्रों धर्म-साधनोंमें, [illegible] जिन भगवान्‌के पादपद्मोंका स्पर्श भी प्राप्त नहीं होता, उन भगवान्‌को भक्तिके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। [illegible] सख्य-मधुरादि रसोंके सम्बन्धको प्राप्त होकर भक्ति [illegible] चार भागोंमें विभक्त होती है—(१) [illegible] (२) साधन-भक्ति, (३) भाव-भक्ति और (४) [illegible] भक्ति। नियमित साधनानुष्ठानके द्वारा भक्तोंके [illegible] सामान्यतः जिस श्रद्धा-प्रीति [illegible] भक्तोंके हृदयमें होता है, वह [illegible] है। [illegible] साधनानुष्ठानकी मर्यादामें [illegible] के नामसे पुकारी जाती है। जब [illegible] है, तब भक्तके अन्तर्देशमें जो भक्ति [illegible] उत्पन्न होता है—सूर्योदयके पूर्व [illegible] समान, जो आगे चलकर प्रेममें [illegible] नाम 'भाव-भक्ति' है। भाव-भक्तिका [illegible] [illegible] सम्बन्ध नहीं रहता। जब भगवान्‌के [illegible] विशेष सम्बन्ध स्थापित होने लगते हैं, [illegible]

दुर्भावका शुभ समारम्भ होता है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर—भक्तिके ये पाँचों प्रकार प्रेम-भक्तिके अन्तर्गत हैं। शान्तभक्ति ज्ञानमिश्रा भक्ति है। सनक-सनातन-सनन्दन-सनत्कुमारकी भक्ति ज्ञानमिश्रा शान्त-भक्ति है। उपनिषदोंमें स्थान-स्थानपर जिस भक्तिकी किरणें आभासित होती हैं, वह भी शान्त-भक्ति है। अक्रूर, अम्बरीष, हनुमान्, विभीषण आदिकी भक्ति 'दास्य-भक्ति' है। अर्जुन, उद्धव तथा गोप-बालकोंकी भक्ति 'सख्य-भक्ति' है। नन्द-यशोदाकी भक्ति 'वात्सल्य-भक्ति' है। श्रीराधा, रुक्मिणी, चिन्द्रावली आदिकी भक्ति 'मधुरभक्ति' या 'कान्ता-भक्ति' है। मधुर-भक्तिका नाम मधुरा रति है। मधुरा रतिकी गम्भीरसे गम्भीरतर, मधुरसे मधुरतर स्तर-उत्तरोत्तर क्रमशः प्रकाशित होती है—स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव, महाभाव आदि। चित्तमें जब स्नेह आविर्भूत होता है, तब समस्त बुद्धि, मन और प्राण कोमल और स्निग्ध भावको प्राप्त होते हैं। तब निर्मल और प्रफुल्ल हो उठते हैं। तत्पश्चात् मनका विकास होता है। अन्तःकरणमें गम्भीर आत्मोपलब्धि उत्पन्न होती है। तब मनमें आता है कि 'मैं प्रेम करूँगा'। वह सोचता है कि प्रेम करनेकी योग्यता मुझमें कितनी है ? मैं प्रेम-सेवा कर सकूँगा या नहीं ? प्राणाधिक मेरी सेवा ग्रहण करेंगे या नहीं ?' इस विचारके साथ-साथ कुछ आत्ममर्यादाका बोधरूप अभिमान भी जाग्रत् हो उठता है। आत्मसम्प्रदानमयी प्रीतिके भीतर भी—'मैं अपना अपमान सह सकता हूँ, परंतु प्रेमका असमान नहीं सह सकता। जो प्रेम अमरलोकसे इस मर्त्यलोकमें आया है, वह प्रियतमसे भी बढ़कर महिमावान है।'—इस प्रकारका एक अभिमानका भाव निगूढरूपसे संचित रहता है। मानके पश्चात् प्रणय उत्पन्न होता है। प्रणयके उदय होनेपर नायक और नायिकाकी सुमधुर प्रीति और भाव इतने मधुमय हो उठते हैं कि अभिमानकी अभिव्यक्तिके लिये अवकाश नहीं रह जाता। प्रणय-रतिके इसी स्तरमें जब दोनोंके बीच घनीभूत अमृतरसका आदान-प्रदान होता है, तब दोनों आमने-सामने आते हैं, आँख-से-आँख मिलती है, देखा-देखी होती है और परस्पर मान-सम्मान होता है। प्रणयके बाद राग उत्पन्न होता है। रागमें रति नील, श्याम, लोहित आदि वर्णोंको प्राप्त होती है। जिस प्रकार पुष्पके अनेक वर्ण होते हैं, रतिके भी उसी प्रकार अनेक रंग होते हैं। ये रंग ही रतिके अन्तरङ्गका रूपाभास हैं। रागके बाद अनुराग होता है। इसमें एकके अन्तरका वर्ण दूसरेके अन्तरमें प्रतिभासित होता है। एकके अन्तरमें जब जो भाव जाग्रत् होता है, दूसरेके अन्तरमें भी उसी समय उसी भावकी प्रतिमूर्ति स्फुटित हो उठती है। प्राणका प्राणसे, चित्तका मनसे जो गम्भीर मिलन होता है, जिसका नाम प्रेम है, उसका इस अनुरागमें ही मुख्य प्राकट्य होता है। प्रेममें जो एक अचिन्त्य द्वैताद्वैत-भाव रहता है, वह प्रकट होता है अनुरागमें। इसी कारण प्रेमका नाम अनुराग है। अनुरागके बाद आता है भाव। 'भाव' शब्द यहाँ पारिभाषिक है। 'चैतन्य-चरितामृत' ग्रन्थमें लिखा है—

प्रेमेर परम सार तार नाम भाव।

अर्थात् प्रेमका जो परम निर्यास है, उसीका नाम *भाव है। इस भावके परम सारको 'महाभाव' कहते हैं।* महाभावमें ही प्रेमकी पराकाष्ठा है। प्रेमके भीतर जितना आश्चर्यमय, अपूर्व चिन्मय उल्लास तथा उच्छ्वास निहित है, उसका अनिर्वचनीय प्राकट्य महाभावमें होता है। इसकी अभिव्यक्ति मानव-जीवनमें नहीं होती। एक आश्चर्यमय दिव्य मानव इस मर्त्यलोकमें महाभावकी चित्त-चमत्कारिणी विकार-लीलाका प्रदर्शन करा गये हैं। वे हैं नदियाके श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेव, जो प्रेमभक्तिके अवताररूपमें जगत्‌में आविर्भूत हुए थे। महाभाव रूढ और अधिरूढ भेदसे दो प्रकारका होता है। अधिरूढ महाभाव भी मादन और मोदन भेदसे दो प्रकारका होता है। यह महाभाव श्रीराधा तथा उनकी सखियोंकी सम्पदा है। प्रेमकी अनुभूति, उसका आश्चर्यतम विभाव परम्पराजनित प्रकाश पाता है इसी मादनाख्य महाभावमें। अनुराग, जो महाशक्तिशाली व्यापार, महास्वच्छन्द विद्युत्-स्फुरण-प्रवाह है, वह प्रतिबिम्बित होता है इसी मादनाख्य महाभावमें। भक्ति क्या वस्तु है—यह समझनेके लिये अधिरूढ महाभावका अनुशीलन करना आवश्यक है। जो लोग भक्तिको मधुर मनोराग (Sweet Sentimentality) कहकर उसकी अवज्ञा करते हैं, वे अज्ञानी हैं। भक्ति प्राकृतिक अनुभूति (Feeling) मात्र नहीं है। यह एक ह्लादिनी चिन्मयी शक्ति है। इस शक्तिके प्रभावसे भगवान् वशीभूत होते हैं। यह शक्ति ही विश्वकी परममय शक्ति है। रासमण्डलमें अन्तर्हित होकर भी व्रजाङ्गनाओंकी भक्तिके प्रभावसे भगवान् जिस रूपमें उनके सम्मुख पुनः आविर्भूत हुए थे, उसी मूर्तिका ध्यान करते हुए हम इस प्रबन्धको समाप्त करते हैं—

> तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
> पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥
>
> (भागवत १०।३२।२)

रूपसे ग्रहण किया गया है। उनके कार्य-कलाप, उनकी व्यापी हुई नीति—यहाँतक कि उनकी चारित्रगत विशेषताओं-को भी इस युगमें आदर्शरूपसे ग्रहण किया गया है। सारांश यह कि परम पुरुष श्रीराम और श्रीकृष्णके पाद-पद्मोंमें पूर्ण आत्म-समर्पण सम्पन्न हो गया है।

अब अपनी बात कही जाती है। वैष्णव-भक्ति आज और भी पूर्णतर—सम्भवतः पूर्णतम आदर्शसे अनुप्राणित है। इसके आदर्शमें ग्रह और ग्रह-देवता स्वतन्त्र नहीं हैं। भक्तके वैष्णव प्राणमें ही प्रियको प्रतिष्ठित करते हैं। सब मिलकर एकाकार हो जाते हैं। सूर्य जैसे प्रकाश, वायु और आकाश—सबसे प्राण-रस संग्रह करके प्राणमय हो उठता है, वैष्णव भी ठीक उसी प्रकार परम प्रियतमको परिपूर्ण भावसे भक्ति अर्पण करते हैं। देह और देही एक हो जाते हैं।

वैष्णव-भक्ति-तत्त्व अद्वैतवादका प्रत्याख्यान करता है। उसकी भित्ति पारतम्यका प्रमाणत्व है। यहाँ निम्बार्क या वल्लभाचार्यके मतवादकी पृथक्ताके लिये कोई स्थान नहीं है। अर्थात् वादकी दृष्टिसे, द्वैतवाद या अद्वैतवाद—किसी भी वादके लिये यहाँ स्थान ही नहीं है। ब्रह्म क्यों जगत्‌का निमित्त-कारण है, उपादान-कारण क्यों नहीं है, द्वैतवादमें जगत् और ब्रह्मका पृथक् अस्तित्व क्यों स्वीकार्य है—इस प्रकारके प्रश्नोंके लिये यहाँ कोई स्थान नहीं है। श्रीकृष्ण ही आराध्य-देवता हैं, वे ही इष्ट हैं, फिर चाहे किसी रूपमें उनका भजन क्यों न किया जाय। वैष्णव-भक्ति-तत्त्वमें इस आदर्शवादने प्रेमके आवरणमें कैसा अपूर्व रूप धारण किया है, श्रीराधिका उसका मूर्तिमान् स्वरूप हैं।

श्रीराधिका श्रीकृष्ण-भक्तिकी सजीव विग्रह हैं। उनका स्थान संसारसे बहुत ऊपर है। इस प्रेममें मन और प्राण मुग्ध हो जाते हैं, परंतु उन्मत्त नहीं होते। जैसे एक हीरकखण्डमें सूर्यरश्मि प्रतिफलित होकर हमारे नयनोंको मोह लेनेवाली वर्णच्छटाकी सृष्टि करती है, उसी प्रकार इस प्रेमने अनुराग, मिलन, विरह, संताप प्रभृति नाना रूपोंमें प्रकट होकर भारतकी सनातन भक्तिके आदर्शको परिपुष्ट किया है।

भारतका समाज सम्मिलित परिवारके आदर्शमें गठित है। इस संसारमें पति-पत्नी हैं, पुत्र-कन्या हैं, आत्मीयजन सखा-सखी हैं। इन सबके प्रेमको लेकर ही यह संसार है। यही प्रेम है। परंतु जो इसके भी बहुत ऊपर हैं, उनके प्रति जब हम प्रेमके आकर्षणसे आकर्षित होते हैं, जब उनके विरहमें हमारे प्राण व्याकुल हो उठते हैं, उनके विरहकी व्यथा और उद्दामताकी अनन्यतामें जब अन्तरात्मा क्रन्दन करता हुआ कहता है—

प्यारे दरसन दीज्यो आय, तुम बिन रह्यो न जाय॥
जल बिनु कमल, चंद बिन रजनी,
ऐसे तुम देख्याँ बिन सजनी,
आकुल व्याकुल फिरूँ रैन दिन, बिरह कलेजो खाय॥
दिवस न भूख, नींद नहिं रैना,
मुखसूँ कथत न आवै बैना,
कहा कहूँ, कछु कहत न आवै, मिलकर तपत बुझाय॥
क्यूँ तरसावो अंतरजामी,
आय मिलो किरपा कर स्वामी,
मीराँ दासी जनम जनमकी पड़ी तुम्हारे पाँय॥

—तब हृदयसे जो अपार्थिव प्रेम और दुर्दमनीय भक्ति उनके प्रति अर्पित होती है, वह प्रेम ही वैष्णवी-भक्तिका उपजीव्य है। इसी भक्तिकी मस्तीमें एक दिन श्रीगौराङ्गदेव विभोर हो गये थे। श्रीपरमहंस रामकृष्णने इसी रसके आस्वादनमें बाह्य सुध-बुध खो दी थी और इसी आवेशमें आविष्ट होकर देवी आण्डाल—

मधुरं मधुरं वपुरस्य विभो
मधुरं मधुरं वदनं मधुरम्।
मधुगन्धि मृदुस्मितमेतदहो
मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम्॥

—कहते-कहते श्रीरङ्गम्‌के श्रीरङ्गनाथके नामपर उन्मत्तवत् हो उठती थीं। जगत्‌में इस पराभक्तिकी कहीं तुलना नहीं है। ऐकान्तिकता और अगाधतामें यह अतुलनीय है।

श्रीराधिकाका प्रेम काम-गन्ध-शून्य है। प्रेम यदि सचमुच प्रेम हो तो उसमें कामके लिये स्थान नहीं। यह भारतीय दर्शन है। प्रेम विशुद्ध है, प्रेम भगवत्स्वरूप है, प्रेम भक्तिका मूल है। श्रीराधिका इसी प्रेमकी पूर्ण अभिव्यक्ति हैं। श्री-राधिकाने श्रीकृष्णको देखा नहीं, श्रीकृष्णको जाना नहीं; *परंतु जिस दिन उनका नाम सुना, उसी दिनसे वह मधुर* नाम—

कानेर भीतर दिया मरमे पशिल गो
आकुल करिल मोर प्रान।

'कानोंके भीतर प्रविष्ट होकर *मर्मस्थलमें* घुस गया और उसने मेरे प्राणोंको आकुल कर दिया!'

वैष्णव-भक्ति और भारतीय आदर्श

(लेखक—श्रीमती शैलकुमारी बाना)

प्रेम-भक्तिकी चर्चा करते समय पहले वैष्णव-समाजकी चर्चाका विषय सामने आता है। भारतका जो सनातन आदर्श है, उसके साथ प्रेम-भक्तिका सम्बन्ध ओत-प्रोत होकर जुड़ा हुआ है। अतएव प्रेम-भक्तिके विषयमें कुछ कहनेके पहले भारतीय आदर्शके विषयमें कुछ कहना आवश्यक है।

आदर्श सृष्टिकी ओर लक्ष्य रखकर विचार करनेपर कई स्तरोंकी बात विशेषरूपसे मनमें आती है। उनमें पहला वैदिक-युगका आदर्श है। वैदिकयुगकी प्रजा विचित्र और विभिन्न-पथगामिनी थी और उसका लक्ष्य था ऋद्धि। वैदिक इतिहासमें हम देखते हैं कि ऋषि और ब्रह्मवेत्तागण अग्निमें आहुति डालकर प्रार्थना करते हैं—

'हमारे शत्रुओंका नाश हो, हमें धनकी प्राप्ति हो तथा गार्हस्थ्य-सुख प्राप्त हो।' वे कहते हैं—'हे हुताशन! तुम हमारी कामनाओंको सिद्ध करो। शत्रुके तेजको पराभूत करो और दाम्पत्य-जीवनको सुखमय बनाओ।' यह प्रार्थना हम सुनते हैं अपाला, ऋभु आदिके मुखसे; यह प्रार्थना सुनते हैं शचीके तथा देवमाता अदितिके मुखसे। अर्थात् श्रेष्ठ देवताओंके मुखसे ही हमें ज्ञात होता है कि उनका प्रेम ऋद्धि और सिद्धिकी सार्थकता और पार्थिव प्रतिष्ठाके बीच निवास करता था।

इसके कुछ ही पश्चात् हम आरण्यकयुगमें प्रवेश करते हैं। जो अग्नि 'रत्नधातमम्' था, वही यहाँ 'सूर्याचन्द्रमसावुभौ महत्त्वागमी' है। विराट् उन्मुक्त नभ, उस समय आराध्यका प्रतीक बना। यहाँ गीताकी वाणी याद आती है—

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।

अर्थात् नाम-रूपसे अतीत एक परशक्ति इस आदर्शका चिह्न स्वरूप है। यहाँ सारी प्राकृतिक वस्तुएँ उसी एकसे उद्भूत और उसीमें स्थित हैं, तथा समस्त साधनाओं और आराधनाओंका केन्द्रिय आदर्श है वही एक।

इस युगमें शान्त प्राकृतिक अरण्यके परिवेशमें ध्वनित होता है केवल—

मध्वो सुखमस्ति भूमैव सुखम्॥

फिर ध्वनित होता है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(कठ० २।२।१५)

'वहाँ (उस आत्मलोकमें) सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा और तारे भी नहीं चमकते और न ये बिजलियाँ चमचमाती हैं; फिर इस अग्निकी तो बात ही क्या है। उसके प्रकाशमान होते हुए ही सब कुछ प्रकाशित होता है, उसके प्रकाशसे ही यह सब कुछ भासता है।'

पुनः सुनते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
(कठ० १।२।२३)

'यह आत्मा वेदाध्ययनद्वारा प्राप्त होनेयोग्य नहीं है, न धारणाशक्ति अथवा अधिक श्रवणसे ही प्राप्त हो सकता है। यह [साधक] जिस [आत्मा] का वरण करता है, उस [आत्मा] से ही यह प्राप्त किया जा सकता है। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूपको अभिव्यक्त कर देता है।'

अर्थात् इस उपनिषद्-युगमें ब्रह्मलोकमें [illegible] उद्बुद्ध होता है अपार्थिवतामें। भक्ति अन्तर्मुखी होती [illegible] उन्होंने अनुभव किया था कि भूमा इस पृथिवीमें [illegible] नहीं है। इसीलिये उन्होंने कहा था—

यन्नुम इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा [illegible] कथं तेनामृता स्याम?

(बृहदा० [illegible])

अतएव हमने देख लिया कि वैदिकयुगका [illegible] आकर्षण इस युगमें परिवर्तित हो गया है नित्य वस्तुके [illegible] में। क्रमशः ये दोनों मानो दो स्वतन्त्र धाराएँ हैं।

इसके बाद हमको पौराणिक युगमें इन दोनोंके [illegible] सामञ्जस्य स्थापनेकी एक चेष्टा प्राप्त होती है। [illegible] और भी पूर्णतर होता है। इस युगमें [illegible] महाभारतके देवव्रत भीष्म और श्रीकृष्णको [illegible]

पसे ग्रहण किया गया है। उनके कार्य-कलाप, उनकी पनी हुई नीति—यहाँतक कि उनकी व्यक्तिगत विशेषताओं-। भी इस युगमें आदर्शरूपसे ग्रहण किया गया है। सारांश ह कि परम पुरुष श्रीराम और श्रीकृष्णके पाद-पद्मोंमें पूर्ण त्म-समर्पण सम्पन्न हो गया है।

अब अपनी बात कही जाती है। वैष्णव-भक्ति आज र भी पूर्णतर—सम्भवतः पूर्णतम आदर्शसे अनुप्राणित । इसके आदर्शमें गृह और गृह-देवता स्वतन्त्र नहीं हैं। सके वैष्णव प्राणमें ही प्रियको प्रतिष्ठित करते हैं। सब मिलकर कत्कार हो जाते हैं। इस जैसे प्रकाश, वायु और आकाश—से प्राण-रस संग्रह करके प्राणमय हो उठता है, वैष्णव ी ठीक उसी प्रकार परम प्रियतमको परिपूर्ण भावसे भक्ति पंण करते हैं। देह और देही एक हो जाते हैं।

वैष्णव-भक्ति-तत्त्व अद्वैतवादका प्रत्याख्यान करता है। सकी भित्ति भावरागभक्ता ग्रन्थन है। यहाँ निम्बार्क या लभाचार्यके मतवादकी पृथक्ताके लिये कोई स्थान नहीं है। र्थात् वादकी दृष्टिसे, द्वैतवाद या अद्वैतवाद—किसी भी दके लिये यहाँ स्थान ही नहीं है। ब्रह्म क्यों जगत्का निमित्त-कारण है, उपादान-कारण क्यों नहीं है, विष्यमें जगत् और ब्रह्मका पृथक् अस्तित्व क्यों स्वीकार्य है—इस प्रकारके प्रश्नोंके लिये यहाँ कोई स्थान नहीं है। श्रीकृष्ण ही आराध्य-देवता हैं, वे ही इष्ट हैं, फिर चाहे किसी रूपमें उनका भजन क्यों न किया जाय। वैष्णव-भक्ति-तत्त्वमें इस आदर्शवादने प्रेमके आवरणमें कैसा अपूर्व-रूप धारण किया है, श्रीराधिका उसका मूर्तिमान् स्वरूप हैं।

श्रीराधिका श्रीकृष्ण-भक्तिका सजीव विग्रह हैं। उनका प्रेम संसारसे बहुत ऊपर है। इस प्रेममें मन और प्राण मुग्ध हो जाते हैं, परंतु उन्मत्त नहीं होते। जैसे एक स्फटिकखण्डमें सूर्यरश्मि प्रतिफलित होकर हमारे नयनोंको मोह लेनेवाली वर्णच्छटाकी सृष्टि करती है, उसी प्रकार इस प्रेमने अनुराग, मिलन, विरह, संताप प्रभृति नाना रूपोंमें प्रकट होकर भारतकी सनातन भक्तिके आदर्शको परिपुष्ट किया है।

भारतका समाज सम्मिलित परिवारके आदर्शमें गठित है। इस संसारमें पति-पत्नी हैं, पुत्र-कन्या हैं, प्रीतिपात्र सम्बन्धी हैं। इन सबके प्रेमको लेकर ही यह संसार है। यही प्रेम है। परंतु जो इनके भी बहुत ऊपर हैं, उनके प्रति जब हम प्रेमके आकर्षणसे आकर्षित होते हैं, तब उनके विरहमें हमारे प्राण व्याकुल हो उठते हैं, उनके विरहकी व्यथा और उद्विग्नताकी अनन्यतामें जब अन्तरात्मा क्रन्दन करता हुआ कहता है—

प्यारे दरसन दीज्यो आय, तुम बिन रह्यो न जाय ॥
जल बिनु कमल, चंद बिन रजनी,
ऐसे तुम देख्याँ बिन सजनी,
आकुल व्याकुल फिरूँ रैन दिन, बिरह कलेजो खाय ॥
दिवस न भूख, नींद नहिं रैना,
मुखसूँ कथत न आवै बैना,
कहा कहूँ, कछु कहत न आवै, मिलकर तपत बुझाय ॥
क्यूँ तरसावो अंतरजामी,
आय मिलो किरपा कर स्वामी,
मीराँ दासी जनम जनमकी पड़ी तुम्हारे पाय ॥

—तब हृदयसे जो अपार्थिव प्रेम और दुर्दमनीय श्रद्धा उनके प्रति अर्पित होती है, वह प्रेम ही वैष्णवी-भक्तिका उपजीव्य है। इसी भक्तिकी मस्तीमें एक दिन श्रीगौराङ्गदेव विभोर हो गये थे। श्रीपरमहंस रामकृष्णने इसी रसके आस्वादनमें बाह्य सुध-बुध खो दी थी और इसी आवेशमें आविष्ट होकर देवी आण्डाळ—

मधुरं मधुरं मधुरम्य विभो
मधुरं मधुरं वदनं मधुरम्।
मधुगन्धि मृदुस्मितमेतदहो
मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम् ॥

—कहते-कहते श्रीरङ्गम्के श्रीरङ्गनाथके नामपर उन्मत्तवत् हो उठती थीं। जगत्में इस पराभक्तिकी कहीं तुलना नहीं है। ऐकान्तिकता और प्रगाढ़तामें यह अतुलनीय है।

श्रीराधिकाका प्रेम काम-गन्ध-शून्य है। प्रेम यदि सचमुच प्रेम हो तो उसमें कामके लिये स्थान नहीं। यह भारतीय दर्शन है। प्रेम विशुद्ध है, प्रेम भगवत्स्वरूप है, प्रेम भक्तिका मूल है। श्रीराधिका इसी प्रेमकी पूर्ण अभिव्यक्ति हैं। श्री-राधिकाने श्रीकृष्णको देखा नहीं, श्रीकृष्णको जाना नहीं; परंतु जिस दिन उनका नाम सुना, उसी दिनसे वह मधुर नाम—

कानेर भीतर दिया मरमे पशिल गो
आकुल करिल मोर प्राण !

'कानोंके भीतर प्रविष्ट होकर मर्मस्थलमें घुस गया और उसने मेरे प्राणोंको आकुल कर दिया !'

और फिर कहती हैं—

ना जानि कतेक मधु श्याम नामे आछे गो
वदन छाड़िते नाहि पारे।
जपिते-जपिते नाम अवश करिल गो
केमने पाइब सइ तारे॥

'सखी ! मैं नहीं जानती कि श्यामसुन्दरके नाममें कितनी मधुरता है, वदन इसको छोड़नेमें असमर्थ हो रहा है। नाम जपते-जपते मैं अवश हो गयी, सखी ! अब मैं उनको कैसे पाऊँगी ?'

भाव ही रागात्मिका भक्ति है। भारतके भक्ति-मार्गका यही आदर्श है।

पहले ही कहा जा चुका है कि प्रेमकी आन्तरिकता और गम्भीरतामें श्रीराधिका भारतीय भक्तिकी आदर्श हैं। वैष्णव भक्तिका चरमस्वरूप 'राधा-भाव' है। इस भावका प्रकृत स्वरूप, श्रीराधिकाके सिवा, किसीके दर्शनमें और कहीं नहीं मिलता। 'मैं तुम्हारी ही हूँ। मैंने अपना सर्वस्व तुमको अर्पण कर दिया। मेरी सारी इन्द्रियोंके अधीश्वर तुम्हीं हो, तुम सब कुछ ले लो।' पूर्णतम निष्काम भावसे ऐसी बात राधाके सिवा क्या और कोई कह सकता है ? तात्पर्य यह कि श्रीराधिका दुविधा, लज्जा, संकोच, संशय आदिसे विरहित चित्तसे, आदर्श भक्तके स्वभावसिद्ध अकुण्ठित रूपमें, निखिलनाथ् जगत्के सम्मुख आत्मनिवेदनके एक अपूर्व आदर्शके रूपमें स्थित हैं। यह आदर्श है—

बँधु ! तुमि से आमार प्राण।
देह मन आदि तोमारे सँपेछि
कुल शील जाति मान॥
अखिलेर नाथ तुमि हे कालिया।
योगीर आराध्य धन॥
गोप-गोयालिनी हम अति हीन
ना जानि भजन-पूजन॥
पिरीति-रसेते ढालि तनु-मन
दियाछि तोमार पाय॥
तुमि मोर गति, तुमि मोर पति
मन नाहि आन भाय।
कलंकी बलिया डाके सब लोके
ताहाते नाहिक दुख।
बँधु तोमार लागिया कलंकेर हार
गलाय परिते सुख॥
× × × ×
भाल-मन्द नाहि जानि।
कहे चण्डीदास पाप-पुण्य मम
तोमार चरण खानि॥

'हे बन्धु ! तुम मेरे प्राण हो। मैंने देह-मन तथा कुल, शील, जाति और मान—सब तुमको दे दिये। कृष्ण ! तुम अखिल जगत्के नाथ हो, योगियोंके आराध्य धन हो। हम गोप-ग्वालिनियाँ अति हीन हैं, भजन-पूजन नहीं जानतीं। प्रेमके रसमें डुबाकर मैंने अपना तन-मन तुम्हारे चरणोंमें डाल दिया है। तुम्हीं मेरी गति हो, तुम्हीं मेरे पति हो, मेरा मन और किसीको नहीं चाहता। मुझे सब लोग कलङ्किनी कहकर पुकारते हैं, इसका मुझे दुःख नहीं है। बन्धु ! तुम्हारे लिये कलङ्कका हार गलेमें धारण करनेमें मुझे सुख है। ......—क्या भला और क्या बुरा—यह मैं नहीं जानती। चण्डीदास कहते हैं कि हे प्यारे ! मेरा पाप-पुण्य सब केवल तुम्हारे चरण ही हैं।'

भारतीय वैष्णवी-भक्ति यही बात कहती है। यही वैष्णवोंकी कामना है। पता नहीं, ऐसी आन्तरिकतापूर्ण आत्मभावमें, ऐसी मर्मस्पर्शिनी निर्भरताके साथ ...... भक्ति—ऐसी दर्दभरी, विनतीभरी, मन-प्राणको ...... करनेवाले कोमल मधुरस्वरमें आराध्य देवताके चरणोंमें आत्मनिवेदन करनेकी बात—अन्यत्र कहीं मिलती भी है या नहीं। परंतु भारतीय आदर्शमें यह निष्काम नित्यमधुर और नित्यस्थायी प्रेम ही भारतीय वैष्णवी भक्तिका अटल आदर्श है।

भजन विना विना पूँछका पशु

काकभुशुण्डिजी कहते हैं—

रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥
(उत्तरकाण्ड)

साध तेरी

(रचयिता—वैद्यराज श्रीधनाधीशजी गोस्वामी)

अमरवैभव सृजन करना,
एक ही हो साध तेरी॥

साधना-पथ-पथिक बनकर, कोटि कष्टोंको सहनकर।
विपद्-हिमगिरि, तीव्र तपसे, विलय होगा स्रोत बनकर॥
दुःखके गम्भीर तलमें, सुख लगावे नित्य फेरी।
अमर वैभव सृजन करना, एक ही हो साध तेरी॥१॥

जाल फैला वासनाका, चमकती मृगतृष्णिकाएँ।
मोह-तमसे पथ समावृत, मुग्ध करती हैं हवाएँ॥
सजग हो मग पग बढ़ाना, बज रही अविवेक-भेरी।
अमर वैभव सृजन करना, एक ही हो साध तेरी॥२॥

मानपर जब विजय होगी, आत्मविजयी तब बनेगा।
अङ्कुरित तृष्णा हुई तो, गर्त अपना तू खनेगा॥
ज्ञान-दीपक बुझ न जाये, है अविद्या-निशि अँधेरी।
अमर वैभव सृजन करना, एक ही हो साध तेरी॥३॥

इन्द्रियोंपर विजय पाकर, अटल संयम-साधना कर।
सत्यसे, तप-त्यागसे, निज इष्टकी आराधना कर॥
स्वतः पुलकित हो उठेगी, सिद्धियोंकी विशद ढेरी।
अमर वैभव सृजन करना, एक ही हो साध तेरी॥४॥

कर्मयोगी बन अनवरत, सफल होकर फूलना मत।
कर्मका फल है पराश्रित, विफल हो दुख भूलना मत॥
त्यागकर अधिकार-शासन, बना रह कर्तव्य-चेरी।
अमर वैभव सृजन करना, एक ही हो साध तेरी॥५॥

'अटल साहस' से निरन्तर, साधना-पथ जगमगाता।
यह निराशा-निशि विलयकर, सुख प्रभातको जगाता॥
भ्रान्तिका अनुभव न करना, सिद्धि होगी चरण-चेरी।
अमर वैभव सृजन करना, एक ही हो साध तेरी॥६॥

सिन्धु-सरिता-निर्झरोंको, घाटियोंको, कन्दरोंको।
पार करता, भेदता चल, मोदके सुरमन्दिरोंको॥
जा पहुँच, शुचि सुधा-सरि-तट, पान कर झट, कर न देरी।
अमर वैभव सृजन करना, एक ही हो साध तेरी॥७॥

पुष्टि-भक्ति

(लेखक—सौ॰ श्रीकमिरा शरिन वि॰ मेहता)

सृष्टिमें भक्तको रसभावके प्रेममें डुबाकर, अलौकिक सत्त्वका स्मरण कराकर, अहंता-ममताको भुलाकर दीनता-पूर्वक प्रभुकी सेवा करानेवाली भक्ति पुष्टि-भक्ति कहलाती है। यह भक्ति प्रभुकी या गुरुकी कृपाके बिना नहीं प्राप्त होती। इसीलिये पुष्टि-मार्गको अनुग्रह-मार्ग भी कहते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रके लीला-रसके आनन्दमेंसे निकले हुए आनन्दात्मक, रसात्मक भावोंने जो भक्तिका स्वरूप ग्रहण किया, वही पुष्टिमार्ग है। इस मार्गमें जीवात्मा अंश और परमात्मा अंशी हैं। धर्म और धर्मी प्रभुको मानकर मनुष्य दास होकर प्रभुकी भक्ति करनेसे प्रभु प्रसन्न होते हैं।

पुष्टिमार्गमें गीता, भागवत और वेद प्रमाणस्वरूप माने गये हैं। गीताके बारहवें अध्यायमें बतलाये गये भक्तोंके लक्षण पुष्टिमार्गकी उत्तमता प्रदर्शित करते हैं। पुष्टिमार्गको आधुनिक बतलाना ठीक नहीं। जैसे सूर्य आज ही उगा है—यह कहना ठीक नहीं होगा—सूर्य तो था ही, वह रातके समय नहीं दीखा, सबेरा होनेपर दीखने लगा—यही बात पुष्टिभक्तिके विषयमें है। वह नित्य होनेपर भी बीच-बीचमें तिरोहित होकर प्रभुकी इच्छासे पुनः आविर्भावको प्राप्त होती है। लुप्त हुई पुष्टिभक्ति प्रभुकी इच्छा और आज्ञासे पुनः श्रीवल्लभाचार्यके द्वारा आविर्भूत हुई है।

श्रीमद्भागवतके अनुसार नन्द-यशोदा, गोप-गोपिकाओं तथा ग्वालोंको अनुग्रहपूर्वक प्रभुने भक्तिका दान किया। अर्जुनको भी गीतामें भगवान्‌ने शरणागति ग्रहण करनेके लिये—'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' (१८ । ६६)—का उपदेश दिया।

पुष्टिमार्गके भक्त मुक्तिकी भी इच्छा नहीं करते, दास्य-भावसे प्रभुके शरण आकर, प्रभुकी तन-मन धनसे सेवा करके, सेवाके फलस्वरूप सेवाकी प्राप्तिके लिये निष्काम भावसे सर्वस्व प्रभुको अर्पण करते हैं। प्रभुकी प्राप्तिमें होनेवाला विलम्ब और उससे प्राप्त होनेवाला विरह ताप इस मार्गकी साधनामें मुख्य माने जाते हैं। पुष्टिमार्गमें प्रभुकी तनुजा, वित्तजा और मानसी—त्रिविध सेवा की जाती है। इनमें मानसी सेवा श्रेष्ठ है। तनुजा और वित्तजा सेवा सिद्ध हो जाय तो अहंता और ममता दूर हो जाय। दीनताकी प्राप्ति होनेपर मानसी सेवा सिद्ध होती है। तब हृदयमें अलौकिक प्रेमका झरना बहने लगता है, जिससे एकात्मकभाव, सेवात्मकभावके उदय और 'वासुदेवः सर्वमिति' (७ । १९)—इस दृष्टिसे सर्वत्र प्रभुके रसरूप-रसनिधि स्वरूपको आँखोंसे देखकर कृतार्थ होकर वह प्रभुकी लीलामें पहुँच जाता है।

इस मार्गकी प्राप्तिके लिये श्रीमहाप्रभुने पुष्टि-रीतिका उपदेश करके दैवी जीवोंको प्रभु-सांनिध्य सिद्ध करा दिया। पुष्टिभक्तिके मार्गमें कोई बालस्वरूप, कोई किशोर स्वरूप तथा कोई गोपीजनस्वरूपकी सेवा करते हुए वात्सल्य, सख्य और दास्यभक्तिके द्वारा सर्व-समर्पण करके आत्मनिवेदन भक्तिको प्राप्त करते हैं। वे भगवान्‌के सुखके लिये भक्तिमें मग्न रहते हैं; उन्हें देहका अनुसंधान नहीं रहता और विरह-ताप प्रभुका सांनिध्य प्राप्त कराता है।

पुष्टिभक्तिका साधन नवधा भक्ति है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य और सख्य—इस क्रमसे साधना करनेपर अन्तमें आत्मसमर्पण सम्पन्न होता है; तब प्रेमलक्षणा भक्तिसे प्रभु प्रसन्न होते हैं।

भक्ति करते-करते वैराग्य होनेपर मनका प्रभाव होता है। उस प्रभावसे हृदयमें मान-अपमान, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे उपरति प्राप्त होती है। सुख-दुःख मनके धर्म होते हैं। यदि मन प्रभुको अर्पण हो जाय, प्रभु-सेवामें नित्य लगा रहे, प्रभुके प्रेममें सदा मस्त रहे तो सहजमें काम-क्रोध, राग-द्वेष और लोभ छूट जाते हैं। तब सभी काम प्रभुके सुखके लिये, प्रभुकी प्रसन्नताके लिये होने लगते हैं। यही पुष्टिमार्गकी भक्ति है।

सब भावोंमें मधुरभाव प्रभुके विशेष निकट पहुँचाता है। उसमें जाति-वर्णका भेद नहीं रहता। विजातीय, अन्त्यज तथा स्त्रियोंने भी इस भावके द्वारा प्रभुको प्राप्त किया है। मधुरभावमें प्रेमकी मुख्यता है। प्रभुके प्रति प्रेम ही उसे भक्तिमें परिणत करता है। प्रेममें त्यागकी भावना मुख्य होती है। प्रियतमके सुखके लिये जब प्राणोंको भी समर्पण कर दिया जाता है, तब इस जगत्‌के तुच्छ सुखोंका त्याग करनेमें तो कोई क्लेश नहीं होता। जो लौकिक प्रेमका त्याग करता है, उसे अलौकिक प्रभु-प्रेम प्राप्त होता है। एक मंजुला सेवक प्रभुकी सेवा करता था। सेवा करते समय वह मौन रहता। बहुत दिन इस प्रकार सेवा करते बीत गये।

प्रभुने उसको आँखें खोलनेके लिये कहा। भक्तने उत्तर ा—प्रभो! यदि मैं आँखें खोलूँगा तो तुम्हारे दर्शनसे वाले आनन्दके लोभसे तुम्हारी सेवा भलीभाँति नहीं केगी। इससे तुमको कष्ट होगा और वह मुझसे सहन नहीं कता। इसलिये मैं आँखें नहीं खोलूँगा।' यह उत्तर कर प्रभु प्रसन्न हो गये और तत्काल ही साक्षात् प्रकट होकर उसका हाथ पकड़कर आँखें खुलवाकर दर्शन दिये।

प्रभुके सुखके सामने अपने सारे सुख-दुःख, मान-अपमानको तुच्छ समझकर, अहंता-ममताको त्यागकर, दीनतासे सर्वभावोंको प्रभुमें केन्द्रित करके, उनके ही प्रेममें नित्य नयी-नयी सेवासे तन्मय होकर प्रेम-रसके समुद्रमें डूबे रहना पुष्टिभक्ति है।

कैसा सुंदर जगत बनाया!

(रचयिता—श्रीश्यामनन्दनजी शास्त्री)

कैसा सुंदर जगत बनाया!

नीला यह आकाश न नयनोंके नभमें छिप पाता।
अगणित ऋचाओंसे पल-पल हो तेरी महिमा गाता॥
नभ-गंगाके स्वर्ण-कमल ले सूरज अर्घ्य चढ़ाता।
स्वागतमें तेरे यह चंदा रजत-कुसुम बिखराता॥
रजनीने ले धागे तमके हीरक-हार सजाया।

कैसा सुंदर जगत बनाया!

मर्मरके स्वरमें ये तरुगण तव संदेश सुनाते।
पाकर थपकी मलयानिलसे सादर शीश नवाते॥
पत्तोंकी नीलम-थालीमें फूल-सुदीप सजाते।
मीठे कलकल-छल द्विजगण गा गुणगण नहीं अघाते॥
पा करके संकेत तुम्हारा नाच रही है माया!

कैसा सुंदर जगत बनाया!

महारूप लखकर ज्यों तेरा मौन बना है सागर।
लहरें हँसतीं शशिमें तेरी छविका दर्शन पाकर॥
झूम रही नदियाँ प्रमुदित हो विकसाये तट कलियाँ।
छूते ही तुमको हो जातीं गीली मनकी गलियाँ॥
नटनागर! क्योंकर यह तुमने इन्द्रजाल फैलाया!

कैसा सुंदर जगत बनाया!

विश्व रङ्गस्थल, जीवन नाटक अनुपम रास रचाया।
अनल-अनिल-घन-गिरि-वन-भू-कण नाटक-हेतु बनाया॥
जन्म-मरणके झूलेमें झूले मानवकी काया।
कौन कहे तेरी लीलाको, सबपर उसकी छाया॥
दीनबन्धु! सबके प्यारे तुम, एक भाव अपनाया!

कैसा सुंदर जगत बनाया!

२१— भक्तिके पाँच भाव

…ौ वृषभानु दुलारी, मैं छलिया, मेरी चितवन न्यारी,
कारो ही मेरो भेष ... कारी कमरिया ॥ २ ॥
…या ! तेरे घर क्यों आऊँ, अँगना में बँसुरी बजाऊँ,
नृत्य करूँ इन ... चरन पर पायलिया ॥ ३ ॥
… सखियाँ बुला दे, छिनमिन के गोल नाच नचा दे,
गले प्रेम की ... पायलिया ॥ ४ ॥
…नि की राधा रानी, वृंदावन के बाँके मानी,
सुन ... मालिनियाँ ॥ ५ ॥

(ब्रजका एक लोकगीत)

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र राधामय थे तथा राधाभावसे ओतप्रोत रहते थे।

महाकवि बिहारीने भी श्रीराधाभावको महत्ता देकर सतसईके प्रथम दोहेमें लिखा है—

मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँईं परें स्याम हरित दुति होय॥

रसनिधि रसखानने लिखा है—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यौ पुरानन गानन, बेद रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यौ सुन्यौ कबहूँ न कितूँ, वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
हेरत हेरत हारि परयौ 'रसखानि', बतायौ न लोग लुगायन।
देख्यौ दुरौ वह कुंज कुटीर मैं बैठ्यौ पलोटत राधिका पायन॥

भुवनमोहनी कुमारि किशोरी स्वामिनी प्रिया श्रीराधिकाजीके चरणोंको अपने हृदयमें स्थापितकर बारंबार यही कहें—

जय राधे, श्रीराधे!
राधावर गोपाल मम मन ...।

विनय

(रचयिता—प्रो० मदनगोपाल मल्लिक, एम्० ए०, डिप्० एड्०, साहित्याचार्य, साहित्यालंकार)

तिमिरमयी रजनीमें हूँ मैं
श्रान्त पथिक, हे नाथ!
पिच्छल पथपर चलता हूँ प्रिय!
कर दो मुझे सनाथ ॥ १ ॥

अशरण-शरण, दयामय, स्वामी,
मेरा मार्ग दिखाना।
मुझे यहाँसे तुम प्रकाशके
मन्दिरमें ले जाना ॥ २ ॥

ऐसा निन्दित कर्म नहीं है,
जिसे न शतशः कर पाया हूँ।
जीवनकी झोलीमें प्रभुवर!
कंकड़, कण्टक चुन लाया हूँ ॥ ३ ॥

जीवन-नौका जीर्ण पड़ी है,
उठती प्रबल बयार।
कैसे पहुँचेगी यह तेरे
स्वर्ण-धामके द्वार! ॥ ४ ॥

चलते-चलते कर्म-मार्गमें
नाथ! शिथिल मैं हो जाऊँ।
भवसागरकी तरल वीचिमें
पड़कर जब घबरा जाऊँ ॥ ५ ॥

कृपाशील होकर तुम मुझको
गीता-ज्ञान बता देना।
अपने चरण-कमलमें प्रियतम!
मेरा चित्त लगा देना ॥ ६ ॥

ईर्ष्या-द्वेष नष्ट हो जाये,
हृदय प्रेमसे भर आये।
मन-मोहनकी सुन्दरतामें
मेरा मानस मिल जाये ॥ ७ ॥

जभी कामना मेरे मस्त-
स्थलमें शोर मचायेगी।
उथल-पुथल जब हो जायेगी।
हृत्तन्त्री थम जायेगी ॥ ८ ॥

प्रियतम! मुझको तब तुम कृपया
वंशी-तान सुना देना।
पाप-पङ्कसे मुझे बचाना,
अपनी झलक दिखा देना ॥ ९ ॥

भगवत्सेवासे प्रक्षालित
हो जाये निर्मल संसार।
प्रभुके चरणोंमें अर्पित हो
मानव-जीवन बारंबार ॥ १० ॥

श्रीमन्महाप्रभुद्वारा प्रवर्तित प्रेम-साधनाका रहस्य साधक-जीवनमें नित्यनिवासी युगलकिशोरकी सेवाभिलाषिणी नित्य-किशोरी-स्वरूपका प्राकट्य है। नवीनरूपमें साधककी अभिव्यक्ति और परिणतिका नाम है—मञ्जरी। तुलसी आदि कुछ वृक्षोंसे जो छोटे-छोटे पुष्प निकलते हैं, उनको मञ्जरी कहते हैं। इसका अर्थ कोषमें लिखा मिलता है—पल्लवाङ्कुर, नवोद्गत पल्लवका अग्रभाग। सेवाकी अभिलाषाके साथ-साथ साधकके हृदयमें नये भाव प्रस्फुटित होनेकी अवस्थाको समझानेके लिये ही इस 'मञ्जरी' पदका व्यवहार किया जाता है। किसी-किसीके मतसे 'मञ्जरी' का अर्थ होता है—मधुरा या सुन्दरी। श्रीरूपगोस्वामीने, और आगे चलकर श्रीनरोत्तम ठाकुरने भी 'मञ्जरी' शब्दका ही व्यवहार किया है।

श्रीरूपमञ्जरी सार श्रीरतिमञ्जरी आर लवङ्गमञ्जरी मञ्जुलाली।
श्रीरसमञ्जरी संगे कस्तूरिका आदि रंगे प्रेमसेवा करे कुतूहलि॥

सेवापरायण ये मञ्जरीगण प्रेममयी तृष्णा लेकर अत्यन्त आनन्दके साथ युगलसरकारकी सेवा करती हैं। इनमें श्री-रूपमञ्जरी प्रधाना हैं। इनके अनुगत होकर भजन करनेके सिवा साध्य वस्तुको प्राप्त करनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है।

ए सब अनुग हये प्रेमसेवा लब येवे इङ्गिते बूझिब सब काजे।
रूपे गुणे डगमगि सदा हब अनुरागी बसति करिब सखी माझे॥

'इन सब मञ्जरियोंकी अनुगता होकर मैं युगल-सेवाकी साधना करूँगी। उनके कुछ न बोलनेपर भी उनके हृदयका भाव इशारेसे समझकर मैं सेवामें लग जाऊँगी। उनके इशारेके बिना सेवा नहीं करूँगी; क्योंकि उससे राधा-श्यामके मिलन-सुखमें बाधा पड़ सकती है। श्रीललिताके हाथसे ताम्बूल ग्रहण करनेमें श्यामको सुख मिलता है। श्रीरूपमञ्जरीके द्वारा पद-सेवासे ही उन्हें आनन्द मिलता है। श्रीरतिमञ्जरीके चामर-व्यजनसे श्रीगोविन्दको उल्लास मिलता है। मैं अयोग्य हूँ। अपनी सेवाके द्वारा क्या मैं उनको सुखी कर सकती हूँ? इसी कारण मैं सदा उनकी कृपाका निर्देश पानेकी प्रतीक्षामें स्थित रहती हूँ।'

साधक साधको इन नित्यमञ्जरीगणके अनुगत होकर जो-जो गुरुमञ्जरीकी परम्परा है, उसी सिद्ध परम्पराका आश्रय लेना चाहिये। श्रीगुरुदेव युगल-सेवाके लिये उपयोगी उसके सिद्धस्वरूपके नाम, वेष, वास, वयस्, भाव और सेवाके सम्बन्धमें भावनाका द्वार खोल देंगे तथा उसकी स्वाभाविक रुचिमय भजनके द्वारा सेवामें नियुक्त कर देंगे।

साधक अनुग हैया भजे सिद्ध देह पाय सेई भावे युगले भजनी॥

मञ्जरीस्वरूपका विशेष लक्षण यह है कि वह नायिका-भावके सम्बन्धमें पूर्णतः निरपेक्ष रहती है। श्रीराधा-गोविन्द-युगलके प्रति प्रीति-वहन करके ही वह कृतार्थ है। स्वतन्त्र नायिकारूपमें विहार करना वह नहीं चाहती। श्रीराधाको श्रीकृष्णके साथ मिला देनेमें जो सुख मिलता है, वही उसे अभीष्ट है।

सखीर स्वभाव एक अकथ्यकथन।
कृष्ण सह निज लीलाय नाहि सखीर मन॥
कृष्ण सह राधिकार लीला ये कराय।
निजसुख हैते ताते कोटि सुख पाय॥

साधकका भाव परिपुष्ट होनेपर प्रेमके अभ्युदयके साथ-साथ सिद्धदेह या भावनामय मञ्जरीदेह प्रकट हो जाती है। लौकिक प्राप्त देहका अवसान हो जाता है। साधक-अवस्थामें भावना और सिद्ध अवस्थामें उसकी पूर्ण परिणति होती है।

सखीर सङ्गिनी हइ, सबे प्रेमसेवा पाइ, मने-मने करि ये भावना।
साधने भाविब याहा, सिद्ध-देहे पाब ताहा, कविमय पाइ कल्पसीमा॥

मञ्जरी शुद्ध सेवाकी मूर्ति है। उसे भोग-विषयक लोभ तनिक भी नहीं होता। दूसरेका सौभाग्य देखकर उसे जलन नहीं होती। एक दिन श्रीराधाने मणिमञ्जरीको छिपाकर श्रीकृष्णके समीप भेजनेका अनुरोध करके एक सखीको भेजा। उस सखीने मणिमञ्जरीको बहुत कुछ समझाया-बुझाया, पर वह उसे श्रीकृष्णके समीप नहीं ले जा सकी। तब वह राधाके पास लौट आयी और बोली—'प्रिय सखि! तुम्हारे निर्देशसे मैं मणिमञ्जरीको प्रलुब्ध करने गयी थी। मैंने उससे कहा—'श्रीललिता-विशाखा कभी सखीभावमें रहती हैं और कभी श्रीकृष्णके साथ नायिकाका सुख-भोग भी करती हैं। हे सखि! तुम भी उसी प्रकार श्रीकृष्णके साथ मिलकर आनन्द प्राप्त करो। कृष्ण मिलनसे जो सुख मिलता है, उसकी तुलना त्रिभुवनमें नहीं है। तुम उससे वञ्चित क्यों रहोगी? तुम दूसरोंकी अपेक्षा किस गुणमें कम हो?' मेरी यह बात सुनकर मणिमञ्जरी बोली—'श्रीराधा श्रीकृष्णके साथ मिलकर जो सुखभोग करती हैं, वही मेरे अपने मिलनेकी अपेक्षा मुझे अधिक सुखदायक है। मुझे अन्य सुखकी अभिलाषा नहीं है। मैं तो नित्य राधा-गोविन्दके मिलनके आनन्दको ही देखना चाहती हूँ।' हे प्रिय सखी राधे! मैंने समझ लिया कि मणिमञ्जरीका चित्त शुद्ध हो गया है। यह मेरे प्रलोभन और चातुर्यसे तनिक भी विचलित नहीं हुई।''

यथा मधुपमुत्पते सुरभिराम्बुजे सुमं
तदेव बहु मन्यते सवनमर्पिता सुरभौ

मया कृतविलोमतामप्यधिकचातुरीचर्यया
क्वापि मणिमञ्जरी न कुरुतेऽभिसारस्पृहाम् ॥

एक मञ्जरी वनमाला बनानेके लिये पुष्पचयन कर रही थी। श्रीकृष्ण उसको देखकर बोले—'सुन्दरि! इस कुञ्जमें प्रवेश करो। यहाँ और कोई नहीं है। मेरे साथ विलास करके जन्मको सफल करो।' यह बात सुनकर वह मञ्जरी बोली—'श्यामसुन्दर! सुनो, मैं अपने मनका यथार्थ भाव तुमसे कहती हूँ। श्रीराधारूपी सुन्दर विलास-भूमिमें तुम जो अपने मधुरभावकी विभिन्न रूप चतुराइयाँ दिखाते हो, उसीसे हम सब गोपियोंके मनकी वासना पूर्ण होती है। तुम्हारा अङ्ग-सङ्ग पानेके लिये मेरा मन कभी उत्सुक नहीं होता। तुम श्रीराधाके साथ विलासमें मग्न रहोगे, तब हम श्रीराधाका सुख देखकर परम आनन्दित होंगी। हमें बस, इस दर्शनकी ही आनन्द-सेवा देते रहो। साक्षात् अङ्ग-सङ्ग नहीं।' इन बातोंपर विचार करनेसे मञ्जरीभावका आदर्श समझमें आ जायगा। श्रीरूप-रति आदि मञ्जरियाँ श्रीराधा-कृष्ण युगलके सुखसे ही सुखी हैं। साधक दासको चाहिये कि वह उन्हींके आदर्शसे अनुप्राणित होकर मञ्जरी-देहकी भावना-से अष्टयाम-सेवामें लगी हुई दासीके रूपमें अवस्थान करे।

श्रीरतिमञ्जरीके, जिन्होंने श्रीरघुनाथदास गोस्वामीके रूपमें भावोंकी सेवा-निष्ठाको बताया है, वनपामृतका आस्वादन करनेसे पता होता है कि सेवापरायणा मञ्जरियाँ श्रीराधाके प्रति प्रीतिकी अधिकतामें श्रीकृष्ण-प्रीतिकी भी परवा नहीं करतीं। इसका कारण भी है। श्रीराधाकी प्रीतिमें ही श्रीकृष्णकी प्रीति है और श्रीराधाके सुखमें ही श्रीकृष्णका सुख है—यह गोपनीय तत्त्व सेवापरायणा मञ्जरियोंको अज्ञात नहीं। इसी कारण श्रीराधाके समीप श्रीकृष्णको लानेमें वे सेवापरायणा देवियाँ परम उल्लास प्राप्त करती हैं।

मणिमञ्जरीने किसी एक नव मञ्जरीको शिक्षा देकर कहा—'अरी चतुरे! मैं स्वयं अनुभव करके तुझे उपदेश दे रही हूँ। तुम श्रीराधाके साथ सखीभाव प्राप्त करो। यदि मनमें संदेह हो कि जब श्रीकृष्णके साथ प्रणय करना प्रयोजन है, तब राधाके साथ प्रणय करनेके लिये मैं क्यों कहती हूँ तो सुनो, बताती हूँ—श्रीराधाके साथ प्रणय सिद्ध होनेपर श्रीकृष्ण-प्रेमरूप धन स्वयं आकर उपस्थित होगा। अतएव श्री-राधाके चरणोंमें प्रीति-लाभ करना ही सर्वश्रेष्ठ लाभ है।' प्रेम-सेवा-लाभकी तृष्णा हृदयमें लेकर श्रीराधाके पाद-पद्मोंके समीप रहना ही श्रीमन्महाप्रभुके भक्तवृन्दोंका परम अभि-

मत है। कृष्ण-कान्ताओंकी अपेक्षा मञ्जरी-भावका वैशिष्ट्य साधकगण्यसमीहारा अनुमोदित है। ... भावका त्याग करके सेवाभिलाषीका ... प्रेमधर्मका आदर्श है।

श्रीराधा महाभावरूपा हैं। महाभावसे ... भावोंका उदय होता है। कृष्ण-चमत्कारकारिणी ... दायिनी तथा कृष्ण-सेवामयी सारी वृत्तियोंका ... महाभावको अङ्गीकृत करके ही स्वयं श्रीगौराङ्ग ... रूपमें आविर्भूत हुए। श्रीगौराङ्गमें श्रीराधा, ... मञ्जरी—सारे भावोंका प्रकाश समय-समयपर हुआ। ... दिन गम्भीरामें शयन करके आविष्ट भावमें ... देख रहे थे। मुरलीकी ध्वनि, सुन्दर श्याम रूप, ... त्रिभङ्ग-ललित शरीर, गलेमें वनमाला धारण किये ... श्रीगोविन्द। श्रीकृष्ण श्रीराधाके वामभागमें ... वेष्टित होकर नृत्य कर रहे हैं। यह दर्शन ... गौराङ्गको मञ्जरीभावके आवेशमें ही हुआ था, ... पड़ेगा।

पुनः एक दिन चटक पर्वतको देखकर उन्हें ... भ्रम हो गया। उस दिन महाप्रभु भावावेशमें दौड़ते ... हो गिर पड़े। उनके शरीरमें अश्रु-कम्प पुलकादि सात्त्विक ... दीख पड़े। कुछ क्षण इसी प्रकार मौन रहनेपर ... उच्चारण करने लगे। भावावेश-भङ्ग होनेके बाद वे ... 'स्वरूप! मुझको गोवर्धनसे यहाँ कौन ले आया? ... श्रीकृष्णको गौएँ चराते देखा। वंशीध्वनि सुनकर ... आ गयीं; श्रीकृष्णने श्रीराधाको लेकर कुञ्जमें प्रवेश ... प्रियसखियाँ पुष्पचयन कर रही थीं। यह दृश्य देखकर ... आनन्दमय हो रहा था। तुमलोग शोर मचाकर उस ... विलास भूमिसे मुझको यहाँ क्यों ले आये?' इस ... महाप्रभुके मञ्जरीभावका ही परिचय प्राप्त होता है।

श्रीमन्महाप्रभु प्रेमोन्मादकी अनुभूति ... विशाल तरङ्गोच्छलित जलराशिसे धीवरोंने उनको ... निकाला। वे सब प्रेमके स्पर्शसे प्रेमोन्मत्त हो उठे। ... प्रयत्नसे क्रमशः भावावेश भङ्ग होनेपर महाप्रभु बोले— ... वृन्दावनमें यमुनामें श्रीराधा स्नानकी जलकेलि देख रहा ... सखियोंके साथ युगल श्रीराधा-कृष्ण यमुनामें केलि कर रहे ... मैं उस समय दूसरी सेवापरायणा सखियोंके साथ ... खड़ा होकर वह लीला देख रहा था।'

तीरे रहि देखि ... सखीगण ...
एइ सखी सम्पने देखाय ...

जो रसमें घुसकर श्रीकृष्णके साथ जल-केलि करती हैं, वे कृष्णभोग्या हो सकती हैं। परंतु जो तीरपर खड़ी होकर उस लीलाके दर्शनका आनन्द लेती हैं, वे ही सेवापरायणा मञ्जरी हैं। उनके बीच श्रीमहाप्रभु भी आवेशमें मञ्जरीरूपमें अवस्थान करते हैं। श्रीराधाके महाभावकी किरण-छटा यह मञ्जरीभाव है—उसीके आश्रित, उसीके अन्तर्गत है। इसीलिये तो श्रीमहाप्रभुमें भी इस भावका उदय हुआ।

श्रीकृष्ण-भोग-पराङ्मुखी, श्रीराधाके पाद-पद्ममें अधिकतर प्रीति रखनेवाली मञ्जरी की जय हो! इस मञ्जरीभावमें प्रतिष्ठित होनेमें ही जीवकी साधनाकी चरम सार्थकता है।

प्रेम-भक्ति-रस-तत्त्व

(लेखक—आचार्य श्रीमन्नतलालजी गोस्वामी)

पतितपावनी गोदावरी गङ्गाके पश्चिम तटपर हुए प्रेमावतार श्रीचैतन्य महाप्रभु और भक्ति-रसज्ञ श्रीरामानन्दरायके संवादमें जो शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुररस-प्रधान भक्ति-तत्त्वका रहस्य है, उसका दिग्दर्शनमात्र इस लेखमें है। शान्तरसमयी भक्तिमें एक निष्ठा और दास्य-रस-प्रधान भक्तिमें सेवा-सुखके आस्वादनके अतिरिक्त, अखिल-कोटिब्रह्माण्डनायक मायाधीश श्रीभगवान्‌के अनन्त ऐश्वर्यका प्रभाव भी उपासकोंपर पड़ता है। किंतु सख्य-रसके उपासक तो अपने आराध्यके सम-सम्बन्ध-युक्त प्रेमभावमें ही मग्न रहते हैं। कारण यह है कि चैतन्यघन श्रीभगवान् और चैतन्यकण जीवमें तत्त्वगत समभाव है। अतः जीवका स्वाभाविक भाव सख्य ही है।

यदि कभी किसी प्रकार सखाके सम्मुख भगवान्‌का ऐश्वर्य प्रकटरूपमें आ ही जाता है तो वह उसे सहन करनेमें अपनेको असमर्थ मान व्याकुल हो उठता है।

विश्वरूप-दर्शनके समय सखा अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना करने लगे—

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास॥
(गीता ११। ४५)

सख्यप्रेममें संकोचरहित व्यवहार और समभाव होते हुए भी सापेक्षता तो है ही। सखा परस्पर समान प्रेमकी अपेक्षा तो रखते ही हैं।

श्रीमन्महाप्रभुके पुनः प्रश्न करनेपर रामानन्दजी कहने लगे—'प्रभो! प्रेमका प्रवाह जिसमें किसी भी प्रकारकी अपेक्षा किये बिना ही प्रवाहित होता रहे, ऐसा तो एकमात्र वात्सल्यरस प्रधान प्रेम है।

यथोदयेषु वात्सल्यरतिः प्रौढा निसर्गतः।
प्रेमवत् स्नेहवद् भाति कदाचित् किल रागवत्॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु १। ४। २५)

इसमें शान्तरसकी तन्मयता, दास्यकी सेवा एवं आमोद-प्रमोदमें संकोचरहित प्रीति तो है ही, निरपेक्षभाव भी है। साथ ही पाल्य-पालकका सम्बन्ध होनेसे छोटे-बड़ेका भाव भी है ही। इसके अतिरिक्त पालकके अपेक्षारहित प्रेममें कर्तव्याकर्तव्य एवं धर्माधर्मका विचार भी रहता है।

अधिकंमन्यभावेन शिक्षाकारितयापि च।
(भ० र० सि० ३। ४। ५)

उक्त व्याख्याके श्रवण करते समय श्रीमहाप्रभुजीके श्रीअङ्गकी शोभा देखकर रसिकवर राय महाशय समझ गये कि प्रेमावतार प्रभु प्रेम-सिन्धुकी प्रबल तरङ्गोंमें निमग्न हैं। अधिक आनन्द और उत्साहसे रामानन्दराय माधुर्य-प्रेमका वर्णन करने लगे। श्रीकृष्ण-प्राप्तिके अनेक साधन हैं। जिस साधनके द्वारा साधकको आनन्दानुभव होता है, उसके लिये वही उत्तम है। परंतु निष्पक्ष विचारसे साधकोंके भावमें भेद प्रतीत होता है। किंतु मधुर-रसके प्रेममें अन्य रसोंके सारे गुण एवं भावोंके अन्तर्गत हो जानेसे भाव-भेद नहीं रहता। इसके आलम्बन तो श्रीकृष्ण ही हैं—

आश्रयत्वेन मधुरे हरिरालम्बनो मतः।
(भ० र० सि० ३। ५। ४)

श्रीकृष्णकी आह्लादिनी शक्तिमें जो सार-अंश है, वह है मधुर प्रेम। यह प्रेम आनन्द-चिन्मय रस है। इसका परम सार महाभाव है।

अन्तमें प्रेमविभोर राय रामानन्दजी श्रीराधा-कृष्णके मिलित रूप श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुको प्रणामकर कहने लगे—'प्रभो! मैं इस रस-रहस्यके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं जानता। आपने ही शक्ति-सञ्चार करके इस प्रेम-तत्त्वको प्रकट किया है, मैं तो निमित्तमात्र हूँ।'

ऐसो नाम रूप, ऐसो रस, [illegible]।
ऐसे मोरे [illegible]॥
([illegible])

…भावना मार्मिक अभिव्यञ्जनासे प्रकट की है। आपका काल …०० वि० सं० माना जा रहा है।

रामसखीजी

रामसखीजी भी सखी-भावनामें अनन्य थे। आपके पद …ी उत्सवोंके प्राप्त होते हैं। होरी आदिमें रामसखीजी-…रिचकारीका रंग सब रंगोंसे निराला एवं मनोहर प्रतीत …ता है। आपका इन उत्सवोंका साहित्य मौलिक है।

जुगलमञ्जरीजी

आप अवधके प्रसिद्ध संत थे। आपकी प्रेरणासे आपके …नुयायी सखी-भावके प्रमुख पुजारी बने। इस प्रकार आप …खी-भावनाके निर्मातारूपमें हैं।

चन्द्रअलीजी

जुगलमञ्जरीजीके अनुयायी एवं सियासखीजीके अनुज …। 'नवरस-रहस्य-प्रकाश' आपकी रचना है, जिसमें बत्तीस …र्तुओंकी केलिका वर्णन ललित पदावलीमें किया गया है। आप …यपुर राज्यके निवासी एवं १७५० वि० में विद्यमान थे।

रूपलताजी

कनक-भवन अयोध्याके प्रसिद्ध संत हैं। आपने स्वयं …सखी-भावनाका साहित्य सृजन किया एवं अन्य निर्माताओं-…का निर्माण किया।

रूपसरसजी

रूपसखाजीकी प्रेरणासे ही आपने 'सीता-राम-रहस्य-…न्द्रिका' ग्रन्थका निर्माण किया—जिसमें अष्टयाम, द्वादशमास, …ऋतु एवं भावना-प्रकाश, युगल-प्रकाश आदि प्रसङ्गोंद्वारा …विस्तारसे सखी-साहित्यका वर्णन किया गया है। सीताराम-…मन्दिर, जयपुरमें १९३३ से पूर्व आपका रचना-काल रहा। …आप सियासखीजीके दत्तक पुत्र कहे जाते हैं। रामानुजदास …आपका व्यावहारिक नाम था।

रसिकप्रियाजी

आप रूपसरसके पूर्व वंशजोंमें हैं। आपके पद बहुत कम परंतु सरस मिलते हैं, जिनमें कुछ जन्मोत्सवके एवं कुछ झूलाके हैं। मौलिक नाम रघुनाथदासजी था।

ज्ञानअलीजी

'सियवरकेलि' पदावलीके रचयिता श्रीसखी-भावोपासकों-में प्रसिद्ध हैं। यह पुस्तक लखनऊमें प्रकाशित हुई है। आपकी भाषामें अवधी एवं फारसीकी झलक पूर्णरूपेण विद्यमान है।

चन्द्रसखीजी एवं रतनअलीजी

—श्रीकृष्णचरितके गायक प्रसिद्ध संत हैं। चन्द्रसखी-जीके गीत मीरोंके बाद राजस्थानमें दूसरा स्थान रखते हैं। रतनअलीजी दादूपंथी संत एवं जयपुर राज्यके कहे जाते हैं। फिर भी श्रीकृष्णके फाग, झूला एवं रासविहारकी सभी भावनाओंपर आपने बहुत पदरचना की है। 'मीरोंके प्रभु गिरधर नागर' की भाँति उपर्युक्त चन्द्रसखी एवं रतनअलीजी भी 'चन्द्रसखी भज बाल कृष्ण छबि' आदि पुट देते थे।

शुभशीलाजी

आप चंदेरीके राजा थे। इन्होंने रूपसरसजीसे सखी-भावके साहित्यकी प्रेरणा लेकर सुन्दर पदों एवं छन्दोंका निर्माण किया। जयपुर-मन्दिरमें रहे। फिर अवधवास किया। वहीं आपकी विशेष प्रसिद्धि है।

सुखप्रकाशनीजी

जयपुरके खंडेलवाल वैश्य थे। सियवरसजी आपका नाम था। 'मिथिलाविहार' ग्रन्थकी आपने रचना की है, जिसमें जानकीजीकी ओर एवं महलकी टहलकी ओर विशेष झुकाव है। आप रूपसरसजीके शिष्य थे।

हरिसहचरीजी

आप … वैश्य थे। हीरालाल नामसे व्यवसाय करते थे। सियासखीजीके पदोंसे प्रेरणा लेकर आपने सखी-भावनाके पदोंकी रचना प्रारम्भ की एवं जन्मोत्सवादिके बहुत पद रचे। १९२० वि० के आसपास थे।

भजन करनेवाला सब कुछ है

सोइ सर्बग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महि मंडित पंडित दाता॥
धर्म परायन सोइ कुल त्राता। राम चरन जा कर मन राता॥
नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धांत नीक तेहिं जाना॥
सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा॥

(रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

रे प्राण भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर रखे हैं; क्योंकि (चाण्डाल तो अपने कुलतकको पवित्र कर देता है, पर कि ...प्पनका अभिमान रखनेवाला वह ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता।'

यह न समझिये कि भक्तिका महत्त्व दिखलानेके लिये यह 'अर्थवाद' (प्रशंसावाक्य) ही कहा गया है। यहाँ भगवान्‌का विशेष अभिप्राय है। यदि प्रशंसामात्रमें तात्पर्य होता तो वे कहते—भगवान्‌से विमुख, अथवा भगवान्‌के उपदेशामृतसे विमुख, किंवा वञ्चित। किंतु यह सब नहीं कहकर वे कहते हैं 'भगवान्‌के पादारविन्दसे विमुख'—अर्थात् उन चरणारविन्दोंसे विमुख, जो दीनजनोंके उद्धारार्थ, दिव्यकाया, सर्वतोमुख विभूति, वैकुण्ठधाम, परमप्रिय श्रीलक्ष्मीका सतत सांनिध्य छोड़कर इस धराधाममें असहायोंके प्रति करुणाको हृदयमें रखकर इसलिये पधारते हैं कि निस्साधन—जिनकी दिव्यधाममें पहुँच नहीं, वे दीन भी अभिमुख हो सकें। इसीलिये धरामण्डलमें विचरण करनेके साधन श्रीचरणारविन्दपर ही श्रीव्यासजीका लक्ष्य था। अतएव आपने कहा है—'पादारविन्दविमुखात्'।

जिनके यहाँ दिव्य भी नहीं पहुँच सकते, सनकादि भी ड्योढ़ीपर ही रोक दिये जाते हैं, वे दीनोद्धारक भगवान्, कृपासागर परमेश्वर, कमल-कोमल श्रीचरणोंसे कठिन कण्टकाकीर्ण इस धरातलीमें स्वयं विचरण करते हैं और हमें अवसर देते हैं कि अब भी हम उनके अनुकूल हो जायँ—केवल एक बार 'आपका हूँ' यही कह दें—तो बस, काम बना-बनाया है। किंतु हम अपने साधनोंके बलपर इतने अभिमत्त हो रहे हैं कि उस ओर हमारा कोई ध्यान ही नहीं है। 'अनुकूलताका लेश' लेकर हम उनके सम्मुख नहीं जाते। अतएव कण्टकाकीर्ण अरण्यमें घूमते हुए कमल-मृदुल श्रीचरणोंको उनके लिये तो व्यर्थ परिश्रम ही हो रहा है। इसीलिये भगवान्‌की दयालुता, रम्यमर्यादास्थिता आदि सूचित करते हुए कहते हैं—देखिये जिन कोमल चरणोंको अपने मुकुटमें रखी मन्दारमालाओंसे अनुरञ्जित करते हैं, जिन कोमल चरणोंके सम्बन्धमें व्रजगोपिकाएँ विनीतरूपसे निवेदन करती हैं कि "आप इन कोमल चरणोंसे कण्टक-संकुल वनोंमें क्यों घूम रहे हैं। उन कण्टकोंसे तो हमारे स्तन शायद कठिन नहीं, अतएव इन चरणोंको हमारे स्तनोंपर रख दीजिये, जिससे हमको आश्वासन मिले—'...कुचेषु नः'।" उन्हीं चरणोंकी कोमलता और सौन्दर्य दिखलानेके लिये चरणोंपर अरविन्दका रूपक बाँधते हुए पुकारा करते हैं—'पादारविन्दविमुखात्'।

जहाँ भगवान्‌के धराधाममें पधारनेको ही पहले लक्ष्यमें रखा गया है, जिससे कि प्रभुको कष्ट होनेपर भी दीनोंका उद्धार तो हो जाय, वहाँ 'उपदेशामृतसे विमुख' इत्यादि कहनेमें कोई स्वारस्य न था। जब यहाँ पधारेंगे, तभी तो उपदेशामृत-पान करनेका शुभ अवसर मिलेगा। यदि चरणारविन्द यहाँ आनेका कष्ट ही न करना चाहें, तब दीनोंकी अर्जी उनतक पहुँचानेवाला, दिव्यशक्ति कौन-सा 'पैरोकार' बैठा है। अतएव चरणारविन्दोंका ही यह अनुग्रह है कि आप यहाँ पधारकर हमारा उद्धार करते हैं। इसी आशयमें यह कहा गया है—'पादारविन्दविमुखात्'।

'विमुखात्'! 'विमुखात्' यह क्यों कहा गया? पादारविन्दोंका संवाहन नहीं करते, उनका स्पर्श करके पुष्प अर्चन नहीं करते—और तो क्या, उनकी ओर 'उपगमन' तक नहीं करते (जातेतक नहीं)—यों कहना चाहिये था। किंतु यहाँ कहा गया है 'विमुखात्'। अर्थात् पादारविन्दोंसे 'वि' (विरुद्ध दिशामें) मुख किये हुए। दूसरे शब्दोंमें, जो अपने पाण्डित्य-धन आदिके गर्वसे, अपने साधनोंके बलपर इतने अभिमानी हो रहे हैं कि 'हम कर्ता हैं, हम यज्ञ—दर्श-पौर्णमासादि इष्टि यथावसर कर रहे हैं, भगवान्‌पर हमारा दावा है' यह कहते हुए जो भगवान्‌पर अपने सत्कर्मोंका भार डालकर, अपने बलपर अपनेको खड़ा हुआ मान रहे हैं, भगवान्‌की प्रपत्तिमें जिनको आग्रह नहीं है—शास्त्रके प्रामाण्यके कारण 'प्रपत्ति' आदिको मानते तो हैं, परंतु उसपर ही सर्वथा निर्भर नहीं करते, अपनी इतिकर्तव्यता (करतूत) पर अकड़कर, चरणारविन्दोंकी ओर दीनभावसे आना तो दूर रहा, किन्हीं अस्खलित प्रत्यवायोंसे जिनका उधर मुख ही नहीं होता—ऐसे ज्ञानाभिमानियोंसे तो वह नीच ही अच्छा, यह भाव हृदयमें रखते हुए आपने कहा है—'विमुखात्' (जिनका अभाग्यवश मुख ही नहीं मुड़ा)।

भगवान्‌के ऊपर सब कुछ नहीं छोड़नेवालोंसे, उनके चरणारविन्दोंका आश्रय नहीं लेनेवालोंसे, अतएव उन चरणकमलोंसे विमुख रहनेवाले उन्नत कुलवाले ब्राह्मणोंसे तो 'श्वपचं वरिष्ठम्' (मन्ये)—श्वपच अर्थात् चाण्डालको भी मैं अच्छा मानता हूँ। जिन चरणारविन्दोंका आश्रय लेनेसे अनायास उद्धार हो जाता है, उनका आश्रय न लेकर, धर्माचरणमें [illegible] फूलनेवाले, अपनेको उन्नतगामी, [illegible], सर्वथा अपनेको अधिकारी समझनेवालोंसे तो मैं उस चाण्डालको भी श्रेष्ठ मानता हूँ, जो भगवच्चरणारविन्दकी ओर अभिमुख

नन्दगणं: मूर्तिमान् भाग्य

नागपत्नियोंद्वारा सुभूषित नटवर

एवमुक्तो भगवता कृष्णेनाद्भुतकर्मणा । तं पूजयामास मुदा नागपत्न्यश्च सादरम् ॥
दिव्याम्बरस्रङ्‌मणिभिः परार्ध्यैरपि भूषणैः । दिव्यगन्धानुलेपैश्च महत्योत्पलमालया ॥
(भाग० १०।१६।६६-६७)

सापाङ्गम सगणो विस्मितोऽभवत्।[1] (भा० १०। १३। १९)

यह भी एक विद्वन्मान्य मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य मनुष्यको आत्मसादृश्यके नाते ही प्यार करता है। अर्जुनने भगवान्के विराट् रूपसे घबराकर यही तो कहा था—

तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास।[2]
(गीता ११। ४५)

यह भी सर्ववादिसम्मत बात है कि भगवान् श्रीकृष्ण मानतः माधुर्य और ऐश्वर्यके प्रतीक हैं। मुख्यतः उनका सर्वमनमोहक माधुर्यरूप तो कोटि-कोटि-काम विनिन्दक है। इसका कारण यही है कि पुराणोंमें श्रीकृष्णचन्द्र मानवोचित गुणोंके मूर्त-रूप बताये गये हैं। वे गुण इस प्रकार हैं—

(१) रूप, (२) वर्ण, (३) प्रभा, (४) राग, (५) आभिजात्य, (६) विलासिता, (७) लावण्य, (८) लक्षण, (९) छाया[3]।

यहाँ एक यह भी विचारणीय बात है कि श्रीकृष्णके अङ्ग-प्रत्यङ्ग लोकालोकदुर्लभ सौन्दर्य-माधुर्यमान शुद्धसत्त्वगुण-निर्मित हैं—

सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि।
(श्रीमद्भा० १०। २। २९)

लावण्यमुख्यामणिशिल्पसारकवाणि।
(श्रीमद्भा० १०। २। ३०)

श्रीकृष्णचन्द्रकी रूप-माधुरीपर मोहित होकर भक्तिमती देवी मांदास कहती हैं—

मधुरं मधुरं वपुरस्य विभोः
मधुरं मधुरं वदनं मधुरम्।
मधुगन्धि मृदुस्मितमेतदहो
मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम्[1]॥

इसी विषयमें स्वयं श्रीकृष्णद्वारा उद्धवजी कहते हैं—

विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः
परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्[2]॥
(श्रीमद्भा० ३। २। १२)

श्रीकृष्णकी रूप-माधुरीपर भीष्मपितामहकी सम्मति है—

विवाहमायम्[3]।

'गोविन्दलीलामृत' में रूपकालंकारद्वारा श्रीकृष्णचन्द्रकी रूप-माधुरीका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

सौन्दर्यामृतसिन्धुभङ्गललनाचित्ताद्रिसम्प्लावकः
कर्णानन्दिसनर्मरम्यवचनः कोटीन्दुशीताङ्गकः।
सौरभ्यामृतसम्प्लवावृतजगत् पीयूषरम्याधरः
श्रीगोपेन्द्रसुतः स कर्षति बलात् पञ्चेन्द्रियाण्यालि मे[4]॥

श्रीकृष्णकी रूप-माधुरीपर श्रीरवीन्द्रनाथजीके भी शब्द सुनिये—

तोमार मधुर रूपे भरेछे भुवन।
मुग्ध नयन मम पुलकित मोहित मन॥

भगवती श्रीरुक्मिणीजीने विवाहार्थ श्रीकृष्णको पत्र लिखते हुए उनके विषयमें कहा था—

का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूप-
विद्यावयोद्रविणधामभिरात्मतुल्यम्।

---

१. भगवान् श्रीकृष्णको देखकर ब्रह्मा और सारा पार्षद-मण्डलसहित ब्रह्मदेव चकित और विस्मित हो गये।

२. हे भगवन्! मुझे तो आप शीघ्र ही अपना वही मानव-रूप दिखावें।

३. शरीरके अवयवोंकी सुघटना—रूप है। और-श्याम आदिक रंग—वर्ण है। सूर्यके समान प्रकाशमान कान्ति—प्रभा है। आकर्षक मन्दस्मितवर्ण—राग है। कुलोचित सुन्दर, स्पर्श-कोमलता—आभिजात्य है। यौवनोचित अङ्ग-प्रत्यङ्ग-जनित भ्रूभङ्ग-कटाक्ष-रूपक विभ्रम—विलासिता है। चन्द्र-सदृश आह्लादकारक एवं अवयव-सम्पन्न-अनुरूप सौन्दर्य-उत्कर्ष-भूत स्निग्ध मधुर वर्णरूप सुषमा-व्यञ्जित—लावण्य है। अङ्गोपाङ्गोंकी असाधारण शोभा एवं महत्त्वसूचक शारीरिक चिह्न—लक्षण है। वाम विलासपर एवं विभ्रम-विकास-समन्वित, ताम्बूल-सेवन, वस्त्र-परिधान, नृत्य-आवर्तन-अङ्ग स्पर्शादिक वस्तु—छाया है।

१. अहा! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका वपु, वदन एवं मृदु-स्मित कितने मधुर लगते हैं।

२. श्रीकृष्णका रूप सम्पूर्ण शोभा-सम्पत्तिका परम आश्रय है, उनके श्रीअङ्ग आभूषणोंको भी भूषित करनेवाले हैं।

३. विवाहार्थिनी कन्याओंके लिये तो श्रीकृष्ण ही एक-मात्र विवाहके योग्य हैं।

४. अरी सखी! गोपेन्द्रनन्दन मेरी पाँचों इन्द्रियोंका बलपूर्वक आकर्षण करते हैं। वे अपने सौन्दर्य-सुधा-सागरसे मेरी-जैसी युवतियों-के चित्तरूप पर्वतोंको प्लावित कर देते हैं, उनकी परम रम्य मर्मस्पर्शी बातोंसे आनन्दित कर देती है, उनके श्रीअङ्ग करोड़ों चन्द्रमाओंके समान शीतल हैं, वे अपने सुगन्धित सौरभसे सारे जगत्‌को व्याप्त कर देते हैं, उनके अधर पीयूषसे भी मधुर हैं।

५. हे भुवनमोहन श्रीकृष्ण! तुम्हारे मधुर रूपने चराचर भुवन भरे हैं, उसकी मैं क्या प्रशंसा करूँ। उसको देखे नयन मुग्ध हैं और मन पुलकित और मुदित।

...प्यार अमृतके समान मधुर तथा अमर कर देनेवाली है।'

...इसी भक्तितत्त्वका शास्त्रमें इस प्रकार भी वर्णन हुआ है—

आराध्यदेवविषयकं रसत्वमेव भक्तित्वम्* ॥

...इस भक्ति-रसका आस्वादन ऐसा लोकोत्तर रसास्वादन ...के भक्त-साधक किसी भी प्रकार इससे विचलित और भ्रमित ...हो सकता और न किसी स्वार्थकी ओर आकर्षित ही हो ...ता है। ऐसी दशामें वह विश्व-प्रलोभन और विश्वशान्ति-...क बातों और कामोंसे तो सर्वथा असंस्पृष्ट-सा ही रहता है।

ऐसे लोकोत्तर भक्ति-रसके सर्वतोमधुर आलम्बन भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, जिनके विषयमें ब्रह्मसंहितामें इस प्रकार कहा गया है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥

'भगवान् गोविन्द परमेश्वर, परम आकर्षक, सच्चिदानन्द-मूर्ति, अनादि, सबके आदि तथा समस्त कारणोंके परम कारण हैं।'

भक्तिकी चमत्कारिणी अचिन्त्य शक्ति

(लेखक—श्रीमीरामजी जैन, 'विशारद')

नात्यद्भुतं भुवनभूषण भूतनाथ
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥
(भक्तामरस्तोत्र)

अर्थात् हे जगत्‌के भूषण, हे प्राणियोंके स्वामी भगवान्! आपके सत्य और महान् गुणोंकी स्तुति करनेवाले मनुष्य आपके ही समान हो जाते हैं। परंतु इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है; क्योंकि जो कोई स्वामी अपने आश्रित पुरुषको सम्पत्तिके द्वारा अपने समान नहीं बना लेता, उसके स्वामीपनसे क्या लाभ!

मानव-हृदयमें भक्तिका प्रादुर्भाव 'दासोऽहम्' की भावनासे होता है। 'मैं तेरा दास हूँ' ऐसी भावनासे भक्त भगवान्‌की भक्ति करता है और वह अपनेको भगवान्‌का एक विनीत, विश्वासी सेवक समझता है। साथ ही वह भगवान्‌से अपने दुःख-संकट दूर करनेकी भी प्रार्थना करता है। यह भक्तिका प्रसव-काल होता है।

इसके पश्चात् उसकी दृष्टि भगवान्‌का गुण-गान करते और चिन्तन करते हुए अपने आत्माकी ओर जाती है। तब वह अपने आत्माके और भगवान्‌के द्रव्यगुण-की समानता करता है। तब उसे थोड़ा ही अन्तर प्रतीत होता है। उसे लगता है कि 'जो अनन्त-चतुष्टय (अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य) गुण भगवान्‌में हैं, वे ही गुण मेरे आत्मामें हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि भगवान् कर्मोंसे रहित हैं, जिसके कारण उपर्युक्त गुण पूर्णरूपसे उनमें प्रकट हैं। और वे ही मेरे गुण कर्मावरणोंसे ढके हुए हैं, इस कारण मैं संसारी आत्मा हूँ और वे परमात्मा हैं।' यह 'सोऽहम्' की भावना है—जिसका रूप है—'जो तू है, वही मैं हूँ।' यह भक्तिका किशोर-काल है। इसके बाद भक्त, विषय भोगोंसे राग भाव त्यागकर एवं संसारसे मोह तोड़ एकान्त स्थानमें आत्मध्यान करता है। जब शारीरिक कष्टों एवं उपसर्गोंके आनेपर भी उसका ध्यान भङ्ग नहीं होता, उस समय उसके कर्मोंकी निर्जरा (पूर्वसंचित कर्मोंका झड़ना और नवीन कर्मोंका रुकना) हो जाती है, जिससे राग द्वेषादि विकार नहीं पनप पाते। इसके पश्चात् उसका आत्मा यह निश्चय करता है कि 'मैं पूर्ण शुद्ध आत्मा हूँ' और वह वास्तवमें पूर्ण शुद्ध हो जाता है। उसकी यह भावना कोरी भावना नहीं होती, वरं वह परमात्मस्वरूप ही बन जाता है। यह भक्तिका यौवन-काल होता है। यही उसकी सर्वोच्च सीढ़ी है।

एक भक्त भगवान्‌की सच्ची भक्तिद्वारा स्वयं भगवान् बन जाता है। इसीलिये कहा गया है कि भगवान् तो वे ही हैं, जो अपने भक्तको अपने जैसा बना लें और भक्त भी वही है, जो भगवान्‌की भक्तिके द्वारा भगवान् बन जाय।

भगवान् वीतराग हैं। वे किसीकी भक्तिसे प्रसन्न या अप्रसन्न नहीं होते। फिर भी जैनधर्मने भक्तिकी महत्ताको स्वीकार किया है। कारण यह है—भक्ति करते समय भक्त भगवान् और अपने बीच कभी सेव्य-सेवकता, कभी पिता-पुत्रता और कभी मित्र-मित्रता सम्बन्ध रखता है।

---

* आराध्यदेव-विषयक रस ही भक्तिरस कहलाता है।

ी उसका धर्म है। धोबीका लड़का है तो उसे कपड़े
। चाहिये। चमार है तो उसे जूते ही बनाने
। बुनकर है तो उसे कपड़े ही बुनते रहना चाहिये। यदि
ापत्ति-विपत्तिमें अपना काम छोड़ना भी पड़े तो
ापत्ति हट जानेपर उसे फिर अपना ही काम सम्हाल लेना
हिये। सदाके लिये दूसरेकी वृत्ति—अन्य जातिका पेशा
ी ग्रहण न करे। हाँ, तीन काम मनुष्य छोड़ सकता
यदि अपने पूर्वज माविचप करते रहे हों या भीका पेश
...कर नाटक करते रहे हों अथवा चोरी-डाका डालते रहे
...तो इन कामोंको सर्वथा छोड़ देनेमें भी कोई दोष नहीं है।
...रे परम्परागत कर्मोंको आग्रहपूर्वक करते रहना चाहिये।
...ही वर्णाश्रम-धर्मका मर्म है। पाण्डवोंने राज्यके लिये युद्ध
...हीं किया था। उन्होंने तो अपने क्षात्र धर्मकी रक्षाके
...मे ही युद्ध किया था। धर्मराज बार-बार कहते थे—हमें
...नहीं चाहिये, ऐश्वर्य नहीं चाहिये। अवश्य ही हमारे धर्मका
...प नहीं होना चाहिये। समर्थ होनेपर भी बिना आपत्ति विपत्तिके
। क्षत्रिय प्रजा-पालनरूप धर्मको नहीं करता, उसे धर्म-त्यागका
...प लगता है। हाँ, विपत्तिकालमें वह वैश्यका व्यापार
...दि कर सकता है या ब्राह्मण-वेशमें घूम सकता
... किन्तु कभी भी, कैसी भी विपत्तिमें शूद्रवृत्ति ग्रहण
...ं कर सकता*। इसीलिये लाक्षागृहसे भागकर पाण्डव
...ण-वेशमें ही घूमे थे और भिक्षापर ही निर्वाह करते
। उस समय उनपर विपत्ति आयी हुई थी, इसलिये उन्हें
...रूप ब्राह्मणवृत्ति स्वीकार करनेमें दोष नहीं लगा। यदि
... विपत्तिके वे भिक्षापर निर्वाह करते तो उन्हें दोष
..., वे पापके भागी बनते। पाण्डव नहीं चाहते थे कि हम
...रें, समरमें अपने सगे-सम्बन्धियोंका ही संहार करें; इसीलिये
...ने दुर्योधनके अधीन रहना भी स्वीकार कर लिया था।
...रणोंके लिये केवल पाँच गाँव लेकर ही वे संतोष कर
...रते थे।

...े एक गाँवके भूपतिको भी राजा ही कहते
...या' शब्द क्षत्रियका ही वाचक था। कुछ-न-कुछ भूमि-
... उसे अवश्य होना चाहिये। दस-बीस ही क्यों न
...प्रधान अवसर होने चाहिये। क्षत्रिय जहाँ भी
...—नरपति बनकर ही रहे। भूमिका स्वामित्व
...ाश्रम-व्यवस्थामें जन्मसिद्ध अधिकार माना जाता
...र कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य वैश्य ही कर सकते

थे। शूद्र इन सबके सहायक हो सकते थे। साथ ही शूद्रोंका
सम्पूर्ण भरण-पोषण द्विजातियोंको धर्म समझकर करना होता
था। स्मृतिकारोंने तो यहाँतक लिखा है कि गृहपतिको पहले
गर्भवती, बच्चे, वृद्ध एवं दास-दासियोंको भोजन कराके तब स्वयं
भोजन करना चाहिये। दास-दासी परिवारके एक अभिन्न
अङ्ग समझे जाते थे। यदि किसीका सेवक भूखा रहता है तो
उसके स्वामीको पाप लगता है। इसी वर्णाश्रमके कारण सम्पूर्ण
भारतके गाँवोंमें कितनी सुन्दर समाजवादकी सहानुभूतिपूर्ण,
सच्ची और दृढ़ व्यवस्था रही और अब भी विद्यमान है।

गाँवोंमें चारों वर्णोंके लोग रहते थे। क्षत्रिय सारी
भूमिके स्वामी होते थे, दूसरे वर्ण भी भूमिस्वामी होते
थे। पण्डित-पुरोहित सबके यहाँ धार्मिक कृत्य करा देते थे
और बदलेमें उन्हें केवल कुछ दक्षिणा मिल जाती थी, जिसमें
उनका काम अच्छी तरहसे चल जाता था। वैश्य अपना
व्यापार करते थे। ग्वाले गो-सेवा करते थे। गाँवमें जो कुम्हार
है, वह वर्षभर बिना कुछ लिये सम्पूर्ण गाँववालोंको बर्तन देगा।
नाई सबके बाल बना देगा। धोबी कपड़ा धोता रहेगा। बढ़ई
सबका काम बिना कुछ लिये करता रहेगा। इसी प्रकार और
सब लोग भी काम करेंगे। जिस दिन खेत कटेगा, ये सब लोग
खेतपर पहुँच जायँगे, जितने ये काम करनेवाले हैं, सब-के-सब
एक-एक बोझा वह कटा हुआ अन्न बाँध लायेंगे। कहार
पानी लेकर पहुँचेगा, एक बोझा उसे भी मिल जायगा। खेत काटते
समय कृषकके मनमें उल्लास होता है, उस समय उसे अपनी
उपजका कुछ भाग देना भारी नहीं लगता। मान लें गाँवमें
सौ कृषक हैं। ऐसी दशामें इन टहल करनेवालोंको बिना
ओले-बोये सौ-सौ बोझ अन्न मिल जायगा। पशुओंके लिये भूसा
हो गया। वर्षभरको खानेको अन्न हो गया। इससे बढ़कर
सहकारिता या समाजवाद क्या होगा! उस समय सबको
देना कृषक अपना धर्म समझता है।

सब लोगोंमें परस्पर सहयोग इतना होता है कि भंगी,
चमार, जुलाहा, कोरी, तेली—सब एक दूसरेको चाचा-
ताऊ, भैया भतीजा कहते हैं। गाँवमें भंगीको भी काका
मानते, सभी उसे अपना समझते थे। वे लोग उस वर्णके
स्त्री पुरुषोंसे भी हँसी-ठट्ठा कर लिया करते थे। हम जैन
... अब छोटा था, तब एक भंगिन हमारे यहाँ झाड़ू देने आती थी;
हम उसे ताई कहते थे। सब आत्मीयकी भाँति उसे मानते

...ा निकृष्टेन न आप्य कर्थचन।

(श्रीमद्भा० ११। १०। ४८)

सं० ४७—

रहे हों, किसी भी आश्रममें क्यों न हों—वहाँ भी हों, वहीं भगवद्भक्ति करते हुए निष्कामभावसे प्रभुकी सेवा समझकर वर्णाश्रम-धर्मका पालन करते हुए कालक्षेप करो तो तुम्हें भगवल्लोककी—परमपदकी प्राप्ति हो जायगी। गृहस्थाश्रमका अधिकार चारों वर्णोंको है। भक्तिमार्गके आचार्य कहते हैं—स्वधर्मका पालन करते हुए जो भक्ति-भावपूर्वक प्रभुकी आराधना करता है, वह गृहस्थमें ही रहकर परमपदका अधिकारी बन जाता है*।

आप ब्रह्मचारी हैं। आपको कोई आवश्यकता नहीं कि आप ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण तथा देव-ऋण—इन तीनों ऋणोंसे उऋण होनेके लिये गृहस्थी बनें-ही-बनें। वैसे वर्णाश्रम धर्म तो कहता है कि जो इन तीनों ऋणोंको बिना चुकाये, बिना संतानोत्पत्तिके मरता है, उसकी सद्गति नहीं होती। किंतु भक्तिमार्गवाले स्पष्ट कहते हैं—'जो सर्वात्मभावसे शरण शरण्य प्रभुकी शरणमें आ गया है, वह देवता, पितर तथा ऋषियों-मनुष्योंका न तो ऋणी ही रहता है न उनका किंकर बनके उनके लिये कर्म करनेको ही विवश है; भगवान्‌की भक्ति करनेसे ही सब ऋण अपने आप चुक जाते हैं†। यदि आप गृहस्थ हैं तो गृहस्थीमें ही रहकर भगवान्‌की भक्ति कीजिये। वानप्रस्थ हैं तो वनमें ही बसते हुए कर्तव्य-बुद्धिसे हरिसेवा समझकर स्वधर्मपालन कीजिये। आप तपोलोक जायँगे भी तो लौटकर नहीं आयेंगे, आप सीधे भगवद्धामको चले जायँगे। यदि आप संन्यासी हैं तो भक्ति-भावद्वारा भगवान्‌को पा जायँगे। आप ब्राह्मण हैं तो कहना ही क्या है। बड़े भाग्यसे उत्तम कुलमें जन्म हुआ है; किसी भी आश्रममें रहकर भगवद्-भक्ति कीजिये, आप बिना संन्यास लिये ही भगवल्लोकको जायँगे, परमपदके अधिकारी बनेंगे, यद्यपि वैष्णव-सम्प्रदायमें संन्यासका निषेध नहीं है। वैष्णवलोग भी त्रिदण्ड धारण करके संन्यास लेते हैं। भगवान् रामानुजाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य आदि आचार्यचरणोंने भी संन्यास-दीक्षा ली थी। महाप्रभु चैतन्यदेवने भी अपने जीवनका उत्तरकाल संन्यासीके रूपमें ही बिताया था। भक्तिमार्गमें भी दण्ड लेनेका अधिकार ब्राह्मणको ही है*; किंतु यह आवश्यक नहीं है कि संन्याससे ही परमपद प्राप्त हो। यदि भक्ति नहीं है तो आप चाहे ब्राह्मण हों, देवता हों, ऋषि हों, विद्वान् हों अथवा बहुज्ञ हों, भगवान् आपसे प्रसन्न नहीं हो सकते। इसके विपरीत यदि भक्ति है तो आप चाहे क्षत्रिय हों, वैश्य हों, शूद्र या अन्त्यज ही क्यों न हों, आप निर्मल भक्तिके प्रभावसे परमपदके अधिकारी बन सकते हैं; भक्तिके बिना अन्य सब कुछ विडम्बनामात्र है†।

भगवान्‌के भक्तका यदि किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन, खस तथा अन्य पाप योनिवाले भी आश्रय ले लें तो वे भी विशुद्ध बन जाते हैं‡। भक्तिमार्गमें प्रपत्तिपर सबसे अधिक बल दिया गया है। सच्चे हृदयसे मनुष्यमात्र ही नहीं, कोई भी प्राणी भगवान्‌की शरणमें चला जाय, अन्तःकरणसे कह भर दे—'हे प्रभो! मैं तुम्हारा हूँ, तुम्हारी शरणमें हूँ' तो वह सबसे निर्भय बन जाता है—उसे अभय पद, मोक्ष या भगवल्लोककी प्राप्ति हो जाती है×।

भक्तिमार्गमें वर्णसे नहीं अपितु भगवद्भक्तिसे श्रेष्ठता है। यदि भगवद्भक्त शूद्र है तो वह शूद्र नहीं, परमश्रेष्ठ ब्राह्मण है। वास्तवमें सभी वर्णोंमें शूद्र वह है, जो भगवान्‌की भक्तिसे रहित है+। यदि ब्राह्मणोचित बारह गुणोंसे संयुक्त विप्र भी है, किंतु भगवद्भक्तिसे हीन है तो उस ब्राह्मणसे भगवान्‌का भक्त अवश्य कहीं श्रेष्ठ है। चारों वेदोंका ज्ञाता ब्राह्मण भी यदि वह भगवान्‌का भक्त नहीं तो वह

---

* दौरम्येव वैतैर्वर्तमानः स्वधर्मभिः ।
गृहेऽप्यस्य गतिं यायाद् राजंस्तद्भक्तिमान्नरः ॥
(श्रीमद्भा० ७।१५।६७)

† देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन् ।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥
(श्रीमद्भा० ११।५।४१)

* मुख्यानामस्य धर्मो यत्परिव्राज्यादिलक्षणम् ।
ब्राह्मणस्यैव धर्मोऽयमिति स्मार्तेऽमुनेर्वचः ॥ (बौधायन)

† नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः ।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च ।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम् ॥
(श्रीमद्भा० ७।७।५१-५२)

‡ किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥
(श्रीमद्भा० २।४।१८)

× सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥
(वाल्मीकीय रामायण ६।१८।३३)

+ न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः ।
सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दने ॥
(महाभारत)

भगवान्‌को प्रिय नहीं; भगवद्‌भक्त श्वपच भी है, तो उस ब्राह्मणसे श्रेष्ठ है।

इस प्रकार भक्ति-मार्गके आचार्योंने वर्णाश्रम-धर्मका खण्डन न करते हुए, प्रत्युत उसे मान्यता देते हुए भी भगवद्-भक्तिको ही सर्वोपरि माना है। अन्य युगोंमें वर्णाश्रम-धर्मकी ही प्रधानता रहती है, किंतु इस कलिकालमें तो भक्तिको ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। भक्तिमें भी भगवन्नाम-कीर्तनकी प्रधानता है। कोई श्वपच—चाण्डाल ही क्यों न हो, यदि उसकी जिह्वापर भगवान्‌का नाम नाचता रहता है, वह सदा भगवन्नामोंका उच्चारण करता रहता है तो वह सबसे श्रेष्ठ है। भगवान् कपिलदेवकी माता देवहूतिजी कहती हैं—उसने सभी यज्ञ, तप तथा उत्तम कार्य इस भगवन्नामके गानसे ही कर लिये*।

इस कलिकालमें जो जहाँ है, जिस वर्णमें है, जिस आश्रममें है, वहीं रहकर शुद्ध सदाचारपूर्वक जीवन बिताते हुए भगवन्नामोंका निरन्तर स्मरण करता रहता है, उसे जो गति प्राप्त होती है, वह सबसे श्रेष्ठ योगियोंको भी दुर्लभ है। इस भक्तिमार्गमें देशका, कालका, वर्णका, जातिका, आश्रमका तथा अन्य किसी बातका नियम नहीं है। मनुष्यको केवल इतना ही चाहिये कि वह भगवन्नामका निरन्तर गान करे और भागवती कथाओंका श्रवण करे। इसीसे अविच्छिन्न भगवत्-स्मृति रह सकती है। यही जीवका परम लक्ष्य है। भागवतकारने तो यहाँतक कहा है—वर्णाश्रम-धर्मके पालन, तप और यज्ञ-यज्ञादिमें जो यत्न किया जाता है, उसका फल इतना ही है कि [illegible] श्रीकी प्राप्ति एवं उत्तम लोकोंकी [illegible] जीवका जो मुख्य लक्ष्य—भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी स्मृति है, वह तो भगवान्‌के गुणानुवादसे, भगवन्नाम-कीर्तनसे ही होती है†। कलियुगमें सरल, सुगम, सर्वोपयोगी, सुन्दर साधन है [illegible] लोगोंका ऐसा दुर्भाग्य है कि सर्वोत्तम गति [illegible] ऐसे सरल साधनको पाकर भी भगवन्नामोंका उच्चारण नहीं करते, भगवान्‌की भक्ति नहीं करते। इसीसे दुःखित होकर भगवान् वेदव्यासने बड़ी ही पीड़ाके साथ कहा है—

> यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः
> पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान्।
> विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं
> प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः॥
> (श्रीमद्भा० १२।३।४४)‡

छप्पय

जा आश्रममें रहो, वरन [illegible] के रहौ।
होवै हिय हरि भक्ति, मलिनता मनकी [illegible]॥
भगवन्नाम [illegible] सुमिरन, भगवती भक्ति [illegible]।
जो जन आश्रम छेड़ि, पार [illegible] [illegible]॥
सब धरमनि [illegible] सरल [illegible] सर्वेश्वर प्रभु [illegible]।
तो अति उत्तम परमपद [illegible] भक्ति [illegible]॥

> राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
> तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥
> नामु राम को कलपतरु कलि कल्यान निवासु।
> जो सुमिरत भयो भाँगतें तुलसी तुलसीदासु॥

---

* अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्। तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥ (श्रीमद्भा० [illegible])

† [illegible] परिश्रमः परो मम [illegible] [illegible]॥ (श्रीमद्भा० [illegible])

‡ मरते समय आतुर अवस्थामें [illegible] नाम लेनेसे प्राणी सभी [illegible] बन्धनोंसे विमुक्त होकर सर्वोत्तम गतिको प्राप्त कर [illegible]

वर्णाश्रम-धर्म और भक्ति

(लेखक—श्रीनरायण पुरुषोत्तम सांगाणी)

मनुष्य मोह या अज्ञानके कारण संसारके पदार्थ—स्त्री-', घर-द्वार, सम्पत्ति-सत्ता, शरीर आदिमें सुख-आनन्द मान-उनकी प्राप्त करनेके लिये प्रयास करता है। परंतु बुद्धि-क विचार करने तथा प्रत्यक्ष देखने और अनुभव करनेसे प्रतीत होता है कि ये सब क्षणभङ्गुर, दुःखदायी और प्राण हैं।

प्राचीन ऋषि-मुनियोंने तप, योग तथा आत्मज्ञानके द्वारा र्थ ज्ञान प्राप्तकर इन सबका त्याग किया था और यह भव किया था कि वास्तविक सुख शान्ति और आनन्द त्मा सच्चिदानन्द श्रीहरिके चरणारविन्दमें है।

शाश्वत सुख, आनन्द और शान्तिके धाम सर्वशक्तिमान् मात्मा श्रीहरिने अपनी क्रीडाके लिये इस अत्यन्त अद्भुत पम जगत्की रचना की है। उन सर्वज्ञ प्रभुमें ही ऐश्वर्य, र्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य आदि भग (ईश्वरताके प) सदा-सर्वदा सम्पूर्णरूपसे रहते हैं। वह परम कृपालु र भक्तवत्सल होकर भी, अपने स्थापित वर्णाश्रम-धर्म तथा ोंके ऊपर जब-जब संकट आता है, तब-तब अवतार ण करके धर्म और धर्मज्ञोंकी रक्षा करता है।

जीव उस परम ब्रह्म परमात्माका अंश है। शाश्वत सुख, नन्द और शान्तिके भंडारस्वरूप भगवान् श्रीहरिसे ग होते ही जीवका आनन्द तिरोहित हो जाता है र वह दैहिक, दैविक तथा भौतिक तापोंसे संतप्त होने ता है। शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार चौरासी लाख योनियोंमें टकता हुआ यह जन्म-मरणके संकटको भोगता है और जब प्रभुकी शरणमें जाकर उनकी आराधना करता है, तभी सागरके दुःखोंसे छूटता है।

भगवान् श्रीहरि आनन्दस्वरूप हैं। गीता और उपनिषद् दि शास्त्र कहते हैं कि वे जगत्के पिता, माता, धाता, तामह, वेद्य, पावनकारी, ॐकार, ऋक् साम यजु, गति, र्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद्, प्रभव और स्थान, निधान, अव्यय बीज और अमृत हैं। ऐसे पलप परम कारुणिक प्रभुको प्राप्त करनेके लिये ज्ञान, ग, यज्ञ, तप आदि अनेक साधन हैं। परंतु वे सब कठिन था अधिकार-योग्यताहीन लोगोंके द्वारा उनका आचरण म नहीं है। भक्ति ही एक ऐसा सरल, सुगम और श्रेष्ठ साधन है कि चाहे किस जातिका, देशका या अवस्थाका स्त्री अथवा पुरुष हो, उसका अवलम्बन करके सहज ही प्रभुपदको प्राप्त कर सकता है।

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—भक्तिके ये नौ प्रकार हैं। महाराज परीक्षित्, देवर्षि नारद, प्रह्लाद, लक्ष्मीजी, राजा पृथु, अक्रूर, हनूमान्, वीरशिरोमणि अर्जुन तथा राजा बलिने इस नवधाभक्तिका क्रमशः आश्रय लेकर प्रभुकी कृपा प्राप्त करके अपने नामको अजर-अमर कर दिया है।

परंतु नवधाभक्तिके उपरान्त प्रेमलक्षणा नामकी भक्तिका स्वरूप दिखलाते हुए भक्तिमार्गके आचार्य देवर्षि नारद तथा महर्षि शाण्डिल्य कहते हैं कि भगवान्के प्रति परमप्रेम ही भक्तिका सर्वोत्तम लक्षण है और ऐसा परमप्रेम व्रजकी गोपियोंमें था। शरीर और संसारसे सारी ममता हटाकर अनन्त ब्रह्माण्डके अधिपति अन्तर्यामी प्रभु श्रीकृष्णके चरणारविन्दको अनन्य श्रद्धा-भक्तिके साथ सर्वात्मभावसे भजते हुए उन्होंने अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया था। अतएव शिव, विरञ्चि, शेष, सनकादि तथा नारद और लक्ष्मीजीको भी परब्रह्मका जो अनिर्वचनीय आनन्द नहीं प्राप्त हुआ था, वह गोपियोंको प्राप्त हुआ। इसी कारण शिवमहर्षि ब्रह्माजीसे लेकर उद्धव-पर्यन्त महानुभाव उस पदकी प्राप्तिके लिये भुक्तिरूपी गोपियोंकी चरण-रजकी सदा आकाङ्क्षा किया करते हैं।

जिसके निवासी संसारमें सुखी जीवन व्यतीत करते हुए भक्तिद्वारा मृत्युके बाद परमपद प्राप्त कर सकें, इस शुभ प्रयोजनसे विश्वस्रष्टा श्रीहरिने सृष्टिके प्रारम्भमें ही वेद शास्त्रका निर्माण करके वर्णाश्रम-धर्मकी अति उत्कृष्ट योजना कर दी थी।

देशकी सुव्यवस्था तथा कल्याणके लिये सारी मनुष्योंको काममें लगाने तथा ज्ञान प्रदान करनेके लिये प्रतिवर्ष करोड़ों-अरबों रुपये खर्च करना और उनकी आमदनीके लिये लोगोंपर अरबों रुपयोंके कर लगाना बड़ा ही झंझटका काम है; परंतु वर्णाश्रम धर्मकी मर्यादाके अनुसार यह झंझट सर्वथा नहीं करनी पड़ती; क्योंकि वर्णाश्रम-व्यवस्थामें वेदशास्त्रके ज्ञाने सम्पन्न ब्राह्मण लोगोंको ज्ञान—शिक्षा निःशुल्क देते हैं। क्षत्रिय प्रजाकी रक्षा करते हैं। वैश्य खेतीबाड़ी, व्यापार और पशुओंके पालन

तथा व्यापारके द्वारा प्राप्त धनको बावली, कूप, तालाब, बाग, अन्नसत्र, औषधालय, धर्मशाला, पाठशाला, गोशाला, मन्दिर तथा यज्ञ-याग प्रभृति प्रजा-कल्याणके कार्योंको सम्पन्न करनेमें लगाते हैं और शूद्र शिल्पकलाके विकासके साथ-साथ उपर्युक्त तीनों वर्णोंकी सेवा करके कृतार्थ होते हैं।

इसी प्रकार स्त्रियाँ पातिव्रत-धर्मका पालन करती हुई पति तथा सास-ससुरकी सेवा करती हैं। शिष्य गुरुकी सेवा करते हैं। पुत्र माता-पिताकी आज्ञामें चलते हुए माता-पिताकी सेवा करते हैं तथा 'प्राणिमात्रके हृदयमें भगवान् श्रीहरि विराजते हैं' इस भावनासे सबके कल्याणकी कामना करके, सबका हित हो—ऐसा प्रयत्न करते हुए लोग दिन-रात प्रभुका स्मरण-चिन्तन करते हैं। यों करनेसे सबको स्वतः ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त होती है और अन्तमें सहज ही मोक्षपद मिल जाता है। धर्मव्याध, सती नर्मदा, तुलाधार वैश्य, सत्यकाम जाबाल, तोटकाचार्य और एकलव्य आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

नरपुङ्गव अर्जुन सर्वसद्गुणसम्पन्न पुरुष थे। वे भगवान् श्रीकृष्णके परम भक्त और सखा थे। उनके जैसा वीर योद्धा उस समय त्रिलोकीमें कोई न था। महाराज युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञके अवसरपर उन्होंने भगवत्-कृपासे दुनियाके सभी राजाओंको जीत लिया था। कहीं भी इस महापुरुषकी पराजय नहीं हुई थी। परंतु दुर्योधनकी दुष्टतासे जब कौरव पाण्डवोंका युद्ध आरम्भ होनेका समय आया, तब दोनों सेनाओंके बीचमें अपने रथके खड़े होते ही अपने सामने लड़नेके लिये संनद्ध गुरु, काका, दादा, मामा आदि कुटुम्बी और सगे-सम्बन्धियों-को देखकर वे विषण्ण और व्यामोहसे व्याप्त हो गये और क्षात्रधर्मको त्यागकर भिक्षुकका धर्म अङ्गीकार करनेके लिये तैयार हो गये।

इसपर भगवान् श्रीकृष्णने विषादग्रस्त और कर्तव्य-विमूढ़ होकर शरणमें आये जिज्ञासु अर्जुनको निमित्त बनाकर समस्त संसारके लोगोंको जो दिव्य उपदेश प्रदान किया, वह आज श्रीमद्भगवद्गीताके नामसे प्रसिद्ध है। इस सर्वमान्य उपदेशमें श्रीकृष्ण परमात्माने अर्जुनसे कहा कि देह और आत्मा एक नहीं, बल्कि पृथक्-पृथक् हैं। देह नाशवान् है और आत्मा अविनाशी है। तुमने क्षत्रियजातिमें जन्म लिया है, इसलिये युद्ध करना तुम्हारा परम धर्म है। आग लगानेवाले, विष देनेवाले, शस्त्र लेकर सामने लड़नेके लिये आनेवाले, धनका हरण करनेवाले, भनका हरण करनेवाले, भूमिका हरण करनेवाले और स्त्रीका हरण करनेवाले 'आततायी' कहलाते हैं तथा इनकी सहायता करनेवालोंकी भी गणना है। अतएव ऐसे ... नहीं है।' श्रीकृष्ण फिर कहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णोंकी सृष्टि मैंने की है। इन सब लोगोंको अपने-अपने धर्म-कर्मका यथाविधि पालन करना चाहिये। स्वधर्मका पालन करते हुए मृत्यु हो जाय तो श्रेष्ठ है, परंतु परधर्मका आश्रय तो भयावह है। प्रत्येक मनुष्य जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंके अनुसार चेष्टा करता है। क्षत्रियजातिमें जन्म लिया है, युद्ध करना तुम्हारा स्वभाव है। मोहवश या कायरतासे युद्ध नहीं करोगे तो प्रकृति (स्वभाव) बलपूर्वक तुम्हें युद्धमें लगायेगी। स्वधर्मत्याग उचित नहीं। सुख-दुःख, लाभ-हानि ... छोड़कर निष्काम बुद्धिसे मेरा स्मरण करते हुए अपने कर्तव्यका पालन करोगे तो तुमको दोष नहीं लगेगा और बन्धन नहीं होगा।'

परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं कि 'सब जिससे उत्पन्न किया है। जिसमें मुझसे पर—श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं है। मैं ही युग-युगमें अवतार लेकर धर्म और साधुओंकी रक्षा करके दुष्टोंको—धर्मका नाश करके जगत्‌को त्रास देनेवालों को, आसुरी वृत्तिके नास्तिकोंको दण्ड देकर धर्मकी पुनः स्थापना करता हूँ। मैं क्षर-अक्षरसे अतीत पुरुषोत्तम हूँ। मेरे धामको सूर्य या चन्द्र प्रकाशित नहीं करते, प्रत्युत मैं उनको प्रकाशित करता हूँ। दूसरे सारे लोक ऐसे हैं, जहाँ जाकर जीवको मर्त्यलोकमें लौटना पड़ता है, परंतु मेरे परम धामको प्राप्त करनेके बाद जीवात्माको फिर कहींसे भी लौटना पड़ता। संसारमें जो कोई देवी-देवता या सुन्दर प्रधान पदार्थ देखनेमें आते हैं, उनको मेरी विभूति समझो। मेरे विश्वरूपका दर्शन वेद, यज्ञ या उग्र तपसे भी सम्भव नहीं है। वह केवल अनन्य भक्तिसे ही हो सकता है। तुम मेरे अनन्य भक्त हो, इस कारण मैं तुमको दिव्यचक्षु प्रदान करता हूँ, उससे तुम मेरा दर्शन करो।'

भगवान् पुनः आदेश देते हैं कि 'शास्त्रविधिका परित्याग करके जो स्वच्छन्द चेष्टा करता है, उसको न तो इस लोकमें सुख या सिद्धि मिलती है और न परलोकमें सद्गति ही मिलती है। अतएव तुमको कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयके विषयमें शास्त्रज्ञानको ही प्रमाण मानकर आचरण करना चाहिये। यज्ञ, दान और तप—ये मनुष्योंको पवित्र करनेवाले हैं, इसलिये मरणके डररूप, भय, शोक ...

म—इन तीनों शत्रुओंका त्याग करके यज्ञादि तीनोंका
नुष्ठान करना चाहिये। अन्नसे प्राणियोंकी उत्पत्ति होती
; वर्षासे अन्न उत्पन्न होता है और यज्ञ-यागादिसे प्रसन्न
कर देवता वृष्टि करते हैं; अतएव परस्पर-कल्याणार्थ
ज्ञ-यागादि कर्म करने चाहिये। अब तुम्हारे परम हितकी
त कहता हूँ—तुम मुझमें ही मनको लगाओ, मेरे भक्त
नो, मेरा ही भजन-पूजन और आराधन करो।' भगवान्
ृष्ण कहते हैं कि 'मैं सत्य कहता हूँ, इससे तुम मुझको
प्राप्त होगे। निःशंक होकर तुम घोषणा कर दो कि
रा भक्त यदि कोई दुराचारी और पापी भी हो, तो भी वह
ध्र और मेरे भजनके प्रभावसे तुरंत ही धर्मात्मा बनकर
र जायगा। तुम जो कुछ धर्म-कर्म करो, वह सब मुझको
र्पण कर दो और एक मेरी ही शरणमें चले आओ, मैं
मको सब पापोंसे छुड़ाकर मुक्त कर दूँगा। हे परंतप!
दयकी तुच्छ दुर्बलताका त्याग कर तुम उठ खड़े हो और मेरा
रण करते हुए युद्ध करो।' भगवान्‌की आज्ञाको सिर
ढ़ाकर अर्जुनने युद्ध करके वर्णाश्रम-धर्मका पालन किया,
ससे उसकी अपूर्व विजय प्राप्त हुई और विश्वमें उसकी
ीर्ति-पताका फहरायी।

वर्णाश्रम-धर्म किसी मनुष्यका बनाया नहीं है, किंतु
साक्षात् ईश्वरकी रचना है। इसे नष्ट करनेका उद्योग
रनेसे ईश्वरके प्रति अपराध होता है और अन्तमें अपराध
रनेवालेका बुरी तरहसे नाश होता है। वर्णाश्रम-धर्मके
ष्ट होनेपर देशमें अंधा-धुंध मच जायगी, प्रजामें वर्णसंकरता
ढ़ेगी और लोगोंकी भयंकर दुर्गति होगी। अतएव
पना तथा समाजका श्रेय चाहनेवाले जो भी लोग हों,
नके लिये वर्णाश्रम-धर्मका रक्षण और पालन अवश्य-
र्तव्य है।

स्पृश्यास्पृश्य-विवेक अथवा आचार-विचारका पालन,
वित्र खानपान, वेदोक्त विधिके अनुसार विवाह
ौर शुद्ध जाति-निर्माण—ये वर्णाश्रमधर्मको सुरक्षित
खनेवाले अमेद्य दुर्ग हैं। ये चारों दुर्ग दृढ़ हों, तभी
र्णाश्रम-धर्मका अस्तित्व रह सकता है और अन्तःकरणकी
द्धि हो सकती है; तथा अन्तःकरणको शुद्ध करनेके निमित्त
नुने ही वर्णाश्रम-धर्मके पालनरूप भागवतधर्मका अवलम्बन
रनेसे जगदीश्वर श्रीहरि प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं।

अम्बरीष, ध्रुव, प्रह्लाद, रुक्माङ्गद आदि उच्चकोटिके
गवद्भक्त थे। अनन्य भक्तिके वेगमें भी उन्होंने कभी
वर्णाश्रम-धर्मका त्याग नहीं किया और इस हेतु भक्तके अधीन
रहनेवाले श्रीभगवान्‌को उनके योग-क्षेमकी व्यवस्था करनी पड़ी।

आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—चार प्रकारके भक्त
भगवान्‌की भक्ति करते हैं। इनमें निःस्पृही ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ
समझा जाता है। तथापि आर्त (दुखी), सत्य जिज्ञासु
और द्रव्यप्राप्तिके इच्छुक भक्त भी प्रभुको प्रिय होते हैं।
अतएव श्रेयोऽभिलाषी मनुष्यको सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्य,
कृपालुता, भक्त-वत्सलता एवं उदारताके निधि और थोड़ा सा
भी धर्माचरण एवं भक्ति करनेवालेको भी अनन्त फल प्रदान
करके महान् भयसे बचानेवाले विश्वम्भर श्रीहरिकी शरणमें
सर्वभावसे जाकर उनका भजन करना चाहिये।

जगदीश्वर श्रीहरि सबके प्रति समदृष्टि रखनेवाले तथा
समभावापन्न हैं। उनके लिये कोई अपना-पराया या शत्रु मित्र
नहीं। तथापि कुन्तीपुत्र अर्जुनके प्रति अत्यधिक स्नेहवश उन्होंने
दूत और सारथिका काम तथा राजसूय यज्ञके समय
ब्राह्मणोंके चरण धोने-जैसा कार्य करनेमें भी संकोच नहीं
किया, यह देखकर बहुतोंको आश्चर्य होता है।

परंतु भक्ताधीन रहनेवाले श्रीभगवान्‌के इस विलक्षण
व्यवहारमें तनिक भी आश्चर्यकी बात नहीं है। परम कृपालु
भगवान् भावके भूखे हैं और एक-गुना करनेवालेको सहस्र-
गुना फल देते हैं। सूरदास, चैतन्य महाप्रभु, जयदेव कवि,
ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव, तुकाराम, पुण्डरीक, नरसिंह
मेहता, मीराँबाई और ऐसे ही दूसरे अनेकों भक्तोंके लिये
प्रभुने विविध रूप धारणकर, महान् कष्ट उठाकर उनका
मनोरथ पूर्ण किया है।

नारायणके सखा नरके अवतार अर्जुन कितनी उच्च
कोटिके भक्त थे, इसका अब हमको विचार करना है। एक
समय अर्जुन सख्त बीमार पड़े। बहुत अधिक ज्वर हो
जानेके कारण वे बेसुध होकर सोये पड़े थे। सती सुभद्राजी
उनकी सेवा-शुश्रूषा कर रही थीं। अर्जुनके रुग्ण होनेका
समाचार पाते ही भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजीके साथ उनकी
स्थिति जाननेके लिये पधारे और अर्जुनका पैर दबाने लगे।
भगवान्‌के वहाँ पधारनेकी बात जानकर लोक-पितामह ब्रह्मा
नारदजीके साथ पधारे और भगवान् शंकर भी पार्वतीजीको
लेकर पहुँचे। अब सब लोग अर्जुनकी ओर देखने लगे, तब
उन्हें देख प्रतीत हुआ कि अर्जुनके रोम रोमसे 'जय श्रीकृष्ण'की

ध्वनि निकल रही है और जगत्‌के प्राणियोंको भक्ति-भावमें निमग्न कर रही है। इसका प्रभाव आस-पास खड़े हुए महानुभावों-के ऊपर भी पड़ा; फलतः नारदजी वीणा बजाने लगे, ब्रह्माजी वेदोच्चार करने लगे, उद्धवजी करताल बजाकर नाचने लगे तथा शिवजी डमरू बजाकर ताण्डव-नृत्यमें प्रवृत्त हो गये। अर्थात् अर्जुनके अद्वितीय भक्तिभावको देखकर सब-के-सब शरीरकी सुध-बुध भूल गये।

उसी प्रकार जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण इस लोकको छोड़कर अपने निजधाम गोलोकको पधारे और अर्जुनको इसका समाचार मिला, तब वे भगवान्‌के विरहसे व्याकुल हो तत्काल राज-पाट तथा संसारके सारे पदार्थोंको छोड़ वल्कलवस्त्र धारणकर अवधूतवेषमें, यों ही इधर-उधर बिना देखे, भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करते हुए उत्तराखण्डमें स्वर्गारोहण करनेके लिये निकल पड़े और प्रभुपदको प्राप्त हुए। ऐसे भक्त-शिरोमणिका रूप भक्तवत्सल भगवान् धारण करें तो इसमें आश्चर्य क्या है।

प्रभुकी अनुकम्पासे हमलोग भी अनन्य भक्ति कर वर्णाश्रम-धर्मका पालन करते हुए इस पदको प्राप्त भाग्यवान् बनें, यही प्रभुके चरणोंमें अभ्यर्थना है।

हरिः ॐ तत् सत्

शिव-ताण्डव

(रचयिता—कविवर श्री'गोपाल'जी)

घन घुमंड सी घुमरि जटा घन घोर घमंडति।
लोल लहर लहि लास्य लटनि लहराति उमंडति॥
नीराजन-सो करत भाल लोचन अमंद द्युति।
रजत धार सी बनत परिधि ससधरकी सुचि रुचि॥
आपुस में लहि घात करें, मुंडमाल अति कड़-कड़त।
कटि पिनद्ध अति वेग सौं व्याघ्र चर्महु फड़फड़त॥

डगमगाति अति उर्वि सेस के फनहु असरन।
भारि कूर्म कसमसत, धसत गिरि उठत नभ गगन॥
डमडम डमरू डमत सूल चमकत अति दमकत।
सर्पन की फुफकार सर्पि, अति धुनि सौं धमकत॥
भुवन मँहि भूतेस की भुवन भाँति की छय करनि।
साध्य नटनि नटराजकी मनभावनि मंगल करनि॥

नाग नाचैं अंगनि पै, पच्छ भुजदंडनि पै
जटाभार नाचै चहुँ लहरि लहरि कै
शृंगी भँवरनि नाचै, डमरू उमापति रटै,
मुंडमाल नाचै उरदेस पै हहरि कै।
'सुकवि गोपाल' भूतपति भव्य तांडव में
चपला रसीली नाचै कंध पै सहरि कै।
चंद्र नाचै भाल पै, जटाटवी बिसाल बीच
गंग नाचै छींटनि सौं छहरि छहरि कै॥

रामायणमें भक्ति

(लेखक—श्रीयुत के० एस० रामस्वामी शास्त्री)

हिंदुओंमें संस्कृति-प्रेमी एवं धार्मिक वर्गोंकी यह एक विख्यात मान्यता है कि सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वाधिक जनप्रिय हिंदू महाकाव्य एवं शास्त्र वाल्मीकीय रामायणका प्रधान विषय है भक्ति, प्रपत्ति अथवा शरणागति। यद्यपि भक्ति, प्रपत्ति तथा शरणागति—इन तीन शब्दोंके भावमें सूक्ष्म अन्तर दिखानेका हठधर्मिता साथ प्रयास किया गया है, वास्तवमें वे एकार्थक ही हैं और उनका अभिप्राय है—'जीवकी ईश्वरपरायणता'। यों तो गीतामें 'शरणं व्रज' इन शब्दोंका भगवान्के प्रसिद्ध श्लोकों (१८। ६५, ६६) में स्पष्ट प्रयोग किया गया है, परंतु 'भजते' और 'प्रपद्यते' पदोंका उसी अर्थमें स्थान-स्थानपर प्रयोग हुआ है (देखिये—४। ११; ७। १४, १९; ९। ३०, ३१; १०। १०; ११। ५४; १४। २६; १५। ४; १८। ५५)। 'उपासते' शब्दसे भी यही भाव व्यक्त होता है (९। १४, १५; १२। २, ६, २०; १३। २५)। इनके अतिरिक्त जिन शब्दोंका प्रयोग हुआ है, वे ये हैं—मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। (१२। ८) उत्तरकालीन लेखक चाहे जो कहें, सच बात तो यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण 'परज्ञान' और 'पराभक्ति' दोनोंको अभिन्नता देते हैं। पीछेके विचारक दोनोंका भेद दिखानेके लिये कुछ भी कहें, भगवान्की उक्ति तो यही है कि परम ज्ञानी तथा परम भक्त दोनों ही उन्हें प्राप्त करते हैं (१२। १ से ४) और अक्षरोपासक एवं ईश्वरोपासक भी उसी अवस्थापर पहुँच जाते हैं। वस्तुतः भगवान् 'ज्ञानी', 'जिज्ञासु' तथा 'एकभक्त'—इन तीनों शब्दोंका ऐसा समन्वय स्थापित करते हैं कि उनका पृथक्करण सम्भव नहीं है। (देखिये—७। १७, १८, १९; ११। १०) श्रीकृष्ण 'प्रवेष्टुम्' (११। ५४) तथा 'विशते' (१८। ५५) शब्दोंका भी प्रयोग करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वरसे पृथक् रहते हुए उनके समान आनन्दके उपभोगकी सम्भावनाके साथ-साथ श्रीकृष्ण ब्रह्मसायुज्यके सुखको भी स्वीकार करते हैं।

शाण्डिल्य भक्तिसूत्रमें 'ईश्वरके प्रति अनुराग' को ही भक्तिकी संज्ञा दी गयी है—सा परानुरक्तिरीश्वरे। (२) प्रपत्तिकी व्याख्या करनेवाले निम्नलिखित श्लोक अत्यन्त प्रचलित हैं—

> आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
> रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा।
> आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥

'भगवान्के अनुकूल चलनेका संकल्प, उनके प्रतिकूल आचरणका त्याग, वे हमारी रक्षा करेंगे—इसपर विश्वास, रक्षाके लिये उनसे प्रार्थना, आत्मनिवेदन तथा दैन्य—ये छः शरणागतिके लक्षण हैं।'

ये सभी बातें साथ-साथ रहती हैं। कुछ लोग भक्तिका लक्षण बतलानेके लिये उसके निम्नाङ्कित नौ रूपोंका उल्लेख कर देते हैं—

> श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
> अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
> इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
> क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥
>
> (श्रीमद्भागवत, सप्तमस्कन्ध, ७। ५। २३, २४)

'विष्णुभगवान्की भक्तिके नौ भेद हैं—(१) भगवान्के गुण-लीला-नाम आदिका श्रवण, (२) उन्हींका कीर्तन, (३) उनके रूप-नामादिका स्मरण, (४) उनके चरणोंकी सेवा, (५) पूजा-अर्चा, (६) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य और (९) आत्मनिवेदन। यदि भगवान्के प्रति समर्पणके भावसे यह नौ प्रकारकी भक्ति की जाय तो मैं उसीको उत्तम अध्ययन समझता हूँ।'

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य—इन शब्दोंसे भक्तिसम्बन्धी एक और तथ्यका ज्ञान होता है। संक्षेपमें, भगवान्के प्रति अनुरक्तिजनित सुखका ही नाम 'भक्ति' है।

वैष्णव सिद्धान्तके अनुसार रामायण शरणागति-परक शास्त्र है। शरणागतिकी भावना सम्पूर्ण ग्रन्थमें व्याप्त है, इसलिये यह वास्तवमें ऐसा ही शास्त्र है। परंतु साथ ही-साथ यह धर्म-शास्त्र, नीति-शास्त्र और मोक्ष-शास्त्र भी है।

'शरणागति' शब्दका निम्नलिखित श्लोकोंमें स्पष्ट प्रयोग हुआ है—

> स्वधार्य चप्रमायातावस्य वै मुनिभिः सह।
> निरस्त्रदर्शनाम सत्त्वं शरणं गताः॥*
>
> (अरण्यकाण्ड, १०। १४-१५)

---

* देवपर्षद् भगवान् रामसे कहते हैं—'अमीके मुनियोंके साथ मिलकर हमलोग आप (रावण) के वधके लिये

श्रीमद्भगवद्गीताका स्वारस्य—प्रपत्ति

(लेखक—शास्त्रार्थ-महारथी पं० श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्री)

वेदोंका सार उपनिषद् और उपनिषदोंका सार 'श्रीमद्भगवद्गीता' है—यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है। इसलिये 'सर्वशास्त्रमयी गीता' यह प्राचीन प्रवाद सर्ववादि-सम्मत है। श्रीमद्भगवद्गीतामें यद्यपि कर्मयोग, सांख्ययोग, उपासनायोग, ध्यानयोग और ज्ञानयोग आदि सभी योगोंका निरूपण पाया जाता है, तथापि गीताका हृदय शरणागति किंवा प्रपत्तियोग ही है।

मीमांसकोंने ग्रन्थका तात्पर्य निर्णय करनेके साधनोंमें (१) उपक्रम, (२) उपसंहार और (३) अनुवृत्ति—ये तीन साधन सर्वोपरि स्वीकार किये हैं। अर्थात् ग्रन्थका आरम्भ जिन शब्दोंमें होता है और उपसंहार—परिसमाप्ति जिन शब्दोंमें होती है तथा बीच-बीचमें भूयोभूयः जिन शब्दोंको आम्रेडित किया गया—दुहराया गया है—बस! ये तीन बातें ग्रन्थका हृदय प्रकट करनेमें अपरिहार्य हेतु हैं। अब इस निकष (कसौटी) पर गीताको कसकर देखना चाहिये, जिससे गीताका स्वारस्य 'पावन सोने, पत्र रखी' जाना जा सके।

उपक्रम

यों तो गीताका आरम्भ 'धृतराष्ट्र उवाच' से होता है। परंतु वास्तवमें पूरे प्रथम अध्याय और दूसरे अध्यायके छठे श्लोकतक तात्कालिक सामरिक स्थिति और गीताकी उपक्रमात्मक पृष्ठभूमिके साथ-साथ भगवान्ने एक लौकिक मित्रकी भाँति अर्जुनको जो उचित परामर्श दिया है, उसका वर्णन है। तभी तो दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें अर्जुन कहते हैं—

> कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
> पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।

अर्थात् (हे भगवन्!) बुद्धिकी कृपणतारूप दोषके कारण मेरा क्षात्रतेजोपुञ्जितमय क्षत्रियस्वभाव बदल गया है और धर्माधर्मनिर्णयमें मेरा चित्त सर्वथा मूढ़ हो गया है, इसलिये मैं आपको कर्तव्य पूछता हूँ।

गीताभ्यासी जानते हैं कि युद्धमें अर्जुन एक 'महारथ' की भाँति रथी हैं और श्रीभगवान् भक्तिवश आज्ञाकारी सेवककी भाँति 'सारथि' बने हुए हैं। अर्जुनने स्वामियोंके स्वरमें यों ही भगवान्को आदेश दिया कि—

> सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत। (१।२१)

अर्थात् हे अच्युत! दोनों सेनाओंके मध्यमें मेरा रथ खड़ा करो।

—भगवान्ने तत्काल हुक्मकी तामील की। परंतु अब जब उपर्युक्त 'कार्पण्य' आदि श्लोकमें अर्जुन अपनी बौद्धिक निर्बलता और किंकर्तव्यविमूढताको स्पष्ट स्वीकार करता हुआ कर्तव्योपदेश चाहता है, तब भगवान् मौन हैं, कुछ बोलते ही नहीं। अर्जुनने भगवान्की चुप्पीपर चकित होकर पुनः कहा—

> यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे (२।७)

अर्थात् (हे प्रभो!) जो मेरे लिये कल्याणकारी बात हो, उसे निश्चितरूपेण कहिये।

भगवान् फिर भी चुप रहे। उन्होंने मनमें विचार किया कि 'मैं यहाँ सारथ्य करने आया हूँ, गुरु बनकर उपदेश देने नहीं। 'रथी' को 'सारथि' कभी उपदेश नहीं दे सकता। तत्त्वोपदेश गुरु-शिष्य-सम्प्रदाय-पद्धतिसे ही देय और ग्राह्य हो सकता है। मैत्रीपूर्ण परामर्श तो मैं अबसे पूर्व दे ही चुका हूँ। अतः जबतक अर्जुन साम्प्रदायिक पद्धतिसे शिष्यत्व स्वीकार नहीं करता, तबतक तत्त्वोपदेश नहीं दिया जा सकता।'

अब तो अर्जुन भगवान्के मौनावलम्बनपर अत्यधिक विचलित हो उठा और विनयपूर्वक बोला—

> शिष्यस्तेऽहम् (२।७)

अर्थात् (हे गुरो!) मैं आपका शिष्य हूँ। (आप मुझे शिक्षा दीजिये।)

भगवान् फिर भी चुप रहे और मन-ही-मन अर्जुनकी चतुरवादितापर मुस्कराने लगे। 'अहो! ये संसारी जीव अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये कैसे-कैसे नाटक रचते हैं। अर्जुन जब किंकर्तव्यविमूढ हुआ, तब एकमात्र मेरा वाचिक शिष्य बनकर अपना काम निकालनेको हाथ पैर मारने लगा। भला! मैं तुमसे पूछता हूँ कि तू मेरा शिष्य किस दिन बना था? तूने कब, कौन दीक्षा ग्रहण की थी? क्या वाचीयता कह देनेमात्रसे कोई किसीका शिष्य बन जाता है? फिर तू ही तो मेरा शिष्य होनेकी बात अपने मुँहसे कह रहा है! मुझसे भी पूछ लेता है कि मैं भी तेरा गुरु बननेको राजी हूँ या नहीं!' इत्यादि।

अब तो अर्जुनको भगवान्का यह मौन-धारण असह्य हो उठा। वे अतीव आतुर होकर साष्टाङ्ग प्रणामपूर्वक गद्गद कण्ठसे बोले—

शाधि मां त्वां प्रपन्नम् (गीता २। ७)

अर्थात् (हे देवाधिदेव !) मैं आपकी शरणमें आ पड़ा हूँ, मुझे शिक्षा दीजिये।

बस, जब अर्जुनके मुखसे 'प्रपन्नम्' शब्द निकला, तब भगवान्ने सोचा कि अब मौन धारण किये काम न चलेगा। अब तो शरणागत अर्जुनको तत्त्वोपदेश देना ही पड़ेगा। संसारके सम्बन्ध सभी सम्बन्ध उभय पक्षकी सम्मतिसे ही स्थिर होते हैं। उदाहरणके लिये किसीकी लड़की और किसीका लड़का है; ज्यों ही दोनों पक्षोंके अभिभावक 'समधी'—समान बुद्धिवाले हुए त्यों ही वर-कन्याका दाम्पत्य-सम्बन्ध स्थिर हो गया। इसी प्रकार जब गुरु और शिष्य दोनोंने उभय-सम्मतिसे 'सह नाववतु' पढ़ा कि गुरु-शिष्य बन गये। परंतु शरण्य और शरणागतके 'प्रपत्ति' रूप सम्बन्धमें उभयपक्षकी सहमति अपेक्षित नहीं। जब किसी विपद् आतुरको आत्म-त्राणका अन्य कुछ उपाय न सूझा और मरने लगा, तब वह एकमात्र प्रभुको अपना रक्षक मानकर 'त्वमसि, शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' कहकर शरणमें आ पड़ा। आतुरको इतनी फुरसत कहाँ कि पहले शरण्यको टेलीफोनपर पूछकर या प्रार्थना-पत्रका फार्म भरकर शरणमें आनेकी स्वीकृति ले। ऐसी दशामें प्रपत्ति ही एकमात्र ऐसा सम्बन्ध है, जिसे शरण्यसे बिना पूछे ही शरणागत अकेला स्थापित कर लेता है। तथापि, अतः भगवान्के चुप रहनेका अब कोई कारण नहीं रहा और भगवान्ने उपदेश आरम्भ कर दिया।

पाठक खूब ध्यान दें कि जो भगवान् उपर्युक्त श्लोककी वाक्य-रचनाके अनुसार अर्जुनके बार-बार 'पृच्छामि', 'ब्रूहि' और 'शाधि' कहनेपर भी टस-से-मस न हुए, वे ही शरणागतवत्सल भगवान् 'प्रपन्नम्' शब्द सुनते ही मन उपनिषदोंके अमृतमय पुष्पको झर-झर करते अपने हाथों अर्जुनको सिखलानेके लिये कटिबद्ध हो गये और तबतक शान्त न हुए, जबतक स्वयं अर्जुनने 'करिष्ये वचनं तव' (१८। ७३) नहीं कहा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रीमद्भगवद्गीताका वास्तविक उपक्रम—आरम्भ 'प्रपत्ति' से होता है।

उपसंहार

भगवान्ने गीतामें सांख्य, कर्म, उपासना, ध्यान आदि सभी योगोंका विशद निरूपण किया, परंतु अठारहवें अध्यायके ६६ वें श्लोकमें उपसंहार करते हुए 'प्रपत्ति' से प्रारम्भ किये हुए अपने तत्त्वोपदेशका पर्यवसान भी 'प्रपत्ति' में ही किया। भगवान् बोले—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

अर्थात् (हे अर्जुन !) सब धर्मोंको छोड़कर (सर्वोपरि प्रायश्चित्तभूत धर्म) मेरी अनन्य शरणमें चला आ। मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताका उपसंहार भी 'प्रपत्ति' में ही हुआ है।

अनुवृत्ति

गीताके बीच-बीचमें तो पद-पदपर भक्ति अथवा प्रपत्ति की ही अनुवृत्तिका उल्लेख विद्यमान है। यथा—

(क) ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। (४। ११)

(ख) मद्भक्ता यान्ति मामपि। (७। २३)

(ग) मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य ······ तेऽपि यान्ति परां गतिम्। (९। ३२)

(घ) यो मद्भक्तः स मे प्रियः। (१२। १४-२०)

(ङ) तमेव शरणं गच्छ ······ स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्। (१८। ६२)

(च) मामेकं शरणं व्रज। (१८। ६६)

(छ) भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः। (१८। ६८)

(क) जो जिस रीतिसे मेरी शरणमें आता है, मैं भी उसको उसी भावसे ग्रहण करता हूँ।

(ख) मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं।

(ग) हे पार्थ ! पापादि भी मेरी शरणमें आकर परम गतिको पा जाते हैं।

(घ) जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्रिय है।

(ङ) उस भगवान्की शरणमें चला जा, उससे तुझे मोक्षपदकी प्राप्ति हो जायगी।

(च) एकमात्र मेरी शरणमें चला आ।

(छ) मुझमें उत्कृष्ट भक्ति करके निस्संदेह मुझे प्राप्त हो जायगा।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतामें 'प्रपत्ति' के पर्याप्त प्रमाण विद्यमान हैं।

प्रपत्तिका वैशिष्ट्य

इसके अतिरिक्त एक और भी रहस्य मननीय है कि गीतामें जहाँ अन्यान्य विषयोंका निरूपण भगवान्‌ने 'सहसम् इदम् अवादि' के अनुसार हँसते हँसते किया है, वहाँ शरणागतिका निरूपण उपस्थित होनेपर उसे न केवल हास्य विनोदसे पृथक् कर बड़ी गम्भीरतापूर्वक ही कहा है, अपितु अर्जुनको डाँट-डपटकर भी शरणमें आनेको बाध्य किया है और अशरणोंको उग्र भाषामें कोसा भी है। जैसे लोकमें वृद्धजन अपने पुत्रादिको साधारण बातें तो साधारण शब्दोंमें बतला देते हैं, परंतु अवश्य करणीय बातको बड़ी गम्भीरताके साथ उद्वेग और सावधान करते हुए आदेशरूपमें कहा करते हैं, ठीक उसी प्रकार गीतामें सांख्य, कर्म, ध्यान और ज्ञानयोग आदि विषयोंका निरूपण तो साधारण शब्दोंमें उपनिबद्ध है, परंतु 'प्रपत्तियोग' का वर्णन असाधारण चेतावनीपूर्ण कठोर शब्दोंमें अङ्कित है, जिससे यही विषय भगवान्‌का हार्द प्रतीत होता है। हम पाठकोंके विचारार्थ यहाँ एक साथ उदाहरण अङ्कित करते हैं। यथा—

(क) न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥
(७। १५)

(ख) अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥
(१८। ५८)

अर्थात् (क) जो मेरी शरणमें नहीं आते, वे पापी हैं, मूढ़ हैं, नराधम हैं, आसुरभावसम्पन्न हैं, उनके ज्ञानको मायाने हर लिया है।

(ख) यदि अहंकारवश तू मेरी बात नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा—गिर जायगा।

उपर्युक्त पहले पद्यमें 'न मां प्रपद्यन्ते' इतना तो मूल वक्तव्य है, शेष पाँच उग्र वचन हैं। अब प्रपन्नोंको पापी, मूढ, नराधम और मायाहत ज्ञानशून्य कहनेपर भी भगवान्‌को संतोष न हुआ, तब अन्तिममें आकर उन्हें 'आसुरं भावमाश्रिताः' तक कह डाला, जिसका सीधा-सीधा अर्थ यह होता है कि 'मेरी शरणमें न आनेवाले आसुरी स्वभाव हैं।' दूसरे पद्यमें तो आवेगका स्वर इतना ऊँचा हो गया कि भगवान्‌ने अपनी बात अनसुनी कर देनेपर अर्जुनको सम्भावित अकल्याणकी चेतावनीमात्र देना ही पर्याप्त नहीं समझा, अपितु विनष्ट हो जानेका भयावह शाप तक देनेको उद्यत रहनेके लिये भी अलङ्कृत कर दिया।

इससे सिद्ध है कि सर्वशास्त्रमयी गीताका पर्यवसितार्थ एकमात्र 'प्रपत्तियोग' है। इसी कारण गीताके मुख्य तात्पर्यात्मक एवं हृदयभूत इस मार्गमें अकारण-करुण, करुणा-वरुणालय श्रीमन्नारायण समस्त जीवोंको अर्जुनके व्याजसे परिनिष्ठित करना चाहते हैं।

मुक्तिका परम साधन एकमात्र 'प्रपत्ति' है। शास्त्रान्तरमें इसी तत्त्वको अन्यान्य नाम देकर मोक्षका हेतु बताया गया है। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' आदि वेद-वाक्योंमें 'ज्ञान' शब्दका तात्पर्य 'अस्मात्पराधमको कोऽस्मि' के अनुसार यतिकिञ्चित्पूर्वक 'स्वामी त्वम्, दासोऽहम्' ज्ञान लेनामात्र नहीं है, अपितु 'जीव सर्वथा और सर्वदा भगवदाश्रित हुए बिना सांसारिक उपद्रवोंसे अत्यन्त निवृत्ति नहीं पा सकता'—यह तत्त्व हृदयंगम कर लेना ही वास्तवमें मोक्षका सम्यग्भिलषित साधन है। इसी प्रकार मोक्षदायिनी भक्तिका तात्पर्य भी 'नवधा भक्तिः' के अनुसार श्रवण-कीर्तन मात्र नहीं, अपितु उक्त आरम्भिक श्रेणियोंको लाँघते-लाँघते अन्तिम कक्षा 'आत्मनिवेदन' में आरूढ़ हो जाना ही मुक्तिका साक्षात् साधन है। इसलिये ज्ञानकी पराकाष्ठा, भक्तिकी चरम दशा, आत्मनिवेदन, अनन्य शरणागति—ये सब 'प्रपत्ति' के ही अभिन्न नामान्तर हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता समस्त शास्त्रार्थोंका समन्वयात्मक सिद्धान्तप्रतिपादक ग्रन्थ है, अतएव इसमें सब वादोंका यथावत् निरूपण करते हुए भी श्रीमन्नारायण भगवान्‌ने 'प्रपत्तियोग' का सर्वोत्कर्ष सुस्थिर किया है, जो उपक्रम, उपसंहार तथा अनुवृत्ति आदि प्रमाणोंद्वारा सुसिद्ध है।

भगवान्‌का निज गृह

वाल्मीकिजी कहते हैं—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥
(रामचरित॰ अयोध्या॰)

श्रीमद्भगवद्गीतामें भक्ति

(लेखक—श्रीप्रभुदत्त भागवते शास्त्रीजी)

श्रीमद्भगवद्गीताके बारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे यह प्रश्न पूछते हैं कि 'जो अनन्य-प्रेमी भक्तजन निरन्तर आपके भजन और ध्यानमें लगे हुए आपके सगुणरूपकी उपासना करते हैं और जो अन्यजन आपके अविनाशी सच्चिदानन्द निर्गुण निराकार तत्त्वकी उपासना करते हैं, उन दोनोंमें उत्तम योगवेत्ता कौन है ?'

वास्तवमें यह प्रश्न भगवान् श्रीकृष्णको अत्यन्त कठिन परिस्थितिमें रख देता है। यदि कोई व्यक्ति मातासे यह पूछे कि उसका प्रेम उसके पाँच वर्षके बालकपर अधिक है या पचीस वर्षके युवा पुत्रपर ? उस समय माताकी जो स्थिति होगी, वैसी ही स्थिति भगवान्‌की यहाँपर हुई है; क्योंकि माताकी दृष्टि दोनोंपर समान ही है। किंतु प्रत्यक्ष सत्य इसके विपरीत है। माता पाँच वर्षके बालकके सभी काम स्वयं करती है और पचीस वर्षके युवक पुत्रको अपने काम अपने हाथोंसे ही करने पड़ते हैं। इसलिये भगवान् इन दोनों प्रकारके भक्तोंका वर्णन करते समय अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

> मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
> श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
> ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
> सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
> संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
> ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
>
> (गीता १२।२—४)

उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान् स्पष्टरूपसे कहते हैं कि 'दोनों प्रकारके भक्त मुझे ही प्राप्त होते हैं—दोनों ही मेरे हैं और मैं दोनोंका हूँ। किंतु जहाँ साधनाका प्रश्न आता है, वहाँ दोनोंमें अन्तर है। यद्यपि सगुणोपासक और निर्गुणोपासक दोनोंका लक्ष्य, दोनोंका साध्य एक ही है, फिर भी साधनाकी दृष्टिसे सगुणोपासना सीधी, सरल और सुखकर है तथा निर्गुणोपासना टेढ़ी, कठिन और दुस्तर है। इस भूमिकाका स्पष्टीकरण करते हुए ही भगवान् कहते हैं—

> क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
> अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥
>
> (गीता १२।५)

अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, नित्य आनन्दस्वरूप परमात्माके निर्गुण भावकी मनमें सुस्थिर न हो; अव्यक्त होनेके कारण इन्द्रियोंद्वारा उसकी अनुभूति नहीं होती, इसी कारण निर्गुणकी उपासना क्लेशमय होती है। किंतु ऐसे प्रकारके स्वरूपोंमें जो परमेश्वर अचिन्त्य, सर्वदर्शी, सर्वत्र और सर्वशक्तिमान् होते हुए भी हमारे ही समान हमसे बातचीत करेगा, हमारे ऊपर ममत्व रखेगा, जिसे हम अपना कह सकेंगे, जो हमारे सुख-दुःखोंको सुन और समझ सकेगा और हमारे अपराधोंको क्षमा कर देगा और जिसे हम अपना और जो हमें अपना कह सकेगा और जिससे एक ऐसा सम्बन्ध बाँधा जा सकेगा, जो पिताके समान हमारी रक्षा करे, जो हमारा भाई, पति, पोषणकर्ता, स्वामी, सखा, मित्रके समान, आधार और सखा है और जो माँके समान हमें अपने बालककी भाँति सँभालेगा—ऐसा जो सत्यसंकल्प, सर्वेश्वर, समर्थ, दयासागर, भक्तवत्सल, परम पावन, परमोदार, परम कारुणिक, परम पूज्य, सर्वसुन्दर, सकलगुणनिधान, सुहृद् और प्रेममय परमेश्वर है, उसका स्वीकार मनुष्य भक्तिके लिये सहज ही कर लेगा। कहनेका तात्पर्य यह है कि सगुण भक्तिका साधनमार्ग राजमार्ग है और निर्गुणोपासनाका पथ ऊबड़-खाबड़, पत्थरों, काँटों और झाड़ियोंसे संकुल मार्ग है। इस सगुण भक्तिमार्गका रहस्योद्घाटन भगवान् गीताके नवें अध्यायके आरम्भमें करते हैं—

> इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
> ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
> राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
> प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥
>
> (गीता ९।१-२)

अर्थात् सगुणोपासना, राजयोग या भक्तियोग इन विशेषणोंसे संयुक्त, परम पवित्र, प्रत्यक्ष, धर्मयुक्त और सुगम है। किंतु यह बात समझमें आनी बहुत कठिन है। इसीसे भगवान्‌ने इसे 'राजविद्या राजगुह्यम्' कहा है।

सर ए. डी. ग्रिम्स लिखते हैं—

"In history religious mysticism has often been associated with extravagance that cannot be approved......"

"A point that must be insisted on is that religion or contact with spiritual power, if it has any general importance, must be a commonplace matter of daily life and it should be treated as such in any discussion."

("The Nature of the physical World" by Sir A. D Eddington)

अर्थात् भक्ति-मार्ग अतिशयोक्तिपूर्ण है, यह कहते हुए भी उसकी सर्वसाधारणके लिये दैनन्दिन जीवनमें महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है—यह एडिंगटन-जैसे विद्वानोंको भी स्वीकार करना पड़ा है।

जिस प्रकार ज्ञान-मार्गका मुख्य आधार शक्ति और बुद्धि है, उसी प्रकार भक्ति-मार्गका मुख्य आधार श्रद्धा और विश्वास है। जगत्में ऐश्वरी सत्ताकी प्रतीतिके लिये ग्रन्थोंके अध्ययन, अभ्यास, विद्वत्ता, अधिकार इत्यादिकी आवश्यकता नहीं है। मान लीजिये एक जङ्गली मनुष्य किसी जङ्गलमें सो गया है और वह जब उठता है, तब अपने चारों ओर पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, पर्वत, नदी इत्यादिको देखता है और विचार करता है कि 'ये सब मैंने तो तैयार किये नहीं और मैं कर भी नहीं सकता। फिर, ऐसी कोई वरिष्ठ सत्ता होनी ही चाहिये, जिसने यह विचित्र-विचित्र और आश्चर्यमय जगत् निर्माण किया है।' इसी प्रकार यदि थोड़ा और विचार किया जाय तो सहज ही यह समझमें आ जायगा कि इस बाह्य जगत्की प्रतीतिका कारण मेरे अंदर ही है अर्थात् वह मेरे पास ही है; क्योंकि मैं हूँ और मेरा अस्तित्व है, तभी मेरे लिये बाह्य जगत् और उसके दृश्योंका अस्तित्व है। जगत्में सुगन्ध है, इसकी प्रतीति घ्राणेन्द्रियद्वारा होती है; नाकके बिना चमेली, जूही, मोगरा, गुलाब आदिकी सुगन्ध निरर्थक है। इसी प्रकार रसोंकी प्रतीति जिह्वासे, सुन्दरताकी प्रतीति नेत्रोंसे होती है।

अब प्रश्न यह है कि यह बाह्य दृश्य जगत् अचिन्त्य प्रभुद्वारा क्यों निर्मित हुआ? इसका एक उत्तर यह हो सकता है कि प्राणिमात्रको ऐश्वरी सत्ताकी प्रतीति हो, ईश्वरपर श्रद्धा और विश्वास हो—इसके लिये ही यह समस्त जगत् निर्माण किया गया है। परंतु यह उत्तर बौद्धिक है। इससे भी अधिक हृदयग्राही उत्तर यह है कि यह समस्त विश्व मेरे ईश्वरने मेरे लिये ही निर्माण किया है। इस उत्तरसे विश्वम्भर, विश्व और मेरे बीचका जो व्यवधान है, जो पर्दा है, वह हट जाता है और मेरा एवं प्रभुका सम्बन्ध अत्यन्त निकटका अर्थात् प्रिय और प्रियतमका स्थापित हो जाता है। विश्वरूप-दर्शनके पश्चात् अर्जुन गीतामें यही बात कहते हैं—

> पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
>
> प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥
>
> (११।४४)

'पिता जैसे पुत्रके, सखा जैसे सखाके और पति जैसे प्रियतमा पत्नीके अपराध सहन करता है—वैसे ही आप भी मेरे अपराधको सहन करने योग्य हैं।'

यूरोपके प्रसिद्ध वैज्ञानिक रेकेजेक (Recejec) ने इस प्रेममय सम्बन्धकी आन्तर एवं बाह्य अनुभूति इन शब्दोंमें व्यक्त की है—

"I live, yet not I, but God in me."

अर्थात् मैं जीवित हूँ। पर मुझमें मेरा 'अहम्' नहीं है, मुझमें मेरा ईश्वर ही ओत-प्रोत है।

"Mere perceiving of Reality would not do, but participating in It, possessing and being possessed by It."

अर्थात् केवल सत्यका अनुशीलन ही पर्याप्त नहीं है, (केवल ऐश्वरी सत्ताका ज्ञान ही सब कुछ नहीं है) किंतु भीतर-बाहर उसीसे ओत-प्रोत हो जाना ही सच्ची भक्ति है। यदि एक शब्दमें कहें तो—'गोपीवत्'। प्रभास-क्षेत्रमें गोपियोंने भगवान्के व्यक्त और अव्यक्त स्वरूपका वर्णन करते हुए जो भक्तिका रहस्योद्घाटन किया है, वह अत्यन्त हृदयग्राही है—

> आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
>
> योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
>
> संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं
>
> गेहं जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः॥
>
> (श्रीमद्भा० १०।८२।४९)

'हे पद्मनाभ! तुम्हारे चरणारविन्द अगाध ज्ञानी योगेश्वरोंद्वारा हृदयोंमें चिन्तनीय बताये गये हैं। संसारकूपमें गिरे हुए हम जीवोंके अवलम्बरूप वे चरण गृहस्थीकी झंझटोंमें फँसी हुई हम सबके हृदयोंमें भी सदा प्रकट रहें।'

इसी प्रकारकी अनुभूतिका वर्णन रसिकवर भारतेन्दु श्रीहरिश्चन्द्रजीने किया है—

> पिया प्यारे बिना यह माधुरी मूरति औरन को अब देखिए का।
>
> सुख छाँड़ि के संगमको तुमरे इन तुच्छनको अब लेखिए का॥

अर्जुनके उक्त प्रश्नोंका उत्तर भगवान् गीताके आठवें और नवें अध्यायोंमें विस्तारपूर्वक देते हैं। इससे अर्जुनकी स्वरूपज्ञान-सम्बन्धी शङ्काओंका समाधान हो जाता है और ये भगवान् श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको जान लेनेपर कहते हैं—

> परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
> पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
> (गीता १०। १२)

किंतु परब्रह्मके उक्त स्वरूपको जान लेने और समझ लेनेके पश्चात् स्वभावतः अर्जुनके मनमें उसके प्रत्यक्ष दर्शनकी इच्छा जागती है और ग्यारहवें अध्यायमें विश्वरूपदर्शनके पश्चात् उसकी समझमें आता है कि यह स्वरूप इतना महान् है कि इसकी उपासना या भक्ति करना असम्भव है। अतएव वह फिर भगवान्से सौम्यस्वरूप कृष्णवपु धारण करनेकी प्रार्थना करता है।

इस प्रकार ग्यारहवें अध्यायतक अर्जुनके सभी संशयोंका उच्छेद हो जाता है और वह निःसंशय हो जाता है। तथापि भगवान् उससे अपने उपदेशोंके अनुसार जो कार्य कराना चाहते थे, उसे करनेकी उत्कण्ठा अर्जुनमें नहीं दिखायी देती। दृष्टिकोणका यह वैगुण्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य है। संशय शमनके पश्चात् कृतिशीलता अथवा प्रभु-कार्य करनेकी उत्कट अभिलाषाका निर्माण करनेके लिये ही भगवान्को बारहवें अध्यायमें फिरसे भक्तिका रहस्य विस्तारपूर्वक अर्जुनको समझानेकी आवश्यकता हुई; क्योंकि केवल ज्ञानद्वारा निःसंशय हुआ जीव पङ्गु एवं स्थिर (Static) हो जाता है। उसे फिरसे कृतिशील बनानेके लिये श्रद्धाकी प्रेरक शक्ति (Dynamic force of faith) की आवश्यकता होती है; इसी प्रेरक-शक्तिका नाम 'भक्ति' है।

अर्जुनकी इस स्थितिका मुख्य कारण यह है कि भगवान्ने गीतामें दूसरे अध्यायसे आठवें अध्यायतक जिस बुद्धियोग (कर्मयोग) का सांगोपांग मार्गदर्शन किया, वह अभिक्रमदायी है—यह बात अर्जुनकी समझमें आ गयी, किंतु प्रत्यक्ष कर्म करते हुए उसके फलमें निरपेक्षता और अहंकार-शून्यताका जो उपदेश श्रीकृष्णने दिया, वह उसकी समझमें उतना नहीं उतरा। प्रत्यक्ष कर्म करते हुए फल-निरपेक्ष और अहंकार-शून्य रहना बहुत कठिन है। ऐसा मैं कर सकूँगा, यह विश्वास अर्जुनको नहीं था। अतएव कृतिकालीन कर्तृत्व और कर्मफलके त्यागसे भी सरल—तत्सुपर सभी कृतियाँ ईश्वरार्पण करनेका एक अन्य पर्याय अर्जुनके सामने रखकर भगवान्ने भक्तिका एक नया संदेश और मार्ग प्रतिष्ठापित किया।

गीतामें जो ज्ञानयोग और भक्तियोगका समन्वय कर्मयोगमें किया गया है, उसके दो पक्ष हैं—एक आन्तर भक्ति और दूसरी बहिर्भक्ति। आन्तर भक्तिद्वारा व्यक्तिगत आध्यात्मिक विकास और बहिर्भक्तिद्वारा व्यक्तिगत विकासको समष्टिके विकासमें जोड़ना होता है। इन दोनों प्रकारकी भक्तिके समन्वयका नाम ही पराभक्ति या परमप्रेमा भक्ति है। आन्तर भक्तिमें सगुणोपासनाद्वारा चित्तशुद्धि एवं चित्तैकाग्रता तथा ध्यानद्वारा पूर्णताका अनुभव प्राप्त करनेका रहस्य गीतामें समझाया गया है। साथ-ही-साथ जो ईश्वर मेरा पालन-कर्ता और पिता है, उसका यह जगत् है; इसलिये इस जगत्को सुधारनेका प्रयत्न करना मेरा पवित्र कर्तव्य है—यह समझकर अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं निदिध्यासनद्वारा प्रभुके ज्ञानमय और प्रेममय स्वरूपकी भक्ति करनेका मार्गदर्शन जगत्को देनेके कार्यमें योगदान करना—यही बहिर्भक्ति है। विश्वम्भर और विश्वरूप परमेश्वर दोनोंकी उपासना एक साथ चलनी चाहिये। जो लोग ऐसा नहीं करते और केवल खाना-पीना और मौज करना ही जीवनका लक्ष्य मानते हैं, उनके लिये भगवान् कहते हैं—

> मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
> राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥
> (गीता ९। १२)

अर्थात् ऐसे वृथा आशा, वृथा कर्म और वृथा ज्ञानवाले अज्ञानीजन राक्षसी, आसुरी एवं मोहिनी प्रकृतिको ही धारण किये रहते हैं।

आज इस जगत्में जड़वाद चारों ओर नग्न नृत्य कर रहा है। मानव-जीवनमें सदाचार, नैतिकता, सात्त्विकता, सुसंस्कारिता, पूज्योंके प्रति आदरभाव और ईश्वर-प्रेमका नितान्त अभाव हो गया है। इस जड़वादके विरुद्ध जो भगवत्स्वरूप प्रभुकार्य करनेके लिये अपना समस्त जीवन अर्पण करते हैं, उनको आश्वासन देते हुए भगवान् कहते हैं—

> अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
> तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
> (गीता ९। २२)

अर्थात् ऐसे प्रभुकार्यमें सतत संलग्न भक्तोंका योगक्षेम मैं स्वयं चलाता हूँ। जो भक्त मैं नहीं कर सकते, किंतु यथाशक्ति, यथोचित एवं यथासमय प्रभुकार्य करनेके लिये

नारद-पञ्चरात्रमें भगवच्चिन्तन

(लेखक—श्रीरामस्वरूपजी श्रीवास्तव, बी० ए०)

पाञ्चरात्र शास्त्र पापनाशक, पुण्यप्रद और पवित्र भोग-मोक्षप्रदायक है। यह भगवत्तत्त्वका परिज्ञान कराता है। अगस्त्यसंहितामें कहा गया है—

अज्ञाते भगवत्तत्त्वे दुर्लभा परमा गतिः।

(अगस्त्यसंहिता १। १८)

'अज्ञातक भगवत्तत्त्वका ज्ञान नहीं हो जाता, परम गति—भक्तियुक्त मुक्ति दुर्लभ ही है।' विश्वार्णवमें निमग्न प्राणियोंके समुद्धरणपर पाञ्चरात्र-शास्त्रमें अमित प्रकाश डाला गया है। पाञ्चरात्र शास्त्रका वर्णन चतुर्वेदसमन्वित महोपनिषद् कहकर किया गया है। महाभारतके शान्तिपर्वमें भगवान् व्यासका कथन है—

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम्।

जिस प्रकार अमृत पी लेनेपर किसी अन्य वस्तुमें स्पृहा नहीं रह जाती, उसी प्रकार पाञ्चरात्रका ज्ञान हो जानेपर संतोंकी स्पृहा किसी दूसरेमें नहीं रहती—

यथा निपीय पीयूषं न स्पृहा चान्यवस्तुषु।
पञ्चरात्रमभिज्ञाय चान्येषु च स्पृहा सताम्॥

(नारद-पञ्चरात्र १। १। ८२)

श्रीशिवने नारदसे कहा कि तीनों लोकोंमें इस पञ्चरात्ररत्नकी प्राप्ति बहुत कठिन है। यह प्रकृतिसे परे है, सबका इष्ट है और सब इसकी याचना करते हैं; कारणोंका कारण तथा कर्मके मूलका नाशक, अनन्तबीजरूप और अज्ञानान्धकारके नाशके लिये दीपक-सदृश है—

महर्षेः परमिष्टं च सर्वेषामभिवाञ्छितम्।
स्वेच्छामयं परं ब्रह्म पञ्चरात्रमिदं स्मृतम्॥
कारणं कारणानां च कर्ममूलनिकृन्तनम्।
अनन्तबीजरूपं च स्वाज्ञानध्वान्तदीपकम्॥

(नारद-पञ्चरात्र १। १। २-३)

पञ्चरात्ररूप दीपकके प्रकाशमें ही भगवत्तत्त्वका परिज्ञान होता है—पाञ्चरात्र-शास्त्र ऐसा प्रतिपादन करता है। नारद-पञ्चरात्र ज्ञानामृत है। 'रात्र' ज्ञानवाचक है। तत्त्व, मुक्ति, भक्ति, योग और विषय—उसके अङ्ग हैं। पञ्चरात्र सात प्रकारके कहे गये हैं—ब्राह्म, शैव, कौमार, वासिष्ठ, कापिल, गौतमीय तथा नारदीय। नारदने शेष छः पञ्चरात्र, वेद, पुराण, इतिहास, धर्मशास्त्र आदिका मन्थन करके ज्ञानामृत-रूप नारदीय पञ्चरात्र प्रस्तुत किया। यह समस्त वेदोंका सार है, नारद-पञ्चरात्रमें ही व्यासजीकी शुकदेवके प्रति उक्ति है—

षट् पञ्चरात्रं वेदांश्च पुराणानि च सर्वशः।
इतिहासं धर्मशास्त्रं शास्त्रं च सिद्धियोगजम्॥
दृष्ट्वा सर्वं समालोच्य ज्ञानं स प्राप्य शंकरात्।
ज्ञानामृतं पञ्चरात्रं चकार नारदो मुनिः॥
सारभूतं च सर्वेषां वेदानां परमाद्भुतम्।
नारदीयं पञ्चरात्रं पुराणेषु सुदुर्लभम्॥

(नारद-पञ्चरात्र १। १। ५८)

नारद-पञ्चरात्र प्राचीनतम वैष्णव साहित्यका एक अङ्ग है। इसमें श्रीकृष्ण और उनकी प्राणप्रियतमा श्रीराधाकी उपासना-पद्धतिपर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है; जीवन और मृत्यु, सुख और दुःख, इहलोक और परलोककी समस्यापर विचार किया गया है, एवं इस विचारके द्वारा भगवद्धर्म-सिद्धिकी ओर संकेत किया गया है। इसमें धर्म, अर्थ, कामका भी विवेचन किया गया है तथा वैकुण्ठप्राप्ति ही जीवका ध्येय है—इसपर विशेष जोर दिया गया है। श्रीकृष्णकी भक्ति और प्रेमकी इसमें अच्छी तरह आलोचना की गयी है।

नारद-पञ्चरात्रमें वर्णित भगवदुपासनासम्बन्धी ज्ञानके मूलस्रोत श्रीकृष्ण ही हैं। नारद-पञ्चरात्रमें व्यासकी शुकदेवके प्रति उक्ति है कि प्राचीन कालमें गोलोकमें शतशृङ्ग पर्वतपर भगवती विरजाके तटपर पवित्र वटवृक्षके नीचे श्रीराधाके समक्ष श्रीकृष्णने ब्रह्माको नारदपञ्चरात्र सुनाया; ब्रह्माने उसे प्रथम-प्रहर भगवती गङ्गाके तटपर शिवसे इसका वर्णन किया; शिवने नारदको सुनाया और नारदने सूर्यग्रहणके अवसरपर पुष्कर तीर्थमें मेरे समक्ष इसकी पुनरावृत्ति की—

प्राणप्रियकमिदं शुद्धं परं ज्ञानामृतं शुभम्।
पुरा कृष्णो हि गोलोके शतशृङ्गे च पर्वते॥
सुपुण्ये विरजातीरे वटमूले मनोहरे।
पुरतो राधिकायाश्च ब्रह्मणे कमलोद्भवम्॥
तमुवाच महाभाग्यं ज्ञानं प्रमदं शुभम्।
पञ्चरात्रमिदं पुण्यं श्रुत्वा च जगतां विधिः॥
प्रणम्य राधिकां कृष्णं प्रययौ शिवमन्दिरम्।
भक्त्या तं पूजयामास शंकरः परमादरम्॥

(नारद-पञ्चरात्र १। १। १५—१८)

अपूर्वं राधिकाख्यानं वेदेषु च सुदुर्लभम् ।
पुराणेतिहासे च वेदाङ्गेषु सुदुर्लभम् ॥
(नारद-पञ्चरात्र १ । १५ । २६)

नारद पञ्चरात्रमें उल्लेख है कि नारदने भगवान् शिवसे श्रीराधाके उद्गवार प्रकाश डालनेकी प्रार्थना की । महादेवने कहा कि गोलोक नित्यवैकुण्ठ है, उसमें भगवान्का नित्य निवास है । 'गोलोकके रासमण्डलमें श्रीकृष्णसे सौन्दर्यकी आगरी राधाका उदय हुआ—

रासे सम्भूय तरुणीमारुधार हरेः पुरः ।
तेन राधा समाख्याता पुराविद्भिश्च नारद ॥
कृष्णवामांशसम्भूता बभूव सुन्दरी पुरा ।
कलांशांशांशरूपा बभूवुर्देवयोषितः ॥
(नारद-पञ्चरात्र २ । ३ । २९-३०)

महादेवने कहा कि श्रीराधाका आख्यान अपूर्व, सुदुर्लभ और गोपनीय है । अविलम्ब मुक्ति मिलती है इस आख्यानसे । यह पुण्यप्रद और वेदका सार है । जिस प्रकार श्रीकृष्ण ब्रह्मस्वरूप और प्रकृतिसे परे हैं, उसी प्रकार श्रीराधा ब्रह्मस्वरूपा और प्रकृतिसे परे हैं । श्रीराधा चिन्मय हैं, वे कृत्रिम नहीं हैं, श्रीहरिकी ही तरह नित्य सत्यस्वरूपा हैं—

अपूर्वं राधिकाख्यानं गोपनीयं सुदुर्लभम् ।
सद्यो मुक्तिप्रदं शुद्धं वेदसारं सुपुण्यदम् ॥
यथा ब्रह्मस्वरूपश्च श्रीकृष्णः प्रकृतेः परः ।
तथा ब्रह्मस्वरूपा च निर्लिप्ता प्रकृतेः परा ॥
(नारद-पञ्चरात्र २ । ३ । ५०-५१)

भगवान् शंकरका नारदके प्रति कथन है कि श्रीकृष्ण जगत्के पिता और श्रीराधा माता हैं । माता पितासे शतगुण वन्द्य, पूज्य और गरीयसी होती है । श्रीराधा इस दृष्टिसे विशेष वन्द्य, पूज्य और गरीयसी—महिमामयी हैं—

श्रीकृष्णो जगतां तातो जगन्माता च राधिका ।
पितुः शतगुणा माता वन्द्या पूज्या गरीयसी ॥
(नारद-पञ्चरात्र २ । ३ । ७)

राधाके चिन्तनसे तीनों लोक पावन होते हैं । वे श्रीकृष्णभक्तके लिये परम उपास्य और पूज्य हैं । संत शुद्ध और निर्मल मनसे उनका भजन करते हैं । प्रेमलक्षणाकी श्रीराधाके सम्बन्धमें नारद-पञ्चरात्रका कथन है—

प्रेमलक्षणया राधां सन्तोऽसेवन्त नित्यशः ।
तत्पादपद्मे भक्त्यार्थं नित्यं कृष्णो ददाति च ॥
(नारद-पञ्चरात्र २ । ६ । ११)

शुद्ध तथा निर्मल मनवाले भक्तको अपने चित्तमें ही सौन्दर्यराशि दिव्य वृन्दावनका चिन्तन करना चाहिये, जिसमें भगवान् श्रीकृष्णका परम मधुर नित्य लीला-विहार अनवरत चलता रहता है । इस परम रम्य वृन्दावनमें योगपीठपर अरुण-अम्बुज कमलपर—जो उदयोन्मुख सूर्य सरोवरमें अवस्थित है—मुक्ति देनेवाले सुखनिधि मुकुन्दका ध्यान करना चाहिये—

तन्मूलरत्नकुट्टिमनिविष्टमहिष्ठयोग-
पीठेऽष्टपत्रमरुणं कमलं विचिन्त्य ।
उद्यद्विरोचनसरोचिरमुष्य मध्ये
संचिन्तयेत् सुखनिविष्टमथो मुकुन्दम् ॥
(नारद-पञ्चरात्र ३ । ५ । ३)

श्रीकृष्णका श्रीअङ्ग लावण्य-सार समुदायसे विनिर्मित है; उनका सौन्दर्य मनोभवखेद-भ्रान्ति विनाशी है । श्रीकृष्णके भजन, ध्यान, नाम कीर्तन, चरणामृत-पान और तदर्पित भोजनके प्रसाद ग्रहणमें ही सर्वाभिलषित परम धर्म संनिहित है—ऐसा नारद-पञ्चरात्रमें स्पष्ट उल्लेख है—

परं श्रीकृष्णभजनं ध्यानं तन्नामकीर्तनम् ।
तत्पादोदकनैवेद्यभक्षणं सर्ववाञ्छितम् ॥
(नारद-पञ्चरात्र १ । २ । १४)

भगवान् श्रीयादवेन्द्र भक्तिप्रद हैं । वे कर्मियोंके कर्मके साक्षी हैं, राधिकेश्वर हैं, परमात्मस्वरूप और परम निर्लिप्त हैं । वैष्णवोंकी इच्छा सदा उनकी अहैतुकी भक्ति प्राप्त करनेकी ही रहती है—

निर्विकल्पं वराङ्गस्य नैव गृह्णाति वैष्णवः ।
अनिमित्तां हरेर्भक्तिं मत्ता वाञ्छन्ति संततम् ॥
(नारद पञ्चरात्र १ । ४ । १८)

नारद पञ्चरात्रमें भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णकी भगवत्ता और उनकी प्राणाधिका श्रीराधाकी शक्तिमत्ताका समीचीन विश्लेषण मिलता है । सर्वत्र कृष्णके परम मधुर सौन्दर्यका ही अभिव्यञ्जन दीख पड़ता है । नारद-पञ्चरात्रके अध्ययनसे हृदय सहजरूपसे श्रीराधा-कृष्ण-रसिक परम रसमयी भक्ति-माधुरीके आस्वादनके लिये समुत्सुक हो उठता है, नयनोंमें भावघन सौन्दर्यका असीम समुद्र हिलोरें लेने लगता है । नारद-पञ्चरात्र श्रीराधा-कृष्ण भक्तिका दिव्य शास्त्र है ।

'आचार्यगण उस भक्तिके साधन बतलाते हैं। वह (भक्ति) विषयत्याग तथा सङ्गत्यागसे मिलती है, अखण्ड भजनसे तथा लोकसमाजमें भी (केवल) भगवद्गुण-श्रवण एवं कीर्तनसे मिलती है। परंतु (प्रेमभक्तिका) मुख्य साधन है—(भगवत्प्रेमी) महापुरुषोंकी कृपा अथवा भगवत्कृपाका लेशमात्र। किंतु महापुरुषोंका सङ्ग कठिनाईसे प्राप्त होता है, अगम्य है (प्राप्त होनेपर भी उन्हें पहचानना कठिन है), (परंतु न पहचाननेपर भी महापुरुषोंका सङ्ग) अमोघ है (उससे लाभ होता ही है)। (महापुरुषोंका) सङ्ग भी उस (भगवान्) की कृपासे ही मिलता है; क्योंकि भगवान्में और उनके भक्तमें भेद नहीं होता। (अतएव) उस (महापुरुष-सङ्ग) की ही चेष्टा करो, उसीके लिये प्रयत्न करो।' (सूत्र ३४ से ४२)।

तदनन्तर भक्तिकी प्राप्तिमें कुसंगतिको बड़ी बाधा बतलाते हुए नारदजी कहते हैं—

'दुस्सङ्गका सर्वथा ही त्याग करना चाहिये। क्योंकि वह (दुस्सङ्ग) काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश और सर्वनाशका कारण होता है। ये (काम क्रोधादि दोष) पहले तरङ्गकी तरह (बहुत हल्के रूपमें) आते हैं (और दुस्सङ्गसे विशाल) समुद्रका आकार धारण कर लेते हैं।' (सूत्र ४३ से ४५)

अब मायासे तरकर अखण्ड असीम भगवत्प्रेम प्राप्त करनेका उपाय बतलाते हैं—

प्रश्न करते हैं—'मायासे कौन तरता है, कौन तरता है?' इसका उत्तर वे स्वयं देते हैं—'जो समस्त सङ्गोंका त्याग करता है, जो महानुभावोंकी सेवा करता है, जो ममतारहित होता है। जो (विषयासक्त लोगोंसे अलग) एकान्त स्थानमें निवास करता है, जो लौकिक बन्धनोंको तोड़ डालता है तथा जो (सांसारिक) योग-क्षेमका त्याग कर देता है। जो कर्मफलका त्याग करता है, जो (भगवद्विरोधी) कर्मोंका भी भलीभाँति त्याग कर देता है और सब कुछ त्यागकर जो निर्द्वन्द्व हो जाता है। (प्रेमकी तन्मयतामें) जो वेदोंका भी त्याग कर देता है, वह केवल (अखण्ड) अविच्छिन्न (असीम) प्रेम प्राप्त करता है। वह तरता है, वही तरता है, वह लोगोंको तार देता है (वह तरन-तारन बन जाता है)।' (सूत्र ४६ से ५०)

अब प्रेमस्वरूपा भक्ति तथा गौणी भक्तिका स्वरूप बतलाते हैं—

'प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है—गूँगेके स्वादकी तरह (वह कहा नहीं जा सकता)। किसी विरले पात्रमें ऐसा प्रेम प्रकट भी हो जाता है। यह प्रेम गुणरहित है (गुणकी अपेक्षा नहीं रखता), कामनारहित (निष्काम) है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है (उसका तार कभी टूटता नहीं), सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है (उसका अन्त्य पता नहीं चलता) और अनुभवरूप (स्वसंवेद्य) है। उस प्रेमको प्राप्त करके प्रेमी उस प्रेमको ही देखता है, प्रेमको ही सुनता है, प्रेमका ही वर्णन करता है और प्रेमका ही चिन्तन करता है (वह अपनी मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसे केवल प्रेमका ही अनुभव करता हुआ प्रेममय हो जाता है)।

'गौणी भक्ति (सत्त्व-रज-तमरूप) गुणोंके भेदसे या आर्त आदि (आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी) के भेदसे तीन प्रकारकी होती है। इनमें उत्तर-उत्तरकी अपेक्षा पूर्व-पूर्व उल्लिखित भक्ति अधिक कल्याणकारिणी (श्रेष्ठ) होती है।' (सूत्र ५१ से ५७)

तदनन्तर भक्तिकी सुलभता तथा महत्ता बतलाते हुए 'भक्तको क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये' इसका उपदेश करते हैं—

'(भगवत्-प्राप्तिके) अन्य सब (साधनों) की अपेक्षा भक्ति सुलभ है। क्योंकि भक्ति स्वयं प्रमाणरूप है, उसके लिये अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। भक्ति शान्तिरूपा और परमानन्दरूपा है। (शान्ति और परमानन्दकी ही जीवको चरम कामना होती है और ये दोनों इस प्रेमभक्तिके स्वरूप ही हैं)।

'(भक्त को) लोकहानि (लौकिक हानि) की चिन्ता नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वह अपने आपको तथा लौकिक-वैदिक (सब प्रकारके) कर्मोंको भगवान्के अर्पण कर चुका होता है। परंतु जबतक भक्तिमें सिद्धि न मिले (प्रेमकी उच्चतम स्थिति प्राप्त न हो जाय), तबतक लोक-व्यवहार (लौकिक व्यवहार) का (स्वरूपसे) त्याग नहीं करना चाहिये। परंतु फल त्यागकर उसे भक्तिके साधनरूपमें करना चाहिये। स्त्री, धन, नास्तिक और वैरीका चरित्र (कभी) नहीं सुनना चाहिये। अभिमान, दम्भ आदिका त्याग करना चाहिये। सब आचार भगवान्के अर्पण कर चुकनेपर (भी) यदि काम, क्रोध, अभिमानादि (अपने अंदर) बने रहें तो उन्हें (उनका प्रयोग) भी भगवान्के प्रति ही

करना चाहिये। तीन रूपोंका भङ्ग करके नित्य दासभक्तिसे या नित्य कान्ताभक्तिसे प्रेम ही करना चाहिये—प्रेम ही करना चाहिये।' (सूत्र ५८ से ६६)

अब श्रीनारदजी प्रेमी भक्तोंकी महिमाका बखान करते हैं—

'एकान्त (अनन्य) भक्त ही मुख्य (श्रेष्ठ) हैं। ऐसे अनन्य भक्त कण्ठावरोध, रोमाञ्च, अश्रुयुक्त नेत्रोंसे उपलक्षित होकर परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुलोंको ही नहीं, समूची पृथ्वीको पवित्र कर देते हैं; वे तीर्थोंको सुतीर्थ, कर्मोंको सुकर्म और शास्त्रोंको सत्-शास्त्र बना देते हैं; क्योंकि वे (भगवान्‌में) तन्मय होते हैं। (ऐसे भक्तोंका आविर्भाव देखकर) पितरलोग प्रमुदित हो उठते हैं, देवता नाचने लगते हैं और यह पृथ्वी सनाथ (धन्य, सुरक्षित) हो जाती है। उन भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रिया आदिके कारण कोई भेद नहीं होता; क्योंकि (वे सब भक्त) उन (भगवान्) के ही होते हैं।' (सूत्र ६७ से ७३)

इसके बाद भक्तिके लिये तथा अन्य सहायक साधनोंका वर्णन करते हैं—

'(भक्तको) वाद-विवाद (के पचड़े) में नहीं पड़ना चाहिये; क्योंकि वाद-विवादमें बढ़नेको जगह है और वह अनियत है (उससे किसी निर्णयपर भी नहीं पहुँचा जा सकता)।

'(भक्तिके साधकको) भक्तिशास्त्रोंका मनन करते रहना चाहिये और ऐसे कर्म भी करने चाहिये जिनसे भक्ति उद्बुद्ध होती है। जब सुख, दुःख, इच्छा, लाभ आदिका पूर्ण अभाव हो जायगा, (तब मैं भक्ति करूँगा) ऐसी बाट देखते हुए आधा क्षण भी (भक्तको व्यर्थ) नहीं गँवाना चाहिये। अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि सदाचारोंका भलीभाँति पालन करना चाहिये। सदा-सर्वदा सर्वभावसे निश्चिन्त होकर (केवल) भगवान्‌का भजन ही करना चाहिये।' (सूत्र ७४ से ७९)

अन्तमें देवर्षि नारदजी प्रेमस्वरूपा भक्तिका फल बताते हुए उसकी सर्वश्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हैं—

'वे भगवान् (प्रेमपूर्वक) गाये जानेपर शीघ्र ही प्रकट होते हैं और भक्तोंको अपना अनुभव करा देते हैं। तीनों कालोंमें सत्य भगवान्‌की भक्ति ही श्रेष्ठ है, भक्ति ही श्रेष्ठ है। यह प्रेमस्वरूपा भक्ति एक होकर भी (१) गुणमाहात्म्यासक्ति, (२) रूपासक्ति, (३) पूजासक्ति, (४) स्मरणासक्ति, (५) दास्यासक्ति, (६) सख्यासक्ति, (७) कान्तासक्ति, (८) वात्सल्यासक्ति, (९) आत्मनिवेदनासक्ति, (१०) तन्मयतासक्ति, (११) परमविरहासक्ति—इस प्रकार ग्यारह प्रकारकी होती है।

'कुमार (सनत्कुमारादि), वेदव्यास, शुकदेव, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु नामक ऋषि, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनुमान्, विभीषण आदि भक्तिशास्त्रके आचार्य लोगोंकी निन्दा-स्तुतिका कुछ भी भय न करके (सब) एकमतसे यही कहते हैं।

'जो इस नारदोक्त शिवानुशासनमें विश्वास और श्रद्धा करते हैं, वे परम प्रियतम (भगवान्) को (परम दिव्यभावसे) प्राप्त करते हैं, परमप्रियतमको ही प्राप्त करते हैं।' (सूत्र ८० से ८४)।
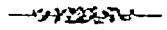
भगवान्‌के चरणोंका आश्रय सब भय-शोकादिका नाशक है

ब्रह्माजी कहते हैं—

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥
(श्रीमद्भा० ३।९।६)

'जबतक पुरुष आपके अभयप्रद चरणारविन्दोंका आश्रय नहीं लेता, तभीतक उसे धन, घर और बन्धुजनोंके कारण प्राप्त होनेवाले भय, शोक, लालसा, दीनता और अत्यन्त लोभ आदि सताते हैं और तभीतक उसे मेरेपनका दुराग्रह रहता है, जो दुःखका एकमात्र कारण है।'

* इन सूत्रोंकी विस्तृत व्याख्या पढ़नी हो तो गीताप्रेससे प्रकाशित 'नारदभक्तिसूत्र' नामक पुस्तक पढ़नी चाहिये।
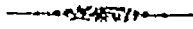
भत्तौरी भागप्पा भगवती दुर्गा

शक्तिवादमें भक्तिका स्थान

(लेखक—आचार्य श्रीजीव न्यायतीर्थ एम० ए०)

शक्ति—विश्वजननी—ब्रह्ममयी हैं। वे मधुर वात्सल्य-रसकी अमित खान हैं। उनका अनुग्रह प्राप्त करके जीव कृतार्थ हो जाता है। वे स्नेहमयी जननी हैं—साधक उनका बालक संतान है। माँ यशोदाके लिये शिशु श्रीकृष्णकी तरह, विश्वजननीके लिये साधक संतान स्नेह-रससे आप्लुत हो उठता है, माँ-माँ पुकारकर रोता हुआ आकुल हो जाता है, केवल मातृदर्शनके लिये प्राणोंमें कातरताका अनुभव करता है। इसी भावसे शक्तिवादमें भी भक्तिमार्गका पता लगता है।

श्रुतिने कहा है—'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्। पाण्डित्यका अभिमान त्यागकर बालकभावसे रहे।' इस प्रकार शिशुभावमें स्थित होना शक्तिवादका प्रधान साधनमार्ग है। जननीका वात्सल्य जैसे शिशुकी ओर धावित होता है, वैसे ही शिशुका अनुराग और अनन्य प्रेम भी मातृदर्शनके लिये स्फुरित होता है। शिशु माँको छोड़कर और कुछ नहीं जानता, शिशु रो उठता है माँके न दीखनेपर और जो कुछ चाहता है, सब माँसे ही। शिशुकी चाहकी सीमा नहीं है, पर वह अपना सारा अभाव बतलाता है माँको ही। इसीसे सप्तशतीके अर्गला-स्तोत्रमें हम लिखा हुआ पाते हैं—

> देहि सौभाग्यमारोग्यं देहि मे परमं सुखम्।
> रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि॥

(अर्गलास्तोत्र १२)

'तुम सौभाग्य दो, आरोग्य दो, परम सुख दो, रूप दो, जय दो, यश दो और शत्रुका नाश करो।' विश्वमें रहनेके लिये जो कुछ भी चाहिये, सभी उन विश्वजननीसे ही चाहता है—संतान। शक्तिवादका यह एक विचित्र मार्ग है।

भक्तिमार्गके साधकके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

> सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
> दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

(३।२९।१३)

'भक्त भगवत्सेवाके सिवा और कुछ भी नहीं चाहता। भगवान्‌के लोकमें स्थिति, उनके समान ऐश्वर्य, समीप निवास, समरूपता—यहाँतक कि भगवान्‌के साथ एकत्व-प्राप्तिरूप मुक्ति देनेपर भी वह स्वीकार नहीं करता।'

और शक्तिवादमें केवल यह प्रार्थना है—माँ! तुम हमको रूप दो, जय दो, यश दो, मेरे शत्रुका नाश करो।

साधनपथमें ऐसा विपरीत भाव दीखनेपर भी वस्तुतः साधककी गति समानभावमें पर्यवसित होती है। इसका कारण है वे तीन एषणाएँ या वासनाएँ, जो हृदयकी ग्रन्थिके रूपमें जन्म-जन्मान्तरसे साथ चली आ रही हैं। वे तीन हैं लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा अर्थात् मान, अर्थ और संतानकी कामना—मनुष्यके सहजात हैं। शिशु, युवक, वृद्ध, नर और नारी—सभी इन तीनों वासनाओंकी पोटलीको बड़े जतनसे हृदयमें छिपाये रखते हैं। साधक साधनाके समय उस पोटलीको—उस कामनापूर्ण चित्तको अलग कहाँ रखने जायगा! विनयना जननीकी दृष्टिके बाहर कौन-सा स्थान है, जहाँ इस हृदय-ग्रन्थिको रखा जा सकता है? जगत्‌में सकाम साधकोंकी संख्या ही अधिक है, निष्काम अधिकारी कितने हैं? सकाम उपासक जब माँकी आराधना करेगा, तब अपनी कामनाको छिपाकर कैसे रख सकेगा? जिसने अन्तरके गुप्त स्थानमें घर बना रखा है, उसको शरीरके या पूजा-मन्दिरके बाहर कैसे फेंका जा सकता है? माँके सामने ही संतान अपने हृदयके द्वार खोलकर, आत्म-निवेदन करके कृतार्थ होता है। भक्ति या ज्ञानमात्रके लिये प्रार्थना करनेका अधिकार रखनेवाले कितने हैं? केवल मुक्ति ज्ञान या भक्ति माँगना क्या कपट नहीं है? जो मनुष्य संसारके अभावोंसे प्रताड़ित होकर दिन-रात कामनाके कारण मूढ़ हो रहे हैं, उनका मोहमस्त मलिन चित्त भक्तिका आधार कैसे बनेगा—उसमें भक्ति कैसे टिकेगी? जन्म-जन्मान्तरकी भोग-लिप्सा भूखी राक्षसीकी भाँति साधकके चित्तको ग्रास किये बैठी है, यह बात वह साधक राक्षसकुलका निकन्दन करनेवाली दशप्रहरणधारिणी माँके सिवा और किसको कहने जायगा?

जगत्‌के धनी-मानियोंके द्वारपर भटकते रहनेपर भी मनुष्यकी कामना कौन पूर्ण कर सकता है? किसी एकके द्वारा पूर्ण होना दूर रहा, अनेक धनियोंके द्वारपर बार-बार सिर पीटनेपर भी किसीकी कामना पूरी नहीं होती। केवल माँगना भर रह जाता है। इसीलिये साधक दूसरे सब द्वारोंको त्यागकर विश्वकी कारणभूता सर्वैश्वर्यमयी माँके द्वारपर ही अपने चित्तपात्रको सर्वथा खोलकर प्रार्थना करता है। माँ ब्रह्माण्डभाण्डोदरी जगज्जननी कल्पलतारूपा हैं—उनके चरणमूलमें विश्वका समस्त ऐश्वर्य संचित

द्वारा आराधना होती है। इनमें पृथिवीका बार-बार माताके रूपमें ध्यान किया गया है। पिता माता च भुवनानि रक्षतः—द्यौ और पृथिवी पिता और माताके रूपसे इस विश्वकी रक्षा करते हैं। जलाभिमानिनी देवियोंके लिये कहा गया है कि 'तुम सब जननीकी भाँति स्नेहमयी हो, तुम्हारा रस (वात्सल्य-प्रेम) अति सुखकर है, हमलोगोंको यह सुख प्रदान करो।'

(ऋक्० १०। ९)

जगत्में जो कुछ भी शक्तिका विकास देखा जाता है, वह सभी उस महाशक्ति—ब्रह्ममयीसे ही प्रसरित हुआ है और हो रहा है। देवीसूक्त (ऋ० १०। १२५) के 'मया सो अन्नमत्ति'—इत्यादि मन्त्रोंमें यह बात कही गयी है कि मैं (शक्ति) जीवको भोजनशक्ति, दर्शनशक्ति, श्रवणशक्ति और प्राणशक्ति प्रदान करती हूँ। फिर मैं ही वायुकी भाँति प्रवाहित होकर जगत्-निर्माण-कारिणी, भुवन-गगन-व्यापिनी महाशक्ति हूँ। जीव-शरीरमें जितनी स्पेन्द-नीलादि वर्णकी विचित्रता है, वह भी मुझ महाशक्तिकी ही योजना है।' अथर्ववेद (११ का० ८ सू० १० म०) में कहा गया है—

सर्वे देवा उपाशिक्षन् तदजानाद् वधूः सती।
ईशा वशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमाभरत्॥

सर्वे इन्द्रादयो देवा उपाशिक्षन्, समीपे स्थातुं अभिलु-षितवन्तः। वधूः सती परमेश्वरेण कृतोद्वाहा भगवती जाया परिच्छिन्नरूपिणी शक्तिः तद् देवैः कृतम् अभ्यजानात्, ज्ञातवती। या एषा विश्वस्य जगतः ईशा ईशानी नियन्त्री मायाशक्तिः × × × सा पारमेश्वरी शक्तिः अस्मिन् पाञ्च-भौतिके शरीरे गौरनीलपीतादिवर्णम् आभरत् आहरत् उद-पादयद् इत्यर्थः।

'इन्द्र आदि देवता शरीरमें रहनेकी इच्छा करते हैं—इस बातको भगवती माया चिद्रूपा शक्तिने महेश्वरकी वधू होकर जान लिया था। वे पारमेश्वरी शक्ति समस्त जगत्की नियन्त्री हैं। इसीसे इन्होंने पाञ्चभौतिक मनुष्य-शरीरमें गौर-नील-पीतादि वर्णकी रचना की।' मनुष्य-शरीरमें ज्ञानेन्द्रियाँ भिन्न-प्रकाशिका हैं और प्रकाश है देवताका लक्षण; इसीलिये इन्द्रियोंको देवाधिष्ठित कहा जाता है। शरीरके गौरवर्ण या श्यामादि वर्ण भी उस परमेश्वरीकी सृष्टि हैं; यह वेदमें प्रतिपादित हुआ है।

भारतीय सभ्यताका मूल उद्गम है—वेद। यह बात सर्वसम्मत होनेपर भी बहुत-से लोगोंका मत है कि वेदमें कुछ मन्त्र प्राचीन हैं, कुछ अर्वाचीन हैं और ब्राह्मण तथा उप-निषद्-भाग तो और भी आधुनिक हैं। इस विषयमें भारतके आस्तिक सम्प्रदायका मत दूसरा है। उनके मतसे मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद्-भागके काल-निरूपणका कोई उपाय नहीं है। प्रत्येक मन्त्र किसी-न-किसी यज्ञमें उच्चरित होनेके लिये किसी ऋषिके हृदयमें प्रतिभात हुआ था। इसलिये प्रत्येक मन्त्रका विनियोग जानना पड़ता है, प्रत्येक ऋषि और छन्दका उल्लेख करना पड़ता है, तब उस मन्त्रके योगसे हवनादि कार्य सम्पन्न होते हैं।

आधुनिक कविताकी भाँति वेदके मन्त्र कल्पनाप्रधान भाव-विन्यासमात्र नहीं हैं। प्रत्येक मन्त्रका अनुष्ठानके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिये मीमांसा-शास्त्रकी घोषणा है—आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्। (१।२।१।१) 'समस्त वेदका प्रयोजन है—कर्मानुष्ठान।'

इस कर्मको समझनेके लिये ब्राह्मण-भागको छोड़कर अन्य कोई उपाय नहीं है। किस यज्ञमें कौन-से मन्त्रका विनियोग होगा—यह ब्राह्मण-भागसे ही जाना जा सकता है। अन्य किसी भी कल्पनासे या युक्ति-तर्कका आविष्कार करनेपर भी संशयका नाश नहीं हो सकता। कोई कल्पना-कुशल व्यक्ति यदि मनमाने ढंगसे विनियोग करने भी लगेगा तो उसे दूसरा क्यों मानेगा? अतः प्रमाण देना पड़ेगा और वह प्रमाण ही है—ब्राह्मण-भाग। यज्ञके साथ मन्त्रका जो सम्बन्ध है, उसे साधारण बुद्धिका आदमी कैसे समझेगा? समझनेका कोई उपाय ही न रह जाता, यदि मन्त्रके साथ ही ब्राह्मण-भाग भी ऋषियोंके हृदयमें उसी समय स्फुरित न हो जाता। इसीलिये वेदार्थका प्रकाश करनेवाले यास्क आदि मनीषियोंने कहा है—मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। 'मन्त्र और ब्राह्मण इन दोनों भागोंका संयुक्त नाम ही वेद है।' इस ब्राह्मण-भागका परिशिष्ट दो भागोंमें विभक्त है—आरण्यक और उपनिषद्। ब्राह्मण-संदर्भमें मन्त्रोंके विनियोग, उनके गूढ़ रहस्य और देव-तत्त्वपर प्रकाश डाला गया है। इसीसे यज्ञानुष्ठान सम्भव हुआ है। जब मनुष्यकी मेधाका ह्रास होने लगा और 'यज्ञ-विधान ही मनुष्यके जीवन-धारणका एकमात्र उद्देश्य है'—यह भाव बदलने लगा, तब भगवान् कृष्णद्वैपायनने ऋक् आदि वेदों-का विभाग करके मन्त्र और ब्राह्मण-भागको पृथक्-पृथक् कर दिया। इसीलिये वे वेदव्यासके नामसे प्रसिद्ध हुए।

वेदवाणीका जड विज्ञानकी भाँति मानव-बुद्धिके अनुसार क्रमिक विकास नहीं हुआ है। इसमें जिस सत्यका प्रकाश है, वह

इस शक्तिका स्वरूप सप्तशतीके आरम्भमें स्पष्टरूपसे दिखलाया गया है—

यच्च किंचित् क्वचिद् वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा॥
(१।८२, ८३)

'चित् और अचित्'—चेतन और जड—जो कुछ भी है, सबमें सत्ता शक्तिरूपसे परमेश्वरको उपलब्ध करना—यही भक्तियोग है।

जहाँ-जहाँ नेत्र पड़े, तहाँ-तहाँ कृष्ण स्फुरे।
(श्रीचैतन्यचरितामृत)

श्रीमद्भागवत (११।१४।२७) में भगवान्ने कहा है—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

'विषयोंका चिन्तन करनेसे चित्त विषयोंमें आसक्त होता है और बार-बार मेरा (भगवान्‌का) चिन्तन करनेसे चित्त मुझमें ही विलीन हो जाता है।'

सप्तशतीमें देखा जाता है कि जगज्जननी परमेश्वरी विष्णुमाया चेतना-बुद्धि-निद्रा-क्षुधा-छाया-शक्ति-तृष्णा-क्षान्ति-जाति-लज्जा-श्रद्धा-कान्ति-लक्ष्मी-वृत्ति-स्मृति-दया-तुष्टि-मातृ-भ्रान्ति आदिके रूपमें जीव-जगत्‌में अभिव्यक्त सभी भावोंमें व्याप्त हैं। और उन सबकी केवल 'नमो नमः' कहकर आराधना की गयी है। ऋग्वेदमें कहा गया है—

नम इदुग्रं नम आ विवासे नमो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।
नमो देवेभ्यो नम ईश एषां कृतं चिदेनो नमसा विवासे॥
(म० ६ सू० ५१ मं० ८)

'नमस्कार ही सर्वश्रेष्ठ है, अतएव मैं नमस्कार करता हूँ। नमस्कार ही स्वर्ग और पृथिवीको धारण किये हुए है। इसलिये मैं देवगणको नमस्कार करता हूँ। देवगण नमस्कारके वशमें हैं। मैं नमस्कारके द्वारा कृतपापका प्रायश्चित्त करता हूँ।'

नमस्कारकी महिमा वेदसिद्ध है—इसलिये नमस्कारके द्वारा ही सप्तशतीमें जगदीश्वरीकी आराधना की गयी है।

इस नमस्कारके द्वारा ही प्रपत्ति या शरणागति प्रदर्शित की गयी है। सप्तशतीमें ऋषि उपदेश करते हैं—

तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम्।
आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा॥
(सप्तशती १३।४-५)

'महाराज सुरथ! तुम उस देवीके शरणागत हो जाओ। प्रसन्न होनेपर वे ही मनुष्यको पार्थिव भोग, स्वर्ग तथा मोक्ष भी देती हैं।' राजा सुरथ और समाधि नामक वैश्य नदी-तटपर देवीकी मृण्मयी मूर्ति बनाकर पुष्प, धूप और होमके द्वारा पूजा करने लगे। वे दोनों कभी स्वल्पाहार और कभी पूर्ण निराहार रहकर मनको भगवतीमें निविष्ट करके तपस्यामें लग गये।

श्रीमद्भागवतमें भगवान्ने कहा है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
(३।२९।११)

'मेरे गुण सुननेमात्रसे मुझ सर्वान्तर्यामीकी ओर समुद्रकी ओर बहती हुई गङ्गाकी धाराकी भाँति मनका जो अविच्छिन्न प्रवाह बहने लगता है—यही भक्ति है।'

इस अविच्छिन्न मनोगतिका स्वरूप है—

प्रातरारभ्य सायाह्नं सायाह्नात् प्रातरन्ततः।
यत् करोमि जगन्मातस्तदेव तव पूजनम्॥

'प्रातःकालसे आरम्भ करके सायंकालपर्यन्त और सायंकालसे आरम्भ करके प्रभातपर्यन्त मैं जो कुछ भी करता हूँ, हे जगज्जननी! सब तुम्हारा पूजन ही है।'

शिशुका माताके प्रति हृदयका जो आकर्षण है, शक्तिवादमें उसीको भक्ति कहते हैं। ऋग्वेदमें श्रद्धादेवीका उल्लेख है—

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
(१०।१५१।१)

'श्रद्धासे ही अग्नि प्रज्वलित होती है और श्रद्धाके द्वारा ही यज्ञमें आहुति दी जाती है।'

या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥
(दुर्गासप्तशती ५।५०)

श्रद्धा भक्तिरूपिणी न होनेपर भी शक्तिवादमें मातृश्रद्धारूपिणी होकर भक्तिका आकार धारण कर लेती है।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
(गीता १२।२)

'परम श्रद्धाके साथ मुझमें मनोनिवेश करके मुझमें नित्य रत होकर जो मेरी उपासना करते हैं, वे ही मेरी मान्यताके अनुसार युक्ततम हैं।' अतः भक्तिवादमें भी श्रद्धा उपेक्षणीय नहीं है।

सुरथ और समाधिकी उपासनामें गीताके इसी भावकी छाया देखनेमें आती है।

(मूककविरचित) 'देवी-पञ्चशती' ग्रन्थमें कामाक्षीदेवीके पदारविन्द, मन्दस्मित, चरण, मुखराग आदिका अपूर्व भक्तिमूलक वर्णन पढ़ते ही हृदय भक्तिभावसे भर जाता है और माके प्रति परानुरक्तिके मधुर उच्छ्वासका आस्वादन किया जा सकता है।

ही अपनत्व होता है, उसका कारण किसी प्रकारका स्वार्थ नहीं होता। तथापि यदि उसे किसी प्रकारके भयकी आशङ्का होती है तो वह माँकी गोदमें ही शरण लेता है और किसी वस्तुकी आवश्यकता होती है तो माँसे ही उसकी याचना करता है। इसी प्रकार जिन भक्तोंका प्रभुसे सम्बन्ध हो जाता है, वे आपत्ति पड़नेपर उन्हींको पुकारते हैं और किसी वस्तुकी आवश्यकता पड़नेपर उसे उन्हींसे माँगते हैं। यही उनका आर्तत्व और अर्थार्थित्व है। इनके सिवा वे लोग भी इन्हीं कोटियोंमें गिने जा सकते हैं, जिनकी उपासनाका आरम्भ तो आर्तिनाश अथवा अर्थप्राप्तिकी कामनासे हुआ था, परंतु पीछे वे निमित्त तो गौण हो गये और भगवत्प्रेम प्रधान हो गया। उन्हें भी भूतपूर्व गतिसे आर्त और अर्थार्थी भक्त कह सकते हैं। परंतु किसी भी प्रकार वे लोग भक्तकोटिमें नहीं गिने जा सकते, जिनका श्रीभगवान्‌के साथ केवल स्वार्थसाधनके लिये ही सम्बन्ध है।

अतः यह निश्चय हुआ कि भक्तिका बीज भगवत्सम्बन्ध है। जबतक सम्बन्ध या अपनत्व नहीं होता, तबतक किसीसे भी अनुराग नहीं हो सकता। पुत्र, कलत्र, गृह और सम्पत्तिमें भी अपनत्वके कारण ही आसक्ति होती है। इसीसे दूसरेके सुन्दर और सद्गुणसम्पन्न बालककी अपेक्षा भी अपना कुरूप और गुणहीन बालक अधिक प्रिय जान पड़ता है। इस प्रकार जब लौकिक तुच्छ व्यक्तियोंके प्रति अपनत्व होनेपर भी जीव प्रीतिके पाशमें बँध जाता है, तब अनन्त-अचिन्त्य-गुण-गण निलय, मङ्गल-सौन्दर्य-सार परमानन्द-विग्रह श्रीहरिसे अपनत्व होनेपर उनमें प्रीतिका प्रादुर्भाव क्यों न होगा? अतः भक्तिकी उपलब्धिके लिये सबसे पहली शर्त यह है कि सभी वस्तु और व्यक्तियोंसे सम्बन्ध छोड़कर एकमात्र प्रभुसे ही नाता जोड़ा जाय। प्रभु तो 'एकमेवाद्वितीयम्' हैं। उनके पक्षमें उनके सिवा और कोई नहीं है। अतः वे अनन्यताके द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं। जबतक जीवका पुत्र, मित्र, कलत्र आदिसे सम्बन्ध रहता है, तबतक वह प्रभुसे नाता नहीं जोड़ सकता। तनिक सोचिये तो सही—ऐसा ऐसा भी कोई व्यक्ति या पदार्थ हो सकता है, जो प्रभुका न हो। यदि सब कुछ उन जगदीश्वरका ही है तो आप अपना किसे कह सकते हैं? सब उन्हींके हैं, इसलिये आप भी उन्हींके हैं। और वे सबके हैं, इसलिये वे ही आपके भी हैं। इस प्रकार आपके साथ सीधा सम्बन्ध तो केवल उन्हींका है। अतः आपका अपनत्व केवल उन्हींमें होना चाहिये। और सबकी तो आप उन्हींके नाते सेवा कर सकते हैं—जिस प्रकार एक पतिपरायणा नारीका अपनत्व तो केवल पतिमें ही होता है, हाँ, पतिदेवके सम्बन्धी होनेके कारण वह सास-ससुर आदिकी सेवा भी करती है। यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि भक्त केवल सम्बन्धको ही छोड़ता है, सम्बन्धियोंको नहीं। यदि सम्बन्धियोंको छोड़ देगा तो सेवा किसकी करेगा? सम्बन्धियोंका त्याग तो तभी होता है, जब वे भगवत्सम्बन्ध या भगवत्सेवामें बाधक होते हैं।

इस प्रकार सब सम्बन्धोंको छोड़कर जब भक्त केवल भगवान्‌में ही अपनत्व करता है, तब स्वभावसे ही उनमें उसका अनुराग बढ़ने लगता है। अनुरागकी वृद्धिके साथ चिन्तनका बढ़ना भी स्वाभाविक है। जबतक भगवान्‌से सम्बन्ध नहीं होता, तबतक तो भजन-चिन्तन करना पड़ता है, परंतु सम्बन्ध हो जानेपर प्रीतिके उन्मेषके साथ उनका चिन्तन भी स्वाभाविक हो जाता है तथा भगवदनुराग बढ़नेसे अन्य वस्तु और व्यक्तियोंके प्रति उसके मनमें वैराग्य हो जाना भी स्वाभाविक ही है। भक्तिशास्त्रोंमें भगवत्प्रेमकी इस प्रारम्भिक अवस्थाका नाम ही शान्तभाव है। इस अवस्थामें सम्बन्धका कोई प्रकारविशेष नहीं होता, प्रसङ्गानुसार सभी प्रकारके भावानुभावोंका उन्मेष होता रहता है। इसीसे इसे प्रेमकी प्रारम्भिक अवस्था कहा गया है। इसका यह तात्पर्य कभी नहीं समझना चाहिये कि शान्तभावमें प्रतिष्ठित भक्त अन्य भक्तोंकी अपेक्षा निम्नकोटिका होता है। भावकी गम्भीरता होनेपर इस भावमें भी भक्तको प्रेमकी ऊँची-से-ऊँची भूमिका प्राप्त हो सकती है। भगवान् शङ्कर और अवधूतशिरोमणि सनकादि इसी कोटिके भक्त हैं।

जहाँ सम्बन्ध होता है, वहाँ उसके अनुरूप परस्पर प्रेमका आदान-प्रदान होने लगता है। इसीसे प्रेमियोंकी रुचि और योग्यताके अनुसार उस सम्बन्धके अनेक भेद हो जाते हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो एक ही प्रेमास्पदमें दो प्रेमियोंका भी सर्वांशमें समानभाव नहीं होता। तो भी व्यवहार और विवेचनके सौकर्यकी दृष्टिसे उन सम्पूर्ण भेदोंको कुछ नियत संख्यामें विभक्त कर दिया गया है। भक्तिशास्त्रोंमें ऐसे चार भेद बताये गये हैं। उनके नाम हैं—सेव्य-सेवकभाव, सख्यभाव, वात्सल्यभाव और मधुरभाव। इनके साथ उपर्युक्त शान्तभावको भी सम्मिलित करके कुल पाँच भावोंकी गणना की जाती है।

सेव्य-सेवकभावमें भगवान्‌के ऐश्वर्य और माहात्म्यपर

भगवान्‌की पूर्ण दृष्टि रहती है। परंतु ममताजनित सम्बन्ध हो जानेके कारण उसमें माधुर्यका पुट भी अवश्य रहता है। अतः हृदयमें पूर्ण अनुराग रहनेपर भी उसके शील-संकोचमें किसी प्रकारकी शिथिलता नहीं आती। इस भूमिकामें प्रभुकी आज्ञाका अनुवर्तन उसका प्रधान कर्तव्य रहता है। उसमें औचित्य-अनौचित्य देखनेका वह अपना अधिकार नहीं मानता। इसलिये कई बार अपने प्रभुकी आज्ञासे उसे वह काम भी करना पड़ता है, जिसे वह स्वयं नहीं करना चाहता। श्रीभरतलालजी, लक्ष्मणजी और हनुमान्‌जी इसी कोटिके भक्त हैं। जो अपनी बुद्धि और रुचिको एक ओर रखकर प्रतिक्षण अपने प्रभुकी ही भावभङ्गीका अनुसरण करनेके लिये तत्पर रह सकते हैं, वे ही इस भावके अधिकारी हैं।

किंतु जिनकी दृष्टि ऐश्वर्य और माहात्म्यसे विशेष आकर्षित न होकर प्यारेकी सुख-सुविधापर ही अधिक रहती है, वे सख्यभावके अधिकारी होते हैं। इनमें शील-संकोचकी शिथिलता रहती है; क्योंकि बराबरीका नाता ठहरा। इसलिये अपने नित्यसखाकी आज्ञा या भावभङ्गीके अनुसरणकी ओर इनका विशेष ध्यान नहीं होता। इन्हें यदि ऐसा जान पड़े कि आज्ञा न माननेसे उसे अधिक सुख मिलेगा तो ये उसका उल्लङ्घन करनेमें कोई संकोच नहीं करेंगे। परंतु आज्ञाका उल्लङ्घन करनेपर भी ये ऐसा काम करनेका साहस नहीं कर सकते, जो उस प्रिय सखाके मनके विरुद्ध हो। व्रजके ग्वाल-बाल, अर्जुन और सुग्रीवादि इसी कोटिके भक्त हैं।

वात्सल्यभावमें ममता और स्नेहकी अत्यन्त गाढ़ता रहती है। यहाँ ऐश्वर्य और भी लुप्त हो जाता है। प्यारा अपना लाड़ला लाल जान पड़ता है। लल्लनको लाड़ लड़ाना—यही भक्तका मुख्य कर्तव्य रह जाता है। यहाँ बराबरीका नाता नहीं, प्रत्युत अपनेमें गुरुत्वका भान होता है। सखा तो प्यारेके मनके विरुद्ध आचरण नहीं कर सकता, परंतु माता-पिताको यदि आवश्यक जान पड़े तो पुत्रके मनकी उपेक्षा करनेमें भी संकोच नहीं होता। अपने लल्लनके हितके लिये वे उसे झिड़क भी सकते हैं और कभी-कभी ताड़ना भी कर बैठते हैं और भगवान्‌ भी झिड़क एवं ताड़ना पाकर भी अपने उस बड़भागी भक्तके वात्सल्य-सुखको त्याग नहीं सकते। ऐसी यह प्रीतिकी अटपटी रीति है। यहाँ साधक साध्य हो जाता है। श्रीनन्द-यशोदा और दशरथ-कौसल्या आदिका यही भाव है।

अब कुछ मधुरभावके विषयमें भी विचार करें। इसमें जैसी प्रीतिकी प्रगाढ़ता और पारस्परिक अभिन्नता होती है, वैसी पूर्वोक्त किसी भावमें नहीं होती। अन्य भावोंमें संकोचका यत्किंचित् आवरण रहता ही है, किंतु इसमें संकोचके लिये कोई स्थान नहीं है। माँ अपने लालके सुखके लिये स्वयं तो उसके मनके विरुद्ध आचरण कर सकती है, परंतु उससे वैसा करा नहीं सकती; किंतु प्रियतमा तो प्यारेसे वह भी करा लेती है, जो वे न करना चाहें और इस विवशतामें भी प्रियतमको एक मधुर रसकी अनुभूति होती। अतः मधुरभाव सभी भावोंका सिरमौर है। यहाँ भक्त भगवान्‌का भोग्य हो जाता है। यही आत्मसमर्पणकी पूर्णता है। श्रीगोपीजन इसी भावसे भगवान्‌को भजती हैं।

इस प्रकार संक्षेपमें भक्तिके पाँचों भावोंका विवेचन हुआ। भावदृष्टिसे इनमें पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर उत्कृष्ट है तथा प्रत्येक भावमें अगलेमें पूर्ववर्ती भावोंका समावेश भी हो जाता है। शान्तभावमें निष्ठा, दास्य-भावमें अनुवृत्ति, सख्यभावमें प्रीति और वात्सल्यमें स्नेहकी प्रधानता होती है। मधुरभावमें इन सभी रसोंका समावेश हो जाता है। इनके अतिरिक्त प्रियतमको सुमधुर रति प्रदान करनेकी विशेषता रहती है। इसी प्रकार अन्य भावोंमें भी उनसे पूर्ववर्ती भाव अन्तर्भुक्त रहते हैं। इस प्रकार भावोंमें उत्तरोत्तर उत्कर्ष होनेपर भी भक्तोंमें वैसा तारतम्य नहीं समझना चाहिये। भक्त तो अपनी-अपनी प्रकृति और रुचिके अनुसार ही किसी भावको स्वीकार करते हैं और उसीमें परिनिष्ठित होकर भगवत्प्रेमकी ऊँची-से-ऊँची स्थिति प्राप्त कर लेते हैं। ऊपर हमने विभिन्न भावोंके जिन भक्तोंका उल्लेख किया है, उनमें किसे छोटा या बड़ा कहा जाय! भक्तिका उत्कर्ष भावके प्रकारकी दृष्टिसे नहीं, प्रत्युत भावकी परिपक्वताकी दृष्टिसे होता है। जिस जीवमें उसके स्वीकृत भावकी जितनी उत्कृष्ट परिणति हुई है, वह उतना ही उच्च कोटिका भक्त है—जैसे सोनेकी अपेक्षा हीरा अधिक मूल्यवान् है; परंतु ऐसा नियम नहीं है कि कोई भी हीरेका व्यापारी किसी भी सुवर्णके व्यापारीसे कम धनाढ्य नहीं हो सकता। अतः भगवद्‌रसिकोंको किसी विशेष भावका आग्रह न रखकर अपनी प्रकृतिके अनुरूप भावमें दीक्षित हो उसीमें तद्रूप होनेका प्रयत्न करना चाहिये।

ऊपर हमने कहा है कि शान्त भक्तिके प्रति, निष्काम

गुरुके प्रति और पुत्रका पिताके प्रति यदि विशुद्ध निष्काम प्रेम हो तो वह भगवत्प्रेमके समान ही प्रभुप्राप्तिका साधन हो जाता है। परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ पति आदिमें भगवद्बुद्धि करनेकी बात कही गयी है और यहाँ भगवान्‌में स्वामि-सखा आदि बुद्धि करनेकी बात है। वह प्रतीकोपासना है और यह भगवत्सम्बन्ध है। अतः वह भगवत्प्राप्तिका परम्परा-साधन है और यह साक्षात् साधन। इसीसे उसे साक्षात् भगवत्प्रेम न कहकर भगवत्प्रेमके समान कहा गया है।

यह भावभक्ति पहले तो की जाती है और पीछे स्वाभाविक हो जाती है। जबतक की जाती है, तबतक कृति-की प्रधानता होती है, प्रीतिकी नहीं। ऊपर जिन नित्यसिद्ध भगवत्परिकरोंका उदाहरणरूपसे उल्लेख किया गया है, उनमें यह भावभक्ति स्वतः सिद्ध है। भक्ति-शास्त्रोंमें उनकी भक्तिको रागात्मिका कहा गया है। दूसरे लोग अपने-अपने भावानुसार उन्हींका अनुसरण करके अपने भावमें परिनिष्ठित होते हैं। अतः उनकी भक्ति रागानुगा कहलाती है। रागानुगा भक्ति भगवत्प्राप्तिका साधन है और रागात्मिका प्राप्तिरूपा है। मधुरूपसे रागानुगा ही रागात्मिका हो जाती है। अतः प्रीति ही साधन है और प्रीति ही साध्य है—

साधन सिद्धि राम पग नेहू।

यहाँतक हमने जीवलोकके भावभेदोंका वर्णन किया; किंतु प्रीति तो प्रभुका स्वभाव है—स्वभाव ही नहीं, साक्षात् स्वरूप है। उनका दिव्य चिन्मय मङ्गलविग्रह प्रीतिके तत्त्वोंसे ही गठित है। उस प्रीतिकी मधुरिमाका आस्वादन किये बिना उनसे भी नहीं रहा जाता। अतः उसका आस्वादन करनेके लिये वे अपने ही स्वरूपभूत चिन्मय धाममें स्वयं ही प्रिया और प्रियतमके रूपमें विराजमान हैं। प्रिया और प्रियतममें उपास्य-उपासकका भेद नहीं है। वे दोनों ही दोनोंके आराध्य हैं—'एक स्वरूप सदा द्वै नाम। आनँद की अह्लादिनि स्यामा अह्लादिनि के आनँद स्याम।' प्रियाजूका प्रियतमके प्रति और प्रियतमका प्रियाजूके प्रति जो अद्भुत अलौकिक भाव है, उसका इस लोकमें कहीं आभास भी मिलना कठिन है। वह तो उनकी अपनी ही सम्पत्ति है। वहाँ क्षण-क्षणमें दोनोंके हृदयमें जो अद्भुत भाववैचित्र्य होते हैं, वे तत्काल ही मूर्तिमान् हो जाते हैं। प्रिया-प्रियतम नित्य संयुक्त रहते हुए भी प्रीति-रसकी अचिन्त्य महिमासे परस्पर वियोगका अनुभव करते हैं—

मिलेइ रहत मानो कबहुँ मिले ना।

उस विरह-व्यथामें प्रियाजी प्रियतमका चिन्तन करते-करते तद्रूप हो जाती हैं और अपनेको प्रियतम समझकर अपने ही लिये व्याकुल होने लगती हैं। इसी प्रकार प्रियतम प्रियाजीके वियोगमें अपनेको प्रियारूपमें देखकर अपना ही चिन्तन करने लगते हैं। ऐसी परिणति क्षण-क्षणमें होती रहती है। इसी प्रकारके अनन्त अलौकिक भावानुभाव प्रिया-प्रियतमके अन्तस्तलमें स्थित रसार्णवको आन्दोलित करते रहते हैं। भक्ति-शास्त्रोंमें श्रीराधाके भावको महाभाव या राधा-भाव कहा गया है। इसके मोदन एवं मादन—ये दो मुख्य भेद हैं। युगल सरकारका यह अनादि अनन्त रास-विलास निरन्तर चल रहा है। इस लोकमें किन्हीं विरले महानुभावोंमें ही किसी क्षणके लिये इस अलौकिक भावकी स्फूर्ति होती है।

ये तो हुईं भावराज्यकी बातें। तथापि भावोंका विवेचन करते हुए किन्हीं-किन्हीं आचार्योंने ज्ञानी भक्तोंको शान्तभावके अन्तर्गत माना है। इससे अनेकों साधकोंको यह भ्रम हो सकता है कि तत्त्वनिष्ठ महानुभाव शान्तभावके उपासक हैं। परंतु स्मरण रहे, भाव और विचार ये दो अलग-अलग मार्ग हैं। विचारक किसी भी भाव, विश्वास या स्वीकृतिका आश्रय नहीं लेता। वह तो अपनी ज्ञानशक्तिके आधारपर असत्‌का त्याग करके सत्यकी खोज करता है—अनात्माका बाध करके आत्मानुसंधान करता है। इस प्रकार विवेचन करते हुए अतन्निषेधावधिरूपसे जिस सत्यकी उसे उपलब्धि होती है, जिसका किसी प्रकार निषेध नहीं किया जा सकता, उसीको वह अपने आत्मरूपसे अनुभव करता है। यह सत्य ही उसका विश्रामस्थान है। उसका इससे नित्य अभेद है। इस दृष्टिमें परिनिष्ठित रहना ही उसका आत्मप्रेम है। इसे आत्मरति, आत्ममिथुन और आत्मक्रीडा आदि नामोंसे भी कहा जाता है। यद्यपि तत्त्व-निष्ठोंके ज्ञानमें किसी प्रकारका भेद या तारतम्य नहीं होता—सभीकी तत्त्वदृष्टि एक ही होती है, तथापि निष्ठामें अवश्य तारतम्य रहता है। इसीसे योगवासिष्ठादिमें ज्ञानकी सात भूमिकाएँ बतायी गयी हैं। उनके नाम हैं—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी और तुर्यगा। इनमें पहली तीन जिज्ञासुकी साधनावस्थाएँ हैं। ये क्रमशः श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूपा हैं। सत्त्वापत्ति साक्षात्काररूपा है और अन्तिम तीन जीवन्मुक्तिरूपा हैं। इनमें तत्त्वनिष्ठाका उत्तरोत्तर परिपाक होता है। चतुर्थ भूमिकामें स्थित ज्ञानीको

अवस्थित् करते हैं और आगेकी भूमिकाओंमें आरूढ होनेपर वह क्रमशः ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् एवं ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहलाता है। अतः ज्ञानीको उपर्युक्त किसी भावके अन्तर्गत नहीं गिना जा सकता। ऊपर श्रीशुक और सनकादिको जो शान्तभावके भक्तरूपसे कहा है, उसका कारण यह है कि वे नित्यसिद्ध महापुरुष तो ज्ञानी भी हैं और भक्त भी। अतः भक्तदृष्टिसे इन्हें शान्तभावके अन्तर्गत गिना जा सकता है।

इस प्रकार भक्तोंके भावभेदके समान यद्यपि ज्ञानियोंमें भी भूमिका-भेद माना गया है, तथापि इन दोनोंमें किसी प्रकारका साम्य नहीं है। ज्ञान प्रशान्त महोदधि (Pacific Ocean) के समान है, जिसमें किसी प्रकारकी हलचल नहीं है; और प्रेम अतलस्पर्श महासागर (Atlantic Ocean) की तरह है, जो निरन्तर भाँति-भाँतिकी भावानुभावरूप ऊर्मिमालाओंसे उद्वेलित रहता है। ज्ञानकी भूमिकाओंमें उत्तरोत्तर ब्रह्मकी प्रतीति गम्भीर होती जाती है। वे निवृत्तिरूपा हैं। निस्संदेह उनमें स्वरूपभूत विलक्षण आनन्दका भी उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता है; परंतु उससे प्रधानतः चित्तकी प्रशान्तवाहिता और गम्भीरता ही बढ़ती है। उपरतिका उत्तरोत्तर उत्कर्ष ही उसका स्वरूप है। अतः उसका मुख्य उद्देश्य है—शरीरके रहते व्यावहारिक बन्धनोंसे मुक्ति प्रदान कर देना। इस प्रकार व्यवहारसे मुक्त करके भी वह उस तत्त्वनिष्ठको किसीके साथ बाँधता नहीं। यहाँतक कि उस स्वरूपभूत आनन्दका भी विद्वान्‌को बन्धन नहीं होता। परंतु भाव तो भक्तको प्रेमपाशमें बाँधनेवाले हैं। वे उसे भगवान्‌के प्रेममें बाँधकर ही भव-बन्धनसे मुक्त करते हैं। भावोंमें जो पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तरका उत्कर्ष माना गया है, उसका कारण भी उत्तरोत्तरका पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा अधिक बन्धनकारक होना ही है। परंतु यह बन्धन है निखिलरसा-मृतमूर्ति, सौन्दर्यसार श्रीहरिके साथ। इसमें जो मधुर मधुरिमा है, विलक्षण मादकता है, उससे मुग्ध हुए भक्तगण मुक्तिकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। प्रभु उन्हें मुक्ति देना चाहते हैं, तो भी वे उसका तिरस्कार कर देते हैं—

> दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।
>
> (श्रीमद्भा० ३।२९।१३)

इस तरह यद्यपि भक्त और ज्ञानीके साधन भिन्न हैं, तथापि दोनोंको जिसकी प्राप्ति होती है, वह तत्त्व एक ही है। उस तत्त्वके आस्वादनमें भी भेद है, पर वस्तुमें भेद नहीं है। भक्तकी दृष्टिमें वह तत्त्व चिन्मय है, क्योंकि प्रभुके नाम, धाम, लीला और रूप तत्त्वतः उनसे अभिन्न हैं तथा ज्ञानीकी दृष्टिमें वह चिन्मात्र है। वह उसे सम्पूर्ण संनिवेशोंसे शून्य देखता है। भक्तके लिये सृष्टि प्रभुका लीला-विलास है और ज्ञानी इसे माया देखता है। भक्त प्रभुको ही अपने इष्ट तत्त्वरूपमें भासमान देखता है और ज्ञानी इसका निषेध करके तत्त्वपर ही दृष्टि रखता है। तथापि दृष्टिका भेद होनेपर भी मूलभूत तत्त्व तो एक ही है। वह एक ही तत्त्व भक्तकी दृष्टिमें सगुण है और ज्ञानीकी दृष्टिमें निर्गुण। इसका भी विशेष कारण है। भक्तका आरम्भसे ही भगवान्‌से सम्बन्ध होता है और गुणमय प्रपञ्च उन्हींका लीला-विलास होनेके कारण तत्त्वतः उनसे अभिन्न है। अतः भक्तके भगवान् सगुण हैं और ज्ञानी गुणमय प्रपञ्चका बाध करके उनमें प्रतिष्ठित होता है, इसलिये उसके लिये वे निर्गुण हैं। परंतु वे स्वतः न सगुण हैं न निर्गुण। सगुणत्व-निर्गुणत्व उनमें इन्हींके द्वारा आरोपित हैं। वे स्वतः क्या हैं, यह वे ही जानें।

प्रेमी भक्तोंका सङ्ग वाञ्छनीय

प्रह्लादजी कहते हैं—

> मागारदारात्मजवित्तबन्धुषु सङ्गो यदि स्याद् भगवत्प्रियेषु नः।
>
> यः प्राणवृत्त्या परितुष्ट आत्मवान् सिद्ध्यत्यदूरान्न तथेन्द्रियप्रियः॥
>
> (श्रीमद्भा० ५।१८।१०)

'प्रभो! घर, स्त्री, पुत्र, धन और भाई-बन्धुओंमें हमारी आसक्ति न हो; यदि हो तो केवल भगवान्‌के भक्तोंमें ही। जो संयमी पुरुष केवल शरीरनिर्वाहके योग्य अन्नादिसे संतुष्ट रहता है, उसे जितना शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है, उतना शीघ्र इन्द्रियलोलुप पुरुषको नहीं होती।'

भक्ति-विवेचन

(लेखक—पं॰ श्रीमधिकृष्णजी शर्मा, कविरत्न)

सेवार्थक 'भज्' धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय करनेपर 'भक्ति' शब्द निष्पन्न होता है। यह सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद-शून्य, अनिर्वचनीय, स्वानुभववेद्य, सर्वाङ्गीण-रसास्वादाङ्कुर-कन्दली, परमानन्दाङ्कुर-महाभक्तलक्षीमा, कपिल आदि अनेक महर्षियोंसे संसेव्य, प्रकृति-पुरुष-जन्य-जगदुत्पत्तिस्थिति-निदानरूप, सद्-असद्-विलक्षण मायाद्वारा कल्पित प्रपञ्च-कल्पनासे अकल्पित, चमत्कारकी चरम सीमाके मध्यारूढ है। श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थोंमें यह नौ प्रकारकी बतलायी गयी है। इसका विवरण श्रीरूपगोस्वामीने भक्तिरसामृतसिन्धुमें विस्तारपूर्वक किया है।

अब यहाँ भक्ति-स्वरूप-निरूपण-प्रसङ्गमें, प्रयोजनवश, पूर्वाचार्योंद्वारा प्रदर्शित कुछ लक्षण उपस्थित किये जा रहे हैं। जैसे 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (२)—'वह भक्ति ईश्वरमें सर्वोत्तम अनुराग ही है'—यह शाण्डिल्य ऋषिका मत है।

'पूज्येष्वनुरागो भक्तिः' 'पूज्य जनोंमें अनुराग ही भक्ति है'—यह देवीभागवतका मत है (स्कन्ध ७, अध्याय १७)। 'सभी उपाधियोंसे मुक्त होकर तत्परतापूर्वक इन्द्रियोंसे भगवान् हृषीकेशकी निर्मल सेवा ही भक्ति है' यह नारद-पाञ्चरात्रका मत है।

'अन्याभिलाषाशून्य ज्ञानकर्मादिसे अनावृत अनुकूल भावसे श्रीकृष्णकी परिचर्या ही श्रेष्ठ भक्ति है'—यह श्रीरूप-गोस्वामिपादका मत है।

अब इनमें प्रथम शाण्डिल्य ऋषिके मतकी विवेचना की जाती है। उनके अनुसार परमेश्वरमें जो सर्वोत्कृष्ट अनुराग है, वही भक्ति-पद-वाच्य है। इस लक्षणमें दूसरी परिभाषा भी चरितार्थ हो जाती है; क्योंकि वहाँ भी अनुरागकी बात कही गयी है और सर्वार्थप्रद होनेके कारण वहाँ भी सर्वात्मना भगवान् ही पूज्य हैं।

पद्मपुराणमें कहा गया है—

'भज' इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः।
तस्मात् सेवा बुधैः प्रोक्ता भक्तिः साधनभूयसी॥
(अ॰ २१२)

"'भज्' धातुका 'सेवा' अर्थमें प्रयोग होता है, इसलिये बुद्धिमानोंने सेवाको ही भक्तिका प्रधान साधन कहा है।' इस प्रमाणसे साधनप्रधान सेवा ही 'भक्ति' पदके द्वारा निर्दिष्ट हुई है। साधन-बाहुल्यका भाव है—भगवान्के अनुकूल उन-उन सामग्रियोंका सम्पादन। उसे सर्वोत्तमभावसे सम्पादन करना अशक्य है। इसीलिये राजर्षि भर्तृहरिने कहा है—

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

'सेवाधर्म बड़ा ही कठिन तथा योगियोंके लिये भी असाध्य है।'

भला, जिसका रहस्य योगियोंको भी ज्ञात न हो सके, उस सेवाधर्मको इन्द्रियलोलुप पामरजन कैसे जान सकते हैं—इस वाक्यका उस धर्मके रहस्यज्ञोंको ही विचार करना चाहिये।

पर-अपरके भेदसे भक्ति दो प्रकारकी है। 'यस्य देवे परा भक्तिः' आदि श्रुति-प्रमाण-सिद्ध परा भक्ति ही ज्ञान-पद-वाच्य है। इसीलिये—

भक्तेस्तु या परा काष्ठा सैव ज्ञानं प्रकीर्तितम्।

'भक्तिकी जो पराकाष्ठा है, वही ज्ञान कही गयी है।' यह देवीभागवतमें हिमालयके प्रति भगवतीका वाक्य है (दे॰ भा॰ ७। १७)। इससे पराभक्ति तथा ज्ञानकी एकरूपता सिद्ध होती है। वहीं यह भी कहा गया है—

परानुरक्त्या मामेव चिन्तयेद् यो ह्यतन्द्रितः।
स्वाभेदेनैव मां नित्यं जानाति न विभेदतः॥
इति भक्तिस्तु या प्रोक्ता पराभक्तिस्तु सा स्मृता।
यस्यां देव्यतिरिक्तं तु न किञ्चिदपि भाव्यते॥
इत्थं जाता परा भक्तिर्यस्य भूधर तत्त्वतः।
तदैव तस्य चिन्मात्रे मद्रूपे विलयो भवेत्॥
(७। १७)

इन पद्योंके अनुसार परा बुद्धिका आश्रय लेकर सर्वत्र स्थित शक्तिको शक्ति तथा शक्तिमान्की एकताके कारण सर्वत्र अभेद बुद्धिसे देखनेवाला पुरुष चिन्मात्र भगवतीके स्वरूपमें प्रत्यक्ष ही विलीन हो जाता है। वह लयकारिणी वृत्ति ही पराभक्ति है। इसी अर्थको मनमें रखकर भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें ये वचन कहे हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(६। ३०)

इन्हीं सब लक्षणोंको उपजीव्योपजीवकभावसे लेकर

ही-मन प्रणाम करना चाहिये, द्वेष तो किसीके साथ करना ही नहीं चाहिये—

> मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहुमानयन्।
> ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति॥
> (श्रीमद्भा० ३।२९।३४)

गीतामें भी भगवान्‌ने जहाँ भक्तोंके लक्षण कहे हैं, वहाँ सर्वप्रथम इस बातकी आवश्यकता बतायी है कि भक्तका किसी भी प्राणीके प्रति द्वेष तो होना ही नहीं चाहिये, वरं उसे सबका मित्र तथा दीन-दुखियोंके प्रति करुणावान् होना चाहिये—

> अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
> (गीता १२।१३)

भागवत तो यहाँतक कहती है कि भक्तको सर्वत्र भगवद्बुद्धि रखते हुए कुत्ते, चाण्डाल, गाय-बैल तथा गदहेतकको भगवान् समझकर प्रणाम करना चाहिये, केवल मनसे नहीं, दण्डवत् पृथ्वीपर गिरकर—

> प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्।
> (११।२९।१६)

वेदमें भी इसी भावकी पुष्टि करते हुए कहा गया है—

> यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
> सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति॥
> (यजुर्वेद ४०।६)

'इस प्रकार जो मनुष्य प्राणिमात्रको सर्वाधार परब्रह्म पुरुषोत्तममें देखता है और सर्वान्तर्यामी परमप्रभु परमात्माको प्राणिमात्रमें देखता है, वह फिर कभी किसीसे घृणा या द्वेष नहीं कर सकता।'

इस प्रकार सबके हृदयमें विराजमान भगवान्‌को सर्वत्र देखनेवाले भक्तका चित्तमात्र ब्रह्ममें लय हो जाता है—यही गीताका भी मर्म है। इस प्रकार हमने भक्तिके लक्षण एवं स्वरूपपर संक्षेपतः अपने विचार 'कल्याण' के पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत किये हैं। विस्तार-भयसे अधिक न लिखकर यहीं अपना वक्तव्य समाप्त करते हैं।

भगवान् भक्तके पराधीन हैं

स्वयं श्रीभगवान् कहते हैं—

> अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
> नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥
> ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
> मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः। वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥
> मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम्। नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविद्रुतम्॥
> साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥
> (श्रीमद्भा० ९।४।६३–६८)

'दुर्वासाजी! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ। अपनी इच्छासे मानो कुछ भी नहीं कर सकता। मेरे सीधे-सादे सरल भक्तोंने मेरे हृदयको अपने हाथमें कर रखा है। भक्तजन मुझसे प्यार करते हैं और मैं उनसे। ब्रह्मन्! अपने भक्तोंका एकमात्र आश्रय मैं ही हूँ। इसलिये अपने साधुस्वभाव भक्तोंको छोड़कर मैं न तो अपने-आपको चाहता हूँ और न अपनी अर्धाङ्गिनी विनाशरहित लक्ष्मीको ही। जो भक्त स्त्री, पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सबको छोड़कर केवल मेरी शरणमें आ गये हैं, उन्हें छोड़नेका संकल्प भी मैं कैसे कर सकता हूँ! जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्यसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही मेरे साथ अपने हृदयको प्रेमबन्धनसे बाँध रखनेवाले समदर्शी साधु भक्तिके द्वारा मुझे अपने वशमें कर लेते हैं। मेरे अनन्यप्रेमी भक्त सेवासे ही अपनेको परिपूर्ण—कृतकृत्य मानते हैं। मेरी सेवाके फलस्वरूप जब उन्हें सालोक्य-सारूप्य आदि मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं, तब वे उन्हें भी स्वीकार करना नहीं चाहते; फिर समयके फेरसे नष्ट हो जानेवाली वस्तुओंकी तो बात ही क्या है। दुर्वासाजी! मैं आपसे और क्या कहूँ, मेरे प्रेमी भक्त तो मेरे हृदय हैं और उन प्रेमी भक्तोंका हृदय स्वयं मैं हूँ। वे मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं जानते तथा मैं उनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता।'

'हरि-भक्तोंका जय-जयकार !'

(रचयिता—श्रीप्रभानन्दजी 'बन्धु')

(१)

गर्वीली रम्भाके नूपुर जब करते सुमधुर झंकार।
भस्म मनोभवको करती तब किसकी प्रलयंकर हुंकार?
उसकी, ईश-भक्तिका जिसके ऊपर है पावन अधिकार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार॥

(२)

पर-उपकार, निरन्तर करुणा, मैत्रीके पावन भंडार।
पापी, पतित, पराजितसे भी करते ही आते हैं प्यार।
निज प्राणोंके हत्यारेका वे करते सम्यक् सत्कार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार॥

(३)

सत्यशीलता और विनयके ये होते अनुपम आगार।
अर्द्धयामिनीमें भी मिलते शरणागतसे भुजा पसार।
सदा सुदृढ़ पकड़े रहते हैं ये निज नौकाकी पतवार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार॥

(४)

विष्णु समझकर अभ्यागतका ये करते अतुलित सत्कार।
दुखी पड़ोसीको निज उरका अर्पित करते निश्छल प्यार।
'जियो, जिलाओ'के होते हैं ये ज्वाज्वल्यमान अवतार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार॥

(५)

रजनीकी सुख-सजी सेजका लिया उन्होंने कब आधार?
उनकी चरण-धूलि चन्दन है, पूजनीय ये सभी प्रकार।
मेरे मतमें तो होते हैं ये ईश्वरके ही अवतार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार॥

(६)

जब कि किसी दुर्बल भाईकी जर्जर नौकाकी पतवार।
छूट जाती उसके हाथोंसे भँवर-बीच बिल्कुल मझधार।
तब ये उसे सहारा देकर ले जाते निश्चय उस पार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार॥

(७)

'सत्यं शिवं सुन्दरम्'के ये पग-पगपर पावन अवतार।
अचल केन्द्र अध्यात्म-शक्तिके, अमर साधनाके भंडार।
उनकी चरण-रेणुका कण-कण ही वास्तवमें है हरि-द्वार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार॥

(८)

गाते ही रहते हैं प्रतिपल उनकी उर-तन्त्रीके तार—
'भुवन चतुर्दश तीन लोकका सब भौतिक वैभव निस्सार।
ईश-भजन है, ईश-भजन है, ईश-भजन है जगमें सार।'
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार ॥

(९)

कौन बली, जो उनके उरमें करे निराशाका संचार ?
आशाके अजस्र आराधक, भूप भगीरथके अवतार।
सदाकाल सत्साथी उनके ये अखिलेश्वर करुणागार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार ॥

(१०)

थक जाते हैं शेष-शारदा, और मान लेते हैं हार।
किंतु न मिलता उन्हें लेश भी भक्तोंकी महिमाका पार।
उनके स्वागतद्वारा पुलकित होता ईश्वरका भी द्वार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार ॥

(११)

नव-निर्माण प्राण हैं उनके जीवन है सुखका संचार।
जन-मन-गण-अधिनायक होते ये भूके बाँके सरदार।
धर्म-युद्धमें उनके रिपुगण करते दारुण हाहाकार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार ॥

(१२)

जननी जन्मभूमि कर उठती जब उनके सम्मुख चीत्कार।
तब वे शान्त नहीं रह पाते करनेको उसका उद्धार।
रख देते हैं भूतल-ऊपर हँसते-हँसते सीस उतार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार ॥

(१३)

शोषण या साम्राज्यवादकी दानवीय दूषित दीवार।
उनके नयनोंमें शोणितकी जब करती अविरल बौछार।
क्रांति और विप्लवके बनते तब वे मूर्तिमान अवतार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार ॥

(१४)

हँसते-हँसते उन्हें मृत्युका आलिङ्गन तो है स्वीकार।
अनाचार, अन्याय, अमङ्गलका न उन्हें रुचता व्यवहार।
वे कहते हैं—'पददलितके लिये निषिद्ध मुक्तिका द्वार।'
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार ॥

(१५)

सुरा-पान करते हैं दानव, देवोंका अमृतसे प्यार।
दुग्ध-पान है महि-मण्डलपर मानव-जीवनका आधार।
किंतु हलाहलके प्यालेका ये करते शत-शत सत्कार।
कोटि-कोटि-शत, कोटि-कोटि-शत, हरि-भक्तोंका जय-जयकार ॥

शृङ्गाररसासक्त नायिकाकी दृष्टि प्रियतमके शिरोमण्डलसे होती हुई कटिप्रदेशतक ही सीमित रहती है। सख्य और शृङ्गार रसके रसिकोंके ध्यानमें यही अन्तर है कि सख्यरसात्मक ध्यान कटिसे उठकर शिरस्त्राणतक जाता है और शृङ्गाररसात्मक ध्यान शिरसे प्रारम्भ होकर कटिप्रदेशपर्यन्त आता है। चारों रसोंके ध्यानका प्रमाण मानसके उपर्युक्त स्थानोंपर दिया गया श्रीरामजीके नख-शिख-शृङ्गारका वर्णन है। कुछ उदाहरण देखिये—

(१)

महर्षि विश्वामित्रजीका भाव श्रीरामजीके प्रति वात्सल्यमय था। इसीलिये उनकी दृष्टि श्रीरामजीके मुखमण्डलसे टकराकर पद-प्रान्तके पास आजानु (घुटनोंके नीचेतक) लम्बित बाहुके करपल्लवोंमें धारण किये हुए धनुष-बाणतक गयी, जिसका वर्णन श्रीगोस्वामीजीने अनवकाशके कारण संक्षेपमें किया है। महर्षि श्रीविश्वामित्रजीकी भक्तिमत्ता ही कविके अनवकाशका हेतु है। वर्णन इस प्रकार है—

पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि भय हरन।
कृपासिंधु मतिधीर अखिल बिस्व कारन करन॥

अरुन नयन उर बाहु बिसाला। नील जलज तनु स्याम तमाला॥
कटि पट पीत कसें बर भाथा। रुचिर चाप सायक दुहुँ हाथा॥

(२)

श्रीदशरथाजिरमें विचरते हुए श्रीरामजीको देखनेके लिये काकर्षि श्रीभुशुण्डिजीके पास पाँच वर्षका लंबा अवकाश है, इसलिये वे बड़े आनन्दसे शान्तिपूर्वक भगवच्चरणकमलसे मुखमण्डलतक बारंबार अवलोकन करते रहते हैं। देखिये—

नृप मन्दिर सुन्दर सब भाँती।(उत्तर० दो० ७५ की दूसरी चौपाई)से
किलकनि चितवनि भावति मोही। (उत्तर० ७६ की आठवीं चौपाई)तक।

श्रीकाकभुशुण्डिजीका भाव तो दास्य-रसान्वित है ही, यह उनके—

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।

—इस कथनसे ही स्पष्ट है और श्रीभुशुण्डिजीको भी विश्वास है कि श्रीरामजी मुझे अपना दास जानते एवं मानते हैं। इसीसे वे कहते हैं—

निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन्ह।

और इनकी 'भक्तशिरोमणि' सकल पक्षियोंके राजा त्रिभुवनपति-वाहन श्रीगरुड़जी भी यही कहते हैं—

रघुनायक के तुम्ह प्रिय दासा।

(३)

इसी तरह स्वयं श्रीशंकरजीका ही—

रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिवँ नायउ माथ।

—यह उद्गार कह रहा है कि आपका भाव श्रीकौसल्यानन्दवर्द्धन आनन्द-कन्द श्रीरघुनन्दनजीके प्रति दास्य-रसान्वित ही है। श्रीशिवजीको कोई जल्दी नहीं है, इसीसे वे शान्तिपूर्वक आनन्दके साथ बार-बार राम-रूपको निहारते हैं—

राम रूप नख सिख सुभग बारहिं बार निहारि।
पुलक गात लोचन सजल उमा समेत पुरारि॥

—और अवसर पाकर अर्थात् जब अपने इष्ट रूपका वर्णन करना था, तब अपने नित्य वन्दनीय—

कहौं बाल रूप सोइ रामू।

—का नख-शिख वर्णन शंकरजीने विस्तारके साथ किया है—

काम कोटि छबि स्याम सरीरा। नील कंज बारिद गंभीरा॥
अरुन चरन पंकज नख जोती। (बा० दो० १९८ चौ० १) से
सिव की यह गति प्रगट भवानी॥ (बा० दो० २०० चौ० २) तक

अन्तिम पंक्तिका 'भवानी' सम्बोधन स्पष्ट कर रहा है कि यह नख शिख-वर्णन श्रीशंकरजी कर रहे हैं। श्रीशंकरजी ध्यानके नेत्रोंसे पीत झीनी झँगुलियाके नीचे भी दिव्य मंजुल-विग्रह श्रीभगवान्‌के वक्षःस्थलपर 'विप्र-चरणाङ्क' देख रहे हैं; परंतु श्रीभुशुण्डिजी तो राजप्राङ्गणमें—

बिचरत अजिर जननि सुखदाई।

—के रूप-रसका पान प्रत्यक्ष चर्मचक्षु-पुटोंसे कर रहे हैं। इसलिये उन्हें—

उर आयत भ्राजत बिबिधि बाल बिभूषन चीर।

—के बीच उस आनन्द-कन्दके वक्षःस्थलपर सुशोभित 'विप्र-पद-लाञ्छन' का साक्षात्कार नहीं होता था। इसीसे श्रीभुशुण्डिजीने उस समय उस विप्रपदाङ्ककी चर्चा नहीं की।

(४)

श्रीस्वायम्भुव मनु-दम्पतिको पहले, जबतक श्रीसीतारामजीका साक्षात्कार नहीं हुआ था, तबतक श्रीहरिमें दास्य-भाव ही था। तभी तो—

प्रभु सर्बग्य दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृप रानी॥

परंतु जब युगल-सरकार श्रीसीतारामरूप दिव्य दम्पतिका साक्षात्कार हुआ, तब युगलकिशोरको देखते ही एक

और यहाँ हास्य-रस गौण होनेसे आधी ही चौपाईमें कहा गया—

नख सिख मंजु महाछबि छाए ।

(७)

श्रीजनकजीकी पुष्पवाटिका तो शृङ्गार-रसकी खानि ही है। इसलिये शृङ्गार-रसप्रधाना श्रीजूकी अन्तरङ्गा सखियोंने श्रीरामरूपको देखकर उसका वर्णन शिरोदेशसे लेकर कटि-पर्यन्त ही किया है—

मोरपंख सिर सोहत नीके । (बा० का० २३३ । १)
केहरि कटि पट पीत धर० ॥ (दोहेके अन्ततक)

(८)

श्रीशंकरजीका तो अपना दास्यभाव ही है, इसीसे अवधपुरमें भी नखसे लेकर शिखतक देखा—

राम रूप नख सिख सुभग बारहिं बार निहारि ।
पुलक गात लोचन सजल उमा समेत पुरारि ॥

स्मरण रहे—यहाँ 'पुलक गात लोचन सजल' केवल पुरारि शंकरजीके ही हैं, उमा—सतीके नहीं। यहाँपर 'उमासमेत' तो पुरारिका विशेषण है। क्योंकि सती-त्यागके पूर्व शिवजी जब अपने असली रूप—पञ्चमुख, मुण्डमाली कैलासपति-शरीरसे कहीं जाते थे, तब उमा—सती साथ ही रहती थीं। इसीसे 'उमासमेत' कहा। और इसके पूर्व भी—

सिव ब्रह्मादिक बिबुध बरूथा । चढ़े बिमानन्हि नाना जूथा ॥

—कहा है, यहाँ इन विबुध-बरूथोंमें शिव और विष्णुके अतिरिक्त किसी देवताके साथ उनकी पत्नी नहीं है। देव-स्त्रियोंका समाज अलग है, परंतु रमा—लक्ष्मी और उमा—सती भिन्न-भिन्न पतियोंके साथ हैं। इसीलिये 'उमासमेत पुरारि' कहा गया है।

(९)

मिथिला-नगर दर्शनमें उन षोडशवर्षीय अवधेश-बालक श्रीराम-लक्ष्मणजीके नगरमें प्रवेश करते ही नगरद्वारपर ही मैथिलीय बालकवृन्द मिले। समवयस्क बालकोंमें चञ्चलता होना स्वाभाविक ही है। अतएव मैथिल बालकोंका प्रभुके प्रति सख्यभाव होनेसे उनकी दृष्टि सरकारके कटिप्रदेशसे उठकर शिरःप्रदेशतक गयी—

पीत बसन कटि परिकर भाथा …… मेचक कुंचित केस ॥
(बालकाण्ड २१९)

परंतु मानसके भाषान्तरकार कवि पूज्य श्रीगोस्वामीजी तो हास्य-रसान्वित हृदयवाले ही ठहरे। इसीसे तुरंत ही—

नख सिख सुन्दर बंधु दोउ सोभा सकल सुदेस ।

—कह दिया। अतः जहाँ कहीं भी मानसमें ध्यान-प्रसङ्गसे केवल भी श्रीरामजीके नख-शिखका वर्णन है, वहाँ-वहाँ वह सहेतुक है। उपर्युक्त नियमानुसार पूर्वापर प्रकरण देखकर तदनुकूल उसका भाव समझ लेना चाहिये कि यह भक्तिके किस रसके रसिक महानुभावका ध्यान है।

लक्ष्मणजीकी अनन्य प्रीति

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं । लागि अगम अपनी कदराईं ॥
नर बर धीर धरम धुर धारी । निगम नीति कहुँ ते अधिकारी ॥
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला । मंदरु मेरु कि लेहिं मराला ॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू । कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू ॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई । प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई ॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी । दीनबंधु उर अंतरजामी ॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही । कीरति भूति सुगति प्रिय जाही ॥
मन क्रम बचन चरन रत होई । कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई ॥

(अयोध्याकाण्ड)

मानसमें भक्ति

(लेखक—पं० श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी)

'कल्याण'के विद्वान् सम्पादकने 'कल्याण' के 'भक्ति-अङ्क' के लिये 'मानसमें भक्ति'-सम्बन्धी एक लेख लिखनेकी मुझे आज्ञा दी। मैं मानसका स्वाध्यायी जरूर हूँ, आस्तिक भी हूँ और अपने देवी-देवताओं और धर्मग्रन्थोंका अत्यन्त भक्त भी हूँ; पर मानसमें महात्मा तुलसीदासने भक्तिका जो निरूपण किया है, उस भक्तिकी मिठासका अनुभव मुझे बिल्कुल नहीं है। यह बात मैंने सम्पादकजीको लिख भेजी और प्रार्थना की कि 'मुझे क्षमा करें। मैं जो कुछ लिखूँगा, वह मेरा न होगा, तुलसीदासजीकी चोरी होगी या उनसे उधार लेकर ही लिखूँगा। अभी तो युधिष्ठिर महाराजकी व्याख्याके अनुसार मेरी गिनती मूर्खोंमें ही की जायगी।' युधिष्ठिर महाराजने 'महाभारत' में मूर्ख और पण्डितकी व्याख्या इस प्रकार की है—

पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः॥

अर्थात् पढ़नेवाले, पढ़ानेवाले और शास्त्रका मनन-चिन्तन करनेवाले—ये सब व्यसनी और मूर्ख हैं। पण्डित तो वही है, जो क्रियावान् है।

फिर भी सम्पादक महोदयने मुझे क्षमा नहीं किया और मानसकी भक्तिपर कुछ-न-कुछ लिख देनेका ही आदेश दिया। इसीसे यह अनधिकार चेष्टा मैं कर रहा हूँ।

मैं तुलसीदासजीको हिंदू-जातिकी रक्षा करनेवाला एक क्रान्तिकारी नेता मानता हूँ। भगवानने ऋषि-मुनियों और परम प्रतापी चक्रवर्ती सम्राटों तथा तत्त्वदर्शी विद्वानों और कवियोंसे विहीन हिंदू-जातिकी रक्षा करनेके लिये मानो उन्होंने अवतार लिया था। कविता तो अपनी बातोंको सरल और हृदयग्राही बनानेके लिये उनका एक साधनमात्र थी।

तुलसीदासजीके जमानेमें मुसलमानी शासनसे हिंदू-जाति और हिंदू-धर्मपर आघात-पर-आघात पड़ रहे थे और अपने धर्मग्रन्थोंमें अपनी पुरानी भक्ति रखते हुए भी वह उनसे अनभिज्ञ थी और भीतर-ही-भीतर छिन्न-भिन्न हो रही थी। तुलसीदासजीने उसके नष्ट-भ्रष्ट होनेका कारण खोज लिया और एक वीर पुरुषकी तरह वे उसकी रक्षाके लिये छाती ठोककर खड़े हो गये। मानस उन्हींके उद्देश्यका एक लिखित रूप है।

मुसलमानी धर्म इस देशमें बाहरसे आया। वह अपनी संस्कृतिसे मेल नहीं खाता था, पर उसमें मनोविज्ञानके लिये जबर्दस्त प्रलोभन था। मुसलमानी मजहबमें एक ईश्वर था, जो बहिश्तमें दरबार लगाकर रहता था और बादशाहोंकी तरह मुसलमानी धर्म न माननेवालोंको दण्ड देता था और माननेवालोंके अपराध भी क्षमा कर देता था। इसके मुकाबलेमें हिंदुओंमें सैकड़ों देवता थे, जिनमें अनेक तो माँगा वर देनेवाले, परम सरल और महान् दानशील थे। प्रत्येक हिंदू-धर्मानुयायी किसी-न-किसी देवताका उपासक था। मुसलमानोंकी एक ही पुस्तक थी, जिसमें लिखी हुई बातें मानना ही मुख्य धर्म था, जब कि हिंदुओंके एक दो नहीं, कम-से-कम चार ग्रन्थ—वेद थे। हजरत मुहम्मद ही एकमात्र उनके आराधक थे। मुसलमानोंमें विचार-स्वातन्त्र्य बिल्कुल नहीं था। इसके सिवा मुसलमानोंके सामाजिक जीवनके नियम भी ऐसे थे, जिनसे उनका संगठन प्रतिदिन और दृढ़ताके नये सिरेसे ताजा और पुष्ट होता रहता था। वे सप्ताहमें एक दिन जुमा—शुक्रवारको मसजिदमें एकत्र होते और एक साथ बैठकर नमाज पढ़ते और सामूहिक एकताको पुनर्जीवन दे लेते थे। वहीं एकान्तमें वे 'हिंदुओंके साथ किस प्रकार मोर्चा लिया जाय' इस विषयपर निर्णयके साथ बातें करते और आगेका कार्यक्रम निर्धारित करते थे। वर्षमें एक दिन मीलों दूरके मुसलमान ईदगाहमें एकत्र होते, आपसमें गले मिलते और अपना सामाजिक बल बढ़ानेकी तरकीबें सोचते और घर लौटकर उन्हींके अनुसार कार्य करते थे। उनके-जैसा संगठन हिंदुओंमें नहीं था। हिंदुओंमें ही नहीं, ईसाई, यहूदी, पारसी, चीनी आदि किसी जातिमें भी, जिनके पास ईश्वरीय धर्मग्रन्थ पाये जाते हैं, समाजको संगठित कर रखनेकी ऐसी युक्ति नहीं पायी जाती। उनके मुकाबले हिंदुओंमें जप, ध्यान, स्तुति, प्रार्थना आदि भी—एकान्तमें अकेले बैठकर करनेके नियम प्रचलित हैं। इस प्रकार हिंदुओंकी वे जातियाँ, जो उच्च वर्णवालोंसे बहिष्कृत थीं, स्वभावतः हिंदू-समाजसे और हिंदू-धर्मसे विरक्त हो रही थीं। उनकी मानसिक स्थिति भी डाँवाडोल थी, धर्मग्रन्थ भी कोई एक नहीं था। विचार-स्वातन्त्र्य इतना बढ़ गया था कि चार्वाक, जो वेद और ईश्वरको नहीं मानता, उसका दर्शन भी दिखाकर एक विषय बना दिया गया था। [illegible]

हजार वर्ष पहले भी विचारोंकी यह विभिन्नता समाजमें व्याप्त थी। महाराज युधिष्ठिरने अपने समयकी इस दशाका चित्रण इन शब्दोंमें किया है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥
(महा० ३ । ३१३ । ११७)

'तर्ककी कहीं स्थिति नहीं है। श्रुतियाँ भी भिन्न भिन्न हैं। एक ही ऋषि नहीं हैं कि जिसका मत प्रमाण माना जाय तथा धर्मका तत्त्व गुहामें निहित है अर्थात् अत्यन्त गूढ है। अतः जिससे महापुरुष जाते रहे हैं, वही मार्ग है।'

महाजनका भी कोई निश्चित पंथ नहीं था। सबका चुनाव अलग-अलग था।

पाँच हजार वर्ष पहले जिस जातिमें ऐसा मतान्तर घर किये हुए था और वह पाँच हजार वर्षोंतक मतान्तर बढ़ता ही रहा था, वह जाति एक धर्म और एक-ग्रन्थके सामाजिक नियमोंसे सुसंगठित मुसल्मान जातिका मुकाबला कैसे कर सकती थी? हिंदुओंमें तो भगवान्‌की शरणमें आकर भी एक साथ बैठकर जप, तप, ध्यान, पूजन और भजन करनेका नियम नहीं था। सप्ताहकी तो बात ही क्या, वर्षभरमें भी कोई एक निश्चित दिन नहीं था, जब कि हिंदूमात्र मिल और भाई-भाईकी तरह साथ बैठकर अपने समाजकी दशापर विचार करते और इसपर भी तर्क-वितर्क करते कि नये आये हुए धर्म और उसके माननेवाले विधर्मी शासकोंसे अपनी जाति और धर्मकी रक्षा कैसे की जाय। तुलसीदासजीने हिंदू-जातिकी इस कमजोरीको पहचान लिया और उन्होंने उसके दुर्गुणोंको दूर करनेके लिये प्रयोग शुरू किया। वह प्रयोग ही 'मानस' है। उन दिनों हिंदुओंमें, खासकर संतों और वैरागियोंमें, निर्गुण ब्रह्मकी चर्चा जोरों-पर थी; किंतु उन मतोंके माननेवालोंके लिये परलोकमें काल्पनिक सुखोंकी वे सुविधाएँ नहीं थीं, जो मुसल्मानी धर्ममें थीं। उनका स्वर्ग तो एक नगर-सा बसा हुआ था, जिसमें हूर और गिलमाँ मिलते थे। इससे निर्गुण ब्रह्मकी व्याख्या न समझ सकनेवालोंको मुसल्मानी स्वर्ग ज्यादा सुलभ और आकर्षक लगने लगा था। विचार-स्वातन्त्र्य तो इतना बढ़ गया था कि शैव और वैष्णव एक दूसरेका सिर फोड़ना भी अपने धर्मका अङ्ग समझने लगे थे।

अथर्ववेदके 'संगच्छध्वं संवदध्वम्' वचनसे तो शैव और वैष्णव दोनों अभिन्न थे, पर उसका अनुसरण कोई नहीं करता था। ऊपरसे विधर्मी शासकोंका उत्पात तो साँस ही नहीं लेने देता था। इसका दिग्दर्शन तुलसीदासजीने 'बालकाण्ड' में इस प्रकार किया है—

देखत भीमरूप सब पापी। निसिचर निकर देव परितापी॥
करहिं उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करि माया॥
जेहि बिधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला॥
जेहिं जेहिं देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाउँ पुर आगि लगावहिं॥
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई। देव बिप्र गुरु मान न कोई॥
नहिं हरिभगति जग्य तप ग्याना। सपनेहुँ सुनिअ न बेद पुराना॥

जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनइ दससीसा।
आपुनु उठि धावइ रहै न पावइ धरि सब घालइ खीसा॥
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनिअ नहिं काना।
तेहि बहुबिधि त्रासइ देस निकासइ जो कह बेद पुराना॥

बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहि कवनि मिति॥

एक ओर हिंदू-जातिपर ऊपरसे यह मार-पर-मार पड़ रही थी, दूसरी ओर सामाजिक विशृङ्खलता ऐसी फैल रही थी कि हिंदू-जाति बिना पतवारकी नाव हो रही थी। तुलसीदासके समकालीन हिंदू-समाजकी जो दशा थी, उसका भी वर्णन उत्तरकाण्डमें इस प्रकार किया गया है—

कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रंथ।
दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ॥
भए लोग सब मोहबस लोभ ग्रसे सुभ कर्म।
सुनु हरिजान ग्यान निधि कहउँ कछुक कलिधर्म॥

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी॥
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥
मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई॥
सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥
जो कह झूँठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना॥
निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी॥
जाकें नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥

असुभ बेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥
जे अपकारी चार तिन्ह कर गौरव मान्य तेइ।
मन क्रम बचन लबार तेइ बकता कलिकाल महुँ॥

मित है, उसका पाठ महात्मा गाँधीको पितामहसे विरासतमें मिला था और सचमुच उसी रथपर बैठकर महात्मा गाँधीने विजय प्राप्त की थी।

महात्मा तुलसीदासको क्या यह भी मालूम था कि सुराज्यके सरकारका जो संचालन करेंगे, वे हिंदू धर्मग्रन्थोंका आदर नहीं करेंगे और धर्म निरपेक्ष राज्य चलायेंगे? उन्होंने इनके लिये रामके मुखसे हनुमान्‌जीको अपने अनन्य भक्तका स्वरूप इस तरह कहलाया है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

अर्थात् ईश्वरको नहीं मानते हो, तो यह चराचर जगत् ही ईश्वरका रूप है, इसीके सेवक बनो। तुलसीदासजीने मानसभरमें रामका कोई एक निश्चित रूप निर्धारित नहीं किया। बल्कि उनके समयमें जितने मत, सम्प्रदाय और उपासनाके अन्य केन्द्र थे, रामको सबसे सम्बद्ध बताया है। शिव रामके भक्त थे और राम शिवके भक्त थे। इस तरह वैष्णव और शैव—दो बड़े सम्प्रदायोंका कलह शान्त हुआ।

काकभुसुंडि कौआ थे, जो पक्षियोंमें चाण्डाल गिना जाता है। उसे ऊँचे आसनपर बैठाकर उसके मुखसे राम-कथा कहलायी, जिसे पक्षियोंके राजा गरुड़ने आसनसे नीचे बैठकर सुना। इस तरह गुणको जाति-पाँतिसे ऊँचा दिखाया और उपवर्गका मार्ग-प्रदर्शन किया।

तुलसीदासजीने रामको आदर्श पुरुष और महाराज दशरथके परिवारको आदर्श परिवारका रूप दिया है तथा महाराज दशरथके परिवारके स्त्री-पुरुषोंके स्वभावोंका चित्रण उसी प्रकार किया है, जिस प्रकारके स्वभाववाले पात्र उस समयके हिंदू-परिवारोंमें थे। इससे पाठकोंको अपने गुण दोषोंका तुलनात्मक दृष्टिसे विचार करनेके लिये एक उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है।

समूचा मानस भक्तिके प्रसङ्गोंसे भरा है। तुलसीदासजीने व्यक्तिगत चरित्रकी शुद्धिको ही रामकी भक्तिमें प्रमुख स्थान दिया है। जैसे—

जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥
भगति कि साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें॥

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

(अरण्यकाण्ड)

इस तरह एक-एक व्यक्तिका जीवन भक्तिमय होकर शुद्ध हो जायगा तो उससे बना समाज सुदृढ़ और उन्नतिशील बन जायगा।

तुलसीदासजीने हिंदुओंको एक साथ मिलने-जुलने, बैठने-उठने और विचार-विनिमयके लिये कई केन्द्र स्थापित किये; जैसे—कीर्तन, रामलीला, तीर्थ-माहात्म्य, गङ्गाजीका 'दरस परस मज्जन अरु पाना', राम-कथाका श्रवण आदि। तुलसीदासजी अपने वर्तमान कालको देखते हुए अपने प्रयोगकी रक्षामें भी जागरूक थे। उन्होंने कलियुगमें हिंदूजातिकी दुर्दशाका चित्रण तो किया, पर अपने किसी ग्रन्थमें 'हिंदू' शब्द नहीं आने दिया; क्योंकि सम्भव था कि 'हिंदू' शब्दसे मुसलमान शासकोंके कान खड़े हो जाते और वे मानसको ही निर्मूल करनेमें लग जाते।

मानस हिंदूजाति और हिंदूधर्मकी रक्षा और वृद्धिके लिये तुलसीदासका एक प्रयोग है, जो गत तीन सौ वर्षोंसे निरन्तर चल रहा है और वह तबतक चलता रहेगा, जबतक देशमें रामराज्य नहीं कायम हो जायगा।

भगवत्कृपा

तुलसीदासजी कहते हैं—

मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती॥
राम सुस्वामि कुसेवकु मोसो। निज दिसि देखि दयानिधि पोसो॥

(बालकाण्ड)

श्रीरामचरितमानसमें भक्ति-निरूपण

(लेखक—पं० श्रीभैरवानन्दजी शर्मा 'व्यापक' रामायणी, मानस-तत्त्वान्वेषी)

गोस्वामी तुलसीदासकृत 'श्रीरामचरितमानस' भक्ति-शास्त्रका एक बहुत बड़ा ग्रन्थ है। मनोहर पद्यमयी रचना होनेके कारण यह अतीव श्रुतिमधुर और चित्ताकर्षक हो गया है। स्वयं ग्रन्थकार इसे—'रघुबर भगति प्रेम परिमिति सी' (बाल० १० । १४) कथन कर गये हैं। 'परिमिति' शब्दपर ध्यान देनेसे यह स्पष्ट विदित होता है कि श्रीरामकी भक्ति और प्रेमका प्रतिपादक ऐसा ग्रन्थ दूसरा नहीं है।

रामचरितमानसमें 'भक्ति-तत्त्व' का विविध-विधानपूर्वक विवेचन किया गया है। यथा—

भगति निरूपन बिबिध बिधाना। छमा दया द्रुम लता बिताना॥

(उत्त० ११ । २१)

'भज सेवायाम्' धातुके आगे 'क्तिन्' प्रत्यय जोड़नेसे भक्ति-शब्द सिद्ध होता है। इसका अर्थ 'सेवा' है। आत्मकल्याण चाहनेवालेके लिये भक्तिका विधान किया गया है। यथा—

भजिअ रघुपति करु हित आपना॥

यह भक्ति दो प्रकारकी होती है—(१) अभेद-भक्ति और दूसरी (२) भेद-भक्ति। अभेद-भक्तिको ही ज्ञान कहते हैं। यथा—

सोऽहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा॥

... ...

सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥

—इत्यादि

—इस प्रकार भजन (भक्ति) करनेवालेको परम सिद्धि-की प्राप्ति होती है तथा वह भगवत्स्वरूपमें लीन हो जाता है। इसीको 'निर्वाण-मुक्ति' कहते हैं।

भेद-भक्तिमें सेवक-सेव्य-भाव प्रधान (मुख्य) रूपसे रहता है। इस प्रकारकी भक्ति करनेवाले भक्तजन आयी हुई मुक्ति-को भी ग्रहण नहीं करते। उनका साधन और सिद्धि दोनों ही भगवच्चरणानुराग होता है।

यथा—

अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥

ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद भगति बर लयऊ॥

सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं॥

'साधन सिद्धि राम पग नेहू।' अस्तु

इसीलिये कहा गया है—

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

प्रयोजन तथा अधिकारीके भेदसे भक्तिके [illegible] हैं। विषाद-नाशके लिये निषादराजके प्रति [illegible] द्वारा ज्ञान-वैराग्य एवं भक्तियुक्त वाणी कही गयी है। (२। ९१ । १) भगवत्कृपा-सम्पादनके लिये स्वयं भगवान् श्रीरामद्वारा शबरीजीके प्रति 'भक्ति-योग' का कथन किया गया है (३ । ३३ । ५–३६ । १)। तथा सनकादि-जन्म-फल-प्राप्तिके लिये, सर्वसाधारणके लिये [illegible] प्रति नवधा भक्ति तथा भागवत-धर्म [illegible] (श्रवनादिक नवभक्ति दृढ़ाहीं) [illegible] लिये कथन की गयी है। यथा—[illegible]

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥

एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धरम उपज अनुरागा॥

साधन-भक्ति दो प्रकारकी होती है, वैधी और रागानुगा। शास्त्रोपदेश-श्रवणद्वारा जो मनुष्यका भगवच्चरणोंमें अनुराग होता है, उसे वैधी भक्ति कहते हैं। यथा—

श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥

तथा स्वाभाविक अनुरागसे भजनमें प्रवृत्ति होने उसे रागानुगा कहते हैं। यथा—

मन ते सकल बासना भागी। केवल राम चरन लय लागी॥

ज्ञानी, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा आर्त—चारों प्रकारके भक्तोंके लिये गौणी (वैधी) भक्तिका विधान है। यथा—

ज्ञानीके लिये—

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी॥

ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा॥

जिज्ञासुके लिये—

जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीहँ जपि जानहिं तेऊ॥

अर्थार्थीके लिये—

साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥

आर्तके लिये—

जपहिं नामु जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥

इसके अलावा

अविरल भक्ति, यथा—अबिरल भगति बिरति सतसंगा ॥

अविरल प्रेम-भक्ति, यथा—अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई ॥

अनूपा भक्ति, यथा—पंथ कहत निज भगति अनूपा ।

भगति तात अनुपम सुख मूला । राम भगति निरुपम निरुपाधी ॥

दृढ़ राम-भक्ति, यथा—राम भगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग ॥

परम भक्ति, यथा—सोनेहुँसि परम भगति बर मागी ॥

अनपायिनी भक्ति, यथा—अनपायनी भगति प्रभु दीन्ही ॥

निर्भरा भक्ति, यथा—भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे ।

भाव-भक्ति, यथा—भाव भगति आनंद अघाने ॥

अखण्ड भक्ति, यथा—मदि अकुंठ हरि भगति अखंडा ॥

विशुद्ध अविरल भक्ति, यथा—अबिरल भक्ति बिसुद्ध तव ।

सब सुख खानि भक्ति, यथा—सब सुख खानि भगति तैं मागी ।

चिन्तामणि भक्ति, यथा—राम भगति चिंतामनि सुंदर ।

फलरूपा भक्ति, यथा—सब कर फल हरि भगति सुहाई ।

संजीवनी भक्ति, यथा—रघुपति भगति सजीवनि मूरी ।

—आदि अनेक भक्तिके विधानोंका 'मानस' में यथास्थान निरूपण हुआ है । ज्ञान और भक्ति दोनों मार्गोंमें संसारसे उत्पन्न दुःखके हरणरूप फलमें तो कोई भेद नहीं है, समानता है । यथा—

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा । उभय हरहिं भव संभव खेदा ॥

कारण, भक्तिके लिये एक स्थानपर कहा है—

बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास ।

राम नाम बर बरन जुग सावन भादव मास ॥

सो यह नाम-जपसे बढ़नेवाली भक्ति है । वर्षा कभी होती है, कभी नहीं होती और कभी स्वल्पाधिक भी होती है । इसी प्रकार नाम-जप भी कभी होता है, कभी शिथिलप्राय हो जाता है । पुनः चित्तवृत्तिकी अखण्डताके लिये दूसरे स्थानपर 'राम भगति जहँ सुरसरि धारा' कहा गया है । भक्तिका प्रवाह अविच्छिन्न होना चाहिये, इसलिये 'धारा' कहा गया । राम-भक्तिको गङ्गा कहनेका भाव यह है कि जिस भाँति गङ्गाजी पापोंका हरण करती हैं, उसी तरह भक्ति भी अभ्यन्तर-मल दूर करती है । यथा—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई । अभ्यंतर मल कबहुँ न जाई ॥

गङ्गा और भक्ति दोनोंकी उत्पत्ति हरि-चरणोंसे हुई है । भक्ति भी गङ्गाजीकी तरह भगवच्चरणोंके ध्यानसे उत्पन्न होकर सबको पवित्र करती है । तथा दोनों ही भगवान् शंकरजीको प्रिय हैं । गङ्गा अविरल बहती है और इसमें पवित्रता (निष्कामता) का गुण है । तथा संतुष्टता और अखण्डता भी इसमें हैं । यह भी नाम-जपरूपी वर्षाकी धारसे ही पुष्ट होती है ।

एक काम-पूरा भक्ति है, उसे जहाँ-तहाँ कामधेनु और कल्पवृक्षसम कहा गया है । एक प्रकाशिका भक्ति है, जिसे 'राका' रजनी भगति तव' तथा 'राम भगति चिंतामनि सुंदर' कहा गया है । 'राका-रजनी' शारदीय पौर्णमासीकी रात्रि है । इसमें रात्रिके दुःख-दोष कुछ भी नहीं होते । प्रत्युत शीतल होनेसे दिनकी अपेक्षा भी यह अधिक सुखदायिनी होती है । इस रात्रिमें भी भगवन्नामका परम-प्रकाश है । यथा—

राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम ।

अपर नाम उडगन बिमल बसहु भगत उर ब्योम ॥

दूसरी भक्ति 'चिन्तामणि' है, जो 'परम प्रकास रूप दिन राती' है । ज्ञान-दीपसे जो वस्तु-दर्शन होता है, वही वस्तु-दर्शन 'मणि'से भी होता है । यह द्विविध है—एक तो नामोच्चारणरूपा और दूसरी अखण्डस्मरणरूपा है । पर यह भक्ति खोजनेसे मिलती है । यथा—

भाव सहित खोजइ जो प्रानी । पाव भगति मनि सब सुख खानी ॥

यह साधनजन्य नहीं, स्वतःसिद्ध है । सत्सङ्गमें, सत्-शास्त्रमें अन्वेषण (अनुसंधान) करनेसे मिलती है । यहाँ मर्मज्ञका साथ होना आवश्यक है तथा सुबुद्धिकी भी अपेक्षा रहती है । 'ज्ञान-दीपक' को बुझाकर इस 'मणि' की प्राप्ति नहीं होगी, किंतु ज्ञानको नेत्र बनाकर उसकी प्राप्ति करनी होगी । यथा—

पावन पर्बत बेद पुराना । राम कथा रुचिराकर नाना ॥

मर्मी सज्जन सुमति कुदारी । ग्यान बिराग नयन उरगारी ॥

भाव सहित खोजइ जो प्रानी । पाव भगति मनि सब सुख खानी ॥

देहाभिमानको मिटाने, दरिद्रताको दूर करनेके लिये यह सम्पत्तिरूपा है । इसमें कामादि षड्विकार और अज्ञानकी विनाशिका शक्ति है । अतः दोनों (ज्ञान और भक्ति) में 'भव-संभव खेद-हरण' रूपफलमें तो कोई अन्तर नहीं है । किंतु भक्ति और ज्ञानमें वस्तुसाम्यकी दृष्टिसे बहुत बड़ा भेद है । (१) भक्तिके स्वरूप, (२) साधन, (३) फल और (४)-अधिकारीमें विलक्षणता है । सर्वत्र 'निज प्रभु मय देखहिं जगत'

'भक्ति' तथा सर्वत्र आत्मदृष्टि रखना—'देख ब्रह्म समान सब माहीं' 'ज्ञान' का स्वरूप है। (२) राम-गुण-ग्रामसे भरी हुई रामकथाका श्रवण करना 'भक्ति' का साधन है। तथा 'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा' (तत्त्वमसि) और 'सोऽहमस्मि इति बृत्ति अखंडा' (अहं ब्रह्मास्मि) आदि महावाक्य 'ज्ञान' के साधन हैं। (३) राम-प्रेमकी प्राप्ति 'भक्ति' का फल है और अज्ञानकी निवृत्ति 'ज्ञान' का फल है। (४) भक्तिमें प्राणिमात्रका अधिकार है और ज्ञानमें साधन-चतुष्टय-सम्पन्न द्विजमात्रका ही अधिकार है।

ज्ञान और भक्ति दोनोंका एक ही व्यक्ति एक साथ अनुष्ठान भी नहीं कर सकता। भक्त तो भगवच्चिन्तनमें सर्वदा मग्न रहता है और ज्ञानी (जिज्ञासु) विचारमें। ज्ञानीको 'इह' एवं 'आमुष्मिक'—सभी प्रकारके विषयोंसे वैराग्य होता है, वह दृश्यादृश्य सभी सृष्टिको मिथ्या समझता है। ऐसी दशामें उसका भगवान्के भी नाम रूपादिमें कैसे प्रेम हो सकता है। बिना इनमें अनुराग हुए वह इनका (भगवान्का) चिन्तन (स्मरण) भी कैसे कर सकता है।

ज्ञान-मार्ग तो तलवारकी धारपर चलनेके समान बड़ा कठिन है। यथा—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।
(कठ० १।३।१४)

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥

इस मार्गमें पतन होते देर नहीं लगती। इधर भक्तिमार्ग बड़ा सुगम पंथ है। यथा—सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी। इस प्रकार सुभीतेपर ध्यान देनेसे ज्ञान और भक्तिमें बड़ा अन्तर प्रतीत होता है। ज्ञानी तो अपने पुरुषार्थ (शक्ति) से काम लेता है और भक्त भगवान्के चरणोंमें अपना सर्वस्व अर्पणकर निर्भय हो जाता है तथा निश्चिन्त रहता है। भक्तकी पूरी जिम्मेदारी भगवान्पर आ जाती है। फलतः ज्ञानीको बड़े विकट प्रत्यूहों (विघ्नों) का सामना करना पड़ता है। यथा—

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥
करत कष्ट बहु पावइ कोऊ। भक्तिहीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥

पर भक्तको भगवदनुग्रहके कारण किसी प्रकारके विघ्न बाधा नहीं पहुँचाते। यथा—

सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपाँ बिलोकहिं जेही॥

भक्तको तो साधनकालमें ही आनन्द-ही-आनन्द है। यथा—

मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥
जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं॥
सुनि मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालकहि राख महतारी॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥
जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥

जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर॥
तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि कस न भजहु भ्रम त्यागि॥

भक्ति केवल भाव ही नहीं है, किंतु स्वतन्त्र 'रस'-स्वरूप है। यथा—

'हरि पद रति रस बेद बखाना।' 'ग्यान बिराग भगति रस सानी।' 'सुनि रघुबीर भगति रस सानी।'

श्रुतिमें कहा है—

रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।
(तैत्तिरी० २।७।१)

श्रीभरद्वाजजीके मतानुसार भक्ति-भावको रसमें परिणत करके पहले-पहल श्रीभरतजीने दिखलाया है। यथा—

तुम्ह कहँ भरत कलंक यह हम सब कहँ उपदेसु।
राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेसु॥

जो किसी कामनाकी सिद्धिके लिये भक्ति (प्रेम) करते हैं, उनको इस 'रस' की प्राप्ति नहीं होती। उनके लिये तो भक्ति भावमात्र है। किंतु निष्काम भक्ति करनेवाले सर्वदा इसी (भक्ति-रस) में निमग्न रहा करते हैं। यथा—

सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद तिन्हहुँ किए मन मीन॥

वे इस रसका पूर्ण आस्वादन करते रहते हैं, कभी भी इस रससे पृथक् होना नहीं चाहते—यहाँतक कि साक्षात् भगवत्प्राप्ति हो जानेके बाद भी भगवान्से यही प्रार्थना करते रहते हैं—

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥

भगवान् परम स्वतन्त्र हैं। यथा—'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई।' 'सदा स्वतंत्र राम भगवाना'। पर भक्ति उनको भी वशमें कर लेती है। यथा—'निर्गुन ब्रह्म सगुन भगति बस करी' तथा 'रघुपति भगत बच्छल अहहीं' अतः इस भक्तिकी महिमाका पूर्ण कथन कौन कर

सकता है। यथा—'भक्ति की महिमा घनी' 'राम भगति महिमा अति भारी'। अस्तु,

इस राम-भक्तिकी प्राप्तिके लिये भक्तको 'शंकर-भजन', भगवत्स्तोत्रपाठ तथा श्रीराम-गुण-गाथा (रामचरितमानस)-का श्रवण-मनन, पारायण करते रहना आवश्यक है। यथा—

जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥
होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥

औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥

सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति राम पद होई॥
बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। राम भगत कर लच्छन एहू॥

पठन्ति ये स्तवं इदं। नरादरेण ते पदं॥
व्रजन्ति नात्र संशयं। त्वदीय भक्ति संयुता॥

(अत्रिकृत स्तुति)

रामचरित अस पावन गावहिं सुनहिं जे लोग।
राम भगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग॥

भव संसार असु अर आरा। रघुपति कृपाँ भगति सोइ पावा॥
सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई॥
भगति बिबेक भक्ति दृढ़ करनी। मोह नदी कहँ सुंदर तरनी॥
बिमल कथा हरि पद दायनी। भगति होइ सुनि अनपायनी॥
अस बिचारि जो कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥

मुनि दुर्लभ हरि भगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।
जो यह कथा निरंतर सुनहिं मानि बिस्वास॥

भक्तिकी शक्ति

(रचयिता—श्रीयुगलसिंहजी खीची, एम्० ए०, बार-एट-लॉ, विद्या-वारिधि)

हँसते-हँसते मीराने कर लिया गरलका पान।
चकित हुआ राणा, जब पाया विषको सुधा समान॥ १॥
अनल हुआ शीतल जल-सा, छूकर प्रह्लादका पैर।
सरस स्नेहसे हुआ पराजित दैत्यराजका वैर॥ २॥
भरी सभामें लाज रही, जब बढ़ा द्रौपदी चीर।
दहल उठा दुश्शासनका दिल, विस्मित सारे धीर॥ ३॥
ग्राह-ग्रसित गजराज पुकारा त्राहि-त्राहि घनश्याम।
सब संकट कट गया पलकमें, निर्बलके बल राम॥ ४॥
दुर्वासाका दर्प दलन कर, अंबरीषका त्राण।
माधवने जगको जतलाया भक्ति धर्मका प्राण॥ ५॥
परमेश्वरमें परम प्रेम है परा भक्तिका सार।
भक्त-जनोंपर भीड़ पड़े तब लेते हरि अवतार॥ ६॥
भव्य भक्ति यह प्राप्त उसे, जो निर्मम निरहंकार।
नित निर्मल, निस्पृह, निश्छल है, पावन प्रेमागार॥ ७॥
करती भक्ति मनोरथ पूरण, हरती कठिन कुयोग।
भरती मनमें शान्ति-सुधाको, हरती सब भय-रोग॥ ८॥
सत्वर सिद्धि भोगता साधक, जिसकी भक्ति अनन्य।
योग-क्षेम उसके सध जाते, जीवन होता धन्य॥ ९॥
भक्ति सिखाती—अखिल विश्व है प्रभु-लीलाका धाम।
मनमें राम, नाम मुखमें हो, करते हो शुभ काम॥१०॥
ईश्वरार्पण करके तन-मनसे कीजै सब कर्म।
दीजै छोड़ फलाशा हरिपर, यही भक्तिका मर्म॥११॥
भक्ति-भवानी दूर भगाती जन-मनके संताप।
हृदय-पटलसे धो देती यह जन्म-जन्मके पाप॥१२॥
है श्रद्धा-विश्वास-रूपिणी, भक्ति शक्तिका रूप।
उसके चमत्कारकी गाथा जगमें 'युगल' अनूप॥१३॥

रामायण और भक्ति

(लेखक—श्रीशम्भुशरणजी दीक्षित)

आजके इस भौतिकवादी युगमें भी संसारके समस्त व्यापारोंमें निरन्तर एक गति वर्तमान है, जो मानवके, समाजके, राष्ट्रके एवं विश्वके पारस्परिक सम्बन्धोंमें एक तादात्म्य बनाये हुए है। यह गति है अनुरागकी। रागवृत्तिसे सभी मनोवृत्तियाँ आवृत हैं, उसमें उनका समावेश है। हम जिसे अपना प्रिय मानते हैं, उसमें तो रागकी भावना प्रकटरूपसे होती ही है; पर जिससे हमारा विरोध होता है अथवा जिसके प्रति हम घृणा रखते हैं, उसके प्रति भी हमारे अन्तरमें यह राग ही प्रच्छन्नरूपसे निहित होता है। रागवश जब हम किसीसे कुछ आशा करते हैं या व्यवहार-विशेषकी अपेक्षा करते हैं और जब उसके द्वारा अपनी आशाओंको फलीभूत न होते अथवा उसे विपरीत आचरण करते देखते हैं, तभी तो हमारी विरोधभावना एवं घृणा मूर्तरूप ले लेती है। यही राग, जब अपना लौकिक रूप त्यागकर पारलौकिक हो जाता है, ईश्वरोन्मुख हो जाता है और लग जाता है उस सत्-चित्-आनन्दमय परब्रह्ममें, तब इस रागको 'भक्ति'की संज्ञा प्रदान की जाती है।

१. भेद

सा परानुरक्तिरीश्वरे। (शाण्डिल्य० । २)

इस भक्तिके मुख्य दो स्वरूप हैं—१. सगुण भक्ति, जिसके अर्वाचीन प्रमुख उपासकोंमें संत तुलसीदासजी, सूरदासजी आदि हैं और २. निर्गुण भक्ति, जिसके मुख्य आराधक हैं—संत कबीर, जायसी आदि। मनुष्यकी प्रकृति, कर्म एवं स्वभावानुसार पुनः इस भक्तिके तीन भेद हैं—तामसी, राजसी एवं सात्त्विकी। प्रस्तुत लेखमें जिस 'भक्ति'पर विचार किया जा रहा है, वह है सात्त्विकी भक्ति। इसमें सब प्रकारसे केवल भगवान्‌को ही परम आश्रय माना जाता है एवं समस्त कार्य सर्वतोभावेन भगवत्प्रीत्यर्थ भगवान्‌को ही अर्पित करके किये जाते हैं। इस सात्त्विकी भक्तिके भिन्न-भिन्न आचार्योंने अपने-अपने मतानुसार अनेक प्रभेद किये हैं। कतिपय मनीषियोंने इनके निम्नलिखित नामोंसे छः भेद किये हैं—श्रवण, स्मरण, दास्य, ज्ञानकर्ममिश्रा, प्रेमा, रागानुगा एवं रागात्मिका। भक्तिमार्गके प्रमुख आचार्य महर्षि शाण्डिल्यने इन उपभेदोंकी व्याख्या की है—सम्मान, बहुमान, प्रीति, विरह, इतर-विचिकित्सा, महिमख्याति, तदर्थप्राणस्थान, तदीयता, सर्वतद्भाव और अप्रतिकूलता। भगवान् श्रीहरिके अनन्य परमभक्त महर्षि नारदजीने ग्यारह उपभेदोंको मान्यता दी किंतु इनका ज्ञान या तो जन-जनतक पहुँच नहीं सका या लोग उसे भूल गये। श्रीमद्भागवतपुराणमें इसके नौ भे ही वर्णन किया गया है।

> श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
> अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।

आज जनसाधारणमें भक्तिके प्रचलित भेद भी ये ही

२. भक्तिके प्रकार

इसका प्रमुख कारण कदाचित् कवि शिरोमणि भक्त-चूडामणि ग तुलसीदासजीका रामचरितमानस है, जिसका प्रवेश सर्व गरीब, महलसे झोंपड़ीतक प्रत्येक हिंदूके घरमें है और नि अंध निपट गँवार अनपढ़ ग्रामवासीको भी कण्ठाग्र है तुलसीदासजीने भी रामायणमें नौ भेदोंका ही वर्णन कि

रावणके चौर्य-कर्मके पश्चात् भगवान् श्रीराम लक्ष्म सहित सीताजीकी खोजमें वन-वन भटकते एक दिन भक्तिमती भीलनी शबरीके आश्रमपर पहुँचते हैं। उसे भग की वन्दनाको शब्द नहीं मिलते। वह अपनेको नीच म मतिमन्द, गँवारी एवं अधरूप बतलाती है। किंतु भग का प्रण है सेवकका हित-साधन, उसके अभिमानसे वि एवं दैन्यसे प्रेम। भक्तके अनुरूप शबरीके दैन्यको दे भगवान् श्रीराम प्रसन्न हो गये और बोले—'मैं जाति-पाँ पुरुष-स्त्री, ऊँच-नीच, धर्म-बड़ाई आदि कुछ नहीं मान मेरे निकट तो केवल भक्तिका ही एक मात्र महत्त्व है।' कहकर वे अपनी भक्तिके नौ स्वरूपोंका वर्णन करने लगे

> नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन मा
> प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्र
> गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
> चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान
> मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रका
> छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन ध
> सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि ले
> आठवँ जथा लाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदो
> नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीन

—और अन्तमें बताया कि यदि कोई स्त्री-पुरुष, चर-अचर इनमेंसे एक भी भक्ति धारण करता है तो हे भामिनि! वह मुझे अतिशय प्रिय है।

भक्तिका सही स्वरूप समझनेके लिये 'अतिशय प्रिय' भी समझ लेना आवश्यक है। महात्मा तुलसीदासजीने इनके लक्षण भी रामायणमें गिनाये हैं। भगवान् श्रीराम विभीषणसे कहते हैं—

सुनु लंकेस सकल गुन तोरें। तातें तुम्ह अतिसय प्रिय मोरें॥

भगवान्‌ने कौन-से गुणोंका अभिधान विभीषणमें बताया। वे बतलाते हैं कि चराचरद्रोही होनेपर भी जो व्यक्ति—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥

× × × ×

सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह कें द्विज पद प्रेम॥

इन गुणोंको धारण करनेवाला ही भगवान् श्रीरामका अतिशय प्रेमी हो सकता है। रामायणमें और भी ऐसे भक्त हैं—कपिपति, नील, रीछपति, अंगद, नल, हनुमान्। रामजी लङ्कासे वानरोंको विदा करके पुष्पकविमानद्वारा अयोध्याके लिये प्रस्थान करनेको तैयार हैं; किंतु ये भक्त—

कहि न सकहिं कछु प्रेमबस भरि भरि लोचन बारि।
सन्मुख चितवहिं राम तन नयन निमेष निवारि॥

—मगन हो रहे हैं रामप्रेममें, उनकी वाणी अवरुद्ध हो गयी है—भगवान् श्रीराम, अपने इष्टके वियोगकी भावनासे और अपलक नेत्रोंसे अविरल अश्रुपात हो रहा है। तब भगवान् रामने—

अतिसय प्रीति देखि रघुराई। लीन्हे सकल बिमान चढ़ाई॥

—और अयोध्या पहुँचनेपर गुरु वसिष्ठजीसे मिलनेपर कहा है—

मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहु तें मोहि अधिक पिआरे॥

तो क्या भरतजी अतिशय प्रियकी श्रेणीमें नहीं आते?

जब भगवान्‌की प्राप्ति, उनके अबाध सांनिध्यकी प्राप्तिके हेतु नौमेंसे एक भक्तिके लिये ही उपर्युक्त गुणोंका धारण अनिवार्य है, तब जिन्हें नवो भक्तियाँ सुलभ हों, उनके गुणोंकी क्या गिनती और उन-जैसा भाग्यवान् कौन हो सकता है! रामायणमें भरतजी ही ऐसे हैं, जिनमें नौ प्रकारकी सभी भक्तियोंका समावेश है।

श्रवण

नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥
पूछहिं बैठि राम गुन गाथा। कह हनुमान सुमति अवगाहा॥

कीर्तन

भरत तीसरे पहर कहँ कीन्ह प्रबेसु प्रयाग।
कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग॥

स्मरण

प्रभु सिरईं सोचहु दिन राती। जपहु निरंतर गुन गन पाँती॥
मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही॥

पादसेवन-अर्चन

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति॥

आत्मनिवेदन

अब कृपालु जस आयसु होई। करौं सीस धरि सादर सोई॥

दास्य, सख्य एवं वन्दनके उदाहरणोंसे तो अयोध्याकाण्ड भरा पड़ा है। फिर भी क्या वे 'अतिशय प्रिय' नहीं हो सकते? नहीं! क्योंकि वे तो—'अतिशय प्रिय' से भी कहीं अधिक उच्च एवं श्रेष्ठ हैं। प्रिय पात्र कभी भी अपने इष्टके बराबर नहीं होता। किसीके प्रेमका पात्र होना ही अपनेको उससे छोटा स्वीकार करना है। अतः ऊपरके पदोंमें जिनको 'अतिशय प्रिय' माना है, वे सभी भगवान् श्रीरामसे कहीं छोटे हैं। किंतु भरत! भरत तो भगवान् श्रीरामसे छोटे नहीं, बराबरीकी भी कौन कहे, वे तो उनसे भी श्रेष्ठ हैं। प्रमाण—'भरतहि जानु राम परछाहीं'। किंतु परछाहीं तो व्यक्तिसे श्रेष्ठ नहीं होती? देवगण कहते हैं—

जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को॥

कुछ श्रेष्ठता तो बतायी गयी, पर अब भी भगवान् श्रीरामके समकक्षसे दूर ही हैं। विदेहराज महाराज जनक कहते हैं—

भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं रामु न सकहिं बखानी॥

हाँ, अब तो भरतजी रामजीके बराबर आते-से दिखायी देते हैं। श्रीरामजीका भरतकी महिमा जानना उनकी श्रेष्ठताका द्योतक होनेपर भी उसका वर्णन न कर सकना भरतजीकी महानताका ही परिचायक है। और आगे भी—माता कौसल्याको एवं उनके मुखसे महाराज दशरथको सुनिये—'जानेहु सदा भरत कुल दीपा।' रामको यह पद कभी नहीं मिला। एक समयमें एक ही तो कुलका दीपक होता है। भरत रामसे ऊपर पहुँच गये। जितना-जितना निकटतर सम्बन्धी होता गया उतना-

उपरान्त भरतजीको श्रेष्ठतर बतलाया गया। जो अधिक निकट होता है, वही तो अधिक सही भी जानता है। उससे भूल नहीं होती। भगवान् राम भी तो अपने श्रीमुखसे ही भरतको अपनेसे ऊँचा मान लेते हैं—साधारण कथनद्वारा नहीं, भगवान् श्रीशंकरको साक्षी करके—

कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥

भूमिकी रक्षाका भार तो स्वयं लेकर ही अवतीर्ण हुए थे, किंतु आज उसका श्रेय भरतजीको देना ही पड़ा। यदि कोई तर्क करे कि ये सभी सम्बन्धी थे, सम्भव है भरतजीकी मनोदशाका विचार करके उनके उद्विग्न चित्तकी शान्तिके निमित्त उनकी कुछ अधिक प्रशंसा कर दी हो' तो एक वनवासी उदासी तापसके मुँहसे सुनिये। प्रयागराजमें मुनिश्रेष्ठ भरद्वाजजी कहते हैं—

सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥

सुरगुरु बृहस्पति भी इसकी पुष्टि करते हैं—'भगु जप राम रामु जप जेही।' भरतजी रामसे बढ़ गये, पदसे ही नहीं गये, उस राज्यको त्यागकर—जिसके लिये 'जा पितु देइ सो पवइ टीका', 'करेहु राजु त तुम्हहि न दोषू' आदि वाक्य ऋषियों और महर्षियोंने कहे हैं, एवं श्रीरामके वियोगजनित दुःखकी शान्तिके लिये श्रीरघुवीरकी चरण-रज-प्राप्तिके हेतु अपने शरीरको वनपथमें डालकर तथा उस राहपर गज-रथोंको त्यागकर जिसपर श्रीराम 'पयादेहि पायँ सिधाए' और यह आकाङ्क्षा लेकर कि 'सिर भर जाउँ उचित अस मोरा।' ये हैं नवधा भक्तिके धारण करनेवाले धन्यातिधन्य श्रीभरतलालजी।

जिस भक्तिका इतना प्रभाव है कि उसके नौ भेदोंमेंसे किसी

१. साधन एकको धारणासे भगवत्-प्राप्ति हो जाती है, जीवनका चरम फल परम तत्त्व प्राप्त हो जाता है, उसकी प्राप्तिके कुछ साधन भी बताये गये हैं। सदा ही तो यह सम्भव नहीं। रामायणमें भक्तिप्राप्तिके साधन बड़े सरल ढंगसे महात्मा तुलसीदासजीने भगवान् श्रीरामके मुखारविन्दसे ही कहलाये हैं। लक्ष्मणजीके पूछनेपर संक्षेपमें वे कहते हैं—

भगति के साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥

सरल एवं सहज होनेपर भी साधना बिना विश्वासके नहीं हो सकती; चित्तकी शुद्धि होती है मनके मल दूर करनेसे, मनकी चञ्चलता दूर होती है निष्काम कर्म से, वैराग्यसे; समस्त रोगोंकी उत्पत्ति प्रायः होती है इन्हें ... आस्वादसे, और यह आती है शास्त्रोंमें विहित धर्मके ... नित्य-नियमपूर्वक पालन करनेसे। इसके बिना इन्द्रियाँ ... अपने ऐहिक सुखका मोह नहीं त्याग सकतीं। ऐसे ... भगवत्-प्रेममें निष्ठाको स्थान कहाँ। निष्कपट ... स्थिरता नहीं। यह साधना कहने-सुननेमें सुगम होनेपर ... किसी उग्र तपसे कम नहीं। इसके सम्बन्धमें पुनः ... कहते हैं—

संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥

यह है वह साधन, जिसके द्वारा जिसीको भगवान्की प्राप्त होती है। और जो इन साधनोंको अपनाकर काम, मद, दम्भ आदिसे रहित हो जाता है, भगवान् कहते हैं—'तिन्ह के हृदय कमल महुँ ... निरंतर बस मैं ताके।' इन साधनोंको अपनाकर ... साधकके मन एवं शरीरकी दशा क्या हो जाती है, उसके लक्षण भी बता दिये गये हैं, जिससे उनकी परिधान ... साथ ही जाँच हो सके और कोई अपनेको बोलनेसे स्पष्ट ... कि किसी देखने उसे वास्तवमें अपनाया है अथवा ... यह उनका भाषकम ही लेकर बैठ गया है। मुझे ... से प्रेम है, अपने आनुभविक कर्मोंके प्रति मान है, ... की लीलामें रति भी है, संतोंके प्रति आदरभाव है और ... भी हूँ भगवान्के गुणोंका गाना, किंतु क्या मेरी साधना ... है? क्या भगवान्का गुणानुवाद करते समय मेरा शरीर रोमाञ्चित हो उठता है, कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है और बहने लगती नेत्रोंसे पावनकारी, मनोमलहारी, निर्मल ... अविरल धारा? क्या उस समय हमारा हृदय विगलित होकर ... आ जाता है और तन्मय होकर चारों ओर ... देखता है? क्या हमारे शरीरजनित विकार—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर निःशेष हो गये हैं? यदि नहीं तो ... दम्भ है। जितना पूर्ण है साधनोंका वर्णन और उनकी ... लक्षण। यह है तुलसीके रामचरितमानसमें वर्णित भक्ति।

साधनसम्पन्न होनेपर भी क्या सभी व्यक्तियोंको भक्ति

४. भक्ति कौन प्राप्त हो जाती है? महात्मा तुलसीदासजी ... है या नहीं? ने काकभुशुण्डिके प्रसङ्गमें ... माता पार्वतीद्वारा भगवान् शंकरसे कहलाया है—

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्म ब्रतधारी॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई। बिषय बिमुख बिराग रत होई॥
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई॥
ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ॥
तिन्ह सहस्र महुँ सब सुख खानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी॥
धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी॥
सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया॥

देखना यह है कि ऐसी श्रेष्ठतम भक्ति क्या साधक साधनाके द्वारा स्वयं प्राप्त कर लेता है, अथवा भगवान् श्रीराम अपनी ओरसे उसे भक्ति प्रदान करते हैं? भक्त साधनाके द्वारा, तपस्याके द्वारा अपनेको इस योग्य बनानेका प्रयत्न करता है कि वह भगवान् श्रीरामकी भक्ति पा सके। वह बन सका या नहीं, इसका निर्णय स्वयं भगवान् करते हैं एवं उसकी साधनाके अनुरूप, तदर्थ अर्जित उसके अधिकारके अनुसार, भक्ति प्रदान करते हैं; पर साधारणतः अपनी ओरसे नहीं। साधनपर, भक्तिपर, छोड़ देते हैं, जिसमें भक्तकी परीक्षा स्वतः हो जाती है और यह स्पष्ट हो जाता है कि वह इसका पात्र हुआ या नहीं। और तब, केवल तब, जब वह स्वयं याचना करता है, अपनी भक्तिका वरदान देते हैं।

काकभुशुण्डिजीपर भगवान् श्रीराम प्रसन्न हो गये और—

काकभुसुंडि मागु बर अति प्रसन्न मोहि जानि।
अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुख खानि॥
ग्यान बिबेक बिरति बिग्याना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग नाना॥
आजु देउँ सब संसय नाहीं। मागु जो तोहि भाव मन माहीं॥

—कितनी सरलता, प्रसन्नताके साथ वर देनेको तैयार! वरदानमें वस्तुएँ भी कैसी! एक-से-एक महान्, सभी एक साथ—ऋद्धि, सिद्धि और मोक्ष भी। पर क्या इनमें अपनी भक्तिका भी समावेश किया? [ऊँ……हुँ……] उसका तो संकेत भी नहीं दिया। सरलताके साथ, यही भगवान् श्रीरामके चरित्रकी गूढ़ता है। पर भुशुण्डिजी कच्चे खिलाड़ी न थे। अनेक जन्मोंकी निरन्तर साधनाके बाद तो यह अवसर आया। अतः उनके भटकने, मायासे भ्रमित होनेकी आशङ्का कहाँ थी। वे तत्काल—

सुनि प्रभु बचन अधिक अनुरागेउँ। मन अनुमान करन तब लागेउँ॥
प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥

यह सोचकर भगवान्‌को उनके ही शब्दोंमें बाँधते हुए भुशुण्डिजी कहते हैं—

जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू। मो पर करहु कृपा अरु नेहू॥

तो—

अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥
भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपासिंधु सुखधाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम॥

भगवान्‌ने भुशुण्डिजीकी चतुराई जान ली और उन्हें 'तथास्तु' कहना पड़ा। वे प्रसन्न होकर बोले—

सुनु बायस तैं सहज सयाना। काहे न मागसि अस बरदाना॥
सब सुख खानि भगति तैं मागी। नहिं जग कोउ तोहि सम बड़भागी॥

सुग्रीवसे मित्रता हो गयी। भगवान् श्रीराम उसके शत्रुका नाश करने एवं उसे राज्य और स्त्री दिलानेका वचन देते हैं, किंतु भक्तिका जिक्र यहाँ भी नहीं करते। पर वह भक्त क्या जो भगवान् श्रीरामकी बान न जानता हो, जिसने उनका विरद न सुना हो। भगवान् शंकरजी कहते हैं—

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजनु तजि भाव न आना॥

अतः सुग्रीव भक्ति ही नहीं माँगते वरं घोर शत्रुके प्रति वैर-भावको भूलकर उसे भी परम हितकारी मानते हुए कहते हैं—

बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥
अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥

हनुमान्‌जी जब माता सीताका कुशल-समाचार लेकर लङ्कासे वापस आये, तब उन्होंने भी 'सुखदायिनी दुर्लभ भक्ति' का ही वरदान माँगा था। विभीषणने भी 'सिव मनभावनि निज भगति' ही श्रीरामजीसे माँगी थी।

रामायणमें केवल दो पात्र ही ऐसे मिलते हैं, जिन्हें भगवान्‌ने बिना माँगे अपनी ओरसे ही भक्तिका वरदान प्रदान किया। एक हैं भक्तराज केवट, जिन्हें प्रभुका संकोच देख 'पिय हियकी जाननिहारी' सियने मुदित मनसे मणि-मुँदरी उतारकर उतराई दी, किंतु—

बहुत कीन्ह प्रभु लखन सियँ नहिं कछु केवटु लेइ।
बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ॥

एवं दूसरे हैं—ऋषिवर अगस्त्यमुनिके शिष्य भक्तश्रेष्ठ श्रीसुतीक्ष्ण मुनि। भगवान् श्रीराम उनसे कहते हैं—

परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर मागहु देउँ सो तोही॥

पर ये भक्तराज औरोंसे भिन्न थे। अनुपम थे, परम चतुर भी थे। वरका सारा भार भगवान्‌पर ही छोड़कर बोले—

मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाचा। समुझि न परइ झूठ का साचा॥
तुम्हहि नीक लागै रघुराई। सो मोहि देहु दास सुखदाई॥

भगवान् ऊहापोहमें पड़ गये। सोचने लगे—क्या दूँ? इसने तो अपनी समस्त कामनाएँ मुझको ही अर्पित कर दीं। माँगनेवालेको तो इच्छित वस्तु देकर वरदान पूरा कर दिया जाता है। याचक भी प्रसन्न हो जाता है और दाताको भी संतोष मिलता है। पर यहाँ तो भिन्न अवस्था है। इन्हें कौन-सी वस्तु दूँ, जिससे भक्तराज सुतीक्ष्णको सुख पहुँचे?' सोचते-सोचते अन्तमें इस निर्णयपर पहुँचे कि 'जो कुछ नहीं माँगता, जो परम संतोषी है, उसे ऐसी वस्तु दी जाय, जो सबसे अधिक मूल्यवान् हो, सर्वश्रेष्ठ हो और जो सबको सुलभ न हो तथा जिसके पानेपर कुछ भी पाना शेष न रहे।' ऐसी वस्तु है भक्ति—'अविरल भक्ति'। बस, फिर क्या था, निर्णयपर पहुँचते ही सो दे दी। पर ये भक्त तो असाधारण थे और भगवान् श्रीरामकी उस बानसे परिचित थे, जो उन्होंने स्वयं अपने श्रीमुखसे नारदजीसे कही थी—

.... बालक सुत सम दास अमानी॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥

अतः उन्होंने भक्तिका वरदान स्वीकार कर लिया और बोले—

प्रभु जो दीन्ह सो बरु मैं पावा। अब सो देहु मोहि जो भावा॥
अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम॥

भगवान् भक्तद्वारा ठगे गये। पहले तो भक्तने भगवान्से ही भक्ति प्राप्त की और फिर उन्हें अपने हृदयमें अधिष्ठित कर लिया। यह है भक्तिकी महिमा।

उपर्युक्त दृष्टान्तसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अपनी भक्तिका वरदान भगवान् श्रीराम अपनी ओरसे केवल उन्हीं भक्तोंको देते हैं, जो उनसे अन्य कुछ भी याचना नहीं करते, अपेक्षा नहीं रखते।

भगवत्प्राप्तिके अन्य साधन और उनसे भक्तिकी श्रेष्ठता

भगवत्-प्राप्तिके अन्य साधन भी हैं। ज्ञानके द्वारा, निर्गुण ब्रह्मकी आराधनाद्वारा भी वे अप्राप्य नहीं। किंतु ज्ञान-मार्ग, निर्गुण-पंथ बहुत कठिन है। रूप-विशेषका ज्ञान हुए बिना किसका ध्यान और किसका आराधन? बिना आराधन अथवा लोकाचारसे अभिन्न होते हुए भी अलौकिक पुरुषके सहारेके बिना इस संसारके दुर्गम वनोंमें पग-पगपर पथभ्रष्ट होनेका डर। निरन्तर सावधान रहते हुए भी उसके अनेकों मार्गोंमें किसीमें भी विघ्नोंका भय। ज्ञान और उसके भेद विस्तृत वर्णन करते हुए भुशुण्डिजी गरुड़जीसे कहते हैं कि ज्ञान-मार्गके द्वारा कैवल्यकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। अन्तमें यदि विज्ञानरूपिणी बुद्धि प्राप्त भी हो जाय तो ईश्वरके समझनेके प्रयासमें माया अनेक विघ्न उपस्थित करती है—सुख, सम्पत्ति, ऐश्वर्यका लोभ दिखाती है और अनेक छलनाओंके द्वारा उस ज्ञान-बुद्धिको भ्रमित करनेका प्रयास करती है। यदि कहीं वह असफल होती है तो फिर भोगके लोभी इन्द्रियोंके देवता निरन्तर ऐसे ही अवसरकी ताकमें रहते हैं और बुद्धिको धोखा देकर उस ज्ञानकी समस्त साधनाको नष्ट कर देते हैं। फिर वह संसारी हो जाता है, भगवान्से दूर हट जाता है। इसीसे वे कहते हैं—

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥
× × × ×
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥
अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादरि भगति लुभाने॥

इसके विपरीत भक्तिका मार्ग बड़ा सरल एवं सुगम है। भगवान् श्रीराम स्वयं अयोध्यावासियोंसे कहते हैं—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥

फिर स्वयं ही उसके पानेके सुगम उपाय भी बतला देते हैं—

सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा॥
मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह।
ता कर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥

आगे चलकर भुशुण्डिजी पुनः कहते हैं—

सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद॥
सब कर मत खगनायक एहा। करिअ राम पद पंकज नेहा॥
श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥
श्रुति सिद्धांत इहइ उरगारी। राम भजिअ सब काज बिसारी।

अन्तमें महात्मा तुलसीदासजीने एक बार फिर ज्ञान और भक्तिमें कुछ भी भेद न बताकर दोनोंको भव

प्रेमी भक्त सुतीक्ष्ण मुनिपर कृपा

१२— मुनि मग माझ अचल होइ बैसा । पुलक सरीर पनस फल जैसा ॥
तब रघुनाथ निकट चलि आए । देखि दसा निज जन मन भाए ॥
(रामचरित० १ । ३ । ८)

माता सुमित्राका रामके लिये लोकोत्तर त्याग

११— 'तात, जाहु कपि संग !' रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।

(गीतावली लङ्का० ११)

सेतु' का हरण करनेवाला बताते हुए भी ज्ञानको पुरुष और भक्तिको स्त्रीकी उपमा देकर तथा मायारूपिणी नर्तकीसे ज्ञानरूपी पुरुषका मोहित होना सम्भव बताकर 'भक्ति' की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। स्वयं भगवान् श्रीराम भी लक्ष्मणजीसे कहते हैं—

जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥

इस प्रकार रामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामकी भक्तिकी श्रेष्ठता ही प्रतिपादित की गयी है। किंतु

६. उपसंहार

गम्भीर विचार करनेपर यह श्रेष्ठता या कनिष्ठता वास्तविक नहीं, तात्त्विक नहीं है—भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। तत्त्व तो यही है दोनों ही भगवत्प्राप्तिके पृथक्-पृथक् दो साधन होते हुए भी उनमें गहरा पारस्परिक सम्बन्ध है। ज्ञानके बिना निरी भक्ति भक्ति न रहकर पशुवत् आवेशमात्र रह जाती है। उसमें अपने सदसद्-व्यवहारको विवेकपर कसने एवं अपने इष्टके सम्यक् रूपको समझनेका अवसर नहीं रह जाता। इष्टके सम्यक् ज्ञानके बिना भक्तिमें स्थिरता नहीं आ सकती। इसी प्रकार भक्तिके बिना ज्ञान भी निरा शैतानका ज्ञान होता है। उसमें व्यर्थ ही कुतर्कनाओंका सृजन होता है और बुद्धि (ज्ञान) में सात्त्विकता नहीं आती। आजके युगमें अणुबम, परमाणुबम आदिकी रचना इसी भक्तिशून्य ज्ञानके ही फलस्वरूप है। जहाँ निर्मल ज्ञान होगा, वहाँ भक्ति अवश्य होगी। महर्षि लोमश निर्गुणपंथी थे, ज्ञानमार्गी थे, भगवान्को अज, अद्वैत, अनाम, अनीह, अरूप, निर्विकार सर्वभूतमय एवं अनुभवगम्य मानते थे। इसीका उपदेश उन्होंने काकभुशुण्डिजीको दिया; किंतु सगुणोपासक होनेसे जब भुशुण्डिजीने निर्गुण मतका खण्डन करके सगुणका समर्थन किया, तब मुनिवर अप्रसन्न हो गये। काकशरीर प्राप्त करनेका कठोर शाप दे दिया। किंतु इसपर भी श्रीभुशुण्डिजी महाराज रंचमात्र विचलित न हुए और न उनमें भय अथवा दीनता ही आयी; वरं इसके विपरीत काकरूप हो जब वे मुनिश्रेष्ठको प्रणामकर सहर्ष चल दिये, तब मुनिवरने उनकी इस शालीनताको देखकर स्वयं अत्यन्त दुखी होकर उन्हें बुलाया, राम-मन्त्रका उपदेश दिया और राम-कथाका वर्णन किया। निर्गुण-पंथी, ज्ञानमार्गी होनेसे उनमें भक्तिका अभाव नहीं था। इसी प्रकार जहाँ अविरल भक्ति होगी, वहाँ ज्ञान पीछे नहीं रह सकता। हनुमान्जीने भगवान्से अविरल भक्तिका ही तो वरदान पाया था। तो क्या वे ज्ञानी नहीं? वे ज्ञानी ही नहीं, 'ज्ञानिनामग्रगण्यम्' भी हैं। अतः भक्ति एवं ज्ञान दोनों एक दूसरेसे भिन्न नहीं हैं और अन्तिम एक ध्येयके ही साधन हैं। अन्तर है केवल साधनाका। एकमें अपेक्षित है एकाग्रता, मनन, चिन्तन एवं तदर्थ समयकी प्राप्ति। दूसरेमें कोई ऐसी वस्तु वाञ्छनीय नहीं। भक्तिकी साधना चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते— हर समय हो सकती है। आजके युगमें जब भौतिकवाद बहुत बढ़ गया है एवं जीवन अत्यन्त संघर्षमय हो गया है, मानवको अपनी रोटी-रोजीकी व्यवस्थासे ही फुरसत नहीं, अपने धर्मग्रन्थोंके तथा उनमें प्रतिपादित गम्भीर विषयोंके अनुशीलनकी उसे फुरसत नहीं। आज उनके अध्ययनके लिये उसके पास समयका अभाव है। फलस्वरूप तदनुकूल कर्मों तथा आचारोंको वह भूल चुका है। ज्ञानके द्वारा आत्मचिन्तनकी ओर मानवकी रुचि ले जानेवाले मनीषी भी सुलभ नहीं। तब भक्ति ही, भगवान्का भजन स्मरण ही एक ऐसा सरल साधन है, जो उन्हें अध्यात्मकी राहपर, भगवत्प्रीतिके मार्गपर आगे बढ़ा सकता है। इसमें अध्ययन, मनन, चिन्तन, आनुभविक कर्म आदि किसीका भी बन्धन नहीं। आजकी गतिके अनुसार इस युगमें भक्तिकी यही उपादेयता, श्रेष्ठता है। गोस्वामीजीने कहा है—

श्रुति संमत हरि भक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक।

विषय-चर्चा सुननेवाले मन्दभागी

श्रीकपिलजी कहते हैं—

नूनं दैवेन विहता ये चाच्युतकथासुधाम्। हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः॥

(श्रीमद्भा० ३।३२।१९)

'हाय! विष्ठा-भोजी कूकर-शूकर आदि जीवोंके विष्ठा चाहनेके समान जो मनुष्य भगवत्कथामृतको छोड़कर निन्दित विषय-वार्ताओंको सुनते हैं, वे तो अवश्य ही विधाताके मारे हुए हैं, उनका भाग्य बड़ा ही मन्द है।'

राम भगति मनि उर बस जाके। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके॥
राम भगति चिन्तामनि सुंदर।...................॥

ऐसी भक्तिकी विजय-दुन्दुभि तो सारे विश्वमें गूँज जाती और उस प्राणीको भवसागरसे भगवत्-तरणि स्वयं ही उबार देती है। यथा—

विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते॥

कितना गूढ़तम प्रभाव है उस भक्तिमें! संसारका प्रत्येक प्राणी उससे अपना जीवन क्षणमें ही सरस बना सकता है। भक्तोंको अपने प्रभुकी भक्तिमें ही सारी सुखकी सामग्री दीखती है। धन्य हैं वे भक्त, जो भगवद्भक्तिके बिना अपना जीवन नीरस समझते हैं।

बोलो भक्त एवं भगवान्‌की जय।

कृष्ण-भक्ति

(वेदान्ती स्वामी श्रीरंगीलीशरणदेवाचार्य साहित्य-वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ, मीमांसाशास्त्री)

धन्य धन्य मूर्धन्य नर, कृष्ण चरन दृढ़ राग।
ऋद्धि सिद्धि सम्पत्ति सुख भुक्ति मुक्ति कर त्याग॥ १॥
चित्त वित्त चंचल-चपल, जाने जीव अजान।
कृष्ण चरन में लगतहीं, पावै पद निर्वान॥ २॥
साधक साधन ज्ञान सब भज प्रभु पद सब सार।
कृष्ण-शरणसे हो तुरत मायासे निस्तार॥ ३॥
नित्य धाम, वृंदा विपिन, धन्य धाम मूर्धन्य।
राधा कृष्ण स्वरूप सुख जानैं रसिक अनन्य॥ ४॥
सुख विलास वृंदा विपिन गुरु सेवा संजोग।
कृपा कृपालय कृष्ण की पावैं विरले लोग॥ ५॥
मनमोहन घनस्याम को नेक न लीनो नाम।
चाम दाम धन धाम में भूप भए पदनाम॥ ६॥
मन मलीन शंकित सदा सुर नर मुनि जो होय।
महामोह महिमा अहो वस्तु स्वरूप न जोय॥ ७॥
श्रद्धा अरु विस्वास बिनु भक्ति भाव नहिं होय।
नेत्र विकल जिमि जीव कौं वस्तु न दीखै कोय॥ ८॥
यह संसार असार रस बारंबार विचार।
दीनबंधु श्रीकृष्ण हैं सुधासिंधु सुख सार॥ ९॥
सन्मुख रुख में सुख सदा दुःख बहिर्मुख होय।
कृष्ण विमुख या जीव कौं नहिं कदापि सुख होय॥ १०॥
कुटिल काम क्रोधादिकी कटुता कठिन कठोर।
करुणा कर श्रीकृष्ण के कट गए कर घोर॥ ११॥
नर पामर मरते फिरैं अटिक काल के जाल।
ज्ञान मान तब पावहीं होय कृपालु कृपाल॥ १२॥
तत्सुखमें संतत सुखी सारथ सत्य सुनीति।
प्रियपद प्रीति प्रतीति ही यही प्रेम की रीति॥ १३॥

श्रीरामचरितमानसमें जड और चेतनकी भक्ति

(लेखक—श्रीऋषिकेशजी त्रिवेदी)

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि ।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि ॥

प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजीने 'सीता-राममय' जानकर संसारके समस्त जड तथा चेतन जीवोंके चरण-कमलों-की दोनों हाथ जोड़कर वन्दना की है तथा श्रीरामचरित-मानसमें जहाँ चेतनकी भक्ति प्रदर्शित की है, वहीं जडोंकी भक्तिपर भी उत्तम प्रकाश डाला है । संसारके किसी भी कविने जडोंके प्रेमका उतना स्पष्ट उल्लेख नहीं किया, जितना कविता-कानन-केसरी श्रीतुलसीदासने अपने श्रीरामचरितमानसमें किया है । उन्होंने जड तथा चेतनमें भक्तिका कारण सत्सङ्ग लिखा है, जैसा कि श्रीरामजी श्रीलक्ष्मणजीसे उपदेश करते हुए कहते हैं—

भगति तात अनुपम सुखमूला । मिलइ जो संत होइँ अनुकूला ॥

इसी बातपर अधिक बल देते हुए गोस्वामीजीने बालकाण्डके प्रारम्भमें कहा है—

जलचर थलचर नभचर नाना । जे जड़ चेतन जीव जहाना ॥
मति कीरति गति भूति भलाई । जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई ॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ । लोकहुँ बेद न आन उपाऊ ॥
बिनु सतसंग बिबेक न होई । राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ॥
(१ । २-४)

'जलमें रहनेवाले, जमीनपर चलनेवाले और आकाशमें विचरनेवाले नाना प्रकारके जड-चेतन जितने जीव इस जगत्‌में हैं, उनमेंसे जिसने जिस समय जहाँ कहीं भी जिस किसी यत्नसे बुद्धि, कीर्ति, सद्गति, विभूति (ऐश्वर्य) और भलाई पायी है, सो सब सत्संगका ही प्रभाव समझना चाहिये । वेदोंमें और लोकमें इनकी प्राप्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है । सत्सङ्गके बिना विवेक नहीं होता और श्रीरामजीकी कृपाके बिना वह सत्सङ्ग सहजमें मिलता नहीं ।'

अब प्रश्न उठता है कि जलमें रहनेवाले किन जीव-धारियोंने अथवा किन जडने उत्तम गति प्राप्त की । इसका उत्तर यह है कि जिस समय श्रीरघुवेन्द्र-सरकार लङ्कापुरीमें प्रवेश करनेके लिये समुद्रमें पुल बाँधकर सारी सेनासहित लङ्कापुरीको जा रहे थे, उस समय समुद्रके जितने जीवधारी थे, वे प्रभुकी अलौकिक शोभाको देखनेके लिये सेतुके किनारे-

पर जम गये । इसका वर्णन मानसकारने यों ...
किया है—

मकर नक्र नाना झष ब्याला । सत जोजन तन परम बि...
अइसेउ एक तिन्हहि जे खाहीं । एकन्ह कें डर ते...
प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे । मन हरषित सब भ...
तिन्ह की ओट न देखिअ बारी । मगन भए हरि रू...

सारे जलके जीव प्रभुके दर्शन करके कृतार्थ ...
यह केवल प्रभुकी अहैतुकी कृपाका प्रभाव था, जि...
में रहनेवाले जीवोंको भी अपना लिया ।

अब जलमें रहनेवाला जड कौन है, जिसने भक्ति प्रदर्शित की हो ? वह है मैनाक पर्वत, जो ल...
बैठा था । समुद्रके कहनेसे श्रीरामचन्द्रजीके दि...
हनुमंतलालजीको विश्राम देनेके लिये उसने अपने...
कर दिया और अपनेको धन्य माना ।

जलनिधि रघुपति दूत बिचारी । तैं मैनाक होहि ...

हनूमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रना...
राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्रा...

हनुमान्‌जीका स्पर्श प्राप्त होना ही मैनाकका परम ...
होना था, क्योंकि—

तब हरी दीन दयालु राघव साधु संगति पा...
जेहि दरस परस समागमादिक पाप रासि नसा...
(...

पृथ्वीपर रहनेवाले चेतन-संघमें आनेवाले ...
तो भक्तिके प्रभावको भलीभाँति जानते हैं, उनके ...
विस्तारसे कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । उनके ...
केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा—

करि प्रेम निरंतर नेम लिएँ । पद पंकज सेवत सु...
सम मानि निरादर आदरही । सब संत सुखी बिचर...
(...

पृथ्वीतलके जड-संघमें सम्बोधित होनेवाले ...
पर्वतोंकी भक्तिका वर्णन रामायणमें बड़ी उत्तम...
गया है । यथा—

कामद भे गिरि राम प्रसादा । अवलोकत अपहरत ...
अथवा—

सब तरु फरे राम हित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी॥

भाव रामके सेवार्थ ऋतु और कुऋतुका विचार त्यागकर वृक्ष फलोंसे लद गये। वे जीवधारियोंकी तरह अपनी सेवाएँ देने लगे। यह भक्ति किस जीवधारीसे कम है। मेरे विचारसे तो यह श्रीसीतारामजीकी ही कृपा थी, जिसके कारण वे गिरि और वृक्ष अपनी सेवाएँ देने लगे। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

> बिनु ही ऋतु तरुवर फरत, सिला द्रवति जल जोर।
> राम लखन सिय करि कृपा, जब चितवत जेहि ओर॥
>
> (दोहावली १७१)

आकाशमें विचरनेवालोंमें गरुड़, काकभुशुण्डि तथा जटायु आदिकी भक्तिका वर्णन श्रीरामचरितमानसमें आता है। काकभुशुण्डि भगवान् श्रीरामके परम भक्त थे। उनकी भक्ति 'बालक रूप राम कर ध्याना' थी। इसी कारण भगवान्की बाल-लीलाओंको देखनेके लिये वे भगवान् श्रीरामके जन्मसे पाँच वर्षतक अयोध्यामें ही निवास करते थे। इसके विषयमें स्वयं भुशुण्डिजीने कहा है—

> लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं तहँ तहँ संग उड़ाउँ।
> जूठनि परइ अजिर महँ सो उठाइ करि खाउँ॥

वे काकभुशुण्डिजी भगवान्की कथाके परम प्रेमी थे, नित्य भगवान्की कथा कहते थे—

राम चरित बिचित्र बिधि नाना। प्रेम सहित कर सादर गाना॥

इसी कथाका गान सुनकर श्रीशिवजी भी मराल पक्षी बनकर कथा सुनने गये थे। इसकी चर्चा करते हुए शिवजी कहते हैं—

> तब कछु काल मराल तनु धरि तहँ कीन्ह निवास।
> सादर सुनि रघुपति गुन पुनि आयउँ कैलास॥

इसी रामकथाके द्वारा गरुड़का, जो परम ज्ञानी थे, भुशुण्डिजीने मोह दूर किया।

जटायुका सीताजीकी रक्षाके लिये रावणके साथ जो युद्ध हुआ, उसमें जटायुने अद्भुत पराक्रम दिखलाया और रावणको व्याकुल कर दिया। परंतु शस्त्रहीन जटायु कहाँतक लड़ता? रावणने तलवारसे उसके पंख काट डाले। अब जटायु पराजित होकर भूमिपर गिर पड़ा। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जब लक्ष्मणके सहित सीताजीकी खोज करने निकले, उस समय उन्होंने—

आगें परा गीधपति देखा। सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा॥

भगवान्को देखकर गीधने अपनेको परम धन्य माना और भगवान्को सीताजीका सब समाचार बतलाकर भगवान्के सम्मुख ही वह परम धामको चला गया। भगवान्ने उसका संस्कार स्वयं अपने हाथोंसे किया—

गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी॥
सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥

जिस प्रभुकी प्रीति आकाशमें विचरनेवाले पक्षियोंपर ऐसी थी, उस प्रभुकी कृपालुताका वर्णन कौन कर सकता है।

अब प्रश्न उठता है कि वह जड़ कौन है, जो आकाशमें ही रहता है और भगवान्की भक्तिमें संलग्न है। वह 'बादल' या 'जलद' है, जो संसारको जीवन-दान देता है, चातककी प्यास शान्त करता है तथा जिसकी गर्जना सुनकर कृषक, मोर, दादुर प्रसन्न हो जाते हैं। ये ही जलद जब कभी भरतसमान-ऋषिसे भक्तको पा जाते हैं, तब धूपसे उनकी रक्षा करने लगते हैं, जैसा कि महाकवि तुलसीदासने रामायणमें कहा है—

> किएँ जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात।
> तस मगु भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात॥

'हरये नमः' कहते ही पापोंसे मुक्ति

सूतजी कहते हैं—

पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो गृणन्। हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात्॥

(श्रीमद्भा० १२ । १२ । ४६)

'जो मनुष्य गिरते-पड़ते, फिसलते, दुःख भोगते अथवा छींकते समय विवशतासे भी ऊँचे स्वरसे बोल उठता है—'हरये नमः', वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

कलियुगका महान् साधन—भगवन्नाम

(लेखक—महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ)

विश्वप्रविश्वस्य विधानबीजं धर्मं वरेण्यं विधिविष्णुशंभोः ।
वसुन्धराधारिविमानचक्रिणापुरुसरूपं प्रणवं विवन्दे ॥
नमस्तुभ्यं भगवते विशुद्धज्ञानमूर्तये ।
आत्मारामाय रामाय सीतारामाय वेधसे ॥

बालक-वृद्ध, युवक-युवती, ब्राह्मण-चाण्डाल, पापी-पुण्यवान्, पण्डित-मूर्ख प्रत्येकसे यदि स्वतन्त्ररूपसे पृथक्-पृथक् पूछा जाय कि 'आप क्या चाहते हैं ?' तो सभी एक ही उत्तर देंगे । पण्डित जो बोलेगा, मूर्ख भी वही कहेगा । पापी जो उत्तर देगा, पुण्यवान् भी वही उत्तर देगा । अखिल जीव-समुदाय क्या चाहता है ? किसके पीछे कल्प-कल्पान्तर, युग-युगान्तर, जन्म-जन्मान्तर उन्मत्तकी भाँति भटक रहा है ? वह परम वस्तु क्या है, जिसके लिये सभी आकुल हैं ? आनन्द ! आनन्द क्यों चाहिये ?

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।
(तैत्ति० उप० ३ । ६ । १)

आनन्दसे ही ये भूत उत्पन्न होते हैं, आनन्दमें जीते हैं, अन्तमें प्रयाण करके आनन्दमें ही लीन हो जाते हैं । जबतक वह परमानन्द नहीं प्राप्त होता, तबतक आवागमनकी निवृत्ति नहीं होती । जन्मसे, जन्म-जन्मसे सभी लोग उस खोये हुए आनन्दकी खोज कर रहे हैं । सब इसी टोहमें हैं कि वह आनन्द किस प्रकार मिल सकता है । जिस दारुण समयमें हमने जन्म ग्रहण किया है, उसमें आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसका उपाय क्या है ?

एक बार कुछ मुनियोंके मनमें यह प्रश्न उपस्थित हुआ—'किस कालमें थोड़ा भी धर्म अधिक फल प्रदान करता है ?' वे लोग इस बातकी स्वयं मीमांसा न कर सकनेके कारण भगवान् वेदव्यासके आश्रममें जा उपस्थित हुए । उस समय व्यासजी स्नान कर रहे थे । मुनिलोग उनकी प्रतीक्षा करने लगे । व्यासजीने 'कलि धन्य है !' कहकर डुबकी लगायी, 'धन्य शूद्र !' कहकर दूसरी डुबकी लगायी, पश्चात् 'धन्या नारी !' कहकर तीसरी डुबकी लगायी और जलसे निकलकर मुनियोंके पास आये । मुनियोंने उनका अभिवादन किया । व्यासजीकी अनुमतिके अनुसार सबने आसन ग्रहण किया । तब आसनपर बैठे व्यासजीने उनसे पूछा—'कहिये, आप लोगोंका आगमन किस प्रयोजनसे हुआ ?' तब उन्होंने कहा, 'पहले आप यह बतलाइये कि 'कलि धन्य !' 'धन्य शूद्र !' 'धन्या नारी' कहकर आपने डुबकी क्यों लगायी ?' इसका उत्तर देते हुए व्यासजी बोले—

यत् कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत् ।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत् कलौ ॥
(विष्णुपुराण ६ । २ । १

'सत्ययुगमें दस वर्षतक यज्ञ, दान और तप करनेसे जो फल होता है, त्रेतामें वही एक वर्ष करनेसे प्राप्त होता है तथा द्वापरमें एक मास यज्ञ-दान और तप करनेसे होता है, वही फल कलियुगमें एक अहोरात्रमें प्राप्त हो जाता है।'

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥
(विष्णुपुराण ६ । २ । १

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥
(श्रीमद्भा० १२ । ३ । ५

'सत्ययुगमें ध्यानके द्वारा, त्रेतायुगमें यज्ञके द्वारा, द्वापरमें पूजार्चनाके द्वारा जो फल प्राप्त होता है, कलियुगमें केवल हरिकीर्तनके द्वारा प्राप्त होता है ।' वह फल क्या है ? अभीप्सित परमानन्द है । उस परमानन्दमय श्रीभगवान्‌को प्राप्त करनेका उपाय कलियुगमें केवल नाम-संकीर्तन है ।

मुनिलोग बोले—'आपने 'धन्य शूद्र !' क्यों कहा ?' व्यासजीने उत्तर दिया—'ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यका वैदिक कर्मोंमें अधिकार है । ये लोग कलियुगमें वैदिक कर्म ठीक-ठीक अनुष्ठान करनेमें समर्थ न हुए तो प्रत्यवायके भागी होंगे । परंतु शूद्रके लिये किसी वेद-विहित कर्मका अधिकार न होनेके कारण, वह केवल उपर्युक्त तीन वर्णोंकी सेवा करके उत्तम गतिको पा लेगा । इसी कारण मैंने 'धन्य शूद्र' कहा'

मुनियोंने फिर पूछा—'आपने 'धन्या नारी !' क्यों कहा ?' व्यासजीने उत्तर दिया कि 'द्विज गण वेद-विहित कर्मोंका कायक्लेशपूर्वक अनुष्ठान करके जो फल प्राप्त करते हैं, नारी पतिकी सेवाके द्वारा सहज ही प्राप्त करनेमें समर्थ होती है ।'

मनके भीतर प्रश्न उठा—नारीके लिये यज्ञ, दान, तप नहीं है । नारी केवल पतिसेवा करके धन्य होती है । सतीकी शास्त्रकारोंने सदा [illegible] —सतियोंके पदरेणुकी धूलिसे पृथ्वी तत्काल पवित्र हो जाती है । पातिव्रत—पति-परायणताका जो भाव देखने, [illegible]

व्यक्तियोंमें नहीं पाया जाता । अध्यात्म-राज्यके मुकुटमणि वेद-प्रतिष्ठित भारतका वैशिष्ट्य है—पति-नारायण-व्रत, सतीत्व अथवा पतिव्रत्य । इसी सतीत्वके बलसे सावित्री मृत्युके उस पारसे मृत स्वामीको वापस ले आयी थी । पतिव्रता शाण्डिलीके पतिको माण्डव्य मुनिका यह शाप होनेपर कि 'सूर्योदय होते ही तुम्हारा देहान्त हो जायगा' शाण्डिलीने कह दिया कि 'यदि ऐसी बात है तो अब सूर्योदय होगा ही नहीं ।' पतिव्रताकी बातका उल्लङ्घन करके सूर्य उदित न हो सके । नारी पति-भक्तिके बलसे असाध्यको भी साध्य कर दिखाती है । उस महाशक्ति जातिकी वह शक्ति आज भी अक्षुण्ण है । तो गया क्या है ? गया है पति-नारायण-व्रत । यदि फिर भारतमें यह पति-नारायण-व्रत लौट आये तो महाशक्ति जातिकी समस्त शक्ति उद्बुद्ध हो उठेगी । सती नारीमें जन्म-जन्मान्तरकी स्मृति अविलुप्त रहती है । वह असम्भवको सम्भव कर दिखानेमें समर्थ होती है ।

पश्चात् व्यासजीने मुनियोंसे पूछा—'आपलोग यहाँ किस उद्देश्यसे आये हैं ?' उन्होंने उत्तर दिया—'हम जिस उद्देश्यसे यहाँ आये थे, आपने प्रसङ्गवश वही बतला दिया ।' इतना कहकर मुनिलोग अपने-अपने स्थानको चले गये ।

कलियुगका साधन है नाम-संकीर्तन । केवल पुराणोंमें ही यह बात कही गयी हो, ऐसी बात नहीं है । कलिसंतरणो-पनिषद्में भी नामजपका उल्लेख मिलता है ।

द्वापरके अन्तमें एक दिन नारद मुनि ब्रह्माजीके पास गये और बोले—'पृथ्वीका पर्यटन करते हुए किस प्रकार कलिसे उत्तीर्ण हो सकूँगा ?' इसका उत्तर देते हुए ब्रह्माजी बोले—'केवल भगवान् आदिपुरुष नारायणका नामोच्चारण करके संसारसे उत्तीर्ण हो जाओगे ।' नारदजीने पूछा—'वह नाम क्या है ?' प्रजापति बोले—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
इति षोडशकं नाम्नां कलिकल्मषनाशनम् ।
नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु दृश्यते ॥
　　　　　　　　　　　　(कलिसं० उप०)

'ये सोलह नाम कलिके पापोंका नाश करनेवाले हैं, इनकी अपेक्षा श्रेष्ठ उपाय सम्पूर्ण वेदोंमें कहीं नहीं दीखता ।'

मेघके हट जानेके बाद जैसे रवि-रश्मिका प्रकाश होता है, उसी प्रकार सोलह नामोंके द्वारा सोलह कलाओंके* हट जानेपर 'प्रकाशते परं ब्रह्म'—परब्रह्मका प्रकाश होता है ।

नारदजीने पूछा, 'कोऽस्य विधिरिति ?'—इसकी विधि क्या है ? ब्रह्माजी बोले, 'नास्य विधिरिति'—इसकी कोई विधि नहीं है ।

सर्वदा शुचिरशुचिर्वा पठन् ब्राह्मणः सलोकतां समीपतां सरूपतां सायुज्यतामेति । यदास्य षोडशीकस्य सार्द्ध-त्रिकोटीर्जपति तदा ब्रह्महत्यां तरति । तरति वीरहत्याम् । स्वर्णस्तेयात् पूतो भवति । पितृदेवमनुष्याणामपकारात् पूतो भवति । सर्वधर्मपरित्यागपापात् सद्यः शुचितामाप्नुयात् । सद्यो मुच्यते सद्यो मुच्यते इत्युपनिषत् ।　　(कलिसं० उप०)

'सर्वदा शुचि-अशुचि—किसी भी अवस्थामें उच्चारण करनेसे ब्राह्मण सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्यको प्राप्त होता है । इसका साढ़े तीन करोड़ जप करनेसे मनुष्य ब्रह्महत्याके पापसे उत्तीर्ण हो जाता है । वीरहत्यासे मुक्ति पा जाता है । स्वर्णकी चोरीके पापसे पवित्र हो जाता है । पितर-देव-मनुष्योंके अपकारसे पवित्र हो जाता है । सर्वधर्मोंके परित्यागके पापसे तत्काल शुचिता प्राप्त करता है । सद्यः मुक्त हो जाता है । सद्यः मुक्त हो जाता है ।'

कलि-संतरणोपनिषद्में वेद-विहित कर्मोंसे वञ्चित कलिके ब्राह्मणोंके लिये भगवान् हिरण्यगर्भने इस नाम-मन्त्रका उप-देश नारदजीको दिया ।

उपनिषदुक्त धर्ममें द्विजातिमात्रका अधिकार होते हुए भी भगवान् प्रजापतिने इसमें स्पष्टरूपसे कहा है कि यह मन्त्र केवल ब्राह्मणके लिये है । यह बात 'ब्राह्मण' शब्दके प्रयोगके द्वारा स्पष्ट हो जाती है । यह मन्त्र सभी वर्णोंके द्वारा गाये जाने और जप किये जाने योग्य है, यह कहनेसे 'ब्राह्मण' पदकी कोई सार्थकता नहीं रह जाती ।

आर्योंके समस्त नाम वेदमूलक हैं, राम-कृष्ण आदि नाम भी वेदमें उपदिष्ट हुए हैं, यदि ऐसा कहें तो ठीक न होगा । महाभारत, रामायण, तन्त्र, अष्टादश महापुराण आदिमें अविकलरूपसे बहुत-से उपनिषद्-मन्त्र कथित हुए हैं; परंतु उनका पुराणादिमें कथन होनेके कारण स्मृतियोंमें परिगणित होकर वे शूद्रोंके भी स्मरणयोग्य हो जाते हैं । परंतु—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

—यह मन्त्र ठीक इसी प्रकारसे किसी तन्त्र या पुराण-ग्रन्थमें उक्त न होनेके कारण इस मन्त्रका एकमात्र अ[illegible]

* षोडश कलाएँ—प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तपस्, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम ।

र 'कृष्ण' है । तेषां दुर्लभानपि पुरुषार्थान् आकर्षति प्रापयति इति वा कृष्णः—उनके अति दुर्लभ पुरुषार्थोंका प्रापक होनेके कारण वह 'कृष्ण' कहलाता है। कर्षति आत्मनि सर्वलोकान् इति कृष्णः, प्रलये इति शेषः—प्रलयकालमें सारे लोकोंको जो आत्मामें आकर्षण करता है, वह 'कृष्ण' है। कर्षति अरीन् इति वा कृष्णः—जो शत्रुओंका कर्षण (संहार) करता है, वह 'कृष्ण' है। मनुष्योंका पाप-कर्षण करनेके कारण भी यह 'कृष्ण' कहलाता है।

कृषिस्तु परमानन्दे णश्च तद्दास्यकर्मणि ।
तयोर्दाता हि यो देवस्तेन कृष्णः प्रकीर्तितः ॥

'कृषि' शब्दका अर्थ है परमानन्द, 'ण'का अर्थ है उनका दास्य। जो इन दोनोंका दाता है, वह 'कृष्ण' है।"

इस प्रकार 'कृष्ण' शब्दके द्वारा शाक्त, शैव, सौर, गाणपत्य आदि सभी अपने-अपने देवताको समझ सकते हैं।

'रम्' धातु क्रीडार्थक है, उससे 'राम' शब्द सिद्ध होता है। रमन्ते योगिनः अत्र इति रामः—सब लोग इनमें रमण करते हैं, अतएव इनका नाम राम है। रमयति लोकान् इति वा रामः—सब लोगोंको आनन्द प्रदान करते हैं, अतएव इनका नाम 'राम' है। रमयति मोदयति सर्वान् इति रामः—ये सबको आनन्दित करते रहते हैं, इसलिये ये 'राम' कहलाते हैं। समस्त भूतोंको जन्म, स्थिति और नाशके द्वारा क्रीडा कराते हैं, इसलिये ये 'राम' हैं। इस प्रकार 'राम' शब्दके द्वारा भी शाक्त शक्तिको, शैव शिवको, सौर सूर्यको, गाणपत्य गणेशको समझ सकते हैं। पञ्चोपासकोंके अपने-अपने इष्टदेवताका नाम राम है। इसीलिये यह महामन्त्र पञ्चोपासकोंके लिये ग्रहण करने योग्य, जपने योग्य है।

इस महामन्त्रके प्रथम प्रचारक श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु हैं। उन्होंने इसका प्रचार सभी वर्णोंके लोगोंके लिये किया है।

पूज्यवर श्रीगुरुदेव श्री १०८ श्रीमद्‌राधारमणदेव गोस्वामी भक्तोंसे अनुमोदन प्राप्त करके इसके प्रचारमें प्रवृत्त हुए थे। महामन्त्रकी बात तो अलग रहे, श्रीभगवन्नामकी महिमा श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

श्रद्धया हेलया नाम रटन्ति मम जन्तवः ।
तेषां नाम सदा पार्थ वर्तते हृदये मम ॥

हे अर्जुन ! श्रद्धासे अथवा अवज्ञासे भी जो लोग मेरा नाम रटते हैं, उनका नाम सदा मेरे हृदयमें बना रहता है।'

हेलासे अर्थात् अभक्तिपूर्वक नाम लेनेपर कैसे कार्य हो सकता है ? इसका उत्तर देते हुए महाजन लोग कहते हैं कि वस्तु-शक्ति कभी श्रद्धा-अश्रद्धाकी अपेक्षा नहीं करती। नाइट्रिक एसिड् अश्रद्धापूर्वक भी शरीरपर गिरनेसे शरीरको जला देता है, घृणापूर्वक आगमें हाथ डालनेसे भी हाथ जल जाता है। अश्रद्धापूर्वक विष खानेसे भी मृत्यु अनिवार्य है, तब श्रीभगवान्का नाम भी किसी प्रकारसे ग्रहण करनेपर मनुष्य कृतार्थ होगा ही। जितने भी नाम उच्चारण करोगे या श्रवण करोगे, वे सारे नाम रक्तमें, मांसमें, अस्थिमें, मेदमें, मज्जामें मिल जायँगे और शरीर नाममय हो जायगा।

एक दिन श्रीवृन्दावनधाममें यमुनामें श्रीप्रभुपाद विजयकृष्ण गोस्वामी स्नान करनेके लिये उतरे। पैरमें कुछ लगा। देखते हैं कि एक मनुष्यका हाथ है। उसपर लिखा है—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

जिस महापुरुषकी वह हड्डी थी, उसने इतना नाम लिया था कि हड्डीमें वह लिख गया था।

महाराष्ट्र देशमें चोखामेळा नामक एक महार (हरिजन) निरन्तर 'विट्ठल, विट्ठल' जप किया करते थे। श्रीभगवान् उनके आकुल आह्वानसे स्थिर न रह सके। उन्होंने आकर भक्तको दर्शन दिया तथा उनके कार्यमें सहायता करने लगे। वह राज-मिस्त्रीका काम जानता था। एक दिन चार-पाँच राज-मिस्त्रियोंके साथ वह एक ऊँची दीवार तैयार कर रहा था। वह दीवार दैवयोगसे गिर पड़ी। दीवारसे दबकर चोखामेळा और दूसरे राजमिस्त्री मर गये। उन दिनों पंढरपुरमें प्रख्यात भक्त नामदेवजी रहते थे। वे चोखामेळाके दीवारसे दबकर मरनेकी बात सुनकर वहाँ आ पहुँचे और जैसे ही वहाँकी ईंटें हटानी शुरू कीं तो देखते क्या हैं कि राजमिस्त्री-लोगोंका मांस सड़ गया है, केवल कङ्काल बचे हुए हैं। कौन-सा कङ्काल चोखामेळाका है—यह निश्चय न कर सकनेके कारण वे एक-एक कङ्कालके पास कान लगाकर सुनने लगे। एक कङ्कालसे सुस्पष्ट 'विट्ठल-विट्ठल' नाम सुनायी पड़ा। वह कङ्काल चोखामेळाका है, यह निश्चय करके उन्होंने उसे वहीं समाधि दे दी। नामने कङ्कालतकपर अधिकार कर लिया था। कङ्काल भी 'विट्ठल' नामका उच्चारण कर रहा था। कौन जानता है कि उपासकके 'कृष्ण' नामका उच्चारण करते थे, कौन महाराष्ट्रवासी इस बातको नहीं जानता।

नाम-कीर्तन कलियुगका एकमात्र साधन है, यह सभी शास्त्र एक स्वरसे घोषणा कर रहे हैं—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥
(बृहन्नार० पु० १ । ४१ । १५)

'हरिका नाम, हरिका नाम, केवल हरिका नाम—कलियुगमें हरिनामके सिवा अन्य कोई गति नहीं है, नहीं है, नहीं है ।'

केवल नाम-संकीर्तनके द्वारा मनुष्य किस प्रकार कृतार्थ हो सकता है, अब इसपर विचार करें ।

शब्दसे जगत्की सृष्टि होती है, यह वेदने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है । श्रुतिमें शब्दको 'प्राण-स्पन्दन' नाम दिया गया है । सब कुछ शब्दसे उत्पन्न है । वही शब्द-ब्रह्म मानव-शरीरके अन्तर्गत मूलाधारमें परा, नाभिमें पश्यन्ती, हृदयमें मध्यमा और मुखमें वैखरीरूपसे क्रीडा करता है । संसारकी रचनाका मूल सूत्र है—बहु स्यां प्रजायेयेति । 'मैं बहुत बनूँगा, प्रजाके रूपमें पैदा होऊँगा ।' बहिर्मुखी गति होनेपर वैखरी वाक् संसारकी रचना करती है । जन्म-जन्मान्तरोंमें भ्रमण करता हुआ जीव जब बहिर्मुखताकी क्लान्तिसे व्याकुल होकर केन्द्रकी ओर लौटना चाहता है, तब उसको सन्त वाक्का अवलम्बन करके ही केन्द्रमें लौट आनेका निर्देश करते हैं । वैखरी वाक्के द्वारा नाम-संकीर्तन करते-करते जब जिह्वा और कण्ठ कृतार्थ हो जाते हैं, तब वाक् मध्यमामें अर्थात् हृदयमें उपस्थित होती है । उस समय शरीरमें कम्प, रोमाञ्च तथा देहावेश होता है, अर्थात् शरीर मानो नशा प्रतीत होता है; शरीर दाहिने-बायें, आगे-पीछे कम्पायमान होता है; फिर मेरुदण्डके भीतर सन्-सन् करता है, तथा ऐसे ही और भी बहुत-से लक्षण प्रकट होते हैं; क्रमशः ज्योति और नाद आकर उपस्थित होते हैं । अलौकिक शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धका आविर्भाव होनेपर लौकिक रूप-रस आदिके प्रति उपेक्षा हो जाती है । भीतर लाल, नीले, पीले, श्वेत आदि बहुरंगमय आलोकके प्रकाशसे साधक आनन्दसागरमें डूब जाता है । कोटि-कोटि प्रकारकी ज्योति है तथा लाखों-लाखों प्रकारके नाद हैं । इन सबका निर्णय करनेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं है । मेघ-गर्जन, समुद्र-कल्लोल-गर्जन, भ्रमर-ध्वनि, नूपुर-गुञ्जन, वेणु-वीणा-तन्त्री-नाद तथा मृदङ्ग-करताल आदिके अनेकों नाद हैं, जिनकी गणना नहीं हो सकती । 'घर्घर' नाद, 'गुड़गुड़' नाद, 'ओऽम्' नाद, 'ॐ नाद' साधक अनुभव करता है । जब अविराम 'ओऽम्' नाद चलने लगता है, तब उस नादको रोकनेकी सामर्थ्य [illegible], अन्ततोगत्वा वह 'ॐ' नादमें डूब जाता है ।

जब नाद और ज्योतिका आविर्भाव होता है, तब साधकमें भगवत्-दर्शनकी तीव्र आकाङ्क्षा पैदा होती है और [illegible] सर्वत्यागी हो जाता है । अनन्यभावसे भक्तके हृदयमें [illegible] का चिन्तन होते रहनेपर फिर भगवान्‌से रहा नहीं जाता । वे भक्तको उसके वाञ्छित रूपमें दर्शन देते हैं, [illegible] हृदय-अङ्गमें मनका लय हो जाता है, तब वह [illegible] जाता है । जबतक जीवित रहता है, मृत्युपर्यन्त ॐकार-क्रीडा करता रहता है । वह [illegible] लेकर आनन्दसे प्रारब्ध-क्षय करके परमानन्दधाममें [illegible] होता है । वह जल-स्थल-आकाश, मनुष्य-पशु-पक्षी, पतङ्ग—जो कुछ देखता है, सबमें ही उसे भगवान्‌की झाँकी होती है । 'जहाँ नैन जाय, तहाँ कृष्णमय होय ।' उसको सब वासुदेवमय हो जाता है ।

मन्त्रयोगी, हठयोगी, लययोगी, राजयोगी, वैष्णव, शाक्त, शैव, सौर, गाणपत्य—सबकी साधना [illegible] एवं नाद । नादको छोड़कर शान्ति-लाभ करनेका [illegible] नहीं है । सभी शास्त्रोंमें नादकी प्रशंसा होती है । सब साधनोंका अन्त नादमें—अनाहत ध्वनिमें होता है । अनाहत ध्वनि प्राप्त करनेके लिये साधकगण बहुत कुछ [illegible] कर आहार-विहारका संयम करते हैं और [illegible] अग्रसर होते हैं । साधन-पथकी समस्त विघ्न-बाधाओंको [illegible] करके वे नादकी प्राप्तिमें समर्थ होते हैं ।

नाम-संकीर्तनकारीको और कुछ नहीं करना पड़ता । केवल नाम-संकीर्तन करते-करते स्वयं नाद आकर उनके हृदयमें उपस्थित होता है और साधकको आनन्दमें, [illegible] डुबा देता है, भगवद्दर्शन करा देता है । इसलिये [illegible] उच्चस्वरसे कहते हैं—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥
(श्रीमद्भा० १२ । ३ । ५२)

[illegible] नाम-संकीर्तन, [illegible]
[illegible]

कलिमें कल्याणका मार्ग है—नाम-संकीर्तन । [illegible] नाम लो, नाम लो । जय नाम, जय नाम, जय जय नाम ।

भगवन्नाम-महिमा

(लेखक—हरिदास गजाननजी शर्मा 'पौत्र' एम्० ए०)

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

आज विश्वमें दोनों ओर अन्धकार है। बाहरके घोर अन्धकारमें संसारके नेता एवं राजनीतिके कर्णधार शान्तिको लेकर प्राप्त करना चाहते हैं एवं भीतरके अन्धकारमें पैठ सुखका अन्वेषण कर रहे हैं; किंतु वस्तुतः उनको किसी ओरसे प्राप्त नहीं होती। फिर इसका उपाय क्या है? इस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजीने उपरिलिखित दोहेमें कैसा सुन्दर उपाय बताया है कि 'यदि तुम भीतर और बाहर दोनों ओर प्रकाश चाहते हो तो राम-नामरूपी मणिको शरीरके जिह्वारूपी द्वारपर रख लो।'

सचमुच रामनामकी ऐसी ही महिमा है। उस दिन जब महाराज हिरण्यकशिपुने भयंकर प्रह्लादको धधकती अग्निमें फेंक दिया और भगवत्कृपासे उसका बाल भी बाँका न हुआ, तब हिरण्यकशिपुको महान् आश्चर्य हुआ। उसको आश्चर्यनिमग्न देखकर प्रह्लादने कहा था—

रामनाम जपतां कुतो भयं
सर्वतापशमनैकभेषजम्।
पश्य तात मम गात्रसंनिधौ
पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना॥

"पिताजी! रामनामका जप करनेवालोंको भय कहाँ; क्योंकि रामनाम सब प्रकारके तापोंको शमन करनेके लिये एकमात्र औषध है। फिर, पिताजी! 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्?' देखिये न, मेरे शरीरके सामीप्यमें आकर आज अग्नि भी जलके समान शीतल हो रही है!"

आज जब कि चारों ओर नाना प्रकारके भयंकर एवं घातक रोगोंसे आक्रान्त होकर जनता पीड़ित हो रही है, विश्वमें हाहाकार मचा हुआ है, क्यों न इस 'सर्वतापशमनैकभेषजम्' का प्रयोग किया जाय। संसारका कोई इंजेक्शन, कोई औषधि, कोई रसायन इस दिव्य रसायनके सम्मुख नहीं ठहर सकती। कहा भी है—

इदं शरीरं शतसंधिजर्जरं
पतत्यवश्यं परिणामपेशलम्।
किमौषधैः क्लिश्यसि मूढ दुर्मते
निरामयं कृष्णरसायनं पिब॥

विश्वके संतों, महात्माओं एवं पीर-पैगम्बरोंने इसकी ओर यही उद्घोष किया है—'निरामयं कृष्णरसायनं पिब' 'परमात्माके नामरूपी रसायनको पीओ!' क्योंकि इसके पीनेसे कोई रोग नहीं रहता।

यथार्थतः कोई भी कष्ट, रोग, ताप एवं शोकादि तभी आक्रमण करते हैं जब पूर्वजन्म अथवा इस जन्मके पापोंका फल उदय होता है। यदि किसी युक्तिविशेषसे पापोंका क्षय हो जाय तो जीवको कष्ट ही क्यों हो, दुःख क्यों भोगना पड़े। श्रीमद्भागवतमें इसका बड़ा सुन्दर उपाय बताया गया है—

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥
(श्रीमद्भा० । २ । ४ । १५)

'हमारा उन सुन्दर यशवाले भगवान्‌को बार-बार प्रणाम है, जिनका कीर्तन, स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण एवं पूजन लोकके पापोंको तत्काल नष्ट कर देता है।'

इस श्लोकमें 'विधुनोति' क्रिया एकवचनान्त है अर्थात् उपरिलिखित किसी भी एक कार्यके करनेसे समस्त पापोंका शीघ्र ही क्षय हो जाता है। तब क्यों न इन उपायोंको काममें लाया जाय। इनमें भी सबमें सरल है—भगवन्नाम-कीर्तन एवं नामस्मरण। जब नाम-कीर्तनसे लोगोंके पापोंका क्षय हो जायगा, तब उनके दण्डस्वरूप दुःख क्यों भोगने पड़ेंगे! कितना सरल उपाय है दुःखसे बचनेका! पर हाय! यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम फिर भी भगवन्नाम नहीं लेते। शास्त्रोंने कहा है कि—

अच्युत वैकुण्ठ मुकुन्द कृष्ण
गोविन्द दामोदर माधवेति।
वक्तुं समर्थोऽपि न वक्ति कश्चि-
दहो जनानां व्यसनाभिमुख्यम्॥

भगवन्नाममें सबसे विलक्षण बात यह है कि भगवान्‌ने अपनी समस्त शक्तिका निक्षेप अपने नाममें कर दिया है। सम्भवतः जो काम नाम कर सकता है, वह राम भी नहीं कर सकते। इसका निर्णय गोस्वामीजीने रामचरितमानस, बालकाण्डमें नाम-महिमा-प्रसङ्गमें किया है। लेखका कलेवर बढ़ जानेके

श्रीभगवन्नामकी अपार महिमा

(लेखक—स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी)

भक्तिके दो प्रधान अङ्ग हैं—नाम-कीर्तन और गुण-कीर्तन। इसीलिये संतोंकी महिमाका वर्णन करते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—

गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला॥
(अरण्य का०)

बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
(उत्तर का०)

मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह।
ता कर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥
(उत्तर का०)

भगवान्में जैसा-जैसा गुण है अथवा भगवान् जैसी-जैसी लीला करते हैं, उसीके अनुरूप उनका नाम पड़ जाता है। उनका प्रत्येक नाम उनकी लीला और गुणोंका द्योतक है—जैसे 'माखनचोर', 'श्यामसुन्दर' आदि। इसी कारण भगवान्के गुण-कीर्तन तथा नाम-कीर्तनमें कुछ भी भेद नहीं है तथा दोनोंका फल भी एक ही है। तभी तो श्रीरामचरितमानसमें दोनोंके फलमें एकता यों दिखायी गयी है—

नाम	गुण अथवा लीला
१. आखर मधुर मनोहर दोऊ।	१. परम मनोहर चरित अपारा।
२. लोक लाहु परलोक निबाहू।	२. प्रिय पालक परलोक लोक के।
३. स्वाद तोष सम सुगति सुधा के।	३. सोइ बसुधा तल सुधा तरंगिनि।
४. तेहि महँ रघुपति नाम उदारा।	४. सोइ संभर उदार जेहि बिधि भा।
५. राम नाम को कल्पतरु।	५. अभिमत दानि देवतरु बर से।
६. जासु नाम भव भेषज।	६. भव भेषज रघुनाथ जसु।
७. राम नाम मनि दीप धरु।	७. राम कथा चिंतामनि चारू।
८. कलिजुग केवल नाम अधारा।	८. कलिजुग केवल हरिगुन गाहा।
९. नाम सकल कलि कलुष निर्मथन।	९. राम कथा कलि कलुष निर्मथनि।
१०. नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ।	१०. जग मंगल गुन ग्राम राम के।
११. प्रगट होहिं पदारथ चारी।	११. के दायक फल चारि।
१२. जिनहि न काम पुंज समुझारी।	१२. अस कि सत हरि चरित सुहायो।
१३. महामंत्र जेहि जपत महेसू।	१३. मंत्र महामनि बिषय ब्याल के।
१४. हित परलोक लोक पितु माता।	१४. प्रिय पालक परलोक लोक के।

श्रीमद्गोस्वामीजीके उपर्युक्त वचनोंसे यह सिद्ध हो जाता है कि भगवान्के नाम-कीर्तन तथा गुण (लीला)-कीर्तनमें कुछ भी भेद नहीं है। दोनोंकी महिमा तथा फल एक ही है। सत्य तो यह है कि भगवान्का प्रत्येक नाम उनकी लीलाओंका ही समास-रूप है अथवा यों कहिये कि उनके प्रत्येक नामकी व्याख्या ही उनकी लीला है। इसलिये जहाँ-जहाँ भगवन्नामकी जो महिमा बतायी जाय, वही उनकी लीलाओंके लिये भी समझनी चाहिये।

भगवन्नामकी महिमाका वर्णन जब स्वयं भगवान् भी नहीं कर सकते, तब फिर इस दीन लेखककी लेखनीमें क्या शक्ति है जो कुछ भी लिख सके। स्वयं श्रीमद्गोस्वामीजी लिखते हैं—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

फिर भी ऋषि-मुनि-प्रणीत धर्मग्रन्थोंमें जो नाम-महिमाका वर्णन है, वही संक्षेपमें 'स्कन्दपुराण' तथा 'निज मित पावन करन कारन' यहाँ लिखा जाता है—

श्रीशंकरजी पार्वतीजीसे कहते हैं—

तन्नामकीर्तनं भूप तापत्रयविनाशनम्।
सर्वेषामेव पापानां प्रायश्चित्तमुदाहृतम्॥
अतः परतरं पुण्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते।
नामसंकीर्तनादेव तारकं ब्रह्म दृश्यते॥

अर्थात् श्रीभगवन्नाम-कीर्तनसे आध्यात्मिक (काम, क्रोध, भय, बैर, दाह आदिसे उत्पन्न मानस दुःख), आधिदैविक (वायु, वर्षा, बिजली, अग्नि आदिसे उत्पन्न दुःख) और आधिभौतिक (मनुष्य, राक्षस, पशु, पक्षी आदिसे उत्पन्न दुःख)—इन तीनों तापोंका समूल नाश हो जाता है और सब प्रकारके पापोंका प्रायश्चित्त होता है। श्रीभगवन्नाम-कीर्तनके समान पुण्य तीनों लोकोंमें और कोई भी नहीं है। इस नाम-कीर्तन मात्रसे ही मनुष्य साक्षात् भगवान्के दर्शन प्राप्त कर सकता है।

इतना महान् होनेपर भी यह सुगम इतना है कि इस भगवन्नामका ग्रहण पुरुष-नारी, ब्राह्मण शूद्र—सभी कर सकते हैं और परम पदको प्राप्त कर सकते हैं—

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रान्त्यजातयः।
यत्र तत्रानुकुर्वन्ति विष्णोर्नामानुकीर्तनम्।
सर्वपापविनिर्मुक्तास्तेऽपि यान्ति सनातनम्॥

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू॥

इस नाम-कीर्तनमें कोई देश-काल तथा शौचाशौचका नियम भी नहीं है—जहाँ-तहाँ जिस किसी भी अवस्थामें कीर्तन किया जा सकता है—

न देशकालनियमः शौचाशौचविनिर्णयः।
परं संकीर्तनादेव राम रामेति मुच्यते॥

इस भगवन्नाम-कीर्तनमें विशेषता यह है कि बुद्धिमत्तासे अथवा भय, शोक, आश्चर्य, हँसी-मजाक अथवा संकेतके बहाने उच्चारण कर लेनेसे भी परमपदकी प्राप्ति हो जाती है—

आश्चर्ये वा भये शोके क्षते वा मम नाम यः।
व्याजेन वा स्मरेद् यस्तु स याति परमां गतिम्॥
सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥

नाम सुप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
राम नाम कलि कामतरु। ...

राम नाम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहि न पाप पुंज समुहाहीं॥

इतना ही नहीं, यह नाम-संकीर्तन तो खाते-पीते, सोते-जागते, चलते-फिरते—हर-समय किया जानेयोग्य है, इसके लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं।

गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् वापि पिबन् भुञ्जञ्जपंस्तथा।
कृष्ण कृष्णेति संकीर्त्य मुच्यते पापकञ्चुकात्॥
कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते।
भस्मीभवन्ति सद्यस्तु महापातककोटयः॥

जिन भाग्यवान् पुरुषकी जिह्वापर सदा भगवन्नाम विराजमान है, उसके लिये गङ्गा-यमुना आदि तीर्थ कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते। ऋग्वेद-यजुर्वेदादि चारों वेद उसने पढ़ लिये, अश्वमेधादि सभी यज्ञ उसने कर डाले—

न गङ्गा न गया सेतुर्न काशी न च पुष्करम्।
जिह्वाग्रे वर्तते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम्॥
ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदो ह्यथर्वणः।
अधीतास्तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम्॥
अश्वमेधादिभिर्यज्ञैर्नरमेधैः सदक्षिणैः।
यजितं तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम्॥

तेन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं
तेन सर्वं कृतं कर्मजालम्।
येन श्रीरामनामामृतं पानकृत-
मनिशमनवद्यमवलोक्य कालम्॥

यदि कोई चाण्डाल भी हो तो भगवन्नाम स्मरण करके श्रेष्ठ तथा कृतकृत्य हो जाता है—उसके लिये यज्ञ आदि कुछ भी करना बाकी नहीं रह जाता।

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्
यत्प्रह्वणाद् यत्स्मरणादपि क्वचित्।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन् नु दर्शनात्॥
अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥
(श्रीमद्भागवत ३। ३३। ६-७)

नीच जाति श्वपचो भये जपें निरंतर राम।
ऊँचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम॥
तुलसी जाके वदन ते धोखेहु निकसत राम।
ताके पग की पगतरी मेरे तन को चाम॥

कहाँतक लिखा जाय। भगवन्नामकी महिमा अपार है। जो कोई इस भगवन्नाम-महिमाको केवल अर्थवाद मान बैठते हैं, वे नराधम हैं और नरकके भागी होते हैं—

अर्थवादं हरेर्नाम्नि सम्भावयति यो नरः।
स पापिष्ठो मनुष्याणां नरके पतति स्फुटम्॥

कल्याणकामी पुरुषोंको चाहिये कि श्रीभगवन्नामकी महिमापर दृढ़ विश्वास करके उसका निरन्तर जप करें। यह भवसागर उनके लिये गोखुर बन जायगा। स्वयं नाम जपना चाहिये और दूसरोंसे जपवाना चाहिये। तभी तो श्रीशंकरजी पार्वतीजीसे कहते हैं—

तस्माल्लोकोद्धारणार्थं हरिनाम प्रकाशयेत्।
सर्वत्र मुच्यते लोको महापापात् कलौ युगे॥

'लोगोंके उद्धारके लिये सर्वत्र श्रीभगवन्नामका प्रचार करना चाहिये। कलियुगमें जीव एकमात्र श्रीहरिनामसे ही सारे महापापोंसे छुटकारा पा सकेंगे।'

सुमिरहु हरि नाम सुधा तजि सठ हठि विषय विषम विष माही।
सूकर स्वान सृगाल सरिस जन जनमत जगत जननि दुख लाही॥

भगवान् सबको सद्बुद्धि प्रदान करें।

कलियुगका परम साधन भगवन्नाम

(लेखक—श्रीरघुनाथप्रसादजी साधक)

कबीरा यह जग कुछ नहीं छिन खारा छिन मीठ।
आज जो बैठा मेड़िया काल मसानी दीठ॥

उपर्युक्त दोहेमें महात्मा कबीरदासजी भक्त-मण्डलीको उपदेश देते हुए कहते हैं कि यह संसार कुछ भी तो नहीं है, भ्रममात्र ही इसकी सत्ता है। यह कभी खारा तो कभी मीठा हो जाता है, अर्थात् यह प्रत्येक अवस्थामें परिवर्तनशील है। इसमें कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है—उदाहरणार्थ आज जो मेड़िया—ऊँचे वैभवका स्वामी बना बैठा है, कलको वही मरघटमें पहुँचकर—

हाड़ जलै ज्यों लाकड़ी, केस जलै ज्यों घास।
सब जग जलता देखकर, भए कबीर उदास॥

—की स्थितिमें परिवर्तित हो जाता है, अर्थात् उसकी मृत्यु हो जाती है।

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' का सिद्धान्त अटल है। इस अटल सिद्धान्तके अनुसार संसारकी सारहीनता, परिवर्तनशीलता एवं नश्वरतापर विचार करके ही हमारे वेदों, उपनिषदों, शास्त्रों, संतों, महंतों, विद्वानों एवं कविवरोंने मानव-जीवनका एक ही लक्ष्य निश्चित किया है—भगवत्प्राप्ति, आत्मसाक्षात्कार या मोक्ष (नाम-भेद है, स्वरूप-भेद नहीं)। जो मनुष्य उपर्युक्त लक्ष्यकी सिद्धिके लिये साधन नहीं करता, मनुष्य होकर भी जो आत्मोद्धारका प्रयत्न नहीं करता, वह निश्चय ही आत्मघाती है। असत्में आस्था रखनेके कारण वह अपनेको नष्ट करता है।

लब्ध्वा कथञ्चिन्नरजन्म दुर्लभं
तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्।
यः स्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात्॥
(विवेकचूडामणि १ । ४)

उपर्युक्त शास्त्र-वचनके अनुसार मनुष्यका परम पुरुषार्थ इसीमें है कि वह इस अनन्त एवं अपार संसार-सागरमें डूबते हुए अपने निजत्व (आत्मा) की रक्षा करे। यदि पुरुष होकर भी यह संसार-सागर पार न किया तो सब कुछ व्यर्थ ही खो दिया समझना चाहिये।

अतः मनुष्यको चाहिये कि इसी जीवनमें ब्रह्म (आत्म-तत्त्व) को जान ले। अन्यथा बड़ी भारी हानि होगी।

श्रुतिका वचन है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
(केन उप० २ । १३)

भाव यह है कि इसी जन्ममें ब्रह्म (आत्मा) को जान लिया, तब तो कल्याण है; अन्यथा बड़ी भारी हानि है। अब यहाँपर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'श्रुति और शास्त्रने जिस आत्म-तत्त्वको जाननेका आदेश दिया है, उसको जाननेका क्या उपाय है?'

इस प्रश्नका उत्तर तो हमें सद्गुरुकी कृपाद्वारा ही प्राप्त हो सकता है; क्योंकि—

बिनु गुर होइ कि ग्यान, ग्यान कि होइ बिराग बिनु।

यह विचारकर भक्त-साधक गुरुके पास जाकर अपार संसार-सागरसे पार होनेका उपाय पूछता है—

अपारसंसारसमुद्रमध्ये
सम्मज्जतो मे शरणं किमस्ति?
गुरो कृपालो कृपया वदैतद्—
(प्रश्नोत्तर मणिरत्नमाला)

अर्थात् हे कृपालु गुरुदेव! कृपया बतलाइये कि अपार संसाररूपी समुद्रमें डूबते हुए मेरे लिये सहारा क्या है?

इसपर गुरुदेव सरल और संक्षिप्त उत्तर देते हुए कहते हैं—

विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका॥

अर्थात् विश्वपति परमात्माके चरण-कमल ही इस संसार-सागरसे पार उतरनेके लिये विशाल जहाज हैं। अन्य कोई उपाय नहीं है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराजने अर्जुनको 'परमेश्वरकी शरण ही शान्ति प्रदान करानेवाली है' इत्यादि उपदेश दिया है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(१८ । ६२)

इस उत्तरसे स्पष्टतया यह निश्चय हो गया कि भगवान्की शरणमें पहुँचे बिना हमारी बाधाओंका शमन नहीं हो सकता और शरणागतका पालन करनेवाला भगवान् श्रीरामके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है।

तुलसी कोसलपाल सो को सरनागत पाल।
भज्यो बिभीषन बंधु भय भंज्यो दारिद काल॥
(दोहावली १६०)

तुलसीदासजी कहते हैं—कोसलपति श्रीरामजीके समान शरणागतकी पालना करनेवाला दूसरा कौन है? अर्थात् कोई नहीं। विभीषणने भाई रावणके भयसे श्रीरामका भजन किया था, परंतु भगवान्ने उसे लङ्काका राज्य देकर उसके दरिद्रता-रूपी अकालका नाश कर दिया।' अतः भगवान्की शरणमें पहुँचना, उनका अनन्य आश्रय लेना, उनके प्रेमको प्राप्त करना तथा उनके पावन नामोंको जपना ही मनुष्यका प्रमुख ध्येय है।

चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥
बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू॥
× × ×
सकल सुकृत कर बड़ फल एहू। राम सीय पद सहज सनेहू।
× × ×
सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥
× × ×
पुरुषारथ स्वारथ सकल परमारथ परिनाम।
सुलभ सिद्धि सब साहिबी सुमिरत सीताराम॥

अथवा भगवत्प्राप्तिके शास्त्रानुमोदित साधन ज्ञान, कर्म एवं भक्ति—ये तीन ही प्रमुख रूपमें स्वीकार किये जाते रहे हैं।

इन तीनों साधनोंमें ज्ञानका साधन तो अत्यन्त क्लिष्ट एवं दुस्साध्य है—

कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं, पुनि प्रत्यूह अनेक॥

और भी—

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥

ज्ञान-मार्गके अनन्तर कर्म-मार्गका विधान है। कर्मका पंथ ज्ञानपंथकी अपेक्षा सरल होते हुए भी प्रकार-भेदसे अति कठिन है। उसमें भी कर्म, अकर्म तथा विकर्मके स्वरूपको पहचानना पड़ता है, क्योंकि कर्मकी गति अति गहन है। पुनः सकाम कर्म, निष्काम कर्म, ब्रह्मार्पण कर्म, फलेच्छा-त्यागयुक्त कर्म आदि कर्मके अनेक भेद हैं, जिनके कारण कर्म-विधानका निश्चय ही नहीं हो पाता कि शास्त्रानुसार निर्दिष्ट कर्मको जीवनके व्यवहारमें किस प्रकार उतारें।

तीसरा साधन भक्तिका है। यह साधन ज्ञान तथा कर्म दोनों मार्गोंकी अपेक्षा सरल तथा सुगम है। इससे मनुष्यकी अविद्या शीघ्र नष्ट हो जाती है और वह अविद्या-नाशके फलस्वरूप अपने आत्माका उद्धार स्वतः ही करनेमें समर्थ होता है।

भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा।
× × ×
अस हरि भगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई।

इस प्रकार भगवान्की भक्तिका मार्ग तीव्र साधन तथा अविद्याका नाशक, सुखदायक एवं सुगम है।

ज्ञानद्वारा जो मोक्ष प्राप्त होता है, उसका आधार भी भक्ति ही है। यथा—

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं।
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई।
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई।
अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने।

भक्तिका साधन अन्य साधनोंकी अपेक्षा सुगम एवं सराहनीय है अवश्य, किंतु इसके भी सकाम भक्ति, निष्काम भक्ति आदि कई भेद हैं। इन भेदोंके कारण ही भक्तों, साधकों एवं साधनोंमें भी भेद एवं द्वैत है। पुनः भक्तिके साधनमें भी गुरुभक्ति, सत्संग, भगवत्कृपा, विषयत्याग तथा ईश्वरमें श्रद्धा एवं विश्वास आदि पालनीय नियमोंकी अनिवार्यता है। ये भिन्न-साम्प्रदायिक सिद्धान्तकी दृष्टिसे सरल होते हुए भी साधना-दृष्टिसे कठिन हैं, विशेषकर कलियुगमें, क्योंकि—

दंभ सहित कलि धरम सब, छल समेत ब्यवहार।
स्वारथ सहित सनेह सब, रुचि अनुहरत अचार॥
असुभ बेष भूषन धरें, भच्छाभच्छ जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर, पूज्य ते कलिजुग माहिं॥
ब्रह्म ग्यान बिनु नारि नर, कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि लोभ बस, करहिं बिप्र गुर घात॥
श्रुति संमत हरि भक्ति पथ, संजुत बिरति बिबेक।
तेहिं न चलहिं नर मोह बस, कल्पहिं पंथ अनेक॥
सकल धरम बिपरीत कलि, कल्पित कोटि कुपंथ।
पुन्य पराय पहार बन, दुरे पुरान सुग्रंथ॥

—आदि कठिनताएँ भरी पड़ी हैं। इन कठिनाइयोंसे भी कठिन कलिकालमें केवल दो ही आधार हैं—

कलि पाखंड प्रचार प्रबल पाप पावँर पतित।
तुलसी उभय अधार रामनाम सुरसरि सलिल॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि कलियुगमें केवल पाखण्डका ही प्रचार है, संसारमें पाप बहुत प्रबल हो गया, सब ओर पामर और पतित ही नजर आते हैं। ऐसी स्थितिमें दो ही आधार हैं—(१) श्रीराम-नाम और (२) श्रीगङ्गाजीका पवित्र जल। श्रीराम-नाम और गङ्गा-जलको आधार माननेवाला पंथ भी भक्ति-मार्ग ही है, किंतु साधन-सुविधाके विचारसे भक्त-परम्पराने इस साधनको भक्तिसे स्वतन्त्र 'नाम-साधन'के रूपमें स्वीकार किया है। इस साधनमें भगवान्‌ने अपनी अपेक्षा भी अपने नामकी महत्ता विशेष बतलायी है। नाम-साधनके विषयमें भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजीने इस प्रकार लिखा है—

> नामु राम को कलपतरु कलि कल्यान निवासु।
> जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदासु॥
> चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका॥
> बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत फल राम सनेहू॥
> ध्यानु प्रथम जुग मख बिधि दूजें। द्वापर परितोषत प्रभु पूजें॥
> कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥
> नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥
> राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता॥
> नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥

नाम-साधनके विषयमें गोस्वामीजीने जो कुछ ऊपर कहा है, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कलियुगमें ज्ञान, कर्म, भक्ति—ये तीनों ही साधन सुलभ नहीं हैं; केवल राम-नाम ही अवलम्ब है। बिना राम-नामके परमार्थकी प्राप्ति नहीं हो सकती—

> राम नाम अवलंब बिनु परमारथ की आस।
> बरषत बारिद बूँद गहि चाहत चढ़न अकास॥
> (दोहावली १०)

'जो लोग राम-नामके बिना परमार्थ (मोक्ष) की आशा करते हैं, वे वर्षामें बूँदको पकड़कर आकाशमें चढ़ना चाहते हैं अर्थात् असम्भवको सम्भव करना चाहते हैं।' पर ऐसा तो हो नहीं सकता—

> बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
> बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

'जलके मथनेसे भले ही घी उत्पन्न हो जाय और रेतके पेरनेसे चाहे तेल निकल आये, परंतु श्रीहरिके भजन बिना भवसागरसे पार नहीं हुआ जा सकता' यह सिद्धान्त अटल है।'

इस सिद्धान्तके अनुसार 'नाम-मार्ग' में एक ओर विलक्षणता है। यह है नामकी व्यापकता। ज्ञान, कर्म, भक्ति—ये तीनों मार्ग अपने-अपने क्षेत्रमें सीमित हैं, अर्थात् इन तीनों मार्गोंसे प्राप्त होनेवाले फल पृथक्-पृथक् हैं; किंतु 'नाम' के विषयमें ऐसा नहीं कहा जा सकता।

नामका सम्बन्ध ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनोंसे है। नाम-मार्गमें निर्गुणपंथी (ब्रह्मवादी), सगुणपंथी (अवतारवादी) और कर्मपंथी (याज्ञिक)—ये तीनों एक साथ ही ग्रहण किये जा सकते हैं। 'नाम-मार्गी' तुलसीदासजीने तीनों मंथोंकी समुच्चयात्मक उपासनाकी व्यवस्था भी कर दी है। यथा—

> हियँ निर्गुन नयनन्हि सगुन रसना राम सुनाम।
> मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम॥
> (दोहावली ७)

भाव यह है कि नाम-मार्गीकी उपासना-पद्धतिमें हृदयमें निर्गुण ब्रह्मका ध्यान, नेत्रोंमें स्वरूपकी झाँकी तथा जीभसे राम-नामका जप—यह ऐसा है मानो स्वर्णकी डिबियामें मनोहर रत्न सुशोभित हो। परंतु तीनोंका समुच्चय करनेपर भी गुसाईंजीने यहाँ नामको रत्न तथा निर्गुण-ध्यान एवं सगुणकी झाँकीको सोनेकी डिबिया बताकर साधकके लिये नामकी ही विशेषता दिखायी है।

नाम-मार्गकी व्यापकतामें जहाँ एक ओर इस प्रकारकी समुच्चयात्मक व्यवस्था है, वहाँ दूसरी ओर पूर्ण स्वतन्त्रता भी है। इस स्वतन्त्रतामें जिस प्रकार खेतमें उल्टा-सीधा कैसा भी बीज क्यों न डाला जाय, वह उचित अवसर पाकर फल देगा ही, उसी प्रकार रामका नाम उल्टा-सीधा—कैसे भी लिया जाय, अवश्य ही फलदायक होगा।

> जान आदि कबि नाम प्रतापू। भयउ सुद्ध करि उलटा जापू॥

उपर्युक्त विवेचनके आधारपर 'नाम महिमा' का यत्किञ्चित् आभास अनायास ही प्राप्त हो जाता है। अस्तु,

इस प्रसङ्गमें 'नाम' और 'नामी' की कल्पनापर भी विचार कर लेना अनुपयुक्त नहीं जान पड़ेगा। 'अङ्गाङ्गि-सम्बन्ध' की भाँति ही 'नाम-नामी-सम्बन्ध'की कल्पना भी की जाती है। जिस प्रकार अङ्गाङ्गि-सम्बन्धके अनुसार वृक्ष स्वयं तो अङ्गी है और उसकी शाखाएँ अङ्ग हैं, उसी प्रकार भगवान् स्वयं तो नामी हैं और राम, कृष्ण, गोविन्द आदि भगवान्‌के नाम हैं। परंतु जहाँ 'अङ्गाङ्गि-सम्बन्ध' में अङ्गी (वृक्ष) की उपादेयता एवं महत्ता 'अङ्ग' (शाखाओं) की अपेक्षा अधिक है, वहाँ 'नाम-नामी-सम्बन्ध'में 'नाम' की अपेक्षा 'नामी' का महत्त्व उतना नहीं है।

सम्बन्धकी कल्पना दोनोंमें समानरूपसे होनेपर भी धर्म, व्यापार एवं प्रयोगके नाते दोनोंमें महदन्तर है। एकमें शास्त्रमें (अङ्ग) की अपेक्षा वृक्ष (अङ्गी) का अधिक महत्त्व है; किंतु दूसरे प्रकारके सम्बन्धमें स्वयं भगवान् (अङ्गी) की अपेक्षा उनके नाम (अङ्ग) की विशेष महत्ता है।

गोस्वामी तुलसीदासजीने नाम-नामीका सम्बन्ध मानते हुए भी नामी (भगवान्) की अपेक्षा उनके नाम (राम) की विशेष महिमाका इस प्रकार गान किया है—

समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी॥
नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥
को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुन भेदु समुझिहहिं साधू॥
देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥
रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतल गत न परहिं पहिचानें॥
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥
नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी॥
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी॥
× × ×
अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरें मत बड़ नामु दुहू तें। किए जेहिं जुग निज बस निज बूतें॥
× × ×
उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहेउँ नामु बड़ ब्रह्म राम तें॥
× × ×
राम भगत हित नर तनु धारी। सहि संकट किए साधु सुखारी॥
नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥
रिषि हित राम सुकेतुसुता की। सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी॥
सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नामु जिमि रबि निसि नासा॥
भंजेउ राम आपु भव चापू। भव भय भंजन नाम प्रतापू॥
दंडक बनु प्रभु कीन्ह सुहावन। जन मन अमित नाम किए पावन॥
निसिचर निकर दले रघुनंदन। नामु सकल कलि कलुष निकंदन॥
(रामचरित० बाल०)

सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुन गाथ॥
(दोहावली २४)

इतना ही नहीं, इसके आगे भी 'नाम-माहात्म्य'-विषयक अन्य बहुत-सी चौपाइयाँ रामचरितमानसमें यथाक्रम एवं यथास्थान प्राप्त होंगी, जिन्हें पढ़कर हम 'नाम-महिमा' का कुछ आभास प्राप्त कर सकते हैं। वैसे नामकी महिमा अपार है—न तो कोई उसका पार पा सकता है न उसकी बड़ाई ही गा सकता है।

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई।

जब नामकी महिमाका गान स्वयं नामी (राम) ही नहीं कर सकते, तब हम साधारण जीव नामकी महिमा कैसे गा सकते हैं। वास्तवमें हमें नामकी महिमा गानेकी भी आवश्यकता नहीं है, हमें तो वास्तवमें नामका जप करना है; क्योंकि इसीसे सुखपूर्वक जीवन-यापन करनेके लिये नामका ही भरोसा एवं विश्वास है—

भरोसो नाम को भारी।
प्रेम सों जिन नाम लीन्हो, भए अधिकारी॥
ग्राह जब गजराज घेरयो, बल गयो हारी।
हारि कै जब टेरि दीन्हो, पहुँचे गिरिधारी॥
सुदामा दरिद्र भंजो, कूबरी तारी।
द्रौपदी को चीर बढ़ायो, दुःशासन हारी॥
विभीषन को लंक दीन्ही, रावनहिं मारी।
दास ध्रुव कौं अटल पद दियो, राम दरबारी॥
सत्य भक्तहि तारिबे को लीला बिस्तारी।
बेर भीलनी के खाये, प्रभु बलिहारी॥

जिस प्रकार भगवान् स्वयं भक्तिके वशीभूत होकर—

जाति पाँति पूछ नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई॥

—के अनुसार ऊँच-नीचका विचार न करके उन्हें सद्गति प्रदान कर देते हैं, उसी प्रकार भगवान्का नाम जपनेसे नीच जातिके व्यक्ति भी सत्कारके पात्र बन गये। यथा—

राम नाम सुमिरत सुजस भाजन भए कुजाति।
कुतरुक सुरपुर राजमग लहत भुवन बिख्याति॥
(दोहावली १६)

जब नीच जातिके व्यक्ति, व्याध, सर्प, मृग, पशु-पक्षियोंतकका उद्धार नाम-जपसे हो जाता है, तब हम तो मनुष्यरूपमें साधन-पथके पंथी हैं। हमें तो और भी उत्साह एवं आशाके साथ नाम-जप करते रहना चाहिये। इस नामके प्रतापसे ही हमें लौकिक एवं पारमार्थिक प्रकाश प्राप्त हो सकता है। कहा भी है—

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

और भी—

तुलसी जो सदा सुख चाहिय तो रसनी निसि बासर राम रटौ।

जिस मनुष्यने नामकी महिमाको समझ लिया है, जो 'नाम' की व्यापकतामें विश्वास करता है, जो नित्यनि

राम-राम, कृष्ण-कृष्ण, गोविन्द-गोविन्द आदि रटता रहता है, वह समस्त पुण्यों, तीर्थों एवं यज्ञोंके फलको प्राप्त कर लेता है—इसमें कोई संदेह नहीं है।

भक्त प्रह्लादजी कहते हैं—

कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति स्वप्ने जाग्रति यः पठेत्।
नित्यं यज्ञायुतं पुण्यं तीर्थकोटिसमुद्भवम्॥
(स्कन्द० द्वारका-मा० १८। ४५)

यावन्ति भुवि तीर्थानि जम्बूद्वीपे तु सर्वदा।
तानि तीर्थानि तत्रैव विष्णोर्नामसहस्रकम्॥
(पद्म० उत्तर० ७२। १)

'जहाँ विष्णुभगवान्‌के सहस्रनामका पाठ होता है, वहाँ पृथ्वीपर जम्बूद्वीपके समस्त तीर्थ निवास करते हैं।'

और भी—

सर्वेषामेव यज्ञानां लक्षाणि च व्रतानि च।
तीर्थस्नानानि सर्वाणि तपांस्यनशनानि च॥
वेदपाठसहस्राणि प्रादक्षिण्यं भुवः शतम्।
कृष्णनामजपस्यास्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥
(ब्रह्मवैवर्त)

'लाखों यज्ञ, समस्त व्रत, सम्पूर्ण तीर्थोंका स्नान, अनशनादि तप, सहस्रों वेद-पाठ, पृथ्वीकी सौ परिक्रमाएँ—ये सब कृष्ण नाम-जपकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हैं।'

यथा—

प्रीति प्रतीति सुरीति सों राम राम जपु राम।
तुलसी तेरो है भलो आदि मध्य परिनाम॥
(दोहावली २१)

तुलसीदासजी कहते हैं कि 'तुम प्रेम, विश्वास और विधिके साथ राम-राम-राम जपो। इससे तुम्हारा आदि, मध्य और अन्त—तीनों ही कालोंमें कल्याण है।' अतः इतना ही—

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥
(नारदमहापुराण, पूर्व० ४१। ११५)

कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मां स्मरति नित्यशः।
जलं भित्त्वा यथा पद्मं नरकादुद्धराम्यहम्॥
(स्कन्द० वैष्णव० मार्ग० १८)

"'जो 'हे कृष्ण! हे कृष्ण!! हे कृष्ण!!!' ऐसा कहकर मेरा प्रतिदिन स्मरण करता है, उसे जिस प्रकार कमल जलको भेदकर ऊपर निकल आता है, उसी प्रकार मैं नरकसे निकाल लाता हूँ।"

राम भरोसो राम बल राम नाम बिस्वास।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल माँगत तुलसीदास॥
(दोहावली ३८)

× × ×

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

श्रीहरिको संतुष्ट करनेवाले व्रत

देवर्षि नारद कहते हैं—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्कता। एतानि मानसान्याहुर्व्रतानि हरितुष्टये॥
एकभुक्तं तथा नक्तमुपवासमयाचितम्। इत्येवं कायिकं पुंसां व्रतमुक्तं नरेश्वर॥
वेदस्याध्ययनं विष्णोः कीर्तनं सत्यभाषणम्। अपैशुन्यमिदं राजन् वाचिकं व्रतमुच्यते॥
चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेत्। नाशौचं कीर्तने तस्य स पवित्रकरो यतः॥
(पद्म० पा० ८४। ४२—४५)

'श्रीहरिको संतुष्ट करनेके लिये किये जानेवाले 'मानसव्रत' हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और कपटहीनता। 'कायिक व्रत' हैं—एक समय भोजन, रात्रिमें भोजन, पूरा उपवास और बिना माँगे प्राप्त हुआ भोजन करना। 'वाचिक व्रत' हैं—स्वाध्याय, भगवान्‌का कीर्तन, सत्य-भाषण और चुगली आदिका त्याग। भगवान्‌के नामोंका सदा सर्वत्र कीर्तन करना चाहिये इसमें अशुद्धिकी बाधा नहीं है; क्योंकि नाम स्वयं ही शुद्धि करते हैं।'

प्रार्थनाका प्रयोजन

(लेखक—प्रो० [illegible] एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

प्रार्थना आत्माके लिये उतनी ही स्वाभाविक होनी चाहिये, जितनी शरीरके लिये भूख और प्यास। निर्दिष्ट धार्मिक शब्द-समूहोंको यन्त्रवत् गुनगुना देनेका नाम प्रार्थना नहीं है। यह तो उस क्रियाका केवल बाह्य और व्यावहारिक आचरण है, जिसे करनेके लिये प्रकृतिका अनुरोध है और जो ससीमको असीमके साथ उसके सम्बन्धकी याद दिलाती है। यह क्रिया अवश्य ही संक्षिप्त होती है; क्योंकि प्रार्थनाकी समाप्तिपर हम फिर अपने पार्थिव प्रयोजनोंसे युक्त हो जाते हैं। किंतु एकाग्र ध्यान ही जिसका सार है, ऐसी सच्ची भक्तिके सीमित क्षणोंमें परमानन्दस्वरूपकी जो झलक प्राप्त होती है, वह अपने सांसारिक कर्तव्योंके आचरणके लिये हमें नवीन उत्साहसे भर देती है।

क्षुब्धता और विभक्त उद्देश्यवाले आधुनिक जीवनके इस विलक्षण रोगमें प्रार्थना ही आत्माको आवश्यक शान्ति प्रदान करती है। जीवनके पापोंसे हम मलिन और दूषित हो रहे हैं। प्रार्थना ही जीवको वह मानसिक पवित्रता प्रदान करती है, जो दुष्कर्मजनित वैरूप्य तथा सदाचारके सौन्दर्यके भेदको परखती है। आकर्षणों तथा प्रलोभनोंसे घिरे रहनेके कारण हम दुर्बल हो रहे हैं। ऐसी अवस्थामें प्रार्थना ही हमें शक्ति और बल प्रदान करके इस योग्य बनाती है कि भगवान्‌के सिपाहियोंकी भाँति जीवनकी लड़ाईमें हम शैतान-की सेनासे लोहा लेकर आगे बढ़ सकें। जीवनके संशय, कठिनाइयों एवं भयसे हम तंग आ रहे हैं। ऐसी दशामें भगवान् ही हमारी परम गति हैं; और अपनी रक्षाके लिये उड़कर उनके पास जानेके लिये प्रार्थना ही हमारे पंख हैं। एक त्रिभुजमें आधारसे शिखरतककी लम्ब रेखा ही सबसे छोटी होती है; इसी प्रकार कर्म और ज्ञान भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये उत्तम मार्ग हैं अवश्य, किंतु परमात्माके पास नित्य पहुँचनेका तथा धरतीपर हमारे अपने निवासकाल-के लिये आवश्यक शान्ति, पवित्रता एवं शक्ति प्राप्त करनेका सबसे समीपका मार्ग है भक्ति।

मान लीजिये हम लोग दिनमें पाँच बार प्रार्थना करते हैं। प्रातःकालकी हमारी पहली प्रार्थना भगवान्‌के सामने ऐसी प्रतिज्ञाके रूपमें होनी चाहिये कि दिनभर हम विचार, वाणी और व्यवहारमें पवित्र रहेंगे। दूसरी प्रार्थना लेखा-जोखा करनेवालेकी भाँति होनी चाहिये, जो उसके पूर्व बीते हुए घंटोंमें हमारा आचरण कैसा हुआ है इसकी [illegible] करे। यदि हमने अपने वचनका पालन किया है [illegible] अगली प्रार्थना हमारे आत्माको शक्ति एवं उ[illegible] प्रदान करनेवाली होगी। किंतु यदि हम अपने [illegible] फिसल गये हैं तो हमारी तीसरी प्रार्थना हृदयको [illegible] वाले पश्चात्तापसे भरी होगी और उसमें भय [illegible] ईश्वरसे मार्गमें दुबारा भूल न करनेका निश्चय। [illegible] अन्तिम प्रार्थना हमको इस योग्य बनानेवाली होनी [illegible] कि हम दिनभरके अपने व्यापारोंका लेखा-जोखा कर [illegible] भगवान्‌के प्रति उनके अनुग्रहोंके लिये कृतज्ञता प्र[illegible] कर सकें। प्रलोभनोंका धीरतापूर्वक सामना करने[illegible] एवं अपनी भूलोंके लिये अनुताप प्रकट कर सकें। जीवनके संघर्षमें हमें अधिक सदाचारी एवं धै[illegible] बनानेके लिये सर्वशक्तिमान्‌से याचना कर सकें। जिस प्रार्थनाकी चर्चा की गयी है, वह सामान्य [illegible] युक्त साधारण स्तरके काम-काजी मनुष्यके लिये है, कि उन योगियोंके लिये, जिनका जीवन स्वयं दीर्घ प्रार्थना है, परमात्माके साथ अविच्छिन्न मिलन योगीकी तो स्थिति ही निराली है; वह ऐसा भक्त है, कदाचित् अपने पूर्वजन्मोंमें अर्जित पुण्योंके [illegible] भगवान्‌के द्वारपर पहुँच चुका है, जो अनन्तमें उसके [illegible] विलीन हो जानेको तड़प रहा है और जो जलके बाहर [illegible] पड़ी मछलीकी भाँति सांसारिक पचड़ोंमें पड़कर बड़ी बेचैनी अनुभव करता है।

यद्यपि प्रार्थनाका वाच्यार्थ है अनुनय और 'बंदगी' का अभिप्रायार्थ है सेवा, तथापि प्रार्थना केवल अनुनय विनय और सेवातक ही समाप्त नहीं हो जाती। भक्तकी प्रार्थना किसी प्रकारका अनुग्रह पानेके लिये नहीं, वरं स्वयं परमात्माके लिये होती है; भक्तकी सेवाका पर्यवसान [illegible] कालमें नहीं, अनन्त भगवान्‌में होता है। यह सम्भव है कि कभी-कभी भगवान् प्रार्थनाओंको स्वीकार कर लेते हैं। [illegible] भक्तिके सोपानमें स्वार्थ-कामनावाली प्रार्थनाएँ सबसे निम्न कोटिकी होती हैं। वे कष्टप्रद भी होती हैं; क्योंकि जिनके [illegible] युद्ध ठना हुआ है, ऐसे दो राष्ट्रोंकी अपनी-अपनी [illegible]

कैसे की गयी स्वार्थमयी प्रार्थनाको भगवान् स्पष्ट ही पूरी नहीं कर सकते। यदि एक व्यक्ति घोर वर्षाके लिये और उसका पड़ोसी सूखी धूपके लिये प्रार्थना करता है तो भगवान् दोनोंको एक साथ नहीं प्रसन्न कर सकते। स्वार्थपूर्ण प्रार्थनाओंका भक्तकी हृदयाभिलाषाके अनुसार कभी उत्तर नहीं मिल सकता, चाहे वे कितनी भी उचित क्यों न हों। यदि किसी नगरके वैद्यगण धन एवं समृद्धिके लिये प्रार्थना करें तो उनकी न्यायसंगत, किंतु स्वार्थपूर्ण प्रार्थनाको पूरा करनेमें उन थोड़े-से व्यक्तियोंके लाभके लिये लाखोंको मृत्यु और विपत्तिके गालमें ले जानेवाली किसी महामारीको भेजना पड़ सकता है। अतएव सच्चे कर्मके समान प्रार्थना भी निष्काम होनी चाहिये।

भक्त जब मरनेको भक्तिके अन्तिम स्तरतक विनम्र और दीन बना देता है, तब भी उसकी प्रार्थना याचनात्मक कम नहीं होती। प्रार्थना भगवान्के साथ सौदा भी नहीं है। अपनी निरन्तरकी प्रार्थना-पूजा तथा यज्ञादिके बदले भक्त भगवान्से किसी अनुग्रह-विशेषका दावा नहीं कर सकता। भगवान्से ऐसा करना भक्तके लिये धृष्टता है; क्योंकि ससीम और असीम कदापि बराबर स्थित नहीं हैं। भक्तको घुटना टेके, सिर झुकाये तथा सम्मानकी मुद्रामें रहना चाहिये। वह न तो मोल-तोल कर सकता है, न विरोध कर सकता है और न आदेश कर सकता है। इसके अतिरिक्त अनुग्रहके लिये उसे भगवान्को तंग करनेकी भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि सर्वज्ञ भगवान् पहलेसे ही जानते रहते हैं कि भक्त क्या चाहता है तथा भविष्यमें क्या चाहेगा। अतएव व्यक्तिके लिये यह स्वाभाविक ही है कि कठिन परिस्थितियोंमें या जब उसका एकलौता पुत्र जन्म-मरणके झूलेमें झूल रहा हो, तब वह भगवान्से विपत्तिसे उबरनेके लिये प्रार्थना करे। किंतु उसकी प्रार्थना कितनी भी न्यायोचित एवं स्वाभाविक हो, वह है तो स्वार्थप्रेरित ही और फिर अनावश्यक भी है; क्योंकि भगवान् रेंगकर चलनेवाले कीड़ोंकी भी आवश्यकताको जानते हैं तथा धार्मिक भक्तकी भी।

भगवान्के महान् विधानको सर्वथा स्वीकार कर लेना, भगवदिच्छाके साथ अपनी इच्छाको एकरूप कर देना ही सच्ची प्रार्थना है। 'तेरी इच्छा पूरी हो' यही प्रार्थनाका सर्वश्रेष्ठ रूप है; क्योंकि इसमें विनय, सम्मान और स्वार्थहीनताका पुट रहता ही है। पारसीधर्मकी प्रार्थना भी इसी प्रकारकी है—'इनीम अहुरामज्दा' (बुद्धिमान् प्रभु प्रसन्न हों!) इस्लामधर्म भी इक़रा (प्रारम्भ) तथा तस्लीम (समर्पण) को प्रधानता देकर हमारी अन्तिम गतिको निश्चित करनेवाले भगवान्की इच्छाका निर्विरोध-अनुवर्तन करनेकी स्मृति भक्तको दिलाता है। हिंदुओंकी प्रार्थनाका भी मूल-तत्त्व है—उन भगवान्के प्रति शरणागति अथवा 'प्रपत्ति', जिनसे ऊपर कोई अन्य सत्ता नहीं है और जो ज्ञान एवं सत्यके भंडार हैं। इस प्रकारकी प्रार्थना, जो कि भागवत-धर्ममें लक्षित होती है, ऐकान्तिकी (अनन्य) भक्ति कहलाती है। किंतु यह पूछा जा सकता है कि 'आध्यात्मिकताके इस ऊँचे स्तरपर पहुँच जानेपर मानवीय पुरुषार्थके लिये, व्यावहारिक कर्तव्योंको करनेके लिये कोई प्रेरणा बच रहेगी क्या?' शङ्का उचित है, किंतु उसका समाधान यह है कि भगवदनुगत भक्त पृथ्वीपर लोकहितके कर्मोंको उसी प्रकार करता रह सकता है, जैसे घड़ी टिक-टिक करती रहती है; वरं उसके कर्म और भी अच्छे होंगे; क्योंकि अनन्तकी इच्छाका निरन्तर अनुगमन एवं उनसे सतत सम्पर्क भक्तके कार्योंमें शक्ति, पवित्रता तथा शान्तिका संचार करके उनको भगवत्संस्पर्शके द्वारा पवित्र कर देगा।

यह कहा जाता है कि भलाईका पुरस्कार होना चाहिये नित्य बढ़ते हुए भले कर्मोंके करनेकी विकसित शक्ति। यदि कभी स्वार्थपूर्ण प्रार्थना करनी ही हो तो भक्तको अधिक गम्भीर सद्गुण, शुभाचरणके लिये और अधिक व्यापक क्षेत्र तथा उन्मुक्त एवं स्वार्थहीन उदारताके लिये अत्यधिक शक्ति प्राप्त करनेके निमित्त करनी चाहिये। स्वार्थपूर्ण प्रार्थनाकी स्वार्थपरताको यह भाव मिटा देगा। और जब अहंता एकदम क्षीण हो जाती है, तभी हृदय भगवान्का घर बनता है। अनाचार एवं क्रूरताके द्वारा आया हुआ वैभव तथा शक्ति आत्माको नीचे पटक देते हैं, उसे पापपङ्कमें घसीट ले जाते हैं। सच्ची प्रार्थनामें एक पैसा भी खर्च नहीं होता। वह बिना चिन्ता या क्लेशके सुलभ है और आत्माको सांसारिक बन्धनोंसे मुक्त कर देती है। वह उसे ऊपर उठाती है ताकि वह जीवनके अन्तिम ध्येय, मानव-जीवनके सर्वस्वसे (भगवान्से) सम्पर्क प्राप्त कर सके।

कल्याण करनेकी भावना उत्पन्न होती है। इसमें अपनी, समाजकी और राष्ट्रकी—तीनोंकी उन्नति होती है और राष्ट्रियता बढ़ती है। सामूहिक प्रार्थनामें एक और विशेषता यह है कि प्रार्थनाके समय भगवान्की स्वयं उपस्थितिका अनुभव कीया करता है। भगवान्के श्रीमुखका वचन है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥
(पद्म॰ उ॰ ९४। २३)

'नारद! मैं वैकुण्ठमें नहीं रहता और न योगियोंके हृदयमें मेरा वास है। मेरे भक्तजन जहाँ मिलकर मेरा गान करते हैं, वहीं मैं निवास करता हूँ।'

मिलकर समुदायमें एक साथ भगवान्का नाम-गुण-यश-कीर्तन करनेसे, उनका गुणगान करनेसे, स्तुति-प्रार्थना करनेसे भगवान्में प्रेम उत्पन्न होता है, सुननेवालोंकी भी भगवान्की ओर प्रवृत्ति होती है। ऐसे समारोहमें एक-दो प्रमुख भावनावाले व्यक्तियोंकी उपस्थिति आवश्यक होती है, जिनके प्रभावसे सारी मण्डली प्रभावित हो जाती है और भगवत्-प्रेमकी उत्ताल तरङ्गें अपने-आप उमँड़ने लग जाती हैं। सब भावमें डूब जाते हैं, एकको दूसरेके भावोंसे मदद मिलती है, केवल प्रार्थनामें सम्मिलित होनेवाले व्यक्तियोंकी ही सहायता प्राप्त नहीं होती बल्कि भूतकालके अनेक साधु-संतों और जीवन्मुक्त महात्माओंकी सहायता मिलती है। ऐसे पवित्र अवसर निस्संदेह दिव्य आत्माओंका प्रेम-जीवन उतरता है और पूर्ण प्रेमभक्ति और शान्तिका स्रोत प्रवाहित होने लगता है। सारे देवता, पितर, गन्धर्व, तीर्थ, ऋषि-महर्षि, सिद्ध वहाँ आ विराजते हैं, आनन्दित होते हैं और हर्ष तथा शान्तिसे भरा हुआ आशीर्वाद दे जाते हैं। सामुदायिक प्रार्थनाकी प्रथाको हम आज भूल बैठे हैं और इसीसे हम-लोगोंमें मेल, जातीय संगठन, पारस्परिक सद्भाव, प्रेम और समताका अभाव है। हमलोगोंको इन गुणोंको अपनाना चाहिये। एक ही निर्दिष्ट समयपर सबको मिलकर हर रोज या हफ्तेमें कम-से-कम एक बार किसी नियत स्थानपर समष्टिरूपसे कीर्तन करना, भगवान्का नाम-यश-गान करना, गुणानुवाद गाना, धन्यवाद देना अवश्य चाहिये। कुछ दिनोंसे श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज, श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, श्रीस्वामी शरणानन्दजी तथा अन्य दूसरे-दूसरे महात्मा और धर्मसंघ, प्रार्थना-समिति इत्यादि अनेक संस्थाएँ सामूहिक प्रार्थनाके महत्त्व और उपयोगिताको समझाते हुए देशके कोने-कोनेमें इसका प्रचार कर रहे हैं। यह बहुत ही सराहनीय और देशके लिये बहुत हितकर और क[ल्याणकारी] कार्य है।

किसी देशको समुन्नत, सुसम्पन्न, सुरक्षित [...] तथा शक्तिशाली बनानेके लिये आवश्यक है कि [...] जनताका नैतिक स्तर बहुत ऊँचा हो, सभी [...] एक हो जायँ, सब एक ही पथका अनुसरण [...] जायँ, तब दुःख-क्लेश, विघ्न-बाधा, वैर-विरोध [...] संघशक्ति उत्पन्न करें। और यह तभी सम्भव है [...] एक ही सूत्रमें बँध जायँ, ईश्वर और धर्मपर दृढ़ [...] अपने-अपने धर्मके अनुकूल ही आचरण करें, [...] प्रति दुर्भावना न रखें और सम्मिलितरूपसे [...] कीर्तन और प्रार्थना किया करें। सभी विरोधी [...] सूत्रमें बाँध रखनेकी क्षमता केवल हरिनाम-[...] रखता है; क्योंकि इसमें कोई मतभेद नहीं है। [...] सरकार धर्मनिरपेक्ष राज्य होनेके कारण धर्म[...] रही है और यहाँकी जनता, कर्मचारी, नेता और [...] विदेशी शिक्षा एवं सभ्यताके प्रभावसे ईश्वर और [...] उन्नतिमें बाधक समझते हैं, बल्कि कुछ अज्ञानवश [...] मूर्खता और पाखण्ड कहते हैं। इसी कारण [...] वातावरणके प्रभावसे यहाँ धर्मका ह्रास, अन्याय, [...] पक्षपात, चोरी, चोरबाजारी, रिश्वत, वैमनस्य [...] है। जो लोग अहिंसा, त्याग, बलिदान, निष्काम [...] परोपकारके पथपर अग्रसर थे, आज वे भी [...] स्वार्थपरायण, अधिकारलिप्सु और धर्मभ्रष्ट हुए [...] रहे हैं। पद, मान, प्रतिष्ठा, धन-धान्य [...] उपार्जनके फेरमें धर्म, नीति, मर्यादा त्यागकर [...] हास कर रहे हैं। न ईश्वरका डर है न धर्म[...] राजदण्डका न लोकलज्जाका। इसका मूल कारण [...] है—ईश्वर और धर्ममें अविश्वास; और इससे बचने[का] एक ही उपाय है—महात्मा गाँधीके पथका अनुसरण, राम-नाममें विश्वास और सामूहिक कीर्तन और सामूहिक [प्रार्थना]।

जन-समाजको सच्चरित्र, शुद्ध, सात्त्विक, सदाचारी, [...] शक्तिमान्, निःस्वार्थी, सच्चा भक्त और सच्चा [...] बनाना हो तो हमें सामूहिक कीर्तन, सामूहिक प्र[ार्थना] करना सीखनी होगी। इससे बुद्धि निर्मल होगी और [...] बुद्धिसे हमारे व्यावहारिक कार्य भी शुद्ध, सात्त्विक, [...] हितकर और सुखप्रद होंगे। यदि आप चाहते हैं [...] देशकी काया पलट जाय, देश सब प्रकारसे सुख[ी] [...]

भगवन्नामकी महिमा

कल्याण करनेकी भावना उत्पन्न होती है। इसमें अपनी, समाजकी और राष्ट्रकी—सभीकी उन्नति होती है और राष्ट्रीयता बढ़ती है। सामूहिक प्रार्थनामें एक और विशेषता यह है कि प्रार्थनाके समय भगवान्की स्वयं उपस्थितिका अनुभव जीव करता है। भगवान्के श्रीमुखका वचन है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥
(पद्म० उ० ९४। २३)

'नारद! मैं वैकुण्ठमें नहीं रहता और न योगियोंके हृदयमें मेरा वास है। मेरे भक्तजन जहाँ मिलकर मेरा गान करते हैं, वहीं मैं निवास करता हूँ।'

मिलकर समुदायमें एक साथ भगवान्का नाम-गुण-यश-कीर्तन करनेसे, उनका गुणगान करनेसे, स्तुति प्रार्थना करनेसे भगवान्में प्रेम उत्पन्न होता है, सुननेवालोंकी भी भगवान्की ओर प्रवृत्ति होती है। ऐसे समारोहमें एक-दो प्रमुख भावनावाले व्यक्तियोंकी उपस्थिति आवश्यक होती है, जिसके प्रभावसे सारी मण्डली प्रभावित हो जाती है और भगवत्-प्रेमकी उत्ताल तरङ्गें अपने-आप उमँडने लग जाती हैं। सब भावमें डूब जाते हैं, एकको दूसरेके भावोंसे मदद मिलती है, केवल प्रार्थनामें सम्मिलित होनेवाले व्यक्तियोंकी ही सहायता प्राप्त नहीं होती बल्कि भूतकालके अनेक साधु-संतों और जीवन्मुक्त महात्माओंकी सहायता मिलती है। ऐसे पवित्र स्थलपर निस्संदेह दिव्य आत्माओंका प्रेम-जीवन उतरता है और पूर्ण प्रेमभक्ति और शान्तिका स्रोत प्रवाहित होने लगता है। सारे देवता, पितर, गन्धर्व, तीर्थ, ऋषि-महर्षि, सिद्ध वहाँ आ विराजते हैं, आनन्दित होते हैं और हर्ष तथा शान्तिसे भरा हुआ आशीर्वाद दे जाते हैं। सामुदायिक प्रार्थनाकी प्रथाको हम आज भूल बैठे हैं और इसीसे हम-लोगोंमें मेल, जातीय संगठन, पारस्परिक सद्भाव, प्रेम और समताका अभाव है। हमलोगोंको इन गुणोंको अपनाना चाहिये। एक ही निर्दिष्ट समयपर सबको मिलकर हर रोज या हफ्तेमें कम-से-कम एक बार किसी नियत स्थानपर समष्टिरूपसे कीर्तन करना, भगवन्नाम-यश-गान करना, गुणानुवाद गाना, धन्यवाद देना अवश्य चाहिये। कुछ दिनोंसे श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज, श्रीगुरुदेवजी महाराज, श्रीस्वामी शरणानन्दजी तथा अन्य दूसरे-दूसरे महात्मा और धर्मसंघ, प्रार्थना-समिति इत्यादि अनेक संस्थाएँ सामूहिक प्रार्थनाके महत्त्व और उपयोगिताको समझाते हुए देशके कोने-कोनेमें इसका प्रचार कर रहे हैं। यह बहुत ही सराहनीय और देशके लिये बहुत हितकर और कल्याण[कारी] कार्य है।

किसी देशको समुन्नत, सुसम्पन्न, सुखमय [और] तथा शक्तिशाली बनानेके लिये आवश्यक है कि [वहाँकी] जनताका नैतिक स्तर बहुत ऊँचा हो, सभी लोग एक हो जायँ, सब एक ही पथका अनुसरण करने लग जायँ, सब दुःख-क्लेश, विघ्न-बाधा, वैर-विरोध [भूलकर] संघशक्ति उत्पन्न करें। और यह तभी सम्भव है [जब सब] एक ही सूत्रमें बँध जायँ, ईश्वर और धर्मका डर रखें [और] अपने-अपने धर्मके अनुकूल ही आचरण करें, [दूसरे धर्मोंके] प्रति दुर्भावना न रखें और सम्मिलितरूपसे [भगवान्का] कीर्तन और प्रार्थना किया करें। सभी विरोधी [धर्मोंको एक] सूत्रमें बाँध रखनेकी क्षमता केवल हरिनाम-यश-गान [ही] रखता है, क्योंकि इसमें कोई मतभेद नहीं है। [हमारी] सरकार धर्मनिरपेक्ष राज्य होनेके कारण धर्मसे [अलग] रहती है और यहाँकी जनता, कर्मचारी, नेता और [शिक्षित वर्ग] विदेशी शिक्षा एवं सभ्यताके प्रभावसे ईश्वर और [धर्मको] उन्नतिमें बाधक समझते हैं, बल्कि कुछ अहंमन्य [लोग उसे] मूर्खता और पाखण्ड कहते हैं। इसी कारण [इस] वातावरणके प्रभावसे यहाँ धर्मका ह्रास, अनाचार, [भ्रष्टाचार,] पक्षपात, चोरी, चोरबाजारी, रिश्वत, बेईमानी [बढ़ रही] है। जो लोग अहिंसा, त्याग, बलिदान, निष्प्र[ह] परोपकारके पथपर अग्रसर थे, आज वे ही [अधिक] स्वार्थपरायण, अधिकारलिप्सु और धर्मभ्रष्ट हुए [जा र]हे हैं। पद, मान-प्रतिष्ठा, ठाट-बाट, धन[-सम्पत्ति] उपार्जनके फेरमें धर्म, नीति, मर्यादा त्यागकर [निन्दनीय कार्य] कर रहे हैं। न ईश्वरका डर है न धर्म[का,] राजदण्डका न लोकापवादका। इसका मूल कारण [यही] है—ईश्वर और धर्ममें अविश्वास और इससे [बचनेका] एक ही उपाय है—महात्मा गाँधीके पथका अनुसरण [कर] राम-नाममें विश्वास और सामूहिक कीर्तन और [प्रार्थना।] जन-समाजको सचमुच शुद्ध, धार्मिक, सदाचारी, सु[खी,] शक्तिमान्, निःस्वार्थी, सच्चा भक्त और सच्चा देश[भक्त] बनाना हो तो हमें सामूहिक कीर्तन, सामूहिक प्रार्थ[नाकी] शरण लेनी होगी। इससे बुद्धि निर्मल होगी और [निर्मल] बुद्धिसे हमारे व्यावहारिक कार्य भी शुद्ध, धार्मिक, सु[ख]कर और सुखप्रद होंगे। यदि आप चाहते हैं कि [हमारे] देशकी काया पलट जाय, देश सब प्रकारसे सुखी [हो ...]

भगवन्नामकी महिमा

भागवतधर्मके बारह मर्मज्ञ

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्॥ (श्रीमद्भा० ६।३।२०)

सम्पन्न रहे; अत्याचार-अनाचार, दुराचार-दुष्टाचार, पापाचार-भ्रष्टाचार—सब नष्ट हो जायँ, नैतिकताका विकास हो और यहाँके सम्पूर्ण निवासी सुखमय, आनन्दमय, शान्तिमय जीवन-यापन करें तो हमें चाहिये कि महात्माजीकी प्रार्थनाके बाहरी क्रियात्मक कार्यके साथ-साथ उसके वास्तविक स्वरूपको भी ग्रहण करें—हम सदा-सर्वदा भगवान्‌के संनिधयका अनुभव करते हुए सब व्यावहारिक कार्य उन्हींके निमित्त, उन्हींकी प्रसन्नताके लिये उन्हींकी प्रेरणासे करें। हमारे विचार, हमारी इच्छाएँ, हमारी सब क्रियाएँ भगवत्-सेवाका रूप धारण कर लें अर्थात् जीवनके समस्त व्यापार प्रार्थनामय हो जायँ। खेदकी बात है कि आज हमलोग महात्माजीके आदेशको भूल बैठे हैं, उनके आदेशानुसार, कथनानुसार नहीं चल रहे हैं। यही कारण है कि देशमें सर्वत्र असंतोष फैला हुआ है और देशका अधःपतन दिन-पर-दिन होता जा रहा है। महात्माजी प्रार्थनाकी आवश्यकता, उपयोगिता और महत्त्वको भली प्रकार जानते थे और यह समझते थे कि राज्यमद, अधिकारमदके कारण धर्मबुद्धिका लोप और नैतिकताका विनाश होना बहुत सम्भव है। अतएव उन्होंने अपने अनुयायियोंके लिये सम्मिलित प्रार्थनाका कठोर नियम बना रखा था। स्वयं भी नित्य नियमित रूपसे प्रार्थना करते थे, सामूहिक प्रार्थनामें सम्मिलित होते थे और सबको प्रार्थनाके पाशमें बाँध रखना चाहते थे, जिससे सबके हृदयमें ईश्वर-निष्ठा, नाम-निष्ठा और धर्मनिष्ठा जग जाय, जो सब प्रकारकी शक्तिका उद्गमस्थान और सफलताकी कुंजी है। उनका विश्वास था कि हृदयसे की जानेवाली प्रार्थना कभी निष्फल नहीं जाती, अपनेको अवश्य स्वच्छ बनाती है, आसुरी वृत्तिको दैवीमें परिवर्तित कर देती है और सुख-शान्ति प्रदान करती है। केवल इस एक बातको सिद्ध कर लेनेसे सब मनोरथ सिद्ध और सब तरहकी अभिलाषाएँ पूर्ण हो जाती हैं। प्रार्थनापर उनका विचार उन्हींके शब्दोंमें सुनिये—

'मैं स्वयं अपने और अपने कुछ साथियोंके अनुभवसे कहता हूँ कि जिसे प्रार्थना हृदयगत है, वह कई दिनोंतक बिना खाये रह सकता है पर प्रार्थना बिना नहीं रह सकता। इस जगत्‌में हम सेवा करनेके लिये पैदा किये गये हैं, सेवाके ही काम करना चाहते हैं। यदि हम जागरूक रहेंगे तो हमारे काम दैवी होंगे, राक्षसी नहीं। मनुष्यका धर्म राक्षसी बनना नहीं है, दैवी बनना है। परंतु प्रार्थना-रहित मनुष्यके काम आसुरी होंगे, उसका व्यवहार अशुद्ध होगा, असामाजिक होगा। एकका व्यवहार अपनेको और संसारको सुखी बनानेवाला होगा, दूसरेका अपनेको और जगत्‌को दुःखी बनानेवाला। परलोककी बात तो जाने दें, इस लोकके लिये भी प्रार्थना सुख और शान्ति देनेवाला साधन है। अतएव यदि हमें मनुष्य बनना है तो हमें चाहिये कि हम जीवनको प्रार्थनाद्वारा रसमय और सार्थक बना डालें। इसलिये मैं आपको यह सलाह दूँगा कि आप प्रार्थनासे भूतकी तरह चिपटे रहें। यह न पूछिये कि प्रार्थना किस तरहसे की जाय। केवल राम-नाम बोलकर भी प्रार्थना की जा सकती है। प्रार्थनाकी रीति चाहे जो हो, मतलब भगवान्‌का ध्यान करनेसे है।'

राम-नामकी महिमाके विषयमें उनका अनुभव इस प्रकार है—

'मैं अपना अनुभव सुनाता हूँ। मैं संसारमें व्यभिचारी होनेसे बचा हूँ तो राम-नामकी बदौलत। जब-जब मुझपर विकट प्रसङ्ग आये हैं, मैंने राम-नाम लिया है और मैं बच गया हूँ। अनेक संकटोंसे राम-नामने मेरी रक्षा की है।······ करोड़ों हृदयोंका अनुसंधान करने और उनमें ऐक्यभाव पैदा करनेके लिये एक साथ राम-नामकी धुन-जैसा दूसरा कोई सुन्दर और सबल साधन नहीं है।'

यदि हम महात्माजीके सच्चे अनुयायी और सच्चे भक्त हैं और चाहते हैं कि इस देशकी स्वतन्त्रता सुरक्षित रहे, इसके नैतिक अधःपतनका अन्त हो जाय, इसमें वास्तविक रामराज्यकी स्थापना हो, कोई भी दुःखी न रहे, सब स्नेह-पूर्वक एक दूसरेके हित और सुखवर्धनमें निरत रहें, देश सब प्रकारसे सुखी एवं समृद्धिशाली बने, संसारमें विश्वशान्ति, विश्वप्रेम और विश्व-बन्धुत्वकी स्थापना हो तो हमें चाहिये कि हम महात्माजीके पदचिह्नोंका अनुसरण करें, उनके आदेशोंका पालन करें, राम-नाममें पूरी श्रद्धा, प्रेम और भक्ति उत्पन्न करें और सामूहिक प्रार्थना और सामूहिक हरिकीर्तनकी प्रथा प्रचलित कर जन-समाजमें नवजीवन, नवीन शक्ति और नये उत्साहका संचार करें। कलियुगमें सम्मिलित प्रार्थना और सम्मिलित हरि-कीर्तनका बहुत माहात्म्य है—'संघे शक्तिः कलौ युगे।' इस युगमें भगवत्प्राप्ति तथा सब प्रकारकी इच्छाओंकी पूर्तिका दूसरा कोई सुगम और सरल साधन भी नहीं है। अन्य युगोंमें जो जप घोर तपस्या,

योग-समाधि आदिसे प्राप्त होते हैं, वे कलियुगमें केवल भगवन्नाम-संकीर्तनसे ही प्राप्त हो जाते हैं—

यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन न समाधिना ।
तत्फलं लभते सम्यक् कलौ केशवकीर्तनात् ॥

कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग ।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग ॥

कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना । एक अधार राम गुन गाना ॥
राम नाम कलि अभिमत दाता । हित परलोक लोक पितु माता ॥

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

अतएव सबके लिये उचित है कि नित्य नियमसे हरि-नाम-यश-संकीर्तन और प्रार्थनाका व्रत लें, मनन करें और नित्य नियमितरूपसे जगह-जगह एक ही निश्चित समयपर सब मिलकर समष्टिरूपसे समुचित कीर्तन और सामूहिक प्रार्थनाकी सुमधुर और पवित्र ध्वनिसे आकाशमण्डलको प्रतिध्वनित कर दें और इस प्रकार इनका प्रचार और प्रसार ऐसे भाव और चावसे करें कि यह हमारे वैयक्तिक, सामाजिक, सामूहिक और राष्ट्रीय जीवनका एक अनिवार्य अङ्ग बन जाय ।

प्रार्थनाका मनोवैज्ञानिक रहस्य

(लेखक—श्री[illegible]प्रसादजी गुप्त, एम्० ए०, एल्० टी०)

आजकल प्रार्थनाको बहुत-से लोग गलत समझ रहे हैं । विशेषकर बीसवीं शताब्दीके युवकोंकी सुशिक्षित दृष्टिमें प्रार्थना एक ढकोसला, एक विडम्बना, खाने-कमाने, ठगने-ठगानेका एक धंधा है । कुछ अन्य लोग समझते हैं कि प्रार्थना करके हम बच्चोंकी तरह मीठी-मीठी बातोंसे परमेश्वरको फुसलाना चाहते हैं । यह भी ठीक नहीं । सच्ची बात तो यह है कि प्रार्थना मनका मोदक नहीं है । जो व्यक्ति बिना परिश्रमके मुफ्तका माल उड़ानेकी फिक्रमें रहते हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि ईश्वर किसीके गिड़गिड़ाने, नाक रगड़ने या भीख माँगनेकी ओर ध्यान नहीं देता । सच्ची आन्तरिक प्रार्थना श्रद्धा, शरणागति तथा आत्मसमर्पणका रूपान्तर है । महात्मा तुकाराम, महाप्रभु चैतन्य, स्वामी रामदास, मीराँबाई, सूरदास, तुलसीदास आदि भक्त-संतों एवं महात्माओंकी प्रार्थनाएँ जगत्प्रसिद्ध हैं ।

अंग्रेज कवि टेनीसनने भी कहा है कि बिना प्रार्थना मनुष्यका जीवन पशु-पक्षियों-जैसा निर्बोध है । प्रार्थना-जैसी महाशक्तिसे काम न लेकर और अपनी थोथी शानमें रहकर सचमुच हम बड़ी मूर्खता करते हैं । वास्तवमें प्रार्थना तो परमेश्वरसे वार्तालाप करनेकी एक आध्यात्मिक प्रणाली है । जिस महाशक्तिसे यह अनन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न है तथा संचालित हो रहा है, उससे सम्बन्ध स्थापित करनेका सरल एवं सच्चा मार्ग हमारी आन्तरिक प्रार्थना ही है । अतः परमानन्दस्वरूप परमात्मासे प्रार्थनाके सुकोमल तारोंद्वारा ही सम्बन्ध जोड़ना है ।

प्रार्थना केवल प्रार्थना-मन्दिरतक ही सीमित नहीं रहे, बल्कि कहीं भी और किसी भी समय की जा सकती है । यह जितनी ही सरल, सच्ची और आन्तरिक होगी, भगवान्के हृदयको उतना ही द्रवित कर सकेगी । जिसने प्रार्थनाके रहस्यको जान लिया है, वह बिना प्रार्थनाके रह ही नहीं सकता । एक पाश्चात्य कथन है कि 'प्रार्थना मनुष्यके मनकी समस्त बिखरी हुई एवं अनेक दिशाओंमें भटकनेवाली वृत्तियोंको एक केन्द्रमें एकाग्र करनेवाले मानसिक व्यायामका नाम है ।' स्थिर मन प्रार्थनासे सुसंचालित होकर आत्मिक आनन्द प्राप्त करता है । इससे समस्त कष्ट और व्याधियाँ दूर होती हैं और मनमें ईश्वरीय शक्तिका आभास संचरित होता है ।

अब हमें देखना है कि प्रार्थनाकी इस महत्ता का मनोवैज्ञानिक आधार तथा रहस्य क्या है । मनोवैज्ञानिकोंका कथन है कि प्रार्थना अव्यक्त मनमें उठी हुई एक वेदना है । मनुष्यके चेतन मनसे परे उसका गुप्त अथवा अचेतन मन भी है । यह अज्ञात चेतना परम शक्तिमयी है । इसमें एक-से-एक आश्चर्यजनक सामर्थ्योंका भंडार है ।

हमारी एकाग्र मनसे की हुई प्रार्थना व्यक्तको चेतन मनकी ओरसे गुप्त मनकी ओर आकर्षित कर देती है । बुद्धि, सद्भाव, आत्मिक सामर्थ्य तथा आन्तरिक दर्शनका केन्द्र यही गुप्त मन है । गुप्त मनके सम्मुख चेतन मनकी कोई गणना नहीं हो सकती । यह सदैव दिन-रात निरन्तर अपने कार्य करता रहता है, किंतु रात्रिमें निद्राके समय गुप्त मनका कार्य और भी तीव्र गतिसे सम्पन्न होता है ।

सूक्ष्मात्मक दृष्टिसे देखा जाय तो अनन्त शक्ति मनुष्यके इसी गुप्त मनमें है। निर्बल-से-निर्बल मनुष्यकी शक्तिका वास्तविक केन्द्र गुप्त मन ही है। शक्ति, प्रवाह, प्रेरणा, यह उसीमें भरा है। वही शान्ति, सुख और आनन्दका संचालक है। वही हमारा रक्षक या भक्षक है। प्रत्येक चेतन भावना इस अचेतन मनमें पदार्पणकर हमारे व्यक्तित्व की एक स्थायी वृत्ति बनकर उसे प्रभावित करती रहती है। इस प्रकार वह मनुष्यके मानसिक एवं शारीरिक संगठन-कार्यमें समुचित भाग लेती है। यदि वह स्वास्थ्य, शक्ति, बल, सामर्थ्य, बुद्धि तथा अन्य किसी उत्कृष्ट भावसे सम्बन्धित हुई, तब तो हमें अंदरसे एक प्रकारका उत्कर्ष तथा लाभ मिलता है और यदि इसके विपरीत भावनाएँ हुईं तो उनका प्रभाव भी निराशाजनक और हानिकारक ही होता है।

प्रार्थनाका मनोवैज्ञानिक आधार गुप्त मन ही है। मनोविज्ञानकी दृष्टिसे प्रार्थना एक प्रकारका 'आत्म-संकेत' तथा 'आत्म-सूचना' ही है। जीवनमें संकेत तथा सूचनाएँ हमें परिचालित करती हैं। उदाहरणार्थ, आप खिन्नमन होकर मार्गमें चले आ रहे हैं कि अकस्मात् किसी प्रफुल्लवदन मित्रसे आपकी भेंट हुई। उसकी मुस्कान तथा उसके उत्साह-वर्धक वचन आपपर चमत्कार औषधका कार्य करते हैं और आपकी निराशा विलीन हो जाती है। यह संकेत अथवा सूचनाका प्रभाव है। ऐसे ही एक विशेष प्रकारकी सूचनाएँ आपकी प्रार्थनाएँ भी हैं। आपकी अपनी ही भावनाएँ, अपने ही मुखसे उद्देलित पम्परामुद्र अचेतन अर्थात् गुप्त मनमें पहुँचकर मानसिक स्तरका एक भाग बन जाते हैं। जिन विचारोंका प्रभाव जितना ही शीघ्र गुप्त मनपर पहुँचाया जा सकता है, उतनी ही शीघ्र प्रार्थना फलवती होती है। प्रार्थना करते समय प्रायः मनकी अवस्था अचल एवं कुछ निष्क्रिय-सी होकर मन्द पड़ जाती है। अतः उस समय एकाग्रता होनेसे सूचनाओंका प्रवाह सीधा गुप्त मनमें प्रवेश कर जाता है। हमारे मनकी अचेतन वृत्तियाँ उन सूचनाओंको ग्रहण कर लेती हैं, विरोधी भावनाएँ नहीं उठतीं। प्रार्थनाकी अवस्थामें शरीर शीघ्र पड़ जाता है और जितनी ही हमारी तन्मयता एवं विश्वास होता है, उतनी ही अधिक हमें अन्तरकी महाविभूतिक पहुँचने तथा अपनी दृढ़ भावनाके बीजारोपण-में सुगमता होती है। जितनी बार मनको शिथिलकर, नेत्र मूँदकर, सब विरोधी विचारोंको हटाकर हम प्रार्थनापर चित्तको एकाग्र करेंगे, उतनी ही बार परमात्माके परम पावन संसर्गसे रोम-रोममें पवित्रताका संचार होगा। ऐसे ही ढंगसे रोगी स्वास्थ्यकी प्रार्थना करके रोगमुक्त तथा स्वस्थ हो सकता है।

शब्दोंको रटाटेसे तोतेकी तरह दुहरा जाना प्रार्थना नहीं। यह तो एक प्रकारका अभिनय है। प्रार्थना तो आत्म-विश्वासमें सिञ्चित होनी चाहिये। विश्वास फलदायक है। आपकी प्रार्थनाके शब्दोंमें जितनी श्रद्धा होगी, वह अन्तरात्मासे जितनी संयुक्त होगी, विरोधी भावनाओंकी जितनी उसमें कमी होगी, विश्वाससे वह जितनी सराबोर होगी, शक्तिमान् परब्रह्म सत्तासे उतना ही उसका तादात्म्य स्थापित हो सकेगा। अन्तरसे प्रेरित सच्ची प्रार्थना एक 'स्वसंकेत' अर्थात् (Auto-suggestion) की ऐसी पद्धति है, जिससे हम स्वयं अपने गुप्त मनसे अपनी ही शक्तिका महासागर खोल देते हैं। ध्यान रहे कि हमारी प्रार्थना आशावादी हो। इसीमें हमारा परम कल्याण है। हमें प्रार्थनामें कहना चाहिये— "हे परमेश्वर! आप तेजःपुञ्ज हैं, आप बुद्धिके सागर हैं, शक्तिके अपार उदधि हैं। हमें भी तेजसे परिपूरित कीजिये, हमारे अंदर बुद्धि उँडेल दीजिये, शक्तिसे हमारा अङ्ग-अङ्ग भर दीजिये—तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। गद्गद स्वरसे कहिये—'अब देर न करो, दयामय! जीवन भस्म है। अपनी दिव्य ज्योतिसे इस जीवन-में नित्य प्रकाश देते रहो। इसे समुज्ज्वल बनाकर अपने मन्दिरमें ले चलो और सदाके लिये वहीं रहनेका स्थान देकर निहाल कर दो।'" इसी प्रकार प्रार्थनाके अन्य सुन्दर रूप हो सकते हैं। परंतु सावधान! प्रार्थनामें कोई निकृष्ट शब्द न रहें। निकृष्ट शब्द घातक शत्रु हैं। हमारी प्रार्थना जितनी सुन्दर श्रद्धा तथा विश्वाससे युक्त होगी, उतना ही सृजनात्मक कार्य करनेमें वह समर्थ होगी। इसी मनोवैज्ञानिक आधारपर गायत्रीमन्त्रको 'सर्वसिद्धियोंका दाता' तथा 'वेदोंका मूल मन्त्र' कहा गया है। देखिये इस आर्योंकी प्रार्थनाको—

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

कितनी सुन्दर तथा स्व-संकेतोंसे भरपूर है यह प्रार्थना। इसका अर्थ है कि 'हम उस सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, प्राणस्वरूप ब्रह्मकी धारणा करते हैं, जो हमारी बुद्धिको (सन्मार्गकी ओर) प्रेरणा देता है।'

उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवनमें आशावादी प्रार्थनाका आध्यात्मिक प्रयोग वास्तवमें अमृतोपम ओषधि है। अतः हममेंसे प्रत्येकका कर्तव्य है कि विशुद्ध हृदयसे महान् प्रभुके अनन्त उपकारोंका आभार मानकर अपने तथा प्राणिमात्रके जीवनमें आनन्द तथा सुख-वृद्धिके लिये प्रार्थना करें। इस नित्य नियमित उपासनासे परमात्माका दिव्य स्पर्श हमारे मानसको होगा। साथ ही समस्त मनस्ताप और क्लेश भस्मीभूत होंगे और नवजीवन, नवीन बल, परम शान्ति और सुनहले प्रभातका उदय होगा। यही प्रार्थनाका मनोवैज्ञानिक रहस्य है।

प्रार्थना—पूर्णताकी भावना

(लेखक—श्रीविश्वनिधजी वर्मा)

'प्रार्थना' शब्दका अर्थ माना जाता है—माँगना, याचना करना। प्रार्थना मानव-जीवनका एक सहज, स्वाभाविक और आवश्यक अङ्ग है। जबसे मनुष्य संसारमें आया, तभीसे वह प्रार्थना करता आया है। मनुष्य मेधावी होकर भी परिस्थिति-वश और प्रकृतिवश जीवनके व्यवहार-व्यापारकी समस्याओंको सुलझानेमें यदा-कदा अपनेको असमर्थ और असहाय पाता है। तब वह अपनेसे बड़ी सत्ताके प्रति श्रद्धावनत होकर उनका हल ढूँढ़ता है, उसका हृदय किसी अपार अज्ञात सत्ताको पुकार उठता है। यही उसकी प्रार्थना है। मनुष्यके मन और हृदयके विकासके अनुसार उसकी प्रार्थनाका रूप बदलता है। प्रार्थनाका कोई निश्चित रूप नहीं है। सबकी प्रार्थना अपनी अलग विशेषता रखती है—किसीका बाह्य रूप प्रकट होता है, कोई अन्तर्मनमें ही प्रार्थना करते हैं। अपने-अपने निर्दिष्ट मतोंके अनुसार प्रायः सभी धार्मिक संस्थाएँ और परम्पराएँ प्रार्थना-प्रधान हैं। प्रार्थना सीखनी नहीं पड़ती, उसके मन्त्र रटने नहीं पड़ते, वह कोई क्लिष्ट साधना नहीं है। प्रार्थना मनुष्य-हृदयकी सहज स्वाभाविक भक्ति है, जो बालक भी करता है और उसका उत्तर पाता है।

आजकल कित साधकोंमें, विशेषकर पश्चिममें प्रार्थनाका रूप 'धन्यवाद' होकर बहुत व्यापकरूपमें चामत्कारिक ढंगसे प्रसार हो रहा है। कहा जाता है कि परमात्मा हमसे भिन्न नहीं है और हम दीन हीन आश्रित नहीं हैं कि हमें परमात्मा-से कुछ माँगना, याचना करना, गिड़गिड़ाना पड़े। परमात्माने हमें सब शक्तियाँ दी हैं, संसार दिया है, हमें दिव्य जन्म दिया है, हम उसको स्वीकार करें, हम इन सबके लिये अपनेको धन्य मानें और ऐसे दिव्य सुन्दर आयोजनके लिये परमात्मा-को धन्यवाद दें।

हिंदू योग-साधना और नवधा भक्ति करते हैं, वैसे ही अन्यान्य धर्म भी प्रार्थना-प्रधान हैं। आजकल नित नये समाजमें प्रार्थनाका विशेष विकास हो रहा है और इस मनोनियमसे लोगोंको रोगनाश, दुःख-दर्द-निवारण और गम्भीर समस्याओंमें यदा-कदा चामत्कारिक सफलताएँ मिली हैं। योरप अमेरिकामें दिन-रात, निःस्वार्थभावसे दूसरे देशों दुःख-दर्द-दारिद्र्यके निवारण-हेतु प्रार्थना अर्थात् पूर्णता धन्यवादकी भावना प्रेरित करनेवालोंकी बड़ी-बड़ी संस्थाएँ हैं। जहाँ दुःख-दर्द-दारिद्र्यग्रस्त लोगोंके पत्र, तार, टेलीफोन वायरलेससे संवाद आते हैं और उनके लिये प्रार्थनाएँ की जाती हैं। लाभ होनेपर अथवा पूर्व ही लोग उन्हें यथानुरूप रकम भेज देते हैं। मासके अन्तमें इस प्रकार जमा हुई रकम को लोग आपसमें बाँट लेते हैं। उनका धंधा एकमात्र दूसरोंके लिये प्रार्थना करना होता है। कितने ही लोग स्वास्थ्य-लाभ ऐसा करते हैं और इस प्रकार आत्मकल्याण एवं परोपकार में लगे रहते हैं।

'यूनिटी'* नामकी ऐसी एक संस्था ली समिट, मिसूरी संयुक्तराज्य अमेरिकामें है। इसका आरम्भ फिल्मोर-दम्पती द्वारा हुआ। अगस्त १८५४ में चार्ल्स फिल्मोरने अमेरिकामें जन्म लिया था। लड़कपनमें बरफपर खेल खेलनेमें उनको ऐसी बुरी चोट आयी कि उनका एक पाँव छोटा हो गया। वह आजीवन उनके लिये एक बाधा थी। फिर भी जीवनमें अनेक प्रकारके व्यापारोंके साथ करते हुए अध्यात्ममें उनकी रुचि बढ़ती गयी। रोगी होनेपर इस दम्पतीने अनेक उपचार कराकर अन्तमें परमात्माकी शरण ली। प्रार्थनाकी नवीन भावना उनमें जगने लगी। उससे उन्हें आशातीत लाभ हुआ और प्रेरणा पाकर इन्होंने पड़ोसियोंके सहयोगसे एक प्रार्थनामण्डल स्थापित किया। लोगोंको लाभ होनेके साथ उसका इतना विकास हुआ कि अब अमे

* Unity, Lee's Summit, Missouri, U.S.A.

...लपर वर्ष हो गये यह संस्था एक नगरके रूपमें है और इसमें ... कई सौ मनुष्य कार्य करते हैं। दो साप्ताहिक एवं छः मासिक ...पत्र निकलते हैं। इनकी आध्यात्मिक पुस्तकें भी यहाँसे निकलती ...हैं, कई विभाग हैं। अध्यात्मयोग-विभाग देशमें, संसारमें केन्द्र-...की स्थापना और संचालन करता है। कई सौ केन्द्र हैं। हजारों प्रचारक हैं। डाकद्वारा भी शिक्षा दी जाती है। हजारों शिष्य हैं। इनके पत्रोंके लाखों ग्राहक हैं। कई ट्रक भरकर रोज इनके यहाँसे पूरी-पूरी डाक जाती है। प्रत्येक पत्र प्रार्थनापूर्वक लिखा जाता है और डाकमें डाला जाता है। संस्थाका हरेक व्यक्ति हरेक काम शुभभावनाकी प्रार्थनापूर्वक करता है। इनका अपना रेडियो स्टेशन है, जहाँसे समय-समयपर सम्पूर्णरूपसे नित्य प्रार्थना एवं प्रवचनके कार्यक्रम प्रसारित होते हैं।

मार्च आफ फेथ, विंग्स आफ हीलिंग, सोल क्लिनिक* आदि अन्य अनेक प्रार्थना करनेवाली संस्थाएँ और प्रकाशन हैं, जिनके भी कार्यक्रम कई सौ रेडियो स्टेशनोंद्वारा प्रसारित किये जाते हैं।

लोगोंको प्रार्थनाद्वारा जो लाभ या सफलता मिलती है, वह इन पत्रोंके रूपमें उन साप्ताहिक अथवा मासिक पत्रोंमें प्रकाशित होता है। प्रतिमास इन पत्रोंमें हमें दंग कर देनेवाले समाचार पढ़नेको मिलते हैं कि खुले दिलसे प्रार्थना करनेवाले लोग प्रार्थनासे कितना और कैसा चामत्कारिक और तात्कालिक लाभ उठाते हैं। सारा संसार एक चमत्कार और रहस्य है। यह विश्व भावनामात्र है। क्योंकि हमारा व्यवहार और व्यापार सब हमारे ही मन, बुद्धि और आत्मविकासके प्रतिबिम्ब हैं।

इन सफल एवं सिद्ध प्रार्थना करनेवालोंका कथन है कि अपने परमात्मा (परम आत्मा) से, अपने प्रति ईमानदारी और खुले दिलसे निस्संकोच अपना दुःख-दर्द-दारिद्र्य प्रकट करो अथवा खुले दिलसे धन्यवादपूर्वक संसारके वैभवको स्वीकार करो—जो कुछ तुम्हें प्राप्त है, उसके लिये परमात्माको धन्यवाद दो। दुःख-दर्द-दारिद्र्य वास्तवमें हमारी भ्रान्त कल्पना, असत्य भावनाके ही प्रतिबिम्ब हैं और ये सब ऐन्द्रियिक प्रभाव और अस्थायी हैं। सत्य परमतत्त्व सनातन और मन-बुद्धि-इन्द्रियातीत है। उस सत्यमें स्थिर हो जाओ तो सब दुःख-दर्द-दारिद्र्य वैसे ही भाग जायगा जैसे सूर्यके उदय होते ही अन्धकार भाग जाता है। अन्धकार, अज्ञान वास्तवमें कुछ नहीं। सूर्य चौबीसों घंटे प्रकाशमान है। दिन-रात तो पृथ्वीके फिरनेसे हमारी मायादृष्टि एवं स्थूल दृष्टिमें भासमान होते हैं। तुम परमात्माके पुत्र, उसके उत्तराधिकारी हो। संसारका सब वैभव तुम्हारा है, उसे स्वीकार करो। तुम परमात्माके समान पूर्ण हो। इस पूर्णताको भावनापूर्वक स्वीकार करके अपनी पूर्णताको सिद्ध करो। हीन-हीन भावनासे दीनता-हीनता प्राप्त होती है। श्रेय-भावना धारणकर श्रेय प्राप्त करो।

बहुत वर्षोंकी बात है। आयर्लैंडके ब्रिस्टल नगरमें, मीस्टर मुलरने अपनी ऐसी पूर्णताकी श्रद्धा-भावनासे एक अनाथालय स्थापित किया था। बढ़ते-बढ़ते कई सौ लड़के उस अनाथालयमें हो गये थे। वे कभी किसीसे याचना नहीं करते थे, न समाचार-पत्रोंमें चंदेकी अपील छपाते थे। केवल श्रद्धा-प्रार्थनाके बलपर वे अनाथालय चलाते थे। वे पूर्णताकी भावनामें सदा लीन रहते थे। एक दिन ऐसा हुआ कि भोजनका समय हो गया किंतु भोजनकी व्यवस्था नहीं हो सकी। प्रबन्धकने स्पष्ट कह दिया कि आज इस समय खानेको कुछ भी नहीं है। मुलर महोदय कुछ भी विचलित न हुए। कई बार कहकर प्रबन्धक-ने चिढ़कर अन्तमें कहा—'भोजनका समय हो गया, कहिये, क्या घंटी बजा दूँ?' मुलर साहबने उत्तर दिया—'भोजनका समय हो गया हो तो घंटी बजा दो।'

घंटी बजा दी गयी। सब लड़के भोजनालयमें आ गये। इतनेमें ही बढ़िया तैयार खाद्य-सामग्रीसे भरी एक 'वैगन' अनाथालयके दरवाजेपर आ लगी। बढ़िया माल-माल सब बच्चोंको परोसा गया। पता चला कि किसी धनिकने अपने यहाँ एक बृहद् भोजका आयोजन किया था, किंतु कुछ कारणसे वह भोज स्थगित कर देना पड़ा। खाद्य-सामग्री खराब न जाय, इसका विचार करनेपर उसे मुलर साहबके अनाथालयका स्मरण हुआ और अन्तः प्रेरणासे उसने उस समय वह सब सामग्री उनके अनाथालयको भेज दी।

इसी प्रकार एक दूसरी सत्य घटना अभी हालमें छपी थी। अमेरिकामें एक परिवार अपनी मोटरमें जंगली पहाड़ी मार्गसे यात्रा कर रहा था। इतनेमें उनकी मोटरका एक टायर फट गया। सुनसान जगह थी, बस्ती बहुत दूर थी और मोटरमें अतिरिक्त टायर भी न था। ऐसे समय प्रार्थना, पूर्णताकी भावना ही एकमात्र उपाय सिद्ध हुई। एक बच्चेकी भावनामें प्रखरता थी। उसने कहा—'परमात्मा ही हमें यहाँ 'टायर'

* March of Faith, Wings of Healing, Soul Clinic.

चमत्कार हो जाते हैं। चमत्कार लानेके लिये एकमात्र ... उपाय 'प्रार्थना' है।'*

यह चमत्कार कोई मनुष्य स्वयं नहीं करता, किंतु दिव्य विधानके आध्यात्मिक नियमोंके अभ्यास एवं प्रयोगसे होता है, जैसे तालेमें ठीक कुंजी डालकर घुमानेसे ताला खुल जाता है। तालेको यों ही खटखटाते रहनेसे या उसमें गलत कुंजी डालकर गलत ढंगसे घुमानेसे ताला नहीं खुलता। प्रार्थना भी जीवनकी सब विकट परिस्थितियों एवं समस्याओंको सुलझानेके लिये, सबके लिये सहज सुलभ सच्ची साधना है, जो अपने-आप प्रेरित होती है।

डॉ॰ मैक स्पकने एक पुस्तक लिखी है, जिसमें उन्होंने बताया है कि 'प्रार्थना दुनियोंकी सबसे बड़ी शक्ति है, जो सभी मनुष्योंको सुलभ है।' एक अन्य आध्यात्मिक अभ्यासी लेखक इमर फाक्सने लिखा है—'परम आत्माके लिये कुछ भी कठिन नहीं है, वह प्रतिक्षण चमत्कार करता है।' डॉ॰ एमिली केडीने लिखा है—

"There is something about the mental act of thanksgiving that seems to carry the human mind far beyond the region of doubt into the clear atmosphere of faith and trust, where all things are possible."

अर्थात् प्रार्थनाकी मानसिक क्रियासे, धन्यवादकी भावनासे ऐसा कुछ होता है कि शङ्काके क्षेत्रसे मानव मन श्रद्धाकी भूमिकामें आ जाता है, जहाँ सब कुछ सम्भव है।

पेनसिल्वेनिया (अमेरिका) का एक संवाद छपा है—

एक युवकके हृदयका आपरेशन अस्पतालमें हुआ। आपरेशनके पहले उसके माता-पिता संशयग्रस्त थे, किंतु युवकने हिम्मत बाँध ली थी। उसे परमात्मापर पूर्ण श्रद्धा थी। आपरेशनके बाद कई दिनोंतक वह प्रायः अचेत रहा। कुशल डाक्टरोंने कहा कि उसके मस्तिष्कमें वायुका ऐसा प्रकोप हो गया है कि होश आनेकी आशा नहीं मिलती और होश आया भी तो वह किसीको पहचानने या बातचीत करने योग्य भी न होगा। उसका जीवन, मस्तिष्ककी क्रियाके बिना, अवश्य होगा। उसके एक हितैषीने यह समाचार सुना तो वे चुपचाप बिना किसीको कुछ प्रकट किये, उस युवकके लिये प्रार्थना करने लगे। कई दिनोंतक कुछ न हुआ। किंतु उसका हृदय बराबर काम कर रहा था। एक दिन उसकी माँने उसे पुकारा, कोई उत्तर न मिला। सब लोग निराश-से थे। फिर सम्बोधन किया, तो उत्तर मिला। वह माँको पहचान गया। वह स्वयं हिल-डुल नहीं सकता था, सारे शरीरको लकवा-सा मार गया था। कुछ दिनों बाद वह सिर हिलाने लगा, फिर पाँव भी, फिर हाथ भी। डाक्टरोंने इसे चमत्कार कहा है। सबसे वह स्वस्थ होकर सब प्रकारके खेल-कूद करता रहा है और उसका मस्तिष्क ठीक है।

मायाके द्वारा किनकी बुद्धि ठगी गयी है ?

श्रीध्रुवजी कहते हैं—

नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः।
अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्यमिच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि नृणाम्॥
(श्रीमद्भा॰ ४। ९। ९)

'प्रभो! इन शवतुल्य शरीरोंके द्वारा भोगा जानेवाला, इन्द्रिय और विषयोंके संसर्गसे उत्पन्न सुख तो मनुष्योंको नरकमें भी मिल सकता है। जो लोग इस विषय-सुखके लिये लालायित रहते हैं और जो जन्म-मरणके बन्धनसे छुड़ा देनेवाले कल्पतरुस्वरूप आपकी उपासना भगवत्प्राप्तिके सिवा किसी अन्य उद्देश्यसे करते हैं, उनकी बुद्धि अवश्य ही आपकी मायाके द्वारा ठगी गयी है।'

*Dr. Alexis Carrel: The only condition indispensable to the occurrence of the phenomenon is Prayer. Prayer may set in motion a strange phenomenon, the miracle.

प्रार्थनाका स्वरूप

(लेखक—श्रीमदनबिहारीजी श्रीवास्तव)

प्रार्थना जीवनका एक मुख्य अङ्ग है। उसका वास्तविक रूप क्या होना चाहिये, यही इस लघु प्रबन्धका उद्देश्य है।

साधारणतः हमारी प्रार्थनाएँ व्यक्तिगत कष्ट-निवारणके हेतु ही हुआ करती हैं। भगवान्‌से हम किसी-न-किसी रूपमें अपने दुःखोंसे छुटकारा पानेकी याचना करते हैं। उनके समक्ष अपनी कठिनाइयोंकी सूची पेश करते हैं और रोकर, गिड़गिड़ाकर, सिसककर आर्तभावसे उनका निराकरण चाहते हैं। इस याचनामें दो बातें विचारणीय हैं—

एक यह कि या तो प्रार्थीके कष्टोंपर नियन्ताका ध्यान बिना प्रार्थनाके आकर्षित नहीं हो सकता। और—

दूसरी यह कि सर्वेश्वरका ध्यान उन कष्टोंपर होते हुए भी बिना प्रार्थनाके वे उन्हें हटाना नहीं चाहते या हटा नहीं सकते।

यदि हम पहली बात मानें तो सर्वज्ञमें अल्पज्ञताका दोष आता है और दूसरी बात माननेसे करुणासागरमें—जिनकी अहैतुकी कृपाका यशोगान पूर्णरूपेण वेद, पुराण, श्रुति और सिद्ध भी नहीं कर सकते और जिनका सर्वसमर्थ होना साधारण गुण है—क्रूरता या असमर्थताका दोष आता है, जो सर्वथा निर्मूल ही नहीं, बल्कि ईश्वरकी निन्दा करना और उसके प्रति अविश्वास प्रदर्शन करना है।

क्या परमात्मा हमारे दुःखोंको नहीं जानते या जानकर भी बिना कहे हटाना नहीं चाहते या नहीं हटा सकते?

नहीं, वे सर्वज्ञ सब जानते हैं और यह भी जानते हैं कि जिसको हम अल्पज्ञ कष्ट और दुःख समझते हैं, उसका वास्तविक रूप क्या है। हम अपनी अल्पज्ञताके कारण—अपनी सीमित बुद्धिसे जिसे दुःख समझते हैं, वह शायद हमारे कल्याणका निश्चित सोपान हो। जब माता किसी चतुर जर्राहसे अपने छोटे बच्चेके फोड़ेको, जो और किसी तरह अच्छा नहीं हो सकता, यह आदेश देते हुए कि 'देखना बच्चेका कोई अंग टूट न जाय और मवाद रह न जाय' चिरवा देती है, तब क्या बच्चा अपनी माता और जर्राहपर कुपित नहीं होता और चीख-चीखकर नहीं पुकारता? पर माताकी-सी बुद्धि रखनेवाला व्यक्ति क्या इसे क्रूरता समझता है? नहीं, नहीं, चीरनेमें, इस चीरनेकी तकलीफमें भी उसे मङ्गल-कामना ही दीखती है। हम औरोंकी बात क्या कहें, जब भक्तशिरोमणि श्रीभरतजी भगवान् श्रीरामचन्द्रके वियोगसे विह्वल हो उन्हें अयोध्या लौटा लाने गये थे, तब वहाँ भरतजीने भगवान्‌के न लौटनेपर यह हठ किया कि 'यदि आप नहीं लौटेंगे तो या तो मैं भी वनमें रहकर आपकी सेवा ही करूँगा, या फिर शरीर त्याग दूँगा।' इस उलझनमें भगवान्‌को ऐसे समय भेद खोलना ही होगा और भरतको महान् दिव्य दिग्दर्शन कराना ही होगा। भगवान्‌के सङ्केत करनेपर गुरु वसिष्ठने भरतको एकान्तमें समझाया और कहा कि 'भगवान् रावणको मारनेके लिये अवतरित हुए हैं, सीता योगमाया हैं, लक्ष्मण शेष हैं; इसलिये भगवान् निःसन्देह वनको जायँगे।' * तब भरतकी आँखें खुलीं और वियोगकी असह्य वेदनाको भूलकर वे भगवान्‌की चरण-पादुका लेकर लौटे।

तात्पर्य यह कि भगवान्‌का एक विधान है और वह 'मङ्गलमय'; जो कार्य उस विधानमें हो रहे हैं, वे सर्वदा-सर्वथा सबके कल्याणके लिये ही हैं। सम्भव है उस विधानका रहस्य हमें न ज्ञात हो और वह हमें अमङ्गलसूचक प्रतीत हो। परंतु ज्यों ही हमें उस विधानके मङ्गलमय होनेका ज्ञान या कम-से-कम विश्वास हो जायगा, त्यों ही फिर हमारी प्रार्थना यह नहीं होगी कि हमारे कष्ट दूर हों, बल्कि हम कहेंगे कि भगवान्! आप

---

* रहस्ये भरतं प्राह वसिष्ठो ज्ञानिनां वरः।
वत्स गुह्यं शृणुष्वेदं मम वाक्यात् सुनिश्चितम्॥
रामो नारायणः साक्षाद् ब्रह्मणा याचितः पुरा।
रावणस्य वधार्थाय जातो दशरथात्मजः॥
योगमायापि सीतेति जाता जनकनन्दिनी।
शेषोऽपि लक्ष्मणो जातो राममन्वेति सर्वदा॥
रावणं हन्तुकामास्ते गमिष्यन्ति न संशयः।
कैकेय्या वरदानादि यद्यन्निष्ठुरभाषणम्॥
सर्वं देवकृतं नो चेदेवं सा भाषयेत् कथम्।
तस्मात् त्यजाग्रहं तात रामस्य विनिवर्तने॥
(अध्यात्म०, अयोध्या० ९।४१—४७)

विधान पूरा हो। जो आपकी मर्जी है, उसीमें हम प्रसन्न हैं और वही हो। हम न्यायी व दया' होंगे और हमारा भाव यह होगा कि प्रभो तस्लीम हम हैं, जो मिजाजे यारमें आये।' व्यक्तिगत कठिनाइयोंका निराकरण चाहनेके बदले हम आत्म-समर्पण कर देंगे और जिस तरह भगवान्‌से 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।' (गीता १८।६६) इत्यादि सुननेके बाद अन्तमें अर्जुनने 'करिष्ये वचनं तव' (गीता १८।७३) कहा था, उसी तरह उनके विधानमें हम भी मङ्गलका अनुभव करेंगे और उस विधानमें 'निमित्तमात्र' होना अपना सौभाग्य समझेंगे।

यह हुई उनकी बात, जो विश्वासमें बहुत ऊँचे हैं। जब-तक हम इतने ऊँचे स्तरपर नहीं पहुँच जाते, तबतक कम-से-कम व्यवहारमें इतना तो अवश्य कर सकते हैं कि यदि माँगना ही है—और प्रार्थनाका व्यवहारमें अर्थ याचना या माँगना ही तो है—तो लोकहितकी ही याचना करें। इसलिये यह प्रार्थना—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

—बहुत सुन्दर है। किसी दशामें भी अपनी व्यक्तिगत किसी बातके लिये प्रार्थनाका न होना ही सर्वश्रेष्ठ है। इस निबन्धमें निष्क्रियताका प्रतिपादन नहीं है, सतत निष्काम कर्म तो करते ही रहना होगा।

तात्पर्य यह कि प्रार्थनाका वास्तविक रूप है—

(१) भगवान्‌के मङ्गलमय विधानमें आत्मसमर्पण—प्रथम श्रेणीकी प्रार्थना।

(२) केवल लोकहितकी कामना—द्वितीय श्रेणीकी प्रार्थना।

प्रार्थना—एक अपरिमित शक्ति

(लेखक—श्रीमनपराय मधु बी०एस-सी०, एडूमापरम)

ईश्वरकी प्रार्थना प्रत्येक देशमें और प्रत्येक धर्ममें किसी-न-किसी रूपमें की जाती है। व्यक्तिगत रूपमें अथवा सामूहिक रूपमें, घरोंमें, मन्दिरोंमें, संस्थाओंमें अथवा आश्रमोंमें प्रार्थना होती है—यह हम देखते हैं। इन प्रार्थनाओंको देखकर हमारे मनमें स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि सच्ची प्रार्थना क्या है, उसका उद्देश्य क्या है, उसका महत्त्व क्या है तथा प्रार्थना करनेसे हमको क्या लाभ होता है।

प्रार्थना संतोंके, भक्तोंके और महात्माओंके जीवनकी समृद्धि है, शान्ति है, बल है। वे अपने जीवनकी प्रत्येक घड़ी और प्रत्येक पलमें प्रार्थनाके अगम्य प्रभाव और अपरिमित शक्तिका अनुभव करते हैं। प्रार्थनाके निर्मल और शान्त क्षणमें निमज्जन करनेवालोंको जो परमानन्द प्राप्त होता है, उसके सामने संसारका कोई सुख अथवा स्वर्गके विलास-वैभवका कोई आनन्द कोई बिसात ही नहीं रखता।

सच्ची प्रार्थना केवल ईश्वरकी पूजा या बाह्य उपासना-मात्र नहीं है, बल्कि प्रार्थनामें लीन हुए मनुष्यके भीतरसे स्वतः ही निःसृत होनेवाला तथा परमेश्वरके अगाध शक्ति-सागरमें विलीन होनेवाला एक अदम्य आत्मशक्तिका स्रोत है। अखिल ब्रह्माण्डके स्रष्टा, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधारक परम पिता, 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'-स्वरूप, सर्वव्यापी होकर भी अलक्ष्य रहनेवाले परमात्माके साथ एकतान होनेका मानवीय प्रयास ही प्रार्थना है। प्रार्थनाका अन्तिम ध्येय और फल, परमात्माके साथ आत्माका ऐक्य-सम्पादन है। वाणी और विचारसे अतीत महान् प्रभुके साथ आत्माका यह तादात्म्य भी वर्णनातीत है, निगूढ़ है।

हृदयकी गहराईसे अनन्य प्रेम और श्रद्धापूर्वक की गयी प्रार्थना मनुष्यके तन और मनपर अद्भुत प्रभाव डालती है। प्रार्थनाके द्वारा मनुष्यमें जो बुद्धिकी निर्मलता और सूक्ष्मता, जो नैतिक बल, जो अदम्य श्रद्धा, जो आध्यात्मिक शक्ति और आत्मविश्वास तथा जीवनको उद्विग्न और संतप्त करनेवाले जटिल सांसारिक प्रश्नोंको सुलझानेकी पारदर्शी समझ और ज्ञानकी प्राप्ति होती है, उसकी तुलनामें इस जगत्‌में दूसरी कोई ऐसी शक्ति या रसायन नहीं है, जो मनुष्यके जीवनपर इतना चामत्कारिक प्रभाव डाल सके।

यदि हम सच्चे दिलसे, एक निष्ठासे, विनम्रभावसे प्रार्थना करनेकी आदत डाल दें तो थोड़े ही समयमें हमको अपने जीवनमें चामत्कारिक परिवर्तन दिखायी देने लगेंगे। अपने प्रत्येक कार्यमें तथा व्यवहारमें इसके प्रभावकी गहरी छाप पड़ी हुई जान पड़ेगी। जिस मनुष्यका आन्तरिक जीवन इस प्रकारकी विशुद्ध हृदयसे की गयी प्रार्थनाके फलस्वरूप उन्नत हो गया है, उसकी मुख-मुद्रा देखने ही योग्य होती है। वह कितना शान्त, समदर्शी और कितने अनोखे सात्त्विक ओजसे

दिखलायी देता है। उसके स्वभाव और व्यवहारमें कितना स्नेहमय और कितना सौम्यभाव निखर उठता है। उसका हृदय कितना निर्दोष और बालकके समान सरल है। सच पूछिये तो उसके अन्तःकरणकी गहराईमें ईश्वरके प्रति ऐसा अटल विश्वास तथा प्रेमकी एक ऐसी ज्योति चमकती रहती है कि उसके पवित्र प्रकाशमें अपनेको वह भलीभाँति देख सकता है। अपने दोष, अपने अंदरकी स्वार्थ-वृत्ति, तुच्छ अभिमान या क्षुद्र वासनाओंको वह निहारता है। उसको अपनी अपराधका, नैतिक उत्तरदायित्वका, बौद्धिक लघुताका और सांसारिक लोभ और आसक्तियोंकी असारताका ठीक-ठीक भान होता जाता है। इस प्रकार वह अधिकाधिक उन्नतशील होकर प्रभुके समीप पहुँचता जाता है।

प्रार्थना वस्तुतः ही एक महान् अगम्य बल है। अंग्रेज महाकवि टेनीसन कहता है—

" More things are wrought by prayer than this world dreams of."

'जगत् जिसकी कल्पना कर सकता है, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक महान् कार्य प्रार्थनाके द्वारा सिद्ध हो सकते हैं।'

एक नहीं, अनेक बार मैंने देखा और अनुभव किया है कि अच्छे-अच्छे वैद्यों और डाक्टरोंकी सारी चिकित्सा व्यर्थ हो जानेके बाद, बिना किसी खास उपचारके केवल ईश्वरमें परम निष्ठा और अचल श्रद्धायुक्त प्रार्थनाद्वारा बड़े विषम और असाध्य रोगके रोगी आश्चर्यजनक रीतिसे रोगमुक्त हो जाते हैं। महान् भक्तों और संतोंके जीवनमें हम ऐसी अनेक घटनाओं और प्रसङ्गोंके विषयमें सुनते और पढ़ते हैं कि जिनका सामान्य रीतिसे होना सम्भव नहीं है तथा जिनको हम प्रकृति-विरुद्ध कह सकते हैं। इस प्रकारकी घटनाओंको हम अपनी भाषामें भक्तों, संतोंका या भगवान्‌का 'चमत्कार' कहते हैं। परंतु यह वस्तुतः एक महापुरुषके अन्तःकरणकी सच्ची प्रार्थनाद्वारा प्राप्त हुई अपरिमित शक्तिका ही परिणाम है। क्योंकि प्रकृतिके कठिन अटल नियमोंका उल्लङ्घन करनेकी सामर्थ्य इस संसारमें यदि किसीमें है तो वह ईश्वरकी प्रार्थनामें ही है। मनुष्य जो प्रार्थनाके द्वारा अपने जीवनमें भी एक अगम्य ईश्वरीय शक्तिके बल और स्थिर संचारका अनुभव करता है, यह भी क्या एक चमत्कार नहीं है!

अपने राष्ट्रपिता पूज्य महात्माजीके जीवनको देखिये। उनके मनमें प्रार्थनाका महत्त्व सबसे अधिक था। उनके अन्तःकरणकी ईश्वर-प्रार्थना उनके जीवनमें ओतप्रोत हो गयी थी। वे निस्संकोच कहते थे कि मेरे सामने जो राष्ट्रिय, सामाजिक अथवा राजनीतिक विकट प्रश्नोंकी गुत्थीका सुलझाव मुझे अपनी बुद्धिसे नहीं, किंतु स्पष्टता और शीघ्रतासे प्रार्थनाके द्वारा विशुद्ध अन्तःकरणसे मिल जाता है।' वे प्रार्थनाको एक अभय और अमोघ शस्त्र समझते थे। सत्य और अहिंसाके वास्तविक स्पष्ट दर्शन उन्हें प्रार्थनामें ही मिलता था।

कुछ लोग समझते हैं कि अमुक छन्द, मन्त्र या अथवा अमुक पदको किसी विशेष रीतिसे बोलने या पढ़नेको 'प्रार्थना' कहेंगे। दूसरे लोग कहते हैं कि प्रार्थना तो निर्बल और दुखी मनुष्यको आश्वासन देनेका साधन है। बहुतोंका मत है कि लक्ष्मी, अधिकार, यश, संतति या ऐसी ही किसी सांसारिक पदार्थकी सिद्धिके लिये ईश्वरसे नम्रतापूर्वक याचना करना ही प्रार्थना है। यदि इतनेसे ही अर्थमें हम प्रार्थनाको लेते हैं तो हमारा प्रार्थनाका मूल्याङ्कन बहुत ही अपूर्ण और निम्न कोटिका है। इस प्रार्थनाका सार अपने स्वार्थके छोटे मसले करते हैं। यह तो वैसी ही है, जैसे कोई अपने घरकी टंकीके ऊपर विषम उत्पन्न करनेवाली मेघवृष्टिका मूल्याङ्कन करे। ठीक-ठीक विचार करें तो मनुष्यकी सर्वोच्च शक्तियोंका ईश्वरसाक्षात्कारके साथ तादात्म्य ही मानव-जीवनके उत्कर्षका परम ध्येय है। इस अन्तिम ध्येयतक पहुँचनेके लिये जो क्रियाशील शक्ति है, वही हमारी प्रार्थना है। देह, चित्त और आत्माके पूर्ण सामञ्जस्य ऐक्यसे उत्पन्न अपूर्व आनन्द, शान्ति और सत्यका स्पष्ट अनुभव हमको प्रार्थनासे ही मिलता है।

प्रार्थनासे भले ही हम अपनी शारीरिक व्याधियोंको दूर न कर सकें, अपने मृत स्वजनको जीवित न कर सकें और कोई ऐसे चमत्कार न दिखा सकें, जैसे कि महापुरुषोंके जीवनमें सुननेमें आते हैं—तथापि प्रार्थना एक ऐसा दिव्य तेजपूर्ण केन्द्र है, जिसके द्वारा निकलनेवाला अन्तर्तमका सौम्य प्रकाश रोगग्रस्त तनमें और दीनताग्रस्त मनमें सूर्य-प्रकाशके समान एक प्रकारकी अपूर्व शक्ति और सौन्दर्यका संचार करता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि प्रार्थनामें इतना बल कहाँसे आता है। विज्ञान इस विषयमें मौन है, क्योंकि सम्पूर्ण वैज्ञानिक अनुसंधान और आविष्कार भी अभीतक ईश्वरके सदन तक अभीतक नहीं पहुँच सके हैं। प्रार्थना तो

साधारण बात होती है कि अल्पशक्ति मानव इसके द्वारा अपने मन और आत्माको अनन्तशक्ति, सत्य-ज्ञानस्वरूप परमात्माके साथ जोड़ता है, जोड़नेका प्रयास करता है। इससे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' की विराट् शक्तिका छोटा-सा अंश तो उसमें उतरता ही है। इस दिव्य चैतन्य अंशसे युक्त मनुष्य इस प्रकार प्रार्थनाके द्वारा बहुत बलवान्, उन्नत और चैतन्यवान् बन जाता है।

अस्तु, इतना तो स्पष्ट है कि सांसारिक वासनाओं और आसक्तियोंकी परितार्थताके लिये की गयी प्रार्थना हमको कभी सच्चा बल नहीं प्रदान कर सकती। सच्ची प्रार्थनामें परमात्मासे कुछ माँगा नहीं जाता, बल्कि सच्ची प्रार्थना उसके-जैसा बनने, और अन्तमें उसके साथ एकरूप होनेके लिये ही होती है। प्रार्थनाके द्वारा हमको ईश्वरके सांनिध्यका तथा अपने ईश्वरमय होनेका अनुभव होता है। गद्गद कण्ठसे तथा स्नेहार्द्र हृदयसे जगभरके लिये भी की गयी प्रार्थना भक्तका कल्याण करनेमें पर्याप्त है। सचमुच, किसी स्त्री या पुरुषकी सच्चे अन्तःकरणसे की गयी प्रार्थना कभी निष्फल नहीं जाती।

'सबको चाहिये धर्मरस' के अनुसार धर्मकार्य किसी भी समय हो सकते हैं। इसी प्रकार प्रार्थना भी किसी स्थानमें और किसी समय हो सकती है। इसके लिये किसी निश्चित स्थान या किसी निश्चित समयका बन्धन नहीं है। मन्दिरमें, घरके एकान्त कोनेमें, दूकानमें, आफिसमें, स्कूलमें—जहाँ चाहें, जिस समय चाहें, प्रार्थना कर सकते हैं।

मनुष्यत्वके निर्माण तथा योग्य विकासके लिये प्रार्थना मनुष्यके दैनिक व्यवसायमें ओतप्रोत हो जानी चाहिये। मात्र थोड़ा-सा समय प्रार्थनामें लगाना और शेष समयमें अधर्म और असत्यका आचरण करते रहना—इसका कोई अर्थ नहीं है। यदि सच्ची प्रार्थना जीवनका मार्ग है तो सच्चा धर्ममय जीवन भी एक प्रकारसे प्रार्थनाका ही मार्ग है।

सुन्दर साहित्यमय आलङ्कारिक भाषामें ही प्रार्थना हो सकती है—यह भी एक भ्रम है, असत् सिद्धान्त है। भाषा तो एक बाह्य आडम्बर है। प्रभुके प्रति प्रेमसे विह्वल अन्तःकरणमेंसे प्रभुसे मिलनेके लिये जो तरङ्गें, जो भाव अपने-आप उमड़कर बाहर आते हैं, वही सच्ची प्रार्थना है। ऐसी प्रार्थना चाहे जिस भाषामें हो, चाहे जिन शब्दोंमें हो, वह भगवान्को सदा स्वीकार होती है। तुलसी, सूर, मीरा या नरसिंहके सर्वोत्तम पद या भजन प्रभु-प्रार्थनाके लिये किसी खास भाषामें नहीं बनाये गये हैं। परंतु भक्तहृदयकी गहराईसे नैसर्गिक रीतिसे निकले प्रेम-स्रोत ही इन भावपूर्ण पदों या उद्गारोंके द्वारा बाहर व्यक्त हुए हैं।

धर्म, प्रार्थना और ईश्वरीय तत्त्वकी ओरसे आज मानव उदासीन है। इस उदासीनताके कारण ही जगत् आज विनाशके द्वारपर खड़ा है। मनुष्यके आत्मविकासके मूलमें जिस अध्यात्मशक्ति, जिस ईश्वरीय अंश, जिस दिव्य तत्त्वकी आवश्यकता है, उसकी हमलोग—मानव-जाति, उपेक्षा कर रहे हैं। फलस्वरूप जगत् घोर निराशा, अन्धकार, अशान्ति, वैर-विरोध और हिंसाके जालमें जा फँसा है। यदि जगत्को इस जालमेंसे बाहर निकलना है, त्राण पाना है तो जगत्के प्रत्येक मनुष्यको अपने व्यक्तिगत जीवनमें आत्माकी सच्ची उन्नतिके लिये एकनिष्ठासे प्रभु-प्रार्थना करनेकी आदत डालनी पड़ेगी, जिससे उपेक्षित एवं अवनत मानव-आत्मा प्रार्थनाके अगम्य बलके प्रभावसे पुनः विशेष उन्नत हो जाय और सभी और मानव-जगत् फिर अत्यन्त सुखी हो जाय और सभी मनुष्यों और राष्ट्रोंके जीवनमें—शान्ति प्राप्त करे। इस दृष्टिसे मनुष्यों और राष्ट्रोंके जीवनमें पहलेकी अपेक्षा आज प्रार्थना बहुत ही महत्त्वकी वस्तु तथा अनिवार्य बन गयी है।

ब्रह्माजीकी कामना

ब्रह्माजी कहते हैं—

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।१०)

'इसलिये भगवन्! मुझे इस जन्ममें, दूसरे जन्ममें अथवा किसी पशु-पक्षी आदिके जन्ममें भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो कि मैं आपके दासोंमेंसे कोई एक होऊँ और फिर आपके चरण-कमलोंकी सेवा करूँ।'

प्रार्थनासे मनोऽभिलाषकी पूर्ति

(लेखिका—संन्यासिनी मदालसा)

आदमी जब किसी भँवरमें फँस जाता है और डूबने लगता है और कहीं भी उसे सहारा नहीं दीखता, उस समय वह चीखता है—भगवान्के सामने, जिसे दूसरे शब्दोंमें प्रार्थना कहते हैं। प्रार्थना दुखियोंका सहारा है, निर्बलोंका बल है, निर्धनका धन, अनाथोंका नाथ, दीनका बन्धु—सब कुछ प्रार्थना ही है। प्रार्थनामें बहुत ताकत है। प्रार्थना गर्म लोहेको ठंडा और पत्थरको मोम कर देती है। वह तूफानको रोक देती है, डूबती नैयाको किनारे लगा देती है। संसारी लोग भी प्रार्थनासे नरम हो जाते हैं, फिर परमात्मा तो अत्यन्त कोमल हैं, वे प्रेमी और दयालु हैं तथा सर्वशक्तिमान् हैं। उनसे की गयी प्रार्थना कभी खाली नहीं जाती। प्रार्थनासे आत्मशक्ति बढ़ती है और समस्त कामनाएँ पूरी होती हैं। इसके विषयमें प्राचीन उदाहरण तो अनेक हैं, मैं तो अपनी प्रार्थनाओंका वर्णन करूँगी। जैसे द्रौपदीके चीर बढ़ानेके लिये प्रभु दौड़ पड़े थे, उसी प्रकार मेरी भी पुकार सुनकर उन्होंने कई बार सहायता की; जैसे प्रह्लादकी अनेक दुःखोंसे परमात्माने रक्षा की थी, ठीक उसी प्रकार मेरी भी अनेक बार रक्षा की है। कहीं पानीसे, कहीं आगसे, कहीं बिजलीसे, कहीं कोठेपरसे गिरनेसे और कहीं ढोंगी साधु-संतोंसे और पशुओंसे मेरी रक्षा की है। मेरे जीवनका अनुभव है कि प्रार्थना करते ही न जाने उनकी शक्ति कहाँसे आ टपकती है। मेरा जन्म ईश्वर-प्रार्थना करनेसे हुआ था। जन्मसे ही भगवान्का नाम कानोंमें पड़ा था और उनकी महिमा सुनती रही थी। एक बार मनमें आया कि अपनी गुड़ियोंमें जान डलवा दूँ, प्रार्थना करके परंतु मेरा प्रश्न व्यर्थ गया। फिर मेरी आँखोंमें सफेद फूली और टेंटर पड़ गये। चार महीने मुझे कुछ भी दिखायी नहीं दिया। डाक्टरोंने कहा था कि मेरा बोलना और चलना भी ईश्वर-कृपासे ही हुआ था। पूरा बोल नहीं सकती थी, ठीक चलती नहीं थी। आँखें भी उनकी कृपासे ठीक मिली हैं। मेरा यत्न और डाक्टरोंका परिश्रम व्यर्थ जाता था। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। मैंने अपना इष्ट श्रीकृष्णजीको चुन लिया और उनकी पूजा करने लगी। [illegible] उनका नाम रख लिया। एक दिन वे खरीदे समय स्वप्नमें हँसते हुए दिखायी दिये। श्रीकृष्णजीकी गीतापर जो चित्र है, ठीक उसी प्रकारकी आकृति थी। मैं जग गयी, उधर भगवान्ने मेरे संकल्पको सहर्ष स्वीकार कर लिया। जो भी विघ्न आते गये, उन्हें वे मिटाते गये, मुझे रुकने नहीं दिया। जब-जब धर्म संकट पड़े, तब-तब रक्षा की, प्रलोभनोंसे बचाया, भयसे बचाया, सब संकटोंसे रक्षा की। जब-जब मेरे हृदयसे चीख निकली, तभी उसी समय मुझे सहायता मिलती रही है और मेरे प्राणोंकी रक्षा होती रही है। मेरे जीवनकी हर्ष और दुःखभरी अनेकों गाथाएँ हैं। उनका वर्णन पूरी तरह मैं भी नहीं कर सकती। भोला देनेवालोंकी बुरी नीयत समझनेकी ताकत युवतियोंमें नहीं होती, परंतु भगवान् उनकी हर तरह रक्षा करते हैं। जो हृदयसे बचना चाहती है, जो अपनी आत्माको बेचना नहीं चाहती, जो हँसती हुई मृत्युको गले लगा सकती है, उसकी रक्षा भगवान् अवश्य ही करते हैं। मैंने प्रार्थना की थी कि किसीकी मुँहताज न होकर अपनी कमाईसे पढ़ाई करूँ, वह भी पूरी हुई। फिर मैंने प्रार्थना की कि ब्याह न करके ईश भजन करूँ, वह भी पूरी हो गयी। उन्हींकी कृपासे ही परीक्षाओंमें पास होती रही। फिर एक वर्ष हुए एक स्थानमें जा बैठी। वहाँ हरि भजन तो हो गया, सारे दिन परलोक-दर्शन होता था और पूजा [illegible] रहता था। भगवान्ने अपनी भक्तोंको इतने अच्छे भक्तोंद्वारा सहारा देकर निहाल किया। अब तो मेरा दृढ़ विश्वास-सा हो गया है कि कोई प्रार्थना करे अथवा न करे, परमात्मा जीवका कल्याण ही करता रहता है। जो कुछ वह करता है, उसमें हमारी भलाई ही भरी रहती है। भक्त इसीलिये संसार पड़ा है। उनका जीवन यदि प्रभु समर्पण हो जाता है तो प्रभु उन्हें अपना लेते हैं, उनके सभी काम वे करके [illegible] देते हैं। उनसे प्रार्थना करो, क्योंकि उनके अपनानेके लिये हजारों हाथ हैं और सुननेके लिये हजारों कान, देखनेके लिये हजारों नेत्र और दौड़कर रक्षा करनेके लिये हजारों पैर हैं। मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि प्रार्थनासे मनोऽभिलाषाकी पूर्ति हो जाती, मुक्ति भी मिल सकती है।

प्रार्थना

(रचयिता—कविवर श्रीसुमित्रानन्दनजी पंत)

नमन तुम्हें करता मन ।
हे जगके जीवनके जीवन,
ध्यान मौन प्रति उर स्पन्दनमें
शरण तुम्हें करता मन ।
अश्रु-सजल नत मेरा आनन,
तुहिन तरल वारिजके लोचन,
यह मानस स्थिति, स्मृति से पावन,
करता तुम्हें समर्पण ।

तुम अन्तरके पथसे आओ,
चिर श्रद्धाके रथसे आओ,
जीवन-अरुणोदय सँग लाओ
नव प्रभात, युग नूतन ।
बहे रुधिर में स्वर्गिक पावक,
श्रम पंकज लोचन हों अपलक,
रँग दे श्री शोभा का यावक
जीवनके पग प्रतिक्षण ।

आज व्यक्तिके उतरे भीतर,
निखिल विश्वमें बिखरे बाहर,
कर्म वचन मन जनके उठकर
बनें एक आराधन ।

श्रीसीता-रामजीकी अष्टयाम-पूजा

(लेखक—न्याय-वेदान्ताचार्य, मीमांसाशास्त्री स्वामीजी श्री १०८ श्रीरामपदार्थदासजी वेदान्ती)

अनन्तब्रह्माण्डाधीश्वर, वाचामगोचर, इन्द्रियोंके अविषय, प्रत्येक परमाणुमें व्याप्त, बुद्धिसे परे, श्रुतिप्रतिपाद्य जो ईश्वर है, जिसके विषयमें श्रुति कहती है 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विद्मः'—(केन १।३) इत्यादि, उस परमैश्वर्यसम्पन्न निरवयव प्रभुका पूजन—पाद्य-अर्घ्य-आचमनीय-स्नानादि विधान कैसे बन सकता है ? अतः यह मानना पड़ता है कि अचिन्त्य-शक्तिमान् जो प्रभु है, वह निरवयव होते हुए भी सावयव, निष्क्रिय होते हुए भी क्रियावान्, अगम्य होते हुए भी गम्यमान होता है। वह अपने भक्तोंके लिये ही स्वयं बनता है—उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ।

'कृपू सामर्थ्ये' इस धातुसे 'कल्पना' शब्द बनता है। वह ईश्वर अव्यक्त होनेपर भी भक्तोंके लिये व्यक्त हो जाता है। प्रकृतिसे परे होते हुए भी प्राकृत मनुष्यके सदृश उस ईश्वरका प्राकट्य देखा जाता है। क्योंकि वह अनन्त ब्रह्माण्डोंको अपने उदरमें रखे हुए फिर उन्हीं ब्रह्माण्डोंमें आकर विविध विचित्र [illegible] भी करता रहता है।

उन्हीं उस लीलाओंके अनुभव करनेवाले भक्तजन सतत उसी मंगलमय प्रभुके पूजनमें एवं लीलाओंके अनुसंधानमें अपने जीवनको अर्पण करके प्रेमोन्मादमें उन्मत्त हो आनन्दानुभव करते रहते हैं।

ऐसे सगुणोपासक अनेक प्रकारसे प्रभुकी उपासना करते हैं। कोई तो (अर्थात् दिव्य विग्रहोंका) बाह्य पूजन करते रहते हैं और कोई अन्य प्रेमीजन मानसिक अष्टयाम-पूजनमें निरत रहते हैं। वे प्रेमी आचार्यसे प्राप्त अपने दिव्य सम्बन्धका दास्य, सख्य, वात्सल्य, शृङ्गार आदि भावोंसे अनुसंधान करके उसी स्वरूपसे नित्य मधुर लीलाओंका परिशीलन करते हुए आन्तरिक दृष्टिसे इस प्रकार ऐसा करते हैं—

दिव्य अवधधाम, साकेतके मध्यमें रत्नमण्डपयुक्त श्रीप्रिया-प्रियतम प्रभु श्रीसीता-रामजीका जो मणिमय विशाल दिव्य भवन है, उसीमें आठ कुञ्जोंसहित शयन-कुञ्ज* भी है।

* शयन-कुञ्जके चारों ओर दिव्य मणिमय आठ कुञ्जोंका निर्माण अपनी भावनासे भावुकजन किया करते हैं। उन कुञ्जोंका क्रम इस प्रकार है—मध्यमें शयन-कुञ्ज, चारों ओर प्रमोद-कुञ्ज, संकेत-कुञ्ज, स्नान-कुञ्ज, शृंगार-कुञ्ज, भोजन-कुञ्ज, विश्राम-कुञ्ज, सभा-कुञ्ज तथा व्यवहार-कुञ्ज है। विशेष जिज्ञासुजन अयोध्या-निवासी रसिक संतोंके द्वारा प्राप्त करनेकी चेष्टा करें।

सो दिन कबहीं कब ऐरि ।
नित निकसत निरखिहौं पिय संग प्रगटि निबेरि ॥
कीन्ह सहित सखान सिय पिय सम्म मंगल भेरि ।
आरती करि भोगमन्दारम देखिहौं रम हेरि ॥
विविध विधि मज्जन सजि सिंगार आरति फेरि ।
मुदित सिय पिय मधु मिलि सँग छबि ... हेरि ॥
सखन चौपर खेल दंपति छबि सुमोहन फेरि ।
सैन मदन पलोटि पग छबि रसन टेरि सुनेरि ॥
उठि मगन सुकुँज फिरि अनेक दिये चितेरि ।
सखि राम सिंगार दोउ सुजस पैरा फेरि ॥
सिखु सम पिय मग सिय बैठकहिं तह लोटेरि ।
झाँकी सखि संग संग नहाय सरि पुनि नेरि ॥
सखि सिंगर सिंगारि आरति निरखि छबि रासेरि ।
मिल मिलन मंजुलहरि नटन दंपति घेरि ॥
रंग महल फराम भ्यारू करत सँग सब भेरि ।
सकल छबि सखि सेज पर दंपति रहसि रम भेरि ॥
सेज पर सुरझन सुखुमन भाव कुंज निबेरि ।
देखिहौं हिय सखि दंपति 'मंजु' निहारनि हेरि ॥

—यह पद मेरे शृङ्गार-रसके 'मञ्जु रसायाम' ग्रन्थका अन्तिम पद है। इसमें सखीरूपसे यह प्रार्थना की गयी है कि जैसे मैं अभी आठो यामोंकी सेवा करती हूँ, वैसे ही नित्य अवधमें पहुँचकर कब करूँगी ?' इन सेवाओंका विस्तार गुरुओंसे सीखना चाहिये, यहाँ विस्तारभयसे नाम-मात्र कहा गया है।

शङ्का—ऊपर कहा गया कि यह भावना तुरीयावस्थाके भी आगे है। यह अवस्था श्रीरामचरितमानस (उत्तर० ११७) में वर्णित ज्ञान-साधनकी छठी भूमिकामें बहुत साधनोंके पश्चात् प्राप्त होती है, यहाँ उसका कुछ साधन नहीं कहा गया। साधक कैसे यह अवस्था पायेगा ?

समाधान—जैसे उस ज्ञानमें कर्मयोग एवं योग-साधन आवश्यक हैं, वैसे भक्ति अन्य साधनोंकी अपेक्षा नहीं रखती। यथा—

जो सुगम अवर्ध न अना । तेहि अधीन ग्यान बिग्याना ॥
(श्रीरामचरित० अरण्य० १५)

इस भक्तिमें नवधामें कर्मयोगका और प्रेमलक्षणामें ज्ञानका अन्तर्भाव हो जाता है। पराभक्ति तो स्वयं फलस्वरूपा है। यह मानसिक अष्टयाम-भावना यद्यपि पराभक्तिमें ही है, तथापि इसके साधनकालमें तीनों शरीरोंका शोधन अनायास हो जाता है, तब इसकी शुद्ध स्थिति होती है।

(क) जैसे खर-दूषण और त्रिशिरा एवं उनकी चौदह सहस्र सेनाओंके भट परस्पर एक दूसरेको रामरूप देखते हुए लड़ मरे और मुक्त हो गये, वैसे इस साधकके स्थूलशरीर-सम्बन्धी क्रोध, लोभ और काम एवं इनसे सम्बन्धित एकादश इन्द्रियाँ तथा तीन अन्तःकरण—इन चौदहोंके सहस्र-सहस्र संकल्प चिन्मयरूप हो रामाकार होते हुए सेवामें लगकर समाप्त हो जाते हैं। कहा भी है—

खर है क्रोध, लोभ है दूषन, काम सिरे त्रिसिरन में ।
काम क्रोध लोभ मिलि वरसैं तीनो पड़े तन में ॥
(वैराग्य-प्रदीप-बाबा मिथिलास्वामी)

(ख) इस मानसिक पूजामें जब बाह्येन्द्रियोंका व्यवहार बंद हो जाता है, तब सूक्ष्मशरीरसे इन्द्रिय-विषयके संकल्पोंकी शान्ति इसमें इस प्रकार होती है। जैसे इन्द्र-पूजाकी सामग्री जब गोवर्द्धन-पूजामें लगी, तब इन्द्रने कोप करके घनघोर वर्षा की। भगवान्‌ने गोवर्द्धन धारणकर इन्द्रका गर्व चूर्ण किया, वह शान्त होकर चला गया, वैसे यहाँ भक्ति गोवर्द्धन है, क्योंकि यह इन्द्रियोंको दिव्य सुख दे बढ़ाती है, पुष्ट करती है। विषयोंसे इन्द्रिय-देव तृप्त होते हैं। अतएव विषय एवं तत्सम्बन्धी संकल्प इन्द्रादि इन्द्रिय-देवोंकी पूजन-सामग्री हैं। उन्हीं संकल्पोंको चिन्मय रूपमें यह अब भगवान्‌में लगाता है। वहाँ भगवान्‌ने गोवर्द्धन-धारण किया है, वैसे ही यहाँ भक्तकी भक्तिनिष्ठ श्रद्धाको भगवान् धारण करते हैं (गीता ७ । २१-२२ देखिये)। इन्द्रकी सारी वर्षा भगवान्‌ने गोवर्द्धनपर ले ली। इसी प्रकार इसके इन्द्रिय-विषय-सम्बन्धी सारे संकल्प चिन्मयरूपसे भक्तिमें लगकर समाप्त होते हैं। इन्द्र शान्त हो गया, वैसे इसकी भी सूक्ष्म-शरीर-सम्बन्धी बाधाएँ निवृत्त हो जाती हैं।

(ग) जैसे श्रीकृष्णके परिकर ग्वाल-बालों और बछड़ों-को मोहवश ब्रह्माने स्वनिर्मित माना था। अतः उनका हरण करके क्षणभरके लिये वे अपने लोकको चले गये। उतने कालमें यहाँका एक वर्ष बीत गया। लौटकर उन्होंने नव-निर्मित भगवान्‌के परिकरों और बछड़ोंको चिन्मय भगवद्रूप देखा, तब उनका मोह दूर हुआ। वैसे ही इस भावना-सम्बन्धी संकल्पोंके प्रति भी बुद्धिके देवता ब्रह्माको मोह होता

बढ़ानेवाला सर्वाङ्गचित (अङ्गिया) सुमनोहर नील वस्त्र पहनाना ।

१२. अगुरु-धूपके द्वारा श्रीमतीकी केश-राशिको सुखाना और सुगन्धित करना ।

१३. श्रीमतीका शृङ्गार* करना ।

१४. उनके श्रीचरणोंको महावरसे रँगना ।

१५. सूर्यकी पूजाके लिये सामग्री तैयार करना ।

१६. मुखसे श्रीवृन्दावनेश्वरीके द्वारा कुञ्जमें गूँथे हुए मोतियोंके हार आदि उनके आज्ञानुसार वहाँसे लाना ।

१७. पाकके लिये श्रीमतीके नन्दीश्वर (नन्दगाँव) जाते समय ताम्बूल तथा जलपात्र आदि लेकर उनके पीछे-पीछे गमन करना ।

१८. श्रीवृन्दावनेश्वरीके पाक तैयार करते समय उनके कथनानुसार कार्य करना ।

१९. सखाओंसहित श्रीकृष्णको भोजनादि करते देखते रहना ।

२०. पाक तैयार करने और परोसनेके कार्यसे थकी हुई श्रीवृन्दावनेश्वरीको पंखे आदिके द्वारा हवा करके सेवा करना ।

२१. श्रीकृष्णका प्रसाद आरोगनेके समय भी श्रीराधारानी-की उसी प्रकार पंखेकी हवा आदिके द्वारा सेवा करना ।

२२. गुलाब आदि पुष्पोंके द्वारा सुगन्धित शीतल जल समर्पण करना ।

२३. कुल्ला करनेके लिये सुगन्धित जलसे पूर्ण आचमनीय-पात्र आदि समर्पण करना ।

२४. इलायची-कपूर आदिसे संस्कृत ताम्बूल समर्पण करना ।

२५. बरते हुए पीताम्बर आदि वस्त्रके द्वारा श्री-अङ्गको पोंछना ।

* श्रीराधाके निम्नलिखित सोलह शृङ्गार किये गये हैं—(१) स्नान, (२) नाकमें मुक्ता धारण करना, (३) नीली साड़ी धारण करना, (४) कमरमें करधनी बाँधना, (५) वेणी गूँथना, (६) कानोंमें कर्णफूल धारण करना, (७) अङ्गोंमें चन्दनादिका लेप करना, (८) बालोंमें फूल खोंसना, (९) गलेमें फूलोंका हार धारण करना, (१०) हाथमें कमल धारण करना, (११) मुखमें पान चबाना, (१२) ठोढ़ीमें कस्तूरी बिंदी लगाना, (१३) नेत्रोंमें काजल आँजना, (१४) अङ्गोंको पत्रावलीसे चित्रित करना, (१५) चरणोंमें महावर देना और (१६) ललाटमें तिलक लगाना ।

पूर्वाह्न*कालीन सेवा

१. बाल-भोग (कलेऊ) आरोग करके श्रीकृष्णके गोचारण-के लिये वन जाते समय श्रीराधाजी सखियोंके साथ कुछ दूर श्रीकृष्णके पीछे-पीछे जाकर वन यावटको लौटें, उस समय ताम्बूल और जल-पात्र आदि लेकर पीछे-पीछे गमन करना ।

२. श्रीराधा-गोविन्दके पारस्परिक संदेश उनके पास पहुँचाकर उनको संतुष्ट करना ।

३. सूर्य-पूजाके बहाने (अथवा कभी-कभी वन शोभा-दर्शनके बहाने) श्रीराधाकुण्डमें श्रीकृष्णसे मिलन करानेके हेतु श्रीमतीको अभिसार कराना और उस समय ताम्बूल और जल-पात्र आदि लेकर उनके पीछे-पीछे गमन करना ।

मध्याह्न†कालीन सेवा

१. श्रीकुण्ड अर्थात् राधाकुण्डपर श्रीराधा और कृष्ण-के मिलनका दर्शन करना ।

२. कुञ्जमें विचित्र पुष्प-मन्दिर आदिका निर्माण करना और कुञ्जको साफ करना ।

३. पुष्पशय्याकी रचना करना ।

४. श्रीयुगलके श्रीचरणोंको धोना ।

५. अपने केशोंके द्वारा उनके श्रीचरणोंका जल पोंछना ।

६. चँवर डुलाना ।

७. पुष्पोंसे पेय मधु बनाना ।

८. मधुपूर्ण पात्र श्रीराधा-कृष्णके सम्मुख धारण करना ।

९. इलायची, लौंग, कपूर आदिके द्वारा सुवासित ताम्बूल अर्पण करना ।

१०. श्रीयुगल-चर्वित कृपाप्रसाद ताम्बूलका आस्वादन करना ।

११. श्रीराधा-कृष्ण-युगलकी विहाराभिलाषाका अनुभव करके कुञ्जसे बाहर चले आना ।

१२. श्रीयुगलका केलि-विलास दर्शन करना ।

१३. कस्तूरी-कुङ्कुम आदिके अनुलेपनद्वारा सुवासित श्रीअङ्गके सौरभको ग्रहण करना ।

१४. नूपुर और कंगन आदिकी मधुर ध्वनिका श्रवण करना ।

* संगवकालके उपरान्त छः दण्डके कालकी पूर्वाह्न-संज्ञा है ।

† पूर्वाह्नके उपरान्त चार दण्डका काल मध्याह्नके नामसे विदित है ।

३. वह प्रसाद श्रीराधिका और सखियोंको परोसना।

४. सुगन्धित धूपके सौरभसे उनकी नासिकाको आनन्द देना।

५. गुलाब आदिसे सुगन्धित शीतल जल प्रदान करना।

६. कुल्ला आदि करनेके लिये सुवासित जलसे पूर्ण आचमन-पात्र प्रदान करना।

७. इलायची-लौंग-कपूर आदिसे सुवासित ताम्बूल अर्पण करना।

८. तत्पश्चात् प्राणेश्वरीका अधरामृत-सेवन अर्थात् उनका बचा प्रसाद भोजन करना।

प्रदोप*कालीन सेवा

१. संध्याकालमें वृन्दावनेश्वरीका वस्त्रालंकारादिसे समयोचित शृङ्गार करना अर्थात् कृष्ण-पक्षमें नील वस्त्र आदि और शुक्ल पक्षमें शुभ्र वस्त्रादि तथा अलंकार धारण कराना एवं चन्दनानुलेपन करना।

२. अनन्तर सखियोंके साथ श्रीमतीको अभिसार कराना तथा उनके पीछे-पीछे गमन करना।

निशा†कालीन सेवा

१. निकुञ्जमें श्रीराधा-कृष्णका मिलनदर्शन करना।

२. रासमें नृत्य आदिकी माधुरीके दर्शन करना।

३. वृन्दावनेश्वरी श्रीराधिकाजीके नूपुरकी मधुर ध्वनि और श्रीकृष्णकी वंशी-ध्वनिकी माधुरीको श्रवण करना।

४. श्रीयुगलकी गीत-माधुरीका श्रवण करना तथा जलकेलिके दर्शन करना।

५. श्रीकृष्णकी वंशीको चुरा कराना।

६. श्रीराधिकाकी वीणा-वादन-माधुरीका श्रवण करना।

७. नृत्य, गीत और वाद्यके द्वारा सखियोंके साथ श्रीराधा-कृष्णके आनन्दका विधान करना।

८. सुवासित ताम्बूल, सुगन्धित द्रव्य, माला, हवा, सुवासित शीतल जल और पैर दबाने आदिके द्वारा श्रीराधा-कृष्णकी सेवा करना।

९. श्रीकृष्णका मिष्टान्न तथा फलादि भोजन करते दर्शन करना।

१०. सखियोंके साथ वृन्दावनेश्वरी श्रीराधिकाजीका श्रीकृष्णके प्रसादका भोजन करते हुए दर्शन करना।

११. उनका अधरामृत (अवशेष भोजन) ग्रहण करना।

१२. सखियोंके साथ-साथ श्रीराधा-कृष्ण-युगलका मिलन दर्शन करना तथा उनके ताम्बूल-सेवन और रसालाप आदिकी माधुरीके दर्शन करते हुए आनन्द-लाभ करना।

१३. सुकोमल शय्यापर श्रीयुगलको शयन कराना।

१४. सखियोंके साथ जालीमेंसे श्रीयुगल-क्रीडा-दर्शन करना।

१५. परिश्रान्त श्रीयुगलकी व्यजनादिद्वारा सेवा करना और उनके सो जानेपर सखियोंका अपनी-अपनी शय्यापर सोना। स्वयं भी वहीं सो जाना।

निम्नलिखित दिनोंमें श्रीकृष्णकी गोचारण-लीला और श्रीमतीकी सूर्यपूजा बंद रहती है—

१. श्रीजन्माष्टमीके दिन और उसके बाद दो दिनोंतक।

२. श्रीराधाष्टमीके दिन और उसके बाद दो दिनोंतक।

३. माघकी शुक्ल पञ्चमी अर्थात् वसन्तपञ्चमीसे फाल्गुनी पूर्णिमा अर्थात् दोलपूर्णिमापर्यन्त २६ दिनोंतक।

श्रीहरिकी पूजाके आठ पुष्प

अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयं करणग्रहः। तृतीयकं भूतदया चतुर्थं क्षान्तिरेव च॥
शमस्तु पञ्चमं पुष्पं ध्यानं ज्ञानं विशेषतः। सत्यं चैवाष्टमं पुष्पमेतैस्तुष्यति केशवः॥
एतैरेवाष्टभिः पुष्पैस्तुष्यते चार्चितो हरिः। पुष्पान्तराणि सन्त्येव बाह्यानि नृपसत्तम॥

'अहिंसा, इन्द्रियसंयम, जीवदया, क्षमा, मनका संयम, ध्यान, ज्ञान और सत्य—इन आठ पुष्पोंसे पूजित होनेपर श्रीहरि सन्तुष्ट होते हैं। दूसरे पुष्प तो बाहरी उपचार हैं।'

---

* सूर्यास्तके उपरान्त छः दण्डके समयको प्रदोष कहते हैं।

† प्रदोषके उपरान्त चार दण्डके समयको निशाकाल कहा जाता है।

बालकृष्ण यशोदा मैयाकी गोदमें विराजमान हैं, माँ उनके मुख-कमलका दर्शन कर रही हैं, मुख चूम रही हैं; नन्द आदि प्रभुको गोदमें लेकर लाड़ लड़ा रहे हैं, श्याम-सुन्दरके सखा गोपाल-बाल उनके निरवधि गुणोंका गान कर रहे हैं। व्रज-देवियाँ अपने रसमय कटाक्षसे उनका पूजन कर रही हैं।'

नन्दनन्दन कलेवा कर रहे हैं, प्रभुकी मङ्गल-आरती हो रही है। प्रभु मिश्री और नवनीतका रसास्वादन कर रहे हैं। आरतीकी झाँकी मङ्गलमयी है—

सब विधि मंगल नँद को लाल।
कमलनयन बलि जाय जसोदा, न्हात खिला जिन मेरे बाल ॥
मंगल बदन मंगल मूरति, मंगल लोचन रसिक गुपाल।
×　　　×　　　×
मंगल सब मनी 'परमानंद', सखा मंडली मध्य गोपाल ॥
(पुष्टिमार्गीय कीर्तन-संग्रह भाग १ए)

(२)

मङ्गलकी सेवा-भावनाके बाद शृङ्गारका क्रम आता है। माता यशोदा अपने बालगोपालका समयानुकूल ललित शृङ्गार करती हैं। उबटन लगाकर तथा स्नान कराकर वे श्याम-सुन्दरको पीताम्बर धारण कराती हैं। व्रजसुन्दरीगण और व्रज-भक्त उनका परम रसमय दर्शन करके अपने-आपको धन्य मानते हैं। प्रभु माँकी गोदमें विराजमान हैं, करमें वेणु और मस्तकपर मयूरपंखकी छवि मनोहारिणी है, पीताम्बरसे शोभा बढ़ रही है—

यशोदोत्सङ्गसंस्थायी　　　पार्श्वभागकृतासना ॥
वैणिकावेष्टितश्रीमत्कम्बुसुन्दरभूषणः　　　।
(सारस्वत-भावना १११-११२)

कमलमुखकी शोभा अनुपम है, अङ्ग-कान्ति विलक्षण मधुर है—

कमलमुख देखत कौन अघाय ।
सुन री सखी ! लोचन अलि मेरे मुदित रहे अरुझाय ॥
मुकताफल लट पर उलटत, मनु फूली बनराय।
कैसरन पर अंग अंग पर 'कृष्णदास' बलि जाय ॥

(३)

शृङ्गारके बाद ग्वाल-सेवा-भावनामें श्रीकृष्ण ग्वाल-बालोंकी मण्डलीके साथ गोचारण-लीलामें प्रवृत्त होते हैं। माँ सीख देती है—हे लाल ! गोपाल ! गहन वन और कण्टकपथमें और न जाना, बालकोंके साथ लड़ना मत, काँटेवाली भूमिपर न चलना, जीव-जन्तुवाली जमीनपर कमल-सदृश सुन्दर चरणोंको मत रखना और दौड़ती गायोंके सामने मत दौड़ना—

वने बाल न गन्तव्यं गह्वरे न कदाचन ।
न कार्यं बालकैर्युद्धं न भूमौ कण्टकान्विते ॥
स्थाप्ये न चार्यं चरणं सत्त्वेऽम्बुजसुन्दरम् ।
न गवां सम्मुखे कार्यं धावन्तीनां च धावनम् ॥
(सारस्वत-भावना १७७-१७८)

प्रभु बाल-गोपालोंको साथ लेकर गो-चारण करने जा रहे हैं। वेणु-बजा-बजाकर श्यामसुन्दर गायोंको अपनी ओर बुला रहे हैं। प्रभुके वेणु-वादनसे समस्त चराचर जीव मुग्ध हैं। श्रीकृष्णकी ग्वालमण्डली नृत्य-गीत आदि पवित्र लीलामें तल्लीन है। प्रभुका गो-चारणकालीन ग्वालवेष धन्य है—

शृङ्गाररसभावस्थसख्यभावधैर्यकः　　　।
सारसारसहंसादिमौनदृङ्मुद्रणादिकृत्　　　॥
वृन्दावनद्रुमलतामधुधाराप्रवर्षकः　　　।
लीलागतिर्व्रजभुवो　　　मर्दनक्लेशहारकः ॥
(सारस्वत-भावना ११५-११९)

'अपने शृङ्गार-रसके भावात्मक सख्यसे श्रीकृष्ण गोपियोंका धैर्य हर लेते हैं। वेणु-नाद सुनकर सरोवरमें सारस-हंस आदि मौन धारणकर तथा नयन मूँदकर तन्मय हो जाते हैं। वृन्दावनकी द्रुम-लताएँ मधु-धारा बरसाती हैं, श्रीकृष्ण लीलापूर्वक (इठलाते हुए) चल रहे हैं, व्रजभूमिके मर्दनका दुःख दूर कर रहे हैं।'

(४)

ग्वाल-सेवा-भावनाके बाद राजभोगका दर्शन होता है। प्रभुके गो-चारणकी बात मनमें सोच-सोचकर यशोदा चिन्तन कर रही हैं कि मेरे लाल ग्वाल-बालोंके साथ वन-प्रान्तमें भूखे होंगे। माता व्याकुल हो रही हैं। अत्यन्त स्नेहमयी गोपीके हाथ यशोदा अपने लाल तथा बाल-गोपालोंके लिये सरस पक्वान्न तथा अन्य स्निग्ध सुस्वादु खाद्य-सामग्री भेज रही हैं। सारी सामग्री स्वर्ण और रजतके पात्रोंमें सजायी गयी है।

वने गते मेऽत्सुतौ　　　प्रातर्गोचारणाय वै ।
अत्याकुलमना　　　पुत्रक्षुधाकरमविज्ञाय ॥
प्रातर्गताय　　　भक्ष्यादिविसारोऽस्मिन्मुखम् ।
पुत्रातिप्रीतिविस्तृतसमस्तसम्भारम्भारता　　　॥

वनसे लौटते हुए वनमाली

उच्चारितवती सुगोत्सवोपाधिकं शुभम् ।
कर्पूरैणमदस्नाज्यविनमद्वर्तिकायुतम् ॥

(सारसी-भावना ७७७-७७८)

'यशोदा मैया सब सखियोंके साथ अपने बाल्गोपालको देखकर मुदित तथा हर्षित होती हैं। उनके सर्वाङ्गमें स्वेद, रोमाञ्च, कम्प और स्तम्भ दीख पड़ते हैं। वे कपूर, घी एवं कस्तूरीसे सुगन्धित वर्तिकायुक्त आरती अपने पुत्रपर वार रही हैं।'

स्यामल बरन सुभवि सुखदानी ।
संध्या समै सखा मंडल में सोभित सुनु गोधन रजधानी ॥
मोर मुकुट गुंज सिरो पट भुज मुरली गुंजत मृदु बानी ।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधारी आप मन ते कै आरति करत नँदरानी ॥

(कीर्तनसंग्रह १ला भाग)

(८)

संध्या-आरतीके बाद शयन-भावनाका क्रम चलता है। यशोदा अपने लालको शयन-भोग आरोगनेके लिये बुलाती हैं, आरोगनेकी प्रार्थना करती हैं। वे कहती हैं—'हे पुत्र! मैंने अनेक प्रकारकी सरस सामग्री सिद्ध की है। सोनेके कटोरेमें नवनीत और मिश्री भी प्रस्तुत हैं।' प्रभु भोजन करते हैं। प्रभु इसके बाद दुग्ध-धवल शय्यापर शयन करनेके लिये विराजमान होते हैं। माता यशोदा उनकी पीठपर हाथ फेरकर सो जानेके लिये अनुरोध करती हैं और उनकी लीलाओंका गान करती हैं—

स्वपिति स्वयं सम्प्रसमीपे सुतवत्सला ।
स्वपृष्ठकरमापवित्रागमनसिद्धये ॥

(सारसी-भावना १०१८)

माँ अपने लालको निद्रित जानकर उनके पास सखीको बैठाकर अपने घरमें चली जाती हैं। सखियोंका समूह दर्शन करके निवेदन करता है कि 'स्वामिनी आपकी राह देख रही हैं, शय्या आदि सजाकर प्रतीक्षा कर रही हैं।' श्रीस्वामिनीकी विरहावस्थाका वर्णन सुनकर श्रीराधारमण शय्या त्यागकर तुरंत मन्द-मन्द गतिसे चल पड़ते हैं—

कोटिकन्दर्पलावण्यो मदनाधिकसुन्दरः ।
सखीप्रदर्शितपथश्चलितो मन्दमन्दरः ॥

(सारसी-भावना १०८९)

'करोड़ों कामदेवोंके लावण्यवाले मदनाधिक-मनोहर श्यामसुन्दर सखियोंके बताये मार्गपर धीरे-धीरे चलने लगे।' यों धीरे-धीरे मुरली बजाते वे केलि-मन्दिरमें प्रवेश करते हैं। बड़ी दिव्य झाँकी है—

''ठाढ़े कुंज भवन ।
लटपटि पाग छुटी अलकावलि, घूमत नयन सोहैं मदन मदन ॥
कहा कहूँ अंग-अंग की सोभा, निरखत मन मुसकन ।
'गोविंद' प्रभु को यह छबि निरखत रसिकनि भए हैं सरन ॥

(कीर्तनसंग्रह १ला भाग)

भगवान् श्रीकृष्णके नित्य आश्रयसे ही वल्लभ-सम्प्रदायमें प्रचलित आठ पहरकी सेवा-भावनाका रहस्य समझमें आता है। श्रीकृष्णकी सेवा ही जीवका एकमात्र कर्म है—

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः ।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥

अस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥

(नवरत्नम् ९)

श्रीकृष्णके आश्रयसे—शरणागतिसे ही अष्टयाम-सेवा-भावना सिद्ध होती है। इसके द्वारा महामाङ्गलिक प्रभु नवघनश्यामशरीर उज्ज्वल-नीलमणि नन्दनन्दनमें नित्य-निरन्तर अनुराग बढ़ता है, भगवान् राधारमणका सांनिध्य मिलता है।

भगवान्‌की दयालुता

उद्धवजी कहते हैं—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥

(श्रीमद्भा० ३ । २ । २३)

'पापिनी पूतनाने अपने स्तनोंमें हलाहल विष लगाकर श्रीकृष्णको मार डालनेकी नीयतसे उन्हें दूध पिलाया था, उसको भी भगवान्‌ने वह परमगति दी, जो धायको मिलनी चाहिये। उन भगवान् श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कौन दयालु है, जिसकी शरण ग्रहण करें।'

श्रीकृष्ण-भक्ति-तत्त्व

(लेखक—पं० श्री[illegible] 'बाँगीजी')

पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने अपने भक्ति-तत्त्वका निरूपण विशेषरूपमें गीताके सातवें अध्यायसे प्रारम्भ किया है। उसका पहला पद है—

'मय्यासक्तमनाः'

हमारे देशके उत्कृष्ट साधक संत महात्मा गाँधीजी जिस गीताको 'अनासक्ति योग' के नामसे पुकारते हैं, वही गीता हमें यहाँ आसक्तिका उपदेश कर रही है और कहती है—'मनको मुझ भगवान्‌में आसक्त करो तो मुझे सम्पूर्ण जान लोगे और चित्तके सभी संदेह नष्ट हो जायँगे।' पर वहींपर यह भी सूचित किया गया है—

'कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' (७ । ३)

'मेरे तत्त्वको या तत्त्वतः मुझको कोई एक ही जानता है।' अन्तिम (अठारहवें) अध्यायमें कहा गया है—

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्। (१८ । ५५)

'मुझमें मन आसक्त करके जब भक्त तत्त्वतः मेरा ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब उसे मेरे धाममें प्रवेश मिलता है।' शुद्ध (परा) भक्तिका प्रारम्भ यहींसे होता है। उस शुद्ध भक्तिका तत्त्व-वर्णन करना क्या किसी भी विषयी, पामर प्राणीके लिये सम्भव है? फिर भी जो यह लेख लिखनेकी प्रेरणा मिली, इसे मैं अपना महोभाग्य समझता हूँ। इसी बहाने श्रीकृष्ण-नामके स्मरण, उच्चारण, लेखन और कीर्तनका पुण्य तो प्राप्त होगा ही और धीरे-धीरे कृपा करके वे ही अपनी शुद्ध परा-भक्तिका तत्त्व अनुभव करा देंगे—ऐसा विश्वास है।

आइये, पहले हम उन्हीं परम पुरुषके मूलस्वरूपका चिन्तन करें, जिनकी नित्य भक्तिका तत्त्व हमें समझना है।

भगवान्‌ने कहा है—'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (५ । २९) अर्थात् मैं सभी प्राणियोंका मित्र हूँ।

ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जो भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपकी ओर आकृष्ट न हो। वे अपनी रूप-माधुरीसे सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंको सर्वदा आकृष्ट कर रहे हैं और हमें निमन्त्रण दे रहे हैं कि 'शीघ्र ही मुझसे आकर मिलें।'—महाप्रभुकी एक परम संतकी वाणी है—

बाट चाहे ठाकुर, भेंटवी भारती।
... ठाकुरो ... ॥

'प्रभु खड़े-खड़े बाट देख रहे हैं, उनको जीवोंसे मिलनेकी बहुत उतावली है। वे परम दयालु हैं—उनकी रुचि ही यह है कि समस्त प्राणी शीघ्रतासे आकर उनसे मिल लें।'

ऐसी बात होनेपर भी हम उनके चरणोंमें क्यों नहीं पहुँचते?—विषयोंमें क्यों लिपटे हुए हैं? इसका एक कारण यही है कि हमें उनके मूलस्वरूप और मधुर माधुरीका ज्ञान नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई।

'जाने बिना प्रतीति नहीं, प्रतीतिके बिना प्रीति नहीं और प्रीतिके बिना भक्ति दृढ़ नहीं होती।' तब आइये, हम भगवान्‌को जाननेका प्रयत्न करें, जिससे उनमें विश्वास हो, विश्वाससे प्रेम हो और प्रेमसे दृढ़ भक्तिका प्रादुर्भाव हो, जो हमारे जीवनका अन्तिम लक्ष्य और शाश्वत क्षेम है।

भगवान्‌को जाननेके पहले हमें अपने स्वरूपका ज्ञान करना पड़ेगा, क्योंकि भगवान्‌को जाननेका क्षेत्र ... जिसे अपने स्वरूपका विपरीत ज्ञान है, वह भगवान्‌को ... जान सकता है? और अपने स्वरूपका सम्यक् ज्ञान ... अत्यन्त कठिन है। क्योंकि—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥
(गीता २ । २९)

अपने आत्मस्वरूपको गुरुके वचनोंसे सुनकर भी कोई नहीं जानता—ऐसा भगवान् कहते हैं। फिर भगवान्‌को जानना तो और भी कठिन है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

मां तु वेद न कश्चन।

'मुझे तो कोई नहीं जानता।' ऐसी हालतमें भक्ति-तत्त्वका और उसमें भी श्रीकृष्ण-भक्ति-तत्त्वका, जो समस्त आश्चर्योंका केन्द्र-बिन्दु है, वर्णन कैसे हो!

बात यह है कि भक्ति-तत्त्व वर्णनका विषय नहीं है—यही उसका वर्णन है। वह ज्ञानका विषय नहीं—... उसका ज्ञान है। वह तो श्रद्धा, विश्वास, रुचि और प्रेमका विषय है। बुद्धिका काम है वस्तुका विश्लेषण और हृदयका काम है भक्तीकरण। बुद्धिका काम है अलग-अलग करके जानना और भक्तिका काम है लगाकर मानना या दूसरोंकी मानकर अपनाना।

भक्ति-तत्त्व स्वीकारपर चलता है और बुद्धि-तत्त्व अस्वीकारपर। जबतक हम किसीको अपना नहीं बनाते—

सौन्दर्य या स्वरूप नहीं जानते, तबतक भक्ति कैसे होगी ? आस्तिकताका अर्थ ही यह है कि मान लें कि 'है' और फिर उसमें रम जायँ तो उसकी प्राप्ति हो जायगी । भक्ति-तत्त्वमें मानकर जाना जाता है और बुद्धि-तत्त्वमें जानकर माना जाता है ।

भारतीय संस्कृतिमें वस्तुका स्वभाव जानकर मानना नहीं है । माता-पिताके द्वारा सुनकर उसे मानकर बादमें जाना जाता है, फिर जानकर भक्ति की जाती है । अन्य जातियोंमें इस विषयमें विकृति पायी जाती है—उसे संस्कृति कहते लज्जा आती है । माता-पितापर विश्वास नहीं, पहले जानकर फिर वे मानते हैं और इसीलिये तर्ककी बारी आती है; क्योंकि उनके जाननेमें विज्ञान तो होता है, पर सम्यग्ज्ञान न होनेसे उसे अज्ञान ही कहना चाहिये । विविधताओंका ज्ञान विज्ञान है, एकत्वका ज्ञान सम्यग्-ज्ञान है; उन विविधताओंमें एकत्वका ज्ञान नहीं है तो वह अज्ञान ही है । भगवान् कहते हैं—'समोऽहं सर्वभूतेषु' 'मैं सब भूतोंमें सम हूँ ।'

तात्पर्य यह है कि हमें भक्ति-तत्त्वका आनन्द लेना है तो आस्तिकताके आधारपर स्वीकारसे प्रारम्भ करना पड़ेगा । मान लो कि श्रीकृष्ण परम सुन्दर हैं । गुरुने उनके दर्शन किये हैं, शास्त्र भी हमारे कल्याणके लिये ही कहते चले आ रहे हैं । अतः लग जाओ—

'मय्यासक्तमनाः'

निश्चय ही—

'असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि ।'

और फिर—

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।

'मुझे तत्त्वतः जानकर मेरे धाममें प्रवेश पा लेगा ।' वहाँ नित्य-दिव्य-श्रीकृष्णकी भक्ति मिलेगी, जिसके आनन्दके भोक्ता भगवान् हैं—

'भर्ता भोक्ता महेश्वरः'

हम नित्य सेवक (भोग्य) और भगवान् नित्य भोक्ता (सेव्य) । आनन्द-ही-आनन्द ।

पत्थरकी मूर्ति और भगवान्

(लेखक—श्रीकिरनचन्दजी माथुर, बी० ए०, साहित्य-विशारद)

जब देव-मन्दिरोंकी शङ्ख-ध्वनि अपनी सुमधुरतासे चित्तको शान्ति प्रदान करती थी, वह अपने कानोंमें उँगलियाँ डाल लेता था । भगवद्विग्रहके सम्मुख भावावेशित भक्तोंको ढोंगी और मूर्ख कहा करता था वह । नास्तिक नहीं था वह, ईश्वरपर उसे विश्वास था; पर भगवद्विग्रहकी सेवा-अर्चना करनेवालोंका वह कट्टर विरोधी था । उसे यह कहा करता था कि कहीं एक पत्थरकी मूरतके आगे हँसने, गिड़गिड़ाने और रोने-धोनेसे कुछ होता-जाता है ? शिक्षित व्यक्तिके इस नवयुवक हरदासके लिये यह बात कोई अद्भुत नहीं, स्वाभाविक ही थी । जिस वातावरणमें वह पला था, वह बुद्धिवादी था, भावुक नहीं । तर्कको ही ज्ञानकी वास्तविक कसौटी समझना इस वातावरणकी विशेषता है । परंतु यदि कोई उसे समझानेका प्रयत्न करता तो वह कुतर्क करने लगता और बड़े-बड़े महात्माओंका, जो बीहड़ वनोंमें एकान्त बैठकर ईश्वर-चिन्तन करते हैं और किसी पत्थरकी मूरतसे कोई सरोकार नहीं रखते, उदाहरण देकर अपने पक्षका समर्थन किया करता था ।

× × ×

'भाइ भैया ! हर भैया ?' पुकारा किसीने ।

प्रभातका समय था । भगवान् मरीचिमाली अपनी स्वर्णिम किरणोंसे जगत्के जीवनको अनुरञ्जित कर रहे थे । पक्षियोंकी सुरीली और मीठी तानोंमें जीवनका एक नया संदेश-सा निकल रहा था । ऐसे समयमें एक युवकने 'हरदास' के द्वार-कपाटको खटखटाया । उसने झटपट द्वार खोला तो अपने सम्मुख 'हरिदास' को खड़े पाया ।

'हरिदास' भी यहाँका अभिन्नहृदय मित्र था । वह जब भी आता है, कोई-न-कोई नया संदेश अवश्य लाता है—यह जानता था हर । इसके पूर्व कि हर कोई जिज्ञासा करे—'एक अवधूत आये हैं, गङ्गा मैयाके तटपर डेरा डाला है उन्होंने । चलोगे दर्शनको ? सुना है बड़े भारी योगी हैं वे, झूठा और शठ तो ठहरता ही नहीं उनके सामने'—एक साँसमें कह गया हरिदास । भला, हर ऐसे अवसरको कब छोड़नेवाला था । बड़े दिनोंसे साध थी उसकी, अपने मित्र हरिदासको ठिकाने लगानेकी । उसकी समझमें हरिदास जो भगवद्विग्रहके सम्मुख करुणाके स्वरमें पुकारा करता था, वह उसकी निरी मूर्खता ही थी । कबीरदासका यह कथन—

दुनिया कैसी बावरी पाथर पूजन जाय ।
घर की चकिया कोउ न पूजै, जिसका पीसा खाय ॥

—उसके मस्तिष्कमें चक्कर लगाता रहता था ।

× × ×

अवधूतजीने अपना डेरा बड़े सुन्दर स्थानपर लगाया था। चारों ओर सुन्दर और सघन वृक्षोंकी दीवार-सी बनी गयी थी। भगवती भागीरथीका कल-कल नाद वहाँसे स्पष्ट सुनायी पड़ रहा था। हरदत्तकी इच्छा थी अवधूतजीसे एकान्तमें मिलनेकी; परंतु दर्शकोंकी भीड़ इतनी अधिक थी कि उस समय बात करना तो दूर रहा, दर्शन करना ही बड़ा कठिन था। अतः दोनों मित्रोंको दूर ही एक वृक्षके पास टिकना पड़ा। दोनों अपने-अपने विचारोंमें लीन थे। कोई परस्पर बातचीत नहीं कर रहा था। दोनों मौन साधे खड़े थे।

वह सोच रहा था—'हरि कितना भोला है। व्यर्थके पचड़ेमें कितना शीघ्र फँस जाता है यह। कहता है—गुरुने मुझे एक भगवान्‌की मूरत दी है और कहा है इसकी प्रेम-भावसे पूजा किया कर, भगवान् तुझपर रीझ पड़ेंगे।' निरा मूर्ख कहींका। भला, पत्थर-वत्थरकी पूजा करनेसे भी कोई दर्शन होता है? क्या जगत्-नियन्ताने इसी हेतु मानवको बुद्धि दी है कि इसका बिना प्रयोग किये—बिना तर्ककी कसौटीपर कसे, वह जो सुने उसे मानता चला जाय? वह सोच रहा था कि आज हरिदासकी आँखें खुल जायँगी।

इधर हरिदास भी विचारशून्य नहीं था। उसे अपने मित्रके विचारोंपर क्रोध नहीं, दया आती थी। उस मदमत्त युवकका मुखमण्डल एक शान्त-स्निग्धभावसे जगमगा रहा था। अपने गुरु-वचनोंमें पूर्ण आस्था है उसे, ऐसा लक्षित होता था उसकी सूरतसे।

लगभग एक घंटेतक उन्हें उसी वृक्षके तले बैठे रहना पड़ा, तब कहीं अवधूतपादके दर्शन उन्हें हो सके। अवधूतपाद वास्तवमें बड़े प्रतिभाशाली थे। उनका गौर वर्ण और उन्नत ललाट एक अलौकिक तेजसे प्रकाशित था। आँखोंमें एक शान्ति-सी विराजमान थी। उन्होंने संकेतसे इन दोनोंको बैठनेके लिये कहा। दोनों मित्र धीरे-से बैठ गये।

'तो जिज्ञासा है तुम्हारे हृदयमें ?' अवधूतपादने प्रश्न किया। भला, आजकलके नवयुवक जिज्ञासाके अतिरिक्त और क्या करने आयेंगे—जानते थे अवधूतपाद।

'हाँ स्वामीजी! जिज्ञासा है और हम दोनों मित्रोंमें विवाद भी'—हरदत्तने जरा आश्वस्त होकर कहा।

'तो कह डालो अपना मतभेद। निवारण करनेका प्रयत्न करूँगा।'

'स्वामीजी! हरि कहता है कि मूर्तिपूजासे ईश्वरकी प्राप्ति हो सकती है। क्या यह सच है? मैं समझता तो यह भ्रममें है। भला, कहीं उस सर्वव्यापी परमात्माकी मूरत गढ़कर पूजनेसे वह प्राप्त हो सकता है?'

'तो फिर तुम्हारे विचारसे कैसे उसकी प्राप्ति हो सकती है?'

'ध्यानसे—चिन्तनसे।'

'बहुत ठीक! तुम समझते तो दोनों ही ठीक हो। पर क्या तुम बतलाओगे कि उस अव्यक्त-अलौकिक परमात्माका ध्यान कैसे करोगे?'

'अपने चित्तको एकाग्र करके'—हरदत्तने कहा।

'चित्त काहेमें एकाग्र करोगे?'

'शून्यमें।'

'क्या शून्य ही परमात्माका स्वरूप है?'

'शून्य तो नहीं है, परंतु अव्यक्त-परमात्माका ध्यान उसीमें करनेसे उसकी प्राप्ति होगी।'

'बस, यहीं भ्रममें हो, भैया'—साधुने हँसते हुए कहा।

तुम्हारी ये मायाविष्ट आँखें भला, शून्यमें क्या देखेंगी—और केवल शून्यमें, जो वास्तवमें परमात्माका स्वरूप भी नहीं है। अपने चित्तको एकाग्र करना एवं चिन्तन करना यही, अपनी चञ्चल इन्द्रियोंको सांसारिक वस्तुओंसे हटानेका अभ्यास करना है और इस अभ्यासकी पूर्णावस्थाका अर्थ यह भी नहीं है कि भगवत्प्राप्ति हो गयी। ऐसा अभ्यास करनेसे तो हृदय शुद्ध होता है, जिससे शुद्ध अन्तःकरणमें परमात्माका आविर्भाव हो सके। इससे तो तुम्हारे मित्रका विश्वास अधिक ठीक है।'

'पत्थर-पूजा करनेसे ईश्वर मिले यह तो और ही बेढब बात है, स्वामीजी! मेरा मन तो इसे माननेको तैयार नहीं।' प्रतिवाद किया हरदत्तने।

'यह तो विश्वास करनेकी बात है, भैया! विश्वास करके देखो, इसका फल तुम्हें प्रकट दिखायी देगा।'

'जो वस्तु बुद्धि और तर्कसंगत न हो, उसे मैं कैसे माननेको तैयार नहीं, स्वामीजी!'

'तो तुम्हें तर्क ही चाहिये?'—अवधूतपादने कहा।

'हाँ, स्वामीजी!'—जरा संकुचित होते हुए कहा हरदत्तने।

'तुमने गणित पढ़ी है ?'

'पढ़ी है ।'

'अब तुम शीघ्र समझ जाओगे । तुमने पढ़ा होगा, जब मूलधन' का पता नहीं होता, तब हम उसे निकालनेके लिये क्या किया करते हैं—बता सकते हो ?''

'कुछ मान लेते हैं, स्वामीजी ! जैसे—माना कि मूलधन सौ है ।'

'बहुत ठीक ।'

'अब क्या करते हो ?'

'माने हुए धनके प्रयोगसे वास्तविक मूलधनकी प्राप्ति हो जाती है ।'

'अब जरा यही सिद्धान्त तुम अपने प्रश्नपर तो समझो ।'

'भगवत्-विग्रहकी पूजा करनेवाला उस अदृश्य परमात्माको प्राप्त करनेके लिये मूलधन माननेकी तरह विग्रहको परमात्माका प्रतीक मान लेता है और उसी प्रकार भगवत्प्राप्ति कर लेता है, जिस प्रकार एक गणितका विद्यार्थी वास्तविक मूलधनकी ।'

अवधूतके उत्तर अकाट्य हैं, अनुभव किया बहनने । आज उसके नेत्र सदाके लिये खुल गये थे । आज उसे तत्त्व-दर्शन हो गया था । लोट गया वह अवधूतवरके चरणोंमें ।

हरिदत्त भी संतोंकी हँसी हँस रहा था ।

पूजाके विविध उपचार

(संकलनकर्ता—पं० श्रीवेणीरामजी गोस्वामी [illegible], साहित्य-विशारद)

'उपचार' शब्दका अर्थ और महत्त्व

वह साधन, जिसके द्वारा साधक अपने निर्मल अन्तःकरणसे भक्ति-भावपूर्वक आराधना करता हुआ देवताका सांनिध्य प्राप्त करता है, उपचार कहलाता है । [ज्ञानमाला]

श्रुतियों और तन्त्रोंमें औपचारिक अर्चनका अत्यधिक महत्त्व है । प्रत्येक उपचारके लिये पृथक्-पृथक् ऋचायें और मन्त्र निर्धारित हैं । विधिहीन और अमन्त्रक पूजन शास्त्र-सम्मत नहीं है । पूरे विधि-विधानसे की जानेवाली और समन्त्रक आराधनासे ही देवगण प्रसन्न होकर साधकको ईप्सित फल प्रदान करते हैं ।

उपचार कितने और कौन-कौन-से हैं ?

प्रचलित एवं प्रधान उपचारोंकी तालिका निम्नाङ्कित है—

मेरुतन्त्रके अनुसार पुरुषसूक्तकी १६ ऋचाओंसे उपर्युक्त १६ उपचारोंद्वारा श्रीविष्णुभगवान्‌के पूजन किये।

प्रचलित एवं गौण उपचारोंकी तालिका नीचे दी जाती है—

(१) दशोपचार (२) द्वादशोपचार (३) षोडशोपचार (४) चतुःषष्ट्युपचार

(दशोपचारमें (१) ताम्बूल और (२) दक्षिणाके योगसे बनता।)

दशोपचार: (१) पाद्य (२) अर्घ्य (३) आचमनीय (४) मधुपर्क (५) आचमनीय (६) गन्ध (७) पुष्प (८) धूप (९) दीप (१०) नैवेद्य

षोडशोपचार: (१) आवाहन (२) आसन (३) अर्घ्य (४) पाद्य (५) आचमनीय (६) स्नान (७) वस्त्र (८) उपवीत (९) आभूषण (१०) गन्ध (११) पुष्प (१२) दीप (१३) धूप (१४) पुष्पमाला (१५) अनुलेपन(उबटन) (१६) नमस्कार (१७) प्रदक्षिणा (१८) विसर्जन (मेरुतन्त्र)

चतुःषष्ट्युपचार: (१) आवाहन (२) आसन (३) पाद्य (४) अर्घ्य (५) आचमनीय (६) मधुपर्क (७) आचमनीय (८) स्नान (९) सुगन्ध द्रव्य (१०) दधि... (११) घृतस्नान (१२) मधुस्नान (१३) शुद्धोदकस्नान (१४) शर्करास्नान (१५) पञ्चामृतस्नान (१६) शुद्धोदकस्नान (१७) लेपन (१८) शुद्धोदकस्नान (१९) व... (२०) उपवीत (२१) चन्दन (२२) सौभाग्यसूत्र (२३) हरिद्राचूर्ण (२४) कुङ्कुम (२५) सिन्दूर (२६) कज्जल (२७) दूर्वाङ्कुर (२८) बिल्वपत्र (२९) पत्र... (३०) पुष्पमाला (३१) रत्नमाला (३२) अलंकार (३३) धूप (३४) दीप (३५) नैवेद्य (३६) ऋतुफल (३७) ताम्बूल (३८) दक्षि... (ताम...

प्रचलित पूजोपचार केवल ५ और १६ हैं। किंतु तन्त्रोंमें १२, १८, ३८, ६४ और १०८ उपचारों... उल्लेख है। साधकको चाहिये कि वह उदार हृदय एवं मुक्तहस्तसे अपने इष्टदेवकी आराधना करे। तन्मय एवं... पूर्वक अर्चनसे ही साधकको अभीष्ट-सिद्धि प्राप्त होती है।

सत्यम् ! शिवम् !! सुन्दरम् !!!

महर्षि शाण्डिल्य और भक्तितन्त्र

(लेखक—पं० श्रीगौरीशङ्करजी द्विवेदी)

भक्ति-महिमा

ऋषियोंने महर्षि शाण्डिल्यसे पूछा—'भगवन्! किसी देश या कालकी अपेक्षा न रखनेवाला, अर्थात् सब जगह और सब समयमें काम देनेवाला ऐसा कौन-सा उपाय है, जिसके द्वारा मनुष्य सर्वोत्कृष्ट सिद्धि प्राप्त कर सकता है?' महर्षि शाण्डिल्यने उत्तर दिया—

क्षेममात्यन्तिकं विप्रा हरेर्भजनमेव हि।
देशकालानपेक्षाय साधनाभावमप्युत॥
(शा० सं० १।९)

'हे विप्रो! मनुष्य-जीवनमें सबसे बढ़कर कल्याणकारक हरिभजन है। किसी देश या कालकी इसमें अपेक्षा नहीं है और न इसके लिये साधन जुटाने पड़ते हैं।'

हरिर्देहभृतामात्मा स्थितः कण्ठमणेरिव।
को प्रयासो भवेत् तस्य प्रीणने करुणानिधेः॥
(शा० सं० १।१०)

'श्रीहरि देहधारी जीवोंके आत्मा ही हैं और कण्ठमें स्थित मणिके समान सदा प्राप्त हैं। उन करुणानिधि प्रभुको प्रसन्न करनेमें विशेष प्रयास भी नहीं करना पड़ता।'

धर्मार्थकाममोक्षार्थैरेव पूजाभिसाध्यते।
यथैव सरितः सर्वाः पर्यवसन्नाः सरित्पतिम्॥
(शा० सं० १।११)

'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि केवल प्रभुकी आराधनासे ही हो जाती है। जिस प्रकार सारी नदियाँ समुद्रमें मिल जाती हैं, उसी प्रकार चारों पुरुषार्थोंका पर्यवसान श्रीहरिकी आराधनामें ही होता है।'

क्रियमाणेऽपि यत्रास्ति परमानन्दसम्भृतिः।
को न सेवेत तं धर्मं मतिमान् भक्तिलक्षणम्॥
(शा० सं० १।१७)

'जिसका साधन करते समय भी परमानन्दकी प्राप्ति होती रहती है, उस भक्तिरूप धर्मका सेवन कौन बुद्धिमान् पुरुष नहीं करेगा?'

भक्तिः श्रीकृष्णदेवस्य सर्वार्थानामनुत्तमा।
एषा हि चेतसः शुद्धिर्यतः शान्तिर्यतोऽभयम्॥
(शा० सं० १।१९)

'भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंसे भी बढ़कर है। इससे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर जीवको शान्ति मिलती है, वह निर्भय हो जाता है।'

येन केन प्रकारेण कृष्णस्य भजनं हितम्।
तेन सम्मुच्यते जीवो यदानन्दमयो हरिः॥
(शा० सं० २।१२)

'नाम-स्मरण, मन्त्रजप, पूजा, ध्यान, स्तोत्र-पाठ आदि जिस किसी भी प्रकारसे श्रीकृष्णका भजन कल्याणकारक होता है। इससे जीव संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है; क्योंकि प्रभु श्रीकृष्ण आनन्दमय हैं। तब भक्त, प्रभुका सांनिध्य हो जानेपर जीवको भव-व्याधि कैसे सता सकती है?'

आचार (सनातन)

ये यत्र देवा भूदेवा यो धर्मः शास्त्रसम्मतः।
ते तथैवानुसर्तव्या इत्याह भगवानजः॥
(शा० सं० १।१०)

'भगवान् ब्रह्माजीकी आज्ञा है कि जिस स्थानमें जो देवता हों, जो ब्राह्मण हों, जो शास्त्र-सम्मत धर्म हो, वहाँ उनको तदनुसार ही बर्तना चाहिये।'

तीर्थे देवे तथा क्षेत्रे काले देशे च धामनि।
या यथा वर्तते रीतिस्तां तथैवाभिमानयेत्॥
(शा० सं० १।९)

'तीर्थस्थानमें, देवताके विषयमें, धर्मक्षेत्रमें, कालविशेषमें, देशविशेषमें तथा घरमें जैसी रीति बर्ती जाती रही हो, उसका उसी प्रकार पालन करना चाहिये।'

तत्र पूजाप्रवाहोऽपि महतां समयानुगः।
तथैवानुसर्तव्यो दूषयंश्च पतत्यसौ॥
(शा० सं० १।८)

'जहाँ पूजा-पद्धति भी जैसी महापुरुषोंके द्वारा प्रचलित चली आ रही हो, उसका उसी प्रकार अनुसरण करना चाहिये। जो उस पद्धतिको दूषित करता है, उसका पतन हो जाता है।'

वर्त्मनि सम्प्रदाये च यागे योगे प्रभुप्रिये।
भाषां संकीर्तनं सेवा तथा तद्विहितागमम्॥

> तदीयाराधनं चर्चा मनसा द्विजसत्तम ।
> अन्यथा विद्यमानेऽपि तपसा हरिसेवया ॥
> सत्सङ्गेन नृणां शुद्धिः पञ्चधा परिकीर्तिता ।
> नवधा भक्तियोगेन तस्यैवोद्धरणं स्मृतम् ॥
>
> (अ० सं० १ । १०-१२)

'श्रीकृष्णकी अर्चा, मन्त्र-जप, स्तुति, हवन, ध्यान, नाम-संकीर्तन, सेवा, शङ्ख-चक्रादि उनके चिह्नोंका धारण, उनकी आराधना—यह नवधा भक्ति है। मनुष्योंकी शुद्धि पाँच प्रकारसे होती है—सत्कुलमें जन्म लेनेसे, विद्याध्ययनसे, तपस्यासे, हरि-सेवासे तथा सत्सङ्गसे और नवधा भक्तिका योग होनेसे उनका उद्धार हो जाता है।'

भक्तियोगकी शिक्षा स्वयं श्रीविष्णुभगवान्‌ने ब्रह्माजीको सृष्टिके आदिमें दी तथा तारक महामन्त्रका जप करनेका आदेश दिया।

भक्ति-विकास—उद्भव और प्रसार

> तारकं मे महामन्त्रं जप त्वं येन वाञ्छिता ।
> भक्तिः सृष्टिश्च भो ब्रह्मन् मधुरा सम्भविष्यति ॥
>
> (अ० सं० ४ । २९)

'हे ब्रह्मन्! तुम मेरे तारक महामन्त्र (राम-नाम) का जाप करो, जिससे मनोवाञ्छित भक्ति प्राप्त होगी तथा मधुर (मधुर) सृष्टि उत्पन्न होगी।' इससे ज्ञात होता है कि भक्तिका उद्भव पहले-पहल ब्रह्माजीके अन्तःकरणमें सृष्टिरचनासे पूर्व ही हुआ था। उसके बाद—

> उपासितो वसिष्ठेन कदाचित् प्रपितामहः ।
> भाषः प्राह महायोगं भक्तियोगं यथायथम् ॥
> वसिष्ठोऽपि कृपाविष्टः शाक्त्ये भक्तितो ददौ ।
> पराशराय तन्मन्त्रं कुरुक्षेत्रे ददौ स च ॥
> पराशरो ब्रह्मर्षिर्भक्त्याऽऽचारेण सादरम् ।
> जातोऽसौ परमाचार्यो मुकुन्दे भक्तिमान् मुनिः ॥
> मुकुन्दभक्तनात् तस्य पुत्रो व्यासो महामुनिः ।
> यतो धर्मो यतो ज्ञानं यतो भक्तिः प्रवर्तते ॥
>
> (भा० सं० ४ । १४-१७)

'वसिष्ठजीने ब्रह्माजीकी उपासना करके भक्तिरूपी महा-योगको यथार्थरूपमें प्राप्त किया और वसिष्ठजीने कृपापूर्वक अपने भक्तिमान् पुत्र शक्ति ऋषिको भगवद्भक्तिका उपदेश किया। उन्होंने यह मन्त्र कुरुक्षेत्रमें अपने पुत्र पराशर मुनिको प्रदान किया। पराशर मुनिने आचारपूर्वक आदरभावसे तथा भक्तियुक्त होकर उस मन्त्रका जप किया, जिससे वे श्रीभगवान्‌के भक्त एवं भक्तिके परम आचार्य हुए। मुकुन्दके भजनके प्रतापसे उनके महामुनि व्यास-जैसा पुत्र-रत्न हुआ, जिसने संसारमें धर्म, ज्ञान और भक्तिका प्रवर्तन किया।' तत्पश्चात्—

> पाराशर्येण महाप्रभुः भक्तेः सदविस्तृतः ।
> ज्ञानवैराग्यसम्पूर्णो वेदवेदान्तसम्मतः ॥
> समाहूय तां समाराध्य मधुभावा प्रभञ्जनः ।
> मधुविद्येति सा प्रोक्ता दधीचिर्योगुरावद् ॥
> सा विद्या परमा लोके बहुधासीत् प्रभञ्जनात् ।
> यस्यां मन्त्रविभागोऽपि वैविध्यं पृथक् पृथक् ॥
> कर्णाटके द्राविडे च आन्ध्रे सौराष्ट्र उत्कले ।
> शूरसेने मथुरेऽपि प्रधान्यात् प्रसृता तु सा ॥
>
> (अ० सं० ४ । १८-२१)

'व्यासजीने ज्ञान-वैराग्यसे परिपूर्ण और वेद-वेदान्तसम्मत भक्तिके श्रेष्ठ मार्गका प्रवर्तन किया। व्यासजीकी सम्यक्‌रूपसे आराधना करके उस भक्तिको मधुनामक प्रभञ्जनने प्राप्त किया, इसलिये उसको मधुविद्या भी कहते हैं, जिसे दधीचिने प्राप्त किया था। वह परम श्रेष्ठ विद्या प्रभञ्जनके द्वारा विविध प्रकारसे प्रचलित हुई। आचार्योंने उसके पृथक्-पृथक् मन्त्र-विभाग किये और प्रधानतः उसका कर्णाटक, द्रविड, आन्ध्र, सौराष्ट्र, उत्कल, शूरसेन और मथुरा आदि देशोंमें प्रचार हुआ।'

> ब्रह्माद्या भगवद्भक्ता जीवा ह्येता निसर्गतः ।
> उपकुर्वन्ति मुक्त्यर्थं भवबन्धमुदरैरिव ॥
>
> (अ० सं० ४ । २४)

'ब्रह्मा आदि सारे जीव निसर्गतः भगवान्‌के भक्त और सेवक हैं। वे श्रीकृष्णके शरणापन्न होकर संसार-बन्धनसे मुक्त करनेके लिये लोगोंकी सहायता करते हैं।'

प्राचीन कालमें श्वेतद्वीपमें क्षीरशायी श्रीविष्णुभगवान्‌की ब्रह्मा आदि देवताओं तथा सारे तपस्वी मुनियोंने अनन्य भक्ति-पूर्वक सम्यक् आराधना करके चारों वेदों, सारे उपनिषदों तथा योग-सांख्य आदि सारे शास्त्रोंके सारभूत, श्रीहरिके परम रहस्यस्वरूप पञ्चरात्र-शास्त्रको प्राप्त किया था। उसी शास्त्र-को पुनः विष्णुभगवान्‌की आराधना करके नारदजीने प्राप्त किया, जिसके कारण वह लोकमें नारद-पञ्चरात्र शास्त्रके नामसे प्रसिद्ध है। जैसे—

> प्राप्तवान् तु महात्मासौ नारदो देवसम्मतः ।
> आराध्य तं महाविष्णुं लेभे शास्त्रं पुरातनम् ॥
>
> (अ० सं० ४ । ५१)

पञ्चरात्र

पञ्चरात्ररहस्याख्यं धन्यं योगं सुदुर्लभम् ।
प्राप्यैतं नारदाद् देवि मामिष्ट्वा मामुपागताः ॥
मत्परा मामेकशरणा जपन्तो मे महामनुम् ।
समायाताः पदं मे तत्र उपकृत्य परानपि ॥
ज्ञानविज्ञानसम्पन्ना वेदवेदान्ततत्पराः ।
जितेन्द्रिया जितात्मानः सांख्ययोगेन संगताः ॥
सांख्यं योगस्तथा चैवं वेदारण्ये च पञ्चकम् ।
प्रोच्यन्ते रात्रयः कान्ते आत्मानन्दसमर्पणात् ॥
पञ्चानामीप्सितो योऽर्थः स यत्र स्वयमाप्यते ।
परमानन्दमेतेन प्राप्नोति परमात्मना ॥
प्रमाणपञ्चकैः पूर्णं पञ्चकार्योपदेशकम् ।
प्रपञ्चातीतसद्धर्मं पञ्चरात्रमुदाहृतम् ॥
(शा० सं० ४ । ७२—७७)

अर्थात् हे देवि! पञ्चरात्र नामक जो रहस्यात्मक मेरा दुर्लभ योग है, उसे नारदसे प्राप्त करके मेरी पूजा करके मुझको प्राप्त, मेरे परायण, एकमात्र मेरी शरणमें आये हुए मेरे महामन्त्रका जप करके मेरे पदको प्राप्त हुए हैं तथा दूसरोंका उपकार करके ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न, वेद-वेदान्तमें तत्पर, जितेन्द्रिय, मनोजयी और सांख्ययोगसे युक्त हुए हैं। हे प्रिये! सांख्य, योग, वैष्णवसिद्धान्त, वेद और आरण्यक—ये पाँच रात्रि कहलाते हैं; क्योंकि ये आत्मानन्द प्रदान करनेवाले हैं। इन पाँचोंका ईप्सित अर्थ जहाँ स्वयं प्राप्त होता है, उससे परमात्माके परमानन्दकी प्राप्ति होती है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और ऐतिह्य—इन पाँचों प्रमाणोंसे पूर्ण, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और भक्ति—इन पाँचों पुरुषार्थोंका उपदेश करनेवाला, प्रपञ्चातीत सद्धर्म (भागवत-धर्म)का प्रकाशक पञ्चरात्र कहलाता है।

त्रिपुरारि-सम्प्रदाय

एक बार शंकरजी गोकुलमण्डलमें गये। वहाँ उन्होंने अति रमणीक वृन्दावनके सच्चिदानन्दमय मन्दिरमें कोटि-कोटि कामदेवोंको लज्जित करनेवाले त्रिभङ्गललित भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको देखा। वे व्रजाङ्गनाओंसे परिवेष्टित, आनन्दसुधासे मुनियों और मुनियोंके द्वारा सेवित, अनुपम रूप-लावण्यसे युक्त, वंशी अधरोंपर धारण किये सुशोभित हो रहे थे। प्रणाम करके शंकरजीने जगत्‌का उद्धार करनेवाले सम्प्रदायकी प्राप्तिके लिये श्रीकृष्णकी साम-गानके द्वारा स्तुति किया। भगवान्‌ने प्रसन्न होकर जिस मार्गका उपदेश दिया, वही 'त्रिपुरारि-सम्प्रदाय' के नामसे विख्यात है। इसका उल्लेख श्रीशाण्डिल्य मुनिने अपनी भक्तिसंहिताके पाँचवें अध्यायमें किया है। इसी सम्प्रदायमें नारदजी दीक्षित हुए और उन्होंने परम तेजस्वी व्यासजीको दीक्षित किया। इसी सम्प्रदायमें शाण्डिल्य मुनि थे और उन्होंने कौण्डिन्य और गर्गमुनिको दीक्षित किया।

इस सम्प्रदायमें देवता, असुर, मानव, पशु-पक्षी आदि समस्त जीवोंका अधिकार है; परंतु विभिन्न जीवोंके अधिकार-भेदसे भक्ति तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी।

सात्त्विकी भक्ति

वर्णाश्रमधर्मेण ज्ञानविज्ञानशालिना ।
वैराग्येण गुरोर्लब्धा भक्तिः सा सात्त्विकी हरेः ॥
विशुद्धचेतसः पुंसो महतां समनुग्रहात् ।
चेतसामुन्नतिर्नित्या मुख्यैषा सात्त्विकी भवेत् ॥
सर्वत्र भगवद्भावः सर्वत्रैवानुकम्पनम् ।
सात्त्विकाचरणात्पुंसो भजनं सात्त्विकं मतम् ॥
(शा० सं० ६ । ७—९)

'वर्णाश्रम-धर्मका पालन करते हुए, ज्ञान विज्ञानशाली, वैराग्ययुक्त जीवनसे गुरुके द्वारा प्राप्त हरिभक्तिकी साधना सात्त्विकी भक्ति है। विशुद्ध हृदयवाला पुरुष महात्माका अनुग्रह प्राप्तकर नित्यप्रति जिस भक्तिके द्वारा आत्मोन्नतिमें लगा रहता है, वह सात्त्विकी तथा मुख्य भक्ति है। सर्वत्र—जड-चेतनमें भगवद्भाव रखते हुए, सर्वत्र—सब जीवोंपर करुणाकी वृष्टि करते हुए सात्त्विक आचरणके साथ जो भगवद्भजन होता है, उसको सात्त्विक भजन कहते हैं।'

शमो दमस्तपः शौचं वैराग्यं ज्ञानमात्मता ।
दया दानं तथा धैर्यं सात्त्विकानां स्वभावतः ॥
(शा० सं० ६ । १४)

'सात्त्विक भक्तमें मन तथा इन्द्रियोंका निग्रह, स्वधर्मके लिये कष्ट सहनेकी प्रवृत्ति, बाहर-भीतरकी पवित्रता, वैराग्य, ज्ञान, स्वरूपस्थिति, दया, दान तथा धैर्य आदि गुण स्वभावतः होते हैं।'

राजसी भक्ति

यशोर्थिभिः स्वधर्मेण ये भजन्ति सुमेधसः ।
विविधप्रवृत्तयो भक्ता राजसास्ते प्रकीर्तिताः ॥

आभास नहीं होता । उसकी सारी मनोवृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। तब वह भक्तश्रेष्ठ निर्गुण भक्तिमें लीन होता है ।'

सगुणा साधनापन्ना सिद्धावस्था तु निर्गुणा ।
केषांचिदेव सा साक्षात् प्रसादान्मुरवैरिणः ॥
(शा० सं० ७ । ११)

'सगुणा भक्ति साधनस्वरूपा होती है और निर्गुणा भक्तिमें साधक सिद्धावस्थाको प्राप्त होता है । यह निर्गुणा भक्ति स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे किसी विरले ही साधकको प्राप्त होती है ।'

परंतु सिद्धावस्थाको प्राप्त हुआ भक्त भी साधक होता है । महर्षि शाण्डिल्य कहते हैं—

निर्गुणोऽपि भवेद् कर्ता यथैव परमेश्वरः ।
यथैव तरणिस्तिष्ठन् प्रकाशयति विष्टपम् ॥

'निर्गुण भक्त भी साधक होता है । जैसे परमात्मा निर्गुण होकर भी कर्ता है तथा जैसे सूर्य अकर्ता होकर भी सारे लोकको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार सिद्धावस्थाको प्राप्त भक्तके द्वारा लोक-कल्याण होता रहता है । उसकी प्रत्येक साँसके द्वारा भजन होता रहता है ।'

महर्षि शाण्डिल्यप्रोक्त श्रीकृष्णका ध्यान

'मयात्र संस्थितेनैवं सदैव हृदि संस्मृतः ।
नवीननीरदश्यामो नीलेन्दीवरलोचनः ॥
पीनवक्षाः पृथुश्रोणिः कम्बुकण्ठोऽल्पकोदरः ।
वृत्तजगूढ्यङ्गोऽपि प्रांशुग्रीवस्तथोन्नसः ॥
राकेन्दुचारुवदनो नीलकुन्तलराजितः ।
अम्भोजसदृशाङ्घ्रिभ्यां नखचन्द्रकलां दधत् ॥
रत्नकिङ्किणिसंसक्तपीतपीताम्बरमण्डितः ।
वलित्रयकृतोदरो नाभिगाम्भीर्यगर्वितः ॥
सुविस्तीर्णोरसा बिभ्रदनौपम्यां महेन्दिराम् ।
हारग्रैवेयककणिकमालाविभूषितः ॥
वैजयन्तीकला पुष्को वनमालोल्लसत् ।
ऊर्मिकाकङ्कणाद्यैश्च केयूराङ्गदसङ्कुलः ॥
हीरकोद्दीप्तचिबुको गजमौक्तिकनासिकः ।
संशोभिरोचनतिलकः स्फुरन्मकरकुण्डलः ॥
मायूरमुकुटी वेणुवेत्रधरोऽतिसुन्दरः ।
किशोरो दर्शनीयाङ्गः सर्वाभरणभूषणः ॥
कोटीन्द्रिरासेविताङ्घ्रिः कोटीन्दुद्युतिशीतलः ।
कोटिकल्पद्रुमामोदः कोटिकौस्तुभभासुरः ॥
कोटिचिन्तामणिस्थानः कोटिकल्पद्रुमाग्रणीः ।
मन्दस्मितोऽतिकरुणः स्निग्धापाङ्गावलोकनः ॥
गोपालबालकैः क्रीडन् कदाचित् प्रादुरास ह ।
साष्टाङ्गप्रणतं दीनमश्रुपयोधिमग्नितः ॥
साधु साधो महाभाग भजनस्य मां भजन्निह ।
सिद्धः सुतपसा सिद्धः शाण्डिल्य वृणु वाञ्छितम् ॥
(शा० सं० १२—४१)

महर्षि शाण्डिल्य कहते हैं कि 'मैंने यहाँ रहकर सदा हृदयमें भगवान्‌के स्वरूपका स्मरण किया । उनका नवीन मेघके समान श्याम वर्ण है । नील-कमलके समान नेत्र हैं, पुष्ट वक्षःस्थल है, विशाल नितम्ब हैं, शङ्खके समान कण्ठ है, क्षीण कटि है । जङ्घा आदि वर्तुलाकार और भरे हुए हैं, ऊँची गर्दन है तथा उठी हुई नासिका है । पूर्ण चन्द्रके समान सुन्दर मुखमण्डल है, नीले रंगकी अलकें सुशोभित हैं । कमलवत् चरणोंमें नख चन्द्रकलाकी शोभाको धारण कर रहे हैं । रत्नमयी करधनीसे सुशोभित पीत वर्णका पीताम्बर धारण किये हुए हैं । त्रिवलिसे युक्त सुन्दर उदर और गम्भीर नाभि है । विस्तृत उरःस्थलपर अनुपम श्री सुशोभित हो रही है । गलेमें मुक्ताकी माला तथा स्वर्णकी मालासे विभूषित हैं । वक्षःस्थलपर वैजयन्ती माला तथा वनमाला सुशोभित है । अँगूठी, कंगन आदिके द्वारा तथा बाजूबंदके द्वारा सुन्दर भुजाएँ शोभा दे रही हैं । ठोढ़ी हीरेसे उद्दीप्त है, गजमुक्तासे नासिका सुशोभित है । रोलीका लाल तिलक शोभा दे रहा है, मकराकृति कुण्डल चमचमा रहे हैं, मोर-मुकुट धारण किये हैं, हाथमें वंशी और बेंत अति सुन्दर लगते हैं, सर्वप्रकारके आभूषणोंसे भूषित किशोर अङ्ग सुदर्शनीय है। कोटि-कोटि ऋषियोंद्वारा आसेवितचरण, कोटि-कोटि चन्द्रमाओंकी द्युतिके समान शीतल, कोटि-कोटि कल्पवृक्षोंके आमोदसे भी अधिक आमोद फैलानेवाले, कोटि-कोटि कौस्तुभमणिसे भी अधिक प्रकाशमान, कोटि-कोटि चिन्तामणियोंके आश्रय, कोटि-कोटि कल्पवृक्षोंके अधीश्वर, अति करुणामय, स्नेहपूर्वक तिरछे नयनोंसे देखते हुए, मन्द-मन्द हँसते, गोपबालकोंके साथ क्रीडा करते श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव हुआ । मुझ दीनको साष्टाङ्ग दण्डवत् करते हुए देखकर प्रभुने अनुग्रहपूर्वक कहा—हे शाण्डिल्य ! भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हुए तुम धन्य एवं महान् भाग्यशाली हो गये हो। तुम्हारी सुन्दर तपस्या सिद्ध हो गयी, अब मुझसे अभिवाञ्छित वर माँगो ।'

जन्माङ्गसे भक्ति-विचार

(लेखक—पं० श्रीरत्नरामजी शास्त्री एम्० ए०, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न)

जिसको वैद्य या डाक्टर रोग कहते हैं, उसे ज्योतिषी ग्रहयोग कहते हैं, उसे ही ओझा लोग भूतबाधा बतलाते हैं तथा भगवान्‌के भक्त उसीको पूर्वजन्मकृत भवबाधा मानते हैं। अपने राम तो यही समझते हैं कि बिना उसकी मर्जीके पत्ता भी नहीं हिलता। जो कुछ भी हो, ज्योतिषी होनेके नाते प्रस्तुत प्रसङ्गमें 'जन्माङ्गसे भक्ति-विचार' के रहस्यको उपस्थित कर रहा हूँ।

फलित ज्योतिषमें जन्माङ्गके आधारपर जीवकी प्रत्येक अवस्थाकी दैनिक स्थिति ही नहीं, अपितु क्षण-क्षणकी गति-विधिका विचार भलीभाँति किया गया है। मनुष्यकी जन्म-कुण्डलीके कारकांश लग्न, गुर्वधिष्ठित राशि, पञ्चम तथा नवम भाव एवं उनके स्वामियोंसे भक्तिका विचार किया जाता है।

भक्तिकी जानकारीके लिये ग्रहस्थिति, ग्रहोंका बलाबल तथा सहयोगी ग्रहोंसे मित्र-शत्रुका विचार भी करना चाहिये। ग्रहोंकी दशा-अन्तर्दशाके अतिरिक्त हर्षबल आदिका भी विचार कर लेना चाहिये।

भक्ति और धर्मके विचारके लिये आचार्योंने नवम और पञ्चम—दो भावों (स्थानों) को नियत कर दिया है। यहाँ पाठकोंकी जानकारीके लिये, ग्रहोंकी स्थितिके अनुसार मानवकी कुण्डलीसे भक्तिके तत्त्वका विचार किया जाता है।

१. जिसका पञ्चम भाव सूर्यसे युक्त अथवा दृष्ट हो, वह भगवान् सूर्य और शंकरका भक्त होता है—सुते सूर्ययुतदृष्टे सूर्यशंकरभक्तः। (जातक-तत्त्व ११। २०) ऐसा जातक यदि हिंदू-धर्मावलम्बी हुआ तो शिवका अनन्य भक्त होता है। सूर्य यदि नवम भावमें मित्रके क्षेत्र (राशि) में हो तो जातक अनुष्ठानप्रिय और सात्त्विक होता है। देवताओंमें दृढ भक्ति रखता है। ऐसे जातकको प्रथम और दशम वर्षोंमें तीर्थ-यात्राका योग होता है। यदि सूर्य उच्च या स्वगेही हो तो जातक ईश्वरमें, देवताओंमें और गुरुमें दृढ भक्ति रखता है। इसके विपरीत यदि सूर्य नीच राशिमें स्थित होकर नवम भावमें हो तो जातक धर्ममें अभिरुचि नहीं रखता।

२. यदि जातककी जन्मकुण्डलीमें बुध, गुरु और दशमेश—ये तीनों ग्रह पूर्ण बलवान् हों तो वह जातक शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करता है—सौम्यकर्मेशाः सबला यदा स्युः। वह पुराण आदिके श्रवण-मननमें अपना समय बिताता है। सत्कर्म और तीर्थाटनमें उसका समय विशेषरूपसे लगता है। ऐसा जातक देव-प्रतिमा और ब्राह्मणोंमें श्रद्धा रखता है और मन्दिर, धर्मशाला आदि स्थानोंका निर्माण भी होता है।

३. जिस जातकके पञ्चम भावमें मङ्गल रहते अथवा उसे देखते हैं तो वह भैरव अथवा कार्तिकेयका अनन्य भक्त होता है—सुते भौमसम्बन्धे स्कन्दभैरवभक्तः। ऐसे जातकपर ब्राह्मणोंकी विशेष कृपा रहती है।

४. यदि जातकके नवम भावमें बुध ग्रह हो तो जातक दृढ भक्त और भगवत्-प्रेमी होता है। यदि बुध शुभ ग्रहोंके साथ हों तो जातक भगवान्‌का अनन्य भक्त सिद्ध होता है।

५. जिस जातकके कारकांश लग्नमें बुध, शनि गये हों तो उसके लिये भगवान्‌की अनन्य भक्तिकी प्राप्तिमें संदेह ही नहीं रह जाता—ज्ञौ शनौ श्री विष्णुभक्तः। ऐसा जातक महान् धर्मात्मा, यज्ञ-अनुष्ठानका कर्ता होता है। नवम भावमें चन्द्रमा, मङ्गल एवं बृहस्पतिके साहचर्यसे भी ऐसा ही योग बनता है—देवतायजनरतो नवमगीश्वर-स्थानगेश्वरैः। ऐसा जातक यज्ञ-अनुष्ठानके आचरणमें अपना शरीर सुखा डालता है। वह तपस्वी, मनस्वी एवं सामर्थ्यशील होता है। ऐसा जातक ईश्वरका अनन्य भक्त होकर संसारका भी कल्याण करता है। उसके हाथोंसे कई मन्दिरोंका निर्माण होता है। यदि जातक हिंदूधर्मके अन्तर्गत उत्पन्न होता है तो सनातनधर्मकी रक्षामें अपना जीवन ही समर्पित कर देता है। वह ब्रह्मज्ञानी और अत्यन्त उदार चित्तका होता है।

६. शुक्र यदि जातकके नवम भावमें स्थित हो तो जातक किसी भी पदपर रहकर देवताओंकी पूजामें स्थित रहकर गुरु-भक्तिका परिचय देता है। ऐसा जातक जन्मसे

कमाईका अधिक-से-अधिक भाग यज्ञादि कार्यों एवं धर्मशाला, मन्दिर आदिके निर्माणमें व्यय करता है। ऐसा जातक अपने हाथसे अधिक धन पैदा करता है और सत्कार्यमें व्यय करता है। यदि शुक्र मह शुभ ग्रहोंके साथ या मिश्र ग्रहोंके साथ नवम भावमें स्थित हों तो जातक भगवान्का अनन्य भक्त होता है।

७. कारकांश लग्नमें केतु और चन्द्रमा गये हों तो वह गौरी-महाकाली आदि महाशक्तियोंकी उपासना करता है, शक्ति-भक्त होता है। कारकांश लग्नमें केतु और शुक्र गये हों तो महालक्ष्मी तथा दस महाविद्याओंका भक्त होता है। पञ्चमभाव गुरुसे युक्त अथवा दृष्ट हो तो शारदा (सरस्वती) का भक्त होता है। पञ्चमभाव शुक्रसे युक्त या दृष्ट हो तो चामुण्डाकी आराधना करता है—

अंशे केतुचन्द्रौ गौरीभक्तः। अंशे सितकेतुभ्यां लक्ष्मीभक्तः। सुते गुरुसम्बन्धे शारदाभक्तः। सुते शुक्रसम्बन्धे चामुण्डाभक्तः।

(जातकतत्त्व ११। १८-२१)

नवें भावमें बृहस्पति हों, नवांशाधिपति ९ वें हों और वह शुभग्रहसे दृष्ट हों तो जातक गुरुका भक्त होता है—

गुरौ लग्नांशसंयुक्ते नवांशाधिपतौ तथा।
शुभग्रहेक्षिते वापि गुरुभक्तियुतो भवेत्॥

(जातकपारिजात १४। ९२)

८. जातकके नवम भावमें यदि नीचका शनि अन्य पाप-ग्रहोंके साथ बैठा हो तथा पञ्चम-नवमपर किसी शुभ-ग्रहकी दृष्टि न हो तो जातक भिन्नधर्ममें पैदा होता है, उसका खण्डन करता है। यदि शनि उच्च राशिमें स्थित हो तो जातक स्वर्गसे आया हुआ या स्वर्ग जानेवाला होता है। यदि शनि स्वक्षेत्रगत हो तो जातक भगवान् शिवका अनन्य भक्त होता है। यदि शनि स्वक्षेत्री होकर नवमस्थ हो तो जातक 'महाशिवयाग' कराता है। ऐसा जातक उनतीसवें वर्षमें गोशाला या घाटका निर्माण करता है।

९. यदि जातकके नवम भावमें अन्य पापग्रहोंके साथ राहु स्थित हों तो जातक भक्ति-धर्म-कर्मविहीन होता है। ऐसे जातकको ईश्वर, गुरु, पिता आदिमें विश्वास और श्रद्धा नहीं रहती।

१०. यदि जातकके नवम भावमें अकेला केतु हो, उसपर किसी शुभग्रहकी दृष्टि न हो और पञ्चममें भी कोई शुभग्रह न हो तो जातक म्लेच्छधर्मका अनुयायी होता है। ऐसा जातक हिंसामें अधिक रुचि रखता है।

११. बुध यदि जातकके पञ्चम भावमें स्थित हों या उसे देखते हों तो वह सभी देवताओंका भक्त होता है—सुते बुधसम्बन्धे सर्वदेवभक्तः (जातकत० ११। १६)।

१२. राहु यदि जातकके पञ्चम भावमें स्थित हों या उसे देखते हों तो वह पर पीड़ाकारी देवता, यक्षिणी, प्रेतात्मा आदिकी भक्ति करता है—परपीडकयक्षिण्यो: प्रेतात्माभ्या:स सेवकः। (ज्योतिषतत्त्व ११। ५१)

यदि पञ्चम और नवम दोनों भावोंके अधिपतियोंका परस्पर सम्बन्ध दृढ़ हो तो वह जातक निश्चय ही महान् साधक और अनन्य भक्त होता है।

प्रव्रज्या (संन्यास)-विचार

१. दशम स्थान कर्मस्थान माना जाता है। इस स्थानसे जातकके प्रव्रज्या या वैराग्यका विचार किया जाता है। यदि पञ्चमेश, नवमेश, दशमेशका सम्बन्ध दृढ़ हो जाय तो जातक महान् भक्त और विरक्त होता है। यदि पञ्चम स्थानमें पुरुषग्रह बैठा हो या उसपर पुरुषग्रहकी पूर्ण दृष्टि हो तो जातक पुरुष-देवकी भक्ति करता है। भक्ति या उपासनाके विचारमें शनिका पञ्चम और नवम भावसे सम्बन्ध यदि दृढ़ हो तो जातक परिव्राजक होकर भी धर्मशास्त्रोक्त आचार-विचारका खण्डन करता है। किसी आचार्यने स्पष्ट लिखा है—

नवमस्थाने सौरी यदि स्थितः सर्वदर्शनविमुक्तः।
नरपतियोगजातो नृपोऽपि दीक्षान्वितो भवति॥

(वृहज्जा० १५। १५ की महोत्पलकी टीकामें उद्धृत,)

शनिके नवमस्थ होनेपर जातक सर्व-दर्शन-विमुक्त होकर एक विशेष मत संस्थापित करता है। यदि वह जातक राजा भी हो तो राज्य त्यागकर संन्यासकी दीक्षा ग्रहण करता है।' ब्रह्मलीन श्रीरामकृष्ण परमहंसजीकी जन्म-कुण्डली देखनेसे यह अवगत होता है कि पञ्चमेश बुध शनिके क्षेत्रमें समागत हैं। लग्नेश शनि बुधके क्षेत्रमें अष्टमस्थ हैं। शनिकी पूर्ण दृष्टि पञ्चम स्थानमें है। पञ्चमेश, दशमेश पञ्चम और दशम स्थानोंसे पूर्ण सम्बद्ध हैं। इन्हीं कारणों तथा शनिके प्रभावसे श्रीरामकृष्णजी इतने श्रेष्ठ साधक हुए।

२. यदि जन्मके समय चारसे अधिक ग्रह एक साथ एक ही स्थानमें स्थित हों तो वह जातक गृहत्यागी होता है। उत्तम ग्रहोंके योगसे वह जातक भगवान्का अनन्य भक्त होता है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि चार या चारसे अधिक ग्रहोंके योगमात्रसे अनन्य भक्तिका योग नहीं होता।

अनन्य भक्तिके लिये ग्रहोंका बल भी आवश्यक है। उत्तम भक्तिके लिये निम्नलिखित स्थितियोंपर विचार करना चाहिये।

(क) चार या चारसे अधिक ग्रहोंका एक स्थान (भाव) पर एकत्रित होना।

(ख) उन ग्रहोंमें कोई भी एक दशमाधिपति हो, कोई पञ्चमेश हो या कोई नवमेश हो।

(ग) बली ग्रह अस्त न हों।

(घ) कोई भी ग्रह बली अवश्य हो।

(ङ) आपसी युद्ध (ग्रहयुद्ध) में कोई भी ग्रह पराजित न हुआ हो।

यदि मङ्गल-ग्रह बली हो तो उस त्यागीका मत स्पष्ट होता है। अर्थात् वह संन्यासी होता है। यदि सूर्य बली हो तो जातक पर्वत या नदीके तीरपर रहकर सूर्य, गणेश या शक्तिकी उपासना करता है।

सूर्योदयगतत्परा गण्यपतेर्भक्ता उपासका ये।
कौमारव्रतमिच्छवामभिपतिस्तेषां सदा भास्करः॥

(सारावली २०।१०)

किसीका यह भी मत है कि ऐसा जातक परमात्माकी भक्तिमें ही लीन रहता है।

यदि चन्द्रमा बली हो तो ऐसा जातक शिवका सिद्ध भक्त होता है। यदि मङ्गल बली हो तो जातक बौद्धधर्मका अनुयायी होता है, किंतु जितेन्द्रिय होकर अपना संन्यस्त जीवन व्यतीत करता है। बुधके बली होनेपर जातक किसी-के मतसे विष्णुभगवान्‌का भक्त होता है, किसीके मतसे तान्त्रिक संन्यासी होता है। बृहस्पतिके बली होनेपर जातक सिद्ध एवं विद्वान् भक्त होकर याज्ञिक अनुष्ठानका कर्ता होता है। शुक्रके बली होनेपर जातक भगवान् विष्णुका अनन्य भक्त होकर अनन्त एवं अपूर्व ऐश्वर्यका भोग करता है। शनिके बली होनेपर जातक दिगम्बर रहकर पाखण्ड-मतका आचरण करनेवाला होता है।

विरक्ति-योग

मानव-जीवनमें विरक्तिका होना सबसे सुखद और मङ्गलदायक योग होता है। मानव चाहे किसी भी व्यक्ति-का हो, किसी भी धर्मको माननेवाला हो, किसी भी अवस्थामें हो, यदि उसमें तन्मूलक विरक्तिकी भावना उत्पन्न हो गयी तो उसका कल्याण निश्चित है। आसक्तिके मार्गमें तो वह दर-दरकी खाक छानता भटक जाता है।

फलित ज्योतिषके आचार्योंने विरक्ति उत्पन्न होनेमें ग्रहोंके योगका जो विवेचन किया है, उसका कुछ अंश संक्षेपमें उपस्थित किया जा रहा है। पूर्वमें लिखा जा चुका है कि एक स्थानपर चार या चारसे अधिक ग्रह यदि एकत्र हो जायँ तो वह मानव सांसारिक प्रपञ्चोंसे छुटकारा पाकर भगवान्‌की भक्ति या किसी भी देवी-देवताकी उपासनामें लग जाता है। विरक्तिके लिये भी उपर्युक्त कथन स्वीकार्य है। किंतु अभ्यासकर्ताओंके अवलोकनसे यह भी स्पष्ट हुआ है कि एक स्थानमें चारसे अधिक ग्रह यदि न हों तो भी वह मानव विरक्त या संन्यासी हो सकता है। विरक्तिमें 'मन' ही प्रधान कारण है। मनपर चन्द्रमाका अधिकार माना गया है। अतः चन्द्रमा और शनिके सम्बन्धसे मानव 'त्यागी' बनता है। यदि विरक्ति-कारक ग्रह सूर्यके साथ अस्त हो तो वह मानव घरमें रहकर भी ईश्वरकी उपासनामें लीन रहता है। यदि विरक्तिकारक ग्रह ग्रहयुद्ध (ग्रहयुद्ध) में हार जाय तो मानव विरक्तिकी भावना करता ही रह जाता है। मानवके विरक्त और भगवद्‌भक्त होनेमें मतान्तरसे निम्न ग्रहयोग कारण हो सकते हैं—

१. यदि लग्नाधिपतिपर अन्य ग्रहकी दृष्टि न हो और उसकी दृष्टि शनिपर हो तो वह जातक विरक्त होता है।

२. यदि शनिपर किसी ग्रहकी दृष्टि न हो और शनि-की दृष्टि लग्नाधिपतिपर पड़ती हो तो जातक निश्चित रूपसे विरक्त हो जाता है।

३. यदि शनिकी दृष्टि निर्बल लग्नपर पड़ती हो तो वह जातक (यदि मानव है तो) अवश्य विरक्त बन जाता है।

४. यदि चन्द्रमा किसी राशिमें स्थित होकर मङ्गल या शनिके द्रेष्काणमें स्थित हो और उस चन्द्रमापर अन्य किसी ग्रहकी दृष्टि न हो, केवल शनिकी दृष्टि स्थिर हो, तो वह जातक निश्चित विरक्त होता है।

५. यदि नवमेश बली होकर नवम अथवा दशम भावमें हो और उसपर बृहस्पति तथा शुक्रकी दृष्टि पड़ती हो और बृहस्पति तथा शुक्र उसके साथ हों तो जातक सिद्ध भक्त और संन्यासी होता है।

६. चन्द्रमा यदि जातकके नवम स्थानमें हो और किसी भी ग्रहसे युत न हो तो वह जातक भगवद्‌भक्त विरक्त या संन्यासी होता है। यह योग स्वामी श्रीविवेकानन्दजीकी कुण्डलीमें है।

७. यदि शनि या लग्नाधिपतिकी दृष्टि चन्द्रराशिपर पड़ती हो तो जातक महान् संन्यासी और भगवान्‌ ईश्वर-

भक्त होता है। आदिगुरु शंकराचार्यके जन्माङ्गमें यह योग पड़ा है।

८. मङ्गलकी राशिमें यदि चन्द्रमा हों या चन्द्रमा और मङ्गल एक साथ हों, या चन्द्रमा शनिके द्रेष्काणमें हों और चन्द्रमापर शनिकी दृष्टि पड़ती हो तो वह जातक संन्यासी और भगवद्भक्त होता है।

९. क्षीण चन्द्रमा जिस राशिमें हों, उस राशिका स्वामी यदि केन्द्रस्थित बलवान् शनिको देखता हो तो जातक भाग्यहीन विरक्त होता है।

१०. लग्नाधिपति यदि बलहीन हो और उसपर शुक्र और चन्द्रमाकी दृष्टि पड़ती हो तथा कोई ग्रह चन्द्रमाको देखता हो तो जातक दरिद्र विरक्त होता है।

११. लग्नाधिपतिपर यदि कई ग्रहोंकी दृष्टि हो और वे दृष्टि डालनेवाले ग्रह किसी एक राशिमें हों तो जातक निश्चित त्यागी होता है।

१२. यदि कर्मेश अन्य चार ग्रहोंके साथ हो तो वह जातक इस जीवनसे छुटकारा पानेपर सदाके लिये 'मुक्त' हो जाता है।

१३. नवम स्थानमें यदि शनि स्थित हों और शनिपर किसी भी ग्रहकी दृष्टि न हो तो वह जातक निश्चितरूपसे महान् विरक्त और भक्त होता है।

१४. यदि लग्नका स्वामी बृहस्पति, मङ्गल अथवा शनि हों तथा उस लग्नाधिपतिपर शनिकी दृष्टि हो एवं गुरु नवमस्थ हों तो जातक संन्यास ग्रहण करके किसी प्रमुख तीर्थमें जीवन व्यतीत करता है।

१५. जातककी जन्म-राशि यदि निर्बल हो और उस-पर बली शनिकी दृष्टि हो तो जातक निश्चित संन्यासी होता है।

१६. जन्मकालीन चन्द्रमा जिस राशिपर हों, उसके पतिपर यदि किसी ग्रहकी दृष्टि न हो तथा जन्मराशिके अधिपतिकी दृष्टि शनिपर पड़ती हो तो वह जातक अवश्य संन्यासी होता है।

१७. यदि दशम भावमें तीन बली ग्रह हों और सभी उच्च या स्वगेही या शुभवर्गके हों तो जातक उत्तम भक्त और विरक्त होता है। यदि दशमेश बली न हो तथा दशमेश सप्तमस्थ हो तो जातक संन्यास ग्रहण करनेपर दुराचारी होता है।

१८. शुभ-ग्रहोंके नवांशमें होकर शनि यदि विरक्ति प्रदान करनेवाले ग्रहोंपर दृष्टि डालता हो और सूर्य परमोच्च हो तो वह जातक बाल्य-कालमें ही महान् विरक्त और भगवद्भक्त हो जाता है। आदिगुरु शंकराचार्यजीकी कुण्डलीमें ऐसा ही योग है।

अध्यात्मयोग

भारतीय आचार्योंने जन्माङ्गसे भक्ति, धर्मके साथ ही मानवके दार्शनिक जीवनका भी विचार किया है। अध्यात्म-योगका सम्बन्ध कर्मसे होता है। कर्मका विचार दशम स्थानसे होता है। मानवके जीवनमें अध्यात्मयोगकी स्थितिके लिये ग्रहोंसे सम्बन्धित कई परिस्थितियाँ होती हैं। संक्षेपमें निम्न प्रकारसे ग्रहोंकी स्थितिके अनुसार विचार किया जा सकता है—

१. यदि दशमेश उच्च या स्वगेही या मित्रगेही होकर शुभग्रह हो तो जातक अध्यात्मकी अनुभूति करता है।

२. यदि नवम स्थानमें मीन राशि हो और उसमें बुध या मङ्गल बैठा हो तो ऐसे जातककी मुक्ति आत्मज्ञानसे होती है। ऐसा योग श्रीरामानुजाचार्यजीकी कुण्डलीमें प्राप्त होता है।

३. यदि दशमेश नवमस्थ हो तथा बलवान् नवमेश बृहस्पति और शुक्रसे दृष्ट या युतित हो तो जातक जप-ध्यानादि कर्ममें सर्वदा निरत रहता है।

४. दशमाधिपति यदि शुभ ग्रह हों या दशमाधिपति दो शुभ ग्रहोंसे घिरा हो या दशमाधिपति शुभ ग्रहके नवांशमें हो तो जातक अध्यात्म-ज्ञान-प्राप्तिमें सफल होता है। यह योग महात्मा गांधीकी कुण्डलीमें देखनेको मिलता है।

५. दशमेश यदि पाँच शुभ वर्गोंका हो या सात उत्तम वर्गोंका हो तथा लग्नेश बली हो तो जातक शुभकर्म-निरत और अध्यात्मवादी होता है।

६. यदि नवमेश बली और शुभग्रह हो तथा उसपर बृहस्पति या शुक्रकी दृष्टि हो या बृहस्पति अथवा शुक्र साथ हों तो जातक जप-ध्यान आदि शुभ कर्मोंमें सफलता प्राप्त करता है।

७. चन्द्रमा पूर्ण बली होकर केन्द्रस्थ हों तथा उसपर बृहस्पति या शुक्रकी दृष्टि पड़ती हो तो जातक उत्तम भक्त होता है या अध्यात्मवादी होता है।

८. यदि दशमाधिपति और लग्नाधिपति नवमस्थ हों तथा दशमाधिपतिपर पाप-ग्रहकी दृष्टि न हो तो जातक निश्चित-रूपसे अध्यात्म-दर्शनमें प्रवीण होता है।

योग-साधना-योग

जन्माङ्गसे भक्ति, धर्म तथा अध्यात्म-कर्मके अतिरिक्त मानवकी योग-साधना-क्रियाका भी विचार किया जा सकता है। 'योगी' शब्दसे ज्ञानयोगी, कर्मयोगी और भक्तियोगीका अर्थ निकलता है। ग्रहोंकी परिस्थिति और बलका विचार करके फलका महत्त्व समझना चाहिये।

१. यदि समस्त ग्रह शनि और मङ्गलकी सीमाके अन्तर्गत हों तो जातक योगी होता है।

२. लग्न यदि मकर राशिका हो तथा समस्त ग्रह मङ्गल एवं सूर्यकी सीमाके अन्तर्गत हों तो जातक महात्मा होता है।

३. समस्त ग्रह यदि जन्माङ्गके चन्द्रमा और बृहस्पतिकी सीमाके अन्तर्गत हों तो जातक दीर्घजीवी योगी होता है। यह स्थिति श्रीअरविन्दजीकी कुण्डली-में भी प्राप्त है।

४. यदि जातकका लग्न मेषके अन्तिम नवांशका हो, लग्नस्थ बृहस्पति अथवा शुक्र हों, चन्द्रमा द्वितीय स्थानमें हों तथा मङ्गल धनराशिके पञ्चम नवांशके हों तो जातक सिद्ध महात्मा होता है।

५. यदि लग्न कर्क हो और लग्न अपने अंशमें हो तथा केन्द्रस्थ तीन या चार ग्रह हों तो जातक ज्ञानी होता है।

६. यदि कर्क लग्न हो, बृहस्पति उसमें स्थित हों तथा शनि त्रिकोणस्थित हों एवं चन्द्रमा वृषराशिमें हों, तथा मिथुनराशिमें हों तथा सूर्य और बुध त्रिकोणस्थित हों तो जातक महान् योगी होता है।

७. कर्कसे लेकर धनतक छः राशियोंमें समस्त ग्रह स्थित हों तथा उपर्युक्त राशियोंमें कोई भी लग्न राशि न हो तो जातक सिद्ध योगी होता है।

८. शनि, गुरु एक साथ होकर नवमस्थ या दशमस्थ हों और एक ही नवांशमें स्थित हों तो जातक सिद्धिप्राप्त योगी होता है।

९. यदि जन्मलग्न धनराशिका हो, बृहस्पति लग्नस्थ हों, लग्न मेषके नवांशका हो, शुक्र लग्नमें हों और चन्द्रमा कन्याराशिगत हों तो जातक परमपद प्राप्त करता है।

इस प्रकार जन्माङ्गसे भक्ति, कर्म, योग, अध्यात्मादिका विचार फलित ज्योतिषमें विस्तारके साथ किया गया है।

श्रीशुकदेवजीकी भक्ति-परीक्षा

[रम्भा-श्रीशुक-संवाद]

(लेखक—पुरोहित श्रीलक्ष्मणप्रसादजी शास्त्री)

चन्द्र, पद्म आदिमें बिखरी हुई संसारभरकी समस्त कमनीयताको एकत्रित करके ब्रह्मदेवने जिसका निर्माण किया था, जन्म-मरणसे छुटकारा पानेके लिये काम-क्रोध-मद-मोहसे पराङ्मुख मुनियोंके तपश्चरणको जो अपनी प्रेमरूपी अञ्जलियोंसे मानो पान कर चुकी थी, तपाये हुए सुवर्णकी भाँति जिसके शरीरकी कान्ति सूक्ष्म वस्त्रोंको चीरती हुई मानो फूटी पड़ती थी, जिसके समस्त अङ्गोंमें सुगन्धपूर्ण अङ्गराग महक रहा था और जो प्रभातके समान रक्तवर्ण ओष्ठ-युगलके मध्य अपने ईषद् हास्यसे चन्द्रमाको भी लज्जित करती थी, वह स्वर्गलोककी लक्ष्मभूता अप्सराश्रेष्ठ रम्भा अनेक दिव्य आभूषणोंसे भूषित एवं सोलहों शृङ्गारसे सजी हुई, भूतलके नक्षत्र-समूहके समान मरकत-मणि-मण्डलसे समन्वित झनझनकारक चरणोंद्वारा नूपुरके मञ्जुल रागमें अपने कोकिल-कण्ठका मधुर-मिश्रण करती हुई आज सहसा भूमण्डलपर उतर आयी है। जिनका अन्तःकरण सनत्कुमारकी भाँति समस्त विद्याओंके अध्ययनसे निर्मल हो गया था, जो तेजमें दूसरे अग्निदेवके समान प्रतीत होते थे, जो योगाभ्यास तथा प्राणायामके द्वारा जिनके काम-क्रोधादि अन्तःशत्रु पराजित हो चुके थे एवं तीव्र भक्तियोगके द्वारा श्रीभगवच्चरणारविन्दमें अर्पित होनेके कारण जिनका मन सुस्थिर हो चुका था, ऐसे युवा तपस्वी श्रीशुकदेवजीको अज्ञान, अन्धकार, माया और पतनके गम्भीर गर्तकी ओर आकृष्ट करनेके लिये तत्पर उपस्थित होकर उसने उस तपोवनमें प्रवेश करके वनवासियोंके मनमें कुतूहल उत्पन्न कर दिया।

अनन्यसाधारण सौन्दर्य और अनुपम लावण्य, तरुण अवस्था और सुरीला कण्ठस्वर, एकान्त स्थान और कामोत्तेजक हाव-भाव, मदोन्मत्त भाषण और नखशिखाभिराम परिस्थिति। रम्भाका अङ्ग-अङ्ग कामदेवका शृङ्गार कर रहा था। वह अपने मोहक भाषणसे और नेत्रोंद्वारा कामदेवके अमोघ बाणभूत कटाक्षोंका मुनिवरपर लगातार अविरल प्रयोग कर रही थी।

फिर भी तपोधन मुनिकुमारको वह आकर्षित न कर

सकी । उनकी परमात्ममयी बुद्धिमें तरुणी स्त्रीकी कोई कल्पना ही नहीं रह गयी थी । वे अपनी सहज वाणीद्वारा महाभक्तिका रम्भाको उपदेश करने लगे—

अचिन्त्यरूपो भगवान्निरञ्जनो
विश्वम्भरो ज्योतिमयप्रियात्मा ।
न भावितो येन हृदि क्षणं वा
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम् ॥

'हे देवि ! मन तथा वाणीके परे अखिल विश्वका सृजन और पालन-पोषण करनेवाले, ज्ञानरूपी प्रकाशसे युक्त सच्चिदानन्द ब्रह्मका जिसने भक्तियुक्त हृदयसे ध्यान नहीं किया, उस मनुष्यका जीवन व्यर्थ चला गया । अतः काम-क्रोधादिसे बचकर सदा ब्रह्मका ही चिन्तन करना चाहिये, मानव-जीवनका यही सार है ।'

'नारीषु रम्भा !' रम्भा भी कोई साधारण स्त्री नहीं थी, जो इतनेपर ही निराश हो जाती । शुकदेवजीसे भी मधुर और आकर्षक स्वरमें उसने भी अपनी विषयभोगमयी बुद्धिसे भोगोंमें ही मनुष्य-जीवनकी सार्थकताकी घोषणा की । वह बोली—

'तुम भूलते हो युवक ! सुन्दर देह, मोहक स्वरूप और नवीन तरुणाईका ही समन्वय पाकर नहीं, अपितु संसारकी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी तरुणीको एकान्तमें अनुरक्त देखकर भी तुम इस प्रकारकी निस्सार बातें करते हो ।

पीनस्तनी चन्दनचर्चिताङ्गी
विलोललेत्रा तरुणी सुशीला ।
नालिङ्गिता प्रेमभरेण येन
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम् ॥

'उन्नत वक्षःस्थलयुक्त शरीरपर चन्दनका लेप होनेसे जिसका सम्पूर्ण शरीर सुगन्धित हो रहा हो और जिसके विशाल नेत्रोंमें खञ्जनके सदृश चञ्चलता एवं कमलके तुल्य सुन्दरता हो, ऐसी सुशीला युवतीका जिसने गाढ़ प्रेमालिङ्गन नहीं किया, मैं सत्य कहती हूँ, संसारमें उसका जीवन तो व्यर्थ ही गया ।'

'यहाँ तो बन्धन है देवि ! मोक्ष कहाँ ? यम-नियमादि आठ अङ्गोंवाले योगके द्वारा जिसका मन निर्मल और इन्द्रियाँ वशमें हो चुकी हैं तथा ईश्वरकी अविचलित अनन्यभक्तिके कारण शुभाशुभ—दोनों ही प्रकारके कर्मोंसे जिसकी आसक्ति नष्ट हो चुकी है, मुक्तिका अधिकारी तो वही मनुष्य हो सकता है । अतः—

चतुर्भुजः शङ्खगदार्युधपाणिः
पीताम्बरः कौस्तुभमालया वृतः ।
ध्याने धृतो येन समाधिना नहि
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम् ॥

'जिसके चारों भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित हैं तथा वक्षःस्थलपर जिसके कौस्तुभमणि एवं वनमाला विभूषित हो रही है, ऐसे पीताम्बरधारी हृदयहारी श्रीविष्णुके ध्यानमें जिसने समाधि नहीं लगायी, अनघे ! जीवन तो उसीका व्यर्थ गया ।'

प्रस्तुतका निषेध और शून्यका, जो कुछ नहीं है, समर्थन तो अज्ञान है । सुनो तरुण ! महानालिङ्गनाद्यन्यादि इन्द्रिय-सुख ही स्वर्ग है और देहका नाश ही मुक्ति । इसलिये—

कामातुरा पूर्णशशाङ्कवक्त्रा
बिम्बाधरा कामकलेव गौरी ।
नालिङ्गिता स्वे हृदये भुजाभ्यां
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम् ॥

'जिसका मुखमण्डल स्वस्थ शरदाकरकी कान्तिके समान सुखदायक हो एवं जिसके बिम्बफलकी तरह आरक्त अधरोंमें अमृतकी माधुरी हो रही हो, ऐसी कामातुरा कोमलाङ्गी बालाको जिसने दोनों हाथोंमें भरके अपने हृदयसे नहीं लगाया, उसका जीवन तो व्यर्थ ही गया ।'

नहीं ! निश्छल भक्तिके द्वारा शुद्ध चैतन्यरूप निरञ्जन निराकार जगन्नियन्ता ब्रह्मकी अद्वैतभावेन प्राप्तिका नाम 'मोक्ष' है और वह इस नश्वर जगत्के सम्पूर्ण प्रपञ्चोंको छोड़े बिना असम्भव है । उनमें भी काम, क्रोध, मोह और लोभ तो मनुष्यके महान् शत्रु हैं । अतः इनसे दूर रहकर नील कमलके समान सुन्दर नेत्रोंवाले सर्वान्तर्यामी प्रभु नारायणके, जिनके आकर्षक अङ्गोंपर केयूर-हारादि शोभायमान हो रहे हैं, चरण-कमलोंमें जिसने भक्तिपूर्वक अपनेको अर्पण करके इस आवागमनके चक्रको नहीं काट दिया, उसका यह मनुष्यदेह धारण करना व्यर्थ ही है—

नारायणः पङ्कजलोचनः प्रभुः
केयूरहारैः परिशोभमानः ।
भक्त्या युतो येन सुपूजितो नहि
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम् ॥

इतनेपर भी असफलताका वरण न करनेवाली रम्भाने अपना भाव और भी स्पष्ट करके मुनिवरपर अपना इन्द्रजाल बिछाना

चाहा। वह बोली—'भिन्न-भिन्न भाकर्षक वेशयुक्त नवयौवनाके एला-लवङ्गादि तथा कर्पूरसे सुवासित मुखका जिसने कदाचित्मात्रका सहारा लेकर एकान्त हो पूर्णरूपसे स्पर्श नहीं किया, उसने संसारमें जन्म लेनेका भला फल ही क्या पाया! फिर काम तो पुरुषार्थका द्योतक है, उसकी इस प्रकार अवहेलना करना तो ईश्वरका बहिष्कार है। जिस कल्पित रूपराशिपर तुम मुग्ध हो गये हो, उसे अन्तरिक्षमें खोजना निरा हठ नहीं तो और क्या है? अरे वह रूप तो तुम्हारे चरणोंमें दासत्वकी दीन याचना कर रहा है। उसे स्वीकार करके कृतकृत्य करो, मुनिराज!'

विह्वल होकर रम्भाने मुनिके समक्ष पृथ्वीपर अपना माथा टेका दिया।

'कामका अर्थ स्त्री-सहवास नहीं है, देवि! काम पुरुषार्थ है, यदि उसका माध्यम 'धर्म' और लक्ष्य 'भगवत्सायुज्य' हो। अन्यथा विरहित कर्म मनुष्यके अभ्युदय तथा निःश्रेयस् दोनोंपर पानी फेर देते हैं और जिसे तुम कल्पित कहती हो, उसीके भयसे तो वायु बहती है, सूर्य तपते हैं, मेघ बरसते हैं और अग्नि जलाते हैं। मनुष्यका परम लक्ष्य उन्हीं देवाधिदेव भगवान्‌की प्राप्ति है तथा उस कामकी सिद्धिके लिये संसारमें हरि-भक्तिके सिवा अन्य कोई कल्याणमय पंथ ही नहीं है।'

> श्रीवत्सलक्ष्मीकृतवक्षदेश-
> स्तार्क्ष्यध्वजश्चक्रधरः परात्मा।
> ना सेवितो येन क्षणं मुकुन्दो
> वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम्॥

अब तो रम्भाका रंग फीका पड़ गया और उसकी चञ्चलता मंद हो गयी। भक्तकी अहैतुकी भक्तिके समक्ष ज्ञान-वैराग्य और भक्तियुक्त भक्तकी उदासीन दृष्टिके समक्ष तथा जिनके हृदयमें श्रीवत्स और लक्ष्मीका निवास है, ऐसे नयनाभिराम विशुद्ध रूप-सौन्दर्यके दीपके सामने उसने अपने समस्त वासनामें ओत-प्रोत स्वार्थभरे रूपने सर्वथा इस प्रकार घुटने टेक दिये। रम्भाने व्याकुल होकर निर्लज्जताके एक सारहका संचय करके एक बार और शुकदेवजीको विचलित करनेका प्रयास किया। वह अपने उन्नत स्तनोंसे कटाक्षके नीचे लक्ष्यकारी मुनिपर उनका प्रहार करती हुई-सी बोली—

> ताम्बूलरागेण कुसुमप्रदीपो
> सुगन्धितैलेन सुवासिताङ्ग्याः।
> नामर्दितौ पृथु कुचौ नितम्बौ
> वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम्॥

परंतु तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाले भक्त-शिरोमणिपर इसपर भी क्षण-क्षणमात्र लेशमात्र भी विकारका स्पर्श न हुआ। उनके तो नेत्र बंद हो गये। सच्चिदानन्दस्वरूपकी अमृतवाणी उन्हें न जाने किस लोकमें ले गयी—

> विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
> मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥
> स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।
> क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः॥
>
> (श्रीमद्भा० ११।१४।२७, २९)

उनका मुखमण्डल अनन्त तेजसे विभूषित हो उठा। वे अपने तेजसे साक्षात् सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो उठे। नाच-नाचकर गद्गद वाणीमें वे श्रीभगवद्भक्तिकी महिमा पुनः-पुनः गान कर उठे—

> विश्वम्भरो ज्ञानमयः परेशो
> जगन्मयोऽनन्तगुणप्रमेयः।
> आराध्य येनैव धृतो न चौरै
> वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम्॥

परंतु रम्भा तो न जाने कबकी नौ दो ग्यारह हो चुकी थी।

आत्माराम मुनि भी भगवान्‌की अहैतुकी भक्ति करते हैं।

सूतजी कहते हैं—

> आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
>
> (श्रीमद्भा० १।७।१०)

'जो लोग ज्ञानी हैं, जिनकी अविद्याकी गाँठ खुल गयी है और जो सदा आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं, वे भी भगवान्‌की हेतुरहित भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे मधुर हैं, जो सबको अपनी ओर खींच लेते हैं।'

भक्तिका विवेचन

(लेखक—डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, आचार्य, शास्त्री, साहित्यरत्न)

जिस दशामें जीवके मन, वाणी और शरीर भगवन्मय हो जायँ, मनसे प्रभुका सतत स्मरण हो, वाणीसे निरन्तर उनके गुणोंका गान हो, शरीरसे अनवरत उनकी सपर्या हो, उसीका नाम भजन है। देहकी क्रियाओंका उद्देश्य जब केवल भगवत्प्रीति हो और जब केवल भगवान् ही मनोवृत्तियोंके केन्द्र हों, तब वह अवस्था भक्ति कहलाती है। भजन और भक्ति पर्याय हैं एवं इस भक्तिकी परम्परा वेदोंके समयसे ही चली आ रही है। ऋग्वेदके—

महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे। (१। १५६। ३)

—इस वचनमें भजनका स्पष्ट निर्देश है। उपनिषत्-साहित्यमें भक्तिको 'उपासना' भी कहा गया है। स्वयं 'उपनिषत्' शब्दका अर्थ भी उपासना है। देवर्षि नारदने परमात्माके प्रति परम प्रेमको भक्ति माना है और महर्षि शाण्डिल्यने ईश्वरके प्रति परम अनुरागको भक्ति बताया है। बादरायणने अपने सूत्रमें इसे 'संराधन' कहा है और पतञ्जलिने 'प्रणिधान'। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि भगवद्-गुणोंके सुननेमात्रसे, समुद्रमें गङ्गाजलके समान, सर्वान्तर्यामी भगवान्‌में मनके निरन्तर प्रवाहित होनेको 'निर्गुण भक्ति' कहते हैं। नारद-पाञ्चरात्रका वचन है कि इन्द्रियोंसे श्रीभगवान्‌की वह सेवा भक्ति कहलाती है, जो समस्त उपाधियोंसे रहित हो और परमात्मपरक होनेके कारण निर्मल हो।

अद्वैत-सम्प्रदायमें उपासनाका अर्थ है—सगुण ब्रह्ममें मन लगाना। चित्तकी एकाग्रता ही इसका परम प्रयोजन कहा गया है और सत्यलोककी प्राप्ति इसका अवान्तर फल है। भक्तिरसायनमें मधुसूदन सरस्वतीजीने कहा है कि साधन करते-करते कठिनताको छोड़कर पिघले हुए चित्तकी सर्वेश्वर भगवान्‌में धारा-प्रवाहके समान निरन्तर वृत्ति भक्ति कहलाती है।

भक्तिका लक्षण करते हुए आचार्य रामानुज बताते हैं कि प्रेमपूर्वक अनुध्यान—चिन्तन—ही विद्वानोंद्वारा भक्ति कहलाता है। वे कहते हैं कि ध्यान और चिन्तनका आधार जो परब्रह्म परमात्मा है, वह अत्यन्त प्रिय है। अतएव उसी प्रियताके कारण प्रियतमका ध्यान और चिन्तन स्वयं भी अत्यन्त प्रिय होता है। प्रियतमका अत्यन्त प्रिय लगनेवाला ध्यान या सतत स्मरण ही भक्ति है।

आचार्य निम्बार्ककी सम्मतिमें प्रेम-विशेष ही भक्तिका लक्षण है और वह दो प्रकारकी है—एक तो साधन-भक्ति और दूसरी साध्य-भक्ति। साधन-भक्तिका दूसरा नाम है 'अपरा' और साध्य-भक्तिका दूसरा नाम है 'परा'। आचार्य मध्वके मतमें भगवत्सेवाके तीन प्रकार हैं। प्रथम है अङ्कन अर्थात् दाहिने कंधेपर सुदर्शनका और बायें कंधेपर पाञ्चजन्यका चिह्न धारण करना। दूसरा है नामकरण अर्थात् पुत्रादिके नाम ऐसे रखना, जिनको बोलते और सुनते समय भगवान्‌की स्मृति हो। तीसरा प्रकार है कायिक, वाचिक और मानसिक भजन। आचार्य वल्लभ भक्तिको दो प्रकारकी मानते हैं—मर्यादा-भक्ति और पुष्टि-भक्ति। श्रीभगवान्‌के पोषण अर्थात् अनुग्रहसे जिस भक्तिका उदय होता है, उसे पुष्टि-भक्ति कहते हैं, जिससे जीवका निरतिशय कल्याण होता है।

श्रीरूपगोस्वामीके अनुसार श्रीकृष्णके उस अनुशीलनको भक्ति कहते हैं, जिसमें अन्य- किसी पदार्थकी अभिलाषा न हो, ज्ञान (अपनेसे अभिन्न रूपमें ब्रह्मानुसंधान) और कर्म (स्मृत्युक्त नित्य-नैमित्तिक आदि) का आवरण न हो, किंतु ऐसी प्रवृत्ति हो जो श्रीकृष्णको अच्छी लगे।

इस प्रकार विविध सम्प्रदायोंद्वारा निरूपित भक्ति ही भक्तके लिये कामधेनु है और साधकमात्रका कल्याण करनेवाली है।

भगवान्‌का प्राकट्य प्रेमसे

भगवान् शिव कहते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥

(बालकाण्ड)

भगवान्‌का प्यारा भक्त

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दका)

भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे श्रीभगवद्गीताके विषयमें दो श्लोकोंपर अपने विचार 'कल्याण'के सत्प्रेमी पाठकोंके समक्ष रखनेका अवसर मुझे पहले मिला था। कुछ मित्रोंको मेरे विचार पसंद आये एवं उन्होंने पुनः समय-समयपर मुझे अपने विचार प्रकट करनेकी प्रेरणा दी; अतः उन मित्रोंकी भावनाका आदर करके इस लेखमें दो श्लोकोंपर अपने विचार प्रकट कर रहा हूँ। आशा है कि गीता-स्वाध्यायी सज्जनगण मेरे विचारोंका तुलनात्मक अध्ययन करके अपने विचारोंसे सूचित करनेकी कृपा करेंगे और मेरी त्रुटियोंका सुधार करनेके लिये मुझे उचित परामर्श देंगे।

भगवान्‌ने अपने प्यारे भक्तके लक्षण श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १२ के १३ से १९ तक, सात श्लोकोंमें बताये हैं। उनमेंसे प्रथम दो श्लोकोंके आधारपर इस लेखमें अपने विचार पाठकोंके समक्ष रख रहा हूँ। श्लोक इस प्रकार हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
(गीता १२। १३-१४)

अर्थात् जो समस्त प्राणियोंमें द्वेषरहित है, सबका मित्र है, करुणाभावसे सम्पन्न है, ममतारहित और अहंकाररहित है, जिसके लिये सुख और दुःख समान हैं, जो क्षमाशील है एवं निरन्तर संतुष्ट रहता है, जिसका चित्त वशमें है, जो दृढ़-निश्चयी है तथा मन और बुद्धिको जिसने मेरे अर्पण कर रखा है ऐसा मेरा भक्त मुझे प्यारा है।

इस प्रकार भगवान्‌ने अपने प्यारे भक्तके बारह लक्षण इन दो श्लोकोंमें बतलाये हैं। इन्हें पढ़कर साधकको विचार करना चाहिये कि 'इन लक्षणोंको अपनानेके लिये अर्थात् अपने जीवनमें उतारनेके लिये मुझे क्या करना चाहिये ? मैं किस प्रकार प्रभुका प्यारा भक्त बन सकता हूँ ?'

इनमें पहला लक्षण है—समस्त प्राणियोंमें द्वेष-भावसे रहित होना। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि किसी भी प्राणीको बुरा मानना, उसके दोषोंको देखना, उनका वर्णन करना अथवा उनको सुनना और उनकी समालोचना करना एवं किसीका अनिष्ट चिन्तन करना या चाहना अथवा किसीके कार्यमें रुकावट डालना, किसीको किसी प्रकारकी हानि पहुँचाना, किसीको अपना वैरी मानना या अपने दुःखमें हेतु समझना आदि सभी द्वेष-भावके अन्तर्गत हैं। इनके रहते हुए मनुष्य समस्त प्राणियोंके प्रति द्वेष-भावसे रहित नहीं हो सकता। अतः भगवान्‌का प्यारा भक्त बननेकी इच्छा रखनेवाले साधकको चाहिये कि वह किसीसे भी द्वेषभाव न करे। किसीसे भी द्वेष करना भगवान्‌से ही द्वेष करना है। सब भगवान्‌से हैं, सबमें भगवान् हैं अथवा सभी भगवान् हैं—तीनों मान्यताओंमें किसी एकका भी अनुसरण करनेवाला किसी भी परिस्थितिमें किसी भी प्राणीके साथ कैसे द्वेष कर सकता है, कैसे किसीको बुरा, वैरी, दुःखका हेतु अथवा नीच समझ सकता है, कैसे किसीका अहित कर सकता या चाह सकता है।

साधकको सोचना चाहिये कि 'मेरे मनमें यदि किसीके प्रति द्वेष-भाव है, मैं किसीको अपना प्रतिकूल मानता हूँ, किसीका भी किसी अंशमें बुरा चाहता हूँ या करता हूँ तो यह मुझमें बड़ा भारी दोष है, प्रभु-प्रेमकी प्राप्तिमें बड़ा भारी रोड़ा है। इसका मुझे शीघ्रातिशीघ्र त्याग करना है; क्योंकि इसके रहते हुए मैं प्रभुका प्रिय भक्त नहीं बन सकता।'

दूसरा लक्षण है—सबके प्रति मित्रभाव। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि द्वेषभावका नाश होनेपर ही मित्रभावकी प्राप्ति हो सकती है। जबतक किसी भी प्राणीके प्रति मनुष्यका द्वेषभाव है, वह उसे बुरा समझता है तथा उसमें दोष देखता है, तबतक उसके प्रति मित्रभावकी स्थापना कैसे हो सकती है। मित्र कैसा होना चाहिये, इस विषयमें भगवान् श्रीराम अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥
—मानस

जब साधककी समस्त क्रियाएँ सर्वहितकारी भावसे पूर्ण होती हैं, तभी वह समस्त प्राणियोंका मित्र बन सकता है। अतः साधकको सर्वहितकारी भावसे भावित होकर प्रत्येक कर्मका आरम्भ करना चाहिये। ऐसे कोई भी मित्र

किसी भी परिस्थितिमें उसके द्वारा नहीं होनी चाहिये, जिससे किसी भी प्राणीका किसी भी अंशमें कुछ भी अहित होता हो।

किसीसे कुछ चाहना—किसी भी प्रकारसे अपने सुख-साधनकी इच्छा या कामना करना मित्रतामें कलङ्क है। कामनायुक्त मित्रता तो आसक्तिकी जननी है; क्योंकि उसका बीज आसक्ति है। इसके रहते हुए राग-द्वेषका नाश नहीं होता। राग-द्वेषके रहते हुए साधक प्रभुका प्यारा भक्त नहीं कहा जा सकता। अतः साधकको चाहिये कि किसीसे भी अपने लिये कुछ भी न चाहे एवं किसी प्रकारकी माया भी न रखे।

तीसरा लक्षण है—करुणाभावसे सम्पन्न होना। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि जबतक मनुष्य द्वेष-भावसे रहित और मित्रभावसे भरपूर नहीं हो जाता, तबतक उसमें उच्चा करुणाभाव जाग्रत् नहीं होता। ममता और आसक्तिसे युक्त जो करुणा देखनेमें आती है, यह वह करुणाभाव नहीं है, जो भगवान्‌के प्यारे भक्तोंमें होता है। भक्तका करुणा-भाव सर्वथा राग-द्वेष-शून्य और आत्मभावसे पूर्ण होता है, उसमें भेदभाव नहीं रहता। भक्त परापे दुःखसे दुखी होता है, अपने दुःखसे नहीं। अतः यह करुणा खिन्नताका रूप धारण नहीं कर सकती; अपितु प्रेम-रसको जाग्रत् एवं विकसित करती है। साधारण मनुष्योंकी करुणा सीमित भावको लेकर होती है। उसमें किसीके प्रति रागका और किसीके प्रति द्वेषका भाव रहता है। उसमें क्षोभ, खिन्नता और उद्वेगका मिश्रण रहता है; किंतु प्रभुके प्यारे भक्तकी करुणा सर्वहित-कारी भावसे परिपूर्ण, सर्वथा निर्मल और परमप्रेमसे भरी हुई होती है।

चौथा लक्षण है—ममतासे रहित होना। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि किसी भी व्यक्ति या पदार्थको अपना मानना, उससे किसी भी प्रकारके भोगकी—सुखकी इच्छा करना या आशा करना ही ममता है। यहाँ इस बातको नहीं भूलना चाहिये कि भगवान्‌के नाते सबको समान-भावसे अपना मानना ममता नहीं है, वह तो ममताका समूल नाश करनेवाली परम निर्मल *आत्मीयता* है। अर्थात् विशुद्ध समता है।

वास्तवमें कोई भी व्यक्ति या पदार्थ किसीकी व्यक्तिगत वस्तु नहीं है। आस्तिकके लिये समस्त विश्व प्रभुका है, भौतिकवादीके लिये सब कुछ प्राकृत है और ज्ञानीकी दृष्टिमें सब मायामात्र है। अतः इनको अपना मानना अर्थात् किसी वस्तु या व्यक्तिसे सीमित सम्बन्ध स्वीकार कर लेना ही ममतारूप विकार है। इसके रहते हुए मनुष्य आसक्तिसे और द्वेष-भावसे रहित नहीं हो सकता। अतः उसमें मित्रभाव और करुणाकी स्थिति भी नहीं हो सकती, सुतरां साधकके लिये ममताका त्याग परम आवश्यक है।

पाँचवाँ लक्षण है—अहंकारसे रहित होना। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीरोंके सम्बन्धसे जो अपनेमें सीमित व्यक्तिभावकी स्वीकृति है, वही अहंकार है। इसीका विस्तार वर्ण, आश्रम, जाति, गोत्र, नाम, देश, प्रान्त, ग्राम, मोहल्ले आदिका अभि-मान है, जिसके कारण मनुष्य मैं ब्राह्मण हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं वानप्रस्थ हूँ, मैं संन्यासी हूँ, मैं अमुक सम्प्रदायका हूँ, मैं हिंदू हूँ, मैं मुसल्मान हूँ, मैं ईसाई हूँ, मैं यूरोपियन हूँ, मैं जापानी हूँ, मैं रूसी हूँ, मैं राम हूँ, मैं श्याम हूँ, मैं अग्रवाल हूँ, मैं माहेश्वरी हूँ, मैं ओसवाल हूँ, मैं पारीक हूँ, मैं दायमा हूँ, मैं राठौड़ हूँ, मैं मारवाड़ी हूँ, मैं बंगाली हूँ, मैं रामगढ़का हूँ, मैं कलकत्तेका हूँ' इत्यादि अनेक भावोंको अपनेमें स्वीकार करता है और उस स्वीकृतिको लेकर नाना प्रकारके भेद उत्पन्न कर लेता है। फलतः उसे कोई तो अपना और कोई पराया प्रतीत होने लगता है, जिससे उसका राग-द्वेष दृढ़ होता रहता है। अतः साधकको इस अहंकारका सर्वथा नाश करना होगा। इसका त्याग करनेके लिये अपनेमें विशुद्ध अहंभावकी स्थापना करना भी एक प्रकारका साधन है—जैसे यह मानना कि मैं भगवान्‌का दास हूँ, सखा हूँ, भक्त हूँ इत्यादि।

सीमित अहंभावसे रहित हुए बिना ममताका सर्वथा नाश नहीं होता एवं भोक्तापनका भाव नहीं मिटता और भोक्तापनके रहते हुए राग-द्वेष और काम-क्रोध आदि विकारोंका मूलोच्छेद नहीं हो सकता; फलतः वह सबका मित्र और सबके प्रति करुणाभाव-सम्पन्न भी नहीं बन सकता। इस दृष्टिसे भगवान्‌का प्यारा भक्त बननेके लिये अहंकाररहित होना भी परम आवश्यक है।

यह अहंकार ही गर्व और अभिमानका रूप धारण करता है, जिसके वशीभूत होकर मनुष्य अपने अंदर अनेक प्रकारके महत्त्वकी स्थापना कर लेता है तथा दूसरोंको तुच्छ समझने लगता है। अतः साधकको इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

छठा लक्षण है—<u>सुख-दुःखमें सम होना</u>। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि सीमित व्यक्तिभावका नाश होनेपर ही मनुष्य सुख-दुःखमें सर्वथा सम रह सकता है। इस समताको प्राप्त करनेके लिये साधकको चाहिये कि वह प्रत्येक परिस्थितिको साधन-सामग्री मानकर उसका सदुपयोग करे और प्रत्येक परिस्थितिमें प्रभुकी कृपाका दर्शन करता हुआ उनके प्रेममें निमग्न होता रहे, अथवा उसे प्रारब्ध विधान मानकर राग-द्वेषसे रहित हो जाय या 'सब कुछ मायाका खेल है' यह मानकर सर्वथा असङ्ग हो जाय। उपर्युक्त तीनों ही मान्यताओंसे अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियोंकी एकता हो जाती है, द्वन्द्व नहीं रहता, भेद नहीं रहता। तब सुख और दुःखमें सम हो जाना स्वाभाविक हो जाता है।

सातवाँ लक्षण है—<u>क्षमाशील होना</u>। इसपर विचार करनेपर पता चलता है कि जबतक मनुष्य सुख और दुःखको समान नहीं मानता, तबतक वह पूर्णतया क्षमाशील नहीं हो सकता। जो हमको किसी भी प्रकारका दुःख देनेमें निमित्त बनता है, जो अपराधी है, उसे अपराधका कुछ फल न भोगना पड़े—इस भावका नाम क्षमा है। अर्थात् उसके प्रति मनमें ऐसा भाव उत्पन्न हो कि वास्तवमें इसका कोई अपराध ही नहीं है, यह तो मेरे प्यारे प्रभुकी ही प्रेरणासे इस घटनामें निमित्त बना है, प्रभुने कृपा करके ही मेरे हितके लिये, मेरे साधनको दृढ़ करनेके लिये यह परिस्थिति प्रदान की है—इस भावका नाम क्षमा है। सुखकी चाह और दुःखका भय रहते हुए इस प्रकारकी क्षमा स्वाभाविक नहीं हो सकती और उसके बिना साधक क्षमाशील नहीं हो सकता।

क्षमाशील साधक स्वभावसे ही वैरभावसे रहित, सबका मित्र एवं करुणाभावसे सम्पन्न होता है। अतः पूर्वोक्त सभी गुण उसमें आ जाते हैं। इस दृष्टिसे क्षमाशील होना भी साधकके लिये परम आवश्यक है।

आठवाँ लक्षण है—<u>निरन्तर संतुष्ट रहना</u>। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि जो सर्वथा वासनारहित हो जाता है, जिसके मनमें किसी भी प्रकारकी कोई कामना नहीं रहती तथा इसी कारण जो सुख-दुःखमें सम हो जाता है, जिसके राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं, जिसमें ममता और अभिमानका नाश हो जाता है, वही निरन्तर संतुष्ट रह सकता है। भगवान्‌के प्यारे भक्तके मनमें किसी प्रकारकी चिन्ता किंचिन्मात्र भी नहीं रहती; क्योंकि किसी प्रकारकी कामना पूर्ण न होना ही चिन्ता या असंतोषका कारण है। भक्तका किसीसे कुछ चाहता ही नहीं, तब उसमें असंतोषकी उत्पत्ति कैसे हो। वह तो सदैव अपने प्यारे प्रभुको सब प्रकार कृत हुआ उनके प्रेममें निमग्न रहता है। ऐसा भक्त कहे भी कि प्रभुको प्यार करूँ, इसमें करना ही क्या है। भक्तको चाहिये कि सर्वथा निष्काम होकर सदैव प्रभुके प्रेममें स्थित रहे। यही वास्तविक संतोष है।

नवाँ लक्षण है—<u>योगयुक्त होना</u>। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि यहाँ एकमात्र प्रभुसे ही सम्बन्ध जोड़ लेना अर्थात् जगत्‌के समस्त सम्बन्धोंको मनसे तोड़कर एकमात्र प्रभुको ही अपना मान लेना और अपनेको सर्वथा उनके समर्पण करके उनका हो रहना ही योगयुक्त होना है। क्योंकि चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग तो अभ्यास कहा गया है और समतारूप योग सुख-दुःखमें समता है।

उपर्युक्त भावसे योगयुक्त हो जानेपर प्रभुकी स्मृति अपने-आप होने लगती है, उसमें व्यवधान नहीं पड़ता और न किसी प्रकारका श्रम ही करना पड़ता है। अतः उसका चिन्तन निरन्तर सरस रहता है।

दसवाँ लक्षण है—<u>चित्तका वशमें होना</u>। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि चित्त शुद्ध होनेपर अपने-आप वशमें हो जाता है, जिसके होते ही पराधीनता नष्ट हो जाती है। उसके पहले जो मनुष्यकी यह दशा रहती है कि वह जिस कामको करना उचित समझता है, उसे करनेकी सामर्थ्य और सामग्री रहते हुए भी उसे कर नहीं पाता और जिसको करना उचित नहीं समझता, उसे छोड़ नहीं पाता अर्थात् अपने ही विवेकका स्वयं अनादर करता रहता है, विवेकके अनुरूप जीवन नहीं बना पाता—यही पराधीनता है। चित्तके शुद्ध और वशमें हो जानेपर यह पराधीनता नहीं रहती, विवेक और जीवनकी एकता हो जाती है।

ग्यारहवाँ लक्षण है—<u>निश्चयका दृढ़ होना</u>। इसपर विचार करनेसे पता चलता है कि यहाँ निश्चयसहित प्रभु विश्वासको ही दृढ़ निश्चयके नामसे कहा गया है। अब तक मनुष्यमें अनेक विषम निश्चय रहते हैं, जिनके व्यक्तियों और वस्तुओंपर वह विश्वास करता रहा है—अर्थात् उनकी सत्ताको तथा महत्त्वको स्वीकार करके उनसे सुख मिलनेकी आशा रखता है, उनसे अपनेपनका सम्बन्ध करके उनसे विविध सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है, तबतक उसका प्रभु विश्वास अचल और निश्चयसहित नहीं होता,

उसमें किसी-न-किसी प्रकारका आंशिक संदेह छिपा रहता है। इस कारण साधक प्रभुका अनन्य-प्रेमी भक्त नहीं हो सकता। अतः साधकको चाहिये कि अपने प्रियतम प्रभुमें और उनकी प्राप्तिके साधनमें कभी किसी भी प्रकारका किंचिन्मात्र भी संदेह या विकल्प नहीं करे; तभी उसका निश्चय दृढ़ अर्थात् अचल हो सकता है और वह भगवान्‌का प्यारा भक्त हो सकता है।

बारहवाँ लक्षण है—मन और बुद्धिको प्रभुके समर्पण कर देना। यह अन्तिम लक्षण है; इसके हो जानेपर साधकमें पूर्वोक्त सभी लक्षणोंका समावेश हो जाता है; क्योंकि जब साधकका मन भगवान्‌का हो जाता है, तब वह सर्वथा विशुद्ध और निर्मल हो जाता है, उसमें किसी भी प्रकारका विकार नहीं रह सकता; उसके द्वारा जो कुछ काम होता है, वह भगवान्‌का ही काम होता है। फिर साधककी अपनी कोई मान्यता या कामना नहीं रहती, वह सर्वथा बेमनका हो जाता है। अर्थात् ऐसी कोई भी वस्तु या परिस्थिति उसके लिये शेष नहीं रहती, जिसकी आवश्यकता उस भक्तको अपने लिये प्रतीत हो। इसी प्रकार जब साधककी बुद्धि भगवान्‌की बुद्धि हो जाती है, तब उसमें किसी भी प्रकारकी जिज्ञासा शेष नहीं रहती, उसकी समस्त जिज्ञासाएँ सदाके लिये पूर्ण हो जाती हैं। जबतक मनुष्यमें कुछ भी जानने या समझनेकी इच्छा विद्यमान है, तबतक यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी बुद्धि प्रभुके समर्पित हो गयी; क्योंकि जाननेकी शक्ति और जिज्ञासा—यही बुद्धिका प्रकट स्वरूप है। यह तभीतक रहती है, जबतक मनुष्य अपनेको बुद्धिमान् मानता है और बुद्धिको अपनी मानता है। अतः मन और बुद्धि दोनोंको प्रभुके समर्पण कर देना—यह अन्तिम साधन है एवं इसमें सभी साधनोंका समावेश है।

इस प्रकार इन दो श्लोकोंमें भगवान्‌के प्यारे भक्तके जो बारह लक्षण बतलाये गये हैं, उन्हींकी व्याख्या आगले पाँच श्लोकोंमें है। अभिप्राय यह है कि इनमेंसे कोई भी लक्षण यदि सर्वांशमें पूर्ण हो जाय तो शेष ग्यारह भी अपने-आप ही आ जाते हैं। अतः साधक अपनी रुचि, योग्यता और विश्वासके अनुरूप किसी भी साधनको अपना ले तो उसे भगवान् अपना प्रिय भक्त माननेको तैयार हैं। इसीलिये भगवान्‌ने १५ वें श्लोकमें द्वेष-भावसे रहित होनेकी प्रधानता देकर उसका सर्वाङ्गपूर्ण वर्णन किया है। सोलहवें श्लोकमें सर्वारम्भके त्यागको अर्थात् अहंकार-शून्यताको प्रधानता देकर निष्कामता, अपेक्षा, सिद्धताका अभाव आदिका उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके रूपमें वर्णन करते हुए उसकी व्याख्या की है। १७वें श्लोकमें ममता-शून्यताका स्पष्टीकरण करनेके लिये हर्ष, शोक, चिन्ता, इच्छा एवं अच्छी-बुरेकी कल्पना आदि जो ममताके कार्य हैं, उनसे रहित होनेकी बात कही गयी है। इसी प्रकार १८वें और १९वें श्लोकोंमें समताका वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। उसके साथ-साथ संतोष, मनन-शीलता, बुद्धिकी स्थिरता, ममताका त्याग—इन भावोंका भी समावेश किया गया है। उपर्युक्त १३ वें और १४वें श्लोकोंमें मूलरूपसे वे सभी बातें आ गयी हैं, जिनकी व्याख्या १५वेंसे १९वें श्लोकतक की गयी है; इस कारण मैंने इन दोनों श्लोकोंके स्पष्टीकरणमें इन सभी श्लोकोंका भाव ले लिया है।

इस प्रकार यदि हमलोग इस विषयपर विचार करें और प्रभुके प्यारे भक्त बननेकी आवश्यकताको जाग्रत् करके विश्वासपूर्वक प्रभुके सम्मुख हो जायँ तो सहजमें ही प्रभुके प्रिय भक्त बन सकते हैं; क्योंकि वास्तवमें तो हम सब उन्हींके हैं। भगवान्‌ने हमारा त्याग नहीं किया है, हमलोग ही उनसे विमुख होकर संसारमें भटक रहे हैं; अतः अब चाहें तभी अपने नित्य साथी प्रभुसे सम्बन्ध स्वीकार करके हम उनके प्रिय भक्त बन सकते हैं।

भगवान्‌ने अपने प्यारे भक्तके जो लक्षण बतलाये हैं, उनको अपनानेमें किसी भी प्रकारकी अस्वाभाविकता, असमर्थता या कठिनाई नहीं है; वह हमारा जन्मसिद्ध स्वाभाविक अधिकार है कि हम प्रभुको अपना मानकर उपर्युक्त साधन-सम्पत्तिसे सम्पन्न हो जायँ। सच्ची बात तो यह है कि जो इस साधन-सम्पत्तिके विपरीत लक्षण हैं, जो हमें स्वाभाविक और सुगम प्रतीत होते हैं तथा जिनका त्याग हमें कठिन प्रतीत हो रहा है, वे ही हमारे लिये अस्वाभाविक हैं। थोड़ा विचार करनेपर समझमें आ सकता है कि किसीके साथ द्वेष या वैर भाव हो जानेपर हमें किस प्रकार भयभीत और चिन्तित रहना पड़ता है, उसके कारण किन-किन कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, वे सब द्वेष या वैरके त्यागमें अंशमात्र भी नहीं हैं; अपितु अपार शान्ति और आनन्द-ही-आनन्द है। इसी प्रकार प्रत्येक साधनके विषयमें समझा जा सकता है।

अतः साधकको चाहिये कि प्रभुका आश्रय लेकर, अपने आपको उन्हें सौंपकर एवं सब प्रकारसे उनका होकर उनका प्यारा भक्त बननेकी आवश्यकताको जाग्रत् करे।

——•——

भक्तकी महिमा

जहाँ भक्त मेरो पग धरै, तहाँ धरूँ मैं हाथ।
१२— लागे लागे ही फिरूँ, कबहुँ न छाँडूँ साथ॥

भक्त-पदानुसारी भगवान्

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।१६)

श्रीभगवत्पूजन-पद्धतिका सामान्य परिचय

अष्ट-काल

निशान्तः प्रातः पूर्वाह्णो मध्याह्नश्चापराह्णकः ।
सायं प्रदोषो रात्रं चेत्यष्टौ कालाः प्रकीर्तिताः ॥

निशान्त (सूर्योदयसे पूर्व दो घंटे चौबीस मिनटका काल), प्रातः (सूर्योदयके उपरान्त दो घंटे चौबीस मिनटतक), पूर्वाह्ण (तत्पश्चात् दो घंटे चौबीस मिनट), मध्याह्न (तत्पश्चात् चार घंटे अड़तालीस मिनट), अपराह्ण (तत्पश्चात् सूर्यास्त-तक दो घंटे चौबीस मिनट), सायाह्न (सूर्यास्तके बाद दो घंटे चौबीस मिनट), प्रदोष (तत्पश्चात् दो घंटे चौबीस मिनट), निशा (उसके बाद चार घंटे अड़तालीस मिनट)— इन रात-दिनके आठ भागोंमें अष्टकालीन पूजा होती है। श्रीभगवत्पूजा प्रतिमामें, चित्रपटमें या मानसिक की जाती है। पूजा पूर्व या उत्तर मुँह बैठकर करनी चाहिये।

प्रातःस्नान

सूर्योदयके पश्चात् प्रायः ढाई घंटेतक प्रातःकालका समय होता है। शौचादिसे निवृत्त होकर हस्त-पादादि-शुद्धि-पूर्वक दन्तधावन करके आचमन करके प्रतिदिन यत्नपूर्वक प्रातःस्नान करे। 'श्रीहरि-भक्ति-विलास' में लिखा है कि ब्राह्म-मुहूर्तमें 'कृष्ण, कृष्ण' कीर्तन करते हुए उठे, फिर हाथ-मुँह आदि धोकर दन्तधावन करे, पश्चात् आचमन करके कपड़े बदलकर प्रातःकालीन स्मरण, कीर्तन और ध्यान करके प्रभुको जगाकर, निर्माल्य आदि उतारकर, श्रीमुख प्रक्षालन कराके, मङ्गल-आरती आदिका कार्य सम्पादन करके अरुणोदयका समय व्यतीत होनेपर प्रातःस्नानके लिये बाहर निकले तथा कृष्ण-नाम कीर्तन करते हुए जलमय तीर्थमें या उसके अभावमें निर्मल जलाशयमें जाकर विधिपूर्वक स्नान करे।

पुष्प-चयन-विधि

रात्रिके वस्त्र परित्याग करके पवित्र वस्त्र धारण करके अथवा प्रातःस्नान करके पुष्प-चयन करे। मध्याह्नकालमें स्नान करके पुष्प-चयन करना वर्जित है।

तुलसी-चयन-विधि

बिना स्नान किये तुलसी-चयन न करे। चयन करनेका मन्त्र—

तुलस्यमृतजन्मासि सदा त्वं केशवप्रिया ।
केशवार्थे चिनोमि त्वां वरदा भव शोभने ॥
त्वदङ्गसम्भवैः पत्रैः पूजयामि यथा हरिम् ।
तथा कुरु पवित्राङ्गि कलौ मलविनाशिनि ॥
चयनोद्भवदुःखं यत् ते यद्देवि हृदि वर्तते ।
तत् क्षमस्व जगन्मातस्तुलसि त्वां नमाम्यहम् ॥

यह मन्त्र उच्चारण करके श्रीतुलसीदेवीको नमस्कार करके दाहिने हाथसे धीरे-धीरे वृन्तके साथ एक-एक पत्र अथवा हिलनेके साथ मञ्जरी चयन करके पवित्र पात्रमें रखे। कीड़ोंका खाया हुआ अथवा छिन्न पत्र ग्रहण न करे। अखण्ड पत्र ही प्रशस्त होता है। इस मन्त्रसे तुलसी-चयन करके श्रीकृष्ण-पूजा करनेसे लक्ष-कोटि गुना फल प्राप्त होता है—

मन्त्रेणानेन यः कुर्याद् गृहीत्वा तुलसीदलम् ।
पूजनं वासुदेवस्य लक्षकोटिफलं लभेत् ॥

(श्रीहरि-भक्ति-विलास)

(श्रीशिव-पूजार्थ)
बिल्वपत्र-चयन-विधि

बिल्वकी बड़ी महिमा है। लिखा है कि लाखों कमलोंके द्वारा भगवान् शिवजीकी पूजा करनेसे जो फल होता है, वही बिल्वपत्रद्वारा करनेसे होता है। तुलसी-पत्रकी भाँति ही बिल्व-पत्र तोड़ते समय नीचे लिखे मन्त्रका उच्चारण करे—

पुण्यवृक्ष महाभाग मालूर श्रीफल प्रभो ।
महेशपूजनार्थाय त्वत्पत्राणि चिनोम्यहम् ॥

पत्र तोड़नेके पश्चात् नीचे लिखा मन्त्र बोलकर बिल्ववृक्ष-को प्रणाम करना चाहिये—

ॐ नमो बिल्वतरवे सदा शंकररूपिणे ।
सफलानि ममाङ्गानि कुरुष्व शिवदर्पद ॥

बिल्वपत्र छः महीनेतक बासी नहीं माना जाता। पूजामें इसको उलटा चढ़ाना चाहिये।

पूजाके उपकरण

आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम् ।
मधुपर्काचमस्नानवसनाभरणानि च ॥
गन्धः सुमनसो धूपो दीपो नैवेद्यवन्दने ।
प्रयोजयेदर्चनायामुपचारांस्तु षोडश ॥

(तन्त्रसार, [illegible])

विघ्न-निवारण

अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भुवि संस्थिताः।
ये भूता विघ्नकर्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया॥

—इस मन्त्रको पढ़कर, 'अस्त्राय फट्'—इस अस्त्रमन्त्रका उच्चारण करते हुए तीन बार वामपादकी एड़ीसे भूमिपर आघात करके विघ्न दूर करे, फिर पूजा आरम्भ करे।

पूजाके लिये आसन

नारद-पञ्चरात्रमें लिखा है—

वंशासने दरिद्रः स्यात् पाषाणे व्याधिसम्भवम्।
धरण्यां दुःखसम्भूतिं दौर्भाग्यं दारुकासने॥
तृणासने यशोहानिं पल्लवे चित्तविभ्रमम्।
दर्भासने व्याधिनाशं कम्बलं दुःखमोचनम्॥

'बाँसके आसनपर बैठनेसे दरिद्रता, पाषाणपर रोगोत्पत्ति, पृथ्वीपर दुःख, काठके आसनपर दौर्भाग्य, तृणके आसनपर यशकी हानि, पल्लवपर चित्तका विभ्रम, कुशासनपर रोगनाश तथा कम्बलके आसनपर बैठनेपर दुःखमोचन होता है।'

आसन-शुद्धि

पृथ्वि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता।
त्वं च धारय मां नित्यं पवित्रं कुरु चासनम्॥

—इस मन्त्रसे जल-सिञ्चन करके आसन-शुद्धि करे।

उपवेशन-विधि

भक्तिमार्गमें आसनका कोई विशेष नियम नहीं है। परंतु स्वस्तिकासनसे बैठना ही अपेक्षाकृत आरामप्रद होता है। पिंडली और ऊरुदेश (जाँघ) के मध्यमें दोनों पद-तलोंको स्थापित करके सीधे बैठनेका नाम स्वस्तिकासन है। दिनमें प्रायः पूर्वमुख और रात्रिमें उत्तरमुख होकर बैठना चाहिये। परंतु श्रीमूर्ति प्रत्यक्ष हो तो उसको सम्मुख लेकर बैठना चाहिये। यथा—

तत्र कृष्णार्चकः प्रायो दिवसे प्राङ्मुखो भवेत्।
उदङ्मुखो रजन्यां तु स्थिरमूर्तिश्च सम्मुखः॥

(श्रीहरि-भक्ति-विलास)

तिलक-धारण-विधि

श्रीराधाकुण्डकी रज या गोपीचन्दन आदि पवित्र मृत्तिकाद्वारा तिलक किया जाता है। ललाट आदिमें तिलक करते समय 'ॐ केशवाय नमः'—मन्त्र बोलना चाहिये।

आचमन-विधि

हाथ-पैर धोकर आसनपर बैठे। तत्पश्चात् दाहिनी हथेलीमें तनिक जल लेकर—ॐ विष्णुः ॐ विष्णुः ॐ विष्णुः। ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयो दिवीव चक्षुराततम्॥—यह मन्त्र पढ़कर तीन बार आचमन करे। यह जल इतना होना चाहिये कि जो ब्राह्मणके हृदयतक, क्षत्रियके कण्ठतक, वैश्यके तालुपर्यन्त तथा स्त्री और शूद्रके मुखमात्रका स्पर्श कर सके। तत्पश्चात्—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

—यह मन्त्र पढ़कर सिरपर जलका छींटा दे।

पाद्यादि-अर्पणके नियम

श्रीमूर्तौ तु शिरस्यर्घ्यं दद्यात् पाद्यं च पादयोः।
मुखे चाचमनीयं त्रिर्मधुपर्कं च तत्र हि॥

'श्रीविग्रहके मस्तकपर अर्घ्य तथा दोनों चरणोंपर पाद्य अर्पण करना चाहिये। आचमनीय—तीन बार—और मधुपर्क श्रीमुखमें प्रदान करने चाहिये।'

श्रीभगवत्स्नानविधि

श्रीहरि-भक्ति-विलासमें लिखा है कि प्रभुके निकट 'भगवन्! स्नानभूमिमलंकुरु'—यह प्रार्थना करके 'पादुके निवेदयामि नमः' कहकर प्रभुके सामने पादुका-युगल प्रदान करे। पश्चात् स्तोत्र और गीत-वाद्यादिके साथ उनको श्रीमन्दिर-के अभ्यन्तर ईशान-कोणमें निर्मित स्नान-वेदीपर ले जाकर स्नानार्थ ताम्रपात्रमें स्थापित करे। तत्पश्चात् शङ्ख-जलसे भगवान्‌को स्नान कराये।

स्नान-मन्त्र

इस मन्त्रसे पहले शङ्खमें जल ले—

त्वं पुरा सागरोत्पन्नो विष्णुना विधृतः करे।
मानितः सर्वदेवैश्च पाञ्चजन्य नमोऽस्तु ते॥

'हे पाञ्चजन्य! तुम प्राचीन कालमें समुद्रसे उत्पन्न हुए थे, विष्णुभगवान्‌ने तुम्हें हाथमें धारण किया तथा तुम सब देवोंके मान्य हो, तुम्हें नमस्कार।'

पञ्चामृतसे श्रीभगवदभिषेक

श्रीहरि-भक्ति-विलासमें लिखा है कि पञ्चामृतसे स्नान कराना हो तो दुग्ध, दधि, घृत, मधु और चीनी—एक-एकको क्रमशः शङ्खमें लेकर पृथक्-पृथक् स्नान कराये।

चन्दन घिसनेका नियम

केवल चन्दन ही श्रीभगवदर्चनामें प्रशस्त होता है। दोनों हाथसे चन्दनकी लकड़ी पकड़कर तर्जनी अङ्गुलिका स्पर्श न कराते हुए दक्षिण हाथकी ओरसे घुमाकर चन्दन-घर्षण करना चाहिये।

गन्ध-अर्पण-विधि

अँगूठे और कनिष्ठा अङ्गुलिके द्वारा चन्दन आदि गन्ध-द्रव्योंको अर्पण करे।

पुष्प-शुद्धि

पुष्पोंको लेकर—

ॐ पुष्पे महापुष्पे सुपुष्पे पुष्पसम्भवे।
पुष्पचयावकीर्णे च हुं फट् स्वाहा॥

—यह मन्त्र उच्चारण उनके ऊपर जल छिड़क करके उसमें चन्दन तथा अन्य गन्ध-द्रव्य निक्षेप करे।

पत्र-पुष्प आदिके अर्पणकी विधि

पुष्पं वा यदि वा पत्रं फलं नेष्टमधोमुखम्।
दुःखदं तत् समाख्यातं यथोत्पन्नं तथार्पणम्॥

'पत्र-पुष्प अथवा फल कभी भगवान्‌को अधोमुख करके अर्पण नहीं करना चाहिये। यह भगवान्‌को प्रीतिप्रद नहीं होता, अपितु क्लेशदायक होता है। अतएव वे प्रकृतिमें जैसे उत्पन्न होते हैं, उसी रूपमें अर्पण करे।' विहित और सुगन्धयुक्त प्रस्फुटित पुष्पको चन्दन लिप्त करके अङ्गुष्ठ और मध्यमा अङ्गुलिके द्वारा वृन्तकी ओर धारण करके अर्पण करना चाहिये।

तुलसी-अर्पण-विधि

तुलसीदलको भलीभाँति धोकर प्रक्षालन करके चन्दन लगाकर अनामिका और अङ्गुष्ठमें धारण करके, उसके पृष्ठ भागको नीचेकी ओर करके, श्रीचरणपद्ममें एक-एक करके अर्पण करे। तुलसीपत्र कम-से-कम तीन बार अर्पण करे। किसी-किसीके मतसे कम-से-कम आठ बार अर्पण करना चाहिये।

धूप-अर्पण-विधि

धीरे-धीरे घण्टाकी बजी हुई धूपदानीमें कालका आधार रखकर 'एष धूपो नमः' कहकर मधुरस्वर उच्चारण करते हुए गुग्गुल, अगुरु, चन्दन, घृत और मधुसे बना हुआ धूप उसमें छोड़ दे। यथा—

वनस्पतिरसोद्भूतो गन्धाढ्यो गन्ध उत्तमः।
आघ्रेयः सर्वदेवानां धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम्॥

—यह मन्त्र पढ़कर 'इमं धूपं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' कहकर वाम हाथसे घंटी बजाते हुए दक्षिण हाथसे प्रभुके नाभिदेशपर्यन्त धूपपात्र उठाकर धूपार्पण करे।

दीपार्पण-विधि

दीपाधारमें गौका घृत अथवा अभावमें तिलके तेलके साथ रूईकी बत्तीमें अथवा केवल कपूरकी बत्ती प्रज्वलित करके दीपाधारमें पुष्पोंके साथ धूप देकर मन्त्र उच्चारण करते हुए दीपोत्सर्ग करे। यथा—

सुप्रकाशो महातेजाः सर्वतस्तिमिरापहः।
स बाह्याभ्यन्तरज्योतिर्दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम्॥

—यह मन्त्रपाठ करके 'इमं दीपं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' बोलकर प्रभुके श्रीचरणपद्मसे नख-कमलपर्यन्त उत्तम आलोकित दीप घुमाकर दीपार्पण करे।

षोडशोपचार-पूजा-विधि

षोडशोपचार-पूजामें निम्नलिखित उपचार हैं। जैसे—

आसन—

इदमासनं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः। श्रीकृष्ण नमो इदमासनं सुखमास्यताम्॥

—यह मन्त्र पढ़कर सुमनोहर आसन अथवा उसके अभावमें पुष्प अर्पण करे।

स्वागत—निम्नलिखित मन्त्रसे स्वागत करे—

यस्य दर्शनमिच्छन्ति देवाः सर्वेऽपि तत्त्वतः।
तस्य ते परमेशान! सुस्वागतमिदं वपुः॥

पाद्य—'एतत् पाद्यं श्रीकृष्णाय नमः' कहकर श्रीचरणका स्पर्श करके पाद्य अर्पण करे।

अर्घ्य—'इदमर्घ्यं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' कहकर श्रीमस्तकपर अर्घ्य प्रदान करे।

आचमनीय—'इदमाचमनीयं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' कहकर प्रभुके दक्षिण हाथको स्पर्श करके आचमनीय निवेदन करे।

मधुपर्क—'इमं मधुपर्कं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' कहकर श्रीमुखमें मधुपर्क अर्पण करे।

पुनराचमनीय—'इदं पुनराचमनीयं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' कहकर श्रीमुखमें फिरसे आचमनीय अर्पण करे।

स्नान—इसके बाद स्नान कराये। विधि ऊपर दी जा चुकी है।

वसन—'इदं परिधेयवस्त्रम्, इदमुत्तरीयवस्त्रम् श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' यह कहकर प्रभुको मनोरम सूक्ष्म वसन और उत्तरीय वस्त्र परिधान कराये।

भूषण—'इमानि भूषणानि श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' कहकर प्रभुको स्वर्ण-रौप्यादिनिर्मित अलंकार धारण कराये।

गन्ध—'इमं गन्धं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' कहकर चन्दन-अगुरु-कर्पूर-मिश्रित गन्ध लेकर श्रीअङ्गमें धीरे-धीरे परम यत्नसे लेपन करे।

पुष्प—'इमानि पुष्पाणि श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः' यह कहकर श्रीचरणोंमें तीन बार पुष्पाञ्जलि प्रदान करे।

धूप, दीप—अर्पण करनेकी विधि ऊपर दी जा चुकी है।

नैवेद्य—तत्पश्चात् बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे घण्टा-नाद एवं जय शब्दके साथ नैवेद्य अर्पण करना चाहिये। नैवेद्य, स्वर्ण, रजत, ताम्र, कांस्य या मिट्टीके पात्रमें अथवा कमल या पलाश-पत्रमें अर्पण करना चाहिये। नैवेद्यार्पण करते समय ग्रासमुद्रा दिखलानी चाहिये। भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य पदार्थ नैवेद्यमें अर्पण करे। बीचमें जल अर्पण करना चाहिये। कोई अभक्ष्य पदार्थ नैवेद्यमें न रखे। नैवेद्यके अन्तमें आचमन कराना चाहिये।

तत्पश्चात् ताम्बूलादि मुखवास अर्पणकर छत्र आदि धारण कराकर नीराजन करना चाहिये।

नीराजन (आरती)—मूल-मन्त्रसे घण्टा, शङ्ख, घड़ियाल आदि नाना बाजों एवं जय-शब्दसे महानीराजन करना चाहिये। कपूर, घी आदिकी बत्तीसे नीराजन करे। चार बार पदतल, दो बार नाभि, एक बार मुखमण्डल तथा सात बार सभी अङ्गोंमें नीराजन करनेकी विधि है। इसीके साथ जलपूर्ण शङ्खसे भी आरती करनी चाहिये। उसे तीन बार भगवान्के मस्तकपर घुमाना चाहिये। तत्पश्चात् पुनः कर्पूर आदिसे आरती करे। तत्पश्चात् पुष्पाञ्जलि, स्तुति, नृत्य-गीत, प्रणामादि करने चाहिये।

वन्दना—अन्तमें अपनी रुचिके अनुसार स्तुति-पाठ करके श्रीविग्रहको दण्डवत् प्रणाम करे।

कृष्ण और गोपी

[लेखक—डा० श्रीसत्यव्रतजी शास्त्री, एम्० ए०, डी० लिट्० (लंदन)]

मनुष्यके जीवनका सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि परम-तत्त्वका साक्षात्कार उसे कैसे हो और उसका स्वरूप क्या है।

परम्परागत धारणा यह है कि इन्द्रियोंकी जहाँतक गति है, उससे ऊपर उठकर, इन्द्रियोंका सर्वथा निरोध करके, योगशास्त्रोक्त धारणा, ध्यान और समाधिके द्वारा ही भगवान्का, परम तत्त्वका साक्षात्कार किया जा सकता है।

यदि ऐसी ही बात हो, तब देखना यह है कि वह साक्षात्कार किस रूपमें होता है। उक्त दृष्टिमें इन्द्रियोंका सर्वथा निरोध होनेके कारण यह स्पष्ट है कि वह साक्षात्कार ऐन्द्रिय नहीं हो सकता। अपूर्ण भाषाके सहारे उसे किसी प्रकार बुद्धिगम्य या उससे भी ऊपर उठकर स्वरूपावस्थितिके रूपमें ही कहा जा सकता है।

एक प्रकारसे यह ठीक है। पर प्रश्न उठता है कि जब इन्द्रियाँ उस साक्षात्कारमें बाधक ही हैं, तब क्या आध्यात्मिक दृष्टिसे दर्शनकी योजनामें इन्द्रियाँ व्यर्थ ही हैं? क्या वे बाधक होनेके स्थानमें अध्यात्म-दर्शनमें सहायक नहीं हो सकतीं?

एक दिन प्रातः नैत्यिक भ्रमणके लिये जाते हुए यही समस्या विकटरूपमें मनमें उठी। निश्चय किया कि इसका समाधान आज ही होना चाहिये।

नगरके बाहरकी प्राकृतिक सौन्दर्यस्थलीमें विचरते हुए अनुभव किया—

प्रकृतेर्मातृभूतायाः क्रोडे क्रीडनमाचरन्।
लालितः पालितश्चापि सदानन्दो वसाम्यहम्॥ १॥
स्नेहार्द्रं नित्यसंस्रावि तस्या माधुर्यमद्भुतम्।
दृष्ट्वा पीत्वेव पीयूषं सदानन्दो वसाम्यहम्॥ २॥
(हरिमन्थन ११)

अर्थात्—
प्रकृति-माताकी गोदमें
सदा क्रीड़ा करता हुआ,
तथा लालित और पालित,
मैं सदा आनन्दसे रहता हूँ।
उसके स्नेहसे आर्द्र, नित्य बहनेवाले,
अद्भुत माधुर्यको देखकर,

आकर्षण' (प्रवृत्ति) बाह्य जगत्की ओर है।[1] जैसे मधु-मक्खियाँ नाना प्रकारके पुष्पोंसे मधुको, या सूर्य-रश्मियाँ नाना प्रकारके जल-स्थानोंसे विशुद्ध जलको खींच लेती हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक उत्कर्षकी अवस्थामें इन्द्रियोंमें बाह्य जगत्के माध्यमसे ही परम तत्त्वस्वरूप भगवान्के साक्षात्कारकी योग्यता आ जाती है।[2] इन्द्रियोंद्वारा परम तत्त्वके साक्षात्कारका यही अर्थ है।

बाह्य जगत्में भगवान्की स्थिति आपाततः नहीं दिखायी देती, आध्यात्मिक उत्कर्षकी अवस्थामें ही उसका भान होता है। इसीलिये परम तत्त्वको 'परमेष्ठी' कहा गया है।

यह आध्यात्मिक दृष्टि जिनकी हो जाती है, उन्हें 'भक्त' उन्हींको कहना चाहिये। वास्तवमें 'कृष्ण' और 'गोपी' ये शब्द भी उन्हींकी परिभाषाके हैं।

भक्ति-लाभका सहज साधन

(लेखक—राजज्योतिषी पं० श्रीमुकुन्दवल्लभजी मिश्र ज्योतिषाचार्य)

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥
(कठ० उप० १।२।२४)

कठोपनिषद्के इस मन्त्रसे स्पष्ट है कि जो पुरुष दुराचारसे विमुख नहीं, जो विक्षिप्त है, जिसका मन एकाग्र नहीं एवं जिसे मानसिक शान्ति प्राप्त नहीं, वह परमेश्वरको प्राप्त नहीं कर सकता, जबतक वह प्रज्ञान अर्थात् ब्रह्मविद्याका आश्रय न ले। इस वासनाप्रधान साम्प्रतिक युगमें संसारासक्त अकर्मण्य मनुष्योंकी योगाभ्यासादि कष्टसाध्य कर्मोंमें प्रवृत्ति एवं सफलता असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। ऐसी परिस्थितिमें प्रभुप्राप्तिके लिये भक्ति-मार्ग अपेक्षाकृत सुगम है। भक्ति भी अन्तःकरणकी परम पुनीत भावना होनेके नाते आन्तर नियन्त्रणके हेतु किसी-न-किसी साधनकी अपेक्षा अवश्य रखती है। बहुधा देखनेमें आता है कि अनेक व्यक्तियोंकी दृढ़ भक्तिकी तीव्र आकाङ्क्षा ऐहलौकिक नश्वर भोगैश्वर्योंमें संसक्त चित्तवृत्तिद्वारा परास्त हो जाती है। वे आकाङ्क्षा एवं भक्तिकी कामना करते हुए भी वातावरणजन्य प्रतिकूल परिस्थितिवश सांसारिक आकर्षणोंसे आकृष्ट हो जाते हैं। ऐसे व्यक्तियोंके लिये भक्तिलाभार्थ एक सद्यःफलप्रद सहज साधन लिखता हूँ। श्रद्धालुजन इससे लाभ उठावें।

साधन—प्रातः-सायं सूर्यके उदय एवं अस्तसे ठीक आध घंटे पूर्व नगरसे बाहर शान्त एकान्त स्थानमें जाकर शुद्ध होकर आचमन करे। पूर्व या उत्तर मुँह खड़े होकर कर्पूरके समान गौरवर्ण महासुन्दर भगवान् श्रीशंकरका ध्यान करते हुए तीन बार मानसिक प्रणाम करे और नीचे लिखे महामन्त्रका निश्चल रहकर खड़े-खड़े १०८ बार जप करे—

ॐ ह्रीं देवदेव कृपासिन्धो सर्वनाथेश महाव्यय ।
संसारासक्तचित्तं मां भक्तिमार्गे नियोजय ह्रीं ॐ ॥

जपके अन्तमें मुँह भरकर घण्टाके प्रतिनादके समान उच्चस्वरसे उत्तरोत्तर निम्नस्वरकी ओर जा रही 'ॐ' की ध्वनिको ब्रह्माण्डतक ले जाकर मुँह बंद किये शनैःशनैः वहीं विलीन कर दे। इस प्रकार ग्यारह बार करे। इस क्रियाके साथ-साथ भगवान् श्रीशंकरका उपर्युक्त ध्यान भी करे। इस प्रकार प्रतिदिन नियमितरूपसे ठीक समयपर श्रद्धापूर्वक उपर्युक्त मन्त्रके जप एवं 'ॐ' के उच्चारणसे कुछ ही दिनोंमें सांसारिक तामस-राजस वृत्तियाँ सात्त्विक वृत्तिकी प्रधानतासे अभिभूत होकर प्रभुचरणोंमें भक्तिभावना विकसित होगी। यह अनुभवसिद्ध प्रयोग है। किम्बहुना—इस सरल साधनासे कैसा ही संसारासक्त व्यक्ति क्यों न हो, छः मासमें ही उसकी चित्तवृत्ति भौतिक आकर्षणोंसे विरत होने लगती है। शनैः-शनैः सभी विघ्न दूर होकर हृदयमें भगवान् श्रीशंकरकी कृपासे स्वतः श्रीचरणकी भक्तिका स्रोत उमड़ने लगता है, हृदय आनन्दमें फूला नहीं समाता। अन्तमें भव-सागर-तारिणी शान्ति-दायिनी दृढ़ भक्तिकी प्राप्ति होकर मानव-जन्म सफल हो जाता है।

विशेष—इस साधनको शुक्लपक्षमें चतुर्थी, नवमी तिथिको छोड़कर अन्य किसी भी तिथिको चन्द्रवारके दिन प्रारम्भ करना चाहिये।

---

१. पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः। (कठोपनिषद् २।१।१) तथा प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति। (गीता ३।३३)

२. अदृश्यमपि यत्तत्त्वं लौकिकानामगोचरम्। तदेव परितः स्पष्टं विदुषां प्रतीयते॥ (रविमाला ११।२)

श्रीविष्णु-भक्तिके विविध रूप

(लेखक—डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

भगवान्‌का अन्वय और व्यतिरेक—

श्रीविष्णुभगवान् जगत्‌में अन्वित हैं और इससे व्यतिरिक्त भी हैं। जगत्‌में भगवान्‌के अन्वय (अनु + इ + अ) से तात्पर्य है जगत्‌में उनकी अन्तर्यामिताका; क्योंकि उपनिषद्‌का वचन है कि—तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। 'अनुप्राविशत्'- से निर्दिष्ट अनुप्रवेश (अनु + प्र + विश् + अ) ही अन्वय है और इसी हेतुसे यह विश्व भगवान्‌की एकपाद्-विभूति कहलाता है। ईश्वरके समग्र भावका जगत्‌में 'अनुप्रवेश' अथवा 'अन्वय' नहीं होता, अपितु अत्यन्त स्वल्पांशका—

यस्यायुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरियं स्थिता।

अतः ईश्वर जगत्‌से व्यतिरिक्त भी हैं। ईश्वरके इस व्यतिरेककी ओर श्रुतिका स्पष्ट संकेत है—

(अ) अतो ज्यायांश्च पूरुषः।
(आ) त्रिपादस्यामृतं दिवि।
(इ) त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः।

ईश्वरको विश्वातिग किंवा विश्वातिक्रान्त बतानेके लिये ही उन्हें 'पर' कहा जाता है—

विश्वं व्याप्यापि यो देव एतस्मात् परतः स्थितः।
परस्मै श्रीमते तस्मै विष्णवेऽस्तु नमो मम॥

विश्वके कर्ता, भर्ता और हर्ताके रूपमें वे क्रमशः प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षण कहलाते हैं। उन्हींका धर्म-संस्थापनार्थ युग-युगमें अवतार होता है। वे ही आवाहन करनेपर मूर्तियोंमें विराजमान होकर भक्तोंकी पूजाको स्वीकार किया करते हैं।

ऐसे महामहिम विष्णुभगवान्‌की भक्ति अनादिकालसे चली आ रही है।

भक्तिमें दो न्याय

भक्ति-मार्गमें दो न्याय प्रसिद्ध हैं—एक तो मर्कट-किशोर-न्याय और दूसरा मार्जार-किशोरन्याय। पहलेमें उपासक उपास्यदेवकी उपासनामें अपनी ओरसे इस प्रकार प्रवृत्त होता है, जिस प्रकार बँदरियाका बच्चा अपनी ओरसे अपनी माताको पकड़े रहनेमें प्रवृत्त होता है; और दूसरेमें वह इस प्रकारकी प्रवृत्तिसे उदासीन रहता हुआ ही भगवान्‌की इस प्रकार पहुँचता है, जिस प्रकार बिल्लीका बच्चा अपनी माँतक। बँदरियाका बच्चा स्वयं माताको पकड़े रहता है और माता जहाँ जाती है, वहाँ चला जाता है; परंतु बिल्लीके बच्चेको माता स्वयं उसे अपनी इच्छासे मुँहमें पकड़कर जहाँ चाहती है, ले जाती है। पहला स्वेच्छासे मातापर निर्भर है, तो दूसरा माताकी इच्छाके अनुसार।

उपासक अपनी समस्त भावनाओंको एकमात्र उपास्यमें केन्द्रित कर देते हैं, परमात्माको अपने सभी भावोंका आश्रय और आधार बना लेते हैं। जगदीश्वर ही उनके माता, पिता, भ्राता, मित्र, बन्धु-बान्धव, पुत्र हैं। उनकी विद्या, धन आदि समस्त कामनाएँ भी वे ही हैं—

पिता माता सुहृद् बन्धुर्भ्राता पुत्रस्त्वमेव मे।
विद्या धनं च काम्यश्च नान्यत् किंचित् त्वया विना॥
(मङ्गल)

सेवामें तीन भाव

सेवामें तीन भाव हैं—(१) बड़ेकी सेवा, (२) बराबरवालेकी सेवा और (३) छोटेकी सेवा। माता, पिता, गुरु, पति, स्वामी, सम्राट्‌की जो सेवा पुत्र, शिष्य, पत्नी और सेवक करते हैं—वह पहला भाव है। एक मित्र दूसरे मित्रकी जो सेवा करता है—वह दूसरा भाव है। माता-पिता जो सेवा पुत्रकी करते हैं—वह तीसरा भाव है। उपासक लोग ईश्वरकी सेवा इन तीनों भावोंसे ही करते हैं। पहले भावको 'दास्य', दूसरेको 'सख्य' और तीसरेको 'वात्सल्य' कहते हैं। पत्नीद्वारा पतिकी सेवाके भावको 'माधुर्य' नाम दिया जाता है, जिसे हम प्रथम भावका ही परिष्कृत और पूजास्पद रूप मान सकते हैं।

शब्दोंका औपचारिक प्रयोग

जीव अपनेको पुत्र और ईश्वरको पिता मानकर उनकी आराधना करता है। लोकमें जिस प्रकार पितासे पुत्र उत्पन्न होता है, ठीक उसी प्रकार आराध्यसे आराधकके उत्पन्न न होनेपर भी आराध्य पिता है और आराधक पुत्र है। शब्दोंका यह औपचारिक प्रयोग है। यही बात सख्य, वात्सल्य और माधुर्यमें भी समझनी चाहिये। मधुर भावमें जब जीव ईश्वरको पति कहता है, तब भी 'पति' शब्दका प्रयोग

औपचारिक ही होता है; क्योंकि जीव और ईश्वरमें लौकिक पत्नी-पतिके समान शरीरसम्बन्धका गन्धतक भी अवसर नहीं है। 'मिन्नरुचिर्हि लोकः' इस न्यायके अनुसार किसीको यह अच्छा लगता है कि मैं परमात्माको बालक समझकर उसका आराधन करूँ; किसीको यह अच्छा लगता है कि मैं उसे मित्र कहकर पुकारूँ; और किसीको यह अच्छा लगता है कि मैं उसे पति कहकर पुकारूँ। किंतु जितनी व्यापक सेवा ईश्वरको माता, पिता, गुरु, सम्राट् और स्वामी मानकर हो सकती है, उतनी और भावमें नहीं। दास्यभावमें तो सेवा-ही-सेवा है। इसमें उपासक कहता है—

> जन्मप्रभृति दासोऽस्मि शिष्योऽस्मि तनयोऽस्मि ते।
> त्वं च स्वामी गुरुर्माता पिता च मम माधव॥
> (भक्तलत्न)

अर्थात् हे माधव! मैं जन्मका दास हूँ, शिष्य हूँ और पुत्र हूँ एवं आप मेरे स्वामी, गुरु और माता-पिता हैं। यह दास्य ही, यह सेवाभाव ही, सच्चा भक्तिका भी स्वरूप है। लौकिक रीतिसे न सही, अलौकिक रीतिसे तो भगवान् विश्वके जनिता हैं ही—

> जननमता सर्वभूतानां देवदेवो हरिः पिता। (अग्निपुराण)

संवेगकी तीव्रता

सेवाके विविध भावोंमें यह कोई निश्चित नियम नहीं है कि पहले दास्यकी साधना की जाय, फिर सख्यकी, फिर वात्सल्यकी और अन्तमें माधुर्यकी। जिस भावमें रुचि हो, वही अङ्गीकार किया जा सकता है। जिस भावमें भी संवेग तीव्र होगा, उसीसे इष्ट-लाभ हो जायगा। भगवत्प्राप्ति किसी भाव-विशेषकी अपेक्षा न होकर व्यक्तिविशेषके संवेगकी ही अपेक्षा रखती है। संवेगकी बड़ी महिमा है। इसके प्रत्यक्षलके लिये ही माधुर्यभावके संवेगसे भी अतुल भावुकोंने जार-भावकी प्रशंसा की है। व्यभिचारिणी स्त्रीके मनमें उपपतिके दर्शनकी लालसामें जो तीव्रता होती है, वही तीव्रता जब भगवद्-दर्शन-लालसामें आ जाय, तब जार-भाव होता है। इसी तीव्रताको ध्यानमें रखकर गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरित मानसके अन्तमें अपनी अभिलाषा इस प्रकार प्रकट की है—

> कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
> तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

सेवाके प्रकार

सेवा कई प्रकारसे होती है। उपास्यकी गुण-कथाओंका श्रवण करना, उनके नामादिका कीर्तन करना, उनकी महिमादिका स्मरण करना, चरण-संवाहन, सात्त्विक सामग्रीसे उनके श्रीचरणोंमें सपर्याका समर्पण, उनके श्रीविग्रहोंके सम्मुख प्रणाम, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—भक्तिके ये नौ प्रकार यहाँ प्रसिद्ध हैं। इनमें एक-एक प्रकार साधकका कल्याण कर सकता है। यदि साधक एकाधिक अङ्गोंको अपनाये तो कहना ही क्या।

श्रवण

श्रीभगवान्‌के नाम, गुण और लीलाओंका सुनना 'श्रवण' कहलाता है। महाराज परीक्षित् इसके आदर्श हैं, जिन्होंने एक सप्ताहतक श्रीभगवच्चरित्रोंका श्रवण करके मुक्तिलाभ किया था। श्रवणकी फलश्रुतिमें एक वचन है—

> संसारसर्पसंदष्टनष्टचेष्टैकभेषजम्।
> कृष्णेति वैष्णवं मन्त्रं श्रुत्वा मुक्तो भवेन्नरः॥

अर्थात् 'श्रीकृष्ण' इस वैष्णव मन्त्रका श्रवण करके मनुष्य भव-पाशसे छुटकारा पा जाता है। संसाररूपी सर्पके माया-मोहरूपी विषके प्रभावसे प्रभावित व्यक्तिके लिये यह रामबाण औषधका काम करता है।

कीर्तन

व्याख्यान, प्रवचन, स्तव, स्तोत्रपाठ, कथा—ये सब कीर्तनके ही विविध रूप हैं। भक्तिके इस अङ्गमें शुकदेवजी आदर्श हैं, जिनके एक सप्ताहके सत्सङ्गसे महाराज परीक्षित्‌की मुक्ति हो गयी। कीर्तनकी महिमामें एक सूक्ति है—

> ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
> यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥
> (विष्णु० ६।२।१७)

अर्थात् सत्ययुगमें प्राणायाम, प्रत्याहार आदि अष्टाङ्ग-योगोंवाले ध्यानके अवलम्बनसे जीवको जो सद्गति प्राप्त होती है, त्रेतामें अग्निष्टोम, अतिरात्र आदि यज्ञोंद्वारा यजन करनेसे जो सद्गति प्राप्त होती है एवं द्वापरमें प्रचुर-धन-साध्य मन्दिर-निर्माण और मूर्ति-स्थापनके अनन्तर नानाविध उपचारोंद्वारा पूजा-अर्चासे जो सद्गति प्राप्त होती है, वही सद्गति कलियुगमें श्रीभगवान् केशवके नाम-गुण-कीर्तनसे ही प्राप्त हो जाती है।

स्मरण

स्मरणके आदर्श प्रह्लादजी हैं, जिन्होंने बाल्यकालमें ही श्रीभगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त किया था। पुराणका एक वचन है—

गङ्गास्नानसहस्रेषु पुष्करस्नानकोटिषु ।
यत् पापं विलयं याति स्मृते नश्यति तद्धरौ ॥
(पद्म० २११ । १८)

अर्थात् जो गुरुतर पाप अनेकानेक बार गङ्गास्नानसे और पुष्कर-जलमें स्नान करनेसे नष्ट होता है, वह श्रीभगवान्के स्मरणमात्रसे नष्ट हो जाता है ।

चरण-सेवा

चरण-सेवामें श्रीलक्ष्मीजी आदर्श हैं, जो नित्य-निरन्तर श्रीभगवान्के चरण-कमलोंकी सेवा किया करती हैं । जिनका मकरन्द मन्दाकिनीके रूपमें प्रवाहित होकर त्रिभुवनकी पाप-राशिको सर्वथा विच्छिन्न कर देता है, उन दिव्य चरणकमलों-की सेवा कौन नहीं करना चाहेगा ।

अर्चन

अर्चनकी प्रथा परम प्राचीन है । इसका निर्देश श्रुतिमें इस प्रकार है—

महे शूराय विष्णवे चार्चत ।
(ऋग्वेद १ । १५५ । १)

अर्थात् आपलोग महान् एवं शूरवीर विष्णुभगवान्का अर्चन कीजिये । पुराणमें लिखा है—

विष्णोः सम्पूजनान्नित्यं सर्वपापं प्रणश्यति ।

अर्थात् भगवान् विष्णुकी पूजा करनेसे पूजकके सब पाप दूर हो जाते हैं ।

वन्दन

भक्तिके वन्दन-नामक अङ्गमें आदर्श महात्मा श्वफल्कके पुत्र अक्रूरजी हैं, जिन्होंने श्रीभगवान्के चरण-कमलोंको प्रणाम करनेकी सम्भावना-मात्रसे ही अपने जीवनको सफल समझा था एवं जो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके चरणचिह्नोंका दर्शन करके उनमें लोटने लगे थे ।

वन्दनकी महिमामें महाभारतका वचन है—

अतसीपुष्पसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
ये नमस्यन्ति गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम् ॥
(महा० अनु० ४७ । ९८)

अर्थात् जो भक्तजन नीलवर्ण, पीताम्बरधारी, अच्युत गोविन्दकी वन्दना करते हैं, उन्हें किसी प्रकारका भय नहीं होता ।

दास्य

दास्यभावके आदर्श हैं—अञ्जना-नन्दन श्रीहनुमान्जी, जिनका वीर-गर्जन है—

दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ।
(वाल्मी० रा० सुन्दर० ४२ । ३४)

अर्थात् मैं उन कोसलेन्द्र श्रीरामका दास हूँ, जिनके कार्य-कलाप और लीला-चरित्र लोकाभिराम हैं । श्रुतिने भजनका निरूपण इस प्रकार किया है—

महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ।
(ऋग्वेद १ । १५६ । ३)

अर्थात् हे विष्णो ! हम सब आपके अनुग्रहका एक हविष्य भजन करते हैं । भजनका अर्थ है सेवा—भज सेवायाम् । जो सेवा करता है, वही सेवक किंवा दास है । अतएव भक्तिमें दास्यभाव प्रधान है । अन्य सभी भावोंमें किसी-न-किसी अंशमें, सेवाका भाव अवश्य विद्यमान रहता है । फिर दास्यभाव तो सेवा-ही-सेवा है ।

सख्य

सख्यमें अर्जुन आदर्श हैं । श्रुतिने भगवान्को मित्र, बन्धु और सखा इस प्रकार कहा है—

(अ) भवा मित्रो न शेव्यः ।
(ऋग्वेद १ । १५६ । १)

(आ) स हि बन्धुरित्था ।
(ऋग्वेद १ । १५४ । ५)

(इ) सख्यं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते ।
(ऋग्वेद १ । १५६ । ४)

आत्मनिवेदनमें आदर्श विरोचन-तनय महाराज बलि हैं, जिन्होंने भगवान् त्रिविक्रमके चरणोंमें अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया था । इसीको प्रपत्ति और शरणागति भी कहते हैं ।

तन्मयता

तन्मयतामें गोपियाँ आदर्श हैं । श्रीकृष्ण वनमें गायें चराने जाते तो गोपियाँ दिनभर श्रीकृष्ण-चिन्तनमें लीन रहा करती थीं । इनकी तन्मयताकी पराकाष्ठाका दिग्दर्शन हमें तब होता है, जब श्रीकृष्णके रासलीलामें अन्तर्धान हो जानेपर गोपियाँ अपने परमाराध्यकी लीलाएँ करने लगती हैं—

लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः ।
(श्रीमद्भा० १० । ३० । १४)

वात्सल्य

वात्सल्यमें यशोदाजी आदर्श हैं । नन्दजी पूर्वजन्ममें द्रोण नामक वसु थे और यशोदाजी थीं द्रोणपत्नी धरा । इनलोगोंके

आदेशसे श्रीभगवान् नारायणकी कृष्णरूपमें सेवा-सपर्या करनेके लिये ही द्रोण और धरा इस धराधामपर नन्द और यशोदाके रूपमें आये थे । दोनों ही परब्रह्म परमात्माका वात्सल्यभावसे आराधन करते थे—

ततो भक्तिर्भगवति पुत्रीभूते जनार्दने ।
दम्पत्योर्नितरामासीद् गोपगोपीषु भारत ॥
(श्रीमद्भा० १० । ८ । ५१)

ध्यान

स्मरण जब अविच्छिन्न और एकतान हो जाता है, तब वह ध्यानरूपमें परिवर्तित हो जाता है । ध्यानके आदर्श हैं उत्तानपादके पुत्र ध्रुव, जिन्होंने बाल्यकालमें ही, नारदजीके सदुपदेशके प्रभावसे, ध्यानकी ऐसी उच्च भूमिका प्राप्त कर ली थी कि उन्हें वैकुण्ठधामसे पधारे हुए एवं सम्मुख विराजमान अपने इष्टदेवका भी पता न चला । ध्यानकी महिमामें पुराणका एक वचन है—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च मुहुर्मुहुः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ॥
(नृसिंहपु० १४ । ७७)

अर्थात् समस्त शास्त्रोंका पर्यालोचन करनेपर एवं बार-बार स्थिर बुद्धिसे सोचनेपर यही सार निकला कि नित्य-निरन्तर सदा-सर्वदा श्रीमन्नारायणका ध्यान करना चाहिये ।

श्रीसाम्बकी सूर्य-भक्ति

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

एक बार वसन्त ऋतुमें ब्रह्मावतार दुर्वासा मुनि तीनों लोकोंमें विचरते हुए द्वारका पहुँचे । उनके जटा-जूटयुक्त जरा-जीर्ण शरीरको देखकर श्रीकृष्ण-पुत्र साम्बने अपने रूपके अभिमानमें आकर उनकी नकल बनायी । मुनिराजसे यह अपमान नहीं देखा गया । क्रोधसे काँपते हुए वे तुरंत बोल उठे—'साम्ब ! हमको कुरूप और अपनेको अति रूपवान् जानकर जो तुमने हमारा अनुकरण किया है, इस अपराधमें तुम अति शीघ्र कुष्ठी हो जाओ ।'

साम्ब अत्यन्त व्याकुल हुए । कुष्ठ-निवारणार्थ उन्होंने अनेक प्रकारके उपचार किये, परंतु किसीसे भी कुष्ठ नहीं दूर हुआ । तब अन्तमें वे अपने पूज्य पिता आनन्दकन्द श्रीकृष्ण-चन्द्रके पास गये और उनसे प्रार्थना की—'पिताजी ! दुर्वासा-मुनिके शापसे मैं कुष्ठरोगसे पीड़ित हो रहा हूँ, मेरा शरीर गल रहा है, स्वर दबा जाता है, पीड़ासे प्राण निकले जाते हैं, औषधियोंसे शान्ति नहीं मिलती, अब क्षणमात्र भी जीवित रहनेकी क्षमता नहीं है । आपकी आज्ञा पाकर अब मैं प्राण-त्याग करना चाहता हूँ । आप मेरे असह्य दुःखकी निवृत्तिके लिये मुझे प्राण-त्याग करनेकी आज्ञा दें ।'

महायोगेश्वर श्रीकृष्ण क्षणमात्र शान्त रहे । फिर विचारकर बोले—'पुत्र ! धैर्य धारण करो । धैर्य त्यागनेसे रोग अधिक बढ़ता है । मैं तुम्हें सर्वोपरि उपाय बताता हूँ । अब तुम श्रद्धापूर्वक भगवान् सूर्यनारायणकी आराधना करो, जिससे तुम्हारा यह क्लेश निवृत्त हो जाय । यदि विशिष्ट देवताका आराधन विशिष्ट पुरुष करे तो अवश्य ही विशिष्ट फलकी प्राप्ति होती है ।'

साम्बके संदेह करनेपर पुनः श्रीकृष्णने कहा—'शास्त्र-वाक्य और अनुमानसे ही हजारों देवताओंका होना सिद्ध होता है और प्रत्यक्ष देवताओंको ही यदि मानते हो तो सूर्यनारायणसे बढ़कर कोई दूसरा देवता ही नहीं है । सारा जगत् इन्हींसे उत्पन्न हुआ है और इन्हींमें लीन हो जायगा । ग्रह, नक्षत्र, योग, करण, राशि, आदित्य, वसु, रुद्र, वायु, अग्नि, अश्विनीकुमार, इन्द्र, ब्रह्मा, दिशाएँ, भूः-भुवः-स्वः आदि सब लोक, पर्वत, नदी-नद, नाग-नग, सागर-सरिताएँ एवं समस्त भूतग्रामकी उत्पत्तिके हेतु श्रीसूर्यनारायण ही हैं । वेद, पुराण, इतिहास—सभीमें इनका परमात्मा-अन्तरात्मा आदि शब्दोंसे प्रतिपादन किया गया है । इनके सम्पूर्ण गुणों और प्रभावका सौ वर्षोंमें भी कोई वर्णन नहीं कर सकता । तुम यदि अपना कुष्ठ मिटा-कर संसारमें सुख भोगना चाहते और भुक्ति-मुक्तिकी इच्छा रखते हो तो विधिपूर्वक सूर्यनारायणका आराधन करो, जिससे आध्यात्मिक, आधिभौतिक दुःख तुमको कभी न होंगे ।'

पिताकी आज्ञा शिरोधार्य कर साम्ब चन्द्रभागा नदी-के तटपर जगत्प्रसिद्ध मित्रवन नामक सूर्यक्षेत्रमें गये और वहाँ उपवास करके सूर्य-मन्त्रका अखण्ड जप करने लगे । उन्होंने ऐसा घोर तप किया कि उनके शरीरमें अस्थिमात्र शेष रह गयी । वे प्रतिदिन अत्यन्त भक्तिभावसे गद्गद होकर 'यदेतन्मण्डलं शुक्लं दिव्यं चाजरमव्ययम्' इत्यादि श्लोकोंवाले स्तोत्रसे सूर्यनारायणकी स्तुति करते थे । इसके अतिरिक्त तप करते समय वे सहस्रनामसे भी सूर्यका स्तवन करते थे ।

एक बार स्वप्नमें दर्शन देकर सूर्यनारायणने उनसे कहा कि

'सहस्रनामसे हमारी स्तुति करनेकी आवश्यकता नहीं है। हम अपने अत्यन्त गुह्य, पवित्र और शुभ इक्कीस नामोंका स्तोत्र तुमको बताते हैं।* इनका पाठ करनेसे सहस्रनामके पाठका फल होगा। यह इक्कीस नामका हमारा स्तोत्र त्रैलोक्यमें प्रसिद्ध है। जो दोनों संध्याओंमें इस स्तोत्रका पाठ करेगा, वह सब पापोंसे—रोगोंसे मुक्त होकर धन-धान्य, आरोग्य, संतान आदिसे युक्त हो जायगा।'

तत्पश्चात् साम्बकी अटल भक्ति, कठोर तपस्या, श्रद्धायुक्त जप और स्तुतिसे प्रसन्न होकर सूर्यनारायणने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया। बोले—'वत्स साम्ब! तुम्हारे तपसे हम बहुत प्रसन्न हुए हैं, वर माँगो।'

साम्ब भक्तिभावमें अत्यन्त लीन हो गये थे। उन्होंने केवल यही वर माँगा—'परमात्मन्! आपके श्रीचरणोंमें मेरी दृढ भक्ति हो।'

सूर्य बोले—'यह तो होगा ही, और भी वर माँगो।'

तब लज्जित-से होकर साम्बने दूसरा वर माँगा—'भगवन्! यदि आपकी इच्छा है तो मुझे यह वर दीजिये कि मेरे शरीर का यह कलङ्क निवृत्त हो जाय।'

सूर्यनारायणके 'एवमस्तु' कहते ही साम्बका शरीर और उत्तम स्वर हो गया। इसके अतिरिक्त सूर्यनारायणने प्रसन्न होकर उन्हें एक वर और भी दिया कि 'यह नगर तुम्हारे नामसे प्रसिद्ध होगा और लोकमें तुम्हारी अक्षय कीर्ति स्थापित होगी। हम तुमको नित्य स्वप्नमें दर्शन देते रहेंगे। अब तुम चन्द्रभागा नदीके तटपर मन्दिर बनवाकर उसमें हमारी मूर्ति स्थापित करो।'

साम्बने सूर्यके आदेशानुसार चन्द्रभागा नदीके तट मित्रवनमें एक विशाल मन्दिर बनवाकर उसमें विधिपूर्वक सूर्यनारायणकी मूर्ति स्थापित करायी।

भगवान् शंकरकी भक्तिका प्रत्यक्ष फल

(लेखक—पं० श्रीसत्याशंकरजी दुबे, एम्० ए०, एल-एल्० बी०)

भगवान् शंकर आशुतोष हैं। वे थोड़ी ही सेवासे शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं। पूजासे जितने शीघ्र भगवान् शंकर प्रसन्न होते हैं, उतना शीघ्र प्रसन्न होनेवाला भगवान्का अन्य कोई स्वरूप नहीं है। जब कभी किसी व्यक्तिको कोई संकट आता है तब वह उसे दूर करनेके लिये भगवान् शंकरकी शरण लेता है। वह किसी मन्दिरमें जाकर भगवान् शंकरकी पूजा करता है या रुद्राभिषेक कराता है। जो भक्तिपूर्वक पूजा करते हैं, उनका संकट शीघ्र ही अवश्य टल जाता है। भगवान् शंकरकी पूजासे कितना लाभ हो सकता है उसका प्रत्यक्ष उदाहरण मैं अपने कुटुम्बसे ही देता हूँ।

मध्यप्रदेशके निमाड़ जिलेके बड़वाह नगरसे करीब पाँच मीलकी दूरीपर श्रीनर्मदाजीके उत्तर तटपर श्रीविमलेश्वर महादेवका प्राचीन मन्दिर है। मेरे पितामह श्रीदेवेश्वरजी दुबे इस मन्दिरसे लगभग तीन मीलकी दूरीपर रतनपुर ग्राममें निवास करते थे। वे प्रतिदिन प्रातःकाल अपने गाँवसे श्रीविमलेश्वर महादेवके मन्दिरके पास आकर नर्मदामें स्नान करके श्रीविमलेश्वर महादेवको नर्मदा-जल अर्पण करते थे। गन्ध लगाकर बेल्पत्र और फूल भी चढ़ाते थे। वे पू[illegible] मन्त्र नहीं जानते थे, इसलिये वे बिना मन्त्रके ही बड़ी भ[illegible] और श्रद्धासे नियमपूर्वक कई वर्षोंतक भगवान् शंकरकी [illegible] करते रहे। उनके पास कोई जीविकाका साधन नहीं [illegible] वे भिक्षाद्वारा अपना और अपने कुटुम्बका पालन करते [illegible] भगवान् शंकरकी पूजाके प्रभावसे उनको कभी भी [illegible] और अन्नका कष्ट नहीं हुआ। उसी पूजाके प्रभावसे [illegible] पिता श्रीबलरामजी दुबेको होशंगाबादमें करीब बारह वर्षों नर्मदा-सेवनका अवसर मिला और अन्तमें प्रयागराजमें उनका स्वर्गवास हुआ। उसी पूजाके प्रभावसे मुझे भी तीस वर्षोंसे प्रयागराजमें गङ्गा-सेवनका शुभावसर प्राप्त [illegible] है और मेरी तथा मेरे कुटुम्बकी उन्नतिका एकमात्र का[illegible] भगवान् शंकरजीकी सेवा ही है। इसलिये मैं प्रत्येक सज्[illegible] आग्रहपूर्वक अनुरोध करता हूँ कि वे भगवान् शंकरकी [illegible] अपनी शक्तिके अनुसार नियमपूर्वक अवश्य किया करें।

---

* वे २१ नाम ये हैं—

विकर्तनो विवस्वांश्च मार्तण्डो भास्करो रविः। लोकप्रकाशकः श्रीमान् लोकचक्षुर्महेश्वरः॥ लोकसाक्षी त्रिलोकेशः कर्ता हर्ता तमिस्रहा। तपनस्तापनश्चैव शुचिः सप्ताश्ववाहनः॥ गभस्तिहस्तो ब्रह्मा च सर्वदेवनमस्कृतः॥

श्रीशिवभक्तिके विविध रूप

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, एम्० ए०)

यह विषय अब भी विवादास्पद है कि मुख्य शैव-सम्प्रदाय कौन-कौन-से थे; क्योंकि शैवमत अत्यन्त प्राचीन है। बहुत-से विद्वानोंने शैव, नकुलीश अथवा पाशुपत, कालमुख और कापालिक सम्प्रदायोंका उल्लेख किया है। कई सम्प्रदायोंमें कुछ बीभत्स बातोंके कारण— यथा मनुष्यकी खोपड़ीमें भोजन करना, मद्यपान करना और कहीं-कहीं मुर्दा इत्यादि भक्षण करनेके कारण कुछ लोगोंने शैव-सम्प्रदायोंमें कुछ अवैदिक सम्प्रदाय भी माने हैं। पर मेरा विचार ऐसा नहीं है। मैं समझता हूँ कि सकाम उपासनाके कारण मद्य, मांस, नरबलि इत्यादिका प्रचार इसलिये हुआ कि इन चीजोंमें विशिष्ट शक्तियाँ विद्यमान हैं, जो अत्यन्त रहस्यमय हैं। इनका कुछ वर्णन मदाम नीलकृत "With Mystics and Magicians in Tibet" में मिलेगा। सिद्धियोंके फेरमें पड़े हुए सकाम उपासक अपनी विजयसे चौंधिया उठते हैं और कभी-कभी बीभत्स कृत्योंपर भी उतर आते हैं। किंतु इस प्रकारकी सिद्धि केवल भ्रममात्र है और केवल थोड़े ही समयके लिये होती है। निष्काम उपासनामें जो प्रसन्नता, हृदयका इत्मीनान तथा सांसारिक विषयोंसे मुक्ति मिलती है, उसका तो कहना ही क्या। उसमें केवल भाव ही प्रधान है और उपासनामें जो कुछ कमी होती है, वह शङ्कर स्वयं ही पूर्ण कर लेते हैं।

शुद्ध शैव-सम्प्रदायका रूप तो वह है, जो काशीके शिवभक्तोंमें है। उसका कुछ वर्णन मैंने एक अन्य लेखमें किया है। इसमें केवल गङ्गाजल, चन्दन, सुगन्धित पुष्प, बिल्वपत्र, आकके फूल, धतूरा, कर्पूर इत्यादि ही सेवन किये जाते हैं और भगवान् शंकरपर मौसमके रूपमें कच्चा दूध चढ़ाया जाता है। भक्त इसी पूजासे प्रसन्न होता है। उसे कुछ भी माँगना नहीं रहता। यह पूजा ही उसको परम आनन्द देती है।

नकुलीश-सम्प्रदाय, जिसे पाशुपत सम्प्रदाय भी कहते हैं, भारतके पश्चिमी प्रान्तोंमें यथा राजस्थानके कुछ भागों तथा बम्बई प्रदेशमें पाया जाता है। नकुलीशका जन्मस्थान कायावरोहण-तीर्थ कहा जाता है, जो बड़ौदेके निकट है। उनके दाहिने हाथमें मोटा-सा डंडा तथा बाँयें हाथमें बीजपूरक अथवा जम्बीरी नीबू दिखलाये जाते हैं। इस सम्प्रदायकी विशेष बातें तो अबतक अज्ञात ही हैं, पर जब इन पंक्तियोंके लेखकने बम्बईके जोगेश्वरी नामक स्थानपर जोगेश्वरी गुफाका दर्शन किया, तब भित्तिमूर्तियोंको देखनेसे यही ज्ञात हुआ कि शिवजीके विविध चरित्र—यथा अन्धकासुर-वध, पार्वती-परिणय, नन्दीक्षोभ इत्यादि दिखलाये गये हैं। इन मूर्तियोंको देखनेसे कोई अश्लील बात नहीं प्रकट होती। अब इस सम्प्रदायके लोग बहुत कम देखे जाते हैं।

कालमुख-सम्प्रदाय मद्रास प्रदेशके अधिक भागोंमें तथा मध्यप्रदेशमें कलचुरि राजाओंके राज्यमें प्रचलित था। इसमें भी कपालमें भोजन इत्यादि कुछ बातें थीं, जिनका उद्देश्य केवल सकाम सिद्धि ही कहा जा सकता है। बहुत दिनों तक यह सम्प्रदाय खूब फला-फूला। इसके सुन्दर-सुन्दर मठोंके भग्नावशेष ग्वालियर तथा रीवाँ प्रान्तोंमें मिलते हैं। इस सम्प्रदायमें अच्छे-अच्छे साधु गुरु हो चुके हैं और प्रायः काकतीय राजाओंके समयमें इसकी समृद्धि अपनी चरम सीमापर थी। इस सम्प्रदायके लोग भी अब बहुत कम मिलते हैं।

कापालिक-सम्प्रदायका प्रचार महाराष्ट्र देशमें अधिक था और वहाँ अब भी भैरवकी उपासना स्थान-स्थानपर पायी जाती है। काशीके महाराष्ट्र उक्त नगरमें स्थित प्रसिद्ध कालभैरवके मन्दिरको विशेष सम्मान देते हैं। कहते हैं इस सम्प्रदायमें मद्यका सेवन होता है तथा नरबलि भी दी जाती थी। किंतु यदि ये बातें होती हैं तो ये सकाम उपासनाकी ही द्योतक हैं। भैरवकी उपासना तो अब भी रहस्यमय मानी जाती है, पर इसमें सदाचारकी मात्रामें कोई त्रुटि नहीं होती।

इस समय अघोर-सम्प्रदायके भी कम उपासक दिखलायी पड़ते हैं। इस उपासनामें मृत व्यक्तिका मांस, मद्य मूत्रादिक उसी प्रकार सेवन किये जाते हैं, जैसे दूध तथा गङ्गाजल। यह बड़ी कठोर उपासना है, पर है यह भी सकाम ही। काशीमें सुप्रसिद्ध किनाराम तथा राघवदासकी सिद्धियोंकी कथा अबतक लोग सुनाते हैं।

वीरशैव अथवा जंगम-सम्प्रदाय कर्णाटक प्रान्तमें पाँच-छः सौ वर्ष पूर्व प्रादुर्भूत हुआ। इसमें भी अनेकानेक सिद्ध

महात्मा हो गये हैं। ये लोग ब्राह्मणोंसे विरोध रखते हैं। इनकी गायत्री पञ्चाक्षरी मन्त्र है और ये गलेमें शिवलिङ्गको डिबियामें रखकर बाँधे रहते हैं, जिसको ये लोग अनेक समझते हैं। इस सम्प्रदायकी विशेष समुन्नति बसव नामक आचार्यने ९०० वर्ष हुए की थी। काशीमें सुप्रसिद्ध जंगमबाड़ी मठ इसी सम्प्रदायका है।

'कल्याण' में एक लेखमें मैं पहले लिख चुका हूँ कि बौद्ध चौरासी सिद्धोंका मत प्रायः १००० वर्ष हुए नाथ सम्प्रदायमें परिपक्व हो गया। इस सम्प्रदायमें योगाभ्यासपर विशेष जोर दिया गया है और इस सम्प्रदायके योगी नाथ कहे जाते हैं। ये लोग शुद्ध सात्त्विक सदाचार बरतते हैं।

जहाँतक मैंने अनुसंधान किया है शैव-सम्प्रदायोंमें स्त्री-विषयक कोई बात नहीं मिली, यद्यपि यह विषय अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। मनुष्यके शरीरमें लिङ्ग तथा योनि शरीरस्थित ७२००० नाड़ियोंके केन्द्र होते हैं और उनमें शारीरिक उत्तेजना पैदा करके अनेकानेक रहस्यमय कार्य किये जा सकते हैं। इस विषयमें केवल एक ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा। अमुक देशमें बालककी भेंट करने
होनेपर पुरुष अपनी धर्मपत्नीको लेकर रात्रिके समय
खेतपर जाता है तथा उन लोगोंमें सम्भोग होता है।
इसके बाद कहा जाता है कि उस खेतमें उपज बढ़
है। यह बात शायद Bell कृत Civilisation
पुस्तकमें मुझे मिली। अस्तु!

शैव-सम्प्रदायोंके विषयमें जिन लोगोंने लिखा है
अधिकांश निष्पक्ष नहीं कहे जा सकते। क्योंकि
वे लिङ्ग समझते हैं। इसका प्रमाण केवल गुडीमल्लम
मद्रास प्रान्तके स्थानमें एक मूर्ति है। इस मूर्तिपर सुन्दर
बने हुए हैं। मैं नहीं समझता कि इतने भद्दे विचारसे
प्रकार उड़ा दिया जा सकता है, जब कि पुराणोंमें
की कथा विद्यमान है। मैं अब भी समझता हूँ कि
उपासना परम सात्त्विक है तथा सम्मुख
तथा आनन्ददायक है। यदि कहीं-कहीं कुछ बीभत्स
पायी जाती हैं तो वे केवल सिद्धियोंके फेरमें पड़े
सकाम उपासकोंकी देन हैं।

'महिम्नो नापरा स्तुतिः'

(लेखक—[illegible])

पुष्पदन्तका शिवमहिम्नस्तोत्र संस्कृतके स्तुतिवाङ्मयका एक अमूल्य रत्न है। इस स्तोत्रकी फलश्रुतिसे ज्ञात होता है कि पुष्पदन्त शिवके गणोंमें श्रेष्ठ माने गये हैं। भारतीय वाङ्मयमें पुष्पदन्त नामके एक जैन और एक बौद्ध अर्हत् भी हो गये हैं। कथासरित्सागरमें लिखा है कि पुष्पदन्त नामका एक शिवका अनुचर था। उसने एक बार छिपकर शिव-पार्वतीके रहस्य-भाषणको श्रवण किया। इससे शिवने उसे शाप देकर उसकी आकाशमें संचरण करनेकी गति अवरुद्ध कर दी। पीछे पुष्पदन्तने महिम्नस्तोत्रकी रचना करके महादेवकी स्तुति की, जिससे प्रसन्न होकर आशुतोषने शापजनित क्लेशसे उसका त्राण किया। विष्णुतन्त्रमें भी पुष्पदन्त नामक एक विष्णुके अनुचरका उल्लेख मिलता है। प्रचुर ऐतिहासिक प्रमाण न मिलनेके कारण यह निश्चय करना कठिन है कि विभिन्न सम्प्रदायोंमें एक ही पुष्पदन्तका उल्लेख है या उसी नामके विभिन्न व्यक्तियोंका। परंतु महिम्नस्तोत्र पढ़नेसे ज्ञान पड़ता है कि पुष्पदन्तमें संकीर्ण साम्प्रदायिकता नहीं थी। अतएव सम्भव है कि एक ही पुष्पदन्तको सबने अपनाया हो।

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
　प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां　वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
　नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥
　　　　　　　　　　(महिम्नःस्तोत्र

'प्रभो! यह मार्ग श्रेष्ठ है, यह कल्याणकारी है—
प्रकार वैदिक, सांख्य, योग, शैव, वैष्णव आदि विभिन्न
मतोंका अवलम्बन करके अपनी-अपनी रुचिके अनुसार
सरल और कुटिल—नाना प्रकारके मार्गोंद्वारा मनुष्य
तुम्हारी ही ओर आता है। जिस प्रकार नदियाँ नाना प्रकार
सीधे-टेढ़े मार्गोंसे बहती हुई एक समुद्रकी ओर जाती हैं।

इस स्तोत्रमें पुष्पदन्तने संसारके सभी सम्प्रदायोंकी एक
का निरूपण किया है। वस्तुतः एक ही भगवान् परमेश्वर
ऐश्वर्य-भेदसे विश्वमें अनेक उपास्य रूप धारण कर
जीवोंका कल्याण करता है। इस प्रकार अनन्त रूप, अनन्त
गुण, अनन्त शक्तिसे युक्त परमेश्वरकी महिमाका गान कर
पार पाना किसके बूतेकी बात है। तथापि यह उपासक अपनी

अपनी सामर्थ्यके अनुसार उसकी स्तुति करते हैं और उस स्तुतिके द्वारा अपनी वाणीको पवित्र करते हैं।

सबसे पहले पुष्पदन्त कहते हैं कि 'हे प्रभो! यह विश्वका सृजन, पालन और संहार तुम्हारी ही विभूतियाँ हैं। जो लोग इस विषयमें शङ्का करते हैं, नाना प्रकारके कुतर्क उठाते हैं—कैसे, ईश्वर क्यों सृष्टि आदि करता है, कैसे करता है, क्या उसका आधार है, कौन-से उपादान हैं, इत्यादि—वे लोग निश्चय ही मन्दमति हैं, हतबुद्धि हैं, जडमति हैं। ऐसी शङ्काएँ करके वे लोगोंको व्यामोहमें डालते हैं। तुम्हारी महिमा न जाननेके कारण ही वे ऐसी भूल करते हैं।

हे प्रभो! तुम स्वात्माराम हो, अपने ही आत्मामें—सच्चिदानन्दघन स्वरूपमें रमण करते हो। यह सारा विश्व तुम हो, तुम्हारी लीला है। इसलिये जगत्‌को जो सत् एवं शुभ कहते हैं तथा दूसरे जो उसे अशुभ, असत् कहते हैं, उन दोनोंकी धाष्ट्र्य है, मुखरता है। यह सब तुम्हीं तो हो। यह जो कुछ है, तुम्हारा ही ऐश्वर्य है। तुम्हारे इस अनन्त ऐश्वर्यको देखकर मैं विस्मित हो रहा हूँ। मुझे स्तवन करनेमें लज्जा आ रही है।'

इसके पश्चात् पुष्पदन्त परमेश्वरकी महिमाको मन और वाणीके अगोचर बतलाकर उनके अर्वाचीन पद अर्थात् भक्तोंके अनुग्रहके लिये धारित वृषभ, पिनाक, पार्वती आदिसे युक्त सगुण लीलारूपका स्तवन करना प्रारम्भ करते हैं। पहले वे उनके तेजःपुञ्ज रूपकी महिमाका गान करते हैं—

तवैश्वर्यं यत्नाद् यदुपरि विरिञ्चो हरिरधः
परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः।
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश यत्
स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति ॥ १० ॥

हे गिरिश! तुम्हारे तेजःपुञ्ज मूर्तिके ऐश्वर्यकी इयत्ताको जाननेके लिये ऊपरकी ओर ब्रह्मा और नीचेकी ओर श्रीहरि चले, परंतु उसकी थाह पानेमें समर्थ नहीं हुए। तब (असमर्थ) होकर दोनों ही अत्यन्त भक्ति तथा श्रद्धापूर्वक तुम्हारी स्तुति करने लगे। तब हे प्रभो! तुम साक्षात् उनके सामने उपस्थित हो गये। अतः, तुम्हारी अनुवृत्ति क्या कभी निष्फल जाती है! अपना अनुवर्तन करनेवालोंको तुम मनःकामफल प्रदान करते हो।

हे त्रिपुरारि! तुम्हारी भक्तिका अद्भुत प्रभाव है। रावणने अपने सिरको कमलकी तरह तुम्हारे चरणोंपर चढ़ा दिया तो तुम हर्षित हो उठे। तुम्हारी कृपासे वह अनायास ही त्रिभुवनविजयी हो गया। त्रिलोकीमें उसका कोई शत्रु नहीं रहा।

अयत्नादापाद्य त्रिभुवनमवैरव्यतिकरं
दशास्यो यद् बाहूनभृत रणकण्डूपरवशान्।
शिरःपद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबलेः
स्थिरायास्त्वद्भक्तेस्त्रिपुरहर विस्फूर्जितमिदम् ॥ ११ ॥

तथा—

यदृद्धिं सुत्राम्णो वरद परमोच्चैरपि सती-
मधश्चक्रे बाणः परिजनविधेयत्रिभुवनः।
न तच्चित्रं तस्मिन् वरिवसितरि त्वच्चरणयो-
र्न कस्याप्युन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनतिः ॥ १२ ॥

'बाणासुरने जो त्रिभुवनको अपने अधीन करके इन्द्रके परम ऐश्वर्यको भी तिरस्कृत कर दिया था, वह, हे वरद! तुम्हारे चरणोंकी पूजा करनेवालेके लिये कोई आश्चर्यकी बात न थी। तुम्हारे सामने सिर नत करनेवाला कौन उन्नतिको प्राप्त नहीं होता!'

इस प्रकार शिवभक्तिकी महिमा वर्णन करते हुए पुष्पदन्त शिवकी करुणाका उल्लेख करते हैं। जब सिन्धु-मन्थनके उपरान्त कालकूट नामक महाविष निकला, तब उसकी ज्वालासे अखिल ब्रह्माण्ड संतप्त हो उठा। उसके बढ़ते हुए तापको देखकर देवता और असुर दोनों भयभीत हो उठे। ऐसा जान पड़ता था मानो अकालमें ब्रह्माण्डका नाश हो जायगा। भगवान् शिवने उनके भयसे करुणार्द्रचित्त होकर उस कालकूटको उठाकर पान कर लिया। वह विष पीनेसे शिवका कण्ठ नीला हो गया, वे नीलकण्ठ कहलाने लगे। परंतु भुवनोंके भयको दूर करनेवाले शिवके कण्ठकी वह कालिमा भी शोभा देने लगी और वह स्तुतिकी वस्तु हो गयी—

अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचकितदेवासुरकृपा-
विधेयस्यासीद्यस्त्रिनयन विषं संहृतवतः।
स कल्माषः कण्ठे तव न कुरुते न श्रियमहो
विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभङ्गव्यसनिनः ॥ १३ ॥

जो जितेन्द्रिय हैं, संयममें रत हैं, उनका तिरस्कार करना अहितकर होता है। कामदेवके बाण जो विश्वविजयी हैं, देवता, असुर और मनुष्य—कोई भी जिनके लक्ष्यसे बचकर नहीं जा सकता, ऐसा शक्तिशाली कामदेव भी तुम्हारी ओर लक्ष्य करके तत्काल भस्म हो गया। अपने इस कार्यके द्वारा हे प्रभु! जगत्‌को तुमने संयमीका तिरस्कार न करनेकी शिक्षा दी—

भक्तोंके परमाराध्य श्रीभवानी-शंकर

नमो नेदिष्ठाय प्रियदव दविष्ठाय च नमो
नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर महिष्ठाय च नमः ।
नमो वर्षिष्ठाय त्रिनयन यविष्ठाय च नमो
नमः सर्वस्मै ते तदिदमिति सर्वाय च नमः ॥

'हे प्रियदव (अरण्यप्रिय !) अत्यन्त निकटवर्ती तुमको नमस्कार ! और अत्यन्त दूरवर्ती तुमको नमस्कार ! अत्यन्त अणुरूप तुमको नमस्कार ! अत्यन्त बृहद्रूप तुमको नमस्कार ! अत्यन्त ज्येष्ठरूप तुमको नमस्कार ! अत्यन्त कनिष्ठरूप तुमको नमस्कार ! यह सारा विश्व तुम्हारा ही रूप है, उस सर्वस्वरूप तुमको नमस्कार ! तथा इस सबका संहार करनेवाले तुमको नमस्कार !'

बहलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नमः
प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमो नमः ।
जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमो नमः
प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः ॥

'विश्वकी उत्पत्तिके लिये रजोगुणप्रधानरूप भवको पुनः-पुनः नमस्कार ! विश्वके संहारके लिये प्रबल तमोरूप हरको बार-बार नमस्कार ! संसारको सुख प्रदान करनेके लिये सत्त्वाधिक्यरूप मृडको बारंबार नमस्कार ! त्रिगुणातीत महान् ज्योतिःस्वरूप शिवको नमस्कार और फिर नमस्कार !'

इस प्रकार स्तुति करनेके बाद पुष्पदन्त अपने उपास्य-देवको अन्तिम पुष्पोपहार देते हुए कहते हैं—

कृशपरिणति चेतः क्लेशवश्यं क्व चेदं
क्व च तव गुणसीमोल्लङ्घिनी शश्वदृद्धिः ।
इति चकितममन्दीकृत्य मां भक्तिराधाद्
वरद चरणयोस्ते वाक्यपुष्पोपहारम् ॥

'कहाँ तो यह अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—इन पाँचों क्लेशोंके वशीभूत, स्वल्पविषया मेरी बुद्धि, और कहाँ तुम्हारी त्रिगुणोंकी सीमाको भी अतिक्रमण करनेवाली शाश्वती समृद्धि ! तथापि हे वरदायक प्रभो ! इस प्रकार डरकर निरुत्साह हुए मुझमें आपकी भक्तिने ही उत्साहका संचार करके यह वाक्यरूपी पुष्पोंका उपहार तुम्हारे चरणोंमें भेंट कराया है !'

तुम्हारा वर्णन तो मैं क्या कर सकता हूँ प्रभो !

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥

'यदि काले पहाड़के समान काजलकी राशि हो और सिन्धु उसको घोलनेका पात्र बने, कल्पवृक्षकी शाखाएँ लेखनी बनें, पृथिवी कागज बने और उस लेखनीको हाथमें लेकर उस कागजपर स्वयं सरस्वती देवी सदा निरन्तर लिखती जायँ, तो भी, हे परमेश्वर ! तुम्हारे गुणोंका पार नहीं पा सकतीं !'

स्तोत्रको समाप्त करते हुए श्रीपुष्पदन्त कहते हैं—

इत्येषा वाङ्मयी पूजा श्रीमच्छङ्करपादयोः ।
अर्पिता तेन देवेशः प्रीयतां मे सदाशिवः ।
प्रीयतां मे सदाशिवः ॥

'यह महिम्नस्तोत्ररूपी वाङ्मयी पूजा मैंने भगवान् शङ्करके चरण-कमलोंमें अर्पित की है । इससे वे देवाधिपति सदाशिव मुझपर प्रसन्न हों, प्रसन्न हों !'

तव तत्त्वं न जानामि कीदृशोऽसि महेश्वर ।
यादृशोऽसि महादेव तादृशाय नमो नमः ॥

'हे महेश्वर ! तुम कैसे हो, तुम्हारा क्या स्वरूप है, यह मैं नहीं जानता । हे महादेव ! तुम जैसे भी हो, वैसेको ही मेरा बार-बार नमस्कार !'

इस स्तोत्रमें शिवके सगुण-निर्गुण दोनों रूपोंकी महिमाका गुण-गान, भक्तोंके ऊपर उनकी अमोघ करुणा और कृपा-दृष्टि, सर्वभूत-सर्वदेवमयता, नाना प्रकारसे नमस्कृति, महिमाकी निस्सीमता, उनके गुणोंके वर्णनमें शारदाकी भी असमर्थता और अन्तमें अपनी प्रणति-पुष्पाञ्जलिका वर्णन किया गया है । शिव-तत्त्व, शिवभक्ति, भक्तिका फल, नमस्कृति आदि तत्त्वोंके सुन्दर समावेशके कारण तथा इस स्तुतिके द्वारा पुष्पदन्तपर शिवकी कृपा होनेके कारण यह स्तोत्र सब स्तोत्रोंमें श्रेष्ठ है—ऐसी ख्याति है । फलश्रुतिके अन्तमें कहते हैं—

श्रीपुष्पदन्तमुखपङ्कजनिर्गतेन
स्तोत्रेण किल्बिषहरेण हरप्रियेण ।
कण्ठस्थितेन पठितेन समाहितेन
सुप्रीणितो भवति भूतपतिर्महेशः ॥

'श्रीपुष्पदन्तके, जो शिवजीके प्रसिद्ध अनुचर थे, मुख-कमलसे यह स्तोत्र निकला है । यह पापोंका नाश करनेवाला है, शिवजीको प्रिय है । जो कोई इसको कण्ठाग्र करके समाहित चित्तसे पाठ करता है, भूतपति श्रीशङ्करजी उसपर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं !'

मृत्युलोकका कल्पवृक्ष—गायत्री-उपासना

(लेखक—श्रीसत्यनारायण दवे)

या संध्या सैव गायत्री द्विधाभूता व्यवस्थिता ।
संध्या चोपासिता येन विष्णुस्तेन उपासितः ।
नित्यकर्मसु सर्वेषु संध्योपास्तिर्विधानतः ॥

(शिवपुराण)

'जो संध्या है, वही गायत्री है । एक ही तत्त्व दो रूपोंमें स्थित है । जिसने सन्ध्योपासन किया है, उसने भगवान् विष्णुकी उपासना कर ली । इसीलिये, हे पार्वती! सभी नित्यकर्मोंमें संध्योपासन मुख्य है ।'

'गायत्रीमद्वैतम्'—(शतपथ ब्राह्मण)

'गायत्री और ब्रह्ममें अभेद है ।'

गायत्र्येव परो विष्णुः गायत्र्येव परः शिवः ।
गायत्र्येव परं ब्रह्म गायत्र्येव त्रयी यतः ॥

'गायत्री ही परमात्मा विष्णु है, गायत्री ही परमात्मा शिव है और गायत्री ही परब्रह्म है; क्योंकि तीनों वेद गायत्रीसे ही निकले हैं ।'

प्राचीन कालमें गुरुकुल पद्धति थी । उस समय और उसके पश्चात् दीर्घ कालतक द्विजवर्णके बालकोंको बुनियादी शिक्षणके रूपमें सबसे पहले शौचाचार, हवन एवं संध्योपासनका ज्ञान दिया जाता था—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च ॥

और वे प्रतिदिन त्रिकाल-संध्योपासन एवं हवन बिना चूके जीवनपर्यन्त करते थे, कभी छोड़ते न थे—

मौञ्जीबन्धनमारभ्य सायं प्रातश्च सन्ध्ययोः ।
मध्याह्नेऽपि च कर्तव्यं यावत् प्राणविमोचनम् ॥
संध्यामिष्टिं च होमं च यावज्जीवं समाचरेत् ।
न त्यजेत् सूतके वापि त्यजन् गच्छत्यधोगतिम् ॥

क्योंकि संध्योपासनका त्याग करके दूसरा धर्मकार्य करनेवालेकी भी अधोगति होती है—

योऽन्यत्र कुरुते यत्नं धर्मकार्ये द्विजोत्तमः ।
विहाय संध्याप्रणतिं स याति नरकायुतम् ॥

संध्योपासनाका प्रथम कार्य है पापका परिमार्जन करना—

गायत्रीजप्यकृद् भक्त्या सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
गायत्रीजपशुद्धो हि शुद्धब्राह्मण उच्यते ॥

यावन्तोऽस्यां पृथिव्यां हि विकर्मस्था द्विजातयः ।
तेषां वै पावनार्थाय संध्या सृष्टा स्वयम्भुवा ॥

गायत्री-उपासनाका दूसरा कार्य पूर्ण ब्राह्मणत्वकी सिद्धि है ।

कामक्रोधयुतस्तु पूर्णब्राह्मण इति ।
स ब्राह्मणो वेदपाठाच्च ब्राह्मणाचारी ।
तैस्त्रिकालकर्माभ्यासाद् ब्राह्मणः स्याद् द्विजोत्तमः ॥

ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति केवल त्रिकाल गायत्री-उपासनासे होती है, दूसरे किसी मन्त्रसे नहीं होती । बारह लाख जप पूर्ण होनेपर पूर्ण ब्राह्मणत्वकी सिद्धि होती है ।

गायत्रीका तीसरा काम दाताका पापसे उद्धार करानेकी सिद्धि प्राप्त कराना होता है—

पतनात्त्रायत इति पात्रं शास्त्रे प्रयुज्यते ।
दातुश्च पातकात् पापात् पात्रमित्यभिधीयते ॥

'पतनसे रक्षा करनेवालेको शास्त्रमें पात्र कहते हैं । दाताकी पापोंसे रक्षा करनेवाला भी पात्र कहलाता है ।' पात्रता सम्पादन करनेके लिये चौबीस लाख गायत्रीका पुरश्चरण करना चाहिये—

चतुर्विंशतिलक्षं वा गायत्र्या जपसंयुतः ।
ब्राह्मणस्तु भवेत् पात्रं सम्पूर्णफलभोगदम् ॥

इहलोककी समस्त कामनाएँ गायत्री-जपसे ही पूर्ण होती हैं । इतना ही नहीं, बल्कि स्वर्ग मोक्षकी कामनाएँ गायत्री-उपासनासे ही पूर्ण होती हैं ।

ऐहिकामुष्मिकं सर्वं गायत्रीजपतो भवेत् ।
काले तु कल्पिता संध्या स्वर्गमोक्षप्रदायिनी ।
गायत्रीजप्यनिरतो मोक्षोपायं च विन्दति ।
संध्यामुपासते ये तु सततं शंसितव्रताः ।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम् ।
सावित्र्याश्चैव मन्त्रार्थं ज्ञात्वा चैव यथार्थतः ।
तस्याः सम्यगुपासनं मन्त्रभूतेन कर्मणा ।
योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परममेति वायुभूतः खमूर्तिमान् ।
गायत्रीं चिन्तयेद् यस्तु हृत्पद्मे समुपस्थिताम् ।
धर्माधर्मविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ।

गायत्रीमेव यो ज्ञात्वा सम्यगुच्चारयेत् पुनः ।
इहामुत्र च पूज्योऽसौ ब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ॥

'समयपर संध्या-वन्दन करनेसे यह स्वर्ग तथा मोक्ष देती है। गायत्रीके जपमें निरत व्यक्ति मोक्षका उपाय जान जाता है—मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जो श्रेष्ठ व्रतधारी व्यक्ति निरन्तर (बिना नागा) संध्याकी उपासना करते हैं, उनके सभी पाप धुल जाते हैं और वे अनामय ब्रह्मलोकको प्राप्त होते हैं। गायत्रीके यथार्थ भावको—मन्त्रार्थको जानकर, और उसमें जिस तत्त्वको कहा गया है, उसकी विधिपूर्वक उपासना करके प्राणी ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है। जो तीन वर्षोंतक प्रतिदिन सावधान रहकर गायत्रीका जप करता है, वह वायुरूप तथा आकाशस्वरूप होकर मायासहित ब्रह्ममें लीन हो जाता है। जो हृदय-कमलमें गायत्रीका ध्यान करते हुए गायत्री-मन्त्रका जप करता है, वह सभी पाप-पुण्योंसे विनिर्मुक्त होकर श्रेष्ठ गतिको प्राप्त करता है। जो गायत्रीको ठीक-ठीक जानकर उसका उपदेश करता है, वह इस लोक तथा परलोकमें भी पूजित होकर ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है।'

इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि केवल गायत्री-मन्त्रसे ही होती है। इसीलिये चारों वेदोंमें गायत्री-मन्त्रको सबसे श्रेष्ठ बतलाया गया है। तथा मृत्युलोकका कल्पवृक्ष अथवा कामधेनु केवल गायत्री-मन्त्र ही है।

तत्सवितुः समो नास्ति मन्त्रो वेदचतुष्टये ॥
सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च दानानि च तपांसि च ।
समानि कलया प्राहुर्मुनयो न तत्सवितुः ॥
सा काले सेविता नित्यं संध्या कामदुघा भवेत् ॥
बहुना किमिहोक्तेन यथावत् साधुसाधिता ।
द्विजन्मनामियं विद्या सिद्धिकामदुघा मता ॥

'चारों वेदोंमें 'तत्सवितुः' इत्यादि गायत्री-मन्त्रके समान और कोई भी मन्त्र नहीं है। सम्पूर्ण वेद, यज्ञ, दान एवं तपोंको उस गायत्री-मन्त्रके सोलहवें हिस्सेके बराबर भी नहीं कहा गया है। नियत कालपर सेवन करनेसे संध्या सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करती है। अधिक क्या कहा जाय भली-भाँति उपासना करनेपर ब्राह्मणोंको यह गायत्री-मन्त्र सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्रदान करता है।'

लोकमयी माताके वात्सल्यपूर्ण अङ्कको त्यागकर गुरु-गृहमें जाते समय एक पाँच-सात वर्षकी अवस्थाके ब्रह्मचारीके लिये माताका स्थान गायत्री कैसे ले सकती है, ऐसी मुझे एक बार शङ्का हुई। इसपर मुझे निम्नाङ्कित श्लोक मिला—

तत्र तद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम् ।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥

परंतु मात्र अपनी अनियमित, अल्प, त्रुटिपूर्ण और निम्न प्रकारकी संध्योपासनाके साथ गायत्रीकी कृपाके सैकड़ों अनुभवोंको तौलनेपर मुझे गायत्रीकी कृपाका पलड़ा ही नीचे जाता हुआ दीखता है। इससे मुझे विश्वास हो गया है कि गायत्री बाल-ब्रह्मचारीकी तो क्या, समग्र विश्वकी माता है।

दयालुः शक्तिसम्पन्ना माता बुद्धिमती यथा ।
कल्याणं कुरुते ह्येवा प्रेम्णा बालस्य चात्मनः ॥
तथैव माता लोकानां गायत्री भक्तवत्सला ।
विदधाति हितं नित्यं भक्तानां ध्रुवमात्मनः ॥

'जैसे दयालु बुद्धिमान् एवं शक्तिसम्पन्न माता प्रेमवश अपने बालकका हित करती है, उसी प्रकार भक्तवत्सला लोकमाता गायत्री निश्चयपूर्वक सदा ही अपने भक्तोंका कल्याण ही करती है।'

भक्तवत्सला गायत्री माताकी कृपाके अनुभवसे प्रभावित और आश्चर्यचकित होकर गायत्री-उपासनाके माहात्म्यका गान करते हुए प्राचीन ऋषि-महर्षि कभी अघाते नहीं, बल्कि मुक्तकण्ठसे उसका गुणगान करते हैं। गायत्री उपासनाने मुझे हार्दिक ब्रह्मवर्चसका दान किया है—

कुर्यादन्यत्र वा कुर्यादनुष्ठानादिकं तथा ।
गायत्रीमात्रनिष्ठस्तु कृतकृत्यो भवेद् द्विजः ॥
सिद्धयो वा द्विजा अपि यद्वामाङ्कृतं भवेत् ।
विप्रकर्मण्यप्रमादात् तत् सर्वं हि प्रणश्यति ॥
नित्यनैमित्तिके काम्ये तृतीये तपवर्धने ।
गायत्र्यास्तु परं नास्ति इह लोके परत्र च ॥
गायत्रीं जपते यस्तु द्वौ कालौ ब्राह्मणः सदा ।
असत्प्रतिग्रहीतापि स याति परमां गतिम् ॥
संध्यासु चार्घ्यदानं च गायत्रीजपमेव च ।
सहस्रत्रितयं कुर्वन् सुरैः पूज्यो भवेन्मुने ॥
दशसाहस्रजप्ता हि देवी पञ्चा पापकारिणी ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गायत्रीं प्रजपेच्छुचिः ॥
गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी ।
गायत्र्याः परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम् ॥

सन्ध्यालोपाच्च चकितः स्नानशीलश्च यः सदा ।
तं दोषा नोपसर्पन्ति गरुत्मन्तमिवोरगाः ॥
एतत् सन्ध्यात्रयं प्रोक्तं ब्राह्मण्यं यत्र तिष्ठति ।
यस्य नास्त्यादरस्तत्र न स ब्राह्मण उच्यते ॥
यदानन्यासु स्याल्लोके विपन्नासु यदा तु सः ।
मौनं मानसिकं चैव गायत्रीजपमाचरेत् ॥
दैन्यरुक्शोकचिन्तानां विरोधाक्रमणापदाम् ।
कार्यं गायत्र्यनुष्ठानं भयानां वारणाय च ॥
गायत्र्युपासनाकरणादात्मशक्तिर्विवर्धते ।
प्राप्यते क्रमशोऽमुष्य सामीप्यं परमात्मनः ॥
जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥
गायत्रीं यस्तु विप्रो वै जपेत नियतः सदा ।
स याति परमं स्थानं वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥
गायत्रीं तु परित्यज्य अन्यमन्त्रमुपासते ।
सिद्धान्नं च परित्यज्य भिक्षामटति दुर्मतिः ॥
उषःकाले समुत्थाय कृतशौचः समाहितः ।
स्नात्वा सन्ध्यामुपासीत सर्वालस्यसमुज्झितः ॥
एकान्ते सुस्थले स्थित्वा सन्ध्याविधिमथाचरेत् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन स्नातः प्रयतमानसः ।
गायत्रीं तु जपेद् भक्त्या सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥
अतः स्वस्थेन चित्तेन श्रद्धया निष्ठया तथा ।
कर्तव्याविरतं काले नित्यं गायत्र्युपासना ॥
अल्पीयस्या ह्यप्येव साधनायास्तु साधकः ।
भगवत्यास्तु गायत्र्याः कृपां प्राप्नोत्यसंशयम् ॥

'ब्राह्मण अन्य धर्म-क्रियाओंका अनुष्ठानादि करे या न करे, गायत्रीमात्रमें निष्ठा रखनेसे वह कृतार्थ हो जाता है। दिनमें या रातमें अज्ञानवश जो कुछ भी (अनुचित) कर्म हो गये हों, त्रिकाल-संध्याके आचरणसे वे सब नष्ट हो जाते हैं। नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य—इन तीनों प्रकारके कर्मोंमें गायत्रीसे बढ़कर सर्वोत्कृष्ट साधन इस लोक तथा परलोकमें भी कोई नहीं है। जो ब्राह्मण दोनों समय गायत्रीका जप करता है, वह अनन्त प्रतिग्रही (बुरे दान लेनेवाला) होनेपर भी परमगतिको प्राप्त होता है। तीनों संध्याओंमें अर्घ्यदान तथा तीन सहस्र (एक मासमें एक सहस्र) गायत्रीका जप करनेवाला देवताओंसे भी पूज्य जाता है। गायत्रीदेवी नरक-समुद्रमें गिरते हुए लोगोंको हाथ पकड़कर उबारनेवाली हैं, इसीसे ब्राह्मणको पवित्र तथा नियमपूर्वक रहकर गायत्रीका जप करना चाहिये। गायत्री वेदोंकी माता हैं, पापोंका नाश करनेवाली हैं। इस लोकमें तथा परलोकमें भी इनसे बढ़कर पवित्र कुछ नहीं है। जो नित्य स्नान करता तथा संध्याका लोप करनेसे डरता है, उसके पास कोई भी दोष उसी तरह नहीं फटकते जैसे गरुड़के पास सर्प। वस्तुतः ये संध्याएँ ही वह वस्तु हैं, जिनके आधारपर ब्राह्मणत्व स्थिर रहता है; जिसकी उनमें आस्था—श्रद्धा नहीं, उसे ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। जब संसारमें मनुष्य विषम आपत्तिमें हो, तब उसे मौन संध्या एवं गायत्रीका मानसिक जप कर लेना चाहिये। (सभी प्रकारके) भयोंकी निवृत्तिके लिये रोग, शोक, चिन्ता एवं दैन्यको भगा देनेवाली गायत्रीका अनुष्ठान—जप करना चाहिये।

'गायत्रीकी उपासना करनेसे आत्म-शक्ति बढ़ती है और क्रमशः आत्मा परमात्माकी समीपता प्राप्त होती है। ब्राह्मण गायत्रीके जपमात्रसे सिद्ध (कृतकृत्य) हो जाता है, वह और कुछ करे या न करे; क्योंकि ब्राह्मणको मित्रदैवत (सर्वोपकारक) कहा जाता है। जो ब्राह्मण नियमित रूपसे सदा गायत्रीका जप करता है, वह (मृत्युके अनन्तर) वायुरूप तथा आकाशरूप होकर परम गतिको प्राप्त होता है। जो गायत्रीको छोड़कर किसी दूसरे मन्त्रकी उपासना करता है, वह मूर्ख मानो सिद्ध भोजनका परित्याग करके भीख माँगता फिरता है। प्रतिदिन प्रातःकालमें उठकर शौचादिसे निवृत्त हो स्नान करके समाहित चित्तसे निरालस्य होकर सदा संध्योपासन करना चाहिये। एकान्त पवित्र स्थलमें स्थिर होकर संध्या-विधिका अनुष्ठान करना चाहिये। इसलिये स्नान करके पवित्र मनसे भक्तिपूर्वक सर्वपापनाशिनी गायत्रीका प्रयत्नपूर्वक जप करना चाहिये। अतः स्वस्थचित्तसे श्रद्धा एवं निष्ठापूर्वक यथासमय नित्य बिना छोड़े गायत्रीकी उपासना करनी चाहिये। साधक भगवती गायत्रीकी थोड़ी-सी भी साधना—उपासनासे उनकी कृपा प्राप्त कर लेता है, इसमें संदेह नहीं।'

गायत्री-उपासनाका थोड़ा भी प्रचार करनेवाला अक्षय पुण्यका भागी होता है—

प्रसारं ब्रह्मज्ञानस्य येऽल्पेभ्योऽपि कियत्यपि ।
प्रसारयन्ति ते नूनं भाजनाः पुण्यसम्पदः ॥

श्रीनीलकण्ठ दीक्षित और उनका 'आनन्दसागरस्तव'

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीनारायण शास्त्री खिस्ते)

श्रीनीलकण्ठ दीक्षित जगत्प्रसिद्ध विद्वान् महान् शैव श्रीअप्पय्य दीक्षितके सगे भाई अच्चा (आचार्य) दीक्षितके पौत्र थे । इनके माता-पिता बाल्यकालमें ही दिवंगत हो गये, अतः इनके पूर्ण पालन-पोषणका भार इनके पितामह अप्पय्य दीक्षितपर ही पड़ा । अप्पय्य दीक्षितका इनपर अत्यधिक स्नेह था । उनकी ही गोदमें बैठकर इनका सब श्रौत-स्मार्तादि शास्त्रोंका अध्ययन हुआ । ये महान् पण्डित, महान् कवि और जगदम्बा मीनाक्षी देवीके महान् भक्त थे । अप्पय्य दीक्षित इनके दीक्षागुरु भी थे । इन्होंने अपने 'आनन्दसागरस्तव' के द्वारा जगदम्बा मीनाक्षीको किस प्रकार रिझाया है, वह अत्यन्त दर्शनीय तथा मननीय है । नीचेकी पंक्तियोंमें उन्हीं सूक्तियोंका कुछ चमत्कार दिखाया गया है ।

'आनन्दसागरस्तव'के आरम्भमें श्रीनीलकण्ठ दीक्षितने जगदम्बासे कहा है—

आक्रन्दितं रुदितमाहतमानने वा
कस्यार्द्रमस्तु हृदयं किमतः फलं वा ।
यस्या मनो द्रवति या जगतां स्वतन्त्रा
तस्यास्त्वमम्ब पुरतः कथयामि खेदम् ॥

'माँ ! मैं चाहे रोऊँ, चिल्लाऊँ, अपने हाथसे अपने मुँहपर थप्पड़ मारूँ, इससे किसका हृदय पसीजेगा ? और इससे फल भी क्या होगा ? जिसका मन सचमुच द्रवित हो जाता है और जो इस जगत्-व्यापारके लिये स्वतन्त्र है, ऐसी तो तुम्हीं हो । अतः तुम्हारे सामने हृदयकी वेदना (खेद) को प्रकट करता हूँ ।'

आगे कहते हैं—

'जब मेरा मन व्याकुल रहे, वाणी लड़खड़ाने लगे, मेरी आँखें जब पथरा जायँ, हे माँ ! उस समय मेरी उस अवस्थाको तुमसे कौन निवेदन करेगा ? जब समय आ जाय, तब मुझपर दया करना—ऐसी आज ही मैं तुमसे प्रार्थना कर रखता हूँ ।'

पुनः कहते हैं—

'जिस प्रकार ग्रामीणजन शहरमें आनेपर शहरके कृत्रिम व्यवहारसे प्रभावित हो जाते हैं और वे साधारण जनोंको महान् और मामूली मकानको भी कोठी कहकर पूछते हैं, उसी प्रकार अधिकांश जन नानाविध देवी-देवताओंकी उपासना करते हैं, किंतु हे माँ ! मेरा मन तो केवल तुम्हारे श्रीचरणोंमें इस प्रकार रमा हुआ है कि कोई कितना भी उसे खींचे, वह तनिक भी तुम्हारे चरणोंसे विचलित नहीं होता ।'

नीलकण्ठजी आगे कहते हैं—

'माँ ! तुम मुझे अङ्गीकार करो या न करो, अपनाओ या त्याग करो, मैं तो तुम्हारा दास हूँ और 'मैं जगदम्बाका दास' इस वचनसे ही तीनों लोकोंको जीत लूँगा । इतना ही नहीं, अन्तिम समय जब यमराजके दूत दण्ड लेकर सामने आयें, उस समय हे विश्वमाता ! हम जगदम्बाके दास हैं—केवल इतने कथन, स्मरण और आभाससे—मैं उन यमदूतोंका कपालभञ्जन कर सकूँगा, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है ।'

आगे देखिये—

'वेदान्त-वाक्यसे उत्पन्न निर्मल अपरोक्ष विचारके द्वारा मनुष्य मुक्ति पाते हैं, इन श्रुति सिद्धान्तोंके द्वारा वे पर्वतकन्ये माता ! कितने लोग तर सकते हैं ?'

'एक-एक वेदकी कितनी कितनी शाखाएँ हैं, उन वेदोंके नाना उपनिषद् हैं । उन सबका अर्थ ज्ञान-रहित केवल अक्षर-ज्ञान कितने मनुष्योंको कितने गुरुओंसे कितने जन्मोंमें हो सकता है ?'

फिर कहते हैं—

'सहस्रों जन्मोंके अनन्तर अर्थ-ज्ञानरहित अक्षरज्ञान शायद हो जाय, परंतु उसके बाद भिन्न-भिन्न वादियोंद्वारा कल्पित विकल्प-तरङ्गोंसे भरे हुए प्रतिकूल पूर्वपक्षरूप समुद्रोंको कैसे पार किया जायगा ?'

आगे देखें—

'पहले भान हुआ कि मद्य है, परंतु वह किसी कार्यमें समर्थ नहीं है । फिर ज्ञान हुआ कि नहीं, शक्ति है, अर्थात् समर्थ है । फिर ज्ञान हुआ कि वह बन्ध विमोचिनी है—बन्धनसे मुक्त करनेवाली है, फिर अनुभव हुआ कि वह मायामयी है । उसके बाद अनुभव हुआ कि सारे जगत्को

वशमें करनेवाले मदनके अन्तक—शिवकी यह वल्लभा है, अर्थात् मदनान्तक शिव भी उसके पीछे पागल हैं। इस प्रकार सात-आठ शब्दोंके हेर-फेरमें ही मेरे जीवन-भरके किये हुए सारे शास्त्र-परिश्रमका सार—निचोड़ आ जाता है।'

आगे वे लिखते हैं—

'हे पर्वतराजकन्ये! जो धीरे-धीरे इस प्रकार अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर लेता है, उसपर तुम रीझ जाती हो और जिसपर तुम प्रसन्न होती हो, वही इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। इस प्रकार यह अन्योन्याश्रय है।

'इस प्रकार इस महान् कालकी कोई अवधि नहीं है। कदाचित् किसी अन्तिम जन्ममें कोई मनुष्य गति प्राप्त करे। आगमोंका मुक्तिप्राप्तिमें यह समर्थन पर्यायतः दूसरे शब्दोंमें यही सूचित करता है कि शायद ही किसीको किसी जन्ममें मुक्ति मिले।

'कर्म करनेसे फल-भोग करना ही पड़ता है और न करनेसे अधःपतन होता है, ऐसी वेदवाणी है। फिर आखिर मुक्ति कैसे मिले, यह संशय बना ही रहता है।

'हमारे प्रारब्ध कर्मने कितने पर्वोंका आरम्भ किया, आगे और कितने कर्मोंका आरम्भ होगा—इसको कौन जानता है। कितने समयतक मुझे प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, जिसका एक क्षणार्ध भी मेरे लिये कल्पशतके समान हो रहा है!

'मनुष्य एक क्षण भी अपने बलसे संचरण करनेमें असमर्थ है। सांख्य, योग आदि शास्त्रोंकी पद्धतियाँ उसके कानमें प्रवेश ही नहीं करतीं। किसी अत्यन्त क्षुधापीड़ित मनुष्यसे यदि कहा जाय कि बालूके कणोंको पहले अलग करके गिनो और तब उनको खाओ, तो उसकी जो गति होगी, ठीक वही गति मेरी हो रही है।

'माँ! इस संसारको ही परम उपभोग्य माननेवाले ऐसे कितने ही लोग हैं, जो मेरे विचारसे धन्य हैं। मैंने जो शास्त्र पढ़े, उनसे ज्ञानका आभासमात्र प्राप्त हुआ। उससे न मुक्ति मिली न पूर्ण अज्ञानसे होनेवाला संसार-सुख मिला। इस खानाखराबीकी दशामें मैं संशयके पाश बहुत खेद पा रहा हूँ।

'माँ! काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि षड्रिपुओंसे मेरा अन्तर भरा हुआ है। वृद्धावस्थाके कारण शरीर दुर्दैव, बालोंकी ऐंठी और ढेरों रोगोंसे व्याप्त है। मेरे चारों ओर कुटुम्बकी स्त्रियाँ, बच्चे मेरे खेलनके लिये बैठे हुए हैं। माँ! मेरे मनको प्रसन्नता कैसे हो!

'हे भुवनस्वामिनी माँ! मेरे लिये इस जन्म पर कैसा होगा, इसका यह कारण है, यह इस प्रकारसे जन्म होता है, इसमें यह प्रमाण है—इत्यादि बातें जाननेकी भी मुझमें शक्ति नहीं रह गयी। ऐसी दशामें मैं क्या करूँ! तुम्हीं बताओ।

'माँ! मेरा हित किसमें है, मैं यह नहीं जानता। मुझे कोई उपाय भी नहीं सूझ रहा है। मैं दीन हूँ। शरीर अशक्त होनेसे तुम्हारी पूजा-अर्चादि भी करनेमें असमर्थ हूँ। इस अनन्य-शरण होकर तुम्हारी शरणमें आया हूँ। हे मीनाक्षी! तुम विश्वकी जननी हो और मेरी तो खास माँ हो।

'माँ! कुछ तो मैंने श्रुतियोंमें, कुछ आगमोंमें, कुछ शास्त्रोंमें, कुछ गुरुओंके उपदेशोंमें सुना है। बस, उससे मुझे यह ज्ञान हुआ कि तुम गोप्त्री (रक्षिका) हो—इसी रूपसे मैं तुमको स्वीकार करूँ, यह बुद्धि उत्पन्न हुई।

'माँ! तुम्हारी प्रेरणासे ही मैं आँखें खोलता, बंद करता और श्वास भी लेता हूँ। ऐसी अवस्थामें मुझसे कोई प्रामादिक कर्म यदि हो जाय तो उसमें मेरा क्या दोष है! जिस प्रकार माँ बच्चेको खाना खिलाते समय यदि बच्चेकी पाचन शक्तिका ध्यान न रखकर उसे खिलाती ही चली जाय और इतना खिला दे कि उसका पेट फूलने लगे, उस समय क्या लोग बच्चेको 'भुक्खड़' कहेंगे!

'अपनी बुद्धिके बलसे ही जो मुक्ति प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं, उनके लिये उनका प्रारब्ध कर्म भले ही प्रतिबन्धक हो सकता है। परंतु माँ! तुम्हींको साधन बनाकर तुम्हारे द्वारा जो तुम्हींको प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिये भी यदि प्रारब्ध-कर्म प्रतिबन्धक हो तो फिर तुम किस लिये हो! तुम्हारा बीरवाद कहाँ रहा!

'माँ! यदि मुझपर तुम्हारी करुणा है और मुझे तुम बचाना चाहती हो तो बचा लो। यह कहना कि तुम्हारे पाप-पुण्यका मुझे लेखा देखना पड़ेगा, यह तुम्हारी लजानेवाली है। जो जगत्की सृष्टि, स्थिति और संहार करनेमें स्वतन्त्र है, जिसके ऊपर कोई मालिक नहीं, यह यदि भक्तके कर्मोंका अनुसरण करनेकी बात करे तो यह मिथ्या ढोंग नहीं तो और क्या है!'

उपासनामें साम्यांगयोग अभेद माना गया है, जिसमें

उपासक पूजाके अन्तमें हाथमें जल लेकर 'मां मदीयं च सकलं श्रीजगदम्बाचरणयोः समर्पये ॐ तत्सत् ।' यह कहते हुए आत्मार्पण करते हैं । श्रीनीलकण्ठ दीक्षित कहते हैं—

'माँ ! मेरे गुरु अप्पय्य दीक्षितने तुम्हारे चरणोंपर अपने समस्त कुलसहित मेरा अर्पण कर दिया है । उसी अर्पण-जलमें बहते हुए मैं तुम्हारे चरणोंपर आकर गिर पड़ा । अब माँ ! मैं तुम्हारा कुलदास हूँ । मेरी उपेक्षा करनेकी तुम्हारी क्या बिसात है ! और मेरी तुम कुलदेवता हो, मैं तुम्हारी उपासना किये बिना रह नहीं सकता ।

'माँ ! मैं तो 'सरकारी ढोर' के समान हूँ । यदि मैं कभी भूलकर भी किसी दूसरे देवताके मन्दिरमें चला जाऊँ और उसकी उपासना करने लगूँ तो क्या मुझपर उस देवताका अधिकार हो जायगा ! जिस प्रकार किसी खेतमें यदि कोई पशु चरने चला जाय तो उस खेतका मालिक उस पशुको अपना नहीं बना सकता, उसी प्रकार मैं तो तुम्हारा ही दास अपनेको सदा मानूँगा; क्योंकि मुझपर सरकारी छाप पड़ी है ।'

संसारके प्राणियोंको लक्ष्यकर श्रीनीलकण्ठ दीक्षित कहते हैं—

'अरे मूर्खो ! तुमलोग अपने सिरपर इतना बोझा लादे क्यों परेशान हो रहे हो ! क्यों न सारा बोझ जगदम्बाके चरणोंमें अर्पणकर भार-मुक्त हो जाते ! उसके बाद यह संसार तुम्हें सागरके बजाय गड्ढेकी तरह प्रतीत होगा और तब तुम सुगमतापूर्वक पार कर लोगे ।

'मेरा शरीर कहाँ गिरेगा, उसके बाद मुझे कहाँ जाना होगा और कौन मेरे पाप-पुण्यका लेखा लेकर मुझे कितने समयतक दण्ड देगा और उससे बचनेका साधन क्या है !—इत्यादि अनन्त चिन्ताएँ मेरे मनमें थीं । उन सबको अपने सिरसे उतारकर मैंने तुम्हारे चरणोंपर रख दिया है ।

'सांख्यमतके अनुसार जड और चेतनका विवेक, पृथ्वीसे लेकर शिवपर्यन्त छत्तीस तत्त्वोंका परिशोधन—यह सब मेरी दृष्टिमें माताके चरण-युगलमें अपनी आत्माको समर्पण कर देना ही है और यही कोटि-कोटि आगमोंसे प्राप्त होनेवाला वेदान्तका ज्ञान है ।

'हे हयास्यनामपदपीठे ! उक्त प्रकारके छत्तीस आवरणोंके बीचमें रहनेवाली तुम्हारी पादुकाओंपर मैंने अपनी आत्मा चढ़ा दी है । अब पृथ्वी, स्वर्ग, पाताल—इन लोकोंमें रहनेवाला कौन ऐसा समर्थ है, जो मेरी ओर आँख उठाकर भी देख सके !

'माँ ! तुम मुझे बन्धन-मुक्त करोगी, मुक्त होगी—यह तो निश्चित ही है; किंतु अब मैं अपना सारा भार तुम्हारे ऊपर रखकर जो अनन्त शान्तिका अनुभव कर रहा हूँ, इससे बढ़कर मुक्तिमें भी क्या रखा है !

'माँ ! चाहे तुम काशीमें मेरा शरीर गिराओ या डोमके घरमें, चाहे स्वर्गमें ले जाओ अथवा मुक्ति दो या अधोगति दो, आज ही दया करो या कालान्तरमें, मुझे कोई घबराहट नहीं है । अपनी वस्तुपर मालिकका अधिकार रहता है । मुझे कोई घबराहट नहीं है ।

'मैं केवल यही चाहता हूँ कि तुम्हारी कथा सुननेमें कोई विघ्न न हो । 'मोक्ष दो' मेरा यह वचन यदि विरुद्ध न हो तो मोक्ष दो; परंतु मेरे विचारमें मोक्ष भी एक तरहका उपसर्ग (विघ्न) ही है । तुम्हारी सेवा सदा होती रहे और उसी आनन्दमें मैं डूबता-उतराता रहूँ, यही मैं चाहता हूँ ।'

अब नीलकण्ठ दीक्षित, अपनी स्तुतिका नाम उन्होंने 'आनन्दसागरस्तव' क्यों रखा, इस बारेमें कहते हैं—'अम्ब ! मुझे तुम्हारे सिरसे लेकर चरणतक समस्त गुणोंके लिये मङ्गलकारक अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको मन-ही-मन स्मरण करते हुए तथा आनन्द-सागरकी तरङ्गोंकी परम्परामें डूबते हुए कितने दिन बीत गये—यह मैं नहीं जानता । इसी कारण स्तोत्रका नाम 'आनन्द-सागर' पड़ा ।

'माँ ! ये श्रुतिके सिर अर्थात् उपनिषद् पत्थरसे भी कठोर हैं । सम्भवतः इन्हींमें सञ्चार करनेसे तुम्हारे ये चरण रक्तवर्ण हो गये हैं । अमृत-समुद्रके मन्थनसे लब्ध नवनीतके समान सुकुमार तुम्हारे इन चरणोंको क्या मैं स्मरण कर सकूँगा !

'माँ ! इस त्रिलोकीमें जो गुरु हैं, उनके भी गुरु तुम्हारे 'चरण' मस्तकपर धारणकर हमलोग इस संसार-समुद्रको सहज पार कर जायँगे । (यहाँ 'गुरु' के दो अर्थ हैं—१. भारी या बोझल और २. पूज्य, आदरणीय ।)

'माँ ! तुम्हारे चरणोंकी अलौकिक मृदुलताका विचार न कर मैंने उन्हें कसकर पकड़ लिया है; क्योंकि मैं भवार्णवमें निमज्जनके भयसे त्रस्त हूँ । हे मधुरेश्वरी ! मेरा यह चापल्य क्षमा करो ।

'प्रणयकालमें कुछ अपराध हो जानेपर भगवान् पशुपति भी जिनका बहुत धीरे और अपने मस्तककी चन्द्रकलाकी कोरसे ही स्पर्श करते हैं, तथा पुष्पोंद्वारा अर्चन करनेसे भी जो कुम्हला जाते हैं, ओ माँ ! मेरी ये कठोर उक्तियाँ तुम्हारे उन चरणोंको कष्ट तो नहीं देंगी !

'माँ ! श्यामसुन्दर, मनोहर, अप्रमेय, अमाकृत और परम मङ्गल अपना चरण-कमल दयार्द्र होकर जब तुम मुझे दिखाओगी, तब मैं किस नेत्रसे उसको देख सकूँगा ?

'मेरे अन्त-समयमें शस्त्रोंसे लैस यमदूत जब मुझे घेर लेंगे, माँ ! तब तुम क्या अपने इस बालकके पास स्वयं आओगी ? उस समय तुम्हारे चरणोंमें बजते हुए मणिमय नूपुरोंकी झनकार मैं सुन सकूँगा ?

'माँ ! तुम्हारी गोदमें क्रमशः ब्रह्मा, शिव, केशव प्रभृति कुमार आते हैं और फिर जाते हैं । वह अपनी गोद तुम मुझको कब दोगी ? क्योंकि मैं बाल हूँ और बाल पुत्रपर माताका विशेष स्नेह होता है ।

'माँ ! अपनी जङ्घापर मेरा मस्तक रखकर अपने करकमलसे स्पर्श करते हुए मेरी थकावट दूर कर दो और इसी जन्ममें मुझे अपना उपदेश सुना दो । अन्तमें मणिकर्णिकापर क्या रखा है ?

'त्रिपुरे ! मुक्तजन भी तुम्हारे स्तन-पानकी लालसासे तुम्हारे चारों ओर मँडराते रहते हैं; फिर मैं तो जन्मसे भक्त हूँ, मेरा तो मुख सूख रहा है । क्यों न मेरा मुख आर्द्र हो ? (यहाँ 'मुक्त'के दो अर्थ हैं—१. वे जो मुक्ति प्राप्त कर चुके हैं और २. माँके गलेमें पड़ी मुक्ता-मालाके दाने ।)

'माँके गलेमें जो हीरेका हार प्रतीत होता है, वह हीरेका नहीं है । मेरी लौ जानेके बाद जब मैं माँके पास ढूँढ़कर थक गया, तब माँके वात्सल्यसे झरते हुए दुग्ध-बिन्दुओंकी जो पंक्ति बनी, वही हीरक हार-सी प्रतीत होती है ।

'माँ ! तुम्हारी दृष्टि कर्णका अतिक्रमण नहीं कर सकी, कर्णके इधर ही सीमित रही । ('कर्ण'के यहाँ दो अर्थ हैं— एक कान और दूसरा सूर्यपुत्र प्रसिद्ध दानवीर ।)

'माँ ! तुम्हीं जगत्का निर्माण करती हो, रक्षा करती हो, संहार भी करती हो और निर्वाह भी करती हो—प्रलयान्तको भगवान् शिव कदाचित् जानते भी न हों, फिर भी माँ ! तुम्हारे साहचर्यसे ही शिवजीको मुक्तिमें कारण कहा जाता है ।

'यह भगवान् शिवका अन्तःपुर है । यहाँ सूर्य भी तपता, हवा नहीं चलती, इसकी खबर भी दुनियाको नहीं है । तब यह क्या है ? यह शिवजीका अन्तःपुर है । ऐसे बच्चे यहाँ मौजसे घूमते हैं ।

'मुझे ऐसी जगह न दो, जहाँ तुम्हारा दर्शन न हो । जिस स्थितिमें तुम्हारे चरणोंका बोध नहीं, वह स्थिति मैं न चाहिये । तुम्हारे चिन्तनसे रहित आयु भी मैं नहीं चाहता ।

'तुम सदा हो, अखण्ड सुख-सन्निधि हो, भेदरहित सृष्टि, स्थिति और संहारमें स्वतन्त्र हो । तुमसे भिन्न कुछ नहीं रहता । जिसका अवलोक तुम हो, वह तुम्हारी ही कल्पना है ।

'देवी ! तुम जैसी हो, वैसी हो । तुम ऐसी ही हो—इस बातको कहने अथवा जाननेके लिये कौन समर्थ है ? मैं तो इतना पामर हूँ कि अपनेको ही नहीं जानता । मेरी बनायी हुई स्तुति तुमको समर्पण करनेमें भी मुझे लज्जा आ रही है । माँ ! मैंने कोई कृति गुम्फित की और तुम्हें समर्पित कर दी—इस बातको लेकर संतोषका एक कण भी मेरे हृदयमें नहीं है; क्योंकि आजतक अपनी मूर्खता मैं ही जानता था, अब सारा जगत् जान जायगा; फिर भी तुम्हारी दीन-शरणागत-वत्सलतामें मेरा विश्वास है ।'

भगवच्चरण-नौका

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

> समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशोमुरारेः ।
> भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद् विपदां न तेषाम् ॥
>
> (श्रीमद्भा० १० । १४ । ५८)

'जिन्होंने पुण्यकीर्ति मुकुन्द मुरारिके पदपल्लवकी नौकाका आश्रय लिया है, जो सत्पुरुषोंका सर्वस्व है, उनके लिये यह भवसागर बछड़ेके खुरसे बने हुए गड्ढेके समान है । उन्हें परमपदकी प्राप्ति हो जाती है और उनके लिये विपत्तियोंका निवासस्थान यह संसार नहीं रहता ।'

देवोंकी शरणमें

(लेखक—डा० मुंशीराम शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

जीवनमें कभी-कभी ऐसे क्षण आ उपस्थित होते हैं, जब हम अन्तर्मुख होकर आत्मपरीक्षणमें संलग्न हो जाते हैं। वे क्षण वस्तुतः अमूल्य होते हैं। इन्हीं क्षणोंमें मानव अपने तत्त्वमें लीन होकर दैवी जगत्‌का दर्शन करता है। क्षणिक ही सही, पर यह देवत्वकी झाँकी एक बार उसकी अनुभूतिका विषय बनती अवश्य है। इसी अनुभूतिमें मग्न होकर एक ऋषिने कहा है—

त्रातारो देवा अधिवोचता नो मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः॥

'हे दिव्य देवो! तुम्हीं हमारे रक्षक हो। अब ऐसी कृपा करो, ऐसा उपदेश दो, जिससे निद्रा और जल्पि (निरर्थक बकवास) हमपर शासन न कर सकें। निद्रा और प्रमाद तमोगुणके तथा जल्पि रजोगुणका परिणाम है। इन दोनोंसे ही हम दूर रहें। तम और रजके साम्राज्यसे निकलकर हम सत्त्वमें समाविष्ट हों, सत्त्वगुणके शीतल, स्निग्ध एवं आह्लादकारी वातावरणमें विराजमान हों। सत्त्वमें समाविष्ट होना ही मानो देवत्वमें प्रवेश करना है। देवत्वमें यह प्रवेश, दिव्यताका यह वरण, पतन और पापसे असम्पृक्त रहनेके लिये अमोघ ओषधि है। पतन और पाप मरणके पोषक हैं, पर दिव्यता जीवनकी जननी है। वहाँ जीवन-ही-जीवन है। यह जीवन उत्थान, उन्नति एवं अभ्युदयसे लेकर परम श्रेयतक पहुँचाता है। दिव्यता अथवा सत्त्वमें प्रवेश पानेके लिये यज्ञ, तप और दान करने पड़ते हैं।

यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि सोमं सुनोति भवति द्युमाँ अह।

तपकर तेज सोम—तपनसे ही उत्पन्न होता है। दिन हो या रात्रि, हमें यज्ञकी ही ओर अपना ध्यान दे रखना चाहिये। देव यज्ञकर्ताओंकी कामना करते हैं। देवोंको तप भी परम प्रिय है। तपसे देव प्रसन्न होते हैं और तपस्वीके घट (हृदय) को अपनी अमृत-धारासे भर देते हैं। 'अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते'—जैसे कच्चे घड़ेमें जल नहीं भरा जा सकता; भरा भी जायगा तो उससे घड़ा गलकर नष्ट हो जायगा और जल उससे निकलकर फैल जायगा। इसी प्रकार जिसने तपकी भट्ठीमें अपनेको डालकर पक्का नहीं किया, वह अमृत-रसको धारण नहीं कर सकेगा। मिट्टीका घड़ा कुम्भकारके अवेमें आँच पाकर जब पक जाता है, तब उसे पानीसे चाहे ऊपर-तक भर दो, वह फूटेगा नहीं और पानी भी उसमें भरा रहेगा। इसी प्रकार तपश्चर्याने जिस मानवके व्यक्तित्वको तपा दिया है, जो सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति, लाभ-हानि आदि द्वन्द्वोंको सहन कर चुका है, वही सत्त्वके रसका स्वाद ले सकता है और वही उसे सुरक्षित भी रख सकता है। दान भी एक उपयोगी साधन है। इससे हृदयकी संकीर्णता दूर होती है, वह विशाल बनता है और पवित्रतासे संयुक्त होता है।

यज्ञ, तप और दानके लिये हृदयमें दृढ संकल्प जाग्रत् होना चाहिये। मैं व्रत ले लूँ, पक्का निश्चय कर लूँ कि मुझे इस पथपर चलना ही है। जबतक संकल्पमें दृढ़ता न होगी, मैं सत्पथपर चलता हुआ भी बार-बार फिसलूँगा। दृढ संकल्प उत्पन्न करनेके लिये प्रभु-भक्ति भी अनुपम सहायता पहुँचाती है। 'मा प्रगाम पथो वयम्'—प्रभो! हम सन्मार्गसे कभी विचलित न हों।

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे।
मृळा सुक्षत्र मृळय।

'पूज्य महनीय भगवन्! मेरी दीनता ही मुझे कर्तव्यपथसे पराङ्मुख कर रही है। तुम दया करो, इस दीनतासे मेरा त्राण करो और मुझे कर्तव्य-मार्गपर लगा दो।'

इस प्रकारकी प्रार्थनाएँ भक्तके व्रत तथा संकल्पको दृढ़ कर देती हैं। भद्र संकल्प यदि दृढ़ हो जायँ, अदम्य और विघ्नोंको छिन्न-भिन्न करनेवाले बन जायँ, तो वे समस्त दुरमर्षोंको दूर कर देते हैं और मानव दिव्यताके संरक्षणमें पहुँच जाता है। उसे एक अभेद्य कवचकी उपलब्धि हो जाती है।

फिर भी जीवन उतना सरल नहीं है, जितना प्रतीत होने लगता है। ऊँचा चढ़कर भी मानव परिस्थितियोंके कशाघातसे पुनः नीचे गिर सकता है। न जाने कब मानसमें अन्तर्हित दानव फुफकार उठे! ऐसे अवसरोंपर मानवको अपने मन्युका सहारा लेना चाहिये। मन्युका साधारण अर्थ क्रोध है, पर वास्तवमें मन्यु और क्रोधमें आकाश-पातालका अन्तर है। क्रोधमें विवेक भाग जाता है, पर मन्युमें मनन-शीलता, विमर्श और विवेक साथ रहते हैं। क्रोधमें हिंसा अविचाररूपसे कार्य करती है, पर मन्युमें मननशीलता विद्यमान रहती है। क्रोध दूसरेपर होता है, पर मन्यु होता है अपनी ही

दुर्वृत्तियोंसे, अपने ही ऊपर। जब-जब स्खलन हो, जब-जब हम पथसे पृथक् हों, जब-जब दानवता देवत्वका दमन करनेपर उतारू हो, तब-तब हमें मन्युकी शरण जाना चाहिये और कहना चाहिये—'मन्यो! तुम भगवान् इन्द्रके समान ही विजयी और प्रशंसनीय हो। आओ, आज तुम मेरे अधिपति बनो। इस हृदयपर शासन करो और इसमें जो व्रत भङ्ग करनेवाले दानव आ घुसे हैं, उन्हें निकाल बाहर करो। तुममें गजबकी सहनशक्ति है—तुम्हारा उत्स, स्रोत, उद्गमस्थान बड़ा गम्भीर है! तुम्हारे जाग्रत् होते ही ये दैत्य भाग खड़े होंगे! तुम्हारे आगे इनका बल ही कितना है!'

मन्यु निश्चितरूपसे हमें बचानेवाला है। क्रोधमें हम अपनी तथा दूसरेकी हानि करते हैं, दोनों ही घाटेमें रहते हैं, पर मन्युमें लाभ-ही-लाभ है।

'मन्यु'में मनन सम्मिश्रित है। हम अपनी दुर्वृत्तियोंपर सोच-समझकर विचारपूर्वक ही क्रोध करते हैं। बिना विमर्श और विवेकके ये दूर हो ही नहीं सकतीं। इन्हें हटाकर हम पुनः कर्तव्य-पथपर अग्रसर होते हैं। वैदिक ऋषि हमें आदेश देते हैं—'कर्मके तानेको फैलाते जाओ और उसमें ज्ञानका बाना डालते हुए उसे सूर्यतक पहुँचा दो।' ज्ञानपूर्वक कर्म करनेसे हम प्रकाशकी स्थितिमें पहुँच जाते हैं। प्रकाश सत्कर्मका ही परिणाम है। उसमें प्रवेश करना मानो ज्योतिष्मानोंके पथको पहिचान लेना है। यह पहिचान ही तो हमें उनका साथी बनाती है और यह साथ-साथ रहना ही मानो ज्योतिर्मय देवोंके पथकी रक्षा करना है। कोई भी मार्ग अपने अनुयायियोंके अभावमें ही नष्ट होता है। *जब अनुयायी निकल पड़े, तब मार्ग भी चल पड़ा, सुरक्षित हो गया।* चलते-चलते उसके बीचमें उगे हुए झाड़-झंखाड़ भी अपने-आप ध्वस्त हो जाते हैं। इस प्रकार देवोंने अपनी 'धी'से जो प्रकाशपथ निर्मित किया है, उसकी रक्षा हो जाती है। मार्ग चालू हो जाता है।

देवोंका यह पथ उपद्रवरहित है—इसमें ग्रन्थियाँ नहीं हैं, चकला भी नहीं है। यह अरण्यका मार्ग है, इसपर चलना कुटिल दुर्वृत्तियोंके वशका काम नहीं है। इस ऋतपथका संरक्षण ऋषि ही कर सकते हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों, मुनियोंने ही इस पथपर पैर रखा है। मनु अर्थात् मननशील बनकर उन्होंने इस दिव्य पथकी रचना की है। यह उन्हींकी दैवी संपत्ति है।

कवि, ऋषि, ज्ञानी, सिद्ध [illegible] अपनी रचनापर अभिमान नहीं करते। वे उसे अपनी भी नहीं मानते। उसका स्रोत उनकी दृष्टिमें देवाधिदेव परमात्मा हैं, जिन्हें अग्नि, मित्र, वरुण, विपश्चित् आदि नामोंसे संबोधित किया जाता है। ये ज्ञानी इसी हेतु उनसे प्राप्त वस्तुको उन्हें ही अर्पित कर देते हैं। यह प्राप्ति ही उनका सर्वस्व थी। जिसने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया, वह प्रभुकी अमृतमयी गोदमें बैठकर निश्चिन्त हो गया।

ज्ञानी अपने मन, अपनी बुद्धि दोनोंको ही प्रभुसे संयुक्त कर देते हैं। इस क्रियासे वे स्वयं अल्प न रहकर भूमा बन जाते हैं, संकीर्ण न रहकर बृहत्, विशाल अर्थात् ब्रह्म बन जाते हैं। उदारता, महत्ता, विशालता ब्राह्मणत्व और देवत्वके पर्यायवाची शब्द हैं।

परम प्रभु वैसे ही जन-जनमें व्याप्त हैं। जिसने जान-बूझकर अपनेको उनके सिपुर्द कर दिया, उसे फिर उनको पकड़ने और साथ सटे रहनेकी आवश्यकता नहीं रहती। प्रभु स्वयं उसके योगकी, यज्ञियकर्मकी धारण करते और उसके ज्ञानको प्रकाशित करते रहते हैं।

योगदर्शनके चतुर्थपादमें जिस प्रसंख्यान नामके अंतिम ज्ञानका वर्णन है, उसे समर्पित कर देनेपर ज्ञानी धर्ममेघ समाधिमें जिस आनन्द-वर्षाका अनुभव करता है, वह सर्वस्व समर्पणके पश्चात्की ही आनन्दमयी भूमा मात्र है। इस प्रकार प्रभुने जिसके समर्पणको स्वीकार कर लिया, वे जिसके स्वप्नोंमें रमण करने लगे, वह अटल पर्वतकी भाँति खड़ा हुआ सैकड़ों, सहस्रों दानवी शक्तियोंको चुनौती देता रहता है। आँधी आती है, तूफान आते हैं, पर पर्वत वैसा-का-वैसा ही अचल; उसपर जैसे इनका कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता। इसी प्रकार प्रभु-समर्पित ज्ञानी भक्तके सामने दानवता, पामरता और पापकी फौजें आती हैं, पर अन्तमें मुँह फेरे पराभूत होकर लौट जाती हैं। वे उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं पातीं, उलटे स्वयं ध्वस्त हो जाती हैं।

प्रकाश-स्वरूप, दिव्यताके धनी देवो! आज मैं भी तुम्हारी शरण हूँ। तुम जिस प्रकाशके ज्योतिर्मय पथपर चले थे, उसीपर मुझे भी चलने दो। हृदयमें लगे हुए ये समस्त संकल्प, मेरी समस्त अभिलाषाएँ आज तुम्हारे दिव्यपथको पानेके लिये मचल रही हैं। दिशाएँ मुझे यही आदेश दे रही हैं। इस पथसे बढ़कर सुखदायक पथ और है ही कौन। देवो! आज मेरी सब कामनाएँ तुममें केन्द्रित हो रही हैं। ले लो अपनी शरणमें!

विश्व-भक्ति

(लेखक—पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी)

वसुधैव कुटुम्बकम् ।

My country is the world.
My countrymen are all mankind.

—गैरीसन

'समस्त संसार ही मेरा देश है।
सम्पूर्ण मानव-जाति ही मेरे देशवासी हैं।'

भक्ति भी अनेक प्रकारकी होती है। मानव-स्वभाव, ...ि और पात्रताके वैचित्र्यके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारकी ...भिन्न व्यक्तियोंके अनुरूप हो सकती है। जिस प्रकार ...पहाड़ों, गुणा-भाग या त्रैराशिक-पञ्चराशिकके हिसाब ...सकने विद्यार्थीके लिये आइन्स्टीनके सिद्धान्त सर्वथा निरर्थक ..., उसी प्रकार उच्चकोटिके आध्यात्मिक सिद्धान्तोंके लिये जिस ...र प्रकारकी पात्रताकी जरूरत है उसके अभावमें वे ...न्त ऊसरमें बीजके समान ही साबित होंगे। हम यहाँ ...ी विशेष प्रकारकी भक्तिकी आलोचना करने नहीं बैठे। ...के जिसमें भी पक्षपातकी भावना ही युगधर्मानुकूल है। ...का ठेका किसी धर्म, जाति या देश-विशेषने नहीं ले लिया, ...('अनेकान्त' की फिलासफी वर्तमान समयमें भी हमारे ...े उपयुक्त होगी।

...जो लोग विश्व-नियन्ताके अस्तित्वमें ही श्रद्धा करते हैं, ...भी विश्व-भक्ति करके अपनी मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। ...विश्वके प्राणियोंमें—विशेषतः मानव-समूहमें—सौहार्द ...पित करना भी उसी विश्वम्भरकी सेवा है।

देशभक्तिकी भावना निस्सन्देह उच्चकोटिकी है, पर ...स्थित दृष्टिके लोगोंने उसे विकृत कर दिया है, इस-...से अब वह निम्नकोटिकी समझी जाने लगी है। यातायात-...के साधनोंद्वारा हमलोग एक दूसरेके बहुत निकट आ गये हैं। ...म देशोंतक पहुँचनेमें पहले महीने लग जाते थे, वहाँ अब ...टोंमें पहुँचा जा सकता है। अब छः-छः सात-सात घंटोंमें ...म लोग रूस और चीन पहुँच सकते हैं, तब दूरीका सवाल ...रता ही नहीं। वैसे भी अणु-बमोंके आविष्कारके बाद ...मस्त विश्वके देशोंके भाग्य एक दूसरेसे सम्बद्ध हो गये हैं ...और यदि हम डूबे तो एक साथ ही डूबेंगे। इस प्रकार ...विश्वमैत्री या विश्व-भक्तिकी भावना स्वार्थ तथा परमार्थ ...दोनों ही दृष्टियोंसे आवश्यक है।

अब प्रश्न यह है कि इस भावनाको जाग्रत् कैसे किया जाय।

सबसे पहले तो यह ख्याल दिमागसे निकाल देना होगा कि हम किसी चुनी हुई जातिके हैं—भगवान्के खास कृपा-पात्र। इस प्रकारका व्यर्थाभिमान सवा सोलह आने गलत है। 'मुण्डन मुक्तिहि भावत नाहीं'। विश्वकी कल्याणकारी शक्तियोंका प्रादुर्भाव भिन्न-भिन्न युगोंमें संसारके अनेक देशोंमें हुआ है और भविष्यमें होता रहेगा। आवश्यकता इस बात-की है कि हम उदार दृष्टिसे इस प्रश्नपर विचार करें। सुसंस्कारों अथवा कुसंस्कारोंकी जड़ बाल्यावस्थामें ही जम जाती है, इसलिये प्रारम्भिक पाठशालाओंकी पाठ्य-पुस्तकोंमें ऐसे पाठ रखने चाहिये जो विश्व-मैत्रीकी भावनाको पुष्ट करनेमें सहायक हों।

वस्तुतः उपर्युक्त प्रस्ताव रोमाँ रोलाँने, जो संसारके लेखकोंमें शिरोमणि थे, बहुत वर्ष पहले अपने लेखमें रखा था। हमारे विद्यार्थी एमर्सन और थोरो, टाल्सटाय और गेटे, एडवर्ड कार्पेंटर तथा दीनबन्धु एण्ड्रूज, ए० ई० (जार्ज रसेल) और नेविन्सन तथा एडवर्ड स्नेल्डनके लोकोपकारी कार्योंसे क्यों न परिचित हों? उसी प्रकार पाश्चात्य विद्यार्थि-समाजको भारतीय, चीनी और जापानी महापुरुषोंसे परिचित कराया जाना चाहिये।

'कल्याण' के अनेक पाठकोंको पता होगा कि रोमाँ रोलाँ-को नोबुल पुरस्कार मिला था। उन्होंने रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्दके जीवनचरित लिखे हैं और महात्मा गांधीजीपर भी उन्होंने एक पुस्तक लिखी थी। एक बार एक भारतीय विद्यार्थी श्रीपरमानन्द पांडे (कटक) ने उन्हें एक पत्र भेजा था। उस पत्रके उत्तरमें रोमाँ रोलाँने लिखा था—

प्रिय पी. पांडे,

तुम्हारे पत्रने मेरे हृदयको बहुत गहराईसे स्पर्श किया है। मेरे भारतीय भाई, तुमने अपना जो हाथ मेरी ओर बढ़ाया है, उसे मैं स्नेहके साथ ग्रहण करता हूँ। तुम्हें मालूम ही है कि तुम्हारे देशके ऋषियोंके प्रति मैं अपने-को कितना सम्बद्ध अनुभव करता हूँ। तुम भी योरपके महान् कलाकारों, विचारकों और महान् आत्माओंको अपनाने-

का प्रयत्न करो। पूर्व और पश्चिमको एक दूसरेके निकट लानेके कार्यको अपने जीवनका एक आदर्श बना लो। हमें एक विश्वात्माका निर्माण करना है। आज वह विद्यमान नहीं, पर एक-न-एक दिन अवश्य होगी।'

'विश्वात्मा'से दोनों लेखकोंका अभिप्राय 'विश्वबन्धुत्व' की भावनासे ही रहा होगा।

लाला हरदयाल और विश्वबन्धुत्व

स्व० लाला हरदयालने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'Hints for Self-Culture' के अन्तमें लिखा है—

'मैंने विश्व-संघकी बात कही है। आप पूछ सकते हैं कि मैं व्यक्तिगतरूपसे उक्त विश्व-संघकी स्थापनाके लिये क्या कर सकता हूँ। आप उसके लिये बहुत कुछ कर सकते हैं। इस बातको आप न भूलें कि सुशिक्षित और सुशील बुद्धिवादियोंके सत्प्रयत्नसे विश्व-संघका मार्ग प्रकाशमान होगा ········विश्व-संघको पथप्रदर्शकोंकी जरूरत है और आप एक पथप्रदर्शक बन सकते हैं। ········दूसरी जातियोंके प्रति कोई भी विद्वेष या घृणाकी भावना न रखिये। विश्वका इतिहास पढ़िये; जितनी भी यात्रा कर सकें, कीजिये; किसी विश्व-भाषाका अध्ययन कीजिये। विदेशियों तथा अजनबियोंसे बन्धुत्व स्थापित कीजिये और इस प्रकार अपनेको तथा अपने मित्रोंको विश्व-संघके नागरिक बननेके योग्य सिद्ध कीजिये। अपने घरपर उनका स्वागत कीजिये। अपने नगरमें अन्तर्राष्ट्रिय क्लबकी स्थापना कीजिये। ·······आज न सही कल, कल न सही परसों, किसी-न-किसी दिन विश्व-संघकी स्थापना अवश्यम्भावी है। केवल काल-अवधिकी बात है ····· सोते-जागते आप उसीकी कल्पना कीजिये। सूर्योदयके प्रथम उषाका आगमन होता है। भले ही आप सूर्योदयके दर्शन न कर सकें, पर उसके प्रति तो श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर ही सकते हैं।'

उषाके पूर्वका अन्धकार

वर्तमान युगकी उपमा हम उषाके पूर्वके अन्धकारसे दे सकते हैं, पर यह अन्धकार चिरस्थायी नहीं है। आखिर मानव-समाज कबतक एक दूसरेके सिर फोड़नेमें आनन्द लेता रहेगा? कभी-न-कभी तो ये मदान्ध राष्ट्र अपनी हरकतों-से बाज आयेंगे ही। देर क्या कभी निराशाके हो सकते हैं? आज भी परस्पर-विरोधी राष्ट्रोंमें ऐसे सैकड़ों [illegible] हैं, जो विश्व-बन्धुत्वकी भावनासे ओतप्रोत हैं।

सेतुबन्धका प्रोग्राम

भिन्न-भिन्न राष्ट्रोंमें बिखरे हुए इन [illegible] का सम्मिलन कोई आसान काम नहीं, पर उससे [illegible] क्यों हों? क्या यह गिलहरी, जिसने भगवान् [illegible] सेतुबन्धके समय रेतीका कण भेंट दिया था, [illegible] कहते हैं कि गिलहरीकी पीठपर जो धारियाँ [illegible] भगवान्के हाथका प्रेम पानेसे बनी थीं। [illegible] जो भी महानुभाव आज भिन्न भिन्न [illegible] सद्भाव फैलाकर विश्व-भक्तिके लिये क्षेत्र तैयार कर रहे हैं, [illegible] गिलहरियोंका काम कर रहे हैं, वे भावी [illegible] मानव-समाजके प्रेमराम बनेंगे।

विश्व-भक्तिकी भावनाके लिये यूनेस्कोमें जानेकी [illegible] नहीं और न उसके लिये लंदन, पेरिस, टोकियो, [illegible] दिल्लीके संकुचित घोंसलोंमें (पक्षियोंके लिये वही [illegible] उपयुक्त है) बैठनेकी आवश्यकता है। जहाँ भी कोई [illegible] प्रेमी बैठ जायगा, वही स्थल किसी दिन केन्द्र बन सकता है। कविवर नजीरके शब्दोंमें—

> जा पड़े बागमें जब [illegible]
> वही गोकुल है इसे [illegible] वही वृन्दावन,
> वही है [illegible] वही [illegible], वही [illegible]।

मानव-समाज एक है और इस एकत्व भावको [illegible] हमारा युगधर्म है। गीतामें श्रीकृष्णके हजारों वर्ष [illegible] ये शब्द आज भी आकाशमें गूँज रहे हैं—

> सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
> अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥
> (गीता १८।२०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक् पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तू सात्त्विक जान।'

विश्व-भक्तिका यही मूलमन्त्र है।

देशभक्तिका ईश्वर-भक्तिसे सम्बन्ध

(लेखक—[illegible])

हमारे देशमें यह नीतिका श्लोक प्रसिद्ध है—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥

'कुलके कल्याणके लिये (आवश्यकता होनेपर) एक व्यक्तिका त्याग कर दे, गाँवके कल्याणके लिये कुलका त्याग कर दे, जनपदके कल्याणके लिये गाँवका त्याग कर दे और आत्मकल्याणके लिये संसारका त्याग कर दे ।'

यह आत्म-विकासका क्रम है । बचपनमें बच्चा अपनेसे अधिक देखनेमें असमर्थ होता है, फिर भी कुछ बच्चे दूसरे बच्चोंको दिये बिना खाना नहीं चाहते । आगे चलकर उनका स्वार्थ परिवारतक सीमित होता है, वे परिवारके ही हानि-लाभको सोचते हैं । आगे बढ़नेमें रोक होती है, क्योंकि इससे अधिक व्यापक भावनाकी चर्चा परिवारमें नहीं होती । पर जहाँ यह चर्चा होती है, वहाँ परिवारकी स्वार्थ-भावना क्रमशः ग्राम, जनपद और देशकी भक्तिके रूपमें परिणत हो जाती है । इसका ही सम्यक् विकास ईश्वर-भक्तिके रूपमें होता है परंतु इसके लिये भी सत्सङ्गकी परम आवश्यकता है ।

लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, स्वामी विवेकानन्द आदि जो महान् देशभक्त हमारे देशमें हो चुके हैं, वे ईश्वर-भक्त भी थे । देशभक्ति ईश्वर-भक्तिमें सहायक, पूरक होती है । यह ईश्वर-भक्तिमें पहुँचनेकी एक सीढ़ी है, उससे अलग नहीं है ।

यौवन टुकड़ोंमें बँट नहीं जा सकता । जैसे हाथ-पैर आदि अवयव शरीरके ही अङ्ग हैं, शरीरसे अलग होनेपर बेकार हो जाते हैं, मुर्दा बन जाते हैं, उसी तरह जो ग्राम-भक्ति या देशभक्ति ईश्वर-भक्तिसे अलग हो जाती है, वह कल्याणिनी नहीं होती । उसमें तेज, आकर्षण नहीं होता । हिटलरने जर्मनीकी जनताको देशभक्तिका पाठ पढ़ाया, व्यक्तिभक्तिको अपनानेपर खूब आग्रह रखा, पर वह भक्ति एकाङ्गी थी, इस कारण जर्मनीको हानि उठानी पड़ी ।

हर एक चीजकी मर्यादा होती है । दालमें नमक उतना ही डालना चाहिये, जिससे वह दाल बनी रहे; अधिक पड़नेसे वह खाने योग्य नहीं रह जायगी । इसी तरह एकाङ्गी देश-भक्तिका प्रवाह रुक जाता है, वह रुके हुए पानीकी तरह स्व-जनताके मनमें सड़न पैदा कर सकती है । 'बहता पानी निर्मला, बँधा सो गंदा होय'—का अनुभव इस संकुचित देशभक्ति-में भी होता है । आज पार्टीके नामपर आत्मस्तुति तथा परनिन्दा-का जो बोलबाला है, यह भी विकृत देशभक्तिकी एक झाँकी कराता है ।

श्रीसमर्थ रामदासजीने कहा था कि 'हमलोगोंमें सामर्थ्य है, जो करेगा सो पायेगा । परंतु उसमें भगवान्‌का अधिष्ठान होना चाहिये ।' इस सदुक्तिमें श्रीसमर्थ रामदासजीने देशभक्तिके जोशके साथ ईश्वर-भक्तिका होश मिलाकर दोनों-का सुन्दर ढंगसे समन्वय किया है ।

देशभक्ति अधिकांश रूपमें भौतिक व्यवहार तथा सुख-समृद्धिके साधनसे सम्बन्धित है—यह माना जाता है । परंतु मनुष्य केवल पाञ्चभौतिक शरीरका पुतला ही नहीं है । उसके भीतर आत्मा भी है, अन्तःकरण भी है । इसलिये आत्मतुष्टि-प्रसाद केवल भौतिक सुख-सुविधामें नहीं होता; यह कोई और ही चीज है, जिसको हम अपनेको खोकर पाते हैं । ईश्वर-भक्तिमें मनुष्य अपने अहंकारको भूल जाता है । देशभक्ति-का रूपान्तर जब ईश्वर-भक्तिमें हो जाता है, तब आत्म-प्रसन्नता-का अनुभव सहज हो जाता है, और इससे देशभक्तका बल तथा तेज विशेषरूपसे बढ़ जाता है । महात्मा गांधी तथा श्रीलोकमान्यके चरित्रसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि देशभक्ति उनकी ईश्वर-भक्तिमें बाधक नहीं, साधक थी । यह सबका अनुभव है कि मोतीकी रक्षा हम तभी कर पाते हैं, जब उनको नम्रताके धागेमें गूँथते हैं । नम्रताके धागेमें गूँथे बिना बिखरे मत बिखर जाते हैं । अतएव देशभक्तिके साथ नम्रताका सह-योग आवश्यक है, और वह नम्रता ईश भक्तिके द्वारा सरलतासे प्राप्त होती है । तभी देश-भक्तिके अन्दर अखण्डता बनी रह सकती है । उसमें अन्य सद्गुणोंका सहयोग होनेसे वह तेजस्विनी बन जाती है, उसमें व्यापकता आ जाती है ।

राष्ट्रपिता महात्मा श्रीगांधीजी तथा उनके अनन्य शिष्य संत श्रीविनोबाजीने अपने कार्यक्रममें प्रातः सायं दोनों समय ईश-प्रार्थनाको स्थान दिया है । इसका अभिप्राय यह है कि केवल भौतिक रचनात्मक कार्योंकी चर्चामें न भूलकर, उनके प्रेरणाका स्रोत बताते हैं, उन श्रीभगवान्‌के चरणोंमें अपनी

किया तो ईश्वरके दरबारमें तुमपर चोरीका मुकदमा चलेगा। तुम उनके कामोंमें हिस्सा लेनेवाले कौन ? तुम्हें तो कार्य करनेका अधिकार दिया गया था। गीता तुम्हें डंकेकी चोट कह रही है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
(२।४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं।'

क्या इस ईश्वरीय संदेशकी, ईश्वरीय आज्ञाकी तुम अवहेलना कर सकते हो ? यदि तुमने कार्य करके फलकी चाह की तो उससे मोह पैदा होगा, मोहसे राग-द्वेष होगा, राग-द्वेषसे क्रोध होगा और क्रोधसे क्रमशः बुद्धि-नाश होकर सर्वनाश हो जायगा। ज्यों-ज्यों फलकी इच्छा प्रबल होती जायगी, कार्यमें आसक्ति होगी और आसक्ति होनेसे तुम स्वार्थी बनोगे। यह स्वार्थ ही संघर्षोंका कारण है तथा ईश्वरीय आज्ञाके प्रतिकूल है। संघर्ष होनेसे सामाजिक व्यवस्था विशृङ्खल हो जायगी, अशान्ति बढ़ेगी, कलह होगा, द्वेष होगा, प्रपञ्च होगा, चोरी होगी, धोखा होगा—ऐसे कई प्रकारके अत्याचार समाजमें व्याप्त हो जायँगे। इन सबका उत्तरदायित्व तुमपर होगा; क्योंकि तुमने ईश्वरीय आज्ञाकी अवहेलना की। इसके लिये तुमको स्वयं तो दण्ड मिलेगा ही, साथ ही समाजकी नौका भी डूबेगी। यह सब होगा तुम्हारी केवल एक त्रुटि—आसक्ति तथा फलेच्छाके कारण। इसलिये इनसे बचो।

अब तुम्हें करना क्या है, इस ओर ध्यान दो। यह सारी सृष्टि ईश्वरद्वारा रची गयी है। प्रत्येक वस्तुमें ईश्वरकी सत्ता व्याप्त है। आत्मा, जिसको साक्षात् ईश्वर माना गया है, सभी प्राणियोंमें एक है। शरीर भिन्न-भिन्न हैं। उस आत्माके संदेशके विपरीत कार्य न करो। कोई भी कार्य करनेसे पूर्व आत्मासे पूछो कि 'तुम जो कुछ करने जा रहे हो, वह ईश्वरीय विधानके प्रतिकूल तो नहीं है ?' फिर कार्य करो। याद रखो तुम अकेले इस संसारमें कुछ भी नहीं कर सकते, यहाँतक कि दूसरोंकी सहायताके बिना तुम्हारा अपना जीवन-निर्वाह भी असम्भव है। तुम जो कुछ हो, तुम्हें जो कुछ मिला है और मिलता है, जिसके कारण तुम इस सृष्टिमें मौज उड़ा रहे हो, रँगरेलियाँ कर रहे हो, वह सब अन्य प्राणियोंके सहयोगसे ही प्राप्त हुआ है। प्रकृतिने तुम्हारे उपभोगके लिये विविध पदार्थोंका सृजन किया है, प्राणियोंने उन्हें तुम्हारे लिये सुलभ बनाया है। अब उन्हें प्राप्तकर तुम उस प्रकृतिको तथा उन प्राणियोंको भूल न जाओ। अकेले उनका सेवन मत करो, बल्कि बदलेमें उनको भी कुछ दो। यही ईश्वरीय आज्ञा है, यही मानव-जीवनका उद्देश्य है। यह मानव-जीवन सह-अस्तित्वपर आधारित है। तुम्हारा अस्तित्व दूसरोंसे है तथा दूसरोंका तुमसे। जितना तुमने समाजके विभिन्न वर्गोंकी सहायतासे प्राप्त किया है, उतना ही उनका ऋण तुम्हारेपर है। उसे तुम्हें चुकाना है। अपना जीवन अपने लिये नहीं, बल्कि समाजके लिये समझो, राष्ट्रके लिये समझो तथा मानवमात्रके लिये समझो। यह समाज तथा राष्ट्रके प्रति तुम्हारा अहसान नहीं बल्कि कर्तव्य है—ईश्वरीय आदेश है, जिसकी अवज्ञा तुम नहीं कर सकोगे। ईश्वरने तुम्हें इसलिये पैदा किया है कि तुम कर्म करो। प्रकृतिके नियमानुसार तुम कर्म किये बिना नहीं रह सकते। किंतु कर्म कैसा ? जो समाजके हितमें हो, राष्ट्रके हितमें हो तथा मानवमात्रके कल्याणके लिये हो। समाज-सेवा सबसे बड़ी सेवा है। मनुष्यके लिये इससे बढ़कर कोई पुण्य नहीं, इससे बढ़कर कोई साधन नहीं एवं इससे बढ़कर कोई कर्तव्य नहीं; किंतु होनी चाहिये वह निष्काम भावसे।

यदि तुमने समाज-सेवाका व्रत ले लिया—पूरे मनोयोगसे, अनासक्तभावसे एवं फलेच्छाका त्याग करके—तो यह तुम्हारी उस परम पिता परमात्माके प्रति सच्ची भक्ति होगी। यदि तुम उक्त पथके पथिक बनकर मार्गमें कहीं भटक गये तो उस ईश्वरीय आज्ञाका स्मरण करो, जो विभिन्न शास्त्रोंद्वारा तुम्हारे समक्ष तुम्हारा मार्गदर्शन करनेके लिये उपस्थित की गयी है। याद रखो ! तुम ऐसी विषम परिस्थितिमें उससे सही मार्ग प्राप्त करनेकी आशा मत रखो, जो स्वयं भटका हुआ है। वह तुम्हें और गहरे गड्ढेमें गिरा सकता है।

यदि तुम परमात्माके सच्चे भक्त बनना चाहते हो तो समाजके कार्योंको ईश्वरीय कर्म समझकर सच्ची लगनसे किये जाओ, विपत्तियोंसे घबराओ मत। तुम्हारी भक्ति सफल होगी। इसके बदलेमें तुम्हें मिलेगा अनन्त सुख, अनन्त शान्ति, जिसकी तुम कामना करते हो। भक्तके इन सद्गुणों-को याद रखो—

न चलति निजवर्णधर्मतो यः
सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे ।

गुरु-भक्ति और उसका महत्त्व

(लेखक—श्रीलक्ष्मणदासजी तिवारी 'मनोज', साहित्यरत्न, साहित्यालंकार)

हमारे हिंदू-धर्म, संस्कृति और सभ्यतामें गुरु-भक्तिकी महिमा नि:सन्देह ही सर्वोपरि है । शास्त्रकारोंने भी गुरुके पदको सर्वोच्च एवं महत्त्वपूर्ण बताया है ।

गुरु गोविंद दोनों खड़े काके लागूँ पाय ।
बलिहारी गुरुदेव की जिन गोविंद दिया मिलाय ॥

—इस दोहेमें गुरुको भगवान्‌से भी ऊँचा बताया गया है । अतः गुरु-भक्ति और गुरु-सेवासे बढ़कर और कुछ भी नहीं । कठोर परिश्रम करके एवं नाना प्रकारके कष्टोंको झेलकर भी जो दुर्लभ ज्ञान, गूढ़ रहस्य, विद्या आदि लोगोंको नहीं प्राप्त हो सकते, वे सहजमें ही गुरु-भक्ति एवं गुरु-सेवाके आशीर्वादसे प्राप्त हो जाते हैं । पौराणिक कथा प्रसिद्ध है कि एक बार आयोदधौम्य ऋषिने अपने नवीन शिष्य आरुणिको खेतकी मेंड़ बाँधनेका आदेश दिया था, जिसे आरुणिने अपने प्राणोंकी परवा न करके पूरा किया । आरुणिके श्रम और सब प्रयत्न निष्फल हो गये, तब वह स्वयं ही वहाँ लेट गया । इस प्रकार उसके शरीरसे पानीका प्रवाह रुक गया । बादमें आयोद धौम्य ऋषि उसे खोजते-खोजते वहाँ पहुँचे, तो शिष्यकी अद्भुत भक्ति देखकर बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने उसे हृदयसे लगाकर आशीर्वाद दिया कि 'समस्त वेद-शास्त्र तुम्हें बिना पढ़े ही आ जायँ । लोक-परलोकमें तुम्हारी गुरु-भक्ति विख्यात होगी एवं तुम उद्दालक ऋषिके नामसे विख्यात होगे ।'

इसी प्रकार एक दूसरी कथा है । इन्हीं आयोद धौम्य ऋषिके दूसरे शिष्य उपमन्युने भी अपनी गुरु-भक्तिद्वारा बहुत ही उच्च स्थान प्राप्त कर लिया था । गुरुके आशीर्वादसे उन्हें भी सारे वेद-शास्त्रादि कण्ठस्थ हो गये । इसी प्रकार हिंदू-कुल-सूर्य, हिंदू-धर्म-रक्षक वीर छत्रपति शिवाजीकी अनुपम गुरु-भक्ति प्रसिद्ध है । एक बार वे अपने प्राणोंकी भी परवा न करके अपने गुरु समर्थ योगिराज रामदासजीके रोगकी चिकित्साके हेतु जंगलसे सिंहिनीका दूध लाये थे । इसपर प्रसन्न होकर गुरुजीने उन्हें वह आशीर्वाद दिया, जिसके प्रतापसे भारतमें उन्होंने हिंदू-जाति, धर्म एवं संस्कृतिके रक्षक होकर उसका सिर ऊँचा किया । आज भी समस्त हिंदू-जाति उनके नामपर अपना सिर ऊँचा कर सकती है । उनको आज इतना महान् और प्रातःस्मरणीय किसने बनाया ? उनके गुरु समर्थ रामदासजीने ही । यही नहीं, एक बार शिवाजीने गुरु-भक्तिके आवेशमें अपना सारा राज्य गुरुजीको अर्पण कर दिया था, जिसे समर्थने शिवाजीको सम्हाल करनेके लिये लौटा दिया था । मेवाड़-कुल-सूर्य बाप्पा रावल भी बहुत ही बड़े गुरु-भक्त थे; अपने गुरु हारीत मुनिके आशीर्वादसे ही वे मेवाड़-जैसे राज्यके संस्थापक और अधिपति बने एवं हिंदूधर्म और संस्कृतिके परम उद्धारक बन उन्हें गौरवान्वित किया । महाभारतमें एकलव्यकी अनुपम गुरु-भक्ति प्रसिद्ध है, जिसकी द्रोणाचार्यके प्रति इतनी निष्ठा हो गयी कि वह उन्हें मन-ही-मन गुरु मानकर उनकी मिट्टीकी प्रतिमासे सब कुछ सीखकर अर्जुनसे बढ़कर खेलनेवाला नामी धनुर्धर हो गया ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसारकी प्रायः सभी बड़ी-बड़ी विभूतियाँ गुरु-भक्ति एवं गुरु-सेवाके अनोखे प्रभावसे ही इतनी महान् हुई हैं ।

उपर्युक्त विवरणसे स्पष्ट है कि हमारे हिंदू-धर्म, संस्कृति और सभ्यतामें गुरुका स्थान सर्वश्रेष्ठ है । प्रायः विद्याभ्याससे लेकर सभी प्रमुख संस्कार गुरुद्वारा ही सम्पन्न होते हैं । गुरुके बिना कोई भी काम और ज्ञान नहीं होता । शिक्षामें तो गुरुकी जरूरत है ही, उपनयन आदि संस्कार कराने और उपासनाकी दीक्षा-जैसे गूढ़ ज्ञान देनेका अधिकारी भी गुरु ही होता है । यहाँतक कि मन्त्र सिद्ध करानेका अधिकार भी गुरुको ही है । इस जीवनको सफल बनानेके लिये पग-पगपर गुरुका होना जरूरी है । यथार्थरूपसे देखा जाय तो गुरुसे कभी मनुष्य उऋण हो नहीं सकता । अतः गुरुका दर्जा सर्वोपरि है । श्रीतुलसीदासजीने भी 'गुर बिनु होइ कि ग्याना' कहकर उनका महत्त्व बताया है ।

खेद इस बातका है कि आजका विद्यार्थी-समाज गुरु-भक्तिसे बहुत दूर हो रहा है । गुरु-भक्ति-जैसी वस्तु उनमें रह ही नहीं गयी है । वे अपने-आपको बहुत कुछ समझने लगते हैं । गुरुजनोंके साथ प्रायः ठीक बर्ताव भी नहीं करते । यह बहुत ही दुःखजनक है । इससे हमारे प्राचीन हिंदू-धर्म, सभ्यता तथा संस्कृतिको गहरी ठेस लगी है और हमारे देशका भी मस्तक नत हुआ है । क्या ही अच्छा हो कि हमलोग गुरु-भक्तिकी अनुपम शक्तिसे एक बार फिर भारतको उन्नतिके उच्चतम शिखरपर पहुँचा दें ।

मातृभक्ति

(लेखक—श्रीभगवान् दवे)

'आदौ सम्बन्धस्थापनम्।' सम्बन्ध-स्थापन किये बिना भक्तिका प्राकट्य होना असम्भव है। इसलिये भक्तिमार्गमें सर्वप्रथम सम्बन्ध-स्थापनकी आवश्यकता है। शिशुभाव धारण करके माँके ऊपर निर्भर रहनेका नाम मातृभक्ति है।

साधकके हृदयमें शिशुभावके दृढ होनेपर मातृभक्ति भगवद्रूपमें प्रकट हो जाती है। साधक ठीक-ठीक बालक-जैसा ही सरल, छल-मुक्त, तथा प्रसन्न और केवल माँपर निर्भर रहता है। शिशु-भक्तके हृदयमें भय, शोक या संताप प्रवेश नहीं कर सकते; क्योंकि वह महाशक्ति जगदम्बाके अभय अङ्कमें सदा निर्भय होकर खेला करता है। मातृभक्ति—माताके प्रति परम प्रेमरूप भक्तिके प्रकट होनेपर क्रियारूप भक्ति नहीं रहती, उसे जप या पुरश्चरण करनेकी आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि माँका विस्मरण उसको असह्य हो जाता है।

व्याकुल होकर माँका स्मरण करनेसे रोमाञ्च हो जाता है, अश्रु-प्रवाह होने लगता है, चित्तवृत्तिका अनायास निरोध हो जाता है, मनका भ्रमण क्षीण होनेपर शरीरका भान नहीं रहता, और इस प्रकारके प्रेमी भक्त-शिशुके हृदयमें माँ अपनी कृपाकी वर्षा करके, उसको साक्षात् दर्शन देकर प्रेमामृतका पयःपान कराकर सदाके लिये तृप्त—पूर्णकाम कर देती है।

बंगालके अद्वितीय संत, प्रातःस्मरणीय पूज्य श्रीरामकृष्ण परमहंस देव 'माँ-माँ' पुकारते समाधिस्थ हो जाते। जगदम्बा काली उनको साक्षात् दर्शन देकर उनसे बातें करतीं, और वे माँसे कहते थे—'माँ! मैं यन्त्र हूँ, तू यन्त्री। यन्त्रको चलानेवाला यन्त्री है।'

गुजरातके परम भक्त श्रीवल्लभ भट्टको भगवती अम्बाजीने साक्षात् माँरूपमें दर्शन दिये थे, उनके लिये अम्बाजीकी मूर्ति माँके रूपमें बदल गयी।

गुजरातके अन्तर्गत नडियादके सन्तराम महाराजने बालकको नारायपुर अम्बाजीके धाममें माँने मध्यरात्रिमें भोजन खिलाकर तृप्त किया था। धन्य है भक्तोंकी मातृभक्ति और माँकी शिशु-वत्सलता।

प्रेमस्वरूपा शिशु-वत्सला करुणामयी माँ! तुम्हारी जय हो! जय हो!! मेरे मनरूपी सिंहको वाहन बनाकर तू विराजमान हो जा। हे सिंहवाहिनी माँ! दयामयी दुर्गे! हे करुणानिधि काली! भवभयभञ्जनि भवानि! हे हृदयरञ्जिनी माँ! तेरी जय हो! जय हो!! जय हो!!! मनको 'तू' में विलीन करके मैं तेरे अंदर लो जाता हूँ, मिल जाता हूँ। हे माँ! प्रज्वलित प्रेमाग्निमें मैं अहंकी आहुति देता हूँ, इसको स्वीकार कर। स्वाहा!

अपने दूतोंको यमराजका उपदेश

यमराज कहते हैं—

नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः। अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यत॥
एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां संकीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम्।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम्॥

(श्रीमद्भा० ६ । ३ । २३

'प्रिय दूतो! भगवान्‌के नामोच्चारणकी महिमा तो देखो, अजामिल-जैसा पापी भी एक बार नामोच्चारण करनेमात्रसे मृत्यु-पाशसे छुटकारा पा गया। भगवान्‌के गुण, लीला और नामोंका भलीभाँति कीर्तन मनुष्योंके पापोंका सर्वथा विनाश कर दे, यह कोई उसका बहुत बड़ा फल नहीं है; क्योंकि अत्यन्त पापी अजामिलने मरनेके समय चञ्चल चित्तसे अपने पुत्रका नाम 'नारायण' उच्चारण किया, इस नामाभासमात्रसे ही उसके सारे पाप तो क्षीण हो ही गये, उसे मुक्तिकी प्राप्ति भी हो गयी।'

हरिभक्ति और हरिजन

(लेखक—पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी)

संस्कृत व्याकरणमें 'विष्लृ' धातुसे 'विष्णु' शब्दकी निष्पत्ति होती है। यह धातु 'व्याप्त होने'के अर्थमें आती है। तात्पर्य यह है कि जो सर्वत्र व्याप्त है, वही विष्णु है। अतएव व्याप्त होनेके कारण पृथिवी भी वही है, अन्तरिक्ष भी वही है और द्युलोक भी वही है। जीव वही है, जगत् वही है, ईश्वर वही है। वह अनन्त है, असीम है, अपरिमेय है—उसको ज्ञेयरूपमें जानना सम्भव नहीं। वह स्वयम्भू है, अद्वितीय है—मनुष्य अनादिकालसे उसकी खोजमें है। उसी खोजका परिणाम आज असंख्य भावनाओंके द्वारा असंख्य उपास्यदेवोंके रूपमें अभिव्यक्त हो रहा है। मनुष्य समाज बनाकर, सम्प्रदायोंमें गठित होकर निश्चयपूर्वक 'एतावत्' कहकर एक-एक विशिष्टरूपमें, अपनी-अपनी विशिष्ट कल्पनाओं और भावनाओंके द्वारा उसको पूज रहा है। मानव अपूर्ण है, अल्पज्ञ है, अल्पशक्ति-सम्पन्न है; यही कारण है कि वह पूर्ण, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान्‌के आगे सिर झुकाता है। उसकी यह उपासना अहैतुकी नहीं कही जा सकती।

उपासना चाहे जहाँ, जिस रूपमें भी हो, उसका कोई-न-कोई हेतु अवश्य होता है। बिना हेतुके मनुष्यकी किसी क्रियामें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। विष्णु-भक्तिका भी हेतु है—पाप और दुःखोंसे त्राण पाना। पाप और दुःख—ये दोनों जीवके पीछे लगे हुए हैं; वह इनसे त्राण पानेके लिये व्याकुल है, इनके रहते उसके प्राणको चैन नहीं है। पाप ही उसको जन्म-मरणके बन्धनमें डालता है, भवसागरके मझधारमें ले जाकर गोते दिलाता है। जीव छटपटाने लगता है, चाहि-त्राहि कर उठता है। पर उसका आर्त्तक्रन्दन सुने कौन! चारों ओर दृष्टि दौड़ाने-पर उसको दीनबन्धु विष्णुके सिवा और कोई नहीं दीखता। वह चिल्ला उठता है—'त्राहि माम्'। और तत्काल अपनेको भगवान्‌की अमृतमयी गोदमें सुरक्षित पाता है। वह पाप-तापसे मुक्त हो जाता है। इसके पश्चात् वह हरि-भक्तिका अधिकारी बनता है।

हरति पापानि दुःखानि च जीवस्येति हरिः।

"जो जीवोंके पाप और दुःखको हर लेता है, उसे 'हरि' कहते हैं।" जब पाप और दुःख दूर हो जाते हैं, तब जीवको हरिसे परिचय प्राप्त होता है, उसका हरिसे नाता जुड़ जाता है। वह अपने रूपको स्मरण करता है और अपने त्रिय भगवान्‌के गुणोंको, उनकी महिमाको देख-देखकर कृतार्थ होता है। अब हरि-स्मरण और हरि-गुणगान उसके जीवन-का आधार बन जाते हैं। वह इनके बिना रह नहीं सकता, पाप-तापसे दूर रहकर हरि-भक्तिमें लीन रहना ही उसके जीवनका एकमात्र लक्ष्य हो जाता है।

अतएव यह स्पष्ट हो गया कि भगवान्‌की पूजा—हरिभक्ति वही कर सकता है, जो भगवान्‌के शरणापन्न है, जिसको भगवान्‌का परिचय प्राप्त है। *गीताज्ञानका भी यही रहस्य* है। जब कुरुक्षेत्रमें दोनों सेनाओंके बीचमें भगवान्‌ने अर्जुनके रथको खड़ा किया, तब अर्जुनको पाप और तापने आ घेरा। वे मोहके वश होकर अत्यन्त तापसे संतप्त हो उठे और विषण्णचित्त हो प्रभुसे कह बैठे—'गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा।' परंतु जब भगवान्‌ने उनको फटकारा और कहा कि 'तुमको अवश होकर युद्ध करना ही पड़ेगा',—तब अर्जुन घबरा उठे और किंकर्तव्यविमूढ होकर भगवान्‌के शरणापन्न हुए। आत्म-समर्पणके बाद ही अर्जुनको गीता-ज्ञानकी प्राप्ति हुई। वस्तुतः महाभारतका युद्ध तो आज भी अनेक रूपोंमें चल ही रहा है। इस महाभारतका आदि नहीं, अन्त नहीं। दैवी वृत्तियाँ पाण्डव-पक्ष हैं, आसुरी वृत्तियाँ कौरव-पक्ष हैं; जिस जीवने भगवान्‌को अपना जीवन-रथ हाँकनेके लिये वरण कर लिया है, वह अर्जुन है। महाभारतके युद्धमें उसको मोह होता है, आसुरी वृत्तियोंके प्रति ममत्व उसको आ घेरता है, उनको आत्म-समर्पण करनेके लिये वह तैयार हो जाता है। परंतु भगवान् जब उसके सारथि हैं, तब वह धर्मच्युत कैसे हो सकता है। उसको गीताज्ञानकी प्राप्ति होगी और वह अहंकारके वशीभूत होकर नहीं, बल्कि निमित्तमात्र बनकर आसुरी वृत्तियोंका संहार करेगा। उसको इस महाभारत-में, जीवन-युद्धमें विजय प्राप्त होगी और साथ ही संसारमें पाण्डवों अर्थात् दैवी वृत्तियोंकी जयका उद्घोष होगा; भगवान्‌की महिमाका, शरणागतिकी अपूर्व शक्तिका गुण-गान होगा। जीव-जगत् धन्य हो जायगा।

इस जीवन-युद्धमें विजयी होनेके लिये भगवान्‌की शरणागति एकमात्र उपाय है। अपनी सारी दैवी वृत्तियोंके साथ भगवान्‌के चरणोंका आश्रय लेकर ही जीव आसुरी वृत्तियोंपर विजय प्राप्त कर सकता है। जीवनकी सफलताका यही एक उपाय

है। शरणागत होनेके बाद ही हरि-भक्तिका अधिकार प्राप्त होता है, तभी जीव भगवान्के निर्देशके अनुसार जीवन-युद्धमें अग्रसर होता है। भगवान्को सारथि बनाकर, उनके हाथोंमें बागडोर देकर जीवन-युद्धमें आसुरी वृत्तियोंका सर्वनाश करके कृतार्थ होता है। गीता-शास्त्रका यही लक्ष्य है।

हरि-भक्तिका अधिकारी हो जानेपर जीव हरिजनके रूपमें ही श्रीहरिकी उपासना कर सकता है। कहावत भी है—'देवो भूत्वा यजेद् देवम्'। जो हरिजन हैं, वे हरिरूप ही हैं। इसी कारण वैष्णवलोग शङ्ख-चक्र आदि चिह्न धारण करते हैं, दया-करुणा, क्षमा-संतोष आदि दैवी गुणोंका आश्रय लेते हैं। भगवद्गुणोंके प्रति अतिशय अनुराग हरिजनका लक्षण है। निरभिमान होकर दीनोंके प्रति दया और पतितोंके प्रति प्रेम—यह हरिजनके लिये स्वभावसिद्ध होता है। आजकल जो सहिष्णुता, उदारता, सहानुभूति, दान-दाक्षिण्य आदि—नागरिकताके प्रमुख गुण गिने जाते हैं—हरिजनमें सहज ही दृष्टिगोचर होते हैं। अतएव हरिजन एक आदर्श नागरिक होता है। हरिजनके जीवनका एकमात्र आधार हरि होते हैं और अपने प्रत्येक कर्मके द्वारा हरिकी भक्ति (सेवा) करना ही उसका एकमात्र लक्ष्य होता है। उसके हरिको ही नाना सम्प्रदायवाले नाना नाम-रूपोंसे भजते हैं, अतएव उन सबके प्रति उसका स्वाभाविक प्रेम होता है। उसके हरि ही नाना रूपोंमें, नाना प्रकारके देवी-देवताओंके रूपमें पूजे जाते हैं; अतएव उन सबमें वह हरिभाव ही रखता है। हरिजन साम्प्रदायिकता, प्रादेशिकता आदि संकीर्ण भावोंका शिकार नहीं होता। अपने प्रभुके नाते वह सबसे प्रेमका ही भाव रखता है और प्रेमका ही बर्ताव करता है। वह जीवमात्रको प्रभुमय समझ जन-कल्याणार्थ सेवाधर्मका अनुसरण करता है। यही हरिजनकी पहचान है।

परंतु आजकल 'हरिजन' शब्द एक विशेष अर्थ लेकर भारतमें पिछड़ी हुई जातिका सूचक बन रहा है। विश्ववन्द्य महात्मा गांधीने इस अर्थमें इस शब्दका प्रयोग और प्रचार किया। फलतः 'हरिजन' शब्द इसी विशिष्ट अर्थका द्योतक बन गया। गांधीजी हरिभक्त थे, उनकी दृष्टिमें मानव-समाजकी सेवा हरिभक्तिका ही एक विशिष्ट रूप था। वे पिछड़ी जातियोंके लोग—जो अज्ञान, दारिद्र्य तथा नाना प्रकारकी सामाजिक कुरीतियोंके शिकार बन रहे हैं—भगवान्के ही रूप हैं। उनकी उपेक्षा, उनका निरादर सामाजिक पाप है, भगवान्का तिरस्कार है; उनकी सेवा, उनकी सहायता भगवान्की ही सेवा है। भगवान् पतितोंको उठाते [illegible] पापियोंको तारते हैं; अतः इन सामाजिक दृष्टिसे गि[रे] कुरीतियोंके दलदलमें फँसे हुए 'हरिजनों'के उद्धारके [लिये] कल्याणके मार्गमें अपनी श्रद्धाभक्ति, अपनी शक्ति [लगाकर] करना भी हरि-सेवा है। यदि समर्थ होनेपर भी मनुष्य [इस] सेवामें योग नहीं देता तो वह हरिभक्त कैसे होगा।

परंतु 'हरिजन' के उद्धारके लिये 'हरिभक्ति' ही [सबसे] सुगम और सबसे श्रेष्ठ उपाय है। भगवत्-शरणागति [ग्रहण] करनेपर तथाकथित 'हरिजन' यथार्थ हरिजन बनकर अ[पना] कल्याण तो करता ही है, समाजको भी पवित्र कर देता [है।] श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

> विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
> पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
> मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
> प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥

'(शम-दमादि) बारह प्रकारके गुणोंसे युक्त ब्राह्म[ण] जो भगवान्के पदारविन्दसे विमुख है, वह चाण्डाल श्रे[ष्ठ] जो भगवान्में अपने मन और वाणीको अर्पित कर चुका [है।] ऐसा भक्त अपने कुलको पवित्र कर देता है, परंतु अत्यन्त मान-मर्यादावाला ब्राह्मण नहीं।' श्रीहरि-भक्ति-वि[लास]में लिखा है कि मुझको (अभक्त) चारों वेदोंका जाननेवाला ब्राह्मण प्रिय नहीं है, मुझे तो अपना भक्त श्वपच भी प्यारा [है।] उसको देना चाहिये, उससे ग्रहण करना चाहिये; वह [मेरे] समान ही पूज्य है—

> न मे प्रियश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः।
> तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम्॥
> (इतिहास[illegible]

भगवान्की दृष्टिमें सारे जीव एक-से हैं, वहाँ न तो [कोई] छोटा है न बड़ा। सबके साथ एक-सा न्याय है। मनु[ष्य] अपने-अपने कर्मोंके अनुसार जन्म—जाति और अवस्थाविशे[ष]को प्राप्त करता है। ब्राह्मण अपने दुष्कर्मोंसे चाण्डालत्व प्राप्त होता है और चाण्डाल अपने सत्कर्मोंसे ब्राह्मण[त्व] प्राप्त होता है। ब्राह्मण-कुलमें जन्म लेनेवालेकी अपेक्षा चाण्[डाल] कुलमें जन्म लेनेवालेको भगवान् शीघ्र मिल जाते हैं, [यदि] वह भगवच्चरणोंमें अपनेको निवेदित कर देता है। क्योंकि [वे] गिरे हुओंको उठाते हैं, उपेक्षितोंको आदर देते हैं। भगवान् असमर्थ और दीन जीवोंके प्रति विशेष कृपालु हैं। वे दीनब[न्धु]

पतितपावन और आर्त-त्राण-परायण है। अतएव हरिभक्तिके द्वारा ही वास्तविक हरिजनोद्धार हो सकता है।

स्वामी रामानन्दने पहले-पहल इन पिछड़ी जातियोंको कल्याणका मार्ग दिखलाया। उन्होंने रैदासको शिष्य बनाया। रैदास चमार जातिके बालक होनेपर भी हरिभक्तिके बलसे समाजमें पूजित हुए। सच्चा हरिभक्त चाहे छोटी जातिका हो या बड़ी जातिका—यद्यपि वह समाजसे आदर पानेका भूखा नहीं होता, तथापि समाज पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसका गुणगान करता आता है, साल-साल उसको श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता रहता है। समाज कृतघ्न नहीं है; जिस व्यक्तिने हरिभक्तिमें जीवन-यापन किया, समाजको भगवत्प्राप्तिका मार्ग दिखलाया, उसने समाजकी सर्वाधिक सेवा की; इस अमूल्य सेवाको भला, समाज क्योंकर भूल सकता है। अतएव हरिभक्त 'हरिजन' ही सच्चा हरिजन है, वह अपने कुल और जातिको ही क्या, सारे संसारको पुनीत कर देता है। जीवन कर्म-प्रधान है, जाति-प्रधान नहीं। क्योंकि जाति स्वयं पुरातन कर्मपर अवलम्बित है। अतएव जीवनको पुनीत करनेवाली, भव-यातनासे मुक्त करनेवाली हरिभक्तिका आश्रय लेना जीवमात्रका परम कर्तव्य है। हरिभक्तिकी महिमाका वर्णन करते हुए पद्मपुराण कहता है—

> चण्डालोऽपि मुनेः श्रेष्ठो विष्णुभक्तिपरायणः।
> विष्णुभक्तिविहीनस्तु द्विजोऽपि श्वपचाधमः॥

'हरिभक्तिमें लीन रहनेवाला चाण्डाल भी मुनिसे श्रेष्ठ है और विष्णुभक्ति-विहीन ब्राह्मण श्वपचसे भी अधम है।'

मध्ययुगमें दक्षिण देशके आळवार लोग भक्तिमार्गके परम उपदेष्टा हुए हैं। उनमें तिरुप्पन् नामक आळवार, जातिके चाण्डाल होनेपर भी ब्राह्मणोंके द्वारा पूजित हुए और हो रहे हैं। हरिभक्ति पारसमणिके समान है, कोई कितना ही पतित, कितना ही पिछड़ा हुआ क्यों न हो, हरिभक्तिके प्रतापसे उसका जीवन देदीप्यमान हो जाता है। 'हरिजनों'के उद्धारका भी यही एक सरल और निश्चित मार्ग है। हरिभक्तिके द्वारा 'हरिजन' केवल अपनी जातिको ही नहीं, समस्त मानव-समाजको उठाता है, भक्तिके आलोकमें रहकर सारे लोकको आलोकित करता है।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

> चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

वर्णविभाग मनुष्यकृत नहीं है, सनातन है और स्वयं भगवान्‌के द्वारा सृष्ट है। अतएव भगवद्विधानमें अड़ंगा लगाकर यदि कोई ऊँचा होना चाहे और 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते'—इस भगवद्वाक्यकी अवहेलना करके आगे बढ़ना चाहे तो उसे ठीक रास्ता कैसे मिलेगा। अतएव पचड़ेमें न पड़कर अपने-अपने जातिगत धर्मोंका पालन करते हुए हरिभक्तिका आश्रय लेना ही श्रेयस्कर है। हरिभक्ति जीवनको पवित्र कर देती है। सब लोगोंके कल्याणका मार्ग है—एकमात्र हरिभक्ति। अतएव हरिजन होना मनुष्यके लिये परम सौभाग्यकी बात है और वह हरिभक्तिके बिना सम्भव नहीं।

व्रजगोपियोंकी महत्ता

मथुरापुरवासिनी महिलाएँ कहती हैं—

> या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
> गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥
>
> (श्रीमद्भा० १०।४४।१५)

'सखी! व्रजकी गोपियाँ धन्य हैं। निरन्तर श्रीकृष्णमें ही चित्त लगा रहनेके कारण प्रेमभरे हृदयसे तथा आँसुओंके कारण गद्गद कण्ठसे वे इन्हींकी लीलाओंका गान करती रहती हैं। वे दूध दुहते, दही मथते, धान कूटते, घर लीपते, बालकोंको झूला झुलाते, रोते हुए बालकोंको चुप कराते, उन्हें नहलाते-धुलाते, घरोंको झाड़ते-बुहारते—कहाँतक कहें, सारे काम-काज करते समय श्रीकृष्णके गुणोंके गानमें ही मस्त रहती हैं।'

भक्ति भी विदेशियोंकी देन ?

(लेखक—पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०)

धार्मिक तथा राजनीतिक कारणोंसे अधिकांश पाश्चात्त्य विद्वानोंने यह सिद्ध करनेका सिर-तोड़ प्रयत्न किया है कि 'जीवनके किसी भी क्षेत्रमें, जो भी श्रेष्ठ है, वह भारतका अपना नहीं; भारतने उसे विदेशियोंसे ही सीखा है।' इसमें पाश्चात्त्योंके अनुयायी पाश्चात्त्य-शिक्षाप्राप्त भारतीय विद्वान् अपने उन ज्ञानदाताओंसे भी चार कदम आगे हैं। पाश्चात्त्य विद्वानोंकी उच्छिष्ट सामग्रीपर उन्होंने जमीन-आसमानके कुलाबे मिलाये हैं। भक्तिके सम्बन्धमें भी यही बात है। कहा जाता है कि 'भारतने भक्ति भी दूसरोंसे ही सीखी।' इस सम्बन्धमें मुख्यतः तीन मत हैं। पहला मत यह है कि 'भारतमें भक्ति आर्येतर-तत्त्व है।' दूसरा मत यह है कि 'भक्ति भारतको ईसाई मतकी देन है' और तीसरा यह कि 'भारत इसके लिये इस्लामका ऋणी है।' यहाँ क्रमशः हम इन तीनों मतोंपर संक्षेपमें विचार करेंगे।

वेदोंसे लेकर आजतक अपने यहाँ भक्तिकी अविच्छिन्न परम्परा मिलती है। इसी प्रन्थके लेखोंमें वेदों, उपनिषदों, इतिहास-पुराणोंमें भक्ति-सिद्धान्त दिखलाया गया है। पर यह सब इन विद्वानोंके दिमागमें नहीं घुसता। वे कहते हैं कि 'वेद अनादि-अपौरुषेय नहीं हैं, बाहरसे आये आर्योंने उनकी रचना की। रामायण, महाभारत आदि इतिहास तो अपने वर्तमान रूपमें बहुत समय बाद बने। पुराणोंकी रचना तो ईस्वी सन्‌की ८वीं-९वीं शताब्दियोंमें हुई।' अतः ऐसे लोगोंके लिये अपने यहाँके शास्त्रवचनोंके प्रमाण कोई मूल्य नहीं रखते। उनके तर्कोंका उत्तर तो उनकी विचार-शैलीको ध्यानमें रखते हुए ही देना होगा।

(१) भक्ति आर्येतर-तत्त्व

अपने किसी भी इष्टदेवके प्रति भक्ति हो सकती है। पर अपने यहाँ भक्तिका मुख्यतः सम्बन्ध है भगवान् विष्णु तथा उनके अवतारों—और उनमें भी विशेषतः भगवान् श्रीकृष्णसे। पहले पाश्चात्त्य विद्वानोंकी देखा-देखी कहा जाने लगा था कि 'वेदोंमें भक्तिकी चर्चा नहीं।' किंतु जब मोहेन्-जो-दड़ोमें शिव-पूजनके कुछ चिह्न मिले, तबसे यह कहा जाने लगा कि 'भक्ति आर्येतर-तत्त्व है; क्योंकि शिव या रुद्र अनार्य-देव हैं।' यही बात विष्णुभक्तिके सम्बन्धमें भी कही जाने लगी। कारण यह बतलाया गया कि 'आर्य गोरे थे और विष्णु काले, तब फिर वे आर्योंके देवता कैसे हो सकते हैं।' पर विष्णुका नाम आर्योंके ऋग्वेदमें आता है। तब कहा जाने लगा कि 'विष्णु' शब्द सूर्यके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।' तब प्रश्न उठा कि 'जो देवता सूर्यके समान उज्ज्वल और चमकीला था, वह काला कैसे बन गया ?' इसके उत्तरमें डा० सुनीतिकुमार चटर्जीका कहना है कि 'आर्योंके सूर्यवाचक देवता विष्णु भारतमें आकर द्राविड़ोंके आकाश-देवसे मिल गये, जिनका रंग द्राविड़ोंके अनुसार आकाशके ही सदृश नील अथवा श्याम था; तमिळ भाषामें आकाशको 'विन्' भी कहते हैं, जिसका 'विष्णु' शब्दसे निकटका सम्बन्ध हो सकता है।'

वैष्णव मतको 'अवैदिक' मानते हुए भाषामें ग्रियर्सनने लिखा है कि 'जिस भृगुने त्रिमूर्ति शिवको शाप दिया था, उसीने विष्णुके वक्षःस्थलपर भी पदाघात किया।' जान पड़ता है कि 'भृगुगण बड़े निष्ठावान् वैदिक थे। वैष्णव धर्म प्राचीनतर वैदिक धर्मके उस पदाघातसे कलङ्कित होकर हमारे देशमें प्रतिष्ठित हुआ।'

काले-गोरे रंगोंके आधारपर ऐसी बातोंका निर्णय करने वाले विद्वानोंसे पूछा जा सकता है कि "शिव तो बहुत ही गोरे हैं, उनके लिये 'कर्पूरगौरम्' कहा गया है। फिर वे 'अनार्य' देवता कैसे हो गये ? द्राविड़ तो काले हैं; यदि रुद्र द्राविड़ देवता हैं, तो उन्हें भी काला होना चाहिये। यदि रंगके आधारपर देवताओंका भी जातिभेद किया जा सकता है तो फिर लाल होनेके कारण ब्रह्मा अमेरिकाके मूल निवासी 'लाल भारतीय'(रेड इंडियन), और पीले होनेके कारण बृहस्पति मंगोल हुए।" 'विन्' शब्दका सम्बन्ध 'विष्णु' से जोड़ देना कितनी निरर्थक खींचातानी है।

इन्हीं सब आधारोंपर श्रीरामधारी सिंह 'दिनकर' 'संस्कृतिके चार अध्याय' नामक अपनी पुस्तकमें लिखते हैं—'सच्ची बात कदाचित् यह है कि अपने मूलरूपमें भक्ति आर्येतर प्रवृत्ति थी और यह आर्यों एवं द्राविड़ोंके भारत आगमनके पहलेसे ही भारतीय जनतामें विद्यमान थी। चूँकि द्राविड़ भारतमें आर्योंसे पहले आये, इसलिये भक्ति-तत्त्व पहले द्राविड़ धर्ममें समाविष्ट हुआ। वैदिक आर्योंमें भक्तिका प्रत्यक्ष रूप नहीं मिलता; क्योंकि उनका धर्म हवन और

यज्ञतक ही सीमित था। जबतक यज्ञवाद लोकप्रिय रहा, आर्य जनताका ध्यान भक्तिकी ओर नहीं गया, जो उस समय द्राविड़ जन-धर्मका अङ्ग समझी जाती थी। पीछे ब्राह्मणोंके कालमें जब यज्ञवाद निर्जीवता धारण करने लगा और ऋषिगण उपनिषदोंमें एक नये धर्मकी खोज करने लगे, तभी आर्य-जनताने भक्तिको अपनाया होगा। क्योंकि यज्ञवाद की जकड़से उसका मन ऊबने लगा था।'

अपने इस मतके समर्थनमें वे भक्तिके मुखसे कहलाया हुआ यह वचन उद्धृत करते हैं कि मैं द्राविड़ देशमें जन्मी, कर्णाटकमें मैंने विकास पाया, महाराष्ट्रमें कुछ दिन ठहरी और गुजरातमें जाकर बूढ़ी हो गयी।'

उत्पन्ना द्राविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित् क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥

उनका कहना है कि यह श्लोक भागवत तथा पद्मपुराण-में आया है।

पहले पाश्चात्य विद्वानोंकी यह मान्यता थी कि 'द्राविड़ भारतके मूल निवासी थे, बादमें आर्योंने आकर यहाँ एक नवीन संस्कृतिका प्रचार किया।' अब कहा जाता है कि 'द्राविड़ भी कहीं बाहरसे आये।' श्रीदिनकरजी भी अपनी उक्त पुस्तकमें लिखते हैं कि 'भारतमें बाहरी जातियोंका आरम्भसे ही ताँता लगा रहा है।' अनेक ग्रन्थोंके अध्ययनसे उन्हें पता लगा है कि 'निग्रो (हबशी) जातिके बाद आग्नेय, आग्नेयोंके बाद द्राविड़ और द्राविड़ोंके बाद आर्यजातिके लोग यहाँ आये।' क्या विद्वान् लेखकसे यह पूछा जा सकता है कि 'निग्रो जातिके पहले इस देशमें कौन रहते थे, वे किस जातिके थे, क्या वे सर्वथा जंगली ही थे या समस्त भारत मानव-जातिसे शून्य ही था ? अपने यहाँ आर्य नामकी किसी जातिका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। यदि कोई ऐसी जाति रही होती और वह कहीं बाहरसे भारत आयी होती तो प्राचीन वाङ्मयमें कहीं-न-कहीं उसका कुछ उल्लेख अवश्य मिलता। पर तब भी पाश्चात्य विद्वानोंकी बातको पकड़कर हमारे यहाँके विद्वान् भी तोतेकी तरह यह रट लगाये रहते हैं कि 'भारतमें आरम्भसे ही बाहरी जातियोंका ताँता लगा रहा है।' वस्तुतः बात यह है कि भारतमें ही सर्वप्रथम मानव-सृष्टि हुई और यहाँसे विश्वके विभिन्न भूखण्डोंमें जाकर बसी। पाश्चात्य विद्वान् पिछले आठ-दस हजार वर्षोंमें ही सम्पूर्ण इतिहासको ढूँस देना चाहते हैं। अपने यहाँके मतानुसार वर्तमान सृष्टि लगभग दो अरब वर्ष पुरानी है। सृष्टि-प्रवाहका चक्र बराबर चलता रहता है। यदि यह बात विद्वानोंकी समझमें आ जाय तो इतिहासकी कितनी ही पहेलियाँ सुलझ जाँ और यह स्पष्ट हो जाय कि किसी समय समस्त संसारमें एक ही धर्म तथा एक ही संस्कृति थी और वह है 'वैदिक धर्म और वैदिक संस्कृति।' विषयान्तरके भयसे इस सम्बन्धमें अधिक न लिखकर संकेतमात्र कर दिया गया है।[1] यदि इसे मान लिया जाता है, तो भक्तिको 'आर्येतर-तत्त्व' कहनेका कोई कारण ही नहीं रह जाता।

श्रीदिनकरजीने जो श्लोक उद्धृत किया है, वह भागवतमें नहीं, पद्मपुराणान्तर्गत भागवत-माहात्म्यमें है। उक्त श्लोकके आधारपर भक्तिको 'आर्येतर-तत्त्व' बतलाना केवल बुद्धिका फेर है। ऐसी बात वे ही कह सकते हैं, जो पाश्चात्यों-के कथनानुसार द्राविड़ों, आर्यों आदिका भारतमें बाहरसे आना मानते हैं। पर अपने यहाँ तो ऐसी कोई बात नहीं, द्राविड़ोंमें भी चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था आदि सब कुछ वैदिक तत्त्व ही है। द्राविड़ों आदिको किसी प्रकार भी 'विदेशी' या 'अनार्य' नहीं कहा जा सकता। द्रविड़, कर्णाटक, महाराष्ट्र तथा गुजरातमें आज भी भक्तिके प्रति आकर्षण दिखलायी पड़ता है। 'भागवत-माहात्म्य'में जहाँ ऊपरका श्लोक आया है, वहीं यह भी कहा गया है—

वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी।
जाताहं युवती सम्यक्प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम्॥

इससे समस्त भारतमें भक्तिकी व्यापकता ही स्पष्ट होती है। भक्ति-शास्त्र विष्णु तथा उनके अवतारोंसे ही सम्बन्ध रखता है और विष्णु वैदिक देवता माने जाते हैं। इस तरह श्रीदिनकरजीकी बात जमती नहीं।

(२) भक्ति ईसाई मतकी देन

जर्मनीके विख्यात मनीषी प्रोफेसर वेबरने अपनी रचना-ओंमें यह सिद्ध किया है कि 'कृष्णका जन्म ईसाके पश्चात् हुआ।' उन्होंने बतलाया है कि 'क्राइस्ट' शब्द, जिसका आज भी फ्रेंच भाषामें 'क्रीस्ट' उच्चारण होता है, 'कृष्ण'का उद्गम-स्थान है। यही 'क्रीस्ट' शब्द काल-विपर्यासमें भ्रष्ट होकर 'कृष्ट'के रूपमें परिणत हुआ और अन्ततः 'कृष्ण' बन गया।'' तमिळ भाषामें अब भी कृष्णको 'किट्टु' और बंगालमें 'कृष्टो' या 'कृष्टो' कहा जाता है। इससे भी यह सिद्ध किया

---

१. इसका पूरा विवेचन देखिये 'कल्याण' हिंदू-संस्कृति-अङ्कमें 'संस्कृतिकी व्यापकता' शीर्षक लेखमें।

गया है कि 'भक्ति' ईसाई मतकी देन है; क्योंकि भारतमें भक्तिके आधार कृष्ण ही हैं।

पर पाली-भाषाके बौद्ध ग्रन्थ 'निद्देस' में वासुदेव, बलदेवकी चर्चा आयी है। यह ग्रन्थ ईसासे चार सौ वर्ष पूर्वका माना जाता है। पाणिनिके भी एक सूत्रमें वासुदेव और अर्जुनके नाम आये हैं। पाणिनिका समय भी उसी शताब्दीके लगभग माना जाता है। महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य (ईसा-पूर्व ३२५) के दरबारमें मेगस्थनीज यूनानी राजदूत था। उसने लिखा है कि उस समय 'हरक्यूल' की पूजा शौरसेनी करते थे, जिनके अधिकारमें मथुरा-जैसी विशाल नगरी थी, जहाँ यमुना नदीका प्रवाह था। इस 'हरक्यूल' शब्दने अनेक विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट किया, जिनमें प्रोफेसर विल्सन, गोल्डके, हिगिंस, लैसन, अरियन तथा स्ट्रेबो प्रधान थे। यद्यपि इन विद्वानोंकी धारणाओंमें मतभेद रहा, तथापि इतना अवश्य निर्णय हो गया कि 'इस शब्दका प्रयोग श्रीकृष्ण अथवा बलदेवके हेतु किया गया है।' ईसा पूर्व तीसरी या दूसरी शताब्दीमें हेलियोडोरने वासुदेवकी पूजाके लिये बेस नगरमें गरुडध्वज स्थापित किया था। उसके लेखमें वासुदेवको 'देवाधिदेव' कहा गया है। हेलियोडोर यूनानी था, जो वैष्णवधर्ममें दीक्षित होकर 'भागवत' उपाधिसे विभूषित किया गया था। ईसा-पूर्व कालके घोसुंडी, नानाघाट, भीलसोगाँव आदि अनेक स्थानोंके शिलालेखों-द्वारा वासुदेवका ईसा-पूर्व होना सिद्ध होता है।

भारहुतके बौद्ध-स्तूपमें 'गजेन्द्र-मोक्ष' तथा भागवतके अन्य कई दृश्य अङ्कित हैं। यह स्तूप भी ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दीके लगभगका माना जाता है। कई बौद्ध जातकों एवं अश्वघोषके 'बुद्धचरित' काव्यमें, जिसकी रचना ईस्वी सन्‌की प्रथम शताब्दीमें हुई थी, भागवत तथा अन्य पुराणोंके कई आख्यान मिलते हैं। ये बहुत पहलेसे प्रचलित रहे होंगे, तभी उनका उक्त काव्यमें समावेश हो सका। प्रोफेसर गोकुलदास दे ने इन्हीं आधारोंपर अपनी पुस्तक 'Significance and Importance of Jatakas' (जातकोंका गूढ़ अभिप्राय और महत्त्व) में लिखा है कि 'इन अवैदिक बौद्ध-प्रमाणोंसे भी स्पष्ट होता है कि भागवत आदि पुराण ईसासे पूर्वके हैं।'

स्वर्गीय सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकरने भी स्वीकार किया है कि 'वासुदेवका पूजन ईसाके पहलेसे चलता था।' उनके अनुसार प्राचीन कालमें वैष्णवधर्म मुख्यतः तीन तत्त्वोंके योगसे प्रादुर्भूत हुआ। पहला तत्त्व 'विष्णु' नामक है, जिसका उल्लेख वेदमें मिलता है। दूसरा तत्त्व 'नारायण धर्म' है, जिसका विवरण महाभारतके 'नारायणीय उपाख्यान' में है। तीसरा तत्त्व 'वासुदेव मत' है, जिसका सम्बन्ध 'वासुदेव' नामक किसी ऐतिहासिक व्यक्तिसे है जो ईसासे लगभग छः सौ वर्ष पूर्व प्रकट हुआ था। पर वासुदेवमें गोपाल कृष्णकी कल्पना विदेशी जान पड़ती है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Saivism Vaishnavism' (शैव और वैष्णव-मत) में वे लिखते हैं कि "वासुदेवमें गोपाल कृष्णका भाव बादमें आया। 'आभीर' जाति कहीं बाहरसे आकर भारतमें आबाद हुई। सम्भवतः उसीके साथ 'क्राइस्ट' नाम आया। गोपियोंके साथ कृष्णके छेड़-छाड़, रास लीला आदि 'आर्य मर्यादा' के विरुद्ध थे। इससे भी गोपाल कृष्णका भाव बाहरी सिद्ध होता है। इन्हें उन्हें भी वासुदेवमें आरोपित कर लिया गया।" इसी आधारपर बौद्ध विद्वान् कोसाम्बीने लिखा है कि 'शकोंके शासन-कालमें जिस प्रकार महादेवका रूपान्तर लिङ्गमें हुआ, उसी प्रकार गुप्तोंके अवनति-कालमें वासुदेवका रूपान्तर बहुभार्य यौवनमें हुआ।' इसे उद्धृत करते हुए अपनी पुस्तकमें श्रीदिनकरजी लिखते हैं कि 'प्राचीन ग्रन्थोंमें कृष्णकी प्रेम-कथाएँ नहीं मिलतीं। इससे प्रमाणित होता है कि वे कोरे प्रेमी और रसिक जीव नहीं, बल्कि देश और धर्मके बड़े नेता थे। अवश्य ही गोपाल-लीला, रास और चीरहरणकी कथाएँ तथा उनका रसिकरूप बादके भ्रान्त कवियों एवं आचारच्युत भक्तोंकी कल्पनाएँ हैं, जिन्हें इन लोगोंने कृष्ण-चरितमें जबर्दस्ती ठूँस दिया।'

भला, इस 'जबर्दस्ती' का भी क्या कोई ठिकाना है। वसुदेवके पुत्र होनेसे ही कृष्ण 'वासुदेव' कहलाये। वसुदेवका जन्म 'वृष्णि' वंशमें हुआ था। इस तरह कृष्ण क्षत्रिय थे, आभीर नहीं। अपने बाल्य-कालमें वे नन्द गोपके यहाँ पले अवश्य थे। फिर आभीर कहीं बाहरसे आये, इसीमें क्या प्रमाण ? कृष्ण-लीलाओंमें, जिनका आध्यात्मिक महत्त्व है, अश्लीलता देखना विकृत दिमागकी ही कल्पना हो सकती है। इस सम्बन्धमें उक्त ऐतिहासिक प्रमाणोंके अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी विचारणीय हैं। जब प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्रीसावरकर बम-विस्फोट-आन्दोलनके समय काळापानी (अंडमन द्वीप) में थे, तब उन्होंने 'ख्रिस्तपरिचय' नामक एक पुस्तक मराठीमें लिखी। उसमें उन्होंने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि 'ईसाका जन्म या तो भारतमें हुआ या

फिलिस्तीनमें बसनेवाले किसी हिंदूके घरमें ।' डाक्टर डुकानिन, मेजर विल्फर्ड, फिलसिप आदिने लिखा है कि फिलिस्तीन, शाम, मिस्र, अबीसीनियाँ आदिमें हिंदू देव-देवियोंके पूजनके चिह्न अब भी पाये जाते हैं[1]। ऐसी दशामें हो सकता है कि ईसाका जन्म फिलिस्तीनमें बसनेवाले किसी हिंदू घरानेमें हुआ हो। बाइबलमें आये हुए शब्द 'मीना' का अभिप्राय 'मीन' से है। फ्रांसीसी यात्री केम्पोनियरका कहना है 'कि पश्चिमोत्तरके हिंदुओं और फिलिस्तीनके यहूदियोंके रीति रिवाज बहुत कुछ एक-से हैं।'

पादरी गोपालाचारीका भी ऐसा ही मत है। सबसे आश्चर्यजनक समता तो ईसाकी मूर्तियों तथा चित्रोंमें मिलती है। फ्लोरेंसके एक चित्रमें ईसाकी माता हिंदू रानीके वेषमें दिखलायी गयी है। वह हिंदू आभूषण तथा साड़ी पहने हुए है और उसके मस्तकपर कुंकुम लगा है। यह चित्र ईसवी सन्‌की पाँचवीं शताब्दीका बतलाया जाता है। मिलानके एक गिरजाघरमें भी एक ऐसा ही चित्र है, जो उसी समयका बतलाया जाता है। म्यूनिकके एक चित्रमें ईसा संन्यासी-वेषमें हैं और उनके मस्तकपर तिलक भी है। फ्लोरेंसकी एक मूर्तिमें वे यज्ञोपवीत धारण किये हुए हैं।

अपने जीवनमें १८ वर्षतक ईसा कहाँ रहे, इसका ईसाई ग्रन्थोंमें कोई उल्लेख नहीं। रूसी विद्वान् डाक्टर नोटोविच इस सम्बन्धमें ४५ वर्षतक अनुसंधान करते रहे। अन्तमें वे इस निर्णयपर पहुँचे कि इन वर्षोंमें ईसा भारतमें रहकर हिंदू धर्मोंका अध्ययन तथा योगाभ्यास करते रहे। इसका प्रमाण उन्होंने तिब्बतके एक बौद्ध विहारके कुछ प्राचीन ग्रन्थोंमें पाया। इसके उन्होंने तीन फोटो लिये, जिनमेंसे एक उन्होंने पोपके पास भेजा। पोपने उसे तुरंत नष्ट कर देनेकी आज्ञा दी और डाक्टर नोटोविचको अपनी पुस्तक प्रकाशित न करनेके लिये लिखा; पर उन्होंने उसे छपा ही दिया। उसका नाम है 'The Unknown Life of Jesus' (ईसाका अज्ञात जीवन)। कहा जाता है कि सिकंदरियाके एक व्यक्तिने ईसाके सूली दिये जानेका आँखों देखा वर्णन अपने एक पत्रमें लिखा था। सिकंदरियाकी खुदाईमें यह प्राप्त हुआ है। एक फ्रांसीसी पुरातत्त्वज्ञ इसे जर्मनी ले गया, जहाँ लातिन भाषासे इसका अंग्रेजीमें अनुवाद कराया गया। सर्वप्रथम यह १८७१ में अमेरिकामें प्रकाशित हुआ, पर बादमें जब्त कर लिया गया। उसकी एक प्रति काशीके बाबा रामके हाथ पड़ गयी। उस पत्रमें बतलाया गया है कि 'ईसाका शरीर मृत समझकर पाइलटने उसे उनके शिष्योंको दे दिया। वास्तवमें वे मरे नहीं थे। वे किसी प्रकार भागकर चले गये।' बंगालके नाथ-सम्प्रदायमें यह पद बहुत प्रचलित है—'(आये) भारत आये ईशोर गेल फिरलो मरि।' अर्थात् ईशानाथ मृत्युके बाद जीवित होकर भारत गये। स्वामी अभेदानन्दका कहना है कि 'नाथ-नामावलीमें यह बतलाया गया है कि सूलीपर चढ़नेके बाद ईसा भारत गये।' श्रीविजयकृष्ण गोस्वामीने यह पद देखा था। भरतीके 'वारीस आश्रम' में लिखा है कि 'ईसा कश्मीरकी सीमापर ठहरे थे।' स्व० मौलाना मुहम्मद अलीका, कुरानके अपने अंग्रेजी अनुवादमें कहना है कि ईसा सूलीपर मरे नहीं थे। वास्तवमें उनकी मृत्यु कश्मीरमें हुई। यहाँ वे योग सीखते रहे और समाधि-अवस्थामें उनका शरीर छूटा।'

पर इस तरहकी बातोंके लिये ऐतिहासिक प्रमाण ढूँढनेमें सदा कठिनाइयाँ पड़ेंगी और बराबर संदेह बना रहेगा। सभी प्राचीन धर्मों, संस्कृतियों एवं पवित्र ग्रन्थोंमें एक ही प्राचीन परम्परा किसी-न-किसी रूपमें मिलती है। फ्रांसीसी विद्वान् रेने गेनोने अपनी पुस्तकोंमें इसपर अच्छा प्रकाश डाला है। यह परम्परा वैदिक ही हो सकती है, जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है। विभिन्न परिस्थितियोंके कारण अन्य देशोंमें उसका रूप बदल गया, पर उसकी झलक सबमें मिलती है। यदि यह मान लिया जाय तो ऐतिहासिक प्रमाण ढूँढनेके लिये माथापच्ची करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। ईसा चाहे भारतमें पैदा हुए हों या अन्यत्र, वे चाहे कभी भारत आये हों या न आये हों, उनके साथ किसी हिंदू संतका सम्पर्क हुआ हो अथवा न हुआ हो, यह स्पष्ट है कि उनके विचारोंपर हिंदू सिद्धान्तोंकी छाप है।

इस सम्बन्धमें एक बात और है—कहा जाता है कि 'ईसाकी मृत्युके ५२ वर्ष बाद उनके शिष्य संत टामस दक्षिण-भारत आये थे।' पर अब ईसाई पादरी ही इसे केवल कपोल-कल्पना मानने लगे हैं[1]। वस्तुतः भारतमें ईसाई धर्मका प्रचार पुर्तगालियोंद्वारा पंद्रहवीं शताब्दीसे आरम्भ हुआ, उस समय भारतमें भक्ति-भावनाका प्रचार जोरोंसे चल रहा था।

1. पादरी हेरासने अपनी पुस्तक "Proto-Indo-Mediterranean Culture" में प्रमाण सिद्ध किया है कि प्राचीन भारतीय ही बाहर जाकर उन देशोंमें बसे थे।

1. Father Hopart: "A South Indian Mission"

इस तरह यह कथमपि सिद्ध नहीं होता कि 'भक्ति भारतको ईसाई-मतकी देन है।'

(३) भक्ति इस्लामकी देन

ऐतिहासिक प्रमाणोंद्वारा दिखलाया जा चुका है कि 'ईसाके सैकड़ों वर्ष पूर्व भी भारतमें भक्ति-भावना थी।' तब भी कुछ विद्वानोंने यह सिद्ध करनेका साहस किया है कि 'भक्ति भारतको इस्लामकी देन है।' सर्वप्रथम सर चार्ल्स इलियटने १९२१ में प्रकाशित 'Hinduism and Buddhism' (हिंदूधर्म और बौद्धधर्म) नामक अपनी पुस्तकमें लिखा कि 'रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वीरशैव सिद्धान्तोंपर कुछ इस्लामी प्रभाव हो सकता है।' इसे लेकर कुछ भारतीय विद्वान् उठ पड़े और 'हिंदू-मुस्लिम एकता' की धुनमें उन्होंने यह सिद्ध करना आरम्भ कर दिया कि 'भक्ति भी भारतको इस्लामकी ही देन है।' इनमें सबसे प्रमुख हैं—प्रयागके डाक्टर ताराचंद, जो भारतके मध्यकालीन इतिहासके प्रकाण्ड पण्डित' माने जाते हैं। पहले ये प्रयाग विश्वविद्यालयमें अध्यापक थे, फिर वहाँके उप-कुलपति(Vice-Chancellor) हुए और बादमें भारत-सरकारके शिक्षा-सचिव तथा ईरानमें राजदूत। उन्होंने अपनी पुस्तक 'Influence of Islam on Indian Culture' (भारतीय संस्कृतिपर इस्लामका प्रभाव) में यह दिखलानेका प्रयास किया है कि 'निम्बार्क, रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य और दक्षिणके आळ्वार संत तथा वीरशैव सम्प्रदाय—ये सब-के-सब इस्लामके प्रभावके कारण आविर्भूत हुए।' वे लिखते हैं कि 'विष्णुस्वामी, निम्बार्क और मध्वका चिन्तन नम्पम, मदाभरी और गज्जाली के चिन्तनके समान लगता है।' वे यह भी कहते हैं कि 'इन आचार्योंने जो मार्ग चलाया, उसमें जाति-प्रथाकी कठोरता नहीं थी, धर्मके बाहरी उपचार अप्रमुख थे तथा एकेश्वरवाद, आतुर भक्तिभावना, प्रपत्ति और गुरु-भक्तिपर उसमें बहुत जोर दिया गया था। ये सब इस्लामकी ही विशेषताएँ हैं।'

यह दिखाया जा चुका है कि राम और कृष्णकी उपासनाके साथ भक्तिका उदय भारतमें बहुत पहले हो चुका था। उक्त भारतीय आचार्य एवं संतोंके विचारों तथा वचनोंमें सूफी संतोंके सिद्धान्तोंसे जो समता उपलब्ध होती है, उससे यह सिद्ध नहीं होता कि भारतीय आचार्य सूफी संतोंसे प्रभावित थे। आधुनिक इतिहासकार भी अब यह मानने लग गये हैं कि इस्लामके आविर्भावके पूर्व केवल अरबमें ही नहीं, उन समस्त मजहबों तथा पश्चिमी देशोंमें, जो आज मुस्लिम हैं, वैदिक तथा बौद्धधर्म विकृतरूपमें फैल रहे थे। इस्लामने इसमें उन्हीं धर्मोंके कुछ तत्त्वोंसे 'रहस्यवाद'की प्रेरणा ग्रहण की। भारतमें भारतीय संतोंके सम्पर्कमें आनेपर सूफी संत उनके विचारोंसे भी बहुत प्रभावित हुए। सूफी सिद्धान्त[illegible] वेदान्तकी छाप है, इसे भी आधुनिक विद्वान् स्वीकार करने लगे हैं। तब फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि 'भारतीय वैष्णव आचार्य सूफी विचारोंसे प्रभावित थे।' डा[क्टर] ताराचंदका यह भी कहना है कि 'दक्षिणके आळ्वार संत[ों पर] भी मुसलमानी प्रभाव है।' डाक्टर श्रीकृष्णस्वामी आयं[गर]ने 'Early History of Vaishnavism in Sou[th] India' (दक्षिण-भारतमें वैष्णवमतका प्रारम्भिक इतिहास) नामक अपनी पुस्तकमें यह सिद्ध किया है कि प्रायः सभी आळ्वारोंका समय ईसवी सन्‌की दूसरी शताब्दी[से पूर्व का] है। इसी प्रकार उन्होंने एक दूसरे आळ्वारका समय [ईसाकी ...] शताब्दी पहलेका है। प्रमुख आळ्वारोंका समय छठी[से नवीं] शताब्दीतक है। यदि उनपर मुसलमानी प्रभाव माना [जाय] तो यह भी मानना पड़ेगा कि यह प्रभाव अरबवालों[से ...] होगा। किंतु उस समयतक वहाँ इस्लामका इतना प्रचार नहीं हुआ था कि उसके प्रभावसे नये धार्मिक आन्दोलन उठते। फिर आळ्वार संत आकस्मिक नहीं बने जा सकते। भारतमें उनकी परम्परा उस समय आरम्भ हुई थी, जब अरबमें इस्लामका जन्मतक नहीं हुआ था। आळ्वार कवियोंके तमिल पदोंका सम्पादन, पद्धे-पद्धे नाथ[मुनि]ने किया, जो नवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें तिरुच[िरापल्ली]के पास श्रीरंगम्‌में रहते थे। यह संग्रह 'प्रबन्धम्' के [नामसे] प्रसिद्ध है। इसमें संगृहीत पदोंमें प्रपत्ति, शरणागति, [आत्म]समर्पण और एकान्तनिष्ठाके भाव भरे पड़े हैं। प्रप[त्तिका] अर्थ है—सब कुछ छोड़कर भगवान्‌की शरणमें आ[ने]की भावना। श्रीरामानुजाचार्यने इसपर बहुत जोर दिया। भक्तिके वर्णनका 'नालियर-प्रबन्धम्' में बहुत अच्छा [चित्रण] मिलता है।*

डाक्टर फर्कुहरने, जो भारतके प्रसिद्ध ईसाई-म[त-प्रचारक] माने जाते हैं, अपनी पुस्तक 'A Primer of Hindu[ism]' में लिखा है कि 'उत्तर-भारत भक्ति प्रचारके लिये श्रीरामान[न्दका] बड़ा ऋणी है। उनका समय चौदहवीं शताब्दीका पू[र्वार्द्ध है।] तब भी उनके मत तथा आचरणमें किंचित् भी इ[स्लामका] प्रभाव नहीं देख पड़ता।'

---

* इसीसे कुछ विद्वानोंने यहाँतक अनुमान लगा[या है] कि 'भागवत' भी इसी 'प्रबन्धम्'से प्रेरित है।

डाक्टर ताराचंदका यह भी कहना है कि 'वीरशैव-सम्प्रदाय अवश्य उस समय उत्पन्न हुआ होगा, जब मुसल्मान व्यापारीके रूपमें भारत आने तथा काम्बेसे लेकर सिलोनतक बसने लगे।' इस सम्प्रदायका पर्याप्त साहित्य तमिळ और तेलुगु भाषाओंमें उपलब्ध है। इस साहित्यमें सभी उद्धरण वेदों अथवा आगमसे लिये हुए हैं। हिंदूधर्मके अतिरिक्त उसमें किसी धर्मका उल्लेख नहीं है। 'अल्लम प्रभु' इस सम्प्रदायके बड़े संत हुए, जो वीरशैव-मतके प्रवर्तक बासवके समकालिक थे। 'अल्ला' और 'अल्लम' के बीच अक्षरोंकी समानता देखकर कुछ विद्वानोंने वीरशैव-मतपर इस्लामके प्रभावका अनुमान लगाया है। इसकी पुष्टि वे इससे भी करते हैं कि वीरशैवोंमें शवको गाड़नेकी प्रथा है। पर किटेलके 'कन्नड-कोष' के अनुसार 'अल्लम'का अर्थ 'मिथ्यात्व भक्त' है, न कि 'अल्लाका अनुचर'। रही शव गाड़े जानेकी प्रथा, तो इसका प्रचार भारतकी कई जातियों और सम्प्रदायोंमें पहले भी था और अब भी है। इस तरह उनपर इस्लामी प्रभाव सिद्ध नहीं होता। सच बात तो यह है कि जब दक्षिणमें पहले शैव-मत और बादमें वीरशैव-मत फैला, तबतक वहाँ इस्लामका प्रचार ही नहीं हुआ था।

डाक्टर ताराचंद-जैसे विद्वानोंने तो यहाँतक कहनेका साहस किया है कि यदि भारतमें इस्लाम न आता तो शंकराचार्यका आविर्भाव होता या नहीं इसीमें संदेह है। डाक्टर ताराचंदके-जैसे ही विचार रखनेवाले दूसरे विद्वान् प्रोफेसर हुमायूँ कबीरने, जो भारत-सरकारके शिक्षा-विभागके एक उच्च अधिकारी हैं, अपनी पुस्तक 'Our Heritage (हमारी विरासत)' में यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि 'आचार्य शंकरने अद्वैतका पाठ इस्लामसे सीखा है।'* वे भक्ति-पर भी इस्लामका प्रभाव मानते हैं। उनका कहना है कि 'भारतकी विचार-धारामें आठवीं शताब्दीके आरम्भके लगभग एक क्रान्तिकारी परिवर्तन होता है। भारतीय विचार-धाराका नेतृत्व उत्तरसे दक्षिणको चला जाता है। शंकर और रामानुज, निम्बादित्य और बल्लभाचार्य—सब दक्षिण भारतके हैं। वहीं वैष्णव तथा शैव-मतोंका उत्थान एवं विकास हुआ।' उत्तर-भारतके राजनीतिक एवं सामाजिक घटनोंसे यह सहसा क्रान्तिकारी परिवर्तन समझमें नहीं आता और इतिहासकार इससे बड़े चक्करमें पड़े हैं। इस रहस्यकी कुंजी हमें तब मिलती है, जब हम इसका सम्बन्ध दक्षिणमें सातवीं शताब्दीके मध्यके लगभग इस्लामके प्रादुर्भावसे जोड़ देते हैं।' परंतु जो तर्क दिये जा चुके हैं, उनसे इस मतमें कुछ दम नहीं रह जाता। दक्षिणमें उस समयतक इस्लामका प्रभाव नाममात्र था। उससे भक्तिके आचार्योंकी विचार-धारा प्रभावित नहीं मानी जा सकती। इस तरह 'भक्ति भारतको इस्लामकी देन है', यह वैसिर-पैरकी कल्पना है।*

निष्कर्ष

सच बात तो यह है कि इस प्रकारका विवाद ही निरर्थक है। भक्ति कोई लेन-देनकी वस्तु नहीं। उसकी भावना विश्व-व्यापिनी है; उसका आधार है प्रेम, जो प्राणिमात्रमें पाया जाता है। हिंसक पशुओंतकमें नर-मादा परस्पर और अपने बच्चोंसे प्रेम करते हैं। भेड़ियोंकी माँदमें मनुष्योंके बच्चे पले पाये गये हैं। पशु-पक्षी भी स्वामिभक्त होते हैं। उनमें बुद्धि, विवेक, विचार अधिक नहीं होता; इसलिये उनमें भक्ति भी इससे आगे नहीं बढ़ पाती, यद्यपि कुछ विशिष्ट पशु-पक्षियोंमें किसी सीमातक भगवद्भक्ति भी देखी गयी है। भगवदर्पित प्रेम ही भक्ति है। इसका ठेका किसी व्यक्ति, देश, जाति, मत, सम्प्रदाय या धर्मके पास नहीं। विश्वके अधिकांश लोग ईश्वरमें विश्वास रखते और किसी-न किसी रूपमें उसकी भक्ति करते हैं। सभी देशों, सभी जातियों और सभी धर्मोंमें समय-समयपर 'भक्तिके बादल' पाये जाते हैं। इस दृष्टिसे इसमें कोई देश, जाति या धर्म किसी दूसरेका ऋणी नहीं कहा जा सकता। पर भक्तिके प्रकार और साधनोंमें भिन्नता अवश्य है, जो होनी भी चाहिये; क्योंकि सबके संस्कार, स्वभाव और बुद्धि एक-जैसे नहीं होते। पर इसमें संदेह नहीं कि भक्तिपर जितना सूक्ष्म, गम्भीर और विस्तृत विचार अपने यहाँके ग्रन्थोंमें मिलता है, उतना अन्य किसी देश या जातिके ग्रन्थोंमें नहीं। इस अङ्कके ही लेखोंमें भक्ति-सिद्धान्तके गहन विवेचनका कुछ आभास मिलता है, जिससे उसकी गम्भीरता एवं विशालताका अनुमान लगाया जा सकता है। यदि इन

* इस मतका पूरा खण्डन 'सिद्धान्त' वर्ष ८, अङ्क २-५में प्रकाशित 'शंकराचार्य और इस्लाम' शीर्षक लेखमें देखिये।

* इस विषयपर दिनकरजीकी पुस्तक 'संस्कृतिके चार अध्याय'में अच्छा प्रकाश डाला गया है।

विवेचनमें अन्य जाति एवं धर्मोंके विचारोंमें समता जान पड़ती है तो अधिकतर सम्भावना यही है कि इसका मूलस्रोत एक ही है, जैसा कि लेखके आरम्भमें संकेत किया जा चुका है। यह बात दूसरी है कि समय-समयपर विभिन्न सम्प्रदायोंके भक्तोंमें परस्पर भावों एवं विचारोंका आदान-प्रदान होता रहा, वे एक दूसरेसे प्रभावित भी रहे। पर यह कहना कि 'भारतने भक्तिका पाठ ईसाईसे सीखा' सर्वथा निराधार और भ्रामक है।

निहोरो श्रीराधा जू सों

(रचयिता—श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी 'निधिनेह')

सरल सनेह चित वित के हरनहारे, सरज तिहारे राधे अदन बरन हैं।
पिय मद छाके, अभिलाखे ध्यास पूरन कों, दृग अरविंद सुख कारज करन हैं॥
हिय करुना के धाम अभिराम सुखधाम, घनधाम घनस्याम जीवन मरन हैं।
अभिमत दैन धारे कंजन तें न्यारे कर बितरत मोद, राधे ! रावरी सरन हैं॥

चरन—नख दुति बरन अरुन भावना अनेक, मूले से भ्रमे से दास दासन के चित बीच।
मृदु गदकारे उन पंकजनि निरंजनि पै सीस धारिबे की होड़, कैसी परी बीचा बीच॥
अरुनाभा गुलुफ महावर पै पारत की, भक्त बर देवि मदा मोद सों सींचि सींचि।
पदतल धूरि भूरि सिद्धि दातार, संत अहस अपार सुख हिय धारि दृग मीचि॥

दृग—सन वीठियारे दृग पिय मय नीति धारे, भारे करुना के भार बरुना किनारे से।
गोबिंद के आनँद के कौतुक की नटसार, नटसार भक्ति, अनुरक्ति छवि धारे से॥
साक्ति वर्णमाला, डोरे रुचिर तमाल पुंज कमनी कुघाला बीच, कोरन पै कारे से।
राधे ! तेरे दृग मृग बँधि करुना की धीम, हरि हरि जात संत संतत सहारे से॥

हृदय—त्रिगुन सनेह सिंधु उमगि चढ़्यो है हिय, पियप्यारो, सुतप्यारो, सखाप्यारो न्यारो है।
शीतल महीतल है सुभग मनोरथ को, तीरथ है पुन्य को सुधन्य धुनिधारो है॥
चित्रित अनेक भाउ मुकुर मनोरम में, अविलम्ब एक बुंद अम्ब मैन तारो है।
सारी जगती की जड़ता की त्रिपुरी है यम, कैंदि खूँदि डारे हिय तेरो गज भारो है॥

कर—मंजु गोरे गोरे भोरे विद्रुम की नौका कर, लहरि रही हैं रेखा सुधनि सुधनि की।
मृगमद चोरे पोरें, फिरन चितोरे मरा, देत हलकोरे घार मार के सुधनि की॥
हरत चसत हैं ग, पन्नग तरू हैं जग, गुनत कथा हैं दास जीवनि मरनि की।
चले बिनु तारें, बिन बोले किलकारें, अहा ! न्यारी है कहानी राधे रावरे करनि की॥

चंद्रवंसी रुचिर कन्हाई की भुन्हाई राधे ! आधे दृग मोलि हिय आसन विराजि जा।
कंस दुरभावना की पूतना-प्रधान आजु, छीर बिनु करि, हरि संग कूकि भाजि जा॥
ललिता बिसाखा गोपी बारि कै अलोपी, भीजि समयारी दृग अनुराग पाग साजि जा।
आनि पाये कोक माहिं तेरी करतूति राधे ! सब की समोय धोय सब बीच साजि जा॥

'भूदान' भक्तिका ही काम है

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

'भूदान एक बहुत ही अच्छा कार्य है।' क्योंकि मुझे स्मरण है, श्रीमाँने आजतक ऐसा और किसी कामके बारेमें नहीं कहा। यह है भी ठीक। भूदान, सम्पत्तिदान तथा उसकी कोई भी प्रक्रिया अच्छा है तो वही चीज, जिसका प्रतिपादन श्रीअरविन्द करते हैं।''

अरविन्द-विश्वविद्यालयके प्राध्यापक डा० इन्द्रसेन एम्० ए०, पी० एच्० डी० से उस दिन सायंकाल पांडिचेरीमें जब भूदानकी चर्चा छिड़ी तो उन्होंने अरविन्द-आश्रममें संत विनोबाके पधारनेका विचारसे वर्णन करते हुए ये बातें कहीं।

बात है सन् १०—१२ की। अरविन्दकी ओर मेरा झुकाव हुआ। एक तो उत्कट देश-भक्ति, दूसरे योगी—दोनों ही रूप मेरे लिये आकर्षक थे। सोचा था, जेलसे छूटकर कुछ दिन उनके आश्रममें रहूँगा, साधना करूँगा और फिर आगे क्या होगा, देखा जायगा। पर—

मेरे मन कछु और है, कर्ता के कछु और।

अरविन्द-आश्रममें पहुँचनेमें ही पचीस साल लग गये। यह तो कहिये जिनकी मर्जीसे कांचीके सर्वोदय सम्मेलनमें जानेका सुयोग लग गया, इसलिये लौटते समय इतने दिनों बाद भी यहाँ पहुँच सका। अन्यथा कौन जाने कब यहाँ पहुँच पाता।

और आज वह महान् विभूति, जिनके चरणोंके सांनिध्यका मैंने स्वप्न देखा था, अनन्तमें विलीन हो चुकी है। कमलके पुष्पोंसे तथा अन्य असंख्य पुष्पोंसे आच्छादित उनकी वह पुष्पमय दिव्य समाधि, उनकी वह साधना-स्थल, उनका आश्रम और श्रीमाँकी झाँकी देखकर ही मैंने संतोष माना।

अरविन्दके योगका मूल सिद्धान्त है—आत्म-समर्पण। चञ्चल मनको और इन्द्रियोंकी सारी वृत्तियोंको चारों ओरसे खींचकर परात्पर परमेश्वरके चरणोंमें समर्पित करना। अपनी इच्छाको, अपने अहंकारको, खोद बहाना।

सारी भावनाओं, आकांक्षाओं, अभिलाषाओं, कल्पनाओं, कामनाओं, इच्छाओंको समेटकर प्रभु-चरणोंमें एकान्त-भावसे आत्मसमर्पण करना ही अरविन्दकी साधनाका लक्ष्य था। तन-मन-धन—सर्वस्व अर्पण कर देनेके बाद ही यह भक्ति सधती है। ठीक ही कहा है किसीने—

मजूरी का काम ऐसो, दिलसे मिट जाय खुदी।
उनसे मिलने का तरीका अपने को खोने में है॥

भूदानमें इस आत्मसमर्पण-योगकी ही साधना तो हो रही है। मेरे पास जमीन है तो मैं उसमेंसे कम-से-कम छठा हिस्सा उसे दे दूँ जिसके पास बिलकुल ही जमीन नहीं है। भूमिहीनके रूपमें जो दरिद्रनारायण भूखों मर रहे हैं, चिथड़े लपेटे घूम रहे हैं, भाँति-भाँतिसे कष्ट भोग रहे हैं, उन्हें हम अपनी भूमिका कुछ अंश दें और उनके बहते आँसुओंको पोंछें, भूखसे बिलबिलाते उनके बच्चोंके लिये हम अपनी रोटीमेंसे एक टुकड़ा निकाल दें, अपने कपड़ोंमेंसे एक कपड़ा उनकी लज्जा ढँकनेके लिये उन्हें दे दें। अपनी सम्पत्तिमेंसे कुछ हिस्सा उन्हें दे दें। अपनी बुद्धिमेंसे कुछ बुद्धि उन्हें दान करें, अपने साधनोंमेंसे कुछ साधन उन्हें दे दें। यही तो है—भू-दान, यही तो है—सम्पत्ति-दान, यही तो है—बुद्धि-दान, यही तो है—साधन-दान।

अपनेको खोनेमें और होता क्या है?

भगवान्ने हमें जो कुछ दिया है—रुपया-पैसा, धन-दौलत, घर-जमीन, विद्या-बुद्धि—वह सारी सम्पत्ति 'मेरी' नहीं, भगवान्की है, समाजकी है। 'समाजाय इदं न मम'। इसे मैं अपनी मिलकियत बनाऊँ, यह गलत है।

तेरा तुझको सौंपते क्या लागै है मोर।

तेरी चीज तुझे सौंप दी—यही तो भू-दान है। मेरे पास जो है, उसमें मेरे दूसरे भाइयोंका भी हिस्सा है, उसमें मेरा कुछ नहीं है। समाजने मुझे दिया है, समाजकी चीज, भगवान्की चीज, भगवान्को अर्पित करना ही तो भू-दान है।

और इसीका नाम तो है भक्ति।

भक्तका अपना कुछ नहीं होता। उसका 'मेरा' मिटकर 'हमारा' बन जाता है। दूसरोंकी, पास-पड़ोसियोंकी, समाजकी, देशकी, संसारकी, प्राणिमात्रकी सेवा करना ही उसका धर्म बन जाता है। तुलसीकी भाँति वह कहता है—

सीय राम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

घट-घटमें वह प्रभुके दर्शन करता है। उसका रोम-रोम पुकारता है—

अलख इलाही एक तू, तू ही राम रहीम।
तू ही मालिक मोहना, केसो नाम करीम ॥
सब घट व्यापक राम है, देही नाना भेष।
राव रंक चंडाल घर 'सहजो' दीसे एक ॥

और जब वह इस प्रकार घट-घटमें प्रभुके दर्शन करता है, प्राणिमात्रमें नारायणकी झाँकी करता है, तब यह स्वाभाविक है कि वह 'जो कछु करै सो पूजा'। फिर वह जो भी काम करता है, यही सोचकर करता है कि 'मैं जो भी कार्य कर रहा हूँ, उस रूपमें परमेश्वरकी भक्ति ही कर रहा हूँ। खेतमें कुदाल चलाता हूँ तो इसीलिये कि खेतमें जो उपज होगी, वह नारायणकी ही पूजामें लगेगी। फुलवाड़ीमें गुलाब और चम्पा, बेला और चमेली, तुलसी और जूहीके पौधोंको सींचता हूँ तो इसीलिये कि ये पुष्प, ये तुलसीदल प्रभु-चरणोंमें ही अर्पित होंगे। मैं खाना खाता हूँ तो इसीलिये कि यह शरीर प्रभुका मन्दिर है; इसे स्वच्छ रखना, इसे स्वस्थ रखना मेरा धर्म है। कारण, इस शरीरके द्वारा प्रभुकी ही सेवा होनेवाली है। घर हो या खेत हो, दफ्तर हो या कारखाना हो—जहाँ भी, जो भी काम मैं करता हूँ, वह प्रभुकी सेवा ही है।'

इसीका नाम है—'आत्मसमर्पण-योग', इसीका नाम है—भगवद्भक्ति, इसीका नाम है—भूदान।

बाबा (विनोबा) कहते हैं—"भूदान-यज्ञ ईश्वरकी भक्तिका ही मार्ग है। हमारे पास जमीन है, हमारे पड़ोसीके पास नहीं है। उसे थोड़ा हिस्सा देंगे, तो वह भी खायेगा और उसके बच्चे भी खायेंगे; यह भक्तिका मार्ग हो गया।

"पड़ोसीको अपनी सम्पत्ति और शक्तिका थोड़ा हिस्सा देना भक्तिका मार्ग है। पड़ोसीकी सेवा करना भक्तिका ही मार्ग है। हम सब ईश्वरकी संतान हैं; सब मिलकर काम करेंगे, बाँटकर खायेंगे, मिलकर भगवान्‌का नाम लेंगे, तभी पूरी भक्ति होगी।

"सुबह उठे। कुछ हरि-नाम ले लिया, राम-भजन कर लिया; फिर दिनभर काममें रहते हैं तो भगवान्‌का स्मरण नहीं रहता। दिनभर काम तो करना ही चाहिये, लेकिन काम करते हुए भी भगवान्‌की स्मृति होनी चाहिये, धर्मकी भावना होनी चाहिये।

"किसान खेतमें काम तो करता है, लेकिन खेत जोतते-जोतते पड़ोसीकी जमीनमें भी कुछ हाथ बढ़ा देता है। कहता है कि दूसरेके खेतमें तो घास है, क्या नुकसान होगा तो यह अधर्म हो गया, इससे भगवान् कैसे प्रसन्न होगा?'

"मालिक दिनभर मजदूरसे काम लेता है, पर उसे पूरी मजदूरी नहीं देता। मजदूर कहता है—'मुझे रु० रुपया चाहिये'। मालिक बारह आने देता है। देता अधर्म हो गया, अब भगवान् कैसे प्रसन्न होगा!

"मजदूर मालिकके खेतमें काम करता है। काम नाम तो लेता है, लेकिन बीच-बीचमें आलस करता है। बेकी तरह देख-रेख रही तो काम करता है, नहीं तो बैठ जाता है। आठ घंटेमें मुश्किलसे चार घंटे काम करता है। करता है—'यह तो मालिकका काम है, अपना क्या बिगड़ता है!' तो यह अधर्म हो गया, अब भगवान् कैसे प्रसन्न होगा!

"भगवान्‌ने सुन्दर-से-सुन्दर महुएके फूल दिये, चावल दिये; उसका भात बनाकर, महुएके फूल खाने चाहिये, वह तो मेवा है। लेकिन चावल और महुएकी शराब बनाते हैं और शराब पीते हैं, तो यह अधर्म हो गया। अब भगवान् कैसे प्रसन्न होगा!

"जमीनके मालिक बनकर बैठते हैं; बोलते हैं कि हम २५ एकड़ जमीनके मालिक हैं। पड़ोसमें दूसरेके पास जमीन नहीं है, बाल-बच्चे हैं, खानेको पूरा नहीं मिलता और यह मालिक बना देखता है, तो यह अधर्म है। अब भगवान् कैसे प्रसन्न होगा!

"हम भगवान्‌का नाम तो लेते हैं, इसमें बड़ा भी है, लेकिन वह अधूरी है। सोते समय और उठते समय भगवान्‌का नाम लेते हैं और दिनभर उसे भूले रहते हैं। दिनभर उसे याद करना चाहिये। खेतमें काम करते हैं तो वह भी भगवान्‌का काम है। उससे हम सारे गाँवकी सेवा कर सकते हैं। अपने कुटुम्बके लिये जितना चाहिये, उतना रखकर बाकी का गाँववालोंको दे दें तो यह काम भगवान्‌की भक्तिका ही काम है।"

× × ×

आज भूदानके द्वारा देशके कोने-कोनेमें भक्तिका प्रसार हो रहा है। भूदानको लेकर देशमें भक्तिकी एक अद्भुत हवा बहने लगी है—प्रेमकी हवा, त्यागकी हवा, उदारताकी हवा। ऐसे अद्भुत पावन प्रसङ्ग देखनेमें आते हैं कि हृदय गद्गद हो उठता है।

यह लीजिये, एक गाँवमें भूदानमें मिली जमीन भूमिहीनोंमें वितरण हो रहा है।

सभा शुरू है। 'सबै भूमि गोपालकी, नहीं किसीकी मालिकी' गीत गाया जा रहा है।

जमीन बाँटनी तो है, पर एक टेढ़ा सवाल है। जमीन है कम, भूमिहीन हैं ज्यादा। अब किया क्या जाय? एक-एक भूमिहीनको इतनी जमीन दी जाय, जिससे उसका पूरा काम चल जाय? अथवा जितने भूमिहीन हैं, उनमें थोड़ी-थोड़ी जमीन बाँट दी जाय?

प्रश्न टेढ़ा था। भूमिहीन तो तैयार थे—जैसे चाहे वितरण कर दिया जाय—चाहे यह कम लोगोंको दी जाय, चाहे सबमें बाँट दी जाय। पर बाँटनेवालोंने यह प्रश्न भूमिहीनोंपर ही छोड़ दिया—'तुम जैसे कहो, वैसे करें'।

भूमिहीनोंने सोच-विचारकर कहा—'विष्णुनाथ हमारी माँ है। उन्हींकी कृपासे हम लोग जी रहे हैं। विनोबाजी दूसरी माँ ही हैं, उन्हींकि बलसे जमीन मिल रही है। घरमें माँके चार बच्चे हैं। इन्हें आठ रोटियाँ चाहिये। पर दो ही रोटियाँ हों तो क्या वह एकको देकर तीनोंको भूखा रखती है? नहीं, जितना होगा, उतनेमेंसे ही टुकड़ा-टुकड़ा सबको बाँट देती है। इसलिये दानकी सारी जमीन सबको बाँट दी जाय।'

जमीन और परिवारके हिसाबसे दो-दो एकड़के टुकड़े भूमिहीनोंमें बाँट दिये गये। पर अन्तमें फिर एक समस्या आ खड़ी हुई। धानकी खेतीका बहुत अच्छा आधी एकड़का एक टुकड़ा बचा। दो भूमिहीनोंमें उसे बाँटना था। उसे आधा-आधा करके चौथाई-चौथाई एकड़ देना अच्छा नहीं लगा। पानेवालेको भी उससे क्या होता। तय यह किया गया कि इन दो भूमिहीनोंमेंसे कोई एक ही इसे ले ले, और ये ही दोनों इसका फैसला करें।

उनमें एक था जवान, जिसपर पाँच आदमी आश्रित थे। दूसरा था बूढ़ा, उसपर नौ आदमी आश्रित थे। लोग सोचने लगे कि अच्छा हो, बूढ़ेको ही यह जमीन मिले। पर किसीके कुछ कहनेके पहले ही बूढ़ा बोल उठा—'दीजिये उसीको। जवान छोकरा है, मन लगाकर खेती करेगा।'

आकाश-जैसे विशाल मनवाले इस उदार बूढ़ेकी बात सुनकर लोग चौंक पड़े।

तभी वह युवक बोला—'क्यों दादा, क्या यही न्याय है? तेरे घरमें नौ आदमी, मेरे घरमें पाँच। और मैं ठहरा जवान, पत्थर भी तोड़ लूँगा; पर तू तो बूढ़ा है, तुझे चुपचाप यह जमीन ले लेनी चाहिये।'

बूढ़ेने उसे डाँटा—'बेटा! मैं कहाँ कहता हूँ कि मैं जमीन नहीं लूँगा; फिर जब मिलेगी, तब ले लूँगा। पर तबतक तू मेरे बच्चे-जैसा, तेरा बाप और मैं दोनों साथ-साथ कुश्ती खेलनेवाले। बेचारा स्वर्ग पहुँच गया। मैं अपने बच्चेमें और तुझमें भेदभाव करूँ तो वह भी न मेरे मुँहपर थूकेगा?'

बूढ़ा किसी तरह न माना। लाचार, उस नौजवानको ही आधी एकड़का यह टुकड़ा लेना पड़ा।

× × ×

दूसरे भूमिहीन अपने-अपने हिस्सेमेंसे जब बूढ़ेको थोड़ी-थोड़ी देने लगे, तब उस बूढ़ेने उन्हें भी डाँट दिया—'तुम्हें ही कौन ज्यादा जमीन मिली है? जितनी मिली है, उसीमें अपने बच्चोंका, यानी मेरे नातियोंका पेट भरो। जब बचे, तब मुझे देने आना। भगवान् मुझे भी कभी देंगे ही।'

विमला ठाकुरका कहना है कि 'बूढ़ेकी यह उदारता देखकर मेरा हृदय भर आया। क्या आकाशसे विशाल मनवाले इस बूढ़ेको भूमिसे वञ्चित ही रह जाना पड़ेगा?'

सभामें फिर जमीन माँगी गयी।

तत्काल एक आदमी उठा, उसने अपनी धानकी असुसम एक एकड़ जमीन देनेकी घोषणा कर दी।

उसी समय दानपत्र भरा गया और उसी सभामें उस बूढ़ेको जमीन दी गयी।

× × ×

प्रभु यह उदारता, यह विशालता, यह भक्ति-भावना हम सबमें भरें—यही उनके चरणोंमें प्रार्थना है।

भगवान्‌को शीघ्र द्रवित करनेवाली भक्ति

भगवान् राम कहते हैं—

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥
जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥

(रामचरित॰ अरण्य॰)

भक्तिमें समर्पण, स्वामित्व-विसर्जन

(लेखक—[illegible])

भक्तिमें समर्पण-भावनाका प्राधान्य है। जबतक भक्त अपने इष्टदेवमें अपनेको अर्पण नहीं कर देता, तबतक उसकी भक्ति अधूरी है। प्रश्न उठता है कि इस समर्पणमें बाधक कौन है और यह बात सहज समझमें आती है कि स्वामित्वमें 'मेरा-तेरा' भावका अभिमान मनुष्यको ईश्वरसे दूर ढकेल देता है और समर्पण पूर्ण नहीं होता।

जीवनमें स्वामित्वका होना वैसा ही है, जैसे पानीसे बरफ बन जाना। तरल पानी किसीका सिर नहीं फोड़ता। पर स्थूल बरफ बन जानेसे वह ठोस होनेके कारण चोट पहुँचानेका साधन बन जाता है।

ममत्वकी भावना जब बहुत मोटी हो जाती है, तब बड़ा भय उत्पन्न होता है। इस स्वामित्वकी भावनाको मिटानेके लिये साधनाकी जरूरत है। आज संसारमें स्वामित्व बड़े पैमानेपर है, जिसके परिणामस्वरूप हमने दो बड़े महायुद्ध देखे और सर्वनाशी अणुबम हमारे सामने मानवके नाशकी विकट लीला दिखानेके लिये तैयार है।

ऐसे समयमें, जिस भारतीय राष्ट्रने मानव-समाजको समय-समयपर सर्वस्व-समर्पण करनेवाले अनेक महापुरुषोंको पैदा कर अन्तिम आध्यात्मिक संदेश दिया है, यह भारत इस भौतिक विज्ञानसे उत्पन्न समस्याओंको देखकर चुप रहे—यह परम्पराके विरुद्ध होगा। आजका यह भौतिक विकास सारे मानव-समाजके लिये एक चुनौती बन रहा है।

पर क्या, हम भी स्वामित्वको अधिक-से-अधिक अपनानेके प्रयत्नमें लगे रहें? इससे क्या यह प्रश्न हल होगा? या कोई मार्ग भारतीय परम्पराके अनुरूप अपनाना उचित होगा? भगवान्‌ने श्रीगीतामें स्पष्ट कहा है—

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥
(३।१२)

'जिनके सहयोगसे काम किया, उनको उनका अंश दिये बिना जो भोग करता है, वह चोर है।' यह जो न देनेकी बात है, वही संग्रह-वृत्ति है और उससे स्वामित्व स्थूल होता है। और जो देनेकी बात है, वही अपरिग्रह है, वही भक्ति है। उससे स्वामित्व शिथिल होगा, पिघलेगा।

श्रीभगवान् शंकराचार्यने दानकी व्याख्या 'दानं संविभागः' की है। दान भिक्षा नहीं, पर सम्यक् विभाजन है। ऐसे संविभाजनमें संग्रह करनेकी व्यवस्था व्यक्तिके लिये नहीं है।

हमारे समाजमें धनका व्यवहार करनेवालेको ... माना गया है, मालिक नहीं। आश्रम-व्यवस्था टूट ... आज हम जीवनपर्यन्त एक ही आश्रम—गृहस्थाश्रममें रहे जिससे हमारी स्वामित्व-विसर्जनकी बुद्धि कुण्ठित हो ... उसमें जंग लग गया है। जिस देशमें जीवनके तो ... वर्ष स्वामित्व-विहीनताके थे, वह राष्ट्र समर्पण करनेमें ... था और सहज भावसे कह सकता था कि एक देता जो ... खोना जानता है, वही अमर होता है। आज हमें ... दासजी-जैसे महापुरुषोंके शरीरके बारेमें कम-से-कम ... मिलती है। यह उनके अपनेको मिटानेका प्रमाण है। ... मानव-हृदयपर उनका अधिकार है। माँ बेटेमें अपने मुख देखती है, यही उसका बड़प्पन है। भौतिक वैभव अभिमानी रावण, हिरण्यकशिपु आदि उस विचारसे ... मानवको प्रेरक संदेश नहीं दे पाये। सर्वप्रथम वे ... कीड़े-मकोड़ेकी तरह नगण्य समझते हैं। इसलिये ... संख्यामें उनका नाश करनेमें उनको जरा भी संकोच ... होता। यह है स्वामित्वकी भावना और उसका भयंकर परिणाम।

इसलिये आज कामपुरुषकी भारतीय राष्ट्रसे माँग है 'स्वामित्व विसर्जन कैसे किया जाय', इसका अन्तिम प्रयोग दिखायें। आज श्रीसंत विनोबाजी ग्रामदानमें भूमिके मालि... जैसा कठिन स्वामित्व छुड़ानेका पावन प्रयोग कर रहे ... इस प्रयोगमें करीब २,५७५ गाँवोंके लोगोंने भूस्वा... विसर्जित किया है। सन् ५७में स्वामित्व-विसर्जनकी ... प्रक्रियामें अन्तिम योग देनेका आह्वान श्रीसंत विनोबा... आद्य शंकराचार्यकी जन्मभूमि कालडीमें हुए ... सम्मेलन' के अवसरपर किया था। अगर किसी भारतीय भक्तको कोई दूसरा कार्यक्रम इस दिशामें करना उचित ... पड़े तो वह भी किया जाय। मुख्य प्रश्न स्वामित्व-विसर्जन का और उसके संतत संस्कारको सम्पन्न देनेका है।

भक्ति तथा भक्त—दूसरोंके सहारे नहीं रहते। वे रहते हैं श्रीभगवान्‌के सहारे। और जब हमने अपना

अपना ले लिया, तब फिर हमारे लिये स्वामित्व क्यों और संग्रह भी क्यों ? क्या इससे भगवान्में हमारे विश्वासकी कमी प्रकट नहीं होती ? आज नास्तिकवादी तो यही दलील देते हैं कि जो श्रीभगवान्को मानते हैं, वे ही आज अधिक-से-अधिक संग्रह करते हैं, स्वामित्वका अभिमान करते हैं और फिर कहते हैं कि 'हम भगवान्को मानते हैं।' हमें सोचना चाहिये कि 'हमारे ही मित्रोंकी यह शिकायत क्या सही नहीं है ? भगवान्के माननेका यही प्रमाण है ?' यह हम अपने हृदयमें स्थित ईश्वरको समक्ष रखकर अपनेसे पूछें।

भगवान्के दर्शन तो गरीबोंमें होते हैं। भगवान्का नाम है दीनबन्धु, अशरण-शरण, पतित-पावन। इसलिये हमारा अर्पण तो वहाँ होना चाहिये, जहाँ भगवान् हैं। तभी तो अनीश्वरवादियोंको भी हम अपनी ओर आकृष्ट कर सकेंगे। भौतिक उन्नतिसे जगमगाते इस संसारमें हमें अपना मार्ग ढूँढ़ निकालना है और उसे लोगोंपर प्रकट करना है। हमारे संस्कार, परम्पराएँ इसमें सहायक होंगी—इसका पूरा भरोसा है।

हमारी परम्परा श्रीभगवान्को भोग लगाकर प्रसाद पानेकी है। नैवेद्यके पहले यह साधारण भोजन रहता है, पर भोग लगानेपर यह मङ्गलमय 'प्रसाद' हो जाता है। उससे मानसिक प्रसन्नताका अनुभव हम कर सकते हैं। समर्पणकी यह विशेषता है। वह भगवान्का प्रसाद बन जाता है। केवल भौतिक सुख या वैभवकी अपेक्षा ईश्वरका प्रसाद हमारे लिये हितप्रद है, श्रेयस्कर है। यह प्रसाद हमको बड़े संकटोंसे भी बचा सकता है। श्रीभगवान्की अमृतवाणीमें कहना हो तो कहेंगे—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

इस धर्मका थोड़ा साधन भी हमको भयंकर संकटोंसे बचा सकता है।

भक्तोंके भावपूर्ण अनूठे उद्गार

(लेखक—श्री[illegible] मोहन शुक्लजी)

यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥

यद्यपि सभी भगवद्भक्तोंका दृष्टिबिन्दु एक है, उनकी भावाभिव्यञ्जन-शैली, शब्दयोजना सर्वथा भिन्न होती है—इस दृष्टिसे निम्नाङ्कित पद्योंका मनोयोगपूर्वक अध्ययन करनेपर यह बात पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जायगी।

(१)

आकर्णयाशु कृपणस्य कृपाकरोऽसि
कम्पोऽस्मि नाथ बहुभिः किल जन्मसर्गैः।
अद्य प्रभो यदि दयां कुरुषे न मे त्वं
त्वत्तः परं कमपरं शरणं व्रजामि॥

'नाथ! चौरासी लाख योनियोंमें भटकनेके बाद अत्यन्त दुर्लभ मानवदेह उपलब्ध हुई है। यही आपके दर्शन प्राप्त करनेका सुनहरा मौका है। कृपया अब तो मुझ दीनकी दर्दभरी दास्तान—व्यथाभरी कथा सुनो, मुझे अपनाओ। प्रभो! यदि इस समय आप मेरे ऊपर अनुकम्पा नहीं करेंगे तो आपको छोड़कर किसके द्वारपर जाऊँ? कोई रास्ता बताइये।'

(२)

यदा दैत्या कीशा भवजलधिपारं हि गमिता-
स्तदा काले स्वामिन् किमिति शयनेऽभिप्रयतवान्।
न हेलां त्वं कुर्यास्त्वयि निहितसर्वे मयि विभो
नहि त्वां हित्वाहं कमपि शरणं चान्यमगमम्॥

'स्वामिन्! आपके कृपा-लेशको पाकर गृध्र, दैत्य, वानर प्रभृति कई अन्य जीव भी भव-सागरसे पार हो गये; परंतु जब मुझे पार करनेका समय आया, तब आप लंबी तानकर सो गये! प्रभो! मैं तो अपना सर्वस्व आपपर न्योछावर कर चुका हूँ। अतः इस समय आपको उपेक्षाभाव प्रदर्शित नहीं करना चाहिये। आपको छोड़कर अन्यत्र किसीके शरण नहीं गया हूँ।'

(३)

अनन्तास्या जिह्वा न गुणगणशेषस्त्वेष्वगमन्
अतः पारं यायात् तव गुणगणानां कथमयम्।
गुणन् यावद्ध त्वां विनिमृतिहरं याति परमां
गतिं योगिप्राप्यामिति मनसि बुद्ध्वाहमगमम्॥

'भुवनेश्वर! जब शेष, महेश, गणेश, शारदा एवं नारदादि भी आपके गुण-सागरका पार नहीं पा सके, तब मेरे-जैसा अधमाधम जीव आपके अगण्य गुण-गणकी गणना कैसे कर सकता है। अतः मनमें यह समझकर कि आपका गुणगान करनेसे ही मनुष्यको जन्म-मरणसे छुड़ानेवाली तथा योगियोंको

कीर्तन-रसाविष्ट भक्त सूरदासजी और उनके इष्टदेव

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च । मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥
(पद्म० उत्तर० १४ । २१)

रामभक्तिके अद्वितीय प्रचारक गोस्वामी तुलसीदासजी

कलि कुटिल जीव निस्तार हित बाल्मीकि तुलसी भयो ।

है। फिर भी प्रेमका जो रूप राधिकामें चित्रित पाया जाता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। श्रीकृष्णकी विलक्षणताके अनुरूप ही श्रीराधाका चारु-चरित्र है। यही कारण है कि कवियोंको जितनी प्रेरणा राधिकाके वर्णन करनेके लिये प्राप्त हुई, उतनी अन्य शक्तिके प्रति नहीं।

श्रीकृष्णकी जन्माष्टमीकी भाँति भादों शुक्ल अष्टमीको प्रतिवर्ष श्रीराधिकाजीके भक्त उनकी जन्म-तिथिपर आनन्दोत्सव मनाते हैं। संगीत और नृत्यका अनुपम आनन्द तो वृन्दावन और बरसानेमें दर्शनीय है। यहाँ रासोत्सवकी योजनाएँ दिन-रात विभिन्न समयोंपर अलग-अलग मन्दिरोंमें होती रहती हैं।

वृन्दावनमें श्रीराधावल्लभजीका मन्दिर, स्वामी हरिदासजी-का टट्टी-स्थान आदि मुख्य स्थान हैं, जहाँ उत्सवकी विशेषता रहती है। बरसानेमें श्रीलाड़िलीजीका मन्दिर उत्सवका प्रमुख केन्द्र है।

बरसाना राधाके पिता वृषभानुजीकी राजधानी रही है। राधिकाजीका जन्म उनके ननिहाल रावलमें हुआ था, जो मथुरासे यमुना-पार चार मीलकी दूरीपर है।

व्रजभाषाके सरस काव्यमें राधासम्बन्धी वर्णन अत्यन्त मधुर हैं। हृदयको उल्लाससे परिपूरित करनेके लिये उनमें विभिन्न प्रकारसे प्रभाव डालनेकी शक्ति रही है, तभी महाकवि बिहारीने सतसईके मङ्गलाचरणमें लिखा है—

मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँईं परें स्याम हरित दुति होय॥

भक्तकी भावना

[लेखक—डा० श्रीमङ्गलदेवजी शास्त्री, एम्० ए०, डी० फिल्० (आक्सन)]

अयि ! विश्वपावन विश्वभृत्
करुणानिधान नमोऽस्तु ते ।
महिमा महान् मम मानसे
महनीय देव ! विभाति ते ॥ १ ॥
गिरिमूर्ध्नि निर्जनकानने
रमणीयतैकनिकेतने ।
तडितो घनैरतिशोभने
परिभाति ते महिमा घने ॥ २ ॥
तपनातपेन विभासिते
गगनाङ्गणे विधुमण्डिते ।
उडुवृन्ददीप्तिविचित्रिते
तव शोचिरेव विरोचते ॥ ३ ॥

१. अयि विश्व-पावन ! विश्वम्भर !
करुणानिधान ! आपको मेरा नमस्कार है।
हे पूजनीय देव ! आपकी यही महिमा
मेरे मनमें भासित हो रही है।

२. पर्वतके शिखरपर, अथवा रमणीयताके
एकमात्र निकेतन निर्जन काननमें,
अथवा बराबर दमकती हुई दामिनी-
से शोभित बादलमें आपकी महिमा भासित हो रही है।

३. सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित,
अथवा चन्द्रमाकी चाँदनीसे शोभायमान,
अथवा तारा-समूहकी दीप्तिसे विचित्रित
गगनके आङ्गणमें आपकी ही छवि चमकती है।

द्विजवृन्दमन्द्रविकूजिते
कुसुमावलीपरिशोभिते ।
मलयानिलेन सुगन्धिते
मृगसंचयेन निषेविते ॥ ४ ॥
शुभशीतनिर्झरवारिणा
सरसीचये परिपूरिते ।
मुनियोगिवृन्दसमर्चिते
महिमा विभो ! तव भासते ॥ ५ ॥

४. पक्षि-समूहोंके शब्दोंसे शब्दायमान,
पुष्पोंकी पंक्तियोंसे शोभायमान,
मलयानिलसे सुगन्धित,
मृगोंके समूहोंसे निषेवित,

५. झरनोंके स्वच्छ शीतल जलोंसे
परिपूरित झीलोंके तटपर,
जहाँ मुनियों और योगियोंके दर्शन होते हैं,
हे प्रभो ! आपकी महिमा दृष्टिगोचर होती है।

विजितान्तरारिचमूचया
शुभशान्तवृत्तिसहायया ।
विहिताधिदेवसमर्चया
प्रणिधानमग्नधियैकया ॥ ६ ॥

परदुःखपापकर्दमा
　　मथितुं समाहितभावनाः ।
तव तन्वतां विशोभना
　　द्युतिरस्ति येऽत्र तपोधनाः ॥ ७ ॥

६. जिन्होंने आभ्यन्तर शत्रुओंकी सेनाओंको जीत लिया है,
जिनकी चित्तवृत्तियाँ पवित्र और शान्त हैं और
जो महाभाग हैं,
जिन्हें एकमात्र भगवान्‌का सहारा है,
जिन्होंने चित्तकी एकाग्रतासे क्षणिक मनको पा लिया है,

७. दूसरोंके दुःखके पापोंकी पीड़ाओंको दूर करनेके लिये जिन्होंने अपनी भावनाओंको पवित्र बनाया है,
उन तपोधनोंके हृदयोंमें आपकी शोभायमान द्युति विराजमान है।

मुनिभिर्मनसीह चिन्त्यसे
　　यतिभिर्मनसा परिचीयसे ।
निगमैरपि जगदीश ! हे
　　गुणवर्णनैरुपगीयसे ॥ ८ ॥

विजनीदरस्थितपक्षिभि-
　　रसतीह सामसु शङ्किभिः ।
गुणकीर्तनं तव योगिभिः
　　क्रियते समाहितबुद्धिभिः ॥ ९ ॥

८. मुनिजन आपका चिन्तन करते हैं,
यतीलोग आपका परिचय प्राप्त करते हैं।
हे जगदीश ! वेद भी निश्चय ही
आपके गुणोंका वर्णन करते हैं।

९. अपने सौन्दर्यमें बैठकर शान्त
और साम शब्द करनेवाले पक्षियोंद्वारा
तथा समाहित बुद्धिवाले योगियोंद्वारा
आपके गुणोंका कीर्तन किया जाता है।

सगुणो मखानिह कर्मठै-
　　रपि निर्गुणः कथितः श्रुतौ ।
तव चित्रमत्र चरित्रमा-
　　त्मरतैरवेक्ष्यमसंशयैः ॥ १० ॥

विपिनेऽथवा गिरिगह्वरे
　　परितो गृहेऽपि मनोरमे ।
समुपह्वरे त्वयि सुन्दरे
　　मुनयो हरे ! निरता यतः ॥ ११ ॥

१०. आप कर्मकाण्डियोंद्वारा सगुण
और उपनिषदोंद्वारा निर्गुण कहे गये हैं।
आपके विचित्र चरित्रको
संशयसे रहित आत्मरत लोग ही देख सकते हैं।

११. हे भगवन् ! चारों ओर घरके भीतर भी,
विपिनोंमें, अथवा पर्वतकी गुफामें, या
एकान्तस्थानमें मुनिजन सौन्दर्यके पुञ्ज तथा सुख-
धाम-स्वरूप आपके ध्यानमें ही निरत रहते हैं।

परमं ध्रुवं चरितार्थं
　　निगमागमैरपि संस्तुतम् ।
तव तत्स्वरूपमहं भजे
　　शिव ! शान्तिधाम निरन्तरम् ॥ १२ ॥

१२. हे शिव ! हे शान्तिधाम ! भगवन् !
मैं आपके उस स्वरूपको निरन्तर भजता हूँ,
जो अजन्मा, कूटस्थ, सर्वत्र व्यापक
और निगम तथा आगमद्वारा संस्तुत है।

भगवान् निष्काम प्रेमभक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं

प्रह्लाद कहते हैं—

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः । प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च । प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम् ॥
　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　　(श्रीमद्भा० ७ । ७ । ५१-५२)

'दैत्यबालको ! भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये ब्राह्मण, देवता या ऋषि होना, सदाचार और विविध ज्ञानोंसे सम्पन्न होना तथा दान, तप, यज्ञ, शारीरिक और मानसिक शौच और बड़े-बड़े व्रतोंका अनुष्ठान पर्याप्त नहीं है। भगवान् केवल निष्काम प्रेमभक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं। और सब तो विडम्बनामात्र है।'

मानवता-धर्म

(लेखक—श्रीअनिलवरण राय)

भगवान् गीतामें कहते हैं—'परम पुरुषको अनन्य भक्तिके द्वारा प्राप्त करना चाहिये' और ये थोड़े-से शक्तिशाली शब्द मानव-जीवनका सम्पूर्ण अर्थ एवं प्रयोजन व्यक्त कर देते हैं। यह प्रयोजन यही है कि मनुष्यको इसी जीवनमें भगवत्प्राप्ति कर लेनी चाहिये, इस कार्यको भविष्यके लिये नहीं रखना चाहिये। प्राचीन भारतमें प्रत्येक बालक-बालिकाके बचपनमें ही उनके जीवनके भीतर इस दिव्य प्रयोजनका संस्कार बो दिया जाता था। इसीको 'ब्रह्मदीक्षा' या 'परम सत्यमें प्रवेश' कहते थे। जो कोई भी इस दीक्षासे वञ्चित रहता था, ब्राह्मण नहीं माना जाता था। आजकल कोई इस प्रकारकी दीक्षाकी परवा नहीं करता। हमारा शासन, हमारी शिक्षा—सबका सब विलोम धर्म-निरपेक्ष (Secular) बन गया है। इसलिये सच्चे ब्राह्मण हमारे समाजमें दुर्लभ हो गये हैं, किंतु प्राचीन परम्परा अब भी मरी नहीं है। हम आधुनिक भारतीयोंका यह कर्तव्य है कि उस दीक्षाको पुनरुज्जीवित करें और यह वस्तु समस्त विश्वको दें जो इसकी प्रतीक्षा कर रहा है, और इस प्रकार 'कृण्वन्तो विश्वम् आर्यम्', सारे जगत्के लोग आर्य बन जायँ—ऋषियोंकी यह अभिलाषा पूर्ण करें।

किंतु दूसरोंको आर्य बनानेके पहले हमें अपनेको ही इसके योग्य बनना चाहिये। हमलोग आर्य-संस्कृतिके प्राण एवं सार-तत्त्वसे सम्बन्ध खो बैठे हैं और केवल बाह्य रूपों तथा प्रतीकोंको पकड़े हुए हैं। आध्यात्मिकताका यह सार-तत्त्व भी भगवान्के इन शब्दोंमें आ गया है कि 'भगवान्को अनन्य भक्तिद्वारा प्राप्त करना चाहिये।' यह कहा जा सकता है कि यह कोई नयी बात नहीं है, सभी लोग भक्तिकी चर्चा करते हैं और उससे परिचित भी हैं। किंतु क्या वे सचमुच जानते और अनुभव करते हैं कि भक्ति क्या है, अथवा अधिकांश लोगोंके लिये यह एक शब्दमात्र है? सभी देशों और युगोंमें अत्यधिक शाब्दिक पुनरावृत्तिके कारण ऐसा प्रतीत होता है कि 'भक्ति' और 'प्रेम' ये दोनों शब्द अपना आध्यात्मिक भाव एवं शक्ति खो बैठे हैं। उनकी 'मन्त्रशक्ति' नष्ट हो गयी है। अतः उन्हें पुनः शक्तिमान् बनाना है। जबतक हृदय आन्दोलित होकर सारे शरीरको अनिर्वचनीय पुलक और आनन्दसे भर न दे, तबतक भक्ति अथवा प्रेम अस्तित्व नहीं मानना चाहिये। हृदयको इस भावके लिये प्रस्तुत और विकसित करनेवाले उपाय—जैसे मन्दिरोंमें जाकर प्रतिमा-पूजन, नाम-कीर्तन, तीर्थयात्रा आदि—आजकल अत्यधिक भावविहीन और एक लोकप्रथाके रूपमें आ गये हैं, उनका वास्तविक प्रयोजन आज उनसे सिद्ध नहीं हो रहा है। भावहीन पूजा-प्रणालीको लक्ष्य करके सिक्खगुरु तेगबहादुरने एक सारगर्भित दोहा कहा है—

> तीरथ ब्रत अरु दान करि मन में धरै गुमान।
> नानक निहफल जात तिहि ज्यों कुंचर इसनान॥

पूजाकी भावरहित प्रणालियाँ मनको केवल इस अभिमानसे भर देती हैं कि हमने एक आध्यात्मिक और पवित्र कर्मका सम्पादन किया है, पर उनसे वास्तवमें कार्यसिद्धि नहीं होती।

फिर प्रश्न होता है कि 'भगवान्को वशमें करनेवाले इस महान् प्रेम तथा भक्तिको हृदयमें कैसे जगाया एवं बढ़ाया जाय।' मनुष्य मनुष्यसे प्रेम कर सकता है, किंतु उस परम पुरुषसे कैसे प्रेम किया जाय, जिसमें—गीताके शब्दोंमें—'सम्पूर्ण भूत अवस्थित हैं और जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है' (८।२२)। साधारण जनताके हृदयमें प्रेम जगानेके लिये भगवान्की यह परिभाषा क्या अत्यन्त गहन और अत्यन्त दार्शनिक नहीं है? ठीक इसी कठिनाईका सामना करनेके लिये प्रतिमा-पूजनको भारतमें प्रश्रय दिया गया था और इसने असंख्य लोगोंको उस दिव्य पुरुषको प्राप्त करनेमें सहायता की, मन्दिरमें विराजमान मूर्ति जिसकी प्रतीकमात्र है। किंतु प्रतीक भावना अब जाती रही और अधिकांश मनुष्य धातु या मृण्मयी प्रतिमाको ही भगवान् मान बैठे और सोचने लगे कि उसे नमस्कार करने तथा उसकी पूजामें कुछ पैसे व्यय कर देनेमें ही धार्मिक कर्तव्यकी इति भी हो जाती है। वस्तुतः लोगोंके हृदयमें यह विश्वास जीवित नहीं रहा कि भगवान्का साक्षात्कार हो सकता है। इसीलिये वे इस दिशामें प्रयत्नशील नहीं होते। अपनी अधिकांश शक्तिको वे सांसारिक व्यापारोंमें लगाते हैं और धार्मिक कृत्योंमें केवल दिखावा। मन्दिरोंमें भी लोग छोटी-छोटी कामनाओंको लेकर जाते हैं और उन्हींकी पूर्तिके लिये प्रार्थना करते हैं; पुजारियोंकी माँग भी पूजकोंके भावकी अपेक्षा उनके चढ़ावेपर ही अधिक रहती है। इस प्रकार इन पुष्प-

यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है कि प्रत्येक देशमें प्रगतिशील जनता पुरातन धर्मके प्रति श्रद्धा खो बैठी है, और यह मानवता-धर्म अथवा मानवतावाद (Religion of Humanity or Humanism) के प्रति अधिक आकर्षित हो रही है। चूँकि यही आजका युगधर्म प्रतीत हो रहा है, इसलिये इसे स्वीकार करनेमें हमें हिचकना नहीं चाहिये, किंतु साथ-ही-साथ हमें इसकी भयंकर त्रुटियोंको भी ध्यानमें रखना चाहिये, जिसके कारण अभीतक यह अपनी महान् प्रतिश्रुतिको पूरा नहीं कर सका है। पश्चिमकी प्रगतिशील जनता बड़े उच्चस्वरसे जिसकी घोषणा कर रही है, उस मानवतावादकी असफलताके ज्वलन्त प्रमाण हैं—विगत दोनों महायुद्ध, जिन्होंने मानव-जातिपर वर्णनातीत दुःखों-की वर्षा की और अब तीसरे महायुद्धकी भी छाया दिखायी पड़ने लगी है, जिसे यदि समय रहते रोका नहीं गया तो उसमें निश्चितरूपसे आणविक संहारके भयंकर अस्त्रोंका प्रयोग होगा। मानवता-धर्मकी सबसे बड़ी त्रुटि यही है कि यह अपने क्षेत्रसे ईश्वरको एकदम बाहर रखता है। किंतु भगवान्‌की ओर मुड़े बिना मानव-स्वभावमें आमूल परिवर्तन नहीं हो सकता; और जबतक इस प्रकारका परिवर्तन नहीं होता, मानव-जीवनकी कोई समस्या हल नहीं हो सकती और मानव-जातिके लिये भव्यतर तथा अधिक सम्पूर्ण जीवनकी सम्भावना नहीं की जा सकती। इस प्रकार वर्तमान समयमें मनुष्य-जीवनका केन्द्र है—उसका 'अहम्' और इस 'अहम्' में स्थित होकर हम अपनेको अन्य समस्त प्राणियोंसे भिन्न तथा पृथक् समझते हैं और इसीलिये दूसरोंको हानि पहुँचाकर अपना उत्कर्ष-साधन करना न्यायसंगत मानते हैं। संसारमें व्यक्तियोंके अथवा राष्ट्रोंके बीच होनेवाले सभी संघर्षोंके मूलमें यही 'अहम्' है। वास्तु, समस्त धर्मोंका शत्रु है मानवका अहम्, व्यक्तिका अहम्, जातिका अहम् तथा राष्ट्रका अहम्। भले मानवता-धर्म इसको कुछ कालके लिये भले ही नरम या नम्र, संस्कृत कर सका, इसके अधिक शुद्ध, उन्मुक्त एवं उदार स्वरूपको प्रकट दबाकर रख सका, उससे अधिक सुन्दर रूप धारण करनेको बाध्य कर सका, किंतु मानव-जातिके प्रति प्रेमको स्थान देने तथा मनुष्य एवं मनुष्यके बीच आध्यात्मिक एकताको स्वीकार करनेके लिये प्रेरित नहीं कर सका। मानवता-धर्मका ही नहीं, अपितु सभी मानवीय धर्मोंका वास्तवमें उद्देश्य होना चाहिये प्रेम, मानवोंमें परस्पर एकत्वकी भावना विचार, भाव एवं जीवनमें मानव-जातिके एकत्वकी सजीव धारणा। यही वह आदर्श है, जिसे सर्वप्रथम सहस्रों वर्ष पूर्व प्राचीन वैदिक मन्त्रोंमें व्यक्त किया गया था तथा धरतीपर मानव-जीवनके प्रति हमारे अन्तःस्थित आत्माका सदा यही सर्वश्रेष्ठ आदेश होना चाहिये।' (The Ideal of Humanity)

मानवता-धर्मको इस रूपमें पूर्ण बनानेके लिये हमें अपने भीतर उस आत्माकी उपलब्धि करनी होगी, जिसका स्वरूप 'अहम्' नहीं है, अपितु जिसके रूपमें हमलोग समस्त प्राणि-वर्गके साथ तथा स्वयं भगवान्‌के साथ एक हैं। वेदों और उपनिषदोंकी शिक्षाका सार यही है, जिसे गीताके निम्न-लिखित शब्दोंमें स्पष्टरूपा फिरसे दुहराया गया है—

> सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
> ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
> यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
> तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
> सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
> सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
>
> (६। २९-३१)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त हुए आत्मावाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है; उसकी दृष्टि सर्वत्र सम होती है। और जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता; क्योंकि वह मुझमें एकीभावसे स्थित है। जो योगी अभेदसे स्थित हुआ समस्त प्राणियोंमें मेरी पूजा करता है, मुझसे प्रेम करता है, वह चाहे जिस प्रकार रहता और व्यवहार करता हुआ भी मुझीमें रहता है और मुझीमें व्यवहार करता है।'

पुरातन धर्मोंने लोगोंमें भगवान्‌के प्रति सामान्यतया एक विश्वासकी भावना पैदा की तथा मानव-मस्तिष्कको आध्यात्मिक झुकाव प्रदान किया; किंतु केवल इतनेसे भगवत्साक्षात्कार नहीं प्राप्त हो सकता, जिसकी आधुनिक युगमें परमावश्यकता है। इसके लिये तो हमको योगकी शरण लेनी पड़ेगी, जिसकी कला भारतवर्षमें सन्तमहर्षियोंके अभ्याससे पूर्णताको पहुँच गयी है। संसारमें अन्यत्र कहीं भी ऐसा नहीं हो सका है। योगकी प्राचीन सभी पद्धतियोंका अद्वितीय समन्वय गीता उपस्थित करती है और मानवता-धर्मके आधार एवं शास्त्रके रूपमें इसी ग्रन्थको ग्रहण करना पड़ेगा। केवल मानवतावाद (Humanism) पर्याप्त

बौद्धधर्ममें भक्ति

(लेखक—पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी)

मूलतः बौद्धधर्म आचार-प्रधान है। भगवान् बुद्धने 'आचारः परमो धर्मः' की दुन्दुभि बजायी।* ऐतिहासिकों-का मत है कि जिस समय बुद्धका अवतार हुआ, उस समय तीन मतोंकी विशेष प्रधानता थी। वैदिक मतमें यज्ञोंमें पशु-बलिकी प्रथा बढ़ गयी थी। जैनी लोग केशलुञ्चन आदि कर्मोंके द्वारा शरीरको कष्ट पहुँचाने आदि तपस्यामें रत थे। और नास्तिकलोग इन दोनों मतोंकी खिल्ली उड़ाकर परलोकके अस्तित्वका अपलाप करने तथा इहलोकके ऐश्वर्यको ही जीवनका आदर्श माननेका प्रचार कर रहे थे। इसी प्रकारकी स्थितिमें भगवान् बुद्ध अवतरित हुए। महाकवि जयदेवने गीत-गोविन्दमें लिखा है—

> निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्,
> सदयहृदयदर्शितपशुघातम्,
> केशव धृतबुद्धशरीर, जय जय देव हरे।

ऐ केशव, हे हरि! आपकी जय हो, जय हो। अहा! यज्ञ विधान करनेवाली श्रुतियोंकी आप निन्दा करते हैं; क्योंकि हे करुणाके अवतार, आपने धर्मके नामपर होनेवाले पशुवधकी भयंकरता दिखायी। इसीलिये हे केशव! आपने बुद्ध-शरीर धारण किया है।†

यज्ञ-विधिकी निन्दा करनेपर भी भगवान् बुद्धके द्वारा प्रवर्तित मार्ग लोक-कल्याणके लिये था। उन्होंने लोगोंको मध्यम-पथपर चलनेकी शिक्षा दी, सांसारिक जीवनको दुःखमय बतलाया। उनके चार आर्य सत्य थे—दुःख, दुःखका हेतु, दुःखका उपशम और उसका उपाय। जन्म, जरा, व्याधि और मृत्यु आदि सब दुःखमय हैं। इस दुःखका हेतु है भव-चक्र, जो तृष्णामूलक है। इस दुःखका उपशम है निर्वाण-प्राप्ति—तृष्णाका पूर्ण क्षय। और इसका उपाय है अष्टाङ्ग-मार्ग—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, और सम्यक् समाधि। यहाँ सम्यक् शब्दका अर्थ विशुद्ध मान लें, तो अष्टाङ्ग-मार्गका अर्थ होता है आठ प्रकारकी विशुद्धिका मार्ग। परंतु बुद्धने अपने उपदेशोंमें इसकी विशिष्ट व्याख्या की है। यह अष्टाङ्ग-मार्ग बीचका शील-प्रधान मार्ग है। इसने दोनों सीमाओंका त्याग करनेका उपदेश दिया है—अर्थात् यह कि नास्तिक पथ, जो काम-भोग-प्रधान है, सर्वथा त्याज्य है तथा चित्तके दोषोंके लिये शरीरको यातना पहुँचाना भी ठीक नहीं। इसलिये दुर्वासना चाहे दृष्टि-(विचार) गत हो, वाणीमें हो, संकल्प, कर्म अथवा आजीविकामें हो, उसका शमन करके चित्तको विशुद्ध बनाना होगा। संक्षेपमें कहें तो यों कह सकते हैं कि बुद्धका बतलाया हुआ मार्ग निरीश्वर सांख्य सिद्धान्तके समान है। अन्तर केवल इतना है कि सांख्यका योगमार्ग व्यक्तिप्रधान है, केवलके लिये है। उसमें प्रकृतिसे वियुक्त होनेकी साधनाका उपदेश है। बुद्धके मध्यम मार्गमें करुणाकी साधना ही प्रमुख है। समस्त जीवोंके प्रति कल्याण-भावनाकी वृद्धिके द्वारा जबतक महाकरुणाकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक मनुष्य साधनकी उच्चकोटिमें नहीं पहुँचता। बुद्ध प्रकृति और उसके कार्यको मायात्मक कहते हैं, निस्सार बतलाते हैं और जीवन उनके मतसे केवल पञ्च स्कन्ध—संज्ञा, संस्कार, रूप, वेदना और विज्ञान—के सिवा वस्तुतः और कुछ नहीं है। वे इन्हींके समूहको आत्मा कहते हैं, आत्माको कोई पृथक् सत्त्व नहीं मानते। पञ्च स्कन्धोंका समावेश भी भवचक्रमें होता है, ये सभी तृष्णा-मूलक हैं। तृष्णाका क्षय होनेपर निर्वाणकी प्राप्ति होती है। इस निर्वाणके स्वरूपको महाकवि अश्वघोषने इस प्रकार व्यक्त किया है—

> दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो
> नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।

---

* सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धान सासनम्॥ (धम्मपद)
'सब प्रकारके पापोंसे बचना, पुण्योंका संचय करना तथा अपने चित्तको विशुद्ध रखना—यही बुद्धकी शिक्षा है।'

† इससे यह सिद्ध होता है कि विष्णुभगवान्‌ने ही बुद्धके रूपमें अवतार ग्रहण किया था। भगवान् बुद्ध पूर्ण आस्तिक थे, उनकी आस्तिक [illegible] [illegible] है। वे सनातन आर्य-धर्मके ही प्रचारक रहे हैं। भगवान् बुद्ध यज्ञोपवीत धारण करते थे। उनकी प्रतिमाओंमें [illegible] चिह्न स्पष्ट अङ्कित होता है। बौद्धधर्म भी कोई अलग [illegible] था, यह सनातन धर्मका [illegible] [illegible] ही [illegible] है। बुद्धभगवान् हिन्दुओंकी भाँति ही [illegible] पुनर्जन्म मानते थे। बुद्धका [illegible] अमर [illegible] [illegible] है। यह उनके शब्दोंसे [illegible] प्रमाणित है।

दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित्
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित्
क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥

'जैसे दीप जब निर्वाणको प्राप्त होता है, तब उसकी ज्योति न तो पृथ्वीमें जाती है न अन्तरिक्षमें, न दिशाओंमें जाती है और न अवान्तर दिशाओंमें। वह स्नेह (तेल) के समाप्त हो जानेके कारण ही शान्त हो जाती है। इसी प्रकार जब कृती (प्राणी) निर्वाणको प्राप्त होता है, तब उसकी चेतना न तो पृथ्वीमें जाती है न अन्तरिक्षमें, न दिशाओंमें जाती है न किसी अवान्तर दिशामें। क्लेश (तृष्णा) का क्षय हो जानेपर ही वह शान्तिको प्राप्त होता है।'

भगवान् बुद्धने धर्म-चक्र-प्रवर्तनके समय अपने प्रथम शिष्यों (भिक्षुओं) को उपदेश देते हुए कहा था—'चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' अर्थात् हे भिक्षुओ! बहुत लोगोंके कल्याणके लिये, सुखके लिये विचरण करो। अतएव भिक्षुसंघका जीवन लोक-कल्याणके लिये ही गया। लोक-कल्याणके लिये भिक्षुलोग विश्वमें आगे बढ़ते गये। भयानक जंगलों, पर्वतों और समुद्रोंको पारकर उन्होंने भारतीय तत्त्वरत्नका उपदेश दिया। बुद्धके निर्वाणके चार हजार वर्षोंके अंदर विश्वके बहुत बड़े भागमें बौद्धधर्म प्रचलित हो गया।

यद्यपि बुद्धने किसी प्रवचनमें ईश्वरकी उपासनाका उपदेश नहीं दिया और अपनेको कोई अवतारी पुरुष नहीं बतलाया, तथापि उनके जीवन-कालमें ही लोग देव-तुल्य आदर-सत्कार प्रदान करते थे। साधारण प्रजासे लेकर बड़े-बड़े राजा-महाराजा भिक्षुसंघके साथ भगवान् बुद्धका सत्कार करते और उनके प्रवचनोंको सुनकर अपनेको कृतार्थ समझते थे। बुद्धके परिनिर्वाणके बाद जो लोकमें पाली पूजा प्रारम्भ हुई, वह थी त्रिरत्न-वन्दना—

बुद्धं सरणं गच्छामि,
धम्मं सरणं गच्छामि,
संघं सरणं गच्छामि।

'मैं बुद्धके शरण जाता हूँ, धर्मके शरण जाता हूँ, संघके शरण जाता हूँ।' इस त्रिरत्न-वन्दनामें पूर्ण शरण हमें भक्तिका दर्शन होता है। यह ऐसी भक्तिका उत्तम उदाहरण है, शरणागतिका विशुद्ध रूप है। 'सरणं गच्छे'—त्रिरत्न सम्प्रदायने बौद्धधर्मको एक दिन विश्वमें

सिरमौर बना दिया। त्रिरत्न-वन्दना सर्वत्र गूँजने उठी—ग्राममें, पत्तनमें, नगरमें, उपवनमें, अरण्यमें, स्तूपमें, विहारमें, गिरि-गुहामें, नदी-तट समुद्रमें। यह शरणागतिकी महिमा थी, इसने [illegible] और देवधर्मको ग्रहण किया, दान और दया किया, संयम और नियमके मार्गको प्रशस्त किया। भिक्षु, धर्मानुरागी चल पड़े भारतकी ओर [illegible] भूमिकी ओर। फाहियान और हुएनसांग, लोगोंने [illegible] प्रान्तसे पश्चिमकी ओर कई हजार मील पैदल घोड़ोंपर चलकर इस तीर्थभूमिमें पधारे थे, चीन भारतके बीचमें अर्थात् मध्य एशिया (आधुनिक रूसी चीनी तुर्किस्तान) तथा अफगानिस्तानमें सर्वत्र [illegible] स्तूप एवं भिक्षुओंके मठ मिले थे। मध्यवर्ती देशोंके प्रजा—सभी बौद्ध थे। तथापि उनको बीहड़ जंगल और पार करने पड़े। यह अद्भुत शक्ति उनको कहाँसे प्राप्त—त्रिरत्न-वन्दना, शरणागतिने ही उनको अपूर्व [illegible] बनाया था—इसमें संदेह नहीं। धर्मके साथ-साथ [illegible] आयुर्वेद आदि लोकहितकारी शास्त्रोंका भी [illegible] देशोंमें किया। भगवान् बुद्धने नीति धर्मका उपदेश था और धार्मिक जीवनकी व्यावहारिकताका और [illegible] उन्होंने दैवी गुणोंसे युक्त पुरुषको ब्राह्मण [illegible] गुणोंसे युक्त पुरुषको चाण्डाल बताया। [illegible] ब्राह्मण न होनेपर भी कोई भी ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति कर सकता था तथा आसुरी गुणोंके रहनेपर [illegible] चाण्डालत्वको देख सकता था। बौद्धधर्मने विश्वकी [illegible] प्रायः दैवी गुणोंकी भावनाको और मनुष्योंको प्रेरित करके का अतीव उपकार किया। इसी कारण महाकवि [illegible] अपने बुद्धचरितमें भगवान् बुद्धकी वन्दना करते हुए लिखा

श्रियः परार्घ्या विदधद् विधातृजित्
तमो निरस्यन्नभिभूतभानुभृत् ।
नुदन्निदाघं जितचारुचन्द्रमाः
स वन्द्यतेऽर्हन्निह यस्य नोपमा ॥

'जिन्होंने सर्वश्रेष्ठ श्रीकी सृष्टि करते हुए विधाताको जीत लिया, संसारके अन्धकारको दूर करते हुए सूर्यको पराजित कर दिया, संतापको हरते हुए मनोहर चन्द्रमाकी चारुताको पराजित किया, उन अर्हत् (भगवान् बुद्ध) की मैं वन्दना करता हूँ, जिनकी संसारमें उपमा नहीं है।'

हमारे पुराणोंने बुद्धको साक्षात् विष्णुका अवतार माना है। पुराणोंमें जहाँ दस अवतारोंका वर्णन आता है, वहाँ बुद्धको भी नवम अवतारके रूपमें माना गया है। आद्य श्रीस्वामी शंकराचार्यके गुरु गौडपादाचार्यने भी माण्डूक्योपनिषद्की व्याख्यारूप अपनी एक कारिकामें बुद्धकी वन्दना की है। अतएव बौद्धधर्म सनातनधर्मका ही एक अङ्ग है। भगवान् बुद्धने गो-ब्राह्मणकी रक्षाके विषयमें कहा है—

> यथा माता पिता भ्राता अञ्ञे वापि च ञातका।
> गावो नो परमा मित्ता यासु जायन्ति ओसधा॥
> अन्नदा बलदा चेता वण्णदा सुखदा तथा।
> एतमत्थवसं ञत्वा नास्सु गावो हनिंसु ते॥
>
> (सुत्त-निपात)

'माता, पिता, भ्राता तथा अन्य बान्धवके समान गौ भी हमारा परम मित्र है। इससे ओषधि उत्पन्न होती है। यह अन्न, बल, तेज और सुख प्रदान करती है। इसलिये इसको उपकारी समझकर कभी कष्ट नहीं देना चाहिये।'

> न ब्राह्मणस्स पहरेय्य नास्स मुञ्चेथ ब्राह्मणो।
> धि ब्राह्मणस्स हन्तारं ततो धि यस्स मुञ्चति॥

'ब्राह्मणको न मारे और मारनेवालेपर ब्राह्मण भी हाथ न उठावे। ब्राह्मणपर प्रहार करनेवालेको धिक्कार है और उसपर यदि ब्राह्मण हाथ उठाता है तो उसको भी धिक्कार है।'

इस प्रकार बौद्धधर्मके आदि युगमें केवल शरणागतिके द्वारा शील और आचारके प्रचारकी ही प्रधानता थी। परंतु भगवान् बुद्धके परिनिर्वाणके पश्चात् उनके वचनोंका संकलन करनेके लिये राजगृहके पास सप्तपर्णी गुफामें ५०० भिक्षुओंकी एक सभा हुई। उन्होंने बुद्धवचनोंका संकलन करके उनका एक साथ गान किया। वहीं सूत्र-पिटक और विनय-पिटककी रचना हुई। सूत्र-पिटकमें बौद्धधर्मके मुख्य सिद्धान्तोंके विषयमें तथा नाना प्रकारके सदाचरणके सिद्धान्तोंके विषयमें भगवान्से जो प्रश्न किये गये और उन्होंने जो उत्तर दिये, उनका संकलन है और विनय-पिटकमें भिक्षुओंके आचरणके लिये बताये गये नियमोंका संकलन है। इस संगीतिके बाद एक ओर त्रिरत्नवन्दना और सूत्रपाठ करनेकी प्रथाका प्रचार हुआ। बुद्धवचनके पाठसे पुण्य-संचय होता है, यह श्रद्धा निश्चित हुई।

बुद्धके निर्वाणके बाद उनकी अस्थियोंको लेकर आठ स्तूप विभिन्न स्थानोंमें बनाये गये थे। अशोकने उन स्तूपोंसे अस्थियोंको निकालकर अस्सी हजार विभागोंमें विभाजित किया और उनमेंसे प्रत्येक भागके ऊपर भारत तथा अन्यान्य दूसरे देशोंमें स्तूपोंका निर्माण किया गया। और उन स्तूपोंकी धूप, दीप आदिके द्वारा पूजा होने लगी। लोग इस पूजाके द्वारा पुण्य-संचय करने और अपनी मनोवाञ्छा पूरी करने लगे। इस प्रकार सम्राट् अशोकके पश्चात् ईसाकी प्रथम शताब्दीमें सम्राट् कनिष्कके राज्यकालतक बौद्धधर्ममें भक्तिके ये ही दो मूल तत्त्व—श्रद्धा और शरणागति प्रमुखरूपमें बौद्ध संघको प्रेरणा और शक्ति प्रदान करते रहे। कनिष्कके कालमें पहले पहल बुद्धकी प्रतिमा बनायी गयी और तबसे प्रतिमा-पूजाका प्रचार शुरू हुआ।

ऐतिहासिकोंका मत है कि इसी कालमें बौद्धधर्ममें एक नये मतवादका उद्भव हुआ, जिसे 'महायान' के नामसे पुकारते हैं। सद्धर्मपुण्डरीक, सुखावतीव्यूह आदि ग्रन्थ महायानके मूलभूत ग्रन्थ हैं। और नागार्जुन, अश्वघोष, असङ्ग आदि इसके प्रवर्तक आचार्य हैं। सद्धर्मपुण्डरीकमें पहले-पहल बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वरकी पूजा और स्तुतिका वर्णन प्राप्त है। सुखावतीव्यूहमें तो बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर और अमिताभ-की उपासनाका वर्णन है। ये दोनों सुखावती नामक दिव्य लोकके अधिष्ठातृ देवता हैं। महायानके ग्रन्थ पालीमें न लिखे जाकर संस्कृतमें लिखे गये। सम्भवतः महायान-सिद्धान्तका प्रादुर्भाव कनिष्कके बाद ही हुआ। कनिष्कके पहले ग्रीक सम्राट् मीनांडर बौद्धधर्ममें दीक्षित हुआ था। अतएव उसके साम्राज्यमें बौद्धधर्मका प्रचार हो चुका था, परंतु वह हीनयानमत था। उसमें त्रिरत्न-वन्दना, पञ्चशीलकी प्रतिज्ञा* तथा स्तूपकी पूजा प्रचलित थी। कनिष्कके बाद जब बुद्धकी मूर्तियाँ बनने लगीं, तब उनकी भी पूजाका प्रचार हुआ। महायानका उद्भव मुख्यतः ब्राह्मणोंके द्वारा हुआ और उत्तर-पश्चिमकी दिशासे यह मत चीन, कोरिया और जापानमें पहुँचा। चतुर्थ शताब्दीमें जब फाहियानने भारतकी यात्रा की, तब उसे भारतके सभी देशोंमें हीनयान और महायान दोनों मतों-के बुद्धमन्दिर और सैकड़ों-सैकड़ों भिक्षु मिले थे। उन दिनों मूर्तियोंको रथपर सजाकर यात्रा-उत्सव बड़े धूमधामसे

---

* पञ्चशील—

१. मैं प्राणी-हिंसा न करनेका व्रत लेता हूँ। २. मैं बिना दी हुई किसीकी वस्तु न लेनेका व्रत लेता हूँ। ३. मैं मिथ्या-भाषण न करनेका व्रत लेता हूँ। ४. मैं शराब आदि नशीली वस्तुओंका सेवन न करनेका व्रत लेता हूँ। ५. मैं नाच-गान आदि विलासोंसे विरत रहनेका व्रत लेता हूँ।

भक्ति हीनयानकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। उसका लक्ष्य अर्हत् नहीं, बुद्धत्वकी प्राप्ति है। यदि बोधिसत्त्व सहायक हैं तो इस लक्ष्यकी प्राप्तिमें उनका अनुग्रह क्यों न प्राप्त किया जाय ? महायान साधक इसी अनुग्रहके उद्देश्यसे अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्वकी आराधना करता है। कारण्डव्यूह नामक ग्रन्थमें लिखा है—

'जब प्राणियोंको सब दुःखोंसे मुक्त करनेकी बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वरकी दृढ़ प्रतिज्ञा जबतक पूरी नहीं होती, तबतक वह सम्यक् सम्बुद्धत्वको प्राप्त नहीं करते।'

तिब्बत, चीन और जापानमें जो बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वरकी पूजा प्रचलित है, उसका यही रहस्य है। अतएव स्पष्ट है कि महायान-साधक अर्थार्थी है, वह अनुग्रह प्राप्त करके अपना प्रयोजन सिद्ध करना चाहता है। परंतु उसका प्रयोजन लौकिक और पारमार्थिक दोनों हो सकता है। अस्तु, अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्वकी प्रतिज्ञासे कौन लाभ नहीं उठायेगा ? परंतु इसके लिये उपासनाकी आवश्यकता है, पुष्प-धूप-दीप-नैवेद्य-आदिके उपकरणोंको लेकर ही उपासक अपने उपास्यदेवके सम्मुख पहुँचता है। उपास्यके सम्मुख पहुँचनेपर अनुग्रहकी प्राप्ति अवश्यम्भावी है। महायानमें भक्तिके एक प्रमुख तत्त्व 'अनुग्रह' की उपलब्धि होती है। इसलिये इसका महायान नाम अन्वर्थक ही है। भारतीय वैष्णवोंमें जो स्थान भगवद्गीताका है, महायानमें सद्धर्मपुण्डरीकका भी वही स्थान है। ध्यान-सम्प्रदाय, जिसे चीनमें चान और जापानमें जेनके नामसे पुकारते हैं, और जो वहाँका बड़ा प्रभावशाली सम्प्रदाय है, भक्तिको गौण स्थान प्रदान करता है। तेन्दाई एवं निचिरेन सम्प्रदाय सद्धर्मपुण्डरीकके अनुयायी हैं। तथापि उन देशोंमें अवलोकितेश्वरकी उपासना सर्वव्यापी है। इसके सिवा बोधिसत्त्व अमिताभकी भी उपासना प्रचलित है।

ऊपर सम्राट् कनिष्कका उल्लेख हो चुका है। कनिष्कके समयमें भी बौद्ध भिक्षुओंकी एक संगीति हुई थी, जिसमें थेर वसुमित्र, अभिधम्म-सूत्रोंका संकलन हुआ था। यह अभिधम्म पिटक तीसरा पिटक था। त्रिपिटककी रचनाके बाद योगमार्गकी ओर कुछ साधकोंका ध्यान गया। योगकी क्रियाओंद्वारा सहज ही ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त होती थी, इसी प्रयोजनसे बौद्ध साधक इस मार्गमें प्रवृत्त हुए। और कालान्तरमें उनके इस प्रभावसे बौद्धधर्मके प्रचारमें सहायता मिली; क्योंकि साधारण जनता सिद्धियों और चमत्कारोंसे शीघ्र प्रभावित होती है। लगभग तीन-चार सौ वर्षोंतक इस योगमार्गकी पद्धति गुप्त रीतिसे प्रचलित रही। परंतु अन्तमें गुरु-शिष्य-परम्पराके द्वारा विकसित होकर इस योगमार्गके भीतरसे बौद्धधर्मका तीसरा प्रस्थान वज्रयान (या तन्त्रयान) प्रादुर्भूत हुआ। यह प्रस्थान बौद्धदर्शनके योगाचार या विज्ञानवादके सिद्धान्तपर अवलम्बित है। विज्ञानवाद बोधिसत्त्वको विज्ञान-संतानरूप मानता है। वह शून्यके साथ-साथ विज्ञानको (चैतन्यताको) भी स्वीकार करता है। बोधिसत्त्वावस्थामें यह विज्ञान-संतान निर्वाणके लिये नहीं, बल्कि लोकोद्धारके लिये चेष्टा करता है। इस विज्ञानवादसे उत्पन्न हुआ वज्रयान (तन्त्रयान) एक और नये तत्त्वको स्वीकार करता है, वह है 'महासुख'।

वज्रयानका अर्थ है शून्य-यान। इस मतके अनुगामी भी नागार्जुनकी दो कोटियोंको स्वीकार करते हैं—

निर्वाणस्य च या कोटिः कोटिः संसरणस्य च।
न तयोरन्तरं किंचित् सुसूक्ष्ममपि विद्यते॥

'एक सीमा परनिर्वाण है, और दूसरी सीमा परसंसरण—इन दोनोंके बीचमें कोई भी तत्त्व नहीं है।' परंतु वज्रयान-सिद्धान्तके अनुसार ये दोनों चित्तकी दो अवस्थाएँ मात्र हैं—

अनल्पसंकल्पतमोऽभिभूतं
प्रभञ्जनोन्मत्ततडिच्चलं च।
रागादिदुर्वारमलावलिप्तं
चित्तं हि संसारमुवाच वज्री॥
प्रभास्वरं कल्पनया विमुक्तं
प्रहीणरागादिमलप्रलेपम्।
ग्राह्यं न च ग्राहकमग्रसत्त्वं
तदेव निर्वाणपदं जगाद॥

(प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि ४। १९-२१)

'वज्री अर्थात् शून्यवादी कहते हैं कि असंख्य संकल्परूपी अन्धकारसे अभिभूत, तूफानमें चमक उठनेवाली तड़ित्‌के समान चञ्चल तथा बहुत कठिनाईसे निवृत्त होनेवाले रागादि मलोंसे अवलिप्त चित्त ही संसार है। और जो चित्त पवित्रतासे दीप्यमान है, संकल्प विकल्पसे विमुक्त है तथा रागादि मलोंसे लिप्त नहीं है, ज्ञाता या ज्ञेय नहीं है, शाश्वत है—वही निर्वाण है।'

वज्रयानकी साधना भी बहुत प्राचीन है। तिब्बत और चीनमें जनश्रुति पायी जाती है कि असङ्गने तुषित नामक देवलोकमें मैत्रेयसे तन्त्रकी शिक्षा प्राप्त की। तन्त्रयानमें भक्तिके दो और नये तत्त्वोंका समावेश हुआ—गुरु और

सिद्धि। अतएव तन्त्रयान-प्रधान नेपाल और तिब्बतके बौद्धोंमें त्रिरत्नके साथ गुरुकी भी वन्दना प्रचलित है। वज्रयानका साधक भावनाके द्वारा अपने चित्तको बोधिचित्तमें परिणत करता है। बोधिचित्त करुणा और शून्यरूप है। ध्येय जगत्‌का कोई अस्तित्व नहीं है। साधकके आगे जो उपास्य मूर्ति है, उसका भी कोई अस्तित्व नहीं है। साधक जब बोधिचित्तकी भावनामें अभिभूत होता है, तब बीजमन्त्रके द्वारा शून्यमें ही उपास्य मूर्तिमें शक्तिका आधान करता है। ये सभी तत्त्वतः शून्यरूप हैं। तब साधकको अहंकृति होती है—

या भगवती प्रज्ञापारमिता सोऽहम्, सोऽहं या भगवती प्रज्ञापारमिता।

'जो देवी है, वह मैं हूँ और जो मैं हूँ वह देवी है।' इस साधनाके द्वारा साधक नाना सिद्धियाँ प्राप्त करता है। नेपालकी पर्वत-कन्दराओं तथा तिब्बतमें मन्त्रयान-सम्प्रदायके सिद्ध अब भी प्राप्त होते हैं। परंतु भारतमें इस मन्त्रयानने जो मार्ग पकड़ा, उससे यहाँ बौद्धधर्मका ही उच्छेद हो गया। बुद्धभगवान्‌ने कहा था—

मद्यं मांसं पलाण्डुं च न भक्षेयं महामुने।
(लंकावतार-सूत्र ८। १)

'भगवान्‌ने कहा है कि मद्य, मांस और प्याज नहीं खाना चाहिये।' आगे चलकर उसी लङ्कावतार-सूत्रमें कहा गया है—

योऽतिक्रम्य मुनेर्वाक्यं मांसं भक्षति दुर्मतिः।
लोकद्वयविनाशार्थं दीक्षितः शाक्यशासने॥
ते यान्ति परमं घोरं नरकं पापकर्मिणः।
रौरवादिषु रौद्रेषु पच्यन्ते मांसखादकाः॥
(८। १०-११)

'बौद्ध धर्ममें दीक्षित जो दुर्मति भगवान् बुद्धके इस वचनका उल्लङ्घन करके इस लोक और परलोकका विनाश करनेके लिये मांसभक्षण करता है, वह मांसभोजी पापी घोर नरकमें जाता है, रौरव आदि भयानक नरकोंमें पचता है।'

इन घोर तान्त्रिकोंने बौद्धधर्मके उपदेशोंको ताकपर रखकर बुद्धवचनका विरोध कर दिया। उन्होंने प्रचार किया—

'दुष्कर और तीव्र आचारके नियमोंसे मन्त्र-सिद्धि न होगी। सब कामनाओंका उपभोग करते हुए जल्दी सिद्धि हो जायगी।' (गुह्यसमाज १०) यहीं इन लोगोंने पञ्चशीलका भी त्याग कर दिया और कहने लगे—

'तुम्हें प्राणियोंकी हत्या करनी चाहिये, झूठ बोलना चाहिये, बिना दी हुई वस्तु ले लेनी चाहिये, परस्त्रीसेवन करना चाहिये।' (गुह्यसमाज १९०)

—इन साधारण धर्मविरोधी सिद्धान्तोंने भारतके हृदयसे वज्रयानके साथ-साथ बौद्धधर्मको ही मिटा दिया। फिर भी सात्त्विक आचारवाले बौद्ध तिब्बत और नेपालके पहाड़ोंमें इनको आश्रय मिला। समाजसे दूर हो गये। कारण, उन्होंने बौद्धधर्मके उद्देश्यको ही छोड़ दिया था। वज्रयानमें गुरु और देवतामें भक्तिका स्वरूप दूषित हो गया।

बौद्धधर्मके तीनों सम्प्रदायोंमें महायानमें भक्तिका स्वरूप मिलता है। उसकी साधना भी सात्त्विक है। चीन और जापानमें इस भक्ति-सम्प्रदायके द्वारा कि महापुरुष उत्पन्न हो चुके हैं। इस देशमें उसकी साधनाका विशद प्रचार वाञ्छनीय अवश्य ही है।

॥ ॐ नमो बुद्धाय ॥

भगवन्नामकी महिमा

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम्। अजामिलोऽप्यगाद्धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन्॥
(श्रीमद्भा० ६। २।)

'परीक्षित्! देखो—अजामिल-जैसे पापीने मृत्युके समय पुत्रके बहाने भगवान्‌के नामका उच्चारण किया, उसे भी वैकुण्ठकी प्राप्ति हो गयी। फिर जो लोग श्रद्धाके साथ भगवन्नामका उच्चारण करते हैं, उनका तो कहना ही क्या है।'

जैन-शासनमें भक्ति

[लेखक—श्रीसुखपतरायजी सत्यप्रेमी (जैनीजी)]

'जैनं जयति शासनम् ।'

किसीके प्रति राग होगा तो उसके दोष नहीं दीखेंगे और द्वेष होगा तो गुण नहीं दीखेंगे । गुण-दोषका ठीक-ठीक विवेक करना हो तो राग-द्वेषरहित—वीतराग होना आवश्यक है । इसी वीतरागको ही 'जिन' कहा जाता है । जिन्होंने राग-द्वेषको निर्मूल कर दिया है, उन्हींका शासन निष्पक्ष, न्यायपूर्ण हो सकता है । इसलिये उन्हींकी विजय हो—उन्हींके शासनका जय-जयकार कल्याणकारी है । ऐसे वीतराग महात्माओंके लिये ही गीताके वचन हैं—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥
(४ । १०)

''पहले भी, जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे और जो मुझमें अनन्यप्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहनेवाले बहुत-से भक्त ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं ।''

जैन-धर्ममें ऐसे ही वीतराग, जिन या कैवल्यप्राप्त महात्माओंकी भक्ति प्रधानतासे की जाती है । इस भक्तिका मूल और फल है—सम्यग्दर्शन या सद्विवेक ।

जैन धर्ममें निश्चय-दृष्टि या पारमार्थिक विचारसे भक्तिका अर्थ होता है—ऐसा दर्शन, जिससे हम समझ जायँ कि परमात्मा और हम विभक्त नहीं हैं—व्यवहारदृष्टिसे हमारे आत्मापर ज्ञानका आवरण आ गया है, जिसे ज्ञानावरणीय कर्म कहा जाता है और जिसे हटाते ही हम स्वयं केवल परमात्मा हो जाते हैं।

वीतराग बननेके लिये 'मोहनीय कर्म' को हटाना आवश्यक है और संसारका मोह वीतरागकी भक्तिके बिना नहीं हट सकता ।

जैसे दर्पणमें मुँह देखनेसे हम अपने चेहरेकी विकृतिको दूर कर सकते हैं, उसी प्रकार वीतराग-दर्शनसे हम अपने मन-वचन-क्रियाकी विकृति दूर करके अपने वास्तविक स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो सकते हैं । यही भक्ति है ।

जैन-शासनमें गुरु-भक्तिका भी यही अर्थ है कि गुरु जो भी उपदेश करें, उनका सेवन—पालन किया जाय । सेवन ही सेवा है । जैन-शासनमें गुरुके पाँव कोई भक्तगोपालक या श्रावक नहीं दबा सकता, उनके लिये कोई भोजन नहीं बनवा सकता, उनका सामान नहीं उठा सकता ।

इसे भक्ति या सेवाका दोष माना जाता है—गुरुकी भक्ति या सेवा यही है कि जिस प्रकारका वे आचरण करें, उसका अंशमात्र भी अपने जीवनमें आवे ।

भक्ति-मार्ग, ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्गको जैनशासनमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यके नामसे सम्बोधित किया गया है । मोक्षके मार्गमें भक्तिको या सम्यग्दर्शनको प्रथम साधन माना गया है । यह सम्यग्दर्शन देव, गुरु और धर्मकी भक्तिको कहते हैं । देवकी भक्ति—प्रभुसे हम विभक्त न रहें, इसका प्रयत्न है । गुरुकी भक्ति—गुरुके उपदेशोंका सेवन है और धर्मकी भक्ति 'जिन' के वचनोंको धारण करके परम सिद्धि प्राप्त करना कहलाती है ।

भगवान्‌के चरण-कमलोंकी स्मृतिका महत्त्व

श्रीसूतजी कहते हैं—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च ।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम् ॥
(श्रीमद्भा० १२ । १२ । ५४)

'भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंकी अविचल स्मृति सारे पाप-तापरूपी अमङ्गलोंको नष्ट कर देती और परम शान्तिका विस्तार करती है । उसीके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, भगवान्‌की भक्ति प्राप्त होती है एवं वैराग्यसे युक्त भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त होता है ।

जैनधर्ममें भक्तिका प्रयोजन

(लेखक—श्रीनरेन्द्रकुमारजी जैन, विशारद)

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥

अर्थात् मोक्षमार्गके नेता (हितोपदेशी), कर्मरूपी पर्वतोंका भेदन करनेवाले (वीतराग) और विश्वके तत्त्वोंको जाननेवाले (सर्वज्ञ) आप्त (अर्हंत)की भक्ति, उन्हींके गुणों (हितोपदेशित्व, वीतरागता, सर्वज्ञता) को पानेके लिये करता हूँ।

विविध गुणधारी (अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं) के गुणोंमें अनुराग करके उनका सांनिध्य प्राप्त करनेकी क्रियाको ही भक्ति कहते हैं। अतः भक्तिका प्रयोजन उन गुणोंकी प्राप्ति है, जिनमें भक्तका अनुराग हो।

भक्ति छः प्रकारकी होती है—

(१) नाम भक्ति—नामोंका उच्चारण करते हुए गुण-स्मरण करना नाम भक्ति है।

(२) स्थापना-भक्ति—मूर्तिस्थापनाद्वारा जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप धूप और फलादिसे पूजन करना तथा दर्शन करना।

(३) द्रव्य भक्ति—अरिहंतके तथा सिद्धके स्वरूपका विचार करना।

(४) भाव भक्ति—अरिहंत एवं सिद्धके भावोंका विचार करना।

(५) क्षेत्र भक्ति—जिन स्थानोंमें महान् पुरुषोंने जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण प्राप्त किया, उनके द्वारा उन महान् पुरुषोंके गुणोंका स्मरण करना। और—

(६) काल भक्ति—जिन कालों (समयों)में महान् पुरुषोंने जन्म, तप, ज्ञान एवं निर्वाण प्राप्त किया, उनके स्मरणरूप भक्ति।

उपर्युक्त भक्ति दो प्रकारकी होती है—(१) भाव भक्ति और (२) द्रव्यभक्ति। भक्ति करनेके समय भगवान्के गुणोंमें अनुराग प्रधान होता है, विराग प्रधान नहीं। अनुरागके बिना भक्ति भाव एवं स्तवन-पूजनादि नहीं बन सकते। सिद्धान्त यह है कि मुनि अपने ध्यानद्वारा काम-क्रोध, लोभ-मोह, ममता और अहंकार आदिको नष्ट कर आत्माको पूर्ण शुद्ध, सत्-चित्-आनन्दरूप, जिनेन्द्र-प्रभु (वीतराग भगवान्) बन जाते हैं। जिनेन्द्र वीतरागी होनेसे किसी भी भक्त या अभक्तपर राग-द्वेष प्रकट नहीं करते। फिर भी जैनधर्ममें भक्ति की जाती है, इसका कारण यह है कि जैनधर्मकी भक्ति केवल गुणोंमें अनुराग ही नहीं है अपितु गुणोंका अनुकरण करना है। अतः भक्तिका स्वरूप भी स्थिर किया गया है।

संसारमें जीवको सुख-दुःख देनेवाला कोई दूसरा नहीं है, बल्कि जीवके पूर्वसंचित शुभ-अशुभ कर्म ही उसे सुख-दुःख देते हैं और शुभ-अशुभ कर्म ही उसका निमित्त प्राप्त करता है।

अतः प्राणी यदि किसी कामी, क्रोधी, लोभी, मोही, परिग्रही पुरुषकी प्रतिमाका दर्शन करके उसकी स्तुति करता है, उसके गुणोंका स्मरण करता है अथवा उसकी मूर्तिका ध्यान करता है तो उसके मनमें क्रोध, लोभ, ममतारूपी भावना जाग्रत् होगी, जिसके कारण उसमें अशुभ कर्मोंका बंध होगा, जो दुःखदायक होते हैं। इसके विपरीत यदि वीतरागी भगवान्‌की शान्त, निर्विकार, प्रसन्न मुद्रायुक्त मूर्तिका दर्शन करके भक्ति करता है, उनके गुणोंका स्मरण करता है अथवा उनकी मूर्तिका ध्यान करता है तो उसके मनमें शान्ति, संतोष, क्षमा एवं वीतरागताकी भावना उत्पन्न होती है और काम-क्रोधादिकी भावनाएँ नष्ट होती हैं, जिससे उसके द्वारा शुभकर्म होते हैं, जो सुखदायक हैं।

अतः भक्तोंको अशुभकी ओरसे रोकने और शुभकी ओर प्रवृत्त करनेके लिये ही भक्ति की जाती है।

जैन-धर्ममें भक्ति और प्रार्थना

(लेखक—श्रीमांगीलालजी मास्टर)

मालवपति महाराजा भोजका समय भारतके गौरवका शिरोरत्न समझा जाता था। उस समय बड़े-बड़े नामी विद्वान्—बाणभट्ट, मयूरभट्ट, धनंजय आदि विद्यमान थे, जिन्होंने अपनी विद्वत्तासे भारत-भूमिका गौरव बढ़ाया था तथा कवित्वशक्ति भी जिनकी अलौकिक थी। संस्कृत-भाषाका उस समय साम्राज्य था।

जैन-समाजमें भी उस समय बड़े-बड़े विद्वान् और कवि हुए, जिनकी प्रतिभा आज भी संसारमें सुप्रसिद्ध है। जब महाराजा भोज पण्डित मयूरभट्टके द्वारा रचे हुए 'सूर्यशतक' और पण्डित बाणभट्टके द्वारा बनाये हुए 'चण्डीशतक' के चमत्कारको देखकर आश्चर्यमुग्ध हो रहे थे और यह जाननेको उत्सुक थे कि 'जैसी चामत्कारिक शक्ति इन विद्वानोंमें है, वैसी शक्ति क्या अन्य विद्वानोंमें भी होगी', उस समय राजा भोजकी सभामें मतिसागर नामक मन्त्रीने, जो जैनधर्मी श्रावक थे, राजाको श्रीमान् मानतुङ्गाचार्यका परिचय दिया। फल-स्वरूप महाराजा भोजकी आज्ञासे आचार्यश्रीको सम्मानपूर्वक आमन्त्रित करके राजसभामें बुलाया गया और निवेदन किया गया कि 'आपके जैन-दर्शनमें भी कोई चामत्कारिक शक्ति मौजूद हो तो बतलाइये।' आचार्यश्रीने फरमाया कि 'राजन्! क्या चमत्कार देखना चाहते हो? चमत्कार तो आत्मामें है, केवल शब्दोंमें नहीं है। आत्माका चमत्कार स्थायी है और शब्दोंका क्षणिक।

'शब्दोंमें रहा हुआ चमत्कार भी आत्माकी भावनापर अवलम्बित है। जिनका आत्मा मोह, मत्सर एवं विषया-भिलाषके मैलसे मुक्त होकर जितना ही पवित्र, निर्मल और परमात्म-भक्तिमें तल्लीन होगा, उतना ही उनके शब्दोंमें चमत्कार स्वयं आ बसेगा। इसके विपरीत जिनका आत्मा काम-वासनादि विकारोंसे दूषित तथा आकाङ्क्षाओंसे मलिन होगा, वे चाहे कितने ही बीजाक्षरोंका रटन एवं सेवन करें, उनको वह सिद्धि कभी नसीब नहीं होगी, जो पवित्र आत्माको सहज होती है। फिर भी आपको चमत्कार देखना ही अभीष्ट हो तो मुझे बंदी बनाकर गुप्त घरोंमें बैठाकर बंद कर दो।' आचार्य-श्रीके कथनानुसार राजा भोजने उन्हें बंदी बनाकर गुप्त घरोंमें बैठा दिया और छियालीस ताले लगवा दिये।

आचार्यश्रीने उस समय पवित्र हृदयसे परमात्माकी प्रार्थनारूप 'भक्तामरस्तोत्र' की रचना की, जो आज भी समस्त जैन-संसार (श्वेताम्बर, दिगम्बर इत्यादि सभी सम्प्रदायों) में आदर और भक्तिपूर्वक पढ़ा जाता है।

आचार्यश्री जैसे-जैसे एक-एक काव्यकी रचना करते गये, वैसे-वैसे ही एक-एक ताला स्वयं टूटकर गिरता गया। अन्तिम काव्यमें यों—

> आपादकण्ठमुरुशृङ्खलवेष्टिताङ्गा
>
> गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजङ्घाः।
>
> त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः
>
> सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति॥

'हे दयालो! जिनका शरीर पाँवसे लेकर गलेतक बड़ी-बड़ी साँकलोंसे जकड़ा हुआ है तथा बड़ी-बड़ी बेड़ियोंकी नोकसे जिनकी जङ्घाएँ अत्यन्त छिल गयी हैं, ऐसे मनुष्य भी आपके नामरूपी मन्त्रका स्मरण करके तत्काल ही बन्धनके भयसे छूट जाते हैं अर्थात् बन्धनमुक्त हो जाते हैं।'

—उक्त पदकी रचना हुई, उसी समय उनकी हथकड़ी और बेड़ियाँ भी टूट गयीं और वे बन्धनमुक्त हो गये।

आचार्य श्रीमन्मानतुङ्गाचार्य जब बन्धनमुक्त होकर राज-सभामें पधारे, तब महाराजा भोजने आश्चर्य यह लीला देखकर जैन-शासनको सिर झुकाया और आचार्यश्रीके भक्त बन गये।

जैन-समाजमें अनेकों व्यक्ति इस स्तोत्रमें बीजाक्षर और मन्त्राक्षरके भ्रमसे 'भक्तामरस्तोत्र' को महान् प्रभावशाली एवं चामत्कारिक मानकर आस्थापूर्वक इसका पठन-पाठन करते हैं। परंतु उनका हृदय शुद्ध न होनेसे जब उनकी इच्छाकी पूर्ति नहीं होती, तब वे आस्थारहित होकर इसे छोड़ बैठते हैं; किंतु इस स्तोत्रमें बीजाक्षर और मन्त्राक्षरकी अपेक्षा आत्माकी पवित्रताके साथ-साथ भावोंकी विशुद्धि तथा परमात्माकी भक्तिका ही प्रभाव विशेषरूपसे दृष्टिगोचर होता है।

जिनकी आत्मा जितने अंशमें पवित्र होगी और जो जितने अंशमें परमात्माकी भक्तिमें ओतप्रोत होकर इस स्तोत्रका पठन-पाठन करेंगे, वे उतने ही अंशोंमें अधिकाधिक सफलता प्राप्त करेंगे।

चमत्कारको कहीं खोजनेकी आवश्यकता नहीं है। चित्त-की चञ्चलता मिटाकर उसे स्वच्छ बनानेका प्रयत्न कीजिये तथा परमात्माकी भक्तिमें ओतप्रोत बन जाइये। यही सबसे बड़ा चमत्कार है।

———

भगवान्‌के प्रति ऐकान्तिक भक्ति तथा भगवच्चिन्तनके अतिरिक्त मनमें किसी अन्य विचारको न आने देनेके विषयपर फुजायल इब्न अय्याज़के जीवनकी एक छोटी-सी घटनासे अच्छा प्रकाश पड़ता है—

एक दिन वे अपनी गोदमें एक चार वर्षके बच्चेको लिये हुए थे और जैसी पिताकी आदत होती है, उन्होंने उसे चूम लिया। बच्चेने पूछा, 'पिताजी! क्या आप मुझे प्यार करते हैं?' फुज़ायलने कहा, 'हाँ।' पितासे बच्चेने फिर पूछा, 'क्या आप भगवान्‌से प्रेम करते हैं?' और पिताने पुनः स्वीकारात्मक उत्तर दिया। तब बच्चेने फिर पूछा कि 'आपके पास कितने हृदय हैं?' और उन्होंने कहा—'केवल एक।' बच्चेने कहा—'तो फिर एक हृदयसे आप दोनोंको कैसे प्यार कर सकते हैं?' फुज़ायलने समझ लिया कि बालकके शब्दोंमें दैवी प्रेरणा बोल रही है। तदुपरान्त उन्होंने केवल भगवान्‌से ही प्रेम किया, किसी अन्य व्यक्तिसे नहीं। ज्यलालुद्दीन रूमीद्वारा निरूपित उच्च कोटिका सूफी रहस्यवाद इस बातकी शिक्षा देता है कि प्रापञ्चिक तथा वास्तविक सत्तातक पहुँचनेके लिये सेतुके समान है। इसीलिये मुसल्मान सूफी महात्मा सबको यह आदेश देते हैं कि वे 'इश्के मजाज़ी' (मानवके प्रति प्रेम) को 'इश्के हक़ीक़ी' (भगवान्‌के प्रति प्रेम) में परिवर्तित कर दें।

बायज़ीद बुस्तामीने कहा है कि 'जब भगवान् मनुष्यसे प्यार करते हैं, तब वे इस प्रेमके चिह्नस्वरूपमें उसे तीन गुणोंसे युक्त कर देते हैं—सागरकी भाँति उदारता, सूर्यकी-सी सहानुभूति और धरतीके समान नम्रता। सच्चे प्रेमीकी पैनी अन्तर्दृष्टि तथा अत्यन्त श्रद्धाके आगे कोई भी पद बहुत बड़ा और कोई भी भक्ति बहुत ऊँची नहीं हो सकती।' इब्न-अल-अरबीका दावा है 'कि इस्लाम विशेष रूपसे प्रेमका मज़हब है; क्योंकि हमारे पैगम्बर मुहम्मद साहबको भगवान्‌का प्यारा (हबीब) कहा गया है।'

जो भगवान्‌से प्रेम करते हैं, उन्हींसे भगवान् प्रेम करते हैं। भगवत्प्रेम अनिर्वचनीय है, फिर भी इसके लक्षण अप्रकट नहीं रहते। जिन्होंने इसके मर्मको जाना है, उनकी निम्नाङ्कित उक्तियोंसे हमारी व्याख्याकी अपेक्षा अधिक प्रकाश मिलेगा।

हे प्रभो! इस संसारका जितना अंश आपने मेरे लिये नियत कर रखा है, उसे अपने विरोधियोंको दे दीजिये, और परलोकका जो कुछ अंश मेरे नाम लिख रखा हो, उसे अपने अनुकूल व्यक्तियोंको दे दीजिये। मेरे लिये तो केवल आप ही पर्याप्त हैं।'　　　　(रबिया)

'हे प्रभो! यदि मैं आपको नरकके भयसे पूजती होऊँ तो मुझे नरकमें ही जलाते रहिये और यदि मैं आपके ही लिये आपकी पूजा करती होऊँ तो मुझसे अपने सनातन सौन्दर्यको दूर न रखिये।'　　　　(राबिया)

उश्क़ (प्रेम) की परिभाषा करते हुए जुनायद बग़दादी कहते हैं कि 'पूर्ण प्रेमका लक्षण है हर्ष और आह्लादपूर्वक हृदयमें भगवान्‌का निरन्तर स्मरण, उनके लिये अदम्य लालसा एवं उनके साथ घनिष्ठता।' प्रेम इन सब लक्षणोंसे युक्त भी है और उन सबसे ऊपर भी। सूफी रहस्यवादीकी दृष्टिमें भक्त प्रेमी है और भगवान् प्रेमास्पद। क्योंकि सभी क्रियाओंके मूल भगवान् हैं, अतः प्रेमके भी प्रदाता वे ही हैं। और अबू तालिब लिखते हैं 'कि अपने संतोंके प्रति भगवान्‌का प्रेम उनमें भगवत्प्रेम जागनेके पहले ही उमड़ पड़ता है।' सूफीमतके एक बहुत प्राचीन लेखक अल-कलाबादी कहते हैं कि 'तफ़रीद अर्थात् अपनेको अनन्य भावसे भगवान्‌में नियोजित कर देनेका अर्थ है—साधकका प्रापञ्चिक जगत्‌से सम्बन्ध हटा लेना, एकाकीरूपसे तन्मयताकी भूमिकाओंमें स्थित रहना तथा अपने सारे व्यवहारोंका सम्बन्ध केवल भगवान्‌के साथ जोड़े रखना।'

मुसल्मान संतोंकी उपर्युक्त कुछ उक्तियाँ यह प्रकट करती हैं कि संसारके अन्य धर्मोंकी भाँति इस्लाम भी भक्ति (भगवत्प्रेम) की शिक्षा देता है। यह सत्य है कि इस्लाम अपने अनुयायियोंको भगवान्‌से डरनेकी भी आज्ञा देता है, किंतु इसका यह अर्थ नहीं हुआ कि जो भगवान्‌से डरते हैं, वे उनसे प्रेम नहीं करते। इस बातको सिद्ध करनेके लिये अब और अधिक व्याख्याकी आवश्यकता नहीं है कि इस्लाम सर्वोपरि प्रेमका धर्म है। इसीलिये 'इस्लाम' शब्दका अर्थ है प्रथमतः शान्ति और भगवदिच्छाके प्रति पूर्ण निर्भरता एवं समर्पणका भाव।

भक्तमें अपनी कोई इच्छा नहीं रह जाती; वह अपनी इच्छाको भगवदिच्छामें मिला देता है। वह न बुराई देखता है, न बुरी बात करता है, न बुरा करता है और महात्मा गांधीके शब्दोंमें—

'भक्त सर्वत्र भगवदीय सौन्दर्य और महिमाका ही दर्शन करता है, किसीसे द्वेष नहीं करता तथा सभीसे प्रेम करता है। उसकी एकमात्र इच्छा होती है अपने प्रेमास्पद भगवान्‌के साथ एकत्व प्राप्त करनेकी।'

परमात्म-तत्त्वकी उपलब्धि हो जाती है। इस यात्रामें उसे सात विभिन्न स्थलों या दशाओंको पार करना पड़ता है—जो क्रमशः अनुताप, आत्म-संयम आदिके रूपमें हुआ करती हैं और उसे उनके कारण आत्म-बल भी मिलता है तथा अन्तमें वह एक ऐसी स्थितिमें आ जाता है, जहाँ उसमें अतीन्द्रिय आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करनेकी योग्यता आ जाती है।' सूफ़ियोंने फिर इस दशाकी भी चार भिन्न-भिन्न कोटियोंकी कल्पना की है और उन्हें क्रमशः 'मारिफ़त', 'इश्क', 'वज्द' एवं 'वस्ल' के पृथक्-पृथक् नाम दिये हैं। इनमेंसे 'मारिफ़त' एक प्रकारका हृदयप्रसूत ज्ञान है, जिसमें गहरी अनुभूतिका अंश बहुत अधिक मात्रामें रहा करता है और 'इश्क' उसीका वह भावावेगमय रूप है, जिसे सूफ़ियोंने सदा अधिक महत्त्व प्रदान किया है तथा जिसकी स्थितिमें आकर 'सालिक' का अपने-आपको क्रमशः विस्मृत करते जाना भी बतलाया गया है। इस दशाके अनन्तर ही 'वज्द' या उन्मादनकी स्थिति आती है, जो सालिकोंकी इस यात्राका उच्चतम सोपान है और जहाँसे उन्हें उनके अन्तिम ध्येय 'वस्ल' (ईश्वर-मिलन)-की सिद्धि हो जाती है।

इस प्रकार सूफ़ी साधकोंकी उपर्युक्त साधना-पद्धतिके प्रथम सात सोपान यदि हमें बहुत-कुछ नैतिक-से लगते हैं तो उनके दूसरे चारका वास्तविक रूप भी केवल मानवी मनोरथोंकी चार विभिन्न अवस्थाओं-जैसा ही प्रतीत होता है और इनमेंसे किसीके भी प्रसङ्गमें भक्ति-साधनाकी वैधी पद्धतिका जैसा प्रश्न ही नहीं उठता। सूफ़ी अपने इष्टदेवके अभिमुख प्रयाण अवश्य करता है और वह उसे कोई-न-कोई व्यक्तित्व भी प्रदान करता है। किंतु वह उसे कभी कोई बोधगम्य रूप भी नहीं दे पाता। इस कारण सगुण-सा समझे जानेवाले सूफ़ी साधकोंकी भी उपासना अधिक-से-अधिक निर्गुण-भक्तिके ही रूपमें परिणत होती जान पड़ती है। इसके लिये न तो किसी उपकरणकी आवश्यकता है और न इसमें किसी बाह्योपचारका ही उपक्रम करना पड़ता है। इस्लाम-धर्मका चरम उद्देश्य ही यह है कि अपनेको परमेश्वरके सम्मुख उपस्थित रखा जाय, उसकी प्रार्थना की जाय तथा उसके प्रति अपनेको समर्पित कर दिया जाय। यह भाव अरबी शब्द 'इस्लाम' के भी व्युत्पत्तिमूलक अर्थमें निहित समझा जाता है और इसी रूपमें उसकी विस्तृत व्याख्या की जाती है। अन्तर केवल इतना ही है कि एक मुस्लिम जहाँ इस मनोवृत्तिको आत्मभयसे भयभीत होकर स्वीकार करता है, वहाँ एक सूफ़ीको इसके लिये उसके प्रति अपने अनुराग या प्रेम-भावके द्वारा प्रेरणा मिलती है। एक सूफ़ी परमेश्वरको अपना परम आत्मीय समझता है और वह अपनेको उससे वियुक्त या बिछुड़ा हुआ भी अनुभव करता है। वह उसके विरहमें तड़पा करता है, उसकी उपलब्धिके लिये आतुर बन जाता है और इसी भावनाके साथ वह अपनी उपर्युक्त साधनामें प्रवृत्त भी होता है। उसे इसकी परवा नहीं होती कि मेरा प्रियतम या इष्टदेव मुझे किसी स्थूलशरीरमें आकर दर्शन दे और वह न यही चाहता कि मुझे उसके समक्ष सदा उपस्थित रहनेका ही अवसर मिले। वह उसके 'नूर' या दिव्य प्रकाशमात्रसे ही अपनेको अभिभूत मानता है और उसके आलोकसे सम्पूर्ण विश्वको आलोकित समझता है। परंतु फिर भी उसे तबतक पूरी शान्ति नहीं मिलती और न वह उसके साथ अपने मिलन-का अनुभव ही करता है, जबतक उसके अपने भीतर तज्जन्य आत्मविस्मृतिकी भी दशा नहीं उत्पन्न हो जाती।

अतएव सूफ़ी साधकोंकी भक्ति-भावनाको यदि हम चाहें तो 'रागानुगा'की श्रेणीमें स्थान दे सकते हैं तथा इसके भक्ति-भावको परमेश्वरके प्रति 'परानुरक्ति' की संज्ञा देकर इसके अन्तर्गत प्रेमाभक्तिके प्रमुख लक्षणोंको भी ढूँढ़ सकते हैं। 'रागानुगा' भक्तिके भी दो रूप देखनेमें आते हैं, जिनमेंसे प्रथम या प्रारम्भिकको 'बाह्य' तथा दूसरे या अधिक प्रौढ़को 'अन्तर' की साधनाओंके साथ सम्बन्धित माननेका नियम है। बाह्य साधनाओं-में प्रधानतः 'श्रवण' एवं 'कीर्तन' की गणना की जाती है और इनके अभ्यासद्वारा भक्तिभाव प्रकट करनेवालेको प्रायः 'साधक' मात्र भी कह दिया जाता है। किंतु अन्ततः साधनाके अभ्यास-द्वारा स्वयं हमारी मनोवृत्तिमें ही पूरा परिवर्तन आ जाता है और हम अपने इष्टदेवको अपने स्वामी, मित्र, शिशु अथवा पतिके रूपमें देखने लग जाते हैं। कहना न होगा कि सूफ़ियोंकी भक्ति-साधनामें भी हमें इन दोनों प्रकारोंके उदाहरण दीख पड़ते हैं। परंतु वैधी भक्तिकी वे दूसरी सभी विविध साधनाएँ, जिनकी गणना बहुधा 'नवधा-भक्ति'का परिचय देते समय की जाती है, इसमें स्वभावतः स्थान नहीं पातीं। इसमें न तो उसका 'पाद-सेवन' आता है, न उसके 'अर्चन', 'वन्दन', 'दास्य' अथवा 'सख्य' का ही प्रयोजन रहता है तथा इसमें 'भजन'का भी ठीक यही रूप नहीं रह जाता, जिसकी चर्चा 'रागानुगा' भक्ति या 'वैधी'-में की जाती है। इसके सिवा सूफ़ी भक्ति-साधनाके

अपनी रचना 'पदमावत' के एक स्थलपर कहा है—

परगट लोकचार कहु बाता। गुपुत लाउ मन जासों राता॥

एक अन्य सूफ़ी कवि नूरमुहम्मदने भी अपनी रचना 'अनुराग बाँसुरी'के अन्तर्गत इस प्रकारकी साधनाको 'मनकी माला फेरने'का नाम दिया है और बतलाया है कि हृदयद्वारा अपने प्रियतमके नित्य चिन्तन या उसके स्मरणसे 'योग' की साधना पूरी हो जाती है। वे प्रेमी धन्य हैं, जो ऐसी साधना किया करते हैं। जैसे—

मन के मार्ग सुमिरें नेही लोग।
ध्यान और सुमिरन सौं पूरन जोग॥

तथा—

धनि सनेह के रंगमें, जेहि दिन रात।
सुमिरन बिना न दूसर कछू सुहात॥

सूफ़ियोंकी 'ज़िक्र' नामक साधना उनकी 'मुराक़बत' (ध्यान) से भिन्न हुआ करती है, जिसके लिये उनकी दृष्टिमें 'ख़िल्वत' (एकान्त-सेवन) भी नितान्त आवश्यक है।

इस प्रकार सूफ़ी साधकोंकी उक्त सारी क्रियाएँ वस्तुतः अन्तःसाधनाके ही विविध रूप हैं, जिनसे उनकी अन्तर्वृत्तिके एकान्तनिष्ठ बननेमें सहायता मिलती है। जैसे-जैसे इसमें दृढ़ता आती जाती है, साधक एवं साध्य अथवा उपास्यरूप परमेश्वरके बीचका व्यवधान क्रमशः क्षीणतर होता चला जाता है और इसके फलस्वरूप उसके हृदयरूपी दर्पणके मल भी दूर होते चले जाते हैं, जिनके कारण वह अपने प्रियतमके अलौकिक 'नूर' को भलीभाँति प्रतिबिम्बित नहीं कर पाता था। हृदयके वे मल या विकार सांसारिक बन्धनोंके कारण उत्पन्न आसक्तियोंके रूपमें रहा करते हैं और वे उसपर मोरचेकी भाँति चिपककर उसे सर्वथा मलिन बना दिया करते हैं। परंतु जब उक्त अन्तस्साधनाके कारण साधककी अन्तर्वृत्ति केवल एक ही ओर केन्द्रित हो जाती है, सारी आसक्तियोंवाले बन्धन आप-से-आप एकत्र होकर उस ओर ही लग जाते हैं, जिसका प्रतिबिम्ब ग्रहण करना रहता है, और इस प्रकार उसका सम्पूर्ण अन्तस्तल आलोकित हो उठता है। 'ख़िल्वत', 'समा', 'ज़िक्र', 'फ़िक्र', अथवा अन्य भी ऐसी विविध साधनाएँ सूफ़ियोंकी उस प्रेम-साधनामें केवल सहयोग प्रदान करती हैं—जो स्वभावतः किसी प्रेमी एक झलक पानेपर ही आरम्भ हो जाती हैं तथा जिसका रहस्य जानकर हमें उनकी भक्तिके स्वरूपका भी पूरा परिचय हो सकता है। प्रेम-साधना ही उनकी प्रमुख और वास्तविक साधना है और अन्य जितनी भी साधनाएँ उसका अङ्ग बनी जान पड़ती हैं, वे उसकी मानो प्रारम्भिक दशामें काम आती हैं या उसे न्यूनाधिक पुष्टि प्रदान करती हैं। वैसे सूफ़ियोंकी यह प्रेम-साधना कोई साधारण साधना भी नहीं है; क्योंकि इसमें किसी प्रक्रियाका प्रयोग नहीं किया जाता। यह सारे जीवनमें ही सहजरूपसे चला करती है।

सूफ़ी साधकका प्रेम अपने प्रेमपात्र इष्टदेवके प्रति एक प्रेमीके दर्जेका हुआ करता है और वह उसे किसी प्रेयसीके रूपमें देखा करता है। वह उसके लिये एक विरही-जैसा व्याकुल रहता है। उसकी प्राप्तिके लिये आर्तवत् व्यवहार करता है और उस उद्देश्यसे कठोर-से-कठोर प्रयत्न करनेके लिये भी सदा प्रस्तुत रहा करता है। सूफ़ी कवियोंने इस प्रकारकी प्रेम-साधनाको प्रायः प्रेमाख्यानोंके आधारपर उदाहृत किया है और उनके नायकों एवं नायिकाओंके अत्यन्त मनोरम चित्र अङ्कित किये हैं। उन्होंने लौकिक प्रेमगाथाओंके माध्यमसे दिखलाया है कि किस प्रकार ऐसा प्रेमी किसी अनुपम सौन्दर्य-वाली नारीको अपनी आँखों देखकर अथवा केवल उसके गुणश्रवण, चित्रदर्शन या स्वप्नदर्शनके ही माध्यमसे उसकी ओर आकृष्ट होता है, तथा उसके प्रति विरहातुर बनकर उसकी उपलब्धिके लिये जी-तोड़ परिश्रम करने लग जाता है। उसके आगे किसी बड़े-से-बड़े त्यागको भी वह बराबर तृणवत् समझा करता है और अन्तमें किसी प्रकार उसे अपनाकर ही संतोषकी साँस लेता है। इस प्रेमकहानीके ही प्रसङ्गमें प्रेम-पात्रियोंका वर्णन ऐसे ढंगसे किया जाता है, उनके अलौकिक प्रभावका ऐसा चित्रण किया जाता है तथा बीच-बीचमें अनेक ऐसे व्यापक सिद्धान्तोंका वर्णन भी कर दिया जाता है, जिनसे यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि इसकी नायिका किसका प्रति-निधित्व कर रही है, इसका नायक कोई साधारण प्रेमी न होकर किसी मार्ग-विशेषका पथिक है तथा इसकी घटनाओंके क्रमवर्णमें किसी आध्यात्मिक साधनाका रूपक उपस्थित किया गया है। कहते हैं कि ऐसे प्रेमाख्यानोंके ही माध्यमसे सूफ़ी कवियोंने प्रेमतत्त्वके गूढ़ रहस्योंका उद्घाटन किया है तथा इनके द्वारा अपने मतका प्रचार भी किया है।

रागानुगा भक्तिके लिये कहा जाता है कि उसके शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं शृङ्गार (अथवा माधुर्य) नामके पाँच भेद होते हैं तथा इनके सम्बन्धमें विशेषज्ञोंका यह भी कहना है कि भक्तिभावमें जैसे-जैसे प्रगाढ़ता आती जाती है, उसी क्रमसे शान्त दास्यमें, दास्य सख्यमें,

अनन्त कालतक बना रह गया, इसका समाधान वे भी नहीं कर पाते और फलतः उनके हृदयमें अनेक भाव निरन्तर उठा करते हैं। जैसे—

हुता जो पवनहि संग, सो तुम्ह काहे बीछुरा।
अब फिर उठै तरंग, मुहम्मद कहा न जाइ कछु॥

अतएव सूफी साधकोंकी भक्तिका स्वरूप रागानुगा अथवा प्रेमा-भक्तिका जैसा है, जिसके प्रेमभावको भी विरहमूलक समझा जा सकता है। इस विरहके कारण वे अपनी साधनामें अधिकतर अपने प्रेम-पात्रकी सुध मात्रमें ही लीन रहा करते हैं और उसे कोई स्पष्ट आकार प्रदान न कर सकनेके कारण उन्मादनकी दशातक पहुँच जाते हैं। परंतु वास्तवमें उनका यह उन्मादन ही उन्हें उस आत्म-विस्मृतिकी भी अवस्थातक पहुँचा देता है, जहाँ वे अन्तमें फिर एक बार 'परम' या परमके साथ पुनर्मिलनका भी अनुभव कर पाते हैं।

कबीरकी भक्ति-भावना

(लेखक—श्रीराधेश्याम बंधु, एम्० ए०, एल्० टी०)

महर्षि शाण्डिल्यके अनुसार 'ईश्वरमें परम अनुरक्ति' को भक्ति कहते हैं। देवर्षि नारदने अपने भक्तिसूत्रमें भक्तिके लक्षणोंको बतलाते हुए कहा है कि 'सम्पूर्ण आचरणोंको भगवान्के प्रति अर्पित कर देना तथा उसके विस्मरणमें परम व्याकुलताका होना' ही भक्तका प्रधान गुण है। वास्तवमें सच्चा भक्त वही है, जिसके सम्पूर्ण कर्मों और चेष्टाओंके आदि, मध्य और अन्तमें उसका आराध्य होता है। और यही बात कबीरके रोम-रोममें व्याप्त है। जो भी कोई वस्तु कबीरको अपनी भक्तिमें सहायक सिद्ध हुई है, उसको वे सौ जानसे स्वीकार करते हैं, सौ कण्ठसे उसके गीत गाते हैं और सौ-सौ बार उसके चरणोंपर सिर झुकाते हैं। इसके विपरीत जो भी वस्तु उनकी भक्तिमें बाधक है, उसका सौ-सौ हाथोंमें सौ-सौ डंडे लिये हुए तिरस्कार और बहिष्कार करनेमें वे थकते नहीं। साधक वस्तु उन्हें ग्राह्य थी; इसी कारण गुरुसेवा, नामस्मरण, भक्ति, अहिंसा, संत-सेवा, संतोचित सद्गुणोंका सम्पादन, एकनिष्ठ प्रेम आदिका वे भरपूर बखान करते हैं और जो-जो वस्तुएँ उनकी दृष्टिमें बाधक होनेके कारण त्याज्य थीं, उनका वे तीव्र शब्दोंमें विरोध करते हैं। उन्हें यदि कोई भी वस्तु या विचार, विधि या विधान, व्यवस्था या व्यापार प्रिय था तो वह अपने रामके नाते। उनके सम्बन्धका एकमेव आधार था उनका 'राम'।

उनका 'राम' भी अद्भुत है। तीनों लोक दाशरथि रामका बखान करते हैं परंतु उनके मन रामका मर्म कुछ और ही है, जिसको विरले ही जानते हैं। कबीरने अपनी उपासनाके लिये ऐसे आराध्यको चुना जो किसी भी प्रकारके सामाजिक और साम्प्रदायिक विरोधको उठ खड़े होनेका अवसर ही न दे। राम-भक्त और कृष्ण-भक्त, शिव-भक्त और शक्ति-भक्त परस्पर लड़ सकते हैं; परंतु कबीरने अपने आराध्यके स्वरूपद्वारा झगड़ेको ही निर्मूल कर दिया। कबीरके रामके मुख नहीं है, माथा नहीं है, रूप नहीं है। वह एक ऐसा अनुपम तत्त्व है, जो पुष्पवाससे भी सूक्ष्म है—

जाके मुँह माथा नहीं, नाहीं रूपक रूप।
पुहुप बास तैं पातरा, ऐसा तत्त अनूप॥

वह परब्रह्म अलौकिक ज्योतिपुञ्ज है, उसका अनुमान कैसे लगाया जा सकता है। वह शब्दसे परे है; पर उसकी ज्योति ऐसी है, मानो सूर्योंकी एक पाँत लगी हो—

पारब्रह्म के तेजका कैसा है उनमान।
कहिबे कूँ सोभा नहीं, देख्याँ ही परवान॥
कबीर तेज अनंत का, मानौं ऊगी सूरज सेणि।
पति सँगि जागी सुंदरी, कौतिग दीठा तेणि॥

कबीरके राम निर्गुण हैं, निराकार हैं। पर निर्गुण-निराकार होकर भी वे अद्वैतवादियोंके निर्गुण-निराकारसे भिन्न हैं। अद्वैतवादियोंका ब्रह्म केवल चिन्तनका विषय है, परंतु कबीरका ब्रह्म भावनाका विषय भी है। ब्रह्मवादियोंके ब्रह्ममें कोई उपाधि या गुण नहीं, इसी कारण वह केवल मस्तिष्ककी वस्तु है। परंतु कबीरका ब्रह्म उपाधि और गुणोंसे—चाहे हों वे सूक्ष्म ही—युक्त है; अतः वह हृदयकी वस्तु है। कबीरका ब्रह्म अद्वैतवादियोंके ब्रह्मकी तरह अनन्त है, जिसको हेरते-हेरते कबीर स्वयं 'हिराय' जाते हैं; परंतु साथ ही वह सर्वसमर्थ है, दयालु है, दीनवत्सल है। समर्थ इतना कि राईसे पर्वत और पर्वतसे राई कर दे और दयालु ऐसा कि प्रपन्नके सम्पूर्ण दोषोंका हरण कर ले। दीनोंकी पुकार सुनना उसका स्वभाव है।

प्रभुमें परिणत हो जाय। कबीरदास ऐसे प्रेमियोंके, ऐसे निरपेक्षोंके तथा सच्चे संतोंके दासोंके दास हैं। वे महात्माओं-के चरणतलेकी घास हैं—

कबीर मेरा संत का दासनि का परदास।
कबीर ऐसैं है रह्या ज्यूँ पाँऊँ तलि घास॥

कबीर संतकी सेवा और उनके सङ्गको जीवनका महान् उपाय मानते हैं। संतोंके सहवाससे ही साधकमें संतोचित गुणोंका संचय होता है; सत्सङ्गद्वारा ही सम्भव है कि साधक नम्रतापूर्वक मनको मारे, पञ्चेन्द्रियका निग्रह करे, शील-सत्य-क्षमाका सम्पादन करे। करनी-कथनीमें एकता हो, जगत्से विरक्ति हो। क्षणभङ्गुर जगत् तथा नाशवान् शरीरकी नश्वरताका पद-पदपर अत्यधिक विस्तारसे वर्णन करते हुए और भौतिकतासे विमुख तथा 'राम' की ओर अभिमुख होनेका उपदेश देते हैं। वैराग्यकी भूमिपर ही 'राम-प्रेम' के भवनका निर्माण होगा। तभी प्रभुमें आसक्ति होगी।

जिस साधकमें संतोचित गुणोंके साथ-साथ वैराग्यकी वृत्ति नहीं, वह कदापि रामप्रेमका भाजन नहीं हो सकता। इन गुणोंकी प्राप्तिके बाद ही उस प्रेमका प्रादुर्भाव होता है, जो जीवनकी अमूल्य निधि है। जो प्रेमका ढाई अक्षर पढ़ लेता है, वही परम पण्डित है। प्रेम वह, जो तन-मनमें समा जाय, जिसका नशा आठों पहर चढ़ा रहे। जो छिनमें चढ़े और छिनमें उतरे, वह प्रेम नहीं कहलाता। सच्चा प्रेम अघटरूपसे पिंजरमें बसता है। परंतु जैसे एक म्यानमें दो तलवार एक साथ नहीं रह सकतीं, उसी प्रकार प्रेम-रस और विषय-रस साथ-साथ नहीं चल सकते, दोनोंमेंसे कोई एक मिल सकता है। और यदि प्रेम-रस चाहिये तो उसका मूल्य है शीश। प्रेमके बाजारमें राजा और प्रजाका कोई अन्तर नहीं। जो शीश देगा, वही प्रेम पायेगा।

ऐसे प्रेमीके लिये ही प्रेमका पथ प्रशस्त है और प्रेम-नगरके प्रवेशद्वार खुले पड़े हैं, जहाँ प्रियके साथ होगी सम्मिलन। ऐसा भक्त ही—जिसने गुरुकी सेवा की है, नाम-का स्मरण किया है, जो रामके शरणागत है, हिंसासे दूर है, संयम सेवी एवं सहवासी है, जिसमें संतोचित सद्गुणोंका संचय है, जो वैराग्यकी मूर्ति है और है जिसमें अतिशय उत्कण्ठा प्रेम, वही उस अरूप-अनामको वरण कर सकता है। ऐसे जीवात्मा ही उस परम पुरुषके साथ हास-विलास रचता है।

सद्गुरुने ऐसी सद्गुणसम्पन्ना जीवात्माका परम पुरुषसे परिचय तो करा दिया, किंतु फल उल्टा हुआ। लेने-के-देने पड़ गये। सुखकी जगह दुःख मिला। प्रियका पथ देखते-देखते आँखोंमें झाँई पड़ गयी। अहर्निशि रामको पुकारते-पुकारते जीभमें छाले पड़ गये। पियके वियोगमें रोते-रोते नेत्र आरक्त हो उठे। लोग तो यही समझते हैं कि आँख दुखने-को आ गयी है; पर कौन भाँप सकेगा कि प्रेमकी आगमें आँखें तप रही हैं। वियोगिनी नित्य ही अपने भवनके द्वारपर खड़ी रहती है। प्रियतमका कोई संदेश मिल जाय, यही सतत चाह है। मार्गमें किसी भी पथिकको देखकर दौड़ पड़ती है। उसकी एक ही जिज्ञासा है—'क्या मेरे प्रियतमका संदेश लाये हो? सच-सच कहो, मेरे प्रियतम मुझे कब मिलेंगे?' वियोगने शरीरको कृश बना दिया। दुर्बलता इतनी हो गयी कि खड़े रहना भी कठिन है। दर्शनकी उत्कण्ठा लिये वह ज्यों ही खड़ी होती है, गिर पड़ती है। तब यही कहती है—'मृत्युके उपरान्त यदि दर्शन दिया, वह मेरे किस कामका!' प्रियकी राह देखते-देखते दिन निकल जाता है और रात भी चली जाती है; किंतु प्रियतमको न पाकर विरहिणी अंदर-ही-अंदर विसूरा करती है, भीतर-ही-भीतर जियरा तड़फड़ाता रहता है। सारा संसार सुखपूर्वक खाता और सोता है, परंतु रामके चरणोंकी दासी रामके विरहमें तड़पती हुई रोती और जागती है। विरहिणीसे आठों पहरका 'झूरना' (कल्पना) नहीं सहा जाता। अतः वह या तो दर्शन माँगती है या मौत ही। वह समझ नहीं पाती किस प्रकार अपने संदेशको प्रियके पास भेजे। कभी-कभी तो वह ऐसा भी सोच जाती है कि तनको जलाकर ही मसि तैयार कर लूँ और अपनी अस्थिकी लेखनीसे पत्र लिखकर रामके पास पठा दूँ। और लिखना भी क्या है—'न तो मैं तुमतक आ पाती हूँ और न तुम ही मुझतक आते हो। तो क्या विरहमें तपा-तपाकर ही मेरे प्राण लोगे?'* कितनी

---

* आँखड़ियाँ झाँईं पड़ी पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि॥
आँखड़ियाँ प्रेम कसाइयाँ, लोग जाणैं दुखड़ियाँ।
साँईं अपणैं कारणैं, रोइ रोइ रतड़ियाँ॥
बिरहनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कबरे मिलैंगे आइ॥
बिरहनि ऊठै भी पड़ै, दरसन कारन राम।
मूवाँ पीछै देहुगे, सो दरसन किहि काम॥
कबीर देखत दिन गया, निसि भी देखत जाइ।
बिरहनि पिव पावै नहीं, जियरा तलफै माइ॥

बिलखता है। परंतु पतिपरायणा प्रोषित-पतिकाकी पराग पुकार कबतक अनसुनी रहती ! प्रिय भी तो पाषाण नहीं है ! अन्तमें राम 'भरतार' के आनेपर मङ्गलाचार गाये जाते हैं और जीवात्मा पुकार उठती है—

> हरि मेरा पीव मैं राम की बहुरिया।
> राम बड़े मैं छुटक लहुरिया॥

भक्तिके आचार्योंने आराध्यसे स्थापित पाँच प्रकारके सम्बन्धोंकी चर्चा अधिकतर की है—दाम्पत्य-भाव, वात्सल्य-भाव, सख्यभाव, दास्यभाव और शान्तभाव। कबीरकी वाणीमें अन्य सम्बन्ध भी दृष्टिगत होते हैं, परंतु प्रबल स्वर दाम्पत्य-भावका ही है। इसके अतिरिक्त कबीर दो-तीन स्थानपर कहते हैं कि मैंने उस 'अलेख' को अपना 'दोस्त' (दोस्त) बनाया है।

> देखो कर्म कबीर का, कछु पूरब जनम का लेख।
> जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख॥

वह अलेख दोस्त (मित्र) भी है, साथ ही माता-पिता भी है। सूर और तुलसीके साहित्यमें प्रायः पुत्रके रूपमें और साधक माता और पिताके रूपमें हमारे समक्ष आते हैं, परंतु कबीरका भाव इसके विपरीत है। यहाँ कबीर ही पुत्र है और आराध्य माता-पिताके रूपमें वर्णित है। वात्सल्य और सख्य-भावसे अधिक किंतु दाम्पत्य-भावसे न्यून महत्त्व है दास्यभावका। अनेक स्थानोंपर कबीर आराध्यको 'साईं' या 'स्वामी' और अपनेको 'सेवग' और 'दास' कहते हैं और 'चरन कँवल' में पड़े रहनेकी याचना करते हैं। उसीमें पड़े रहनेमें इनको मोक्ष मिलती है। तुलसीके समान कबीरमें भी मर्यादा-भाव है। यह मर्यादा-भाव कबीरके दाम्पत्य-भावमें भी झलकता है। तुलसीके समान ही कबीर भी अपने रामकी महत्ता और अपनी दीनता प्रकट करते हैं। परंतु कबीरके राम निर्गुण हैं, इस कारण कबीर निर्गुण रामकी महत्ताका उतना गुण-गान न कर सके जितना तुलसी। तुलसीके समक्ष अपने राम-

का सम्पूर्ण जीवन और उस जीवनमें घटे उनके आ-चरणके अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत थे, जिनका कबीरके सामने अभाव था। इतना होनेपर भी कबीर रामके गुण गाते थकते नहीं और उन्हें पूर्ण विश्वास है कि 'राम' के सांनिध्यसे उनका सम्पूर्ण दैन्य क्षणमें मि-ट जायगा। दास्य भावके अतिरिक्त कबीरकी दाम्पत्य-भक्तिकी झलक उन स्थलोंपर प्राप्त होती है, जहाँ वे अपार अभावका और क्षणभंगुरताकी ओर स्पष्ट निर्देश कर 'राम' की अनन्तता तथा असीमताका वर्णन करते हैं।

कबीरको इस बातसे कोई विरोध नहीं कि उपासना कोई पति या पिताके भावसे करे अथवा स्वामीके भावसे करे। आवश्यक ही भक्ति निष्काम हो, इस भक्तिके लिये जितनी भी बाधक वस्तुएँ हैं—क्या व्यक्तिगत जीवनमें और क्या सामाजिक जीवनमें—कबीरने उन सबका खण्डन किया है और सभीसे वे सावधान भी रहे हैं। जीवनमें काञ्चन-कामिनी-कीर्तिका त्याग आवश्यक है। इनसे दूर नहीं रहते, उनका नाश उसी प्रकार निश्चित है जैसे रूईमें लपेटी आगसे रूई नष्ट हो जाती है। काम, क्रोध, मोह-मद-मत्सरका दमन करना ही पड़ेगा। इनिद्रयोंके अभावमें साधकको सफलता मिलनी असम्भव है। आचारों और आडम्बरोंके बवंडरसे दूर रहकर ही तत्त्वकी प्राप्ति हो सकती है।

सामाजिक क्षेत्रमें कबीर उन सभी दोषोंको कहते हैं, जिनके कारण भक्तिके वास्तविक स्वरूप पड़ गया है। यहीं हमें कबीरकी भक्तिका लोकसंग्रह दिखायी पड़ता है। समाजकी गंदगीको दूर करना अपनी भक्तिका एक आवश्यक अङ्ग समझा था। मुसल्मान अपने राम और खुदाको लेकर लड़ते इसके लिये दोनों जातियोंको कबीरकी फटकार सु-नी थी। उन्होंने ब्राह्मणोंसे साफ-साफ पूछा—

> एक बूँद एकै मल मूतर एक चर्म एक गू
> एक ज्योति थैं सब उतपना को बाम्हन को सू

कबीरकी फटकार तीखी और खरी होती थी। सभी प्रकारके बाह्याचारोंका बुरी तरह खण्डन किया। लोग मूल भावनाको भूलकर बाह्य रूपको ही मुख्य मान रहे थे और फलस्वरूप भक्तिका ह्रास हो रहा था।

कबीरकी भक्ति-भावना गहन थी। वे भारतीय दर्शन तथा दीन भिन्न न थे।

> दुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै।
> दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै॥
> कै बिरहनि कूँ मींच दे, कै आपा दिखलाइ।
> आठ पहर का दाझणाँ, मो पै सह्या न जाइ॥
> यहु तन जालौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ।
> लेखणि करूँ करंक की, लिखि लिखि राम पठाउँ॥
> नैना अंतरि आव तूँ, ज्यूँ हौं नैन झँपेउँ।
> ना हौं देखौं और कूँ, ना तुझ देखन देउँ॥

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्है कोइ ।
जिन सहजै हरिजी मिलैं, सहज कहीजै सोइ ॥

जीवन और जगत्‌में एक परम तत्त्व व्याप्त है । उसीकी आराधना सहज ढंगसे करनी चाहिये । किसी बहुत बड़ी साधना या दिखावेकी जरूरत नहीं । अपनेमें सद्गुणोंका उपार्जन करते हुए शील-सदाचारपूर्वक भक्ति करनी चाहिये । कबीरकी सहज भावकी भक्तिमें हठयोगका भी वर्णन मिलता है । कबीर हठयोगकी कठिनतासे परिचित थे, अतः हठयोगका उपदेश उन्होंने नहीं किया । कबीर मनको साधनोचित बनानेके लिये तथा मनको अपने 'राम' में लगानेके लिये इस पूर्वोक्त हठयोगकी साधनाको स्वीकार करते हैं, परंतु प्रधानता सदा ही भक्तिको देते हैं, जो सभीके लिये सदा सुलभ है ।

कबीरकी भक्तिके आदर्श हैं 'सती' और 'शूर' । तुलसीका आदर्श चातक है । उस चातक-जैसे भक्तको एकमात्र भरोसा और बल, आशा और विश्वास अपने मेघश्याम रामका है। परंतु कबीरको स्फूर्ति और प्रेरणा 'सती' और 'सूरा' (शूर) ही देते हैं—

सती सूरा तन साहि करि तन मन कीया घाँण ।
दिया महौला पीव कूँ तब मड़हट करै बखाँण ॥

'सती और शूरवीरने शरीरको सजाकर तन-मनकी घानी बना दी, अपना आपा प्रियको अर्पित कर दिया । तब कहीं मरघट उनकी प्रशंसा करता है ।'

आत्मत्याग ही महत्त्वपूर्ण है । जैसे सती—जो एकनिष्ठ पतिव्रता है, एकनिष्ठ है, भूलकर भी अन्य पुरुषका विचार नहीं लाती, और शूर—जो समरभूमिमें चोट-पर-चोट खानेपर भी रण-क्षेत्रसे मुख नहीं मोड़ता, पीठ नहीं दिखाता, इसी प्रकार कबीरकी दृष्टिमें भक्त अनेक बाधाओं और विपदाओंसे युद्ध करते हुए शूरके समान प्रेमक्षेत्रमें आगे ही बढ़ते जाते हैं तथा प्रियके प्रति उनकी निष्ठा, उनका प्रेम वैसा ही होता है जैसा कि सतीका ।

कबीर तत्त्वसे विरहात्मक भक्त हैं । उनकी वाणीमें हठयोगकी पुट अवश्य है, किंतु फिर भी प्रेम ही उनकी जीवन-साधनाका मूल स्वर है । शान्त और दास्य, सख्य तथा वात्सल्य भावोंकी अनुभूति उन्होंने अवश्य की है, परंतु उनके हृदयके आनन्दकी सहज और गहरी अनुभूति दाम्पत्य-भावमें मिलती है । अगम्य और अलक्ष्य तत्त्वको स्वरूपतः अगम्य और अलक्ष्य स्वीकार करके भी प्रियसे मिलनकी उनकी उत्कट अभिलाषाने अगम्य तथा अलक्ष्यको भी प्रेमके लिये गम्य तथा प्रेमका लक्ष्य बना दिया है । सती और शूर उस अलक्ष्य-पर मर मिटनेका पाठ पढ़ाते हैं । जगत्‌की नश्वरता उनकी भक्ति-भावनाको अधिकाधिक प्रगाढ़ बनाती है, परंतु भक्त कबीर भक्तिके सागरमें आकण्ठ डूबकर भी बाहर देख रहे हैं । व्यक्तिगत जीवनकी अनीतियों तथा समाजकी कुरीतियोंपर भी उनकी एक वक्र दृष्टि है । जीवनकी दुरवस्थाओं तथा समाजके दोषोंसे व्यक्ति और समाज दोनोंको सावधान करते हुए तथा राहके काँटोंको हटाते हुए मंजिलपर पहुँचाकर सभीको प्रेमकी वही, वैसी ही आनन्दानुभूति कराना चाहते हैं, जिसमें वे स्वयं निमग्न हैं । यही कबीरके भक्त-हृदयकी विशेषता है ।

इन्द्रियोंका सच्चा लाभ

महाराज परीक्षित् कहते हैं—

सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीते करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च ।
स्मरेद् वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः ॥
(श्रीमद्भा० १० । ८० । ३)

'जिस वाणीसे मनुष्य भगवान्‌के गुणोंका गान करता है, वही सच्ची वाणी है । वे ही हाथ सच्चे हाथ हैं, जो भगवान्‌की सेवाका काम करते हैं। वही मन सच्चा मन है, जो चराचर प्राणियोंमें निवास करनेवाले भगवान्‌का स्मरण करता है। और वे ही कान वास्तवमें कान कहने योग्य हैं, जो भगवान्‌की पुण्यमयी कथाओंका श्रवण करते हैं ।'

सिद्धि होती है—ऐसा संतोंका अनुभव है। मन, कर्म और वचनको निर्मल करके जो प्राणी भगवान्‌का भजन करते हैं, वे धन्य हैं। संत मीराबाईने इस विषयमें बड़ी चेतावनी दी है—

प्रीति की यह रीति बखानो।
कितना दुख सुख परे देह पर, चरन कमल कर ध्यानो।
हो चैतन्य विचारि तजो भ्रम, खाँड धूरि जनि सानो॥
जैसे चातक स्वाति बुंद बिन, प्रान समरपन ठानो।
'मीरा' कहै जन राम मगन भई, कारज केहि जानो॥

संतोंका यही सर्वसम्मत निर्णय रहता है कि निर्गुण, सगुण, निर्गुण-सगुण, निर्गुण-सगुणातीत—किसी भी रूपमें गुणातीत परमात्माके प्यारे भक्त संतोंके सम्पर्कमें रहकर निष्कामभावसे भगवान्‌का भजन करना ही जीवनका परम पुण्य फल है। भगवान् और भक्त—दोनोंकी ही प्रसन्नतासे भक्तिरसका अमृत सहज-सुलभ है।

निर्बलके बल भगवान्

(रचयिता—श्रीनन्दकिशोरजी झा, काव्यतीर्थ)

सारी शुभाशाओंसे ही होनेको निराश प्रायः
दुर्वासा-शाप सकल विश्वमें विख्यात है,
कृत्याकी करालताको रोके कौन धीर व्यक्ति?
निगलनेको दौड़ी दिखाती तीक्ष्ण दाँत है।
भक्ति-माँकी गोदीमें सुरक्षित श्रीअम्बरीष
देखते तमाशा, कोई भयकी न बात है,
निर्बलके बल हैं भगवान्,—भक्तद्रोहीपर
होता अविलम्ब वहाँ चक्र-वज्रपात है॥१॥

बन बैठा घातक पिता ही प्रह्लादजीका
वञ्चित हुए थे हाय! सहज पितृ-स्नेहसे,
गिरिसे गिराये गये, आगमें जलाये गये
शस्त्र-विष-हस्तीसे गये न प्राण देहसे।
भक्ति-सुधा-सागरमें डूबे कुमार अमर
जीते-जी ही जगमें वे हो गये विदेह-से,
प्रबल प्रताप दुःख-ताप भक्त छूता कैसे?
रस बरसाते घनश्याम स्वयं मेह-से॥२॥

ध्रुव हैं बताया जाता अध्रुव जगमें ही
पिता भी विमाता-तुल्य देते हैं दुत्कार,
जानता न कुछ भी अजान ज्ञान-शून्य शिशु,
तो भी असह्य होता अपनोंका अपकार
'निर्बलके बल हैं भगवान्'—ध्यान ऐसा किये
धीर चला जाता है सुकुमार सो कुमार,
भक्तिसे ही भुक्ति-मुक्ति पाता है अभीष्ट सब,
बोल उठता है 'धन्य!' 'धन्य!' सारा संसार॥३॥

राज्यकी न कामना थी, रावणकी करनीसे
भाई सहोदरने राज्यसे दिया निकाल,
शत्रु-शिविरमें तो प्रवेश प्राण-संशय था,
वहाँके लिये थे विभीषण-विकल व्याकुल
भक्तिकी असीम शक्तिसे ही वहाँ होते त्राण,
पाते तुरंत दीनबन्धुकी दया विशाल!
राक्षसकुल-सम्भव भी रावणके भ्राता वे
भक्तिकी कृपासे तत्काल होते हैं निहाल॥४॥

दुर्बुद्धि दुष्ट-दुराचारी दुःशासन अधम
नारीपर सारी शक्ति सहसा दिखाने लगा!
वीर पती स्वामियोंका आया बल काम नहीं,
धर्मव्रत-बल भी न आगे कहीं जाने लगा!
लाज लाज गयी यहाँ! कौन हो सहाय? हाय!
वृद्धोंका समाज मौन रहनेमें सकुचाने लगा!
निर्बलके बल हैं भगवान्, द्रौपदीके लिये
भक्ति-माँका अञ्चल प्रत्यक्ष फहराने लगा॥५॥

विदुर-पत्नीका अलौकिक प्रेम

भीष्मका ध्यान करते हुए भगवान्

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।" (गीता ४ । ११)

उर्दू-काव्यमें भक्ति-दर्शन

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे साहित्यरत्न)

भारतमें शताब्दियोंतक मुस्लिम शासन रहनेके कारण उर्दू-भाषाका प्रचार-प्रसार अधिक हुआ। उर्दू-शायरीका बाजार गर्म होने लगा और फलतः अनेक शायर उत्पन्न हुए। किंतु उनकी शायरी इश्क, आशिक और माशूककी चर्चासे ही भरी रही। इसलिये उर्दूकी कविताने समाजमें इतना भयानक विष फैलाया, जिससे सर्वसाधारणकी तो बात ही क्या कही जाय, मुस्लिम बादशाहोंतककी महान् क्षति हुई। फलस्वरूप ही उर्दू भाषा निखरी, बनी, सँवरी और भावाभि-व्यक्तिकी उसमें अपूर्व क्षमता आ गयी। उर्दू-कवियोंका एक-एक चुना हुआ शब्द हृदयमें तीरकी भाँति चुभता और प्रभावित करता है। उनकी इसी शैलीमें कुछ शायरोंके धार्मिक विचार भी दृष्टिगत होते हैं। वे संसारकी नश्वरता, भगवत्कृपा एवं भगवत्प्रेममें दृढ़ विश्वास रखते हैं। वे भगवद्-भक्तिमें जीवनकी सफलता एवं उसके अभावमें जीवनकी सार्थकता ही नहीं मानते, अपितु जिंदगीको धिक्कारते भी हैं। वे भगवान्‌की भक्तिके लिये सब कुछ स्वाहा करनेके लिये प्रस्तुत रहते हैं और सम्पूर्ण सृष्टिमें भगवान्‌का निवास मानते हैं। उन्हें नीलाकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र एवं अग्नि, वायु, जल—सबमें खुदाका नूर झरता दीखता है। और इसी कारण सृष्टिके प्रत्येक प्राणीके प्रति वे दया, प्रेम एवं भ्रातृभावकी भावना रखते हैं। यह सच है कि इस्लामका प्रचार तलवारके जोरपर हुआ है, इसके लिये अनेक अकथनीय जुल्म एवं अत्याचार किये गये हैं। किंतु वे विचारवान् उर्दू शायर इस संकीर्ण धारणाके सर्वथा विपरीत विचार व्यक्त करते हैं। वे मन्दिर, मस्जिद अथवा गिरजामें ही नहीं, पृथ्वीके कण-कणमें ईश्वरकी भुवनमोहिनी मूर्तिके दर्शन करते हैं। यद्यपि इस प्रकारके शायरोंकी संख्या बहुत कम है, फिर भी उन थोड़े-से भारतीय शायरोंके इन विचारोंने अत्यन्त व्यापक प्रभाव डाला है। उनके इन विचारोंसे भगवान्‌की सर्वव्यापकता का यह स्पष्ट स्वरूप सामने आता है तथा धर्मान्ध समुदाय-के भ्रष्ट एवं अशुभ कुप्रवृत्तियाँ तथा कदाचरणपर नियन्त्रण होता है। ये विचार समाजमें व्याप्त सङ्कीर्णताको दूर करते ही हैं, विश्वमें प्रेम एवं सद्भावनाकी दृढ़ प्रतिष्ठा स्थापित करते हुए, विश्व नियन्ताकी उपासना-का सद् मार्ग-दर्शन कराते हैं।

गिरिमोहन मथुरकी सूक्ति कम मोहक नहीं है। यह भी अत्यन्त सुन्दर एवं चित्ताकर्षक प्रतीत होती है। यहाँ ऐसा भी लगता है कि यहाँसे जानेका मन नहीं करता; पर जिन्हें मत्स्यकी तलब है, या जो मत्स्यके मार्गपर चल चुके हैं, उन्हें यह संसार असार प्रतीत होने लगता है। देखिये, 'ज़ौक़' स्पष्ट कहते हैं—

कह रहा है आसमाँ यह सब समाँ कुछ भी नहीं।
पीस डूँगा एक गर्दिशमें जहाँ कुछ भी नहीं॥

'आसमान कहता है कि दुनियाकी ये बहारें और खूब-सूरत नज्जारे कुछ भी नहीं हैं। मैं तो इन्हें एक ही चक्करमें पीस दूँगा।'

और 'नज़ीर' का कहना है कि संसार सर्वथा नश्वर है। यहाँ कोई ऐसा घर नहीं रहा, जो बसा हो और वीरान न बन गया हो। यहाँ कोई ऐसा पुष्प नहीं, जो खिलकर मुरझा न गया हो, मिट्टीमें न मिल गया हो—

घर कौन-सा बसा कि जो वीराँ न हो गया।
गुल कौन-सा हँसा कि परेशाँ न हो गया॥

यही घोषणा 'इक़बाल' भी करते हैं—

जिनके हंगामोंसे थे आबाद वीराने कभी।
शहर उनके मिट गये, आबादियाँ बन हो गईं॥

'जिनके शोरसे जंगल भी कोलाहलमय बना था, आज उनके शहर ध्वंस हो चुके हैं और आबादियाँ मिट गयी हैं।'

इसी कारण 'ग़ालिब' दुनियाको सावधान करते हुए कहते हैं—

हाँ, खाइयो मत फरेबे हस्ती,
हरचंद कहें कि है, नहीं है।

'मैं साफ बता देता हूँ, इस जीवनके धोखेमें मत आना। कोई कितना भी कहे कि है, पर विश्वास रखो, यह नहीं है।'

'ज़ौक़' तो चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे हैं कि तुम्हें तनिक भी होश है तो इस संसारसे जितना जल्दी भाग सको, दूर भाग जाओ। इस मदिरालयमें होशियारका काम नहीं है—

ऐ ज़ौक़! गर है होश तो दुनियासे दूर भाग।
इस मयकदेमें काम नहीं होशियारका॥

'मीर' साहब तो मनुष्यको विचार करनेके लिये कहते—

चिन्ता तथा भय नहीं रह गया है । जीवित रहनेमें कोई आनन्द नहीं । मृत्युसे तो वे डरें, जो ऐसे मिटनेवाले जीवनको अच्छा मानते हैं—

मर्ग से वे डरें जीनेको जो अच्छा समझते हैं।
यहाँ हम चार दिनकी ज़िंदगी को क्या समझते हैं॥

—अकबर

इधर 'आविद' तो ख़ुदाको उलाहना भी देते हैं। वे कहते हैं कि तुम्हारी इस महफ़िल (दुनिया) में कितने व्यक्ति आये, बैठे और चले भी गये । पर (मिटनेवाली दुनियाका रंग-ढंग और मौतकी भयानक छाया देखकर) मैं अपने रहनेके लिये स्थान ही ढूँढ़ता रह गया । मुझे कोई भी ऐसी अच्छी जगह नहीं मिली, जहाँ मैं इत्मीनानसे बैठ सकूँ अर्थात् सुख-शान्तिकी अनुभूति कर सकूँ—

आप भी लोग, बैठे भी, उठ भी खड़े हुए।
मैं जा ही ढूँढ़ता तेरी महफ़िलमें रह गया॥

'फ़ानी' साहब भी फ़रमाते हैं कि माना कि ज़िंदगी मुझसे प्यालेके तुल्य है, पर यह स्थायी नहीं, फिर क्या लाभ—

ज़िंदगी जामे ऐशॅ है लेकिन। फ़ायदा क्या अगर मुदामॅ नहीं॥

'हसरत मोहानी' तो सबको मिट्टीमें मिलते, सबको मृत्यु-मुखमें प्रवेश करते देखकर ख़ुदासे पूछते हैं कि 'क्या तुम्हारे घर आनेका यही रास्ता है!'

देखें जिसे है राहे फ़नाकी तरफ़ रवाँ।
तेरी महल सराका यही रास्ता है क्या!

इस मरणशील जगत्में मनुष्य-जीवन बड़े भाग्यसे मिलता है, पर मनुष्यको भी मनुष्यता प्राप्त नहीं होती । मनुष्यत्व प्राप्त होनी अत्यन्त कठिन है—

आदमीको भी मुयस्सर नहीं इन्साँ होना।

—ग़ालिब

'हाली' का कहना है कि जानवर, आदमी, फ़रिश्ता और ख़ुदा—ये मनुष्यके अनेकों भेद हैं।

जानवर, आदमी, फ़रिश्ता, ख़ुदा।
आदमी की भी हैं सैकड़ों क़िस्में॥

मनुष्य अपने कर्तव्योंसे मनुष्य बनता है। कुटिल एवं दुराचारी व्यक्तियोंको नर-पशु, नर-राक्षस, नराधम आदिकी संज्ञा दी जाती है। अपने पावन कर्तव्यसे वही देवपुरुष कहलाता है। 'हाली साहब' कहते हैं कि मनुष्यके हृदयमें दूसरे जीवके प्रति दया एवं प्रेम होना चाहिये । यदि थोड़ा-बहुत दर्द दूसरेके लिये मनमें न हो तो फ़रिश्ता फ़रिश्ता तो है, पर उसे 'इन्सान' नहीं कह सकते—

हो फ़रिश्ता भी तो नहीं इन्साँ।
दर्द थोड़ा बहुत न हो जिसमें॥

दूसरे महानुभावका कथन है कि दूसरोंकी पीड़ाकी अनुभूति एवं उसपर अपने प्राण अर्पित करनेके लिये ही भगवान्‌ने हमें मनुष्ययोनिमें उत्पन्न किया है, अन्यथा उसकी इबादत (उपासना) करनेके लिये आसमानपर फ़रिश्ते कम नहीं थे—

दर्द दिलके वास्ते पैदा किया इन्सानको।
वर्ना ताअतके लिये कर्रोबयाँ कुछ कम न थे॥

—ज़ौक़

'हाली'ने तो यहाँतक कह दिया कि फ़रिश्तेसे इन्सान बनना अधिक अच्छा है, किंतु इसमें अधिक मिहनतकी ज़रूरत पड़ती है—

फ़रिश्ते से बढ़कर है इन्सान बनना।
मगर इसमें पड़ती है मिहनत ज़ियादा॥

'नसीम' ने इसका कारण बताया है। वे कहते हैं कि मनुष्य प्रेमधर्मी है । प्रेमके सामने आसमान भी झुक जाता है, पराजय स्वीकार करता है। इसी प्रेमके कारण फ़रिश्तोंने अनेक बार मनुष्यके चरणोंमें अपना सिर झुका दिया है—

इश्क़ के रुतबे के आगे आसमाँ भी पस्त है।
सर झुकाया है फ़रिश्तोंने बशरके सामने॥

पर आदमीमें दुर्बलताएँ भी होती हैं और इन्हीं दुर्बलताओंके कारण वह मनुष्यकी लिबासमें जानवरकी तरह घूमता है। पशुको क्रोध आया तो उसने तुरंत सींग भड़ा दी; लेकिन मनुष्यको क्रोध आया तो वह चुप हो गया । अवसर पाकर वह आपसे प्रेमपूर्वक मिलेगा और एकान्तमें ले जाकर आपके कलेजेमें छुरा भोंक देगा, आपका गला काट लेगा। पर यह मनुष्यका धर्म नहीं। 'इन्शा' कहते हैं, मुझे इन्सान इन्सानपर हँसी आती है । वे बुरे कर्म स्वयं करते हैं और शैतानपर लानत भेजते हैं—

---

१. प्याला । २. आनन्द व्याप्त । ३. स्थायी।

१. परहित सरिस धर्म नहिं भाई ।—रामचरितमानस

...स क्या पसारे ! वह तो अल्लाहसे भी कुछ नहीं माँगता। वह जानता है कि मेरा मालिक तो हमें हर वक़्त देता ही रहता है, हमारी ज़रूरतोंसे आगाह भी है। वह प्रभुपर कभी ...र नहीं करता। उसे उपालम्भ नहीं देता। यह उसे ...य भी नहीं समझता। अपनेको ही अपराधी समझकर संतोष कर लेता है और अपने स्वामीका आभार मानता रहता है—

तेरे करम में कमी कुछ नहीं, करीम है तू।
क़ुसूर मेरा है, मुझ उम्मीदवार हूँ मैं॥

'फ़ानी' को भी ख़ुदाकी कृपालुतापर विश्वास है। वे कहते हैं, 'मैं तुम्हारी कृपासे निराश नहीं हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि एक-न-एक दिन तुम्हारी कृपा होगी ही, अवश्य होगी; किंतु तुम्हारी कृपामें जो विलम्ब हो रहा है, उसीका कारण जानना चाहता हूँ।' वे कहते हैं, इस विलम्बसे ...रा हममें (क़यामतके दिन) क्या होगा!

या रब ! तेरी रहमतसे मायूस[1] नहीं 'फ़ानी'।
लेकिन तेरी रहमतकी ताख़ीरको[2] क्या कहिये॥

पर 'ग़ालिब' कहते हैं कि कितनी भी आपत्तियाँ आयें, उनमें कितनी ही अशान्ति एवं व्यथा क्यों न हो, किसी प्रकार प्रकट न करे। वह सर्वज्ञ है। सब जानता ही है। उसकी कृपामें विलम्ब होनेका कोई सबब है। हमारी भलाईके लिये ही वह देर कर रहा है—

दिलमें हज़ार ग़म हों, ज़बाँ पर शिकन न हो।

'ज़ौक़' के विचार और अच्छे हैं। वे कहते हैं कि जिसने तुझे यहाँ मिहरबानी करके भेजा, उसकी मिहरबानियाँ तुझपर रात दिन बरसती रहीं, मगर तूने उसे याद नहीं किया, उसकी इबादतसे जी चुराया। फिर तो तू कामचोर है। पारिश्रमिक कैसा चाहता है? भगवान्‌की उपासना छोड़कर दुनियामें भटकनेवालोंको ये बहुत फटकार बताते हैं—

दिल इबादत से चुराना और जन्नत की तलब।
कामचोर! इस कामपर किस मुँहसे उजरतकी तलब॥

—ज़ौक़

'ग़ालिब' साहब फरमाते हैं—माना कि तूने अल्लाहके लिये अपनी जान दे दी, पर क्या अहसान किया तूने इन्सान! वह जान तो उसीने तुझे दी थी। तूने उसकी चीज़ उसे सौंप दी। सच्ची बात तो यह है, तूने अपना हक़ अदा नहीं किया—

जान दी, दी हुई उसी की थी।
हक़ तो यह है कि हक़ अदा न हुआ॥

—ग़ालिब

इसीलिये वही दिन दिन है और वही रात रात है, जो अल्लाहकी यादमें बीतती है—

दिन वही दिन है, शब वही शब है।
जो तेरी यादमें गुज़र जाय॥*

—हसरत मोहानी

'अफ़सर' का तो कहना है कि मनुष्य कितना भी सम्मानित एवं प्रतिष्ठित हो, उसे यदि ऐशमें ख़ुदाकी याद और तैशमें ख़ुदाका भय न हो तो उसे मनुष्य मत समझियेगा। आदमी वही, जिसे सुखमें प्रभुका विस्मरण एवं आवेशमें भगवान्‌से निर्भयता न रहे। मनुष्य वही है, जो प्रत्येक परिस्थितिमें भगवान्‌को याद रखता है—

'अफ़सर' आदमी समझ न आक़िलाँ, वोह हो कैसा ही साहबे एहतराम का।
जिसे ऐशमें यादे ख़ुदा न रही, जिसे तैशमें ख़ौफ़े ख़ुदा न रहा॥

बड़ोंका अदब, ख़ुदाका ख़ौफ़ और आँखोंमें शर्म—मनुष्यकी ये उत्तम विशेषताएँ हैं और समस्त धर्मोंने इन्हींकी ओर संकेत किया है—

बुज़ुर्गोंका अदब, अल्लाहका डर, शर्म आँखोंमें।
इन्हीं औसाफ़को[1] मिल्लत मज़हबमें रखा है॥

—अकबर

'मीर' साहब कहते हैं कि अल्लाह सबका है और सभी अल्लाहके हैं। उसे पानेका, उससे प्रेम करनेका सबको समान अधिकार है। इसमें छोटे-बड़ेका कोई प्रश्न नहीं। शर्त यही है कि उससे प्रेम हो, सच्चा प्रेम—

सैयद हो या चमार हो इस जा वफ़ा है शर्त।
क्या मस्जिदोंमें पूछते हैं [illegible]॥

—मीर

भगवान्‌में और हममें कोई भेद नहीं था, किंतु क्या

१. निराश। २. विलम्ब।

* कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥
(मानस)

[illegible]।
[illegible]॥

१. विशेषताओं।

उन्हें तनिक भी नाराजी नहीं। वे कहते हैं, तुमने खाकमें मिला दिया, बड़ा अच्छा किया। चलो, इस प्रकार तुम्हारे दिलका गुबार तो निकल गया। हृदय तो साफ हो गया—

निकला गुबार दिलसे, सफाई तो हो गई।
अच्छा हुआ जो खाकमें तुमने मिला दिया॥
—शाद

मुस्लिम शायरोंमें कितने ही नाम-प्रेमी थे। उनके जीवनका आधार प्रभुका नाम ही था। नामकी अद्भुत महिमा एवं प्रभावसे खूब परिचित थे वे। तभी तो 'अकबर' कहते हैं, खुदाका नाम स्वयं प्रकाशित है। उसका नाम अत्यन्त प्रिय है। उसके नामसे हृदयको शक्ति एवं निराशाको सहारा मिलता है—

खुदाका नाम रौशन है, खुदाका नाम प्यारा है।
दिलोंको इससे कुव्वत है, अरमानोंको सहारा है॥

'जौक' कहते हैं भगवान्‌के सभी नाम महान् हैं। उसके हर नाममें उसकी शक्ति निहित है, किसी विशेष नाममें नहीं—

'जौक' इसमें खुदाई है सब इसके नाममें।
उसके हर नाममें तासीर है न एक नाममें खास॥

'नासिख सिखानी' कहते हैं कि राम और रहीम एक हैं। धर्म और ईमान दो वस्तुएँ नहीं। मन्दिर और मस्जिद पृथक् नहीं, दोनों ही परमेश्वरके स्थान हैं। तू दोनोंसे ऊपर उठा। दुनियामें पराया कोई नहीं, सभी अपने हैं—

राम समझ, रहमान समझ के, धर्म समझ, ईमान समझ के।
मस्जिद कैसी, मंदिर कैसा, ईश्वरका अस्थान समझ के॥
कर दोनोंकी सैर। भाया! कोई नहीं है गैर॥

कहते हैं हजरत मूसाने अल्लाहसे अर्ज (प्रार्थना) की कि ऐ मेरे मालिक! मिहरबानी करके तू बता कि अपने बंदों (भक्तों) के सिवा तू किसे कबूल करता है?' अल्लाहने जवाब दिया—'हमारा सच्चा बंदा (भक्त) वह है, जो अपनी दुश्मनका बदला लेनेकी ताकत रखते हुए भी बदला न ले।'

मूसाने यही की अर्ज कि बारे खुदा।
मकबूल तेरा कौन बंदोंके सिवा॥
इरशाद हुआ, बंदा हमारा वह है।
जो ले सके और न ले बदला बदी का॥
—हाली

१. नम। २. मशाल।

भक्तकी भक्तिका यह स्वरूप विश्वमें मङ्गल-विस्तार करनेमें कितना सहायक हो सकता है, यह समझनेके लिये अधिक बुद्धिकी आवश्यकता नहीं। सच तो यह है कि भगवद्भक्त सर्वत्र अपने प्रभुकी ही लीलाके दर्शन करता है, प्रत्येक शुभ-अशुभ कर्ममें उसे अपना मङ्गलमय स्वामी ही सूत्रधार दीखता है, फिर वह बदला किससे किससे ले!

इसी कारण 'गालिब' सबको समझाते हुए कहते हैं—

न सुनो गर बुरा कहे कोई। न कहो गर बुरा करे कोई॥
रोक लो गर गलत चले कोई। बख्श दो गर खता करे कोई॥
—गालिब

'गालिब' का यह उपदेश जगत्में मनुष्यताके विस्तार एवं कल्याण-भावनाके प्रसारके लिये अमोघ मन्त्र है। उनकी इन पंक्तियोंने उर्दू-काव्यको यशस्वी तो बनाया ही है, जन-समुदायका महान् उपकार किया है। प्रभुके मार्गपर चलनेवालेके लिये तो यह आदर्श वाक्य है। अपराधीको क्षमा कर देना कितनी श्रेष्ठ बात है!

उर्दूके कवियोंने जहाँ अपार प्रभुके प्रेम, भक्तिकी चर्चा की है, वहाँ मजहबके नामपर लड़नेवालोंकी भर्त्सना भी की है। वे कहते हैं—जिन्हें प्रभुकी उपासना ही अभीष्ट है, वे किसीसे लड़ेंगे? उपासना पद्धति पृथक् है, तो रहे—

खुदा ही की इबादत जिनको ही मकसूद है अकबर।
तो क्यों मजहब गर्दों से फर्क हो तर्जे इबादत में॥
—अकबर

धर्मके कारण परस्पर युद्ध न हो, इस बातको समझाते हुए 'नजीर' फरमाते हैं—

झगड़ा न करे मिल्लतो मजहबका कोई याँ।
जिस राहमें जो आन पड़े, खुश रहे हर आँ॥
जुन्नार गले या कि बगल बीच हो कुर्आं।
आशिक तो कलन्दर है, न हिन्दू न मुसलमाँ॥
अर्थात् यही अल्लाहका बस नाम रहेगा॥

'जिसने जो मार्ग पकड़ लिया है, प्रसन्नतापूर्वक उसी मार्गसे भगवान्‌की ओर बढ़े। आप यज्ञोपवीतधारी हों या कुरानके प्रेमी, अन्ततः भगवान्‌का नाम ही शेष रहेगा।'

पारस्परिक द्वेषसे कोई लाभ तो होनेसे रहा। यदि यह द्वेष मनुष्यके मनसे निकल जाय, हिंदू-मुसल्मानोंके समस्त लड़ाई-झगड़े मिट जायँ—इसीमें कल्याण है। परस्परके झगड़ोंसे अबतक कभी किसीको कुछ नहीं मिला। इस प्रकार

१. अनेक। २. कुरान।

किन्तु मुझे मस्जिदमें शाम आ गया है। मुझे जल्दी ही मयकदेके स्वामी (भगवान्) के समीप ले चलो—

शाम आया है मुझे मस्जिदमें ऐ मर्दं[१]।
चलो लेकर मुझे पीरे मुग़ाँ[२] तक ॥

—अमीर मीनाई

'रसा' भी कहते हैं, हिंदुओ और मुसल्मानो! मुझ-पर क्यों नाराज होते हो? मैं न तो मन्दिरके योग्य हूँ और न मस्जिदके ही लायक हूँ। (मुझे भगवत्प्रेमकी तलाश है)—

मुझसे ऐ गब्रो मुसल्माँ किसलिये इतना तपाक।
कैंकि मसजिद न कलीसा लायक बुतखाना हूँ ॥

—रसा

'रासी' ने कहा, धर्म भगवत्प्राप्तिके विभिन्न पृथक्-पृथक् रूप हैं, किंतु सभी जहाजोंका लंगर एक ही घाट (बंदरगाह) पर है। अर्थात् किसी धर्मका अनुसरण आप करें। आपको पहुँचना है एक ही परमेश्वरके पास—

मिल्लतें रखती हैं सब हस्तियाँ।
सब जहाजोंका है लंगर एक घाट ॥

—रासी

अतएव भगवान्‌की भक्तिके अतिरिक्त मुझे और कुछ अभीष्ट नहीं। वह तो स्पष्ट कहता है—प्रभो! मुझे इस लोक और परलोकसे कुछ नहीं लेना है, मुझे किसीकी आवश्यकता नहीं। मुझे आवश्यकता है तो एकमात्र तुम्हारी—

तुम्हारी चाहसे मतलब है दोनों दुनियामें।
न कुछ दीनसे ग़रज है न कुछ दुनियासे ग़रज ॥

—अमीर मीनाई

वह भगवान् सर्वत्र है, धरापामके कण-कणमें है। तुम्हारी उसके प्रति सच्ची प्रीति हो, तुम उसे विशुद्ध अन्तर्मनसे चाहते हो तो वह जहाँ चाहोगे वहीं तुम्हें मिल जायगा। दूर क्यों जाते हो, वह तुम्हारे हृदय-मन्दिरमें भी तो है। यदि तुम चाहो तो उसकी मनोहर मूर्तिके हृदयमें ही दर्शन हो सकते हैं, जो अन्यत्र कठिन है—

न देखा वह कहीं जलवा, जो देखा खानए[३] दिलमें।
बहुत मस्जिदमें सर मारा, बहुत-सा ढूँढ़ा बुतख़ाना[४] ॥

—ज़फ़र

परमेश्वर तुम्हारे हृदयमें रहता है तो हृदयको स्वच्छ रखना तुम्हारा पुनीत कर्तव्य है। काम-क्रोधादि मलोंसे उसे बचाना आवश्यक है। उसे धो-पोंछकर निरन्तर पवित्र रखो। तब तुम निरन्तर अपने स्वामीको, दुर्लभ स्वामीको सदा देख सकोगे। तुम्हें कहीं जानेकी जरूरत नहीं रह जायगी। परमेश्वर तुम्हारी आकाङ्क्षाओंको पूरा तो करता ही है, वह स्वयं तुमसे तुम्हारी इच्छा पूछता रहेगा। यह स्थिति बना लो, तो फिर क्या कहना। तुम्हारा जीवन सफल हो गया, तुम धन्य हो गये। अपनी आत्माको इतना ऊँचा उठा लो—

ख़ुदीको कर बुलंद इतना कि हर तक़दीरसे पहले।
ख़ुदा बंदेसे ख़ुद पूछे, बता तेरी रज़ा क्या है ॥

मुस्लिम शायरोंमें कितने ही भक्त ऐसे हो गये हैं, जो श्रीकृष्णके प्रेममें उन्मत्त हो गये थे। वे उर्दूके प्रसिद्ध शायर होते हुए भी हिंदीमें श्रीकृष्ण-गुणगानकी चेष्टा करते रहे हैं। 'नज़ीर' ऐसे ही शायरोंमें हैं। उनका एक पद है—

सब मिलके यारो कृष्ण मुरारीकी बोलो जै।
गोविंद छैल कुंजबिहारीकी बोलो जै ॥
दधिचोर गोपीनाथ बिहारीकी बोलो जै।
तुम भी 'नज़ीर' कृष्ण मुरारीकी बोलो जै ॥
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन।
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण कन्हैयाका बालपन ॥

—नज़ीर

उर्दूके शायरोंने भगवत्तत्त्व, भगवत्प्रेम एवं भगवत्प्राप्तिके पथका जिस सरल एवं सरस वाणीमें वर्णन किया है, वह उर्दू-साहित्यकी आध्यात्मिक कवितामोंपर प्रकाश तो डालता ही है, वह सम्पूर्ण धर्म एवं भगवत्प्रेमियोंके लिये विचारणीय ही नहीं, आदर्श एवं ग्राह्य भी है।

१. मदिरा। २. मधुशालाके स्वामी। ३. हृदय-मन्दिर। ४. मन्दिर। ५. मसजिद।

प्रणामी-धर्ममें प्रेम-लक्षणा भक्ति

(लेखक—साहित्यभूषण पं० श्रीविमलदासजी शास्त्री 'हिंदी प्रभाकर')

परमात्माको मुख्यरूपमें प्राप्त करनेके चार साधन—कर्म, उपासना, ज्ञान और विज्ञान भारतीय दर्शनग्रन्थोंने प्रतिपादित किये हैं। प्रणामी-धर्मके प्रवर्तक स्वामी प्राणनाथ (वि० सं० १६७५)ने अपने निजानन्द-सम्प्रदायके सिद्धान्तोंका सम्यक् प्रतिपादन करनेके हेतु जिस 'श्रीमत्तारतम्य-सागर' नामक ग्रन्थकी रचना की, उसकी परम आध्यात्मिक पृष्ठभूमि विलक्षण है। शास्त्रोंने 'नानामार्गैस्तु दुष्प्राप्यं कैवल्यं परमं पदम्' घोषितकर जिस कैवल्य परम-पदका निर्देश किया था, उसीका प्रणामी धर्मके प्रवर्तक स्वामीप्राणनाथने अपने 'श्रीमत्तारतम्य-सागर' ग्रन्थमें सच्चिदानन्दस्वरूप, अनन्त, असङ्ग, शुद्ध, साकार, स्वलीलाद्वैत ब्रह्मका प्रतिपादन करके 'अक्षरात् परतः परः' पूर्णातिपूर्ण अक्षरातीत ब्रह्मकी प्रतिष्ठा की। संसार-सागरका स्पष्ट ज्ञान कराते हुए अपनी वाणीसे काम, क्रोध, लोभ और मोहादिसे पूर्ण मगर-मच्छरूप कराल जीवोंसे बचकर भवसागर पार करनेके लिये आत्मज्ञानके परम महत्त्वमय उपदेशके द्वारा गहन भ्रमरूप भँवरमें उलझे हुए जीवोंको जाग्रत्-अवस्थामें लाकर परब्रह्म परमात्माके सम्यक्‌रूपका दिग्दर्शन कराया। आत्मा-परमात्माके विच्छेद और उसके अनन्त मिलनके मूल रहस्यका उद्घाटन करके परमधामके अप्राकृत परम दिव्यतम दिव्य ब्रह्मपुर धाम एवं उसकी अखिल दिव्य सामग्रीका पृथक्-पृथक् वर्णन किया। आत्मा और परमात्माकी अनन्त-रसमयी नित्य लीलाओंके गूढ़तम रहस्योंको स्पष्ट करते हुए उन्हें सरल ढंगसे एवं मुख्यरूपमें प्राप्त करनेके लिये सगुण और निर्गुणसे परे पराभक्ति प्रेमलक्षणाको ही परम साधन बतलाया। क्योंकि प्रेमलक्षणा भक्ति किया मात्रसे प्राप्य नहीं होती; उसके लिये, उसकी एक सिद्धिके लिये तो आत्म-परात्मज्ञानकी नितान्त आवश्यकता है। प्रेमलक्षणा भक्ति ज्ञान विज्ञानसे पूर्ण तो है ही, पर है 'परम प्रेमरूपा' भी है। क्योंकि 'मैं कौन हूँ' इस प्रकारकी जिज्ञासाका प्रशमन होते ही परात्म ज्ञानकी जिज्ञासा होती है और परात्मज्ञानके उत्पन्न होते ही हृदयमें प्रेमकी ऐसी पुलक उत्पन्न होती है कि फिर अपने परम प्रियतमसे बिछुड़ी हुई आत्मा एक क्षण भी शरीरकी सीमोंमें बद्ध होकर नहीं रह सकती; वह तो फिर श्रीकृष्णकी मुरलीका नाद श्रवण करते ही जिस रूपमें, जिस अवस्थामें होती है, उसी रूपमें—यहाँतक कि अपने इस भावरूपको भूलकर ही सीधा दिव्य परात्मरूप धारणकर प्रियतमके परमधाममें पहुँच प्रियतमके आनन्द-रसमें एकाकार हो जाती है। इसमें भय एवं दूरीकी भावना नहीं रहती। स्वामी प्राणनाथने कहा है—

पेंड हो कोटि कोस, प्रेम पहुँचावे पिउ पास।

प्रियतम कितनी भी दूर क्यों न हो, प्रेम अपने प्रियतम परमात्माके पास क्षणमात्रमें पहुँचा देता है। वस्तुतः प्रेमका ज्ञानसे पूर्ण स्वरूप बड़ा ही गहन है, अनन्त है, अनिर्वचनीय है। इस प्रकार प्रेमलक्षणा भक्तिकी यह पृष्ठभूमि भी बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। यदि पतिपरायणा नारीकी पतिभक्तिके समान अनन्य रूपसे आत्माके परमप्रियतम परमात्माकी भक्ति प्रेमके सम्पूर्ण साधनोंसे समन्वित की जाय तो परम प्रभुकी प्राप्ति सबको सुलभ हो सकती है।

भगवान्‌का परमपवित्र यशगान

श्रीसूतजी कहते हैं—

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते॥
(श्रीमद्भा० १२।१२।४९)

'जिस सत्कवित्वके द्वारा भगवान्‌के परमपवित्र यशका गान होता है, वही परम रमणीय, रुचिकर एवं प्रतिक्षण नया-नया जान पड़ता है। उससे अनन्तकालतक मनको परमानन्दकी अनुभूति होती रहती है। मनुष्योंका सारा शोक, चाहे वह समुद्रके समान लंबा और गहरा क्यों न हो, उस वर्णनके प्रभावसे सदाके लिये सूख जाता है।'

श्रीस्वामिनारायणकी भक्ति

(प्रेषक—स्वामी श्रीकृष्णस्वरूपजी स्वामिनारायण)

भगवान् श्रीस्वामिनारायणका प्राकट्य सं० १८३७, चैत्र शुक्ल ९ को अयोध्याप्रान्तके छपैया नामक ग्राममें हुआ था। इनके द्वारा प्रचारित 'भक्ति' इनके स्वरचित संस्कृत एवं गुजराती ग्रन्थोंमें—जो 'शिक्षापत्री', 'सत्सङ्गीजीवन', 'वचनामृत' आदि नामोंसे प्रचलित हैं—भलीभाँति प्रदर्शित की गयी है। इन्होंने 'भक्ति' शब्दके अर्थका शास्त्रोक्त (पञ्चरात्रादिकी) रीतिसे और जिस भक्तिको शास्त्रोंमें 'ऐकान्तिकी', 'अनन्यानिष्ठ', 'निष्काम' और 'अनन्या' आदि कहा गया है, उसका भी स्पष्टीकरण किया है। फलेच्छारहित विशुद्ध भक्ति ही भगवान्‌को अति प्रिय है। श्रीस्वामिनारायणने अपने ग्रन्थोंमें यह बतलाया है कि भक्तिसे भक्तको मुक्ति प्राप्त होती है और मुक्तिका फल है—भगवद्धाममें भगवान्‌की सेवा प्राप्त करना।

'भक्ति' शब्दका अर्थ

सामान्यतया शास्त्रोंमें प्रेमपूर्वक किये जानेवाले भगवद्-भजनको भी 'भक्ति' कहा गया है। प्रेमपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते—यह श्रुतिका वचन है। अतएव भगवान्‌ने गीतामें—

'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥'
'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।'
'भक्त्या त्वनन्यया शक्यः', 'भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया'

—आदि वचनोंसे अनन्यभक्तिकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। पुराणोंमें भी इसी भावनाके श्लोक सुप्रसिद्ध हैं।

भगवान् स्वामिनारायणने स्वरचित 'सत्सङ्गीजीवन' ग्रन्थमें 'भक्ति' शब्दका अर्थ इस तरह किया है—

भजधातोस्तु सेवार्थः प्रेमा 'क्तिन्' प्रत्ययस्य च।
ततश्च भगवत्सेवा भक्तिरित्युच्यते बुधैः॥

भजते, सेवते, उपास्ते—ये शास्त्रमें पर्यायवाचक क्रियापद पाये जाते हैं। इसी प्रकार 'भक्ति' शब्द भी उपासनाका पर्याय है। सामान्य-विशेष न्यायसे ज्ञान, उपासना, ध्यान, स्मृति, दर्शन आदि शब्दोंका भक्तिमें ही पर्यवसान है। इसी प्रकार प्रीति, प्रेम, स्नेह, हेतु, अनुराग, आसक्ति आदि शब्द भी भक्तिके ही पर्यायवाचक हैं। यों ज्ञान, ध्यान, उपासना, स्मृति, दर्शन, सेवा, भक्ति आदिको मोक्षोपायरूप बतलानेवाली विभिन्न श्रुति-स्मृतियोंकी अविरोध एकार्थता हो जाती है। अतएव भगवान् स्वामिनारायणने 'शिक्षापत्री'में भक्तिके विषयभूत भगवत्स्वरूपका निरूपण करके—

तस्यैव सर्वथा भक्तिः कर्तव्या मनुजैर्भुवि।
निःश्रेयसकरं किंचित् ततोऽन्यन्नेति दृश्यताम्॥

—इस प्रकार अन्य साधनोंकी निःश्रेयसकारिताका निषेध करते हुए भक्तिको ही निःश्रेयसकारिणी सिद्ध किया है।

भक्तिके प्रकार

श्रवणादि नौ प्रकारकी भक्तिका वर्णन शास्त्रोंमें मिलता है। उनमेंसे एक-एकके अवान्तर भेद भी कहे गये हैं। किंतु भागवतमें 'भक्त्या संजातया भक्त्या'—(११।३।३१) इस वचनके अनुसार साध्य-साधन-भेदसे भक्तिके दो प्रकार प्रतीत होते हैं। श्रवणादि नौ प्रकारकी भक्ति प्रेमलक्षणा भक्तिको सिद्ध करनेवाली होनेके कारण 'साधन-भक्ति' कहलाती हैं। प्रेमलक्षणा भक्तिको 'साध्य-भक्ति' कहते हैं। यह मुख्यरूपसे गोपीजनोंमें पायी जाती है। जैसे पतिव्रता नारीके लिये पति-सेवा ही एकमात्र परम स्वार्थ है, वैसे ही 'भगवान् ही मेरे एकमात्र परम स्वार्थ हैं'—इस प्रकार मानकर देवतान्तरमें या फलान्तरका सम्बन्ध जोड़े बिना एक भगवान्‌में ही अनन्यभावसे प्रवर्तित भक्तिको 'ऐकान्तिकी भक्ति' कहते हैं, जो प्रेममात्रापन्न निष्काम भक्तोंमें होती है। उनकी भगवान्‌में जो भक्ति होती है, वह साध्य-साधन-भेदसे रहित होती है। अतएव भगवान्‌को ही वे साधनरूप और भगवान्‌को ही फलरूप मानते हैं—साध्य-साधक भिन्न न मानकर 'साधक ही साध्य है' ऐसा निश्चय करते हैं। साध्य परमात्मासे भिन्न किसी देवतान्तरमें या फलान्तरमें उनकी भक्ति नहीं होती। इसीलिये इस भक्तिको 'ऐकान्तिकी' कहते हैं।

एकमें ही जिसका अन्त—निश्चय हो, वह एकान्त कहलाता है। इस कारणसे प्रवर्तित भक्ति ही 'ऐकान्तिकी' है। निष्काम भक्तको 'अन्यफलेच्छा' होती ही नहीं। सकामी भक्तोंकी परमेश्वरमें जो भक्ति है, वह मुख्य नहीं है; क्योंकि वे तो फलेच्छामें ही आसक्त रहते हैं। इस हेतुसे सकाम नरोंकी कनिष्ठता और निष्कामी भक्तोंकी श्रेष्ठता कही गयी है। उपर्युक्त समग्रार्थ गीता आदिमें स्पष्ट वर्णित है।

वैराग्ययुक्त जो भगवान्‌में ही प्रेम है, उसीको ऐकान्तिकी और निष्काम भक्ति कहा जाता है।

भक्तिका फल

भगवद्भक्त इस तरह भगवान्‌की ही भक्ति करते हैं और भगवान्‌को ही प्राप्य-प्रापक मानते हैं। ये भक्त भगवान्‌को छोड़कर अन्य किसी भी अर्थको या मोक्षको भी नहीं चाहते, भगवद्भक्ति—भगवत्सेवाको ही परमा मुक्ति (फल) मानते हैं। अतएव भगवान् स्वामिनारायण (शि० श्लो० १२१ में) 'कृष्णसेवा मुक्तिश्च गम्यताम्' मुक्तिका यह लक्षण बतलाते हुए भगवत्सेवाको ही परम मुक्ति मानते हैं। यही सर्वथा उचित है।

इस प्रकार 'मुक्तानां परमा गतिः' इस वचनके अनुसार निष्काम भक्तोंकी भक्तिका फल (प्राप्य) एक श्रीभगवान् ही हैं।

सिख-धर्ममें भक्ति

(लेखक—श्रीगुरचरणसिंहजी खन्ना)

सिख-धर्म है ही भक्तिप्रधान। इसमें परमात्माको 'वाहिगुरु' या 'अकालपुरख' कहते हैं। यह वाहिगुरु या अकालपुरख दो स्वरूपोंमें कथन किया गया है। एक तो अपने सम्बन्धमें आप, जो मन और वाणीसे परे है और जिसे निर्गुण भी कहा गया है, और दूसरा सृष्टिके सम्बन्धमें, जिसे सगुण या नामरूप करके पुकारा गया है। जब सृष्टि नहीं बनी थी, तब परमात्माका निर्गुणरूप था और जब उसने रचना करके अपना प्रकाश किया, तब वह सगुणरूप होकर वर्णने लगा। इन दो स्वरूपोंका वृत्त 'आसा दी वार' पौड़ी पहलीमें है।

आपीनै आपु साजिओ आपीनै रचिओ नाउ।

अब क्योंकि निर्गुण स्वरूपका कोई भाव हम मनमें नहीं बाँध सकते और इस स्वरूपमें हम परमात्माके साथ कोई सम्बन्ध भी स्थापित नहीं कर सकते, इसलिये धर्ममें वास्तविक रीतिसे सगुण स्वरूपसे ही काम पड़ता है।

यह निर्गुणात्मक और सगुणात्मक परमात्मा सदा सर्वदा और एक है। यह वास्तवमें कैसा है, इस सम्बन्धमें 'आदि गुरुग्रन्थ साहिब' के आदिमें ही आदिगुरु नानकदेवने लिखा है—

> ओंकार, सतनामु करता पुरखु।
> निरभउ, निरवैरु, अकाल मूरति,
> अजूनी सैभं गुर प्रसादि जपु।
> आदि सचु जुगादि सचु।
> है भी सचु 'नानक' होसी भी सचु ॥ १ ॥

अर्थात् परमात्मा एक है। उसका नाम सत्य है, अपने आप का सिरजनहार और एकरस है। सृष्टिका कर्ता है, निर्भय और निर्वैर है। उसका स्वरूप कालसे परे है, समयके चक्रमें कभी नहीं आता—मृत्यु, रोग और बुढ़ापा उसके लिये नहीं है। वह अजन्मा है, स्वयम्भू है, पथ-प्रदर्शक है और कृपाकी मूर्ति है। हे मनुष्य! तू उसे जप।

जपका भाव ऐसी याद जगाना है कि जिस गुणको स्मरण करके जप किया जाय, उस गुणमें जपनेवाला आप रँग जाय।

> प्रभु का सिमरनि हरिगुन बाणी।

अर्थात् प्रभुका स्मरण क्या है, जाप क्या है?—भगवान्‌का गुणानुवाद। उसके नाम-स्मरणमें तल्लीन हो जाना।

जपका आदेश देनेके बाद उस सत्यके गुणको दृढ़ करनेके लिये पुनः दोहराते हैं कि यह परमात्मा, यह वाहिगुरु कैसा है जो आदिमें भी था, युग-युगान्तरमें था, अब भी है और भविष्यमें भी रहेगा।

इसके आगे इस सम्बन्धमें और भी बहुत कुछ आदि-गुरुने और उनके बाद हुए शेष गुरुसाहिबोंने कहा है और उसके सगुण स्वरूपकी लीलाओंको याद कराया है। दसवें गुरु साहिबने तो बड़े विस्तारसे चौबीस अवतारोंकी लीलाका वर्णन विविध छन्दोंमें बड़े ही प्रभावोत्पादक ढंगसे किया और अपने दरबारी कवियोंसे कराया है। यह एक पृथक् ही बृहद् ग्रन्थ है, जिसे कहते हैं—'दशमग्रन्थ'। इस दशमग्रन्थमें महामाया दुर्गाके महिषासुरके साथ किये गये युद्धका वर्णन तो सारे हिंदी-साहित्य-भंडारमें वीररसात्मक एक ही सुन्दर, सरस और प्रभावात्मक प्रबन्ध-काव्य है।

वैसे तो सारा ही 'आदि गुरुग्रन्थ

ऊपर हमने रामनामकी महत्ताके विषयमें लिखा है कि रामनामके जपको सबसे उत्तम और ऊँचा कार्य स्वीकार किया गया है। यह बात नहीं है कि इसका केवल महत्त्व ही स्वीकार किया गया हो; अपितु इस कार्यके लिये स्पष्टतया गुरुवाणी संकेत करती है—

संत सभा मिलि बोलहु राम।
सभ है निरमल ऊतम काम॥

गुरुवाणीने ऐसे व्यक्तिको बड़ी हीनदृष्टिसे देखा है, जो उत्तम मनुष्य जन्म पाकर भी उस परम पुरुष 'राम' की भक्तिसे, उसके नामसे, उसके जापसे विमुख रहता है। निश्चय ही वह एक अपराधी है और उसे जीनेका अधिकार नहीं। अच्छा होता, यदि ऐसा व्यक्ति जन्म ही न पाता; क्योंकि उसने केवल माताको कष्ट ही दिया है। गुरुवाणी ऐसे व्यक्तिके जन्म लेनेको यहाँतक धिक्कारती है कि जिस कुलमें कोई भगवान् रामभक्त पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ, उस परिवारकी माता यदि बाल-विधवा हो जाती तो अधिक अच्छा था; क्योंकि ऐसा व्यक्ति केवल भार है पृथ्वीके लिये। अच्छा था यदि ऐसा व्यक्ति जन्म लेते ही मर जाता—

जिहि कुल पूतु न ग्यान बिचारी।
बिधवा कस न भई महतारी॥
जिहि नर राम भगति नहि साधी।
जनमत कस न मुओ अपराधी॥

भक्तिके लिये किसी कुल, जाति या वर्ण-विशेषकी आवश्यकता नहीं; अपितु 'हरि का भजै सो हरि का होय' का सिद्धान्त ही इस विषयमें सर्वोपरि माना गया है। यही कारण है कि जिन्हें हिंदी-साहित्य-संसार निरे कवियोंकी श्रेणीमें गिनता है और जिनकी रचनाओंको केवल साहित्यिक दृष्टिसे देखता-परखता है, उन नामदेव, कबीर, धन्ना, रविदास आदिको सिख-मत आदर-श्रद्धाकी दृष्टिसे देखता हुआ उनकी वाणीको जीव और संसारके लिये परम पुरुष आदिगुरुके अगम्य [illegible] दर्शक स्वीकार करता है। गुरुवाणीमें इन उपर्युक्त भक्तोंकी सभी भावनाओंको समाविष्ट किया गया है। नामदेवकी भक्ति, कबीरकी गुरुभक्ति और हिंदू-मुस्लिम-भेदभावका त्याग, धन्ना भक्तकी तन्मयता और रविदासका सेवक-भाव— सभी गुरुवाणीमें अपना लिये गये हैं। इसी अर्थमें गुरुवाणी सदा आदर करती है—

नामा छीपा कबीर जुलाहा पूरे गुर ते गति पाई।
[illegible] का बिनबे सबद पछाणहि, कोर न मैं मारै॥

साधारणतया मीराको गिरिधरगोपालकी परमसेविका मानकर साकार उपासकोंमें गिना जाता है; परंतु उसके मनमें उठनेवाली भावना तो सभीके लिये स्वीकार्य है। इसीलिये मीराकी प्रेम-भक्ति-भावनाकी झलक भी सिख-धर्ममें मिल जाती है। मीराका विश्वास है कि 'घायल की गति घायल जानै और न जाने कोय' और वह अपने वैद्यसे कह देती है कि वह उसका उपचार नहीं कर सकता; क्योंकि उसे जो रोग है उसकी औषध उसके पास नहीं है। ठीक इसी प्रकार गुरुसिख भी विश्वास रखता है और पुकारता है—

वैद बुलाइआ वैदगी पकरि ढंढोले बाँह।
भोला वैद न जानई करक कलेजे माँह॥
हम रते सहु आपने तूँ किस दारू देहि।
'नानक' प्रीतम जे मिलै तौ दुख जावै पहि॥

गुरुसिख भी निजको 'बहुरिया' अथवा प्रेमिका मानकर अपने प्रियके समागमकी कामना करता है और उसके विरहमें तड़पनका अनुभव करता है—

कागा न चुगी देह सो अंग मुंह जुर जाय।
जाय पूछो सोहागनी तुम क्यों रैन बिहाय॥

इस प्रकार सिख-मत उन सभी भावनाओंका समादर करता है और उन्हें खुले रूपमें स्वीकार करता है, जो उस अकालपुरुषतक पहुँचाने, उन्हें प्राप्त करनेके साधन हैं। यदि सिख-मतको हम एक समन्वयात्मक मत कहें तो अत्युक्ति न होगी; क्योंकि भक्तिके लिये जिन भी ज्ञान वैराग्य, चिन्तन-कीर्तन और जप आदिकी आवश्यकता होती है, वे सभी इस मतमें उपलब्ध होते हैं।

यों सिख-मतमें ज्ञानको अवश्य महत्त्व दिया गया है, परंतु इसके साथ ही अनन्य भक्तिका साथ होना आवश्यक स्वीकार किया गया है। भक्तिरहित ज्ञानको नीरस और फीका माना गया है। इसके लिये एक उदाहरण विशेष महत्त्व रखता है। भाई मनीसिंहजीने—जो पूरन गुरसिक्ख, वैरागी, निर्लेप और ब्रह्मज्ञाता थे— अपनी 'भक्तरत्नावली' नामक पुस्तकमें सिख-मतके व्यासरूप भाई गुरदासजीकी 'वार' नामक वाणीकी टीका करते हुए भक्तिकी विशेषता प्रदर्शित की है और लिखा है कि भाई [illegible] नामके एक शिष्य थे, जो गुरुके द्वारे रहकर उनकी पर्याप्त सेवा करते थे। एक दिन उन्होंने छठी पातशाही (छठे गुरु) श्रीगुरु हरिगोविन्दजीसे पूछा—[illegible]
[illegible] कहिदे देन गु गिआन इस (जीव) नूँ

सिख-मत अपने भक्ति-भावमें आर्य-समाज आदि मतों-की भाँति अवतारवादका खण्डन नहीं करता, अपितु उसे स्वीकार करता है। वह गीताके इस सिद्धान्तका—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

'साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पाप-कर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ।'

—आदर करता है। विशेषता यह है कि वह सभीमें उस एक सिख परमात्माकी झलक मानता है। यही कारण है कि सिख मतमें अल्लाह, रहीम, कृष्ण, राम आदि सभीका नाम बिना किसी भेद-भावके लिया गया है।

अव्वल अल्लह नूर उपाइआ कुदरति के सभ बंदे।
एक नूर ते सभु जगु उपजिआ कउन भले को मंदे॥

—इस प्रकारका विश्वास प्रत्येक गुरसिक्खके लिये आवश्यक है। इसके द्वारा वह सभीमें 'एकमेवाद्वितीयम्' ब्रह्मका रूप देखता है—

अच्युत पारब्रह्म परमेसुर अन्तरजामी।
मधुसूदन दामोदर सुआमी॥
रिखीकेस गोवर्धन धारी मुरली मनोहर हरि रंगा।

—आदिमें कृष्णके इतने नामोंद्वारा उसे स्मरण करते हुए भी उसी परमेश्वरकी झाँकी देखनेका प्रयत्न किया गया है। गुरसिख-का विश्वास है कि जैसे सूर्यकी किरणें बिना किसी भेदभावके श्मशान और मन्दिरमें एक-जैसा प्रकाश करती हैं, ठीक उसी प्रकार वह ब्रह्म सर्वत्र ओतप्रोत है।

जिउ पसरी सूरज किरणि जोति।
तिउ घटि घटि रमईआ ओति पोति॥

अथवा—

जल थल बन परबत पाताल।
परमेसर तहँ बसहि दिआल॥
सूखम असथूल सगल भगवान।
नानक गुरमुखि ब्रहम पछान॥

इस तरह सभी जगह वह ब्रह्मकी व्यापकता मानता है। रामरूप हो या कृष्णरूप—सभी उस ब्रह्मके हैं, ब्रह्ममय हैं। इसीलिये वे सभी मान्य हैं, स्तुत्य हैं और पूज्य हैं। इस तरह सिख-साधक नाम-स्मरण और नाम-कीर्तनद्वारा भेद-भावरहित दृष्टि रखकर अपनी भक्ति-भावनाको व्यक्त करता है और उसे अपनाकर परमपुरुषतक अनेका मार्ग प्रशस्त करता है।

सिख-मतकी 'कूका' शाखाकी भक्तिका वर्णन किये बिना लेख अधूरा रह जायगा, इसलिये उसकी ओर दृष्टिपात आवश्यक है। यह इसलिये भी कि कूका-सम्प्रदायने भारतके उस प्राचीन आदर्शको, जिसे अपनाकर दशमेश श्रीगुरुगोविन्दसिंहजी महाराजने भगवतीकी प्रसन्नताके लिये यज्ञ-हवन आदि किया था, अपनी भक्तिका एक विशेष अङ्ग माना है। यों तो जिस गो-विप्रकी रक्षाके लिये नवम गुरु महाराजको अपना बलिदान देना पड़ा था, उसका पालन महाराज रणजीतसिंहजीके समयतक होता रहा। परंतु फिर भी सिख-मतके कुछ भागमें इस ओरसे उदासीनता आ गयी थी। इसलिये इसके पुनरुद्धारके लिये सतगुरु श्रीरामसिंहजी महाराजको देशमें अवतीर्ण होना पड़ा। कहनेका अभिप्राय यह है कि 'कूका'-पंथमें गो-विप्र-रक्षा भी भक्तिका एक अङ्ग माना गया है। श्रीगुरु नानकदेवजीने बाबरके आक्रमणके समय होनेवाली भारतकी दुर्दशापर जिन शब्दोंमें आँसू बहाकर राष्ट्र-भक्तिका परिचय दिया है, निश्चय ही वह प्रशंसनीय है। परंतु यह मर्यादा रणजीतसिंह महाराजके बाद जब स्वार्थकी दीवारोंसे टकराकर ढीली पड़ने लगी, तब उसे गति प्रदान करनेके लिये 'कूका' सम्प्रदायने 'राष्ट्र-भक्ति' को भी अपने धर्मका एक अङ्ग बना लिया और इसके लिये अपने पूर्व-पुरुषोंके पद-चिह्नों—श्रीगुरु तेगबहादुरजीके बलिदान और दशमेश पिताके अनन्य त्याग और बलिदानोंको अपना आदर्श माना। इसके लिये 'कूका' पंथको अनेक यातनाएँ सहनी पड़ीं—यहाँतक ही तोपोंके आगे उड़ना पड़ा; परंतु उनका विश्वास था कि राष्ट्र-भक्ति भी उसी परमेश्वरकी भक्तिका रूप है। क्योंकि राष्ट्र भी उस परमात्माका ही स्वरूप है।

सतगुरु श्रीरामसिंहजीद्वारा भक्तिके अपनाये हुए अङ्ग—गो-विप्र-रक्षा, राष्ट्र-भक्ति, स्वदेशी, यज्ञ-हवन विधान आदि आज भी श्रीसतगुरु प्रतापसिंहजी महाराजद्वारा उसी प्रकार रक्षित हैं और वे सदा ही इनके लिये समस्त कूकापंथको उपदेश और आदेश देते रहते हैं। सीधा-सादा रहन-सहन, नाम-स्मरण और कीर्तन 'कूका'-पंथमें भक्तिके विशेष अङ्ग माने गये हैं, जो एक अलग लेखका विषय है।

यहाँतक सिख-मतमें भक्तिके महत्त्वपूर्ण अङ्गों

साधनोंके विषयमें ही दिग्दर्शन कराया गया है। अन्तमें एक बात कहकर इस लेखको समाप्त करें कि सिक्ख-मतमें भक्तिके लिये बहुत कड़े बन्धन नहीं, अपितु हँसते-खेलते, खाते-पीते भी उसे अपनाया जा सकता है और प्रभुको प्राप्त किया जा सकता है। स्वयं गुरुवाणीमें संकेत है—

नानक सतिगुर भेटिऐ पूरी होवै जुगति।
हसंदिआं खेलंदिआं पैनंदिआं खावंदिआं विचे होवै मुकति॥

इसके साथ यह भी समझ लेना चाहिये कि सिक्ख-मत मुसलमानोंकी तरह केवल खुदापरस्तोंके लिये मङ्गलकामना नहीं करता और न काफिरोंके नाश होनेकी दुआ माँगता है या उन्हें दण्ड देता है; अपितु उसकी भक्तिका तकाज़ा तो उस परम पिताके प्रत्येक जीवसे प्यार करना है। भाव भक्त सोचता है। उसका विश्वास है कि उसकी भक्तिकी सम्पूर्णता उसी हालतमें समझी जायगी, जो वह सबसे प्रेम करता है। इस प्रकार सिक्ख-धर्मने ज्ञानप्रधाना भक्ति, कर्मप्रधाना भक्ति, प्रेमप्रधाना और लक्ष्यप्रधाना भक्तिको अपनाते हुए सबको [illegible] एकरूप करके देखता हुआ प्रतिदिन माँग करता है—

नानक नाम चढ़दी कला, तेरे भाणे सरबत दा भला॥*

अबूका स्वप्न !

(मानव-भक्ति ईश्वर-भक्ति)

(लेखक—श्रीब्रह्मानन्दजी 'बन्धु')

देदीप्यमान मुख-मण्डल, रोम-रोममें दिव्यता, प्रज्वलित प्रकाश!—देवदूतकी उँगलियाँ पुस्तकके पृष्ठोंपर पता नहीं क्या लिखनेमें संलग्न थीं।

प्रगाढ़ निद्रामें लीन अबू स्वप्नके स्वर्णिम संसारमें विचरण करते हुए सहसा इस दृश्यको देखकर स्तम्भित हो रह गया।

'क्या लिख रहे हैं आप!' चौंकते हुए अबूके स्वरमें विनयका पूर्ण समावेश था।

'ईश्वर-भक्तोंके नाम!'—देवदूतका सरल, संक्षिप्त, शान्तिपूर्ण उत्तर था।

'हरि-भक्तोंके नाम!'—अबूकी जिज्ञासा द्विगुणित हो चली थी—"क्या हरि-भक्तोंकी श्रेणीमें मेरे नामको भी सम्मिलित होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है!"

'नहीं!'

"नहीं!—तो मानव-भक्तोंकी श्रेणीमें मेरा नाम अवश्य अङ्कित कर दीजियेगा!"

'धन्यवाद!'—कहकर देवदूत अन्तर्धान हो गया।

× × × × × ×

दूसरे दिन देवदूत फिर आया। वही मुख-मण्डल, वही लेखनी, वही संलग्नता! आहा! अबूका नाम आज हरि-भक्तोंमें अग्रणीके सर्वोच्चस्थानकी शोभा बढ़ा रहा था! चमक रहा था मानो गद्‌गद होकर स्वर्ण वर्णोंमें—

'मानव-भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ ईश्वर-भक्ति है!'

---

* हे प्रभु! हमारी कला बढ़ती रहे और सब किसीका भला हो।

ईसाई-धर्ममें भक्ति

(लेखक—श्रीरामकमलजी श्रीवास्तव)

परमेश्वर सर्वशक्तिसम्पन्न प्रभु हैं। वे अपनी अपार सत्तासे स्थित रहते हुए अपनी सृष्टिसे अलग दीख पड़नेकी लीला भले ही कर सकते हैं, पर यह निश्चित है कि किसी भी स्थितिमें सृष्टि उनसे अलग नहीं रह सकती; परमात्माका उससे अभिन्न और शाश्वत सम्बन्ध है। समस्त भागवत-धर्म इसी सनातन सिद्धान्तपर अटल हैं। ईसाई-धर्म इसका अपवाद नहीं है; सृष्टिके साथ भगवान्के सम्बन्धमें उसका अभिमत स्पष्ट है। ईसाई-धर्मकी यह मान्यता है कि समस्त सृष्टि परमेश्वरकी कृपा-ज्योतिसे परम समुज्ज्वल और कृतार्थ है। भगवान्की कृपाका अनुभव उस व्यक्तिको होता है, जिसका अन्तःकरण निर्मल है; ऐसा ही व्यक्ति दूसरे लोगोंको परमेश्वरकी कृपा-ज्योतिसे सम्पन्न करता है। बाइबलका कथन है—

'कोई भी व्यक्ति अपने घरमें दीप जलाकर उसे घड़े या पलंगके नीचे चादरसे ढक नहीं देता, अपितु उसे दीवटपर रख देता है जिससे भीतर आनेवाले प्रकाश प्राप्त करें—देख सकें।'

(नया विधान, संत लूक ८। १६)

परमेश्वरकी भक्ति सार्वदेशिक और अनिवार्य है। जीवका धर्म ही है कि वह उनकी भक्ति करे, उनकी कृपासे धन्य और कृतार्थ हो। संत आगस्तीनकी एक सस्मरणीय उक्ति है—'हे परमेश्वर, आपने हम लोगोंको अपनी सेवाके लिये पैदा किया है; हमारा हृदय तबतक विकल रहता है, जबतक वह आपमें स्वस्थ नहीं हो जाता है।' भगवान् भजन करनेवालोंको चाहते हैं। बाइबलका संकेत है—

'पर वह समय आता है और अब भी है, जिसमें सच्चे भक्त आत्मनिष्ठ और सत्यतासे परमेश्वरका भजन करेंगे; वे ऐसे भजन करनेवालोंको चाहते हैं।' (नया विधान, जॉन ४। २३)

भगवद्भजन ईसाई-धर्मकी सनातनता—ऐतिहासिकताका परिचायक है। अपने आपको भगवान्का पुत्र घोषित करनेवाले ईसाने भगवद्भजनका उपदेश दिया। उनकी पहली घोषणा है—'मन फिराकर करो, परमेश्वरका राज्य निकट है।'

(नया विधान, मैथ्यू ४। १७)

ईसाई-धर्ममें भगवान्का स्वरूप परम कृपामय तथा परम प्रेममय निरूपित किया गया है। सब कुछ परम प्रकाशमय ईश्वरसे उत्पन्न, स्वीकार किया गया है। परमेश्वरने अपने पुत्र ईसाको जगत्के उद्धारके लिये भेजा, ईसाई-धर्ममें यह मान्यता प्रचलित है। ईसाई-धर्मके मूल-प्रवर्तक ईसा स्वीकार किये गये हैं। उनकी महत्ताका बाइबलमें वर्णन है—

'तब ईसा ने कहा—मैं जगत्की ज्योति हूँ; जो मेरे पीछे-पीछे चलेगा, वह अन्धकारमें नहीं चलेगा, जीवनकी ज्योति पायेगा।' (नया विधान, जॉन ८। १२)

निस्संदेह ज्योतिर्मय ईसाके पीछे-पीछे चलकर, उनकी उपासना करके असंख्य प्राणियोंने—बड़े-बड़े संत-महात्माओंने परमेश्वरकी भक्तिके माध्यमसे जीवन-ज्योति पायी। ईसाई-धर्ममें भक्तिके स्वरूपका विवेचन बाइबल तथा संत-महात्माओंके चरित्र-निरूपण और वाणीमें पर्याप्तमात्रामें मिलता है। पंद्रहवीं शताब्दीके प्रसिद्ध संत टॉमस० ए० केम्पीका एक स्थलपर कहना है कि 'जो प्रभुको प्राप्त कर लेता है, वह संसारका सर्वोत्कृष्ट धन और वैभव प्राप्त कर लेता है। जो प्रभुको खो देता है, वह सब कुछ खो देता है। प्रभुमें अवस्थित होना ही सच्ची भक्ति है।'

ईसाई-धर्ममें भक्तिकी प्राप्ति (Realization) के आधारपर प्रार्थना, शरणागति—समर्पण, संत-महात्माओंकी सेवा, पापकी स्वीकृति (confession), तपस्या और परमानन्दमय जीवन स्वीकार किये गये हैं। उपर्युक्त भावोंकी सहायतासे परमेश्वरकी भक्ति सुलभ होती है। इनमेंसे विधिवत् एकका भी आश्रय ग्रहण कर लेनेपर कृपामय तथा प्रेममय प्रभु प्रसन्न हो जाते हैं।

ईसाइयोंका पवित्र धर्मग्रन्थ बाइबल परमेश्वरकी भक्तिकी एक मूल्यवान् निधि है, इसके पाठसे मन परमेश्वरके प्रेममें निमग्न हो उठता है। यह धर्म-ग्रन्थ परमात्मासे प्रेम करनेकी सीख देता है। ईसाई-धर्ममें भगवान्, भक्त और भक्तिके प्रति महान् सम्मान प्रकट किया गया है।

एकनाथकी ऐकान्तिक भक्ति

(लेखक—कीर्तनाचार्य हरिदास श्रीविनायक गणेश भागवत)

एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम्।

संत-शिरोमणि श्रीएकनाथ महाराजकी भक्ति एवं मुक्ति, उनका व्यक्तित्व तथा उनकी संचारशक्ति—सभी तत्त्व ऐकान्तिक हैं। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'—जैसे ब्रह्म अनिर्वचनीय है, वैसे ही नाथके विचार, वचन और आचार—सभी अनिर्वचनीय हैं। ब्रह्म चल है या अचल, सुखमय है या दुःखमय, अनेकात्मक है या मूक—इसका निर्वचन नहीं हो सकता। इसलिये वह अनिर्वचनीय कहा जाता है। ठीक वैसे ही नाथको यदि संन्यासी कहा जाय तो वे पूरे गृहस्थ रहे। वे द्वितीय होकर भी अद्वितीय थे—'सद्वितीयोऽद्वितीयो वै'। उनका संसारमें रत्तीभर भी चित्त नहीं था। वे कमल-पत्रके सदृश सर्वथा अलिप्त रहे। वे वीर थे या शान्त—इसका भी पता पाना कठिन है। कारण, अपने गुरुके निकट रहते उन्होंने म्लेच्छोंके साथ युद्ध भी किया था और विजयी हुए थे, जिसके पुरस्कारस्वरूप उन्हें विधर्मी शासकसे हजारकी जागीर मिली थी, जो अभी-अभी—वर्षोंके अन्ततक उनके वंशजोंके अधिकारमें बनी रही।

नाथने कहा है कि भगवान्की प्राप्तिका मुख्य उपाय सब जीवोंमें भगवद्भाव रखना है, भक्तिका पूर्ण गौरव इसी बातमें है। स्वयं भगवान्ने भी श्रीमुखसे यही बात कही है। ऐसा सर्व-भूतसमदर्शी कभी किसीके द्वारा किये गये अपकारपर क्रुद्ध नहीं होता। उसमें उस समय भी अटल शान्ति बनी रहती है। नाथकी शान्ति भी लोकप्रसिद्ध है। एक बार एक यवनने पान खाकर १०८ बार उनपर थूका, पर महाराज निर्विकार ही बने रहे। अपनी शान्तिसे उन्होंने उसे भी शान्त ब्रह्म बना दिया। फिर उनकी शरण आकर वही यवन कहने लगा—

मैं मसमें म्लेच्छ बड़ा, और ब्रह्म बना पापी पका।

> जिधर देखो उधर खुदा
>
> नमाजकी दरकार नहीं, बाबा।
>
> एक दिन तो रोजेकि
>
> और दिन क्या चोरीके।
>
> एका जनार्दन का बंदा
>
> जमीन आसमान भरा है खुदा।

नाथके ऐसे कई उदाहरण हैं। अब इन्हें क्या कहा जाय!

एकनाथ महाराज बहुत बड़े पण्डित थे। उन्होंने अनेक संस्कृत-ग्रन्थोंपर मराठीमें टीकाएँ लिखी हैं और उनमें 'च' 'वा' 'तु' का भी विश्लेषण करते हुए कई जगह अनूठे भाव व्यक्त किये हैं। फिर भी उनका कोई स्वतन्त्र संस्कृत-ग्रन्थ नहीं। उनके अनिर्वचनीय पाण्डित्यकी यह एक बहुत बड़ी कड़ी है। वामन-पण्डित-जैसे सर्वशास्त्रज्ञ लिखते हैं—

> आचार्यत्वाय बहवः सेविता भूतले मया।
>
> आत्मोपदेशसमये गुरुत्वेन न मानिताः॥
>
> प्राकृतग्रन्थकर्तारो ये तु वर्षशतात् पुरा।
>
> त्यक्तेहास्थैर्ययोर्क न तथा ज्ञानिनोऽधुना॥

यहाँ वामन-पण्डितने 'वर्षशतात् पुरा' से नाथ महाराजकी ओर ही संकेत किया है। इस श्लोकके लिखनेके ठीक एक सौ वर्ष पूर्व नाथने 'भागवत' पर टीका पूरी की थी।

श्रीनाथका यही विरद था कि 'जो स्त्री-शूद्रोंके लिये अध्येतव्य नहीं, उस ज्ञानसे वे लोग भी वञ्चित न रहें। वे भी स्वधर्मनिष्ठ बनकर अन्तमें भगवद्रूप बन जायँ।' इसीलिये प्राकृतमें ही उन्होंने सारी रचनाएँ कीं। उनकी सर्वभूतात्मा जनता-जनार्दनकी प्रायोगिक भक्तिका यह कितना बड़ा प्रमाण है! उनके 'गीता-सार' की समाप्तिके वचनोंसे स्पष्ट है कि वे इस कार्यके करनेसे कितनी तृप्तिका अनुभव करते रहे। वे कहते हैं—'एका (एकनाथ) गुरु जनार्दन (के चरणों) में निज ध्यान लगाकर गीता-सार पूर्ण कर रहा है।' उन्होंने मराठी बोलीमें परब्रह्मज्ञान यहाँ उँडेल दिया है। लिङ्गदेहरूप ग्रन्थि खोलकर जनार्दन ही सारे जनों और वनोंमें अब प्रकट हो गया।

नाथकी लालसा ऐसी थी कि छोटे बच्चेसे बूढ़ेतक, यवनसे लेकर ब्राह्मणतक, सभीको यथायोग्य उनकी बुद्धिके अनुसार ज्ञान प्राप्त हो। इसीलिये उन्होंने गुमरी, बाजीगर, कुत्ता, रोसाड़ी आदि विषयोंपर अनेक प्रकारके पद बनाकर सर्व-साधारणको ऐकान्तिक आनन्दका अनुभव करा दिया। आज भी कई मुसल्मान महाराजका दर्शन किये बिना अन्न ग्रहण नहीं करते। उन्होंने उस समय 'हिन्दू-तुर्क-संवाद' के रूपमें मुसल्मान और हिंदूके बीच वर्तमान परस्पर उमड़े आन्तरिक भेदोंके सिद्धान्त रख दिये और उन दोनोंको उस समय निर्वैर बना दिया था। पर कितनी बड़ी राष्ट्रभक्ति है! आज जिसके लिये हमारे राष्ट्र-नायकोंको भारी सिरदर्द हो रहा है, उसे नाथ-

ब्रह्म जनार्दन, समाज जनार्दन, कर्म जनार्दन, धर्म जनार्दन ।
सुख जनार्दन, दुःख जनार्दन, ध्येय जनार्दन, ध्यान जनार्दन
एका जनार्दनी ध्यान कैसे ॥

इस तरह ध्येय, ध्याता और ध्यानसे परे, संसारमें रहकर भी संसारातीत, सगुण होकर भी निर्गुणकी अन्तिम काष्ठा श्रीएकनाथ महाराजकी यह एकान्त भक्ति अखिल विश्वको विशुद्धकर परमामृतसे आप्लावित करे—यही उनके चरणोंमें प्रार्थना है ।

वामन-पण्डितकी दृष्टिमें भक्ति-तत्त्व

(लेखक—श्रीयज्ञेश्वरजी शास्त्री सराफ, एम्० ए०, व्याकरणाचार्य)

गीताका महत्त्व संसारके किसी भी विज्ञ पाठकसे छिपा नहीं है । समय-समयपर विभिन्न आचार्योंने उसका विवेचन बड़े ही पाण्डित्यपूर्ण ढंगसे किया है । मराठी संत भी इससे नहीं चूके । संत ज्ञानेश्वरकी 'ज्ञानेश्वरी' तो भारतीय अध्यात्म-गगनकी जागती ज्योति है । मराठीके अध्यात्म-परक एवं भक्ति-परक वाङ्मयमें साहित्यिक धाराका अविरत प्रसाद-गम्भीर प्रवाह बहानेवाले और 'यमक'में अपना सानी न रखनेवाले शास्त्रज्ञ कवि वामन-पण्डितने भी 'यथार्थदीपिका' नामक इसकी विस्तृत व्याख्या की है, जिसमें उन्होंने भक्तियोगके प्रसङ्गमें विशद एवं मार्मिक युक्तियोंद्वारा सगुण भक्तिकी अनुपेक्षणीयता स्पष्ट की है ।

गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनसे आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी—इन चार प्रकारके भक्तोंकी चर्चा करते हुए कहा है कि इनमें ज्ञानी ही सर्वोत्तम भक्त है; क्योंकि स्वयं भगवान् ही उसके एकमात्र ध्येय तथा उपास्य होते हैं । यों तो सभी भक्त अध्यात्मदृष्टिसे श्रेष्ठ हैं, उदार हैं; परंतु ज्ञानी तो भगवान्‌की आत्मा ही है—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।

गीताका नवम अध्याय राजविद्या और राजगुह्यरूपी भक्ति-योगका प्रतिपादक होनेसे सभी टीकाकारोंने यहाँ अपनी अपनी बुद्धिके घोड़े खूब दौड़ाये हैं, पर सगुण भक्तिके विवेचनमें वामन-पण्डितका स्थान दूसरा कोई ग्रहण न कर सका । सगुण-भक्तिके सारको अभिन्न एक … … में ही कविने वर्णित किया है ।

राजविद्या …

…

भगवान
ही पर्याप्त

एवं प्रासादिक शब्दोंमें व्यक्त करते हुए वे आगे लिखते हैं—

"गजेन्द्रने किस शास्त्रका अध्ययन किया था ? ध्रुव-जैसे बालक ध्रुवने कौन-सी पण्डिताईसे 'ध्रुवपद' प्राप्त किया ? हाथी कुब्जाने कौन-सी संस्कृत पढ़कर भगवान्‌को पाया ? सचमुच यही कहना पड़ेगा कि भक्ति यही है, जिसका अवलम्ब लेकर उपर्युक्त भक्तोंने प्रभुपद प्राप्त किया । अतः यह कहना असुक्ति न होगा कि भक्ति चन्द्रमा है, तो भक्त उसे पानेवाले चकोर । भक्ति मेघ है, तो भक्त मयूर । इस तरह प्रभुपदकी प्राप्तिके लिये सच्चा भाव, सच्ची भक्ति आवश्यक है, भाषा कैसी भी हो ।" पुनः उसी भावको दुहराते हुए वे कहते हैं—'भगवन् ! तुम्हारे चरणोंका सांनिध्य पानेके लिये भाषा नहीं, प्रेमयुक्त अन्तःकरण चाहिये ।'

वामनके शब्दोंमें तो गीतोक्त भक्ति-तत्त्वको वही जान सकेगा, जो श्रीकृष्णका सच्चा भक्त हो । इनके भक्तिके विवेचन तथा प्रत्येक अध्यायके आरम्भमें की जानेवाली श्रीकृष्णकी स्तुतिसे जान पड़ता है कि ये १५ वीं शतीके श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायके बहुत अंशोंमें अनुयायी थे । इनके मतसे यदि विद्या केवल निर्गुण अद्वैतका ज्ञान करा देती है तो 'राजविद्या' जगत् वैचित्र्यके भी दर्शन कराती है । और भी, वेदान्तशास्त्र अद्वैतप्रतिपादक होनेसे गुह्य है, तो नश्वर तथा जडपदार्थ भी ब्रह्म हैं—इस ज्ञानको 'राजगुह्य' कहते हैं ।

वामन-पण्डितकी दृष्टिमें गीताका लक्ष्य केवल निर्गुण अद्वैतका प्रतिपादन नहीं, अपितु इससे भी अधिक कुछ और ही चमत्कार है । बच्चेको जिस प्रकार चीनी भाती है, उसी प्रकार निर्गुणोपासकको निर्गुण ब्रह्म । पर उसी शक्कर-की यदि प्रतिमा बना ली जाय तो उसकी मिठासके साथ ही-साथ उस मूर्तिकी सुन्दरताकी ओर वैसे मीठे भी आकृष्ट हो जाते हैं, ठीक उसी तरह भक्त भी निर्गुण परब्रह्मके सगुण स्वरूप-

भाव जनार्दन, समाज जनार्दन, कर्म जनार्दन, धर्म जनार्दन ।
गुरु जनार्दन, दुःख जनार्दन, ध्येय जनार्दन, ध्यान जनार्दन
एका जनार्दनी, ध्यान देवे ॥

इस तरह ध्येय, ध्याता और ध्यानसे परे, संसारमें रहकर भी संसारातीत, सगुण होकर भी निर्गुणकी अन्तिम काष्ठा श्रीएकनाथ महाराजकी यह एकान्त भक्ति अखिल विश्वको विशुद्धकर परमामृतसे आप्लावित करे—यही उनके चरणोंमें प्रार्थना है ।

वामन-पण्डितकी दृष्टिमें भक्ति-तत्त्व

(लेखक—श्रीअभिरामजी शास्त्री सराफ, एम्० ए०, आचार्य)

गीताका महत्त्व संसारके किसी भी विज्ञ पाठकसे छिपा नहीं है । समय-समयपर विभिन्न आचार्योंने उसका विवेचन बड़े ही पाण्डित्यपूर्ण ढंगसे किया है । मराठी संत भी इससे नहीं चूके । संत ज्ञानेश्वरकी 'ज्ञानेश्वरी' तो भारतीय अध्यात्म-वाङ्मयकी जागती ज्योति है । मराठीके अध्यात्म-परक एवं भक्ति-विषयक वाङ्मयमें सारस्वत धाराका अविरल प्रसाद-गाम्भीर्य प्रवाह बहानेवाले और 'यमक'में अपना सानी न रखनेवाले पण्डित कवि वामन-पण्डितने भी 'यथार्थदीपिका' नामक इसकी *विस्तृत व्याख्या की है, जिसमें उन्होंने भक्तियोगके प्रसङ्गमें* प्रौढ़ एवं मार्मिक युक्तियोंद्वारा सगुण भक्तिकी अनुपेक्षणीयता सिद्ध की है ।

गीतामें भगवान्ने अर्जुनसे आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी—इन चार प्रकारके भक्तोंकी चर्चा करते हुए कहा है कि इनमें ज्ञानी ही सर्वोत्तम भक्त है; क्योंकि स्वयं भगवान् ही उसके एकमात्र ध्येय तथा उपास्य होते हैं । यों तो सभी भक्त व्यवहारसे भेद हैं, उदार हैं; परंतु ज्ञानी तो भगवान्की आत्मा ही है—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।

गीताका नवम अध्याय राजविद्या और राजगुह्यरूपी भक्ति-योगका प्रतिपादक होनेसे सभी टीकाकारोंने यहाँ अपनी-अपनी रीतिसे घोड़े खूब दौड़ाये हैं, *पर सगुण-भक्तिके विवेचनमें* वामन-पण्डितका स्थान दूसरा कोई ग्रहण न कर सका । सगुण-भक्तिके तत्त्वको अग्रिम एक श्लोककी व्याख्यामें ही कविने स्पष्ट किया है ।

> राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
> प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥

उन्होंने लिखा है—'क्या परमेश्वरकी स्तुतिके लिये विशिष्ट भाषाका प्रयोग होना चाहिये ? नहीं, भक्तियुक्त मनका होना ही पर्याप्त है, फिर भाषा जो भी हो ।' यही भाव बड़े ओजभरे एवं प्रासादिक शब्दोंमें व्यक्त करते हुए वे आगे लिखते हैं—

'गजेन्द्रने किस शास्त्रका अध्ययन किया था ? दुधमुँहे बालक ध्रुवने कौन-सी पण्डिताईसे 'ध्रुवपद' प्राप्त किया ? दासी कुब्जाने कौन-सी संस्कृत पढ़कर भगवान्को पाया ? सचमुच यही कहना पड़ेगा कि भक्ति यही है, जिसका अवलम्ब लेकर उपर्युक्त भक्तोंने प्रभुपद प्राप्त किया । अतः यह कहना अत्युक्ति न होगा कि भक्ति चन्द्रमा है, तो भक्त उसे पानेवाले चकोर । भक्ति मेघ है, तो भक्त मयूर । इस तरह प्रभुपदकी प्राप्तिके लिये सच्चा भाव, सच्ची भक्ति आवश्यक है, भाषा कैसी भी हो ।'' पुनः उसी बातको दुहराते हुए वे कहते हैं—'भगवन् ! तुम्हारे चरणोंका सांनिध्य पानेके लिये भाषा नहीं, प्रेमयुक्त अन्तःकरण चाहिये ।'

वामनके शब्दोंमें तो गीतोक्त भक्ति-तत्त्वको वही जान सकेगा, जो श्रीकृष्णका सच्चा भक्त हो । इनके भक्तिके विवेचन तथा प्रत्येक अध्यायके आरम्भमें की जानेवाली श्रीकृष्णकी स्तुतिसे ज्ञात पड़ता है कि ये १५ वीं शतीके श्रीमद्वल्लभाचार्यजीके शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायके बहुत अंशोंमें अनुयायी थे । इनके मतसे यदि विद्या केवल निर्गुण अद्वैतका ज्ञान करा देती है तो 'राजविद्या' जडगत चैतन्यके भी दर्शन कराती है । और भी, वेदान्तशास्त्र अद्वैतप्रतिपादक होनेसे गुह्य है, तो नश्वर तथा जडपदार्थ भी ब्रह्म हैं—इस ज्ञानको 'राजगुह्य' कहते हैं ।

वामन-पण्डितकी दृष्टिमें गीताका लक्ष्य केवल निर्गुण अद्वैतका प्रतिपादन नहीं, अपितु इससे भी अधिक कुछ और ही वक्तव्य है । बच्चेको जिस प्रकार चीनी भाती है, उसी प्रकार निर्गुणोपासकको निर्विकल्प ब्रह्म । पर उसी शक्कर-की यदि प्रतिमा बना दी जाय तो उसकी मिठासके साथ ही-साथ उस कृतिकी सुघड़ताकी ओर जैसे प्रौढ भी आकृष्ट हो जाता है, ठीक उसी तरह भक्त भी निर्गुण परब्रह्मके सगुण स्वरूप-

ब्रह्माजीके मनमें मोह उत्पन्न करनेवाले मन-मोहन

बछड़ोंकी खोजमें निकले हुए बक-सूदन

इत्युक्त्वाद्रिदरीकुञ्जगह्वरेष्वात्मवत्सकान् ।
विचिन्वन् भगवान् कृष्णः सपाणिकवलो ययौ ॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । १४)

भक्तोंद्वारा वन्दित व्रजराजकुमार

गोष्ठमें प्रवेश करते हुए चित्रवेष वनमाली

श्रीमद्भागवतमें वर्णित श्रीकृष्ण-लीलाका मर्म समझाया। सूरदासकी भक्तिने भगवल्लीला-गानका वरण किया। उन्होंने आचार्यके चरणोंमें अपना जीवन समर्पित कर दिया। सूरदास-की दास्य-भक्ति भगवत्प्रेममें परिणत हो गयी। सूरसागरके षष्ठ स्कन्धमें उनका कथन है, गुरुनिष्ठाका बखान है—

गुरु बिनु ऐसी कौन करै।
माला तिलक मनोहर बानौ, लै सिर छत्र धरै॥
भवसागर तें बूड़त राखै, दीपक हाथ धरै।
'सूरस्याम' गुरु ऐसौ समरथ, छिन मैं लै उधरै॥

महाप्रभुने सूरदासको भगवद्-रससे रसमय बना दिया। उनके हृदयमें भगवल्लीलाका स्फुरण हुआ। इस लीला-स्फुरणका उनके एक पदमें साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है, जो उनके दीक्षित होनेके बाद भगवद्-विश्वासस्वरूप भक्ति-भावनाकी ओर संकेत करता है। सूरदासकी सौभाग्यवती वाणी साक्षी है—

सो सुख नंद भाग्य तें पायो।
जो सुख ब्रह्मादिक को नाहीं, सोई जसुमति गोद खिलायो॥
सोइ सुख सुरभि बच्छ बृंदावन, सोइ सुख ग्वालनि टेरि बुलायो।
सोइ सुख जमुना कूल कदँब चढ़ि, कोप कियौ काली गहि ल्यायो॥
सुख ही सुख डोलत कुंजनि में, सब सुख निधि बन तें ब्रज आयो।
'सूरदास' प्रभु सुख सागर अति, सोइ सुख सेस सहस मुख गायो॥

उपर्युक्त पदमें सूरदासने वात्सल्य, सख्य और मधुर भक्तिका बड़ी चतुराईसे संक्षेपमें निरूपण कर दिया है। उनका मन सगुण-लीला चिन्तनमें लग गया। उन्होंने सूर-सागरमें श्रीमद्भागवत-गत लीला-क्रमसे भगवान्‌की विविध लीलाओंका ललित वर्णन किया। उन्होंने भक्तिकी आँखसे श्रीराधा-कृष्णकी छविके मधुर दर्शन किये। श्यामसुन्दरका रूप निरूपण है सूरदासद्वारा—

ऐसे रूप देखे नँदनंदन।
स्याम सुभग तनु पीत बसन जनु नील जलद पर तड़ित सुछंदन॥
मंद-मंद मुरली धर गरजनि सुधा वृष्टि बरषति आनंदन।
सिखि सुमन बनमाल उर मनु सुरपति धनुष नयो छंदन॥
सुभग भृकुटि, सुमन भाल चरचित रुचि चंदन।
'सूरस्याम' प्रभु नील तामरस उर ओढ़े सुर नर मुनि बंदन॥

सूरदासने आजीवन ब्रज-रस-माधुरीका आस्वादन किया। महाप्रभु वल्लभाचार्य-जैसे परम दार्शनिक गुरुकी कृपाके प्रसाद-से ही सूरदासने भगवान् श्यामसुन्दरकी लीलाएँ गायीं।

सूरदासकी मानसी उपासना—भक्तिकी पद्धति भगवद्यशोगान, श्रीनाथजी और भगवान् नवनीतप्रियमें आसक्ति तथा ब्रज-रस-निष्ठासे प्रभावित और प्राणान्वित थी। उन्होंने बार-बार अपने मनको समझाया कि बिना भक्तिके भगवान् दुर्लभ हैं। उन्होंने उसको सावधान किया कि श्रुति, स्मृति तथा मुनियों-की और मेरी भी मति यही है कि श्यामसुन्दरका भजन करनेसे ही परम कल्याण होता है। उनकी चेतावनी है—

सकल तजि, भजि मन! चरन मुरारि।
श्रुति सुमृति मुनिजन सब भाषत, मैं हूँ कहत पुकारि॥

सूरदासने भगवद्यशोगानके प्रतीकस्वरूप जगत्‌को भक्तिसागर—सूरसागर प्रदान किया। उन्होंने भगवद्यशोगान-के स्वरपर कहा कि नरदेह पाकर भगवान्‌के चरण-कमलोंमें चित्त लगाना चाहिये, विनम्र वाणी बोलनी चाहिये, संतोंका संग करना चाहिये और उनका दर्शनकर अपना जीवन धन्य बनाना चाहिये; गिरिधरका यशोगान करके ही जीना चाहिये।

महाप्रभु वल्लभाचार्य और गुसाईं श्रीविट्ठलनाथजीकी कृपासे सूरदासने अपने आराध्य—उपास्य श्रीनाथजी और नवनीत-प्रियका सांनिध्य प्राप्त किया। वे गोवर्धनकी तलहटीमें आकर चन्द्रसरोवरके निकट पारासोली ग्राममें रहने लगे। वे नित्य श्रीनाथजीकी प्रत्येक झाँकीका दर्शन करते थे और नये-नये कीर्तनीय पदोंकी रचना करके उनको समर्पित किया करते थे। वे नवनीतप्रियके दर्शनके लिये गोकुल भी आया करते थे। महाप्रभुके निकुञ्ज-लीलामें प्रवेश कर जानेपर गुसाईं विट्ठलनाथजीके वे विशेष-रूपसे कृपापात्र हो गये। उन्होंने सूरदासको 'अष्टछाप' के महाभागवत कवियोंमें प्रमुख स्थान दिया। सूरदास भगवान्‌के लीला-रस-सागरमें सदा निमग्न रहते थे। वृन्दावनमें उनकी अद्भुत निष्ठा थी। ब्रजभाषाने वृन्दावन (रासक्रीडास्थल) चन्द्रसरोवरके निकट ही माना है। उन्होंने मनको सावधान किया—

थोड़े दिन को है धनधाम।
× × × × × ×
छाँड़ि न जात सूर सब भार हर बृंदावन स्यौ ठाम॥

उनके भक्तिमय जीवनका यही संकेत है कि निश्चिन्त होकर भक्ति-मार्गपर चलना चाहिये। भगवान् शरणे आये-गतके भरण-पोषणका सदा ध्यान रखते हैं।

भक्ति पंथ को जो अनुसरै। सुत कलत्र सों हित परिहरै—

है। तभी तो उन्होंने वन्दना-विनय-प्रकरणमें यकायक यह कह ही दिया—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

संत तुलसीदासने अपने समस्त ग्रन्थोंमें ज्ञानमार्ग अथवा कर्ममार्गकी अपेक्षा भक्तिमार्गको विशिष्ट स्थान दिया। वे सदैव अपने भगवान् श्रीरामसे—

मागत तुलसिदास कर जोरें। बसहुँ राम सिय मानस मोरें॥
जोरि पानि बर मागउँ एहू। सीय राम पद सहज सनेहू॥

—यही प्रार्थना करते थे, मोक्षप्राप्तिकी नहीं। भक्तिकी प्रबल सुमनोहर स्रोतस्विनीमें स्नान करना ही उन्हें अभीष्ट था। उसीकी प्राप्तिके लिये उनका भगीरथ-प्रयत्न रहा। उनके अविचल एवं शाश्वत भक्तिके प्रति अनन्य निष्ठामय भावोंका यत्किंचित् दिग्दर्शन निम्न पंक्तियोंमें सुलभ है—

'नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना॥'
'अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥'
'राम नाम नव नेह मेह को मन हठि होहि पपीहा।'
'राम कबहुँ प्रिय लागिहौ, जैसे नीर मीन को।'
'मन मधुकर पन कै तुलसी रघुपति पद कमल बसैहौं।'
'राम चरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै।'
'राम भक्ति बिनु लागिये जैसे सर सरिता बिनु बारी।'
'भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥'

इस प्रकार तुलसीके ग्रन्थोंमें उनकी एकान्त साधना सगुण-भक्तिपरक है। भक्ति धर्मकी प्रमुख पोषिका है; भक्ति धर्मरक्षार्थ कवचरूपिणी है। ज्ञान, कर्म, वैराग्य आदि सभी भाव इस भक्तिके अङ्ग हैं।

तुलसीकी भक्ति सेव्य-सेवक-भाव-सम्पन्ना है। राम उनके स्वामी और वे उनके अनन्याश्रय, दीन, हीन, अनाथ सेवक हैं। इसके अतिरिक्त इनकी भक्तिमें एक महान् समन्वयकारिणी भावना है, जो उसके धरातलको दिव्य छवि प्रदान कर रही है। मानसमें शैव-वैष्णवोंका, लोक-परलोकका, आन्तर-बाह्यका, राग-वैराग्यका, ज्ञान-विज्ञानका, चिन्तन-धर्मका, उपासना-योगका, जड़ और चेतनका महान् मङ्गलकारी, अमङ्गलहारी समन्वय विश्वकल्याण साहित्यमें अपूर्व है। तुलसीकी भक्ति ज्ञानसे ओतप्रोत तो है ही; साथ ही यह कर्म एवं उपासनासे भी सदैव सम्पर्कित है। यही प्रमुख कारण है कि उनकी भक्तिका द्वार सर्वसाधारणके लिये खुला है। उनकी ज्ञानमयी भक्तिके पशु-पक्षीतक अधिकारी हैं—तब शूद्र आदिकी तो बात ही क्या। मानसमें जटायु-प्रसङ्ग तथा काकभुशुण्डि आदिके अनेक प्रसङ्ग हैं, जिनमें अनेक पशु-पक्षी भक्तिके पूर्ण अधिकारी सिद्ध होते हैं। तुलसीकी भक्तिमें राम और कृष्णमें व्यावहारिक भेद है, तात्त्विक नहीं; उन्होंने त्रिगुणात्मकको एकगुणात्मक कहकर अपनी सर्वधर्म-समभाव-भावनाका परिचय दिया है। यदि राम किसी स्थलपर यह कह रहे हैं—

सिव समान प्रिय मोहि न दूजा।

तो भगवान् शंकर यह कह रहे हैं—

सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा।

तुलसीकी भक्ति अपने भक्तको अकर्मण्य तथा निठल्लू बना देनेवाली नहीं है, अपितु कर्मयोगी, सतत उद्योगी, तन-मन-वचनसे सदा सावधान राम-सेवक बननेकी सफल प्रेरणा देती है। उनकी भक्तिमें सांसारिक समस्त मर्यादाओंका आदर्श अक्षुण्ण है। वेद-शास्त्र-पुराण और स्मृतिकी मर्यादाओंका पोषण करनेवाली उनकी भक्ति समस्त विश्वमें सतत अमर स्रोत प्रवाहित करनेवाली है।

तुलसीकी भक्तिमें लोक-मङ्गल-साधनाका अभाव नहीं है। यही कारण है कि स्थल-विशेषपर उनकी भक्ति व्यष्टिनिष्ठ न होकर समष्टिनिष्ठ हो उठी है। उनके अन्तस्तलसे लोक-मङ्गल-कामनाकी भावना कभी भी तिरोहित नहीं हुई। उनकी भक्ति योग-वैराग्यका पल्ला छोड़कर निर्द्वन्द्व विचरनेवाली नहीं है। योगके यम-नियमादि तो उसके रक्षार्थ कवच हैं। योग और वैराग्यका साधन-अङ्कुश अपने भक्तको कर्तव्यच्युत एवं प्रमादी नहीं होने देता।

तुलसीकी भक्ति श्रद्धा तथा विश्वासके धरातलपर आधारित है। अपने प्रधान अङ्ग धर्मके बिना यह एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती। भक्ति धर्म-सहचारिणी है, तो धर्म भक्तिका नित्य अनुचर है। यदि धर्मको भक्तिका प्राण ही कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं है। उनकी भक्तिमें धर्मकी मर्यादाका संरक्षण सर्वोपरि है। धर्मके रक्षक अनेक अङ्गोंमें भक्ति एक प्रमुख अङ्ग है। ऐसी 'अनपायिनी' भक्तिपर तुलसी न्योछावर हैं और उसी भक्तिको वे 'अहर्निश' [illegible] माँगते हैं। भक्ति [illegible] तुलसीके आराध्य हैं। [illegible] भक्तको [illegible] देनेवाली [illegible] होती है। [illegible] दोनोंकी [illegible] प्रकट है—

पुरारि [illegible]

अधिक महत्त्व भी देती हैं। चुनरी तो चूड़ेकी भाँति सुहागका मुख्य प्रतीक मानी गयी है। अधिकतर सुहागिनी स्त्रियाँ ऐसा कहा भी करती हैं कि 'चूड़े-चूनड़में बल हो तो हमारा कोई क्या बिगाड़ सकता है?'

मीराँने भी साड़ियोंमें अपने लिये चूनड़, कुसुम्भी सारी और केसरिया चीर चुने हैं—

'मेरी चूनड़ प्रेम की गिरधरजी भरतार।'
'साँवरिया के दरसण पाऊँ पहर कसूँमी सारी।'
'केसरी चीर दरियाई को लंगो ऊपर अँगिया भारी।
'मीरा देखी जिसन मुरारी छिप गई राना प्यारी॥'

इसी प्रकार मीराँने आभाभूषणोंसे अपनेको समलंकृत किया है—

मन माली मूँगा सबी, सील संतोष सिंगार।

और—

पग घुंघरू बाँध मीरा नाची रे।

घूँघरू तो मीराँके पैरोंमें बँधे ही रहते हैं, जिनकी छमछमाहट मोहनको भी अपनी मीठी मुरली थामकर सुननी ही पड़ती है।

स्त्रियोंके पदाभूषणोंमें ऐसा कोई आभूषण नहीं है, जो नृत्यके समय अधिकाधिक ध्वनि कर सके। फिर मीराँको कोई घड़ी-दो-घड़ी थोड़े ही नाचना था। उन्हें तो ऐसे आभूषणकी अपेक्षा थी, जो—चाहे वे नाचते-नाचते थक भले जायँ पर—टूटनेका नामतक न ले। साथ ही ध्वनि भी इतनी ऊँची हो कि जिसपर छमछमाहटपूर्ण नृत्य भलीभाँति सध सके। अतः प्रेमोन्मत्त मीराँने अपने अबाध नृत्यके लिये घूँघरूको ही उपयुक्त समझा।

मीराँ पति-प्रेम-परायणा एक आदर्श सुहागिनी हैं। उन्होंने अपने 'गिरधरजी भरतार' को रिझानेके लिये निम्नपदमें अपनेको सोलहो शृङ्गारसे कैसा आभूषित किया है। इसमें सभी आभूषणोंके नाम आ गये हैं तथा उबटन मञ्जन भी वे नहीं भूली हैं—

मोहण झन्या चीर पीरम को घाघरो।
त्रिभुवा कंगण हाथ सुमति को मूँदरो॥
उबटण हरि को ध्यान, ध्यान को न्हावणो।
कान झकोरा ध्यान, सुगत को चटणी॥
केसर हरि को नाम चूड़ो चित उजलो।
काजर सफ संतोष निरत को घूँघरो॥
बिंदली मन और हार तिलक हरि ध्यान को।
सब सोलह सिंगार पहरि सोने राखड़ो॥
साँवलिया सूँ प्रीति औराँ सूँ आखड़ी॥

धन्य है मीराँकी एकान्त अनन्यभक्तिको—

साँवलिया सूँ प्रीति औराँ सूँ आखड़ी।

अब इसी जीवनमें अनवरत साधनाके परिणामस्वरूप सुखमणा सेजपर सोनेके लिये मीराँको शुभ घड़ीकी भी प्राप्ति हो गयी। अपने प्रियतम प्रभुकी उस दिव्य सेजका शृङ्गार करनेके लिये मीराँकी पूरी तैयारी भी देखिये—

पचरंगी झालर सुभ सोहे फूलन फूल कली।
बाजूबंद कडूला सोहे सिंदुर माँग भरी॥
सुमिरन थाल हाथमें लीन्हो सोभा अधिक खरी।
सेज सुखमणा मीराँ सोहे सुभ है आज घरी॥

मीराँ अपने सम्पूर्ण शृङ्गारके लिये 'ध्यानकी पाटी' भी 'पारती' हैं और 'मति' की माँग भी सँवारती हैं तथा अपने साँवरेके कारण 'तन-जोबन' सब वार देती हैं। वे अपने प्रियतम प्रभुके लिये 'मधुफूल' बिछाकर 'सेजिया मधुरंग' की कर देती हैं।

मीराँ वर्षभरमें पड़नेवाले सभी पर्व-त्योहार भी अपने साँवरियाके संग मनाती रहती हैं। इस प्रकार मीराँ अपने अनित्य नर पति भोजराजको खोकर और नित्य अमर पति साँवरियाको पाकर अमर सुहागिनी हो गयी हैं।

अन्तमें उन चिर-सुहागिनी महाभाग्यवती मीराँके पावन चरणोंमें हमारा शत शत वन्दन—सहस्र-सहस्र प्रणाम।

आशुतोषसे

वेद-वंद्यनीय, दक्षयज्ञ के विनाशी प्रभु, महिमा अमित तिहुँलोक में तिहारी है।
त्रिपुर विदारक अखिल लोक पालक प्रभु, 'भ्रमर' तव नाम रोग-शोक-भयहारी है॥
आयो हौं शरण मोहि अभय करहु नाथ, जगते निरास, पै भरोसो तेरो भारी है।
काम के जितैया, भव-जाल के मिटैया नाथ, नैया करो पार यह अरज हमारी है॥

—रवीन्द्रप्रसाद मिश्र 'भ्रमर'

भक्तिके पावन क्षेत्रमें इन्हें पाखण्डका प्रवेश भला कैसे सहन हो सकता था। धर्मकी ओटमें पैसा पैदा करनेवालोंपर इन्होंने बड़ी करारी फबतियाँ कसी हैं—

> अब हमहू से भक्त कहावत।
> भक्त तिलक छाँप धरि हरि को नाम बेंचि धन ल्यावत॥
>
> × × ×
>
> धर्मगुरु को उपदेस देत नहिं, औरन मंत्र सुनावत।
> छल बल देव देव नहिं दीननि, अपने मत कों गावत॥
> भक्ति न सूझत सुन्दर मानत, साधु न मन में भावत।
> ऐसी अधम 'व्यास' की आसा कहाँ लौं घर छावत॥

उपदेश और आचरणमें भिन्नता इन्हें कभी नहीं भाती थी। शिष्यताका निर्वाह करनेके विचारसे इस प्रकारके कई करारे व्यङ्ग्य व्यासजीने अपने ऊपर ही डालकर कहे हैं।

यद्यपि व्यासजीने भक्तिके परम्परागत स्वरूपको ही अपनाया था और अपना कोई नवीन सम्प्रदाय स्थापित नहीं किया, तथापि इन्होंने प्रतिपादित सिद्धान्तके वास्तविक मर्मका अनुसरण किया। ऐश्वर्यसे वैराग्य, कर्तव्य-परायणता एवं सदाचरण इनकी साधना-सोपानके आधार-स्तम्भ थे।

वृन्दावन धामके प्रति व्यासजीका इतना प्रगाढ़ प्रेम था कि वहाँसे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तुको ही ये श्रेष्ठ मानते थे। वास्तवमें भक्तिके सामने विद्या एवं कुलीनता आदिको ये तुच्छ मानते थे। यथा—

> व्यास कुलीननि कोटि मिलि, पंडित लाख पचीस।
> स्वपच भक्त की पानहीं, तुलैं न तिनके सीस॥

इनके मतानुसार अनन्य धर्मकी परिभाषा यह थी कि—

> जाको है उपासना ताही की बासना,
> ताही को नाम रूप गुन गाइये।
> यहै अनन्य धर्म परिपाटी,
> बृंदावन बसि अनत न जाइये॥
> आन बिभिचारी भजन करै आन करै,
> ताको मुख देखें दारुन दुख पाइये।…

इनके समकालीन एवं सत्सङ्गी भक्तवर ध्रुवदासजीने भी भक्त-नामावलीमें व्यासजीके सम्बन्धमें यही सूचना दी है—

> प्रेम मगन नहिं गन्यो कछु, बरनाबरन बिचार।
> सबनि मध्य पायो प्रगट, है प्रसाद रस सार॥
>
> (मूल) काहू के आराध्य मच्छ, कूर्म के बराह।
> गंग बेद ऋषि मेरे भये, (श्री) राधा बल्लभ ज्यास॥

गुरु-गोविन्दमें ऐक्यभावकी स्थापना, साधुओंका आदर, वृन्दावनवास एवं ब्रज-रज, यमुना, वंशीवट आदिसे प्रेम, वहाँके लता-वृक्ष, पशु-पक्षीमें आत्मीयताका भाव, उनके आनन्दमें प्रसन्नता और कष्टमें सहानुभूति, गोपी-ग्वाल-मण्डली-का आदर्श अनुकरण, वृन्दावन-रसका आस्वादन, भक्तोंमें जाति-पाँतिका अभेद, प्रसादकी सर्वोत्कृष्टता, सत्सङ्गकी महत्ता तथा छल-कपट एवं मिथ्या व्यवहारसे घृणा, मन-वाणी और कर्मोंमें समानता आदिके सम्बन्धमें व्यासजीके विचार बड़े ही पवित्र एवं प्रभावपूर्ण हैं। व्यास-वाणीके रूपमें इनके पद और साखियाँ संकलित हैं। व्यासजीने जो उपदेश दिये, उनपर पहले स्वयं चलकर भी इन्होंने दिखा दिया।

उपासनाके क्षेत्रमें व्यासजीकी भक्ति श्रीराधा-कृष्णमें मधुरभावकी थी। ये श्रीराधाकी कृपा-कामनाके लिये उनकी रुचिके अनुरूप निकुञ्जसेवाद्वारा साधना करते थे, क्योंकि आह्लादिनी शक्ति राधाकी कृपाके बिना श्रीकृष्णका साक्षात्कार सम्भव नहीं। निकुञ्जसेवामें ये सिद्ध हस्त थे और साम्प्रदायिक मान्यताके अनुसार इन्हें विशाखाका अवतार माना गया है। रासलीलाके प्रति इनकी रुचि होना स्वाभाविक ही था। इनके कारण रासोत्सवोंकी योजनाएँ बड़ी ही धूमधामपूर्वक सम्पन्न हुआ करती थीं। वृन्दावनवासियोंका एतद्विषयक मत इन्होंने अपनी ही वाणीमें व्यक्तकर आनन्दका अनुभव किया था—

> जहाँ न व्यास तहाँ न रास रस बृंदावन को संत।

द्वैतवादी विचारधाराकी आध्यात्मिक पृष्ठभूमिमें ये युगल-किशोरकी उपासना करते थे। अपने परमाराध्यकी लीलाभूमि होनेके नाते वृन्दावन धाममें इनका प्रगाढ़ प्रेम था। भगवान्‌को सर्वत्र मानकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्शका इन्होंने अन्ततक निर्वाह किया और निर्लिप्त भावसे उनकी सृष्टिके प्रत्येक जीवधारी एवं जड पदार्थोंसे स्नेह किया। यदि इन्हें द्वेष था तो केवल पाखण्डसे। केवलमात्र भक्तिसे भगवान्‌को वशमें कर लेना इनके मार्गकी घोषणा थी। अपने जीवनका उदाहरण उपस्थित करते हुए भी इन्होंने यही संकेत दिया है—

> नैन न मूंदे ध्यान को तिलक न अंग निहार।
> नाच नचन सबहिं नित नैन बृंदावन व्यास॥

प्रस्तुति तथा अपना परिचय दिया है। इस प्रकार इस रामायण-में कुल मिलाकर १४१ पद्य हैं। इस रामायणके पद्योंकी रचना राग-रागिनियोंमें है। बालकाण्डमें मङ्गल और रेखता, अयोध्यामें दरवे और एकमी, अरण्यमें सोरठ एवं रेखता, किष्किन्धामें कवित्त तथा सवैया, सुन्दरमें भैरव, युद्धमें पहाड़ी, पञ्चपदी और स्याहा तथा उत्तरकाण्डमें परज, बंगला एवं रेखता रागों अथवा छन्दोंके पद्योंका प्रयोग किया गया है। इसकी भाषा उर्दू बहुल खड़ी बोली है। 'इन्द्रप्रस्थके बोल' इस कविकी उक्तिसे ही यह स्पष्ट हो रहा है कि दिल्लीके आसपास बोली जानेवाली बोलीका इस रामायणमें प्रयोग किया गया है। अन्तके दोहे, जिनमें कविने अपना परिचय दिया है, इस प्रकार हैं—

छन्द रचन जानत नहीं, नहिं जानत सुघ राग।
क्षमा कीजे मोहि चतुर नर, लखि रघुवर अनुराग ॥ ५ ॥

× × ×

काशीवासी विप्र हों सहज रामदास पाठ।
परमकुमार प्रसाद सों, माथ दिशामल राम ॥ ७ ॥
.... ।

इन्द्रदेव सुरदेवसुत, नागर कवि अभिराम ॥ ८ ॥
संस्कृत प्राकृत दोउ कहे, इन्द्रप्रस्थके बोल।
.... ॥ ९ ॥

अठारह सौ अठावना, विक्रम शक मलमास।
जेठ कृष्ण एकादशी ।............................ ॥ १० ॥

२-पदावली—रचनाक्रमके अनुसार दूसरी रामायण 'पदावली' मालूम पड़ती है। इसकी समाप्ति 'आभाव'-रामायणके रचनाकालके लगभग ढाई वर्ष बाद वि० संवत् १८६० की कार्तिक-कृष्ण ९ को हुई थी, जैसा कि—

सम्वत अठारह साठको। कार्तिक कृष्ण पक्षमी नाम।
गाये पूरन प्रभु कीनी। श्री हनुमानको करि परणाम ॥

—इस अन्तिम पद्यपंक्तिके पदसे विदित होता है। इसमें काण्डानुसार क्रमशः १४, ८, ६, ४, ६, १७ और ११—कुल ७१ पद्य हैं। इनके अतिरिक्त अन्तमें एक पदमें प्रस्तुति आदि और २ पद्योंमें भगवान् रामचन्द्रकी मङ्गल आरती है। 'पदावली' में कविने १. भैरव, २. भैरवी, ३. आसावरी, ४. दरबारी कानड़ा, ५. रामकली, ६. बिलावल, ७. सारङ्ग, ८. गौड़ी, ९. अलैया, १०. खंभाच, ११. ..., १२. ..., १३. धनाश्री, १४. श्री, १५. बिलावल सोरठ, १६. भैरवी, १७. आसा, १८. सोरठ, १९. कल्याण, २०. मलार, २१. परज, २२. ललित, २३. सोहनी, २४. विहाग, २५. जैजैवन्ती, २६. पूर्वी, २७. ईमन, २८. हमीर, २९. अड़ाना, ३०. कल्याण, ३१. केदारा, ३२. मालकौंस, ३३. टोड़ी, ३४. सिंध, ३५. नायकी, ३६. विभास, ३७. पहाड़ी सावन्त एवं ३८. छायानट—इन विभिन्न राग-रागिनियोंमें पद्य-रचना करके रामयशका गान किया है। पाठकगण इससे कविकी संगीतकलाका अंदाज लगा सकेंगे। इस रामायणके अन्तमें कविने अपने उपदेशकर्ता सदानन्दजीका भी स्मरण करते हुए लिखा है—

सो जस सदानन्द सों सुनिकर मुकुत मिलत नहिं जन्म दाम।
इन्द्रदेव सुरदेवके सुत सुन रचन रची है मेघश्याम ॥ ३ ॥
काशीवासी द्विज अलवासी, कथा प्रभुगुन कहे जीभको काम।
यानी सुफल करन के कारन गायो जस पद पद आराम ॥ ४ ॥

अन्तमें मङ्गल-आरतीमें भगवान् श्रीरामकी जिस अनुपम सुन्दर छविका वर्णन है, उसका आस्वाद कविकी ही भावाविक पदावलीके द्वारा भावुक भक्त प्राप्त कर सकते हैं, जो इस प्रकार है।—

राग भैरव, ताल जल्द तिताला

मंगल आरति सिया-रघुबरकी कौशल्या कर साजे।
भरतलिनन्दन भरत शत्रुघन छत्र-चँवर कर साजे ॥ ध्रु० ॥
धनन धनन घन ग्रान तँबूरा ताल मृदंग-रव राजे।
धन मृदंग डफ झाँझ खंजरी देव-दमामा बाजे ॥ १ ॥
अरुण कंज दल खंजन लोचन किए गुरुजन सखि लाजे।
दच्छन लछमन कर धर धनु-सर पद परसनके काजे ॥ २ ॥
सुर नर मुनिजन अर्चित तुलसी कुसुमन माल विराजे।
मोर मुकुट कुंडल तनद्युति घन रति छवि मनुप लजावे ॥ ३ ॥
द्वार खड़े चतुरंग सेन सजि गज रथ हय भट गाजे।
'प्रेमरङ्ग' प्रभु चरन सरन तें जनम जनम दुख भाजे ॥ ४ ॥

३-कवितावली—रचनाक्रमके अनुसार 'कवितावली-रामायण' का स्थान मैं अभी तीसरा मान रहा हूँ; परंतु यह संदिग्ध है। इसका कारण यह है कि 'पदावली-रामायण' की रचनाके उपरान्त लगभग पौने पाँच वर्षके बाद 'कवितावली' की रचनाका समय आता है। 'श्रावण सुदी पूर्णिमा पूरण महतम भयो, भयो शक विक्रममें पैंसठ अठारह सौ के।'—इस उत्तरकाण्डके ८७ वें पद्यसे कवितावलीका समाप्तिकाल वि० सं० १८६५, श्रावण शुक्ला १५ विदित होता है। इस पाँच सालकी लंबी अवधिमें कविने किसी ग्रन्थकी रचना न की हो, ऐसा सम्भव नहीं मालूम पड़ता। सम्भव है इसी अवधिमें

भक्त-कवि श्रीप्रेमरङ्गजी और उनका साहित्य

(लेखक—पं० श्रीकुबेरनाथजी त्रिपाठी, शास्त्री, सामवेदाचार्य)

'कल्याण' के भक्त-भक्तिप्रेमी पाठकोंकी जानकारीके लिये यहाँ एक अप्रसिद्ध भक्त-कवि तथा उनके भक्ति-रस-प्रोत साहित्यका कुछ संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

'प्रेमरङ्गजी' का वास्तविक नाम पंड्या इन्द्रदेव था। लोग आपको 'बापूजी' भी कहा करते थे। आपके पिताका नाम सुरदेव था। आप अमदावादी नागर-जातीय ब्राह्मण थे और काशीमें गङ्गातटके पास रामघाट मुहल्लेमें रहते थे। आपके जन्मकालका अभी पता नहीं लगा। मृत्यु-संवत्का भी पता नहीं, पर आपकी मृत्युतिथि चैत्र-कृष्णा नवमी है। आपके विद्यागुरु श्रीवत्सरामजी (बाछबा) त्रिपाठी थे। श्रीवत्सरामजी डूँगरपुरा गृहस्थ नागर-ब्राह्मण थे और काशी-के रामघाट मुहल्लेमें ही रहते थे। श्रीवत्सरामजी सामवेदके महाविद्वान् थे। पहले आपके पूर्वज राजपूतानाके डूँगरपुर नगरमें रहते थे। कई पीढ़ी पहले उनके कोई पूर्वज डूँगर-पुरका अपना घर किसी ब्राह्मणको दान देकर काशीमें आकर बस गये थे और दूँढीकी दक्षिणाद्वारा जीवन-निर्वाह करते हुए अध्ययनेच्छु विद्यार्थियोंको सामवेद पढ़ाते थे। संगीतके भी अच्छे विद्वान् थे। पंड्या इन्द्रदेवजी भी वत्सरामजीके ही शिष्य थे। वत्सरामजी वृद्धावस्थामें विधिवत् संन्यासा-श्रम ग्रहणकर अपना निवास-गृह छोड़कर रामघाटके पास ही बाबूजीकी धर्मशाला नामक मुहल्लेमें प्रसिद्ध कथा-स्थानमें रहते थे। उसी स्थानमें 'ठाकुरदर्शनविस्तार' आदि अनेक ग्रन्थों-के प्रणेता श्रीसदानन्दजी व्यास प्रतिदिन पुराण-रामायणादिकी कथा करते थे।

पंड्या इन्द्रदेवजी परम गुरुभक्त थे। प्रतिदिन अपने गुरु श्रीवत्सरामजी स्वामीके दर्शन तथा सेवाके लिये वे उनके यहाँ जाया करते थे। प्रतिदिन आने-जानेके कारण श्रीसदानन्दजी व्याससे भी उनका परिचय हो गया था। इन्द्रदेवजीमें स्वाभाविक कवित्व-शक्ति विद्यमान थी। एक समय कौतुकवश उन्होंने 'फाल्गुन मास-माहात्म्य' या 'होलिका माहात्म्य' नामक एक अश्लील काव्यकी हिंदी और गुजराती भाषामें रचना की।

किसी दिन उक्त अश्लील काव्य श्रीसदानन्दजी व्यासको दृष्टिगोचर हुआ, तब उन्होंने इन्द्रदेवजीमें अच्छी कवित्व शक्ति देखकर उनसे कहा कि 'यदि यही परिश्रम श्रीराम-यशोगुण-गानमें किया गया होता तो कितना श्रेयस्कर होता और उसे देखकर आपके गुरु श्रीस्वामीजी भी प्रसन्न होते।' यह सदुपदेश इन्द्रदेवजीके हृदयमें पैठ गया और उन्होंने 'श्री-वाल्मीकीय रामायण' के आधारपर हिंदीमें सात रामायणों-की रचना करके उनके द्वारा भगवान् श्रीरामचन्द्रका गुणगान करके अपनेको कृतार्थ कर लिया। इन्द्रदेवजीने अपने गुरुदेव श्रीवत्सरामजीके संन्यासाश्रमके नाम 'प्रेमरङ्ग' की छाप देकर अपने समस्त काव्यकी रचना की है। इस प्रकार कारण पीछे जाकर इन्द्रदेवजी 'प्रेमरङ्ग' नामसे ही प्रसिद्ध हो गये।

प्रेमरङ्गजीके ग्रन्थोंका संक्षिप्त परिचय

जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, प्रेमरङ्गने 'वाल्मीकीय रामायण' के आधारपर सात प्रकारके रामायणोंकी रचना की है। उन रामायणोंके नाम इस प्रकार हैं—१. आभास, २. पदावली, ३. कवितावली, ४. एकपदी, ५. श्लोकावली, ६. वर्णमाला और ७. गरबावली। प्रत्येक रामायणके अन्तमें उन्होंने अपना संक्षिप्त परिचय और ग्रन्थ-समाप्तिका समय अङ्कित किया है, किंतु 'वर्णमाला'-रामायणका रचनाकाल नहीं लिखा। इसके अतिरिक्त 'गरबावली' अभी मेरे देखनेमें नहीं आयी, अतः उसके निर्माणकालके सम्बन्धमें निश्चितरूपसे कुछ कह सकना कठिन है। मेरे ग्रन्थागारमें श्रीप्रेमरङ्गजीकी 'गरबावली' के अतिरिक्त भिन्न अन्य छः रामायणोंकी हस्तलिखित प्रतियोंका संग्रह है। उनका लेखनकाल वि० संवत् १८७९ से लेकर वि० सं० १९१७ तकमें है। जिन किसी सज्जनके पास 'गरबावली' रामायणकी प्रति हो, वे यदि मुझे '२४। ५९ रामघाट, वाराणसी-१' इस पतेपर सूचित करनेकी कृपा करेंगे तो मैं उनका आजीवन उपकृत होऊँगा।

१—आभास—रचनाकालका क्रम देखते हुए प्रेमरङ्गजीकी यह सबसे पहली रचना प्रतीत होती है। इसकी समाप्ति वि० सं० १८५८ अधिक ज्येष्ठ कृष्णा ११ शनिवारको हुई थी। इसके सात काण्डोंमें क्रमशः ४९, ४६, ३४, २१, २६, ११९ और १६ पद्य हैं। युद्धकाण्डकी समाप्तिके बाद और उत्तरकाण्डके प्रारम्भके पहले बीचमें प्रणव तथा तीन महाव्याहृतियोंके प्रथम पाँच अक्षरोंमें आरम्भ होनेवाले पाँच दोहे इनके अतिरिक्त हैं और उत्तरकाण्डके बाद बारह दोहे और हैं, जिनमें कविने

रामस्तुति तथा अपना परिचय दिया है। इस प्रकार इस रामायणमें कुल मिलाकर १४९ पद हैं। इस रामायणके पदोंकी रचना राग-रागिनियोंमें है। बालकाण्डमें अड़ाना और रेखता, अयोध्यामें बरवै और स्वकवी, अरण्यमें सोरठ एवं रेखता, किष्किन्धामें कल्याण तथा सवैया, सुन्दरमें भैरव, युद्धमें पहाड़ी, पञ्चपदी और पखाड़ा तथा उत्तरकाण्डमें परज, संमाञ्छा एवं रेखता रागों अथवा छन्दोंके पदोंका प्रयोग किया गया है। इसकी भाषा उर्दू-बहुल खड़ी बोली है। 'इन्द्रप्रस्थके बोल' इस कविकी उक्तिसे ही यह ज्ञात हो रहा है कि दिल्लीके आसपास बोली जानेवाली बोलीका इस रामायणमें प्रयोग किया गया है। अन्तके दोहे, जिनमें कविने अपना परिचय दिया है, इस प्रकार हैं—

छन्द रचन जानत नहीं, नहिं जानत सुध राग।
क्षमा कीजे मोहि चतुर नर, रमित रघुबर अनुराग ॥ ५ ॥
× × ×
काशीवासी विप्र हौं रहत रामघट घाट।
पवनकुमार प्रसाद सों, गाय दियाउत राम ॥ ७ ॥
.... ।
इन्द्रदेव सुदेवसुत, नागर करि अभिराम ॥ ८ ॥
संस्कृत प्राकृत दोउ कहे, इन्द्रप्रस्थके बोल।
.... ॥ ९ ॥
अठारह सौ अठावना, विक्रम शक मग्मास।
कृष्ण पक्ष पञ्चदशी।............... ॥ १० ॥

२—पदावली—रचनाक्रमके अनुसार दूसरी रामायण 'पदावली' मालूम पड़ती है। इसकी समाप्ति 'आभास'-रामायणके रचनाकालसे लगभग ढाई वर्ष बाद वि० संवत् १८६० की कार्तिक-कृष्ण ५ को हुई थी, जैसा कि—

विक्रम शक अष्टादश षष्ठिको। कार्तिक कृष्ण पञ्चमी जान।
पदावली पूरण प्रभु कीनी। 'प्री' हनुमानको करि परमान ॥

—इस अन्तिम पदकी पंक्तिसे विदित होता है। इसमें काण्ड-क्रमानुसार क्रमशः १४, ८, ६, ४, ६, १७ और ११—कुल ७१ पद हैं। इनके अतिरिक्त अन्तमें एक पदमें रामस्तुति आदि और २ पदोंमें भगवान् रामचन्द्रकी ...की आरती है। 'पदावली' में कविने १. भैरव, २. भैरवी, ३. आसावरी, ४. दरबारी कानड़ा, ५. रामकली, ६. बिहागरा, ७. सारङ्ग, ८. गौरी, ९. असैया, १०. जंगला, ११. मल्हार, १२. काफी, १३. धनाश्री, १४. श्री, १५. बिहागरा सोरठ, १६. भैरवी, १७. आसा, १८. सोरठ, १९. कल्याण, २०. मल्हार, २१. परज, २२. ललित, २३. सोहनी, २४. बिहाग, २५. जैजैवन्ती, २६. पूरवी, २७. ईमन, २८. हमीर, २९. अड़ाना, ३०. कल्याण, ३१. केदारा, ३२. मालकौंस, ३३. टोड़ी, ३४. मिश्र, ३५. नायकी, ३६. विभास, ३७. पहाड़ी खमन्त एवं ३८. छायानट—इन विभिन्न राग-रागिनियोंमें पद-रचना करके रामयशका गान किया है। पाठकगण इससे कविकी संगीतज्ञताका अंदाजा लगा सकेंगे। इस रामायणके अन्तमें कविने अपने उपदेशकर्ता सदानन्दजीका भी स्मरण करते हुए लिखा है—

सो जस सदानन्द सों सुनियत सुकुत मिलत नहिं रमत दाम।
इन्द्रदेव सुदेवके सुत सुन लगन लगी है मेघश्याम ॥ ३ ॥
काशीवासी द्विज अवधवासी बसा प्रभुगुन कहे जीमको काम।
बानी सुफल करन के कारन गायो जस पद पद आराम ॥ ४ ॥

अन्तमें मङ्गल-आरतीमें भगवान् श्रीरामकी दिव्य अनुपम सुन्दर छविका वर्णन है, उसका आस्वाद कविकी ही भावादिक पदावलीके द्वारा भावुक भक्त प्राप्त कर सकते हैं, जो इस प्रकार है।—

राग भैरव, ताल अद्ध तिताला

मंगल आरति सिया-रघुबरकी कौसल्या कर साजे।
लक्ष्मनिनन्दन भरत शत्रुघ्न छत्र-चँवर कर राजे ॥ ध्रु० ॥
घनन घनन घन तान तँबूरा ताल पँट-रव बाजे।
घन मृदंग डफ झाँझ संजरी बेन-दमामा बाजे ॥ १ ॥
अगम पंथ रघ संग सोहन गोरव दिग गुरजन रमि रजे।
दक्षजन रक्षमन कर गर पद-रस पद पासनके काजे ॥ २ ॥
सुर नर मुनिजन अति हुलसी कुसुमन माल दिखावे।
कोट कनक कुंडल तनदुति घन दी गादि अनुप समाजे ॥ ३ ॥
द्वार गड़े चतुरंग सैन सजि गज रथ हय मद गाजे।
'प्रेमरङ्ग' प्रभु चरन सरन तें जनम जनम दुख भाजे ॥ ४ ॥

३—कवितावली—रचनाक्रमके अनुसार 'कवितावली-रामायण'का स्थान मैं अभी तीसरा मान रहा हूँ। परंतु यह ... है। इसका कारण यह है कि 'पदावली-रामायण' की रचनाके उपरान्त लगभग पौने पाँच वर्षके बाद 'कवितावली' की रचनाका समय आता है। 'मास सुदी ... पूरन ... सम्बत्, ... शक विक्रमके ... ' —इस उत्तरकाण्डके ८७ वें पदसे कवितावलीका समाप्तिकाल वि० सं० १८६५, मास ... १५ विदित होता है। इस ... मासकी ... अवधिमें कविने किसी अन्यकी रचना ... की है, ऐसा लगभग नहीं मालूम पड़ता। सम्भव है इसी ...

'वर्णमाला-रामायण' तथा 'मारवाड़ी रामायण' जैसे किसी एककी अथवा दोनोंकी रचना हुई हो। 'वर्णमाला' में उसका निर्माण-समय अङ्कित नहीं है, अतः उसके रचनाकालके सम्बन्धमें निश्चित निर्णयपर पहुँचना कठिन है। 'मारवाड़ी' की कोई प्रति उपलब्ध होनेपर यदि उसमें उसका निर्माण-काल कविने लिखा हो तो उसके आधारपर उसके रचना-कालका निर्णय किया जा सकता है। 'कवितावली' की रचना सवैया, छप्पय, कुंडलिया, छपीसा, घनाक्षरी, झूलना, अमृत-ध्वनि, चौपाई, दोहा, त्रिभङ्गी, चाबोला तथा कवित्त छन्दोंमें हुई है। काण्डानुसार क्रमशः १०, ५१, ११, २६, ४६, १२१ और ८८ पद्य हैं। इनके अतिरिक्त अन्तमें एक कवित्तमें हनुमान्‌जीकी स्तुति और दूसरे कवित्तमें कविने अपनी अभिलाषा व्यक्त करके एक दोहा लिखकर ग्रन्थ समाप्त किया है। इस तरह कवितावलीमें कुल पद्योंकी संख्या ४१२ होती है। उत्तरकाण्डके अन्तमें ८५वें कवित्तमें कविने अपनी परिस्थितिपर कुछ प्रकाश डालते हुए स्वानन्दव्यासकी कृपाका भी उल्लेख इस प्रकार किया है—

> सब देस सब भेस सतरन्त सत-भाव
>
> > सबसार सींचि गत सङ्ग प्रसारी बड़ी।
>
> श्रीमत्स्वानन्द व्यास रामरूप मर्म प्रकास
>
> > कवितावली कोन्ही दास जैसी बुद्धि बानी बढ़ी॥

८८ वें पद्यमें कविने अपनी जाति 'अमरावादी नागर' होना लिखा है—

> 'बाल्मीकि मुनि मत रामायन कवितमहिं प्राकृतमें बखानी।
> अति संक्षेप करी मतिमन्द सो नागर अमरावादी मैं प्रानी॥

८७ वें पद्यमें कवि लिखते हैं—

> 'मो के आगे रात सोयो बार जुवा दिन खोयो
>
> > खोयो वृथा जोबन हूँ रामनाम सुमिर्यो ना के।
>
> सो के मङ्गिमण्डलको रास एकमन पायो
>
> > कहा मोत सबै हेरो हेरे जुरे संकै।
>
> सोक आगे जीवन नाहिं सीस भाग प्रान मेरे
>
> > मेरे 'प्रेमधन' राम भयो रे अनन्त होके।

इसमें 'सोक आगे रात सोयो' इस कथनसे यह प्रतीत होता है कि कवितावलीकी रचनाके समय कविका वय ५० वर्षका पूर्ण हो चुका था।

४-एकपदी—इसके बाद 'एकपदी रामायण' की रचनाका समय आता है। विक्रम शाके १८८८ अथवा कार्तिक बदि पञ्चम गुरुवार !—इस पद्यके आधारपर इस रामायणकी समाप्तिका समय वि० सं० १८९६, कार्तिक कृष्ण १, मङ्गलवार अवगत हो रहा है। इसमें एक ही छन्दके १११ पद्योंमें पूरे रामायणकी कथा वर्णन की गयी है, इसीलिये इसका 'एकपदी' नाम रखा गया है। काण्डानुसार इसमें क्रमशः २२, ११, १७, १२, १८, ४१ और २७ पद्य हैं। इसके अन्तमें ४ दोहे अतिरिक्त हैं।

५-श्लोकावली—इस रामायणकी रचना वि० संवत् १८९९ की मार्गशीर्ष शुक्ल १० रविवारको समाप्त हुई है। जैसा कि—

> संवत् विक्रमके अठारह सौ ऊनसठ गिरें।
> मृगशीर्ष दशमी सुदी रविदिने सम्पूर्ण कीन्ह लिखें॥

—इस पद्यसे अवगत हो रहा है। इसकी विशेषता यह है कि 'वाल्मीकि-रामायण' के जितने सर्ग हैं, उतने ही श्लोकोंमें इस रामायणकी रचना पूर्ण की गयी है। वाल्मीकि महर्षिने रामायणके एक सर्गमें जो कुछ वर्णन किया है, उसे हमारे चरित्रनायक भक्तकवि श्रीप्रेमरत्नजीने 'गागरमें सागर' की तरह एक ही श्लोकमें समेटकर रख दिया है। इस सम्बन्धमें कवि अभिमान न करके कहता है कि यह सब सत्संगति, हनुमत्कृपा और भगवान् श्रीरामकी दी हुई बुद्धिसे ही हुआ है—

> जेते सर्ग वही तितेक तितने मात्रा मिली संख्यी,
> साधू संगत अञ्जनीसुत कृपा श्रीराम दीन्ही मती।

इस रामायणमें काण्डानुसार क्रमशः ७९, ११९, ७८, ६९, ७०, १३५ और १२५ श्लोक हैं। अन्तमें पाँच संस्कृत पद्योंमें स्तुति और चार श्लोकोंमें कविने अपना परिचय दिया है एवं पाठकोंसे प्रार्थना की है। इस तरह इस रामायणमें सब मिलाकर ६६४ श्लोक हैं। शिखरिणी छन्दके पद्यद्वारा पाठकोंसे कवि अनुरोध करते हैं—

> सुने सीखे पढ़े अशुभ पद तौ भी शुभ करे,
> नहीं मेरी प्रज्ञा रघुवरकृपा सों पद धरे।
> लिखा है संतोंसे हनुमत दया सों सब किया,
> क्षमा कीजो मोंसे गुणिजन गुरु सम्मत लिया॥

'श्लोकावली-रामायण' को अबसे लगभग ५९ वर्ष पूर्व गुदड़ीलाल स्कूल, जबलपुरके हेडमास्टर मेहता मेघशंकर लक्ष्मीनाथ शेखावाट (कलारनिवासी) ने जबलपुरके 'यूनियन प्रेस कम्पनी लि०' में छपवाकर वि० सं० १९५५ में प्रकाशित किया था। उसकी भूमिकामें प्रकाशक महोदय लिखते हैं कि 'इसके रचयिता कविवर श्रीप्रेमरत्नजी हैं। इस पुस्तकको आप एक बार आद्योपान्त अवलोकन करें

ने कि उक्त पण्डितजीकी कविता-शक्ति कैसी विचित्र है उन्होंने इसके रचनेमें कैसा परिश्रम किया है। इस को श्रीरामुद्ररूपी वाल्मीकि-रामायणसे मन्थन करके र किया अमृतरूपी पुस्तक समझना अत्युक्ति नहीं है; क्योंकि किजीने एक सर्गमें जो कथा वर्णन की है, उसे इन्होंने एक श्लोकमें कहा है और विशेष चातुर्य यह है कि भाषा हिंदी व छन्द संस्कृतके।'

'श्लोकावली'में स्रग्धरा, वसन्ततिलका, शिखरिणी, विक्रीडित, मालिनी, अनुष्टुप्, भुजङ्गप्रयात, मत्तमयूर, द्रा, द्रुतविलम्बित, चम्पकमाला तथा रथोद्धता छन्दोंका ग किया गया है। इस रामायणके कुछ सुन्दर श्लोकोंके गका लोभ लेखको कलेवरवृद्धिके भयसे संवरण करना ड़ा है।

६–वर्णमाला—इस रामायणका रचना-काल कविने त नहीं किया है। इन पङ्क्तियोंके लेखकके संग्रहमें इस यणकी जो हस्तलिखित प्रति है, वह वि० संवत् १८७९की र शुक्ल ७ गुरुवार अर्थात् गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीकी तेथिके दिन वाराणसीमें श्री बुगदेश्वरसुत गोपेश्वर नामक व्यक्तिकी लिखी हुई है। यह प्रति लेखकने मथाजी (मनसाराम गुजराती अपभ्रंश) राम, गोविन्दरामके लिये है। मथाजी मनसारामजी और गोविन्दरामजी हमारे नामक पंड्या इन्द्रदेवजी अर्थात् प्रेमरङ्गजीके गुरु रामजीके पुत्र एवं परस्पर सहोदर बन्धु थे। इससे यह है कि उक्त प्रति जिस समय लिखी गयी थी, उस समय रामजी तथा गोविन्दरामजी जीवित थे और यह भी निस्संदेह जा सकता है कि श्रीइन्द्रदेवजी या बापूजीके वे गुरुपुत्र के कारण मनसारामजी श्रीइन्द्रदेवजीके समकालीन थे। गङ्गजीकी रचनाओंमें, जिनका रचनाकाल लिखितरूपमें हो रहा है, सबसे अन्तिम 'श्लोकावली' है, जो ऊपर के अनुसार वि० सं० १८६९ की मार्गशीर्ष शुक्ल गुरुवारको समाप्त हुई थी। इसकी रचनाके लगभग १० बादकी लिखी हुई 'वर्णमाला'की उक्त प्रति है। हो कता है कि उक्त प्रति जिस समय लिखी गयी थी, उस न श्रीप्रेमरङ्गजी विद्यमान हों।

'वर्णमाला-रामायण'की रचना दोहोंमें है, जिनकी संख्या क्रमानुसार ११४ है। इनमें पहले दोहेमें मङ्गलाचरण और न्तिम ५ दोहोंमें—जो 'श्रीसीताराम' शब्दके एक-एक क्षरसे आरम्भ किये गये हैं—फलश्रुति कही गयी है। अवशिष्ट १०० दोहोंका आरम्भ वर्णमालाके अनुसार अकारसे लेकर क्षकारतक अनुक्रमसे ५० अक्षरोंसे और फिर उन्हीं अक्षरोंके व्युत्क्रमसे क्षकारसे अकार पर्यन्त ५० अक्षरोंसे किया गया है। शेष ८ दोहे अ, क, च, ट, त, प, य और श—इन वर्गोंके आद्य अक्षरोंसे आरम्भ किये गये हैं। इस तरह १०८ अक्षरोंकी वर्णमालामें सातों काण्ड रामायणकी कथा वर्णित की गयी है। काण्डानुसार इसमें क्रमशः ११, २७, ९, ९, ९, २७ और ८ दोहे गुम्फित हैं। इनमें प्रारम्भिक १ तथा अन्तिम ५ दोहे नहीं गिनाये गये हैं।

७–गरबावली—जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, मुझे अभीतक इस रामायणकी प्रति देखनेका सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका है। एक प्राचीन 'स्मरणपत्र'से—जिसमें उक्त रामायणोंमेंसे कब, जो, किस व्यक्तिको पढ़नेके लिये दी गयी होगी, उसका संक्षिप्त विवरण अङ्कित है—ज्ञात हो रहा है कि मेरे यहाँ 'गरबावली'की भी एक प्रति विद्यमान थी, जिसके ६८ पत्र थे। उक्त स्मरणपत्रसे यह ज्ञात हो रहा है कि यह प्रति वि० सं० १८९७की फाल्गुन शुक्ला १४को या चैत्र कृष्णपक्षमें स्वामी श्रीरेश्वरजीको दी गयी और वहाँसे लौट आनेके बाद वि० सं० १९०० में यही प्रति ठाकोर कृपाशङ्कर नामक किसी व्यक्तिको दी गयी। इसके बाद उसका कोई हवाला नहीं मिलता। गरबागीत गुजरातकी ही विशेष वस्तु है, अतः सम्भव है कि 'गरबावली'की रचना गुजराती भाषामें हो। परंतु जबतक उसकी प्रति प्राप्त न हो, उसके सम्बन्धमें निश्चितरूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता।

अन्यान्य साहित्य

उसी स्मरणपत्रसे विदित हो रहा है कि 'फाल्गुन माहात्म्य'की पुस्तक भी—जिसकी चर्चा इस लेखके आरम्भमें आ चुकी है—उस स्मरणपत्रके लेखकके संग्रहमें थी, जिसके ११ पत्र थे। यह पुस्तक वि० सं० १८९० की फाल्गुन शुक्ल १४ शनिवारको अर्थात् होलीके पहले दिन तुलजाराम परदेशी को दी गयी थी और वहाँसे लौट आनेपर वि० सं० १९०० की पौष कृष्णा ६ को रत्नजीरामको दी गयी थी। परंतु बादमें उसका पता नहीं लगता। उक्त स्मरणपत्रमें वि० सं० १८९६ के भाद्रपदसे वि० सं० १९०१ की अश्विन शुक्ल १२ पर्यन्त लोगोंको दिये गये प्रेमरङ्गजीके लिखित ग्रन्थोंका विवरण अङ्कित है।

वि० सं० १८९९ के कार्तिक मासमें प्रेमरङ्गजीने

विधिवत् गयाश्राद्ध किया था। उसका संस्मरण उन्होंने 'गया-माहात्म्यपद' के नामसे खड़ी बोलीमें सिलोटी रागिनीके १४ पदोंमें लिखा है।

इनके अतिरिक्त प्रेमरत्नजीके रचित विभिन्न राग-रागिनियोंके लगभग साढ़े तीन सौसे अधिक स्फुट पद भी उपलब्ध हैं। इनकी रचना गुजराती, हिंदी, पंजाबी, राजस्थानी, बनारसी, उर्दू, फारसी आदि विविध भाषाओंमें हुई है, जिन्हें देखनेसे कविके विविध-भाषा-सम्बन्धी ज्ञानका भी पता लगता है। इन पदोंमें अधिकतर पद भगवान् राम तथा कृष्णकी लीलाओंके आकर्षक वर्णनसे ओत प्रोत हैं। इनमें अधिकतरका सम्बन्ध वर्षा तथा वसन्त ऋतुकी लीलाओंसे है। इनके अतिरिक्त पद विभिन्न देवताओंकी स्तुतियों, मनको उपदेश आदि विषयोंके हैं। पाठकोंको रसास्वादन करानेके लिये यहाँ कुछ बानगी दी जा रही है।

फगुवा आँगन मचईं सखी सब, राधा लीन्ह लिवाई।
मुदितमति सुमित्रा माधवी, फगुवे करत सहाई॥
प्रभु निज महलके आँगन ठाढ़े, गाढ़े प्रसंग देखाई।
एक सैन्य है पीत दुकूल को, एक मुख अबिर लगाई॥
एक ग्वार लीन्ह मुरचंग को, फगुन को एक गाई।
'प्रेमरत्न' प्रभु सियाकी प्रिय रवि, जो माँगी सो पाई॥

यह तो हुई भगवान् रामकी होलीमें गति। अब भगवान् कृष्णकी हालत भी जरा देखिये—

गोपिनकी मार भारी रे, मारे श्याम मिलि होरि खेलिये॥
मिल दस बीस भई एक ठौरी, घेर लियो गिरधारी रे॥
एक मुख मीड़त अबिर उमंगत, कमर देत सँवारी रे।
एक भिजवत है पग पिचकारी, एक मुख देत है गारी रे॥
कहो मोहन होरी किन जनमायो, कैसे बाप महारी रे।
ओर कान्हो नचवाय दंग, होत गवालो ठाढ़ी रे॥
हारे हरि चहुँदिसि लिन घेर, पाँव पकड़ बनवारी रे।
'प्रेमरत्न' प्रभु फगुवा हरसि, सेनी मानत दे दे तारी रे॥

पावस ऋतुमें श्यामा श्याम हिंडोले झूल रहे हैं। कविके शब्दोंमें उसका वर्णन सुनिये—

बरस बरस बादर भारी भव, सावन तीज देवारो।
सिर प्यारी भरस झुमकने, कुसुमन तेज सँवारी॥
पर्यंक सूल हरा मेखल को, दो रंग चर की सारी।
मिल मिल तिन रंग भये कुसुम के, अरुण पीत हरियरी॥
डोरी चार गुलप स्वरूपी, घटपट करत गुंजारी।
सब साखन गावन लागत हैं, जह नायक न्यारी।
मन नागर नागरि निरखत सैन घन बरसे प्रेम भरो।
घेर श्याम जोरी युग रखि, 'प्रेमरत्न' बलिहारी॥

अपने परम प्रियतम इष्टदेव भगवान् रामसे भक्त कवि अपनी अभिलाषा इन शब्दोंमें प्रकट करते हैं—

हूँ चरनन को चेरो राम।
अवर नहीं अवलम्ब जगत में,
पकर पग मोहे तेरो राम॥
गहे निज पताक पसारी,
दास अब कहे तेरो राम।
भव अनेक में एक ही किंकर,
कृपाघन मोहे हेरो राम॥
काम क्रोध मद गर्व अमन्द को,
शान्ति क्षमा पथ फेरो राम।
'प्रेमरत्न' प्रभु पावे हलक,
दीजे निज पद डेरो राम॥

विकल होकर अपने प्रभु रामसे कवि उपालम्भपूर्वक पूछते हैं—

राम मोहे कवन औगुन बिसरायो।
पुन्य पाप सों देह बनत है, तैसी तन हम पायो॥
सब जन चाहत सुख पावन को, दुख को जिन अपनायो।
पूरब जनम के करमकार तुम, अब मोहे काहे सतायो॥
अब प्रभु असुभ भी शुभ क्यों करवत, नीर अमित गुन गायो।
'प्रेमरत्न' निज घर धरी आसा, निस दिन तुम जस गायो॥

प्रेमरत्नजीने केवल पद-रचना ही नहीं की। उनके रचित पदोंको देखकर गुरु श्रीकमलराजजी बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उन पदोंका गान करते हुए प्रतिवर्ष पञ्चकोसी यात्रा करनेकी आज्ञा प्रदान की। इस आज्ञाको शिरोधार्य करके प्रेमरत्नजीने प्रतिवर्ष फाल्गुन शुक्ल द्वितीयासे पञ्चकोसी-यात्राके रूपमें काशी-प्रदक्षिणा करना आरम्भ किया। इसमें स्थान-स्थानपर वे उच्चस्वरसे अपने विरचित पदोंका समयानुकूल राग-रागिनियोंमें गान करते हुए यात्रा करते थे। बड़ा अद्भुत आनन्द आने लगा। कई सहयोगी एवं भक्तजन शिष्य बनकर उनका इस कार्यमें साथ देने लग गये। पहले तो केवल मिट्टीकी गगरीके ढक्कन हाथसे थाप देकर ठेकेका काम चला लिया जाता था। फिर धीरे-धीरे ढोलक, मँजीरा, सितार और तम्बूरा आदि साज भी आ गये। फिर क्या कहना था, भजनमें इतना आनन्द

स्थित था कि बहुत-से प्रेमीजन प्रतिवर्ष उस पञ्चक्रोशी-यात्रामें सम्मिलित होकर भजनानन्दका अनुभव करने लगे थे। कुछ वर्षोंके बाद कई उत्साही भक्तोंके प्रयत्नसे उस यात्रामें रामलीला तथा कृष्णलीलाका भी आयोजन हो गया। फिर क्या था, सोनेमें सुगन्ध हो गयी। उस पञ्चक्रोशी-यात्राने एक धार्मिक मेलेका रूप ले लिया। यह क्रम लगभग १६० वर्षोंतक चलता रहा। इधर लगभग १० वर्ष हुए, कई कारणोंसे यह स्थगित हो गया है।

उसी पञ्चक्रोशी-यात्राके प्रसङ्गमें प्रेमरङ्गजीने ब्रह्मवैवर्त पुराणान्तर्गत 'पञ्चक्रोशी-यात्रा-माहात्म्य' के तीन अध्यायोंकी, हिंदी भाषामें बरवै छन्द तथा धनाश्री रागिनियोंमें रचना की थी। इसमें सब मिलाकर ११६ पद्य हैं। इसका भी रचना-काल कुछ नहीं लिखा है।

उक्त रचनाओंमें अबतक केवल दोका ही प्रकाशित होना सुना गया है। 'श्लोकावली' वि० सं० १९५५ में कमच्छपुरसे प्रकाशित हुई थी, जिसे अब लगभग ६० वर्ष हो गये; अतः वह इस समय अप्राप्य है। सम्भवतः भाभास अथवा एकपदी रामायण कई वर्ष पूर्व स्व० पंचोली श्रीहरीरामजी नामक्के प्रयाससे स्थानीय 'नागरीप्रचारिणी-पत्रिका' के किसी अङ्कमें प्रकाशित हुई थी। पृथक् पुस्तकरूपमें प्रकाशित न हो सकनेके कारण वह भी एक प्रकारसे दुष्प्राप्य ही है। अबतक प्रेमरङ्गजीकी रचनाओंकी ओर प्रायः हिंदीके किसी साहित्यिक विद्वान् या संस्थाका ध्यान नहीं गया। जब कभी प्रेमरङ्ग-साहित्य प्रकाशित होकर पारखी साहित्यकोंके सामने आयेगा, तब उसकी अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग परीक्षा होकर लोग उसके वैशिष्ट्यसे परिचित हो सकेंगे। न जाने अभी ऐसा कितना भक्त-साहित्य भारतमें छिपा पड़ा होगा।

बैजूबावराकी प्रेम-भक्ति

(लेखक—श्रीमाणिकलाल शंकरलाल राणा)

संगीत-सम्राट् तानसेनके संगीत-भयके क्रूर कानूनके आश्रममें रहनेमें प्रवेश करते समय चार अजनबी साधु संगीत-आलाप-से मारे गये। उनके साथ दस वर्षका एक बालक था। यह नादान समझकर छोड़ दिया गया।

वह बालक रोता हुआ दिल्लीसे निकलकर मथुरामें आया। यहाँ उसका कोई न था। अतएव असहाय बालक क्रन्दन करता स्वामी हरिदासजीकी कुटीके सामने आया। उस अनाथ बालकको हृदयसे लगाकर उसका नाम-पता पूछकर स्वामीजीने उसकी सारी कथा सुन ली।

मैंने तो पाप संगीत-शिक्षा मानकर तानसेन मदान्ध हो गया। दुःखी हृदयसे संतने निःश्वास छोड़ते हुए आगन्तुक बालक बैजूको अपने पास रख लिया।

× × × ×

बैजूके जीवनमें अनेकों घटनाओंका समावेश होता है। बैजू बावरा कैसे हुआ, बावराकी प्रेमभक्ति, मुरलीधर श्यामका ध्यान, स्वामी हरिदासजीका प्रेमानन्द, तानसेनकी पराजय, बैजू बावरा और बैजूका प्रेम-संवाद, तानसेनके साथ गोष्ठी, हरिके निमित्त अलौकिक संगीत-शीक्षा, तीर्थाटनमें ... प्रसङ्ग, बैजूका पुनः मथुरामें आगमन, कालक्रमसे ... हिमालयकी यात्रा, बैजूका वैकुण्ठ-गमन आदि अनेकों प्रसङ्गोंका बैजूके चरित्रमें समावेश होता है। परंतु यहाँ उनके जीवनके एक ऐसे प्रसङ्गका उल्लेख करना है, जिससे हृदयमें प्रेमानन्द जाग जाय। घड़ी भर प्रेमकी मस्तीमें बैजूके इस दिव्य मिलनके परम माङ्गलिक प्रसङ्गका अवलोकन कीजिये।

× × × ×

साधु-बालक बैजूको अपने पास बैठाकर स्वामीजीने संगीत-विद्या-समग्र बनाया। परंतु बैजूका ध्यान किसी अन्य ओर लगा था। अहर्निश उसकी वृत्ति बेचैन भटकती रहती, घड़ीभर भी वह आश्रममें स्थिर होकर नहीं बैठता था। बैजूके इस ढंगको देखकर स्वामीजी आवेशमें उसको 'बावरा' कहकर पुकारते। संतके इस शब्दबाणसे बैजू सचमुच ही बावरा बन जाता।

संतने उसको शब्द-बाण मारकर नाम-स्मरणके अनन्य-प्रेमकी लगनमें लगा दिया। बैजू सारी रात मथुरामें भ्रमण करता। रात ढलते ही संतके स्थानमें आकर शयन करता। इसलिये प्रातःकाल होनेपर आलसीके समान निद्रामें पड़ा रहता। उस समय प्रभात-गीतमें ललकारते हुए स्वामीजी बैजूको सचेत करते—

बावरे ! मान रे, मेरा मनो ।
क्यों भटकत डोल रहा ।
बावरे ! मान रे मेरा मनो............।

संतके इस संगीतको सुनकर बैजू जागता । इस प्रकार बैजूको सुधारनेके लिये स्वामीजी नित्य नये पद गाते थे । बैजू क्या खोज रहा है, इस बातको स्वामीजी भी समझ न सके । परंतु दिन-प्रतिदिन उसकी व्याकुलता बढ़ती ही जा रही थी ।

वर्षाके दिन बीत गये । कार्तिक आधा बीतनेको था । संतने बैजूको पुकारा । 'बैजू ! दीवाली आ गयी, फिर भी अबतक तेरी व्याकुलता नहीं गयी ! बावरे ! तू कहाँ भटकता है ! किस वस्तुके पीछे सारी रात घूमता रहता है ! आज धन-तेरसका परम माङ्गलिक दिवस है, अगले दिन चतुर्दशी काली-चौदसका परम दुर्लभ दिन है । बैजू ! तू चाहे तो इस अवसरपर भगवान् श्रीकृष्ण मुरारीके साक्षात् दर्शन कर सकता है । परंतु बावरे ! तेरा चित्त किधर लगा है !' बैजू अवाक् बन गया । इसलिये स्वामीजीने उसको जो न कहना था, वह कह डाला ।

दीवालीकी रात्रिको साधक लोग मन्त्र-तन्त्रकी साधनामें प्रवृत्त हुए । उस समय स्वामीजी प्रेम-संगीतका गान करते प्रियतम प्रभुके प्रेमानन्दमें बेसुध हो रहे थे । उस समय व्याकुलतापूर्वक बैजू व्रजमें भ्रमण कर रहा था । आज उसके हृदयमें तनिक भी चैन न थी । कई दिनोंसे वह किसी अगम्य वस्तुकी खोजमें था ।

व्रजके वन-वनमें, लताओंमें वह भगवान् श्यामसुन्दर मुरलीधरको खोज रहा था । मनमोहनकी मीठी मुरलीकी तान सुननेको वह आतुर हो रहा था । कुटीरसे संगीतके साथ स्वामीजीकी प्रेमध्वनि दूर-दूरतक सुनायी पड़ रही थी । परंतु मनमोहनकी मुरलीके सुर सुनायी नहीं पड़ते थे ।

प्रेम-मतवाला बैजू चारों ओर घूम रहा था । परंतु कहीं भी कृष्णमुरारीकी मुरलीका नाद उसे सुनायी नहीं दिया । जीवन-प्राण निरानन्द बन गया, बैजूने आत्म-त्याग करनेका दृढ़ संकल्प किया—'या तो आज मैं साँवलियाको प्राप्त करूँगा या इस नश्वर शरीरको त्याग दूँगा ।'

तीन पहर रात बीत गयी । आक्रन्दन करता हुआ बैजू अभीतक व्रजमें पागलके समान जहाँ-तहाँ भटक रहा था । अचानक झाड़ियोंमेंसे कोई विषधर सर्प निकलकर उसको डस लेगा, अथवा कोई हिंस्र प्राणी उसे मार डालेगा—इसका कोई भी डर उसको न था; क्योंकि वह तो मृत्युका आलिङ्गन करनेके लिये ही निकला था । दीपमालिकाका प्रभात होते-होते वह इस लोकसे प्रयाण कर जानेवाला था ।

बावरेको जीवनका मोह न था । पर भगवान्‌को उसकी विशेष चिन्ता थी । बैजूके साथ वे भी बावरे बने थे । रातके चौथे पहरका प्रारम्भ होते ही मुर्गेने बाँग दी । प्रभात होते ही बैजू प्राण त्याग देगा—इस भयसे भगवान् मदनमोहन व्याकुल हो उठे । उनका धैर्य भी छूट गया और भक्तवत्सल मुरारी सरस हुए ।

कुञ्जवनमें प्रवेश करते ही बैजूके कानमें मुरलीकी मधुर धुन सुनायी पड़ी । क्षणभरमें उसका सुदीर्घ स्वर सारी व्रजभूमिमें मानो महारसधारके रूपमें छा गया । वह व्याकुल होकर ज्यों-ज्यों मुरली बजानेवालेकी खोजमें आगे बढ़ता गया त्यों-त्यों वह ध्वनि मन्द पड़ती गयी । बैजू घूमता और आक्रन्दन करता हुआ एक कदम्बके वृक्षके नीचे जाकर बैठ गया ।

मुरलीका सुर कुछ पास सुनायी दिया । वह स्वयं जिस वृक्षके नीचे बैठा था, उसी कदम्बकी डालपरसे बंसीकी मधुर ध्वनि आ रही थी । आश्चर्य-चकित होकर बैजूने ऊपर देखा और विश्वमोहन मुरलीधरको निहारते ही घड़ीभर बैजू प्रेम-मूर्च्छामें लोटता रहा । उसको देखकर मुरारी व्याकुल होकर झटसे नीचे उतर आये और धरतीपर पड़े हुए बैजूको उन्होंने 'बैजू ! बैजू !' कहते हुए हृदयसे लगा लिया ।

मूर्च्छा टूटनेपर आँखें खुलते ही बैजूने देखा कि स्वयं साँवरे मन-मोहनकी गोदमें वह लेटा है । उनको देखते ही आश्चर्य-चकित हो बैजूने प्रश्न किया—'आप कौन हैं ?'

'बैजू ! अभी तुमने मुझको पहचाना नहीं ? तेरे साथ सारी रात व्रजमें भ्रमण करनेवाला यह बावरा मैं ही हूँ, जिसको तूने अनेक बार छायारूपमें देखा है ।'

'तो क्या तुम सचमुच मनमोहन हो ?'—बैजूके इस प्रश्नको सुनकर भगवान् खिलखिलाकर हँस पड़े ।

'प्रभो ! मैंने आपको कभी न देखा, न जाना, परंतु आपने मुझको अच्छी तरह पहचान लिया है । अगर आप सचमुच व्रजमोहन हों तो मेरे साथ कुटीरपर चलें ।'—ऐसे शब्द-जालमें बैंधकर प्रेमाधीन प्रियतम तैयार हो गये ।

बैजूके साथ स्वामी हरिदासजीकी कुटीके पास आकर मुरारी बोले—'बैजू ! मैं यहीं खड़ा रहूँगा, तू स्वामीजीको यहीं बुला ला ।'

'प्रभो! आप मुरलीधर हैं तो मुरलीकी धुन सुनाओ, स्वामीजी स्वयं दौड़े आवेंगे!' वेणुके इस उत्तरसे मुसकराते हुए 'वेणु! तब तू यहीं खड़ा रह' कहकर वंशीधरने अपनी बाँसुरीकी तान छेड़ी। इस मधुर मुरलीकी आवाज सुनते ही व्याकुल होकर हरिदासजी कुटियासे बाहर दौड़े। देखते क्या हैं कि वेणुके साथ साक्षात् विश्व-विमोहन खड़े हैं। मनमोहनको निहारते ही व्याकुल होकर स्वामीजी लपके। प्रेमावेशमें सचमुच ही उनको कुछ भान न रहा। अतएव 'वेणु! वेणु!' कहकर उन्होंने वेणुको छातीसे लगा लिया।

'बाबा! मैं बावरा बनकर जिसको खोज रहा था, उस साँवरेको आप देखें! उधर क्यों नहीं देते?'—स्वामीजीके देहको हिलाते हुए वेणुने आवाज दी। स्वामी हरिदास अवाक् हो गये, उनका गला रुँध गया। मानो प्रत्युत्तरके रूपमें उनकी आँखोंसे अश्रुधार बह निकली।

'बाबा! बाबा! आप रो क्यों रहे हैं?'

'वेणु! जन्म-जन्मान्तर कठिन तपस्या करनेपर भी जिसका दर्शन प्राप्त नहीं होता, उस विश्व-विमोहनका दर्शन आज दीपोत्सवके मङ्गल-प्रभातमें प्राप्तकर ये आँखें आनन्दाश्रु न गिरावें तो क्या करें! वेणु! अबतक तो मैं तुझको बावरा कहता था, पर अब तू बावरा न रहा!'

इस प्रेमाध्यायमें गुरु और शिष्य दोनों भूल गये और आगे खड़े हुए व्रजमोहनका प्रेम-सत्कार करनेकी भी सुधि न रही। स्वस्थ होते ही स्वामीजी 'प्रभु! प्रभु!' कहते हुए मन-मोहनको भेंटने गये, परंतु वहाँ मुरलीधर कहाँ थे।

व्याकुलतापूर्वक पश्चात्ताप करते हुए स्वामीजीने चारों ओर ढूँढ़ा, परंतु व्रजमोहन कहीं भी दीख न पड़े।

'बाबा! अब उनको मत ढूँढ़ो! चलो, दीपोत्सवके मङ्गल प्रभातमें तुम्हें सेवा-पूजा करनी है या नहीं!'

'हाँ, वेणु! सेवा बिना यह साँवरा फिर क्योंकर मिले!'—कहते हुए वेणुका हाथ पकड़े स्वामीजी अपनी कुटीमें प्रविष्ट हुए।

जय हो, वेणु बावरेकी प्रेमभक्तिकी जय हो!

प्रेम और भक्तिके अवतार—श्रीरामकृष्ण परमहंस

(लेखक—स्वामी सम्बुद्धानन्दजी)

प्राचीन भारतके, विशेषतः पौराणिक युगके, धार्मिक इतिहासके पन्ने असंख्य संत-महात्माओंके चित्ताकर्षक एवं प्रभावोत्पादक वृत्तान्तोंसे भरे पड़े हैं, जिनमें उनके जीवन-संघर्ष, अद्भुत साधना तथा ईश्वर-दर्शनके रूपमें प्राप्त होनेवाली सफलता, स्तुति, स्तोत्र, भजन, तिरुप्पुगळ, तेवारम् आदिके रूपमें उनके द्वारा की गयी ईश्वरकी प्रार्थनाएँ तथा जीवनको उन्नत करनेवाले उनके उपदेश आदि मिलते हैं। इन महान् और शक्तिशाली पुरुषोंने आनेवाली पीढ़ीके महान् कल्याणके लिये अपने आध्यात्मिक अनुभव तथा ध्यानकी अटूट सम्पत्ति छोड़ी है। हजारों वर्षतक उनके जीवन और उपदेशसे भारतीय जनता प्रभावित और उत्साहित होती रही है तथा इतनी सहिष्णु, धीर, दृढ एवं पराक्रमी बन गयी है कि यहाँके लोगोंने उन विदेशी एवं विजातीय शक्तियोंका डटकर मुकाबला ही नहीं किया है अपितु उनपर विजय पायी है, जो इस पवित्र भूमिकी आध्यात्मिकता और संस्कृतिके ऊपर आक्रमण करने आयी हैं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि ये भावुक भगवद्भक्त हमारे सामने आज इहलोक और परलोकके बीच महान् सेतु-निर्माताके रूपमें अवस्थित हैं और उनके इस कार्यके कारण हमारा सिर उनके सामने अवनत है और सदाके लिये हम उनके कृतज्ञ और ऋणी हैं। भगवान् करें कि ऐसे साधक और सिद्ध पुरुष हमारे देशमें सदा ही आविर्भूत हों और अपनी साधना और महानुभूतिसे हमारी इस भक्ति और प्रेमकी भूमिको उर्वरा बनावें।

भक्तिकी अति सुन्दर परिभाषा नारदभक्तिसूत्रमें की गयी है—'भगवान्‌में परम प्रेम ही भक्ति है'। प्रह्लादने प्रभुसे किसी लौकिक लाभ या समृद्धिके लिये प्रार्थना नहीं की, केवल शुद्ध और अहैतुकी भक्तिमात्रकी याचना की। उन्होंने कहा—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥

'जो शाश्वत प्रीति अविवेकी लोगोंकी विषयोंमें होती है, तुम्हारा स्मरण करते समय मेरे हृदयमें तुम्हारे प्रति वैसी ही दृढ़ प्रीति कभी दूर न हो।' जब हम दक्षिणेश्वरके संत (रामकृष्ण परमहंस) के जीवनमें, दक्षिणेश्वरके उस दिव्य मन्दिरमें माँ कालीके दर्शनके लिये इस प्रकारकी तीव्र व्याकुल-

बावरे ! जाग रे, भोर भयो ।
क्यों अजहूँ सोय रह्यो ।
बावरे ! जाग रे भोर भयो................।

संतके इस संगीतको सुनकर बैजू जागता । इस प्रकार बैजूको सुधारनेके लिये स्वामीजी नित्य नये पद गाते थे । बैजू क्या खोज रहा है, इस बातको स्वामीजी भी ताड़ न सके । परंतु दिन-प्रतिदिन उसकी व्याकुलता बढ़ती ही जा रही थी ।

वर्षाके दिन बीत गये । कार्तिक आधा बीतनेको था । संतने बैजूको पुकारा । 'बैजू ! दीवाली आ गयी, फिर भी अबतक तेरी व्याकुलता नहीं गयी ? बावरे ! तू कहाँ भटकता है ? किस वस्तुके पीछे सारी रात घूमता रहता है ? आज धन-तेरसका परम माङ्गलिक दिवस है, अगले दिन चतुर्दशी काली-चौदसका परम दुर्लभ दिन है । बैजू ! तू चाहे तो इस अवसरपर भगवान् श्रीकृष्ण मुरारीके साक्षात् दर्शन कर सकता है । परंतु बावरे ! तेरा चित्त किधर भागा है ?' बैजू अवाक् बन गया । इसलिये स्वामीजीने उसको जो न कहना था, वह कह डाला ।

दीवालीकी रात्रिको साधक लोग मन्त्र-तन्त्रकी साधनामें प्रवृत्त हुए । उस समय स्वामीजी प्रेम-संगीतका गुञ्जन करते प्रियतम प्रभुके प्रेमानन्दमें बेसुध हो रहे थे । उस समय व्याकुलतापूर्वक बैजू व्रजमें भ्रमण कर रहा था । आज उसके हृदयमें तनिक भी चैन न थी । कई दिनोंसे वह किसी अगम्य वस्तुकी खोजमें था ।

व्रजके वन-वनमें, कुञ्जोंमें वह भगवान् श्यामसुन्दर मुरलीधरको खोज रहा था । मनमोहनकी मीठी मुरलीकी तान सुननेको वह आतुर हो रहा था । कुटीरसे संगीतके साथ स्वामीजीकी प्रेमध्वनि दूर-दूरतक सुनायी पड़ रही थी । परंतु मनमोहनकी मुरलीके सुर सुनायी नहीं पड़ते थे ।

प्रेम-मतवाला बैजू चारों ओर घूम रहा था । परंतु कहीं भी कृष्णमुरारीकी मुरलीका नाद उसे सुनायी नहीं दिया । जीवन-जाल विषमय बन गया, बैजूने आत्म-त्याग करनेका दृढ़ संकल्प किया—'या तो आज मैं गोपालप्यारेको प्राप्त करूँगा या इस नश्वर शरीरको त्याग दूँगा ।'

तीन पहर रात बीत गयी । आक्रन्दन करता हुआ बैजू अभीतक व्रजमें पागलके समान यहाँ-वहाँ भटक रहा था । भयानक वृक्षराजिमेंसे कोई विषधर सर्प निकलकर उसको डस लेता, अथवा कोई हिंस्र प्राणी उसे मार डालेगा—इसका कोई भी डर उसको न था; क्योंकि वह तो मृत्युका आलिङ्गन करनेके लिये ही निकला था । दीपमालिकाका प्रातःकाल होते-होते वह इस लोकसे प्रयाण कर जानेवाला था ।

बावरेको जीवनका मोह न था । पर भगवान्‌को उसकी विशेष चिन्ता थी । बैजूके साथ वे भी बावरे बने थे । रातके चौथे पहरका प्रारम्भ होते ही मुर्गेने बाँग दी । प्रातःकाल होते ही बैजू प्राण त्याग देगा—इस भयसे भगवान् मदनमोहन व्याकुल हो उठे । उनका धैर्य भी छूट गया और भक्तवत्सल मुरारी सत्वर चल दिये ।

कुञ्जवनमें प्रवेश करते ही बैजूके कानमें मुरलीकी मधुर धुन सुनायी पड़ी । क्षणभरमें उसका सुरीला स्वर सारी व्रजभूमिमें मानो मधुरतासागरके रूपमें छा गया । वह व्याकुल होकर ज्यों-ज्यों मुरली बजानेवालेकी खोजमें आगे बढ़ता गया त्यों-ही-त्यों वह ध्वनि मन्द पड़ती गयी । बैजू घूमता और आक्रन्दन करता हुआ एक कदम्बके वृक्षके नीचे आकर बैठ गया ।

मुरलीका सुर कुछ पास सुनायी दिया । वह स्वयं जिस वृक्षके नीचे बैठा था, उसी कदम्बकी डालपरसे बंसीकी मधुर ध्वनि आ रही थी । आश्चर्य-चकित होकर बैजूने ऊपर देखा और विश्वमोहन मुरलीधरको निहारते ही घड़ीभर बैजू प्रेम-मूर्च्छामें लोटता रहा । उसको देखकर मुरारी व्याकुल होकर जल्दीसे नीचे उतर आये और धरतीपर पड़े हुए बैजूको उन्होंने 'बैजू ! बैजू !' कहते हुए हृदयसे लगा लिया ।

मूर्च्छा टूटनेपर आँखें खुलते ही बैजूने देखा कि स्वयं साँवरे मन मोहनकी गोदमें वह लेटा है । उनको देखते ही आश्चर्य-चकित हो बैजूने प्रश्न किया—'आप कौन हैं ?'

'बैजू ! अभी तुमने मुझको पहचाना नहीं ? तेरे साथ सारी रात व्रजमें भ्रमण करनेवाला वह बावरा मैं ही हूँ, जिसको तूने अनेक बार ध्यानावस्थामें देखा है ।'

'तो क्या तुम सचमुच मनमोहन हो ?'—बैजूके इस प्रश्नको सुनकर भगवान् खिलखिलाकर हँस पड़े ।

'प्रभो ! मैंने आपको कभी न देखा, न जाना, परंतु साधनाने आपको अच्छी तरह पहचान लिया है । आप यदि सचमुच मनमोहन हों तो मेरे साथ कुटीरपर चलें ।'—बैजूके शब्द-जालमें फँसकर प्रेमाधीन प्रियतम तैयार हो गये ।

बैजूके साथ स्वामी हरिदासजीकी कुटीके पास आकर मुरारी बोले—'बैजू ! मैं यहाँ नहीं आऊँगा, तू स्वामीजीको यहीं बुला ला ।'

'प्रभो! आप मुरलीधर हैं तो मुरलीकी धुन सुनाओ, स्वामीजी स्वयं दौड़े आयेंगे!' बैजूके इस उत्तरसे मुसकराते हुए 'बैजू! तब तू यहीं खड़ा रह' कहकर वंशीधरने अपनी बाँसुरीकी तान छेड़ी। इस मधुर मुरलीकी आवाज सुनते ही व्याकुल होकर हरिदासजी कुटियासे बाहर दौड़े। देखते क्या हैं कि बैजूके साथ साक्षात् विश्व-विमोहन खड़े हैं। मनमोहनको निहारते ही व्याकुल होकर स्वामीजी लपके। प्रेमावेशमें सचमुच ही उनको कुछ भान न रहा। अतएव 'बैजू! बैजू!' कहकर उन्होंने बैजूको छातीसे लगा लिया।

'बाबा! मैं बावरा बनकर जिसको खोज रहा था, उस साँवरेको आप देखें! उत्तर क्यों नहीं देते!'—स्वामीजीके देहको हिलाते हुए बैजूने आवाज दी। स्वामी हरिदास अवाक् हो गये, उनका गला रुँध गया। मानो प्रस्तुतके रूपमें उनकी आँखोंसे अश्रुधार बह निकली।

'बाबा! बाबा! आप रो क्यों रहे हैं!'

'बैजू! जन्म-जन्मान्तर कठिन तपस्या करनेपर भी जिसका दर्शन प्राप्त नहीं होता, उस विश्व विमोहनका दर्शन आज दीपोत्सवके मङ्गल-प्रभातमें प्राप्तकर ये आँखें आनन्दाश्रु न गिरायें तो क्या करें! बैजू! अबतक तो मैं तुझको बावरा कहता था, पर अब तू बावरा न रहा!'

इस प्रेमालापमें गुरु और शिष्य दोनों भूल गये और आगे खड़े हुए व्रजमोहनका प्रेम-सत्कार करनेकी भी सुधि न रही। स्वस्थ होते ही स्वामीजी 'प्रभु! प्रभु!' कहते हुए मनमोहनको भेंटने गये, परंतु वहाँ मुरलीधर कहाँ थे।

व्याकुलतापूर्वक पश्चात्ताप करते हुए स्वामीजीने चारों ओर ढूँढ़ा, परंतु व्रजमोहन कहीं भी दीख न पड़े।

'बाबा! अब उनको मत ढूँढ़ो। चलो, दीपोत्सवके मङ्गल प्रभातमें तुम्हें सेवा-पूजा करनी है या नहीं!'

'हाँ, बैजू! सेवा बिना यह साँवरा फिर क्योंकर मिले!'—कहते हुए बैजूका हाथ पकड़े स्वामीजी अपनी कुटीमें प्रविष्ट हुए।

जय हो, बैजू बावरेकी प्रेमभक्तिकी जय हो।

प्रेम और भक्तिके अवतार—श्रीरामकृष्ण परमहंस

(लेखक—स्वामी [illegible]जी)

प्राचीन भारतके, विशेषतः पौराणिक युगके, धार्मिक इतिहासके पन्ने असंख्य संत-महात्माओंके चित्ताकर्षक एवं प्रभावोत्पादक वृत्तान्तोंसे भरे पड़े हैं, जिनमें उनके जीवन-संघर्ष, महत्त्व साधना तथा ईश्वर-दर्शनके रूपमें प्राप्त होनेवाली सफलता, स्तुति, स्तोत्र, भजन, विष्णुपद, तेवारम् आदिके रूपमें उनके द्वारा की गयी ईश्वरकी प्रार्थनाएँ तथा जीवनको उन्नत करनेवाले उनके उपदेश आदि मिलते हैं। इन महान् और शक्तिशाली पुरुषोंने आनेवाली पीढ़ीके महान् कल्याणके लिये अपने आध्यात्मिक अनुभव तथा ध्यानकी अतुल सम्पत्ति रख छोड़ी है। इनकी परंपरा उनके जीवन और उपदेशसे भारतीय जनता प्रभावित और उत्साहित होती रही है तथा इतनी सहिष्णु, धीर, दृढ एवं पराक्रमी बन गयी है कि यहाँके लोगोंने उन विदेशी एवं विधर्मी शक्तियोंका स्वागत-सुआगत ही नहीं किया है अपितु उनपर विजय पायी है, जो इस पवित्र भूमिकी आध्यात्मिकता और संस्कृतिके ऊपर आक्रमण करने आयी हैं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि ये भावुक भागवद्भक्त हमारे सामने आज इहलोक और परलोकके बीच महान् सेतु-निर्माताके रूपमें अवस्थित हैं और उनके इस कार्यके कारण हमारा सिर उनके सामने अवनत है और सदाके लिये हम उनके कृतज्ञ और ऋणी हैं। भगवान् करें कि ऐसे साधक और सिद्ध पुरुष हमारे देशमें सदा ही आविर्भूत हों और अपनी साधना और सदनुभूतिसे हमारी इस भक्ति और प्रेमकी भूमिको उर्वर बनायें।

भक्तिकी अति सुन्दर परिभाषा नारदभक्तिसूत्रमें की गयी है—'भगवान्में परम प्रेम ही भक्ति है'। प्रह्लादने प्रभुसे किसी लौकिक लाभ या समृद्धिके लिये प्रार्थना नहीं की, केवल शुद्ध और अहैतुकी भक्तिभावकी याचना की। उन्होंने कहा—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

'जो सामान्य प्रीति अविवेकी लोगोंकी विषयोंमें होती है, तुम्हारा स्मरण करते समय मेरे हृदयसे तुम्हारे प्रति वैसी ही दृढ प्रीति कभी दूर न हो।' क्या हम दक्षिणेश्वरके सन्त (रामकृष्ण परमहंस) के जीवनमें, दक्षिणेश्वरके उस मन्दिरमें माँ कालीके दर्शनके लिये इस प्रकारकी तीव्र आकाङ्क्षा-

का दर्शन नहीं करते और क्या हम नहीं देखते कि अन्तमें जब वे माँ कालीके हाथमें लटकती हुई कृपाणको लेकर आत्मघातके लिये तैयार होते हैं, तब किस प्रकार माँ काली उनके सामने प्रकट हो जाती हैं ? अहा ! उनको उस समय कैसा अपूर्व आनन्द प्राप्त हुआ होगा । वे अपने भक्तोंसे कहा करते थे कि 'भगवान्‌की प्राप्ति इसी जन्ममें हो सकती है, यदि साधकमें वैसा ही गहरा प्रेम हो, जैसा विषयी लोगोंका अपनी विषय-सम्पत्तिके लिये होता है; वैसा ही श्रद्धा और विश्वास हो, जैसा पतिव्रता स्त्रीको अपने पतिके प्रति होता है तथा *वैसा ही स्नेह हो, जैसा स्नेह माताके हृदयमें शिशुके लिये* होता है ।'

भक्त स्वयं शक्कर बनना नहीं चाहता, बल्कि शक्करका स्वाद लेना चाहता है—यह कहावत लोगोंमें प्रचलित है । उसे अपने इष्टके साथ पूर्ण अभेद प्राप्त करनेकी चाह नहीं होती, यद्यपि ज्ञानीका लक्ष्य यही होता है । भगवान् असीम प्रेमके वश होकर अपने शिशुओं (भक्तों) के सामने प्रकट होते हैं और उनको वह असीम आनन्द और शान्ति प्रदान करते हैं, जिसकी कल्पना करना भी मानवीय शक्तिके परे है—

> चिन्मयस्याद्वितीयस्य निर्गुणस्याशरीरिणः ।
> उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

'ब्रह्म जो चिन्मय है, अद्वितीय है, निर्गुण है, अशरीरी है, भक्तोंके लिये साकार रूप ग्रहण करता है ।' भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

> क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
> अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥
> (१२।५)

'अव्यक्तमें जिनका चित्त आसक्त है, उनको अधिक क्लेश होता है; क्योंकि देहधारीके लिये अव्यक्त गतिको प्राप्त करनेमें बहुत कठिनाई होती है ।'

यह देखनेमें आता है कि प्रत्येक भक्त अपने अन्तरात्माकी पुकारके अनुसार अपना पथ चुनता है एवं तदनुसार विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायोंके प्रवर्तक आचार्योंके दिखलाये हुए मार्गोंका अनुसरण करके अपने इष्टदेवका दर्शन प्राप्त करता है । समन्वय और सामञ्जस्यके परिचायक श्रीरामकृष्ण परमहंसके जीवनमें हम देखते हैं कि उन्होंने विभिन्न धर्म-सम्प्रदायोंके साधनपथका अनुसरण किया तथा विभिन्न देवताओं और देवियोंके दर्शन प्राप्त किये । उन्होंने माँ कालीसे प्रार्थना की थी—'माँ ! मैं भक्तराज बनूँगा ।' फिर वे माँसे प्रार्थना करते रहे—'माँ ! मैं किसी भी भौतिक ऐश्वर्यको नहीं चाहता और न मुझे मुक्तिकी ही अभिलाषा है । क्या तुम मुझको शुद्धाभक्ति प्रदान करोगी ?'

यह वह भक्ति नहीं है, जिसको साधारणतः लोग 'भक्ति' समझते हैं । यह पराभक्ति है, जो भगवत्प्राप्तिके पश्चात् ही आविर्भूत होती है । श्रीरामकृष्ण उपदेश देते समय कहा करते थे—'भक्तिमें लग जाओ; तुम जो कुछ चाहते हो, माँ काली तुम्हें प्रदान करेंगी; यही नहीं, वे तुम्हें पराभक्ति भी प्रदान करेंगी । बिल्लीके बच्चेके समान बनो और, जिस प्रकार बिल्ली अपने बच्चोंकी देखभाल करती है और उन्हें विपत्तिसे बचाती है, उसी प्रकार मेरी माँ काली अपने बच्चोंकी देखभाल करती हैं ।' भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

> तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
> ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
> (१० । १०)

'उन सदा संलग्न रहकर प्रीतिपूर्वक भजन करनेवालोंको मैं वह बुद्धियोग प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझको प्राप्त होते हैं ।'

पराभक्तिके सम्बन्धमें श्रीरामकृष्णकी धारणा बड़ी मनमोहक और उदात्त है । वैष्णव धर्मके पाँचों महान् भावों—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—की उन्होंने साधना की और उनमेंसे प्रत्येकमें अति अल्पकालमें सिद्धि प्राप्त की । मधुरभावकी साधना करते समय उनकी मानसिक स्थितिमें ही नहीं, उनके शारीरिक प्रकृतिमें कल्पनातीत परिवर्तन दीख पड़ा । ऐसा लगता था मानो वे ब्रजकी श्रीमती राधा ही बन गये, और उस समय एकमात्र श्रीकृष्णमय हो गये ।

प्रभुके सच्चे भक्तके रूपमें उन्होंने अपने जीवनसे यह दिखला दिया कि ईश्वर हम सब लोगोंके इतने समीप हैं कि हम उनसे सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं, उन्हें देख सकते हैं और उनसे बातें कर सकते हैं । भगवान्‌को भी अपना भक्त प्रिय है, इतना अधिक प्रिय है कि यदि भक्त एक पग उनकी ओर बढ़ता है तो प्रभु स्वयं उनकी ओरसे दो कदम उस भक्तकी ओर बढ़ते हैं । प्रभुका अपने शिशुओंके प्रति असीम प्रेम है और माताके समान उन सबको वे अपनी गोदमें उठा लेते हैं । वर्ण, रंग, धर्म, जाति तथा व्यक्तिगत उत्कर्ष-अपकर्षका विचार नहीं करते ।

श्रीरामकृष्णने भक्तिको बहुत सुगम बना दिया है । 'धर्मका मार्ग सरल है' यह उनके जीवनकी विशिष्ट शिक्षा है। यही विशिष्ट संदेश था, जिसे उन्होंने लोगोंके सम्पूर्ण शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक रोगोंकी निवृत्तिके लिये [illegible] प्रदान किया था । बंगालके सुप्रसिद्ध नाटककार एवं अभिनेता

स्व० श्रीगिरीशचन्द्र घोषसे, जो उनके शिष्य थे, एक बार उन्होंने कहा था—'एक बार प्रातः और एक बार सायं प्रभुकी वन्दना कर लिया करो—बस, इतना ही पर्याप्त है।' परंतु उन्हें इतने अधिक काम रहते थे कि उन्हें भय लगा कि कदाचित् वे उस छोटी-सी आध्यात्मिक साधनाको भी नियमितरूपसे करनेके लिये समय नहीं निकाल पायेंगे; अतः इसके लिये भी उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट की। अन्तमें श्रीरामकृष्ण परमहंसने गिरीशबाबूसे कहा कि 'तुम मुझे आत्म-समर्पण कर दो, मैं तुम्हारा सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिये लेता हूँ।' यह घटना हमें उस ऐतिहासिक प्रसङ्गका स्मरण दिलाती है, जब श्रीकृष्णने अर्जुनको निम्नाङ्कित शब्दोंमें आत्मसमर्पण करनेके लिये कहा था—

> अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
> मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥
>
> (गीता १२। १०)

'यदि तुम अभ्यास करनेमें भी असमर्थ हो, तो मदर्थ कर्म करनेमें लग जाओ; मेरे लिये कर्मोंको करते हुए भी तुम सिद्धि प्राप्त कर लोगे।'

प्राग्-ऐतिहासिक कालमें किसी अज्ञात ऋषिके द्वारा आविष्कृत 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' अर्थात् एक ही नित्य सत्य वस्तु (परमात्मा) को ज्ञानी लोग अनेक नामोंसे पुकारते हैं—इस महान् सिद्धान्तकी ही पुनरावृत्ति गत शताब्दीमें भारतमें प्रचलित विभिन्न सम्प्रदायोंद्वारा प्रदर्शित तथा प्रचारित बहुसंख्यक मार्गोंके अनुसरणसे प्राप्त होनेवाली अपूर्व ईश्वरानुभूतिमें हमें दीख पड़ती है। प्रत्येक सच्चा भक्त जो अपने इष्ट देवताके दर्शनके लिये लालायित हुआ, अन्तमें उसकी कामना पूरी हुई, जिसके फलस्वरूप उसने प्रभुका न केवल अपने भीतर ही दर्शन किया, बल्कि उनको सर्वत्र व्याप्त देखा। अतएव अपने इष्ट देवताकी महिमाका गान उसने अपने ढंगसे किया। सभी भाग्यवान् भक्तोंके बारेमें यही बात है। यहाँ वह चमत्कारपूर्ण सिद्धान्त हमारे सामने आता है, जो हमें यह सिखलाता है कि किसी भी सम्प्रदायके द्वारा परम तत्त्वको प्राप्त किया हुआ भक्त अपने इष्टदेवतामें पूर्णतः लीन हो जाता है, जिसके कारण वह कहता है कि उसका अपना ईश्वर ही एकमात्र सर्वव्यापी ईश्वर है। निस्संदेह गम्भीरतम ध्यान (समाधि) की अवस्था हो उसे अद्वितीय सत्के रूपमें अपने इष्टदेवकी अनुभूति कराती है। परंतु दक्षिणेश्वरके इस भाग्यशाली पुरुषको तो समाधिकी विभिन्न अवस्थाओंमें एक-एक देवी या देवताका दर्शन हुआ, जिसके फलस्वरूप उनको यह दृढ़ विश्वास हो गया कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर एक ही हैं, यद्यपि विभिन्न उपासकोंके स्वभाव और रुचिके अनुसार उनके (भगवान्‌के) नाम और रूपमें विभिन्नता आती है। एक ही भगवान् शैवोंको सच्चिदानन्द शिवके रूपमें, वैष्णवोंको सच्चिदानन्द विष्णुके रूपमें और शाक्तोंको सच्चिदानन्दमयी भगवती कालीके रूपमें दर्शन देते हैं। श्रीरामकृष्ण परमहंसने देखा कि उनकी माँ काली केवल दक्षिणेश्वर-मन्दिरके गर्भगृहमें ही नहीं हैं, बल्कि वे मानवरूप चलते-फिरते मन्दिरोंमें भी विराजमान हैं। अतएव उन्होंने यह बतलाया कि मनुष्य भगवान्‌का परम मन्दिर है और इस रूपमें उसका सब प्रकारसे आदर होना चाहिये। इसमें कर्मका यह महान् रहस्य छिपा हुआ है, जो प्रत्येक मनुष्यको संसारमें पूर्ण जीवन बिताने और समय पूरा हो जानेपर भगवद्धाममें प्रवेश करनेके लिये समर्थ बनाता है। इसे समझ लेनेपर मनुष्यको मुक्ति या भगवत्प्राप्तिके लिये वनमें या पहाड़की गुफामें जानेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। वह जगत्‌में ही रहेगा, पर जगत्‌का होकर नहीं।

मेरे विचारसे संसारको श्रीरामकृष्ण परमहंसकी सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने सामञ्जस्य और समन्वयका संदेश दिया तथा मनुष्यमें भगवान्‌को देखनेकी बात सुझायी, जिसपर इस क्रान्तिके युगमें मानव-जातिका संरक्षण निर्भर करता है। कुछ लोगोंको लगता है कि आणविक शस्त्रोंके आविष्कारसे प्रलयकी यह विभीषिका हमारे सिरपर आ गयी है, जिसमें मनुष्य, पशु तथा पेड़-पौधोंका सर्वथा नाश हो जायगा। परंतु मुझे तो ऐसा लगता है कि भगवान् नहीं चाहते कि उनकी संतान इस संसारसे नेस्त-नाबूद हो जाय, बल्कि वे यह चाहते हैं कि उनके बच्चे दुर्घर्ष तथा अखण्ड, शाश्वत शान्ति और आनन्दका जीवन व्यतीत करें। अतएव मेरे विचारसे तो बहुत शीघ्र एक महान् और अपूर्व अभ्युदय-का अविर्भाव होनेवाला है, जिसमें इस संसारके लोग यह अनुभव करेंगे कि मानव-आत्मा स्वरूपतः भगवद्‌रूप ही है तथा परस्पर शान्ति, सौहार्द और प्रेमसे रह सकेंगे। तब स्वर्ग हमारे इस भूमण्डलपर अवतरित होगा और चलते-फिरते देवी-देवता हमारे बीच निवास करेंगे। सर्वशक्तिमान् प्रभुसे हमारी प्रार्थना है कि वह दिन शीघ्र इस संसारको देखनेके लिये मिले। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

श्रीअरविन्द-योगकी साधनामें भक्ति

(लेखक—पं० श्रीजगन्नाथ [illegible])

जगन्माता भगवती आद्या शक्तिके अनेकानेक रूपोंमेंसे चार महाशक्तियोंका निरूपण श्रीअरविन्दने अपनी पुस्तक 'माता'में किया है और आगे कहा है, 'माँ भगवतीके और भी कई महान् रूप हैं, जिनमें इस योगकी सिद्धिके लिये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वह है, जो माताके परम दिव्य प्रेमसे प्रवाहित होनेवाले रहस्यमय परम उल्लासमय आनन्दका मूर्तरूप है। यह वह आनन्द है, जो विज्ञानचैतन्यके उच्चतम शिखर और जड प्रकृतिके अधस्तम गह्वरके बीचका महदन्तर मिटा सकता और दोनोंको मिला सकता है। अनुपम परम दिव्य जीवनकी कुंजी इसी आनन्दमें है और अब भी यही आनन्द अपने अव्यक्त धामसे विश्वकी अन्य सभी महाशक्तियोंके कार्यका आधार बना हुआ है।' बिना नामनिर्देश अथवा नामकरणके श्रीअरविन्दने जिस आनन्दमयी प्रेम-महाशक्तिका इस रूपमें संकेतमात्र किया है, उसीका कुछ आभास 'माताके साथ संलाप' (Conversations with the Mother)नामक ग्रन्थमें भी मिलता है। माताजी कहती हैं कि 'प्रेम एक विश्वव्यापक महाशक्ति है। यह स्वतःसिद्ध है। इसका प्रवाह सर्वथा स्वतन्त्र और उन पात्रोंसे सर्वथा स्वतन्त्र है, जिनमें अथवा जिनसे होकर यह प्रकट होता है। साधारणतः लोग जिसे प्रेम कहते और जिसे पुरुषगत या व्यक्तिगत समझते हैं, वह केवल इस विश्वव्यापिनी शक्तिको ग्रहण करने और प्रकाशित करनेकी व्यक्तिगत पात्रता है।...... यह एक महान् चिन्मयी शक्ति है, जिसका प्रवाह पौधोंमें है, पशुपक्षियोंमें है। पशुओंमें इसकी सत्ता अनायास देखी जा सकती है। इस महान् दैवी शक्तिके जो विकृतरूप देखनेमें आते हैं, वे परिसीमित पात्र-यन्त्रकी क्षमता, अक्षमता, अज्ञान और स्वार्थपरताके उत्पन्न होते हैं। प्रेमरूपा जो सनातनी शक्ति है, उसमें कोई आशा-तृष्णा नहीं, कोई कामना-कामना नहीं—इसकी अपनी विशुद्ध गति भगवान्के साथ आत्म-मिलनकी ओर है। मिलनकी यह खोज इतनी निरपेक्ष है कि उसमें अन्य किसी वस्तुका कोई ध्यान नहीं रहता। भागवत प्रेम आत्मदान करता है और चाहता कुछ नहीं।

ध्यान भगवत्सम्मिलनका प्रकाश है और प्रेम उस मिलनका हृदय। भगवान्की ओर जीवकी यात्रामें एक स्थान ऐसा आता है, जहाँ दोनों एक होते हैं और इनमेंसे किसीको हम दूसरेसे पृथक् नहीं कर सकते।...... भागवत प्रेम जब किसी मनुष्यमें जागता है, तब यह पता चल जाता है कि हम जन्म-जन्मान्तरसे अव्यक्त न जानते हुए भी किस चीजके लिये लालायित थे। अज्ञानके सब रूप और विकार सभी उससे नष्ट होने लगते हैं और उनके स्थानपर एक ही अनन्त भागवत प्रेमका उदय होता है, जो भगवान्के लिये होता है।'

श्रीअरविन्दकी सम्पूर्ण योगसाधनामें भगवद्भक्ति या प्रेम ही साधन और साध्य है। श्रीअरविन्दकी उपासना केवल अव्यक्त ब्रह्मकी नहीं, प्रत्युत उन भगवान्की है, जिन्हें गीता समग्र भगवान् कहती है, जो ज्ञानस्वरूप हैं और विराट्स्वरूप भी, जो अव्यक्त हैं साथ ही व्यक्त भी। अक्षर ब्रह्मके साधकके लिये चाहे भक्तिका कुछ काम न हो, क्योंकि वह कर्म और भक्तिको अपने ज्ञानमार्गसे पृथक् देखता है। पर समग्र भगवान्की उपासनामें भक्ति और भक्तियुक्त कर्मके बिना एक पग भी आगे बढ़ना सम्भव नहीं। फिर श्रीअरविन्द समग्र भगवान्का केवल साक्षात्कार पाकर, केवल उनके विश्वरूपका दर्शन करके ही बैठ नहीं जाते, प्रत्युत यह जानना चाहते हैं कि इस विश्वके विश्वपतीकी निरन्तर होनेवाली इस लीलामें अपना कर्मांश क्या है, और उसे पूरा करना चाहते हैं। जानते हैं, करते हैं, उसीमें लगे रहते हैं। यह आनन्दमयी भक्तिकी ही शक्ति है, जो उनसे यह महाप्रयास कराती है। वे इस योगको 'पूर्णयोग' कहते हैं। श्रीअरविन्द-योगके इस कल्पतरुकी ओर, श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुनकर गोपियोंकी तरह, जो इस योगके साधन-कुञ्जमें दौड़ पड़ते हैं, उन्हींके लिये श्रीअरविन्दकी योग-साधना है।

इस साधनाके तीन रूप हैं—अभीप्सा, त्याग और आत्मसमर्पण। भगवान्को पाने और भगवान्को उपलब्धिकालके रूपमें होनेवाली विश्व निरन्तरकी लीलामें अपना कर्मांश जानकर उसे पूरा करनेकी अदम्य, अविरत लालसा ही अभीप्सा है। दैहिक विषय-भोग-सामग्री जन्म-जन्मान्तरसे चले आते हुए राग-अराग, शुभ-अशुभ संस्कार निज आधारगत विकार-दुर्भाव, वासना-कामना—इन सबका त्याग किंवा वासना ही त्याग है। जिनसे हम अपनी चेतनामें विशुद्ध [illegible] हैं और जिनसे ज्ञानपूर्वक सम्बन्ध जोड़ना है, उस परम कल्याणकर परम प्रेमस्वरूप और परम आनन्दमय भगवान्के चरणोंमें अपने-आपको समर्पित कर देना ही आत्मसमर्पण है। यह

आत्मसमर्पण भक्तिकी ही क्रिया है, जो भक्तिके बिना सम्भव नहीं। इतना सर्वांगपूर्ण यह आत्मसमर्पण हो कि हम और हमारा पृथक् रूपसे कुछ रह न जायँ। यह एक दिनमें नहीं होता, क्रमशः ही सम्भव होता है। आरम्भमें केवल एक श्रद्धा होती है। कालान्तरमें यह श्रद्धा भक्तिमें परिणत होती है। जैसे-जैसे अभीप्साके अनुसार त्याग होता चलता है, वैसे-वैसे आधार शुद्ध होता और भक्तिका अधिकाधिक उदय होता है।

'जगत्में जो कुछ भी होता है, उसमें भगवान् अपनी शक्तिका आश्रय किये हुए प्रत्येक कार्यके पीछे रहते हैं।'

इस योगमें भी श्रीअरविन्द कहते हैं, 'भगवान् ही साधक भी हैं और साधना भी। उन्हींकी शक्तियाँ हैं जो अपनी ज्योति, सामर्थ्य, ज्ञान, चैतन्य और आनन्दसे आधार (मन-प्राण शरीर) के ऊपर कर्म किये चलती हैं और जब यह आधार उनकी ओर उन्मुख होता है, तब ये ही अपनी दिव्य शक्तियाँ उसमें भर देती हैं, जिनसे यह साधना हो पाती है। परंतु जबतक निम्न प्रकृति सक्रिय है तबतक साधकके वैयक्तिक प्रयत्नकी आवश्यकता रहती ही है।' यह समर्पण जितना ही पूर्ण होता है, उसी अनुपातमें साधकको यह अनुभव होता है कि 'भागवती शक्ति ही साधना कर रही है।' इस साधनाकी चरम अवस्थामें श्रीअरविन्द कहते हैं, 'तुम यह अनुभव करोगे कि तुम सचमुच ही माताके शिशु हो, उन्हींकी चेतना और शक्तिके सनातन अंश हो। सदा ही वे तुम्हारे अंदर रहेंगी और तुम उनके अंदर। उन्होंने ही तुम्हें एक व्यक्ति और शक्तिके रूपमें अपने अंशसे निर्माण किया है, अपने अंदरसे लीलाके हेतु बाहर प्रकट किया है और फिर भी सदा ही तुम उन्हींके अंदर सुरक्षित हो, उन्हींकी सत्तासे सत् हो, उन्हींके चैतन्यसे चित् हो, उन्हींके आनन्दसे आनन्द हो।'

इस प्रकार प्रेमका उदय होकर वह निरन्तर वर्धमान होता है। प्रेमकी कोई सीमा नहीं। प्रेमानन्दस्वरूप भगवान् जैसे अनन्त हैं, वैसे ही उनकी प्रेमानन्द-लीला भी अनन्त है। 'योग-समन्वय' ग्रन्थमें श्रीअरविन्दने प्रेमके कुछ भावोंका वर्णन किया है, जो रागानुगा भक्तिके ही भाव हैं।

निर्गुण निराकार परब्रह्मके अंतर्दर्शन होनेवाले परम आनन्दमें भी उन्होंने भक्तिके दर्शन किये हैं। योगकी प्रचलित पद्धतियोंमें ऐसी मान्यता है कि आत्यक ब्रह्मका अनु-संधान एक ऐसे केवलके लिये किया जाता है, जिसमें न कोई उपासक है न उपास्य, केवल एकता और अनन्तताके अनु-भवका ही आनन्द शेष रहता है। परंतु 'आध्यात्मिक चेतना-के चमत्कारोंको ऐसे कठोर तर्कमें नहीं बाँध देना चाहिये। अनन्तकी सत्ताका जब हम पहले-पहल अनुभव करने लगते हैं, तब उस स्पर्शका ग्रहण एक प्रकारकी आराधनाके ही भावसे होता है; क्योंकि वस्तुतः जिसको हो रहा है, उसका व्यक्तित्व अनन्त नहीं, सान्त ही है। फिर हम अनन्तको एकत्व और आनन्दकी आध्यात्मिक सत्ता ही नहीं, देवाधिदेवकी अनिर्वचनीय सत्ता भी समझ सकते हैं। तब भी प्रेम और उपासनाके लिये अवकाश प्राप्त हो जाता है। जब हमारा व्यक्तित्व इसके साथ एकत्वमें विलीन होता दीखता है, तब भी वहाँ वे एक ऐसे व्यक्तिरूप भगवान् हो सकते हैं और वस्तुतः होते ही हैं, जो विराट् या परात्परमें एक प्रकारके मिलनके द्वारा घुले मिले रहते हैं। उस मिलनमें प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद—यह त्रिपुटी आनन्दो-द्रेककी समन्वयात्मक अनुभूतिमें निमग्न हो जाती है। पर उस एकत्वके भीतर प्रसुप्त-अवस्थामें तीनों ही अब भी विद्यमान रहते हैं।' परंतु श्रीअरविन्दकी अपनी योग-साधना-का यह मार्ग नहीं है।

श्रीअरविन्दकी योग-साधनामें भक्ति व्यक्त भगवान्की है, जो अव्यक्त होनेके साथ ही व्यक्त भी हैं, समग्र हैं। 'यदि कोई भगवान्का सच्चिद्रूप एवं मानसिक शरीर देख सके तो इससे भगवत्प्राप्तिमें बहुत अधिक सामीप्य और माधुर्य आ सकता है। ईश्वरविषयक भावनाको हम विश्वास रूप देते हैं, एक बहुविध और सर्वांगपूर्ण सम्बन्धके द्वारा घनिष्ठ वैयक्तिक रूप देते हैं, भगवान्की नित्य निरन्तर सम्पूर्ण सत्ताके समक्ष उपस्थित रहें और अपनी सारी सत्ता उनपर उत्सर्ग कर दें, जिसमें वे हमारे निकट और हमारे भीतर और हम उनके संग और उनके भीतर निवास करें। सभी वस्तुओंमें सर्वत्र उन्हींका चिन्तन और सदा सर्वदा सर्वत्र उन्हींके दर्शन करना इस भक्तियोगका अनिवार्य अङ्ग है। जब हम भौतिक पदार्थोंपर दृष्टिपात करें, तब उनके अंदर हमें अपने परम प्रेमास्पदको देखना होगा; जब हम मनुष्यों और जीवोंपर दृष्टिपात करें, तब उनके अंदर भी हमें उन्हींको देखना होगा और उनके साथ अपने सम्बन्धमें हमें यह देखना होगा कि हम उन्हींके विविध आकारोंके साथ सम्बन्ध स्थापित कर रहे हैं।' केवल स्थूल रूपमें नहीं ही नहीं, प्रत्युत 'अन्तःस्थ गुप्त देवाधिदेवके प्रति भी जिनकी देवी हो गुप्त रहते हैं। सभी देवताओंमें हमें उन्हीं एक ईश्वरको देखना होगा, जिन्हें

हम अपने हृदय और अपनी सम्पूर्ण सत्तासे पूजते हैं। वे उन्हींके देवस्वरूप आकार हैं। अपने आध्यात्मिक आलिङ्गनको इस प्रकार विस्तारित करते हुए हम एक ऐसे बिन्दुपर जा पहुँचते हैं, जहाँ सब कुछ वे ही होते हैं और इस चेतनामय आनन्द हमारे लिये संसारको देखनेका सामान्य अभ्यस्त ढंग बन जाता है। इससे उनके साथ हमारे मिलनमें सार्वभौमिकता आ जाती है।'

आभ्यन्तरिकरूपमें 'प्रियतमकी मूर्ति हमारे अन्तर्नयनके लिये' प्रत्यक्ष होनी चाहिये। 'वे हमारे अंदर ऐसे बस जायँ जैसे अपने ही घरमें हों, और अपनी संनिधिकी मधुरिमासे हमारे हृदयोंको अनुप्राणित करें। सखा, स्वामी और प्रेमीके रूपमें वे हमारी सत्ताके शिखरसे हमारे मन प्राणकी समस्त चेष्टाओंको अभिव्यक्त करें। उनपरसे वे हमें विश्वके अंदर अपने साथ एकीभूत करें।' यह सब केवल उस समय नहीं जब कि बाह्य व्यवहारोंसे अलग होकर हम 'सर्वथा अपने भीतर चले जाते हैं, न अपने नियत मानवीय कार्योंका त्याग करके ही'; प्रत्युत 'हमें अपने सभी विचारों, आवेगों, भावों और कार्योंको उनकी स्वीकृति या अस्वीकृतिके लिये उनके सामने प्रस्तुत करना होगा, अथवा यदि हम अभी इस बिन्दुतक नहीं पहुँच सकते तो हमें इन्हें अपनी अभीप्साके यज्ञमें उनके प्रति अर्पित करना होगा, जिससे वे हमारे अंदर अधिकाधिक अवतीर्ण होकर इन सबमें उपस्थित रह सकें और इन्हें अपने समस्त संकल्प और शक्ति, प्रकाश और ज्ञान, प्रेम और आनन्दसे परिप्लावित कर सकें। अन्तमें हमारे सभी विचार, भाव, आवेग और कर्म उन्हींसे निःसृत और अपने किसी दिव्य बीज और रूपमें परिवर्तित होने लगेंगे। अपने सम्पूर्ण अन्तर्जीवनमें हम अपनेको उन्हींकी सत्ताके अङ्गरूपमें जान लेंगे और अन्ततोगत्वा हमारे उपास्य भगवान्‌की सत्तामें और हमारे अपने जीवनोंमें कोई भेद ही नहीं रह जायगा।'

वैदिक जीवनके 'दुःख ताप और शारीरिक पीड़ाएँ', श्रीअरविन्द कहते हैं, उनके वरदान बन जायँ! 'आनन्दमें परिणत हो जायँ और दिव्य सम्पर्ककी अनुभूतिसे चालित होकर आनन्दमें विलीन हो जायँ। प्रभु प्रेमीके लिये दुःख-दर्द उनसे मिलनेके साधन और उनके स्पर्शके चिह्न बन जाते हैं और अन्तमें जैसे ही उनकी प्रकृतिसे हमारा मिलन इतना पूर्ण हो जाता है कि हमारी निम्न आनन्दके ये आवरण उसे छिपा ही नहीं सकते, वैसे ही ये समाप्त हो जाते हैं, आनन्दमें रूपान्तरित हो जाते हैं।'

गुरु, स्वामी, सखा आदि सभी सम्बन्ध श्रीभगवान्‌के साथ भक्तके हो सकते हैं। पर जो सम्बन्ध इन सब सम्बन्धोंको अपने अंदर समाविष्ट कर लेता और इन सबको एक कर देता है 'वह प्रेमी और प्रियतमका सम्बन्ध है।' गुरु और मार्गदर्शकके रूपमें वे 'हमें ज्ञानकी ओर ले जाते हैं। उत्तरोत्तर वे ही हमारे अंदर विचारक और द्रष्टा बनते जाते हैं। हम अपने लिये सोचना और देखना छोड़ देते हैं, केवल वे ही जो कुछ हमारे लिये सोचना चाहते हैं सोचते हैं, वे ही जो कुछ हमारे लिये देखना चाहते हैं देखते हैं। तब गुरु प्रेमीमें पूर्णरूपेण परिवर्तित हो जाते हैं।' स्वामीरूपमें उन्हें जानते हुए हम 'उनकी इच्छाके अनुसार उसी प्रकार चलते हैं, जिस प्रकार वार गायककी अङ्गुलिके संकेतपर सुर निकलता है। यह बनना आत्मसमर्पण और समनकी उच्चतर अवस्था ही है। परंतु यह एक सजीव और प्रेमपूर्ण कर्म होता है और इसका परिणाम यह होता है कि हमारी सत्ताकी सम्पूर्ण प्रकृति ईश्वरकी दासी बन जाती है, तथा अपने उल्लासपूर्ण दासत्वमें हर्षका अनुभव करती है। प्रसाद आनन्दके साथ बिना अनुभव किये वह वह सब करती है, जो वे इससे कराना चाहते हैं और वह सब वहन करती है जो वे इससे वहन कराना चाहते हैं। क्योंकि जो कुछ यह वहन करती है, वह प्रियतम सखाका ही भार है।' सखारूपसे वे हमारे 'सहाय और संकटमें परामर्शदाता, उद्धारक एवं रक्षक हैं। शत्रुओंसे बचानेवाले शूरवीर योद्धा हैं, जिनकी ढालकी आड़में हम युद्ध करते हैं; वे सारथि हैं, हमारे पथके मार्गदर्शक।' इस सम्बन्धको जोड़कर हम 'एकाएक उनकी अधिक निकटता और घनिष्ठता प्राप्त कर लेते हैं; वे हमारे सङ्गी और नित्य-सहचर हो जाते हैं, जीवनके खेलके साथी। पर इतना होनेपर भी अभी एक प्रकारका भेद रहता है।'

भगवान्‌के साथ निकटतम सम्बन्ध प्रियतम और प्रेमीका है। 'प्रियतम हमें चोट पहुँचा सकता, त्याग सकता और हमपर कुपित हो सकता है—यहाँतक प्रतीत हो सकता है कि वह हमारे साथ विश्वासघात कर रहा है; पर फिर भी हमारा प्रेम उसके साथ स्थायी ही नहीं रहता, प्रत्युत इन विरोधोंसे वह बढ़ता है, इन सबके द्वारा भी यह प्रेमी हमारा तारक ही बना रहता है और जो कुछ भी वह करता है, वह सब 'हमें अन्तमें पता चलता है कि हमारी सत्ताके प्रेमी और सहायकने ही हमारी आत्मपूर्णता और हमारे अंदर अपने आनन्दके लिये किया। ये विरोध और अधिक घनिष्ठताकी ओर ही ले जाते हैं।' भगवान् हमारी सत्ताके माता पिता भी हैं—'उत्पादक, रक्षक

एवं इसका पालन-पोषण' करते और 'शिशु भी', जो हमारी इच्छाके अनुसार उत्पन्न होते और हम जिन्हें पालते-पोसते और बढ़ाते हैं।' ये सब भाव प्रेमी भगवान् अपनाते हैं।''

प्रेम या भक्तिके वर्णनका कोई कहाँतक विस्तार करे। श्रीअरविन्द कहते हैं कि 'दिव्य प्रेमके आनन्दकी सम्पूर्ण परम एकता और सम्पूर्ण शाश्वत विविधताका वर्णन करना मानवोच्चारित भाषाके लिये सम्भव ही नहीं है।'

'प्रेम और आनन्द सत्ताके अन्तिम शब्द हैं—रहस्योंके रहस्य, गुह्यतम गुह्य।'

'ऐसी कोई चीज नहीं है, जो ईश्वरप्रेमीकी पहुँचके परे हो अथवा जो उसके लिये अदेय हो; क्योंकि वह दिव्य प्रेमीका प्रेमपात्र और प्रियतमकी आत्मा है।'

एक अलौकिक भक्त श्रीश्रीसिद्धिमाता

[भूमिका]

(लेखक—महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराज एम्० ए०, डी० लिट्०)

इसमें जो छोटा-सा निबन्ध दिया जा रहा है, वह वर्तमान युगके एक विशिष्ट भक्तके जीवनका संक्षिप्त इतिहास है। किसी कविने कहा है कि लोक-लोचनसे अदृश्यरूपमें कितने सुगन्धित पुष्प प्रस्फुटित होते हैं, इसका पता बहुत ही कम लोगोंको होता है। इस निबन्धमें जिस भक्तकी जीवन-कथा वर्णित है, उनको जन-समाजमें बहुतोंने नहीं पहचाना था; परंतु इस कारणसे उनके महान् जीवनकी विशिष्टतामें तनिक भी कमी नहीं आती। निबन्ध-लेखिका इस महान् जीवनके वृत्तान्तको बँगलामें तथा राष्ट्रभाषामें प्रकाशित करके भक्त-समाजमें धन्यवादकी पात्र हो गयी हैं।*

कौतूहली पाठक उनसे इस जीवनकी शिक्षा और आदर्शसे बहुत कुछ अवगत हो सकेंगे।

मुझे इन महिमामयी महात्मा महिलाका दर्शन करने तथा बहुत दिनोंतक उनका सत्सङ्ग करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनके सम्बन्धमें अपनी व्यक्तिगत धारणा, संक्षिप्तरूपमें होनेपर भी, स्वतन्त्रभावसे उपर्युक्त ग्रन्थकी भूमिकामें मैंने लिपिबद्ध की है। माताजी अति उच्चकोटिकी साधिका थीं—इसमें संदेह नहीं; तथा उन्होंने सिद्धि भी प्राप्त की थी—यह भी सत्य बात है। तथापि जगत्के अनेकों अनुसंधान करनेवाले भक्तोंको भी उनका पता न था। वे गुप्त थीं, और गुप्त रहना ही पसंद करती थीं। अपना प्रचार करना अथवा जगत्में अपनी ख्याति फैलाना उनके आदर्शके प्रतिकूल था। साधन-जीवनके प्रारम्भमें उन्होंने जिस महान् लक्ष्यको सामने रखकर अग्रसर होनेकी चेष्टा की थी, सिद्ध-जीवनकी समाप्तिमें उसी महान् स्तरमें स्थिति प्राप्त की थी। आत्म-साक्षात्कार तथा भगवत्-साक्षात्कारके सिवा मनुष्यके लिये अन्य कुछ भी प्रार्थनीय नहीं—इस बातको वे अपने जीवनके द्वारा स्पष्टरूपसे प्रदर्शित कर गयी हैं। सरल भावसे भगवान्की ओर लक्ष्य रखकर चलनेपर भगवान् भक्तका योगक्षेम वहन करते हैं और सारा अभाव दूर कर देते हैं।

माताजीको साधु-सङ्ग करनेका अवसर नहीं मिलता था, परंतु फिर भी भगवान्की कृपासे वह अभाव अपने-आप दूर हो गया था। कुमारी प्रथाके अनुसार तथा स्वभावज धर्मबुद्धिकी प्रेरणासे जो कुछ करना कर्तव्य था, उसे उन्होंने किया था। उसके बाद भगवान्की अनुग्रहशक्ति प्रकट हुई और उसने उनको पूर्ण आत्मसमर्पण स्वरूप प्रदर्शित किया। किसी ग्रंथ या गुरुकी सहायता उनको नहीं लेनी पड़ी। पर ग्रन्थ तथा भक्ति-साधनाका कोई भी रहस्य उनसे छिपा न था। उनको साक्षात् श्रीभगवान्के द्वारा अन्तर उपदेश प्राप्त होते थे।

वे इस अपार योगबलकी [illegible] नहीं थीं, तथापि योगका जो मुख्य फल है तथा भक्तकी जो चरम [illegible] है, वह उनको प्राप्त थी। उनका [illegible] छिपा न थी। यदि साधारण दैनिक [illegible] लेकर [illegible]

* 'मातृसिद्धि-प्रसङ्ग' (बँगला और हिंदी), [illegible] प्रणीत, महामहोपाध्याय श्रीगोपीनाथ कविराज, एम्० ए०, डि० लिट्० द्वारा लिखित भूमिकासहित। मूल्य—(बँगला) दो रुपये, तथा (हिंदी) दो रुपये चार आने।

दोनों पुस्तकें मिलनेका पता—

[illegible]।

(५१ [illegible]।

सत्ताके निकटवर्ती सभी भूमिका उनको दृष्टिगोचर हो गयी थी। वे बाह्य उपासनाके समय देव-देवीकी साकार मूर्तिका दर्शन कर सकती थीं, परंतु अपने हृदयमें उन्हें जो परम प्राप्तिका आभास और संकेत प्राप्त हुआ था, उसको पानेके बाद इस साकाररूपमें तल्लीन होना उनके लिये सम्भव नहीं रहा। उनके जीवनमें जिस प्रकार एक असाधारण वैशिष्ट्य था, उसी प्रकार उनके देहका भी एक वैशिष्ट्य था, जिसके फलस्वरूप देह इतना पवित्र हो गया था कि वह भगवत्स्वरूपके प्रतिबिम्बित होनेके एक अद्भुत द्वारके रूपमें परिणत हो गया था। स्थूल देहके ऊपर वैकुण्ठ लिपिसे युक्त नाना प्रकारके दिव्यरूप, चरण-कमल, वाणी, उपदेश, मन्त्र, बीज, गायत्री आदि प्रकाशित होते थे। यह सारी प्रकाशित वाणी साहित्यकी एक अतुलनीय सम्पद् है। उसमें भक्ति-साधनाके समस्त मार्ग उत्तम ढंगसे वर्णित हैं। यह वर्णन प्राञ्जल और मधुर भाषामें प्रकाशित हुआ था। इस 'भावाभेदी वाणी'से जगत्‌के अनेक साधक अन्धकारमें गन्तव्य पथका क्रम देख सकते हैं। यद्यपि माताजीके द्वारा प्रदर्शित पथ भक्ति-पथके सिवा और कुछ नहीं है, क्योंकि भजन ही उसका प्राण है, तथापि इस मार्गपर चलनेवालेके लिये ज्ञान और महाज्ञान बिल्कुल अपरिचित नहीं रहते। श्रीभगवान् गोविन्द मूर्तिमें प्रकट होकर उनको क्रमानुसार पथ-निर्देश करते हुए उपदेश दिया करते थे, तथा क्रमशः द्वैतभूमिसे अद्वैतभूमिमें आकर्षण करते थे। कुण्डलिनीको जगाकर मध्यवर्ती सूक्ष्म-पथमें ऊर्ध्वमुख संचालित करनेसे शिव-शक्तिका मिलन यथासमय अनिवार्यरूपसे हो ही जाता है। इसके बाद तुरंत ही ब्रह्मरन्ध्र प्रकाशित होता है। नित्य-लीला, मिलन-मिथुन, महामिलन—ये सब ब्रह्मसाक्षात्कारके पूर्वकी अवस्थाएँ हैं।

ब्रह्म-साक्षात्कारके बाद माताजीने पूर्णब्रह्म और परब्रह्मका साक्षात्कार करके महाशून्य अवस्थामें प्रवेश किया; और महाशून्यका भेद करनेके बाद परिपूर्ण ब्रह्मावस्थामें पहुँचकर उन्होंने आत्म-सिद्धि प्राप्त की। तब उन्हें परम तत्त्व साक्षात्कार हुआ। यहाँ माताजी कहा करती थीं कि परम तत्त्व साक्षात्कार करके अन्तमें उसमें प्रवेश करना—यही मानव-जीवनका परम लक्ष्य है। वे निरक्षर थीं; उन्होंने पण्डितों और साधुओंका सङ्ग भी विशेष नहीं किया था। उन्होंने भगवान्‌के फलस्वरूप भीतरसे ही ज्ञान और भक्तिका परम विकास प्राप्त किया था। यह बुद्धिका व्यापार नहीं है। अपितु आत्माकी स्वाभाविक स्फूर्ति और साधनाके फलस्वरूप श्रीभगवान्‌के अनुग्रहसे उन्होंने एक ऐसी अद्भुत अवस्था प्राप्त की थी कि समस्त विश्व और गोलोकधाम समय-समयपर उनके देहमें आंशिकरूपमें स्फुटित हो उठते थे। मन्त्र, बीज, जप, देव-देवी, पादुका, नाना प्रकारके उपदेश आदि ज्योतिर्मय आकार धारणकर देहमें प्रस्फुटित होते थे। मुक्ति-काम भक्त माताके पास उपस्थित होनेपर यह देख भी पाता था। उनके भक्तोंमें कोई-कोई विशेष उच्च अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं।

श्रीश्रीमाताजीके साधनकी धारा स्थूलरूपमें भक्ति-मार्ग कहकर ही वर्णित होने योग्य है; परंतु इस मार्गमें ज्ञान और विज्ञानको भी स्थान है, यह पहले ही कहा जा चुका है। वे अपने साधनक्रमको जिस भाषामें प्रकट करती थीं, वह यद्यपि ठीक-ठीक शास्त्रीय परिभाषाके अनुरूप नहीं होती थी, फिर भी शास्त्रके किसी सिद्धान्तके साथ उसका विरोध नहीं था। प्रत्येक साधक, शास्त्रीय शिक्षा प्राप्त न होनेपर, अपनी अलौकिक अनुभूतिको व्यक्तिगत भाषामें ही प्रकट करता है। शास्त्रीय विद्वान् लोग उसका शास्त्रके साथ समन्वय कर ले सकते हैं।

वर्तमान जगत्‌में इस प्रकारके एकनिष्ठ, स्वारस्यी साधक बहुत कम हैं और जो लोग इस साधनाके पथपर अग्रसर होकर पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं, उनकी संख्या तो अति विरल है। मेरा विश्वास है कि श्रीश्रीमाताजी इन अति विरल साधकमण्डलीमें ही उच्च स्थानपर आसीन थीं।

श्रीसिद्धिमाताका जीवन-वृत्तान्त

(लेखिका—श्रीयमुना देवी)

जिन अलौकिक भक्तके पवित्र जीवनकी कथा लिखनेके लिये मैं उद्यत हुई हूँ और जो भक्तमण्डलीमें सिद्धिमाताके नामसे परिचित थीं, उन्होंने प्रायः चौदह वर्ष पूर्व १२ वर्षतक काशीवास करके काशीपुरीमें ही मानवदेहका त्याग किया था। उनकी पूर्वावस्थाका नाम था—कात्यायनीदेवी।

बङ्गदेशके (वर्तमान पूर्व-पाकिस्तानके) अन्तर्गत यशोहर (जेसोर) जनपदके अन्तर्गत नड़ाइल सबडिवीजनमें मतिभङ्गा ग्राम निवासी मदनकुमार चट्टोपाध्याय की धर्मपत्नी रत्नसुन्दरी देवीके गर्भसे 'श्रीश्रीसिद्धिमाता'ने अपने मामाके घर नरेन्द्र जिलेके अन्तर्गत श्रीकृष्णपुर गाँवमें अनुमानतः

१२९२ (बँगला) संवत्के श्रावण मासकी शुक्लाष्टमी, मङ्गल-वारको जन्म ग्रहण किया था।

माँका शुभ नाम था 'कात्यायनी'। पुकारनेका नाम था सुखोदिनी। तदनुसार उनकी माता उनको आदरपूर्वक 'सुख-दाया' कहकर पुकारती थीं। माँकी माता एक धर्मशीला सात्त्विक प्रकृतिकी महिला थीं। वे प्रतिदिन नियमित पूजा-पाठ किये बिना जल-ग्रहण नहीं करती थीं। उनकी पूजाके आयोजनमें जिन फूलोंकी आवश्यकता होती, माँ वे सब जुटा दिया करती थीं। उस समय माँकी आयु चार वर्षकी थी। एक दिन माँने अपनी मातासे कहा—'माँ! तुम जो पूजा करती हो, उसका मन्त्र मुझे सिखला दो; मैं भी पूजा करूँगी।' उनकी माताने उनको बारबार मना करते हुए कहा—'तुम बच्ची हो, अभी तुम्हारा पूजा करनेका समय नहीं हुआ।' माँने उनकी बातपर ध्यान न देकर बारंबार आग्रह करना शुरू किया। बाध्य होकर माताने उनको 'राम-मन्त्र' का उपदेश दिया। इस मन्त्रको प्राप्त करके माँ इसका निरन्तर जप करने लगीं। सुनते हैं कि आठ ही वर्षकी अवस्थामें माँको श्रीभगवान् रामचन्द्रका साक्षात् दर्शन प्राप्त हुआ था। वे शैशवसे ही साम्प्रदायिक भेद-भावसे मुक्त थीं। सभी देवताओंकी वे समभावसे भक्ति करती थीं और किसीमें उनका विशेष पक्षपात नहीं था। उनको जैसे श्रीरामचन्द्रका दर्शन प्राप्त हुआ, वैसे ही श्रीश्रीजगदम्बाका दर्शन भी एका-धिक बार प्राप्त हुआ था।

श्रीश्रीमाँने कहा था कि जब उनकी अवस्था दस-ग्यारह वर्षकी थी, उस समय एक अद्भुत घटना घटी थी। उनके गाँवमें देवचरण भट्टाचार्य नामके एक दरिद्र ब्राह्मण वास करते थे। वे माँके चचेरे भाईके शिष्य थे। वे माँ कालीके भक्त थे। प्रतिदिन संध्या करनेके लिये बैठनेपर जबतक माँ कालीका दर्शन नहीं पा जाते, तबतक आसनसे नहीं उठते। एक दिन आसनपर बैठकर उन्होंने देखा कि माँ काली उनकी ओर पीठ करके खड़ी हैं। उन्होंने समझ लिया कि यह किसी महान् अमङ्गलकी सूचना है और घरमें सबको कह दिया कि जान पड़ता है उनकी आयु पूर्ण हो गयी है। इसके कुछ दिनों बाद ही वे हैजेसे आक्रान्त होकर मृत्यु-शय्यापर सो गये। मृत्युके दिन श्रीश्रीमाँ उनके घरके बाहर खड़ी थीं। वहाँ उन्होंने देखा कि माँ काली मैदानमें बाल बिखराये वेगसे इधर-उधर दौड़ रही हैं। कुछ देरके बाद वे माँके पास आकर मानो उन्हींको लक्ष्य करके बोलीं—'मैंने बहुत चेष्टा की, पर बचा न सकी।'

बचपनसे ही माँका भाव और ही ढंगका था। वे सखी-सहेलियोंको लेकर साधारण ढंगके खेल नहीं खेल सकती थीं। जब खेल खेलतीं, तब पूजा-पाठ तथा ठाकुरको भोग लगाने आदिके खेल ही खेलती थीं। किसी मन्दिरमें या अन्य किसी स्थानमें किसीको पूजा-पाठ करते देखतीं तो माँ वहाँ जाकर चुपचाप बैठकर तन्मय होकर पूजा आदि देखतीं।

अल्प वयसमें ही श्रीश्रीमाँका विवाह यशोहर जनपदके अन्तर्गत ब्राह्मणडांगानिवासी स्व० गिरीशचन्द्र मुखोपाध्यायके पुत्र स्व० कृष्णलोचन मुखोपाध्यायके साथ हो गया। विवाहके बाद भी माँकी प्रकृतिमें अथवा उनकी जीवन-धारामें कोई परिवर्तन नहीं दिखायी दिया। उनकी भक्ति, निष्ठा तथा आचार पूर्वके समान ही अक्षुण्ण रहे। उनके पतिदेव उच्च-शिक्षाप्राप्त न होनेपर भी सदाचार, विनयी, अध्यात्मानुरागी तथा महान् कर्मवीर थे। यदि कहें कि विवाहबन्धनमें वे एक प्रकारसे विरक्त थे तो अत्युक्ति न होगी। अतएव माँका पारिवारिक जीवन सम्पन्नतापूर्वक शान्तिके साथ बीता। उनमें बाल्यकालसे ही विषय-स्पृहा नहीं थी। अतएव उनका जीवन साधारण गृहस्थके जीवनके समान न था। तथापि उन्हें कभी किसी सांसारिक अथवा पारिवारिक कर्तव्यसे च्युत होते नहीं देखा गया। उनके चिन्तनकी गति स्वभावतः अन्तर्मुखी थी, अतएव वे बहुधा अन्तःकरणसे ही वाणी अथवा दिव्य उपदेश प्राप्त करती थीं। विवाहके पश्चात् पति-पत्नी दोनोंने अपने कुलगुरुसे दीक्षा ग्रहण की। माँका चित्त स्वभावतः ही उन्मुख था। अब गुरुशक्तिके प्रभावसे तथा अपने आग्रहकी तीव्रतासे वह और भी निर्मल और अन्तर्मुख होने लगा। कुछ दिनोंके बाद ठाकुरने प्रकट होकर दीक्षाके मन्त्रको बदल दिया। माँ ठाकुरके द्वारा मन्त्र पाकर बहुत आनन्दित हुईं तथा द्विगुण उत्साहके साथ उस मन्त्रका निरन्तर जप करने लगीं।

१३१४ (बँगला) सन्में श्रीश्रीमाँ अपने पिता, माता और स्वामीके साथ काशीधाममें पधारीं और वे लोग अगस्त्यकुण्ड मुहल्लेके एक घरमें ठहरे। उस घरमें वे कितने दिन रहे, इसका ठीक पता नहीं है। वहाँ जाते ही उनके पिता रोगग्रस्त होकर [illegible] भगवान्‌को प्राप्त हो गये। तब वे उस मकानको छोड़कर अन्य किसी घरमें जानेके लिये उद्विग्न हो उठे—यहाँतक कि सामान भी बँध गया और एक आदमी कुली लाने बाहर चला गया। उस समय माँके भीतर वाणी हुई—'इस घरसे कहीं न जाइयेगा।'

इसी घरमें तुम्हारे पिताको 'काशीलाभ' होगा।'' सब बाधा समाप्त हो गयी तथा सामान जो बँधा था, खोल दिया गया। ठाकुरके द्वारा निर्दिष्ट दिन माँके पिताजीको 'काशीलाभ' प्राप्त हुआ तथा उसी घरमें श्राद्ध आदि कर्मानुष्ठान समाप्त करके माँके घरके लोग अगस्त्यकुण्डका मकान छोड़कर ११।२१ लक्ष्मीकुण्डके मकानमें चले गये। वह मकान बहुत पुराना और टूटा-फूटा था। माँ नीचेके तल्लेपर रहने लगीं। वे जिस कमरेमें रहती थीं, वह सील और अन्धकारसे भरा था। उसमें हवाके आवागमनके लिये कोई द्वार न था, केवल एक छोटी खिड़की थी और एक प्रवेशद्वार था, परंतु दोनों ही टूटे थे। इसी मकानमें माँकी गर्भधारिणी माताका 'काशीलाभ' हुआ और इसी मकानके साथ माँकी सुदीर्घकालीन साधनाकी पूर्वस्मृति जुड़ी हुई है।

माँ काशीमें आनेके बादसे ही नियमितरूपसे प्रतिदिन गङ्गास्नान तथा देवताओंके दर्शन करती थीं। विश्वनाथ, अन्नपूर्णा, विशालाक्षी, चतुःषष्टि योगिनी एवं केदारनाथ उनके नित्य-दर्शनके स्थान थे। वे जब जिस मन्दिरमें दर्शन करने जातीं, तब वहाँ पूर्ण भक्तिपूर्वक अर्चना तथा स्तव-स्तोत्रादिका पाठ करती थीं तथा एक जगह खड़ी होकर केवल दर्शन ही करतीं; उस समय उन्हें बाह्य चेतना नहीं रह जाती। उनकी दृष्टिमें देवता सिर्फ पाषाण मूर्ति नहीं थे, बल्कि चिन्मयस्वरूपमें प्रकाशित होते थे। निम्नलिखित कुछ घटनाओंसे उनके उस समयके साधन-जीवनके इतिहासपर कुछ प्रकाश पड़ता है।

एक दिन माँ विश्वनाथके मन्दिरमें क्या देखती हैं कि चारों ओर महादेवकी मूर्ति झलक रही है। इसी प्रकार एक दिन उन्होंने देखा कि विश्वनाथकी गाय आकर उनके मस्तकके ऊपर पड़ रही है और हाथको स्पर्श कर रही है। तथा एक दिन विश्वनाथके मन्दिरमें प्रवेश करते ही एक ब्राह्मणने आकर माँके हाथमें एक चित्र देते हुए कहा—'देखो, इसके भीतर हरगौरी हैं।' उसने एक बार उस चित्रको खोलकर माँको हरगौरीके दर्शन कराकर फिर चित्रको बंद कर दिया और उसे माँके हाथमें देते हुए कहा—'तुम विश्वनाथका दर्शन करने आती हो, इसको विश्वनाथके मस्तकपर चढ़ा देना।' माँने चित्र खोलकर सुन्दर हरगौरीकी मूर्ति देखी। ब्राह्मणने माँको क्यों यह चित्र दिया, यह पूछनेके लिये माँने जब ब्राह्मणकी ओर देखा, तब वहाँ ब्राह्मण न था, वह अन्तर्धान हो गया था। तत्पश्चात् माँ कुछ देर खड़ी रहकर विश्वनाथ मन्दिरमें गयीं तथा उसे विश्वनाथजीके मस्तकपर चढ़ा दिया। परंतु उसी क्षण पता नहीं, वह कहाँ छिप गया कि खोजनेपर भी नहीं मिला।

एक दिन माँ कालभैरवका दर्शन करनेके लिये हाथमें पूजाकी डलिया लेकर घरसे बाहर निकलीं। दाहिना हाथ छातीपर रखकर जप करती हुई तन्मय होकर जा रही थीं। इस भावमें चलनेके कारण रास्ता भूल गयीं और कालभैरवको छोड़कर किसी निर्जन स्थानमें जा पहुँचीं। उनको यह ज्ञात हो गया कि यह स्थान कालभैरवके पासका कोई स्थान नहीं है तथा अपरिचित स्थान देखकर वे शङ्कित हो उठीं। तब एक कोल्हूकी घानी चलते देखकर, वहाँ जाकर माँको पूछने पर पता लगा कि वे कालभैरवसे बहुत दूर चली आयी हैं। उस समय बहुत देर हो गयी थी तथा उनके मनमें नाना प्रकारकी चिन्ताएँ उठने लगीं; तब वे वहाँसे हटकर एक जगह खड़ी होकर रोने लगीं। इतनेमें देखती क्या हैं कि हाथमें छड़ लिये लाल किनारीकी साड़ी पहने कोई स्त्री उनकी ओर आ रही है। देखते ही माँने तुरंत पूछा—'तुम कहाँ जाओगी, माँ?' उस स्त्रीने उत्तर दिया—'मैं अन्नपूर्णा-मन्दिरमें जाऊँगी।' तब माँने कहा—'मैं विश्वनाथ-मन्दिर जाऊँगी, परंतु रास्ता भूल गयी हूँ।' उस स्त्रीने कहा—'तब मेरे साथ आओ।'—तब माँ उसके साथ बातें करती हुई चलने लगीं और थोड़े ही समयमें ढुण्ढिराज गणेशके सामने आ गयीं। तब उस स्त्रीने कहा—'ये ही तो ढुण्ढिराज गणेश हैं।' यह बात सुनकर माँ गणेशकी ओर देखने लगीं। उसके बाद यह पूछनेके लिये कि 'तुम्हें रास्तेसे हटकर इतनी दूर ढुण्ढिराज देने पहुँच गये,' उन्होंने पीछे ही पीछेकी ओर ताका तो यह देखकर उनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा कि वह स्त्री वहाँ नहीं है, अन्तर्हित हो गयी है। उसके बाद माँने अन्नपूर्णा-मन्दिरमें जाकर बहुत खोज की, पर वह स्त्री न मिली। तब उन्होंने समझा कि माँ अन्नपूर्णाने ही इस प्रकार विपत्तिके समय उनकी रक्षा की है।

एक दिन माँ अन्नपूर्णाके मन्दिरमें बैठकर प्राणायामका जप कर रही थीं। अचानक देखती क्या हैं कि माँ अन्नपूर्णा स्वयं दोनों हाथों भरकर मणिमुक्ता माँको उपहार देनेके लिये उद्यत हैं। माँ अन्नपूर्णा 'लो न'—कहकर माँको लेनेके लिये बारंबार अनुरोध करने लगीं। परंतु माँ देवीके रूप और वसन-आभूषणके सौन्दर्यसे मुग्ध होकर एकटक उनकी ओर देखती रह गयीं। मणिमुक्ताकी ओर उनकी दृष्टि ही नहीं थी। तब देवी माँको लेनेके लिये बारंबार

करने लगीं, तब माँने कहा—'ये लेकर मैं क्या करूँगी? यह सब यहीं रहने दीजिये।' यह सब घटना कोई देख रहा है या नहीं—यह जाननेके लिये माँने पीछेकी ओर दृष्टि घुमायी और फिर जब देवीकी ओर देखनेके लिये दृष्टि लौटायी, तब देखती क्या हैं कि देवी अदृश्य हो गयी हैं। उनको फिर वे वहाँ न देख सकीं।

माँ एक दिन चतुःषष्टि योगिनीके मन्दिरमें दर्शन करनेके लिये गयीं। वे सामने खड़ी होकर माँका दर्शन करने लगीं। उसी समय चौंसठी माँ हिंदीमें माँके साथ बातें करने लगीं। पासमें वेणीमाधव भट्टाचार्य पूजा करते थे। माँने उनसे पूछा कि 'चौंसठी माँने हिंदीमें जो बातें की हैं, उन्हें क्या आपने सुना?' भट्टाचार्य महाशय माँकी ओर देखकर और मनका भाव समझकर अवाक् हो गये, और फिर पीछे माँसे बोले—'माँ! तुम्हारे समान मेरा भाग्य कहाँ है, जो मैं चौंसठी माँकी बात सुन पाऊँगा।' वे माँको 'धन्य-धन्य' कहने लगे।

एक दिन माँ गङ्गा-स्नानके बाद गङ्गाके तटपर बैठकर सदाकी तरह मिट्टी लेकर पिण्डी बनाकर मृण्मय शिवकी अर्चना करने लगीं। तन्मयतापूर्वक एकाग्रभावसे अर्चना करते-करते अचानक उन्होंने देखा कि सामने उन मृण्मय शिवने उज्ज्वल सुवर्णमय आकार धारण कर लिया है। यह दर्शन करके वे केवल विस्मित ही नहीं हुईं, अपितु इस दर्शनसे और एक गम्भीरतर रहस्यमय दर्शनका सौभाग्य उनको प्राप्त हुआ। उन्होंने देखा कि केवल वे पार्थिव शिव ही स्वर्णमय हो गये हों, ऐसी बात नहीं है; सारा-का-सारा काशीधाम ही उनके सामने मानो एक सुवर्णमय पुरीके रूपमें प्रतिभात होने लगा। माँने प्रत्यक्ष देखा कि यह शिवनगरी हिरण्मय ज्योतिद्वारा निर्मित है। यहाँ जो देव-देवी प्रतिष्ठित हैं, सभी नित्य-जाग्रत् और चैतन्यमय हैं। वे सभी बातें करते हैं तथा जीवित मनुष्यके समान स्वेच्छानुसार इधर-उधर चलते-फिरते हैं। यह सुवर्णमय काशीदर्शन माँके साधन-जीवनका एक आश्चर्यमय अनुभव था। ज्योतिर्मय काशीका यथार्थ स्वरूप और अवस्थान, विश्वेश्वरके द्वारा मुमूर्षु जीवके दक्षिण कर्णमें तारक ब्रह्मका उपदेश, काशीक्षेत्रमें कालभैरवके द्वारा दण्डदानकी व्यवस्था तथा काशीश्वरी माँ अन्नपूर्णाकी महिमा हिंदू-शास्त्रोंमें, विशेषतः काशीखण्ड आदि ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध है। माँने कहा था कि उन्होंने ये सब तत्त्व स्वयं प्रत्यक्ष किये थे। उन्होंने अपनी आँखों देखा था कि काशी स्वर्णमयी है तथा शिवके त्रिशूलके ऊपर स्थित है। मणिकर्णिकामें सोनेका घाट तथा अर्द्धचन्द्राकृति गङ्गा हैं। महायोगी काशीपति विश्वनाथ गुरुरूपमें मणिकर्णिकामें उपविष्ट होकर काशीमें मृत्युको प्राप्त हुए जीवोंको तारक ब्रह्मका नाम सुनाते हैं।

इस प्रकार निरन्तर नाना प्रकारके दर्शन होते थे। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि ये सब बाह्य दर्शन थे। परंतु उसी समय साधनाके क्रम-विकासके नियमके अनुसार माँ स्वभावतः नाना प्रकारके अलौकिक दर्शन प्राप्त करती थीं। वे प्रतिदिन विधिपूर्वक अनेकों देव-देवियोंके दर्शन करनेके लिये निकलतीं तथा नाना स्थानोंमें, नाना समय देव-देवियोंके प्रत्यक्ष दर्शन करके ध्यानस्थ हो जातीं तथा कभी-कभी गम्भीर तन्मयताके फलस्वरूप समाधिस्थ हो जातीं।

इसके बाद माँका अन्तर्मुखी भाव क्रमशः बढ़ने लगा। पहले जैसे वे प्रतिदिन देवमन्दिरोंमें जाकर दर्शन करनेके लिये व्याकुल रहतीं, उनका यह भाव अब क्रमशः घटने लगा। उनकी यह व्याकुलता देखकर भगवान्ने उनको अच्छी तरह समझा दिया कि ये सब दर्शन बाहरी दर्शन हैं, वास्तविक दर्शन नहीं हैं। वास्तविक दर्शन करनेके लिये चित्त और इन्द्रिय-वृत्तिको बाहरसे प्रत्याहृत करके भीतर एकाग्र करना पड़ता है। इसके बिना चैतन्यमयी शक्तिका यथार्थ विकास नहीं हो सकता। वस्तुतः इसके बादसे ही धीरे धीरे उनकी मन्दिर-दर्शनकी आकाङ्क्षा कम होने लगी और वे अधिकांश समय घरमें अपने आसनपर ही बैठकर जप-पूजा आदि साधन करने लगीं।

इसके बाद दीर्घकालतक एक आसनपर एकचित्त होकर बैठते-बैठते उनमें क्रमशः समाधि-अवस्थाका उदय होने लगा। तब इस प्रकार माँ सोलह घंटे, बीस घंटे—यहाँतक कि चार-चार, पाँच-पाँच दिनोंतक एक आसनपर बैठी रहतीं। माँकी यह समाधि-अवस्था क्रमशः अधिकतर गाढ़ होने लगी तथा बाहरका दर्शन एकबारगी बंद हो गया। इसी समय माँके स्वामी सर्दी-खाँसीसे आक्रान्त हो गये और कुछ दिन रोग-यन्त्रणा भोगनेके बाद उन्होंने 'काशीलाभ' किया। उस समय ग्रीष्म-काल, सम्भवतः रथ-यात्राका दिन था।

माँ जब भेलूपुरके मकानमें रहती थीं, तब भगवान्ने उनकी समाधि भङ्ग कर दी और कहा—'अब समाधि लगानेकी आवश्यकता नहीं है।' इसके बाद फिर उनकी समाधि नहीं लगी।

प्राण विदा देनेके लिये प्रस्तुत हुई थीं। उनमें कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी, मानव—सभी थे। इसके बाद परमपदका साक्षात्कार हुआ।

माँ पहले कुण्डलिनी-जागरणरूप सिद्धि प्राप्त करके, क्रमशः शिवके साथ शक्तिका मिलन, आत्मदर्शन, महामिलन, महाशून्यावस्था, मिलन-मिश्रण, नित्यलोक, ब्रह्मावस्था, पूर्णब्रह्मावस्था, परिपूर्णब्रह्मावस्था, ज्ञान एवं महाज्ञानके स्वरूपका निर्णय, गोलोक-वैकुण्ठादिकी प्राप्ति, निर्वाण, परमपद या परामुक्तिकी अवस्था प्राप्त करनेके बाद १३५० (बँगला) संवत्‌के १२ वें वैशाखको सोमवारके दिन इस नर-देहका त्याग करके स्वधाममें चली गयीं। देह-त्याग करनेके समय माँकी आयु प्रायः ५४ वर्षकी थी। उन्होंने १२ वर्षतक (अर्थात् १३१४ (बँगला) साल्से १३२६ (बँगला) सालतक) काशीमें साधना की थी।

स्वामी श्रीदयानन्द और भक्ति

(लेखक—श्रीबाबूरामजी गुप्त)

(१) स्वामी श्रीदयानन्दसरस्वतीजी महाराजने जिस भक्ति-रस-परिपूर्ण ग्रन्थकी रचना संवत् १९३२ की चैत्र सुदि १० के दिन की, उस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ-रत्नका नाम है 'आर्याभिविनय'। इसकी भूमिकामें स्वामीजी लिखते हैं—'जो नर इस संसारमें ....प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे परमात्माको स्वीकार करता है, वही जन अतीव भाग्यशाली है। वह मनुष्य दुःखोंसे छूटकर परमानन्द परमात्माको प्राप्त होता है।' इस ग्रन्थसे मनुष्योंके ईश्वरका ज्ञानस्वरूप भक्ति, धर्मनिष्ठा, व्यवहारशुद्धि इत्यादि प्रयोजन सिद्ध होंगे। श्रीस्वामीजी महाराजने वेद-सागरमें गहरे गोते लगाकर उसमेंसे १०८ मोती निकालकर अरमालाके समान उन्हें मौक्तिक मालाके रूपमें भक्तोंके लिये पिरोकर उसे नित्य पाठ करनेका आदेश किया है। इन प्रार्थना-मन्त्रोंको पढ़ने और जपनेसे जिनका मस्तिष्क थमने नहीं लगेगा! उन्हें पढ़िये और अपना जीवन सफल कीजिये।

स्वामी श्रीदयानन्दकी भक्ति-झाँकियाँ

(२) एक दिन एक भक्तने स्वामी दयानन्दसे पूछा—'क्यों महाराज! नाच-तमाशोंमें तो सारी रात नींद नहीं आती, प्रभु-कीर्तन और करतार-कथामें आँखें बंद क्यों होने लगती हैं?' स्वामीजीने कहा—'प्रभु-कीर्तन और कथा मखमलका बिछौना है। उसपर नींद न आवेगी तो और कहाँ आवेगी! नाचरंग काँटोंकी कँटीली और नुकीली जमीन है, उसपर नींद कहाँ!'

(३) कलकत्तेमें श्रीहेमचन्द्र चक्रवर्तीके योग-साधनकी विधि पूछनेपर आपने कहा—'अभ्यासीको चाहिये कि तीन घड़ी रात रहते आलस्य त्यागकर उठ बैठे, मुँह-हाथ धोकर पद्मासनसे बैठ एकचित्त होकर गायत्रीका जप करे।'

(४) कासगंजमें स्वामीजी एक पहर रात रहे उठते और योगाभ्यासमें लग जाते। दो घड़ी दिन चढ़े अनेकत्र समाधिमें रहते। बाहर आते तब आँखें लाल होतीं। फिर धीरे-धीरे आँखोंपर जलके छींटे देकर उनकी लाली दूर करते।

(५) स्वामीजी मथुरासे आगरा पधारे, तब वहाँ बाबू सुन्दरलालजीके बागमें ठहरे। यहीं योगाभ्यास चला करता था। देखनेवालोंने बतलाया था कि स्वामी दयानन्दजी अठारह-अठारह घंटे समाधिमें बैठे रहते।

(६) स्वामीजी एक बार प्रयाग पधारे तो पण्डित मोतीलालजी दर्शनार्थ आये। बातचीत करते संध्याका समय हो गया। स्वामीजीने कहा—'संध्याका समय हो गया है। सब काम छोड़कर यह परमकृत्य करना चाहिये। आप भी संध्यासे निवृत्त होकर ही पधारें।'

(७) प्रयागनिवासी पंजाबी सज्जन श्रीमाधवचंद्र गुप्त-सुन्दरीके लोदी थे। स्वामी दयानन्दके यहाँ पधारनेपर माधवजी भी एक दिन दयानन्द दरबारमें पहुँचे। स्वामीजीके सत्सङ्गसे उनका जीवन ही पलट गया, अब नित्य ब्राह्म-मुहूर्तमें संध्या होने लगी। एक दिन उनके मित्र रामचन्द्र प्रातःकाल उठे तो क्या देखते हैं कि माधवजीका स्नान, संध्या, अग्निहोत्र हो चुका है, और अब वे खड़े हुए गायत्री जप कर रहे हैं। रामनिवास लाल बाबूने मजाकमें पूछा—'माधव, खड़े होकर गायत्री-जप करते!' माधव बोले—'भाई! यह गुरुवर दयानन्दका आदेश है कि मैं नित्य ...

रवीन्द्रनाथ ठाकुर और भक्ति

(लेखक—श्रीविमलकृष्ण विद्यारत्न)

(१)

प्रकृति देवी वन्दना करती हैं नित्य नव-नव छन्दमें विश्व-देवताकी। पूजा करती हैं अपने प्राण-प्रियतमकी—ईप्सित-तमकी। ऋतुके आवर्तनके मार्गसे उनका यह अभिसार चलता है। भालमें उनके कभी श्यामल घासकी हरितिमा है तो कभी नीलाकाशकी नीलिमा। विहंगोंकी कल काकलीमें ध्वनित होती है आरती-ध्वनि। फल-फूलसे पूर्ण होता है पूजा-का अर्घ्य। पुजारिणी प्रकृतिदेवीके वक्षःस्थलपर भक्ति-गङ्गा निरन्तर प्रवाहित होती है।

भज्+क्तिन्=भक्ति। अभिधानकार भक्तिके पर्याय-शब्द बतलाते हैं—सेवा, प्रेम, श्रद्धा। प्रेम भी भक्तिका भाव वहन करता है। भक्ति और प्रेममें समप्राणता विद्यमान है। 'पाञ्चरात्र' का कथन है—

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंगता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः॥

'अन्यके प्रति ममताका परित्याग करते हुए भगवान्‌में जो प्रेमयुक्त ममता होती है, उसीको भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव और नारदने भक्ति कहा है।'

'चैतन्यचरितामृत' में भी इसी सिद्धान्तकी प्रतिध्वनि सुनायी देती है—

साधन भक्ति हइते हइल रति उदय। रति गाढ़ हइले तारे प्रेम नाम कय॥

प्रेमके सम्बन्धमें 'भक्तिरसामृतसिन्धु' कहता है—

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

'जिससे चित्त परिपूर्णरूपसे स्निग्ध एवं कोमल हो जाता है तथा जो अत्यधिक ममतायुक्त है—इस प्रकारका भाव जब गाढ़ हो जाता है, तब उसको बुधजन प्रेम कहते हैं।'

प्रेम और भक्ति एक ही हृदयावेगकी दो दिशाएँ हैं। इनका उद्गम एक ही है।

'प्रेम' कविकी मानस-भूमि है। प्रेमकी साधना ही कवि-के जीवनकी साधना है। प्रेमके द्वारा ही आदिकविने प्रेरणा प्राप्त की थी काव्य-रचनाकी—रचित हुआ आदिकाव्य। मिथुन विरह-कातर क्रौञ्चीके प्रति प्रेमने शोकार्त कर दिया वाल्मीकिको। जहाँ प्रेम होता है, वहीं मर्म-वेदना जागती है। पहले प्रेम होता है और पश्चात् वेदनाका बोध होता है। कविका क्रौञ्चीपर प्रेम था। इसी कारण उसके दुःखसे वे शोकाभिभूत हुए। शोक परिणत हो गया श्लोकमें—रामायणमें। प्रेम ही काव्यकी आत्मा है।

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

(ध्वन्यालोक १। ५)

(२)

यह प्रेम—यह ससीम स्नेह एक बार असीमके अन्वेषणके लिये चल पड़ता है—अपूर्णसे पूर्णमें प्रवेश करना चाहता है। हृदयका विस्तार होता है। सीमाके भीतर उसे अब आनन्द नहीं मिलता। सीमाके भीतर असीमको पानेकी अभिलाषा जाग उठती है। यही है भागवती पिपासा, इसीको भगवत्प्रेम कहते हैं। कविके कण्ठसे तब झंकृत हो उठता है—

सीमार माझे असीम तुमि
बाजाओ आपन सुर,
आमार मध्ये तोमार प्रकाश
ताई एत मधुर।
कत वर्णे, कत गन्धे
कत गाने कत छन्दे—
अरूप, तोमार रूपेर लीलाय
जागे हृदयपुर।
तोमाय आमाय मिलन होले,
सकलि जाय खुले,
विश्वसागर ढेउ खेलाये
उठे तखन दुले।
तोमार आलोय नाइ तो छाया
आमार माझे पाय से काया,
हय से आमार अश्रुजले
सुन्दर विधुर।

—रवीन्द्रनाथ

'तुम असीम होकर सीमाके भीतर अपना सुर बजाते हो, इसीसे मेरे भीतर तुम्हारा प्रकाश इतना मधुर लगता है। कितने वर्णोंमें, कितने गन्धोंमें, कितने गानोंमें, कितने छन्दों-में—हे अरूप! तुम्हारे रूपकी लीलामें हृदय पुर जाग उठता

सकती है, उसे भक्ति ही देनी चाहिये, मुक्ति कदापि नहीं।'

सेवाहीन रात, पूजाहीन दिन रवीन्द्रनाथको व्यथित करते हैं। वे गाते हैं—

की देखिछ बँधु मरम माझारे
        राखिया नयन दुटी।
करेछ कि क्षमा यतेक आमार
        स्खलन पतन त्रुटि।
पूजाहीन दिन—सेवाहीन रात
        कत बार बार फिरे गेछे नाथ,
अर्घ्य कुसुम झरे पड़े गेछे
        विजन विपिने फुटि।

(जीवन-देवता, चित्रा)

'प्रभु! मेरे अन्तःकरणमें अपने दोनों नेत्रोंको रखकर क्या देख रहे हो! क्या तुमने मेरे सारे स्खलन, पतन और त्रुटियोंको क्षमा कर दिया है! नाथ! पूजाहीन दिन और सेवाविहीन रात कितनी बार आयीं और चली गयीं, और विजन विपिनमें वे कुसुम झड़कर पड़ गये हैं, जिनसे मैं तुम्हें अर्घ्य दे सकता था!'

(३)

जिस गीति-ग्रन्थने रवीन्द्रनाथको विश्वका सर्वश्रेष्ठ कवि होनेका सम्मान प्रदान किया था, उसी ग्रन्थका यह प्रथम गीत है—

आमार माथा नत करे दाओ हे
        तोमार चरण धूलार तले,
सकल अहंकार हे आमार
        डुबाओ चोखेर जले।
निजेरे करिते गौरव-दान,
        निजेरे केवलि करि अपमान,
आपनारे शुधु घेरिया घेरिया
        घुरे मरि पले पले।
आमारे येन ना करि प्रचार
        आमार आपन काजे,
तोमारि इच्छा करो हे पूर्ण
        आमार जीवन माझे।
याचि हे तोमार चरम शान्ति,
        पराणे तोमार परम कान्ति,
आमारे आड़ाल करिया दाँड़ाओ
        हृदय-पद्म-दले।

'भगवन्! अपनी चरण-धूलिके तलमें मेरे सिरको नत कर दो, मेरे सारे अहंकारको इन नयनोंके जलमें डुबा दो। मैं अपनेको गौरव प्रदान करने जाकर अपना केवल अपमान ही करता हूँ। मैं केवल अपनेको ही घेर-घेरकर प्रतिपल मरता फिरता हूँ। हे प्रभो! अपने कर्मोंमें मैं अपना प्रचार न करूँ; मेरे जीवनमें तुम्हारी ही इच्छा पूर्ण हो। मैं चाहता हूँ तुम्हारी चरम शान्ति, मैं चाहता हूँ प्राणोंमें तुम्हारी परम कान्ति। भगवन्! मेरे हृदयकमल-दलमें मेरी आड़ लेकर तुम खड़े हो जाओ।'

केवल यह गान ही नहीं—यह सारा ग्रन्थ ही भक्ति-सुधासे परिपूर्ण है। इसका रस-माधुर्य दुर्गम अध्यात्म पथको सरस करता है—उस दूरतमको निकट ले आता है। इसके आलोकसे भक्तका हृदय-अन्धकार दूर हो जाता है। वह प्रियतमके सांनिध्यका अनुभव करता है। रवीन्द्रनाथके ये खेया, गीतिमाल्य, गीतालि, गान, नैवेद्य आदि ग्रन्थ भी भक्ति-सम्पत्से समृद्ध हैं।

१९१२ ई० में २७ मईको रवीन्द्रनाथने इंगलैंडकी यात्रा की। उनके साथ पचास गीतोंका अंग्रेजी अनुवाद था। 'इंडिया सोसायटी' ने इन गानोंको तथा अन्य कुछ गानोंको एकत्र करके 'गीताञ्जलि' के नामसे प्रकाशित किया। इस ग्रन्थने रवीन्द्रनाथको समस्त योरपमें श्रेष्ठ कविके आसनपर प्रतिष्ठित कर दिया। गीताञ्जलिसे ही उन्हें 'नोबल पुरस्कार' प्राप्त हुआ।

रवीन्द्र-साहित्यमें भक्ति-रसका अमृत यत्र-तत्र विकीर्ण हो रहा है। इसका वर्णन करनेसे, अथवा 'लोग उन्हें प्रतिमा-पूजक कहेंगे' इस भयसे डरकर इसकी विकृत व्याख्या करनेसे रवीन्द्र-साहित्य पङ्गु हो जायगा, प्राणहीन हो जायगा। रवीन्द्र-काव्य-सिंधु-से कुछ अमृत-बिन्दु आहरण करके 'कल्याण' के सम्माननीय पाठक-पाठिकाओंके अवलोकनार्थ उपस्थित किये गये हैं।

भाग्यवानोंके द्वारा परिसेवित समग्र रवीन्द्र-साहित्यकी आलोचना इस लघु प्रबन्धमें सम्भव नहीं है।

चाहता है, उसे भक्ति ही देनी चाहिये, मुक्ति कदापि नहीं।'

सेवाहीन रात, पूजाहीन दिन रवीन्द्रनाथको व्यथित करते हैं। वे गाते हैं—

> की देखिछ बँधु मम माझारे
> राखिया नयन दुटी।
> करेछ कि क्षमा येतेक आमार
> स्खलन पतन त्रुटि।
> पूजाहीन दिन—सेवाहीन रात
> कत बार बार फिरे गेछे नाथ,
> अर्घ्य कुसुम झरे पड़े गेछे
> विजन विपिने फुटि।
>
> (जीवन-देवता, चित्रा)

'बन्धु! मेरे अन्तःकरणमें अपने दोनों नेत्रोंको लगाकर क्या देख रहे हो? क्या तुमने मेरे सारे स्खलन, पतन और त्रुटियोंको क्षमा कर दिया है? नाथ! पूजाहीन दिन और सेवाविहीन रात कितनी बार आयीं और चली गयीं, और विजन विपिनमें वे कुसुम झड़कर पड़ गये हैं, जिनसे मैं तुम्हें अर्घ्य दे सकता था!'

(२)

जिस गीति-ग्रन्थने रवीन्द्रनाथको विश्वका सर्वश्रेष्ठ कवि होनेका सम्मान प्रदान किया था, उसी ग्रन्थका यह प्रथम गीत है—

> आमार माथा नत करे दाओ हे
> तोमार चरण धूलार तले,
> सकल अहंकार हे आमार
> डुबाओ चोखेर जले।
> निजेरे करिते गौरव-दान,
> निजेरे केवलि करि अपमान,
> आपनारे शुधु घेरिया घेरिया
> घूरे मरि पले पले।
> आमारे ना येन करि प्रचार
> आमार सकल कर्मे,
> तोमारि इच्छा करह पूर्ण
> आमार जीवन माझे।
> याचि हे तोमार चरम शान्ति,
> पराणे तोमार परम कान्ति,
> आमारे आड़ाल करिया दाँड़ाओ
> हृदय-पद्म-दले।

'भगवन्! अपनी चरण-धूलिके तलमें मेरे सिरको नत कर दो, मेरे सारे अहंकारको इन नयनोंके जलमें डुबा दो। मैं अपनेको गौरव प्रदान करने जाकर अपना केवल अपमान ही करता हूँ। मैं केवल अपनेको ही घेर-घेरकर प्रतिपल मरता फिरता हूँ। हे प्रभो! अपने कर्मोंमें मैं अपना प्रचार न करूँ; मेरे जीवनमें तुम्हारी ही इच्छा पूर्ण हो। मैं चाहता हूँ तुम्हारी चरम शान्ति, मैं चाहता हूँ प्राणोंमें तुम्हारी परम कान्ति। भगवन्! मेरे हृदयकमल-दलमें मेरी आड़ लेकर तुम खड़े हो जाओ।'

केवल यह गान ही नहीं—यह सारा ग्रन्थ ही भक्ति-सुधासे परिपूर्ण है। इसका रस-माधुर्य दुर्गम अध्यात्म-पथको सरल करता है—उस दूरतमको निकट ले आता है। इसके आलोकसे भक्तका हृदय-अन्धकार दूर हो जाता है। वह प्रियतमके सांनिध्यका अनुभव करता है। रवीन्द्रनाथके खेया, गीतिमाल्य, गीतालि, गान, नैवेद्य आदि ग्रन्थ भी भक्ति-सम्पत्से समृद्ध हैं।

१९१२ ई० में २७ मईको रवीन्द्रनाथने इंगलैंडकी यात्रा की। उनके साथ पचास गीतोंका अंग्रेजी अनुवाद था। 'इंडिया सोसायटी' ने इन गानोंको तथा अन्य कुछ गानोंको एकत्र करके 'गीताञ्जलि'के नामसे प्रकाशित किया। इस ग्रन्थने रवीन्द्रनाथको समस्त योरपमें श्रेष्ठ कविके आसनपर प्रतिष्ठित कर दिया। गीताञ्जलिसे ही उन्हें 'नोबल पुरस्कार' प्राप्त हुआ।

रवीन्द्र-साहित्यमें भक्ति रसका अमृत यत्र-तत्र विकीर्ण हो रहा है। इसका वर्णन करनेसे, अथवा 'लोग उन्हें प्रतिमा-पूजक कहेंगे' इस भयसे डरकर इसकी विकृत व्याख्या करनेसे रवीन्द्र-साहित्य पङ्गु हो जायगा, प्राणहीन हो जायगा। रवीन्द्र-काव्य-सिन्धुसे कुछ अमृत बिन्दु आहरण करके 'कल्याण' के सम्माननीय पाठक-पाठिकाओंके अवलोकनार्थ उपस्थित किये गये हैं।

भगवत्कृपाके द्वारा परिवेष्टित समस्त रवीन्द्र-साहित्यकी आलोचना इस लघु प्रबन्धमें सम्भव नहीं है।

(५) स्वामी श्रीरामचरणदासजी महाराज 'करुणासिन्धु', जानकीघाट—आप 'श्रीरामनवरत्न' आदि कई ग्रन्थोंके रचयिता थे। श्रीरामचरितमानसके आप प्रथम टीकाकार थे। उसीके आधारपर और टीकाएँ हुईं। आपने श्रीसीतारामजीकी शृङ्गार-रस निष्ठाका विशेष प्रचार किया। श्रीयुगलप्रियाजी, श्रीरसिकअलीजी और दार्शनिक श्रीहरिदासाचार्य प्रभृति बड़े-बड़े आचार्य आपकी शृङ्गार-रस निष्ठाके अनुयायी हो गये हैं।

(६) पण्डित श्रीउमापतिजी त्रिपाठी, नयाघाट—अपने समयमें आप समस्त भारतवर्षमें बड़े प्रख्यात विद्वान् हुए हैं। विद्वत्तासे कहीं अधिक आपमें भगवान्‌की भक्ति-निष्ठाका गौरव था। आप रसास्मिका भक्ति-निष्ठामें भक्तोंको वशिष्ठरूपमें मानते हुए और सपरिवार श्रीरामजीको शिष्यरूप मानते हुए उनपर वात्सल्य-निष्ठा रखते थे। आपकी यह भी निष्ठा थी कि जब श्रीराम-लक्ष्मण ऐसे मेरे शिष्य हैं, तब मैं और किसीके द्वारपर न जाऊँगा। एक समय श्रीअवधस्थित राज-सदनके संस्थापक ददुआ राजाकी इच्छा हुई कि मेरे राज-सदनका शिलान्यास पं० श्रीउमापतिजीके द्वारा सम्पन्न हो। राजा साहबने यह संकल्प कर रखा था कि सवा लाख रुपये मैं नींव रखनेपर पूजा दूँगा। राजाने मन्त्रियोंके द्वारा प्रार्थना की। फिर भारतके कोने-कोनेके विद्वान्, जो आपके यहाँ विद्यार्थीरूपमें रहते थे, उनसे भी कहलाया कि 'महाराज केवल आ जायँ। पूजा विद्यार्थियोंके द्वारा पहुँच जायगी, विद्यार्थियोंकी सेवामें लगेगी।' पर पण्डितजीने उनका निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया। यही कहा कि 'मैं अपना नियम-भङ्ग न करूँगा। महाराजको हृदयसे शुभाशीर्वाद देता हूँ।'

(७) स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी, श्रीलक्ष्मणकिला—आप संस्कृत-फारसी आदि कई भाषाओंके विद्वान् थे। प्रथम की हुई शिवोपासनासे आपकी श्रीरामजीमें निष्ठा हुई। फिर आपने छपरा (बिहार) निवासी स्वामी श्रीजीवाराम (युगलप्रिया) जीसे पञ्चसंस्कारात्मक श्रीसीतारामजीके युगलमन्त्रकी दीक्षा ली। तबसे आप 'श्रीसीताराम'के अतिरिक्त और कुछ न बोलते थे। विभिन्न स्थानोंमें होते हुए आप श्रीअवध आये और फिर बहुत वर्षोंतक आपने श्रीचित्रकूटमें निवास करके नामाराधन किया। श्रीअयोध्याजीमें पहले आप निर्मलीकुण्ड (फैजाबाद) में रहते थे। गत सन् १८५७ के सिपाही-विद्रोहके समय वहाँ आपके स्थानके पास ही फौजकी छावनी बन गयी थी। आपका सुयश सुनकर फौजके कमांडरने गवर्नमेंटको लिखा। उसपर आपकी रुचिसे श्रीअवधमें श्रीसरयूजीके तटपर श्रीलक्ष्मण किलेके नामपर बावन बीघा भूमि सदाके लिये गवर्नमेंटसे आपको माफी दी गयी। उसी स्थानपर रीवाँ राज्यके दीवानने विशाल मन्दिर बनवाकर उसके साथ गाँव लगा दिये हैं। वहीं आपकी गादी स्थापित हुई।

आपने श्रीराम-नाम-निष्ठासे दिव्य प्रकाश प्राप्तकर ८६ ग्रन्थोंका निर्माण किया। उनमें २०-२२ तो प्रकाशित भी हो चुके हैं। उनमें श्रीरघुवर-गुण-दर्पण और श्रीसीताराम-नाम-प्रताप प्रकाश आदि विशेष प्रचलित हो चुके हैं। शेष ग्रन्थोंमें अधिकांश पद्यात्मक हैं।

आपकी गद्दीके अनुयायी स्थान श्रीसद्गुरु-सदन, गोलाघाट, अयोध्या एवं (शाखकीय शाखा-स्थान) श्रीहनुमन्निवास, अयोध्या आदि बड़ी-बड़ी गादियाँ हैं। श्रीसीताराम-नाम-निष्ठाके प्रचारसे आपने बहुतोंका कल्याण किया है।

(८) पं० श्रीजानकीवरशरणजी महाराज, श्रीलक्ष्मण-किला—आप उपर्युक्त स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजीके परम कृपापात्र शिष्य थे। आप षड्दर्शनके प्रकाण्ड पण्डित थे। आपने विरक्त हो श्रीचित्रकूटमें गुरुजीके साथ भजन किया। फिर गुरु-आज्ञासे आपने बहुत वर्षोंतक पर्यटन करते हुए पूर्ण वैराग्यसे भजन किया। श्रीगुरुजीकी साकेतयात्राके बाद आपने अखण्ड अवधवासका नियम ले लिया। यद्यपि गुरुगादीका विभव आपके ही नाम था, फिर भी आपने वह सब गुरुभाईको देकर स्वयं पूर्णत्यागसे भजन किया। श्रीलक्ष्मणकिलेमें आपकी बैठकपर नित्य सत्सङ्ग होता था। आपके सदुपदेशसे बड़े-बड़े विद्वान् कृतार्थ होते थे। अपने गुरुके निर्मित बहुत-से ग्रन्थोंके रहनेसे आपने स्वयं कोई ग्रन्थ नहीं रचा। 'श्रीसद्गुरुप्रतापप्रकाशसिन्धु' के नामसे एक ग्रन्थ आपने अपने गुरुजीकी जीवनीपर लिखा था। आप तत्त्वज्ञान, शान्ति और वैराग्यके स्वरूप ही थे।

(९) स्वामी श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज, स्थान श्रीसद्गुरुसदन, गोलाघाट—आप उपर्युक्त महात्मा पं० श्रीजानकीवरशरणजीके परम कृपापात्र शिष्य थे। श्रीअवधमें आप गुरु-निष्ठाके आदर्श थे।

जे गुर चरन रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल बिभव बस करहीं॥

—रामचरितमानस (२ । ३) की यह उक्ति आपमें चरितार्थ थी। श्रीगुरुजीकी परधाम-यात्राके बाद स्थान

आज भी बहुत वर्षोंतक व्यवहार करते हुए, वः पैसेमें ही निर्वाह करते थे। छोटी-सी आसनीपर बैठे हुए आपको देखकर कोई नहीं कह सकता था कि आप महंत हैं।

इतना इतना भारी भार आपके वरोगत प्रभावसे आश्रमवासियोंसे ही चलता आता है। पचासों करोड़ी सम्पत्तिमें आपके यहाँ न तो एक बित्ता जमीन थी और न कोई कहीं माँगने ही जाता था। अपने समयके आप आदर्श महंत थे। इनके अतिरिक्त रूपकल्पनाके श्रीरूपकलाजी, अध्यात्मके उपासक श्रीरामप्रसादजी एवं सम्प्रदायके त्यागपात्रे परमहंस श्रीसीतारामशरणजी आदि भी श्रीअवधके भक्तोंमें विशेष विभूति हो गये हैं। विस्तार-भयसे इनके विषयमें विशेष नहीं लिखा गया।

उपर्युक्त द्वादश भक्तोंमें श्रीहनुमान्‌जीके अतिरिक्त शेष इधर कलियुगके ही हैं। श्रीगोस्वामीजी चार सौ वर्ष पहलेके और शेष दस सौ दो सौ वर्षोंके इधरके ही हैं। इनमें संख्या ७से ११ तकके महात्माओंका विशेष परिचय इनके चित्रोंके साथ कल्याणके 'भक्त-चरिताङ्क' पृष्ठ ७१७-७२५ में देखना चाहिये। यहाँ तो इनके महत्त्वको व्यक्त करनेवाली कुछ ही बातें लिखी गयी हैं।

व्रज-भक्तोंका महत्त्व

(लेखक—डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी वाजपेयी, एम्० ए०)

व्रजभूमिको इस देशमें अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसके केन्द्र मथुरा नगरमें भगवान् श्रीकृष्णने प्रकट होकर न केवल मथुरा नगरको अपितु इसके निकटवर्ती सम्पूर्ण जनपदको गौरवान्वित किया। श्रीमद्भागवत (१०।३१।१)में भगवान् श्रीकृष्णके लिये ठीक ही कहा गया है—

> जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः
>
> श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।

अर्थात् हे श्रीकृष्ण! यहाँपर तुम्हारे जन्म लेनेके कारण ही इस व्रजभूमिका महत्त्व इतना बढ़ गया है और यहाँ श्रीका निरन्तर निवास हो गया है।

श्रीकृष्ण-जैसे युगपुरुषकी जन्मभूमि और क्रीडाभूमि होनेके कारण ही शूरसेन या व्रज-जनपदको असाधारण महत्त्व प्राप्त हुआ। श्रीकृष्णके लोक-रक्षक रूपने जन मानसपर अमिट छाप लगा दी। उनके द्वारा प्रवर्तित माधुर्य रस-संवलित भागवत धर्मने कोटि-कोटि भारती प्रजाको कल्याणका मार्ग दिखाया। इतना ही नहीं, इसने विदेशियोंको भी प्रेरणा और शक्ति प्रदान की। भगवान् श्रीकृष्णका गीता-ज्ञान वह उच्च प्रकाश-स्तम्भ है, जो मानवसमाजके लिये सभी देश-कालमें पथ-प्रदर्शक है।

भगवान् श्रीकृष्णकी जन्मभूमि होनेके कारण मथुरा नगर भारतके प्रमुख धर्मावलम्बियोंके आकर्षणका केन्द्र बना। जैन तथा बौद्धधर्मके अनुयायियोंने जन्मस्थानके समीप ही अपने स्तूप और मन्दिर बनवाये। जैनियोंका प्राचीनतम स्तूप मथुरामें 'कंकाली टीला' नामक स्थानपर निर्मित हुआ। गत शताब्दीमें इस टीलेकी खुदाईसे सैकड़ों कलावशेष तथा कई दर्जन शिलालेख प्राप्त हुए, जिनसे पता चलता है कि इस स्थानपर ई० पूर्व कई सौ वर्ष पहलेसे लेकर लगभग ११०० ई० तक स्तूपों आदिका निर्माण होता रहा। बौद्ध स्तूपों एवं संघारामोंकी संख्या मथुरामें बहुत बड़ी थी, जिनमें कई हजार भिक्षु रहते थे। सातवीं शताब्दीमें जब प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएन्-सांग मथुरा आया, तब उसने यहाँ बीस बौद्ध संघाराम देखे। उसने पाँच बड़े देव-मन्दिरोंका भी उल्लेख किया है। उस समय मथुराका वातावरण असंख्य भक्तोंके घोषसे निनादित रहता था। विभिन्न मतोंके अनुयायी जनोंमें पारस्परिक सौहार्द और सहिष्णुताकी जो भावना विद्यमान थी, उसने मथुराका मान धार्मिक जगत्‌में बहुत ऊँचा उठा दिया था।

मुसल्मानोंके शासनकालमें व्रजभूमिका धार्मिक महत्त्व बहुत बढ़ा। सौभाग्यसे उस कालमें ऐसे अनेक संत-महात्मा हुए, जिन्होंने समस्त मानवके कल्याणके लिये भक्तिका सुगम मार्ग निकाला। सगुण भक्तिका जो सीधा-सादा रास्ता इन महानुभावोंने दिखाया, उससे जनताके बहुत बड़े भागका उद्धार किया। व्रजकी पावन-भूमि इन महात्माओंके कार्य-क्षेत्रके लिये बहुत उपयुक्त सिद्ध हुई। भारतके प्रायः सभी स्थानोंसे गण्य-मान्य विचारक और साधु-संत व्रजमें अपनी साधनाको चरितार्थ करनेके हेतु आने लगे। महाप्रभु चैतन्य, उनके अनुयायी रूप-सनातन तथा गोस्वामी हितहरिवंशजी आदि महान् विभूतियोंके द्वारा वृन्दावनका पुनरुद्धार हुआ। वहाँके तथा व्रजके अन्य स्थानोंके अनेक लुप्तप्राय तीर्थोंकी खोज की गयी। महाप्रभु वल्लभाचार्यजी तथा उनके पुत्र विट्ठलनाथजीके कारण मथुरा, गोकुल और गोवर्धनका महत्त्व बहुत बढ़ा। वल्लभ-सम्प्रदायके अन्तर्गत 'अष्टछाप' की

प्रेमावतार श्रीचैतन्य महाप्रभु—कीर्तनके आवेशमें

दर्शनानन्दमें उन्मत्त भक्त रसखान

"इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिंदू वारिये।" —भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

थी। रसखानजी तथा घनानन्दजीने तो प्रचुर साहित्यकी रचना की।

विभिन्न सम्प्रदायोंके भक्तोंके अतिरिक्त अन्य कितने ही भक्तजन व्रजमें हुए। नारायण भट्टजी, मीराँबाई, रसखान, भगवतरसिकजी, माधवदासजी आदि महानुभावोंके नाम भी चिर-स्मरणीय रहेंगे। इन भक्तोंकी परम्परा व्रजमें बराबर जारी रही। १७वीं, १८वीं तथा १९वीं शताब्दियोंमें भी व्रजभूमि अनेक भक्तजनोंके आवासमें गौरवान्वित रही और आज भी उसका स्थान वैष्णव-भक्तिके एक प्रमुख केन्द्रके रूपमें अक्षुण्ण है।

व्रजके भक्तोंकी हमारे धर्म, दर्शन, भाषा, साहित्य और लोक-मानसपर अमिट छाप पड़ी है। उन्होंने भारतीय संस्कृतिका अनेक रूपोंमें उद्धार किया। भूले-भटके और संत्रस्त मानवको उन्होंने सच्चा मार्ग दिखाया। धर्मके अभ्युत्थानके हेतु उनके द्वारा जो सरल रीति अपनायी गयी, वह हमारे इतिहासमें कभी भुलायी न जा सकेगी। दिव्य माधुर्य-रसके साथ उन्होंने भक्ति और वैराग्यका समन्वय उपस्थित किया। वर्गगत और व्यक्तिगत भेदको मिटाकर इन संतों-ने समानता और सहिष्णुताका जो पाठ पढ़ाया, उसने मानवताको एक नया जीवन-दर्शन प्रदान किया। इन संतोंकी यह महान् देन कभी विस्मृत नहीं की जा सकती।

महाराष्ट्र-भक्तोंके भाव

(लेखक—श्रीगोविन्द नरहरि वैजापुरकर, एम्० ए०, न्याय-वेदान्ताचार्य)

'भक्ति' और 'भाव'का अविनाभाव-सम्बन्ध है। श्रीज्ञान-देव महाराज लिखते हैं—'गाँठ बाँध लो कि बिना भावके भक्ति नहीं और न बिना भक्तिके मुक्ति ही सम्भव है।' भगवान् स्वर्ग, पृथ्वी, पाताल, पाषाण या और किसी स्थान अथवा वस्तुमें नहीं, भावमें ही विराजमान हैं। 'भावे हि विद्यते देवः' यह एक सुपरिचित सूक्ति है। इसीलिये संत तुकाराम स्पष्ट कहते हैं कि 'जो भाव रखेगा, उसे ही पत्थर उबारेगा। मुख्य वस्तु भाव ही है। भावके निकट भगवान् दौड़े चले आते हैं।' उन्होंने यहाँतक कहा है कि 'भाव ही भगवान् है।' अपने गुरुके इस सूत्रपर भाष्य करती साध्वी बहिणा-बाई कहती हैं कि 'मुझे तनिक भी संदेह नहीं कि भाव ही भगवान् है। भाव इच्छित फल देनेवाला है, वह निर्वाणपदकी प्राप्ति करा देता है।'

सारांश, बिना भावकी भक्ति भक्ति न होकर 'भक्ति-की कवायद' मात्र बन जाती है। नामोच्चारणमात्रसे केवल कायिक या वाचिक तप बन पड़ता है, पर मानस-तपके लिये तो भावकी ही शरण लेनी पड़ेगी, भाव-संशुद्धिका ही पल्ला पकड़ना होगा। आखिर गीता भी तो इसीको 'मानस तप' कहती है—'भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते।' यही कारण है कि एकनाथ महाराज स्पष्ट और दृढ़ताके साथ कहते हैं—

भगवद्भाव सर्वां भूतीं। हेंच ज्ञान हेचि भक्ति॥

अर्थात् सर्वभूतोंमें भगवद्भाव ही ज्ञान और भक्ति है। यहाँ यह आशय है कि जिस तरह उपासकको अपने उपास्यके विषयमें यह भाव रखना पड़ता है, उसी तरह स्वयंको भी अनिवार्यतया इसी भगवद्भावसे भावित रखना पड़ता है। तभी यह साधना सध पाती है। 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्' इस वचनका भी यही रहस्य है। इस तरह एकनाथकी यह भक्तिकी परिभाषा सहज ही उपास्य और उपासक दोनोंको भाव-मग्न बना देती है। वैसे 'भाव' शब्द गीतामें पदार्थ, श्रद्धा, वृत्ति, स्वरूप, अस्तित्व आदि कई अर्थोंमें प्रयुक्त है। किंतु उसका तात्पर्य 'अस्तित्व' मात्र है। बात यह है कि भगवान्‌का अपरोक्ष साक्षात्कार ही मानवका परम लक्ष्य माना गया है। यही श्रेष्ठकी भक्ति है, जिसे आत्मकाम, पूर्णकाम, निर्ग्रन्थ शुकादि परमहंसतक किया करते हैं। इसकी पहली सीढ़ी प्रतिष्ठित मूर्ति या गुरुमें देवताका अस्तित्व मानना है। मानव जब देव-प्रतिमामें भलीभाँति अपने इष्टदेवके अस्तित्वका भान करने लगता है, तब इष्टदेवस्थ देवको पकड़ना भी उसके लिये सुलभ हो जाता है। जब इष्टदेवस्थ देवका अस्तित्व बुद्धि-वृत्तिमें कौंधने लगता है, तब स्थिर-चरात्मक बाह्य सृष्टिमें भी उसका भान (विज्ञान) होने लगता है। इस तरह सर्वात्मभाव प्रकट होता और साधक पूर्णावस्थाको पहुँच जाता है। उस समय उसका व्यवहार बड़ा ही नम्र और मर्यादित हो जाता है।

सीय राम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

इस चौपाईसे गोसाईंजी इसीकी ओर संकेत कर रहे हैं।

दूसरी दृष्टिसे देखें, तो साधक अपना यही भाव जब प्रेमी भक्तोंके भावोंकी कसौटीपर कसता है तब उसे अपनी न्यूनता

स्पष्ट हो जाती है, जिससे उसे अपनेमें सुधार करते बनता है। अपनी कमी समझनेपर मन पश्चात्तापसे भर उठता है और यह पश्चात्ताप अभिमानको जलाकर उस सूक्ष्म सद्भावको प्रकट कर देता है, जो अभिमानके तले दबा रहता है। श्रीएकनाथ महाराज कहते हैं कि 'एक बार हृदियर यह भाव अङ्कित हो जाय, तो फिर उसे श्रुति-स्मृतियोंका ज्ञान रहे या न रहे, उसके लिये भव-सागर और उसमें डूबना-उतराना मिथ्या हो जाता है। उसमें प्रेम-भक्ति उत्पन्न होती है और उससे संतुष्ट होकर भगवान् सदैव उसकी रक्षा किया करते हैं। यही 'भाव'की महिमा है।

साहित्य-शास्त्रकी दृष्टिसे भी देखा जाय तो उसका सारा दारोमदार 'भाव'पर ही है। आखिर ब्रह्मास्वाद-सहोदर रस भी तो स्थायीभावका ही परिपक्व रूपान्तर है और उसके साधन भी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव ही हैं। इस दृष्टिसे 'प्रमुखतम आन्तरिक अभिप्राय विशेष' ही 'भाव' ठहरता है।

महाराष्ट्रके भक्त इस भावप्रपञ्चमें बहुत आगे बढ़े हुए हैं। सगुणसे निर्गुणतक पहुँचनेमें उन्होंने भावोंका बड़ा ही चमत्कार दिखाया है। आन्तरिक अभिप्राय-विशेषरूप भाव भी उनके वाङ्मयमें जगह-जगह भरे पड़े हैं, अवश्य ही उन्हें खोज निकालना टेढ़ी खीर है। इन्हीं भावोंके माध्यमसे वे जहाँ मानवको सगुणसे निर्गुणतक पहुँचानेमें सहायक होते हैं, वहीं व्यवहार-क्षेत्रमें भी उनका अच्छा पथ प्रदर्शन करते हैं। प्रस्तुत लेखमें मराठीके आदि संत कवि श्रीमुकुन्दराज (१००० ई०) से श्रीरामजोशी (१८१२) और श्रीसंत विठोबा अण्णा दफ्तरदार (१८७१ ई०) तक प्रमुख भक्त कवियोंके वाङ्मयका सिंहावलोकन करके उनके भावोंको चयन करनेका यत्न किया जा रहा है। उपर्युक्त आदर्श रखकर चलनेपर 'पाते पञ्चाक्षर' कुछ हाथ लग ही जाता है। अब पाठक उधर ही चलें।

श्रीमुकुन्दराज

श्रीमुकुन्दराज (१००० ई० के आस-पास) अपने 'विवेक सिन्धु'में कहते हैं कि 'जो सगुण ब्रह्म है, उसे ही परमात्मा जानो। उसे ही परम पुरुष कहो। वह सर्वात्मा, सर्वसाक्षी और सबके कुलिगत है। वह कभी भी अपने भक्तकी उपेक्षा नहीं करता।' 'परमामृत' में वे लिखते हैं—'बड़े प्रयाससे यज्ञ-यागादिका अनुष्ठान करके जो स्वर्ग-सुख प्राप्त किया जाता है, वह भी इस ब्रह्मसुखपर न्योछावर है। यह आनन्द लौकिक आनन्दको चौतकर पी जाता है। उसका वर्णन करनेमें 'परा' वाणी भी मूक हो जाती है। भला, गूँगा सुखका क्या बखान कर सकता है। वहाँ मनकी गति भी रुक जाती है। उस सुखका वर्णन कौन कर सकता है। जो इसका अनुभव करता है, वही इसे जान सकता है; यह दूसरेकी समझमें आ ही नहीं सकता।'

श्रीज्ञानदेव

श्रीज्ञानदेव महाराज (१२७५ ई०) साक्षात् विष्णुके अवतार माने जाते हैं। महाराष्ट्रके भक्तिक्षेत्रमें उन्हें ज्ञानको भक्तिके साँचेमें ढालनेवाला आप आचार्य कहा जाय तो अनुचित न होगा। वे लिखते हैं—'एकमात्र भगवान् विठ्ठलनाथको ध्यान लेना ही भक्ति और ज्ञान है।' वे भगवान्से कहते हैं—'भगवन्! मैं और कुछ नहीं कहता। बस, आप अपना विरद सँभालें। देखो, पत्थरकी चिन्तामणि क्या मूल्य! पर राजा बड़े-से-बड़े कष्ट झेलकर भी उसकी रक्षा करता है। मैं भी वैसा ही पतित हूँ, पर हूँ आपकी कृपासे अङ्कित।'

वे साधकोंको सलाह देते हैं कि 'माली जिधर ले जाता है, पानी उधर ही मुड़ता है। आप भी वैसे बन जायँ।' एक जगह वे कहते हैं—'वैष्णवोंको नाम ही मधुर लगता है और योगी तो जीवन-कला ही जानते हैं। नामामृतकी माधुरी और जीवन-कला दो नहीं, एक ही हैं।' फिर उनकी यह महत्त्वाकाङ्क्षा देखिये—'मैं अपना सारा संसार सुखमय बना जाऊँगा। तीनों लोकोंको आनन्दसे भर दूँगा। पंढरपुर जाऊँगा और अपने माता-पिता—विठ्ठल-रखुमाई (श्रीकृष्ण-रुक्मिणी) से मिलूँगा। सारे सुकृतोंका फल पाऊँगा और परब्रह्मको हाथमें ले लूँगा।'

ज्ञानदेवका सगुण निष्ठाके साथ-साथ यह तादात्म्यभाव भी देखिये—'एक ही पत्थरको कुरेदकर बनाया हुआ मन्दिर! उसी मन्दिरमें पत्थरकी गढ़ी मूर्ति और उसके सामने पत्थरका ही भक्त, पगमें पत्थरके ही बने फल-पुष्प! ये सब जैसे एक ही पत्थरकी चट्टान खोदकर बनाये जाते हैं, एक ही अखण्ड पत्थर अनेक रूपोंमें प्रतिभात है, भक्तिके व्यवहारमें भी वैसा ही क्यों न हो! स्वामि-सेवक-सम्बन्ध रहकर भी एकता क्यों नहीं हो सकती! यह भक्त-सृष्टि, ये पूज्य-पूजक पृथक्-पृथक् होते हुए भी आत्मरूप क्यों न माने जायँ!'

श्रीनामदेव

श्रीनामदेव (लगभग ११९८ ई०) की भक्ति और भाव कुछ और ही हैं। वे कहते हैं—'भगवन्! तुम्हारा

प्रेमसुख मैं भलीभाँति जानता हूँ । तुम्हारा ध्यान नहीं करता और न मायाजालके ही फेरमें पड़ता हूँ । मेरी अपनी कुंजी तो निराली ही है। मैं न तो तुम्हारी स्तुति करता हूँ और न कीर्ति ही बखानता हूँ । मैंने तो अपनी अलग ही युक्ति खोज निकाली है । मैं न तो व्यर्थ मायाको मृषा करता हूँ और न बलात् इन्द्रियोंका ही निरोध चाहता हूँ। मेरा तो अपना अलग ही बोध है । जब मैं निर्विकल्प बनकर तुम्हारा नाम गाऊँगा, तब तुम हठात् अपने-आप मेरे हाथ लग ही जाओगे ।'

वे स्पष्ट प्रतिज्ञा करते हैं—'यह देह चली जाय या बनी रहे, मेरा भाव तो पाण्डुरङ्गमें ही लगा है । पंढरीनाथ ! आपकी शपथ, दास कभी आपके चरण छोड़ नहीं सकता । मुखमें आपका मङ्गलमय नाम और हृदयमें अखण्ड प्रेम भरा हुआ है । केशवराज ! यह प्रण तो कर बैठा, अब इसे निभाना आपका ही काम है ।

'प्रभो ! बित्ताभर पेट पीठसे सट गया । यह साधुओंके चरणों ही करने नहीं देता । पेट ही मेरी माता, पिता, भ्राता, भगिनी—सब कुछ बन गया है । सदैव उसीकी चिन्ता लगी रहती है। उसने मुझपर बुरी तरह दैन्य ला डाला है । नाथ ! अभी कहाँ-कहाँ इस पापी पेटके लिये दौड़ाओगे ?'

भक्तकी यह खरी-खोटी भी सुन लीजिये—'भगवन् ! मेरा भाव तेरे चरणोंमें बड़ा है और तुम्हारा रूप मेरी आँखोंमें। जब तो हम एक दूसरेसे मिल ही गये, तब जन्म-जन्मान्तरतक दूर कैसे सकते हैं ! नटखट ! मैं तो तुम्हारे चरणोंपर गिर पड़ा, पर तुमने मेरी माया-ममता ही छोड़ दी । मैंने तुम्हें हृदयसे लगाया, तो तुमने मुझे विदेह ही बना डाला । सुजान ! बताओ, तुमने किसे-किसे नहीं ठगा ?'

श्रीएकनाथ

सर्वभूतात्मा श्रीएकनाथ महाराज (१५२४ ई० के आस पास) विनती करते हैं कि 'यह नरदेह पाकर भगवद्भक्ति तो करो और निजात्म-लाभ तो साथ लो । ······मूर्तिका ध्यान करनेपर तन्मयता या एकताके साथ जो निश्चल स्थिति होती है, उसीका नाम 'मुख्य भक्ति' है ।······ यह नरदेह प्राप्त करके भी जो हरिनामसे विमुख रहते हैं, वे जीवनभर पाप ही बटोरते हैं ।······वाणी वेद-शास्त्रोंसे सम्पन्न होकर भी यदि नाम-संकीर्तनकी निन्दा करती है, तो उससे बढ़कर कोई पापी नहीं । पृथ्वी उसके कारण सदा ही दुःखी रहती है ।······कारण व्रत, तप, यज्ञ और दानसे भी बढ़कर हरि-नाम है । इससे निमेषमात्रमें समाधान होकर मन अमन बन जाता है ।' इसलिये नाथ कहते हैं—'नित्य हरि पूजन किया करो । पूजाका विसर्जन करनेपर भी अनुसंधानका विसर्जन मत करो । अखण्ड हरिस्मरण चलता ही रहे ।'

नाथने मुक्तिके मतवालोंको भी सचेत कर दिया है—'सगुण-चरित्र बड़े आदरके साथ गाया करो । सज्जनोंकी हृदयसे वन्दना करो । भक्ति और ज्ञानसे विरहित बातें कभी न करो । संतोंके पास बैठकर वैराग्यके रहस्योंका विवरण किया करो । संतोंकी कीर्तन-मर्यादा यही है कि किसी तरह भगवान्की मूर्ति हृदयमें बैठ जाय । आदरके भजन और उसके अखण्ड स्मरणमें ताली बजाओगे, तो मुक्ति तत्काल हाथ लग जायगी ।'

नाथने दो शब्दोंमें सारा मामला ही तय कर दिया है । संसार सुख-दुःखात्मक ही है, उनसे बचना नहीं । नाथ कहते हैं—'जिन्हें आप महादुःख कहते हैं, भक्त उन्हें भगवान्के रूपमें ही देखते हैं । और जिन्हें आप परमसुख कहते हैं, वह तो साक्षात् भगवान् हैं ही ।' फिर भक्तोंको गम किस बातकी ?

संत श्रीतुकाराम

संत तुकाराम महाराज (१५८८-१६९८ ई०) ने स्वयं संसारमें रहकर परमार्थकी साधना की और दूसरोंको भी यही उपदेश दिया है । 'भगवान्को सबसे अधिक यही भक्ति पसंद है कि हम अपना संसार चलाते रहें और भगवान् जैसे रखें, वैसे ही रहें। चित्तमें पूर्ण समाधान रहे । यदि उद्वेग करेंगे, तो दुःख ही हाथ लगेगा, संचित फल तो किसी भी दशामें भुगतना ही पड़ेगा । इसलिये सारा भार उसी प्रभुपर छोड़ दें और यह संसार ही उनके चरणोंपर न्योछावर कर दें ।'

वे आगे कहते हैं—'भगवन् ! मुझे सदैव छुटपन ही दीजिये । कारण, छोटी-सी चींटीको सदैव शक्करके कण ही खानेको मिलते हैं । ऐरावत जिसके चौदह रत्नोंमें एक माना जाता है—बहुत ही बड़ा है । किंतु उसपर अङ्कुशकी मार ही पड़ती है । जिसमें बड़प्पन होता है, उसे कड़ी से-कड़ी यातनाओंका सामना करना पड़ता है । इसलिये सदैव छोटे-से-छोटा ही बनना चाहिये ।'

श्रीतुकाराम संतकी खरी पहचान बतलाते हैं—'जो अन्तरसे निर्मल और वाणीसे रसभरा है—उसके गलेमें माला

रहे या न रहे; जो आत्माका अनुसंधान करता है और जिसने मोक्षका मार्ग निरापद बना लिया है—उसके सिरपर जटाएँ रहें या न रहें; जो पर-स्त्रीके विषयमें नपुंसक है—उसकी देहमें राख रमी रहे या न रहे। तुकाराम कहता है कि जो परद्रव्यके प्रति अंधा और परनिन्दाके प्रति गूँगा है, उसे ही मैंने संतरूपमें देखा है।'

श्रीसमर्थ रामदास

श्रीसमर्थ रामदास स्वामी महाराज (१६०८-१६८१ ई०) अपने 'करुणाष्टक' में कहते हैं—'सत्यसन्धके निधान प्रभु राम मेरे बड़े ही समर्थ मित्र हैं। इसीलिये मैं उनसे बड़ी आशा लगाये बैठा हूँ। प्राणोंको कण्ठमें रोककर उँगलियोंसे दिन गिन रहा हूँ। जिस दिन वे अकस्मात् मुझसे मिल जायँगे, मैं कसकर उनसे लिपट जाऊँगा।'

वे मनको समझाते हैं—'मनुष्य! सदा सावधान रहो, कभी भी दुःखित मत बनो। देखो, एकमात्र भगवान् ही जगत्‌का कर्ता है। उसीने यह सारा विश्व रचा है। उससे कभी गर्व न करो। यह देह तो भगवान्‌की है और वित्त है कुबेरका। फिर इस जीवका रहा ही क्या? देने-दिलानेवाला, लेने-लिवानेवाला और करने-करानेवाला एकमात्र देव वही है। प्राणी तो निमित्तमात्र बनता है। निर्वाणमें तो देव एक ही है। लक्ष्मी उसकी दासी है और सारी सत्ता भी उसीकी है, जिसके बिना जीव खड़ा ही नहीं रह सकता।'

आगे एक जगह तो समर्थने अपना हृदय ही खोलकर रख दिया है। "अब किसकी शरण जायँ और सत्य किसे मानें? कारण, इस भूमण्डलपर अनेक पंथ और मत चल रहे हैं। कोई सगुण मानता है तो कोई निर्गुण, किसीने सब कुछ त्याग दिया है तो कोई सब कुछ भोगता हुआ भी उसे 'राजयोग' बतलाता है। रामदास पंथकी बात यही बतलाते हैं कि भक्तिके बिना सारा व्यर्थ है।...इसलिये आप संतोंकी शरण जायँ और निर्गुणको ही सत्य मानें। सत्यका निर्णय करें। ज्ञानपूर्वा भक्तिसे काम लें और उसीको सच्ची भक्ति मानें।"

श्रीमुक्तेश्वर

श्रीमुक्तेश्वर महाराज (१६०९ ई०) लिखते हैं कि 'जो अन्तरसे सच्ची बात जानता हुआ भी बाहर अन्यथा बोलता है, समझो, उसने कौन-सा कुकर्म करनेसे बाकी रखा? सत्यसे बढ़कर धर्म नहीं, सत्य ही परतत्त्व है। परमेश्वर सदा सत्यके पास ही रहता है।

'यदि लोग सत्य और सत्-मार्गपर चलें, तो भगवान् ही उसका पक्षपाती बनता है। भगवान् अपनी देखरेख स्वयं उसका सारा काम पूरा कर देता है। यह संसार सपनेसा और क्षणिक है। सारे साधन झूठे हैं। यदि सत्य कोई वस्तु है तो वह स्वधर्म और सद्विवेक ही हैं। समझदार इन्हें सावधानीसे साथ लेते हैं।'

श्रीवामन-पण्डित

वामन-पण्डित (१६७३ ई०) भक्ति-वाङ्मयमें धर्म-सौन्दर्यकी सुगन्ध और पाण्डित्यका लावण्य भर देनेवाले मराठीके अनूठे भक्त-कवि हैं। अलंकारोंकी सहज-सुलभ छटा उनमें सिद्धहस्त होने और उसमें भी 'यमक'का भूरि प्रयोग करनेसे इन्हें 'यमक्या वामन' कहा जाता है। वे लिखते हैं—'मन-वनमें ही जहाँ विष्णुप्रेमरूपी अग्निका स्फुलिङ्ग गिरता है, वहाँ दुरितरूप घासकी झोपड़ी देखते-देखते जलकर राख हो जाती है।'

एक जगह पण्डितजी लिखते हैं—'समुद्रमें मेघका बिन्दु मिलता है और पवन भी। पहला उदाहरण जो भक्त नहीं उनका है और दूसरा ज्ञानी होते हुए जो भक्त हैं, उनका है।...ज्ञानी भक्तको भक्तिके सामने मुक्ति फीकी लगती है। भगवान् उसे स्वयं ही मुक्ति देते हैं। मुमुक्षुको तो मोक्षकी इच्छा भी रहती है, पर भक्तोंको यह भी नहीं। वे तो नाममें भी मुक्ति देखते हैं। वे जगत्‌के लोगोंकी निन्दा-स्तुतिकी परवा न करके मुकुन्दको ही भजते हैं। कर्मक्षय होनेपर जब उनकी देह गिरती है, तब भगवान् स्वयं उन्हें अपने वैकुण्ठधाममें ले जाते हैं।'

'मुमुक्षु भगवान्‌की सेवा करते हैं, तो मुक्ति माँगते हैं। पर भक्तोंको तो चतुर्विध मुक्तिकी भी अपेक्षा नहीं रहती। फिर भी भगवान् उन्हें भक्तिके साथ मुक्ति भी दे ही देते हैं। मुक्त तो स्वयं अमृत बनकर रहते हैं, सुधाकी मधुरता चख नहीं पाते। पर भक्त तो अमृत होकर भी रसनासे मिलते अमृत चखते भी हैं। यह उनका कितना बड़ा भाग्य है।'

'यथार्थदीपिका' में वे लिखते हैं—"सर्वांग-भक्तिकी दशा ही ज्ञानके परिपाकका लक्षण है। इसीका नाम 'निजभक्ति' है।"

श्रीश्रीधर

भक्तकवि श्रीधर (१७२८ ई० के आस-पास) लिखते हैं—'बिना सद्गुरुके परमार्थ सम्भव ही नहीं है। क्या कहीं बिना चन्द्रके चन्द्रिका भी हुई है? क्या सूर्यके बिना किरणें भी कहीं सम्भव हैं? बिना पानीके बीजसे अङ्कुर कभी भी फूट

रखते हैं। बिना आँखोंके पदार्थ दीख सकता है? या बिना मथे मक्खन निकल सकता है? यदि नहीं, तो बिना गुरुके रहस्यमें भी हाथ नहीं लगता।'

एक जगह श्रीधरकी करुणाने तो कलम ही तोड़ दी। 'प्यारे राम! तुम्हारे नाममें ही विश्राम है। आओ, धीमे-धीमे मुझे अपने धाम ले चलो। अकस्मात् पूर्व पुण्योंसे यह नरदेह मिली; पर मैंने पत्नी, माता, पुत्र, धन और इनसे ही प्रेमका नाता जोड़ा। 'मैं-मैं' कहकर उन्हें गले लगाया। बदलेमें उनके पीछे करोड़ों दुःख भोगे। फिर उन्हें छोड़ अपने हितके लिये दसों दिशाओंमें घूमा। माँगता-माँगता परेशान हो गया। कोई कौड़ी भी नहीं देता, सभी मजाक उड़ाते हैं। जबतक शरीर सुदृढ़ है, तभीतक उससे प्रेम है। जर्जर होनेपर दूसरे क्या, हम स्वयं भी उसे कोसते हैं। इस दुःखको कितना बताऊँ? परम करुणासे ही तेरे द्वारपर आया हूँ।'

श्रीअमृतराय

भक्तकवि श्रीअमृतराय (१७५१ ई० के आस-पास) लिखते हैं—'हरि तो उनके हाथ बिकाना, जो प्रेमसे हरिगुन सीख गया। वह दो-चार दिनों बाद सूखे पत्ते चबाकर जीवन बिताता है। लेन-देनसे मुक्त रहता है। यदृच्छालाभसे संतुष्ट रहता है। उसके अन्तरमें आनन्दकी ही पैदावार होती है।' अमृतेश्वर कहते हैं, 'यह स्थिति उसीकी होती है, जो सर्वप्रथम कनक और कामिनीपर थूक देता है।'

श्रीमोरोपंत

श्रीमोरोपंत या मयूरकवि (१७२९—१७९४ ई०) मराठी काव्य-जगत्के बृहस्पति हैं। 'सुश्लोक'के लिये वामन प्रसिद्ध हैं, 'अभंग'में तुकारामकी कोई बराबरी नहीं करता, ज्ञानदेव महाराजकी 'ओवी' बेजोड़ है, वैसे ही 'आर्या'में मयूरकवि-सा मयूरकवि ही है। ये लिखते हैं—'मन—यह आवारा पशु है। सदैव पर-धन और पर-कामिनीके खेतोंमें घुसता है। इसलिये विवेकरूप पाशसे उसके गलेमें वैराग्यका काठ बाँध दीजिये।'

ये लिखते हैं—'हरिकीर्तनमें इस प्रकार सावधान होकर घुसना चाहिये, जिस प्रकार धनिकोंके घरमें चोर घुसता है। वहाँसे वैसे ही सीधे उठ जाना भी नहीं चाहिये, जैसे आवारा पशु मार खानेपर भी सीधे चला नहीं जाता।'

सत्संगतिके बारेमें महाकवि मयूरके सुझाव सुनिये—'सत्संगतिमें वैसा ही प्रेम होना चाहिये, जैसा ग्रीष्मकालमें पंखेसे होता है। रम्य होनेपर भी यदि कोई अभक्त हो तो वह उसी तरह अप्रेय है, जिस तरह भ्रमरके लिये चम्पक। कुजनोंकी संगतिसे मन वैसे ही काँपना चाहिये, जैसे बूढ़ोंमें सिर। सज्जनोंके बीच इस प्रकार घुलना चाहिये, जैसे माताके आँचलमें बालक।'

मयूरकी 'केकावली'के ये स्वर सुनिये—'भगवन्! मुझे आपने हिम्मत आदि बहुत कुछ दिया, पर क्या अच्छी सतीको अलंकारोंसे खूब सजा दिये जानेपर भी बिना पति-समागमके सुख मिल सकता है? फिर अनन्यभावसे तुम्हारी शरणमें आये हुए मुझको बिना तुम्हारे चरणोंके सुख कैसे मिलेगा? सौभाग्य-सिन्दूरके बिना सतीकी शोभा ही क्या?'

कवि एक कदम और आगे बढ़कर अपनी बात रख देता है—'यदि तुम्हें मुझे दर्शन न देना हो तो ये सारी देनें लौटा लो। पर दयालो! दान दी हुई वस्तुएँ मेरे खोने और तुम्हारे ले लेनेमें तुम्हारी ही अपकीर्ति होगी; इसलिये तुम उन्हें तो वापस मत ही लो, मेरे पास ही रहने दो। हाँ, तुम्हारे पास जब आ ही पहुँचा हूँ, तब इनको कायम रखते हुए इतना तो करो कि अपने भक्तोंके पास ले जाकर मुझे छोड़ दो।'

श्रीमहीपति

श्रीमहीपति बाबा (१७७८ ई० के आस-पास) ने तो महाजनीका लंबा-चौड़ा हिसाब ही लाकर रख दिया है। मायामय व्यापारी भगवान् हिसाब-किताब देकर मानवको संसारमें भेज देते हैं। फिर वह सारा हिसाब साफकर, जमा-खर्चका मिलान करके उनके सामने बही रख देता है, तो मालिक प्रसन्न होते हैं। हिसाब मिलानेमें खर्चके अनुपातमें ही रोकड़में-से रकम जमा की जाती है। तभी जमा-खर्चका मिलान हो पाता है। फिर बाकी रोकड़ मालिकके सामने रख देनेपर वह उसे भी साफकर हिसाब बंद कर देता है।

श्रीमहीपति एकनाथ-चरित्रमें श्रीएकनाथसे कहलवाते हैं—'यह नरदेह इस जन्मका मूलधन है। पूर्व-संस्कार पिछले सालकी रोकड़ हैं। हृदयरूप पन्नेपर प्रेमके अक्षरोंसे यह लिखी गयी है। स्वधर्मका पालन ही खर्च है। इसको ब्रह्मार्पण करते ही हिसाब (जमा) साफ हो गया। विवेकरूप लेखकने इसे ठीक-ठीक लिख दिया। यह सारा हिसाब साफकर, जमा-खर्च मिलाकर सद्गुरुके पास लाकर रख दिया। अब जो शेष रोकड़ अज्ञान है, उसे भी आप साफ कर दें और यह खाता ही बंद कर दें।'

श्रीरामजोशी

श्रीरामजोशी (१७६२—१८१२ ई०) 'लावनी' गीतके लिये मराठीमें अपना सानी नहीं रखते । वे लिखते हैं—'अच्छा-सा जन्म तुम्हें मिला, फिर हरि-सेवा-सुधाको क्यों नहीं पीते ? पेटके लिये तरह-तरहके प्रपञ्च रचते हो, पर क्या तुम्हें बिना भक्तिके कहीं सुख-शान्ति मिल सकेगी ? तुमने तिलक लगाया, हाथमें दण्ड-कमण्डलु लिया, मूँड़ मुँड़ाया, कठोर तप किया ! पर सारा-का-सारा व्यर्थका पसारा हुआ । भगवान् तो भावका भूखा और भक्तिका पाहुन है ।'

श्रीविठोबा अण्णा दफ्तरदार

श्रीविठोबा अण्णा दफ्तरदार (१८११–१८७१ ई०) नामदेव-तुकारामकी परम्पराके अन्तिम उज्ज्वल दीप हो गये हैं । उनके संस्कृत-मराठीमें बड़े ही भाव एवं विद्वत्ता भरे पद पाये जाते हैं । पदोंमें भक्ति और भाव कूट-कूटकर भरे हैं । 'पश्चात्ताप' पर वे लिखते हैं—

"प्रभो रामचन्द्र ! उत्तम जन्म पाकर भी मैं व्यर्थ ही मिट्टीमें मिल गया ! यह दुष्ट पापी अब तुम्हारे चरणोंके पास आ गया है । पहले तो मैं स्वाध्याय (वेदाध्ययन) से ही चूका । सद्गति देनेवाले श्रौत-स्मार्त कर्म भी हाथोंसे नहीं हुए । पुराणोंको पढ़कर तुम्हारे यशोगानके लिये भी आगे नहीं बढ़ा । खसखासके तुम्हारी पूजाके लिये भी समय नहीं मिला । सबको, दामादको तरह-तरहके पकवान खानेके लिये दिये, आरत-मिन्नत की । पर कभी भूखातुर अतिथिको साथमें प्रेमसे खानेके लिये नहीं बुलाया । एक पैसा भी छोड़नेके लिये हाथने उदारता नहीं दिखायी । नाम तो मुफ्तका था, पर वह भी कभी जिह्वापर नहीं आया ।'' हाँ, निगम-नगारे तुम्हारे यशका उद्घोष करते हुए तुम्हें 'दीनदयाल' कहते हैं । यही सुनकर सचमुच यह पत्थर विह्वल तेरे चरणोंके पास आ पहुँचा है । (अब इस दीनातिदीनको उबारना तुम्हारा ही काम है) ।"

महाराष्ट्रकी उर्वरा वसुन्धरासे ऐसे अनेकानेक भक्तरत्न ऊपर उठकर, चमककर उसमें पुनः समा गये, जिनके भावोंकी भावना करता हुआ भावुक मन भी भावातीत मन जाता है । उन सबको इस छोटे-से आकारमें जड़ना सम्भव नहीं । यहाँ तो मराठीके आदिकविसे लेकर गत शताब्दीतक ८०० वर्षोंके बीचके प्रमुख भक्तकवियोंके संक्षिप्त भावोंको रखने और इस तरह महाराष्ट्रके भक्तोंके भावोंका एक 'प्रपञ्चक' बनानेका यत्न-प्रयत्न किया गया है । मुक्ताबाई, जनाबाई, विठोबा, नरहरि सुनार, सेना नाई, गोरा कुँभार, चोखा महार आदि भक्तोंमें आकर का तो कि 'क्या इस प्रपञ्चकके लिये हमारे भाव नमस्कारी नहीं सभावे, जो तूने उन्हें वर्जित कर दिया ?' नहीं, मैं उनसे क्षमाप्रार्थी हूँ । लेख बहुत बड़ा हो गया है । अनायासके परसे पुनः एक बार उन सब भक्तोंका नाम स्मरणकर इस त्रुटिके लिये उनसे बार-बार क्षमा माँगता हूँ ।

श्रीजनाबाई कहती हैं—'भाई ! हमारा पंढरीनाथ एक वर्णोंसहस्र है । उसके चारों ओर भक्तोंका मेला लग रहा है । निवृत्तिनाथ उनके कंधेपर बैठे हुए हैं । सोपानदेव हाथ पकड़े हुए हैं । ज्ञानेश्वर आगे-आगे चल रहे हैं । उनके पीछे सुन्दरी मुक्ताबाई डग भरती आ रही हैं । गोरा कुम्हार खेले हैं, तो चोखा चमार प्राणोंके साथ !' जनी कहती है कि 'भक्तोंका यह आनन्द-मेला धूम-धामसे मनाइये । वेदशास्त्र कहा और सिद्धान्तोंने घोषित कर दिया है कि तुम मानव हो इसलिये भक्तिमार्गपर चलो । निश्चय रखो । कभी अमर्यादित न करो ।' जनी कहती है कि 'ज्ञानी वही है, जो भगवत्प्रेमी हो गया है ।'

मनोविज्ञानकी दृष्टिसे विचार करनेपर पता चलता है कि भक्त अपनी शक्तिसे भावोत्पादन करते हैं । इस भाव-शक्तिका वेग जिसका जितना जोरदार होता है, उसके उतना ही भावोत्कर्ष शीघ्र होता है । मेस्मेरिज्म, हिप्नाटिज्म करनेवाले प्रमुख अभ्यासमें अपनी भाव-शक्तिसे ही अपना प्रभाव उत्पन्न करते हैं, यह हम बहुतोंकी अनुभूत बात है । स्वामी विवेकानन्द अमेरिकामें जाकर अपनी अलौकिक विजय दिग्विजय समय 'माई मास्टर' कहकर अपने गुरुका स्मरण किया, तो तत्काल अद्भुत सात्त्विक भावोंसे भर गये । उनकी उस अवस्थाका जितना मूल्यवान् परिणाम अमेरिकनोंपर हुआ, कदाचित् उतना परिणाम परमाणु-बमसे भी सम्भव नहीं है ।

गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तुच्छिन्नसंशयाः ।

—यह जो श्रीदक्षिणामूर्तिका वर्णन आता है, उससे भावशक्तिके द्वारा भावोत्पादनकी बात पुष्ट होती है । वर्तमान ग्रन्थने 'धृतिभाव' और उसके साधनभूत 'भक्तिभाव' समाजका धारक बताया है, यह समाजका धारण भावोत्पादन माध्यमसे ही सम्भव है ।

निर्गुण-पर्यवसायी, सगुण नाम-रूपोंकी विविधताने महाराष्ट्रमयी भक्तोंके उपर्युक्त भाव भी अवश्य ही इसमें भाव उत्पन्न करेंगे, यह दृढ़ विश्वास है । कारण, इन भावों मर्मज्ञ भक्तोंकी भाव-शक्ति बड़ी ही चमकती है । इसी आशा यह साधारण प्रयत्न किया गया है ।

महाराष्ट्रीय भक्तोंके कुछ 'प्रेम-लपेटे अटपटे' वचन

(लेखक—प्रा० श्रीनीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी, एम्० ए०, बी० टी०)

महाराष्ट्रकी पुण्यस्थली ! सह्याद्रिसे संरक्षित तथा गोदा, कृष्णा और कावेरीसे पोषित इसी भूमिने भगवान् परशुरामको अपनी गोदमें पलाया । देशभरके नगरमें अध्यात्मका अमर भरनेवाले, भगवान्‌की पवित्र गुणगाथाको घर-घरसे हृदयतक पहुँचानेवाले और भगवद्भक्तिके अनुष्ठानकी दृढ़ नींवपर गम्भीर ज्ञानवैभवका गगनचुम्बी प्रासाद खड़ा करनेवाले अद्भुत क्षमतावाले संतजन इसी भू-माताके लाड़ले लाल हैं। आइये, उनकी पवित्र वाणी सुनकर अपने तन और मनको पावन करें ।

× × ×

यह रहा कीर्तिमान्‌का कीर्ति-मन्दिर । त्रैलोक्यसुन्दर त्रिभुवनपति सिंहासनपर विराजमान हैं । परंतु नटवरका वास्तविक रूप क्या है, यह कहना असम्भव है । कभी तो वेणुमें अनुरागकी रागिनी भरकर विरागका स्वर निकालनेवाले श्यामसुन्दर दिखलायी पड़ते हैं, कभी करोंमें कोदण्ड और बाण लेकर दीनोंका परित्राण करनेवाले कोसलेन्द्र भगवान् रामभद्र दृष्टिगोचर होते हैं, तो कभी कमरपर हाथ रखकर तटस्थकी तरह अपने ही नाटकको प्रेक्षकके रूपमें देखनेवाले पण्ढरीनाथ पाण्डुरङ्ग व्यक्त होते हैं । विलक्षण झाँकी है आपकी ।

सभामण्डपमें तो मेला लगा है ! अरे, ये तो सभी भक्त हैं । अपने आराध्यकी सौम्य निहारकर मस्त हो रहे हैं । यह तो संत-धारा है । इस पुण्यतोयामें स्नान करना, डूबना और उसीमें विलीन हो जाना परम भाग्योदयका लक्षण है । ···हाँ, अब तो इनमेंसे स्वर भी सुनायी पड़ने लगे । मानो वीचियाँ हिलोरें मार रही हों ।

संतश्रेष्ठ नामदेव कीर्तन करनेके लिये खड़े हैं । पर आज ऐसा वेष क्यों है ? न करताल ही दिखलायी पड़ती है और न वीणाका ही पता है । हाथमें ढिंढोरा लेकर बार-बार उसे पीटनेका अभिनय हो रहा है और मुखसे शब्द भी निकल रहे हैं—

"बहुत सुन चुका प्रभो ! पता नहीं, किसने तुम्हारा नाम 'पतितपावन' रख दिया ! समझा था, जैसा नाम वैसे ही काम भी होंगे । किंतु यहाँ तो देख रहा हूँ, आँखके अंधे और नाम नयनसुख ! सोचा था—पतित हूँ, द्वारपर जा पहुँचूँगा तो पावन ही हो जाऊँगा ! पर तुम्हारा तो रिवाज ही निराला है । अपनी गाँठका एक टका भी न देनेवाले परम अनुदार हो । 'जितना और जैसा बोओगे, उतना और वैसा ही पाओगे' कहते हो ! वाह-वाह ! क्या उदारता है आपकी । तुम तो पूरे सौदागर हो, सौदागर ! पतितपावन कहाँ ? तुम्हारे-जैसे कंजूसकी ड्योढ़ीपर सिर फोड़नेसे मुझे क्या मिलेगा ! मेरे पास देनेके लिये तो कुछ है नहीं, इसलिये विमुख ही लौट रहा हूँ । अबतक बहुतोंको धोखा दे चुके प्रभो ! पर मेरे लौटनेके उपरान्त यहाँ फिर कोई नहीं आयेगा; क्योंकि मैं तो त्रैलोक्यभरमें ढिंढोरा पीटने निकला हूँ कि तुम पतित-पावन नहीं, सौदागर हो । तुम्हारा पतित पावन होनेका दावा निरा ढोंग है । लो बाबा, मैं चला । मुझे तुम्हारा कुछ नहीं चाहिये । हाँ, अपनी अपकीर्ति बचाना चाहो तो 'नाम' को न भूलना । उसे नाम-रूपसे पार कर देना । राम ··राम ··राम ··!"

× × ×

उधर आँगनमें तुलसी-वृन्दावनके पास कौन महिला खड़ी है ? सीधे मुँह प्रभुसे बात भी नहीं करती ! अहा, यह तो नामदेवकी दासी 'जनाबाई' है—वही जनाबाई, जिसके साथ त्रिभुवनपति चक्की भी पीसा करते थे । पर आजका रंग तो निराला ही है । हाथमें सोंटा लिये खड़ी है ।

"दूसरोंको कष्ट देना, उपकार करनेवालेका भी अपकार करना तुम्हारा तो जातिधर्म ही है । तुम्हारे सामने रोनेसे क्या होगा ? बेचारे बलिने तो अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया और तुमने उसे पातालमें ढकेल दिया । अपनी माँको ही मृत्युके घाट उतारनेवाले निठोला (परशुराम) ! क्या तुम्हारे हृदयको भी कभी दया छू सकेगी ? अरे, जिसने अपने मामा (कंस) को भी नहीं छोड़ा, वह हमारे क्या काम आयेगा ? करुणामयी अम्मा कौसल्याको दुःखके सागरमें ढकेलकर तुम निर्मोही बन चले गये । किसलिये ? विमाता कैकेयीको सुख देनेके लिये ! अरे, यह कैसा न्याय है ? जन्मसे ही माँ-बाप (वसुदेव-देवकी) को कैदमें डालनेवाले महाकृतघ्न विठ्ठल ! इसी वृन्दावनके पास खड़ी होकर मैं आज तुम्हें गालियाँ दे रही हूँ । धीरज धरकर जरा सुन तो लो ।"

× × ×

अरे, इस कोनेमें साँवता माली भी तमतमाये हुए दिखलायी पड़ रहे हैं । "क्यों जी ! तुमने अपनेको क्या समझ रखा है ? तुमसे यदि आते नहीं बनता था, तो मुझे ही बुला लेते !

आखिर मैंने तुम्हारा ऐसा क्या बिगाड़ा है कि मेरे सामने आनेमें भी श्रीमान्‌को इतना संकोच हो रहा है ? वह पैठन-वाला 'एकनाथ' क्या तुम्हारा चचा लगता था कि उसके घर वेतन भी न लेते हुए घड़ों पानी भरा करते थे ? और काशीके कबीरदास क्या सरकारके मामा थे, जो उनके यहाँ बैठकर कपड़ा बुननेकी कलायाभी दिखलायी जाती थी ? तब मेरे सामने क्यों नहीं आते ? क्या 'चोखा' तुम्हारा बाप है कि उसके पेटमें ही तुम समा गये और अब बाहर आनेका नाम भी नहीं ले रहे हो !"

× × ×

उधर संत तुकाराम कुछ रूठे हुए-से रहते हैं। वीणाके स्वरमें अपना स्वर मिलाकर वे भी कुछ बड़बड़ा रहे हैं—

"प्रभो ! समझ नहीं पाता कि मुझसे मिलनेमें तुम्हारी कौन-सी हानि हो रही है। मुझ अकिञ्चनके सामने आनेमें क्या तुम्हारा कुछ घट जायगा ? सुनते हैं, तुम्हारा सौन्दर्य साक्षात् कामको भी लज्जा देनेवाला है। ठीक ही है, तुम काम (प्रद्युम्न) के बाप जो ठहरे। तुम्हें यह भय तो नहीं है कि सामने आनेपर तुम्हारे लावण्यको ही मैं चुरा लूँगा ? क्या इसीलिये छिपे बैठे हो ? क्या तुम्हें मुझसे मिलनेमें किसीका डर लग रहा है ? कदाचित् तुम यह सोच रहे होगे कि सामने चले गये और मैं तुम्हारा वैकुण्ठ ही माँग बैठा तो ? मेरे मालिक ! डरो नहीं ! तुम्हारी ऋद्धि-सिद्धियाँ तुम्हारे ही पास धरी रहें। यही नहीं, अपनी मुक्ति भी अपने ही पास रख लो। हम तो भक्तिमें ही मस्त हैं। हमें कुछ नहीं चाहिये। इसलिये डरो मत, जरा सामने भर आ जाओ। 'तुकाराम' तो देखकर ही निहाल हो जायगा।"

अहा ! ये हैं, मराठी साहित्याकाशके जलधर महाकवि मोरोपंत ! मुखपर पाण्डित्यका तेज झलक रहा है, पर अभिमान तो छू भी नहीं पाया है। ये त्रिभुवन भगवान्‌के सामने यों ही दीन भावसे बिलख-बिलखकर रो रहे हैं। सचमुच मयूरकी यह केका सुनने और गुनने योग्य है—

"प्रभो ! शरणागतकी ओर देखते हुए आपकी दृष्टि कदापि थक नहीं होती, भौंहोंपर बल नहीं पड़ता—यह सत्य है। उसका उद्धार भी तत्काल ही होता है। पर ! पर मुझ पामरमें शरण आनेकी क्षमता भी तो होनी चाहिये। आकाश-से मेघके अविरल वृष्टि करनेपर भी यदि चातक चोंच ही न खोले तो उसकी पिपासा कैसे शान्त हो ? शरणमें आना होगा; पर मुझे यही पता नहीं कि शरण कैसे आया जाता है, केवल इतना ही बतला दो न !

"क्या करूँ ! प्रभु क्यों नहीं आ रहे हैं ! क्या मैं उन्हें दिखलायी नहीं पड़ा ? पर ऐसा सम्भव नहीं। सर्वसाक्षी दृष्टि जिसका नेत्र है, भला, वह मुझे देख न सकेगा ? कदाचित् मुझपर रूठ गये हैं। पर नहीं, करुणानिधानका रूठना कैसा ? कामधेनुके स्तनसे क्या कभी विष निकल सकता है ? तब ऐसा तो नहीं हुआ कि उनकी कृपाका भंडार ही चुक गया और मेरे लिये अब कुछ भी नहीं बच रहा ? पर नहीं, दया-निधानके पास दया ही न रहे, यह हो नहीं सकता। तब एक ही बात हो सकती है। कदाचित् मैं पूरा पतित नहीं बन पाया हूँ। तभी तो पतितपावन आप नहीं आ रहे हैं !

"आपका कथन सत्य है, प्रभो ! मैं आपका वर्णन नहीं कर सकता। पर किसी समय मुझको भी तो यही भ्रान्ति थी। नन्हा-सा शिशु ! चाहता था आपकी स्तुति करना ! कैसे करे ? असीमका वर्णन ससीम कैसे करेगा ? आप सामने ही थे, भला, बालहठ कैसे टलते ? हाथमें शङ्ख था, बालकके कपोलसे स्पर्शभर करा दिया उसका। वाणी खुल गयी, प्रतिभा जाग उठी और शब्द-सुमनोंकी मालाएँ गूँथी जाने लगीं। प्रभो ! कीजिये न वैसी ही कृपा मुझपर। शङ्ख न सही, हाथ ही मेरे मस्तकपर रख दीजिये। बस, कृतार्थ हो जाऊँगा।

"दयानिधे ! क्षमा कीजिये। मैं अपनी तुलना ध्रुवसे कर रहा था। पत्थर पड़ गया मेरी बुद्धिपर। सूर्यके उच्चैःश्रवाका मूल्य पनिहारेके टट्टूसे आँक रहा था। कहाँ भक्तराज ध्रुव, कहाँ उसकी उत्कट लालसा, कहाँ उसका अनुपम त्याग, क्यों पृथ्वीको हिला देनेवाली उसकी भावना और क्या उसकी वय ! और उसके सामने मैं ! इन्द्रकपि, कामके पंजेका शिकार, दसों इन्द्रियोंका दास, मैं उसकी बराबरी करूँ ! हर ! हर ! नहीं, प्रभो ! पापके बोझसे दबा मेरा मस्तक आपके करस्पर्शके योग्य नहीं। त्रिभुवनपते ! अब दूरसे मुझे केवल दूरसे ही अपने चरणोंकी धूलभर छिड़क दीजिये। मेरे ऐसे पतित उसीसे ही तर जायँगे।

"भगवन् ! आप भी मेरी तुलना ध्रुवसे कदापि न कीजियेगा। ध्रुव अपने निश्चयपर ध्रुव था और अन्तमें आपके पदपर भी ध्रुव हो गया। मैं सदाका चञ्चल, चरणके चार चरणोंको चाटनेवाला तुच्छ पशु ! न मेरा निश्चय अटल, न मेरा कार्य स्थिर और न मेरी बुद्धि ही दृढ़ है। मेरी भला, आप मुझसे तुलना क्यों करने लगे ! मैं तुच्छ हूँ सही, पर आप तो समदर्शी हैं न ! कृपा-प्रसादवितरण करनेमें पंक्तिभेद न कीजिये, नाथ !

रूपको ! तुम कदाचित् यह मौन रहे होगे कि कहीं मैंने मोरोपंतका उद्धार कर दिया और इसे देखकर पापियोंकी भीड़-की-भीड़ यदि मेरे पीछे पड़ गयी तो मैं क्या करूँगा। यदि यही भय हो तो नाथ ! चुपकेसे चले आइये और इस लड़केके हाथको पीताम्बरमें छिपाकर ले जाइये।'

× × × ×

इधर देखिये। चर्मचक्षुसे अन्ध, किंतु ज्ञानचक्षुओंसे परम तेजस्वी श्रीगुलाबराव महाराजकी बातें भी कुछ सुन लीजिये—

'ओंकारनाथ ! अब ज्ञानेश्वरकी यह पापिनी चेरी (गुलाब राव) अब भी प्रेमी-की-प्रेमी ही बनी हुई है, तब बताइये, अपने मस्तकपर गङ्गाका बोझ रखनेसे क्या लाभ ? नाथ ! आप अपने नेत्रगत वह्निसे मेरे कर्म-निचयको क्यों नहीं भस्म कर देते ? भस्मपूर्ण आपके अङ्गपर आसीन है। रहे, मैं तो भूली ही हूँ। आपके त्रिशूल और धनुषसे मुझे क्या ? मेरे कहाँ शत्रु तो हाथ धोकर मेरे पीछे पड़े हैं। साफ बात तो यह है कि जबतक मेरा उद्धार नहीं हो जाता, तबतक आपका 'आशुतोष' कहलाना और यह भस्म वेष धारण करना व्यर्थ ही है। नाथ ! मैं आपकी हूँ और इसीलिये मेरी उपेक्षा अनुचित है।'

× × × ×

यह परिवर्तन देखा ! कोई गालियाँ दे रहा है और कोई रो रहा है। पर सिद्धनाथीश्वरने ठहाका मारकर हँसना प्रारम्भ कर दिया है। अब तो भक्त और भी चिढ़ेंगे। भला, हम तो आपबीती सुनायें और आप उसे अपना मनोविनोद समझें ! यह भी कोई शिष्टता है ! पर नहीं, भक्तगण चिढ़े नहीं। आनन्दकन्दके उन्मुक्त हास्यको देखकर स्वयं भी हँसने लगे, उछलने लगे, तालियाँ बजाकर नाचने लगे। दुःख-शोक सब भाग गया। धन्य हैं भक्त और उनके भगवान् !

स्पष्टीकरण

प्रस्तुत लेखमें कुछ नाटकीय शैलीका अवलम्बनकर भक्तवर नामदेव, जनाबाई, तुकाराम, साँवता माली, मोरोपंत और गुलाबरावके प्रेमसे सने हुए भावोंका अनुवाद करनेका प्रयास किया गया है। मूल आधार तो इन संतोंके अभङ्ग, आर्या या पद ही हैं; केवल ढाँचा भर अपना है। कदाचित् रस-परिपोषके लिये थोड़ा-सा न्यूनाधिक्य अवश्य किया गया है, पर ऐसा नहीं कि मूल भाव ही बदल जाय।

संदर्भ

नामदेव—पतितपावन नाम ऐकुनि आलों मी द्वारा।

जनाबाई—दार देवा उघड आता, स्वामी पाहत पतितांचे।

तुकाराम—काय तुझे वेचे मज भेटी देतां।

मोरोपन्त—'केकावली'के कुछ श्लोक तथा 'संशय-रत्न-माला' की एक आर्या।

गुलाबराव—ओंकारसाठी गङ्गा धरिली मस्तकी।

आत्मघातीके सिवा भगवान्के गुणानुवाद और कौन नहीं सुनता !

परीक्षित्जी कहते हैं—

> निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
> क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥
>
> (श्रीमद्भा० १०।१।४)

'जिनकी तृष्णाकी प्यास सर्वदाके लिये बुझ चुकी है, वे जीवन्मुक्त महापुरुष जिसका पूर्ण प्रेमसे अतृप्त रहकर गान किया करते हैं, मुमुक्षुजनोंके लिये जो भवरोगकी रामबाण औषध है तथा विषयी लोगोंके लिये भी उनके कान और मनको परम आह्लाद देनेवाला है, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके ऐसे सुन्दर, सुखद, रसीले, गुणानुवादसे पशुघाती अथवा आत्मघाती मनुष्यके अतिरिक्त और ऐसा कौन है, जो विमुख हो जाय, उससे प्रीति न करे ?'

वङ्गीय भक्तोंकी भावधारा

(लेखक—श्रीगिरिजाचन्द्र सेन, भक्ति-भारती-भागीरथी)

नारद-पञ्चरात्रके मतसे श्रीभगवान्‌में अनन्य ममता अर्थात् देह-गृह आदि अन्य सारे विषयोंके प्रति ममतासे शून्य, प्रेम-रससे उच्छ्वसित जो ममत्व-बुद्धि है, वही भक्ति कहलाती है। भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव और नारदने इस ममताको भक्तिके नामसे ही पुकारा है। यह प्रेमका धर्म है कि वह अभीष्टको सर्वतोभावेन घनिष्ठरूपसे अपनाना चाहता है। प्रेमी प्रेमास्पद-को प्राप्त करनेके लिये मार्गकी किसी बाधाको कुछ नहीं समझता। वस्तुतः उस ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। अतएव श्रीभगवान्‌में प्रेम-रससे उच्छ्वसित जो ममत्व-बुद्धि है, वह अधिकांशमें साक्षात् सम्पर्कद्वारा, अभीष्टमें गाढानुराग-युक्त अनपेक्ष भाव है। इस प्रकारकी भक्तिका विचार विधि-मार्ग-की तुलापर तौलकर करना सम्भव नहीं है। वस्तुतः हमारी बुद्धि संस्कारात्मिका है। और भक्ति सब प्रकारके संस्कारोंको अतिक्रम करके नित्य सत्यके साधकको समाश्रय प्रदान करती है; यहीं उदयका राज्य है और सब अवस्थाओंमें अभय है—

'स वै प्रियतम आत्मा यतो न भयमण्वपि ।'

(श्रीमद्भा० ४। ११। ५१)

जो पुत्रसे भी प्रिय है, वित्तसे भी प्रिय है, जिससे बढ़कर प्रिय और कोई नहीं, उसको हृदयकी अन्तरतम सत्ता-में, अव्यवहित एकत्वमें उपलब्ध करके साधक आनन्द-सागरमें निमग्न हो जाता है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि—विधि-मार्गके सम्बन्धमें भक्तकी जो अनपेक्षता, मौनावलम्बन अथवा उदासीनता रहती है, उसके फलस्वरूप भक्तके आचरणमें, सामाजिक जीवनमें अवैध या निषिद्ध-कर्मके प्रति आसक्ति उत्पन्न हो सकती है या नहीं? इसका उत्तर यह है कि जो कर्म कामना और वासनासे युक्त हैं, वे ही निषिद्ध कर्म हैं; किंतु जिनकी चित्त-वृत्ति भगवत्प्रेम-रसका आस्वादन करती है, उनका मन कभी निषिद्ध-कर्ममें नहीं जाता। वैष्णवाचार्य श्रीजीव-गोस्वामी प्रेम-भक्तिके स्वरूपका निरूपण करते हुए कहते हैं कि भगवत्प्रेम जब साधकोंके अन्तःकरणको स्पर्श करता है, तब उनके मनकी गहरी तहमें आनन्द-रसके समुद्रके साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है। उस सुधासिन्धुसे भगवत्प्रेम उच्छ्वसित होकर साधकके सारे अन्तःकरणको आप्लुत कर देता है। पश्चात् उसके प्रवाहकी आवर्त-लीलामें साधकका देहपर्यन्त निमज्जित हो उठता है, और वह प्रवाह अति उच्छ्वसित प्रबल तरङ्गोंसे तरङ्गित होते हुए साधकके सारे पार्श्ववर्तियोंको भी प्रेम-रससे परिप्लावित कर देता है। वस्तुतः बङ्ग-देशमें साधकोंने भक्ति-साधनाके मूलमें, अपनी बुद्धि-वृत्ति या शक्तिमें आनन्द-रसकी उद्दीपनासे युक्त एक उदार प्रभावका अनुभव किया है। इस प्रकारकी अनुभूतिके मूलमें कार्य करती है अभीष्ट आत्मसमर्पणके विस्तारकी चातुरी। वे लोग अपने मनमें ही अप्राकृत आनन्दकी उपलब्धि करते हैं, ऐसी बात नहीं है; क्योंकि इस आनन्दका अति प्रबल उच्छ्वास सीमित देहमें ही निबद्ध नहीं रहता, इसके रसका उन्मेष सर्वत्र होता है। उस आनन्दका उद्दाम आकर्षण उनके देहको उज्जीवित कर देता है। भक्त रस-सागरमें गोते लगाता है। अन्धकारके उस पार जो आदित्य-वर्ण तत्त्व है, वही तत्त्व सारी उपाधियोंको नष्ट करके मधुर मूर्तरूपसे साधककी दृष्टिमें सजीव हो उठता है। साधक अपने जीवनको दीप बनाकर प्राण-देवकी आरती करता है। आरतीके समय आलोककी—रोमाञ्चकारी प्रकाशकी ज्योतिसे व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवनके सभी स्तरोंमें प्रेमके देवताकी दिव्य विभूति प्रकट हो जाती है। बंगालकी भक्ति-साधनाके मूलमें प्रत्यक्षानुभूतिकी ऐसी ही प्रधानता रही है—

'भक्तिरेव नयति भक्तिरेव प्रापयति'

—इस श्रुतिवाक्यने बंगालके भक्तोंकी साधनामें सार्थकता प्राप्त की है। भक्त यहाँ केवल अतीतके विचारसे ही संतुष्ट नहीं रह सकते। उन्होंने वर्तमान कालमें श्रीभगवान्‌की सजीव लीलाको प्रत्यक्ष किया है और उस प्रत्यक्षताके परम बलद्वारा उन्होंने सब प्रकारके परिवर्तनके भीतर रहनेवाले अपरिवर्तनीय परम सत्यकी प्रतिष्ठा प्रदान की है। वस्तुतः बंगालके भक्तोंके प्रेम-रससे परिषिक्त होकर श्रीभगवान्‌ने युगोचित भावसे आत्मप्रकाशको अभिव्यक्त किया है। इस प्रकार बंगालकी भक्ति-साधना असंदिग्धभावसे आज भी यह स्वीकार करती है कि श्रुति, पुराण, स्मृति आदि श्रुति-प्रतिपादित शास्त्र अभ्रान्त हैं। जिनको इस विषयमें बिल्कुल ही विश्वास नहीं था, उनको भी इस बातमें विश्वास करना पड़ता है। जो उद्धत थे, वे भी भक्तके जीवनादर्शके प्रभावसे विनम्र हो गये, और उनको अन्तमें प्रेमके देवताके चरणोंमें सिर झुकाना पड़ा। बंगालके भक्त साधकोंके जीवनादर्शके सम्बन्धमें विचार करते

समय उनकी अनुभूतिके मूलभूत इस वैशिष्ट्य तथा सब प्रकारके संकीर्ण संस्कारोंके अपनोदनमें समर्थ उदार धीरोंके सम्बन्धमें सचेत रहना आवश्यक है। इस लेखमें बंगालकी भक्ति-साधनाकी इस विशेषता तथा इसके रस-वैचित्र्यका परिचय देनेकी केवल क्षीण चेष्टामात्र की गयी है। भक्तिका माहात्म्य किञ्चित् मात्रामें भी चित्तके मलको दूर कर सकता है। इस विश्वाससे इस क्षेत्रमें प्रेरणाका संचार हुआ है।

शाक्त और वैष्णव साधना

जहाँतक दृष्टि जाती है, उससे जान पड़ता है कि ग्यारहवीं शताब्दीके पूर्व बङ्गदेशमें भक्तिवादको रूप धारण करके प्रकट होनेका सुयोग प्राप्त नहीं हुआ था। बौद्ध-युगकी पतनोन्मुख अवस्थामें प्रधानतः शैव-आगमको आधार बनाकर यहाँ एक विशेष शाक्त मतवादका निर्माण होने लगा। बंगालका यह विशिष्ट शाक्तागम बौद्धधर्मके विच्छिन्न मतवाद अथवा अन्यान्य धर्मवादोंके ऊपर अपना प्रभाव डालकर उन सबको अपने अनुकूल बनाकर आत्मसात् करनेमें समर्थ हुआ है। परंतु तत्कालीन तान्त्रिक साधनाकी यह धारा बङ्गदेशके सामाजिक जीवनमें प्राणमय दीप्तिका प्रसार न कर सकी। वस्तुतः वैष्णव साधनाके रस-स्पर्शसे ही यहाँ भक्ति-साधनाने व्यापकरूपमें दीप्ति फैलायी और इस साधनाकी धारा बङ्गदेशमें आयी दक्षिण भारतसे। बंगालके सेनवंशी राजाओंने दक्षिणापथके कर्णाटक देशसे आकर यहाँ प्रभुत्व जमाया। दक्षिणापथके रामानुज तथा माध्व सम्प्रदायोंके आचार्योंका बङ्गदेशमें संचार इसके पहले ही प्रारम्भ हो गया था। इनका प्रचार-कार्य तथा पवित्र साधनाचर्या बङ्गदेशकी अध्यात्म-साधनामें श्रीभगवान्‌की आत्मभावना उद्दीप्त करनेमें विशेषरूपसे सहायक बने। लक्ष्मण-सेनकी राजसभामें प्रेमके देवताका मधुर सुर पहले-पहल बज उठा। उस सुरके झंकारसे भक्त-हृदयमें प्रेमके देवताका लीला-रस संचारित होता है। वह रस चिन्मय है, प्राणमय है, मनोमय है—उसके स्पर्शसे अध्यात्म-अनुभूतिमें एक चमत्कार जग उठता है। उसी दिव्यानुभूतिकी चमत्कृत अभिव्यक्ति हमें विद्यापति, चण्डीदासके गीतिच्छन्दोंमें देखनेको मिलती है। बंगालकी भक्ति-साधनामें भगवत्प्रेमकी संस्कृति—रस-प्राचुर्यमें आत्म-माधुर्यके विस्तारकी दीप्ति परवर्ती कालकी प्रतीक्षा करती है। जिस देवताकी वंशी, हास्यके साथ मिलकर, व्रजाङ्गनाओंके मनमें उदासी भर देती है, उसी वंशीके स्वरसे रचा हुआ बंगालका प्रेमास्वाद बंगाली भक्त-साधकोंके चित्तको प्रेमाकुल कर देता है। बंगालकी शाक्त-साधना, परवर्ती कालमें, माँके आत्मरसकी वैसी अभिव्यक्तताका अनुभव करनेके लिये उपयुक्त परिस्थिति प्राप्त करती है। किशोरी, कलकण्ठी, कल्लोल-निनादिनी जननीकी सजीव लीला उनके अन्तःकरणको आन्दोलित करके रूपकी झलक दिखलाती है।

महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवका आविर्भाव

बंगालके महापुरुषोंने गान करते हुए कहा है—

बंगाली हिया अमिया मथिया निमाई धरेछे काया।

'बंगाली हृदयके अमृत-मन्थनसे निमाई-शरीरका आविर्भाव हुआ।' वस्तुतः बंगालकी प्रकृति जैसी श्यामल और कोमल है, बंगालकी साधना भी उसी प्रकार अपने प्राणोंके देवताको कोमल और मधुर रूपमें प्राप्त करना चाहती है। जयदेव, विद्यापति तथा चण्डीदासके गीतोंने बंगालके भक्त-हृदयका मन्थन करके उसी मधुर देवताके सम्बन्धको सुदृढ़ बनानेमें निगूढ़भावसे कार्य किया है। सुर तो दूर-दूर गया, परंतु उससे साधकोंका मन नहीं भरा—मन तृप्त नहीं हुआ। महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवमें बंगालके साधकोंने उस सुरके मूर्त प्रकाश तथा विस्तारको उपलब्ध किया। विश्वकी सर्ववेदनाके परिपूर्ण विग्रहस्वरूप प्रेमके देवताको पाकर भक्तके प्राणका आग्रह मिट गया। सारे बंगालमें प्रेमकी बाढ़ आ गयी। उस बाढ़में सारे भेद-विभेद बह गये। चाण्डाल और ब्राह्मण परस्पर गले लगाने लगे। यवन हरिदास श्री-मन्महाप्रभुके अन्यतम अन्तरङ्गस्वरूपोंमें गिने जाने लगे। 'जेइ जन कृष्ण कहे सेइ गुरु हय'—जो ही व्यक्ति कृष्ण-स्मरण करता है, वही गुरु है। स्वयं अद्वैताचार्यने श्राद्धपात्र देकर हरिदास-को श्रेष्ठ विप्रकी मर्यादा प्रदान की। सबको मर्यादा देनेवाली, सबको कृपा देनेवाली ऐसी प्रेमकी तरङ्ग न जाने कहाँसे बंगालमें जाह्नवीके तटपर आ लगी।

प्रेम शान्तिपुर डुबु डुबु, नदिया भासिया जाय (जिसके कारण प्रेममें शान्तिपुर गोते खाने लगा और नदिया बह चला), वही तरङ्ग बंगालको अपनेमें डुबाकर भारतमें उत्तर और दक्षिण फैलने लगी। श्रीमन्महाप्रभुके अन्तरङ्ग जनों तथा पार्षदोंने प्रभुकी अन्तरङ्ग-लीलाकी चातुरीको हृदयंगम किया। उन्होंने कहा कि 'जो अखिलरसामृत-सिन्धु हैं, वे ही वृन्दाविपिनविहारी व्रजविहारी श्रीकृष्ण हैं, वे ही गौरहरि हैं। श्रीराधाके भावको स्वीकार करके, उन्हींकी कान्ति धारण करके, कलिके जीवोंका उद्धार करनेके लिये, नामरसके द्वारा

प्रेमका वितरण करनेके लिये ही उन्होंने यह लीला की। नाम और नामी एक ही वस्तु हैं। परंतु नामरूपमें प्रेमप्रचारका आग्रह लीलामें तबतक पीन नहीं होता, तबतक आत्माका भाव व्यक्त नहीं होता, गुप्त ही रह जाता है। यह आग्रह नामप्रचारके रूपमें यहाँ व्यक्त हो गया, अतएव भारी महिमाकी सीमा व्यक्त हो गयी। श्रीरूप, सनातन, भट्ट रघुनाथ, श्रीजीव, गोपालभट्ट, दास रघुनाथ—इन छः गोस्वामियोंने बंगालमें वैष्णव-साधनाकी एक विशिष्ट धाराका प्रवर्तन किया। उनके द्वारा गौर-लीलामें राधाकृष्ण-लीलाका अनुध्यान, साध्यतत्त्वकी साधना—यही इस धाराकी विशेषता है। इनके मतसे युगल-तत्त्व श्रीराधा-कृष्णकी साधना जीवके लिये कर्तव्य है; क्योंकि इसी मार्गसे परम पुरुषार्थरूप प्रेम प्राप्त होता है।

साध्यतत्त्व श्रीगौराङ्ग

श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके द्वारा प्रवर्तित भक्तिवादका अव-लम्बन करके बङ्गदेशमें एक दूसरी वैष्णव साधक-मण्डलीका आविर्भाव हुआ। गौराङ्गदेवके एक प्रमुख पार्षद नरहरि सरकार ठाकुर इस सम्प्रदायके प्रवर्तक हैं। वे लोग कहते हैं कि 'गौरहरि वेदोंके सार हैं', श्रीशचीनन्दन और श्रीयशोदा-नन्दन तत्त्वतः अभिन्न होनेपर भी श्रीगौराङ्ग ही सर्वसाध्य-शिरोमणि हैं।'

अक्षरात् परतः परः—इस श्रुतिवाक्यके तात्पर्यका आ-स्वादन ये लोग इस प्रकार करते हैं कि अक्षरका अर्थ है ब्रह्म या आत्मा। इसके परतत्त्व हैं ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्णके भी परतत्त्व हैं, वे ही गौराङ्गसुन्दर हैं—केवल रस एवं सः। वे श्रीराधा भी हैं और श्रीकृष्ण भी। वे नागर और नागरी दोनोंके मिलित प्रेमका संचारी स्वरूप हैं। इस भावकी यह घनिष्ठता जबतक उपलब्ध नहीं होती, जीव अपने स्वरूप-धर्ममें प्रतिष्ठित नहीं होता तबतक—रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति (तैत्ति० उप० २।७)—यह श्रुतिवाक्य सार्थक नहीं होता।

शक्ति-साधनामें भक्ति-रसकी प्रदीप्ति

साधक रामप्रसादके आविर्भाव-कालमें बङ्गदेशकी शाक्त-साधनामें मातृ-भावनाके अनुपम आत्म-माधुर्यके वैभवका विस्तार हुआ। बंगालके अन्तिम नवाब सिराजुद्दौलाके राजत्व-कालमें रामप्रसाद जीवित थे। कलकत्तासे कुछ दूर नैहाटीके निकट हालीशहरमें रामप्रसाद सेनने जन्म ग्रहण किया था। सर्वोपाधिविनिर्मुक्त मातृ-परायणताका उद्रेक इनके चित्तमें हुआ। उन्होंने आध्यात्मिक अनुभूतिके सारभूत तत्त्वोंको भी सरल भाषामें खोलकर रख दिया। रामप्रसादका सुमधुर मातृसंगीत बंगालमें आज भी घर-घर आदर पा रहा है। रामप्रसाद कहते हैं कि 'माँ घट-घटमें विराजती हैं। तुम्हें इतनी चिन्ता करनेकी क्या आवश्यकता है? तुम 'काली-काली' जपो, ध्यानमग्न हो जाओ। गया, गङ्गा, वाराणसी, काशी क्यों जाना चाहते हो? माँकी कृपासे यदि मनमें रमा है गया तो सब कुछ हो गया!'' रामप्रसाद काली और कृष्णमें कोई भेद नहीं मानते। वे माँके समक्ष लड़केके समान उलाहना देते हैं। वे कहते हैं, 'यशोदा तुमको मैया कहकर नचाया करती थी। माँ! तुमने यह वेश कहाँ छिपा लिया?' देवीपूजाके नामपर जीव-हत्या देखकर वे मर्म-भावक वेदना अनुभव करते। वे कहते—'माँ जगत्-जननी हैं। उनके लिये क्या पर-भावना सम्भव है? तुम क्या बकरीके बच्चेकी हत्या करके माँको तुष्ट करना चाहते हो? काली ही ब्रह्म है, यह सार-तत्त्व जानकर मैंने धर्माधर्म सब छोड़ दिया है।'

ब्राह्म साधकोंका युग

उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें बङ्गदेशमें संगठितरूपसे ईसाईधर्मके प्रचारकी चेष्टा प्रारम्भ हुई। पाश्चात्त्य सभ्यताके सम्पर्कसे यहाँके सामाजिक जीवनमें उथल-पुथल मच गयी। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त बंगाली युवकोंमें पाश्चात्त्य देशोंका अनु-करण करनेकी रुचि बढ़ने लगी। वे हिंदू सनातन आध्यात्मिक संस्कृतिके ऊपर आघात-पर-आघात करके उसे पूर्ण निर्मूल करनेके लिये मानो पागल हो उठे। शिक्षित युवकोंमें अविश्वासका झुकाव उबर ही हो गया। उस समय जातिको इस संकटसे बचानेके लिये विपुल शक्तिशाली एक महान् पुरुष सामने आये—वे थे राजा राममोहन राय। उन्होंने बंगालियोंके चित्तमें आत्म संवित्‌को जाग्रत् किया। शांकरभाष्यसहित ब्रह्मसूत्र, वेदान्तसार तथा कुछ उपनिषदोंका बँगला-अनुवाद प्रकाशित करके वे परानुकरणकी प्रवृत्तिको रोकनेमें लग गये। वे बहुत दिनोंसे बने हुए कुसंस्कारोंको उखाड़ फेंकने लगे। उन्हींके साथ-साथ वेदान्तप्रतिपाद्य एकेश्वरवादको भी ऊपर वे उभार देने लगे। उनको अनेकों भाषाओंका ज्ञान था और उनकी बुद्धि अति प्रखर थी। हिंदू-समाजमें उनको अनेक प्रकारसे लाञ्छित होना पड़ा तथा उत्पीड़न सहन करना पड़ा। परंतु इसकी ओर उन्होंने तनिक भी ध्यान नहीं दिया। वे धर्मानिष्ठ पुरुष थे और उन्होंने शास्त्रीय युक्तिके बलसे

मनीषियोंकी युक्तियोंका खण्डन किया। राममोहन रायके आदर्शके आधारपर बङ्गदेशमें एक नवीन साधक सम्प्रदाय संगठित हो गया। यह ब्राह्मसमाज-सम्प्रदायके रूपमें आविर्भूत हुआ। यह सम्प्रदाय मूर्तिपूजाका विरोधी था।

वेदान्तके आधारपर ही उनकी साधनाका सूत्रपात हुआ। परंतु वे निर्गुण ब्रह्मवादी नहीं थे। उनके ब्रह्म सगुण हैं, वे कृपामय हैं, सब प्रकारके कल्याणमय गुणोंकी खान हैं। उनके मतसे ब्रह्मका रूप है तथा उनका दर्शन होता है। श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुरके पिता श्रीमहर्षि देवेन्द्रनाथ इस सम्प्रदायके एक आचार्य हुए हैं। ये श्रीद्वारकानाथ ठाकुरकी संतान थे। महर्षिके मामा श्रीप्रसन्नकुमार ठाकुरने उनसे कहा था कि 'देवेन्द्र! तुम मेरे पास महीने-महीने आया करना। मैं तुम्हारा पिताके ऋणसे उद्धार कर दूँगा।' एक दिन श्रीप्रसन्नकुमार ठाकुरने श्रीदेवेन्द्र ठाकुरकी भगवद्व्याकुलता-को लक्ष्य करके कहा, 'देवेन्द्र! क्या ईश्वर-ईश्वर दिन-रात करते हो! ईश्वरके अस्तित्वमें कोई प्रमाण दे सकते हो?' महर्षिने स्थिरभावसे कहा—'सामने जो दीवाल है, उसका क्या आप प्रमाण दे सकते हैं?' प्रसन्नकुमारने मुसकराते हुए कहा—'यह क्या बकवाद करते हो! दीवालका प्रमाण यही है कि मैं इसे देखता हूँ।' महर्षिने गम्भीरभावसे उत्तर दिया—'मैं भी तो ईश्वरको देखता हूँ, काका!' महर्षिने सत्यको प्रत्यक्ष किया था। उनका जीवन भगवद्भावसे प्रभावित था। ब्राह्मोंके दूसरे नेता श्रीकेशवचन्द्र ब्रह्मानन्दमें माँ-माँ कहकर रुदन करते थे। उपासना-वेदीके ऊपर सिर रखकर सबसे व्याकुलचित्त होकर पूछते—'तुम सच-सच बोलो, मेरी माँको क्या तुमने देखा है!' ब्राह्म साधकोंके जीवनकी सरलता, उनके चरित्रकी पवित्रता तथा असाम्प्रदायिक उदार आदर्शने भारतकी अध्यात्मसाधनाकी चिरनवीन दिशाको उन्मुक्त किया और इस देशकी संस्कृतिमें उस साधनाकी संजीवनी शक्ति संचारित हुई। ब्राह्मधर्मके प्रभावसे इस देशकी रक्षा हुई। श्रीरवीन्द्रनाथके जीवनमें इसी साधनाका सार्वभौम रूप अभिनव आन्तरिकताके प्रभावसे नवीन हुआ। मुख्यतः श्रीरवीन्द्रनाथको हम साहित्य-स्रष्टा अथवा कविके रूपमें ही देखते हैं। परंतु आत्यन्तिक भावसे वे थे भक्त, वे थे साधक और यही उनका स्वरूपलक्षण था। श्रीरवीन्द्रनाथकी अन्य सब रचनाएँ कालके द्वारा प्रभावित हो सकती हैं। परंतु कविके भक्ति-भावमूलक गीतसमूह भारतकी अन्तः-सत्ताके साथ एकीभूत होकर जगत्‌में चिरकालतक अमृतत्व विकीर्ण करते रहेंगे। श्रीरवीन्द्रनाथके गीत उनके जीवन-देवताके चरणोंमें अपनेको सर्वतोभावसे अर्पण करनेकी आन्तरिकतासे उज्ज्वल—अपरिम्लान पुष्पमाल्य बनाकर प्रेमके सौरभसे जगत्‌को पवित्र करेंगे।

ठाकुर श्रीश्रीरामकृष्ण परमहंसदेव

दक्षिणेश्वरके काली मन्दिरमें ठाकुर श्रीश्रीरामकृष्णदेवकी लीला भारतके इतिहासमें एक युगान्तकारी अध्याय खोलती है। भक्तिरेव गरीयसी—एक भगवद्भक्तिसे ही जीवका सारा प्रयोजन सिद्ध होता है। भक्ति ' कर्म, योग, ज्ञान है। ठाकुरने भक्तिके इस स्वरूपको सबकी दृष्टिमें उज्ज्वल सिद्ध करके ग्रहण किया। अङ्गरेजी प्रतिमापूजकके प्रति अद्भुत प्रभावका परिचय पाकर देशका शिक्षित समाज विस्मित हो उठा। बार-बार विचार करके बड़े-बड़े पण्डित भी उनकी भूल न निकाल सके। वेद-वेदान्तादि समस्त शास्त्रोंके सिद्धान्त ठाकुर नित्य ही सहज और सरल भाषामें गण्य-मान्य लोगोंको बात-ही-बातमें समझाने लगे। ठाकुर कहते थे कि कलिमें नारदोक्त भक्ति ही प्रमाण है। भगवान्‌का नाम लेनेसे मनुष्यका देह-मन सब शुद्ध हो जाता है। केवल ईश्वरका नाम लेना ही उसकी पूजा है। ईश्वरके ऊपर निर्भर करो। उसे आत्मसमर्पण करो। इसकी अपेक्षा दूसरा कोई सहज साधन नहीं है। नाहम्, नाहम्, त्वं हि, त्वं हि, त्वं हि। (मैं कोई नहीं, तुम ही हो।) जो भगवान्‌को चाहता है, वह एक-बारगी उनकी गोदमें कूद पड़ता है। वह फिर कोई हिसाब नहीं रखता क्या खाऊँगा, क्या पहनूँगा, कैसे दिन बीतेंगे—इस प्रकारकी कोई चिन्ता नहीं करता। उनके शरणागत हो जाओ। ठाकुरके वचनामृतसे जाति उज्जीवित हो उठी। परानुकरणका भ्रम भङ्ग हो गया। दीन-दरिद्रके भीतर नारायण जाग उठे। विदेशी सभ्यताकी संकटताके ऊपर ठाकुरने सुधा भक्तिका रस सिंचित किया। उसी मिट्टीमें फिर प्रेमके फूल खिलने लगे। 'जितने मत, उतने पथ'—इस सत्यको ठाकुरने जीवनकी साधनासे सत्य सिद्ध करके वास्तविक धर्मकी प्रतिष्ठा की। आचार्य मोक्षमूलर और विद्वान् रोम्याँ रोलाँ भारतके इस प्रतिमापूजक महा-पुरुषकी अलौकिकताको देखकर इनके चरणोंमें श्रद्धाञ्जलि अर्पित करके धन्य हो गये।

साधक वामाक्षेपा

श्रीश्रीरामकृष्णके समसामयिक वीरभूम जिलेके अन्तर्गत तारापीठके महाश्मशानमें प्रसिद्ध तान्त्रिक साधक वामाक्षेपाका

आविर्भाव हुआ। उनके पिताका नाम सर्वानन्द चट्टोपाध्याय था। बचपनसे ही वामा संसार-सम्पर्कसे उदासीन रहे और छोटी ही अवस्थामें संसार-त्याग करके तारापीठके श्मशानमें मातृ-साधनामें निमग्न हो गये। वामा बाल्यब्रह्मचारी थे। नारीमें मातृ-बुद्धि उनके लिये स्वाभाविक थी। वे जाति-भेद नहीं मानते थे।

तन्त्र-साधनामें सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करनेमें वामाको विलम्ब न लगा। बाहरसे इस महासाधकका आचरण अति दुर्ज्ञेय था। जीवमें उनको सुदृढ़ शिवज्ञान था। महाकौलिक क्षेपा माँका नाम-स्मरण छोड़कर कोई विचार-वितर्क करना पसंद नहीं करते थे। वे कहते थे कि 'भक्तिपूर्वक माँको पुकारो, उससे सब कुछ समझमें आ जायगा। पाप कैसा? उसका नाम-स्मरण करो, उससे सारा पाप नष्ट हो जायगा। जो दिन-रात काली, तारा या राधा-कृष्णका नाम लेता है, उसका कोई पाप नहीं रह सकता। माँ-माँ कहकर पुकारते जाओ, पीछेको और मत ताको। निर्वाण कैसे प्राप्त होता है, मुक्ति कैसे मिलती है—मुझे इतना तत्त्वज्ञान नहीं मालूम, और न मैं जानना ही चाहता हूँ। केवल तारा-तारा पुकारता हुआ अपनेको खो देना चाहता हूँ। इसमें जो सुख पाता हूँ, तुम्हारा निर्वाण वह सुख नहीं दे सकेगा। माँ-माँ पुकारते हँसते-खेलते जहाँ चाहो चले जाओ, यमका पाश भी तुम्हें छू नहीं सकेगा।'

श्रीमद्विजयकृष्ण गोस्वामी

श्रीमद्विजयकृष्ण गोस्वामीकी दिव्य जीवन-लीलामें भक्ति-साधनाकी वैज्ञानिक धाराका सर्वाङ्गीण विकास दिखायी देता है। साधनाके विभिन्न स्तरोंमें जो अतिसूक्ष्म अनुभूति होती है, उसका सारा गूढ़ रहस्य गोस्वामीजीने पूर्णतः खोल दिया है। वस्तुतः गोस्वामीजीके जीवनमें भक्तियोगका सहज, सरल और सर्वजनसुलभ रूप प्राप्त होता है। विजयकृष्ण बहुत दिनोंतक ब्राह्मसमाजके आचार्यके पदपर अधिष्ठित रहे। ब्राह्मसमाजके प्रचार-कार्यमें उन्होंने जो त्याग, तपस्या तथा तितिक्षा दिखलायी, उसकी तुलना अन्यत्र नहीं मिलती। वस्तुतः उन्होंने सर्वस्व त्याग कर दिया था। तथापि उनको शान्ति न मिली। भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कुन्तीदेवीने कहा था कि 'जो परमहंस मुनि हैं, वे तुमको प्राप्त नहीं कर सकते। भक्तियोगका विधान करनेके लिये यदि तुम स्वयं आनेकी कृपा नहीं करते तो जीवके लिये कोई दूसरा उपाय नहीं।' गुरुरूपमें किसी भाग्यवान्के ही ऊपर श्रीकृष्ण कृपा करते हैं। वस्तुतः सद्गुरुरूपमें उनकी इस कृपाको ग्रहण करना ही भक्तिपथकी साधनमें सिद्धि-प्राप्तिका एकमात्र उपाय है। श्रीश्रीविजयकृष्ण इसी सत्यकी पूर्णतः उपलब्धि करके सद्गुरुकी कृपाप्राप्तिके लिये उन्मत्त हो उठे। दीर्घ तपस्याके फलस्वरूप गयाधाममें आकाशगङ्गा पहाड़पर मानसरोवरवासी ब्रह्मानन्द स्वामी उनके सामने आविर्भूत हुए और उन्होंने गोस्वामीको कृपा प्रदान की। इसके बाद विजयकृष्णके दिव्य जीवनमें सद्गुरुतत्त्व मूर्तिमान् हो उठा। वे नामके प्रेममें पागल हो गये। उन्होंने नाम-साधनाको ही श्रेष्ठ स्थान दिया है। वे मधुरभावके उपासक थे और महाप्रभु गौराङ्गदेवके द्वारा प्रवर्तित मार्गका उन्होंने अनुसरण किया। गोस्वामीजी श्वास-प्रश्वासमें नाम लेनेका उपदेश करते थे, और एतदर्थ श्वास-प्रश्वासको नियमित करनेके लिये योगाङ्गका भी उनके द्वारा उपदिष्ट साधनमें समावेश है। परंतु यह परोक्ष है, प्रत्यक्षभावसे नाम-रसमें मनको डुबा देना ही आवश्यक है। गोस्वामीजीने महाप्रभु श्रीगौराङ्गदेवकी लीलासे ही नामके इस आस्वादनकी रीति उपलब्ध की और इसी कारण उनकी साधना-पद्धतिमें श्रीगौराङ्गकी लीलाने ही सर्वतोभावेन आत्ममाधुर्यका विस्तार किया। नाम ही भगवान् है, नाम लेना और भगवान्का सङ्ग करना एक ही बात है। गौर-लीलामें नामरूपमें तथा प्रेमरूपमें प्रेमस्वरूप श्रीभगवान्की सर्वतोव्याप्त कृपाका चातुर्य ही संचरित हुआ है। गोस्वामीजीने नामके द्वारा भगवत्प्रेमके गूढ़ रहस्यके प्रति हमारी दृष्टि आकर्षित की है। श्रीअरविन्द कहते हैं कि गोस्वामीजीके अत्यन्त अन्तरङ्ग शिष्य भी उनको नहीं समझ पाये। जिस दिन यह रहस्य खुल जायगा, उस दिन भारतकी अध्यात्म-साधनाकी वैज्ञानिक दिशा परिस्फुट हो जायगी। दिव्य जगत्के लिये ही भारतकी साधना है, यह साधना विश्वविजयिनी होगी। भारतकी मुक्तिसे विश्वको मुक्ति प्राप्त होगी। बङ्गालके इस जागरणमें ही गोस्वामीजीके शिष्योंने भारतकी राजनीतिक स्वाधीनताके संग्राममें अनुप्रेरणा प्राप्त की। स्वर्गीय विपिनचन्द्र पाल, अश्विनीकुमार दत्त, मनोरञ्जन गुह ठाकुरता, 'सन्ध्या' पत्रिकाके संपादक ब्रह्मबान्धव उपाध्याय, बंगालके विप्लव-युगके ये सब नेता गोस्वामीजीके शिष्य थे। गोस्वामीजी विश्वके कल्याणार्थ ही भारतको नियन्त्रित करते हैं तथा भारतके भगवत्प्रेमके आलोककी रश्मि विकीर्ण होकर अखिल विश्वमें भागवती इच्छाकी पूर्ति करेगी—श्रीश्रीविजयकृष्ण गोस्वामीके अनुयायियोंका यही विश्वास है।

प्रभु जगद्बन्धु

श्रीश्रीप्रभु जगद्बन्धुने बङ्गदेशकी भक्ति-साधनामें अभिनव चैतन्यकी प्रेरणाका संचार किया । मुर्शिदाबाद शहरके उस पार डाहपाड़ा ग्राममें प्रभु जगद्बन्धुका आविर्भाव हुआ । वे एक दरिद्र ब्राह्मणपरिवारकी संतान थे ।

हरिनाम उच्चारण हरिगुण प्रकाश हरिनाम देह दान ।

—अर्थात् हरिनाम उच्चारण करनेके साथ-साथ श्रीहरि पुरुषरूपमें अर्थात् अपनी प्रियतमीयताधारिणी, सर्वचित्तहारिणी प्रेममाधुरीको लेकर आविर्भूत होते हैं । तथा वे ऐसे उदार हैं कि जीव उनकी सेवाके योग्य देह प्राप्त करता है, प्रभुकी उक्तिका यही तात्पर्य है । प्रभु जगद्बन्धु जाति-भेद नहीं मानते थे । उन्होंने सन्यास जातिके पूरे सम्प्रदायको हरिनामके प्रेम-रसमें निमज्जित करके उसको महान् सम्प्रदायका गौरव प्रदान किया । कलकत्ता शहर-के धनियोंके आमन्त्रणकी उपेक्षा करके डोमोंकी बस्तीमें स्थित अपनी भजन-कुटीमें साधनामें लगे रहे । वस्तुतः महात्मा गांधीके अस्पृश्यता-वर्जन-आन्दोलनके बहुत पहले ही अन्त्यज और अस्पृश्य लोगोंका उन्होंने भगवत्सेवाके उदार क्षेत्रमें आलिङ्गन किया था । प्रभु जगद्बन्धु सत्यनिष्ठ एवं सदाचार—विशेषतः ब्रह्मचर्य-साधनपर विशेष जोर देते थे । उनके विचारसे हरि-नाम-उच्चारण करनेसे सब कुछ सिद्ध हो जाता है । देशबन्धु चित्तरञ्जनदास, श्यामाप्रसाद मुखर्जी, नेताजी सुभाषचन्द्र—ये लोग प्रभुके अनुरागी थे । प्रभुका अपूर्व रूप-लावण्य तथा उनके सदा आनन्दमय मुखका मधुर हास्य सबको मुग्ध कर देता था । सोलह वर्षतक प्रभुने फरीदपुरकी गोयालन्दके समीप एक कुटीमें अपनेको छिपाये रखा । इस कालमें बाहरी जगत्के साथ इनका कोई सम्पर्क न था । इसके बाद जब वे बाहर आये, तब उनको बाह्य ज्ञान नहीं था । इन्होंने प्रसिद्ध नामसाधक श्रीमद्रामदास बाबाजीको बाल्य-जीवनमें ही आकर्षित करके अपना बना लिया था । श्रीश्रीजगद्-बन्धुके आविर्भावसे बङ्गदेशमें नाम-प्रेमकी एक बहुत बड़ी लहर बह चली । श्रीमत्प्रेमानन्द भारतीने अमेरिकामें जाकर वैष्णव-धर्मका प्रचार किया । भारती महाराजकी अंग्रेजी भाषामें लिखी हुई 'श्रीकृष्ण' नामक पुस्तकने ऋषि टाल्सटायको मुग्ध कर दिया था । इसके इस मानवप्रेमी महापुरुषने इसके लिये भारती महाराजके प्रति कृतज्ञता प्रकट की थी । श्रीमत्-प्रेमानन्द भारती श्रीश्रीप्रभु जगद्बन्धुको 'भाई कन्हाई' कहकर भगवद्बुद्धिसे उनमें श्रद्धा करते थे । वस्तुतः प्रभु श्रीश्रीजगद्बन्धु जगत्में रहते हुए भी यहाँके जड-संसर्गसे ऊपर प्रेमावेशमें आविष्ट रहते थे । काय मने प्राणे कर कामना कल्याण—अर्थात् तन-मनसे जीवकी कल्याण-कामना करो, सबके प्रति उनकी ऐसी ही समदृष्टि थी ।

श्रीअरविन्दकी साधना

श्रीअरविन्दकी साधनामें बंगालकी भक्ति-साधनाकी विशिष्टता प्रबलरूपमें अभिव्यक्त हुई है । अलीपुर बमके मामलेमें कारागारमें बंद श्रीअरविन्दने अपने जीवनमें भगवान् श्रीकृष्णके आदेशका अनुभव किया । जलमें, स्थलमें—सर्वत्र उनको वासुदेव दीखने लगे । उसके बाद श्रीअरविन्द पांडिचेरीमें जाकर कठोर योग-साधनमें लग गये । उस योगासनसे उठकर वे फिर बाहर नहीं आये । अतीन्द्रिय सत्यके राज्यमें उनका व्युत्थान हुआ । श्रीअरविन्दने विश्व-मानवको अमृत-की वाणी सुनायी । उन्होंने बतलाया कि जैव प्रकृतिके स्तरको अतिक्रम करके सारे बन्धनोंसे मुक्त जीवनको सत्य-रूपमें उपलब्ध करना मनुष्यके लिये सम्भव है । अन्नमय, प्राणमय कोषमें सुखधाकी धारा कहाँ है, मनुष्य इसको जान चुका है । इस सम्बन्धमें उसको और कुछ करना नहीं है । इसके आगे मनोमय कोषके विकासकी धाराको पकड़नेपर मनुष्यको विज्ञानमय कोषका पता लगेगा । उसके बाद आनन्दमय कोषमें जीवनकी परिपूर्णता होगी । भागवती इच्छा ही क्रम-विकासकी धाराके द्वारा मनुष्यको इस अवस्थामें ले जायगी । यह इच्छा-शक्ति अविरत कार्य कर रही है । इस तरह कार्य करती रहती है । आवश्यकता है केवल दिव्यजीवनके लिये सम्यक् स्पृहाकी । जब यह सम्यक् स्पृहा भीतर जाग्रत् होती है, तब ऊपरसे आद्याशक्ति-स्वरूपिणी माँका प्रेम मनुष्यको स्पर्श करता रहता है । दानव-दलिनी देवीने पथकी बाधाको दूर कर दिया है । मानव-समाजके मनके मूलमें इस महती शक्तिके अवतरणके लिये उपयोगी वातावरणकी सृष्टि करना ही सभ्यता और संस्कृतिका लक्ष्य होना चाहिये । भारतकी आत्मामें, नर-नारायणमें इस उद्देश्यके साधनार्थ तपस्या चल रही है । हमको उस तपस्यामें योग देना चाहिये । भागवती इच्छाके सामने सर्वतोभावेन आत्मनिवेदन कर देना चाहिये । वस्तुतः ऐहिक और पारमार्थिक सत्य दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं । जो सत्य और नित्य जीवन है, वही जीवन सर्वतोभावेन पूर्ण है । मनुष्य जबतक इस पूर्णयोगमें प्रतिष्ठित नहीं होता, तबतक उसको शान्ति

निवृत्ति नहीं । मनुष्यके भीतर भागवती इच्छा विजयिनी होगी ही और उसमें अधिक विलम्ब नहीं है ।

बंगालकी भक्ति-साधनाके विभिन्न वैचित्र्यके भीतरसे अमृतत्वकी यह वाणी उद्गीत हो रही है । हिंसा-विद्वेषकी वृद्धिके साथ विश्वके स्वार्थोंके प्रबल संघर्षसे उत्पन्न कोलाहलको शुद्ध करके किस दिन यह उदार आकाशमें ध्वनित होगी, कौन जानता है ।

अन्य बात मत गोय, नाहिं सुन उसौन, उर प्रेम हृदये धीर।

अर्थात् दूसरी सारी गोलमाल बातें हैं, कोई मत सुनो, भगवत्प्रेम हृदयमें धारण करो । यदि इन भक्त साधकोंके इस प्रेमको हृदयमें ग्रहण नहीं कर सके तो क्या ऐहिक और क्या पारमार्थिक—किसी ओरसे हमारा कल्याण नहीं है ।

उत्तरप्रदेशीय भक्तोंके भाव

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम्० ए०)

देवता लोग भी इस भारतभूमिमें जन्म ग्रहण करनेके लिये लालायित रहते हैं और भारतभूमिका हृदय यह उत्तर-प्रदेश है । इसका शुद्ध नाम आर्यावर्त होना चाहिये, जैसा कि यहाँके वर्तमान मुख्य मन्त्री श्रीसम्पूर्णानन्दजीने पहले ही प्रस्तावित किया था । क्योंकि कहा है—

आर्यावर्तः पुण्यभूमिर्मध्ये विन्ध्यहिमालयोः ।

इस प्रदेशमें तरह-तरहके अन्न, फल तथा सब्जियाँ होती हैं । इस समय इस प्रदेशमें लगभग सात करोड़ मनुष्य रहते हैं और मुख्य बात इस प्रान्तके विषयमें यह देखी जाती है कि यहाँके लोगोंमें प्रान्तीयता नहीं है । अपवाद तो हर जगह होते ही हैं । इसी निश्छल भावके कारण यहाँके लोग 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भावको चरितार्थ करके तरह-तरहसे भगवान्‌की अधिकतर निष्काम उपासना करते हैं ।

मनुष्यके हृदयमें भक्तिका होना कोई साधारण बात नहीं । यथार्थमें इस विषयमें मनुष्यपर उसके माता पिताके निश्छल तथा निर्मल भावोंका असर पड़ता है और कहीं-कहीं भगवत्कृपासे घोर आपत्ति अथवा इष्ट-वियोगके कारण भी मनुष्यमें इस भावकी जागृति होती है । भक्तको संसार दुःखमय ही दीखता है । गङ्गाजीके दर्शन होनेपर उसे महान् हर्ष होता है तथा विनीत भाव व्यक्त होते हैं, जब कि साधारण मनुष्यको यह केवल नदीरूपमें दिखलायी पड़ती है । भक्तका हृदय अत्यन्त कोमल होता है और दूसरेके दुःखको देखकर स्वतः द्रवित हो उठता है । भक्त निश्चिन्त रहता है । उसे ऐसी कोई चिन्ता नहीं रहती कि कब क्या होगा । वह तो प्रभुको ही अपना भाग्य-नियन्ता मान लेता है । वह सबसे प्रेम करता है और चोर-बाजारी अथवा धोखाधड़ी आदिका विचार भी उसके चित्तमें नहीं आता । भगवत्कृपासे प्राप्त धनमें वह संतोष मानता है और निरन्तर भगवान्‌की कृपाका ही ध्यान करता रहता है ।

इस उत्तर-प्रदेशमें ही तरह-तरहकी जड़ी-बूटियाँ प्राप्त हैं, जिनकी अलौकिक शक्तियाँ देखकर आजकल लोग आश्चर्यचकित रह जाते हैं । मध्ययुगमें इन्हीं जड़ी-बूटियोंकी शक्तियाँ देखकर अरबके लोग बहुत चकित हुए और जड़ी-बूटीके अभावमें वे स्वर्ण बनानेके लिये नेवले, साँप, मयूर इत्यादि पशुओंका प्रयोग करने लगे । अरबसे यह विद्या पाश्चात्त्य देशोंमें गयी । वहाँ भी पारद, गन्धक, अभ्रक इत्यादि रहस्यमय वस्तुओंका तथा पशुओंके अङ्गोंका सोना बनानेमें प्रयोग होने लगा । ये जड़ी-बूटियाँ विन्ध्यपर्वत अथवा तथा हिमाचलपर देख पड़ती हैं । औषधके निर्माणमें यथासम्भव ऐसी औषधियाँ ही काममें लायी जाती हैं । भगवान्‌की उपासना भी इस प्रान्तके भक्तलोग विविध भावोंसे विविध स्थानोंपर करते हैं ।

सबसे प्रथम काशीमें अद्वैत भावकी चर्चा प्रतीत काससे चली आ रही है और अब भी मिलती है । यहींपर महात्मा रामानन्द तथा उनके शिष्य कबीर इत्यादि भी हुए हैं । इस समय कुछ अपवादोंको छोड़कर काशीके लोग प्रायः समस्त उत्तर-प्रदेशमें सबसे मस्त कहे जा सकते हैं । इनकी शुद्ध उपासना अधिकतर निष्काम शिवभक्ति है । यह देखने और अनुभव करने-का विषय ही है । जिसके हृदयमें भगवान्‌ने रत्तीभर भी प्रकाश दिया है, वह काशीवासियोंके शुद्ध भावको देखकर तथा उनकी निश्छल शिवभक्तिका अवलोकन करके मुग्ध हो जाता है और परम शान्तिको प्राप्त करता है । यहाँके निम्नश्रेणीके लोग तो प्रायः इतने शुद्धहृदय हैं कि उनको भाषा किन्तु प्रकट अस्तित्वमें जरा-सा भी संदेह नहीं है । यहाँके लोग

मरुभूमिके उपासक हैं और प्रायः गली-गली इत्यादि स्थानोंमें घूमने लगा करते हैं। कहीं भी बाहर आप बनारसीको देखेंगे तो झट पहचान लेंगे। यहाँकी एक विशेषता और यह है कि लोग एक ही प्रकारकी विशुद्ध भक्तिसे गङ्गाजी, विश्वनाथ, अन्नपूर्णा, भगवान् विष्णु, गणेश, सूर्य, भैरव इत्यादिकी वन्दना करते हैं। यह बहुत बड़ी बात है।

बनारसके समीप ही मिर्जापुर जिलेमें भगवती विन्ध्यवासिनी-का स्थान है। यहाँ भी अनेकानेक सिद्ध भक्त हो गये हैं और उनकी कथाएँ हृदयको गद्गद कर देती हैं। भगवतीकी उपासना यथार्थमें मातारूपमें ही होती है और जो स्नेह इस भावमें टपकता है, वह साधारणतः उन लोगोंमें और मुख्यतः 'पचौंसिया' लोगोंमें दीखता है। ये पचौंसिया लोग, काशीके सभी वर्गके लोग हैं, जो पैदल ही प्रायः बीस मीलकी यात्रा भगवतीका भजन करते हुए और ढोल बजाते हुए भाद्रपदके महीनेमें करते हैं। ये लोग स्वच्छताकी मूर्ति कहे जा सकते हैं; क्योंकि ये लोग बड़े मौजी और प्रकृति प्रेमी होते हैं। अष्टभुजा देवीकी पहाड़ीपर ये लोग बड़ी मस्तीसे घूम-घूमकर भगवतीके विभिन्न स्थानोंका दर्शन करते हैं तथा झरनोंका जल पीते हैं। यह पहाड़ी प्रायः चार-पाँच मील लंबी तथा दो मील चौड़ी है। इसपर अनेकानेक अमूल्य जड़ी-बूटियाँ वर्तमान हैं, जिनको यहाँके वनवासी कुम्हार लोग बहुत अच्छी तरह जानते हैं। यहाँके झरनोंमें भी कहीं सोनेका अंश, कहीं गन्धकका अंश इत्यादि मिलते हैं। इस पहाड़ीपर स्वर्ण तथा रजत भी बनाये जाते थे और सम्भव है कि इस समय भी बनाये जाते हों। इसी विन्ध्यगिरिपर विन्ध्याचलसे तीस-पैंतीस मील पूर्व चकिया नामक स्थान है, जहाँ बड़े-बड़े जलप्रपात, गुफाएँ तथा शेरके शिकारके स्थान बने हुए हैं। चकिया प्रदेश भी, विशेषतः बेलन नदीके किनारे, टेढ़ी-मेढ़ी नदी तथा जलप्रपातोंके कारण अत्यन्त सुन्दर है। काशीवासी इन स्थानोंका आनन्द अब भी लेते हैं तथा गद्गद हृदयसे भगवतीका अभिवादन करते हैं।

अयोध्यामें भगवान् मारुतिके प्रभावका प्रत्यक्ष दर्शन होता है। यह भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी राजधानी थी और प्रारम्भिक यवनकालमें यवनोंके उत्पातके कारण यहाँके भक्त वैरागी लोग योद्धारूपमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजी तथा उनके अनन्य भक्त श्रीहनुमान्‌जीकी उपासना करने लगे। तथा अब भी करते हैं। रामभक्तिका प्रचार अधिकतर महात्मा तुलसीदासजीके साथ-ही-साथ हुआ है और तभीसे अयोध्याके आस-पास प्रायः प्रत्येक ग्राममें हनुमान्‌जीकी मूर्ति है तथा आश्विनमासमें रामलीला होती है। अयोध्यामें अनेकानेक भक्त हो गये हैं, जिनपर भगवती जानकीजीका विशेष अनुग्रह रहा है, जिसके कारण उन्हें अनेक चमत्कार भी दिखलायी दिये हैं।

मथुरामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलाभूमिकी छटा ही निराली है। यहाँ ऐसे-ऐसे भक्त हो गये हैं, जिन्होंने लाखों क्या, करोड़ोंकी सम्पत्तिको ठुकराकर इस व्रजभूमिमें मधुकरी माँगकर तथा मिट्टीके करवेसे अधिक कोई संग्रह न रखते हुए आनन्द-पूर्वक अपना जीवन व्यतीत किया है। इन भक्तोंका भाव विरही गोपियोंका-सा है। वे भगवान् कृष्णका नाम सुनकर तथा उनकी लीलाओंका वर्णन सुनकर प्रेमाश्रु बहाने लगते हैं और अनेक बार भगवान्‌ने कृपापूर्वक ऐसे भक्तोंको प्रत्यक्ष दर्शन दिये हैं। यहाँके भक्तोंकी मनोभावना 'विरह-व्यथा' शब्दसे ही वर्णित हो सकती है। यह काशी, विन्ध्याचल तथा अयोध्याके भावोंसे भिन्न है। यहाँके भक्त भगवान्‌को बालकरूपमें ही सदा मानते हैं। काशीके लोग बाबा विश्वनाथको वृद्ध दादाके रूपमें देखते हैं, जिनके कंधेपर बालकरूप भक्त चढ़ा है और उनके बालों तथा दाढ़ीमें हाथ डाल रहा है और बाबा केवल मुसकरा रहे हैं। विन्ध्याचलमें जिस प्रकार बालक निस्संकोच माताके पास जाता तथा प्रसन्न होता है, यह भाव दिखायी पड़ता है और अयोध्यामें दासभावका दर्शन होता है—जैसे राजदरबार-में सेवक विनीतरूपमें उपस्थित होता है।

इस प्रान्तमें बड़े-बड़े ऋषियोंके स्थान भी जगह-जगहपर पाये जाते हैं—मुख्यतः प्रयाग, नैमिषारण्य, हरिद्वार तथा उत्तराखण्डमें। प्रयाग अपना विशेष स्थान रखता है। मुझे अपने जीवनमें जितनी शान्ति इस पुण्यक्षेत्रमें दिखलायी पड़ी, उतनी बहुत कम स्थानोंमें मिली। सुप्रसिद्ध भरद्वाज-आश्रम-का स्थान तो अब भी दिखलाया जाता है। वहींपर श्रीभरद्वाज-जीके जामाता याज्ञवल्क्यजी रहते थे। अतरसुइया नामक स्थानपर अत्रिमुनि तथा उनकी धर्मपत्नी अनसूयाजी रहती थीं। सरस्वतीकुण्डके पास किलेके नीचे परशुरामजीने तपस्या की थी। इनके अतिरिक्त विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि तथा वसिष्ठ इत्यादि महर्षियोंके आश्रम भी यहीं हैं। इन स्थानोंका प्रभाव अब भी विद्यमान है और यहाँके लोग मुझे अन्य स्थानों-की अपेक्षा अधिक शान्त लगते हैं। नैमिषारण्यमें तो अठासी हजार ऋषि रहते थे और उसी स्थानके पास भगवान् रामचन्द्रने गोमती-तटपर यज्ञ किया था। नैमिषारण्यमें स्थित बड़े-बड़े पेड़ोंके झुरमुट अब भी उस अतीतकालकी

बिलमते हैं तथा भगवती सच्चिदादेवीका सिद्धपीठ इस क्षेत्रके बीचमें है। हरिद्वार, ऋषिकेश तथा बदरिकाश्रममें नर-नारायण तथा व्यास इत्यादि महान् ऋषियोंने तपस्या की है तथा अब भी कर रहे हैं। इन स्थानोंका स्मरण करके हृदय शुद्ध होता है तथा सांसारिक वासनाएँ छूटने लगती हैं। यह समय याद आता है जब इस शरीरमें स्थित आत्मा शुभ्र तथा उत्तुङ्ग हिमालय-शिखरों तथा उसके उत्तरमें स्थित मानस-सरोवर तथा कैलास पर्वतपर स्वच्छन्द घूमता था। हिमालय अत्यन्त विस्मयकारी पर्वत है और इसके उत्तरका प्रदेश (क्यूनलुन पर्वत) तो अब भी प्रायः अज्ञात तथा रहस्यपूर्ण है।

इन स्थानोंके अतिरिक्त एक परम रमणीय स्थान चित्रकूट है। प्रयाग इत्यादि ऋषिक्षेत्रोंपर शुद्ध सात्त्विक भाव जाग्रत् होते हैं। पर यहाँ भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने कई वर्षतक जानकीजीके साथ कामदगिरिपर निवास किया था। भक्तलोग यहाँ भक्ति-भावसे इस पर्वतकी परिक्रमा करते हैं और कभी इसके ऊपर पैर रखकर नहीं चढ़ते। इसके आस-पास भी महर्षियोंके स्थान हैं—यथा अनसूयाजी इत्यादि। यहाँकी प्राकृतिक विचित्रता द्रष्टव्य है। कहा जाता है कि अनेकानेक भक्तोंको भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन इस पुण्यक्षेत्रमें हुए हैं। भक्तको दर्शन होनेसे यह अर्थ नहीं कि उसकी कोई कामना पूर्ण होती है। उसकी अभिलाषा तो सदा यही रहती है कि अपने इष्टदेवकी शुभ मूर्तिका दर्शन करता रहे। इसीमें उसे परम आनन्द मिलता है। यदि भगवान् वर माँगनेको कहते हैं तो उसे एक प्रकारका दुःख होता है और वह केवल यही माँगता है कि इसी प्रकार उसे सदा परम छविके दर्शन होते रहें। उसे तो संसारसे कुछ मतलब ही नहीं। वह तो प्रायः विदेह (देहरहित) होता है और स्त्री-पुत्रादिका पालन केवल लोक-संग्रहकी भावनासे करता है। धन्य हैं वे लोग, जिनका अनेकानेक जन्मोंमें उपार्जित पुण्योंके फलस्वरूप इस परम पवित्र प्रान्तमें जन्म होता है। प्रसादरूपसे पूर्ण भगवती भागीरथी इस प्रान्तको एक छोरसे दूसरे छोरतक सींचती हैं।

मध्यप्रदेशीय भक्तोंके भाव

(लेखक—डा० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम० ए०, डी० लिट्)

मध्यप्रदेशकी सीमाओंका इतिहास बहुत प्राचीन नहीं है। क्षेत्र तो था परंतु सीमाएँ दूसरी थीं। अंग्रेजी राज्यमें इसका निर्माण हुआ। किंतु उसमें भी हेर-फेर होते रहे। कभी संबलपुर अलग हुआ और झारखण्डका अंश जुड़ा। कभी मराठी भाषाभाषी जिले और कुछ देशी राज्योंके भू-भाग जुड़े। अब तो गत वर्षसे इसका कायाकल्प ही हो गया है और मराठी जिले अलग किये जाकर उनके स्थानपर मध्य-भारत, भोपाल और विन्ध्य-प्रदेशके क्षेत्र जोड़ दिये गये हैं। इस वृद्धिके कारण उज्जैन और ओंकारेश्वरके समान तीर्थ इसके अन्तर्गत हो गये और इसीके कारण रामटेक तथा अमरावती-जैसे स्थल यहाँसे अलग हो गये।

परंतु भौगोलिक सीमाओंकी इस प्रकारकी अस्थिरता रहते हुए भी मध्यप्रदेशकी सांस्कृतिक सीमाओंकी अपनी विशेषता रही है और वह है समन्वय-भावनाकी। इस प्रदेशमें उत्तर और दक्षिण भारतका ही मेल नहीं हुआ किंतु आर्य और अनार्य सभ्यताओंका भी यहाँ अच्छा मेल है। बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, वैष्णव—सभी तो यहाँ मिले। मुस्लिम-साम्राज्य भी यहाँ इस प्रकारका नहीं रह पाया, जो भारतकी सांस्कृतिक परम्पराको किसी विशेष प्रकारसे क्षति पहुँचाये या छिन्न-भिन्न करे। अतएव यहाँकी समन्वय-भावना अबाध गतिसे चली और उसने मध्यप्रदेशीय भक्तोंके भाव भी इसी रंगमें रँग दिये।

हमारे निवासस्थान राजनाँदगाँवके पास ही एक पुरातन कालका मन्दिर है, जो है तो शिव मन्दिर किंतु उसमें वैष्णव अवतारोंकी लीलाओंके साथ जैनमूर्तियाँ भी अङ्कित हैं। देवीकी मूर्तियाँ हैं ही। कुछ दूर पाये हुए श्रीपुरकी खुदाईमें अनेक बौद्धविहार निकले हैं, जो बौद्धयतियोंके प्रधान आश्रयस्थल थे। परंतु वहाँ भी बड़ी सुन्दर शैव एवं वैष्णव-मूर्तियाँ तथा जैन-मूर्तियाँ भी मिली हैं। इसी प्रदेशके एक मुसल्मान कविने श्रीजगन्नाथ स्वामीके दीक्षाविषयक दर्शनोंकी इच्छासे उन्हें पत्र लिखा—'प्रभो! यदि आप हिंदुओंके ही नाथ हैं, तब तो दर्शनोंके लिये मेरा कोई दावा नहीं हो सकता; परंतु यदि आप वस्तुतः जगन्नाथ हैं—जगत्के नाथ हैं, तो मेरा सादर निवेदन है कि आप मुझे भी अपनानेकी कृपा करें।'

वर्तमान कालमें भी यहाँ नरसिंहपुर नरेशके भूतपूर्व दादाजी तरह ब्राह्मण संत और नागपुरके ताजुद्दीन बाबा तरह मुसल्मान औलिया हो गये हैं जिनके दरबारमें

सभी सम्प्रदायोंके लोग समानरूपसे पहुँचा करते और उनकी कृपा प्राप्त किया करते थे।

अनार्योंकी उपासना कामकी ढंगकी होती है; क्योंकि उसमें मांस-मदिराका सम्बन्ध रहता है। आर्योंकी उपासनामें वामाचारकी परम्परा कुछ दिनोंके लिये यहाँके भी कुछ क्षेत्रोंमें थी; परंतु अब पारस्परिक सहयोगका कुछ ऐसा वातावरण निर्मित हो चुका है कि गुप्त साधनाओंकी आड़में भ्रष्टाचार यहाँ नामशेष ही समझिये। आचारहीनता न आर्य भक्तोंमें है न अनार्य भक्तोंमें; ढोंगियोंकी बात जाने दीजिये।

महात्मा कबीर और रैदासका इस ओर पर्याप्त प्रभाव है। शिव और महामायाके अनेक मन्दिर एवं उपासक इधर मिलेंगे; परंतु सर्वोपरि प्रभाव श्रीकृष्ण एवं श्रीरामकी लीलाओं-का है। देहात-देहातमें लोग कृष्ण और रामके गुणगान करते मिलेंगे। रामचरितमानसका प्रचार दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है और देहात-देहातमें मानस-यज्ञके आयोजन हुआ करते हैं। ऐसा कोई मानस-यज्ञ न होगा, जिसमें हजारोंकी भीड़ न इकट्ठी होती हो और प्रत्येक धर्म एवं सम्प्रदायके लोग स्वच्छन्दतापूर्वक भाग न लेते हों।

यहाँके भक्तोंने अपनेको प्रधानतः प्रभुका दास ही माना है। उनसे सौहार्द अथवा वात्सल्यका सम्बन्ध जोड़नेवाले भक्त यदि हुए भी हैं तो वे विशेष प्रकाशमें नहीं आये। इसीलिये यहाँके भक्तोंके भाव विशेषतः नैतिकता लिये हुए ही आगे पड़े हैं और उन्होंने समाजके मङ्गल-विधानमें सहयोग ही दिया है।

गुजराती भक्तोंके भाव

(लेखक—पं० श्रीमगनजी कानजी शास्त्री, हरिपर्वतम्)

यों तो सारी ही भारत-भूमि भक्तोंकी जननी है; भारत-माताने जिस प्रकारके उदार, ज्ञानी और सहृदय प्रेमी भक्तों-को जन्म दिया है, प्रायः किसी देशने उस प्रकारके भक्तोंको जन्म नहीं दिया। उसमें भी भारतवर्षान्तर्गत गुजरातके भक्तोंने प्रेम, भक्ति और ज्ञानकी जो त्रिवेणी बहायी है, वह तो सर्वथा अवर्णनीय है।

भक्तोंके भावकी बात आते ही हमारी दृष्टि गुजरातके आदर्श भक्त नरसिंह (नरसी) मेहताके ऊपर जाती है। सौराष्ट्रके जूनागढ़ शहरमें उनका जन्म सं० १४७० में हुआ था। प्रायः पंद्रहवीं शताब्दीसे लेकर सत्रहवीं शताब्दीतक सारे देशमें भक्ति-गङ्गाका प्रवाह चलता रहा। इस युगके गुजरातके आद्यकवि होनेका मानद गौरव भी इन्हींको प्राप्त है।

हमारे भक्त नरसिंह मेहता लड़कपनमें बहुत तेजस्वी या विद्वान् नहीं थे। भाभीके रूखे वचनोंसे मातृ-पितृ विहीन बालक नरसिंहको वैराग्य हो आया और वे कहीं जंगलमें चले गये। उन्होंने एक निर्जन शिवालयमें बैठकर भगवान् शंकरकी आराधना की। कहते हैं भगवान् भूतभावनने प्रसन्न होकर नरसीको अभीष्ट वर माँगनेके लिये कहा। तब नरसीजी बोले—'भगवन्! मुझे कुछ माँगना नहीं आता; आपको जो सर्वाधिक प्रिय वस्तु हो, वही मुझे दे दीजिये।'

बस, फिर क्या था! भगवान् शंकर उन्हें गोलोक-धाममें ले गये और अखण्ड रासलीलाका दर्शन कराया। जिसके ऊपर भगवान् शंकर कृपा करते हैं, उसके लिये क्या दुर्लभ है। नरसीकी तन्मयता देखकर भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें अपने मोरमुकुट एवं मूर्ति आदि देकर मर्त्यभूमिमें भेज दिया और वे फिर भगवान्‌की आज्ञा पाकर जूनागढ़में आ गये। उसी समयसे उनमें भावोंका उदय होने लगा। विवाह हुआ, पर गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी उनका संसारसे कोई आसक्ति या ममताका सम्बन्ध नहीं था; वे तो बस, सदा-सर्वदा श्रीकृष्णके कीर्तन, स्मरण और भावावेशमें ही निमग्न रहते थे।

सौराष्ट्रके प्रायः सभी भक्तोंमें तीन भाव प्रधानतया दिखायी पड़ते हैं—(१) प्रेमलक्षणा भक्ति, (२) अनन्य भाव और (३) आतिथ्य। इन तीनों भावोंसे हमारे भक्त-राज नरसिंह मेहता भी विभूषित थे। उनके यहाँ साधु-संत और भक्तोंका अड्डा बना रहता था। रूखा-सूखा जो भी मिलता, भगवान्‌को समर्पित करके वे संतों, भक्तों और अतिथियोंका स्वागत करते थे। गृहस्थाश्रममें रहनेपर भी किसी भी विरक्त संतके साथ उनके जीवनकी तुलना की जा सकती है।

भक्त नरसी मेहता प्रेमभक्तिकी पराकाष्ठापर पहुँचे हुए थे। ज्ञानकी दृष्टिसे भी वे स्थितप्रज्ञ थे। गरीबीमें पत्नी, पुत्र और पुत्रीके साथ गृहस्थाश्रमको निभानेमें उन्हें अवश्य कठिनाइयाँ आती थीं; परंतु भगवान्‌के प्यारे भक्त कठिनाइयोंसे कब घबराते हैं। उनकी निष्ठामें श्रीमद्भगवद्गीताका यह प्रसिद्ध श्लोक चरितार्थ होता था—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

इसीमें श्रद्धा रखकर वे श्रीकृष्णका नाम-स्मरण करते हुए निश्चिन्त जीवन व्यतीत करते थे । इस अनन्याश्रयका प्रत्यक्ष फल यह था कि भगवान्ने अलौकिक ढंगसे उनके पुत्र-पुत्रीके विवाहमें, पुत्रीके मामेरेमें, पिताके श्राद्धमें एवं अन्यान्य प्रसङ्गोंमें उनकी प्रचुरतम विलक्षण सहायता की । ये सब कथाएँ इतिहासप्रसिद्ध हैं ।

गुजरातके भक्तोंकी भावनाओंमें एकनिष्ठ भक्तिके उपरान्त चिन्तनात्मक ज्ञानका स्रोत भी बहता हुआ दीख पड़ता है । नरसी मेहताका ज्ञान भी उच्चकोटिका था, उनके पदोंमें आत्मज्ञान और वेदान्तके गूढ़ रहस्य प्रस्फुटित होते हैं । वे एक पदमें कहते हैं—

'तू अत्या ! कोन मे कोने वळगी रह्यो। वगर समज्ये कहे मारुं मारुं ॥'
'हूं करूं, में करूं एम मिथ्या बके । शकट नो भार ज्यम श्वान ताणे ॥'

वे कहते हैं—"तू कौन है ? जो शुद्ध-बुद्ध-चैतन्य होनेपर भी बिना समझे-बूझे मेरा-मेरा कह रहा है, और 'यह कार्य मैं ही कर सकता हूँ, अमुक कार्य मैंने ही किया है' इस प्रकार झूठ बक रहा है, जैसे गाड़ीके नीचे चलता हुआ कुत्ता गाड़ीका सारा भार अपने ऊपर समझता है ।"

वेदान्तका सरल शब्दोंमें कैसा सुन्दर अमृतमय प्रवाह बहा है उनके मुखसे ! क्यों न हो, ज्ञानके अधीश्वर योगीश्वर भगवान् शंकरजीकी कृपा जो हुई थी उनके ऊपर ।

इन सभीसे यह मालूम होता है कि सुन्दर शरीर, उत्तम कुल एवं पर्याप्त धन आत्माकी मुक्तिके लिये पर्याप्त नहीं हैं । उसके लिये तो भगवान्की एकनिष्ठ निष्काम भक्तिरूप कर्तव्य, शुद्ध भावना एवं भगवान्की असीम कृपा आवश्यक है । हमारे भक्तराज नरसी मेहताके पदोंकी उपलब्धि देखकर यही मानना पड़ेगा कि आत्ममुक्तिके लिये मानुषी प्रयत्न मिथ्या हैं—

प्रभोः कृपा हि केवलम् ।

भक्त नरसीजीने हजारों पदोंकी रचना की है और उनके प्रत्येक पदमें अलभ्य प्रेमलक्षणा भक्ति, ज्ञान और माधुर्य निरन्तर प्रवाहित हो रहे हैं ।

उनके जीवनके भाव, इस भगवद्विश्वासको भी देखिये । एक दिन घरपर अतिथि आ गये । सदा आते ही रहते थे । पर उस दिन उन्हें भोजन करानेके लिये घरमें न अन्न था न पैसा-टका । किसी उदार व्यापारीसे उधार लेकर अतिथि-सत्कार करनेकी इच्छासे वे बाजारमें जा रहे थे । इतनेमें ही द्वारका जानेवाले कुछ यात्रियोंका एक दल उन्हें मिल गया और उसने भक्तराजके हाथमें सात सौ रुपये रखकर द्वारका हुंडी लिख देनेकी प्रार्थना की । भक्तराजने बहुत इनकार किया पर यात्रियोंने एक भी न मानी । आखिर भक्तराजने भगवत्-इच्छा समझकर द्वारकाके सर्वसम्पन्न रत्नाकर सेठ शामळशाहके नामपर हुंडी लिख दी तथा बड़े विनय के साथ उनसे कहने लगे—

नकार करे तो वेराणी थशो रे । रुपिया न चूकशो केवो मळी ॥
रुपिया मळशे ते थशे रे । न मळे तो आपणी वात शी ॥
आप सुखे अमथुं मळी रे । तमे रुपिया तो लो रे ॥

"शामळशाह हुंडी लिखनेसे इन्कार करें तो अदल बदल जाइयेगा, रुपये छोड़ियेगा नहीं, कहकर ले लीजियेगा । आपको उसी समय रुपये मिल जायँगे । इसपर भी कदाचित् न मिलें तो लौट आइयेगा, मैं व्याजसमेत आपको गिन दूँगा । आप रुपयोंके मालिक हैं ।" कितना अटल विश्वास है !

तदनन्तर सात सौ रुपये लेकर उन्होंने बड़े ही प्रेमसे भगवान्को नैवेद्य चढ़ाया और साधु-संतोंको संतुष्ट किया ।

साधु-संत भक्त नरसीकी जयध्वनि करते हुए चले गये और इधर भक्तराज सोचने लगे—

अरे ! मैंने यह क्या किया ! भगवान्को केवल थोड़े-से चाँदीके टुकड़ोंके लिये कष्ट दिया ! अब क्या होगा ? यदि भगवान्ने हुंडीकी रकम न चुकायी तो !

फिर क्या था ! स्वयं भोजनका परित्याग करके वे भगवद्भजनमें लीन हो गये । उन्हींके पदके भावको देखनेसे पता चलेगा कि भक्तराज कितने निश्चिन्त और अनासक्त थे—

मारी हुंडी स्वीकारो महाराज रे
शामळा गिरधारी ।
मारे एक तमारो आधार रे
शामळा गिरधारी ॥
× × ×
नहिं तो जाशे तमारी लाज रे
शामळ गिरधारी ॥

भजन गाते-गाते भक्तराज तन्मय बन गये । उन्हें समाधिसे जाग्रत् होनेसे पूर्व ही उनकी भावनामें दिखायी दिया कि स्वयं भगवान् शामळशाहके रूपमें यात्रियोंको ढूँढ़ रहे हैं ।

यही तो भगवान्का वास्तव स्वरूप प्रसंगोंमें कहा है—

न कामये विद्यते देवो न पाषाणे न मृन्मये ।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद् भावो हि कारणम् ॥
(गरुड० पूर्व० ८८।११)

भावके लिये भगवान् रहते भी लिये लालायित हैं। भक्त नरसीजीके भावसे भगवान्ने सचमुच उनके ऐसे-ऐसे साधारण सांसारिक कार्य भी किये, जिन्हें सुनकर आजके बुद्धिवादी लोग चकरा जाते हैं।

ऐसे ही गुजरात प्रान्तके डभोई गाँवमें एक भावमूर्ति भक्त-कवि दयारामजी हो गये हैं। आप बड़े ही प्रेमी भक्त थे। सखीभावसे इन्होंने सहस्रों पदोंकी रचना की है। इनके भक्तिरस पद आज भी गुजरातके घर-घर गाये जाते हैं। भक्तोंको आडम्बरहीनताके लिये उपदेश देते हुए उन्होंने बड़े ही भावात्मक एवं रोचक हास्ययुक्त पद रचे हैं। गुजरातमें इन्हें 'दयो'के नामसे पुकारते हैं।

इन भक्त-कविका जन्म विक्रम संवत् १८३४ के लगभग हुआ था। आप एक अच्छे भक्त थे और गोपीभावकी पुष्टिके लिये इन्होंने अच्छा प्रयत्न किया था।

सौराष्ट्र-गुजरातमें ऐसे अनेकों भावप्रधान भक्त हो गये हैं। उन सभीके जीवनके अभ्याससे यह मालूम होता है कि ये सभी भगवान् शंकराचार्यजीके इस उपदेशके अनुसार ही अपना जीवन व्यतीत कर गये हैं—

> गेयं गीतानामसहस्रं ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम्।
> नेयं सज्जनसङ्गे चित्तं देयं दीनजनाय च वित्तम्॥

इसीको कबीरके शब्दोंमें यों कह सकते हैं—

> कबिरा यह तन जात है, कर सकै तो काम।
> देनेको टुकड़ा भला, लेनेको हरिनाम॥

भजन और भूखोंको भोजन देनेका भाव गुजरात-सौराष्ट्रके भक्तोंमें विशेष पाया जाता है। भक्त नरसीसे लेकर आजतक ऐसे अनेकों भक्तोंमें भक्त जलाजी और भक्त बापारामजी आदिके नाम भी उल्लेखनीय हैं। सांसारिक दृष्टिसे अनपढ़ होते हुए भी उनका मार्ग हमलोगोंके लिये मार्गदर्शक आदर्श बन रहा है।

अन्तमें हम भारतके सभी भक्तोंको प्रणाम करके इस लेखको समाप्त करते हैं।

उत्कलीय भक्तोंके भाव

(लेखक—पं० श्रीउदयविलास शर्मा 'प्रवेशक')

धर्म ही भारतका प्राण है। पुरातन कालसे भारतीयोंके धार्मिक चिन्तनने ऐसी एक भावधाराकी सृष्टि की, जिससे समग्र देशमें धर्मका एक महोदधि प्रकट हो गया। वही विस्तृत महोदधि इस विपुल कालके बीच छोटी गिरि-नदियोंके समान धर्म-भावनाके विभिन्न प्रवाहोंसे क्रमशः परिपुष्ट होता हुआ अक्षय भावसे बढ़ता रहा है।

समयके प्रवाहके अनुरूप ही धर्मके प्रवाहको भी विविध चिन्तनोंसे भक्तोंने जिस प्रकार परिपुष्ट तथा परिवर्धित किया है, उसको देखनेसे पता लगता है कि उनमेंसे बहुतने अपने बंधुवरोंके कल्याणार्थ विभिन्न सुन्दर मार्ग एवं सम्प्रदाय निर्माण कर गये हैं। भारतका प्रत्येक प्रान्त ऐसे भक्तोंको पाकर पवित्र हुआ है तथा होता है। भक्तोंके विभिन्न भावोंके आदान-प्रदानसे भी प्रान्तोंमें परस्पर भ्रातृभाव उत्पन्न होता रहा है। अतः भारतके भक्तोंका यह अवदान ही अखण्ड मैत्री-भावका प्रतीक है। अब देखना होगा कि उन्हीं मार्गप्रवर्तक भक्तोंने पवित्र उत्कल देश या उत्कल प्रान्तमें क्या और कैसे भावोंका अवदान किया है।

अष्टादश पुराणोंमेंसे द्वादश पुराणोंने उत्कल देशकी महिमा गायी है। वायुपुराण तथा अन्य पुराणोंको देखनेसे ज्ञात होता है कि प्राचीन कालमें केवल कलामें ही नहीं, आध्यात्मिक चिन्तनमें भी उत्कल देश बहुत उन्नत माना जाता था। उत्कल देशके अधिवासी आध्यात्मिक चिन्तन तथा कलाके प्रति अधिक श्रद्धा तथा ममता रखते थे। धार्मिक जगत्में उत्कलकी प्रतिष्ठाके बारेमें विशेष न कहकर केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि उत्कल देश 'अन्तर्वेदी' या 'पुरुषोत्तम-क्षेत्र' के नामसे अनादिकालसे प्रसिद्ध है। इस प्रबन्धमें यद्यपि पुरुषोत्तम-क्षेत्रके माहात्म्य तथा कीर्तिका वर्णन करना हमारा अभिप्राय नहीं है, तो भी यत्किञ्चित् सामान्य आलोचना न करनेसे भूमिका पूर्णाङ्ग न होगी। महर्षि कपिल-रचित 'कपिलसंहिता' में इस क्षेत्रको समस्त क्षेत्रोंका राजा (श्रेष्ठ) बताया गया है। दक्षिण महोदधिके निकटस्थ इस पवित्रतम क्षेत्रराज उत्कल देशमें अनेकों भक्तोंका समागम शताब्दियोंसे होता रहा है तथा धर्मभावके प्रतीकस्वरूप मठ-महन्तोंद्वारा प्रतिष्ठित केन्द्रोंसे धर्मका प्रचार भी होता रहा है। इसके मूक साक्षिस्वरूप पवित्रतम गोवर्द्धनपीठ, रामानुज-कोट, चैतन्यगम्भीरा, कबीरगद्दी और नानकमठ प्रभृति हैं। इन प्रभावशाली मठोंको तथा धर्म-गुरुओंका प्रचार-केन्द्र रहनेपर भी उत्कलीय भक्तोंकी स्वतन्त्र धारा इस देशमें बही है, यही लक्ष्य करनेकी बात है। यही उत्कलीय भक्तोंके चिन्तनका

उत्कर्ष है। अब भारतीय पवित्र धर्म-प्रवाहमें उत्कलीय संतोंके अवदानकी संक्षिप्तभावसे आलोचना करना समीचीन होगा।

दुर्गा-माधव-उपासना—दुर्गा समग्र भारतकी शक्ति-रूपिणी हैं। नाना रूपोंसे तथा पद्धतियोंसे दुर्गाजीकी उपासना समग्र भारतमें अनादिकालसे प्रचलित है। किंतु उसी दुर्गा-पूजाकी परम्पराके बीच उत्कल देशने एक अभिनव पद्धतिकी सृष्टि की है। वह है—दुर्गाजीके साथ माधवजीकी पूजा या उपासना। वनदुर्गाजीके विग्रहके साथ नीलमाधव या जगन्नाथजीकी उपासना भारतीय धर्म-जगत्‌में एक विलक्षण अवदान है। दुर्गाजी भारतके शाक्त-जगत्‌की सर्वश्रेष्ठ उपास्या हैं और श्रीजगन्नाथजी समस्त वैष्णवोंके उपास्य श्रीनारायणस्वरूप हैं। दुर्गाजीके साथ पुरुषरूपमें जगन्नाथजीकी पूजा तत्त्वदृष्टिसे असम्भव लगता है, किंतु ऐतिहासिक परम्पराके मध्य यह पूजा-पद्धति जगन्नाथ-धर्मका एक प्रधान अङ्ग है। शिवपुराण तथा देवीपुराणमें चौंसठ शक्तिपीठोंके विषयमें उल्लेख है तथा शक्तिके अङ्गपातको लेकर विभिन्न देशोंमें जो शक्तिपीठोंका नामकरण हुआ है, उसके अनुसार पुरुषोत्तम-क्षेत्रमें अङ्गपात होनेसे यहाँ 'विमला' देवी' तथा 'जगन्नाथजी' भैरवरूपसे प्रतिष्ठित हुए। विमलाजीके साथ जगन्नाथजीके सम्बन्धका कालिकापुराणमें भी उल्लेख है। इस सम्बन्धका कारण यह है कि उत्कल सर्वदा तान्त्रिक भूमि रहा है, यहाँ तान्त्रिक शबर-समूह निवास करते थे। इसीलिये बौधायन-स्मृति (१।११-१४) में उत्कलको निषाददेश मानकर तीर्थ-यात्राके लिये अपवित्र बताया गया है। अस्तु, उन्हीं शबरोंके राजा 'जायरम' यहाँकी शक्ति विमलाजीको वर्तमान जगन्नाथ-मन्दिरस्थित स्थानमें रखकर उनकी पूजा किया करते थे। आगे चलकर उन्हींके वंशज विश्वावसुने भासमान तथा अपौरुषेय दारुब्रह्मको पाकर 'माधव' नामसे उनकी पूजा की। उसी अपौरुषेय दारुको ब्रह्म जानकर 'जायरम' या 'इन्द्रद्युम्न' ने उसे प्राप्त करनेके लिये अनेकों चेष्टाएँ कीं। अन्तमें इन्द्रद्युम्न और विश्वावसुका मिलन हुआ। इन्द्रद्युम्न और विश्वावसुके मिलनके प्रतीक-स्वरूप जगन्नाथ-धर्मकी प्रतिष्ठा हुई। संधिमें दोनोंका अधिकार रहा। मूर्तिके ऊपर शबराधिराज पूर्ण अधिकार स्वीकृत हुआ। केवल मूर्तिकी पूजा-पद्धति आर्योंके मतानुसार स्वीकृत हुई। तभीसे विमला तथा जगन्नाथजीकी मिलित पूजा उत्कल प्रान्तमें चली। विमला भैरवीरूपमें पुनः प्रमुख अधिकारसहित पूजित हुई। तभीसे आश्विन मासमें विमलाजीके साथ जगन्नाथजीकी पूजा होती है। यह पूजा समस्त उत्कलमें व्याप्त है एवं समस्त माङ्गलिक कार्योंमें सर्वप्रथम दुर्गा-माधवजीकी पूजा उत्कल देशमें प्रचलित है। यह ऐतिहासिक अवदान धर्म-जगत्‌में जैसे नूतन है, वैसे ही रहस्यात्मक भी है। यह अभिनव धर्म राजर्षि इन्द्रद्युम्न एवं शबरराज महात्मा विश्वावसुजीके मिलनसे प्रादुर्भूत है। इस नैसर्गिक सर्व-धर्म-समन्वयमूलक धर्मभावकी प्रतीकरूप इस घटनाका प्राचीन प्रस्तर-चित्र १००० वर्ष पूर्वसे जगन्नाथ मन्दिरके भोगमण्डपमें तथा कोणार्क-मन्दिरमें उत्कीर्ण है। इस दुर्गा-माधवजीकी पूजाका चित्र इसके साथ है। यह उत्कलीय भक्तोंका सर्वप्रथम अवदान है।

तदुपरान्त तान्त्रिकोंके साथ जैनाचार्योंने प्राचीनकालमें योग दिया। सुवर्णरेखा नामक एक महात्मा यहाँ पूर्वोक्त माधवजीकी उपासना करते थे। माधवोपासना कुछ दिनोंतक अत्यन्त प्रबलरूपसे प्राची-सरस्वतीकी तटवर्तिनी भूमिमें चली। उसके बाद कनिष्ठमाधव, मुद्गलमाधव, नीलाम्बरमाधव आदिकी स्थापनाके पश्चात् यहाँ जिनचन्द्र प्रभृति जैनाचार्योंने प्रवेश किया। उन्होंने माधवजीकी जिनासन करकर जैनधर्मके अनुसार पूजा की। इसलिये विख्यात जैनसभा मार्कण्डेय पर्व तथा प्राचीके तटपर हुई। यही स्थान कौण्डिन्य नामसे प्रसिद्ध हुआ तथा यहाँ जिनासनविग्रह नामसे जगन्नाथ प्रतिष्ठित हुए। जगन्नाथजीकी मौलिक माधवमूर्ति जैनोंकी कायोत्सर्गस्थित मूर्तिमें परिणत हो गयी। इस जिनासन-मूर्तिको, जो १११ वर्ष मगधमें थी, महामेघवाहन खारवेल मगधसे यहाँ लाये तथा मिट्टीमें दबे हुए जिनासन-भवनका संस्कार किया। यह उत्कलीय जैनाचार्योंका अमूल्य गौरवमय अवदान है। यह रहस्य कुछ पण्डितगण स्वीकार करते हैं, यद्यपि यह सिद्धान्त ऐतिहासिक प्रमाणरूपसे सर्वस्वीकृत नहीं है।

उत्कलने जगन्नाथको सर्वदा श्रेष्ठ माना है। शुद्ध सौगतवादके प्रचारकी दृष्टिसे उत्कलके तपस्सु भल्लिक तथा इन्द्रभूति आदिके द्वारा दूर-दूर देशोंमें धर्मप्रचार किये जानेकी बात छिपी नहीं है। इसी समय उत्कलके काहृप्प, शबरीप्पा, मीनप्पा और कृष्णाचारी प्रभृति बहुत-से संतोंने कटक जिलेकी महात्मा सिद्धगुम्फाको केन्द्र बनाकर उत्कलमें प्रसिद्ध सहजयोग मार्गका प्रचार किया था। सरलरूपसे योगतत्त्वका प्रचार करनेके लिये उन्होंने जो धार्मिक उद्यम किया था तथा जो मतवाद 'बौद्धगान दोहा' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थमें प्रकाशित है, वही उत्कलका परम्परागत सदाचार है। उसका तत्त्व यह है कि संसारकी समस्त माया-ममताके बीच अपने कर्तव्यका पालन करते हुए सदाचारके द्वारा यौगिक बुद्धिको प्राप्त करना तथा उसके द्वारा परम अवस्थाका लाभ करना ही धर्म है। यह मतवाद प्राचीनकालसे ही उत्कलके मौलिक धर्मरूपमें चला आता है। बहुत-से संत-महात्माओंने इसी मतवादका प्रचार करके उत्कलके धर्मचिन्तनमें विशिष्टताका प्रतिपादन किया है। इस पारम्परिक धर्मके प्रथम प्रवर्तक सिद्धराज शबरीपा, काहृप्प और हाडिप्पा हैं। तदुपरान्त पुनः धार्मिक चिन्तनमें परिवर्तन हुआ है अग्निहोत्री ययातिजीके द्वारा। बौद्धयुगमें नाना कारणोंसे जगन्नाथजीकी पूजा प्रतिष्ठितरूपमें नहीं रही। नाना मत-मतान्तरोंके बीच जगन्नाथजी सोणपुरनामक स्थानमें थे। इसी समय महाभवगुप्त ययातिजीका राजत्व आरम्भ होता है। उन्होंने याजपुरमें सोमयागादि चार महायाग किये तथा जगन्नाथजीकी पुनः प्रतिष्ठा की। इतना ही नहीं, पुण्यात्मा ययातिने जगन्नाथजीके मन्दिरमें अग्निपूजाका विधान उसी दिनसे जारी कर दिया। साथ ही यह नियम भी बना दिया कि उसी पवित्र यज्ञाग्निमें श्रीजगन्नाथजीका नैवेद्य पाक होगा तथा नित्य सर्वप्रथम अग्निपूजा एवं सूर्यपूजा होगी। उसी दिनसे यज्ञाग्निमें ही जगन्नाथजीके मन्दिरमें नित्य हवन किया जाता है। इस अग्निपूजाको ययातिने अत्यन्त निष्ठाके साथ प्रचारित किया, जिसके फलस्वरूप समग्र उत्कलमें असंख्य यज्ञ अनुष्ठित हुए। प्राची, ऋषिकुल्या, वैतरणी, चित्रोत्पला तथा महानदीकी तटभूमिमें प्रतिवर्ष यज्ञ होने लगे। दो सौ वर्षतक यज्ञ ही उपासनाका एकमात्र मार्ग था। यह प्रचार उपतकेशरी महात्मा ययाति, वसुकल्पकेशरी प्रभृति राजाओंने किया। ययातिने बहुत-से अग्निहोत्री ब्राह्मणोंको कान्यकुब्जसे बुलवाया और उनको समस्त देशमें यज्ञ-पूजाके निमित्त रखा। यह पूजा पड़ोसी राज्योंमें भी फैली। यज्ञनगर नामक एक स्थान उत्कलमें प्रतिष्ठित हुआ। याजपुरका यूपस्तम्भ इसी आध्यात्मिक अवदानका मूक साक्षी है। महात्मा ययातिके अनुमहसे मूल जगन्नाथ-मन्दिरका पाक यज्ञाग्निमें ही सम्पन्न होता है। उस पवित्र यज्ञाग्निकी सतर्कतासे रक्षा की जाती है। ययातिने उत्कल तथा अन्यान्य प्रान्तोंमें भी 'अग्निपूजा मोक्षका एकमात्र साधन है' यह बात केवल कही ही नहीं बल्कि अपने आचरणसे भी सिद्ध की। ययाति तथा पद्मपादाचार्यजीकी प्रेरणासे अनेकों प्रचारक अभिधारण करके समग्र उत्कलमें प्रचार करते रहे। वे सब 'साहु' नामसे उत्कलमें परिचित हैं। अग्न्युपासक ययातिके समयमें प्रतिवर्ष माघपूर्णिमाको 'अग्न्युत्सव' नामक एक उत्सव समग्र देशमें अनुष्ठित होता था। अब भी उस दिन उत्कलमें अग्न्युत्सव होता है। उक्त मार्गके प्रवर्तकोंमें परमभट्टारक शिहनादका नाम विशेष उल्लेखयोग्य है। उक्त मतवादके उपरान्त जगन्नाथजीका भी यज्ञाकारस्वरूपसे प्रचार हुआ।

उसी प्रकारका अवलम्बन करके एक पारम्परिक चित्रके द्वारा यज्ञस्वरूप जगन्नाथजीका रूप कराया गया है। इस प्रकार उत्कलीय भक्तोंकी भावना जगन्नाथजीको केन्द्र बनाकर तेरहवीं शताब्दीपर्यन्त चलती रही। इसके बाद सौरवादके श्रेष्ठ प्रचारक निरञ्जन और अनङ्गभीम आदिने सौरधर्मकी विशेषताका प्रचार किया तथा कोणार्कका जगद्विख्यात सूर्यमन्दिर उसी समय बना। किंतु जगन्नाथजीके सामने यह स्थिर न रह सका। इसके बाद १६ वीं शताब्दीमें उत्कलीय भक्तोंमें

चैतन्य तथा उत्कलवासी भक्तिरसी जगन्नाथजीको मनुष्य और चैतन्यदेवको भगवत्‌स्वरूप रूपमें ग्रहण करते हैं।

उत्कलमें तत्त्वमय चैतन्य-मूर्तिकी उपासना की जाती है। मूर्तिका रहस्य यह है कि 'हरे राम कृष्ण' संन्यासीका मात्र अवलम्बन है। 'हरे राम' का स्मारक रूपमें ह्रस्व, मध्य इत्यादि कृष्णतत्त्वका स्मारक तथा निम्न ह्रस्व संन्यास या यौगिक न्यासका प्रतीक है। इस प्रकार मिश्रित भक्ति उत्कलमें प्रतिष्ठित तथा अभिमत है, यह यों ग्रन्थोंसे प्रमाणित है।

इसके बाद विश्वम्भरदासजीसे लेकर—जिन्होंने अपने भक्तिभावके उपाख्यानमें भगवान्‌को आत्मीय मानकर इसी शरीरमें पावन शरीरका सम्बन्धलाभ करनेकी बात कही है—कृष्ण महापात्र, दाशिया बाउरी प्रभृति २४ विशिष्ट भक्तोंने 'तद्‌भक्तिसे ईश्वरप्राप्ति मनुष्यके आयत्त हो सकती है', इसका जोरदार शब्दोंमें प्रतिपादन किया है। इस विषयमें अनेकों पुस्तकें प्रकाशित हैं। इसके अतिरिक्त बहुत-से तान्त्रिक आचार्योंने तान्त्रिक साधनोंद्वारा सिद्धि-लाभ करके दूसरोंको भी करवायी है।

उत्कलमें तन्त्र-साधना—तन्त्र भारतका अन्यतम साधन है। विभिन्न तान्त्रिक साधनोंसे सिद्धिलाभ करनेके लिये तन्त्राचार्य पद्मसम्भव, निर्देई योगिन, पिर्देई छउरिपी, राहुल प्रभृति भक्तोंने तन्त्र-साधनाकी पराकाष्ठा दिखायी है। हीरापुर, हरीपुर, चउषठी प्रभृति केन्द्रोंमें तान्त्रिक साधनाका मार्ग विविधरूपसे प्रचारित होता था। उत्कलके तान्त्रिक भक्तोंने ऐसी साधना की, जिससे तन्त्रका प्रचार क्रमशः अन्यान्य देशोंमें भी फैल गया। जगन्नाथ-मन्दिरके तरह परम वैष्णव-पीठमें विमलाजीकी स्थिति ही इसका प्रमाण है।

स्थूलतः उत्कलका धर्म सर्वदा त्यागमूलक ही रहा है। वर्तमानकालके महिमा धर्म, अलेख धर्म आदि सभी धर्म उत्कलीय अनाकार धर्मके अनुवर्ती हैं। उत्कल सर्वदा निराकारवादका उपासक रहा है। उसके मुख्य देवता जगन्नाथजीका अनाकार रूप उत्कलका अमृतमय प्रतीक है। वही शून्यरूपी ज्योतिर्मय तत्त्व जगत्‌का मङ्गल करे—यही उत्कलकी श्रेष्ठ प्रार्थना है—

> अन्धकार रूप निरु मध्ये तेज
>
> ज्योति दरशन भक्ति भेद।
>
> निरेखो क मुख स्वयं जाणि
>
> ये पद आणिके तीन भाव जाणि॥

चराचर भूतमात्रमें भगवान्‌को प्रणाम करो

योगीश्वर कवि कहते हैं—

> खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
>
> सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥
>
> (श्रीमद्भा० ११। २। ४१)

'राजन्! यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र—सब-के-सब भगवान्‌के शरीर हैं। सभी रूपोंमें स्वयं भगवान् प्रकट हैं। यों समझकर वह, जो कोई भी उसके सामने आ जाता है—चाहे वह प्राणी हो या अप्राणी—उसे अनन्यभावसे—भगवद्भावसे प्रणाम करता है।'

मैथिल-सम्प्रदायमें विष्णुभक्ति

(लेखक—पं० श्रीवैद्यनाथजी झा)

मिथिला उस आदि सनातन वैदिक भूखण्डका नाम है, जिसकी चर्चा वैदिक ब्राह्मणके शतपथ, जैमिनीय आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों, श्रीमद्भागवत आदि पुराणों तथा रामायण महाभारत आदि इतिहास-ग्रन्थोंमें भरी पड़ी है। वेदमें विशेषतया 'विदेह' शब्दसे ही इस देशकी प्रसिद्धि है—'इमे विदेहाः' (बृ० उ० ४ । १ । ४), 'सोऽहं विदेहान् ददामि' (बृ० उ० ४ । ४ । २३) इत्यादि। विदेहका पर्यायवाची 'मिथिला' शब्द विशेषतया नगरवाचक होते हुए भी सामान्यतया देशवाची है, जैसा कि 'मिथिलास्थः स योगीन्द्रः' (या० स्मृ० १)—इस स्मृतिवाक्यमें प्रसिद्ध है। 'विदेह'शब्दके देशवाचक तथा 'मिथिला' शब्दके विशेषतया नगरवाचक होनेके कारण ही परमभागवत विप्रवर श्रुतदेवके उपाख्यानमें श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्धके 'स उवास विदेहेषु मिथिलायां गृहाश्रमी' इस वाक्यमें मिथिलाके अधिकरणरूपमें 'विदेह' शब्दका प्रयोग किया गया है। इस देशके बीजीपुरुष राजर्षि निमिके पुत्र सम्राट् मिथिके द्वारा निर्मित होनेके कारण इस देशका नाम 'मिथिला' पड़ा।

इसके उत्तरमें हिमालय तथा दक्षिणमें गङ्गा, पश्चिममें गण्डकी एवं पूर्वमें कौशिकी नदियाँ इसकी सीमाका विभाजन करती हैं। इसका विस्तार पूर्वसे पश्चिमतक १६ तथा उत्तरसे दक्षिणतक १४ कोस है।* इसके मध्यमें गङ्गा, नारायणी, कौशिकी, बागमती, त्रियुगा तथा कमला आदि पवित्र नदियाँ इसकी स्वाभाविक पावनताको और भी पावनतम बनाती हैं।

इस देशकी यह अनुपम विशेषता रही है कि यहाँके समस्त क्षत्रियनरेश ब्रह्मज्ञानसम्पन्न होते तथा देह रहते 'विदेह' कहलाते थे। गृहस्थाश्रममें रहकर भी वे परमभागवत तथा गीतोक्त कर्म, ज्ञान एवं भक्तियोगके परम मर्मज्ञ तथा तदनुकूल आचरण करनेवाले थे—

एते वै मैथिलाः सर्वे ब्रह्मविद्याविशारदाः।
(वा० [illegible])

तस्माद्धि जनको राजा इति लोकेषु गीयते।
(म० भा० शान्ति०)

यह सौभाग्य भी इसी भूमिको प्राप्त है कि यहाँकी भूमिसे जगज्जननी जानकी प्रकट होती हैं। इस ज्ञानकी दृष्टिसे इस देशको सर्वमूर्धन्य कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। सर्वोच्च ज्ञानके परमतत्त्व बृहदारण्यक उपनिषद्-जैसे अध्यात्मका प्रवचन यहीं, जनक-याज्ञवल्क्यकी सभामें हुआ था। मैत्रेयी-कात्यायनी आदि प्राचीन एवं लखिमा, सरस्वती आदि अर्वाचीन ज्ञानसम्पन्न नारियाँ यहींकी पावन रजमें प्रकट हुई थीं। विद्याकी दृष्टिसे प्राचीनकालसे अद्यावधि यह पावन प्रदेश सर्वमूर्धन्य रहा है। प्राचीन न्यायके परमाचार्य महर्षि गौतम तथा नव्यन्यायके आद्याचार्य गङ्गेश यहींकी विभूतियाँ थे। दार्शनिक जगत्‌के देदीप्यमान रत्न षड्दर्शनोंके टीकाकार वाचस्पति, प्रसिद्ध शास्त्रार्थी मण्डन तथा पक्षधर यहींके आलोक थे। संस्कृतके प्रकाण्ड विद्वानोंकी संख्या आज भी यहाँ अपेक्षाकृत बढ़ी-चढ़ी है। गाँव-गाँवमें संस्कृत-पाठशालाएँ यहाँकी सहज-विद्यानुरागिताकी द्योतक हैं।

इस देशमें निवास करनेवाले सभी मैथिल होते हुए भी विशेषतया ब्राह्मणवर्ग ही आज मैथिल कहलाता है। इस प्रकार 'मैथिल' शब्द आज मैथिल ब्राह्मणमें योगरूढ़ हो गया है। वैष्णवोंके चार मुख्य सम्प्रदायोंकी तरह मैथिल-सम्प्रदाय भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। ब्राह्मणोंके पञ्चगौड़ात्मक विभागमें भी मैथिलोंका एक अन्यतम स्थान है।

इस मैथिल-सम्प्रदायके कर्मकाण्ड, सदाचार तथा उपासनाकी प्रणाली वेदमूलक होते हुए भी कई विशेषताओं एवं विभिन्नताओंके कारण स्वतन्त्र है। यहाँके लोग न केवल शाक्त हैं, न शैव हैं, न किसी एक सम्प्रदायके वैष्णव होते हैं, बल्कि स्मार्त होते हुए भी उनमें विष्णुभगवान् सर्वोपरि ही यहाँके परमाराध्यरूपेण मान्य हैं। घर-घर तुलसी तथा श्रीशालग्रामकी पूजा यहाँकी अपनी विशेषता है। यहाँके प्रत्येक ब्राह्मणके घरमें श्रीशालग्रामकी पूजा नित्य नियमतः होती थी और

---

* गङ्गाप्रवाहमारभ्य यावद्धैमवतं वनम्।
विस्तारः षोडशः प्रोक्तो देशस्य कुलनन्दन ॥ १ ॥
कौशिकीं तु समारभ्य गण्डकीमधिगम्य वै।
योजनानि चतुर्विंशद् व्यायामः परिकीर्तितः ॥ २ ॥
(बृहद्विष्णु० मिथिला०)

मय भी अपेक्षाकृत अधिक होती है। यहाँके प्रत्येक कर्म-काण्डमें विष्णुस्मरणका ही विधान है।

मिथिलाके परमाचार्य विदेहराज जनकके ज्ञानगुरु महर्षि याज्ञवल्क्यने अपनी संहितामें भगवान् विष्णुको ही मोक्षप्रद सर्वोच्च तत्त्व मानकर उन्हींकी उपासनाको परम कर्तव्य बतलाया है। इतना ही नहीं, द्विजमात्रके परमाराध्य गायत्री-मन्त्रकी व्याख्या करते हुए उन्होंने गायत्रीका प्रतिपाद्य भगवान् विष्णुको ही माना है। जैसे—

> विष्णुर्ब्रह्मा च रुद्रश्च विष्णुर्देवो दिवाकरः।
> तस्मात् पूज्यतमं नान्यमहं मन्ये जनार्दनात् ॥
> दद्यात् पुरुषसूक्तेन यः पुष्पाण्यप एव वा।
> अर्चितं स्याज्जगदिदं तेन सर्वं चराचरम् ॥
> यं हि ज्ञात्वा वेदानां यमस्य नियमस्य च।
> ओंकारं यज्ञतपसो ध्यायिनं ध्येयमेव च ॥
> ध्यायेन्नारायणं देवं नित्यं स्नानादि कर्मसु।
> प्रायश्चित्तमपि सर्वस्माद् दुष्कृतान्मुच्यते पुमान् ॥
> प्रमादात् कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत्।
> स्मरणादेव तद् विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः ॥
> स एव भगवान् विष्णुर्वेदान्तेष्वभिधीयते।
> ईश्वरं पुरुषाख्यं तु सत्यधर्माणमच्युतम् ॥
> भर्गाख्यं विष्णुसंज्ञं तु यं ज्ञात्वामृतमश्नुते।
> (हरद्योगियाज्ञवल्क्यसंहिता ७।१८, १७, ११—१४। ९।११—२१)

'भगवान् विष्णु ही ब्रह्मा, रुद्र तथा सूर्य हैं। उन जनार्दन भगवान् विष्णुसे बढ़कर मैं किसीको पूज्य नहीं मानता। जो कोई उन भगवान् विष्णुको पुरुषसूक्तके द्वारा जल अथवा पुष्प समर्पण करता है, उसके द्वारा यह समस्त चराचर जगत् पूजित हो जाता है। स्नान आदि समस्त शुभ कर्मोंमें उन्हीं भगवान् विष्णुका ध्यान करना चाहिये। क्योंकि वे ही सम्पूर्ण व्रतों, यमों, नियमों, यज्ञों तथा समस्त तपस्याओंके फलभोक्ता तथा (प्राणिमात्रके) ध्येय हैं। उनके ध्यानसे महान् पापी भी समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है। यज्ञ आदि शुभ कर्मोंमें (मानव-सुलभ) प्रमादसे होनेवाली त्रुटियाँ भी उन भगवान् विष्णुके स्मरणमात्रसे दूर हो जाती हैं और समग्र कर्म साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न हो जाता है—ऐसा श्रुति-वाक्य है। सम्पूर्ण वेदान्त-शास्त्रोंके प्रतिपाद्य तथा गायत्री-पठित 'भर्ग' शब्दके वाच्य भी वे ही सत्यस्वरूप परात्पर परमात्मा पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु हैं, जो कभी अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होते। उनको ही जानकर, उन्हींकी अनन्य शरणागतिके द्वारा मनुष्य मोक्षपदको पाता है।'

इसी प्रकार महर्षि गौतमने भी, जो मिथिलाके ही परमाचार्य थे, अपनी वृद्धगौतमस्मृतिके २२ वें अध्यायमें विस्तार-पूर्वक भगवान् विष्णुकी भक्तिका वर्णन करके युधिष्ठिरके प्रति भगवान्‌के वाक्यका अनुवाद करते हुए कहा है—

> रुद्रं समाश्रिता देवा रुद्रो ब्रह्माणमाश्रितः।
> ब्रह्मा मामाश्रितो राजन् नाहं किंचिदुपाश्रितः ॥
> ममाश्रयो न किंचित् तु सर्वेषामाश्रयोऽस्म्यहम्।
> (२८-२९)

'सभी देवता रुद्रके आश्रित हैं। रुद्र ब्रह्माके आश्रित हैं और ब्रह्मा मेरे आश्रित हैं। परंतु राजन्! मैं किसीके आश्रित नहीं हूँ। मेरा कोई आश्रय नहीं है, बल्कि मैं ही सबका आश्रय हूँ।'

इस प्रकार उन्होंने भी भगवान् विष्णुको ही मोक्षप्रद सर्वातिशायी देवताके रूपमें मानकर उनकी ही उपासनाका विधान किया है। इस तरह याज्ञवल्क्य तथा गौतमके अनुयायी समस्त मैथिल-सम्प्रदाय उपर्युक्त प्रकारसे स्मार्त होते हुए भी मोक्षप्रद देवताके रूपमें भगवान् विष्णुकी उपासना करते हैं और यही प्रथा आजतक मिथिलामें चली आ रही है। चाहे किसी भी देवताके भक्त क्यों न हों, मृत्युके समय यहाँके लोग तुलसी, गोपीचन्दन, गङ्गाकी मृत्तिका एवं गीताका ही आश्रय ग्रहण करते हैं, जो वैष्णव-धर्मके प्रधान चिह्न हैं। चाहे वे जीवनभर सप्तशतीका ही पाठ क्यों न करते हों, अन्त-समयमें गीता तथा गीता-गायक गोविन्दका ही स्मरण करते हैं। इससे यहाँकी वैष्णवता स्पष्ट है।

श्रीवाचस्पति मिश्र, श्रीरुद्रधरोपाध्याय तथा हलायुधोपाध्याय आदि मिथिलाके प्रकाण्ड विद्वान् थे और वे यहाँके प्रधान आह्निक-कार माने जाते हैं। उन लोगोंके रचित आह्निकके अनुसार ही यहाँकी संस्कृति, सदाचार तथा समस्त व्यवहार नियमित हैं। उन लोगोंने भी अपने-अपने आह्निक-ग्रन्थमें भगवान् विष्णु-की ही उपासनाका विधान किया है। मिश्र महोदयने अपने 'द्वैतनिर्णय' नामक निबन्ध-ग्रन्थमें विष्णूपासनाको ही परम कर्तव्य बतलाया है। जैसे—

> व्रतोपवासादिना ब्राह्मणैर्विष्णोराराध्यता। 'सर्वधर्मानिति' गीतावाक्यात् ॥
> (द्वैत निर्णय, पृ० ४५)

'व्रत-उपवास आदिके द्वारा ब्राह्मणोंको भगवान् विष्णुकी ही आराधना करनी चाहिये। क्योंकि भगवान्‌ने कहा है कि 'समस्त धर्मोंको छोड़कर मेरी शरणमें चले आओ, मैं तुम्हें समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा।''

उपर्युक्त मिथिलाके प्राचीन आर्षग्रन्थों एवं यहाँके परम्परागत प्राचीन व्यवहारोंको पक्षपातहीन होकर देखनेसे पावनभूमि मिथिला विष्णुभक्तिमें ही ओत-प्रोत दीखती है

मिथिलामें श्रीकृष्ण-भक्ति

(लेखक—प्रो॰ श्रीजयमन्त मिश्र, एम्॰ ए॰, व्याकरण-साहित्याचार्य)

साधारणतः लोगोंकी यह धारणा है कि मिथिला शक्ति-प्रधान स्थान होनेके कारण यहाँके लोग शाक्त ही होते हैं तथा तन्त्र-मन्त्र आदिके द्वारा ऐहलौकिक फल पाना ही उनका अभीष्ट होता है; किंतु सत्य बात कुछ दूसरी ही है। लौकिक सम्पत्तिके लिये तन्त्र-मन्त्रका प्रयोग तो मिथिलामें ही क्यों, उन जगहोंमें भी पाया जाता है, जो वैष्णवोंके प्रसिद्ध स्थान माने जाते हैं। मिथिलामें आज भी प्रत्येक घरमें काली, दुर्गा आदि महाशक्तियोंके पूजनके साथ-साथ भगवान् विष्णुकी पूजा होती है। आज भी बहुत-से लोग 'यत् करोषि यदश्नासि……तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥' के अनुसार भगवदर्पण करनेके बाद ही स्वयं अन्नादि ग्रहण करते हैं।

मिथिलाका प्राचीन इतिहास इस बातका साक्षी है कि निमिसे लेकर बहुलाश्वपर्यन्त जनकवंशमें जितने महाराज हुए हैं, वे सभी गृहस्थ होकर भी आत्मविद्याविशारद एवं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके परम प्रसादसे सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे सर्वथा विनिर्मुक्त हुए हैं। (देखिये श्रीमद्भागवत स्क॰ ९, अ॰ १३, १—२७) जनक-याज्ञवल्क्यके संवाद-रूपमें जो ब्रह्मविद्याका सूक्ष्म विवेचन मिथिलामें हुआ है, वह उपनिषद्के मर्मज्ञोंसे छिपा नहीं है। तभी तो महर्षि शुक-जैसे ब्रह्मज्ञानी भी आत्म-ज्ञानोपदेशके लिये जनकके यहाँ जाते थे। जनककी आत्मविद्याकी देदीप्यमान ज्योति चारों ओर इस तरह फैल गयी थी कि ब्रह्मविद्याके जिज्ञासु चारों ओरसे उनके पास दौड़े आते थे, जिसे देखकर ऋषिराजने भी 'जनको वै जनक इति जना धावन्ति' कहकर अपनी असहिष्णुताका परिचय दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि भारतभरमें मिथिला ब्रह्मविद्याकी केन्द्र-भूमि रही है।

श्रीकृष्ण-भक्तिकी उत्पत्ति आत्मज्ञानीके सरस मानसमें ही हुई है, यह निर्विवाद है। इसीलिये शंकराचार्य-जैसे ब्रह्मज्ञानी भी 'सच्चिन्मयो नीलिमा' के लिये ही अन्तमें बेचैन दीख पड़ते हैं। वाङ्मनसातीत भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णमें भक्तिका अरुणोदय अज्ञान-तिमिरको नाश कर क्षर-अक्षर ब्रह्मके ज्ञानके बाद ही तो होता है। इसलिये ब्रह्मज्ञानके लिये अत्यन्त उर्वरा सिद्ध होनेवाली मिथिलाकी भूमिमें श्रीकृष्ण-भक्तिका जन्म स्वाभाविक ही है।

मिथिलामें जो भक्तोंकी प्राचीन परम्परा है, उसपर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहाँ श्रीकृष्ण-भक्तिकी धारा अविच्छिन्न रूपसे प्रवाहित होती चली आ रही है। श्रीराधा-कृष्णके परम उपासक भक्त-शिरोमणि महाकवि विद्यापतिके सम्प्रदायमें अनेक संत-महात्मा मिथिलामें प्रादुर्भूत हुए हैं। यहाँ विद्यापतिकी मान्यताके सम्बन्धमें कुछ निवेदन करना अप्रासङ्गिक नहीं होगा। कुछ लोगोंकी अब भी यह भ्रान्त धारणा है कि विद्यापति शैव थे न कि वैष्णव। विद्यापति-पदावलीमें वर्णित पद प्राकृत नायक-नायिकाकी ओर ही संकेत करते हैं, न कि अप्राकृत श्रीराधा-कृष्ण-युगलकी ओर।' उन महानुभावोंसे मेरा सविनय निवेदन है कि वे कृपया पदावलीके उपक्रम, उपसंहार एवं अभ्यास आदिवाले पदोंपर ध्यान दें और पदावलीके तात्पर्यका निर्णय करें। पदावलीका उपक्रम निम्नलिखित पदसे होता है—

नन्दक नन्दन कदम्बक तरु तर धिरे धिरे मुरलि बजाव।
…… …… …… …… ……बन्दह नन्द किसोर ॥

इसका उपसंहार होता है अधोलिखित पदोंमें—

'माधव हम परिनाम निरासा।
तुहुँ जगतारन दीन दयामय अतए तोहर बिसवासा।
…… …… …… …… …… ……
भनइ विद्यापति मात्र कहइ छेसि अब तारन भार तोहारा ॥'
'माधव बहुत मिनति करि तोय।
दय तुलसी तिल देह समर्पिनु दय जनि छाड़बि मोय ॥'

पदावलीके लगभग २११ पदोंमें १२१ पद तो परम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण तथा परमाह्लादिनी परमा रमा श्रीराधासे सम्बद्ध ही हैं। अवशिष्ट पदोंको भी उपक्रमोपसंहार न्यायसे श्रीराधा-कृष्ण-युगलपरत्वेन ही लेना चाहिये। जब उपक्रमोपसंहार आदिसे श्रीकृष्ण-युगल ही विद्यापतिके आराध्य होते हैं, तब उनको 'शैव' कहना कहाँतक उचित है—यह विज्ञ समालोचक ही समझ सकते हैं। वे तो श्रीकृष्णके मधुरभावके सच्चे उपासक थे। और इस भावके उपासकके गुरु तो भगवान् शंकर ही होते हैं। अतः विद्यापतिकी गुरुभक्ति भी स्वाभाविक ही है। बात सच्ची तो यह है कि सच्चे भक्तके लिये सब बराबर ही होते हैं। इसीलिये भक्त-शिरोमणि विद्यापतिने भी कहा है—

भल हरि भल हर भल तुअ कला।

संबन्ध सदा एक-सा और निरन्तर होता है। संतोंका जीवन भगवद्भक्तिका एक असाधारण प्रवाह है, सर्वशक्तिमान्‌की विशुद्ध सत्ताके साथ निरन्तर आन्तरिक संयोग है। कबीर, मीराँ, तुलसीदास, रैदास, सूरदास, नानक तथा उत्तर-भारतके अन्य संतोंने भक्तोंको स्पन्दित करनेवाले अपने गीतों एवं योग तथा भक्तिमय जीवनसे भगवान्‌की आराधना की है। वे यथार्थमें भक्तियोगी थे, जिनके आविर्भावने भगवान्‌की सत्ता एवं पराक्रमको प्रमाणित कर दिया है। दक्षिण-भारतके संतोंने अपने जीवनको भगवान्‌का एक साफ पथ दिया और अपने चमत्कारोंद्वारा मानव-जीवनके नाटकको भगवान्‌की सत्तासे अनुप्राणित सिद्ध कर दिया। तिरसठ शैव संत, बारह आळ्वार संत, आळवन्दार (यामुनाचार्य), रामानुज, पिळ्ळै लोकाचार्य, कूरत्ताळ्वार, नीलकण्ठ शिवाचार्य, सदाशिव ब्रह्म, तायुमानवर, अरुणगिरि, पट्टिणत्तार तथा बहुत-से अन्य आचार्य, जिनकी संख्या लगभग एक सौके हो जाती है—इस प्रकार कुल मिलाकर दक्षिण-भारतमें लगभग दो सौ ऐसे संतोंकी नक्षत्रमाला अपनी ज्योति बिखेर रही है, जिन्होंने मानवताको सनातन संदेश दिया है।

इनमेंसे सर्वाधिक लोकप्रिय नाम ये हैं—

१. संत वल्लुवर—इन्होंने जगत्‌को एक सार्वभौम धर्म-ग्रन्थ प्रदान किया, जिसे 'तिरुक्कुरळ' कहते हैं।

२. संत माणिक्कवाचकर—उनका 'तिरुवाचकम्' भक्तोंको द्रवित कर देनेवाले भजनोंका संग्रह है। ये भजन प्रत्येक घरमें गाये जाते हैं।

३. संत वागीश—इनके सुमधुर भजनोंमें वैदिक ओज तथा काव्यगत सौन्दर्य भरा है। 'नमः शिवाय' मन्त्रपर मनको एकाग्र करके उन्होंने जीवनकी समस्त कठिन परीक्षाओंको सहा।

४. ज्ञानसम्बन्ध—इन्होंने तीन वर्षकी ही अवस्थामें ज्ञान प्राप्त कर लिया तथा दैवी प्रेरणासे आत्माको ज्ञानका प्रकाश देनेवाले गीतोंकी झड़ी लगा दी। उनके भजनोंने चमत्कार कर दिखाये हैं।

५. सुन्दर—ये भगवान्‌को अपना अन्तरङ्ग सखा मानते थे। लौकिक कार्योंमें भी इन्हें दैवी सहायता मिलती थी।

६. संत नन्दनार—ये एक हरिजन संत थे, जिनके उत्कट भगवत्प्रेमके कारण चिदम्बरम्‌में इनपर भगवत्कृपाकी वर्षा हुई थी। सभी भक्तगण तथा साधारण जनता भी इनका जीवन-चरित्र गाती है। गांधीजी इनके चरित्र एवं उपदेशोंका आदर करते थे।

७. संत कारैक्काल अम्मै—एक सती संत, जो अपनी गाढ़ भक्ति एवं हृदयग्राही गीतोंके कारण भगवान्‌की प्रिय-पात्रा बन गयी थीं।

८. संत तिरुमूलर—संसारके सबसे बड़े योगी। इन्होंने एक मन्त्रशास्त्र नामक ग्रन्थ बनाया है, जिसमें योगकी सभी पद्धतियोंके गुप्त रहस्योंका विवेचन किया गया है।

९. संत नक्कीरर—स्कन्दके भक्त और निर्भीक कवि, जिनकी वाणीसे शिवगण तथा गुप्त शक्तियाँ काँपती थीं।

१०. संत मेयकण्डार—इन्होंने 'शिवज्ञानबोधम्' नामक ग्रन्थकी रचना की, जिसमें अपने सिद्धान्तका बारह सूत्रोंमें वर्णन किया है।

११. संत कम्बन्—तमिळ रामायणके लेखक। यह ग्रन्थ काव्य-कौशलका उत्कृष्ट उदाहरण है।

१२. संत विल्लि—तमिळ महाभारतके लेखक। उच्चकोटिके विद्वान् एवं सामान्य जनता—दोनों प्रकारके समाजमें ये अत्यन्त लोकप्रिय हैं।

१३. संत नम्माळ्वार—सबसे बड़े वैष्णव संत, जिनके भजन सामवेदका सार हैं। ये एक इमली वृक्षके कोटरमें वर्षोंतक समाधिस्थ रहे।

१४. संत आंडाळ—दक्षिण भारतकी मीराँ, जिनके हृदयग्राही भजन सबकी जबानपर रहते हैं। इनकी 'तिरुप्पावै'को उत्साह और भक्तिसे भरकर सभी गाते हैं।

१५. संत भीखन्—आध्यात्मिक साम्यवादी, जिन्होंने उद्दण्ड धनवानोंकी सम्पत्ति लेकर दीन-दरिद्रोंमें बाँट दी।

१६. संत विप्रनारायण—भगवत्कृपासे ये एक वेश्याके पंजेसे बचे। ये अपनेको भगवद्भक्तोंकी चरण-रज मानते थे तथा बड़ी उमंगसे उनकी सेवा करते थे। इनके गीत हृदयग्राही हैं।

१७. संत कुलशेखर—श्रीरङ्गनाथ तथा वेङ्कटेशके मन्दिरोंमें कीर्तन-सेवा करनेके लिये उन्होंने अपना राज्यपद छोड़ दिया।

१८. संत पट्टिणत्तार—एक सच्चे ज्ञानयोगी थे, जिन्होंने अतुल सम्पत्तिको त्यागकर जीवनको उदात्त बनानेवाले भजनोंका गायन करनेमें अपनेको नियुक्त कर दिया।

१९. भद्रगिरि—परमत्यागी संत; इन्होंने अपने भिक्षा-पात्र एवं वस्त्रोंतकको त्याग दिया। एक पिल्ला कुत्ता भी इनकी आसक्तिका पात्र नहीं बन सका।

२०. संत तायुमानवर—एक सच्चे महर्षि। इनके

पोतनाकी आजीविकाका प्रधान साधन खेती था। उनके खेतोंकी भूमि बंजर होनेके कारण एवं उनके गाँवमें सिंचाईकी सुविधाका नितान्त अभाव होनेके कारण पैदावार बहुत ही कम होती थी। फलतः पोतनाको सदा ही घोर दारिद्र्य एवं अर्द्ध-बुभुक्षित अवस्थाका सामना करना पड़ता। किंतु श्रीरामचन्द्रके प्रति आत्मसमर्पणकी भावना उनमें इतनी प्रबल थी कि उन्होंने धनिकोंके पास अथवा अपनी काव्य प्रतिभाकी सराहना करनेवालोंके पास जाकर उनके सामने हाथ पसारनेकी बात भी कभी नहीं सोची। वे सदा अपनी चिन्ताओंको भगवानपर छोड़ते रहे।

कोंडवीडुके रेड्डी-वंशज शासकोंके राजकवि श्रीनाथ, जो वैभवपूर्ण और विलासमय जीवन बिता रहे थे, पोतनाके साले थे। अपने बहनोईके परिवारको घोर दरिद्रताकी चक्कीमें पिसते देखकर उन्हें बहुत चिन्ता होती थी। उन्हें खेतीसे—विशेषकर अपनी उदर-पूर्तिके लिये की जानेवाली खेतीसे बड़ी घृणा थी। एक बार जब वे अपनी बहिनके यहाँ ओंटिमिट्टा गये हुए थे, उन्होंने पोतनाको कुछ दूरपर अपने खेतोंको जोतते देखा। निकट जाकर उन्होंने पोतनासे पूछा, 'हलसे जोतनेवाले क्या सुखी होते हैं ?' पोतनाने तुरंत उनको मुँहतोड़ उत्तर दिया, 'कविता-कामिनीके हृदयहारी सौन्दर्यको भगवद्विमुख तथा धनपिपासु पुरुषोंके भेंट चढ़ाकर वेश्यावृत्तिके द्वारा प्राप्त धनसे जीविका निर्वाह करनेकी अपेक्षा भक्तिके ऊपर कलम चलानेवालोंके लिये भूमि जोतकर अथवा कन्द-मूल उखाड़कर अपने बाल-बच्चोंका पालन-पोषण करना अच्छा है।'

पोतना जानते थे कि श्रीनाथ आन्ध्र प्रदेशके विभिन्न भागोंके धनी एवं सम्पन्न व्यक्तियोंको अपनी भक्तिपरक रचनाएँ भेंट करके ऐश्वर्यका सुख लूट रहे थे। उन्हें भगवानको छोड़कर मनुष्यकी स्तुतिसे अत्यन्त घृणा थी।

इस उत्तरको सुनकर भी श्रीनाथने फिर अनुरोध किया। 'आप मेरे बहनोई हैं, इस नाते आपपर मेरा एक अधिकार है। क्या आपको अब भी अपनी घोर दरिद्रता तथा अकिञ्चनतासे निर्वेद नहीं हुआ ? आप निरे महान् भक्त ही नहीं, वरं एक श्रेष्ठ कवि भी हैं। श्रीमद्भागवतका आप जो तेलुगु अनुवाद कर रहे हैं, उसे कर्णाटक-नरेशको समर्पण कर देनेमें आपको क्या आपत्ति है ? राजा आपको मालामाल कर देंगे। फिर आप भी मेरे समान सम्पन्न जीवन बिताइयेगा।' इसपर पोतना कोई उत्तर न देकर चुप रहे। श्रीनाथने उनके मौन-का अर्थ स्वीकृति मान लिया। वे अविलम्ब कर्णाटक-नरेशके पास गये और उनसे कहा, 'महाराज! आप तो भाग्यवान् हैं। श्रेष्ठ भक्त-कवि एवं लेखक पोतना श्रीमद्भागवत-का तेलुगु-भाषान्तर करनेमें लगे हुए हैं और इस ग्रन्थको उन्होंने आपको समर्पण करना स्वीकार कर लिया है।' राजाने यह बात सुनी तथा पवित्र भागवत ग्रन्थ उनको समर्पित होनेकी इस सम्भावनासे उनके आनन्दकी सीमा न रही।

श्रीनाथके प्रस्तावको स्पष्ट शब्दोंमें अस्वीकार न करनेकी भूल पोतनाने की थी, इससे उनको बड़ा दुःख हो रहा था। स्पष्ट यह सोचना ठीक ही था कि उनके मौनका उल्टा अर्थ लगाकर उनकी स्वीकृति मान ली जायगी। वे मन-ही-मन विचार करने लगे—कदाचित् श्रीनाथने मेरे मौनका अर्थ मेरी स्वीकृति मानकर राजाको भी सूचना दे दी हो। सम्भवतः राजा मेरे श्रीभागवतके अनुवादको मँगायेंगे और यदि मैं उसे उन्हें भेंट करना अस्वीकार कर दूँगा तो वे मुझसे क्रुद्ध होंगे। फिर भी मेरा वे क्या बिगाड़ लेंगे। मनुष्यकी सहायताका मूल्य ही क्या है। वास्तवमें भगवान् ही मनुष्यके लिये मोक्ष, श्री एवं शक्तिके अक्षय भंडार तथा शरण्य हैं। भगवान् जिसके पक्षमें हैं, उसका मनुष्य क्या अहित कर सकता है। यदि सारा संसार विरोधमें खड़ा हो जाय तो भी भक्तराजोंको कोई डर नहीं है।'

रामके इन आश्वासनपूर्ण वचनोंसे पोतनाको बड़ा बल मिला और सदाकी भाँति वे भागवतका तेलुगु-भाषान्तर करनेमें लग गये। कहा जाता है कि विद्याकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वती एक दिन उनके मानसिक चक्षुओंके सामने रोती-बिलखती आ खड़ी हुईं। तब पोतनाने उनको यह कहकर सान्त्वना दी, 'माँ, रोओ मत। मैं चाहे दरिद्र रहूँ, भूखा रहूँ अथवा भूखों मर जाऊँ, किंतु विश्वास करो, कर्णाटकके क्रूर एवं दुष्ट नरेशकी सम्पत्तिके मूल्यपर मैं तुम्हें कभी बेचने नहीं जाऊँगा।'

इधर कर्णाटक-नरेश, जो श्रीनाथसे यह सुनकर कि पोतना अपने भागवतका पवित्र अनुवाद मुझे समर्पित करेंगे बड़े उत्कण्ठित हो रहे थे, अब इसके लिये अधीर और आतुर हो उठे। उन्होंने पोतनाके गाँवमें जाकर बलपूर्वक उनका ग्रन्थ माँगनेकी ठानी। आखेटके बहाने एक बड़ी सेना लिये घने जंगलोंसे चलकर वे ओंटिमिट्टा गाँवकी सीमापर पहुँचे। पोतनाको बुलानेके लिये एक नौकरको गाँवमें भेज दिया। पोतना उस समय भगवान्के अवतारोंकी कथा-वार्ताका मधुर

भक्ताधीन रघुबीर

'दूलह राम सीय दुलही री'

करनेमें लगे हुए थे। जब राजभृत्य पोतनाके घरपर पहुँचा, उसने एक भीमकाय शूकरको उनके द्वारपर क्रीड़ा करते तथा मानो रक्षा करते हुए पाया। जो कोई भी घरमें घुसनेकी चेष्टा करता, उसीपर यह आक्रमण करता। भृत्य भयभीत हो गया और वापस आकर राजासे बोला कि 'घरके बाहर खड़े भयंकर वन्य शूकरके कारण वह पोतनासे नहीं मिल सका।' राजाको इसपर हँसी आयी और उसने अपनी सेनाके कुछ वीर सिपाहियोंको भेजा; किंतु शूकरके द्वारा क्षत एवं आहत होकर वे भी शीघ्र लौट आये। तब राजा स्वयं बड़ी सेना लेकर गाँवमें गया और पोतनाके घरके सामने आकर उसने उस शूकरको देखा। जब सिपाहियोंने उसपर आक्रमण किया, तब वह सेनापर इतनी विकरालतासे टूट पड़ा कि सब-के-सब सैनिक सहसा भाग खड़े हुए; उनमें कुछ तो प्रायः मृत्युके गालमें घुस गये तथा कुछ बहुत बुरी तरह घायल हुए। तब राजाने स्वयं अपनी तलवार सँभाली; किंतु प्रबल पराक्रमी शूकरने उसे भी घायल करके छोड़ दिया।

पोतनाने जब घरके सामने ही शस्त्रोंकी खनखनाहट सुनी, तब उनका ध्यानभङ्ग हुआ। वे बाहर सड़कपर आकर क्या देखते हैं कि स्वयं कर्णाटक-नरेश उनके चरणोंपर घुटने टेके कह रहा है—'महाराज! मैंने आपका अपराध किया है। मेरी रक्षा कीजिये।' उस समय भगवान् वाराह एकाएक अन्तर्धान हो गये। राजा फिर भी इस प्रकार विनय करता रहा—'मैंने मूर्खतावश आपकी आध्यात्मिक शक्तियोंकी उपेक्षा की और आपको एक श्रेष्ठ कविमात्र समझा। इसीलिये आपके द्वारा अनूदित तेलुगु भागवत अपने-जैसे अनधिकारीको जबर्दस्ती समर्पित करानेके लिये मैं यहाँ आया। अब मुझे इस धृष्टताका उचित दण्ड मिल गया है। महाराज! दया करके मेरी और मेरी सेनाकी रक्षा कीजिये। मैं आपसे और अधिक कुछ नहीं माँगता।' पोतनाको राजा तथा उसके सैनिकोंकी विपन्न अवस्थापर दया आ गयी और वे बोले—'राजन्! बस, एक बार अपने सम्पूर्ण हृदयसे श्रीहरिको पुकारकर उनसे प्रेमकी भिक्षा माँगो। इससे तुम्हारे सैनिकगण तुरंत स्वस्थ हो उठेंगे।' राजाने वैसा ही किया और अपनी अतिमानिता तथा दर्पका उचित दण्ड पाकर सेनासहित राजधानीको लौट आया।

ऐसे थे भक्त कवि पोतना, जो सदा भगवान्‌में लीन रहते थे तथा सांसारिक सम्पत्तिको, जो उन्हें केवल माँगने मात्रसे मिल सकती थी, लात मारकर दरिद्रताका अपनी प्रिय पत्नीके समान मुक्तकरसे स्वागत करनेको तैयार रहते थे। एक और प्रसिद्धि है कि उनके साले श्रीनाथको अपने राजाके अपमानकी बात सुनकर बड़ा क्षोभ आया और वे अपने अनुगतोंकी एक बड़ी टोली लेकर पोतनाके घर पहुँचे—यह देखनेके लिये कि अपनी परम निर्धन अवस्थामें वे किस प्रकार उनका आतिथ्य कर पाते हैं। श्रीनाथके मनकी बात जानकर पोतनाने अपने इष्टदेव भगवान् श्रीरामचन्द्रसे कृपाके लिये प्रार्थना की। श्रीरामचन्द्रजी तत्काल पोतनाके घर श्रीसरस्वतीके रूपमें आ पहुँचे और अपने भक्तके अतिथियोंके सत्कारके लिये क्षणभरमें उन्होंने सब प्रकारके व्यञ्जन प्रस्तुत कर दिये। तब श्रीनाथने सरस्वती देवीको अपनी बहन समझकर कहा—'बहिन! परसनेमें देर क्यों हो रही है?' देवीने स्वयं स्वादिष्ट-से-स्वादिष्ट व्यञ्जन पुष्पलताओंमें परसकर रख दिये। श्रीनाथ और उनके दलके सब लोग चकित एवं स्तम्भित रह गये। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा ही है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(९। २२)

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योग-क्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।'

गोपना

अब मैं गोपनाकी चर्चा करूँगा। वे भगवान् श्रीरामचन्द्र-जीके परम भक्त थे। अपने इष्टदेवकी सेवामें उन्होंने अपनेको मिटा दिया। पूर्व गोदावरी जिलेके भद्राचलम् नामक तीर्थस्थानमें अपने इष्टदेवके इच्छानुसार उनके प्रसिद्ध मन्दिरका जीर्णोद्धार करनेमें गोपन्नाने अकथनीय दुःख उठाये।

भक्त गोपना सत्रहवीं शताब्दीमें हुए थे और वे आन्ध्र-प्रदेशके तिलङ्गाना प्रान्तके नेलकोंडपल्ली गाँवमें उत्पन्न हुए थे। उनके पिता एक पाठशालामें अध्यापक थे। वे गोपन्नाको गोदमें बैठाकर अपने गाँवके थोड़े-से लोगोंको नित्य रामायण सुनाया करते थे। इसका गोपन्नाके संस्कारी मनपर अद्भुत प्रभाव पड़ा। वे बचपनसे ही पिताके मुँहसे सुने हुए श्रीरामके वीरता-पूर्ण चरित्रोंका निरन्तर ध्यान किया करते। गोपन्नाके पिताकी असमयमें ही मृत्यु हो गयी। उनकी अनुपस्थितिमें उनकी माताने उन्हें समुचित शिक्षा दी तथा श्रीरामचन्द्रकी भक्तिके संस्कारोंको बढ़ाया, जो उनमें बचपनसे ही अङ्कुरित हो चले थे।

धनेके लिये प्रार्थना करना मेरे लिये मूर्खता है। इस दुर्बल और मर्त्य शरीरको इस कारावासमें ही छूट जाने दें। आपके मधुर एवं अमृतोपम नामका कीर्तन करनेमें अपराध कभी मेरे लिये बाधक नहीं हुआ। वे मुझे हाथसे पैरतक बाँध सकते हैं; किंतु क्या वे मेरे हृदयको बंदी बना सकते हैं। हे राम! मेरे मनमें किसी वस्तुकी कामना न रहे। आप चाहे मेरी रक्षा करें, चाहे मुझे दण्ड दें। बस, आपकी इच्छा पूर्ण हो। पिता! मैं आपसे कोई वस्तु नहीं चाहता। तानिशाको मुझसे जो कुछ पाना है, उसे उसको चुका देनेकी आपसे प्रार्थना करके मैंने कैसी मूर्खता की। तात! आपका पावन नाम ही मेरे जीवनका आधार बने। आपके चरण-कमल ही मेरे एकमात्र आश्रय हों और मेरा मन बिना विघ्न-बाधाके उनके चिन्तनमें सदा रत रहे। हे राम! मैं आपका सर्वत्र दर्शन करता हूँ। सब कुछ राम ही हैं, सब कुछ चिन्मय है। मुझे और कुछ नहीं दीखता।'

जिस समय गोपन्ना इस प्रकार मन-ही-मन प्रार्थना और बातचीत कर रहे थे, श्रीरामने स्वयं आकर नवाबके हाथकी रसीद उनको दी और अन्तर्धान हो गये। जब दूसरे दिन तानिशाकी आँख खुली और उसकी समझमें आया कि रातमें स्वयं भगवान्के दर्शन उसे हुए और उन्हींके हाथसे उसने रुपये पाये, तब तो उसके पैरोंके नीचेकी धरती खिसक गयी। उसने तुरंत गोपन्नाको जेलसे मुक्त कर दिया; उनके चरणोंपर गिरकर जो यातनाएँ उन्हें दी थीं, उनके लिये उसने क्षमा माँगी तथा गोपन्नाके विरोध करनेपर भी भगवान्से रातमें जो छः लाख रुपये मिले थे, वे उन्हें वापस कर दिये। इतना ही नहीं; उसने अत्यन्त सम्मानके साथ भद्राचलम् ताल्लुकेको उसके मन्दिर, कोष एवं अन्य उपकरणोंके सहित गोपन्नाको भेंट कर दिया।

गोपन्ना ८५ वर्षोंकी अवस्थातक जीवित रहे। तबतक मन्दिरकी व्यवस्था करके वे श्रीरामचन्द्रकी सेवा करते रहे। यह भी कहा जाता है कि वे इसी शरीरसे श्रीरामके चरण-कमलोंमें पहुँच गये। भद्राचलम्का मन्दिर अब भी वैभवसे पूर्ण एवं सम्पन्न अवस्थामें है। सभी ऋतुओंमें भक्तगण वहाँ आते हैं और गोपन्नाकी भी पूजा करते हैं जिनकी श्रीमूर्तिको तत्कालीन निजाम सरकारने वहाँ स्थापित करवा दिया था।

क्षेत्रय्या

अब हम क्षेत्रय्याकी भक्ति-भावनाओंका चित्रण करेंगे। आन्ध्रके ये महान् संत श्रीकृष्णकी मधुर-भावनासे सेवा-भक्ति करते थे। पिछले दिनोंतक किसी इतिहासकारने क्षेत्रय्या अथवा उनकी जीवनचर्याके विषयमें कोई प्रामाणिक बात नहीं लिखी।

क्षेत्रय्याका वास्तविक नाम था 'मोव्वा वरदय्या'। सोलहवीं शताब्दीके वे एक प्रमुख कृष्णभक्त थे। उनका जन्म कृष्णा जिलेमें दिवि ताल्लुकेके मोव्वा गाँवमें हुआ था। मोव्वा कूचिपूडि ग्रामसे केवल दो मील है—जो संगीत, चित्रकारी, नृत्य एवं नाट्यकलाके लिये प्रसिद्ध है। यहाँके सभी निवासी केवल संस्कृत तथा तेलुगुके विद्वान् ही नहीं हैं, वरं नृत्य एवं नाट्यकलामें भी प्रवीण हैं। इन लोगोंने सन् १५०२ में ही विजयनगरके अधिपति नरसिंहरायसे अपनी नाट्यकलामें प्रवीणताके लिये प्रशंसा तथा पुरस्कार प्राप्त किये थे। क्षेत्रय्याका गाँव इनके निकट ही था; अतएव जिन ललित कलाओंमें ये लोग निपुण थे, वे सब उन्होंने उनसे सीख लीं। अपने ग्राम-देवता श्रीगोपालस्वामीको जो भावपूर्ण पद लिखकर उन्होंने समर्पित किये हैं, उनसे उनकी प्रतिभा, श्रेष्ठ भाषाज्ञान, अनुपम विद्वत्ता, सांसारिक अनुभव तथा संगीत एवं साहित्य-शास्त्रके ज्ञानका प्रचुर प्रमाण मिलता है।

मोव्वा गाँवकी एक वसतिका नाम था सानिवेश। उसमें देवदासियाँ रहती थीं, जिनका मुख्य काम था भगवान् गोपाल-स्वामीके मन्दिरमें भगवान्के सम्मुख नाचना-गाना। देवदासियाँ कूचिपूडि गाँवके कलाविदोंसे शिक्षा प्राप्त करती थीं। क्षेत्रय्याकी पदावलीसे हमें स्पष्ट पता चलता है कि उन्होंने भी मन्दिरमें देवदासियोंके साथ ही शिक्षा प्राप्त की थी तथा उनमेंसे एकके साथ उनकी घनिष्ठता भी हो गयी थी। साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि संगीत एवं साहित्यमें क्षेत्रय्या तथा उनकी सङ्गिनी दोनों ही निष्णात थे। दोनों साथ गाते, एक दूसरेके गुणोंकी सराहना करते और एक दूसरेसे विलग होना नहीं चाहते थे। इस बातमें क्षेत्रय्या श्रीजयदेवके समकक्ष दिखायी देते हैं, जिनकी सङ्गिनी थी देवदासी चिन्तामणि।

कालान्तरमें ऐसा लगता है क्षेत्रय्याकी सङ्गिनीने उनको छोड़ दिया। आध्यात्मिक विकासके कारण उसका प्रत्येक क्षण इधर श्रीगोपालके प्रति तन्मयतामें ही बीतने लगा था और उसने यह लक्ष्य कर लिया कि गुणसम्पन्न होते हुए भी क्षेत्रय्याका मन तबतक सांसारिक सुखोंमें ही रमा हुआ था। तब क्षेत्रय्या अपना गाँव छोड़कर तीर्थाटनके लिये निकल पड़े और, जैसा कि उनके पदोंसे विदित होता है, दक्षिण-भारतके १८ क्षेत्रोंका भ्रमण करके अन्तमें काञ्चीपुरीमें आकर बस गये। समय पाकर उनकी आध्यात्मिक साधना अपनी पहलेकी सङ्गिनीसे कहीं अधिक आगे बढ़ गयी। अब वे श्रीकृष्णकी मधुर-भावसे

गाँवमें उत्पन्न हुए थे, परंतु बादमें वे गुंटूर जिलेके कोंडवीडु नामक स्थानमें आकर रहने लगे। वेमना कोंडवीडुके रेड्डी राजाओंके वंशके हैं। कोंडवीडुके राजा राच वेमारेड्डीके छोटे भाई थे हमारे वेमना रेड्डी। राच वेमारेड्डीके राज्यको विजयनगर-नरेशोंने छीन लिया। फलतः अपने भाईके राज्यके उत्तरा-धिकारी वेमनाने कुछ काल्तक भक्तिपरायणकी अवस्थामें रहनेके बाद पूर्ण वैराग्य हो जानेपर संसारको छोड़ दिया और साधु बन गये। ऐसा प्रतीत होता है कि कोंडवीडुकी गद्दीके उत्तराधिकारी युवराजके रूपमें उनका जीवन बहुत विलासितापूर्ण एवं उच्छृङ्खल रहा। इनके रचित अनेक तेलुगु पदोंमें रमणियोंके रूप एवं हाव-भावोंका वर्णन है, इसी बातसे ऐसा अनुमान होता है। इसमें संदेह नहीं कि वेमना एक योगी—राजयोगी थे। उनकी योगावस्थाका आलंकारिक भाषामें वर्णन करें तो हम यह कहेंगे कि वेमनारूपी राजहंसने योगकी ऊँची चट्टानपर चढ़कर ब्रह्मानन्द-सुधाका पान किया और खूब छक चुकनेके बाद वेदान्तसूत्रों तथा अद्वैतज्ञानके शब्दों एवं वाक्योंके रूपमें गर्जना करने लगे।

भक्त वेमना मानवताकी सेवाको भगवत्सेवाके समान ही समझते थे। उनका कहना था कि भगवत्प्रेम मानव-हृदयको शुद्ध करके मनुष्यको मानव-जातिके दुःख-दर्दके साथ सहानुभूतिका भाव रखते हुए उसका आध्यात्मिक सुधार करनेमें सहायता प्रदान करता है।

वेमनाने तेलुगुके सहस्रों पद लिखे, जिनमें मुख्यतया उन्होंने मनुष्यके प्रमादों तथा दुर्बलताओंका ही चित्रण किया है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि संसारको सदाके लिये त्यागकर इसके बन्धनोंसे ऊपर उठ जानेवाले वेमनाके मुखसे निकले हुए बहुमूल्य उपदेश एवं चेतावनीके शब्द समस्त मानव-जातिके लिये नीति एवं सदाचारका एक पूरा शास्त्र ही बन गये हैं। कौपीनधारी योगी वेमनाको संसारसे डरनेकी तनिक भी आवश्यकता नहीं थी। किंतु उनके असत्स्वरूपकी धज्जी उड़ा देनेवाली उनकी आलोचनाके बाणोंसे बचनेके लिये संसारको ही उनसे डरनेकी पूरी-पूरी आवश्यकता है। वेमना शास्त्रार्थ तथा उसके दाँव-पेंचोंसे दूर रहते थे। वे ऊँचे-से-ऊँचे दार्शनिक तत्त्वोंको स्वाभाविक तथा सीधे-सादे ढंगसे कह डालते हैं और कभी-कभी एक सच्चे व्यक्तिकी तरह बात करते हुए बताते हैं। वे जीवनके सत्यतत्त्वोंपर प्रकाश डालते हैं और लोग उनकी शिक्षाओंको शीघ्रता तथा अनुकूल मनसे मान लेते हैं।

वेमना एक कुशल कवि थे। उनकी रचनाएँ तत्कालीन नर-नारियोंके हृद्गत भावोंका सजीव चित्र खड़ा कर देती हैं। प्रत्येक आन्ध्रवासी वेमनाका केवल आदर ही नहीं करता है वरं अपने सम्पूर्ण हृदयसे उन्हें प्यार भी करता है। उनके शब्द मानव हृदयपर सीधे चोट करते हैं। ऐसा लगता है मानो वे समस्त मानव हृदयोंको सीधे स्पर्श करके उन्हें अपने दृष्टिकोणसे संसारको देखनेके लिये राजी कर लेते हैं। वेमनाकी महत्ता इसी बातमें है कि वे दार्शनिक तत्त्वोंकी यथार्थ और निर्भीक ढंगसे व्याख्या करते हैं। भले ही कुछ विद्वान् वेमनाकी भाषा तथा शब्द-योजनाको साधारण कोटिकी बतायें, वेमना निश्चय ही अत्यन्त लोकप्रिय कवि हैं तथा साधारण जनताके बड़े ही आदरपात्र हैं। वे एक आध्यात्मिक गुरुमात्र नहीं हैं वरं वे जनताके उपयोगी कवि हैं। अपने समसामयिक विद्वानोंकी कूट, दुरूह एवं कठिन शैलीसे उन्हें घृणा थी। उन्होंने अपनी कविताएँ सरल एवं सरस भाषामें लिखी हैं। आन्ध्रमें एक भ्रामक धारणा अबतक फैली हुई है कि वेमनाको वेदों एवं उपनिषदोंका ज्ञान नहीं था तथा वे संस्कृतभाषा भी नहीं जानते थे। किंतु उनके रचित कई पद ऐसे हैं, जिनमें उपनिषदोंके विचारोंकी स्पष्ट झलक मिलती है। इस बातकी पुष्टिमें उनके पदोंसे मैं निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत करता हूँ—

'ब्रह्म सर्वव्यापी और अनन्त है। सभी प्राणियोंमें वह साक्षीचैतन्यरूपसे उपस्थित है। सबमें स्थित होते हुए भी वह अपरिणामी और निर्विकार है।'

'ज्ञान और अज्ञान परस्पर-सापेक्षी शब्द हैं। उनसे जिस वस्तुका बोध होता है, वह सत्यसे बहुत दूर है। सत्यको सभी प्राकृत गुणोंसे अतीत रूपमें देखना चाहिये।'

'यदि तुम आत्माका ध्यान करो और उसपर अपनी दृष्टि स्थिर कर लो तो निश्चय ही तुम जान जाओगे कि तुम वही हो—तत्त्वमसि।'

'तुमको लोकके प्रहारोंसे रहित आध्यात्मिक मुक्ति प्राप्त हो जायगी, यदि तुम जान सको कि संसारके विकारी एवं अविकारी सभी पदार्थ वास्तवमें ब्रह्म ही हैं।'

वेमनाकी रचनाओंमें कावेरी, श्रीरङ्गम् आदि नामोंका उल्लेख देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि दक्षिण-भारतमें उन्होंने दूर-दूरतक भ्रमण किया था। वेमनाके पदोंके कुछ भाव तमिळनाडके 'तिरुक्कुरल'में भी मिलते हैं। इससे हम निर्विवादरूपमें यह मान सकते हैं कि वेमना तमिळ भाषासे भी परिचित थे।

वेङ्गम्मा

अपने इस लेखको समाप्त करनेके पहले तरिगोण्ड वेङ्गम्मा नामकी आन्ध्रप्रदेशकी स्त्री-भक्तकी भक्ति-भावनापर प्रकाश डालनेके लिये मैं अपने उदारहृदय पाठकोंकी

श्रीविग्रहके पीछे एकान्तमें बैठ जातीं। वे योग-साधनके लिये वहाँ घंटों बिना गाँवके किसी व्यक्तिकी दृष्टिमें आये बैठी रह जातीं। इस प्रकार गाँवमें या घरमें विशेष अवसरोंपर भी वे सबसे सम्पर्क नहीं मिलती थीं; इसलिये उनके आध्यात्मिक उत्कर्षको न जाननेवाले लोग उनके चरित्रपर संदेह करने लगे।

एक दिन मन्दिरके पुजारीने उनको हनुमान्‌जीके श्रीविग्रहके पीछे बैठे देख लिया। उस समय वे प्रगाढ़ योग-निद्रामें थीं। श्रीकृष्णके मधुर चिन्मय रूपके ध्यानमें उनका चित्त एकदम डूबा हुआ था। पुजारीने सोचा कि श्रीविग्रहोंके आभूषण चुरा ले जानेके लिये अवसरकी प्रतीक्षामें वे मन्दिरमें ध्यानका बहाना करके बैठी हैं। पुजारी उन्हें अपशब्द कहता हुआ बाल पकड़कर मन्दिरके बाहर घसीट लाया। मन्दिरके पुजारीके उद्दण्ड व्यवहारसे उनकी योग-निद्रा भङ्ग हो गयी और उन्होंने आँखें खोलकर पुजारीकी ओर देखा। उसी क्षण पुजारीका प्रत्येक अवयव जकड़ गया, मानो उसे लकवा मार गया हो, यहाँतक कि उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो वह पत्थरका बन गया है। वेङ्कम्माको उसपर दया आ गयी और उन्होंने उसकी व्याधि तुरंत हर ली; किंतु वह इनके पैरोंपर गिरे, इसके पूर्व ही उन्होंने उस स्थान और गाँवतकको छोड़ दिया और तुरंत ही वेङ्कटाचलम् (तिरुमल) को इस विचारसे चल पड़ीं कि श्रीवेङ्कटाचलपतिके सांनिध्यमें उस पवित्र पहाड़ीपर ही अपने अन्तिम दिन बितायेंगी। उसी पहाड़ीपर 'घुंघुरु कोन' नामक पवित्र सरोवरके पास ही एक निर्जन स्थानमें वे बैठा करतीं। अन्तमें अपना पार्थिव देह त्याग कर वे श्रीवेङ्कटेश्वरदेवके चरण कमलोंमें पहुँच गयीं।

उस पहाड़ीपर रहते हुए जिस श्लोकद्वारा वे भगवान्‌की नित्य प्रार्थना किया करती थीं उसको उद्धृत करनेका लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता—

श्रीकान्तपरमसरोजचञ्चद्विरचं　　लीलांशुविम्बाननं
श्रीकृष्णाभ्ययसंगुतान्श्रितमदं　विम्बाधमप्राकृतम्।
लोकालीतमनेकगोपयुवतीलोलं　　परं　　सर्वगं
साम्बरं　तरिकुञ्जगोपकुपराग्यरं　मजेऽहं　सदा॥

दक्षिणके नायनार संतोंकी शिवनिष्ठा

(लेखक—श्रीरामचन्द्रजी जीवाजय)

दक्षिण-भारत भगवद्भक्तिकी उत्पत्ति-भूमि है। इस पवित्र भूमि-भागमें तिरसठ नायनार संतोंने भगवान् शिवके प्रति जिस अविचल निष्ठाका परिचय दिया है, वह एक इतिहास-सिद्ध पवित्र गाथा है। तमिळ भाषामें रचित पेरिय-पुराणमें इन तिरसठ शैव-संतोंकी विलक्षण शिव-भक्तिका वर्णन किया गया है। उनके चरित्रके अध्ययनसे पता चलता है कि भगवान् शिव और उनके भक्तोंकी सेवामें नायनारोंने किस प्रकार अपना सारा जीवन समर्पित कर दिया था। उन्होंने अपने भक्तिपूर्ण जीवनमें शिव-निष्ठा, शिव-भक्त अतिथियोंकी निष्काम सेवा, भगवद्विश्वास, भगवत्पूजा-उपासना, तथा भगवच्चिन्तन आदिके उज्ज्वल आदर्श स्थापित किये थे। शिव-भक्तिके ही प्रचारके लिये उन्होंने जन्म लिया था।

नायनार संतोंकी शिव-नाममें बड़ी भक्ति थी। तिरुनील-कण्ठ नायनारने शिव-नामकी शपथसे गृहस्थाश्रमको त्यागकर परम वैराग्यपूर्ण जीवन अपनाया था। वे बहुत बड़े शिव-भक्त थे और उनकी शिव-भक्ति उच्च कोटिकी थी। उनकी पत्नी तो पवित्रता और सतीत्वकी प्रतीक ही थी। एक समयकी बात है—उनकी यौवनावस्था थी; बात-ही-बातमें कोई ऐसा प्रसङ्ग आ पड़ा कि वे अपनी स्त्रीका स्पर्श करना चाहते थे। पत्नीने कहा कि 'आपको शिव नीलकण्ठकी शपथ है, मेरा स्पर्श मत कीजियेगा।' तिरुनीलकण्ठको शिव-नामकी शपथ दिलायी गयी थी, वे क्षणमात्रमें ही सचेत हो गये; उन्होंने मनमें विचार किया कि यह शपथ केवल अपनी पत्नीके ही लिये नहीं है, समस्त नारीमात्रके लिये है। उन्होंने भविष्यमें किसी भी स्त्रीका स्पर्श न करनेका संकल्प कर लिया और जीवनमें शिव-नामकी भक्ति चरितार्थ की। उनकी नाम-निष्ठा अद्भुत थी।

नायनार संतोंमें शिव-भक्तोंके प्रति निष्काम सेवाका भाव था। उनमेंसे कई-एकने अपना सर्वस्व समर्पणकर शिव-भक्तोंका आतिथ्य किया और भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त की। वे भगवान् शिव और उनके भक्तमें तनिक भी भेद नहीं मानते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि भक्तकी सेवा भगवान्‌की ही सेवा है। इळैयांकुडिमार नायनारके जीवनकी एक घटना है। वे बहुत बड़े धनी थे; पर भगवान् शिवके भक्तोंकी इच्छापूर्ति और आतिथ्यमें उन्होंने [illegible] धन [illegible] दिया और स्वयं खाने-खानेके लिये भूखे मरने लगे। एक [illegible] अधिक रात बीतनेपर एक तपस्वीने आकर उनके [illegible] धारण की। उस समय मूसलधार [illegible] रही [illegible] चारों ओर अन्धकार था। [illegible] शिव-भक्तने [illegible]

बन गया। प्रतिष्ठा और कुम्भाभिषेकका समय आ पहुँचा। इसी समय पल्लव-नरेशद्वारा अपार धनकी लागतसे निर्मित काञ्चीपुरम्‌के विशाल कैलाशनाथ-मन्दिरमें देवस्थापना होनेवाली थी। भगवान् शिवने पल्लव-नरेशको स्वप्नमें दर्शन देकर बतलाया कि आज तो मेरी स्थापना संत पुसलारके मन्दिरमें होगी, आप अपना कार्यक्रम किसी दूसरी तिथिको निश्चित कीजिये। पल्लव-नरेश बड़ी उत्सुकतासे महान् शिव-भक्तके मन्दिरका स्थापना-उत्सव देखने चल पड़े। उन्होंने संतके स्थानपर जाकर मन्दिरका पता पूछा। पर मन्दिर तो कहीं था नहीं। वे पुसलारके पास गये। उन्होंने उनसे अपने स्वप्नकी बात कही; संतका रोम-रोम पुलकित हो उठा; भगवान् शंकरकी अपने ऐसे असहाय और निर्धनपर महती कृपा देखकर उनका कण्ठ प्रेमावेशमें अवरुद्ध हो गया, नयनोंसे अश्रुकी धारा बह चली। प्रभुने उनका हृदय-मन्दिर धन्य कर दिया। उनकी मानसी-उपासना असाधारण थी।

भगवान् शिवका यशोगान करना नायनार संतोंकी भक्तिका एक प्रधान अङ्ग था। तिरुनीलकण्ठ याल्पन नायनार भगवान् शिवके यशोगानमें इतने अनुरक्त थे कि वे वीणा बजाकर मन्दिरोंमें घूम-घूमकर अपनी संगीत-माधुरीसे महादेवको रिझाया करते थे। एक समयकी बात है, मदुराके मन्दिरमें वे भगवान्‌के सम्मुख वीणापर कीर्तन कर रहे थे। इतनेमें उन्हें आकाशवाणी सुन पड़ी कि तिरुनीलकण्ठकी वीणाके लिये सोनेका आसन प्रस्तुत किया जाय। भगवान् उनके कीर्तनसे बहुत प्रसन्न थे।

नायनार संतोंके परम धन भगवान् शिव थे। उनका समस्त जीवन शंकरके चरणोंमें समर्पित था। वे शिवके पूर्ण शरणागत थे। उन्होंने जगत्‌में भगवान् शिवकी भक्तिका प्रसार किया। नायनार शिव-भक्तोंका जीवन शिवके कृपा-साम्राज्यमें धन्य और सफल था।

राजस्थानमें भक्ति

(लेखक—पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी, सवीरत्‍न)

वर्तमान राजस्थानमें पौराणिक युगके जाङ्गल, मत्स्य, शिबि, मालव, मरु और अर्बुद आदि प्राचीन देशोंका समावेश होता है। महाभारतकालमें द्वारकासे इन्द्रप्रस्थकी यात्रा करते समय भगवान् श्रीकृष्ण इसी भूभागसे होकर जाते थे। महाभारत-कालके पश्चात् बौद्धयुगके आरम्भकालतक यहाँकी सांस्कृतिक दशापर प्रकाश डालनेवाली कोई सामग्री प्राप्त नहीं होती। भारतमें हीनयान बौद्धयुगके बाद महायानका जब उदय और विकास होता है, तब उससे काल-क्रमानुसार बौद्धतन्त्रका आविर्भाव होता है। परंतु उसके साथ ही वैष्णवतन्त्र, शाक्ततन्त्र और शैवतन्त्रको भी हम प्रचलित पाते हैं। इन सभी तन्त्रोंमें शक्ति और शक्तिमान्‌की जोड़ी उपास्य देवताके रूपमें पायी जाती है। साधक एक विशिष्ट साधनाके द्वारा अपने उपास्यदेवको प्रसन्न करके विविध प्रकारकी आध्यात्मिक शक्तियाँ प्राप्त करता है। परंतु उन शक्तियोंके द्वारा वह आधिभौतिक प्रयोजनकी सिद्धि करता है। इस प्रकारकी सिद्धि प्राप्त करनेकी विधियाँ सब सम्प्रदायोंके तन्त्र-ग्रन्थोंमें प्राप्त होती हैं। यह तान्त्रिक पूजा एक प्रकारसे सकाम भक्तिका ही स्वरूप है। गुण-क्रमानुसार यह पूजा भी सात्त्विक, राजस और तामस—त्रिविध रूप धारण करती है। राजस्थानमें मुख्यतः राजसी तान्त्रिक पूजाका ही प्राबल्य रहा। हिंसामयी तामसी पूजाका यहाँ विशेष विकास नहीं हुआ। यह भूमि भारतके सभी प्रदेशोंकी अपेक्षा अधिक अहिंसा-धर्म-सम्पन्न रही है। यही कारण है कि यहाँ जैन-धर्मका अधिक प्रचार हुआ। पहलेसे ही जैन-धर्मके विशेषरूपसे व्याप्त रहनेके कारण यहाँ बौद्धधर्मके विकासमें बाधा पहुँची है, ऐसा जान पड़ता है; क्योंकि चीनयात्री फाहियान और हुएन्त्सांगके यात्रा-विवरणोंसे राजस्थानमें बौद्धधर्मके प्रसारपर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

बौद्धयुगके अवसानकालमें भारतमें सर्वत्र तान्त्रिक पूजाका प्रचार और पौराणिक सात्त्विक पूजाका उदय देखनेमें आता है। इसके सिवा सिद्धोंका एक सम्प्रदाय सर्वत्र प्रचलित होता दीख पड़ता है। मत्स्येन्द्रनाथ और उनके सुप्रसिद्ध शिष्यका भारतव्यापी प्रभाव इस युगकी प्रमुख घटना है। इस सम्प्रदायमें योग-साधनाके द्वारा कैवल्यकी प्राप्ति ही मानव-जीवनका लक्ष्य माना गया है। भगवान् शंकर इसके आदि-गुरु माने जाते हैं। सम्प्रदायवाले उनको आदिनाथके नामसे पुकारते हैं—

> आदिनाथो गुरुर्यस्य गोरक्षस्य च यो गुरुः।
> मत्स्येन्द्रं तमहं वन्दे महासिद्धं जगद्गुरुम्॥

अतएव आदिनाथ स्वयं शंकरजीके शिष्य मत्स्येन्द्र-(मच्छेन्द्र) नाथ हुए और उनके शिष्य गोरखनाथ। इसी

दादूदयाल बड़े सिद्ध संत थे। उनके नामपर प्रचलित दादू-पंथ आज भी राजस्थानका एक प्रमुख संत-सम्प्रदाय है। दादूजीकी वाणीसे ज्ञान पड़ता है कि उनका अध्ययन गहरा था। उनको भारतीय भक्तिमार्गके साथ-साथ इस्लामी भक्ति-सिद्धान्तकी भी जानकारी थी। शैवोंके पाशुपत-सम्प्रदायके अनुसार जीव पशु है, और शंकर पशुपति हैं। जीवके गलेमें पड़ी मोहरूपी रस्सीको खोलकर उसे मुक्त करना शिवकी इच्छा, उनकी कृपापर ही निर्भर है। उनकी इस कृपाकी प्राप्तिका मार्ग है—उनकी आराधना करना। मानो इसी तथ्यको लेकर गोसाईंजी कहते हैं—

ज्या दास बंधित की भाईं। सपदि भवारत रामु गोसाईं॥

और दादू भी यही बात कहते हैं—

डोरी हरि के हाथ है, गल माहें मेरे।
बाजीगर का बांदरा, भावै तहाँ फेरै॥

दादूजी परम तत्त्वज्ञानी थे। वेदान्तके सार-सिद्धान्तको किस खूबीसे उन्होंने इस दोहेमें व्यक्त किया है—

जो नाहीं सो ऊपजै, है सो ऊपजै नाहिं।
अलख आदि अनादि है, उपजै माया माहिं॥

'जो है नहीं (अर्थात् माया), वह तो उपजती है और जो है (अर्थात् ब्रह्म), वह उपजता नहीं। अलख (अर्थात् ब्रह्म) आदि और अनादि है—सबका मूल कारण है और शाश्वत है तथा जगत्में जो कुछ उपजता और विलीन हो जाता है, वह सब मायात्मक है, मायामें ही होता है। इस मायासे छुटकारा पाना कठिन है।'

बहु बंधन सौं बंधिया, एक बिचारा जीव।
अपने बल छूटै नहीं, छोड़नहारा पीव॥

'बेचारा जीव मायाकृत अनेकों बन्धनोंसे बँधा हुआ है। अपने बलसे छुटकारा पाना उसके लिये कठिन है। प्रियतम प्रभुकी कृपा हो, तभी इस मायाके बन्धनसे मुक्ति मिल सकती है।'

कोई नहिं करतार बिन, प्राण उधारणहार।
जियरा दुखिया राम बिन, दादू इहि संसार॥

'भगवान्‌के बिना प्राण बचानेवाला कोई नहीं है। दादूजी कहते हैं कि बेचारा यह जीव इस संसारमें रामकी प्राप्तिके बिना दुःख पा रहा है।' कब मिलेंगे प्रभु आकर?

सखी सुहागिन सब कहैं, प्रगट न देखै पीव।
सेज सुहाग न पावै, दुखिया मेरा जीव॥

प्रेम-भक्तिका यह भाव अनुभूति-गम्य है, शब्दोंके द्वारा इसको व्यक्त करना कठिन है। दादूजी उच्चकोटिके संत थे, पहुँचे हुए महात्मा थे। उनकी प्रेम-विरहकी व्याकुलताकी एक झाँकी उपर्युक्त दोहेमें मिलती है।

हरि-भक्ति भक्तके हृदयको मसृण और सुकोमल बना देती है। दादू कहते हैं—

काहू कौं दुख दीजिये, घटि घटि आतमराम।
दादू सब संतोषिये, यहु साधू का काम॥

यह साधु-जीवनका सहज और व्यावहारिक आदर्श है। घट-घटमें आत्मरूप भगवान् वास करते हैं, किसीको दुःख क्यों दिया जाय? सबको संतुष्ट करना चाहिये। साधुजन ऐसा ही व्यवहार रखते हैं। सार सिद्धान्त यह है—

आपा मेटै हरि भजै, तन मन तजै विकार।
निरबैरी सब जीव सौं, दादू यहु मत सार॥

'दादूजी कहते हैं कि अहंकार त्यागकर हरि-भक्ति करो, तन-मनके सारे दोषोंका त्याग करो और सब जीवोंके प्रति प्रीति रखो—यही सार मत है।'

(३)

नाम-स्मरण, ध्यान आदिकी साधनाके द्वारा जहाँ दादू-सम्प्रदायने प्रेमा-भक्तिके उच्च आदर्शोंकी साधनका प्रशस्त बनाया, वहाँ राजस्थानमें रागानुगा-भक्तिका प्रवाह पुष्टिमार्गके अनुयायियों, विशेषतः दाक्षिणात्य गोस्वामी लोगोंने श्रीराधा-कृष्णके श्रीविग्रहकी उपासनाके द्वारा प्रवाहित किया। नाथ-द्वारके श्रीनाथजीका मन्दिर इस भक्ति-भावनाका एक ज्वलन्त आदर्श है। दक्षिणके आचार्योंद्वारा प्रचारित सम्प्रदायोंमें पुष्टि-मार्ग ही राजस्थानकी भूमिके लिये अधिक उपयुक्त बना। परंतु राजस्थानकी भक्तिमें एक मौलिक विशेषता थी, जिसने राजस्थानके नामको केवल भारतके इतिहासमें ही नहीं, बल्कि विश्वके इतिहासमें अमर कर दिया। वह था प्रेमका एक अजस्र प्रवाह और भक्तिका एक अपूर्व ज्वार। प्रेमके इस उत्सका पता हमें 'ढोला-मारूके दोहों' से मिलता है। इन दोहोंमें वर्णित प्रेम-कहानीमें राजस्थानी आत्माकी अनुभूति सहज ही सहृदय व्यक्तिको मिल जाती है। मारू कह रही है—

अकथ कहाणी प्रेमकी किणसूँ कही न जाय।
गूँगाका सुपना भया सुमर सुमर पिछताय॥

और प्रेमका स्वरूप विरह-वेदनामें निखर आता है। प्रियतमके स्मरणका क्रम तार नहीं टूटता, दिन-रात हृदयमें केवल वही—उसीकी याद भर कर लेती है, नींद हराम हो जाती है—

रात सखी इण ताल में मनजु कुरळी पंखि ।
हौं सर हूँ पर आपणो मिळूँ न मेरी आँखि ॥

मारू कहती है कि 'हे सखि ! रातको इस तालमें किसी पक्षीकी ओर अपने घरमें मेरी—दोनोंकी ही आँखें नहीं लगीं, प्रिय-विरहमें दोनों-की-दोनों जगी ही रह गयीं ।'

श्रीकृष्णके प्रेममें रुक्मिणीजीकी व्याकुलता तथा अन्ततः रुक्मिणी-हरणके कथानकका सजीव वर्णन, जो बीकानेरके महाराज पृथ्वीराजके 'क्रिसन रुकमणी री वेल' नामक प्रेम-काव्यमें प्राप्त होता है, प्रेम-प्रवाहकी एक दूसरी धारा है । इसी प्रेमकी पराकाष्ठा मीराकी कृष्ण-भक्तिमें होती है । यही क्यों, राजस्थानी संस्कृतिमें बहता हुआ यह प्रेम-प्रवाह सारे समाजको एक दिन आप्लावित कर देता है । महाराणा प्रतापका देश-प्रेम, महारानी पद्मिनीका जौहर-व्रत (पति-प्रेम), भामाशाहका प्रभु-प्रेम और अन्ततोगत्वा मीराका कृष्ण-प्रेम—ऐसा लगता है मानो विभिन्न प्रेम-स्रोत आकर प्रेम-सिन्धुमें विलीन हो जाते हैं । इस प्रकारका अपने आदर्शके लिये सर्वस्व-त्यागका चतुर्मुखी उदाहरण विश्वके इतिहासमें अन्यत्र प्राप्त नहीं होता । यह प्रेम-प्रवाह अपने प्रभावसे समस्त भारतको प्रभावित करता है और उत्तर-कालीन स्वातन्त्र्य-आन्दोलन तथा धर्म-रक्षाके आन्दोलनमें राजस्थानके बहुमुखी प्रेमका आदर्श सारे हिंदू-समाजको देश और धर्मके हेतु सर्वस्व-त्यागकी प्रेरणा प्रदान करता है ।

× × ×

भगवद्भक्तिके मार्गमें मीराका कृष्ण-प्रेम अद्वितीय है । भक्तप्रवर ध्रुवदासजीने स्वरचित 'भक्त-नामावली' नामक ग्रन्थमें मीराके सम्बन्धमें ठीक ही लिखा है—

लाज छाँड़ि गिरिधर भजी, करी न कछु कुल कान ।
सोई मीरा जग विदित, प्रगट भक्ति की खान ॥
ललितहु लई बोलि कै, तासों हो अति हेत ।
आनँद सों निरखत फिरै, वृंदावन रस खेत ॥
नृत्यति नूपुर बाँधि कै, गावति लै करतार ।
बिमल हिये भक्तनि मिली, त्रिन सम गन्यौ संसार ॥

भक्तमालमें नाभादासजी भी कहते हैं—

सदृश गोपिका प्रेम प्रगट कलियुगहिं दिखायो ।
निरअंकुश अति निडर रसिक जस रसना गायो ॥

वस्तुतः गोपिका-प्रेमको, जो प्रेमकी पराकाष्ठा है, प्रत्यक्ष-रूपसे जीवनमें उतारकर दिखलाना बहुत कठिन है । कलियुगमें इस परमोच्च आदर्शको मीराने अपने जीवनके द्वारा प्रत्यक्ष करके दिखला दिया । आज राजस्थानी मरुस्थलके अन्तस्तलमें मीराके द्वारा प्रवाहित गिरधर-गोपालके प्रेमका स्रोत अन्तःसलिला फल्गुके समान अजस्र बहता हुआ राजस्थानकी संस्कृतिको जीवन प्रदान कर रहा है । यही नहीं, इस प्रेमके अमृत-रसका आस्वादन करके सारा भारतीय समाज आज गद्गद और कृतकृत्य हो उठता है । मीराकी प्रेम-भक्ति इतनी सात्त्विक और इतनी सच्ची एवं स्वाभाविक थी कि आज भी मीराके पदोंको सुनकर पत्थरका कलेजा भी पसीज उठता है, भक्तिकी भावनासे शून्य हृदयके लिये सजीव हो उठता है । भक्तिका महत्त्व उसकी अनन्यतामें है और इसलिये मीराका भक्तिमय जीवन बेजोड़ है, उसकी कोई उपमा नहीं । मीराके पदोंमें भक्ति-भावको जाग्रत् करनेकी जो अद्भुत शक्ति है, तत्काल प्रभुसे नाता जोड़नेकी विद्युत्-प्रेरणा है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । कोई भी—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई ।

—यह गाकर प्रभुसे अपना सीधा सम्बन्ध जोड़कर क्षणभर उनके साथ आत्मीयताका अनुभव कर सकता है । प्रेमा-भक्तिमें विरहकी अनुभूति एक परमोच्च दशा है । एक अद्भुत वेदना प्रेमीके जीवनको आत्मसात् कर लेती है । मीरा कहती है—

हेरी मैं तो दरद दिवाणी होय दरद न जाणै मेरो कोय ॥
घायल की गति घायल जाणै कि जिण घायल होय ।
जौहरि की गति जौहरी जाणै की जिन जौहर होय ॥
सूली ऊपर सेज हमारी, सोवण किस बिध होय ।
गगन मँडल पर सेज पिया की किस बिध मिलणा होय ॥
दरद की मारी बन बन डोलूँ बैद मिल्या नहिं कोय ।
मीरा की प्रभु पीर मिटै जद बैद साँवलिया होय ॥

मीराके प्रभु-प्रेममय जीवनकी एक झाँकी इससे मिलती है । मिलनके लिये जो आतुरता, जो व्याकुलता और तीव्रतम मन मीराके जीवनमें है, वह व्रज-गोपाङ्गनाओंके सिवा अन्यत्र दुर्लभ है । राजस्थानी भक्तिका चरम आदर्श है यही मीराकी प्रेम-भक्ति । मीराके पदोंके द्वारा हमको इसका रसास्वादन करनेका सौभाग्य प्राप्त है ।

परंतु जिस प्रकार नाथपन्थीके प्रवाहमें पड़कर कितने शान्त सुन्दर रासलीलामय रूप धारण करते हैं, उसी प्रकार राजस्थानी साधकोंकी समन्वयात्मिका प्रवृत्तिने भक्तिके स्वरूप-विकासमें आज भक्तिको पूर्णा-भक्तिके रूपमें ग्रहण किया है । गीताप्रेसके द्वारा इसी पूर्णा-भक्तिका आदर्श उपस्थित किया जाता है । श्रीचैतन्यमहाप्रभुके अनुयायी भक्तिकी अनन्यताकी रक्षाके लिये 'ज्ञानकर्माद्यनावृत' विशेषणसे उसे विभूषित करते हैं ।

हं गीताप्रेमके द्वारा समर्पित अनन्या-भक्तिमें ज्ञान और र्म भक्तिके मग्न हैं। ये बाधक नहीं हैं, साधक हैं। गीताके—

> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।

तथा—

> नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

—इन भगवद्वचनोंसे ज्ञान-कर्म-समन्विता भक्ति ही पूर्णा-भक्ति है। यह आनन्दका विषय है कि आज साधन-जगत्में इस पूर्णा-भक्तिका ही प्रभाव दिनो दिन बढ़ता जा रहा है। यह भारतीय संस्कृतिको कल्याण-पथमें उत्तरोत्तर विकसित करेगा—ऐसी आशा बलवती हो रही है।

पर्वतीय भक्तोंके भाव

(लेखक—श्रीत्रिलोचनजी पाण्डेय)

हिमालय प्रागैतिहासिक कालसे ऋषि-मुनियों और साधक ईश्वरभक्तोंको आकर्षित करता आ रहा है। हिमाच्छादित शिखर, कल-कल-नादिनी सरिताएँ, घना श्यामल प्रकृति संतोंके साधनापूत गोष्ठोंमें निरन्तर सहायक रहे हैं। प्रकृति-सौन्दर्यने हीं उन लोगोंको उच्च मानवीय भावनाओंकी खोजमें संलग्न किया है, यहाँ निभृत एकान्तद्वारा जीवन, जगत्, ईश्वर आदि-सम्बन्धी अखिल समस्याओंपर मनन करनेका अवसर भी मिला है। उत्तरप्रदेशके पर्वतीय जिले—नैनीताल, अल्मोड़ा और गढ़वाल हिमालयकी इसी पर्वत शृङ्खलाके अन्तर्गत हैं।

यह भूभाग, जिसे हम सामान्यतया कूर्माचल या कुमाऊँ कहते हैं, प्राचीन कालसे ही पुराण और इतिहासोंमें उल्लेखनीय रहा है। वायुपुराण, स्कन्दपुराणमें इसका गुण-गान है; जिनमें सरयू-कौशिकी नदियों तथा पञ्चचूली और विविध शिव-शृङ्खलाओंका नामोल्लेख है और महाभारतके 'वनपर्व' (१६१। १२, २६) में इसका माहात्म्य वर्णित है—

> उशीरबीजं मैनाकं गिरिं श्वेतं च भारत ।
> समतीतोऽसि कौन्तेय कालशैलं च पार्थिव ॥

> ऊर्ध्वं दीपयन्नेष दिवं तिष्ठति वीर्यवान् ।
> महामेरुर्महाभाग शिवो ब्रह्मविदां गतिः ॥

×　　　×　　　×

> स्थानमेतन्महाभाग ध्रुवमक्षयमव्ययम् ।
> ईश्वरस्य सदा ह्येतत् प्रणमात्र युधिष्ठिर ॥

'यह देखो सुमेरु पर्वत उत्तर दिशाको प्रकाशित कर रहा है, जो ब्रह्मज्ञानियोंका गन्तव्य स्थान है। ······यह स्थान शाश्वत है—न कभी बनता है, न बिगड़ता है, न छोटा-बड़ा होता है। हे युधिष्ठिर! तुम इस स्थानको प्रणाम करो।'

तब आश्चर्य नहीं कि यह पर्वतीय प्रान्त चमत्कारी संतोंके उपदेश-माहात्म्यसे मण्डित हो। यहाँ अनेक संत-भक्तोंने अपनी साधना एवं उपदेशोंद्वारा जन-साधारणका पथ-प्रदर्शन किया है। कुछ संत आज भी एकान्त या विचित्र वेष-भूषा, भाव-भङ्गिमाद्वारा लोगोंको सन्मार्ग प्रदर्शित करते रहे हैं। यहाँ उनमेंसे ही कुछ संत-भक्तोंकी विशेषताओं तथा विचार-धाराका परिचय करानेका प्रयत्न किया गया है।

'चंद' शासकोंके राज्यकालमें नागनाथ सिद्ध, ऋद्धिगिरि गोसाईं, हरदेव पुरी आदि संतोंका उल्लेख किया जाता है—जिन्होंने उन शासकोंको उपदेश देकर उनका कर्तव्य निर्दिष्ट किया था। उनके विषयमें अब चामत्कारिक कथाएँ ही शेष रह गयी हैं, जिनसे उनके विचारोंका अनुमान किया जा सकता है। ऋद्धिगिरि गोसाईं बड़े त्यागी संत थे। राजा उद्योतचंदने जब उन्हें जाड़ेमें ठिठुरता देख एक बढ़िया दुशाला भेंट किया, तब वे बोले—'यह तो राजाओंके ओढ़नेका है, मैं राख मलनेवाला फकीर इस दुशालेका क्या करूँगा?' राजाके हठ करनेपर उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया और उनके चले जानेपर धूनीमें झोंक दिया। राजाको समाचार मिला तो दर्शन करने आया। बाबा उसके मनका भाव ताड़ गये। धूनीमें पड़ा हुआ दुशाला वैसा ही निकालकर सामने रख दिया।

(२)

आधुनिक कालमें अधिक प्रसिद्धि श्रीसोम्बारी महात्माजीकी रही है—जो हलद्वानी, काकड़ीघाट एवं पदम बोरी स्थानोंमें निवास करते थे। नित्य सोमवारके दिन यज्ञ-हवन करानेसे उनका नाम ही सोम्बारी (सोमवारी) महात्मा हो गया। बड़े निर्द्वन्द्व, दूरदर्शी और दो-टूक बात कहनेवाले संत थे। दूसरोंके भावोंका उतार-चढ़ाव समझ लेनेकी उनमें अद्भुत शक्ति थी। परोक्षकी बातें वे पहले ही कह देते थे।

धर्मांध एवं बाह्याचारोंके वे कट्टर विरोधी थे। कहा करते थे—'थोड़ा पढ़ने-लिखनेसे गर्व नहीं करना चाहिये।' स्नान आदि-द्वारा शरीर-शुद्धिपर जोर देते थे। गुरु और ब्राह्मण उनकी दृष्टिमें पूज्य रहे। ईश्वरतक पहुँचनेके वे अनेक मार्ग मानते थे। एक बार किसी अंग्रेजी पढ़नेवाले विद्यार्थीका कोरा माथा देखकर बोले—'चन्दन क्यों नहीं लगाया? बड़े घरके लड़के हो न।'

'महाराज! रास्तेमें चन्दन मिलता कहाँ जो लगाता?' —उसने कहा। बाबाजी तुरंत बोले—'यह सब बहानेबाजी है। अगर लगानेवाले होते तो मिल भी जाता। ब्राह्मणको चन्दन लगाना चाहिये, अपनी वेष-भूषामें दृढ़ रहना चाहिये।'

झूठ बोलने और छल-कपटसे उन्हें चिढ़ थी । एक ग्वाला दूधमें पानी मिलाकर इसनके दिन भेंट करने आया—यह सोचकर कि इन्हें क्या पता चलेगा । इसके पहले कि वह आश्रममें पैर रखता, बाबाजीने सारा दूध उसके सामने नहरमें फेंकवा दिया । ऐसी मनाह बतायी कि ग्वाला क्षमा-याचना ही करता रह गया । ऐसी अनेक घटनाएँ उनके विचारोंको स्पष्ट करती हैं । वे असमयमें वैराग्य धारण करनेवालोंको भी पसंद नहीं करते थे । जब कोई इच्छा-पूर्तिके लिये उनके पास आता तो कहते, 'मैं तो प्रारब्ध ही बता सकता हूँ, बाकी कुछ नहीं कर सकता ।' क्रोधका तिरस्कार, सात्त्विक पालन उनकी दृष्टिमें साधुओंके गुण थे । ईश्वरकी सर्वव्यापकता एवं दयालुता उनका अटल विश्वास था । अहिंसापर इतना जोर देते थे कि साँप, बंदर, साँपोंतकको लकड़ीसे भगाना उनके आश्रममें वर्जित था । इन पंक्तियोंके लेखकने अपने पिताजीसे इस सम्बन्धकी अनेक मनोरञ्जक कथाएँ सुनी हैं । एक बार एक भयंकर सर्प कहींसे निकलकर धूनीके पास आ बैठा; एक भक्तने उसे मारनेका विचार उठाया तो महात्माजी बोले, 'शिवका गण है, धूनी रमाने दो ।' तीन दिन लगातार एक ही कुण्डलीपर बैठा रहा, तब उन्होंने पानीके छींटे फेंकते हुए साँपसे कहा 'अब कैलास जाओ'—और हँसने लगे । साँप सीधे लौटकर अदृश्य हो गया ।

प्रत्यक्ष उपदेश तो उन्होंने कम ही दिये; फिर भी उनके नियम-पालन, व्यवहार, पार्श्वस्थद्वारा उनके विचारोंकी कुछ झलक मिलती है—जिनमें मुख्य इस प्रकार हैं—संग्रह न करना; अपना कार्य निष्काम होकर करना; किसी बातका अभिमान न करना; सबकी रक्षा ईश्वरके हाथ होती है; एक वर्ग अथवा आश्रमवालेको दूसरेसे घृणा नहीं करनी चाहिये; आचारके अनुसार चलना चाहिये; कुपात्रको दान देनेमें सार नहीं है; योगी साधुओंको बहुत अधिक न देकर मुट्ठीभर देना उचित है; शक्तिके अनुसार दान करना चाहिये; देश-कालकी उपेक्षा उचित नहीं है । शास्त्र-चोदनासे मुँह नहीं मोड़ना चाहिये; भले ही रोग वही जो ईश्वरने रचा है । ब्राह्मणके पुत्रको सेठोंका दास नहीं बनना चाहिये; प्रेम संसारका सार है; संसारमें निर्मोही होकर रहना चाहिये; ध्यान-धारणाका विचार रखना चाहिये; कुछ सुननेके लिये योगी-संन्यासियोंके पास नहीं जाना चाहिये; भगवान्के सामने हाथ जोड़कर खड़े रहनेकी अपेक्षा उनके भक्तोंकी सेवा करना अधिक लाभप्रद है; स्तोत्र-पाठ चिल्लाकर नहीं करना चाहिये, ईश्वर बहरा नहीं होता; चमत्कार दिखानेवाली रासलीलादिकी कथा भक्तोंके लिये उपयुक्त नहीं है; प्रतिकूल समयमें योगी तपस्वियोंको वनमें चला जाना चाहिये ।

([illegible]—अप्रैल १९६९)

(३)

इसी प्रकारके चौसठिया बाबा कामाईलीके पास एक पैराह (नदी-तट) में रहते थे । जाड़ा, गरमी, वर्षा यहीं सामना करते थे; न कोई आश्रम, न कोई कुटी । मस्त थे—चिन्ता-भयरहित । कर्मज्ञानी होनेपर भी निर्लिप्त । मौखिक उपदेश प्रत्यक्ष न देनेपर भी उनके उदारता आदि गुणोंका स्पष्टीकरण एक घटनासे होता है । वह यह कि एक बार चोरीके अपराधमें इन्हें पकड़ लिया गया जब कि ये निर्दोष थे; फिर बेंतें मारा गया और ये खिलखिलाकर जोरसे हँसते रहे ।

(४)

मोहनदास बाबा पिछले वर्षतक जीवित थे । अल्मोड़ेके लखमरा कोटमें आश्रम बना लिया था । शुचि, पवित्रतापर इतना जोर देते थे कि आश्रममें प्रवेश करते समय जूते दूर उतारने होते थे । एक बार किसी चलनेवालेके साथ उसका कुत्ता आ गया । बाबाजीने पहले कुत्तेको बाहर करवाया, तब बात की । गोरखे सिपाहियोंसे भी एक बार उनका संघर्ष हो गया था । कहते हैं उन्हें हनुमान्जी सिद्ध थे । बड़े दूरदर्शी और दूसरोंके भाव ताड़ जानेवाले संत थे । तुलसीकृत रामायण उनकी प्रिय पुस्तक थी । इन लेखकने ही दो-तीन बार उनके यहाँ सुन्दरकाण्डका पाठ किया था । बोलते कम थे, किंतु अन्तर्भेदिनी दृष्टिसे लगता था न जाने किस भूल-चूकपर डाँट-फटकार दें । उनकी करनी-रहनी ही सात्त्विक परोपकारी भावनाओंकी परिचायक थी ।

(५)

हल्द्वानीके भीलटोरिया बाबाको कुछ लोग यहाँ मोहनदास बाबाका गुरुभाई बताते हैं । उन्होंने किस्तापन भव मठपुलमें कड़ी घोर तपस्या की थी—यहाँतक कि उनकी … उलट गयी थी । एड़ीतक लंबी जटाएँ, शरीर भस्मसे; केवल मूँजकी रस्सी और लँगोटा; चाहे शीत हो या ग्रीष्म-निदाघ-स्नान । सुबह-शाम दस-पाँच भक्तोंसे घिरे हुए इस रूपमें अनेक लोगोंने उन्हें देखा है । ये कुछ हठयोगी-से प्रतीत होते थे; न जाने कितनी बार लोगोंने उनके श्रीमुखसे कुण्डलिनी, षट्चक्र, इडा-पिङ्गलाका वर्णन बैठकर सुना है । वे त्यागका उपदेश ही नहीं देते थे; आश्रममें जो भी वस्तु आती, उसे वे भक्तजनोंमें बाँट देते थे, 'संग्रहकी वृत्ति ही पापका मूल है और मनुष्यको आसक्तिमें बाँध देती है ।' उनके मुखसे प्रायः ऐसे विचार व्यक्त होते थे । कुछ वर्ष हुए उन्होंने जीवित समाधि

ो किंतु उनका आभास इसके बाद भी समृद्ध होता गया र आज अनेक साधु-संत उनकी वाणीका अनुसरण करते र वहाँ सत्सङ्ग-चर्चा किया करते हैं।

सामान्यरूपसे इन संतोंने त्याग, मनकी शुद्धि, अहिंसा, नपचन, अन्तःसाधना, जगत्‌में जल-कमलवत् जीवन-यापन, हिंसा, मन-वाणीकी एकरूपता आदि महान् आदर्शोंपर जोर या है, जो प्रत्येक युगमें प्रत्येक मानवके लिये अनुकरणीय हो सकते हैं। इन संतोंकी वाणी सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखायकी भावनासे प्रेरित होती है। इनके चरित्रसे यह भी स्पष्ट होता है कि संतगण भले ही अपने वैयक्तिक जीवनमें निवृत्तिमार्गी हों, भले ही जन-साधारणसे उनकी जीवन-शैली कुछ भिन्न हो, किंतु उनकी दृष्टि निरन्तर रहती समाज-कल्याणपर ही है। इस तथ्यमें विरोधका आभास चाहे हो, किंतु यह सत्य है कि विरक्त होनेपर भी वे मानवसमाजपर अनुरक्त रहते हैं और उनकी उदात्त वाणीमें सम्पूर्ण मानव-जातिका कल्याण-संदेश निहित रहता है।

वैष्णवका व्यक्तित्व

(लेखक—डा० श्रीरामजी उपाध्याय, एम्० ए०, डी० फिल्०)

वैष्णव-धर्ममें वैष्णवोंके व्यक्तित्वको विष्णुके व्यक्तित्वके रूप विकसित करनेकी सुन्दर योजना बनायी गयी है। के लिये सभी प्राणियोंके प्रति दया तथा सेवा-भावनाकी विशदता इसलिये बतायी गयी है कि भगवान् सभी प्राणियों-अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हैं। प्राणियोंका अनादर इस दृष्टिसे ईश्वरका अनादर हो जाता है। नियम है कि प्राणियोंसे वैर कर मन शान्त नहीं किया जा सकता। भक्त सभी प्राणियोंमें स्थित भगवान्‌को अपने हृदयमें देखते हुए सबके अपनी एकात्मता स्थापित कर ले।[1]

भगवान्‌की दृष्टिमें आदर्श मानव श्रद्धालु, भक्त, विनयी, सबके प्रति दोष-दृष्टि न रखनेवाला, सभी प्राणियोंका मित्र, ि, आधिभौतिक वस्तुओंके प्रति विरक्त, शान्तचित्त, रहित, शुचि और भगवान्‌को प्रिय माननेवाला होता ऐसे ही व्यक्तिको उस भगवत्तत्त्वकी बात सुननेका अधिकार है। उसके लिये सम्पत्ति और विपत्तिमें निर्विकार होना और म, मध्यम और अधमको समान मानकर सबके प्रति भाव रखना आवश्यक है। भगवान् समचित्तदर्शी हैं।[2]

श्रीमद्भागवतके अनुसार वैष्णवको काम और अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रवृत्तियोंसे अलग रहना चाहिये। इनके कारण मनुष्यके सभी पुरुषार्थोंका नाश हो जाता है, वह विज्ञानसे च्युत हो जाता है।[3]

मनमें विषय-कामनाके उदय होते ही इन्द्रिय, मन, , देह, धर्म, धैर्य, बुद्धि, लज्जा, श्री, तेज, स्मृति और सत्यकी हानि होती है।[4] शरीर, स्त्री, पुत्र आदिके प्रति आसक्तिका त्याग, देह और गेहका आवश्यकतानुसार सेवन, आवश्यकताकी पूर्तिमात्रके लिये अपेक्षित धनको अपना मानना, पशु-पक्षियोंको पुत्रवत् समझना, धर्म, अर्थ और कामके लिये अधिक कष्ट न उठाना, अपनी भोग्य सामग्रीको सभी प्राणियोंमें बाँटकर उसका उपभोग करना आदि भागवत-धर्मानुयायी गृहस्थकी प्रगति-दिशामें प्रकाशस्तम्भ हैं।[1] वैष्णवकी लोकोपकार-वृत्ति ही उसकी सर्वोच्च आराधना है।[3] रन्तिदेव नामक वैष्णव राजाके व्यक्तित्व आदर्श है। उसने कामना की है—

> न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा-
> मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
> आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
> मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥
> (श्रीमद्भा० ९। २१। १२)

'मैं ईश्वरसे आठों सिद्धियोंसे युक्त परमगतिकी कामना नहीं करता और न मैं मोक्षकी ही कामना करता हूँ। मैं तो केवल यही चाहता हूँ कि सभी प्राणियोंके अन्तरमें प्रविष्ट होकर उन सबके दुःखको अपना लूँ, जिससे वे दुःखरहित हो जायँ।'

विष्णुभगवान्‌के अवतार श्रीकृष्णकी उस योजनाका निर्देश भागवतमें मिलता है, जिसके द्वारा वे वैष्णवोंके

---

१. भागवत ३। २९। २१–२७
२. भागवत ३। २९। १९–४१
३. भागवत ४। २०। १२, १३, १६
४. भागवत ४। २२। ३२–३४

१. भागवत ७। १०। ८
२. भागवत ७। १४। ११–१३
३. तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥
(श्रीमद्भा० ८। ७। ४४)

व्यक्तित्वका विघटन करते हैं । जिस व्यक्तिपर श्रीकृष्णका अनुग्रह होता है, उसका सर्वस्व वे शनैः-शनैः अपहरण कर लेते हैं । ऐसे दुखी व्यक्तिको उसके स्वजन भी छोड़ देते हैं । भगवत्कृपासे अपने उद्योगोंमें विफल होकर वह व्यक्ति श्रीकृष्णके अधिक अनुग्रहका पात्र बन जाता है । परिणामस्वरूप उसे प्रेमी भक्तकी प्राप्तिके द्वारा परमपदकी प्राप्ति हो जाती है । श्रीकृष्णने स्वयं अपनी योजनाकी सार्थकता व्यक्त करते हुए कहा है—

'जो पुरुष मेरी उपासनाको कठिन समझकर अन्य देवोंकी उपासना करते हैं, उनसे उनके आराध्यदेव शीघ्र प्रसन्न होकर उन्हें राज्यश्री प्रदान करते हैं । उस राज्यश्रीसे आराधक प्रमत्त होकर अपने आराध्य वरदाताको भूल जाते हैं और पुनः उन्हींका तिरस्कार करने लगते हैं ।'[1]

वैष्णवका परम कर्तव्य है कि वह अपने सभी कामोंको नारायणके लिये समर्पित कर दे । ऐसी परिस्थितिमें उसे जब नारायणके अतिरिक्त किसी अन्य सत्ताकी प्रतीति नहीं रह जाती, तब वह सर्वथा निर्भय हो जाता है । भय द्वितीयाभिनिवेश (मुझसे भिन्न भी कुछ है—इस भावना)से होता है । वह इसे छोड़ देता है ।[2]

ऐन्द्रिय सुखों या दुःखोंकी अनुभूति करते हुए भी विष्णुका भक्त हर्ष और विषाद नहीं करता । वह इन्द्रियके विषयोंको विष्णुकी माया समझता है । उसके चित्तमें काम-कर्मोंके बीज उत्पन्न ही नहीं होते । उसे जन्म, कर्म, वर्णाश्रम तथा जाति आदिके आधारपर अहंभाव नहीं होता ।[3]

वैष्णवके व्यक्तित्वके सोपानोंका भागवतमें इस प्रकार आकलन किया गया है—उसे सर्वप्रथम सद्‌गुरुकी शरण लेकर अनासक्ति, दया, मैत्री, विनय, शौच, तप, तितिक्षा, मौन, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, समता, एकान्त-सेवन, घरके प्रति ममता न रखना, धनके प्रति उपेक्षा तथा जिस किसी वस्तुसे संतोष आदि गुणोंको अपनाना चाहिये। उसे मन और वाणीपर संयम रखना तथा सत्य, शम, दम, हरिके पराक्रमोंके श्रवण, कीर्तन और ध्यान आदिका अभ्यास करना चाहिये । यज्ञ-दान, तप-जप, अपना जीवन तथा अपनेको प्रिय, अपनेवाले स्त्री, पुत्र, घर, प्राण—सबको

भगवान्‌के लिये समर्पित कर देना चाहिये । उसे सभी मनु[ष्यों]के प्रति सौहार्द और महात्माओंके प्रति सेवाभाव रखना च[ाहिये]।[1]

व्यक्तित्वके विकासकी दिशामें भागवत धर्ममें वेदान्[त] आध्यात्मिक दर्शनको भी अपनाया गया है । इसके अनु[सार] मुक्ति विद्याके द्वारा सम्भव होती है । विद्यासे ज्ञान है [कि] आत्मा (मैं) कुछ भी नहीं करता । ऐसी मनःस्थि[ति]वाला साधक शरीरके किसी व्यापारको न तो अपना मानता है न उनसे बद्ध होता है । उसे शरीरके सुख या दुःखसे सुख [या] दुःख नहीं होता । वह स्वयं कुछ करता नहीं, [देखता] नहीं । भला-बुरा नहीं सोचता । केवल आत्मामें ही [उसे] आनन्द मिलता है । वह आत्माराम है । उसका पद प्रत्[यक्ष] है । यदि उपर्युक्त पद न प्राप्त हो सके तो भगवान्‌में [सब] कर्मोंको निरपेक्ष होकर अर्पित करते हुए भगवान्‌की कथा[ओं]को सुनना, उनके पराक्रमोंका स्मरण करना, भक्तोंके [द्वारा] बतलाये हुए भक्ति-पथपर चलना आदि उपायोंसे ही [वह] मोक्ष प्राप्त कर सकता है ।[2]

वैष्णवका व्यक्तित्व एक विशिष्ट साँचेमें ढला हुआ हो[ता] है । वह भगवान्‌की मूर्ति और भक्तजनोंका दर्शन करता [है,] भगवान्‌के जन्म और कर्मोंका वर्णन करता है, भगवान्[से] सम्बद्ध पर्वोंमें उत्सवका आयोजन करता है और ऐसे अवसर[पर] गीत, नृत्य, वादित्र तथा गोष्ठीसे पर्वमें प्रमुदित वातावरण[का] सर्जन करता है । मूर्ति-स्थापनामें वैष्णवकी श्रद्धा होती है । वह स्वयं या अनेक लोगोंके साथ मिलकर भगवान्‌के नाम[से] उपवन, आक्रीड, मन्दिर आदिका निर्माण कराता है ।[3]

वैष्णवका समग्र जीवन भगवान्‌के लिये ही होता है । [वह] उन्हीं स्थानोंमें रहता है, जहाँ भगवान्‌के भक्त रहते हैं । [वह] चाण्डाल-चोर, सूर्य-चिनगारी, निर्दय-दयावान् आदि[के] सम्बन्धमें समदृष्टि रखता है । वह घोड़े, चाण्डाल, गौ [और] गदहेतकको साष्टाङ्ग प्रणाम करता है । उसके मनमें सब प्राणियोंके प्रति भगवद्भावनाका उत्पन्न होना आवश्यक है—

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम ।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २९ । १९)

---

१. भागवत १० । ८८ । ८–११

२. भागवत ११ । २ । ३३-३७

३. भागवत ११ । २ । ४९—५२

१. भागवत ११ । ३ । २०–३० । कहीं-कहीं लघुम- अशिवमत्ता, पदुगी (धूप, प्याल, ..., ...) । ..., ..., ... लिये देखिये भागवत ११ । ११ । ११–२४

२. भागवत ११ । ११ । ९–१५

३. भागवत ११ । ११ । ३४–४१

नारदपुराणमें वैष्णवमें लोकोपकारी वृत्तियोंकी आवश्यकता रखते हुए कहा गया है 'जो व्यक्ति दरिद्र अथवा रोगी मनुष्यकी सेवा-रक्षा करता है, उसकी सभी कामनाएँ विष्णु पूर्ण कर देते हैं। विद्यादान करनेसे मनुष्यको विष्णुका सायुज्य प्राप्त होता है।'[1]

वैष्णवके लिये भोज्याभोज्यका भी विधान बना है—जैसे द्विजातियोंको दिनमें दो ही बार भोजन करना चाहिये, गोल लौकी, लहसुन, प्याज, ताड़का फल और भाँटा उसे नहीं खाना चाहिये।[2]

वैष्णवी भावना अतिशय उदात्त है और इसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि व्यावहारिक जगत्‌की परिधिसे प्रायः बाहर है। इसके अनुसार विष्णु ही देव, यक्ष, असुर, सिद्ध, नाग, गन्धर्व, किंनर, पिशाच, राक्षस, मनुष्य, पशु-पक्षी, स्थावर (वृक्ष आदि), चींटी, सर्प आदि रेंगनेवाले जीव, पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश, वायु, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मन, बुद्धि, आत्मा, काल, गुण—इन सबके पारमार्थिक रूप हैं। वे ही विद्या-अविद्या, सत्य-असत्य और विष-अमृत हैं तथा वेदोक्त प्रवृत्ति और निवृत्तिपरक कर्म भी वे हैं। विष्णु सभी कर्मोंके भोक्ता, उनकी सामग्री और फल हैं। योगी विष्णुका ध्यान करते हैं, याज्ञिक उन्हींका यजन करते हैं और पितृगण तथा देवगणके रूपमें विष्णु ही हव्य और कव्यके भोक्ता हैं। ऐसी परिस्थितिमें भक्तकी भावना हो सकती है—भगवान् अनन्त और सर्वगामी हैं। वे ही मेरे रूपमें स्थित हैं। अतएव यह सम्पूर्ण जगत् मुझसे ही हुआ है। मैं ही यह सब कुछ हूँ और मुझ सनातनमें ही यह सब स्थित है। मैं ही अक्षय, नित्य और आत्माधार परमात्मा हूँ तथा मैं ही जगत्‌के आदि और अन्तमें स्थित ब्रह्मसंज्ञक परमपुरुष हूँ।[3]

भगवद्भक्तिका मूल ब्राह्मण-भक्ति

(लेखक—पं० श्री[illegible] पाठक)

निस्संदेह भगवद्भक्ति सर्वोत्कृष्ट साधन तथा सर्वोपरि फल है। तथापि इसका मूल क्या है, इसे जाने बिना उसकी प्राप्ति दुर्घट ही है। इस सम्बन्धमें भगवान्‌की श्रीमुखकी वाणीको ही प्रमाणरूपमें उपन्यस्त करना अनुचित न होगा। स्वयं भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणजीको तत्त्वोपदेश करते समय बतलाया था कि 'भैया! मेरी कृपा-प्राप्तिका मूल-मन्त्र है भगवद्भक्ति। ज्ञान-विज्ञान आदि सब इसीके अधीन हैं। पर भक्ति-प्राप्तिकी साधना है पहले ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रेम और स्वधर्म-प्रतिपालन। इससे विषयोंमें वैराग्य होकर मेरे चरणोंमें प्रीति—भक्ति उत्पन्न होती है'—

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज करम निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम चरन उपज अनुरागा॥

इसी प्रकार अयोध्यावासियोंकी सभामें आपने बतलाया था कि 'भक्ति सभी सुखोंकी खान है, पर यह सत्सङ्गके बिना नहीं मिलती। सत्सङ्गति भी पुण्य-राशिसे ही मिलती है और पुण्य संसारमें एक ही है, दूसरा नहीं। वह है—मन, वचन और क्रियासे ब्राह्मणोंके चरणकी पूजा'—

पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा॥

इसका मूल रहस्य यह है कि भगवान् धर्मविग्रह, सत्त्वराशि हैं और ब्राह्मणोंमें भी सत्त्वगुणकी तथा धर्मकी प्रधानता होती है; इसीलिये भगवान्‌को 'ब्रह्मण्यदेव' कहा गया है। शंकराचार्यने गीता-भाष्यकी भूमिकामें पहले-पहल यही लिखा है कि 'भगवान्‌का अवतार ब्राह्मणोंकी रक्षा—स्थापनाके लिये ही होता है; क्योंकि ब्राह्मणोंके रक्षित—स्थापित होनेपर ही वैदिक-धर्म स्थापित होकर विश्वकी रक्षा तथा स्थापना होती है।' यही नहीं, स्वयं भगवान् मर्यादा-पुरुषोत्तम हृदयसे ब्राह्मणोंके अत्यन्त भक्त तथा हितचिन्तक हैं। यहाँ इस बातकी पुष्टिके लिये कतिपय उदाहरण देना प्रसङ्ग-विरुद्ध न होगा।

वाल्मीकीय रामायणमें आता है कि भगवान् श्रीराम स्वयं तो सदा ब्राह्मणोंकी पूजा करते ही हैं, वन-गमनके समय वे अपनी मातासे भी यही कहते हैं—'हे देवि! मेरी मङ्गल-कामनाके हेतु तुम नित्य देवता और ब्राह्मणोंकी पूजा करना।' (२। २४। २९) गुरुपुत्र सुयज्ञ नामक ब्राह्मणकुमारको आते देख भगवान् श्रीजानकीसहित हाथ जोड़कर खड़े हो जाते हैं। (२। ३२। ४)

त्रिजट नामके एक गरीब अपढ़ ब्राह्मणको, जो उञ्छ-वृत्ति (खोदने काटनेका काम) करता था, भगवान्

1. पूर्वभाग, प्रथमपादके ११वें अध्यायसे। 2. पद्मपुराण, पातालखण्ड, ७९ वें अध्यायसे। 3. भारतके विविध सांस्कृतिक पक्षोंको एक सूत्रमें गूँथनेके लिये यही वैष्णवी भावना विशेष सहायक है। उपर्युक्त अवतरणके लिये देखिये विष्णुपुराण २। १९। ७४—७९, ८१, ८५, ८६।

श्रीरामने अनेक गायों तथा धनका दान देते हुए कहा—'मैं सत्य कहता हूँ कि यह मेरा धन ब्राह्मणोंके लिये ही है। यदि यह सुचारुरूपसे आप-जैसे (गरीब और भरद) ब्राह्मणोंकी सेवामें लग जाय तो मुझे यशकी प्राप्ति हो जाय।' (२।३२।४१)

वन-गमनके समय अपने रथके पीछे ब्राह्मणोंको पैदल आते देख भगवान् श्रीराम रह न सके और रथसे नीचे उतरकर खड़े हो गये। (२।४५।५९) श्रीरामने भगवती जानकीसे कहा था—'ऋषियों और विशेषकर ब्राह्मणोंकी रक्षा करना मेरा परम धर्म है।' (३।१०।१८)

कबन्धको उपदेश देते हुए आपने कहा था कि 'शाप देते, ताड़न करते तथा कठोर बोलते समय भी ब्राह्मण पूजने योग्य ही होते हैं।' (३।१०।१८) इसीका अनुवाद करते हुए गोस्वामीजीने भी कहा है—

सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता॥

अञ्जनीनन्दन हनुमान्‌ने अशोक-वाटिकामें भगवती सीतासे कहा था, 'माता! श्रीरामचन्द्रजी नीतिमान्, विनयी, ब्राह्मण भक्त, ज्ञानवान्, शीलवान् और साधुवत्सल हैं।' (५।३५।११) अयोध्यामें समागत ऋषियोंसे भगवान् श्रीरामने ब्राह्मणोंके प्रति अपनी दृढ़ श्रद्धा प्रकट करते हुए कहा था—'मुनीश्वरो! यह सम्पूर्ण राज्य तथा मेरे प्राण आदि सभी कुछ ब्राह्मणोंकी सेवाके लिये ही है—यह मैं सत्य कहता हूँ।' (७।३०।१४)।

भगवती सीताने अपनी ब्राह्मण-भक्ति ऋषि-मण्डलीमें इस प्रकार प्रकट की थी—'ऋषियो! किशोरावस्थामें जब मैं अपने पिताके घर थी, एक ब्राह्मण अतिथि मेरे पिताके पास आये। उन्होंने वर्षाके चार मास पिताके यहाँ व्यतीत करनेकी इच्छा प्रकट की। ब्राह्मणोंके अनन्य भक्त मेरे पिताने उन्हें आनन्द आदरपूर्वक उसने पर एवमस्तु स्वीकार किया और ब्राह्मणदेवके भोजनके लिये विविध प्रकारके पदार्थोंकी नियमित व्यवस्था कर दी। मेरे धर्मज्ञ पिताने ब्राह्मणदेवताकी अन्य सेवाओंके लिये मुझे नियुक्त कर दिया। परमार्थके ज्ञाता ब्राह्मणदेव मुझे दिन या रात्रिमें, जब, जो भी आज्ञा प्रदान करते, मैं आलस्य छोड़कर उसी क्षण उनकी उस आज्ञाका पालन करती थी।' (अद्भु० रामा० १०। ९८-११)

सिंहासनारूढ होनेके बाद भगवान् रामचन्द्रजी गुरुकी आज्ञा लेकर ब्रह्म-वधके प्रायश्चित्तके निमित्त तीर्थाटनके लिये निकले। तीर्थोंमें घूमते जब वे धर्मारण्य पहुँचे, तब वहाँ भूमि ब्राह्मण शून्य देखकर अत्यन्त चकित हुए। उन्हीं भक्त ब्राह्मणोंको उन्होंने दूर-दूरसे बुलवाया और उनके सामने पैदल दौड़ते हुए उनके चरणोंमें गिरकर प्रणाम किया तथा बोले—'ब्राह्मणो! ब्राह्मणोंके प्रसादसे ही मैं लक्ष्मीपति हुआ हूँ, ब्राह्मणोंके ही प्रसादसे मैं धरणी धारण किये हूँ। ब्राह्मणोंके प्रसादसे ही मैं त्रिभुवनपति हूँ और विप्रोंकी ही शक्तिसे मुझे 'राम' यह नाम प्राप्त हुआ है।'' (स्कन्द० ब्रा० खं० धर्मा०

महर्षि मनु कहते हैं, 'ब्राह्मण शरीरधारी साक्षात् धर्मकी शाश्वत मूर्ति है। धर्मके रक्षार्थ ही उन्हें ब्रह्माजीने रचा है। मनुष्योंको मोक्ष प्राप्त करानेकी क्षमता रखते हैं। ब्राह्मण वंशमें जन्म लेनेवाला सम्पूर्ण प्राणियोंमें श्रेष्ठ माना जाता है। वह धर्मके ही सब जीवोंके धर्मकी रक्षा करनेमें समर्थ होता है। इस संसारकी सभी वस्तुएँ ब्राह्मणोंकी हैं। सब वर्णोंका गुरु तथा सबसे बड़ा होनेके कारण ब्राह्मण ही सबका प्रभु है। यद्यपि ब्राह्मण दूसरोंके दिये अन्न-वस्त्र तथा धनादिसे अपना निर्वाह किया करता है तथापि वह सबका प्रभु है। क्योंकि ब्राह्मणोंकी अनुकम्पासे ही संसारके समस्त प्राणी सब प्रकारके भोग प्राप्त करते हैं।' (मनुस्मृ० १।९९-१०१)

एक बार सनकादिक भगवान्‌के दर्शनार्थ वैकुण्ठ पहुँचे। पार्षदोंने उन्हें भीतर नहीं जाने दिया। ऋषियोंने शाप दे दिया। सुनते ही भगवान् दौड़ पड़े और क्षमा-याचना करते हुए उन्होंने कहा—'ब्राह्मण मेरे परमदेवता हैं। मेरा मन सदा ब्राह्मणोंके चरणोंमें लगा रहता है। मेरे पार्षदोंने आपका अपराध किया है। अतएव मैं ही अपराधी हूँ। मेरी कथाके श्रवणमात्रसे अधम प्राणी भी क्षणभरमें पवित्र हो जाते हैं, मेरा यह पराक्रम ब्राह्मण-सेवाका ही परिणाम है। यह वैकुण्ठका अधिकार मुझे ब्राह्मणोंके पुनीत चरणोंके प्रतापसे ही प्राप्त हुआ है, अतएव आपकी इच्छाके विपरीत आचरण करनेवाले इन्द्रादिक देव भी मेरेद्वारा दण्डनीय हो सकते हैं। जितना मैं ब्राह्मण भोजनसे तृप्त होता हूँ, उतना अग्निमें हवन करनेसे नहीं होता। मेरे चरणोंमें गङ्गा निरन्तर संसारको पवित्र किया करती हैं, यह इसीलिये कि मैं ब्राह्मणोंके चरणोंकी धूल अपने मुकुटपर धारण करता हूँ। मेरे शरीरके सर्वांगस्वरूप ब्राह्मण हैं। जो मुझमें और ब्राह्मणोंमें भेदबुद्धि रखता है, वह पापी है। उसे यमदूत ही गर्दभरूप गीध अपनी चोंचसे चीरते हैं। जो मनुष्य ब्राह्मणके कटु वचन सुनकर दुःखी होनेके बदले प्रसन्न होता है और उनकी पूजा करता है, मैं ऐसे महात्माके वशमें हो

रता हूँ। ब्राह्मण मेरा शरीर ही है। विज्ञ पुरुष इसमें अन्तर नहीं देखते। और जो मूर्ख मुझमें और ब्राह्मणोंमें अन्तर देखता है, वह मरणोत्तरान्त नरकगामी होता है। (श्रीमद्भा० ३। १६)

आदिराज महाराज पृथु भगवान् विष्णुके ही अवतार थे। उनके नामसे ही भूलोकका 'पृथ्वी' नाम पड़ा; क्योंकि यह उनकी पुत्री समझी जाती है। उन्होंने सौ अश्वमेधयज्ञ किये थे। अन्तिम यज्ञकी सभामें उन्होंने कहा था—'ब्राह्मणोंकी भक्ति करनी चाहिये। ब्रह्मण्यदेव और महापुरुषोंमें प्रधान पुरुष भगवान् जिन ब्राह्मणोंके पादारविन्दकी वन्दना करनेसे अखण्डित लक्ष्मीके पति और देवाग्रगण्य हुए हैं, पतितपावन हुए हैं, ऐसे ब्राह्मणोंका कभी भी तिरस्कार नहीं होना चाहिये। भगवान्‌को ब्राह्मण और ब्राह्मणोंको भगवान् अत्यन्त प्रिय हैं। ऐसे ब्राह्मणोंकी सेवा करनेसे भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। अतएव ब्राह्मणकुलकी सेवा करना सर्वथा उचित है। सब देवताओंके मुख ब्राह्मण हैं, उनकी नित्यप्रति सेवा करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और चित्तमें समता आती है, सुख मिलता है और अन्तमें मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। ब्राह्मणकी सेवा करनेवालोंको परमहंसोंकी गति मिलती है। मैं ब्राह्मणोंके चरणोंकी रज सदा मस्तकपर धारण करूँ, यह मेरा मनोरथ है और आप सब लोग भी ऐसा ही करें। जो ब्राह्मणोंकी चरण-रज मस्तकपर चढ़ाते हैं, उनके अनेक जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं और उन्हें सब गुण प्राप्त होते हैं। सभी गुणवान्, शीलवान्, धनवान् और वृद्ध पुरुष ब्राह्मण-भक्तकी बड़ाई करते हैं। उन ब्राह्मणोंका कुल, गौओंका कुल और अपने पार्षदोंसहित भगवान् मुझपर प्रसन्न रहें।' (श्रीमद्भा० ४। २१। ३७–४४)

ऋषभदेवके रूपमें अवतरित होकर भी भगवान्‌ने अपने पुत्रोंसे कहा था—'ब्राह्मण हम सबसे बड़े और हमारे पूज्य हैं। ब्राह्मणसे श्रेष्ठ हम किसीको नहीं देखते। ब्राह्मणोंको श्रद्धापूर्वक सुमिष्ट एवं सुस्वादु भोजन करानेसे मेरी जैसी तृप्ति होती है, वैसी अग्निमें हवन करनेसे भी नहीं होती। जो ब्राह्मण वेद पढ़ते हैं, सत्त्वगुणी हैं, शम-दमादिसे युक्त एवं सत्यपरायण हैं, उनसे बढ़ा मैं किसे मानूँ। ब्राह्मणोंके संतोषकी क्या प्रशंसा करूँ। वे मुझसे भी कुछ नहीं माँगते तो दूसरोंसे क्या माँगेंगे?' (श्रीमद्भा० ५। ५)

नाभि नरेशके यज्ञमें भी प्रकट होकर भगवान्‌ने कहा था—'ब्राह्मणोंका वचन मिथ्या नहीं होता। ब्राह्मण देवता हैं। वे हमारे मुख हैं।' (श्रीमद्भा० ५। ३। १२–१५)

राजा रहूगण जडभरतसे कहते हैं, 'मैं देवराज इन्द्रके वज्र, शिवके त्रिशूल, यमके दण्ड, अग्निके कोप, सूर्यके ताप, पवनके वेग, कुबेरके पाश और सोमके अस्त्रसे भी उतना नहीं डरता, जितना ब्राह्मणोंके अपमानसे डरता हूँ।' (श्रीमद्भा० ५। १०। १७)

गृहस्थोंके लिये ब्राह्मण सदा पूज्य हैं और उनकी पूजासे परम सुखकी प्राप्ति एवं परम मङ्गल होता है। गृहस्थ-धर्मकी व्याख्या करते हुए महर्षि नारदने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा था, 'मनुष्योंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण देवता हैं। ये सब कामनाओंको सिद्ध करनेवाले हैं। इनको भगवान् ही जानो और इनकी पूजा करो। पुरुषोंमें वेदपाठी, तपस्वी, विद्वान्, संतोषी ब्राह्मण श्रेष्ठ है। ब्राह्मणोंमें अपनी चरण-रजसे त्रैलोक्यको पवित्र कर देनेकी शक्ति है।' (श्रीमद्भा० ७। १४)

ब्राह्मणकी आजीविका हरण करनेवालेके लिये भयानक दण्डका विधान है। एक ब्राह्मणकी गौ दूसरे ब्राह्मणको दान करनेकी भूलसे राजा नृगको गिरगिट होना पड़ा था। भगवान्‌ने स्वयं कहा है, 'विष तो खानेवालेको ही मारता है, किंतु ब्राह्मणका धन हरण करनेवालेका तो कुलसहित नाश हो जाता है। अग्निसे जले पुरकी कहीं शेष रह जाती है, पर ब्राह्मणकी क्रोधाग्निसे जले भी भस्म हो जाती हैं। बिना पूछे ब्राह्मणका धन लेनेवालेकी तीन पीढ़ियाँ नरकमें पड़ती हैं।'

बलपूर्वक या किसी प्रकार भी ब्राह्मणकी सम्पत्ति ग्रहण करनेकी अत्यन्त निन्दा की गयी है। ब्राह्मणोंको पीड़ित करना भयानक पाप है। भगवान्‌ने कहा है—'दुःखी होकर जब ब्राह्मणके आँसू गिरते हैं और उनसे जितने धूलिकण सिक्त होते हैं, पीड़कको उतने वर्षोंतक कुम्भीपाककी भयानक यातना सहनी पड़ती है। ब्राह्मणको तो प्रत्येक परिस्थितिमें आदर ही देना श्रेयस्कर है।' (श्रीमद्भा० १०। ६४। ३३–४२) युधिष्ठिरके यज्ञमें भगवान् श्रीकृष्णने आगत ब्राह्मणोंके चरण धोनेका भार स्वयं लिया था। दरिद्र सुदामाका सम्मान भगवान्‌ने किस प्रकार किया, यह तो प्रायः सभी जानते हैं। सुदामाको देखते ही श्यामसुन्दरके नेत्र झरने लगे थे और उन्होंने सुदामाकी सम्पूर्ण दरिद्रता सदाके लिये समाप्त कर दी।

अपने प्राणप्रिय भक्त श्रुतदेवसे श्रीकृष्णने कहा था—'प्राणियोंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। ब्राह्मण यदि विद्या और तपसे युक्त हों, तब तो कुछ कहना ही नहीं; क्योंकि ब्राह्मण सर्ववेदमय हैं और सर्वदेवमय मैं हूँ,.......... । मुझे अनन्य

चतुर्भुजस्वरूप भी ब्राह्मणोंसे अधिक प्रिय नहीं ।' (श्रीमद्भा० १० । ८६ । ५३-५४)

ब्राह्मण सबका पूज्य एवं आदरणीय है। भृगुकी लात सहकर भी विष्णुने उनके चरणोंको सहलाया और उनसे क्षमा-याचना की। भगवान्की स्पष्ट घोषणा है—'ब्राह्मण मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्यारे हैं।' भक्ति-प्राप्तिके लिये ब्राह्मणोंकी सेवा एवं उत्तम तीर्थोंका सेवन—ये दो ही साधन भगवान्ने बताये हैं (श्रीमद्भा० १०।८६)। भगवान् श्रीरामने कहा है—

सानुकूल तेहि पर सब देवा । जो तजि कपटु करइ द्विज सेवा ॥

'ब्राह्मणकी निष्कपट सेवा करनेसे सम्पूर्ण देवता अनुकूल रहते हैं।'

अमृत-घट लेनेके लिये गरुड़के प्रस्थान करते समय उनकी माता विनताने उन्हें समझाया था—'तुम कभी ब्राह्मणको मारनेका विचार मत करना। ब्राह्मण सबके लिये अवध्य है। वह अग्निके समान दाहक होता है। ब्राह्मण सम्पूर्ण प्राणियोंका गुरु है। वह सत्पुरुषोंके लिये आदरणीय है। तुम क्रोधमें आकर भी ब्राह्मणकी हत्या मत करना। ब्राह्मण चतुर्वर्णोंमें अग्रजी, श्रेष्ठ, पिता और गुरु है।' (महाभा० १। २८। १-७)

शास्त्रार्थोंपर विजयी, लौकिक आचार-व्यवहारोंमें दक्ष, धार्मिक तत्त्वज्ञ एवं संसारका मङ्गल चाहनेवाला ब्राह्मण अवश्य ही पूज्य है। मार्कण्डेयजीने युधिष्ठिरसे ब्राह्मणोंकी महिमा इस प्रकार कही थी—'जो ब्राह्मणोंको संतुष्ट करता है, उसपर सब देवता संतुष्ट रहते हैं। ब्राह्मणोंके आशीर्वादसे मनुष्योंको स्वर्गमोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। अतएव मरण-समय भले कण्ठ कफसे रुँध गया हो, यदि मनुष्य वैकुण्ठ पानेकी अभिलाषा रखता हो तो ब्राह्मणोंकी पूजा करे।'

ब्राह्मणको तीर्थकी संज्ञा दी गयी है। बृहद्धर्मपुराणमें कहा गया है—'ब्राह्मणोंके दोनों चरण और गौओंकी पीठ तीर्थ हैं और ये जहाँ रहते हैं, वह स्थान तीर्थ बन जाता है।' 'ब्राह्मण संसारमें चलते-फिरते तीर्थ हैं। इनके सम्पर्कसे पापीके हृदयके भी मल धुल जाते हैं।' (शातातपस्मृति)

पाराशरस्मृतिमें शीलहीन तथा अजितेन्द्रिय ब्राह्मणको भी पूज्य कहा है। (८। ३२) इसने पतित ब्राह्मणको भी पूज्य कहा है, पर विद्वान् शूद्रको नहीं*। (शुक्नी०) महाभारत अनुशासनपर्वमें आया है कि 'ब्राह्मण चाहें तो देवताओंको देवत्वसे भी भ्रष्ट कर सकते हैं। उनके शापसे समुद्रका जल पीने योग्य नहीं रहा। उनकी क्रोधाग्नि दण्डकारण्यमें आजतक शान्त नहीं हुई। वे देवताओंके भी देवता, कारणके भी कारण और प्रमाणके भी प्रमाण† हैं। ब्राह्मणोंमें कोई बूढ़ा हो या बालक—सभी सम्मानके योग्य हैं। ब्राह्मण अविद्वान् हो या विद्वान्, वह परमदेवता है उसी प्रकार जैसे अग्नि प्रणीत हो या अप्रणीत, वह परमदेवता है।' (महा० अनुशासन० दानधर्म० १५१। १५-२१)

जैसे तुलसी, अश्वत्थ आदि वृक्ष स्थावर होनेपर भी पूजा तथा नमस्कार करनेसे परकल्याणमें सर्वथा सक्षम हैं, गौ पशु होनेपर भी परकल्याणमें समर्थ है, उसी प्रकार तपोनिधि ब्राह्मण दरिद्र तथा गुणहीन होनेपर भी परकल्याण तो कर ही सकता है।

इस तरह ब्राह्मणकी अर्चा-सम्मान आदिमें परमश्रेय तथा भगवत्प्राप्ति प्राप्त होनेकी बात सिद्ध होती है। अधिक क्या, शास्त्रोंके 'ब्राह्मणो मामकी तनुः' तथा 'मम मूरति महिदेवमयी है' 'सर्वदेवमयो विप्रः' आदि वचनोंसे तो भगवान् तथा ब्राह्मणोंकी अभिन्नता ही सिद्ध होती है। इसलिये अध्यात्मरामायणमें बतलाये भक्तिके साधनों 'अर्चन' (३।४।४८)में भी इसका अन्तर्भाव हो जाता है। अन्तमें हम परम ब्रह्मण्यदेव गो-ब्राह्मणहितकारी प्रभुको नमस्कार करते हुए इस लेखको समाप्त कर पाठकोंसे विदा लेते हैं—

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च ।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ॥

---

* श्रीरामचरितमानसके द्वारा गोस्वामीजीने भी 'पूजिअ बिप्र सील गुन हीना । सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना ॥' कहकर [illegible] समझा है।

† ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति आदिके सम्बन्धमें विशेष जाननेके लिये विष्णुपुराण पूर्व० ११ । ३५—३७, विष्णुधर्मोत्तर १ । ३१ । ३५—३६, वामनपुराण ५५ । ८, वायुपुराण-पूर्वा० २८ । ५४ तथा मनुस्मृति १ । ९२ ३-११ देखना चाहिये। [illegible] ब्राह्मणोंने [illegible] —सम्पादक